साहित्यरत्न पथ-प्रदर्शक

(प्रथम खण्ड)

गाइड

सं० २०१३ के लिये

संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण

रचयिता

१. श्री कुमुद विद्यालङ्कार

२. श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न
श्रीधर स्वर्णपदक विजेता, अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
रामजस कॉलेज, दिल्ली।

३. श्री राजेन्द्रप्रसाद शर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न
प्रो० राजपूत बलवन्त कॉलेज, आगरा।

४. श्री मनमोहन गौतम एम० ए०, साहित्यरत्न
(Gold Medalist) प्रो० दिल्ली कॉलेज, दिल्ली।

प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली।

षष्ठ संस्करण — सं० २०१३ — मूल्य १०)

भूमिका

हिन्दी भाषा भाषियों का, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने का स्वप्न साकार हो चुका है, किन्तु स्वप्न पहले जितना मधुर और आकर्षक था, अब उतना नहीं रहा; क्योंकि स्वप्न अब नग्न उत्तरदायित्वपूर्ण सत्य बन गया है। सत्य कल्याणकारी चाहे जितना हो, पर आकर्षक कम ही होता है। आज हिन्दी भाषा-भाषियों का उत्तरदायित्व एक दम बढ़ गया है। देश के अहिन्दी भाषी लोग ही नहीं, अपितु विश्व-जन-समाज की दृष्टि अचानक हिन्दी की ओर लग गई है। हिन्दी कोटि-कोटि कण्ठों की अमृतमयी वाणी है। हिन्दी अपने वर्तमान रूप और पद पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सतत साधना की सीढ़ियों पर चढ़कर ही पहुँची है, इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

विश्व में किसी भाषा को इतना लोकप्रिय और जनवाणी बनाने का श्रेय शायद ही किसी एक संस्था को इतना दिया जा सके, जितना हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को हिन्दी के उत्थान के लिए।

आज साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की लोकप्रियता दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ रही है। देश के बाल, युवा, वृद्ध सभी इन परीक्षाओं की ओर आकर्षित हुए हैं; किन्तु परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में पुस्तकों का सीमाहीन विस्तार देखकर शायद उन्हें निराशा भी कम न हुई हो। उनकी आशा और उत्कंठा पर दो समस्यायें प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर बैठ गई हैं, क्या वे अपनी मानसिक पाचनशक्ति इतनी बढ़ा सकेंगे कि इस विस्तृत पुस्तक-विस्तार के मर्म या तत्त्व को हृदयंगम कर उसे पचा सकें ? दूसरी समस्या, क्या वे आज के कठिन समय में अपनी रोटी-कपड़ा सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताओं की बलि अपने इस मानसिक विकास या ज्ञानपिपासा की वेदी पर दे सकेंगे ?

वास्तव में दोनों प्रश्न चिन्तनीय हैं।

किन्तु कहावत प्रसिद्ध है—'जहाँ चाह तहाँ राह।' मनुष्य जाति का इतिहास ही संघर्ष और उस पर विजय का इतिहास है, इसलिए सहस्रों मनुष्यों की यह उत्कट अभिलाषा, उद्दात्त ज्ञानपिपासा अपूर्ण ही रह जाती है, यह कैसे हो सकता था ? हमने इस महान् समस्या के सघन कान्तार में अपनी तुच्छ बुद्धि से कुछ पथ बना डालने के सतत प्रयत्न किए और उसके फल-स्वरूप यह 'पथ-प्रदर्शक' आपके सामने है।

पथ बनाने में जिन सुयोग्य लेखकों ने वास्तव में पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है, इस पुस्तक का वास्तविक श्रेय तो उन्हीं विद्वानों को है। हम उन गुरुजनों के इस महत्कार्य का धन्यवाद देकर मूल्यांकन करने की धृष्टता कैसे करें? किन्तु मूल्य में जो ऋण चुकाया ही नहीं जा सकता, धन्यवाद के अतिरिक्त फिर हम उन्हें दें भी तो क्या?

जिन अनुभवी शिक्षकों एवं विद्वानों ने अल्प काल ही में पाठ्यक्रम के पुस्तक-विस्तार को पथ-प्रदर्शक के सीमित पृष्ठों में विद्यार्थियों के लाभार्थ भर दिया है, विद्यार्थी-समाज का उन्होंने कितना उपकार किया है, यह कहने की बात नहीं है।

पथ-प्रदर्शक निकालने की हमारी योजना विद्यार्थियों की निरन्तर बढ़ती हुई माँग का ही परिणाम है। हमें प्रसन्नता है कि विद्यार्थी समाज इतने उत्साह के साथ हमारी योजना का स्वागत करता रहा है कि हमें इस असाधारण कार्य को अपने हाथ में लेने का साहस हुआ है। हम भी आज विद्यार्थी-समाज को यह विश्वास दिलाने की स्थिति में हैं कि उनके प्रेमाग्रह और विद्वान् लेखकों को असीम कृपा से हमारी यह योजना निरन्तर परिष्कार और उत्कृष्टता की ओर बढ़ रही है।

प्रस्तुत पथ-प्रदर्शक अपने पूर्व संस्करणों से सभी बातों में उत्कृष्ट है, यह तो अत्यन्त स्वाभाविक ही है।

गागर में सागर भरने के इस आशु प्रयत्न में यदि प्रेस के भूतों ने 'युक्त' को 'मुक्त' और 'परिच्छद' को 'परिच्छेद' करके कुछ विनोद की सामग्री प्रस्तुत कर डाली हो तो इसके लिए हम अपने पाठकों के निकट अवश्य ही क्षम्य हैं।

हमारे इस प्रदर्शक ने यदि पाठ्यक्रम के पुस्तक कान्तार में विद्यार्थियों का थोड़ा भी मार्गदर्शन किया तो हम अपने नगण्य प्रयत्नों को सार्थक समझेंगे।

हमें पूर्ण आशा ही नहीं विश्वास भी है कि विद्यार्थी इस पुस्तक के रूप में निश्चित रूपेण एक असाधारण पथ-प्रदर्शक ही प्राप्त करेंगे, जिससे उनकी सफलता का मार्ग सरल और निष्कंटक हो सकेगा।

—प्रकाशक

आवश्यक निर्देश

(परीक्षार्थियों के लिये)

मेरा अपना व्यक्तिगत अनुभव है कि जो विद्यार्थी किसी कालेज या शिक्षा संस्था के नियमित (Regular) विद्यार्थी नहीं होते, वे परीक्षा में लिखने के ढंग से अपरिचित होते हैं। परीक्षा में लिखने का ढंग उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना की स्वयं वह सामग्री जिसे विद्यार्थी लिखने जा रहा है। व्यक्तिगत जीवन में हम देखते हैं कि एक व्यक्ति किसी बात को इस ढंग से कहता है कि लोग हँस पड़ते हैं और बात को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। दूसरा व्यक्ति उसी बात को इस ढंग से कहता है कि श्रोता मुँह बिगाड़ लेता है और बात को मानने के लिए तो किसी भी प्रकार तैयार नहीं होता। सच तो यह है कि 'अभिव्यक्ति की कुशलता ही है कला'। परीक्षा देना चाहे कला का विषय हो या न हो किन्तु प्रश्नों का उत्तर देना कला है, यह निश्चित है। दो विद्यार्थियों को एक बराबर ही पाठ्य-सामग्री याद है। किन्तु एक विद्यार्थी अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होता है, दूसरा उत्तीर्ण तक नहीं होता, क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है। उन दोनों के लिखने के ढंग में कहीं अन्तर है। परीक्षा में सफलता प्राप्त करना बहुत कुछ इसी लिखने के ढंग पर आधारित है। इसके लिए निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—विद्यार्थी परीक्षा के लिए केवल पुस्तकों को अद्योपांत पढ़े ही नहीं, बल्कि परीक्षा में अधिकतर आने वाले प्रश्नों के उत्तर भी उनमें से छाँटकर रख ले। प्रस्तुत गाइड इस दिशा में उनकी महान् सहायता करेगा, कोई पुस्तक चाहे जितनी बार पढ़ डाली जाय, जब तक विद्यार्थी प्रश्नोत्तर रूप में उसे तैयार नहीं करेगा, परीक्षा में उसकी सहायता हमेशा संदेहास्पद रहेगी।

२—विद्यार्थी उत्तर-पुस्तक में इतना साफ लिखे कि परीक्षक आसानी से उसे पढ़ ले। सुलेख परीक्षक को उदारतापूर्वक अंक देने के लिए विवश कर देता है। यद्यपि सुलेख के लिए परीक्षा में अंक नियत नहीं होते, फिर भी हर विद्यार्थी को यह समझ लेना चाहिए की सुलेख लिखने वाले विद्यार्थी को गंदा लिखने वाले विद्यार्थी से हर प्रश्न में दो-तीन अंक अधिक मिलते हैं। बात अधिक स्पष्ट यों होगी कि मान लीजिए दो विद्यार्थी बिलकुल एक सी सामग्री

अपनी-अपनी पुस्तक में लिखते हैं तो सुलेख लिखने वाले लड़के को यदि ६० अंक मिलेंगे तो गंदा लिखने वाले को मुश्किल से ४८ या ५० ।

३—पिष्टपेषण से विद्यार्थी को बचना चाहिए। उत्तर पुस्तक में बार-बार एक बात को दुहराना बहुत बड़ी कुरूपता है।

४—कुछ विद्यार्थियों का विश्वास है कि जितनी उत्तर पुस्तकें वे अधिक भरेंगे उतने ही अंक अधिक मिलेंगे। परीक्षक के नाते मेरा अनुभव इस विषय में बिलकुल उलटा है। अधिक उत्तर-पुस्तकें परीक्षकों के लिए दुःखदायी हैं। शायद ही कोई परीक्षक अधिक कापियों का स्वागत करे। यह प्रायः निश्चित है कि प्रायः अधिकतर अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल एक उत्तर पुस्तक ही लेते हैं। किसी बात को संक्षेप में लिखना योग्यता का ही परिचायक है, अयोग्यता का नहीं। बढ़ा-बढ़ा कर वे विद्यार्थी लिखते हैं, जिन्हें याद बहुत कम है। जिन्हें बहुत याद है, उन्हें संक्षेप में लिखने की कठिनाई पड़ जाती है।

५—विद्यार्थियों को एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि उनके सभी प्रश्न ठीक अनुपात में हों। मेरा अभिप्राय है कि यदि कोई विद्यार्थी एक प्रश्न का उत्तर ५ या ६ पृष्ठ में लिखता है तो सभी प्रश्नों का उत्तर इतने ही में लगभग लिखना चाहिए। यह गलत नीति है कि पहले दो या तीन प्रश्न तो दस-दस पृष्ठ में लिखे जाँय और अन्तिम दो प्रश्न या तो दो-दो पृष्ठ में लिखे जाँय या एक या दो प्रश्न छोड़ ही दिए जाँय। याद रखिए, अधिक पृष्ठ वाले प्रश्नोत्तर पर आपको औसत से इतने ज्यादा अंक नहीं मिलेंगे जितने अत्यन्त छोटे प्रश्नों पर औसत से भी कम मिलेंगे। प्रश्न छूट जाना परीक्षा की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। जिस विद्यार्थी का प्रश्न छूट जाएगा चाहे वह कितना ही अच्छा लिखे, प्रथम श्रेणी के अंक कभी नहीं ला सकता। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि न कोई उत्तर अधिक लम्बा हो जाय और न कोई छोटा। प्रश्न तो किसी हालत में नहीं छूटना चाहिए।

६—प्राइवेट विद्यार्थी सबसे बड़ी भूल व्याख्या (Explanation) वाले प्रश्न में करते हैं जो प्रायः पहला ही प्रश्न होता है। व्याख्या वाले प्रश्न को यदि विद्यार्थी ४५ मिनट से पूर्व ही कर लेगा तो ठीक रहेगा, नहीं तो शेष

प्रश्न ठीक अनुपात में नहीं हो सकेंगे। दूसरी जो सबसे बड़ी बात ध्यान रखने की है, वह यह कि प्रसंग अधिक से अधिक चार-पाँच पंक्तियों का होना चाहिए और सौंदर्य भी उसमें रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, विद्यार्थी को इस प्रकार लिखना चाहिए—

यह पद्यखंड जायसी कृत पद्मावत से उद्धृत है, नागमती अपना संदेश रत्नसिंह को भेजते हुए, प्रेमावेश में पक्षियों से कह रही है कि—

इसके बाद व्याख्या तुरन्त आरम्भ हो जानी चाहिए।

हे भौंरे! हे कौए! तुम मेरे प्रियतम से मेरा यह संदेश कह देना कि तुम्हारी पत्नी विरहाग्नि में जल मरी है और उसके धुँए से हम कृष्णवर्ण हो गए हैं।

यह सोचना ठीक न होगा कि व्याख्या में जितनी अधिक पंक्तियाँ हों उतना ही ठीक है, कभी-कभी १०-१० पद्य-पंक्तियों की व्याख्या दो-दो पंक्तियों में ही आ जाती है और कभी-कभी पद्य की दो पंक्तियाँ व्याख्या में १०-१० पंक्तियाँ घेरती हैं।

कुछ विद्यार्थी मैंने तीन-तीन पृष्ठों में प्रसंग लिखते देखे हैं, वे क्या लिखते हैं, क्या बताया जाय, उसी में प्रसंग, उसी में व्याख्या, लगे हाथ उसी में कवि की आलोचना और किसी दूसरे कवि से उसकी तुलना भी। साहित्यरत्न के विद्यार्थी ऐसी भूलें करते हैं, यह अविश्वसनीय सत्य नहीं है। यदि विद्यार्थी ऊपर बताई प्रणाली से लिखेंगे तो उनके समय की बचत तो होगी ही, उनको अंक भी अधिक मिलेंगे ही। एक बात और, परीक्षा में व्याख्या के लिए प्रायः ऐसे ही पद आते हैं जिनमें कुछ-न-कुछ साहित्यिक सौंदर्य अवश्य हो, (१) कोई अन्तरकथा हो, (२) कोई अलंकार हो, (३) भाषा सम्बन्धी कोई विशेषता हो, आदि। व्याख्या के बाद टिप्पणी लिखकर नं० १, २, ३, डाल कर विद्यार्थी को ये विशेषताएँ लिखनी चाहिएँ।

७. आलोचनात्मक प्रश्नों में विद्यार्थी अनर्गल बातें लिखते हैं और अधिकांश विद्यार्थियों के उत्तर 'अनावश्यक विस्तार' के रोग से पीड़ित होते हैं। परीक्षार्थी को इस विषय में अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है कि क्या नहीं लिखना चाहिए। प्रत्येक आलोचनात्मक प्रश्न एक सुगठित निबन्ध के

रूप में होना चाहिए। १. प्रस्तावना, २. तथ्य-वर्णन (विद्वानों के उद्धरणों के साथ), ३. उपसंहार। व्यवस्थित उत्तर परीक्षक को जितना प्रसन्न करता है, और कोई बात नहीं।

८. पद्य के प्रश्न-पत्र के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है, अधिक महत्त्वपूर्ण कवियों के उद्धरण विद्यार्थियों को खूब याद होने चाहिएँ, उद्धरण बड़े काम की वस्तु हैं, बिना इनके पद्य के प्रश्न-पत्र में तो काम नहीं चलता। विद्यार्थियों को दो प्रकार के उद्धरण याद करने चाहियें।

१. भावपक्ष (रस, भावपूर्ण स्थल जो हृदय को स्पर्श करते हों) सम्बन्धी।

२. कलापक्ष (सुन्दर भाषा और अलंकारों से युक्त) सम्बन्धी।

इन दो प्रकार के उद्धरणों से कई प्रश्न हल किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—

१. कबीर कवि के रूप में (भाषा और भाव-सम्बन्धी उद्धरण)

२. कबीर में ब्रह्म विषयक विरह (भावपक्ष-सम्बन्धी उद्धरण)

३. सुधारक के रूप में कबीर (सुन्दर भाषा और सुन्दर भावयुक्त उद्धरण)

४. कबीर की भाषा (भाषा-सम्बन्धी उद्धरण)

५. कबीर की और कवियों से तुलना (भाषा और भावसम्बन्धी कबीर के उद्धरणों की भाषा और भावसम्बन्धी दूसरे कवि के उद्धरणों से तुलना)

कहने का अभिप्राय यह है कि जितने भी प्रकार के प्रश्न हैं, वे सब भाव और भाषा (भाव और कलापक्ष) सम्बन्धी उद्धरणों के द्वारा ही हल किए जा सकते हैं। उद्धरणों की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

९. हर तथ्य के लिए पैराग्राफ बदलना आवश्यक है।

१०. व्याख्या के लिए दिए गए पदों की व्याख्या पंक्ति के अनुसार करनी आवश्यक नहीं है। अर्थ मूल पाठ के अधिक-से-अधिक निकट होता हुआ भी अपने आप में सम्पूर्ण और सुगठित होना चाहिए, जिससे वह अर्थमात्र न लगकर एक स्वतन्त्र गद्य-खंड लगे। मैंने कबीर पर आलोचनात्मक प्रश्नों में इस पद्धति से काम लिया है, विद्यार्थी देखें, पहले अर्थ दिया है, बाद में उद्धरण। अर्थ इसी प्रकार का होना चाहिये।

यदि विद्यार्थी उपर्युक्त बातों पर ध्यान देंगे तो मुझे पूरा विश्वास है कि उन्हें परीक्षा में इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

लेखक—

विषय-सूची

—:※:—

डिंगल में वीर रस

प्रश्न १—'डिंगल' शब्द पर विभिन्न विद्वानों के विचारों की समीक्षा कीजिए और डिंगल भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—डिंगल भाषा की उत्पत्ति—भारत में आर्यों की प्राचीन भाषा ऋग्वेद की भाषा थी। उस काल की भाषा को 'वैदिक संस्कृत' भी कहते हैं। आगे विकसित होकर यही भाषा साहित्यिक संस्कृत भी कहलाई। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या संस्कृत प्राचीनतम बोलचाल की भाषा है? कुछ विद्वानों का विचार है कि संस्कार कृत भाषा का नाम ही 'संस्कृत' पड़ा अर्थात् जब कुछ विद्वान् लोगों ने बोलचाल की भाषा को व्याकरण के जटिल नियमों में बाँध दिया तो वह संस्कार की हुई भाषा 'संस्कृत' कहलाई। किन्तु संस्कृत केवल साहित्य की भाषा थी बोलचाल की नहीं। उस काल की बोलचाल की भाषा को विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है। साहित्य का इतिहास इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि सब देशों में सर्वदा बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर रहा है। अर्थात् प्रत्येक देश या प्रान्त में सामान्यत: दो भाषायें रहती आई हैं, एक तो बोलचाल की भाषा जो जन-साधारण की भाषा होती है और दूसरी साहित्य की भाषा जो कुछ विशिष्ट पढ़े-लिखे व्यक्तियों की भाषा होती है। आज हिन्दी भी इस तथ्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। साहित्य में जिस हिन्दी का प्रयोग है, वह स्पष्टत: जन-साधारण की हिन्दी से भिन्न है। सारांश यह कि जिस समय 'संस्कृत' साहित्य की भाषा थी उस समय 'पहली प्राकृत' बोलचाच की भाषा थी। मिश्रबन्धुओं का यह कथन बहुत कुछ सारगर्भित प्रतीत होता है कि संस्कृत का व्याकरण मातृवध का दोषी है। संस्कृत की जटिलता ने उसके विकास की धारा रोककर उसे अमर (या मृत ?) भाषा बना दिया। जब संस्कृत में साहित्य रचना बन्द होने लगी तो बोलचाल की प्राकृत से एक दूसरी भाषा का उदय हुआ जिसे 'दूसरी प्राकृत, कहते हैं। कालान्तर में, जब प्राकृत में भी साहित्य रचना होने लगी और

विद्वानों ने उसे व्याकरण के नियमों में बाँध कर उसके विकास को सीमित कर दिया तो फिर बोलचाल की दूसरी प्राकृत में से बोलचाल की 'तीसरी प्राकृत' का विकास हुआ। दूसरी प्राकृत बोलचाल की भाषा थी। उसी के साहित्यिक रूप को विद्वानों ने 'पाली' नाम दिया है। तीसरी प्राकृत में भी जब साहित्य-सृजन का कार्य होने लगा तो विद्वानों ने उसे भी व्याकरण के जटिल नियमों में बाँधना आरम्भ कर दिया। तीसरी प्राकृत के साहित्यिक रूप का नाम 'अपभ्रंश' हुआ। तीसरी प्राकृत प्रान्त भेद के कारण कई नामों में विभक्त होगयी। इसके मुख्य भेद पाँच हैं—१. मागधी, २. अर्धमागधी, ३.शौरसेनी, ४. महाराष्ट्री, ५. पांचाली (इनमें से 'शौरसेनी' प्राकृत से हिन्दी का जन्म हुआ।) किन्तु जब ये सब प्राकृतें साहित्यिक सिंहासन पर विराजमान हुईं तो विभिन्न अपभ्रंशों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। एक बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि साहित्यिक रूप धारण करने पर भाषायें विकासहीन हो जाती थीं और फिर उनके बोलचाल के रूप से नई भाषा का उदय होता था। उपरोक्त पाँच प्राकृतों में से फिर 'नागर', 'उपनागर' और 'ब्राचड़' नामक प्राकृतों का विकास हुआ और आगे चलकर जब इन प्राकृतों ने भी साहित्यिक रूप धारण किया तो फिर बोलचाल की भाषाओं से विभिन्न प्राकृतों का विकास हुआ। विद्वानों का कथन है कि 'नागर' अपभ्रंश के बोलचाल के रूप से अर्थात् 'प्राकृत नागर' से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ और राजस्थानी भाषा जब साहित्य की भाषा बनी तो उसी का नाम 'डिंगल' पड़ा। अर्थात् राजस्थानी भाषा के साहित्यिक रूप का नाम ही 'डिंगल' है।

यह राजस्थानी बोलचाल की भाषा अपने साहित्यिक रूप से डिंगल कैसे हो गई इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किसी का कुछ मत है किसी का कुछ।

इस विषय में प्रचलित प्रधान मत पाँच हैं। उनकी समीक्षा आवश्यक है।

प्रथम मत—डा० एल० पी० टैसीटरी का कथन है कि 'डिंगल' शब्द का वास्तविक अर्थ है 'अनियमित' अथवा 'गँवारू'। डिंगल ब्रज भाषा की भाँति व्यवस्थित एवं साहित्य शास्त्र के नियमानुकूल परिमार्जित नहीं थी, इस लिए भेद करने के लिए इस अव्यवस्थित एवं अपरिष्कृत भाषा का नाम डिंगल पड़ा।

डा० टैसीटरी का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि 'डिंगल' चारण तथा भाटों की काव्य-भाषा थी और चारण भाट अपढ़ अथवा निरक्षर न होकर पढ़े-लिखे तथा विद्वान् होते थे। इसके अतिरिक्त यदि 'डिंगल' गँवारू भाषा ही होती तो राजदरबारों में इसका सम्मान ब्रज-भाषा से भी अधिक क्यों होता ? डिंगल को अव्यवस्थित एवं साहित्य शास्त्र के नियमों से हीन बताना अपने ही तत्सम्बन्धी अज्ञान का विज्ञापन होगा क्योंकि रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांगों का 'डिंगल' में भी उतना ही ध्यान रखा जाता है, जितना ब्रजभाषा में। हाँ, डिंगल में शब्दों की तोड़-मोड़ अवश्य ही ब्रजभाषा से अधिक होती है परन्तु केवल इसी कारण से इसे गँवारू भाषा बता देना स्पष्टतः अनुचित निष्कर्ष पर पहुँचना होगा। अतः यह स्पष्ट हो गया कि भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था, अनियमितता अथवा साहित्य-शास्त्र के नियमों की हीनता का 'डिंगल' नाम से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

द्वितीय मत—डा० हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि प्रारम्भ में यह भाषा 'डगल' के नाम से प्रसिद्ध थी किन्तु बाद में पिंगल के अनुकरण पर इसका नाम 'डिंगल' रख दिया गया।

शास्त्री जी के इस 'डिंगल' शब्द का मूल स्रोत एक गीत का निम्नांकित अंश है :—

"दीसे जंगल डगल जेथ जल बगल चाटे।
अनहुँता गल दिये गला हुँता गल काटे ॥"

शास्त्रीजी ने इस अंश में प्रयुक्त 'डिंगल' शब्द को भाषा के अर्थ में लिया है यद्यपि इसमें भाषा का कोई प्रसंग नहीं है। विद्वानों का कथन है कि यह पद्यांश १६ वीं शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं हो सकता किन्तु 'डिंगल' शब्द तो इससे पहले भी प्रचलित था। 'डगल' शब्द का अर्थ होता है मिट्टी का ढेला और इसी अर्थ में ऊपर इस शब्द का प्रयोग भी किया गया है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि 'डिंगल' यदि अनगढ़ पत्थर के समान ऊबड़-खाबड़ और अपरिष्कृत भाषा थी तो वह कौन सी परिष्कृत एवं समृद्ध भाषा थी जिसकी तुलना में 'डिंगल' 'डगल' सदृश थी ? यह तो निश्चित ही है कि वह परिष्कृत भाषा ब्रज भाषा नहीं हो सकती क्योंकि चौदहवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा ने अपने

यौवन में प्रवेश नहीं किया था और उसके रूप में निखार आने में अभी बहुत समय शेष था । राजस्थानी भाषा भी डिंगल की तुलना में खड़ी नहीं की जा सकती क्योंकि वह जन साधारण की बोलचाल की भाषा थी और 'डिंगल' उसी का साहित्यिक रूप थी। बोलचाल की भाषा साहित्य भाषा की तुलना में अधिक व्यवस्थित एवं परिष्कृत कभी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव न था कि डिंगल जिन चारण और भाटों की आजीविका का साधन और वाक्पटुता का सुन्दर उपकरण थी, वे अपनी आदरणीय भाषा का ऐसा असम्मानजनक नाम स्वीकार कर लेते।

तीसरा मत—श्री गजराज ओझा का मत है कि 'डिंगल' में 'ड' वर्ण की प्रचुरता है और यह प्रचुरता इसकी अपनी विशिष्टता है इसलिए 'ड' वर्ण के प्राधान्य के कारण ही इस भाषा का नाम 'डिंगल' पड़ा । उदाहरण के लिए बिहारी भाषा को लिया जा सकता है जिसमें 'ल वर्ण की प्रधानता है।

यह मत भी वैज्ञानिक कारणों पर आधारित नही जान पड़ता। भारत की ही नहीं बाहर की भाषाओं में भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ किसी वर्ण विशेष की प्रमुखता के कारण ही किसी भाषाविशेष का नामकरण हुआ हो। बिहारी में श्री ओझा जी 'ल' वर्ण की प्रधानता बताते हैं और अपने तर्क से अपने ही कथन को अनजान में काटते भी हैं। जब बिहारी 'ल' वर्ण प्रधान है तो ओझा जी के मतानुसार उसका नामकरण 'ल' के आधार पर ही होना चाहिए था परन्तु ऐसा है नहीं। इसलिए यह स्पष्ट है कि किसी वर्ण विशेष के प्राधान्य के आधार पर भाषाओं के नामकरण की कोई पद्धति प्रचलित नहीं है । 'डिंगल' के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मोतीलाल मेनारिया का कथन है कि यह बात भी निर्विवाद नहीं है कि डिंगल 'ड' वर्णप्रधान भाषा है। उन्होंने डिंगल के कुछ छन्द प्रस्तुत किये हैं जिनमें 'ड' वर्ण का प्रायः अभाव है। उनमें से कुछ को यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :

> **दुनिया जोड़ी दोय, सारस नै चकवो सुण्यांह ।**
> **मिल्यौ न तीजो मोय, जो जो हारी जेठवा ॥**
> **जिण बिन घड़ी न जाय. जमवारो किम जावसी ।**
> **बिळखतड़ी बीहाय, जोग णकरगो जेठवा ॥—ऊजली**

हंस-बाहणी त्रिगलोचनि नार ।
सीस समारइ दिन गिणइ ।।
जिण सिरजइ उळिगण घर नारि ।
जाइ दिहाड़ाउ झूरिताँ ।।—बीसलदेव रासो
बघवाणी ब्रह्माणी कोमारी सरसत्ति ।
कीरत रिणमल नूँ करूँ, देवी देहि समत्ति ।।
पौर दिखावे प्राण, गढ़ भेलै भेलै गिरै ।
सांमहियो सुरत्ताण. गुहिलोतां चढ़ियो गळै ।।—बाडण पसाइत
प्रभु भजंतां प्राणियाँ, कीजै ढील न काय ।
भर बत्थां अथ काढ़जै, मन्दिर जळतै माँय ।।
जीह भणे भण जीह भण, कंठ भणे भण कंठ ।
मो मन लागौ मह महण, हीर पटौळै गंठ ।।—ईश्वरदास

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'ड' वर्ण की प्रधानता तो क्या उसका नितान्त अभाव ही यहाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । इसीलिए 'डिंगल' का नामकरण 'ड' की प्रधानता के कारण बताना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

चौथा मत—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ के पृष्ठ २२४ पर डिंगल के नामकरण के सम्बन्ध में जो कारण दिये हैं वे वास्तव में हास्यास्पद हैं । उनमें लिखा है कि 'डिंगल' शब्द डिम+गल से मिलकर बना है । 'डिम' का अर्थ होता है 'डमरू' और 'गल' का अर्थ लिया गया है 'गला' और निष्कर्ष निकाला गया है कि गले से जो कविता डिम-डिम की ध्वनि के समान निकल कर वीरों के हृदय को उत्साह से भर दे उसी को 'डिंगल' कहते हैं । डिंगल में ऐसी कविता की प्रधानता है इसलिए उसे 'डिंगल' कहते हैं ।

प्रतीत होता है कि 'डिंगल' भाषा की हँसी उड़ाने के लिए ही उपरोक्त मत व्यक्त किया गया है । वीर ध्वनिमात्र सुनकर उत्साहित होते हैं या सार्थक कविता ? उपर्युक्त कथन से तो यही ध्वनि निकलती है कि 'डिंगल' की कविता अर्थहीन होती है; उसमें से तो मात्रध्वनि (और वह भी डमरू की तरह) निकलती है । (आज कल भी उत्तरी भारत के लोग दक्षिण की, विशेष रूप से मद्रासी भाषाओं के विषय में उनकी हँसी उड़ाने के लिए कहते देखे जाते हैं,

आपको मद्रासी भाषा सुननी है तो किसी घड़े में कंकड़ डालकर जोर-जोर से बजाइये वही मद्रासी भाषा है)। अस्तु, उपरोक्त मत में वास्तव में भाषा और वीरों, दोनों का ही अपमान निहित है। इस मत के अनुसार भाषा (डिंगल) केवल बाजे की ध्वनिमात्र है और वीर केवल शरीर के प्रतीक।

दूसरी बात यह है कि उपरोक्त कथन में जो महादेव को वीर रस का देवता बताया गया है, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वीररस के अधिष्ठातृ-देवता इन्द्र हैं, शिवजी तो रौद्र-रस के देवता हैं। अतः सभी दृष्टियों से इस मत की अर्थ-हीनता एवं निस्सारता प्रमाणित हो जाती है।

पाँचवा मत—श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए० का मत है—

"सभी मानते हैं कि प्रारम्भ में डिंगल एक तरह से चारण-भाटों की ही भाषा थी और अपनी काव्य रचनायें ये लोग बहुधा इसी भाषा में किया करते थे। इसके साथ ही साथ यह भी सभी पर विदित है कि अपने आश्रयदाताओं के कार्य-कलापों का, उनके शौर्य-पराक्रम का ये लोग बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया करते थे। धन के लोभ से कायर को शूर, कुरूप को सुन्दर, मूर्ख को पण्डित और कृपण को दानी कह देना इनके लिए एक साधारण बात थी। सत्यासत्य के यथार्थ निरूपण की अपेक्षा, हाँ-हुजूरी द्वारा अपने स्वामियों को खुश करके उनसे अपना स्वार्थ साधने की ओर इनका ध्यान विशेष रहता था। कारण कविता उनकी जीविका ही तो ठहरी। अतएव उनके वर्णन अधिकांश में अत्युक्तिपूर्ण हुआ करते थे। अर्थात् वे डींग हाँका करते थे। इसलिए जो भाषा इस प्रकार के डींग हाँकने के काम में लाई जाती थी, उसका शीतल, श्यामल आदि शब्दों के अनुकरण पर लोगों ने, सम्भवतः श्रोताओं ने, डींगल (डींग से युक्त) नाम रख दिया जिसका परिमार्जित कहिए अथवा विकृत रूप, यह आधुनिक शब्द 'डिंगल' है। राजस्थान में वृद्ध चारण-भाट आज भी 'डिंगल' न कहकर 'डींगल' ही बोलते हैं। इस प्रकार से बने हुए दो एक शब्द और भी 'डींगल' भाषा में मिलते हैं। जैसे—

"अकबरिये इस बार दागल की सारी दुनी।"—दुरसाजी

"यह 'दागल' शब्द दाग+ल से बना है और इसका अर्थ है—दाग से युक्त, दागवाला। हिन्दी में भी बहुत से ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिनकी उत्पत्ति भी

कुछ-कुछ इसी प्रकार से हुई है। यथा—बोझिल, धूमिल।

"सर्वसाधारण को रोजमर्रा की भाषा की अपेक्षा यह भाषा (डिंगल) जिसमें कविगण अपनी कवितायें लिखा करते थे कुछ कठिन भी होती थी। अतएव अत्युक्ति के भाव के अतिरिक्त भाषा काठिन्य का भाव भी इस 'डिंगल' शब्द में निहित है और जिस तरह 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों से ही इन भाषाओं के क्रमशः प्राकृतिक और परिमार्जित होने का भाव प्रकट होता है उसी तरह 'डिंगल' शब्द से भी अत्युक्ति और कठिनता के भाव का बोध होता है।"

मेनारिया जी का कथन भी भ्रम एवं शंकाओं से रहित नहीं दिखाई देता।

१. यह हास्यास्पद है कि केवल श्रोताओं के नाम रख देने से ही किसी भाषा का नाम प्रचलित हो जाय। आखिर उस के मूलभाषी भी तो उसे किसी न किसी नाम से पुकारते ही होंगे।

२. यदि डींग मारने के गुण पर ही किसी भाषा का नामकरण 'डिंगल' नाम से किया जा सकता है तो शायद 'संस्कृत' और 'ब्रजभाषा' का नाम भी डींगल ही होना चाहिए था क्योंकि शायद संस्कृत और ब्रजभाषा में 'डींग' सम्बन्धी पंक्तियों की संख्या 'डिंगल' से कई गुनी होगी।

३. फिर यह कहना कहाँ तक समीचीन है कि 'डिंगल' में डींग हाँकने के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं? 'डिंगल' अन्य भाषाओं की भाँति सजीव भाषा है और इसलिए 'डींग' के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में और जो कुछ है वह 'डिंगल' में भी है। क्या 'डिंगल' में शृंगार का अभाव है? क्या उसका संयोग और वियोग शृंगार अन्य साहित्यिक भाषाओं से निकृष्ट है? उत्तर स्पष्ट है कि 'नहीं'।

४. अपने कथन की निस्सारता को शायद मेनारिया जी ने स्वयं समझा है और इसीलिए ऊपर उद्धृत दोनों अनुच्छेद एक दूसरे के विरोधी लगते हैं। जब उन्हें विश्वास है कि 'डिंगल' डींग से बना है (डींग शब्द की व्याख्या और उत्पत्ति के विषय में मेनारिया जी मौन हैं) तो फिर यह कहने की क्या आवश्यकता है कि क्लिष्टता का भाव भी इससे व्यक्त होता है, यह क्लिष्टता वाली बात डिम डिम वाले सिद्धान्तों से मूलतः भिन्न नहीं है जिसका खंडन मेनारिया जी पहले ही कर चुके हैं।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मत मिलते हैं किन्तु उनका महत्त्व इतना अधिक नहीं है ।

कुछ लोग डिंगल का अर्थ डिंभ + गल अर्थात् 'बच्चे का गला' करते हैं। लक्षणा से इसका अर्थ हुआ बच्चों की भाषा । (प्राकृत भी किसी समय बाल-भाषा कहलाती थी ।)

इसी प्रकार कुछ लोग डिंगल की उत्पत्ति डिग्गी और गले से बताते हैं, (यह मूलत: डिम डिम वाली कल्पना है जहाँ भाषा का साहृश्य डमरू शब्द से बताया गया है) ।

स्वर्गीय ठाकुर किशोरसिंह बारहठ 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति 'डीङ्'धातु से मानते हैं ।

बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है कि व्रजभाषा की कविता 'पिंगल' कहलाती थी उससे भिन्न करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ 'डिंगल' नाम पड़ा ।

इस प्रकार और भी अनेक मत हैं किन्तु निर्विवाद कोई नहीं है । बाबू श्यामसुन्दरदास का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि 'पिंगल' से भेद प्रदर्शित करने के लिए मारवाड़ी भाषा का नाम 'डिंगल' पड़ा । द्वित्व वर्ण प्रधानता का स्वभाव भी 'डिंगल' शब्द से व्यंजित होता है ।

'डिंगल' में उत्कृष्ट साहित्य की रचना हुई है। उसका साहित्य व्रजभाषा के साहित्य से निम्न श्रेणी का नही कहा जा सकता । हाँ, यह बात अवश्य है कि 'डिंगल' का वीर रस अद्वितीय है और ब्रजभाषा का शृंगार-वर्णन ।

प्रश्न २—डिंगल भाषा के व्याकरण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—किसी भाषा का व्याकरण भाषा को व्यवस्थित करता है, उसे एकरूपता प्रदान करता है । विश्व की सभी समृद्ध एवं साहित्यिक भाषाओं के अपने-अपने व्याकरण हैं । व्याकरण भाषा को समझने की कुँजी कहा जा सकता है । किन्तु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि व्याकरण भाषा पर शासन नहीं करता अपितु उसका अनुगमन करता है । उदाहरणार्थ यदि किसी भाषा में ऐसे शब्द प्रचलित हो जायं जो उसके व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं तो उन शब्दों को भाषा से निकाला नहीं जा सकता । हाँ, उस भाषा का व्याकरण 'अपवाद' रूपों के विषय में कोई नया नियम बना सकता है । सारांश

यह कि भाषा तो उन्मुक्त जलप्रवाह के सदृश है जो किसी भी प्रकार का बन्धन और सीमाएँ नहीं मानता। व्याकरण भाषा का अनुशासन मात्र करता है। वैसे व्याकरण भी एक अत्यन्त रोचक विषय है। विभक्तियाँ किस प्रकार घिस जाती हैं अथवा उनका लोप हो जाता है, कैसे विदेशी शब्द हमारी भाषा में मिलकर उसी के अनुकूल हो जाते हैं, स्त्रीलिंग-पुँलिग शब्दों का वर्गीकरण, उसके विषय में नियम, व्याकरण का यही सब कार्य तो होता है। संक्षप में कह सकते हैं कि व्याकरण भाषा का सृजन नहीं करता परिष्कार मात्र करता है।

व्याकरण विशेष रूप से दूसरे भाषाभाषियों के बड़े काम का होता है। हम विदेशी भाषाओं को उनके व्याकरण की सहायता से ही शीघ्र ग्रहण कर सकते हैं। अपनी मातृभाषा को तो लोग, उसका व्याकरण पढ़े-सीखे बिना भी, शुद्ध बोल सकते हैं किन्तु दूसरे देश की भाषाओं को सीखनें और शुद्ध बोलने के लिये उनका ब्याकरण अत्यन्त आवश्यक वस्तु है।

भाषा के मुख्य रूप से दो पक्ष माने जा सकते हैं—

१. भाषा २. साहित्य।

१. भाषा—भाषा के वाक्यों का निर्माण, उसमें प्रयुक्त क्रियाओं, संज्ञाओं, सर्वनामों एवं विशेसणों का रूप, शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण, शब्दों की ठीक-ठीक वर्तनी (स्पेलिग) यह सब भाषा के अन्तर्गत आते हैं और इन सब बातों का अमुशासन एवं वर्गीकरण व्याकरण करता है।

२. साहित्य तो भावों का अगाध समुद्र है। इसके अन्तर्गत अभिव्यक्ति के अभिनव प्रकार, छन्द, अलंकार आदि आते हैं। भाषा की आत्मा को समझने के लिये अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों का सम्बन्ध भी साहित्य से ही है।

किन्तु इतना तो निश्चित है कि भाषा से ही साहित्य-सृजन होता है इसलिए भाषा के रूप की उपेक्षा साहित्य की भी उपेक्षा ही होगी। यदि कुछ कवि किसी शब्द को स्त्रीलिंग में प्रयुक्त करें और कुछ पुलिग में तो भाषा अपनी एकरूपता खो वैठेगी और उसके साहित्य की भी वही दशा हो जाएगी जैसी अराजकता फैलने पर किसी देश की हो जाती है। इसलिए कह सकते

हैं कि व्याकरण वह प्रथम सीढ़ी है, जिसकी सहायता से हम साहित्य-मन्दिर में प्रवेश करते हैं।

किसी भाषा के व्याकरण का अर्थ है—भाषा के शब्दों के उच्चारण, शब्दकोष, कारक और विभक्ति, सर्वनाम, अव्यय तथा क्रियाओं का विवेचन। डिंगल के व्याकरण पर विचार करते समय हम इस निबंध को उपर्युक्त विषयों के विवेचन तक ही सीमित रखेंगे।

१. उच्चारण—वैदिक भाषा में ल और ळ अक्षर मिलते हैं। हिन्दी में यद्यपि ऐसे दो अक्षर अब नहीं रह गये हैं किंतु अन्य प्रान्तीय भाषाओं—मराठी गुजराती आदि में ये दो अक्षर (ल और ळ) अभी तक हैं। डिंगल में भी ये दोनों अक्षर मिलते हैं और जिन शब्दों का ल या ळ से अन्त होता है उनमें अर्थ-भेद भी हो जाता है। अतः भाषा-शुद्धि की दृष्टि से 'डिंगल' में दोनों अत्रर अब तक भिन्न ही माने जाते हैं। नीचे की शब्द-तालिका से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा कि लकारान्त और ळकारान्त शब्दों के अर्थ में किस प्रकार भेद हो जाता है :

लकारान्त शब्द		ळकारान्त शब्द	
शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
चंचल	चपल	चंचळ	घोड़ा
गाल	कपोल	गाळ	गाली
गोल	वृत्ताकार	गोळ	गुड़
खाल	चमड़ा	खाळ	पनाला
भाल	ललाट	भाळ	शिकार की खोज
पोल	अन्धेर, खोखलापन	पोळ	दरवाज़ा
कुल	सब, तमाम	कुळ	वंश
काल	दूसरा दिन, कल	काळ	मृत्यु
माली	धन सम्बन्धी, आर्थिक	माळी	जातिविशेष

'डिंगल' भाषा में बोलचाल में तो 'स' और 'क्ष' में अन्तर है। लेकिन लिखा जाता है सब जगह दंत्य 'स' ही। इसी प्रकार 'डिंगल' में 'ष' भी नहीं है। 'ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग भी प्रायः मिलता है। निम्नलिखित दोहा

यह स्पष्ट करने में सहायक होगा कि किस प्रकार 'श' के स्थान पर लिखा जाता है 'स' ही और पढ़ते समय ठीक पढ़ा जाएगा 'श' ही :

लिखने के अनुसार:—

देखै अकबर दूर, घेरौ दे दुसमण घड़ा।
सागाहर रणसूर, पैर न खिसै प्रतापसी॥

बोलने के अनुसार:—

देखै अकबर दूर, घेरो दे दुशमण घड़ा।
सांगाहर रणशूर, पैर न खिसै प्रतापसी॥

'डिंगल' भाषा में स्वर—निपात भी मिलता है। अर्थात् कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अक्षर विशेषकर जोर देकर बोलने से अर्थ और हो जाता है और जोर देकर न बोलने से अर्थ और ही कुछ होता है। उदाहरणार्थ 'राड़' शब्द को लीजिए। इसमें जब निपात (ज़ोर) 'रा' पर नहीं रहता तब इसका अर्थ होता है 'लड़ाई' और जब निपात (ज़ोर) 'रा' पर होता है तो इसका अर्थ होता है 'पैतृक प्रभाव'।

कुछ ऐसे ही और शब्दों की तालिका यहां दी जाती है जिससे उपरोक्त कथन और भी स्पष्ट हो जाएगा—

मोड़	(१) घुमाव	(२) आम्र मंजरी, सेहरा
पीर	(१) मुसलमानों के धर्मगुरु	(२) पीहर
बायरो	(१) हवा	(२) शून्य, विहीन
नार	(१) स्त्री	(२) सिंह
नाथ	(१) स्वामी	(२) नथ-बन्धन
कद	(१) ऊँचाई	(२) किस समय
नाढ़ो	(१) इजारबन्द	(२) छोटा जलाशय

'डिंगल' की वर्णमाला में ऋ, ॠ और ऌ अक्षर नहीं हैं (हिन्दी में भी इन का धीरे-धीरे लोप हो रहा है)। 'डिंगल' में 'व' का उच्चारण दो प्रकार का होता है, एक तो 'व' के रूप में दूसरा 'व़' के रूप में। ऐसा प्रयोग अर्थभेद की दृष्टि से ही किया जाता है। 'व' और 'व़' अर्थ में लगभग उसी प्रकार अन्तर उपस्थित कर देते हैं जैसे 'क' और 'ल' करते हैं। निम्नांकित तालिका

से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वळ	टेढ़ापन	वळ	जलने का आदेश
वंचियो	बचा गया	व़चियो	छोटा सा बच्चा
वची	बच गई	व़ची	बच्ची
वास	गन्ध	व़ास	निवास का स्थान
वलती	लौटती हुई	व़लती	जलती हुई
वात	हवा	व़ास	कहानी, किस्सा
वार	दिन, द्वार	व़ार	सहायता के लिए पुकार

२. शब्दकोष—वैसे तो हिन्दी और डिंगल दोनों की जननी अपभ्रंश ही है किन्तु समय भेद से हिन्दी और डिंगल की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो गयी है। हिन्दी आज भी बोलचाल की भाषा है, इसलिए अन्यान्य भाषाओं के शब्दों के लिए उसके द्वार आज तक खुले हैं। यही कारण है कि हिन्दी में तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नयी संस्कृतियों के मिश्रण के कारण, अरबी फ़ारसी, अंग्रेजी, लेटिन, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश आदि अनेकों भाषाओं के शब्द आकर मिल गए हैं किन्तु 'डिंगल' के साथ यह बात नहीं है। 'डिंगल' पर विदेशी (अभारतीय) भाषाओं का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ 'डिंगल' के ८० प्रतिशत शब्द तो संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं से आये हैं और कुछ देशज भाषाओं के शब्द भी हैं। अरबी, फारसी शब्दों का प्रतिशत 'डिंगल' में ५ से अधिक नहीं बैठेगा। 'डिंगल' में जिस भाषा के भी शब्द आये हैं वे प्रायः तद्भव रूप में ही आये हैं, तत्सम रूप में आने वाले शब्दों की संख्या नगण्य है। 'डिंगल' में आपको बहुत से ऐसे प्रान्तीय शब्द मिल जायेंगे, जिनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में भी नहीं मिलते।

यहाँ 'डिंगल' में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के शब्दभंडार की परीक्षा अप्रासंगिक न होगी।

१. डिंगल में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से आये शब्द :—

अखोरण (सं० अक्षौहिणी), पिसण (सं० पिशुन), कोयन्नल (सं० कोपानल), नेड़ी (प्रा० णिअड़), सहरी (प्रा० सरिसी), सोहिल (प्रा० सुलह), काज (अप०

कज्ज), किमाड़ (अप० किवाड़), खिरण (अप० खरण), मुसारण (अप० मसारण)

२. डिंगल में अरबी, फारसी और तुर्की से आये शब्द :—

ढोल (अ० दुहल), मुतलब (अ० मतलब), मुसकल (अ० मुश्किल), नुकसारण (अ० नुकसान), बगतर (फा० बख्तर), बिडारणा (फा० बेगाना), ज़रदी (फा० ज़र्द), आद (फा० याद), काबू (तु०), तोप (तु०) आदि

डिंगल में प्रान्तीय शब्द :—

नाड़ो = छोटा जलाशय। ढोलो = पति। गंडक = कुत्ता। भाठो = पत्थर। रूक = खड्ग। डाकी = वीर। वेह = मंगल कलश। रावत = योद्धा। लंकाळ = सिंह। साँवठो = मजबूत। छरा = पंजा। उरसांह = आकाश। बेंडो = पागल। फाल = छलाँग। थावर = शनिवार। डाच = मुख, आदि।

३. कारक तथा विभक्तियाँ :—

'डिंगल' में विभतियाँ बड़ी अनिश्चित एवं अव्यवस्थित हैं। कुछ विभक्तियाँ तो ऐसी हैं जो एक ही कारक में लगती हैं किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जो कई-कई कारकों में लग जाती हैं। प्राचीन डिंगल और अर्वाचीन डिंगल की विभक्तियों में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। कुछ पुरानी विभक्तियाँ अब काम में नहीं आतीं और उनके स्थान पर नयी विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं। प्राचीन डिंगल में सम्बन्ध की विभक्ति 'ह' है किन्तु अब इसका प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार प्राचीन डिंगल में सम्बन्ध कारक के बहुवचन के रूप में 'हां' का प्रयोग होता है किन्तु अब इसका स्थान 'आँ' ने ले लिया है। जैसे—डेडतां-अहिरां आदि।

डिंगल की कुछ अन्य विभक्तियाँ देखिए—

कारक	विभक्ति	उदाहरण
कर्ता	इ, उ	ढोळइ, करहउ।
कर्म	उ	संदेसड़उ, कलेजउ।
करण	इ, इइ, ए (बहु०)	मुखि, कामिइ, हाथे, पाने।
सम्प्रदान	ए, नूँ, आँ	घरे, राजानूँ, अहाँ।
अपादान	हूँ, हूँत, हुँतो, हुँती, हूँता,	गला हुँता, खुसी हूँत आदि।
सम्बन्ध	ह, हाँ, (बहुवचन)	हलाह, भवाँह, करहाँ।
अधिकरण	इ, ए (बहुवचन)	गिरि, मगि, निसारणे।

इसके अतिरिक्त डिंगल में कुछ ऐसे शब्द हैं जो न तो प्रत्यय हैं और न विभक्तियाँ किन्तु ये विभक्तिवों का काम अवश्य देते हैं । ऐसे शब्दों को परसर्ग कहा जाता है । प्रयोग के अनुसार इन शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है ।

कर्म—नइ, प्रति ।

करण—करि, नई, पाहि, साथि, सिउँ, सूँ ।

सम्प्रदान—कन्ह, नै, प्रति ।

अपादान—कन्हइ, तउ, थकउ, थउ, थकि, पासइ, लगि ।

सम्वन्ध—केरउ, तणउ, चा, चीं, चों, नउ, रउ, रहइ ।

अधिकरण—कन्हइ, ताँइ, पासइ, माँझल, मझारी, मांझि, माँ, माहि ।

४. **सर्वनाम**—डिंगल और अपभ्रंश के सर्वनाम शब्दों में अत्यधिक साहश्य नीचे भिन्न-भिन्न सर्वनामों के रूप दिए जाते हैं :—

१. अपत्य वाचक सर्वनाम

(हूँ=मैं)

कर्ता—हूँ, मइँ, म्हे

कर्म—हूँ, मूँ, मूझ, अम्ह

सम्बन्ध—मूझ, माहरो, अम्हीणी, म्हारउ, मो, मूँ

अधिकरण—अम्हां

(तूं=तू)

कर्ता—तुम्ह, तुम्हाँ, तूँ

कर्म—तुम्ह, तुम्हाँ

करण—तुम्हाँ सूँ

अधिकरण—तूझ, ताहरो, तुम्हरो, तुम्हीणों

(२) निश्चय वाचक सर्वनाम

(यह)

कर्ता—एह, ए, आ

कर्म—एह, ए, आ

करण—एणइ, इण, इणिन, एणि,

सम्प्रदान—एहँ, इहँ, अहाँ
अपादान—एह, ए
सम्बन्ध—एह, ए
अधिकरण—एहि, एणइ, इणन, इणि, एणि

(३) सम्बन्ध वाचक सर्वनाम

(जो)

कारक एकवचन	बहुवचन
कर्ता—जो, जु, जा	जे, जेअ
कर्म—जो, जु, जा	जेहु
करण—जेणइ, जिणइ, जेणिन, जिणि,	जेहि
सम्प्रदान—जा, जिहिं, जउ, जू	जेणि, जिणि, जे, जिअँ, जियँ
अपादान—जास, जस, जेह, जिह, जे	
सम्बन्ध—जास, जस, जेह, जिह, जे	
अधिकरण—जहिं, जिहिं, जेणइ, जिणइँ, जेणि, जिणि	

(सो)

एक वचन	बहुवचन
कर्ता—सोइ, सोय, सु, सा	ते
कर्म—सोइ, सोय, सु, सा	तेह
करण—तिणइ	तेहि, तेइ
सम्प्रदान—ता, तहँ, तउ, तू	तेह, तिह, तेहँ, ते तिअँ, तियँ
अपादान—तास, तस, तुसु, तह, तेह, ये	
सम्बन्ध—तास, तस, तुसु, तह, तेह, ते	
अधिकरण—ताहि, ताहिं, तेणइ, तिणइ, तेणि, तिणि	

(४) प्रश्नवाचक और अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(कौन, कोई)

कारक एकवचन	बहुवचन
कर्ता—कावण, कउँण, कुँण, कुण,	केइ, केवि
कर्म—को, कोई, कोइ, कोवि, कोय	काँइं, केह

करण—कउणइँ, कुणइँ, किणइँ, कणि, कुणि
सम्प्रदान—क, किहँ केहि, केइ
अपादान—कह, किण, केह, कहि केहँ, केह, कियँ
सम्बन्ध—कुणह ,,
अधिकरण—कुणइँ, कहिं, काहइँ, किण

(५) सार्वनामिक विशेषण

काँई=क्या, कुछ। सो=समान। एतउ, एतलउ=इतना। जेतउ, जेतलउ=जितना। तेतउ, तेतलउ=उतना। केतउ, केतलउ=कितना। अपणउ=अपना। केवड़उ, किसउ, केहड़उ=कैसा। जेवड़उ, जिसउ, जेहड़उ=जैसा। आदि।

(६) अव्यय

तळे=नीचे। किसूँ=कैसे। केथि=कहाँ। ऐथि=यहाँ। साम्ह=सामने। तिणि=इसलिए। केड़इ=पीछे। अनें, ने=और। किम, कैम=कैसे। पुणि=फिर। तई=तब। जई=जब। नहु=नहीं। तई=तब, आदि।

(७) क्रियायें

डिंगल की क्रियाओं के रूप कही अपभ्रंश, कहीं पश्चिमी हिन्दी और कहीं गुजराती से मिलते हैं।

वर्तमान काल

(१) हिन्दी में 'है' का प्रयोग जिस रूप में होता है डिंगल में प्रायः उसी प्रकार 'छइ' काम में आता है। इसके रूप विभिन्न पुरुषों में इस प्रकार होंगे :—

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	छूँ	छाँ
मध्यम पुरुष	अछइ, छइ	छउ
अन्य पुरुष	अछइ, छइ	छइ, अछइ

(२) डिंगल में वर्तमान कालिक क्रियापद प्रायः इकारान्त होते हैं, जैसे—

भरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पळटेहि।
ढाढी हाथ संदेशड़ो, धण बिललंती देहि ॥

सामान्य भूत

(१) मूलक्रिया के पीछे 'हउ' 'यउ' 'तथा' 'इउ' लगाकर डिंगल में सामान्य भूत काल के रूप बनाये जाते हैं। यथा 'कहिउ' (कहा), उड़िउ (उड़ा) आदि।

(२) भूतकाल बनाने के लिए कहीं-कहीं 'इअउ' तथा 'ठउ' प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है। जैसे 'पूजियउ' (पूजा), दीठउ (देखा) आदि।

भविष्यत् काल

डिंगल में भविष्यत् काल के रूप दो तरह से बनाये जाते हैं—

(१) मूल क्रिया के अन्त में 'सी' तथा 'स्यूं' तथा 'स्याँ' लगाकर।

(२) 'ला' 'ली' तथा 'लो' लगाकर उदाहरणार्थ–रहसी, (रहेगा), रहस्यूँ (रहेगा), मिलस्यां (मिलेंगे), बूडेला (डूब जायेगा), बूडेली (डूब जाएगी) इत्यादि।

पूर्वकालिक क्रिया

डिंगल में क्रिया के अन्त में 'एवि' 'एविय' 'इ' 'ई' 'अ' 'य' 'नइ' 'करि' आदि प्रत्यय लगाकर पूर्वकालिक क्रिया के रूप बनाये जाते हैं। यथा—पणमेवि, पणमेविय, लइ, पालिअ, बहिय, करीनइ, दौड़ि, करि आदि।

प्रश्न ३—डिंगल भाषा के कलापक्ष पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—समीक्षा की सुविधा के लिए किसी भी साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. कलापक्ष और २. भाव पक्ष। व्यक्ति अपने हृदय में उठते हुए उद्गार को वाणी देना चाहता है। मनुष्य के उद्गार साहित्यों की भाव-सम्पत्ति कहे जा सकते हैं और मनुष्य जिस भाषा में उद्गारों को व्यक्त करता है, जिस प्रकार से व्यक्त करता है उसे उस साहित्य का कलापक्ष कह सकते हैं। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि जिस भाव को साहित्य में व्यक्त किया जाता है, वह भावपक्ष से सम्बन्ध रखता है और जिस प्रकार से व्यक्त किया जाता है वह अभिव्यक्ति से। यह 'प्रकार' ही साहित्य के कलापक्ष से अपना सम्बन्ध रखता है।

वास्तव में साहित्य का सृजन मानव की भाषा और भावों की सुदीर्घ साधना का सुन्दर-सुखद परिणाम है। प्राय: यह देखा जाता है कि दो व्यक्ति

एक ही बात को इस प्रकार कह देते हैं कि एक की बात से लोग प्रसन्न हो जाते हैं और दूसरे की बात से अप्रसन्न । अभिव्यक्ति का कौशल साहित्य में उतना ही महत्त्व रखता है जितना भावगाम्भीर्य । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी निम्नांकित पंक्ति में यही विचार प्रकट किया है :—

'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला'

'डिंगल' भाषा का कलापक्ष समृद्ध भाषाओं की भाँति उन्नत है । सूर और तुलसी का भाववैविध्य तो डिंगल साहित्य में नहीं मिलेगा तथापि वीरता की भावना की जितनी अच्छी अभिव्यक्ति इस साहित्य में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं ।

किसी साहित्य के कलापक्ष पर विचार करने का अर्थ है, उसकी भाषा, छंद, अलंकार एवं अभिव्यक्ति-प्रणालियों आदि पर विचार करना ।

चारण लोग पढ़े-लिखे विद्वान् पुरुष होते थे और इसलिए उन्हें राजाओं के यहाँ यथेष्ट धन और सम्मान मिलता था । चारण लोग अपनी कविताओं से राजाओं को चमत्कृत कर अपना अभीष्ट (धन) प्राप्त करते थे इसलिए डिंगल साहित्य में भाषा ध्वन्यात्मक एवं चमत्कारपूर्ण मिलती है ।

भाषा—डिंगल साहित्य को यदि दो भागों में बाँट दिया जाय—१. प्राचीन साहित्य, २. आधुनिक साहित्य तो यह असंगत न होगा । दो भागों में बाँटने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि डिंगल के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की भाषा में अत्यधिक भिन्नता है । डिंगल के प्राचीन ग्रन्थों—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि वीरगाथाकालीन कृतियों की भाषा अव्यवस्थित, ऊबड़-खाबड़ एवं अस्तव्यस्त है । उसमें एकरूपता का अभाव सर्वत्र पाया जाता है । उस काल की भाषा व्याकरण–सम्मत भी नहीं, जिस कवि ने जैसी इच्छा हुई लिखा है, इसलिए एक ही वस्तु के लिए विभिन्न शब्दों के कारण तथा इन शब्दों के लिंग-वचन सम्बन्धी भेद के कारण पाठक उलझन में पड़ जाता है किन्तु बाद के (अर्वाचीन) डिंगल साहित्य के विषय में उपरोक्त कथन ठीक नहीं है । डिंगल भाषा के अपेक्षाकृत बाद के ग्रन्थों एवं स्फुट कविताओं की भाषा व्याकरण—सम्मत, एक निश्चित ढर्रे पर चलती हुई तथा

व्यवस्थित है । आधुनिक डिंगल साहित्य में प्राचीन साहित्य जैसी भाषा की अराजकता नहीं है ।

किन्तु यह सामान्य कथन सम्पूर्ण डिंगल भाषा एवं साहित्य के विषय में ठीक है कि शब्दों की जितनी तोड़-मरोड़ डिंगल साहित्य में होती है उतनी शायद ही किसी अन्य भाषा में मिले । एक शब्द के लिए बिगड़े हुए इतने अधिक शब्द मिलेंगे कि उनका मूल रूप ढूँढना एक कठिन समस्या हो जाती है। निम्नांकित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि शब्द अपनी वेश-भूषा बदलकर ऐसे विचित्र रूप धारण करते हैं कि उनको पहचानना कठिन हो जाता है :

डिंगल में व्यवहृत शब्द	मूल शब्द
मछर	मत्सर
अबज	अम्बुज
देलड़ी	दिल्ली
पाखर	प्रखर
पथ	पार्थ
जुजठिळ	युधिष्ठिर
खत	क्षिति
भोण	भवन
बेसा	वेश्य।
अछेरा	आश्चर्य
मेछ	म्लेच्छ

छन्द—किसी भाषा में प्रयुक्त छन्द उसकी प्रकृति के प्रतीक होते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी में संस्कृत के छन्दों का कम प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु वे हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं रहे । हिन्दी की प्रकृति का वास्तविक सौन्दर्य तो मात्रिक छन्दों में ही निखरता है। छन्दों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध छायावादी कवि श्री सुमित्रानंदन पंत का मत है—

"संस्कृत का संगीत जिस प्रकार दिबोला कवि आदि भाषा में प्रवाहित होता है उस तरह हिन्दी का नहीं । हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्द ही

में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वारस्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वर्ण वृत्तों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती है।"

यही बात डिंगल साहित्य के विषय में भी कही जा सकती है। यों तो संस्कृत के कितने ही छन्द डिंगल में व्यवहृत हुए हैं, जैसे 'मन्दाक्रान्ता' तथा 'भुजंगप्रयात' आदि; किन्तु यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि डिंगल भाषा का स्वारस्य इन छन्दों में अपनी सम्पूर्णता प्राप्त नहीं करता।

डिंगल भाषा की प्रकृति जिन छन्दों के अनुकूल है उनमें दो मुख्य हैं—'छप्पय' तथा 'दोहा'। डिंगल का अधिकांश साहित्य इन्हीं दो छन्दों में रचा गया है। छप्पय वीरता की भावना को व्यक्त करने के लिए इतना अनुकूल छन्द है कि कोई दूसरा छन्द इस दिशा में इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता।

डिंगल साहित्य में स्फुट कविताओं के रूप में गीतों का बहुत प्रयोग मिलता है। डिंगल साहित्य के रीति ग्रन्थों में लगभग ८५ प्रकार के गीतों के लक्षण और उदाहरण प्राप्त हैं। प्रमुख गीतों के नाम इस प्रकार हैं—त्रबकडो, पालवणी, भाषड़ी, सावझढ़ो, चीटीबन्ध, सुपंखड़ी, त्रकुट गन्ध तथा छोटो पांणोर। छप्पय को डिंगल में 'कवित्त' कहते हैं और दोहे को 'दूहो'। डिंगल के 'दूहो' में और हिन्दी के दोहा में कुछ अन्तर भी है। हिन्दी में दोहा दो ही प्रकार का होता है—१. दोहा, २. सोरठा। किन्तु डिंगल में चार प्रकार का होता है—१. दूहो, २. सोरठियो, ३. बड़ो दूहो, ४. तूंवेरी दूहो। चारों छन्दों के लक्षण देना आवश्यक है।

१. दूहो—इसमें और हिन्दी के दोहे में कोई अन्तर नहीं है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में १३–१३ मात्रायें होती हैं और दूसरे तथा चौथे चरण में ११–११ मात्रायें।

उदाहरण—

तरवर कदे न फळ भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारणे, साधा धर्‌यौ सरीर॥

२. सोरठियो दूहो—इसमें और हिन्दी के सोरठा छंद में कोई अन्तर

नहीं है। डिंगल में सोरठियो दोहा का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। वास्तव में यह डिंगल साहित्य का बहुत ही लोकप्रिय छन्द है। इस छंद के प्रचलन के विषय में कई बातें प्रसिद्ध हैं।

१. राजस्थान में रागसोरठ बहुत गाया जाता है—और वह इस छन्द में ही सर्वाधिक उपयुक्त रहता है। इसलिए इसका नाम 'सोरठियो' पड़ा।

२. कुछ लोगों का मत है कि इस छन्द का प्रथमतः प्रयोग सौराष्ट्र (सोरठ देश) में किया गया था।

सत्य जो भी हो किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि यह छंद वीर, शृङ्गार, करुण आदि रसों को मार्मिक रूप में व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता रखता है। डिंगल के कवियों ने इस छन्द की बड़ी प्रशंसा की है :—

उदाहरण—

सोरठियो दूहो भलो, कपड़ो भलो सपेत।
ठाकरियो दाता भलो, घुडलो भलो कमेत॥
सोरठियो दूहो भलो, भली मरवण की वात।
जोवण छाई धण भलो, तारा छाई रात॥

सोरठा बनाने का नियम बड़ा सरल है। अगर दोहों को उलटा कर दिया जाए तो सोरठा बन जाता है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में ११–११ मात्रायें तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में १३–१३ मात्रायें होती हैं।

उदाहरण—

अकबर समँद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी॥

३. **बड़ो दूहो**—इसके प्रथम और चतुर्थ चरण में ११–११ तथा द्वितीय एवं तृतीय चरण में १३–१३ मात्रायें होनी हैं।

उदाहरण—

रोपी अकबर राड़, कोट भड़ै नह काँगरे।
पटके हाथळ सीह पण, बादळ ह्वै न बिगाड़॥

४. **तूंवेरी दूहो**—यह बड़ो दूहो के बिलकुल विपरीत होता है। इसके प्रथम और चतुर्थ चरण में १३–१३ मात्रायें तथा दूसरे और तीसरे चरण में

११-११ मात्रायें होती हैं ।

ऊभी सुरिज साँमुहि, माथा धोए मेटि ।
ताह उपन्नी पेटि, मोहण वेली मारुई ॥

अलंकार—हिन्दी की रीतिकालीन कविता की भाँति डिंगल साहित्य अलंकार प्रधान नहीं है। वैसे स्वाभाविक रूप से जिस प्रकार जायसी और कबीर में भी अलंकार पर्याप्त संख्या में मिल जाते हैं उसी प्रकार डिंगल साहित्य में भी अलंकार मिलते हैं परन्तु भाषा के चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु कविता को अधिक भावपूर्ण और व्यंजनात्मक बनाने के लिए। फलस्वरूप डिंगल साहित्य में अर्थालंकार तो मिलेंगे भी परन्तु शब्दालंकारों का प्रायः अभाव है। इसका कारण भी है। जहाँ कवि के पास कुछ कहने को नहीं होता है तो विषयसंकीर्णता तथा विचाराभाव को छिपाने के लिए स्वाभाविक रूप से वह भाषा-चमत्कार का आश्रय लेता है किन्तु हिन्दी का डिंगल साहित्य जिन दिनों में लिखा गया वह राजनीतिक क्रान्ति का युग था। विदेशी आक्रमणों ने यहाँ के नरेशों को नींद लेना कठिन कर दिया था, इसलिए समष्टि रूप में न सही, व्यष्टि रूप में ही सही, इन व्यक्तिवादी दंभी नरेशों के क्रीतदास चारण कवि कविता द्वारा युद्ध की ज्वाला में आहुतियाँ डाल रहे थे। फलस्वरूप सारे देश में युद्ध की गर्मी थी। ऐसे समय में शब्दालंकारों का चमत्कार दिखाने का अवसर भी न था। चारण कवियों और रीतिकालीन कवियों में इस विषय में एक मौलिक अंतर दिखाई देता है। वह अंतर वास्तव में विचार-भेद के कारण तो नहीं, परिस्थिति-भेद के कारण है। हिन्दी में जिस समय रीतिपरक कवितायें लिखी जा रही थीं, उस समय तक देश का विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध विरोध अंतिम रूप से समाप्त हो चुका था। इसलिए देश में मृत्यु जैसी शान्ति थी। राजपूत नरेश अपनी तलवारें सदा के लिए म्यानों में रख चुके थे मानों वह किसी उपयोग की वस्तु नहीं थीं और इस प्रकार इन युद्धव्यवसायियों के पास और कोई कार्य रह ही नहीं गया था। इसलिए सुरा-सुन्दरी के सहारे जीवन यापन करने वाले इन अकर्मण्य नरेशों के पास समय काटने के साधनों का अभाव था। इनके आश्रय प्राप्त कवियों के पास ही फिर क्या काम हो सकता था? यही कारण था कि रीतिकाल केवल भाषा की साधना का युग

है, जीवन और साहित्य दोनों में अकर्मण्यता और प्रदर्शन का युग है। चारण काव्य जिस समय लिखा गया उसकी परिस्थितियाँ कुछ भिन्न थीं। यह तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि अपने आश्रयदाताओं की भाँति चारण कवियों का दृष्टिकोण संकीर्ण ही था किन्तु मुसलमान आक्रांता सभी का एक सामान्य शत्रु था इसलिए उस काल के इन दरबारी कवियों ने युद्ध के संगठन और आक्रांता के प्रतिरोध के लिए जो कविताएं लिखी हैं उनमें विदेशी के प्रति घृणा और स्वदेशी (संकीर्ण अर्थ में) के प्रति मोह होने के कारण सहज ही आक्रोश और आवेश का समन्वय हो गया है। दूसरी बात यह भी थी कि इस काल के नरेश भी हर समय खड्गहस्त रहते थे, इसलिए हर समय बद्धपरिकर रहने के कारण उन्हें भी कविता की बाल की खाल निकालने का अवकाश नहीं था। कविता हृदय में आक्रोश भरने का साधन मात्र थी। नरेशों और जनता दोनों के हृदयों में यदि तत्कालीन नरेशों और इन चारणों का दृष्टिकोण किंचित् स्पष्ट और विस्तृत होता तो शायद ही किसी और युग की कविताएं इस काल की कविताओं से टक्कर ले सकतीं।

यही मुख्य कारण था जिसके फलस्वरूप चारण कवियों की वीर रस से पूर्ण ये रचनाएं अलंकारों के अप्रिय और अनावश्यक भार से मुक्त रह सकीं।

परन्तु डिंगल साहित्य में ऐसे अलंकारों की कोई कमी नहीं है जो वास्तव में कथन की सुन्दर प्रणालियों के प्रतीक हैं अर्थात् जो भाव को अधिक तीव्र और व्यंजक बनाते हैं। उदाहरणार्थ उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का पर्याप्त प्रयोग इन कवियों की कृतियों में मिलेगा। देखिये 'चन्द' के निम्नांकित छप्पय में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा के द्वारा भावों को कितना तीव्र और भाषा को कितना अधिक व्यंजक बना दिया है :

मनहुँ कला ससिभान, कला सोलह सौ बन्निय।
बाल वेस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय॥
विकसि कमल मृग भ्रमर, बैन खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नख सिख अहि घुट्टिय॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदिमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहु काम कामिनि रचिय॥

यह तो ऊपर लिखा ही जा चुका है कि डिंगल साहित्य में अलंकार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो नहीं पायी जाती थी परन्तु भावोत्कर्ष में सहायक अलंकारों की कमी उस में नहीं है।

इसके अतिरिक्त शब्दालंकारों के रूप में केवल एक अलंकार का डिंगल में अधिक प्रयोग मिलता है। उसका नाम है 'वयणसगाई'। उसे अनुप्रास का एक भेद कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में यह इतना अधिक अलंकार नहीं है, जितना अधिक शब्द मैत्री का प्रतीक है। 'वयणसगाई' का साधारण सा नियम यह है कि इस छन्द के आरम्भिक शब्द जिस अक्षर से प्रारम्भ होते हैं उसके अन्तिम शब्द का आरम्भ भी उसी अक्षर से होना चाहिए। निम्नांकित दोहे से बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी :

अकबर गरब न आंण, हींदू सह चाकर हुआ।
दीठो कोई दीवाँण, करतो लटका कटहड़े॥

रेखांकित शब्द 'वयणसगाई' के नियम के पालन की ओर संकेत करते हैं परन्तु वास्तव में डिंगल के रीति ग्रन्थों में न तो इसे अलंकार माना गया है और न इस प्रकार के शब्द-चयन को आवश्यक बताया गया है। फिर भी डिंगल साहित्य में इस प्रकार की परम्परा ही बन गयी। इस परम्परा को तोड़ना दोष की बात तो नहीं मानी जाती, हाँ लोग इससे कवि की असमर्थता का अनुमान अवश्य मानते हैं। 'वयणसगाई' मान्य अलंकार से अधिक एक मान्य रूढ़ि मात्र है। डिंगल के सबसे अधिक समर्थ कवि सूर्यमल ने इस रूढ़ि को कविता के क्षेत्र में अस्वास्थ्यकर समझा, इसलिए इसका पालन करने के विषय में अपनी अनिच्छा प्रकट की है परन्तु कहीं पाठक उसे अपटु कवि न समझ लें इसलिए इस रूढ़ि का सफलतापूर्वक पालन करके उसने निम्नांकित दोहे में अपनी सामर्थ्य का सफलता पूर्वक परिचय दे दिया है।

वयण सगाई बालियां, पेखीजै रस पोस।
बीर हुतासण बोलमें, दीसे हेक न दोस॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डिंगल साहित्य का कलापक्ष उतना ही पुष्ट है जितना इसका भावपक्ष। डिंगल साहित्य अलंकार-प्रदर्शन से बचा रहा, इस विशेषता ने उसके कलापक्ष को और भी शक्ति प्रदान की है।

प्रश्न ४—हिन्दी साहित्य में जिस प्रकार काव्य-दोष हैं, उसी प्रकार डिंगल साहित्य में भी हैं। डिंगल साहित्य के काव्य-दोषों पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—जिन बातों के कारण काव्य के मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है उन्हें दोष कहते हैं। उत्कृष्ट कोटि का काव्य वह है जहाँ पाठक वही बात समझे जो लेखक कहना चाहता है। अधिकतर होता यह है कि भाषा पर अधिकार न होने के कारण कवि कहना कुछ चाहता है किन्तु उसे ठीक प्रकार व्यक्त न करने के कारण ऐसी बात कह जाता है जिसका अर्थ कवि-कल्पित अर्थ से भिन्न होता है अर्थात् पाठक पढ़ते समय उसकी कविता का वह अर्थ नहीं लगाता जो कवि ने स्वयं सोचा था। कितना ही ध्यान रखा जाय किन्तु बड़े से बड़े कवियों का काव्य सर्वथा निर्दोष नहीं मिलेगा। संस्कृत साहित्य में तो दोषों की संख्या बहुत अधिक है। डिंगल भाषा के दोषों का यहाँ संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

डिंगल में काव्य-दोष ग्यारह प्रकार के माने गये हैं। डिंगल साहित्य के प्रसिद्ध रीतिग्रंथ 'रघुवर जस प्रकाश' में दो ऐसे छप्पय हैं जिसमें सभी दोषों के नाम और उदाहरण आ गए हैं :

कहियो मैं कै कहुँ, किसूँ अंधौ तै कहियै।
लित्ता पान धनंख, राम छबकाळौ लहियै॥
अज अजेब जगईस, निमौते हीण दोष निज।
रतनद तिरत कबंध, सार इम चली निनंगसुज॥
कवि छंदोभंग पंग कह, तुक घर लछण तोर में।
जत विरूध जाँगड़ रो दुहौ, वणै लघु साणोर में॥१॥
बिस्नु नाम कुल बिस्नु, बिस्नु सुत मित्र अपस बद।
कच अहि मुख ससिलंक, स्यंघ कुच कोक नळ छिद॥
मनष्याँ मत बिललाय, गाय प्रभुजीं पख तूटल।
रांमण हणियौ राम, गूह खाधो तारक षळ॥
यण भाँत कहै बहरो यलां महपन में पय राम रै।
तुक एण अमंगळ आद अंत कवियण विधि गुण नह करै॥

१. अंध—जहाँ प्रतिपाद्य विषय का निर्बाध निर्वाह न हो सके। कुछ पंक्तियाँ तो जहाँ प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में हों और कुछ उससे असम्बद्ध भिन्न विषय के सम्बन्ध में लगें वहाँ यह दोष माना जाता है।

उदाहरण—"कहियौ मैं कै कहूँ, किसूँ अंधौ तें कहियै।" यहाँ 'कहियौ' शब्द प्रकट करता है कि कोई बात पहले कही जा चुकी है लेकिन बाद में आने वाले शब्द "कहूँ' व्यक्त करता है कि बात अभी कही जानी है, वह अभी कही नहीं गयी है। उदाहरण में आया "मैं" शब्द इस बात को ठीक व्यक्त नहीं करता कि वह कवि का सर्वनाम है या और किसी पात्र या व्यक्ति का। 'किसूं' शब्द और भी भ्रम में डाल देता है। उससे न तो यह प्रकट होता है कि कवि या कोई पात्र बात किसी के पक्ष में कह रहे हैं या विपक्ष में। इसलिए यहाँ पर 'अंध' दोष है। अंधकार में जैसे कोई व्यक्ति किसी विषय में विश्वस्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार ऐसी पंक्तियों के विषय में भी पाठक विश्वस्त नहीं हो सकता। वह समझ नहीं पाता कि पंक्तियों का वास्तविक अर्थ क्या है? और कवि वास्तव में कहना क्या चाहता है?

२. छबकाळ—डिंगल काव्यशास्त्र के अनुसार 'छबकाळ' नामक यह काव्यदोष वहाँ माना जाता है जहाँ विरुद्ध भाषाओं अथवा विभिन्न भाषाओं के शब्द डिंगल में मिला दिये गये हैं।

उदाहरण—"लित्ता पान धनंख"

उपरोक्त उदाहरण में 'लित्ता' शब्द पंजाबी भाषा का हैं, 'पान' शब्द हिन्दी भाषा का है और 'धनंख' शब्द डिङ्गल भाषा का है। ऐसे खिचड़ी भाषा के उदाहरण ही प्रायः 'छबकाळ' नामक काव्य दोष के उदाहरण होते हैं।

३. हीन—यह काव्य-दोष वहाँ होता है जहाँ कविता की पंक्तियाँ कोई निश्चित अर्थ न दें या जहाँ अनर्थ होने की सम्भावना हो।

उदाहरण—"अज अजेब जगईस"

यहाँ 'अज' शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं निकलता। 'अज' का अर्थ तो ब्रह्मा भी हो सकता है, विष्णु भी और महेश भी परन्तु कवि को कौन सा अर्थ अभीष्ट है यह शब्दों से व्यक्त नहीं होता। अजन्मा तो उपरोक्त तीनों ही ईश्वर के रूप हैं।

४. निनंग—इस दोष को क्रमभंग दोष भी कह सकते हैं। यह दोष वहाँ होता है जहाँ बात क्रम से नहीं कही गयी हो वा जो बात पहले कहनी हो वह बाद में कही गयी हो और जो बात बाद में कहनी चाहिए वह पहले ही कह दी गयी हो।

उदाहरण—**"रत नद तिरत कबंध सार इस चली निनंग सुज।"**

वस्तु जगत् में उपरोक्त कार्य व्यापार का वास्तविक क्रम इस प्रकार होगा—१. पहले तलवारें चलती हैं, २. बाद में रक्त प्रवाहित होता है, ३. फिर कबंध तैरते हैं। उद्धृत पंक्ति में यह क्रम अशुद्ध रूप में इस प्रकार है—

१. पहले रक्त की नदियाँ बहीं, २. फिर कबंध तैरे, ३. फिर तलवार चली। अतः अनुचित क्रम या क्रमहीनता के कारण यहाँ 'निनंग' दोष है।

व्यक्त करता है विस्नु=हरि, हरि=सूर्य, सूर्य का पुत्र=सुग्रीव, सुग्रीव मित्र=रामचन्द्र ।

अतः उपरोक्त पद में 'अपस' दोष हुआ ।

८. नल छेद—जहाँ काव्य शास्त्र के नियमों का उल्लंघन करके किसी विषय का मनमाना वर्णन किया जाय, वहाँ नाल छेद दोष माना जाता है ।

उदाहरण—'कच अहि, मुख ससि, लंक स्यंघ, कुच कोक नाल छेद ।"

उपरोक्त पंक्ति में पहले वेणी, तत्पश्चात् मुख का वर्णन किया गया है, जो काव्यशास्त्र विरुद्ध है । इसी प्रकार शास्त्र क्रम की मर्यादा का उल्लंघन कमर और कुच के वर्णन में भी किया गया है । अतः यहाँ 'नालछेद' दोष माना जाएगा ।

९. पषतूट—यह दोष वहाँ माना ज़ाता है जहाँ किसी एक ही छंद के दो चरणों में तो कच्ची जोड़ हो और शेष दो चरणों में पक्की जोड़ हो ।

(कच्ची जोड़ उसे कहते हैं जहाँ शब्दानुप्रास नहीं आता, पक्की जोड़ उसे कहते हैं जो शब्दानुप्रास से युक्त हो)

उदाहरण—(कच्ची जोड़) **"तीर शेलाँ छुरा झोंक तरवारियाँ"**

(शब्दानुप्रास हीन)

(पक्की जोड़) **"तहक निषाण गिखाण हरण तन"**

(शब्दानुप्रास युक्त)

१०. बहरो—जहाँ अनिश्चित एवं भ्रमोत्पादक शब्दयोजना के कारण किसी पंक्ति से परस्पर विरोधी अर्थ निकलने लगें वहाँ 'बहरो' नामक काव्य दोष माना जाता है । हिन्दी में भी ऐसा भ्रम प्रायः हो जाता है । उदाहरणार्थ "मुझे तुम्हें पांच रुपये देने हैं" इस वाक्य के दोनों अर्थ हो सकते हैं:—

१. तुम मुझे पाँच रुपये दोगे ।

२. मै तुम्हें पाँच रुपये दूँगा ।

इसी प्रकार डिंगल में भी कुछ शब्द ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देते हैं । निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

उदाहरण—"रामण हणियौ राम"

इस पंक्ति के दोनों अर्थ सम्भव हैं :—

१. राम ने रावण को मारा।

२. रावण ने राम को मारा।

अतः परस्पर विरोधी अर्थ व्यक्त होने के कारण उपरोक्त पंक्ति में 'बहरो' नामक काव्य-दोष माना जाएगा।

११. अमंगल—यह दोष वहाँ माना जाता है, जहाँ किसी छन्द के पहले और अन्तिम अक्षर को मिलाकर कोई अमंगल सूचक शब्द बन जाता हो।

उदाहरण—"महापन में हय रामरै"

पंक्ति का प्रथमाक्षर 'म' है और अंत्याक्षर 'रै' है। दोनों को मिलाकर 'मरै' शब्द बनता है, जो अमंगल सूचक है। अतः प्रथमाक्षर और अंत्याक्षर के मेल से अमंगल सूचक शब्द बन जाने के कारण यहाँ अमंगल नामक काव्य-दोष माना जाएगा।

प्रश्न ५—"ऐसा प्रतीत होता है कि डिंगल भाषा केवल वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है।" उपरोक्त कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? अपने विचार व्यक्त कीजिए।

अथवा

डिंगल भाषा के भाव-पक्ष पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि डिंगल साहित्य वीर रस से ओतप्रोत है। वीरता के जितने सुन्दर और सजीव चित्र इस कविता में उपलब्ध हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। वास्तव में डिंगल साहित्य समय की माँग का साहित्य है (यह दूसरी बात है कि उसका नरेशों की मांगों से विरोध नहीं था) इसलिए जहाँ उसमें युद्धों आदि का वर्णन प्रचुरता से है वहाँ वह उत्कृष्ट कोटि का भी है। यह स्वीकार करने में संकोच का अनुभव करना अनुचित होगा कि डिंगल भाषा की कोटि का उत्कृष्ट वीर-काव्य हिन्दी में तो नहीं मिलता। हिन्दी में भूषण वीररस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं किन्तु डिंगल कवियों की तुलना में वे कहीं नहीं टिकते। भूषण के युद्ध वर्णन न तो शिथिल हैं और न अस्वाभाविक किन्तु भूषण भाषा के उस सहज गम्भीर नाद तथा ध्वन्यात्मकता से वंचित रह गये हैं जो डिंगल भाषा का सहज गुण है। इस विषय में डिंगल साहित्य

के गम्भीर विद्वान् श्री मोतीलाल मेनारिया के कुछ विचारों को अक्षरशः उद्धृत करना अनुचित न होगा :—

"चारण कवियों का तथा 'वंश भास्कर' के इतर प्रशंसकों का कहना है कि सूर्यमल जैसा प्रतिभावान् कवि न तो हुआ है, न होगा। 'वंशभास्कर' के साथ ही वे सच्ची कविता की इतिश्री समझते हैं। चारण लोगों का यह मत कुछ लोगों को अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत हुआ होगा और कुछ अंशों में वह अत्युक्तिपूर्ण है भी। परन्तु इतना फिर भी कहना पड़ेगा कि वीर रस का जैसा भावानुरंजित और ओजपूर्ण वर्णन सूर्यमल ने किया है, वैसा हिन्दी के तो किसी दूसरे कवि की रचना में देखने को अभी तक नहीं मिला। उदाहरण स्वरूप भूषण को ही लीजिए। ये वीर रस के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। भूषण राष्ट्रीय कवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। ये हिन्दूधर्म के उपासक हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं। इनकी कविता में औरंगजेब के अत्याचारों से प्रताड़ित हिन्दू जाति के हाहाकार की प्रतिध्वनि है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। परन्तु इतना होते हुए भी कहाँ सूर्यमल और कहाँ भूषण! दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वीर-वीरांगनाओं के हृदयस्थ भावों का वह विश्लेषण और काव्यमय निरूपण भूषण की कविता में कहाँ जिसके दर्शन सूर्यमल की रचना में पग-पग पर होते हैं!"

मेनारिया जी का कथन है कि वैसे तो वीर-रससिद्ध कवियों की डिंगल में कोई कमी नहीं किन्तु उनमें भी सूर्यमल सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। वे लिखते हैं—

"विश्व के उन समस्त कवियों में जिनकी रचना में युद्ध वर्णन मिलता है, पाश्चात्य विद्वान् महाकवि होमर का स्थान सब से ऊँचा मानते हैं। और तो और, होमर की तुलना में व्यास और वाल्मीकि के युद्ध-वृत्तान्तों को भी उन्होंने अस्वाभाविक, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं आवश्यकता से अधिक अलंकारों से लदा हुआ बताया है। यह अपना-अपना मत है और इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा। पर हमीर के युद्ध के वृत्तान्तों की यह विशेषता है कि उन्हें पढ़ते समय पाठक यह नहीं महसूस करता कि वह किसी पुस्तक में युद्ध का वर्णन पढ़ रहा है। बल्कि ग्रीस और ट्राय की धावा करती हुई सेनाओं की पदध्वनि, सैनिकों की खूंख्वार हुँकार आदि स्पष्ट रूप से कानों

से सुनता और रणक्षेत्र के रोमांचकारी दृश्यों को अपनी आँखों से देखता है। यही गुण हम सूर्यमल की रचना में भी पाते हैं। 'वंश भास्कर' में कई स्थानों पर युद्ध का वर्णन है और शायद इसलिए वह एक काव्यग्रन्थ माना भी जाता है, नहीं तो उसके अधिक भाग का सम्बन्ध काव्य की अपेक्षा इतिहास के साथ है। जिस समय सूर्यमल युद्ध का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं वे किसी भी बात को अधूरा नहीं छोड़ते। युद्ध सम्बन्धी किसी भी विषय को अल्पता से नहीं देखते। सेनाओं की मुठभेड़, वीरों का जयनाद, कायरों की भगदड़, घायल वीरों का करुण क्रंदन इत्यादि के सिवाय जिस समय योद्धा वार करता है उसकी तलवार कैसी दीख पड़ती है, रक्त की सरिता किस प्रकार खलखल करती हुई समरस्थली में प्रवाहित होती है और माँस के लोभ से लाशों पर बैठे हुए गीध दूर से कैसे दीख पड़ते हैं आदि बातों का नाना प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षाओं द्वारा वे ऐसा सुन्दर, ऐसा स्पष्ट और ऐसा सबल मजमून बांधते हैं कि पढ़ते ही हृदय सहसा हिल जाता है।"

इससे पूर्व की वीर रस की कुछ पंक्तियां उद्‌धृत करके उपरोक्त कथन को पुष्ट किया जाय, डिंगल साहित्य और वीर रस के विषय में कवीन्द्र रवीन्द्र के विचार जान लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है :—

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रान्त में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने, अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है परन्तु अपने रक्त से राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूतों के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य गान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताण्डव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। क्या आज कोई अपनी कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की रचना कर सकता है। राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमंग है वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। वह स्वाभाविक, सच्ची और प्रकृत है। मेरे मित्र क्षितिमोहन सेन ने हिन्दी काव्य से मेरा परिचय कराया। आज मुझे एक नई वस्तु की जानकारी हुई है। इन उत्साहवर्द्धक गीतों ने मेरे समक्ष साहित्य

के प्रति नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है। मैंने कई बार सुना था कि चारण अपने काव्य से वीर योद्धाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया करते थे। आज मैंने उस सदियों पुरानी कविता का स्वयं अनुभव किया। उसमें आज भी बल और ओज है। भारतवर्ष चारण काव्य के सुसम्पादित संस्करण की प्रतीक्षा कर रहा है।"

इसमें सन्देह नहीं कि डिंगल में वीर रस का जैसा सफल और सजीव वर्णन मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रमाण के लिए विभिन्न कवियों की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना आवश्यक है :—

चन्द कवि पृथ्वीराज और गौरी के युद्ध का वर्णन करते हैं :—

न को हार नह जित्त, रहेइ न रहहिं सूर वर।
धर उप्पर धर परत, करत अति जुद्ध महाभर ॥
कहौं कमध कहौं मथ, कहौं कर चरन अन्तरुरि।
कहौं कन्ध वहि तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर ॥
कहौं दंत मंत हयखुर, षुपरि कुम्ब असुण्डह रुण्ड सब।
हिंदुवान रान भय भान मुख गहिय तेग चहुँवान जब ॥

चन्द द्वारा लोहाने की वीरता का वर्णन तथा चौसठ खानों का मारा जाना:—

लोंहानौ मद मुदे। बानमुक्के बहुभारी।
फुट्टि सु ठट्टर ज्वान। पिट्ठ आह निकारी ॥
मानों किवाटी लागि। पुट्ठे षिरकी उघ्घारिय।
बट्टारी करि कट्टि। वीर अवसान संभारिय ॥
एक झरभीर उरम्भारिझर। करि सुमेरि पटि आरसु धिरि।
चवसट्ठ खान गौरी परै। तीन राब इक राज परि ॥
मानि लोह मारूफ। रोस विड्डर गाहक्के।
मनु पंचानन बाहि। सद्द सिरहद्द हद्दक्के।
दुहूँ मीर वर तेज। सीस एक सिंधह बादी।
टोप टुट्टि बहकरी। चन्द ओपमता पाई ॥
मनु सीस बीय शृंग बिज्जुलद। रही हेत तुटि भानहति।
उतमंग सुहै बिब टुक ह्वै। मनु उड़गन नृप तेज मति ॥

चन्द द्वारा कृत घग्घर नदी के वर्णन का एक उदाहरण देखिए :—

मचे कूह कूहं बहै सार सारं, चमक्कै चमक्कै करारं सुधारं ।
भभक्कैं भभक्कैं बहै रत्तधारं, सनक्कैं सनक्कैं गहै बान भारं ॥
हबक्कै हबक्कैं बहै सेल भेलं, हलक्कैं हलक्कैं मची ठेल ठेलं ।
कुकैं कूक फूटी सुरताज ठानं, बकी जोग माया सुरं अप्पथानं ॥
बहै चट्ट पट्ट उघट्ट उलट्ट, कुलट्टा धरै अप्प अप्पं उहट्ट ।
दडक्कं बजै सथ्थ मथ्थं सुट्टं, कडक्कं बजै सेन सेना सुघट्टं ॥
बहैं हथ्थ परमार सिरदार सारं, परे सेन गोरी गहै रत्तधारं ।
परयौ षान निसुरत्ति सेनासहितं, हुआै सूर मध्यान दिल्लेस जित्तं ॥

वीररस के सर्वाधिक समर्थ डिंगल भाषा कवि कविराजा सूर्यमल की उम्मेदसिंह युद्ध वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

चुरैलिन मंडल फालन चाल, लगावत डाइन घुम्मर ताल ।
बजै लगि खग्गन खग्गन बाढ, गिरैं भट भीरु भजैं तजि गाढ़ ॥
उमेद दिनेस रच्यो खगखेल, दुर्यो सठ घुग्घुब दुग्ग दलेल ।
फर्यैं असि झुप्परि टोपन फारि, लहैं जनु सब्बु बतालि विदारि ॥
फिरैं कटि हड्डु न खण्ड करक्कि, झरैं उड़ि धारन बूर झरक्कि ।
कटैं सह सत्थिन जानुव जंघ, सु ज्यौं गज सुण्डन खंडन संघ ॥
फंदक्कहिं कड्ढहिं कालिफ फिप्फ, भचक्कहिं टोप कपालन भिप्फ ।
उड़े सिर फुट्टत भेजन ओघ, मनो नवनीत मटक्किय मोघ ॥

× × × ×

कढ़ैं गल स्वांस बजे बिकरार, धमैं धमनी मनि लग्गि लुहार ।
कढ़ैं हिय छत्तिय फट्टि किवार, सु ज्यौं हृद लोहित कंज सुढार ॥
परैं कढ़ि अन्त अपुब्ब प्रकारि, फनीगन जानि टिपारनि फारि ।
परैं छूटि संधित प्रान अपान, मनो पय पानिय लोन मिलान ॥

× × × ×

लगैं दृग मुच्छ फरक्कत लीन, मनो उरझी वनसी मुख मीन ।
छुलैं छत रत्त छछक्कन छुट्टि, फबैं जनु गग्गरि जावक फुट्टि ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि डिंगल भाषा की प्रकृति वीररस के अधिक अनुकूल है । डिंगल द्वित्ववर्ण प्रधान भाषा है और द्वित्ववर्ण वीररस के अत्यन्त

अनुकूल पड़ते हैं। हिन्दी में भी कवि लोग जब वीररस का वर्णन करते हैं तो उनकी भाषा द्वित्ववर्ण प्रधान होने लगती है अर्थात् कविता में संयुक्ताक्षर अधिक आने लगते हैं और भाषा टवर्ग प्रधान हो जाती है। तुलसी के कुछ उदाहरणों से वह बात स्पष्ट हो जायगी कि वीररस का वर्णन करते समय हिन्दी भी डिंगल के समान 'ट' वर्ग एवं द्वित्ववर्ण प्रधान हो जाती है :—

(१) **कतहुँ विटप्प भूधर उपारि परसेन वरष्षत।**
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि, गजराज करष्षत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि-उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरत बीस वारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत॥
तुलसीदास पवन-नन्दनु अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

(२) **भए क्रुद्ध जुद्ध विरट्ट रघुपति त्रोन सायक कसमसे।**
कोदंड धुनि अति चण्ड सुनि मरजाद सब मारुत त्रसे॥
मन्दोदरी उर कम्प कम्पित कमठभू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन नहिं महि देखि कौतुक सुर हँसे॥

परन्तु ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण के लिए जिस शब्दावली का शास्त्रीय विधान है वह एक सीमा ही तक ठीक और शास्त्रीय है। यह कहना कि द्वित्व-वर्ण प्रधान कविता में शृंगार का सुन्दर चित्रण नहीं हो सकता या वह प्रसाद गुण सम्पन्न हो ही नहीं सकती, ठीक नहीं है। इसी प्रकार यह कहना कि बिना द्वित्व वर्ण प्रधान भाषा के वीररस का परिपाक संभव नहीं है, ठीक प्रतीत नहीं होता। रस परिपाक का वास्तव में जितना सम्बन्ध भावों से है उतना भाषा से नहीं। इसलिए प्रत्येक जीवित भाषा के साहित्य में सभी रसों का उचित परिपाक मिलेगा। अतः यह सोचना साहित्यिक अन्याय होगा कि डिंगल भाषा केवल वीर रस के उपयुक्त है तथा अन्य रसों का परिपाक उसमें संभव ही नहीं। वास्तविकता यह है कि डिंगल में वीररस की भाँति ही उसी सफलता के साथ शृंगार का चित्रण भी मिलता है और कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि आकार और प्रकार दोनों में ही डिंगल भाषा का शृंगार-साहित्य वीर-साहित्य से अधिक बैठेगा। वास्तव में चारणकाव्य की काया तो शृंगार निर्मित ही है। हाँ, उस पर वीररस का खोल अवश्य चढ़ा हुआ है। वीररस

डिंगल साहित्य में कहीं-कहीं तो श्रृंगार का सेवक सा प्रतीत होता है। श्रृंगार के दोनों पक्ष (१) संयोग (२) वियोग का पूर्ण परिपाक डिंगल साहित्य में मिलता है। डिंगल साहित्य में युद्ध का कारण प्रायः कोई न कोई नारी ही रहती है अतः उसका अत्युक्तिपूर्ण रूप वर्णन और फिर उसका विरह-वर्णन करना कवि आवश्यक समझता है। कवि राजकुमारी के रूपाधिक्य द्वारा अपने आश्रयदाता को उधर उन्मुख करता है और राजकुमारी के प्रेमाधिक्य के कारण उसे युद्धरत होने के लिए विवश करता है। 'श्रृंगार' की प्राप्ति ही उस काल के वीरत्व का अपरिवर्तित परिणाम है। उपरोक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए श्रृंगार रस के कुछ उदाहरण देना आवश्यक है :—

चन्द द्वारा किए पृथ्वीराज के सम्पूर्ण विवाह प्रसंग (इच्छिनि, शशिव्रता, तथा संयोगिता के साथ) श्रृंगार के माधुर्य से भरे पड़े हैं। डिंगल भाषा और उसमें व्यक्त भावों की मधुरता, कोमलता और मार्मिकता को देखकर आश्चर्य से अवाक् रह जाना पड़ता है।

पृथ्वीराज आ रहे हैं, सखियाँ शशिव्रता को सचेत करती हुई कहती हैं, "देख जिसका रूप-गुण कीर्तन तू सुना और किया करती है वही तेरा प्रिय पृथ्वीराज आ रहा है।" शशिव्रता और पृथ्वीराज की आँखें चार होती हैं। चंचल नेत्रों के मिलाप से चित्त चंचल हो जाता है। शशिव्रता के 'काननचारी नयन' हैं। शशिव्रता साहस कर प्रिय को देखना चाहती है किन्तु लज्जा के कारण देख नहीं पाती। नेत्र कुछ पूछने के लिए चलते हैं किन्तु लज्जावश अवनत हो जाते हैं। देखिए, चन्द द्वारा किया हुआ निम्नांकित वर्णन किसी भी समृद्ध भाषा के श्रृंगार-वर्णन से टक्कर लेने योग्य है :—

सखी कहती है—

यों करंत दुत्तिय वियौ, कथा श्रवन सुनि मंत।
जाकौ तें पतिवृत्त लिया, सी आयो अलि कंत॥

चार आँखें हुईं :—

श्रवन नयन को मेल कै, भय चंचल चलचित्त।
श्रोतान दिष्टान अस, मिली पुच्छै दोइ मित्त॥

जिह्वा का कार्य नेत्र करने लगे :—

"कर्ण प्रयन्त कटाच्छ सुरंग विराजहीं।
कछु पुच्छन कौं जाहि पै पुच्छत लाजहीं॥
नैन सैन में बात जु स्रवनन सौं कहैं।
कान किधौं प्रथिराज भेद करि ना लहैं॥"

प्रेम विह्वल पृथ्वीराज शशिव्रता की बाँह पकड़ कर इस प्रकार खींचता है मानो लहराती हुई कंचन लता को गजराज ने पकड़ लिया हो :—

"चौहान हथ्थ बाला गहिय, सो ओपम कवि चंद कहि।
मानों लता कंचन लहरि, मत्त वीर गजराज गहि॥"

इस प्रकार शशिव्रता के हृदय में भावों का जो ज्वार आ जाता है, इसका एक सुन्दर चित्र देखिए :—

"गहत बाल पिय पानि सु गुरुजन संभरे।
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे ढरे॥
अपमंगल जिय जानि सु नेन मुष वही॥
मानो पंजन मुष मुक्ति भरक्कत नंषहीं॥"

शशिव्रता के यौवनागम पर उसके रूप का एक सुन्दर चित्र देखिए। वसन्त के आने पर प्रकृति-शोभा जैसे अकस्मात् बढ़ जाती है, उसी प्रकार यौवनागम से शशिव्रता का अंग-प्रत्यंग शोभा से भर गया है :—

"पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं ससव उत्तरिय चढ़िय वैसव किसोर कुछ॥
शीतल मंद सुगंध आइ रितिराज अचान।
रोमराइ संग कुछ नितंब तुच्छ सरसान॥
बड्ढ़ै न सीत कटि छीन ह्वै लज्ज मानि टंकनि धिरै॥
ढँके न पत्त ढँकै, बन वसन्त मत्त जु करै॥"

सद्यःस्नाता इंछिनी का यह चित्र शृंगार का सुन्दर उदाहरण हो सकता है:

करि मंजन अंगोछि तन धूप वासि बहु रंग।
मनो देह जनु नेह फूलि हेम मोज जन गंग॥

नव वधू इंछिनी प्रिय के सम्मुख जाती हुई डरती है। चन्द की प्रस्तुत पंक्तियाँ जायसी की पद्मावती की स्मृति सजीव कर देती हैं। इंछिनी पति के

समक्ष भयभीत काँपती हुई जाती है जिस प्रकार मन्द वायु से नवीन वेली आन्दोलित हो जाती है। इंछिनी के अंग-अंग में कामतरंगें उठ रही हैं :—

हलहलै लता कछु मंद बाय। नव वधू केलिमय कंपे पाय ॥
उपमा उर कवी कहीय तांम। जुब्बन तरंग अंगि अंगि काम ॥

इसी प्रकार संयोगिता स्वयंवर के अवसर पर पृथ्वीराज जब छद्मवेश में कन्नौज पहुँचता है तो वहाँ गंगाजल भरती हुई जयचन्द की सुन्दर दासियाँ उसे दिखाई देती हैं। इस विषय का एक सुन्दर चित्र देखिए :—

द्रिग चंचल चंचल तरुनि, चितवत चित्त हरंति।
कंचन कलस झकोरि कैं, सुन्दर नीर भरंति ॥

गंगाजल भरने वाली इन सुन्दरियों का घूंघट असावधानी में खुल जाता है और वे अपने समक्ष कामदेव के समान सुन्दर रूप के समुद्र दिल्ली नरेश का रूपदर्शन करती हैं और स्तंभित रह जाती हैं, अवसन्न और भौंचक्की सी वे पृथ्वीराज को देखती ही रह जाती हैं। उनको पसीना आ जाता है, श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाता है, नेत्र सजल हो जाते हैं। न वस्त्रों की सुध है, न शरीर की। होश लाने पर वे घड़ों को वहीं पर छोड़ महलों को भाग गई और चलते-चलते भी पृथ्वीराज को देखती गई।

दरस त्रियन दिल्ली नृपति सोब्रन घट पर हथ्थ।
कर घूंघट छुटि पट्ट गौ सटपट परि मनमथ्थ ॥
सटपट परि मनमथ्थ भेद वच कुचतट स्वेदं।
उष्ट कम्प जल द्रगन लग्गि जम्भायत भेदं ॥
सिथिल सुगति लजि भगति गलत पुंडरितन सरसी।
निकट निजन घट तजै मुह मुहर पति दरसी ॥

जब कन्नौज में पृथ्वीराज को संयोगिता का प्रथम दर्शन हुआ तो उसने जानु, कटि, कुच, कुचकोर, मुख, नासिका, दृग, भौंह, वेणी आदि के स्थान पर शरीरांगों के निम्नांकित प्रतीकों को देखा—

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर तो पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुम्भय ॥
ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर मृग दिट्ठो।
मृग उप्पर कोदंड संघ कंद्रप बयट्ठो ॥

अहि मयूर महि उप्परहि हीर सरस हेमन जरचो ।
सुर भुवन छड कवि चन्द कहि तिरर्द घोषै रजन परचो ।।

चन्द का यह पद विद्यापति के निम्नांकित पद की स्मृति सजीव कर देता है। तुलना करके देख लीजिए चन्द का यह पद किसी भी दशा में हिन्दी के मधुरतम कवि विद्यापति से कम नहीं है:—

"कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने ।
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलाइल नाल बिना रुचि पाई ।।
मनिमधहार धार बहु सुरसरि तओ नहिं कमल सुखाई ।।"

प्रथम साक्षात्कार में ही पृथ्वीराज और संयोगिता अपनी-अपनी सुध-बुध भी भूल जाते हैं। संयोगिता तो और भी संकट में पड़ जाती है। सोचती है कि बोले कि न बोले। बड़ी ही विचित्र स्थिति हो गयी है (भइ गति सांप छछूंदर केरी)। अगर बोलती है तो हृदय हाथ से जाता है और अगर नहीं बोलती तो हृदय भग्न हुआ जाता है। प्रेम के इन संकटपूर्ण क्षणों को डिंगल भाषा में उतार कर कवि ने उसे अमर कर दिया है:—

जो जंपौ तौ चित्त हर अनजंपै विदरंत ।
अहि डट्टु छच्छुन्दरी हिये विलंगी वंति ।।

अन्त में पद्मावती के रूप वर्णन की कुछ पंक्तियां देकर हम रूप और शृंगार के इस विषय को समाप्त करेंगे।

मनहुं कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बेस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ।।
विकसि-कमल मृग, भ्रमर, बैन, खंजन, मृग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिंब मोति नख सिख अहि घुट्टिय ।।
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय सचै सचिय ।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय, मनहु काम कामिनि रचिय ।।

× × ×

कुट्टिल केस सुदेस पौहप रचियत पिक्क सद ।
कमल गंध वयसंध हंस गति चलह मंद-मंद ।।
सेत वस्त्र सोहै सरीर नख स्वाति बुंद जस ।
भमर भवहिं भुल्लहिं सुभाव, मकरन्द वास रस ।।

पृथ्वीराज संयोगिता-हरण के लिए जाने से पूर्व अपनी अन्य रानियों से जाने की आज्ञा चाहता है। भिन्न-भिन्न रानियाँ उसे भिन्न-भिन्न ऋतुओं का मादक वर्णन सुना कर जाने से रोक देती हैं। इस प्रकार कवि चन्द ने इस बहाने जो ऋतुवर्णन किया है कदाचित् ही हिन्दी में उसकी टक्कर का ऋतुवर्णन मिले।

कहने का सारांश यह है कि रूप-राज-लोलुप सामन्तों के लिए लिखा गया काव्य रूप और युद्ध वैभव से ओत-प्रोत है। डिंगल काव्य में जहाँ एक ओर युद्ध की विभीषिका का तांडव नृत्य मिलता है वहाँ युद्ध से थके सामन्तों के लिए अद्वितीय सुन्दरी रमणियों की रूपछाया भी है। डिंगल साहित्य में एक ओर खड्गों की झंकार और वीरों के सिंहनाद हैं तो दूसरी ओर सौन्दर्य की साकार प्रतिमाओं राजकुमारियों के बिछुओं एवं करधनी की रुनझुन तथा कोकिल कण्ठ का अमृत भी है।

किन्तु डिंगल काव्य वीर और शृंगार के अतिरिक्त और रसों से भी शून्य नहीं है। रौद्र, बीभत्स, भयानक और अद्भुत तो वीर रस के सखा हैं। इनसे तो डिंगल काव्य भरा पड़ा है, हाँ डिंगल साहित्य में हास्यरस और शान्त रस, अपेक्षाकृत कम हैं किन्तु उनका नितांत अभाव हो ऐसी बात नहीं है। अन्य रसों के भी उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

शान्त रस—

पान झड़ंता देखकर, हँसी न कूँपलियाँह।
मो बीती तुझ बीतसी, धीरी बापड़ियाँह॥

(जब) पत्तों को झड़ता हुआ देखकर कोंपले हँसने लगीं (तो) पत्तों ने कहा अरी बेचारी कोंपलों, ठहरो, तुम पर भी वही बीतेगी जो हम पर बीत चुकी है।)

हास्यरस—

(१) यहि आँगना यहि देहरी, यही ससुर को गाँव।
दुलहिन दुलहिन टेरता, बुढ़िया पड़ गयो नाँव॥

(यही आँगन था और यही देहरी थी, इसी श्वसुर के गाँव में जब मैं प्रथमतः आयी थी तो दुलहिन थी, समय की बात है कि दुलहिन-दुलहिन पुकारते-पुकारते अब लोग मुझे बुढ़िया कहने लगे हैं।)

(२) राजा रावण जनमियो, दस मुख एक शरीर ।
जननी ने साँसो भयो, किण मुख घालूँ खीर ।।

(जब राजा रावण ने जन्म लिया तो उसके शरीर तो था एक और सिर थे दस । रावण की माँ बड़े संकट में पड़ गयी कि आखिर दूध पिलाए तो कौन से मुख में पिलाए ।)

(३) मूँड मुडाँया तीन गुण, मिटी टाट की खाज ;
बाबा बाज्यो जगत में, मिल्यो पेट भरि नाज ।।

(सिर मुँडा लेने से तीन लाभ हैं—१. सिर की खुजली मिट जाती है । २. संसार में बाबा कहलाने का गौरव प्राप्त होता है । ३. पेट भरने लायक भोजन मिल जाता है ।)

रौद्र रस—

विलकुलियो वदन जेम वाकारयौ,
संग्रहि धनुष पुणच सर सन्धि ।
क्रिसन रुकम आउध छेदण कजि,
वेलखि अणी मूठि द्रिठि बन्धि ।।

(जैसे ही रुक्मी ने ललकारा त्यों ही कृष्ण का मुख लाल हो गया और उन्होंने रुक्मी के अस्त्र-शस्त्रों को काटने के लिए धनुष लेकर प्रत्यन्चा पर बाण चढ़ाया किन्तु कृष्ण ने फल तो मुट्ठी में रखा और उसकी नोक को दृष्टि में बांधा ।)

बीभत्स रस—

कांपियाँ उर कायरों असुभकारियों,
गाजंते नीसाणे गड़ड़ै ।
ऊजलियाँ धाराँ ऊबड़ियौ,
परनाले जल रुहिर पड़ै ।।

(नगाड़ों के शब्दरूपी मेघगर्जन से कायररूपी अशुभ चिन्तकों के हृदय काँपने लगे । और शस्त्रों की चमकीली धाराओं से उमड़ते हुए रुधिर के जल रूपी पनाले बहने लगे ।)

करुण रस—

घणाँ घाट लघणाँ, नदी परबत नद नाला ।
बन है बेटा विकट, पंथ चालणों उपालाँ ॥
कहर भूख काढ़णी, गिणे दुख किसा गुणीजै ।
कहूँ बात यह कँवर श्रवण, वै भ्रात सुणीजै ॥
दंती बराह नाहर दनुज, सो तिणठां रह साबता ।
रे पुत्र वणी विध राखजो, जनक सुतारा जाबता ॥

(कौशल्या का कथन, राम लक्ष्मरण के प्रति)

(हे पुत्र ! तुम्हें बहुत-सी नदियों, घाटियों, पर्वतों, नालों और समुद्रों को पार करना होगा । वन जाना कितना कठिन काम है । जब कि विना जूतों के ही वनों को पार करना होगा । वहाँ के दुःख असंख्य हैं । तुम्हें बहुधा भूखों भी रहना पड़ेगा । मेरी बात तुम (राम-लक्ष्मरण) बहुत ध्यान से सुनो, वन में हाथी, सिंह. सूअर तथा राक्षस बहुत रहते हैं उनसे सीता की रक्षा करना ।)

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया कि डिंगल काव्य में केवल युद्ध वर्णन ही नहीं है अपितु सभी रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है । अतः अब यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यद्यपि डिंगल भाषा वीर रस के अधिक अनुकूल है किन्तु इसमें अन्य रसों में भी सफलता पूर्वक रचनायें की गयी हैं । अतः डिंगल भाषा सब रसों के सफलतापूर्वक वर्णन में समर्थ रही है ।

प्रश्न ६—"पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता संदिग्ध है तथा यह एक जाली ग्रन्थ है।" इसके पक्ष और विपक्ष में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये मतों की युक्तियुक्त परीक्षा कीजिए ।

उत्तर—पृथ्वीराज रासो हिन्दी का आदि महाकाव्य माना जाता है । यह विशाल काव्य ग्रन्थ २५०० पृष्ठों का है और इसमें ६९ समय हैं । किसी समय 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता असन्दिग्ध थी और चंद हिन्दी के आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित थे । 'रासो' में वर्णित घटनायें जनता में प्रचलित थीं और अब भी हैं किन्तु रासो की ऐतिहासिकता पर आज प्रश्न-वाचक चिन्ह लग गया है । विद्वानों का दृष्टिकोण रासो के प्रति आज आशा या श्रद्धा का न होकर समीक्षा और विवेचना का है। विद्वानों को रासो में इतनी इतिहास-विरुद्ध बातें मिली हैं कि वे रासो को शंका और संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं ।

पुराने इतिहासकारों में कर्नल 'टाड' तथा हिन्दी साहित्य के आदि इतिहासकार 'तासी' इसे प्रामाणिक मान चुके हैं किन्तु सर्वप्रथम रासो की प्रामाणिकता पर विवेचनात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने वाले जोधपुर के कविराजा मुरारीदान एवं उदयपुर के कविराजा श्यामलदान हैं। इन दोनों विद्वानों का विचार है कि 'पृथ्वीराज रासो' एक अप्रामाणिक रचना है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध पुरातात्ववेत्ता डा० बूलर ने भी अपना निर्णय 'रासो' की प्रामाणिकता के विपक्ष में ही दिया और इस प्रकार उन्होंने विद्वन्मण्डली का ध्यान इस दिशा में आकृष्ट किया। 'रासो' के हिन्दी के आदि ग्रन्थ तथा प्रामाणिक होने के विषय में लोगों के मन-मस्तिष्क में बची आस्था की दुर्बल जड़ों पर अन्तिम और निर्णायक प्रहार किया प्रसिद्ध इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने। तर्कों के समक्ष निर्जीव इस ग्रन्थ की उन्होंने तो शव-परीक्षा ही कर डाली और कठोर तर्कों एवं ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसे कवियों की कपोल कल्पना मात्र प्रमाणित कर डाला।

रासो के इस आकस्मिक दुर्भाग्य और यशोहानि का कारण 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' नामक वह पुस्तक है जो डा० बूलर को संस्कृत ग्रन्थों की खोज करते समय सन् १८७८ ई० में काश्मीर में मिली। इस पुस्तक का लेखक कोई जयानक नामक कवि है। शोध करने पर डा० बूलर को ज्ञात हुआ कि इस पुस्तक में दिये हुए वर्णन एवं संवत् आदि खोज में मिले शिला-लेखों आदि से मेल खाते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' नामक ग्रन्थ की जो प्रति मिली है वह खंडित है। किन्तु इस पुस्तक के वर्णन से इतता स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य का प्रणयनकर्ता पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि था। दोनों पुस्तकों के अन्तर को कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए 'पृथ्वीराज रासौ' का कथा सार देना आवश्यक है।

रासो के अनुसार आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति हुई। चौहानों का वंश उनमें से एक था। चोहानों ने अजमेर में अपना राज्य स्थापित किया था। प्रसिद्ध सोमेश्बर चौहान पृथ्वीराज के पिता थे। अजमेर इनकी राजधानी थी। सोमेश्वर के समकालीन अनंगपाल तोमर दिल्ली के और विजयपाल कन्नौज के राजा थे। विजयपाल उन दिनों असाधारण शक्ति-सम्पन्न

थे। वे उत्तरी भारत में सम्राट् माने जाते थे। किसी कारणवश विजयपाल ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने सोमेश्वर चौहान से इस संकट में सहायता की याचना की और सोमेश्वर ने भी इस अवसर पर उन्हें निराश नहीं किया। दोनों के संयुक्त प्रतिरोध के कारण विजयपाल की दिल्ली विजय की आशा निराशा में परिणत हो गयी।

अनंगपाल पुत्रहीन थे। उनके दो पुत्रियाँ अवश्य थीं—सुरसुन्दरी और कमला। कमला छोटी थी। अनंगपाल ने कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ कर दिया और सुरसुन्दरी का विवाह विजयपाल के साथ कर वैर-भाव की सदा के लिए समाप्ति कर दी। पृथ्वीराज कमला का पुत्र था और भारत के इतिहास में कुख्यात जयचन्द सुरसुन्दरी का पुत्र था, ऐसा अनुमान किया जाता है (जयचन्द सुरसुन्दरी के गर्भ से ही उत्पन्न था इस विषय में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है)। पूरे रासौ में उपरोक्त तथ्यों का समर्थन ४८ वें समय में एक स्थान पर मिलता है जहाँ जयचंद पृथ्वीराज से कहता है, "मातुल हम तुम इक्कै' किंतु वाद में फिर इसका उल्लेख और कहीं नहीं मिलता। जयचन्द विजयपाल का उत्तराधिकारी था और उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहासनासीन हुआ।

रासो में जयचन्द और पृथ्वीराज के मनमुटाव का कारण इस प्रकार दिया हुआ है :—

वृद्धावस्था में अनंगपाल की इच्छा बद्रीनारायण की यात्रा करने की हुई। जाने से पूर्व राज्य-संचालन के सूत्र वे अपने धेवते पृथ्वीराज के हाथों में सौंप गये। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में तो तभी पृथ्वीराज दिल्लीश्वर हो गये। अनंगपाल तथा अपने पिता सोमेश्वर चौहान की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वीराज दिल्ली और अजमेर दोनों के शासक हो गये। जयचन्द इस बात से कुढ़ गया और पृथ्वीराज का अहितचिंतक बन गया।

जयचन्द ने जब अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचा तो पृथ्वीराज को आमंत्रित तो किया किंतु उसे अत्यन्त निम्नकोटि का कार्य सौंपा, इसलिए पृथ्वीराज ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। जयचन्द ने पृथ्वीराज की एक स्वर्ण मूर्ति बनाकर द्वारपाल के स्थान पर खड़ी करवा दी। संयोगिता पृथ्वीराज के गुणों के विषय में पहले ही सुन चुकी थी और गुण श्रवण द्वारा

ही वह उससे प्रेम भी करने लगी थी। स्वयंवर के समय संयोगिता ने अपने पूर्व निश्चय के अनुसार पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में ही जयमाला डाल दी। पुत्री के इस अवांछनीय कृत्य मे रुष्ट होकर जयचन्द ने इसे गङ्गा के किनारे के एक प्रासाद में निर्वासित कर दिया और उसे एक प्रकार से बन्दी बना दिया। पृथ्वीराज को जब यह सब कुछ पता लगा तो वे छद्म रूप में वहाँ जा पहुँचे और उसी महल में संयोगिता से विधिपूर्वक विवाह किया। चलने से पूर्व अपने कवि चन्द को उन्होंने इस तथ्य की सूचना देने जयचन्द के पास भेजा क्योंकि राजपूती परम्परा के अनुसार वे बलपूर्वक अपहरण करना चाहते थे, चोरों की भाँति छिपकर भागना उन्हें पसन्द न था। यह समाचार पाकर जयचन्द अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अपने सेनापतियों को पृथ्वीराज को जीवित ही पकड़ लाने की आज्ञा दी। पृथ्वीराज की सेना भी युद्ध के लिए तैयार थी। भयङ्कर युद्ध हुआ और पृथ्वीराज संयोगिता को लेकर सकुशल दिल्ली पहुँच गये और वैभव एवं विलास में आकण्ठ मग्न रहने लगे।

इधर एक और विचित्र घटना घटी। शहाबुद्दीन गोरी का एक सेनापति चित्ररेखा नामक किसी युवति से प्रेम करता था। स्वयं शहाबुद्दीन गोरी चित्र-रेखा पर आसक्त हो गया। पठान सेनापति प्राणरक्षा के लिये पृथ्वीराज की शरण में आ गया। पृथ्वीराज ने उसे अभयदान दे दिया और गोरी द्वारा माँगने पर भी उस सेनापति को लौटाया नहीं। अंत में पृथ्वीराज और गोरी के बीच कई युद्ध हुए जिनमें गोरी सदैव हारता रहा। कई बार बन्दी भी बना लिया गया किंतु उदारहृदय पृथ्वीराज ने सदा ही उसे दंड स्वरूप भेंट लेकर बन्धनमुक्त कर दिया। अंत में पृथ्वीराज एक दुद्ध में पराजित हुए और गोरी ने उन्हें बन्दी बना लिया और गजनी ले गया। कवि चन्द भी उनके साथ गजनी गया। चमत्कार-प्रदर्शन के एक उत्सव में शब्दभेदी-बाण-पटु पृथ्वीराज ने गोरी को बाण का लक्ष्य बनाया और उसे मारकर चन्द और पृथ्वीराज दोनों ने आत्महत्या कर ली।

'पृथ्वीराज विजय' नामक पुस्तक में कहीं भी यह लिखा नहीं मिलता कि पृथ्वीराज अनंगपाल का दौहित्र (धेवता) था तथा अनंगपाल ने उसे गोद लिया था। मुसलमान इतिहासकार तक पृथ्वीराज को अजमेर का शासक ही कहते हैं, उसे दिल्लीश्वर नहीं मानते।

'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी दिया हुआ है जब कि 'पृथ्वीराज रासो' में उसकी माता के नाम पर कमलादेवी का उल्लेख है।

'रासो' में पृथ्वीराज की जन्मतिथि ११११५ दी हुई है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वि० सं० ११२६ में भी जब कि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु हुई, पृथ्वीराज बच्चा ही था। अतः रासो में दिया जन्म संवत् भी अशुद्ध प्रतीत होता है।

सोमेश्वर की घटना भी 'पृथ्वीराज विजय' में नहीं है। गजनी और गोरी की हत्या का उल्लेख भी 'पृथ्वीराज विजय' में नहीं है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार पृथ्वीराज का कवि 'पृथ्वी भट्ट' था न कि 'चन्दबरदाई' किन्तु रासो के समर्थकों का कहना है कि उपरोक्त कमियाँ रासो की नागरी प्रचारिणी सभा वाली प्रति के आधार पर दिखायी गयी हैं जो कि स्वयं प्रामाणिक प्रति नहीं है।

रासो की जितनी प्रतियाँ अब तक प्राप्त हुई हैं उनके अनुसार उसके चार रूपान्तर प्रमाणित होते हैं—

१. **बृहत् रूपान्तर**—काशी नागरी प्रचारिणी सभा में रासो की जो प्रति रखी है वह इसी रूपान्तर की है। ऐसी ही कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में भी हैं। ऐसी रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७५० के बाद की प्रतीत होती हैं। इस रूपान्तर की प्रति में जितने प्रक्षिप्त अंश भरे पड़े हैं रासो के अन्य रूपान्तरों की प्रतियों में उतने नहीं हैं।

२. **मध्यम रूपान्तर**—इस रूपान्तर की चार प्रतियाँ मिलती हैं। मथुराप्रसाद दीक्षित इस रूपान्तर की लाहौर प्रति को प्रामाणिक एवं मूल प्रति मानते हैं कि इस रूपान्तर की चारों प्रतियों का रूपान्तर काल संवत् १७०० के बाद ही ठहरता है, संवत् १७०० से पूर्व की कोई प्रति इस रूपान्तर की नहीं मिलती। इस प्रति में छन्दों की संख्या सत्त सहस बतायी गयी है जो गणना करने पर ठीक उतरती है।

३. **लघु रूपान्तर**—इसकी लगभग चार प्रतियाँ प्राप्त हैं। तीन प्रतियां तो बीकानेर राज्य के 'अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय' में तथा एक श्री अगरचन्द नाहटा के पास है। इस रूपान्तर के अनुसार समयों (अध्यायों) की संख्या १९

और छंदों की सम्पूर्ण संख्या ३५०० है। इसकी भी सभी प्रतियाँ संवत् १७०० के वाद की हैं।

४. **लघुतम रूपान्तर**—यह रूपान्तर प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री अगरचंद नाइटा की शोध के परिणामस्वरूप प्रकाश में आया है। इस रूपान्तर का आकार अब तक प्राप्त सभी प्रतियों से छोटा है। इसके लिपिकार ने इसकी छन्द संख्या केवल १३०० दी है। अध्यायों का विभाजन भी इसमें नहीं मिलता। इसका लिपिकाल सं० १६६७ है और भाषा भी अपेक्षाकृत प्राचीन है।

नवीन शोधों के आधार पर रासो की एक और प्राचीनतम प्रति का पता लगा है जिसका लिपिकाल सं० १४५५ बताया जाता है। किन्तु जब तक यह प्रकाश में न आए और सम्बन्धित विषय के गम्भीर विद्वान् इस पर अपना मत न देदें तब तक उसे प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ?

हिन्दी में 'रासो' की प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिक्ता पर बहुत वाद-विवाद हो चुका है और स्पष्ट रूप से विद्वान् इस विषय में चार दलों में बँट गये हैं।

१. पहला दल तो उन विद्वानों का है जो रासो के वर्तमान रूप को पूर्ण प्रामाणिक मानते हैं और चंद को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। इस दल के विद्वानों में प्रमुख हैं—पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बा० श्याम-सुन्दरदास, मिश्रबन्धु, राव मोहनसिंह तथा मथुराप्रसाद दीक्षित आदि।

२. दूसरा दल उन विद्वानों का है जो रासो को बिलकुल ही अप्रामाणिक रचना मानते हैं और चंद को पृथ्वीराज का समकालीन भी नहीं मानते। इस दल के प्रमुख विद्वान् हैं—कविराज श्यामलदान, कविराजा मुरारिदान, डाक्टर वूलर, प्रसिद्ध इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द 'ओझा', हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा आदि।

३. तीसरा दल उन विद्वानों का है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानते हैं और यह भी मानते हैं कि उसने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की किन्तु उनका कथन है कि पृथ्वीराज रासो आज अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है। इस दल के प्रमुख विद्वान् हैं—श्रीमुमि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाइटा, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० दशरथ शर्मा आदि। इनमें से कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि रासो की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई होगी।

४. चौथा दल उन विद्वानों का है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन

तो मानते हैं परन्तु इस बात में विश्वास नहीं करते कि उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक किसी ग्रन्थ की रचना भी की थी। उनके कथनानुसार चन्द ने जो कुछ लिखा होगा फुटकर रूप में ही लिखा होगा। जैन प्रबन्धों में जो पद्य प्राप्त हुए हैं वे भी फुटकर ही हैं।

पहले विपक्ष के विद्वानों की मत परीक्षा की जाए।

रासो के विषय में डा० रामकुमार वर्मा का मत है:—

"आबू पहाड़ के राजा 'जेत' और 'शलख' शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते। आबू पहाड़ पर उस समय धारावर्ष परमार राज्य करता था जिसका उल्लेख कहीं नहीं है। पृथ्वीराज की शक्ति का परिचम देने के लिए अनेक राजाओं का उसके हाथ से मारा जाना लिखा है। गुजरात के राजा भीमदेव पृथ्वीराज के हाथों मारे गये किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे सं० १२७२ तक जीवित रहे। शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज के तीर से नहीं मारा गया, संवत् १२६० में गक्करों के हाथों उसकी मृत्यु हुई। पृथ्वीराज से १०० वर्ष बाद के राजाओं को उसका समकालीन होना लिखा है। चितौड़ के रावल समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह होना वर्णित है किन्तु समरसी के शिलालेख संवत् १३३५-१३४२ तक के मिलते है। इस प्रकार रासो में ऐतिहासिक घटनाओं की ही नहीं वरन् तिथियों में भी भूलें भरी पड़ी हैं। कपोलकल्पित और मनमानी कथायें इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय भी है और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध भी नहीं जान पड़ता है।"

सबसे अधिक महत्वपूर्ण मत हैं आलोचकों में श्रेष्ठ पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा इतिहासकारों में श्रेष्ठ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का रासो के विषय में मत है :—

"बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहासविरुद्ध कल्पित घटनायें जो भरी पड़ी हैं उनके लिए क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं हैं, काव्यग्रन्थ है पर काव्यग्रन्थों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' भी तो काव्यग्रन्थ ही है। फिर उसमें क्यों घटनायें और नाम ठीक-ठीक हैं? इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने को जगह नहीं कि यह पूरा ग्रन्थ वास्तव

में जाली है। रहा प्रश्न यह कि पृथ्वीराज की सभा में चन्द नाम का कोई कवि था या नहीं ? अधिक सम्भव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज था उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी वंशज के यहाँ चन्द नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो 'भट्ट भणंत' तैयार होता गया उन सब को लेकर और चन्द को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर रासो नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गयी हो।"

रासो की भाषा के विषय में भी शुक्ल जी के विचार कम उग्र नहीं हैं :

"भाषा की कसौटी पर यदि ग्रन्थ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिलकुल बे ठिकाने है। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक ढाँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है। क्रियायें नये रूपों में मिलती है। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्य रूप में भी पायी जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिन्ह पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असम्भव होने के कारण यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।"

रासो को जाली एवं अनैतिहासिक प्रमाणित करने के लिए विद्वानों ने जो तर्क एवं तथ्य दिये हैं संक्षेप में उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. रासो में दी हुई तिथियाँ अशुद्ध हैं। वे 'पृथ्वीराज विजय' एवं शिलालेखों में दी हुई तिथियों से मेल नहीं खातीं।

२. रासो की भाषा कहीं-कहीं इतनी अधिक आधुनिक है कि वह अठारहवीं शताब्दी के भी बाद का ग्रन्थ प्रतीत होता है।

३. रासो में दिए पृथ्वीराज के निकटतम सम्बन्धियों के नाम भी ठीक नहीं हैं। जैसे—पृथ्वीराज की माता, भाई, पुत्र तथा रानियों एवं प्रमुख सामन्तों के विषय में यह बात कही जा सकती है।

४. रासो में वर्णित चौहानों, प्रतिहारों एवं सोलंकियों की उत्पत्तिसम्बन्धी कथा कपोलकल्पित, भ्रमपूर्ण एवं अनैतिहासिक है।

५. 'पृथ्वीराज विजय' 'हमीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जन चरित्र' आदि में दिये अधिकाँश नाम ऐतिहासिक हैं। जब कि रासो में दी हुई चौहानों की वंशावली तक भ्रमपूर्ण और अशुद्ध है तथा उसके अधिकांश व्यक्तियों के नाम शिलालेखों एवं उपरोक्त प्रामाणिक पुस्तकों से मेल नहीं खाते।

६. अन्य प्रामाणिक पुस्तकों में पृथ्वीराज के राजकवि के रूप में किसी पृथ्वीभट्ट की चर्चा तो मिलती है परन्तु चन्द्र का कहीं नाम नहीं है।

७. रासो में अरबी, फारसी शब्द प्रचुरता से मिलते हैं और उनकी संख्या १० प्रतिशत से भी अधिक है। अरबी, फारसी शब्दों की प्रचुरता तभी सम्भव है जब मुसलमानी शासन स्थापित हो गया हो। संक्रान्तिकाल में उनका आना और भाषा में ग्राह्य हो जाना सम्भव नहीं दिखाई देता।

८. पृथ्वीराज के हाथों गुजरात के राजा भीम का मारा जाना घोर अनैतिहासिक है।

९. पृथ्वीराज के जितने विवाहों का वर्णन 'रासो' में है वे अधिकांश अनैतिहासिक एवं अप्रामाणिक हैं।

१०. समरसी (समरसिंह) के साथ पृथ्वीराज की बहन 'पृथा' के पाणिग्रहण की बात भी बिलकुल कपोलकल्पित प्रतीत होती है। रासो में समरसिंह को शहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज की ओर से युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करता दिखाया है किन्तु शिलालेखों के द्वारा समरसिंह का पृथ्वीराज की मृत्यु के १०९ वर्ष बाद तक जीवित रहना प्रमाणित है।

११. पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा 'अनन्द' सम्वत् की कल्पना करने पर भी संवतों की अशुद्धि दूर नहीं होती। पंड्या जी के कथनानुसार रासो के दिये हुए सम्वतों में ९१ जोड़ देने से शुद्ध विक्रम सम्वत् निकल आते हैं। इस प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार टाड का कथन था कि रासो में १०० वर्ष पहले के सम्वत् दिये हुए हैं किन्तु इस उपाय से भी रासो के सम्वत् शुद्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ रासों में पृथ्वीराज का जन्म सम्वत् १११५ दिया हुआ है। १११५ में अनन्द सम्वत् के अनुसार ९१ वर्ष जोड़कर यह सम्वत् वि० सं० १२०६ निकलता है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार सोमेश्वर की मृत्यु के समय अर्थात् वि० सं० १२३६ में पृथ्वीराज बालक था। वि० सं० १२०६ में तो

पृथ्वीराज का पिता भी बहुत छोटा था और अविवाहित था। सं० १२१८ के पश्चात् उसने कर्पूरदेवी से विवाह किया था इसलिए सं० १२२० से पूर्व पृथ्वीराज के जन्म की कल्पना क्लिष्ट कल्पना ही होगी। इस प्रकार रासो का सम्वत् १११५ तथा पंड्या जी का वि० सं १२१६ दोनों ही अशुद्ध ठहरते हैं। इसी प्रकार और भी कितने ही सम्वत् हैं जो अशुद्ध ठहरते हैं।

अब उन तथ्यों पर भी विचार किया जाय जो रासो के समर्थक उसके पक्ष में रखते हैं :

१. रासो के समर्थकों का प्रमुख तर्क यह है कि रासो एक काव्यग्रन्थ है इतिहास ग्रन्थ नहीं, इसलिए ऐतिहासिक तथ्यों को उसमें ढूँढना समीचीन नहीं है। कवि लोग तो बात को बढ़ा चढ़ाकर कहते ही हैं, पाठक चमत्कारपूर्ण बातों में से अपने काम की बात समझ लेता है। काव्य की पद्धति ही अत्युक्ति की पद्धति है।

२. विद्वान् 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य के आधार पर 'रासो' को अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक प्रमाणित करते हैं जब कि स्वयं उपरोक्त पुस्तक की खण्डित प्रति ही प्राप्त है। कौन कह सकता है कि शेष लुप्त पुस्तक में रासो के समर्थन में बहुत कुछ तथ्य प्राप्त नहीं होते।

३. पृथ्वीराज के विवाह, प्रसिद्ध युद्ध, पुत्र-पुत्री के विषय में जब अन्य पुस्तकें एवं साधन मूक हैं तो उन्हें अशुद्ध कैसे समझा जाय। अशुद्ध वे तभी हो सकते हैं जब अन्य प्रमाण-साधनों में भी उनकी चर्चा तो हो किन्तु दूसरी तरह हो।

४. जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है शुक्ल जी भी यह मानते हैं कि प्राचीन भाषा के उदाहरणों की भी रासो में कमी नहीं है।

५. सब से मुख्य बात यह है कि अधिकांश विद्वानों ने रासो का खण्डन नागरी प्रचारिणी सभा काशी वाले विशालकाय प्रति के आधार पर किया है किन्तु वह तो रासो का प्रथम रूपान्तर है जिसमें क्षेपकों एवं प्रक्षिप्त अंश की संख्या सर्वाधिक है, बाद के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ रूपान्तरों में प्रक्षिप्त स्थल निरन्तर कम होते चले गये हैं। अतः केवल एक प्रति को आधार मानकर ही रासो के विरोधियों ने अपने तर्कों का जो चक्रव्यूह बनाया है वह अन्यायसंगत एवं अयुक्तियुक्त है।

६. इस विषय में तो रासो के कट्टर समर्थक भी अब लगभग एकमत हैं कि 'रासो, में समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश मिलते रहे हैं। डा० श्यामसुन्दर दास का तो कथन है कि जब केवल ३०० वर्ष पुरानी रामायण में क्षेपकों अथवा प्रक्षिप्त अंशों की कमी नहीं है तो फिर इतने प्राचीन ग्रन्थ में प्रक्षिप्त अंशों का उसी अनुपात में अधिक होना न तो आश्चर्य का विषय है और न अविश्वास का।

७. चौहानों के वंश की उत्पत्ति के विषय में रासो की बीकानेर वाली लघुतम प्रति में निम्नाँकित पंक्तियाँ मिलती हैं :—

ब्रह्मान जग ऊपन्न भूर।
मानिक राय चहुआन सूर॥

(अर्थात् ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ।)

दशरथ शर्मा का कथन है कि अन्य ग्रन्थों में भी यह कथा इसी प्रकार मिलती है। रासो के विरोधी विद्वान् 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जन चरित्र' को प्रामाणिक मानते हैं। इन पुस्तकों में भी चौहान वंश की उत्पत्ति की कथा ब्रह्मा के यज्ञ से पुष्कर तीर्थ में हुई, ऐसा वर्णन मिलता है।

८. रासो की लघुतम प्रति में दी हुई वंशावली में बहुत से ऐसे नाम मिल जाते हैं जो प्रामाणिक पुस्तकों तथा शिलालेखों आदि में भी मिलते हैं।

९. घनिष्ठतम एवं निकटतम नामों के भिन्न होने के विषय में रासो के समर्थकों का कहना है कि अभी तक भी लोगों का घर का नाम कुछ और होता है और बाहर का कुछ और। हो सकता है, पृथ्वीराज के अन्तरंग मित्र होने के कारण चन्द ने घर के नामों का ही व्यवहार किया हो।

१०. मेवाड़ाधिपति समरसिंह और उनके पृथा के साथ विवाह की बात तथा रणक्षेत्र में शहाबुद्दीन के विरुद्ध लड़ते हुए मारे जाने की ये दोनों घटनायें रासो की लघुतम प्रति में नहीं हैं।

११. अरबी और फारसी के शब्दों के सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दरदास का कथन विचारणीय है :—"शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूटमार करने आ चुका था। गजनवी से ३०० वर्ष पहले भी सिंध और मुल्तान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था

और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था अतः उसकी बाल्यावस्था से ही ये अरबी, फारसी के शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है। रासो का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है अतः परवर्ती काल में मुसलमानों के आतंक के साथ-साथ भाषा पर अरबी-फारसी का आतंक होना भी स्वाभाविक था। इस कारण ऐसे शब्दों का प्रतिशत और भी बढ़ गया है।

१२. कुछ लोगों का यह कहना भी है कि वास्तव में 'पृथ्वीराज रासो' चन्द ने नहीं लिखा बल्कि और लोगों ने उसे लिखकर चन्द के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। पहली बात तो यह है कि यह बात सम्भव नहीं दिखाई देती कि कोई दूसरे के यश के लिए परिश्रम करे; दूसरी बात अगर यह मान भी लिया जाय कि कुछ और लोगों ने चन्द के नाम से लिखा तो उससे भी यही प्रमाणित होता है कि चन्द अपने समय का इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि था कि दूसरे लोग रचनायें उसी के नाम से प्रसिद्ध करना चाहते हैं।

१३. इतिहासज्ञ पृथ्वीराज के बन्दी होने का समर्थन नहीं करते और पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन के वध तथा अन्त में आत्महत्या करने की घटना को भी प्रमाण-सम्मत नहीं मानते। इसका तो बहुत स्वाभाविक समाधान यह भी हो सकता है कि ये सब वर्णन एक तो चन्द ने नहीं किये (चन्द तो पृथ्वीराज के कार्यवश अर्थात् उसका साथ देने के लिए उसके साथ-साथ ही गजनी चला गया-था। "जल्हण पुस्तक हथ्थ दै चल गज्जन नृप काज") उसके पुत्र जल्हण ने किये हैं। इसके अतिरिक्त जल्हण अपने तथा अपने पिता के आश्रयदाता का एक आततायी के हाथ से वध होना नहीं दिखाना चाहता था (इस प्रवृत्ति के प्रमाणस्वरूप जायसी के पद्मावत का उदाहरण दिया जा सकता है। जहाँ कवि रत्नसिंह का अलाउद्दीन के हाथों वध नहीं दिखाता)। आत्महत्या की घटना रासो का काव्यात्मक अन्त कही जा सकती है। यह राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न है अतः उसे कविता की छाया में ही समझना अधिक न्यायसंगत होगा, इतिहास के प्रकाश में नहीं :

१४. कुछ पट्टे और परवाने जो नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर

से प्रकाशित किए गए हैं उनसे भी पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

१५. हाल ही में मुनि जिनविजय को चन्द विरचित रासो के चार प्राचीन छप्पय मिले हैं जिनकी भाषा निश्चित रूप से पृथ्वीराजकालीन कही जा सकती है। प्राप्त छप्पयों में से तीन छप्पय विकृत रूप में रासो की पुरानी प्रतियों में भी मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप एक छप्पय उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

प्राचीन छप्पय :—

इक्कु वाणु पहुबीसु जु पइं कइं बासह मुक्कओ।
उरभि तरी खड़हड़िउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ॥
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसर नंदण।
एहु सु गडिदाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरिवणु॥
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ करइ पलकउ खल गुलह।
न जाँणउं चदबालद्दिउ किं न वि छुट्टइ इहफलह॥

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति में उपरोक्त छप्पय जिस रूप में मिलता है उसे देख लेना भी कम रोचक न होगा।

एक बान पुहुमी नरेश कैंमासह मुक्यौ॥
उर उप्पर थरहर्यौ वीर कष्षंतर चुक्यौ॥
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन।
गाढौ करि निग्रह्यो षनिव गाड्यौ संभरि धन॥
थल छोरि न जाय अभागरौ गाड्यौ गुन गहि आगरौ।
इम जंपै चन्द वरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ॥

इसमें संदेह नही कि अभी तक यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त सामग्री का अभाव है कि पृथ्वीराज रासो की वास्तविक प्रति कौन-सी है? इस दिशा में निरन्तर शोधकार्य की आवश्यकता है। किन्तु इतना आवश्यक है कि विद्वानों का बहुमत रासो के पक्ष में होता जा रहा है। लोगों का विश्वास है कि चन्द कवि पृथ्वीराज का समसामयिक कवि था और उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य अवश्य लिखा था। वह वास्तविक काव्य आज प्राप्त नहीं है।

आशा है रासो के क्षीर को विद्वान् लोग एक दिन प्रक्षिप्त अंशों के नीर से अलग करने में समर्थ हो सकेंगे। प्राप्त पृथ्वीराज रासो भी कम महत्वपूर्ण रचना नहीं है। हम डा० श्यामसुन्दरदास के इन शब्दों के साथ यह निबन्ध समाप्त करते हैं :

"पृथ्वीराज रासो समस्त वीर गाथायुग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस ग्रन्थ में मिलती है उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में नहीं मिलती। छन्दों का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता हैं अन्यत्र उसका अल्पांश भी दिखाई नहीं देता। पूरी जीवनगाथा होने के कारण इसमें वीरगीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पायी है 'वरन् नवीनतासमन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है।'

प्रश्न ७—'रासो' शब्द के उद्‌गम के विषय में विभिन्न विद्वानों के विचार उद्‌धृत कीजिए।

उत्तर—'रासो' ग्रन्थ हिन्दी में ही पहले-पहल मिलते हों ऐसी बात नहीं है। रासो ग्रन्थों की तो एक सुनिश्चित परम्परा है जो अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। इधर साहित्य में जो शोधकार्य प्रारम्भ हुआ है उससे अनेक 'रास' और 'रासो' ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। किन्तु 'रासो' शब्द का अर्थ क्या है ? इसके विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के अलग-अलग मत हैं।

पं० रामचंद्र शुक्ल रासो की उत्पत्ति 'रसायण' से मानते हैं। वे लिखते हैं—"ये ग्रन्थ 'रासो' कहलाते हैं, कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध रहस्य से बतलाते हैं। पर बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।"

डा० दशरथ शर्मा का इस विषय में कहना यह है कि रासो मूलतः गान्-युक्त नृत्य विशेष से क्रमशः विकसित होते-होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत होगया।

'रास' शब्द श्रीमद्‌भागवत में गीत-नृत्यादि के लिए प्रयुक्त हुआ है। उत्तर भारत में तो आज भी 'रास मंडली' हैं जो कृष्ण के चरित्र को गीत-

नृत्यादि द्वारा अभिनीत करती हैं। यह अभिनय 'रास' कहलाता है, तो कुछ विद्वानों का कहना है कि यह 'रास' ही 'रासो' का मूल स्रोत है।

१२ वीं सदी विक्रमीय के जैन ग्रन्थ 'लगुडरास' और 'तालारास' के प्रचलन की सूचना देते हैं :—

"लउडारसु जहि पुरिसु विदितिउ वारियइ।
"तालारासु विदिति न रयणिहिं,
दिवसि वि लउडारसु सहूँ पुरिसिहिं॥

स्पष्ट है कि ये गीतनृत्य शृंगाररसपरक थे। श्री नामबरसिंह इस विषय में लिखते हैं :—

"इनमें अभिनय गुण देखकर ही संभवत: तत्कालीन आचार्यों ने इन्हें पाठ्य नाटक से भिन्न 'गेय नाटक' की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया था। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन (८।४) में तथा वाग्भट ने भी अपने इसी नाम के ग्रन्थ के पहले ही अध्याय में डिम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरणा, रामाकी, हल्लीसक, श्रीगदित, गोष्ठी, रागकाव्य आदि के साथ 'रासक' नामक गेयनाट्य का उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है इन गेय नाट्यों का गीतभाग क्रमश: स्वतन्त्र श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य हो गया हो और फिर इनके चरितनायकों के अनुरूप इनमें युद्ध-वर्णन का भी समावेश हुआ हो।"

फ्रेंच विद्वान् 'गासाँ द तासी' का कहना है कि 'रासो' शब्द 'राजसूय' से निकला है। उनके अनुसार इस शब्द का क्रमश: विकाश इस प्रकार हुआ—

राजसूय=राजसू=रासू=रासो या रासा। राजसूय यज्ञ या उससे सम्बन्धित दिग्विजय की चर्चा होने के कारण इन युद्धपरक रचनाओं के वाचक 'रासो' शब्द को वे राजसूय से निकला हुआ मानते हैं, किन्तु वास्तव में यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी भी रासो ग्रन्थ में राजसूय यज्ञ की चर्चा तक नहीं मिलती।

पं० नरोत्तम दास स्वामी 'रास' काव्यों को मूलत: प्रेमकाव्य मानते हैं तथा 'रासो' काव्यों को वीर काव्य। 'रास' के उदाहरण स्वरूप 'सनेस रास' तथा 'बीसलदेव रास' का नाम लिया जा सकता है तो 'रासो' के लिए 'पृथ्वी-

राज रासो' या 'करहिया कौ रायसौ' परन्तु 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' इसका अपवाद कहा जा सकता है क्योंकि 'रास' होते हुए भी वह वीरकाव्य है या 'उपदेशरसायन रास' जो प्रमुखतः नीतिकाव्य है। अतः 'रास' या 'रासो' का पद-विभाजन अधिक तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। बाद में ऐसे अनेक काव्य लिखे गये जिनका नाम तो 'रासो' पर था किन्तु उनके वर्ण्य विषय विविध थे।

श्रीयुत नामवरसिंह रासो ग्रन्थों के विषय में लिखते हैं:—

"राजस्थान में रासो या रास काव्यों की परम्परा डिंगल और पिङ्गल दोनों में मध्ययुग के आरम्भ से लेकर आधुनिक युग तक प्रचलित रही और इस दौरान में ही 'पृथ्वीराज रासो' में प्रक्षेप होता रहा है। अपभ्रंश के 'सनेसरास' और 'उपदेशरसायन रास' को छोड़कर परवर्ती काल के प्रायः सभी डिङ्गल-पिङ्गल रास और रासो ग्रन्थ चरित काव्य हैं और सब में ऐतिहासिकता के साथ अनैतिहासिकता का मिश्रण थोड़ा बहुत है। ईसा की १२वीं से १५ वीं शताब्दी के बीच लिखे हुए रास ग्रन्थों में भरतेश्वर बाहुबलि रास, जम्बु स्वामीरास, रेवहं गिरिरास, कछूली रास गोतमरास, दशार्णभद्र रास वस्तुपाल तेजपाल रास, श्रेणिक रास, पेथड़रास, सतरसिंघ रास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें भाषा तथा काव्य की दृष्टि से 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' बहुत महत्वपूर्ण है। पं० मोतीलाल मेनारिया, श्री अगरचंद नाहटा, श्री नरोत्तमदास स्वामी तथा डा० दशरथ शर्मा के विवरणों से राजस्थानी के जिन रासो काव्यों का पता चला है उनमें से अधिकाँश १७ वीं शताब्दी तथा उसके बाद के हैं। जैसे माधोदास चारणकृत 'राय रासो' जिसमें राय कथा का वर्णन है, संवत् १६१० से सम्वत् १६६० के बीच रचा हुआ बताया जाता है। डूँगरसी कृत 'छत्रसाल रासो' मेनारिया जी के अनुसार सं० १७१० के आस-पास का काव्य है। गिरधर चारणकृत 'संगलसिंघ रासो' भी इसी के आस-पास का कहा जाता है। जैन साधु दौलत विजय (गृहस्थाश्रम का नाम दलपति) कृत 'खुम्माण रासो' की भी दो प्रतियाँ प्राप्त हैं उनमें से एक का लिपिकाल सं० १७३३ है और दूसरी का सं० १७५६।"

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराज रासो' के परिशिष्ट

भाग में 'रासो' शब्द को संस्कृत के 'रास' या 'रासक' से ही बना हुआ माना गया है। संस्कृत में 'रास' शब्द बहु अर्थ वाची है। उसके अर्थ हैं—ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि। 'रासक' शब्द काव्य या दृश्यकाव्य का बोधक है।

आज भी व्रजभाषा और राजस्थानी दोनों में 'रासो' शब्द व्यवहृत होता है। इन भाषाओं में 'रासो' का अर्थ काव्य, लड़ाई-झगड़ा, या झंझट आदि किया जाता है। जैसे अमुक स्थान में 'बड़ो रासो है गयो।' अतः युद्ध और काव्य दोनों का अर्थ बोध कराने के कारण 'रासो' शब्द का व्यवहार वीर रसात्मक काव्यों के लिए होने लगा।

प्रश्न—८ चन्दबरदाई, पृथ्वीराज. दुरसाजी, बाँकीदास, तथा सूर्यमल के जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिए तथा उनके काव्य की आलोचना करते हुए कवि के नाते उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

चंदबरदाई

उत्तर—चंद के जीवन के सम्बन्ध में अधिक और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु चंद पृथ्वीराज के राजकबि के नाते अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि चंद का जन्म पंजाब में हुआ था और उसी दिन हुआ था जिस दिन पृथ्वीराज ने जन्म ग्रहण किया। कहा तो यहाँ तक जाता है कि दोनों ने अपनी इह लौला भी एक साथ ही समाप्त की। चंद पृथ्वीराज के अन्तरंग मित्र और सेनापति थे। रासो की निम्नांकित पंक्ति से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं:—

"पुस्तक जल्हण हथ्थ दै चल गज्जन नृप काज"

१. पृथ्वीराज के साथ ही चंद गजनी चले गये अतः उनका समकालीन होना और अन्तरंग होना तो इस पंक्ति से स्पष्ट ही है।

२. चंद के पुत्र का नाम जल्हण था और जल्हण एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था (यों चंद के कई पुत्र थे किंतु जल्हण उन सब में सबसे अधिक प्रतिभाशाली था।)

चंद के पिता का नाम वेण और गुरु का नाम गुरुप्रसाद बताया जाता है। अजमेर के चौहान इनके यजमान थे। ये लोग लाहौर के रहने वाले थे।

चंद ने, कहा जाता है, दो विवाह किये थे। इनकी पहली पत्नी का नाम कमला उपनाम मेवा और दूसरी पत्नी का नाम गौरी उपनाम राजोर था। रासो की कथा वास्तव में गौरी और चन्द के प्रश्नोत्तर के रूप में है। गौरी प्रश्न करती है चन्द उत्तर देते हैं। इस विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत भिन्न है। उनका कहना है कि रासो की कथा शुक-शुकी के संवाद रूप में लिखी गयी। इस सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत उद्धृत करना अनावश्यक न होगा :—

"शुरू में (प्रथम समय, छंद ग्यारह और आगे) चंद की स्त्री शंका करती है। यह बात एकाएक आजाती है, इसके पहले चन्द की स्त्री का कहीं उल्लेख नहीं है। ग्यारहवें छंद के पहले कवि ने विनयवश कह दिया है कि वह अपने पूर्ववर्ती महाकवियों का उच्छिष्ट कथन कर रहा है। यहीं पर चन्द की स्त्री शंका करती है कि यह कैसे हो सकता है। प्रसंग से जान पड़ता है कि कथा चन्द और उसकी पत्नी के संवाद रूप में चल रही है, इसके पहले उसका कोई आभास नहीं, काफी दूर जाकर प्रश्नोत्तर का क्रम फिर शुरू होता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है कि रात्रि के समय तक रस में आकर कवि-पत्नी ने पृथ्वीराज की कीर्ति-कथा आदि से अन्त तक वर्णन करने का अनुरोध किया। बहुत कुछ यह 'लीलावती' के कवि कौतूहल की पत्नी के समान ही है। लगता है कि इस गाथा को ग्रन्थ के शुरू में आना चाहिए था। गाथा इस प्रकार है—

समयं इक निसि चन्दे। वाम बत्त बद्दि रस पाई॥
दिल्ली इस गुनेयं। कित्ती कहो आदि अंताई॥

फिर अचानक पाँचवें समय में संवाद कवि और कविपत्नी के बीच न होकर शुक और शुकी के बीच चलने लगता है। शुकी कह उठती है कि हे शुक! संभलो, हे प्राणपति बताओ कि भोला भीमंग के साथ पृथ्वीराज का वैर कैसे हुआ?

"सुकी कहै सुक संभरो कहौ कथा पतिप्रान।
पथु भोरा भीमंग पहु किम हुआ बैर विलान।"

यहाँ अचानक ही शुक का आ जाना कुछ विचित्र सा लगता है। फिर

कवि और कविपत्नी कभी नहीं आते। रासो सार के लेखकों ने शुक को कवि चन्द और शुकी को उसकी पत्नी मान लिया है। पता नहीं किस प्रकार यह बात उनके मन में आयी है। शायद उनके पास कोई ऐसी परम्परा का प्रमाण हो। ग्रन्थ से यह नहीं पता चलता कि शुक कवि चन्द है और शुकी कविपत्नी। मुझे तो यह भी संदेह होने लगा है कि 'समयं इक निसि चन्दपत्नी'—वाली गाथा कुछ विकृत रूप में आयी है और इसी गाथा में शुक और शुकी की चर्चा होनी चाहिए। जो हो उसके आगे के दोहे में स्पष्ट है कि वार्तालाप कवि और उसकी पत्नी में चल रहा है। इसलिए इस अनुमान को दूर तक घसीटना अच्छा नहीं जान पड़ता। अस्तु।

इसके बाद बारहवें समय में पहले एक छन्द में तिथि-वार बता देने के बाद शुकी इंछिनी के विवाह के विषय में प्रश्न करती है:—

"जंपि सुकी सुक पेम करि, आदि अन्त जो बत्त।
इंछिनि पिथ्थह ब्याहविधि, सुष्ष सुनंते गत्त॥

वैसे तो रासो में पृथ्वीराज के नौ विवाहों का उल्लेख है, पर तीन विवाह ऐसे हैं जिन्हें कवि ने विशेष रस लेकर लिखा है। ये तीन विवाह हैं—इंछिनी, शशिव्रता और संयोगिता नामक राजकुमारियों के साथ पृथ्वीराज के विवाह। तीनों ही में शुकी ने शुक से प्रश्न किया है। शेष विवाहों में ऐसी योजना नहीं मिलती। रासो के अन्तिम अंश से स्पष्ट है कि इंछिनी और संयोगिता ही मुख्य रानियाँ हैं और अन्त तक ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का द्वन्द्व इन्हीं में उबलता है। सो प्रमुख विवाहों में एक इंछिनी का विवाह है और इस प्रसंग में शुकी का मिलना काफी संकेत पूर्ण है। इंछिनी का विवाह का प्रसंग उत्थापित हुआ है कि तेरहवें समय में अचानक शाहबुद्दीन गोरी के साथ लड़ाई हो जाती है। इस प्रकार हर मौके-बे-मौके शहाबुद्दीन प्रायः ही रासो में आ धमकता है। यह सत्य है कि ऐतिहासिक कहानी के लेखक के लिए कथा का मोड़ अपने वश की बात नहीं होती, किंतु प्रसंग का उत्थापन, अवस्थापन तो उसके वश की बात होती ही है। यहाँ कवि लाचार मालूम होता है। शहाबुद्दीन उसकी गैर जानकारी में आ गया जान पड़ता है। मजेदार बात यह है कि तेरहवाँ समय जो 'कवि चन्द विरचित रासो' के 'सलष जुद्ध पतिशाह ग्रहन' नाम त्रयोदश प्रस्ताव है—शुक शुकी के इस संवाद के साथ समाप्त

होता है—

'सुकी सरस सुक उच्चरिय प्रेमसहित आनन्द ।
चालुक्कां सोज्झति सध्यौ सारुंडं में चन्द ॥

अर्थात् वस्तुत: चालुक्यराज भोरा भीमंग के हराने का प्रसंग ही चल रहा था कि बीच में शहाबुद्दीन का 'अपटी क्षेपण' प्रवेश विशेष ध्यान देने योग्य व्यापार नहीं है और सच पूछिए तो मैं यह बात आपसे छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चन्द का मूलग्रन्थ शुक-शुकी संवाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है । विद्यापति की कीर्ति-लता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और कदाचित् अन्त में भी शुक और शुकी की बातचीत उसमें अवश्य रही होगी ।"

द्विवेदी जी का कथन है कि यदि विद्वान् लोग शुक शुकी संवाद के रूप में रासो के सम्पादन का प्रयत्न करें तो 'परवर्ती ठँसठास' अर्थात् क्षेपक अंश अपने आप कम होते चले जायेंगे ।

कहा जाता है कि चन्द के ग्यारह संतान थीं दस पुत्र और एक पुत्री । पुत्री का नाम था राज बाई ।

चन्द जितने बड़े कवि थे उससे भी बड़े सेनापति थे । चन्द अपनी वीरता के लिए भी प्रसिद्ध हैं । लेखनी और असि पर इनका समान अधिकार था । विरोधी को ज्ञान और युद्ध दोनों में परास्त करने में चन्द समर्थ थे । डिंगल साहित्य में इतना विद्वान्, बहुपठित व्यक्ति शायद ही कोई दूसरा हुआ हो । चन्द षड्भाषा, व्याकरण, साहित्य, छन्द शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे, कवि तो वे जन्मजात ही थे ।

यदि यह किंवदन्ती ठीक मान ली जाए कि पृथ्वीराज और चन्द का जन्म और मृत्यु दिवस एक ही है तो इसके अनुसार इनका जन्म संवत् १२०६ और मृत्यु सं० १२४६ ठहरता है । परन्तु अनेक विद्वान् इस किंवदन्ती को अनैतिहासिक भी मानते हैं ।

अब चन्द के कवि रूप पर भी कुछ विचार किया जाए । सुविधा के लिए किसी भी कवि के काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं—१. भाव पक्ष,

२. कला पक्ष । दोनों के सफल सम्मिश्रण का अर्थ है कवि की महानता ।

१. भावपक्ष—चन्द रससिद्ध कवि हैं । वैसे तो चन्द के काव्य में सभी रस मिल जायेंगे किन्तु वे मुख्यतः श्रृंगार और वीर रस के ही कवि हैं । श्रृंगार के स्थल प्रायः वे हैं जहाँ कवि या तो किसी राजकुमार के रूप का या पृथ्वीराज के राजकुमारी के प्रति प्रेम का विस्तृत वर्णन करता है । श्रृंगार के स्थल वहाँ भी हैं जहाँ पृथ्वीराज दिल्ली में अपनी रानियों के साथ प्रेममय जीवन व्यतीत करता है या वहाँ जब कि वह किसी युद्ध यात्रा पर जाना चाहता है और रानियों से विदा लेता है । चन्द ने श्रृंगार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों का मार्मिक वर्णन किया है । परम्परा के अनुसार ऋतु-वर्णन आदि उसी में आ जाता है किन्तु चन्द का ऋतु-वर्णन असाधारण काव्य-युक्त और परम्परा-विहित होने पर भी अपनी विशिष्टता रखता है । चन्द के कवित्व, उनके श्रृंगार वैभव और उनकी मधुरता, मार्मिकता, सहृदयता एवं सूक्ष्म निरीक्षण के लिए उनके ऋतु-वर्णन के पदों का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा । ये स्थल उस समय के हैं जब पृथ्वीराज संयोगिता हरण के लिए कन्नौज जाने से पूर्व अपनी अन्य रानियों से बिदा लेने जाता है किन्तु विभिन्न रानियाँ उसके समक्ष विभिन्न ऋतुओं का मादक वर्णन कर और यह समझाकर कि ऐसी मादक ऋतु में पत्नी पति की अनुपस्थिति में कैसे जीवित रह सकती है उसे रोक लेती हैं ।

इंछिनी वसंत ऋतु का मादक वर्णन करती है और पृथ्वीराज से कहती है कि जब आम बौरा गये हों, कदम्ब फूल चुके हों, रात की दीर्घता में कोई कमी न आई हो, भँवरे भावमत्त झूम रहे हों, मकरन्द की वर्षा हो रही हो, मलय बयार चल रही हो, ऐसे में भी कोई अपनी पत्नी को विरहिणी बनाता होगा ?

"मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं ।
भंवर भाव भुल्ले भ्रमन्त मकरन्द बरीस ।।
बहत बात उज्जलति और मति विरह अगिनि किय ।
कुहकुहन्त कलकंठ पत्र राषस अति अगिय ।।
पय लग्गि प्रानपति बिनवौ नाह नेह मुझ चित धरहु ।
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय कन्त सन्त न गम करहु ।।"

ग्रीष्म में पुण्डी रानी पृथ्वीराज को रोक लेती है। कहती है, जब उत्तप्त वायु बह रही हो, तरुणी का क्षीण शरीर ताप से जल रहा हो, दिशायें धधक रही हों, रक्त सूख रहा हो, शीतलता का विश्वव्यापी अभाव, हो ऐसे कठिन समय में भी आप पत्नी को विरहिणी बनाना चाहते हैं ?"

षीन तरुनि तन तपै नित बाब रयन दिन।
दिसि चारयों परग लै नहिं कहौं सीत अरध षिन॥
जल जलंत पीवंत रुहिर निसि वासर घट्टै।
कठिन पंथ काया कलेश दिन रयनि संघट्टै॥
त्रिय लहै तत्त अष्षर कहै गुनिय ग्रब्ब न मंडियै।
सुनि कत सुमति संपत्ति विपत्ति गीषम गेह न छंडियै॥

वर्षा ऋतु में इन्द्रावती नहीं जाने देती; कहती है, "जब बादल घुमड़-घुमड़ कर आ रहे हों, सजल सरोवरों को देख कर सौभाग्यवतियों के हृदय विदीर्ण हुए जाते हों, कोकिलों के स्वर के साथ प्रेम के देवता शरसंधान कर रहे हों, दादुर, मोर, दामिनी, चातक सब के सब वैरी हो गए हों, ऐसे समय में आप मुझे छोड़कर जायेंगे" :—

घन गरजै घरहरै पलक निसि रैन निघट्टै।
सजल सरोवर पिषिष, दियौ ततछन घन घट्टै।
जल बद्दल वरषंत पेम पल्लहौ निरन्तर।
कोकिल सुर उच्चरै अङ्ग पहरन्त पंचसर।
दादुरह मोर दामिनि दसय अरि चवल्थ चातक रटय।
पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तप घटय॥
घुमड़ि घोर घन गरजि करत आडम्बर अम्बर।
पूरत जलधर धसत धार पथ पथिक दिगम्बर।
झझकित द्रिग सिसु म्रिग समान दमकति दामिनि द्रिसि।
बिदरत चात्रग चुवत पीय दुष्षंत समं निसि।
ग्रीषम्म विरहद्रुम लता तन परिरभन क्रतसेन हरि॥
सज्जन काम निसि पंचसर परवस प्रिय न प्रवास करि।
द्रिग भरति धूमिल जुरति भूमिल कुमुद चिम्भल सोभिलं।

द्रुम अङ्ग वल्लिय ससि हल्लिय कुरिल कंठह कोकिलं।
कुसुमन्ज कुन्ज सरीर सुम्भर सलित डुम्भर सद्दय ।।
नद रोर दादुर मोर नद्दुर बनसि बद्दरि बद्दयं।
झम झमकि विज्जल काम किञ्जल श्रवनि सज्जल कद्दयं।।
पप्पीह चीहति जीय जंजरि मोर मंजरि मद्दयं ।
बगपगति झिगनि निसि सुरङ्गन भय अभय निसि हद्दयं ।
मिति हँस हसि सुवास सुन्दरि डरसि आनन मिद्दयं ।।

उपरोक्त उद्धरण—भाव चमत्कार के ही नहीं, भाषा-चमत्कार के भी उदाहरण है। अनुकूल ध्वनियों का ऐसा सामञ्जस्य अन्यत्र दुर्लभ है। उपरोक्त ऋतु-वर्णन के पद चन्द की महानता एवं रससिद्धता की उच्च स्वर से घोषणा करते हैं।

भावपक्ष की विशेषतायें बिना वीर रस के उद्धरण दिए अधूरी रह जायंगी क्योंकि चन्द वीर रस के तो महान कवि हैं। उनका वीर रस का वर्णन जितना सजीव, आकर्षक और मार्मिक है उतना शायद ही किसी कवि का हो। चन्द के युद्ध-वर्णन में स्वाभाविकता और सजीवता इसलिए है कि चन्द ने यह वर्णन कल्पना के बल पर कमरे में बन्द होकर नहीं लिखा था अपितु स्वयं युद्ध में भाग लेकर सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा लिखा है। चन्द के युद्ध वर्णन में भाषा रसानुकूल होने के कारण भावोद्रेक या भावोन्मेष में सहायक होती है। उनके वर्णनों के द्वारा पाठक के समक्ष युद्ध की स्थली नाचने लगती है। पाठक कल्पना के पथ पर युद्ध का भयंकर और सजीव चित्र देखने लगता है।

घग्घर नदी के युद्ध से :—

भूमि परचौ तत्तार, मारी कमनैत प्रहारै।
एक घाव दोइ टूक, परे धारन मुहु धारै।।
षुर बज्जे षुरतार, चमकि चामण्ड चलायौ।
भरै बथ्थ सिर हथ्थ, एक बहु लष्षन धायौ।।
जब परै बूँद तब बीर हुअ, सत्त घरी साहस धरै।
तिनमा कटक्क त्रिबिधौ घड़ा, एक पग अनुसरै।।

× × × ×

धपी सेन सुरतान, मद्धि छुट्टी चावद्दिसि।
मनु कपाट उद्धर्यौ, कहू फुट्टिय दिसि बिदिसि ।।
मार मार मुष किन्न, लिन्न चावंड उपारे ।
परे सेन सुरतान, जाम इक्कह परि धारे ।।
गल बथ्थ धत्त गाढ़ौ ग्रह्यौ, जानि सनेही भिट्टयौ ।
चामंडराय करि वर कहर, गौरी दल बल कुट्टयौ ।।

× × ×

मचे कह कूहं बहै सार सारं, चमक्कै चमक्कै करारं सुधारं ।
भभक्कै भभक्कै बहै रत्तधारं, सनक्कैं सनक्कैं बहैं बान भारं ।
हबक्कैं हबक्कैं बहैं सेल भेलं, हलक्कैं हलक्कैं मची ठेल ठेलं ।।
कुकैं कूक फूटी सुरतान ठानं, बकी जोगमाया सु अप्पं थानं ।
बहैं चट्ट पट्टं उलट्ठं उलट्ठं, कुलट्ठा धरैं अप्प अप्प उहट्ठं ।
दडक्कं बजैं सथ्थ मथ्थं सुट्टं, कडक्कं बजैं सेना सुघट्टं ।।
बहै हथ्थ परमार सिरदार सारं, परे सेन गोरी बहै रत्तधारं ।
परचौं षान निसुर्रत्ति सेना सहित्तं, हुश्रौ सूर मध्यान दिल्लेस जित्तं ।।
उपरोक्त पदों से चन्द की वीर-रससिद्धता भी स्पष्ट हो गयी होगी ।

रासो की भाषा में कई परिवर्तन परिलक्षित होते हैं । वह सर्वत्र एक सी नहीं है । रासो की भाषा में कारकों की संयोगात्मक और वियोगात्मक दोनों अवस्थायें मिलती हैं । संज्ञाओं के साथ जिन विशिष्ट विभक्तियों का प्रयोग हुआ है, वे निम्न लिखित हैं :—

करण—सम, सों, तें, ते, त ।
सम्प्रदान – सम, सों, प्रति ।
अपादान—पास, कहँ, कौ ।
सम्बन्ध—कत, को, के की, कै, केरी, करौ ।
अधिकरण—मद्धि, मधि, मझिं, मांहि, माहि, महिं, महि, में, मं, पर, में ।

अब कलापक्ष का विवेचन किया जाए ।

कलापक्ष—कलापक्ष का अर्थ है भाषा, छन्द, अलंकार एवं अभिव्यक्ति की शैली । चन्द को षड्भाषाविद् कहा गया है । यह ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि

उनकी भाषा से इस बात के उदाहरण मिलते हैं कि वे चाहें तो संस्कृत-गर्भित, चाहें प्राकृत या अपभ्रंश गर्भित या शुद्ध डिंगल में समान सरलता के साथ लिख सकते थे। चन्द की भाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा राजस्थानी के शब्द अधिक मिलते हैं । उनकी रचना में अरबी, फारसी शब्द भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। चन्द की भाषा की सब से बड़ी विशेषता है उसका रसानुकूल होना। शब्दों में भी ध्वन्यात्मकता तथा एक अद्भुत प्रवाह चन्द की भाषा में स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है।

छन्द—छन्दों के तो चन्द सम्राट् हैं। जितने छन्दों पर चन्द का अधिकार है, उन्होंने जितने छन्दों का प्रयोग किया है शायद ही किसी अन्य कवि ने इतने अधिक छन्दों की सफलतापूर्वक रचना की हो। चन्द को दोहा और कवित्त (छप्पय) दो छन्द विशेष प्रिय हैं। छप्पय (कवित्त) उनकी टक्कर के आजतक कोई न लिख सका। वैसे चन्द की कृतियों में यों कहीं-कहीं छन्दोभंग मिलता है परन्तु इसमें चन्द से अधिक दोष काल और लिपिकारों का है। चन्द छन्द के पण्डित तो हैं ही, पारखी भी बड़े उद्भट हैं। उन्होंने भावानुकूल और रसानुकूल छन्द परिवर्तन किया है। चन्दबरदाई ने जिन छन्दों का प्रयोग किया है उनमें कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, साटक, बथुआ, भुजंगप्रयात, पद्धरी, भुजंगी, रसवला, गुरिल्ल, अरिल्ल, मलया, हनूवात, विराज आदि प्रमुख है।

अलंकार—जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है, चन्द ने अलंकारों के लिए अलंकार का प्रयोग कभी नहीं किया। जहाँ स्वाभाविक रूप में अलंकार आ गए हैं, आ गये हैं। चंद की रचना में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों की प्रमुखता है। वास्तव में बात यह है कि उपरोक्त अलंकार चमत्कार-प्रधान न होकर अर्थ-गाम्भीर्य और भावोन्मेष के गुण से युक्त होते हैं। अनुप्रास का भी प्रचुर प्रयोग चन्द ने किया है। चन्द में भाषा का वह संगीत भी है जो विद्यापति, पद्माकर, भूषण, रत्नाकर आदि प्रथम कोटि के कवियों में मिलता है । चंद के भाषा-चमत्कार, भाषा-प्रवाह, अनुप्रास, ध्वन्यात्मकता, संगीतात्मकता आदि के लिए उनके वर्णन के निम्नांकित पद को पुनः उद्धृत करने का अपराध करना भी बुरा नहीं लगता। निम्नांकित पद इस बात की उच्चस्वर में घोषणा करता है कि चन्द

प्रथम कोटि के कवियों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। वे महान् भाषा-शिल्पी और महानतर भावज्ञ हैं। वर्षा वर्णन के इस उद्धरण के साथ हम यह निबन्ध समाप्त करते हैं। अनुप्रास, संगीत तथा ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से रेखांकित शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

द्रिग भरित धूमिल जुरित भूमिल कुमुद मिझल सोभितं।
द्रुम अंग वल्लिय सीस हल्लिय कुरिल कंठह कोकिलं ॥ (वृत्त्यनुप्रास)
कुसुमंज कुजि सरीर सुझर सलित दुझर सद्दयं।
नद रोर दद्दुर मोर नद्दुर बनसि बद्दरि वद्दयं ॥ (वृत्त्यनुप्रास)
झम झमकि बिज्जल काम किंजल्ल श्रवनि सज्जल कद्दयं।
पप्पीह चीहति जीह जंजरि मोर मंजरि मद्दयं।
जगमगति झिंगनि निसि सुरंगनि भय अभय हृद्दयं।
मिति दसं इसे सुवास सुन्दरी उरसि आनन मिद्दयं ॥

पृथ्वीराज

पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १६०६ मार्गशीर्ष में हुआ था। इनके पिता का नाम कल्याणमल और पितामह का नाम जैतसी था। वैसे पृथ्वीराज बीकानेर राज्य के संस्थापक इतिहास प्रसिद्ध राव बीका जी के वंशज हैं। पृथ्वीराज अकबर के दरबार में थे और प्रायः आगरा में ही रहते थे। इनके बड़े भाई महाराज रायसिंह भी अकबर के प्रसिद्ध सेनापति थे। पृथ्वीराज प्रतिभाशाली कवि तो थे ही साथ ही बड़े विद्वान् भी थे। दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, छंदशास्त्र, संगीतशास्त्र तथा साथ ही साथ संस्कृत-साहित्य के ये प्रकांड विद्वान् थे। पृथ्वीराज उच्चकोटि के भक्त भी थे। भक्तप्रबर नाभादास ने पृथ्वीराज का नाम अपनी 'भक्तमाल' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में दिया है और इनकी बड़ी प्रशंसा की है।

"सवैया" गीत, श्लोक, बेलि, दोहा गुण नवरस।
डिंगल काव्य प्रमाण विविध विधि गायो हरिजस ॥

परि दुख विदुष सश्लाध्य वचन रसना जु उचारैं ।
अर्थ विचित्रन मोल सबै सागर उद्धारैं ॥
रुक्मिणी लता वर्णन अनूप वागीश वदन कल्याण सुव ।
नरदेव उभय भाषा निपुण प्रथीराज कविराज हुव ॥

अकबर स्वयं पृथ्वीराज का बड़ा आदर करते थे । पृथ्वीराज की यह विशेषता थी कि राज्याश्रित होते हुए भी चापलूस नहीं थे । जो मन में आता था निर्भय होकर कहते थे । एक बार की घटना है कि महाराणा प्रताप ने कठिनाइयों से तंग आकर अकबर को एक संधिपत्र लिखा । अकबर के हर्ष का फिर क्या ठिकाना, लगा दरबार में ही डींग मारने । पृथ्वीराज से यह सहन नहीं हुआ । उन्होंने तुरन्त आत्मविश्वास के साथ प्रतिवाद किया और कहा :—

"जहाँपनाह सागर मर्यादा, हिमालय गौरव और सूर्य तेज को भले ही छोड़ दें परन्तु शरीर में बल, नसों में रक्त और हाथों में तलवार रहते तक प्रताप अपने प्रण को कदापि न छोड़ेंगे, आपकी अधीनता कदापि स्वीकार न करेंगे । मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेवाड़ और भारत का ही क्या समस्त संसार का राज्य भी यदि प्रताप के पांवों तले रख दिया जाय तो वह उसे भी ठुकरा देंगे । स्वतंत्रता के सामने प्रताप की दृष्टि में राज्य-सम्मान, राज्याधिकार और राज्यवैभव का कोई मूल्य एवं महत्व नहीं है ।"

पृथ्वीराज ने स्वयं बात का पता लगाने की आज्ञा चाही और एक पत्र प्रताप को लिखा जिसका ऐतिहासिक महत्व है । उसमें उन्होंने लिखा कि "प्रताप ! यदि तुम्हीं पराधीनता की बेड़ियाँ अपने गले में पहन लोगे तो ये सारी हिन्दू जाति जो आज विपन्न होते हुए भी केवल तुम्हारे भरोसे गर्वोन्नत मस्तक लिए खड़ी है किसकी ओर देखेगी ।" पृथ्वीराज ने यह भी लिखा कि आज का दिन, यदि आपके पत्र की बात ठीक है तो, मेरे लिए जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण दिन है । इसके अतिरिक्त उन्होंने महाराणा प्रताप को यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि उन के आत्मसमर्पण कर देने से उनके जीवन भर का तप, यश, वीरता और साधना समाप्त हो जाएगी—व्यर्थ हो जाएगी । लोग उन्हें साधारण व्यक्ति समझने लगेंगे । राजपूती आन, माता के दूध और पत्नी के सिंदूर के नाम पर पृथ्वीराज ने प्रताप से प्रार्थना की कि वह अकबर के दरबार में पहुँचे पत्र के प्रति

अपना असम्बन्ध घोषित कर दें। प्रताप पत्र से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अकबर से कहला भेजा कि वह पत्र जाली है। उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और सदा की भाँति तब भी वह उस का स्वागत समरांगण में करने के लिए सदैव प्रस्तुत है। अकबर की सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर गया। इस इतनी बड़ी घटना का श्रेय वास्तव में पृथ्वीराज को ही है।

एक बड़ी विचित्र बात यह है कि अकबर के दरबार में रहते हुए भी पृथ्वीराज ने कभी भी प्रताप के विरुद्ध एक पंक्ति भी नहीं लिखी। इतना ही नहीं, अकबर की प्रसन्नता या अप्रसन्नता की चिन्ता किए बिना उन्होंने सदैव प्रताप की प्रशंसा में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया। प्रताप उन दिनों एक राजपूत नरेश के रूप में नहीं वरन् आततायी एवं उत्पीड़क विदेशी विधर्मी मुसलमानों के विरोधी होने के कारण भारतीय स्वतंत्रता के एक मात्र प्रतीक थे। इसलिए उस काल के विभिन्न राज्याश्रित कवियों ने प्रताप की प्रशंसा करके अपना पाप प्रक्षालन किया है। ऐसा तो शायद हिन्दू या अहिन्दू एक भी कवि नहीं मिलता जिसने प्रताप की अप्रशंसा या निन्दा की हो। पृथ्वीराज के प्रताप की प्रशंसा के कुछ दोहे यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। उन दोहों से अकबर और प्रताप की अनायास तुलना हो जाती है और कवि की निर्भयता एवं स्वदेशाभिमान पर प्रकाश पड़ता है:—

माई एहड़ा पूत जण, जेहणा राण प्रताप।
अकबर सूतो औंझकै, जाण सिराणों साँप॥

(हे माता राणा प्रताप जैसे पुत्रों को जन्म दे जिनको सिरहाने का साँप समझ कर अकबर सोते-सोते चौंक उठता है अर्थात् अकबर जैसा चक्रवर्ती सम्राट् भी उससे भयभीत रहता है।)

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी॥

(अकबर वीरता रूपी जल से भरा अथाह समुद्र है किन्तु महाराणा प्रताप उस समुद्र में भी कमल के फूल के सदृश है अर्थात् वह अकबर के प्रभाव से आक्रान्त नहीं है उससे सदैव ऊपर रहता है।)

चम्पो चीतोड़ाह, पोरस तणों प्रताप सी।
सौरभ अकबर साह, अड़ियल आभड़ियो नहीं ।।

(अकबर, महाराणा प्रताप के सौरभ से युक्त पराक्रम रूपी चम्पे के वृक्ष पर नहीं आता । प्रसिद्ध है कि चम्पा के पास जाने पर भौंरे की मृत्यु हो जाती है, अकबर भी जानता है कि महाराणा का नैकट्य मेरे जीवन नाश का कारण होगा ।)

पृथ्वीराज ने दो विवाह किये थे । इनकी पत्नी का नाम लालादे था । लालादे परम लावण्यमती, सुशीला एवं पतिपरायणा स्त्री थी । पृथ्वीराज उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करते थे किन्तु लालादे की असमय मृत्यु ने पृथ्वीराज के सुखपूर्ण जीवन को दुःख के श्मशान में बदल दिया । पृथ्वीराज ने दूसरा विवाह किया । उन्हें आशा नहीं थी कि अब लालादे का अभाव कभी दूर हो सकेगा किंतु कभी-कभी सत्य कल्पना से अधिक आश्चर्यजनक होता है । इनकी नयी पत्नी जैसलमेर के रावल हरराज की कन्या चाँपादे रूप गुण में पहली पत्नी से भी बढ़-चढ़कर निकलीं और उन्हें पाकर पृथ्वीराज सब कुछ भूल गये । विशेष बात यह भी थी कि चाँपादे एक अच्छी कवयित्री थीं । पति-पत्नी काव्य-चर्चा में अपना समय बिताते थे ।

एक दिन पृथ्वीराज बालो में कंघी कर रहे थे कि उन्हें अपनी दाढ़ी में एक सफेद बाल दिखाई दिया । उन्होंने उसे तोड़कर फेंक दिया । चाँपादे छिप कर इस लीला का आनन्द ले रही थी और मुँह फेर कर हँस रही थी । अचानक पृथ्वीराज ने उसका प्रतिबिम्ब देख लिया और लज्जा मिश्रित स्वर में निम्नांकित दोहा कहा:—

पीथल धौला आविया, बहुली लग्गी खोड़ ।
कामण मत्त गयंद ज्यूँ, ऊभी मुक्ख मरोड़ ।।

(हे पृथ्वीराज ! बड़ा खोट यह हुआ है कि तुम्हारे सफेद बाल आ गये हैं । तुम्हारी प्रेमिका मस्त हाथी के समान खड़ी हँस रही है । अर्थात् मेरी वृद्धावस्था के कारण यह मुझ से विरक्त हुई प्रतीत होती है ।)

पृथ्वीराज की ग्लानि मिटाने के लिए चाँपादे ने प्रत्युत्तर में तुरन्त यह दोहा कहा:—

हल तो धूना धोरियाँ, पन्थज गग्घाँ पाव।
नरां तुरां अर बनफलाँ, पक्काँ-पक्काँ साव ।।

(हल के लिए अभ्यस्त और पुराने बैल अच्छे रहते हैं और मार्ग चलने में भी पुराने (अभ्यस्त) पैर ही अधिक काम के होते हैं । इसी प्रकार आदमी, घोड़े और वन के फल पकने पर ही रस देते हैं अर्थात् वे बढ़ती हुई अवस्था के साथ श्रेष्ठतर होते जाते हैं ।)

पृथ्वीराज के विषय में कितनी ही किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं । कहते हैं एक बार अकबर ने इनसे पूछा "तुम्हारे तो कोई पीर वश में मालूम होता है, बताओ तुम्हारी मृत्यु कब और कहाँ होगी ?" पृथ्वीराज ने उत्तर दिया "मथुरा के विश्रान्त घाट पर और उस समय एक सफेद कौवा प्रकट होगा ।" पृथ्वीराज की बात को असत्य सिद्ध करने के लिए अकबर ने उन्हें राजकार्य के मिस अटक पार भेज दिया किन्तु इसी बीच में एक बड़ी विचित्र घटना घटी । एक भील एक दिन चकवा-चकवी के एक जोड़े को दिल्ली के बाजार में बेचने के लिए लाया । पक्षियों को एक साथ बन्द देख किसी ने विनोद में पूछा—"रात में तुम कहाँ थे ।" सहसा दोनों पक्षी मानव भाषा में बोल उठे—"इसी पिंजरे में ।" अकबर तक इस घटना की खबर पहुँची । अकबर ने तुरन्त उस भील को दरबार में बुलाया और कहा कि भील ने यद्यपि इन्हें शत्रुतावश ही बेचने के लिए पकड़ा था परन्तु ऐसे शत्रु पर तो करोड़ों मित्र भी न्यौछावर हैं । नवाब खानखाना रहीम ने, जो उस समय वहीं उपस्थित थे, अकबर के भाव को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया :—

सज्जन वारूं कोड़धाँ या दुर्जन की भेंट ।।

किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी खानखाना इसकी दूसरी पंक्ति न बना सके । अन्त में हारकर अकबर ने पृथ्वीराज को बुलाने की सूचना भेजी । पृथ्वी-राज ठीक पन्द्रहवें दिन मथुरा पहुँचे । उनकी मृत्यु की घड़ी सन्निकट थी । मरने से पहिले उन्होंने अकबर को एक पत्र लिखा जिसमें अधूरे दोहे की दूसरी पंक्ति भी थी और शांतिपूर्वक प्राण त्याग दिये । उनकी मृत्यु के समय एक सफेद कौवा वहाँ प्रकट हुआ । अकबर के भेजे हुए कर्मचारियों ने यह घटना अपनी आँखों से देखी और अकबर से जाकर ज्यों की त्यों कह दी । दोहे की

दूसरी पंक्ति जो पत्र में उन्होंने लिखी थी, इस प्रकार थी :—

"सज्जन वारूं कोड़धाँ, या दुर्जन की भेंट । (प्रथम पंक्ति)
रजनी का मेला किया, वेह के अच्छर मेट ।।" (पृथ्वीराजकृत)

यह घटना वि० सं० १६५७ की है।

पृथ्वीराज ने डिंगल भाषा में कई पुस्तकें लिखी हैं किन्तु उन सब में 'वेलि किसन रुक्मिनी री' श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त दशरथ रावउत, वंसदे रावउत, तथा गंगा लहरी नामक ग्रन्थों की भी रचना उन्होंने की। प्रेम दीपिका तथा 'श्री कृष्ण रुक्मिणी चरित्र' नामक ग्रन्थों के लेखक भी यही बताये जाते हैं। 'वेलि किसन रुक्मिनी री' निश्चित रूप से पृथ्वीराज की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इनकी यह रचना शृंगाररस प्रधान है और इतनी अधिक सफल एवं मार्मिक है कि हिन्दी में भी शायद ही कोई खण्डकाव्य इस कोटि का निकले। श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया का इस ग्रन्थ के विषय में कथन है :—

"वेलि किसन रुक्मिनी री" इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह एक खंड-काव्य है जो ३०५ छंदों में समाप्त हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है और भाव, भाषा, माधुर्य, ओज और विषय सभी दृष्टियों मे अपने रंग-ढंग का अप्रतिम है। हिन्दी में तो ऐसा प्रौढ़ और काव्यांगों से परिपूर्ण खण्डकाव्य अभी तक एक भी नहीं लिखा गया। इसकी भाषा बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं ललित है और कविता इतनी भावमयी, इतनी सरस और इतनी कलापूर्ण है कि पढ़ते ही मन मुग्ध हो जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि डिंगल वीररस के लिए जितनी उपयुक्त है उतनी शृंगार रस के लिए नहीं। परन्तु यह उनकी भ्रांति है। पृथ्वीराज का यह ग्रन्थ इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि डिंगल में शृंगार की भी अत्युच्च सुमधुर, प्रौढ़ और विशिष्ट रचना हो सकती है।

पृथ्वीराज एक रससिद्ध कवि हैं। शृंगार तथा वीर के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में अन्य रसों का भी सुन्दर परिपाक मिलता है। इनके दोहे इतने ओजगुण विशिष्ट एवं वीररस पूर्ण होते है कि पाठक एक बार आन्दोलित हो जाता है, वह कविता के साथ बह जाता है। अपने वीर रस के कारण पृथ्वीराज राजस्थाच में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाड का इनके

विषय में कथन है कि "पृथ्वीराज की कविता में दस हजार घोड़ों का बल है।" पृथ्वीराज की इन विशेषताओं के अतिरिक्त सब से बड़ी विशेषता है—इनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण। अकबर के आश्रित होते हुए भी इन्होंने महाराणा प्रताप की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, उन्हें हिन्दू जाति का उद्धारक और महापुरुष बताया है। जीवन भर पृथ्वीराज ने अकबर के कुकृत्यों में कभी सहयोग नहीं दिया। उनके कुछ दोहों से तो अकबर के प्रति उनकी घृणा और आक्रोश तक व्यक्त होता है।

इनकी वीर रस की रचना के कुछ उदाहरण देना प्रसंगानुकूल ही होगा—

(यहाँ उद्धृत दोहों का अर्थ 'डिंगल की कुछ महत्वपूर्ण कवितायें' के अन्तर्गत दिया जायगा।)

धर वाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण ॥
घणं नरिंदा घेरियो, रहे गिरंदा राण ॥१॥
पातळ पाघ प्रमाणं, साँसी साँगाहर तणी ।
रही सदा लग राण, अकबर सूं ऊभी अणी ॥२॥
अइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा ।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी ॥३॥
सह गावड़ियो साथ, एकड़ बाड़े बाड़ियो ।
राण न मानी नाथ, ताँडै साँड प्रतापसी ॥४॥
पहु गोधळिया पास, आळूधा अकबर तणी ।
राणो षिमै न रास, प्रधळो साँड प्रतासी ॥५॥
वाही राण प्रतापसी, बरछी लघपच्चांह ।
जाणक नागण नीसरी, मुँह भरियो बच्चाँह ॥६॥

दुरसा जी

दुरसा जी का जन्म वि० सं० १५९२ में मारवाड़ राज्यान्तर्गत धूँदला नामक ग्राम में एक निर्धन चारण परिवार में हुआ था। ये आढ़ा गोत्र के चारण थे। इनके पिता का नाम मेहाजी और पिता का नाम अमराजी था। बहुत ही छोटी अवस्था (६ वर्ष) में इनके पिता का देहावसान हो गया अतः दुरसा जी को बाल्यकाल में ही एक किसान के यहाँ नौकरी करनी

पड़ी। किंवदन्ती है कि एक बार जब दुरसा जी किसान के खेत में काम कर रहे थे ठाकुर प्रतापसिंह (महाराणा प्रताप नहीं) उधर निकले। उन्होंने दुरसाजी से कुछ देर तक बातें कीं। ठाकुर साहब बात करते समय दुरसाजी से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें होनहार व्यक्ति समझकर अपने साथ ले आए। ठाकुर साहब ने इनकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध करा दिया। जब दुरसाजी पूर्ण शिक्षित हो गये तो उन्होंने इन्हें अपने सेनापति और प्रधान परामर्शदाता के पद पर नियुक्त कर लिया।

एक बार सम्राट् अकबर सोजत के रास्ते होकर आगरे से अहमदाबाद जा रहा था तो दुरसाजी की अकबर से भी भेंट हुई। सोजत अकबर की इस लम्बी यात्रा में विश्राम पड़ाव था, और सोजत से गूंदोच के शिविर तक के मार्ग-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व प्रतापसिंह ठाकुर के ऊपर था। प्रतापसिंह ने इस उत्तरदायित्वपूर्ण काम को दुरसाजी को ही सौंप दिया। दुरसाजी ने प्रबन्ध इतने सुन्दर और सुचारु रूप से किया कि बादशाह अकबर बहुत प्रभावित हुआ और पुरस्कार स्वरूप बादशाह ने इन्हें लाख पसाव (१ लाख का पुरस्कार) तथा एक प्रशंसापत्र देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। यहाँ से दुरसाजी के जीवन में एक नया मोड़ आया। शाही दरबार में दुरसाजी का प्रवेश हुआ। अकबर द्वारा इन्हें सम्मानित देखकर अन्य राजा भी इनका सम्मान करने लगे।

दुरसाजी उच्चकोटि के कवि तो थे ही उच्चतर कोटि के वीर भी थे। बादशाह इन्हें यदाकदा लड़ने के लिए भी भेज देता था। वि० सं० १६४० की बात है। जगमल सीसोदिया की सहायता के लिए बादशाह ने अपनी एक सेना सिरोही के राव सुरताण के विरुद्ध भेजी। दुरसा जी इस सेना के साथ थे। आबू के निकट विरोधी सेनाओं में भयंकर घमासान हुआ। इस युद्ध में अकबर के पक्ष के रायसिंह, कोलीसिंह, जगमल आदि वीर मारे गए और दुरसाजी भी बुरी तरह घायल हुए। संध्या समय जब राव सुरताण अपने कुछ सहायकों के साथ युद्ध-स्थल का निरीक्षण कर रहे थे तो उन्होंने घायल दुरसाजी को वहाँ पड़े देखा। शत्रु का आदमी समझकर उनकी जीवन-लीला समाप्त करने के लिए उनमें से एक ने तलवार निकाली।

दुरसाजी अचानक बोल पड़े—'मैं राजपूत नहीं, चारण हूँ, मुझे मत मारो।' उन लोगों ने अपना विश्वास पक्का करने के लिए इनकी उचित परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने कहा कि यदि तुम चारण हो तो समरा देवड़ा की प्रशंसा में जो हाल ही में वीर गति को प्राप्त हुआ है, कुछ कविता के रूप में कहो। दुरसाजी ने तुरन्त निम्नांकित दोहा बना कर उन्हें सुनाया—

धर रावां जस डूँगरां, ब्रद पोतां सत्रु हाण।
समरे मरण सुधारियो, चहुँ थोकाँ चहुआण॥

(चौहान समरा ने चारों प्रकार से अपनी मृत्यु को सार्थक किया, १. राव सुरताण की भूमि की रक्षा की, २. पहाड़ों की प्रशंसा करवाई, ३. अपने वंश वालों के लिए सम्मान छोड़ गया और ४. शत्रुओं को हानि पहुँचाई।)

दुरसाजी की की कविता सुनकर राव सुरताण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सादर उन्हें युद्धस्थल से उठया कर ले गया और उनको उचित चिकित्सा की। स्वस्थ हो जाने पर दुरसाजी थोड़े ही दिन राव सुरताण के यहां रहे बाद में फिर अकबर के यहाँ चले गये।

दुरसाजी के विषय में राजस्थान में कई बातें प्रसिद्ध हैं जिनसे इनके अगाध देशप्रेम, स्वतन्त्र-प्रकृति तथा ऊँचे व्यक्तित्व का पता चलता है। प्रसिद्ध है कि जिस समय अकबर के दरबार में महाराणा प्रताप की मृत्यु का संदेश पहुँचा उस समय दुरसाजी वहाँ उपस्थित थे। अकबर अपने महान् शत्रु के अवसान से बहुत दुःखी हुआ और उसकी आँखों में आँसू छलछला आये। अकबर अत्यन्त दुखी और शून्य दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखने लगा। दुरसाजी ने अकबर के हृदय की वेदना को समझकर निम्नांकित छप्पय कहा:—

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गौ आड़ा गवड़ाय, जिको बहतो धुर वामी॥
नवरोजे नह गयो, न गौ आतसाँ नवल्लो।
न गौ झरोखाँ हेठ, जेथ दुनियांण दहल्लो॥
गहलोत राण जीती गयो, दसण मूंद रसणा डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत साह प्रतापसी॥

(हे गहलौत वंशीय राणा प्रताप! तेरे जीवनावसान पर अकबर ने दाँतों के बीच जीभ दबाकर दीर्घ श्वास लेते हुए आँसू टपकाए। हे प्रताप तूने कभी

अपने घोड़े को दाग नहीं लगने दिया, अपनी पगड़ी को किसी दूसरे के सामने झुकाया नहीं, तू अपने यश के गीत दूसरों से गवा गया। तू राज्य के धुरे को बाँये कन्धे से चलाता रहा, न कभी नौरोज में आया न शाही डेरों में और न कभी शाही झरोखों के नीचे ही खड़ा रहा, संसार तेरे प्रताप से आतंकित था। इसलिए सब प्रकार से विजयी तू ही रहा।)

लोगों ने सोचा, अकबर अवश्य ही दुरसाजी से क्रुद्ध हो जायगा परन्तु अकबर ने इसके विपरीत दुरसा जी को पुरस्कृत किया और कहा कि मेरे हृद्गतभावों को केवल ये ही समझ सके हैं।

पृथ्वीराज की भाँति दुरसा जी ने भी दो विवाह किये थे। इनके चार पुत्र थे—भारमल जी, जगमल जी, सादूल जी और किसना जी। वृद्धावस्था में अपने बड़े पुत्र भारमल जी के साथ इनका कुछ मनमुटाव हो गया था अतः दुरसाजी अपने अन्तिम दिनों में अपने सब से छोटे पुत्र किसनाजी के साथ पाँचेटिया (मारवाड़) में रहते थे। यहीं पर १२७ वर्ष की लम्बी आयु भोगने के पश्चात् वि० सं० १७१२ में इनका देहावसान हुआ। पाँचेटिया में जिस स्थान पर इनका अग्निसंस्कार हुआ वहाँ पर अभी तक एक मन्दिर बना हुआ है। आबू के अचलेश्वर महादेव के मंदिर में शिवजी की प्रतिमा के समक्ष इनकी भी सर्वधात की एक मूर्ति बनी हुई है।

दुरसाजी बड़े भाग्यशाली कवि थे। दुरसाजी ने अपने जीवन में निर्धनता और सम्पन्नता दोनों की चरम सीमा देखी थी। लोगों का कहना है कि सरस्वती के माध्यम से जीवन में लक्ष्मी यही प्राप्त कर सके। शायद ही किसी दरबारी कवि को इतना पैसा मिला हो, जितना दुरसाजी को। कविता के द्वारा अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त करने वाले महाकवि भूषण भी इनकी तुलना में हल्के ही बैठते हैं। मेवाड़ के प्रसिद्ध इसिहासकार कविराज श्यामलदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वीर-विनोद में लिखा है कि अकबर ने इनको छः करोड़ रुपया दिया था तथा बीकानेर के महाराजा राजसिंह, जयपुर के महाराज मानसिंह और सिरोही के राव सुरताण ने इन्हें एक-एक करोड़ पसाव दिया था। छोटे-छोटे गाँव और लाख पसाव तो इन्हें कितने ही राजाओं से मिले थे। प्रसिद्ध है कि अकबर के दरबार में इन्हें वह स्थान प्राप्त था जिसके लिए बड़े-बडे राजा-महाराजा लालायित रहते थे।

दुरसाजी एक प्रतिभावान् कवि थे, इसमें कोई संदेह नहीं और ये जितनी लम्बी आयु भोग कर मरे उससे यह अनुमान लगा लेना भी सहज है कि इन्होंने बहुत बड़े परिमाण में साहित्य सृजन किया होगा । किंतु अब तक जो इनका साहित्य प्राप्त हुआ है वह प्रकार में प्रथम कोटि का होते हुए भी परिमाण में अधिक नहीं है । अब तक प्राप्त उनकी साहित्य-सामग्री इस प्रकार है :—

१. बिरुद छहत्तरी ।

२. कुमार श्री अजाजी नी सुचर मोरी नी गजगत ।

३. कुछ फुटकर गीत और छप्पय आदि ।

दुरसाजी राजस्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में से हैं। शायद ही ऐसा कोई राजस्थानी होगा जिसे इनकी दो चार कवितायें कंठाग्र न हों । दुरसाजी हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के अनन्य उपासक थे । इसलिए अकबर के दरबार में रहते हुए भी हिन्दूधर्म-रक्षक और देशभक्त राणा प्रताप के सम्मान में ये सदैव काव्य रचना करते रहे । इनकी बिरुद छहत्तरी के विषय में श्री मोतीलालजी मेनारिया का कथन है कि :—

"कहने को तो बिरुद छहत्तरी में महाराणा प्रताप के यश का वर्णन है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से उसके अन्तराल में हमें मुगल शासन के विरुद्ध होने वाली क्रान्ति की मूलभूत उस गुप्त और सूक्ष्म चिन्गारी का आभास मिलता है जो शनैः शनैः बढ़ती हुई औरंगजेब के समय में अति विकराल अग्नि-ज्वाला का रूप धारण कर लेती है और अंत में विशाल मुगल साम्राज्य को भस्मीभूत कर उसे धूल में मिला देती है ।

दुरसाजी की कविता प्रसाद गुण युक्त और गंभीर एवं मार्मिक भावों से ओतप्रोत है । शब्दाडम्बर से ये दूर रहने वाले हैं । 'हृदय से निकली बात हृदय पर असर करती है', 'इनकी कविता इस कहावत का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है ।

यहाँ दुरसाजी की भावपूर्ण कविताओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं— (निम्नांकित कविताओं का अर्थ 'डिंगल की कुछ महत्वपूर्ण कवितायें' के अन्तर्गत देखिए ।)

"अकबर गरब न आँण, हींदू सह चाकर हुवा ।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कठहड़े ॥१॥

कदे न नामैं कंध, अकबर ढिग आवे न ओ ।
सूरज वंस संबंध, पालै राण प्रतापसी ॥२॥
अकबर पाथर अनेक, कै भूपत भेला किया ।
हाथ न लागो हेक, पारस राण प्रतापसी ॥३॥
सुष हित स्याळ समाज, हिन्दू अकबर बस हुवा ।
रोसीलो मृगराज, पजै न राण प्रतापसी ॥४॥
जाणै अकबर जोर, तो पिण ताणैं तोर तिड़ ।
जाणै अकबर जोर, तो पिण ताणैं तोर निड़ ।
आ बलाय हैं और, पिसणां षोर प्रतापसी ॥५॥
अकबर हिये उचाट, रात दिवस लागी रहै ।
रजवट बट समराट, पाटक राण प्रतापसी ॥६॥
अकबर घोर अंधार, ऊंघाणां हीन्दू अवर ।
जागै जग दातार, पोहरै राण प्रतापसी ॥७॥
अकबर समंद अथाह, तिहिं डूबा हिन्दू तुरक ।
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी ॥८॥
ढिग अकबर दल ढाण, अग अग झगड़े आथड़ै ।
मग मग पाड़ै माग, पग पग राण प्रतापसी ॥९॥
अकबर मैगळ अच्छ, मांझळ दळ घूमै मसत ।
पंचानन पळ भच्छ, पटकै छड़ा प्रतापसी ॥१०॥
मन री मन रै माहिं, अकबर रै रहगी इकस ।
नरवर करिए नाहिं, पूरी राण प्रतापसी ॥११॥

बाँकीदास

कविराज बाँकीदास का जन्म मारवाड़ राज्यान्तर्गत पंचभदरा परगने के भड़ियावास गाँव में वि० सं० १८२८ में हुआ था । इनके पिता फतहसिंह भी डिंगल भाषा के अच्छे कवि थे । ये आशिया शाखा के चारण थे। बाँकीदास की आरम्भिक शिक्षा उनके घर पर ही हुई । बाद में ये जोधपुर चले गये और विभिन्न विद्वानों से इन्होंने काव्य-ग्रन्थ, व्याकरण, तथा साहित्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया । वि० १८६० में इनकी भेट जोधपुर के तत्कालीन

नरेश मानसिंह से हुई। महाराजा मानसिंह बड़े गुणग्राहक थे। इन्होंने बाँकीदास की प्रतिभा को परख लिया और उन्हें अपने राजकवियों में स्थान दिया। बाद में महाराजा मानसिंह इनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि इन्हें अपना गुरु ही बना लिया और इसके फलस्वरूप बाँकीदास को इन्होंने कविराजा की उपाधि, पाँव में सोना, ताजीम आदि देकर सम्मानित किया। गुरु शिष्य का सम्बन्ध सूचित करने की दृष्टि से महाराजा ने इन्हें राजकीय कागजपत्रों पर मुहर लगाने का सम्मान भी दे रखा था। मुहर पर निम्नांकित शब्द अंकित थे:—

श्रीमान् मान धरणिपति, बहुगुन रास।
जिन भाषा गुरु कीन्हौं बाँकीदास।

बाँकीदास कई भाषाओं में पारंगत थे यथा संस्कृत, डिंगल, फारसी, तथा ब्रजभाषा आदि। इसके अतिरिक्त उन्हें इतिहास का भी बड़ा गम्भीर और असाधारण ज्ञान था। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बार ईरान का कोई सरदार भारत भ्रमण करता हुआ जोधपुर आया और महाराजा मानसिंह से भेंट करते समय उसने कहा कि यदि आपके यहाँ कोई अच्छा इतिहासवेत्ता हो तो मैं उससे मिलना चाहूँगा। महाराजा मानसिंह ने उसे बाँकीदास के पास भेज दिया। ईरानी सरदार बाँकीदास के इतिहासविषयक अथाह और अपार ज्ञान तथा काव्य-चमत्कार देखकर स्तम्भित रह गया। उसने महाराजा मानसिंह से बाँकीदास से हुई भेंट के विषय में बताया। जो कुछ बताया उससे बाँकीदास के तद्विषयक ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। ईरानी सरदार ने कहा कि मैं अनेक स्थानों पर घूमा हूँ और अनेकों असाधारण विद्वानों से मिला हूँ किन्तु यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं होता कि बांकीदास के समान इतिहासज्ञानसम्पन्न व्यक्ति मैंने जीवन में दूसरा नहीं देखा। मैं ईरान देश का रहने वाला हूँ किन्तु वे ईरान देश के इतिहास के विषय में मुझसे अधिक ज्ञान रखते हैं। असाधारण इतिहासज्ञ होने के साथ-साथ वे अद्भुत कवि भी हैं।

बाँकीदास की मृत्यु जोधपुर में ही वि० सं० १८९० में हुई। इनकी मृत्यु से महाराज मानसिंह को जो मर्मान्तिक वेदना हुई उसकी गहराई को अपने

अन्तराल में निम्नांकित पक्तियाँ आज भी सुरक्षित रखे हुए हैं:—

सद्विद्या बहुसाज, बाँकी थी बाँका बसु ।
कर सूधी कविराज, आज कठीगो आशिया ॥१॥
विद्याकुळ विख्यात, राजकाज हर रहसरी ।
बाँका तो बिण बात, आगळ मनरी कहाँ ॥२॥

(हे बाँकीदास ! तेरी सुविद्या रूप सामग्री के कारण पृथ्वी पर बहुत बाँकापन (अद्भुतता) था । हे आशिया आज उसे सीधी करके तू कहाँ चला गया ? विद्या और कुल में प्रसिद्ध हे बाँकीदास ! तेरे बिना राजकार्य की प्रत्येक गुप्त बात किसके समक्ष कहें ।)

बाँकीदास ने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं । उनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का उद्धार काल के रहस्य गर्भ से कर लिया गया है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता । फिर भी जितने ग्रन्थ बाँकीदास कृत—मिले हैं, उनकी संख्या भी कम नहीं हैं । इनके प्राप्त ग्रन्थ निम्नांकित हैं :

१-सूर छत्तीसी, २-सीह छत्तीसी, ३-वीर विनोद, ४-धवल पच्चीसी, ५-दातार बावनी, ६-नीतिमंजरी, ७-सुपह छत्तीसी, ८-वैसक वार्ता, ९-मावड़िया मिजाज, १०-कृपण दर्पण, ११-मोहमर्दन, १२-चुगलमुख चपेटिका, १३-वैस वार्ता, १४-कुकवि बत्तीसी, १५-विदुर बत्तीसी, १६-भुरजाल भूषण, ७-गंगा लहरी, १८-झमाल नखसिख, १९-जेहल-जस-जड़ाव, २०-सिद्धराव छत्तीसी, २१-संतोष बावनी, २२-सुजत छत्तीसी, २३-वचन - विवेक-पच्चीसी, २४-कायर बावनी, २५-कृपण पच्चीसी, २६-हमरोट छत्तीसी, २७-स्फुट संग्रह आदि ।

उपरोक्त ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित किये जा चुके हैं । इसके अतिरिक्त इनके और पांच-सात ग्रन्थों का पता अभी हाल ही में लगा है ।

इनकी कविता के सम्बन्ध में श्री मोतीलाल मेनारिया के निम्नांकित विचार उद्धरणीय हैं :—

"वृन्द, गिरधर कविराय आदि हिन्दी के सूक्तिकार कवियों के समान बांकीदास की रचना में भी उपदेशात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता दृष्टिगत होती है ।

निस्सन्देह इन्होंने थोड़ी सी ऐसी कवितायें भी लिखी हैं जिनमें इनके आश्रयदाता महाराज मानसिंह तथा उनके पूर्वजों के कीर्ति-कलापों के गीत गाए गये हैं। पर इन कविताओं का साहित्यिक दृष्टि से इतना मूल्य नहीं है जितना इतिहास की दृष्टि से है। इनकी कविता के मुख्य विषय हैं शूर, कायर, दानी, मूंजी, विदुर, संतोष, चुगलखोर, कुकवि इत्यादि। इन विषयों के वर्णन में इन्होंने बहुत स्पष्टवादिता और निर्भीकता से काम लिया है, पर भावावेश में कहीं-कहीं इतने आगे बढ़ गए हैं कि भंडता और अश्लीलता की बू आ गई है। ये वीर रस के निरूपण में भी सिद्धहस्त थे। अपने भूरजाल भूपण ग्रन्थ में इन्होंने चितौड़गढ़ का ऐसा मार्मिक, सबल और लोमहर्षक वर्णन किया है कि पढ़ते ही भुजायें फड़कने लगती हैं।

बांकीदास की भाषा बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं विषयानुकूल है। प्रसाद गुण तो उनकी ऐसी विशेषता है जो डिंगल के बहुत कम कवियों में पायी जाती है। अलंकारों पर बांकीदास की दृष्टि कुछ विशेष रहती थी, मुख्यत: अर्थालंकारों पर। यों तो ढूँढने से साहित्य-प्रसिद्ध प्राय: सभी अलंकार इनकी रचनाओं में मिल जायेंगे पर हेतु, उदात्त आदि अलंकारों की ओर इनका झुकाव कुछ अधिक था। यह बात इनकी रचना से स्पष्ट झलकती है।

बांकीदास की कुछ कवितायें उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :—
(कविताओं का अर्थ 'डिंगल की कुछ कविताएँ" के अन्तर्गत देखिए।)

नमसकार सूरां नरां, पूरा सतपुरसाँह।
भारथ गज थाटां भिड़ै, अड़ै भुजां उरसांह ॥१॥
सूर न पूछै टीपणौ, सुकन न देखै सूर।
मरणां नूँ मंगल गिणै, समर चढ़ै मुख नूर ॥२॥
सूरातन सूराँ चढ़ैं, सत सतियाँ सम दोय।
आड़ी धाराँ ऊतरै, गणै अनल नूँ तोय ॥३॥
सूर भरौसै आपरै, आप भरोसै सीह।
भिड़ दहु ऐ भाजै नहीं, नहीं मरणरौ बीह ॥४॥
सखी अमीणौ साहिबो, निरभै काळो नाग।
सिर राखै मिण सांमध्रम, रीझै सिंध राग ॥५॥

सखी अमीणा कन्थ री, पूरी हह प्रतीत।
कै जासी सुर ध्रंगड़ैं, कै आसी रण जीत ॥६॥
हाथळ बळ निरभै हियौ, सरभर न को समत्थ।
सीह अकेला संचरै, सीहां केहा सत्थ ॥७॥
बाघ करै नह कोट वन, वाघ करै नह वाड़।
वाघांरां वघवाव सूँ, झिलै अंगजी झाड़ ॥८॥
सीहां देस विदेस सम, सीहां किसा उतन्न।
सिह जिकै वन संचरै, बो सीहाँरो वन्न ॥९॥
घाल घणा घर पातळ, आयौ थह मैं आप।
सूतौ नाहर नींद सुख, पौहरो दियै प्रताप ॥१०॥
भुरजमाळ फणमंडली, सोर झाळ विष झाळ।
जाण सेस बैठो जमी, मिस चितोड़ कराल ॥११॥

कविराजा सूर्यमल

डिंगल में वीररस के सर्वश्रेष्ठ कवि सूर्यमल का जन्म वि० सं० १८७२ में बूंदी के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम चंडीदान और पितामह का नाम बदनसिंह था। ये दोनों ही बूंदी दरबार के प्रसिद्ध कवि थे। सूर्यमल की छः शादियाँ हुई थीं किन्तु इन्हें फिर भी कोई संतान नहीं हुई इसलिए इन्होंने मुरारिदान जी को गोद ले लिया था। वंशभास्कर में सूर्यमल ने अपने पिता एवं स्त्रियों के विषय मैं लिखा है :—

बदन सुकवि सुत कवि मुकुट, अमर गिरा मतिमान।
पिंगल डिंगल पटु भए, धुरधर चंडीदान ॥
दोला, सुरजा, विजयका, जसारु पुष्पा नाम।
पुनि गोविन्दा षट् प्रिया, अर्कमल्ल कवि बाम ॥

सूर्यमल स्वभाव के बड़े शुष्क, विलासी और चिड़चिड़े थे। लोग इन्हें पसंद नहीं करते थे। ये रात दिन मदिरापान करते थे और बिना मदिरापान जीवन के अस्तित्व को एक आश्चर्य का विषय मान तेथे। कोई भी कार्य हो कविराजा सूर्यमल उसे बिना शराब के आरम्भ नहीं कर सकते थे यहाँ तक कि अपनी स्त्री की मृत्यु होने पर शराब पीकर ही श्मशान तक गये थे। शराब के अत्यन्त

आदी हो जाने के कारण वह इनके लिए सामान्य भोजन बन गई थी अतः शराब पीकर भी ये अपना विवेक नहीं खोते थे और बकने-झकने का प्रश्न ही नहीं था। शराब पीकर इनकी प्रतिभा सजग और कल्पना शक्ति प्रखर हो जाती थी। कविराज सूर्यमल असामान्य स्वभाव, असामान्य आचरण और असामान्य प्रतिभा के कवि थे। इनका काव्य भी असाधारण है। जब कविराज सूर्यमल शराब पी लेते थे तो इनकी कविता ऐसी उमड़ पड़ती थी कि इनके दोनों ओर बैठे व्यक्ति उसे लिख तक नहीं पाते थे। सूर्यमल भावुक कवि तो थे ही अद्‌भुत विद्वान् भी थे। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, डिंगल, पिंगल आदि कई भाषाओं में पारंगत थे। इनके दत्तक पुत्र मुरारिदान ने अपने डिंगल कोष के आरम्भ में इनकी विद्वत्ता और प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की है।

देखो चंडीदानरा, सुतरो सुजस सुजाण।
दोहा मुरसाहे दुरस, बदियो अबै बखाण॥
चउदह विद्या चातुरी, चोसठ कला चवात।
मिमांसा भाम्मट बळे, पातंजल हि पढ़ात॥
न्याय उदधि खेवट निरख, बैयाकरण विसेस।
पाल काव्य नाकुल प्रमण, साकुन सास्त्र असेस॥

वि० सं० १९२० में बूंदी में ही इनका देहावसान हुआ।

सूर्यमल के ग्रन्थ निम्नांकित बताये जाते हैं :—

(१) वंशभास्कर (२) बलवंत विलास (३) छंदो मयूख (४) वीर सप्तशती (५) स्फुट काव्य।

कविराजा सूर्यमल की सर्वश्रेष्ठ रचना 'वंशभास्कर' मानी जाती है जो इन्होंने संवत् १८७८-१९४५ में बूंदी नरेश महाराव राजा रामसिंह जी की आज्ञा से लिखी। वंशभास्कर की भाषा के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ लोग इसे डिंगल और कुछ पिंगल बताते हैं। इस विवाद का आधार भी है। वास्तव में इसमें दोनों का विचित्र मिश्रण है।

वंशभास्कर की भाषा इतनी कठिन अव्यावहारिक एवं अप्रचलित है कि साधारण ही नहीं, अच्छे-अच्छे विद्वानों के लिए भी कठिन ही है। सूर्यमल के 'वंशभास्कर' से इनकी क्लिष्ट भाषा का उदाहरण लीजिए :—

कट्टिल[1] कार्णिकावली, भटा हृदावली[2] भए,
अरिष्ठ[3] के अगृष्ठ वृंद,[4], क्लोम[5] कंद उन्नए ॥
बनै अरी पलास[6] कान अन्दु[7] नाग वल्लरी।
कलेज पीलुपर्णिका[8] कसेर तोर इक्करी ॥

(१) सूँड के अग्रभागों की पंक्ति को करेलों की पंक्ति बताया है।

(२) हृदय की पंक्ति को बैंगन बताया गया है।

(३) लहसुन के समान।

(४) अंकुश का अगला भाग।

(५) तिल्ली को जमीकंद बताया गया है।

(६) हाथियों के कानों को अरबी का पत्ता बताया गया है।

(७) जंजीरों को नागर बेल बताया गया है।

(८) कलेजे को दाख की बेल और हाथी की पीठ की लम्बी हड्डी को तोरई बताया गया है।

सूर्यमल के प्रशंसकों का कहना है कि सूर्यमल जैसा प्रतिभाशाली कवि 'न भूतो न भविष्यति'। यह कथन थोड़ा अत्युक्तिपूर्ण हो सकता है किंतु इतना तो सत्य है कि सूर्यमल वीररस के अद्वितीय कवि हैं। हिन्दी में तो कोई कवि उनकी टक्कर का नहीं है। भूषण भी नहीं। सूर्यमल का युद्ध वर्णन तो अद्भुत, स्वाभाविक, उत्तेजक एवं मार्मिक है ही किन्तु सूर्यमल की सबसे बड़ी विशेषता है मनोभावों का यथातथ्य मार्मिक चित्रण।

किसी युवति का पति युद्ध क्षेत्र में गया है। उसके मनोभावों का, उसकी दुश्चिन्ता का कैसा शब्दचित्र कवि ने उतार कर रख दिया है:—

को घर आवे थे कियौ, हणियाँ बळती हाय।
घण धारे घण नेहड़ै, लीधो बेग बुलाय ॥१॥
पूताँ रे बेटा थिया, घर में बधियो जाळ।
अब तो छोड़ो भागणों, कंत लुभायो काळ ॥२॥
बव जीवे भव खोवियो, मो मन मरियो आज।
मोनूं ओछे कँचुवै, हाथ दिखाताँ लाज ॥३॥
यो गहणों यो बेस अब, कीजै धारण कंत।
हूं जोगण किण कामरी, चूड़ा खरच मिटंत ॥४॥

कंत सुपेती देखतां, अब की जीवण आस ॥
मो थण रहणै हाथ हूँ, घाले मुँहड़े घास ॥५॥

(हाय ! घर जीवित ही लौटकर तुमने क्या अच्छा काम किया ? अगर (लड़ते हुए) मारे जाते तो तुम्हारे साथ सती तो हो जाती । (पति उत्तर देता है) प्रिये तुम्हारे प्रेमाधिक्य के कारण ही तो मुझे आना पड़ा ॥१॥

पुत्रों के भी पुत्र होकर घर में बहुत जंजाल बढ़ गया है और काल भी अब तो तुम्हारी अवस्था देखकर ललचा रहा है अतः हे पति अब तो युद्ध से पराङ्मुख होना छोड़ दो ॥२॥

प्रियतम इस प्रकार (कायर का) जन्म जीकर तो तुम्हारा जीवन ही निष्फल हो गया । तुम्हारी ऐसी दुर्दशा देखकर तो मेरा मन बैठ गया है । अब तो इस (सौभाग्यचिन्ह) ओछी कंचुकी में हाथ दिखाते हुए भी मुझे लज्जा मालूम होती है ॥३॥

स्वामी मेरा वस्त्रालंकार आप धारण कीजिए, मैं तो योगिनी भली । मैं अब आपके योग्य नहीं रही । अच्छा ही हुआ, मेरे चूड़ियों के खर्च से तो आप बचे ॥४॥

स्वामी ! आपके बाल सफेद हो चुके हैं । अब कितने दिन और जीवित रहने की तृष्णा है ! मुझे आश्चर्य और दुःख होता है कि जिन हाथों से आप मेरे स्तनों का स्पर्श करते हैं उन्हीं से शत्रु के समक्ष उसके भय से दाँतों में तिनका कैसे दबा लेते हैं ॥५॥

सूर्यमल की वीररस की कविता के विषय में डिंगल के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मोतीलाल जी मेनारिया का कथन द्रष्टव्य है :—

"विश्व के उन समस्त कवियों में जिनकी रचना में युद्ध वर्णन मिलता है पाश्चात्य विद्वान् महाकवि होमर का स्थान सबसे ऊँचा मानते हैं । और तो और होमर की तुलना में व्यास और वाल्मीकि के युद्ध-वृत्तान्तों को भी उन्होंने अस्वाभाविक, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं आवश्यकता से अधिक अलंकारों से लदा हुआ बताया है । यह अपना-अपना मत है और इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा । पर होमर के युद्ध-वृत्तान्तों की यह विशेषता है कि उन्हें पढ़ते समय पाठक यह नहीं महसूस करता कि वह किसी पुस्तक में

युद्ध का वर्णन पढ़ रहा है बल्कि ग्रीस और ट्राय की धावा मारती हुई सेनाओं की पदध्वनि, सैनिकों की खूँखार हुँकार आदि स्पष्ट रूप से कानों से सुनता और रणक्षेत्र के रोमांचकारी दृश्यों को अपनी आंखों से देखता है। यही गुण हम सूर्यमल की रचना में भी पाते हैं। 'वंशभास्कर' में कई स्थानों पर युद्ध का वर्णन है और शायद इस लिए वह एक काव्यग्रंथ माना भी जाता है नहीं तो उसके अधिक भाग का सम्बन्ध काव्य की अपेक्षा इतिहास से अधिक है। जिस समय सूर्यमल युद्ध का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं वे किसी भी बात को अधूरी नहीं छोड़ते, युद्ध सम्बन्धी किसी भी विषय को अल्पता से नहीं देखते। सेनाओं की मुठभेड़, वीरों का जयनाद, कायरों की भगदड़, घायल वीरों का करुण क्रंदन इत्यादि के सिवा जिस समय योद्धा वार करता है उसकी तलवार कैसी दीख पड़ती है, रक्त की सरिता किस प्रकार खल-खल शब्द करती हुई समरस्थली में प्रवाहित होती है और मांस के लोभ से लाशों पर बैठे हुए गीध दूर से कैसे दीख पड़ते हैं, आदि बातों का नाना प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षाओं द्वारा वे ऐसा सुन्दर, ऐसा स्पष्ट और ऐसा सबल मजमून बांधते हैं कि पढ़ते ही हृदय सहसा हिल जाता है।"

इनकी वीर रस की कविता के कुछ उदाहरण देखिए :—

"जे खळ भगा तो सखी, मोताहळ सज थाळ।
निज भग्गा तो नाहरौ, साथ न सूनो टाळ ॥१॥
हथळेवे हा मूठ किण, हाथ विळग्गा माय।
लाखाँ बाताँ हेकलो, चूड़ौ मो न लजाय ॥२॥
भूल न दीजै ठाकुरां, पावक माथे पाव।
राख रहीजें दाझियाँ, तियाँ धरीजे चाव ॥३॥
पग पाछा छाती धड़क, काळौ पीळौ दीह।
नैण मिचै साम्हो सुणै, कवण हकाळै सीह ॥४॥
देख सहेली मो धणी, अज को बाग उठाय।
मद प्याला जिमि एकलौं, फौजां पीवत जाय ॥५॥

उम्मेदसिंह के युद्धवर्णन से

जगावत हाक रचावत जंग, लगावत भैरव नट्ट मलंग ॥
घसै चढ़ि डाकिनि से मृत छत्ति, मनों कि मिद्रसरु कौं तिय मत्ति ॥
अटैं ५य इक्क किते छक ओप, किते इक नैन लखैं अरि कोप ॥
अरैं कढ़ि जीह किते अ ते कूक, मनों कि परागिर प्रेरित मूक ॥
क्रमैं इक ओठ किते इक कान, घनै मुख अद्ध रचैं घमसान ॥
किते इक हत्थ किते गत केस, बनें बहुरूप मनों नव बेस ॥
मिलैं रसना कढ़ि नक्कुट मूल, फबै भुजंगी कि लगी तिलफूल ॥
किते कर टेकि उठै रनरत्त, मनौ मदछाकन पामर मत्त ॥
रहैं कति गिद्धन कौ गल लाय, कहैं कति हू रव ऐंचत हाय ॥
बकैं कति मातपिता तिय बैन, गिरैं कति मोहित उच्छलि गैन ॥
थभ्र खन सावन को इत तुट्टि, बरूथ घटा इत आयुध बुट्टि ॥
बहैं पुर बुंदिय सोन बजार, धयी जनु जोहि सरस्वति धार ॥
गिरै जल बद्दल गंग सु गाथ, पुर स्त्रिय अंसुव जामुन पाथ ॥
बही इम बेनिय पत्तन बीच, मिलै बहुमुक्ति जहाँ लहि मीच ॥
बन्यौं रन बुंदिय सावन अद्ध, दुधा असि ज्वाल भयो पुर दद्ध ॥
चुहट्टन लग्गिय लुत्थन लुत्थि, बिथारिग हत्थन बट्टन बुत्थि ॥
समाकुल रुंड परे खिलि खंड, ढरे बनिजारन के जनु टंड ॥
डडक्कत डाहल के डमरूक, घुरावत धाय घने जन घूक ॥
रटैं सिर नार अटैं कति रुंड, मिटे कति जोर फटै कति मुंड ॥
बरैं सिर मंगि भरैं हर बैल, छकैं कति छोह हकैं रन छैल ॥

डिंगल की कुछ महत्वपूर्ण कवितायें

१—चंदबरदाई

(पद्मावती समय)

कवित्तः—मनहुँ कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बेस ससि ता समीप अम्रित रस पन्निय ॥
बिगसि कमल मृग, भ्रमर, बैनु खंजन मृग लुट्टिय ।
हरि, कीर अरु बिम्ब, मोति नखसिख अहि घुट्टिय ॥

छप्पति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचैं सचिय ॥
पदमिनिय रूप पदमावतिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय ॥

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त चंदकृत पृथ्वीराज रासो के पद्मावती समय से उद्धृत है। यहाँ कवि पद्मावती के रूप का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता है।

अर्थ:—वह कन्या पद्मावती ऐसी प्रतीत होती थी मानो चन्द्रमा की साक्षात् कला ही हो। ऐसा लगता था मानो चन्द्रमा की सोलह कलाओं से ही उसका निर्माण हुआ है। अभी उसकी बाल्यावस्था ही है फिर भी इतनी सुन्दर, मादक और मधुर है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा में जो अमृत है वह उसने उस पद्मावती से ही ग्रहण किया है। उसने अपने मुख, नेत्र, कर, और चरण आदि शरीरांगों के सौन्दर्य से प्रफुल्लित कमलों की श्रेणी को, केशों की शोभा से भौंरों को, कंठस्वर के माधुर्य से वंशी को तथा नेत्रचापल्य से खंजन (पक्षी) को, नेत्रों की विशालता से मृग को लूट लिया है अर्थात् मुग्ध कर लिया है। पद्मावती का सम्पन्न नखशिख हीरे, तोते, बिम्बाफल और मोती से बना हुआ है। उसकी सुन्दर चाल को देखकर हाथी, सिंह, और हंस भी लज्जित होकर छिप जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्मा ने उसके अंग-प्रत्यंग को साँचे में ढाल दिया है। पद्मावती पद्मिनी नायिका के समान असाधारण रूप से सुन्दर है। ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्मा ने दूसरी रति की रचना कर डाली हो।

टिप्पणी:—१. यहाँ हीर, कीर आदि केवल उपमानों का कथन होने से अतिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'छत्रपति' पाठ अशुद्ध है 'छप्पति' ही ठीक पाठ लगता है।

३. विकसि कमल स्रिग, के रूप में समस्त शरीरों की समष्टि रूप में उपमा एक मौलिक बात है।

४. सचिय का अर्थ 'शची' अर्थात् इन्द्राणी भी हो सकता है परन्तु यह कविसमय-सिद्ध नहीं है।

कुट्टिल केस सुदेस पौहप रचियत पिक्क सद।
कमल गंध, वयसंध, हंस गति चलह मंद मंद ॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नख स्वाति बुंद जस।
भ्रमर भवहि भल्लहि सुभाव, मकरंद वास रस ॥

नयन निरखि सुख पाय सुक, यह सुदिव्य मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहि राज पृथ्वीराज जिय ॥

प्रसंग—तोते ने राजकुमारी के नखशिख का ध्यान से अवलोकन किया और सोचने लगा कि ब्रह्मा ने उसे अद्भुत रूप दिया है। वह कामना करता है कि इसे पृथ्वीराज वर रूप में प्राप्त हो।

अर्थ :—इसके सुन्दर घुँघराले केशों में श्रेष्ठ मोतियों की लड़ी गुथी हुई है। इसके शरीर से कमल जैसी गंध आ रही है। यह अभी वयसंधि (वह अवस्था जब शैशवावस्था समाप्ति पर होती है और युवावस्था का आगमन होता है) नायिका है। हंस के समान यह मंदगामिनी है। श्वेत वस्त्र इसके शरीर पर शोभा पा रहा है। इसके हाथ और पैर के नख स्वाति की बूंदों (मोतियों) के समान उज्ज्वल है। इसके अधरामृत-रस रूपी मकरंद तथा सहज शरीर-जन्य बास (कमलगंध) के रस के लोभ से आकृष्ट होकर भौंरे स्वाभाविक रूप से भूलकर उसे विकसित कमल पुष्प समझ कर उसके चारों ओर चक्कर काटते हैं। पद्मावती की अलौकिक रूप शोभा को देखकर तोता अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि ईश्वर ने अलौकिक रूपगुणसम्पन्न मूर्ति का निर्माण किया है और शिव-पार्वती की अनुकम्पा की कामना करने लगा कि पृथ्वीराज इसे वर रूप में प्राप्त हों।

टिप्पणी :—पद्मिनी नायिका के शरीर से कमल जैसी गंध आती है ऐसी कामशास्त्र की मान्यता है।

उहै घरी उहि पलनि, उहै दिन बेर उहै सजि।
सकल सूर सामंत, लिए सब बोलि बम्ब बजि॥
अरु कवि चन्द अनूप, रूप सरसै वर के बहु।
और सेन सब पच्छ, सहस सेना तिय सष्षहु॥
चामुण्डराय दिल्ली धरह, गढ़पति करि गढ़भार दिय।
अलगार राय प्रथिराज तब, पूरबदिशि तब गमन किय॥

प्रसंग—पद्मावती द्वारा पृथ्वीराज को लिखा गया पत्र तोते ने पृथ्वीराज को दिया। पृथ्वीराज ने पत्र खोलकर पढ़ा, मुस्कराये और तुरन्त चढ़ने की तैयारी की—

अर्थ—महाराज पृथ्वीराज ने उसी घड़ी, उसी क्षण, उसी समय और उसी दिन यात्रा के लिए सजकर यात्रा सूचक नगाड़ा बजवाया और अपने समस्त सूर-सामन्तों को तथा कवि चन्द को साथ ले लिया। वर का अनुपम रूप इस समय अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। तीन हजार सेना उनके साथ थी। शेष पीछे आ रही थी। उन्होंने दिल्ली गढ़ की व्यवस्था का भार चामुण्डराय पर छोड़ दिया और उसे स्थानापन्न दिल्ली गढ़पति बना दिया और दिल्ली नरेश पृथ्वीराज ने पूर्व दिशा को प्रस्थान किया।

सुनि गज्जनै अवाज चढ़यौ साहाबुदीन बर।
षुरासांन सुलतान, कास काबिलिय मीर धर॥
जंग जुरन जालिम जुझार, भुज सार भार भुअ।
धर धमंकि भजि सेस, गगन रवि लुप्पि रैन हुअ॥
उलटि प्रवाह मनो सिंधु सर, राह रोकि अड्डौ रहिय।
तिहि घरी राज प्रथिराज सौं, चन्द वचन इहि विधि कहिय॥

प्रसंग—जिस दिन समुद्रशिखर में राजा कुमुदमणि की बरात पहुँची उसी दिन पृथ्वीराज भी वहाँ पहुँचे और गजनी के बादशाह शहाबुद्दीन गोरी के समुद्रशिखर पहुँचने की सूचना भी उसी दिन मिली।

अर्थः—गजनी में यह समाचार पाकर कि पृथ्वीराज समुद्र शिखर आ रहे हैं, शहाबुद्दीन ने चढ़ाई कर दी। उसकी सेना में खुरासान के सुलतान तथा खास काबुल के असली मीर थे जो संग्राम में निर्द्वन्द्व और निर्भय रहने वाले थे और जिनकी भुजायें लोहे के सदृश कठोर और भारी थीं। उस सेना के कारण धरा डोलने लगी, शेष विचलित हो गए, दिन में ही सूर्य छिप गया और रात हो गई। वह सेना पृथ्वीराज के मार्ग में बाधा की प्राचीर बन कर खड़ी हो गयी। ऐसा प्रतीत होता था मानों समुद्र सहित नदियों का प्रवाह ही उलट कर इधर आ गया हो। उसी समय कवि चन्द ने पृथ्वीराज से यह बात कही (इसकी सूचना दी)।

निकट नगर जब जानि, जाय बर बिंद उभय भय।
समुद सिखर घन नद्द, इन्द्र दुहुँ ओर घोर गय॥

अगिवानिय अगिवान कुंवर बनि बनि हय सज्जति।
दिष्षन को त्रिय सबनि गौष छाजन चढ़ि रज्जति ॥
बिलषति अवास कुंवरि वदन मनो राहु छाया सुरत।
झंषति गवष्ष पलपल पुलकि दिपति पंथ दिल्ली सुपति ॥

प्रसंग—कुमुदमणि और पृथ्वीराज दोनों की बरात ने एक साथ नगर में प्रवेश किया। कवि नगाड़ों के तुमुल शब्द और बरात की शोभा का वर्णन करता है।

अर्थः—जब (कुमुदमणि की) वरात नगर के निकट पहुँची तब दोनों ही वर (कुमुदमणि और पृथ्वीराज) वहाँ उपस्थित हुए। नगर में दोनों ओर दुंदुभियों एवं नगाड़ों का तुमल नाद घोर गति से होने लगा और दोनों के हाथी और घोड़े परस्पर भिड़ गए। अगवानी (आगे बढ़कर स्वागत) करने वाले राजकुमार तरह-तरह से अपने घोड़ों को सजाने लगे। वरात देखने के लिए सब स्त्रियाँ गवाक्षों तथा छज्जों पर एकत्रित हो गयीं और इस प्रकार सुशोभित होने लगीं। कुमारी पद्मावती अपने महल में बिलखने लगी। उसके मुखचन्द्र को विषाद के राहु ने ग्रस लिया। वह बार-बार झरोखे से झाँकने लगी। उस का शरीर पलपल में पुलकित होने लगा। वह दिल्लीश्वर पृथ्वीराज का इस प्रकार मार्ग देखने लगी।

बज्जिय घोर निसांन रांन चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामंत, समरि बल जन्त्र मन्त्र तस ॥
उट्ठि राज पृथिराज बाग लग मनों वीर नट।
कढ़त तेग मनौ बेग, बलत मनों बीजु झट्ट घट ॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन रगन मगन भइ सोन धर।
हदि हरषि वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ, रंग नवरत्त वर ॥

प्रसंग—शहाबुद्दीन की सेना ने पृथ्वीराज को चारों तरफ से घेर लिया और युद्ध के बाजे भयंकर रूप से बजने लगे। पृथ्वीराज भी युद्ध के लिये उद्यत हुए।

अर्थः—महाराज पृथ्वीराज के चारों ओर घोर नगाड़े बजने लगे। पृथ्वीराज के समस्त शूरवीर उनके बलरूपी यंत्र-मंत्र का स्मरण करके अथवा

संग्राम में जिनकी शक्ति यंत्र-मंत्र की भाँति अव्यर्थ और आशु प्रभावकारी थी (युद्ध के लिए उद्यत हुए) राजा पृथ्वीराज ने भी संभल कर अपने घोड़े की बाग इतनी फुर्ती से संभाली जैसे कि नट फुर्ती दिखाते हैं। उमड़ते हुए हृदय के उत्साह से जब उन्होंने फुर्ती के साथ तेग निकाली तो ऐसा लगा मानो घटा में बिजली चमक उठी हो। यह कौतुक देखकर सूर्य आकाश में ठहर गये। रक्त से पृथ्वी रक्तवर्ण हो गयी। शूर हृदय में प्रसन्न हुए और नवीन रक्त का उत्साह उनके अंगों में स्फुरित होने लगा।

न को हार नह जित्त, रहेइ न रहहिं सूरवर।
धर उप्पर भर परत, करत अति जुद्ध महाभर।
कहौं कमध कहौं मथ्थ, कहौं कर चरन अन्तरुरि।
कहौं कन्ध वहि तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥
कहौं दंत मंत हय षुर षुपरि, कुम्भ भसुण्डह रुण्ड सब।
हिंदवान रान भय भान मुख, गहिय तेग चहुआंन जब॥

प्रसंग:—कवि पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गौरी के बीच हुए भयंकर युद्ध का वर्णन करता है।

अर्थ:—न कोई हारता है न कोई जीतता है। शूरवीरों से विना युद्ध किए रहा नहीं जाता। पृथ्वी के ऊपर योद्धा गिरते हैं। बड़े योद्धा भयंकर युद्ध कर रहे हैं। कहीं वीरों के धड़, कहीं मस्तक, कहीं हाथ-पैर और कहीं अन्तड़ियाँ कटी पड़ी हैं। कहीं तलवार शत्रुओं के कन्धों के पार चली जाती है और कहीं योद्धाओं के सिर आपस में टकरा कर फूटते हैं। कहीं मस्त हाथियों के कुम्भस्थल और सूँड़ और कहीं अश्वों के खुर और खोपड़ियाँ तथा कहीं मनुष्यों के धड़ पड़े हैं। हिन्दुओं के राणा पृथ्वीराज चौहान ने जब तलवार ग्रहण की तब उनका मुख (युद्धोत्साह से) सूर्य की भाँति तेजस्वी और दीप्तियुक्त हो गया।

घग्घर नदी का युद्ध

रमै राज आषेट, सत्त एकल बल भंजै।
पंच पथ्थ परिगाह, रँग अप्पन मन रँजै॥

सहस एक बाजित्र, सूर किरनह संपेषै ।
सुनि गौरी साहाब, दाह दिल महन विसेषै ॥
जितौब जब्ब प्रथिराज कों, तब तसबी कर मँडिहौं ।
टामंक सद्द नद्दह करों, सुगति साह तब छँडिहौं ॥

प्रसंग—इन पंक्तियों में महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज की शूरवीरता का उल्लेख और उसकी कीर्ति के कारण शहाबुद्दीन गोरी के हृदय में भड़क उठने वाली ईर्ष्या की अग्नि का चित्र प्रस्तुत किया है ।

अर्थ—पृथ्वीराज शिकार खेलते हैं । वह अकेले ही सात (शूरवीरों अथवा भयंकर पशुओं) का मान मर्दन कर देते हैं । वे पाँचों मार्गों (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा आकाश) को रोक कर उनके मध्य अपना मन प्रसन्न करते हैं । (पृथ्वीराज की अपराजिता शक्ति का विस्तार चारों दिशाओं में भी है और आकाश तक भी) । उनके एक सहस्र बाजे हैं और उनमें सूर्य की किरणों के समान तेज दिखाई पड़ता है । यह सब सुन कर शहाबुद्दीन गोरी के हृदय में अत्यधिक जलन उत्पन्न होती है (और वह प्रतिज्ञा करता है कि) मैं जब पृथ्वीराज पर विजय प्राप्त कर लूँगा तभी अपने हाथ में माला धारण करूँगा, ज़ोर ज़ोर से नगाड़े बजाऊँगा और तब (विजय प्राप्ति) तक के लिए मैं समस्त राजसिक भोगों का त्याग कर दूँगा ।

हुअ टामंक सु दिसि विदिसि, हुअ संनाह सनाह ।
हुअ हलोहल सुम्भरन, द्रोऊ दिन इक राह ॥

अर्थ—दिशा विदिशाओं में नगाड़ों की ध्वनि गूँज उठी, सेनापतियों के समस्त सैनिक कवच आदि पहन कर (युद्ध के लिए) सन्नद्ध हो गये । सम्पूर्ण सैना में हलचल-सी मच गई । दोनों धर्म (हिन्दू तथा मुसलमान) एक ही मार्ग पर थे (दोनों धर्मों के अनुयायियों में यह एक बात समान हो गयी थी कि दोनों ही विजयी होने को आतुर थे । इस प्रकार कवि ने 'समान—' अथवा 'एक-लक्ष्यता' द्वारा शत्रुता अथवा विरोध का उल्लेख किया है) ।

फौज रची सामंत, गरुड़ ब्यूहं रचि गढ्ढिय ।
पंच भाग प्रथिराज चंच चावड सुगढ्ढिय ॥
गाबरि अत्ताताई, पाइ गोइंद सुठढ्ढिय ।
पुच्छ कन्ह चौहान, पेट पम्मारह पढ्ढिय ॥

सुंडाल काल अग्गों धरे, कढे दोइ कलहन्न किय ।
चालंत बान गौरे प्रबल, मानहु अँधकि मार दिय ॥

प्रसंग—इन पंक्तियों में पृथ्वीराज की सेना की व्यूह रचना का वर्णन है ।

अर्थ—सामन्त ने (पृथ्वीराज की) सेना का गरुड़ व्यूहाकार में खड़ा किया। (उस व्यूह में) पंख भाग में (पंख के स्थान पर) स्वयं पृथ्वीराज खड़े हुए और चोंच के स्थान पर चामुंड राय । गर्दन के स्थान पर अत्ताताई नियुक्त किया गया और पैरों के भाग में गोइँद राय ने स्थान पाया । पूँछ के स्थान पर कन्ह चौहान खड़े हुए । पेट का भाग परमारवंशी वीर (जैतराय) के अधीन रहा । मदोन्मत्त हाथी आगे रखे गये । सेनाएँ दोनों ओर से निकल कर युद्ध करने लगीं । ग़ोरी की सेना पर ऐसे प्रबल बाण पड़ रहे थे मानों आँधी का धक्का लग रहा हो ।

अरुन किरण परसंत, आइ पहुँच्यौ रमसल्लं ।
लज्जे वान विहंग, जानि जुट्टा दोइ मल्लं ॥
संमाही आजान, तेग मनहु हबि दिठ्ठिय ।
जानि सिषर मझि बीज, कँध रैसल्लह बुट्ठिय ॥
लोहान तनी बज्जे लहरि, कोउ हल्ले कोउ उत्तरं ।
परनाल रुधिर चल्लै प्रबल, एक घाव एकह मरैं ॥

अर्थ—सूर्य की किरणों के छूते ही रयसल्ल आ पहुँचा । मल्लयुद्ध आरम्भ हुआ जान कर पक्षियों के समान बाण उड़ने लगे । आजानुबाहु लोहाना सामने आया । उसकी तलवार क्या थी, मानों आग की लपट थी । वह रयसल्ल के कंधे पर इस प्रकार पड़ी जैसे पर्वत की चोटी पर बिजली गिरती है । लोहाना की तेज़ तलवार चली। उस पर कोई चिल्लाने लगा कोई मर गया । रुधिर के पतनाले बहने लगे । एक ही बार में एक (सैनिक) मर जाता था ।

पृथ्वीराज

धर बाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण ।
घणाँ नरिंदा घेरियो, रहे गिरंदा राण ॥

अर्थ—जिसकी भूमि अत्यंत विकट है और दिन अनुकूल हैं, ऐसा महाराणा प्रताप अनेक राजाओं से घिरा हुआ पहाड़ों में निवास करता है और कभी भी

वह वीर अपने मान को नहीं छोड़ता ।

पातळ पाघ प्रमाणं, सीची साँगाहर तणी ।
रही सदा लग राण, अकबर सूँ ऊभी अणी ।।

अर्थ—वास्तव में यदि किसी की पगड़ी सच्ची है तो महाराणा साँगा के पोते महाराणा प्रतापसिंह की जो अकबर के सामने कभी झुकी नहीं वरन् सदैव गर्वोन्नित ही रही अर्थात् प्रताप ने कभी अपना सिर अकबर के समक्ष नहीं झुकाया ।

अइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा ।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजबी ।।

अर्थ—हे अकबर ! तेरा तेज (वास्तव में अद्भुत) है जिसके समक्ष महाराणा प्रताप को छोड़ कर सब राजा झुक गये ।

सह गावड़ियो साथ, एकड़ बाड़ बाड़ियो ।
राण न मानी नाथ, ताँडै साँड़ प्रताप सी ।।

अर्थ—हे अकबर तूने गायरूपी सब राजाओं को एक बाड़े में एकट्ठा कर दिया अर्थात् उन्हें अपने नियंत्रण में ले लिया । (उन्मुक्त) प्रताप रूपी साँड तेरे नियन्त्रण को न मान अब भी गरज रहा है ।

पहु गोधळिया पास, आळूधा अकबर तणी ।
राणो षिमै न रास, प्रघळो साँड प्रतापसी ।।

अर्थ—अन्य सब छोटे बैल रूपी राजा तो अकबर के पाश में बँध गये किन्तु बलवान् साँड रूपी प्रतापसिंह अब भी उसकी रस्सी को सहन नहीं करता अर्थात् अब भी उसके नियन्त्रण के बाहर है ।

बाही राण प्रताप सी, वरछी लचपच्चांह ।
जाणक नागण नीसरी, मुँह भरियो बच्चांह ।।

अर्थ—महाराणा प्रतापसिंह ने लचकती हुई बरछी चलायी । वह शत्रु को भेद कर इस प्रकार निकल आयी मानो कोई सर्पिणी अपने बच्चों को मुंह में लेकर निकली हो ।

पातळ जो पतसाह, बोलै मुख हूँता बयण ।
मिहर पछम दिस माँह, ऊगै कासप राव उत ।।

अर्थ—यदि महाराणा प्रताप अकबर को अपने मुँह से बादशाह कह दें तो सूर्य पश्चिम से उदित होने लगे। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य का पश्चिम में उदित होना एक असम्भव बात है उससे भी अधिक असम्भव है महाराणा द्वारा अकबर के लिए 'बादशाह' शब्द का प्रयोग।

पटकूं मूँछां पाण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

अर्थ—हे एकलिंग भगवान् के दीवान महाराणा प्रताप ! मैं मूँछों पर ताव दूं या अपना शरीर तलवार से काट दूँ, इन दोनों बातों में से एक बात लिख दीजिए। (यह दोहा पृथ्वीराज ने महाराणा प्रताप को उस समय लिखा था जब उन्होंने सुना कि प्रताप अकबर की वश्यता करने के लिए तैयार है। स्वाभिमानी कवि पृथ्वीराज इसे कहां सहन कर सकते थे ? इस बात के सत्य होने से वे मर जाना अच्छा समझते थे।)

बाही राण प्रताप सी, बगतर में बरछीह।
जाणक झींगर जाल में, मुँह काढ्यो मच्छीह॥

अर्थ—महाराणा प्रताप ने बर्छी चलायी वह शत्रु के कवच को भेदकर इस प्रकार बाहर निकल आयी जिस प्रकार कोई छोटी मछली जाल में से मुँह निकालने लगती है।

चम्पो चीतोड़ाह, पोरस तणों प्रताप सी।
सोरभ अकबर साह, अळियळ आभड़ियो नहीं॥

अर्थ—चित्तौड़ के स्वामी महाराणा प्रतापसिंह का प्रताप चम्पा के वृक्ष के समान है। जिसके सौरभ पर अकबर रूपी भ्रमर कभी नहीं आता। यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि भ्रमर सब फूलों पर मँडराकर रस ले सकता है पर वह चम्पा के फूल के पास कभी नहीं फटकता। किसी कवि ने इस विषय में कहा है—

"चम्पा तुव में तीन गुण, रूप रंग अरु बास।
अवगुण तुझ में कौन है, भौंर न आवै पास॥"

नर जेथ निमाणा निलजी नारी, अकबर गाहक बट अबट।
चोहटै तिण जायर चीतोड़, बेचै किम रजपूत बट॥

अर्थ—उस बाजार में जहाँ पुरुषों का मान और स्त्रियों के सतीत्व का अपहरण किया जाता है, जहाँ के मार्ग बड़े टेढ़े-मेढ़े हैं और जहाँ अकबर जसा खरीददार है, महाराणा प्रताप अपनी रजपूती कैसे बेचेंगे ? (अर्थात् वे कभी अकबर के सामने आत्मसमर्पण नहीं करेंगे ।)

जासी हाट बात रहसी जग, अकबर ठग जासी एकार ।
है राख्यौ खत्री ध्रम राणै, सारा ले बरतो संसार ॥

अर्थ—एक दिन अकबर रूपी ठग इस संसार से चला जाएगा और उसका ठगबाजार भी समाप्त हो जायगा किन्तु संसार में यह बात सदैव अमर रहेगी कि क्षत्रियों के धर्म में रहकर उस धर्म को केवल प्रतापसिंह ने ही निभाया ।

ऊगा सूर समौ ऊदावत, बड़ै वसू छळ बोळ बिरोळ ।
बळ अळ अरी तणें चीतौड़ा, चंदप्रहास रहै नत चोळ ॥

अर्थ—हे प्रताप ! सूर्योदय होते ही तू इस पृथ्वी के लिए युद्ध आरम्भ कर देता है और तेरा खड्ग सदैव शत्रुरक्त से आरक्त रहता है ।

दुरसाजी

अकबर गरब न आंण, हींदू सह चाकर हुवा ।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़ै ॥

प्रसंग—कवि अकबर को सम्बोधित करके कहता है कि हे अकबर ! तुझे व्यर्थ का गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि हिन्दूपति महाराणा प्रताप अभी तेरे वश में नहीं है ।

अर्थ—हे अकबर इस बात का (व्यर्थ) गर्व मत कर कि सभी हिन्दू तेरे सेवक हो गये हैं ? क्या किसी ने महाराणा प्रताप को तेरे कटहरे के निकट अवनत शिर देखा है ? (अर्थात किसी ने भी महाराणा को तेरे समक्ष दीन-हीन अवस्था में नहीं देखा ।)

कदे न नामै कंध, अकबर ढिग आवै न ओ ।
सूरज बंस संबन्ध, पाळै राण प्रतापसी ॥

प्रसंग—महाराणा प्रताप की आन या टेक का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

अर्थ—चूँकि महाराणा प्रतापसिंह सूर्यवंशी हैं इसलिए वह सदैव

सूर्यवंश के सम्बन्ध का पालन करता है (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य किसी के समक्ष नतमस्तक नहीं होता उसी प्रकार प्रताप भी किसी के समक्ष नतमस्तक नहीं होता ।) वह (प्रताप) कभी अकबर के समक्ष जाकर नतमस्तक नहीं होता ।

अकबर पथर अनेक, कै भूपत भेळा किया ।
हाथ न लागो हेक, पारस राण प्रतापसी ।।

प्रसंग—कवि प्रताप की महत्ता का वर्णन करता हुआ कहता है ।

अर्थ—पत्थर के समान अनेक राजा लोग अकबर ने इकट्ठे कर रखे हैं किन्तु प्रताप जैसा पारस अब तक उसके हाथ नहीं लगा है ।

सुष हित स्याळ समाज, हींदू अकबर बस हुवा ।
रोसीलो मृगराज, पजै न राण प्रतापसी ।।

प्रसंग—अन्य हिन्दू राजाओं की तुलना में प्रताप की विशेषता का वर्णन कवि करता है :

अर्थ—सुखलोलुप अन्य अनेक हिन्दू राजा गीदड़ों की भांति अकबर के वश में हो गए किन्तु क्रोधी सिंह के समान महाराणा प्रताप अकबर की आधीनता स्वीकार नहीं करते ।

जाणै अकबर जोर, तो पिण ताणै तोर तिड़ ।
आ बलाय है ओर, पिसणांखोर प्रतापसी ।।

प्रसंग—महाराणा प्रताप अकब्रर के लिए भय बन गये हैं, इस बात का कवि वर्णन करता है :

अर्थ—अकबर अपने बल को जानता है तो भी जोर से अपने पक्ष को खींचता है । पर दुश्मन को खा जाने वाली यह आफत प्रतापसिंह दूसरी ही चीज है ।

अकबर हिए उचाट, रात दिवस लागो रहै ।
रजवट वट समराट, पाटप राण प्रतापसी ।।

प्रसंग—कवि बड़ी चतुराई से अकबर को व्यग्र दिखाने के लिए महाराणा प्रताप के महत्व का वर्णन करता है ।

अर्थ—अकबर के हृदय में सदा इस बात का खटका लगा रहता है कि

राजपूती शक्ति और आन रखने वाले सम्राटों में प्रताप ही सब से बड़ा है :

अकबर घोर अंधार, ऊंघाण हिंदू अवर ।
जागै जगदातार, पोहरै राण प्रतापसी ॥

प्रसंग—राणा को भारतीय स्वतन्त्रता का सजग प्रहरी बताते हुए कवि उसकी महत्ता का वर्णन करता है :

अर्थ—अकबर ऐसा घोर अंधकार है जिसमें हिन्दू ऊँघने लगे हैं अर्थात् अचेत हो गये हैं (अगर अचेत न हो जाते तो उन्हें अपनी मान-मर्यादा की चिन्ता होती) । लेकिन जगत् का रक्षक महाराणा प्रताप ही एक ऐसा व्यक्ति है जो पहरे पर जग रहा है अर्थात् वह देश की स्वतन्त्रता तथा राजपूती मान-मर्यादा की रक्षा के विषय में सजग और सचेत है ।

अकबर समद अपार, तिंह डूबा हिन्दू तुरक ।
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी ॥

प्रसंग—महाराणा प्रताप अन्य राजपूत राजाओं की भाँति अकबर के प्रभाव से आक्रान्त नहीं है इस बात का वर्णन कवि करता है ।

अर्थ—अकबर अपार समुद्र के समान है जिसमें हिन्दू और तुर्क सब डूब गये हैं अर्थात् हिन्दू और तुर्क सभी अकबर के प्रभाव से आक्रांत हैं, (उसके वशवर्ती हैं ।) किन्तु महाराणा प्रताप ही अकेला ऐसा व्यक्ति है जो कमल के फूल के सदृश सदैव उससे (समुद्र से) ऊपर रहता है अर्थात् उसके प्रभाव से आक्रांत नहीं है—स्वतन्त्र है ।

ढिग अकबर दल ढाण, अग अग झगड़ै आथड़ै ।
मग मग पाड़ै मांण, पग पग राण प्रतापसी ॥

प्रसंग—कवि महाराणा प्रताप द्वारा अकबर के अथक प्रतिरोध का वर्णन करता है ।

अर्थ—अकबर की सेना महाराणा से पर्वत-पर्वत पर लड़ती है किन्तु महाराणा प्रत्येक मार्ग में उसका पग-पग पर मानमर्दन करता है ।

अकबर मैगळ अच्छ, माझळ दळ घूमै मसत ।
पंचानन पळ अच्छ, पटकै छड़ा प्रतापसी ॥

प्रसंग—कवि प्रताप और अकबर की शक्ति की तुलना उचित उपमाओं

द्वारा करता है।

अर्थ—अकबर भयंकर हाथी के समान मस्त होकर सेनाओं के बीच में घूमता है लेकिन मांसभक्षी सिंह के समान महाराणा प्रताप उसे पंजा मार कर गिरा देता है।

मन री मनरै माँहि, अकबर रै रहगी इकस।
नरवर करिए नाँहि, पूरी राण प्रतापसी॥

प्रसंग—कवि प्रताप से कहता है :

अर्थ—(प्रताप को वश में करने की अभिलाषा अकबर की बहुत दिन से थी) यह मन की मन में ही रह गई। और हे नरश्रेष्ठ प्रताप, तुम उसकी इस इच्छा को कभी पूरी होने भी मत देना (अर्थात् जिस प्रकार आज तक बिना प्राणों की चिन्ता किए तुम उसका विरोध करते आये हो उसी प्रकार यावज्जीवन करते रहना, कभी भूल कर भी आत्मसमर्पण मत करना)।

घट सूँ औघट घट, घसियो अकबरियो घणो।
इड़ चंनल उप्र बाट, परमल उठि प्रतापसी॥

प्रसंग—कवि प्रताप को श्रेष्ठ चन्दन के समान बताता है जो घिसने (कष्ट देने) पर भी सुगन्धि (यश) ही विकीर्ण करता है।

अर्थ—अकबर ने समय-असमय, ठौर-कुठौर प्रताप को बड़ा घिसा अर्थात् कष्ट दिया किन्तु इससे तो महाराणा रूपी चन्दन से सुगन्धि ही प्रकट हुई अर्थात् महाराणा का यश ही चर्तुदिक् बढ़ा है।

अकबर जासी आप, दिल्ली पासी दूसरा।
पुनरासी परताप, सुजस न जासी सूरमा॥

प्रसंग—कवि प्रताप के यश की नित्यता (अमरता) का वर्णन करता हुआ कहता है :

अर्थ—एक दिन अकबर (इस संसार को छोड़कर) चला जायगा और दिल्ली और किसी के पास चली जायगी अर्थात् उस पर और कोई शासन करेगा। परन्तु हे पुण्यराशि महाराणा प्रताप! संसार से तेरा यश कदापि न जाएगा।

कलपै अकबर काय गुण, पूंगीधर गोडिया ॥

मिणधर छाबड़ मांय, पड़ै न राण प्रतापसी ॥

प्रसंग—कवि राणा प्रताप को मणिधर (सर्प) बताता है और अकबर को सँपेरा ।

अर्थ—पुंगीवाला (बीन वाला) चतुर सँपेरा अकबर बहुत छटपटा रहा है परन्तु मणिधारी सर्प रूपी प्रताप उसकी छबड़ी में नहीं आता अर्थात् उसके वश में नहीं आता ।

सेलाँ अणी सनान, धारा तीरथ में धँसे ।

देण धरम रणदान, पुरट सरीर प्रताप सी ॥

प्रसंग—कवि महाराणा प्रताप की प्रशंसा करता हुआ कहता है :

अर्थ—भालों की नोकों में स्नान करते हुए और तलवार की धार रूपी तीर्थ में प्रवेश करके अपने धर्म के लिए स्वर्णरूपी शरीर का दान करने वाले तुम अकेले ही हो ।

बंधियो अकबर वैर, रसत गैर रोकी रिपू ।

कंद मूल फल कैर, पावै राण प्रताप सी ॥

प्रसंग—कवि महाराणा प्रताप के हठ का वर्णन करता है कि घास-पात खाना तो राणा को स्वीकार है परन्तु अकबर की वश्यता नहीं ।

अर्थ—चूंकि अकबर से वैर बँध गया इसलिए शत्रु ने चतुर्दिक् घेरा डाल कर रसद बन्द कर दी किन्तु राणा प्रताप तो भोजन के समय पर कन्द, मूल, फल, कैर को खाकर ही सन्तुष्ट है अर्थात् उसे अकबर की आधीनता में जाने से तो ये ही वस्तुयें ही अधिक पसन्द हैं ।

असपत इन्द्र अवनि आह्वड़ियाँ, धारा झड़ियाँ सदै धका ।

घण पड़ियाँ साँकडियाँ घडियाँ, ना धहिडियाँ पढ़ी नका ॥

प्रसंग—कवि महाराणा प्रताप की वीरता की प्रशंसा करता हुआ कहता है :

अर्थ—अकबर रूपी इन्द्र जब उसकी भूमि पर आक्रमण करता है तब वह तलवार की झड़ियों में धक्के सहता है और बहुत बुरे दिन आने पर भी उसकी पुत्रियों ने निकाह नहीं पढ़ा अर्थात् मुसलमानों के साथ शादी नहीं की ।

महि दावण मेवाड़, राडवाड अकबर रचै ।
विषै विषायत बाड, प्रथुळ पहाड़ प्रताप सी ।।

अर्थ—मेवाड़ की भूमि को हड़पने के लिए अकबर धावे पर धावे करता हैं किन्तु मेवाड़ के (चारों ओर) कष्टसहिष्णु प्रताप रूपी बड़े पहाड़ की रोक लगी हुई है ।

बाँकीदास

नमसकार सूराँ नराँ, पूरा सत पुरसाँह ।
भारथ गज थाटाँ भिड़ै, अड़ै भुजाँ उरसाँह ।।

प्रसंग—कवि बांकीदास वीर पुरुषों की स्तुति करता हुआ कहता है :

अर्थ—जो युद्ध में हाथियों के समूह से जा भिड़ते हैं और जिनकी (प्रलम्ब) भुजायें आकाश से टकराती हैं ऐसे सत्पुरुष शूरवीरों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

सूर न पूछै टीपणो, सुकन न देखै सूर ।
मरणा नू मंगल गिणै, समर चढ़ै मुख नूर ।।

प्रसंग—कवि शूरवीरों की प्रकृति का वर्णन करता है ।

अर्थ—शूरवीर न तो ज्योतिषी के पास जाकर युद्ध का मुहूर्त्त पूछता है और न शकुन ही देखता है । शूरवीर तो (युद्ध क्षेत्र में) मरने में ही कल्याण समझता है और समरांगण में उसके मुख पर तेज छा जाता है ।

सूरातन सूरा चढ़ैं, सत सतियां सम दोय ।
आड़ी धाराँ ऊतरैं, गणै अनल नूं तोय ।।

प्रसंग—कवि वीर पुरुष की और सती स्त्री की समानता बताते हुए कहता है :

अर्थ—शूरवीर और सती दोनों समान हैं क्योंकि शूरवीरों को तो वीरत्व चढ़ता है और सतियों को सतीत्व । वीरता के आवेश में शूरवीर तो तलवार से कटते हैं और सतियाँ (सतीत्व के आवेश में) अग्नि को (शीतल) जल समझती हैं ।

सूर भरोसै आपरै, आप भरोसै सीह ।
भिड़ दहुँ ए भाजै नहीं, नहीं मरण रौ बीह ।।

प्रसंग—शूरवीर और सिंह की समानता बताते हुए कवि कहता है :

अर्थ—शूरवीर और सिंह अपने भरोसे पर रहते हैं अर्थात् किसी से किसी प्रकार की सहायता की याचना नहीं करते । जब ये (शूरवीर और सिंह) एक बार भिड़ जाते हैं तो फिर पीछे भागना या हटना तो जानते ही नहीं क्योंकि इन्हें मृत्यु का कभी भय नहीं है ।

सखी अमीणौ साहिबो, निरभै काळो नाग ।
सिर राखै मिण साँमध्रम, रीझै सिंधू राग ।।

प्रसंग—एक सखी दूसरी से अपने पति की प्रशंसा करती हुई उसे मणि-धारी सर्प के समान बताती है ।

अर्थ—हे सखी ! मेरा प्रियतम निडर काले सर्प के सदृश है जो अपने सिर पर स्वामी-भक्ति-रूपी मणि धारण करता है और सिंधू राग सुनकर वह प्रसन्न होता है (अर्थात् वीर रसवर्द्धक राग (सिंधू राग) उसे बहुत पसन्द है) ।

सखी अमीणा कंथ री, पूरी एह प्रतीत ।
कै जासी सुर ध्रंगड़ै, कै आसी रण जीत ।।

प्रसंग—एक सखी दूसरी से अपने पति की वीरता की प्रशंसा करती हुई कह रही है ।

अर्थ—हे सखी ! मेरे पति को पूर्ण भरोसा है कि या तो वह स्वर्ग जाएगा या युद्ध जीतकर आएगा अर्थात् यह कभी सम्भव नहीं कि वह युद्ध में पीठ दिखा जाए और हार कर भाग आए ।

हाथळ बळ निरभै हियौ, सर भर न को समत्थ ।
सीह अकेला सञ्चरै, सीहाँ केहा सत्थ ।।

प्रसंग—कवि सिंह की निडरता का वर्णन करता हुआ कहता है :

अर्थ—अपने ही पंजे के बल पर शेर हृदय में निर्भय रहता है । (संसार में) उसकी समानता करने वाला कोई दूसरा नहीं है । (सदैव) अकेला ही घूमता है भला उसका कौन साथी ? अर्थात् उसे किसका डर है जो किसी को सहायता के लिए अपने साथ रखे ।

बाघ करै नह कोट वन, बाघ करै नह बाड़ ।
बाघाँ रा वघवाव सूं, भिलै अंगजी भाड़ ।।

प्रसंग—कवि शेर की निडरता एवं आतङ्क का वर्णन करता हुआ कहता है :

अर्थ—सिंह वन के चारों ओर न तो किसी दुर्ग का निर्माण करता है और न (रक्षा के लिए) काँटों की दीवार ही बनाता है । सिंहों की शरीर की गन्ध ही से छोटे-छोटे वृक्ष उन्नति के शिखर पर पहुँच जाते हैं (अर्थात् सिंहों के डर से हाथी आदि दूसरे जानवर भाग जाते हैं जो कि छोटे-छोटे वृक्षों को रौंद डालते हैं। उन जानवरों के अभाव में छोटे वृक्ष निरापद रहते हैं और बढ़ते रहते हैं) ।

सीहाँ देस विदेस सम, सीहाँ किसा उतन्न ।
सीह जिकै वन संचरै, वो सीहाँरौ वन्न ।।

प्रसंग—कवि सिंहों की वीरता और उनकी विलक्षणता का वर्णन करता हुआ कहता है ;

अर्थ—सिंहों के लिए देश और विदेश कैसा ? अर्थात् सिंहों के लिए देश और विदेश समान हैं । सिंह तो जिन वनों में पहुँच जाते हैं वे ही उनके वन हो जाते हैं अर्थात् भय के कारण सभी अन्य जीव उनकी आधीनता स्वीकार कर लेते हैं । (सिंह को वनराज भी कहा जाता है जहाँ वन में शेर रहता है वह वहाँ का राजा रहता है अर्थात् अन्य सभी प्राणी उससे भयभीत और आतङ्कित रहते हैं ।)

घाल घणां घर पातळा, आयौ थह मैं आप ।
सूतौ नाहर नींद सुख, पौहुरौ दियै प्रताप ।।

प्रसंग—कवि सिंह के आतङ्क का वर्णन करता हुआ कहता है :

अर्थ—बहुत से घरों को नष्ट करके सिंह अपनी मांद में आकर सुखपूर्वक निर्भय नींद में सो रहा है और उसका आतंक (प्रताप) उसका पहरा देने लगा (अर्थात् सिंह का आतंक इतना भयंकर होता है कि उसे सोता समझकर भी उसके शत्रु उसके पास तक जाने का साहस तो दूर उधर से निकलने तक का साहस नहीं कर सकते ।)

भुरजमांळ फण मंडली, सोर झाळ विष झाळ ।
जाण सेस बैठो जमी, मिस चीतोड़ कराळ ॥

प्रसंग—कवि चितौड़ दुर्ग को भयंकर शेषनाग के रूप में चित्रित करता है ।

अर्थ—बुर्जों का समूह ही मानो फण समूह हैं जिनमें से बारूद की ज्वाला रूपी भयंकर विषाग्नि निकल रही है । ऐसा प्रतीत होता है मानो चित्तौड़ भयंकर शेषनाग के रूप में इस पृथ्वी पर बैठा है ।

भड़ां जिकाहूँ भाम्णै, केहा करूं बखांण ।
पड़ियै सिर धड़ नह पड़ै, कर वाहै केवांण ॥

प्रसंग—कवि वीरों की प्रशंसा करता हुआ कहता है :

अर्थ—जिन वीरों के सिर कट जाने पर भी धड़ पृथ्वी पर नहीं गिरते उनकी प्रशंसा किस प्रकार की जाए ? अर्थात् ऐसे वीरों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है ।

गाज इतै ऊखेड़ गज, माझल बन तर मूल ।
जागै नह थह में जितै, सझ हाथल सादूल ॥

प्रसंग—सिंह की प्रशंसा करता हुआ कहता है । (इसे अन्योक्ति भी माना जा सकता है तब हाथी अकबर और सिंह महाराणा प्रताप को मानना चाहिए ।)

अर्थ—हे हाथी, तू तब तक खूब गरज ले और वृक्षों की जड़ें उखाड़ ले जब तक कि शेर अपनी माँद में न जग जाए और अपने नाखून ठीक न कर ले (अर्थात् जगने पर वह अवश्य ही तुझे समाप्त कर देगा और इस प्रकार तेरा उत्पात भी समाप्त हो जाएगा ।)

केहरि कुँभ बिदारियौ, गज मोती खिरियाह ।
जाँणे काला जलदसूं, ओला ओसरियाह ॥

प्रसंग—कवि शेर द्वारा हाथी पर किये गए आक्रमण का वर्णन करता हुआ अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षा करता है ।

अर्थ—शेर ने (आक्रमण करके) हाथी का कुम्भस्थल विदीर्ण कर दिया जिससे गजमोती बिखर पड़े । ऐसा प्रतीत होता है मानो काली घटा से

ओले बरसने लगे हों। (उपरोक्त उत्प्रेक्षा से कवि का सूक्ष्म निरीक्षण स्पष्ट हो जाता है।)

केल रहै नित काँपती, कायर जणे कपूर।
सींहण रण साँकै नहीं, सीह जणे रण सूर॥

प्रसंग—कवि वीरता को परम्परागत बताते हुए कहता है :

अर्थ—क्योंकि केला (केले का पेड़) कायर कपूर को जन्म देती है इसलिए स्वयं भी सदैव काँपती रहती है किन्तु निडर शेर को जन्म देकर सिंहनी कभी डरती नहीं दिखाई देती।

पर गढ़ लेणा रोप पग, अरि सिर देणा तोड़।
धरा हूँत नहिं धापणो, खूदालमां न खोड़॥

प्रसंग—कवि वीर पुरुषों के करणीय कामों की ओर संकेत करता हुआ कहता है।

अर्थ—पैर जमाकर शत्रु-दुर्ग पर अधिकार कर लेने से और उसका सिर तोड़ने से और और पृथ्वी विजय कर भी संतुष्ट न होने से वीरों को दोष नहीं लगता।

सूनी थाहर सिंहरी, जाय सके नहिं कोय।
सिंह खड़ा थह सिंहरी, क्यों न भयंकर होय॥

प्रसंग—कवि सिंह के आतंक का वर्णन करता हुआ कहता है :

अर्थ—सिंह की सूनी गुफा ही भयोत्पादक होती है और उसमें कोई नहीं जा सकता फिर भी जब सिंह भी उसमें हो तो फिर उसकी भयंकरता का क्या कहना !

दल अकबर तोपां दगै, सूके नीर निवाण।
गोलां लागे चीतगढ़, मैंगल माछर जाण॥

प्रसंग—चित्तौड़गढ़ की श्रेष्ठता तथा पुष्टता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :

अर्थ—अकबर दल की भयंकर तोपों के चलने से तालाबों का जल तक सूख जाता है किन्तु चित्तौड़ गढ़ की (विशाल भयंकर) काया पर वे ऐसे लगते हैं जैसे किसी भयंकर हाथी को मच्छर के आक्रमण को चोट लगती हों।

कविराजा सूर्यमल

जे खळ भग्गा तो सखी, मोताहळ सज थाळ।
निज भग्गा तो नाहरौ, साथ न सूनो टाळ ।।

प्रसंग—एक सखी दूसरी सखी से कहती है :—

अर्थ—यदि शत्रु पराजित होकर भागे हों तो हे सखी ! तू मोतियों से थाल सजा ला (जिससे प्राणनाथ की आरती उतारूँ) । और यदि अपनी ओर के लोग ही पराजित होकर भागे हों तो प्राणनाथ का साथ मत बिछुड़ने दे अर्थात् सती होने की सामग्री सजा ।

हथळेवे ही मूठ किण, हाथ विलग्गा माय ।
लाखाँ बाताँ हेकलो, चूडो मो न लजाय ।।

प्रसंग—कोई नववधू अपने पति की वीरता की प्रशंसा अपनी माता से मायके लौटने पर करती है ।

अर्थ—हे माता (जब) पाणिग्रहण के अवसर पर तलवार की मूठ के द्वारा पक्की हथेली की ठेक (कड़ी जगह) मेरे हाथ में चुभी मैं तभी समझ गई कि युद्ध में अकेले हो जाने पर भी वे (पतिदेव) मेरे चूड़े को नहीं लजावेंगे अर्थात् कभी हार कर युद्ध से पलायन नहीं करेंगे ।

भूल न दीजै ठाकुरां, पावक माथे पाव ।
राख रहीजै दाझियां, तियां धरीजै चाव ।।

प्रसंग—कोई सती राजपूतों को सम्बोधन करके कहती है :

अर्थ—हे राजपूतो ! आप भूलकर भी आग पर पैर मत रख देना क्योंकि इसके छू जाने पर तो फिर राख ही शेष रहती है। इसका (आग का) आलिंगन करने के लिए तो केवल सती स्त्रियाँ ही लालायित रहती हैं ।

पग पाछा छाती धड़क, काळौ पीळौ दीह ।
नैण मिचै साम्हो सुणै, कवण हकाळै सीह ।।

प्रसंग—सिंह के आतंक का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

अर्थ—जिस सिंह को सामने सुनकर ही दिन काला पीला दिखाई देने लगता है (अर्थात् चक्कर आने लगते हैं) और आँखें मिच जाती हैं, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है उसे सामने ललकारने का साहस भला कौन कर सकता है ?

देख सहेली मो धणी, अज को बाग उठाय ।
मद प्याला जिम हेकलो, फौजाँ पीवत जाय ॥

प्रसंग—कोई स्त्री अपनी सखी से अपने युद्धरत पति की वीरता का वर्णन करती हुई कहती है :

अर्थ—हे सखी मेरे (युद्धप्रिय) पति को देख, घोड़े की बाग उठाकर वह अकेला ही इस तरह शत्रु सेना का शोषण कर रहा है जिस तरह कोई शराबी शराब के प्याले को पी रहा हो ।

नायण न मांड पग, काल सुणीजै जंग ।
धारां लागीजै धणी, तौ दीजौ घण रंग ॥

प्रसंग—महावर लगाने के लिए आई नायन को समझाती हुई कोई राजपूतनी कहती है :

अर्थ—हे नायन ! आज मेरे पैरों पर महावर मत लगा । सुना है कल युद्ध होने वाला है । यदि मेरे पति धारातीर्थ में स्नान करें (अर्थात् तलवार के घाट उतरें) तो फिर खूब रंग देना क्योंकि तब मुझे सती होने का सुअवसर प्राप्त होगा ।

हूँ पाछै आगे हुवे, आणी नाह धरेह ।
जे वाल्ही धण जीव हूँ, आगै मूझ करेह ।

प्रसंग—कोई क्षत्राणी अपने सती होने के विषय में कहती है :

अर्थ—विवाह के समय स्वयं आगे होकर और मुझे पीछे करके स्वामी अपने घर लाये थे। लेकिन (उनकी मृत्यु के पश्चात्) यदि उनकी प्रिय पत्नी मैं जीवित रही तो (सती होने के समय) उनके आगे मुझे रहना पड़ेगा ।

गीध कलेजौ चील्ह उर, कंका अंत बिलाय ॥
तौ भी सौ धक कंतरी, मूँछा भौंह मिलाय ॥

प्रसंग—कोई स्त्री अपने पति की वीर आकृति की प्रशंसा अपनी सखी से कर रही है :

अर्थ—गिद्ध ने कलेजा, चील ने हृदय और पक्षियों ने आँतों को समाप्त कर दिया है तो भी पति का (असाधारण) साहस देखो कि उनकी मूंछे (अब भी) भौंहों से मिल रही हैं ।

दरजण लम्बी अंगिया, आणीजै अब मूझ ।
तब टोटे मोनूं दया, दूण सिवाई तूझ ॥

प्रसंग—किसी स्त्री का पति युद्ध क्षेत्र से हार कर घर भाग आया है। अपने स्वामी के इस कुकृत्य पर उसकी स्त्री अत्यन्त लज्जित है और अपने को विधवा ही समझती है और दर्जिन से वह कह रही है कि अब वह ऐसे कपड़े ही सी लाया करे जैसे विधवा स्त्रियाँ पहनती हैं। (राजस्थान में सधवा स्त्रियाँ कुहनी तक बाँहों वाली कुरतियाँ पहनती हैं । और विधवा स्त्रियाँ लम्बी आस्तीन वाली) :

अर्थ—हे दर्जिन अब तू मेरे लिये लम्बी बाँहों की (कुरतियाँ) सी कर लाया करना । मेरे सधवापन की पोशाकें न सिलने के कारण तुझे जो सिलाई की हानि होगी उसे मैं दूना पारिश्रमिक देकर पूरा कर दूँगी ।

झूरै इम रंगरेजणी, कूरा ठाकुर काय ।
बसन सती धण रंगता, दीधी आस छुड़ाय ॥

प्रसंग—कोई रंगरेजिन युद्ध से हारकर भागे किसी राजपूत को धिक्कार रही है कि उसने उसकी जीविका की हानि की है क्योंकि यदि वह रणक्षेत्र में ही मारा जाता तो उसकी विधवा पत्नी सती होने के लिय अवश्य ही सुन्दर-सुन्दर कपड़े रंगाती। (राजस्थान में युद्धकाल में स्त्रियां चितारोहण के समय ही शृंगार करती थीं, दैनिक जीवन में उस का कोई स्थान नहीं रह गया था, उपरोक्त दोहे से ऐसा प्रतीत होता है।)

अर्थ—रंगरेजिन खीझती हुई ठाकुर से कहती है कि हे ठाकुर ! युद्ध से भाग कर तूने बड़ा बुरा किया क्योंकि तब (तेरे वीरगति प्राप्त होने पर) तेरी सती पत्नी के लिए (चितारोहण के लिए) जो कपड़े रंगने को मिलते अब उनकी कोई आशा न रही ।

हूँ बलिहारी राणिया, साँचा गरभ सिखाय।
जाँचा हंदे तापणैं, हरखै धो दृग लाय ॥

प्रसंग—कोई स्त्री अपनी सखी को समझा रही है कि राजपूत बालिकाओं को प्रसूति गृह से ही जौहर (आग में जल जाने) की शिक्षा मिलती है। जिन घरों में यह शिक्षा मिलती है उनकी प्रशंसा करती हुई वह कहती है—

अर्थ—मैं ऐसी रानियों पर बलिहारी जाती हूँ जो गर्भस्थ बालिकाओं को ही ऐसी शिक्षा देती हैं कि वे (बालिकायें) प्रसूति गृह में ही तापने की अंगीठी की अग्नि को निर्निमेष (एकटक) देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती हैं ।

कंत लखीजै दोहि कुल, नथी फिरंती छाँह ।
मुडियाँ मिलसी गींदवौ, बले न धणरी बाँह ॥

प्रसंग—कोई स्त्री अपने पति को समझा रही है कि यदि हार कर आप घर लौटे तो आपको मुझ से प्रेम और स्वागत की आशा न रखनी चाहिए ।

अर्थ—हे स्वामी ! अपनीं इस चलती फिरती छाया (नश्वर काया) को (मत देखना) बल्कि मेरे और अपने दोनों कुलों को देखना—ध्यान रखना । यदि आप युद्ध से हारकर लौटे (तो यह ध्यान रखिए) तो आपको सिरहाने के लिए तकिया भले ही मिल जाए परन्तु मेरी भुजा फिर कभी आपको सिरहाने के लिए न मिलेगी ।

बंब सुणायौ बीन्द नूं, पेसताँ घर आय ।
चंचल साम्है चालियौ, अञ्चल बंध छुड़ाय ।

प्रसंग—एक युद्धप्रेमी राजपूत अपनी शादी करके लौट रहा था कि गृह में प्रवेश से पूर्व ही (युद्ध के) नगाड़े बज उठे । वह नववधू और गृह-सुख का ध्यान विस्मृत कर युद्ध में सम्मिलित होने के लिए अपने अश्व की ओर बढ़ा ।

अर्थ—विवाह के पश्चात् घर आने पर गृह प्रवेश के समय ही वर को युद्ध के नगाड़े सुनाई दिए । नगाड़ों के शब्द को सुनते ही नववधू के अंचल से गाँठ छुड़ाकर (युद्ध में सम्मिलित होने की इच्छा से) वह अश्व की ओर बढ़ा ।

इल्म न देणी आपरी, हालरिया हुलराय ।
पूत सिखावै पालणे, मरण बड़ाई माँय ॥

प्रसंग—क्षत्राणी मां बच्चों को आरम्भ से युद्ध प्रेमी और निडर किस प्रकार बना देती है इस बात का वर्णन कवि करता है ।

अर्थ—अपने बच्चे को पालनें में झुलाते समय ही (एक क्षत्राणी मां) अपने बच्चे को सिखा देती है कि चाहे प्राण जांय किन्तु अपनी पृथ्वी किसी को मत देना ।

बैरी बाड़ें वासड़ौ, सदा खणंकै खाग ।
हेली कै दिन पाहुणौ, ऊढ़ा भाग सुहाग ॥

प्रसंग—एक सखी दूसरी सखी से अपनी किसी सहेली के विषय में कह रही है कि :—

अर्थ—हे सखी ! इसका (सहेली का) निवासस्थान शत्रु की सीमा के निकट है जहाँ प्रायः हर समय ही तलवार खटका करती है । कौन कह सकता है कि सौभाग्य इस नववधू के यहाँ कितने दिनों का मेहमान है (अर्थात् पता नहीं कब तक बेचारी सौभाग्यवती रहे) ।

हूँ हेली अचरज कहूँ, घर में बाथ समाय ।
हाकौ सुणताँ हूलसे, मरणौ कौच न माय ॥

प्रसंग—कोई स्त्री अपने पति की युद्धप्रियता का वर्णन अपनी सखी से करती है :

अर्थ—हे सखी ! एक आश्चर्य की बात सुनाती हूँ कि घर पर तो प्रियतम मेरी भुजाओं में समा जाते हैं किन्तु युद्ध की हाँक (ललकार, शोर) सुनते ही वे युद्धप्रिय प्रियतम प्रसन्नता के कारण इतने फूल जाते हैं कि कवच में भी नहीं समाते ।

तन दुरंग औ जीवतन, कढ़णौ मरणौ हेक ।
जीव विणट्ठा जे कढ़ौ, नाम रहीजै नेक ॥

प्रसंग—कवि की उक्ति है ।

अर्थ—दुर्ग से शरीर का निकलना और शरीर से प्राणों का निकलना एक ही बात है । तब किले में से मरकर निकलना श्रेयस्कर है जिससे नाम तो रहे ।

वीर-काव्य संग्रह

प्रश्न १०—"कुछ आचार्यों का मत है कि वीर रस अन्य रसों से श्रेष्ठ है।" इस कथन के आधार पर वीररस की श्रेष्ठता और व्यापकता सिद्ध कीजिए।

उत्तर—काव्य का अन्तिम लक्ष्य है आनंद की प्राप्ति। काव्य की भाषा में इसी को रसनिष्पत्ति भी कह सकते हैं। कवि किसी बात का या घटना का ऐसा साङ्गोपांग वर्णन करता है कि पाठक अपने आपको भूल जाता है और उसे एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है, ऐसे आनंद की, जो अनुभूति में सांसारिक आनंद से भिन्न है। काव्यानंद की इसी अलौकिकता के कारण उसे ब्रह्मानंद-सहोदर भी कहा गया है। ब्रह्मानंद की तो संसार के किसी आनंद से तुलना नहीं है। वह परिमाण में लौकिक आनंद से कितना गुणा बड़ा है, आचार्यों का कथन है कि इस बात को व्यक्त करने में अंक-गणित भी असमर्थ है। हाँ, अगर ब्रह्मानंद के पश्चात् आनंद अपने सर्वाधिक, घनीभूत रूप में मिलता है तो काव्यानंद में। काव्यानंद के विषय में दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं:—

१—यह लौकिक आनंद से इस बात में भिन्न है कि जो बातें वस्तु-जगत् में हमें घृणात्मक या विरक्तिकारी लगती हैं काव्य में वही आनंद का कारण बनती हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी।

किसी स्त्री का इकलौता पुत्र मर गया हो और वह सड़क पर बैठकर धाड़ मारकर रो रही हो, उसके पास बच्चे को ढकने के लिए कफन तक न हो तो इस दृश्य को कोई भी दर्शक वस्तु-जगत् में बार-बार न देखना चाहेगा। इसी प्रकार माँस के लोथड़े, विष्टा, कै आदि वस्तु-जगत् में तो विरक्तिकारी वस्तुयें ही हैं किन्तु बीभत्सरस के वर्णन में काव्य में पाठक उस वर्णन को कई बार पढ़ना चाहेगा जिसे देखना भी वह पसंद नहीं करता। इसी प्रकार करुण रस के रूप में जब दर्शक शैब्या को रोते देखता है तो उस दृश्य को वह शतशः कर देखना या पढ़ना चाहता है। इसी प्रकार भयानक रस को लिया जा सकता है।

वस्तु-जगत् में हृदय को स्तब्ध कर देने वाली डरावनी-भयानक वस्तुयें मनुष्य एक बार से अधिक देखना पसंद न करेगा किन्तु काव्य के अन्तर्गत वह इस प्रकार की वस्तुओं को (नाटक के रूप में, कितनी ही बार देखना चाहता है और (श्रव्य काव्य के रूप में) कितनी ही बार पढ़ना चाहता है ।

२—दूसरी बात है साधारणीकरण की । वस्तु-जगत् में उपरोक्त दृश्यों को देखकर किसी भी व्यक्ति का दृश्य वस्तुओं के साथ तादात्म्य न होगा अतः उपरोक्त दृश्य उसके आनंद का विषय न बन सकेंगे ।

बात को अधिक स्पष्टता के साथ कहा जाय ।

मान लीजिए कोई व्यक्ति सड़क पर किन्हीं दो व्यक्तियों को तलवार से एक दूसरे पर वार करते देखता है तो दर्शक के रूप में वहाँ खड़े होकर आनन्द लेने के स्थान पर या तो डरेगा या पुलिस को खोजने दौड़ेगा । इसी प्रकार किसी उद्यान या मार्ग में खड़े प्रेमिक युगल को प्रेम की बातें करते-करते देखकर किसी को क्षोभ होगा किसी को कुछ । इतना तो निश्चित है कि किसी भी दर्शक के लिए वह आनन्द का विषय न होगा, ईर्ष्या का विषय हो सकता है । वह सामाजिक अशिष्टाचार भी है इसलिए अवांछनीय भी है । किन्तु प्रश्न है ऐसा होता क्यों है ?

बात यह है कि मनुष्य का निर्माण सत्व, रज, तम आदि तीन गुणों से हुआ है । वस्तु-जगत् में मनुष्य का प्रत्येक विचार तथा कार्य उपरोक्त गुणों से प्रभावित रहता है । अतः दुःख, शोक तथा हर्षादि का अनुभव मनुष्य करता रहता है । किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से पाठक या दर्शक के हृदय में रसनिष्पत्ति होती है और वर्ण्य या दृश्य (यदि नाटक हो) विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है । आचार्यों का कथन है कि यह तादात्म्य तभी सम्भव है जब कि भावनाओं का उदात्तीकरण या सात्विकीकरण हो जाय । ऐसा होने पर प्रत्येक वस्तु आनंद का कारण ही होती है, दुःख का नहीं । यही कारण है कि काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर तथा अलौकिक कहा गया है । अलौकिक का अर्थ अपार्थिव नहीं है । इसका अर्थ है जो लौकिक न हो । ऊपर उदाहरण देकर यह दिखाया जा

चुका है, किस प्रकार लोक में अरुचिकर लगने वाली वस्तुयें काव्य में आनन्द दायक लगती हैं।

रसभेद—काव्य को पढ़कर पाठक जिस आनन्द का अनुभव करता है वही काव्यानंद है। जितने भी रस (९) हैं उनसे प्रसूत आनन्द एक ही प्रकार का होता है इसलिए यह प्रश्न उठ सकता है कि जब सभी रसों से प्रसूत आनन्द एक ही प्रकार का होता है तो रसों के विभिन्न नाम रखने की क्या आवश्यकता है। और यदि इसे आठ या दस प्रकार का माना भी जाय तो इसका शास्त्रीय आधार क्या है ? वास्तव में उपाधि के अतिरिक्त इस विभेद का और कोई कारण प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार कार्य भेद के कारण एक ही मनुष्य ब्राह्मण, गुरु, पुरोहित, अध्यापक या शिष्य के विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है उसी प्रकार आनन्द स्वरूप एक ही रस विभावादिकों के अलग-अलग होने के कारण आठ, नौ या दस प्रकार का हो सकता है।

अग्निपुराण में इस विषय का कुछ विवेचन मिलता है। उसमें श्रृंगार रस के निरूपण के अन्तर्गत केवल चार रस ही प्रधान माने गए हैं जैसे, श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स।

अग्निपुराण के अनुसार 'राग' से 'श्रृंगार' तथा 'तैक्ष्ण्य' से रौद्र रस उत्पन्न होते हैं। अवष्टम्भ (दर्प) से वीर तथा 'संकोच' से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। इन्हीं मुख्य चार रसों से अवशिष्ट चार रसों की उत्पत्ति मानी गई है। जैसे, श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक।

रह गया वात्सल्य और शान्त रस, सो अग्निपुराणकार वात्सल्य रस को रस नहीं मानते और शांत रस को रस मानते हुए भी उन्होंने उसकी उत्पत्ति नहीं दी है।

वीर रस—साहित्य-दर्पणकार ने 'उत्तमप्रकृतिर्वीरः' लक्षण देकर वीर रस को अन्य रसों से श्रेष्ठ माना है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार इसका स्थायी-भाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण के सदृश होता है। पराजित होने योग्य रावणादि आलम्बन-विभाव होते हैं और उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (धनुष, सैन्यादि) का अन्वेषणादि इसका अनुभाव होता है। धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके संचारी भाव हैं।

यह दान, धर्म, युद्ध और दया के कारण चार प्रकार का माना गया है—
१. दानवीर २. धर्मबीर ३. दयावीर ४. युद्धवीर । अब इनका पूर्ण विवरण लीजिए—

१. दानवीर:—

स्थायीभाव—त्याग में उत्साह

आलम्बन—दान योग्य ब्राह्मणादिक ।

उद्दीपन—ब्राह्मणादिकों की सत्वगुणादिपरायणता ।

अनुभाव—सर्वस्व परित्यागादि ।

संचारी—हर्ष, गर्व, मति आदि ।

२. धर्मवीर:—

स्थायीभाव—धर्म में उत्साह ।

आलम्बन—धर्म तथा धार्मिक ग्रन्थादि ।

उद्दीपन—यज्ञ, अनुष्ठान आदि ।

अनुभाव—धर्माचरण, धर्मार्थ कष्ट-सहन आदि ।

संचारी—धृति, मति आदि ।

३. युद्धवीर:—

स्थायीभाव—युद्ध में उत्साह ।

आलम्बन—शत्रु ।

उद्दीपन—शत्रु-पराक्रम ।

अनुभाव—गर्वोक्ति ।

संचारी—गर्व, तर्क, धृति, स्मृति, रोमांच आदि ।

४. दयावीर:—

स्थायीभाव—दया में उत्साह ।

आलम्बन—दया के पात्र ।

उद्दीपन—दीनदशा ।

अनुभाव—सान्त्वना के वाक्यादि ।

संचारी—धृति, मति, रोमांचादि ।

रौद्ररस और वीररस में एक समानता है कि दोनों का ही आलम्बन शत्रु

होता है किन्तु फिर इनमें भेद कैसे किया जाय ? साहित्यदर्पणकार का कथन इस विषय में यह है कि नेत्र तथा मुख का लाल होना रौद्ररस में होता है वीर रस में नहीं क्योंकि वहाँ उत्साह ही स्थायी होता है। यही इन दोनों में भेद है।

वीर रस के विरोधी रस—शृंगार, शान्त तथा भयानक रस हैं।

अनेक आचार्यों ने वीर रस के उपरोक्त भेदों के अतिरिक्त और भेद भी किये हैं। डा० उदयनारायण तिवारी का कहना इस विषय में यह है कि—

"यदि इस प्रकार सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो वीर रस के अनन्त भेद हो जायेंगे और वीर रस की परिधि इतनी विस्तृत हो जायगी कि उसमें सभी रसों का समावेश हो जायगा। सम्भवतः इसी विचार से श्रीवियोगी हरि जी ने अपनी वीर सतसई में अनेक वीरों के उदाहरण उपस्थित किए हैं, यथा शूरवीर, दयावीर, धर्मवीर, विरहवीर, युद्धवीर आदि।"

विरहवीर के विषय में वियोगीहरि जी का मत जानने योग्य है।

"साहित्यिकों ने इस नाम का वीरों में कोई विभाग नहीं किया है। पर वीर रस का स्थायीभाव उत्साह विशुद्ध विरह में अच्छी मात्रा में पाया जाता है। इसी से हमने अद्वितीय विरहिणी व्रजाङ्गनाओं को 'विरहवीर' नामक नए वीर विभाग में स्थान देने की धृष्टता की है।

वास्तव में बिना उत्साह के तो संसार का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता और ध्यान से देखा जाय तो यह उत्साह सभी रसों के मूल में मिलेगा इसलिए वीर रस, उत्साह जिसका स्थायी भाव है, यदि रसों में श्रेष्ठ माना है तो इसमें औचित्य का अभाव तो नही है।

प्रश्न ११—संस्कृत और हिन्दी के वीर-रसात्मक साहित्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—संस्कृत विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्धतम भाषाओं में से है। उसका साहित्य सभी दृष्टियों से पूर्ण है और विश्व की किसी भी आधुनिक या प्राचीन भाषा के साहित्य से टक्कर ले सकता है। विषय की विविधता भी संस्कृत साहित्य में जितनी है शायद ही किसी भाषा में हो। शृंगार रस का अथाह समुद्र संस्कृत साहित्य में हिलोरें ले रहा है। वीररसात्मक साहित्य भी

प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जितनी यथार्थ, मार्मिक और सहज वीररस की कविता संस्कृत में हुई है शायद ही किसी साहित्य में हुई हो। संस्कृत अधिकांश भारतीय भाषाओं का आदि स्रोत है। इसलिए और भाषाओं के कलेवर उनके बाह्य एवं आंतरिक स्वरूप संघटन का बहुत कुछ निर्माण उनके मूल स्रोत पर ही आधारित है।

संस्कृत भी दो प्रकार की कही जाती है वैदिक संस्कृत तथा साहित्यिक (लौकिक) संस्कृत। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक आदि वैदिक संस्कृत के अन्तर्गत आते हैं और महाकाव्य, पुराण, नाटकादि साहित्यिक संस्कृत के अन्तर्गत आते हैं।

वीररसात्मक साहित्य वैदिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की संस्कृत में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

वेदों में भी ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है और उसमें भी युद्ध के कितने ही प्रसंग आते हैं। ऋग्वेद के एक सूक्त में तृत्सु वंश के राजा सुदास की विजय का वर्णन है, तो दूसरे में दिवोदास द्वारा शम्बर के पराजित करने का विस्तृत वर्णन है। किन्तु विद्वान् शतपथ ब्राह्मण को ही वीरकाव्य का आदि रूप मानते हैं। शतपथ में राजाओं की वीरता की स्तुति मिलती है। वह स्तुति ही वास्तव में आज के वीररसात्मक काव्य का आदि रूप है।

साहित्यिक (लौकिक) संस्कृत का अमर ग्रन्थ महाभारत तो वीररसात्मक काव्य का सागर है। महाभारत में तो सिवाय युद्ध के और है ही क्या। संस्कृत साहित्य में महाभारत उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ माना जाता है और उसका वीररसात्मक वर्णन तो उच्चतर कोटि का है। महाभारत में सूत तथा मागधों का नाम अधिकता से आता है। वीररसात्मक काव्य के रचयिता ये ही लोग माने जाते हैं, इन्हें यदि भाट भी कहें तो अनुचित न होगा। इन लोगों का कार्य था अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता का अत्युक्तिपूर्ण बखान। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कथानक ऐसे मिलेंगे जो पुराणों में संकलित हैं। यह भी निश्चित है कि ये वीररसात्मक कथानक पहले पहल मौखिक रूप में प्रचलित रहे होंगे और बाद में पुराणों में संकलित कर दिए गये होंगे।

रामायण भी साहित्यिक (लौकिक) संस्कृत का उत्कृष्टतम काव्य है।

राम-रावण के संघर्ष का विस्तृत वर्णन इसमें है। राम की सेना का आक्रमण और राक्षसों का मारा जाना आदि कितने ही ऐसे प्रसंग हैं जो वीररस पूर्ण हैं। किन्तु रामायण में आए वीरतापूर्ण प्रसंगों के विषय में विद्वानों का कथन है कि उनमें मार्मिकता एवं स्वाभाविकता का अभाव है। वे अत्युक्तिपूर्ण तथा परम्परागत अधिक हैं। ओज का उनमें उतना समन्वय नहीं है जितना होना चाहिए। उदाहरणार्थ नीचे की पंक्तियां हैं :

तत्र कोपान्महेन्द्रस्य कुम्भकर्णो महाबलः ।
विकृष्यैरावताद्दन्तं जघानोरसि वासवम् ॥

अर्थात् उधर महाबली कुम्भकर्ण ने कुपित होकर ऐरावत हाथी का दांत उखाड़कर इन्द्र की छाती में मारा।

कालिदास कृत रघुवंश में भी राम-ताड़का जैसे कुछ युद्ध-प्रसंग हैं। ऐसे प्रसंगों में वीररस का अच्छा परिपाक भी मिलता है किन्तु वास्तव में कालिदास मूलतः श्रृंगारी कवि हैं अतः वीररसात्मक स्थलों में उनका मन अपेक्षाकृत कम रमता है और हार्दिकता का स्थान भाषा-पाण्डित्य ले लेता है। वीरता के प्रतीकों के स्थान पर कालिदास ने अधिकांश स्थानों पर काम के प्रतीकों से ही वीर रस में भी काम चलाया है। राम-ताड़का-युद्ध का एक चित्र देखिए।

राम-मन्मथशरेण ताड़िता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिर-चन्दनोक्षिता जीवितेश-वसतिं जगाम सा ॥

(राम रूपी कामदेव के दुःसह बाण से हृदय पर चोट खाई हुई वह राक्षसी गन्धयुक्त रक्तरूपी चन्दन से विलेपित होकर अपने प्राणनाथ यम के पास आ गई।)

अर्थगौरव के लिए संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध महाकवि भारवि की प्रसिद्ध रचना 'किरातार्जुनीय' में युद्ध के कितने ही सुन्दर और मार्मिक चित्र मिलते हैं।

प्रलय के समान भयंकर गांडीवधारी अर्जुन किरात से युद्ध करने के लिये जा रहे हैं। उनके बाणों के कारण दिशायें विक्षिप्त हो जाती हैं। सूर्य प्रभाहीन हो जाता है। वायु व्याकुल हो उठती है और पर्वतों के साथ-साथ

धरा (पृथ्वी) भी काँपने लगती है। वर्णन इतना मार्मिक, स्वाभाविक तथा ओज गुण पूर्ण है कि अर्जुन का वीर रूप आँखों के समक्ष साकार हो जाता है।

संस्कृत के विभिन्न नाटकों में भी वीररस का सुन्दर चित्रण मिलता है। भवभूति कृत 'उत्तर रामचरित' यद्यपि 'करुणरस' का नाटक माना जाता है, किन्तु उसमें भी एक स्थान पर लव की ओजपूर्ण उक्ति है। लव अपने धनुष को आरोपित करके कहता है :—

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुपरिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ॥

(प्रत्यञ्चा रूपी जिह्वा से वेष्टित, उन्नत कोटिरूप दाँतवाला, घनघोर घर्घर घोष करने वाला, ग्रसने में आसक्त हसते हुए यम के मुखयन्त्र की जंभाई का अनुकरण करने वाला विकट उदर वाला यह धनुष है।)

लेकिन संस्कृत साहित्य में 'वेणीसंहार' वीररस का सर्वोत्कृष्ट नाटक कहा जा सकता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें उक्तियाँ ऊहात्मक नहीं हैं और न इसकी शैली वर्णनात्मक है वरन् मानसिक भावनाओं एवं उनके मुख में प्रतिबिम्बित होने के वास्तविक चित्र हैं। दूसरे शब्दों में इसमें हुआ वीररस-वर्णन बिम्बग्रहण पद्धति पर हुआ है, नामपरिगणनात्मक रूप में नहीं। भीम क्रोध से सहदेव की ओर देखकर कहते हैं, देखिए कितनी ओजगुण बिशिष्ट उक्ति है :—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

(मैं रण में क्रुद्ध होकर सौ कौरवों का बिनाश न करूंगा और न दुःशासन के हृदय का रक्त ही पान करूंगा। अपनी गदा से सुयोधन की दोनों जंघाओं को भी चूर्ण न करूंगा। युधिष्टिर पण (पाँच गांव लेकर) सन्धि कर ले। यह तो वक्रोक्ति है। भीम का अभिप्राय वास्तव में उन सब कामों को करने का है जिसका निषेध ऊपर दिखाया गया है।)

जब अश्वत्थामा कर्ण को 'राधागर्भ भारभूत' तथा 'सूतापसद' कह कर संबोधित करता है, कर्ण भी अत्यंत क्रुद्ध हो कर उत्तर देता है :—

निर्वीर्यो वा सवीर्यो वा मया नोत्सृष्टमायुधम् ।
यथा पांचालभीतेन पित्रा ते बाहुशालिना ॥
सूतो वा सूत्रपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥

मैं निर्बल होऊं या सबल, मैंने हथियार तो छोड़ नहीं दिए हैं जैसे कि आपके महापराक्रमी पिता ने धृष्टद्युम्न के भय से छोड़ दिये थे । रहा सूत पुत्र होने के विषय में (तो सुनो) चाहे मैं सूत होऊँ या सूत पुत्र या सब प्रकार से हीन व्यक्ति होऊँ वंश तो भाग्य के वश है (अर्थात् मनुष्य के प्रयत्न इस दिशा में व्यर्थ हैं) हां, पौरुष अपने अधिकार की बात है (और वह मेरे पास है) ।

'वेणी-संहार' में अश्वत्थामा की निम्नांकित उक्ति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे ॥

(यदि रणक्षेत्र छोड़कर अन्यत्र चले जाने से मृत्यु का भय नहीं है तब तो उचित ही है किन्तु यदि प्राणियों की मृत्यु निश्चित ही है (जैसा कि है ही, तो भागने के द्वारा) यश को मलिन करना ठीक नहीं है ।

अब यहाँ हिन्दी के वीररसात्मक काव्य पर विचार किया जाय । सम्राट् हर्षवर्धन के राजत्वकाल से ही देशी भाषायें गौरव प्राप्त करने लगी थीं । संस्कृत से लेकर आज तक के साहित्य की प्रवृत्तियाँ शृंखलाबद्ध हैं । इसलिए आज के साहित्य को प्राचीन साहित्य से एकदम अलग करके नहीं देखना चाहिए । हर्षवर्धन का काल वास्तव में संक्रान्तिकाल है । पं० जयचन्द विद्यालंकार के शब्दों में उस काल का चित्र देखिए :—

"किन्तु इसके (वाकाटक-गुप्त युग) बाद भारतीय मस्तिष्क मानो थक कर अपने को पूर्णता तक पहुँचा अनुभव करने लगता है और आगे बढ़ना

छोड़ देता है। वह पुराने का भाष्य, व्याख्या, टीका और टिप्पणी करना ही अपना काम समझ लेता है और कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काटने लगता है। आठवीं शती का काश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट पुकार कर कहता है 'कुतो ना नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितु क्षमा:'—हममें नई वस्तु कल्पना करने की शक्ति कहाँ है ? भारतीय कला इस युग में अपने चरम सौंदर्य को पहुँचती है पर उसमें गुप्त युग वाली जान और ओजस्विता नहीं रहती। वैदिक युग से गुप्त युग तक भारत में अनेक संघ राज्य या गणराज्य थे, मध्यकाल में किसी गण राज्य का नाम नहीं सुना जाता। जनता अपने राजनैतिक कर्तव्य की उपेक्षा करने लगती है। पहले ग्रामों, श्रेणियों, निगमों की सभायें तथा जन-पदों की परिषदें कानून बनातीं और स्मृतियाँ केवल उनकी व्याख्या करती थीं। अब प्राचीन स्मृतियाँ जीवित मनुष्यों के ठहरावों का स्थान ले लेती हैं। दूर और नई जगह ब्याह-शादी करने से लोगों को झिझक मालूम होने लगती है और समाज में अब तक दर्जों का जो तरल भेद था वह अब पथरा कर जाति-पाँति बन जाता है। शिल्प और व्यापार की समृद्धि से जुटने वाली पूँजी मन्दिरों की ललित कला पर ढेर की ढेर संचित होने लगती है। १३वीं-१४वीं शताब्दी में हेमाद्रि, नीलकण्ठ और कमलाकर भट्ट धर्मिष्ठ हिन्दू की वर्ष भर की चर्या के लिए करीब दो सहस्र व्रतों, पूजाओं आदि का विधान करते हैं। ऐसी मन:स्थिति वाली जाति संसार में कैसे खड़ी रह सकती है।"

किसी जाति की जैसी मन:स्थिति होगी उसका साहित्य भी उसी के अनुकूल होगा, यह निश्चित है। इसलिए सातवीं-आठवीं शताब्दी का अधि-कांश साहित्य सिद्ध साहित्य ही है।

सिद्ध साहित्य के अतिरिक्त इस काल में देशी भाषा में लिखा गया पर्याप्त जैन साहित्य भी मिला है। महापण्डित राहुल साँकृत्यायन ने अपनी 'हिन्दी काव्य धारा' में इस काल के कवियों की रचना पर उचित प्रकाश डाला है। यहाँ स्वयंभू (सं० ८००) की वीर रसात्मक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

भिडिग्रइ वे, सेण्णइ ग्राउ जुज्झु घोर।
कुण्डल-कडय-मउड णिवडंत कणय डोर।
हण - हण - हणंकारु महारउद्द ।
छण - छण छणन्तु गुण पिंछ सद्द ।
कर - कर - करन्तु कोयंड पवरु ।
थर - थर - थरन्तु णाराय - णियरु।
खण-खण-खणन्तु तिक्खग्ग खग्गु ।
हिल-हिल-हिलन्तु हय-चंच लग्गु ।
गुल-गुल-गुलन्तु गयवर विसालु।
हणु-हणु भणन्तु णर-वर विसालु ।

डा० उदयनारायण तिवारी उपर्युक्त पद का निम्नांकित रूपान्तर लिखते हैं :—

भिडिया दोउ सेन ग्राव युद्ध घोर ।
कुण्डल-कटक-मुकुट निपतंत कणक-डोर।
हन - हन हनकार महा - रउद्र ।
छन-छन छनन्त गुण पिच्छ शब्द।
कर-कर करन्त कोदंड प्रवर।
थर-थर थरन्त नाराच निकर।
खन-खन खनन्त तीक्ष्णाग्र खडग।
हिल-हिल हिलन्त हय चंचलाग्र।
गुलगुल गुलन्त गजवर विशाल।
हनाहन भनन्त नरवर विशाल ।

'स्वयंभू' कृत सुग्रीव ग्रौर मेघवाहन के युद्ध का भी एक दृश्य देखें :—

किक्किंध-णराहिउ धरिउ जाव ।
धण-वाहण भा मंडलह ताव :
ग्रब्भिट्ट परोप्परु जुज्झ घोरु।
सरि सोत्त स उत्तरे पहर थोरु।
छिज्जंत महग्गय गरुग्र गत्तु ।

णिवडंत समुद्‌धुय-धवलछत्तु ।
लोट्टत महारह हय रहगु ।
घुम्मत पडंत महा तुरंगु ॥
तुट्टंत कवड तुट्टंत खग्गु ।
णच्चन्त कबंधउ असि करग्गु ॥

उपरोक्त पद का डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा दिया गया हिन्दी रूपान्तर—

किष्किंध-नराधिप धरेउ याव ।
धन वाहण भा मंडलहं ताव ।
आ भिडेउ परस्पर युद्ध घोर ।
शर स्रोत स्व उत्तरे प्रहर थोर ।
छिन्नंत महागज गरुअ गात्र ।
निपतंत समुद्धत-धवल-छत्र ।
लोटन्त महारथ हय रथांग ।
घूमन्त पडन्त महा तुरंग ।
टूटन्त कवच टूटन्त खडग ।
नाचंत कबन्धउ असि कराग्र ।

राहुल जी की काव्यधारा में संकलित १३ वीं शताब्दी के आरम्भ के किसी अज्ञात कवि का युद्धवर्णन सम्बन्धी निम्नांकित पद देखिए ।

अहि ललइ महि चलइ, गिरि खसइ, हर खलइ ।
ससि घुमइ अमिय वमइ मुअल जिवि उट्ठए ।
पुणु धसइ पुणु खसइ पुणु ललइ पुणु घुमइ ।
पुणु वमइ जिविअ विविह परि समर दिट्ठए ॥
गअ गअहि ढुक्किअअ तरणि लुक्किअ तुरअ तुरअहि जुज्झिआ ।
रह रहहि मीलिअ धरणि पीलिय अप्प पर णहि बुज्झिआ ।
वल मिलअ 'आइ अपत्ति जाइउ' कंप गिरवर सीहरा ।
उच्छलइ साअर दीण काअर बाहर वड्ढिय दीहरा ॥

उपरोक्त पद का डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा दिया गया हिन्दी रूपान्तर—

अहि ललै महि चलै गिरि खसै हर खलै।
शशि घुमै अमिय वमै मुअल जीइ उट्ठइ।
पुनि धसै पुनि खसै पुनि ललै पुनि घुमै।
पुनि बमै जीविता विविध परिसमर दृष्टए।
गज गर्जाहि ढुक्किय तरणि लुक्किय तुरंग-तुरंगहि जूझिया,
रथ रर्थाहि मेलिय धरणि पेलिय, आप पर नहिं बूझिया।
बल मिलै आइय पत्ति जाइय, कंप गिरिवर शीखरा।
ऊछलै सागर दीन कातर बैरी बाढ़िय दि.घरा॥

उपरोक्त मूल पद की भाषा हिन्दी के अत्यन्त निकट है, ऐसा उसके हिन्दी रूपान्तर से स्पष्ट है। इस काल की युद्ध-वर्णन सम्बन्धी सभी कविताओं की शब्दावली इसी प्रकार की है।

इसके पश्चात् भारत में एक भयंकर क्रान्ति का युग आता है। विदेशियों के आक्रमण भारतीय भूमि पर आरम्भ हो जाते हैं और यहाँ की जनता तथा सामन्तों का ध्यान उनके प्रतिरोधार्थ आकृष्ट होता है। यह तो ठीक है कि इस काल के कवियों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय नहीं है किन्तु फिर भी उन्होंने अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में जो कवितायें लिखी हैं, उनमें वीर रस का उचित परिपाक है। इस काल के कवि सामन्त भी होते थे अतः युद्ध-वर्णन में जितनी स्वाभाविकता और यथार्थता इस काल में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इस काल में व्यक्तियों की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की तो एक हवा ही बह उठी। अब्दुल रहीम खानखाना जैसे शान्तिप्रय व्यक्ति की तलवार के विषय में गंग कवि कहते हैं:—

एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ चलीं,
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यौ गनपति गनपति गह्यौ गौरी,
गौरीपति गह्यौ पूंछ लपकि बरध की।

(खानखाना की तलवार ने इतने अधिक शत्रुओं का वध किया कि खून की नदियाँ बहने लगीं और उसकी बाढ़ से सम्पूर्ण भू-मण्डल डूबने लगा यहाँ

तक कि शिव परिवार की भी आफत आ गई, डूबने के भय से गणेश पार्वती को और पार्वती गणेश को तथा शिव अपने नन्दी की पूँछ को ही पकड़ कर मुक्ति की आशा करने लगे ।)

वीरकाव्य की दृष्टि से हिन्दी के रासो भी बड़े महत्वपूर्ण हैं । रासो ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—कुछ तो मुक्तक वीर गीतों के रूप में और कुछ प्रबन्ध काव्यों के रूप में । मुक्तक रूप में लिखे गए ग्रन्थों में वीसलदेव रासो तथा आल्हखंड आदि तथा प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखे गए ग्रन्थों में खुमान रासो तथा पृथ्वीराज रासो आदि हैं ।

यों हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीतिकाल में वीररसात्मक कविता का प्रायः अभाव ही है फिर भी केशव का 'वीरसिंह देव चरित', मान का 'राजविलास', भूषण का 'शिवराज भूषण', लाल का 'छत्रप्रकाश', सूदन का 'सुजान चरित' आदि वीर रस के काव्य ग्रन्थ मिलते हैं ।

यद्यपि गोस्वामी जी का 'रामचरित मानस' शान्त रस का ग्रन्थ है किन्तु फिर भी यथास्थान उसमें वीर रस का अच्छा परिपाक मिलता है । कुछ उद्धरण अप्रासंगिक न होंगे ,

राम-रावण युद्ध में राम का क्रोध-वर्णनः—

भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।
कोदंडधुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे ।
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे ।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे ।

× × × ×

राम-खरदूषण युद्ध -वर्णन :—

उर दहेउ कहेउ कि धरहु धावहु बिकट भट रजनीचरा ।
सर-चाप तोमर-शक्ति-सूल-कृपान-परिघ परसु-धरा ।
प्रभु कीन्ह धनुष टकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा ।
भये बधिर व्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा ।

× × × ×

तब चले बान कराल । फुंकरत जनु बहु व्याल ।
कोपेउ समर श्रीराम । चले विसिख निसित निकाम ।

अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर वीर।
भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन तें जाइ।

हिन्दी के भारतेन्दु युग में वीर-रसात्मक कविताओं का तो अभाव है। उसमें वीर रसात्मक कुछ छन्द या तो नाटकों में मिलते हैं या देशभक्तिपूर्ण कविताओं के प्रसंग में। आज भी यों तो वीर रसात्मक कविताओं का अभाव ही है फिर भी कुछ कवि ऐसे हैं जो आज भी वीर रस से पुष्ट काव्य रचना करते हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं—लाला भगवानदीन, बुन्देला बाला, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, 'निराला', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, अनूपशर्मा 'दिनकर', श्यामनारायण पांडेय आदि।

वीर-काव्य-संग्रह के कुछ पद

नरपति नाल्ह

गरब न बोलो हो मो भरतार।
बाजा बजे राजा असिय हजार॥
लंका पति रावण धणी।
सात समंद विच बस्ती फेर॥
लंक विधुंसी बानराँ।
थे काई सराहो राजा गढ़ अजमेर॥

प्रसंग—इससे पूर्व राजा बीसलदेव अपनी धन-सम्पत्ति का गर्व कर चुके हैं, अब रानी (राजमती) उत्तर देती हुई कहती हैं:—

अर्थ—हे पति! अभिमानपूर्ण बातें मत करो। लंकाधीश (रावण भी बड़ा) धनी था। उसकी लंका सात समुद्रों के बीच में स्थित थी (अर्थात् बिलकुल सुरक्षित थी)। उसके द्वार पर (उसके वैभव के प्रतीक) अस्सी हजार बाजे बजते थे। ऐसी (दुर्भेद्य) लंका को वानरों ने विध्वंस कर डाला, तुम (तू) गढ़ अजमेर की क्या प्रशंसा करते हो।

जइ तूं पूछइहो धरह नरेस।
बन खंड रहती हरिणि कई बेस।

निरजला करती एकादसी ।
एक अहेड़ी बनह मंझारी ॥
ले बाणाँ उरहु हणी ।
जनम दीज्यो जगन्नाथ द्वार ॥

प्रसंग—बीसलदेव द्वारा पूर्व जन्म की बात बताने के हठ करने पर राजमती पूर्व जन्म की कथा कहती है :—

अर्थ—मैं पूर्व जन्म में हरिणी के वेश में वन में निवास करती थी। उस समय मैं निर्जला-एकादशी का व्रत रखती थी। वहाँ एक शिकारी (आखेटक) ने मेरे हृदय में बाण मारा। तब मैं जगन्नाथ के द्वार अर्थात् उड़ीसा में उत्पन्न हुई।

दाँड्या तोहि बोलावइ छइ राइ ।
ले पतड़ो जोसी वेगो आई ॥
सूदन कहै रूड़ा जोई सी ।
बाचइ पतड़ो बोलइ छइ सच ॥
मास एकां लगी दिन नही ।
तिथि तेरस वार सोमवार ॥
चंद्रई ग्यारमौ देव है ।
तीसरो चन्द्र छई खोडीला जोगि ॥

प्रसंग—राजा को विदेश गमनोद्यत देख और उसे रोकने का कोई उपाय न सूझने पर रानी ने ज्योतिषी से सहायता की याचना की और उसे बहुत कुछ पुरस्कार देने का लोभ भी दिया, यदि वह इस समय घोषित करदे कि मुहूर्त अच्छा नहीं है और अच्छे मुहूर्त में अभी बहुत दिन हैं। राजा ज्योतिषी को बुलाता है। ज्योतिषी मुहूत बताता है।

अर्थ—हे पण्डित ! तुझे राजा बुला रहे हैं, तुम शीघ्र पंचाँग (पत्रा) लेकर जाओ। ज्योतिषी अपना पत्रा लेकर (तुरन्त) पहुँचा। उसने पत्रा देखकर बतलाया कि एक महीने तक अच्छा दिन नहीं है। उसने यह भी कहा कि त्रयोदशी की तिथि सोमवार को है, इसके पश्चात् वाले दिन में तीसरे चन्द्रमा तथा दूषित योग हैं, यद्यपि भद्रा नहीं है। लेकिन कार्तिक महीने में पुष्य-

नक्षत्र नहीं हैं। जब यह नक्षत्र आए और उस दिन आप जावें तो निश्चित रूप से आपकी आशा पूरी होगी।

उभी भावज दइ छइ सीष ।
रतन कचौलौ राय सांपजै भीष ॥
ते नाऊं पगसूँ ठेलिजै ।
इसीन रायां तणौ नहीच अबास ॥
ईसीय न देवल पूतली ।
नयण सलूँणां बचन सुमीत ॥
ईसीय न खाती कौ घड़इ ।
इसी अस्त्री नहीं रवि तलै दीठ ॥

प्रसंग—बीसलदेव को विदेश जाने के लिए उद्यत देख उसकी पत्नी (राजमती) भी साथ चलने का हठ करती है। राजा निर्ममता पूर्वक प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। तब राजा की भाभी उसे समझाती हुई कहती है :—

अर्थ—भावज ने आशीर्वाद दिया और बोली—हे राजा ! रत्न के कटोरे की भाँति यह रानी तुम्हें सौंपी गई है। इसे तू अपने पैर से न ठुकरा। राजाओं के महल में ऐसी रानी न होगी। मंदिरों में ऐसी मूर्ति नहीं है। इसकी आँखें सुन्दर हैं तथा वचन मैत्रीपूर्ण हैं। ऐसी (सुन्दर) मूर्ति तो कभी किसी मूर्तिकार ने भी नहीं बनाई होगी। सूर्य के नीचे अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में ऐसी स्त्री (दूसरी) नहीं है।

भूषण

छूट्यो है हुलास आम खास एक संग छूट्यो,
हरम सरम एक संग बिनु ढंग ही।
नैनन ते नीर धीर छूट्यो एक संग छूट्यौ,
सुखरुचि मुखरुचि त्यों ही बिन रंग ही।
भूषन बखान, सिवराज, मरदाने तेरी,
धाक बिललाने न गहत बल अंग ही।
दक्खिन के सूबा पाय दिल्ली के अमीर तजैं,
उत्तर की आस जीव आस एक संग ही॥

प्रसंग—शिवाजी का आतंक कितने भयंकर रूप से शत्रुओं (मुगलों) पर छा गया है, इसी का वर्णन कवि उपरोक्त कवित्त में करता है।

जब औरंगजेब अपने सरदार या अमीरों को दक्षिण जाने की आज्ञा देता है तो शिवाजी के आतंक के कारण उनकी क्या दशा होती है, देखिये—

अर्थ—जब दिल्ली के अमीरों को दक्षिण के सूबे प्रबन्ध के लिए मिलते हैं (तो उनकी दशा बुरी हो जाती है), वे अपने जीवन की आशा और उत्तरी भारत में पुनः लौटकर आने की आशा एक साथ छोड़ देते हैं अर्थात् वे सोच लेते हैं कि शिवाजी बिना तलवार के घाट उतारे हमें छोड़ेगा नहीं। दक्षिण जाने के समाचार से उन (अमीरों) की प्रसन्नता और औरंगजेब का दरबार सदा के लिए छूट जाता है (क्योंकि अब लौटकर कौन आएगा ? शिवाजी किसे जीवित छोड़ेगा। यह शंका अमीरों के हृदय में है), उन (अमीरों) की आँखों से आँसू छूट पड़ते हैं और हृदय से धैर्य छूट जाता है। उनके सुख और मुख की कांति भी (उत्साह के रंग से रहित होकर) छूट जाती है। भूषण कवि कहते हैं कि हे वीर शिवाजी ! तेरे आतङ्क से दिल्ली के अमीर इतने अधिक आतंकित और भयभीत हैं कि वे रोते फिरते हैं और डर के कारण शरीर भी निर्जीव सा हो गया है।

इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर शंभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्र बाह पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर,
'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंश पर शेर शिवराज है।।

प्रसंग—महाराज शिवाजी म्लेच्छ वंश को नष्ट करने वाले हैं, इस बात को कवि कितनी ही विभिन्न उपमाओं के द्वारा स्पष्ट करता है। वह कहता है कि—

अर्थ—इन्द्र जिस प्रकार जंभासुर को नष्ट करने के लिए प्रसिद्ध है, राम

जिस प्रकार रावण के गर्व को खर्व (नष्ट) करने के लिए प्रसिद्ध हैं, वायु जिस प्रकार बादलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और परशुराम जिस प्रकार सहस्त्रबाहु को पराजित करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हैं, दावाग्नि जिस प्रकार वृक्षों के समूह (जंगल) को भस्मसात् कर देने के लिए प्रसिद्ध है, चीता जिस प्रकार मृग-भुण्डों का वध कर देता है और हाथी का जिस प्रकार शेर शत्रु है, प्रकाश जिस प्रकार अंधकार को नष्ट कर देता है, कृष्ण ने जिस प्रकार कंस को समाप्त कर दिया था, भूषण कवि कहते हैं कि ठीक उसी प्रकार शेर के समान निर्भय और वीर शिवाजी म्लेच्छ वंश को नष्ट करने के लिए प्रसिद्ध हैं।

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवा जी जंग जीतन चलत हैं।
'भूषन' भनत नाद बिहद्द नगारन के,
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं॥
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उसलत हैं।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

प्रसंग—जब महाराज शिवाजी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाकर युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं तो उस समय संसार की क्या दशा हो जाती है, इस बात का वर्णन भूषण करते हैं—

अर्थ—जब महाराज शिवाजी अपनी चतुरंगिणी सेना सजा वीरता के उत्साह में भरे अपने घोड़े पर सवार होकर युद्ध जीतने के लिए प्रस्थान करते हैं तो उनकी सेना के नगाड़ों आदि का भयंकर शब्द होने लगता है और मस्त हाथियों का इतना मद बहता है कि उसकी नदियाँ बहने लगती हैं (इससे हाथियों की संख्या का अनुमान लगाया जाय), शिवाजी की सेना के फैलने के कारण संसार में खलबली मच जाती है और जिधर भी यह सेना निकल जाती है, उधर ही मार्ग बन जाता है। हाथियों के शरीर के धक्के से पहाड़ तक उखड़ पड़ते हैं। (इतना ही नहीं) असंख्य सेना के पैरों से इतनी धूल उठती है कि सूर्य भी निष्प्रभ होकर इक (साधारण) तारे के समान दिखाई देने लगता

भूषण कवि कहते हैं कि महाराज शिवाजी की इस (असंख्य) सेना के अभियान (चढ़ाई) के कारण समुद्र भी इस प्रकार हिलने लगता है जैसे किसी थाली में रखा हुआ पारा हिलता है।

सबन के ऊपर ही ठाड़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छै हज़ारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल गुसैल गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम न बचन बोले सियरे।
भूषन भनत महावीर बलकन लागो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भए,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे॥

प्रसंग—औरंगजेब के द्वारा आश्वासन देने पर कि शिवाजी यदि आगरे आयेंगे तो उन्हें एक स्वतन्त्र राजा का सम्मान दिया जायगा, शिवाजी आगरा आए किन्तु धोखे से औरंगजेब ने उन्हें जाल में फंसाकर छः हजारी सरदारों में खड़ा कर दिया। उस अपमान को शिवाजी न सह सके, क्रोध से उनका मुख लाल होगया और वे गरजने लगे। उनके क्रोध की औरंगजेब के दरबार में क्या प्रतिक्रिया हुई, इसी का वर्णन कवि करता है।

अर्थ—(औरंगजेब ने ऐसी अशिष्टता की) जो (शिवाजी) सबके ऊपर खड़ा होने योग्य था अर्थात् जिसे सरदार-सामन्तों का नहीं अपितु औरंगजेब के समान ही स्वतन्त्र राजा का सम्मान करना चाहिए था, उसे ६ हजारी सरदारों की पंक्ति में खड़ा किया गया। अपने को अपदस्थ (अनुचित स्थान पर खड़ा) देख क्रोधी शिवाजी को गुस्सा आ गया। फिर न तो उन्होंने औरंगजेब को सलाम ही किया और न शान्तिपूर्ण बातचीत ही की। भूषण कवि कहते हैं कि महा प्रतापी शिवाजी (दरबार में ही) गरजने लगा। उस भयंकर गर्जन को सुनकर औरंगजेब-शाही के होश उड़ गये। क्रोधातिरेक के कारण शिवाजी का लाल मुख देखकर (भय के कारण) औरंगजेब का तो मुँह काला पड़ गया और सिपाहियों के मुख पीले पड़ गए।

छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट में।

ताहि समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला वीरवर जोट में।
भूषण भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौं कहौं,
किम्मति यहाँ लगि है जाकी भटझोट में।
ताव दै दै मूछन कंगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परे कोट में।

प्रसंग—भयङ्कर युद्ध हो रहा है, मोर्चों की आड़ में भी जान बचाना कठिन है, ऐसे समय में भी शिवाजी तथा उनका वीर सैनिक दल प्राणों का मोह छोड़ कर शत्रु पर टूट पड़ते है। कवि उन वीरों तथा शिवाजी की प्रशंसा इस कवित्त में करते हुए कहता है—

अर्थ—बन्दूक से गोलियाँ और धनुषों से बाण इस भयङ्कर रूप से बरस रहे हैं कि मोर्चों की आड़ में भी जान बचाना मुश्किल है। ऐसी बिषम परिस्थिति में भी वीर शिवाजी ने अपने दल को हल्ला (आक्रमण) करने की आज्ञा दी। सभी श्रेष्ठ वीर समूह बांध कर शत्रु पर टूट पड़े। कवि भूषण कहते हैं कि जिसके वीर सैनिकों के समूह में ही इतना साहस है तो फिर तेरी (शिवाजी) वीरता या साहस की प्रशंसा शब्दों में कैसे करूं। शिवाजी के सैनिक ऐसे वीर हैं कि वे अपनी मूँछों पर तो (जोश) में ताव देते हैं और दुर्ग में कंगूरों पर पैर रखते (हुए बढ़ते) हैं और शत्रुओं के मुख पर घाव देकर दुर्ग में कूद पड़ते हैं।

गरुड़ का दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नाग जूह पर सिंह सिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को।
भूषन अखण्ड नवखण्ड महि मण्डल में,
तम पर दावा रवि किरन समाज को।
पूरब पछांह देस दक्खिन तें उत्तर लौं,
जहां पातसाही तहां दावा सिवराज को॥

प्रसंग—कवि अनेक उदाहरणों के द्वारा यह प्रमाणित करता है कि शिवा जी औरंगजेबशाही का सहज शत्रु है।

अर्थ—जिस प्रकार सर्पों का समूह सदैव गरुड़ से आक्रान्त रहता है और जिस प्रकार पर्वतों का समूह इन्द्र से आक्रान्त है, बाज जैसे पक्षियों के समूह का सहज शत्रु है, सारे विश्व में सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट करने वाले के नाते प्रसिद्ध है, उसी प्रकार दक्षिण से उत्तर तक जहां-जहाँ तक औरंगजेब-शाही (औरंगजेब के साम्राज्य का विस्तार) है, वह क्षेत्र शिवाजी के आक्रमणों के द्वारा सदैव आक्रान्त है।

राखी हिन्दुआनी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्ठन की,
देस देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
शाहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी मैं।

प्रसंग—कवि शिवाजी की प्रशंसा हिन्दू जाति, धर्म, गौ और वेद के रक्षक शिवाजी के रूप में करता है।

अर्थ—हे शिवाजी ! तूने हिन्दू धर्म की रक्षा की और हिन्दुओं के तिलक को सुरक्षित रखा (मुसलमान हिन्दुओं के तिलक को चाट जाते थे, यह इतिहास प्रसिद्ध है)। मैंने सुना है कि तूने वेद और स्मृतियों की भी रक्षा की है। तूने (शत्रु को परास्त कर) रजपूती (क्षत्रियत्व) की लज्जा रखने वाली और स्वतंत्र राजाओं की राजधानी की (औरंगजेब से) रक्षा की। तूने पृथ्वी में धर्म और गुणी में गुण की रक्षा की अर्थात् गुणियों को अपार धन सम्पत्ति देकर उन्हें आश्वस्त रखा। तूने महाराष्ट्र की सीमाओं (से शत्रु को निकाल कर उन) को जीत लिया, देश-देशान्तरों में तेरी प्रशंसा होती हुई मैंने सुनी है। भूषण कवि कहते हैं—शाहजी के सुपुत्र शिवाजी तेरे खड्ग ने औरंगजेब की सेना को आक्रान्त और आतंकित कर संसार में मर्यादा की रक्षा की।

बद्दल न होंहि दल दच्छिन उमंडि आयो।
घटा ये न होइ इभ सिवाजी हँकारी के।

दामिनी दमक नहीं खुले खग्ग वीरन के,
इन्द्रधनु नहिं ये निसान हैं सवारी के।
देखि देखि मुगलों की हरमैं भवन त्यागें,
उझकि उझकि उठें बहत बयारि के।
दिल्ली पति भूल मति गाजत न घोर थान,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़धारी के।

प्रसंग—दिल्ली के लोग शिवजी से इतने अधिक आतंकित थे कि बादलों की घटा और उसके गरजने को ही वे शिवाजी की सेना मान बैठते हैं, उसी भयङ्कर आतंक का सुन्दर वर्णन कवि ने उपरोक्त पंक्तियों में किया है।

अर्थ—ये बादल नहीं हैं बल्कि दक्षिण (शिवाजी) की मेना है जो उमड़ी चली आ रही है। यह वास्तव में घटा नहीं गरज रही है अपितु शिवाजी की सेना गरज रही है। यह बिजली नहीं चमक रही है अपितु वीर लोगों के खड्ग चमक रहे हैं। ये इन्द्रधनुष नहीं है बल्कि शिवाजी के रथों की पताकायें हैं। भयाक्रान्त मुगलों की बेगमें महल छोड़कर भाग जाती हैं और वायु के चलने पर वे घबरा उठती हैं। हे औरंगजेब! भ्रम में मत पड़, ये घोर बादल नहीं गरज रहे हैं बल्कि शिवजी की फौज के नगाड़े बज रहे हैं।

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
वखतर पाखरिन बीच धंसि जाती मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।
रैयाराव चंपति को छत्रसाल महाराज,
'भूषण' सकत करि बखान यों बलन के।
पच्छी पर छीने ऐसे परे पर छीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।

प्रसंग—कवि महाराज छत्रसाल की तलवार की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि—

अर्थ—हे छत्रसाल महाराज! (चम्पतराय के पुत्र) तुम्हारे बल का वर्णन कौन कर सकता है? तुम्हारी भयङ्कर बर्छी तुम्हारी भुजा रूपी शेषनाग की

साथिन (नागिन) के समान है जो शत्रुदलों को ढूंढ ढूंढ कर खा जाती है। (यही बर्छी) कवच और लोहें की झूलों के बीच में इस सरलता से घुस जाती है जैसे मछली जल-प्रवाह को पार कर जाती है। तेरी बर्छी ने मुसलमानों के बल क्षीण कर दिए हैं अतः वे पृथ्वी पर परकटे पक्षियों के समान बलहीन होकर पड़े हैं।

प्रश्न १३—भूषण तथा पद्माकर के जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

महाकवि भूषण

उत्तर—हिन्दी के अधिकांश कवियों ने अपनी कविता में अपना कोई परिचय नहीं दिया है, इसलिए हिन्दी साहित्य के प्राचीन कवियों के जीवन वृत्त का संकलन एक कठिन कार्य है। अंतस्साक्ष्य तथा बहिस्साक्ष्य के आधार पर कवियों के जीवन की कुछ घटनाएं ही प्रकाश में आती हैं, पूरा जीवन नहीं। भूषण हिन्दी में वीर रस के अद्वितीय कवि माने जाते हैं किन्तु उनके जीवन के विषय में भी कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर उनके जीवन के विषय में कुछ अधिकारपूर्वक कहा जा सके। भूषण का तो वास्तविक नाम भी आज तक किसी को ज्ञात न हो सका। इतना तो निश्चित है कि भूषण इनका वास्तविक नाम नहीं था बल्कि उपाधि थी। इनको यह उपाधि चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने दी थी। तभी से ये इसी नाम (भूषण) से प्रसिद्ध हैं। लगता ऐसा है कि जीविका की खोज में इन्हें कई स्थानों पर भटकना पड़ा था और अन्त में इनको मनोनुकूल महाराज शिवाजी का आश्रय प्राप्त हुआ।

भूषण का जन्म सम्वत् १६७० बताया जाता है। ये चिन्तामणि और मतिराम के भाई बताए जाते हैं।

'शिवराज भूषण' में कुछ छन्द ऐसे हैं जो इनके जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"देस देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमैं आयो एक कवि 'भूषन' कहियतु जाहि॥
दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर।
बसत तिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर॥

वीर बीरवर से जहाँ, उपजे कवि अस भूप।
देव बिहारीश्वर जहां, विश्वेश्वर तद्रूप।

(महाराज शिवाजी के यहाँ देश-देशान्तर से भांति-भांति के कलाविद् पुरस्कार प्राप्ति की कामना से आते हैं, उन्हीं में एक कवि भूषण भी है। वह धैर्यशील रत्नाकर जी का पुत्र है, कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं तथा कश्यप उसका गोत्र है। यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर का वह वासी है। यह वह गाँव है, जहाँ वीरवर के समान वीर राजा और कवि तथा श्री विश्वेश्वर महादेव के समान विहारीश्वर का मन्दिर है।)

अपनी उपाधि के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है :—

कुल सुलक चित्रकूट पति, साहस सील समुद्र।
कबि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र।

वास्तविक नाम के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, कोई उनका नाम पतिराम बताता है तो कोई मनिराम। भगीरथप्रसाद दीक्षित उनका असली नाम मनिराम ही मानते हैं। पं० बद्रीदत्त पाँडे ने अपने हुमायूँ के इतिहास में राजा उदोतचन्द्र के वर्णन में लिखा है—

"सितारा गढ़ -नरेश' साव महाराज के राजकवि मनिराम राणा के पास अलमोड़ा आये थे, उन्होंने राजा की प्रशंसा में यह कवित्त बना कर सुनाया था। राजा ने १० हजार रुपये तथा एक हाथी इनाम में दिया।"

छन्द निम्नाँकित है :—

पुराण पुरुष के परम दृग कोऊ अहैं,
. ······कहत बेद बानी यों पढ़ि गई।
ते दिवसपति वे निसाकर जोत कर हैं,
काहू की बड़ाई बढ़ाए ते न बढ़ि गई।
सूरज के घर में करण महादानी भयो,
यहै सोचि समुझि चितै चिन्ता मढ़ि गई।
अब तोहि राज बैठत उदोतचन्द्र चन्द्र के,
कर्ण की किरक करेजै सौं कढ़ि गई।

श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित का कहना है कि उपरोक्त पद के रिक्त स्थान की पूर्ति यदि भूषण जोड़कर कर दी जाय तो पद पूरा हो जाएगा।

भूषरा कनौजिया ब्राह्मरा थे। सुकवि विहारीलाल (महाकवि बिहारी) की निम्नांकित पक्तियां इस विषय में देखिये :—

भूषण चिन्तामणि तहाँ, कवि भूषण मतिराम।
नृप हमीर सनमान ते, कीन्हें निज निज धाम॥
हैं पत्नी मतिराम के, सुकवि विहारीलाल।
जगन्नाथ नाती विदित, सीतल सुत सुभ चाल॥
कस्यप वंस कनौजिया, विदित त्रिपाठी गोत।
कवि राजन के वृन्द में, कोविद सुमति उदोत॥

अधिकांश विद्वान् इन्हें कनौजिया ही मानने हैं।

भूषरा शिवाजी के दरबार में थे। अधिकांश विद्वान् इस बात को मानते हैं। किन्तु पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित भूषरा को शिवाजी का समकालीन नहीं मानते। दीक्षित का कथन है कि भूषरा के सभी आश्रयदाता शिवाजी के बाद ही हुए हैं। कुछ आश्रयदाता इस प्रकार हैं—

१. चित्रकूट पति हृदयराम सोलंकी सं० १७६० वि० के लगभग।
२. श्रीनगर नरेश उदोतचन्द्र सं० १७३१ वि० से १७५५ वि० तक।
३. श्रीनगर नरेश फतहशाह सं० १७३३ से १७४१ वि० तक।
४. रीवा नरेश अवधूतसिंह सं० १७०५ से १८१२ वि० तक।
५. जयपुर नरेश सवाई जयसिंह सं० १७५६ से १८०० वि० तक।
६. सितारा नरेश छत्रपति साहू सं० १७६५ से १८०५ वि० तक।
७. दिल्ली नरेश जहाँदारशाह सं० १७६६ वि०।
८. बूँदी नरेश रावराजा बुधसिंह सं० १७६४ से १७६८ वि० तक।
९. मैंडू नरेश अनिरुद्ध सिंह पौरच सं० १७७० वि० के लगभग।
१०. असोथर नरेश भगवतराय खीची सं० १७७० से १७९२ वि०।
११. बाजीराब पेशवा सं० १७७७ से १७९७ वि० तक।
१२. चिमना जी (चिन्तामरिए) सं० १७८० के लगभग।
१३. चित्रकूट पति वसंतराय सुलंकी सं० १७८० वि० के लगभग।
१४. पन्ना नरेश सं० १७३८ से १७९१ बि० तक।

भूषरा शिवाजी के समकालीन थे, यह अत्यन्त प्रसिद्ध बात है अतः जब

तक उपरोक्त नरेशों के संवत् ठीक प्रमाणित नहीं किए जाते तब तक शिवाजी के आश्रयदाता होने की बात मिथ्या नहीं कही जा सकती।

ग्रन्थ—शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रशाल-दशक आदि ग्रन्थ भूषण द्वारा लिखे मिलते हैं। शिवराज भूषण एक अलंकार ग्रन्थ शिवाजी की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें अलंकारों के लक्षण के लिए तो भूषण ने दोहा छन्द चुना है और लक्षण के उदाहरण के लिए सवैया और कवित्त। इस ग्रन्थ की सब से बढ़ी विशेषता यह है कि इसके सभी छन्द लक्षणों के उदाहरण स्वरूप लिखे गये हैं किन्तु वे इतने सुन्दर और भावपूर्ण बन पड़े हैं कि उदाहरणमात्र नहीं लगते वरन् इससे तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं तथा शिवाजी की चारित्रिक विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में सं १७१३ से १७३० तक की शिवाजी के जीवन की सभी राजनैतिक घटनाओं की चर्चा मिलती है।

शिवा बावनी:—यह शिवाजी की प्रशंसा में लिखे गए ५२ फुटकर छन्दों का संकलन है। पुस्तक के विषय में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि जब प्रथमतः भूषण शिवाजी से मिलने गए तो शिवाजी से उनकी भेंट मार्ग में ही हो गई किन्तु भूषण उन्हें पहचान न सके। आगन्तुक ने कहा कि मैं तुम्हें शिवाजी के दरबार में पहुँचा सकता हूँ। मुझे अपनी बिशेषता बताओ। भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा में एक के बाद एक ५२ छन्द कहे। शिवाजी ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना राजकवि बना लिया। ये ही छन्द शिवा बावनी में संकलित कर दिए गये प्रतीत होते हैं।

छत्रशाल दशक:—भूषण छत्रसाल के भी बड़े प्रशंसक थे। कुछ विद्वानों का तो विचार है कि भूषण छत्रसाल के दरबार में भी कुछ दिन रहे थे। जो कुछ भी हो किन्तु इतना तो सत्य है कि वे छत्रसाल के बड़े प्रशंसक थे। कहते हैं कि एक बार छत्रसाल ने अपना कंधा भूषण की पालकी में लगाया था। उसकी गुणग्राहकता से रीझकर भूषण को उनके विषय में कहना पड़ा था :—

"शिव को बखानौं के बखानौं छत्रसाल को।"

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भूषण के लगभग ६५ फुठकर छंद और भी मिलते हैं।

भाषा :— भूषण की काव्य-भाषा ब्रज भाषा है, यह तो निश्चित है क्योंकि उस समय काव्य की भाषा ब्रज भाषा ही थी किन्तु इसमें भी संदेह नहीं है कि भूषण ने अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषा के शब्दों को भी निस्संकोच ग्रहण किया है। इन विदेशी शब्दों को ग्रहण करके उन्होंने किसी नई परम्परा को जन्म दिया हो, ऐसी भी बात नहीं है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसी इस विषय में परवर्ती कवियों का मार्ग प्रशस्त कर चुके थे और गोस्वामी जी की निम्नांकित पंक्ति में इन विदेशी शब्दों की छटा देखिए :—

"गोरी गरूर गुमान भरो कहो कौशिक छोटो सो ढोटो है का को ?

भूषण ने यदि अपने पूर्ववर्ती कवियों से अधिक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया तो यह बिलकुल स्वाभाविक था। क्योंकि तब तक मुसलमानों को भारत में अपना साम्राज्य और प्रभाव बढ़ाने का और भी अवसर मिल चुका था। भूषण की निम्नांकित पंक्तियों में इटैलिक विदेशी शब्दों पर ध्यान दीजिये। यह भी ध्यान देने की बात है कि भूषण ने विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में ग्रहण न करके तद्भव रूप में ही ग्रहण किया है।

"ग्रीवा जाति नेकरि गनीम अतिबल की"
"ऐल फैल खैलभैल खलक में गैल गैल"
"जानि गैर मिसिल गुसैल गुस्सा धारि उर"
"रूप गुमान हरयो गुजरात को"
मारि करि पातसाही खाकसानी कीन्ही जिन,
"जेर कीन्हों जोर सौं लैं हद सम मारे की।
खिसिगई सेखी फिसिगई सूरताई सब,
हिसि गई हिम्मत हजारों लोग सारे की।"

यों तो भूषण पर खड़ी बोली, बुन्देलखण्डी और बैसवाड़ी आदि का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है किन्तु अपेक्षाकृत खड़ी बोली का प्रभाव उन पर अधिक है। उनके कवित्त के कवित्त खड़ी बोली में मिलते हैं। उदाहरण के लिए उनके दो कवित्त उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। निम्नांकित कवित्तों में खड़ी बोली की क्रियायें ही नहीं अपितु पूरे कवित्त में खड़ी बोली का विशिष्ट ढाँचा स्पष्ट दिखाई देगा। कवित्त का बाह्य गठन ही खड़ी बोली का है :—

"बचेगा न समुहाने बहलोल खां अयाने,
भूषण बखाने दिल आन, मेरा बरजा ।
तुझतें सवाई तेरा भाई सलहोर पास,
कैद किया साथ का न कोई वीर गरजा ।
साहिन के साहि उसी औरङ्ग के लीन्हें गढ़,
जिसका तू चाकर और जिसकी है परजा ।
साहि का ललन दिल्ली दल का दलन,
अफजल का मलन सिवराज आया सरजा ।।

सांगन सो पेलिपेलि खग्गन सो खेलि खेलि,
समद सा जीता जो समद लौं बखाना है ।
भूषन बुन्देला मनि चंपति सपूत धन्य,
जाकी धाक बचा एक मरद मियां ना है ।
जंगल के बल से उदंगल प्रबल लूटा,
अहमद अमीर खां का कटक खजाना है ।
वीर रस मत्ता जाते कांपत चकत्ता यारो,
कत्ता ऐसा बांधिए जो छत्ता बांध जाना है ।

वैसवाड़ी भाषा—'कालिह के जोगी'

बुन्देलखण्डी—'बैयर वभारन की'

भूषण की भाषा से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भूषण भाषा की शुद्धता के इतने पक्षपाती नहीं थे, जितने उसके प्रभाव के । मतिराम, बिहारी, देव आदि की भाँति उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा तो नहीं है किन्तु जहाँ तक संगीतात्मकता, ओज गुण तथा प्रभावात्मकता का प्रश्न है, वहाँ भूषण हिन्दी के किसी भी कवि से पीछे नहीं हैं । नीचे के कवित्त में संगीतात्मकता, शब्द-मैत्री और भाषा पर अधिकार एक साथ स्पष्ट हो जायेंगे :—

इन्द्र जिमि जंभ पर बाडव सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है ।
पौन वारिवाह पर संभु रतिनाह पर
ज्यौं सहस्र बाह पर राम द्विजराज है ।

दावाद्रुम दंड पर चीतामृग झुन्ड पर
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यौं मलेच्छ बंस पर सेर सिबराज है।

ऊपर इटैलिक शब्दों में कवि ने जिस शब्द-मैत्री का सुन्दर निर्वाह करके कवित्त में जो संगीतात्मकता, प्रवाह, ओज और मार्मिकता भर दी है, वह किसी साधारण कवि का काम नहीं है। जो गुणज्ञ पाठक हैं, वे तो भाषा से भी चमत्कृत होंगे और भावों से, किन्तु जो पाठक अर्थ समझने में असमर्थ रहते हैं, ऐसी शब्द-मैत्री उन्हें भी चमत्कृत किये बिना नहीं रहती। यदि प्रभाव को ही भाषा का चरम गुण माना जाय तो भूषण को अच्छा भाषा-शिल्पी भी मानना ही पड़ेगा।

अलंकार—भूषण रीतिकाल के कवि हैं अतः रीतियुग के प्रभाव से वे भी अछूते नहीं रह सकते हैं। रीतिकाल में यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि एक ही आदमी कवि और आचार्य दोनों बनना चाहता था। रीतिकालीन सभी कवियों ने अपने आचार्यत्व और कवित्व के प्रदर्शन का प्रयत्न किया है। यह कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता कि भूषण अलंकारवादी थे। वास्तव में तो अलंकारों की ओर उनकी अधिक रुचि भी नहीं है। समय के प्रवाह और परम्परा के कारण उन्होंने भी लक्षण और उदाहरण लिखे अवश्व हैं किन्तु उन्हीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण आचार्य नहीं हैं, वे तो प्रथमतः एक श्रेष्ठ कवि ही हैं। 'शिवराज भूषण' लगता तो यही है कि वह एक अलंकार ग्रन्थ है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उसकी बाह्य रचना तो लक्षण ग्रन्थ जैसी है किन्तु उसके अन्तर में तो भूषण ने अपना हृदय उंडेल दिया है। फिर भी चूँकि उन्होंने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण लिखकर अपने आचार्यत्व का परिचय देने का प्रयत्न किया है इसलिए दो शब्द उनके आचार्यत्व के बिषय में कह देना भी विषयान्तर न होगा।

डा० उदयनारायण तिवारी का कथन है—"अलंकार-निरूपण करते हुए भूषण ने अलंकारों के रूप-लक्षण के भेदों का जहां उल्लेख किया है, वहाँ

कहीं तो वे उदाहरण दे भी नहीं सके । बात यह है कि भूषण ने तब तक जो छन्द लिखे होंगे उनमें तद्विषयक अलंकारों का अभाव रहा होगा।"

उन्होंने अलंकारों के जो लक्षण-उदाहरण दिए हैं, उनमें बहुत से तो अपूर्ण और अशुद्ध तक हैं । बात वास्तव में यह है कि उमड़ती हुई वीरता की भावनायें अलंकारों के संकीर्ण-बन्धन में बन्धना नहीं चाहती थीं इसलिए भूषण की काव्यधारा काव्यशास्त्र के नियमकूल डुबाकर ही बही है किन्तु ऐसे नवीन आकर्षण को उसने जन्म दिया जिसके कारण काव्यपिपासु भूषण-काव्यधारा की ओर अनायास ही दौड़ पड़ते हैं। भूषण ने यों अलंकारों का बहुत ही अच्छा प्रयोग किया है किन्तु अलंकार उनके भावों के सहायक होकर ही आए हैं, अलग से उनका कोई अस्तित्व नहीं है । साहित्य के विद्यार्थियों के अतिरिक्त भूषण जनता में तो केवल वीरकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि के नाते ही प्रसिद्ध हैं, अलंकारशास्त्री या आचार्य के रूप में तो उनका नाम तक कोई नहीं जानता । भूषण की कविता से कुछ अलंकारों के अपूर्ण और दोषपूर्ण उदाहरण यहाँ उद्धृत करना कवि भूषण के साथ कोई अन्याय न होगा :—

विरोध—

> **द्रव्य क्रिया गुन में जहाँ, उपजत काज विरोध ।**
> **ताको कहत विरोध हैं, भूषण सुकवि सुबोध ॥**

विरोधाभास—

> **जहं विरोध सा जानिए, सांच विरोध न होइ ।**
> **तहां विरोधाभास कहि, बरनत हैं सब कोइ ॥**

विषम—

> **कहाँ बात यह कहं वहै, यों जहं करत बखान ।**
> **तहाँ विषम भूषन कहत, भूषन सुकवि सुजान ॥**

डा० उदयनारायण तिवारी उपरोक्त लक्षणों के विषय में लिखते हैं :—

"यहाँ विचारणीय यह है कि द्रव्य, क्रिया और गुण में जहाँ कार्य-विरोध हो और वहाँ विरोध अलंकार मान लिया जाय तो फिर 'विषम अलंकार' की स्थिति क्या होगी ? इसके अतिरिक्त वह विरोध यदि बाह्य है और केवल ऊपर से देख पड़ता है, भीतर उसका कोई अस्तित्व नहीं है तो वह विरोधाभास

अलंकार का रूप धारण कर लेगा । यही कारण है, कुछ अलंकारशास्त्री विरोध को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार नहीं करते ।"

अतः यह निष्कर्ष उचित ही होगा कि भूषण, जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, हिन्दी के उच्च कोटि के कवियों में हैं किन्तु आचार्यत्व की दृष्टि से हम उन्हें ऊँचा स्थान नहीं दे सकते और सफल आचार्य न होना कवि भूषण के लिए कोई अगौरव की बात भी नहीं है ।

पद्माकर

पद्माकर हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों में गिने जाते हैं । पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे । इनके पूर्वज गोदावरी नदी के निकट रहा करते थे । इनके वंश के मूल पुरुष मधुकर भट्ट अत्रिगोत्रीय और तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे । कहते हैं कि सन् १६१५ में गढ़ माण्डले की प्रसिद्ध रानी दुर्गावती के राज्य-काल में बहुत से दाक्षिणात्य पंच द्राविड़ उत्तर की ओर तीर्थ करने की दृष्टि से आए और यहाँ आकर यहीं स्थायी रूप से बस गए । इनमें से अधिकांश गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अनुयायी हो गए । यहाँ रहने पर इस समुदाय की दो शाखायें हो गईं—मथुरास्थ और गोकुलस्थ । पद्माकर जी इनमें मथुरास्थ शाखा के थे ।

पद्माकर जी के पिता श्रीयुत मोहनलाल भट्ट सागर (मध्यप्रान्त) में रहा करते थे । उतर में आने पर चूँकि उनके पूर्वज प्रथमतः बाँदा आकर रहे इस लिए इनके वंश के लोग 'बाँदावाले' नाम से भी प्रसिद्ध हैं ।

कविता पद्माकर जी के वंश में उनसे दो पीढ़ी पूर्व से आरम्भ हुई । कविता करने के कारण यह वंश कवीश्वर वंश के नाम से प्रसिद्ध हो गया । पद्माकर का बंश मन्त्र-सिद्धि के लिए भी प्रसिद्ध रहा है । मंत्र-सिद्धि के कारण ही इनके पूर्वजों का राज दरबार में प्रवेश रहा ।

पद्माकार ने पैतृक सम्पत्ति के रूप में उपरोक्त दोनों वस्तुयें (कविता, मंत्र-सिद्धि) भी ग्रहण की । तत्कालीन सागर नरेश रघुनाथ राव आपासाहब ने इनके कवित्त पर प्रसन्न होकर इन्हें (पद्माकर को) एक लाख मुद्रा भेंट की थी । तभी से इनके वंशज लखिया के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

वह प्रसिद्ध कवित्त यहाँ उद्धृत किया जाता है। कहते हैं कि यह कवित्त आपने सोलह वर्ष की अवस्था में ही सुनाया था।

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना।
कहैं पदमाकर, सुहेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना।
गज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याही गज धोखे काहू को देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना।

कहते हैं कि कुछ समय पश्चात् आपासाहब की इनसे कुछ अनबन हो गई और ये अपने पुराने स्थान बाँदा चले आए और वहाँ आकर वही अपना पैतृक कार्य दीक्षा देने का इन्होंने फिर आरम्भ कर दिया। महाराज जैतपुर तथा सुगरा निवासी वाले अर्जुनसिंह को इन्होंने अपना शिष्य बनाया। अर्जुनसिंह ने तो इन्हें अपने कुलमात्र का गुरु बना दिया। अर्जुनसिंह की मृत्यु के विषय में पद्माकर जी के लिखे कुछ छन्द अब तक मिलते हैं। एक कवित्त देखिए :—

सूर मुख नूर दै कै, भूसुरनि दान दै कै,
मान दैकै तोरा तुर्रा सिर पै सपूती को।
मास मंसहारन अहारन अघाय
तरवार तन ताय दयो सुक्ख रन दूती को।
क्षोण दैके जोगनिन भोग दै वरांगनान,
मुंड दैकै पारवती पति मजबूती को।
मार दे अरिन अरजुन अरजुनसिंह,
गयौ देवलोक ओप दैकै रजपूती को॥

कुछ लोगों का कहना है कि इन्होंने अर्जुनसिंह की प्रशंसा में 'अर्जुनरायसा' नामक एक वीर काव्य की रचना की थी।

पद्माकर जी एक बार दतिया के महाराज परीक्षित् के दरबार में गए और उनकी प्रशंसा में निम्नलिखित कवित्त पढ़ा :—

जप तप कै चुको सु लै चुको सकल सिद्धि,
दै चुको चुनौती चित्त-चिंतन में नाम को।
कहै 'पदमाकर' महेस मुख जोइ चुको,
ढोय चुको सुखद सुमेर अभिराम को।
भूपमनि पारीछत राउरो सुजस गाय,
ध्याय चुको इंदिरा उमंगि निज धाम को।
ध्याय चुको धनद, कमाइ चुको काम तरु,
पाइ चुको पारस रिझाइ चुको राम को।

इस कवित्त पर इन्हें एक जागीर प्राप्त हुई। दतिया के बाद पद्माकर रजधान के गोसाईं अनूपगिरी (हिम्मत बहादुर) के यहाँ गए। हिम्मत बहादुर शुजाउदौला का एक जागीरदार था। वह कविताप्रेमी था और कवियों का आदर करता था। पद्माकर ने इनकी प्रशंसा में अनेक कवित्त लिखे हैं। हिम्मत बहादुर विरुदावली नामक काव्य भी इन्होंने इनकी प्रशंसा में लिखा है। एक कवित्त देखिए :—

तीखे तेज बाही औ सिपाही चढ़े घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पद्माकर निसान चढ़े हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै कपाली चढ़ै बैल पै।

हिम्मत बहादुर के यहाँ कुछ काल यापन करने के पश्चात् ये सितारा के रघुनाथ राव (राघोवा) के यहाँ पहुँचे। वहाँ इन्हें एक लाख रुपया और दस गाँव मिले। रघुनाथ राव की प्रशंसा में इन्होंने एक बड़ा ही चमत्कार पूर्ण कवित्त लिखा है :—

दाहन तें दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तें,
चिल्लिन तें चौगुनी, चलांक चक्र-चाली तें।
कहै पदमाकर महीप रघुनाथ राव,
ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तें।

पंचगुनी पब्ब तैं पचीस गुनी पावक तैं,
प्रगट पचास गुनी प्रलय प्रनाली तैं।
सतगुनी सेस तें सहस्रगुनी सापन तैं,
लाख गुनी लूक तैं करोर गुनी काली तैं।

पद्माकर रघुनाथ राव के यहाँ से लौटकर बाँदा आए और फिर जयपुर गए। उन दिनों वहाँ सवाई महाराज प्रतापसिंह राज्य करते थे। उनकी प्रशंसा में पद्माकर ने कई कवित्त लिखे हैं। प्रतापसिंह की मृत्यु के पश्चात् फिर जयपुर गए किन्तु तत्कालीन राजा जगतसिंह भोगविलास में लिप्त था, अतः उनसे भेंट होना बड़ा कठिन काम था। पद्माकर ने मिलने की एक तरकीब निकाली। राजा जगतसिंह को कविता लिखने का शौक था। उनके गुरु और वे एक समस्या-पूर्ति में कई दिन से लगे थे पर निर्दोष छन्द नहीं बनता था। पद्माकर ने समस्या का पता लगाया वह थी—"सारे नभमण्डल भारगव चन्द्रमा" और तुरन्त ही उसे पूर्ण कर उसे दरबार में भेज दिया। इन्होंने इस प्रकार समस्या पूर्ति की थी :—

संभु के अधर माँहि काहे की सुरेख राजै,
गाई जाति रागिनी सु कौन सुर मन्द्र मा।
देत छवि को है कोकनदी में कहो,
नखत विराजै कौन निसि में अतन्द्रमा।
एक दृग को है कौन बर्नन असम्भवित,
घटे बढ़े सो तो दिन पाय पाय पन्द्रमा।
काली जू के कज्जल की ललित लुनाई सो तो,
सारे नभ मण्डल में भारगव चन्द्रमा।

समस्या-पूर्ति पढ़ कर गुरु-शिष्य विस्मय से अवाक् रह गए। परिचय पूछने पर इन्होंने अपने आपको पद्माकर का साईस बताया और पद्माकर जी को दूसरे दिन लिवा लाने का वचन दिया। अगले दिन राजसभा में पहुँच कर पद्माकर ने अपना परिचय निम्नांकित कवित्त में दिया।

भट्ट तिलंगाने को बुंदेलखण्ड बासी कवि,
सुजस प्रकासी पदमाकर सुनामा हौं।

जोरत कवित्त छन्द, छप्पय अनेक भाँति,
संस्कृत प्राकृत पढ़े जु गुन ग्रामा हौं।
हय रथ पालकी गयन्द गृह ग्राम चारु,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।
मेरे जान मेरे तुम कान्हा हौ जगत सिंह,
तेरे जान तेरो वह विप्र हौं सुदामा हौं।

प्रसन्न होकर महाराज ने तुरन्त इन्हें राजकवि बना लिया।

पद्माकर राजसी ठाठ बाट के साथ रहते थे, यह बात इनके कुछ कवित्तों से स्पष्ट हो जाती है। जब ये जयपुर में रहते थे तो बड़ी धूम-धाम और सेवकों की संख्या के साथ निकलते थे। एक बार जब पद्माकर जयपुर से बाँदा जा रहे थे तो इनके साथ बहुत बड़े सेवकों के दल को देख कर बूँदी वालों ने समझा कि कोई उन पर आक्रमण करने आ रहा है। पद्माकर ने स्थिति स्पष्ट करने के लिए उन्हें तुरन्त एक कवित्त बनाकर सुनाया—

"नाम पद्माकर डराउ मति कोऊ भैया, हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।

बूँदीराज ने इनका बड़ा सत्कार किया और अपने यहाँ ठहरने को विवश किया। बूँदी नरेश के आग्रह से इन्होंने वाल्मीकि रामायण का अनुवाद 'राम रसायन' नाम से किया। कुछ लोग रामरसायन को इनकी रचना नहीं मानते। कहते हैं कि पद्माकर को जयपुर में रहते समय कुष्ठ हो गया था। अतः उसको दूर करने के लिए ही पद्माकर ने भक्ति सम्बन्धी पद रचे।

चरखारी राजदरबार से पद्माकर वंश का सम्बन्ध पुराना था। इस बीच में (१८८३) महाराज रतनसिंह चरखारी की गद्दी पर बैठे। पद्माकर उनसे भेंट करने चरखारी गए पर उन्होंने पद्माकर से भेंट नहीं की। पद्माकर ने अपने को अत्यन्त अपमानित अनुभव किया, उन्होंने तुरन्त एक कवित्त लिख कर राजा साहब के पास भेजा—

तुम गढ़ किल्ला सदा जोर करि जीतत हो,
पिंगल अमर कोष जीतत जहाज हैं।
तुम सदा साम दंड भेद न्याव करो,
चारों वेद हमहूँ सुनावत समाज हैं॥

हाथी घोड़े रथ ऊंट पैदल तुम्हारे साथ,
राखत सदा ही हम छप्पै छन्द साज हैं ।
तुम सौं औ हम सौं बराबरि कौ दावा गिनौ,
तुम महाराज हौ तौ हम कविराज हैं ॥

कवित्त पढ़कर महाराजा रत्नसिंह को अपनी भूल पर बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने पद्माकर से क्षमा याचना की किन्तु पद्माकर फिर इनके यहाँ गए ही नहीं। विरक्त होकर गंगाजी की शरण में लौटे और कानपुर चले आए। वहाँ इन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति गंगालहरी की रचना की। लोगों का कहना है कि गंगा के किनारे रहने के कारण इनका कुष्ठ बिल्कुल अच्छा हो गया था। किन्तु वहाँ ६ मास और जीवित रह कर सं० १८९० में ये स्वर्गवासी हुए।

ग्रन्थ—पद्माकर द्वारा लिखे हुए निम्नांकित ग्रन्थ बताए जाते हैं।

१. हिम्मत बहादुर विरुदावली, २. जगद्विनोद, ३. पद्माभरण,
४. प्रबोध पचासा, ५. गंगालहरी, ६. फुटकर पद।

हमें इसमें हिम्मत बहादुर विरुदावली पर ही विशेष रूप से लिखना है।

हिम्मत बहादुर विरुदावली—यह कवि की वीर रसपूर्ण रचना है। इसमें हिम्मत बहादुर के अनेक युद्धों का वर्णन है। हिम्मत बहादुर का सुगरा निवासी नोने अर्जुनसिंह के साथ बनगांव (बुन्देलखण्ड) वाला जो युद्ध हुआ था, उसका समय कवि ने इस प्रकार दिया है—

सम्वत अठारहसे सुनौ उनचास अधिक हिए गिनौ।
वैसाख बदि तिथि द्वादसी, बुधवार जुत यह यादसी ॥

इसके अनुसार उपरोक्त युद्ध वैसाख वदी द्वादसी बुधवार सं० १८४९ वि० में हुआ। चूँकि वीर-काव्य-संग्रह में 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' का ही एक अंश उद्धृत है, इसलिए हिम्मत बहादुर और अर्जुनसिंह के चरित्र की चर्चा आवश्यक है।

अर्जुनसिंह—नोने इनकी उपाधि थी जो इन्हें बाँदा नरेश से मिली थी। इनका वास्तविक नाम अर्जुनसिंह ही था। इनके पिता जैतपुर राज्य के एक साधारण जागीरदार थे। अब भी इनके कुछ वंशज चरखारी के बंसिया नामक ग्राम में मिलते हैं। सबसे पहले अर्जुनसिंह ने चरखारी में ही नौकरी की किन्तु

तत्कालीन चरखारी नरेश खुमानसिंह से अनबन हो जाने के कारण अर्जुनसिंह बाँदा नरेश गुमानसिंह के दरबार में चले गए। एक बार जब हिम्मत बहादुर ने करामत खाँ के साथ बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया तो तेंदवारी के मैदान में गुमानसिंह (बाँदा नरेश) से उसका युद्ध हुआ। इसी युद्ध में अर्जुनसिंह बाँदा नरेश की ओर से इस वीरता के साथ लड़े कि उन्होंने शत्रुओं को यमुना पार खदेड़ दिया। अर्जुनसिंह की पद्माकर से प्रथम भेंट यहीं हुई। पद्माकर की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें गुरु बना लिया। 'गदौरा' की महत्वपूर्ण लड़ाई में अर्जुनसिंह को पन्ना राज्य का बहुत सा हिस्सा मिला और अन्त में 'बनगाँव' वाली लड़ाई में हिम्मत बहादुर के साथ लड़ते हुए ये मारे गए।

हिम्मत बहादुर—ये ब्राह्मण-पुत्र थे। बचपन में ही उनके पिता का देहान्त हो गया और इस प्रकार ये आश्रयहीन हो गए। यद्यपि इनके एक बड़े भाई भी थे किन्तु लगता है कि ये परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहे। इनकी माँ ने इन्हें एक गोसाईं के हाथों में सौंप दिया। गोसाईं ने इन दोनों भाइयों को अपना चेला बना लिया। बड़े लड़के का नाम बदलकर उमरावगिरि और छोटे (हिम्मत बहादुर) का अनूपगिरि रख दिया गया।

जब ये बीस बर्ष के थे तभी इनके गुरु का शरीरान्त हो गया और इन्होंने अपने भाई और अन्य कुछ साथियों के साथ लखनऊ के नवाब शुजाउद्दौला की सेना में नौकरी कर ली, हिम्मत बहादुर की पदवी इन्हें शुजाउद्दौला से ही मिली।

शुजाउद्दौला ने एक बार करामत खाँ के साथ इन्हें बुन्देलखण्ड विजय करने भेजा। उस लड़ाई में बाँदा नरेश गुमानसिंह ने अर्जुनसिंह की सहायता से इन्हें बुरी तरह हरा दिया। बहुत दिनों बाद 'गदौरा' की लड़ाई में अर्जुनसिंह को शक्तिहीन होता देख इन्होंने मरहटा सूबेदार अलीबहादुर की सहायता से चालीस हजार सेना लेकर बड़ी निर्ममता और कायरतापूर्वक अर्जुनसिंह का वध करा दिया। इस लड़ाई के समय पद्माकर हिम्मत बहादुर के ही साथ थे और उन्होंने इस युद्ध का विस्तृत वर्णन भी किया है। भयंकर युद्ध के पश्चात् उन्होंने हिम्मत बहादुर के हाथी से अर्जुनसिंह के मारे जाने का वृत्तान्त लिखा है और हिम्मत बहादुर को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कथा समाप्त की है।

पद्माकर कवि के रूप में—हिन्दी साहित्य में पद्माकर शृंगारी कवि के नाते प्रसिद्ध हैं, वीररस के कवि के नाते नहीं। इसमें सन्देह भी नहीं है कि वीरता सम्बन्धी उनकी कुछ रचनायें उनके हृदय में उद्रेक का परिणाम न होकर पैसे के लिए किया गया कर्त्तव्य पालन मात्र है। इसलिए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शृङ्गारी कवि के रूप में पद्माकर जितने सफल हैं, वीर रस के कवि के रूप में उतने ही असफल। अत्युक्तिपूर्ण बातें, द्वित्ववर्णबहुला शब्दावली, हाथी-घोड़ों आदि की जाति की सूची वीर रस के परिपाक के लिए पर्याप्त नहीं है। वीर रस का जो परिपाक भूषण या डिंगल के कवियों में मिलता है, पद्माकर में उसका निश्चित रूप से अभाव है। वीर रस की भावना एक भावना है इसलिए जब तक वीरों के हार्दिक भाव, आवेश आदि का सुन्दर और मार्मिक वर्णन नहीं होगा तब तक केवल तलवार और ढाल आदि का नाम लेना ही वीररस का सञ्चार नहीं कर सकता।

भाव की दृष्टि से दूसरी कमी पद्माकर की यह है कि वे जिस अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करने लगते हैं उसके सामने उसके शत्रु को मच्छर और मक्खी से भी निर्बल दिखाते हैं। वीर रस का उचित परिपाक तभी होगा जब शत्रु का भी उचित शौर्यपूर्ण वर्णन होगा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस बात का ध्यान रखा है और उन्होंने रावण की शक्ति और वीरता का जो वर्णन किया है, वह राम की टक्कर का ही है।

तीसरी कमी यह भी है कि अपने आश्रयदाताओं को सन्तुष्ट करने के लिए इस प्रकार के कवियों ने वीररस में भी शृङ्गार रस की अवतारणा और वीर रस में शृङ्गारी रूपकों की आवश्यकता से अधिक योजना कर डाली।

कभी पद्माकर ने यह तो सोचा ही नहीं कि अत्युक्ति की झोंक में वे इतिहास के विरुद्ध भी हो सकते हैं। निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

बज्जत जय डंका, गज्जत बंका, भज्जत लंका ला अरि गे।
मन मानि अतंका, करि सन संका सिन्धु सपंका तरितरि गे॥

कोई भी व्यक्ति उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर यह धारणा बना सकता है कि पराजित लोगों ने भाग कर लंका में शरण ग्रहण की।

द्वित्ववर्णबहुला शब्दावली वीररस के अनुकूल पड़ती है। तुलसी तक ने वीर रस के वर्णन में ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है। किन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है। बिना द्वित्ववर्णों के ही भूषण वीर रस का परिपाक करने में समर्थ हो सके। प्रश्न सूक्ष्म निरीक्षण का है, शायद ही पद्माकर कभी युद्ध स्थल पर गए हों। कोरी कल्पना से कविता तो लिखी जा सकती है पर उसमें स्वाभाविकता, तीव्रता और मार्मिकता तो अनुभूति पर ही आधारित है। देखिए, पद्माकर जी ने संयुक्ताक्षरों की जहाँ भरमार करदी है, वहाँ वीर रस परिपाक में वे बिलकुल भी सहायक नहीं हैं।

तहं ढुक्का ढुक्की, मुक्का मुक्की, डुक्का डुक्की होन लगी।
रन इक्का इक्की, झिक्का झिक्की, फिक्का फिक्की जोर लगी॥
काटत चिलता है इमि असि बाहैं, तिनहिं सराहैं वीर खड़े।
टूटें करि किलमें रिपु रन बिल में, सोचत दिल में खड़े खड़े॥

डिंगल साहित्य में वीरों के हृदय का जैसा मार्मिक और स्वाभाविक चित्र मिलता है अगर उससे पद्माकर के वीरों के हृदय में उठने वाले इन विरागी भावनाओं से तुलना की जाय तो पद्माकर की कमी और भी स्पष्ट हो जाएगी। देखिए, पद्माकर के बीरों की वाणी में वीरोचित कड़क और उत्साह न होकर विरागियों की सी शिथिलता और उदासीनता है—

जिनकी बची है मीच अब, तिनकी न इतउत बचाईयो।
जिनकी नहीं है विधि रची, तिनके न तन को नचाईगो॥
जग में जु जन्म विवाद जीवन मरन रिनधन धाम ये।
जिहिकों जहाँ लिखि दियौ प्रभु, तिहिको तुरत तिहि ठाम ये॥
भेटै धनंतर से ज् वैद, सु यों अनेक विधें करें।
पर काल है जिहि को जहां तिहि को तहाँ ते नहीं टरें॥
चढ़ि जाइ हिमगिरि हाँकि कै लपटाइ आसुर अजब सौ।
ततकाल जो निज काल नहिं तौ बचहि ऐसे गजब सौ॥

युद्ध को खेल समझने वाले क्षत्रियों के योग्य यह उपदेश नहीं है। युद्ध-वर्णन की जब चर्चा होती है तो डिंगल के समर्थ कवि राजा सूर्यमल का स्मरण अचानक हो आता है। यदि उसके कुछ उद्धरणों को (पीछे उनके कई

उद्धरण दिए जा चुके हैं) पद्माकर के युद्ध-वर्णन विषयक उद्धरणों के साथ रख कर पढ़ा जाय तो पद्मावत की कमी अपने आप स्पष्ट हो जाएगी।

आचार्यत्व—इनके आचार्यत्व तथा अलंकार-ज्ञान के विषय में दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस विषय में लिखते हैं—"........पद्माकर ने अपने ग्रन्थ के रचने में केवल परम्परा का पालन मात्र कर दिया है। आचार्य में विवेचन की जिस दृष्टि का होना आवश्यक है उसका अभाव इनमें भी है। पर इसे मान लेने में संकोच नहीं होना चाहिए कि पद्माकर ने जगद्विनोद में अपना कवित्व ही दिखाने का प्रयत्न किया है। पर इनका अलंकार का यह ग्रन्थ भाषाभूषण की ही भाँति आचार्य के रूप में अलंकारों का स्वरूप सामने रखने के विचार से लिखा गया है। साथ ही इसके स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दो-चार झगड़े के स्थलों को छोड़कर इन्होंने विषय को बहुत साफ रूप में रखने का प्रयत्न किया है। पद्माभरण इसीलिए अलंकारों के बोध का एक अच्छा ग्रन्थ कहा जायगा।"

इस विषय में विद्वान् प्रायः एकमत हैं कि वीर रस के कवि के नाते तो पद्माकर सफल हैं नहीं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन इस विषय में महत्वपूर्ण है—

"पद्माकर की कविता में युद्ध-प्रेम और भक्ति मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इनकी युद्ध वाली रचना में वीर रस के साथ-साथ बीभत्स, भय, रौद्र, भयानक और करुण सबके लिए जगह थी पर वे युद्धवीरत्व का ही सच्चा निरूपण नहीं कर पाए। फिर अन्य रसों की चर्चा ही क्या। युद्ध के प्रसंग में जहाँ वीरों की मार-काट का अवसर आया है, वहाँ सभी जगह तीर, बर्छी, भाले आदि का नाम भर ले लिया है, उनकी काट का वर्णन करके रसात्मकता उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की है। जहाँ चढ़ाई आदि का चित्रण करने की आवश्यकता थी, वहाँ उन्हें नाम गिनाने से ही फुरसत नहीं थी। जहाँ सेना में उपकरणों का वर्णन आया है वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा और परम्परा-पालन में ही लगे रहने से बाह्य स्वरूप तक मंजे रूप में नहीं झलकाया गया, आभ्यन्तर

की चर्चा ही क्या ! केवल सबसुखराय के पुत्र मांधाता की स्वामिभक्ति और उत्साहवर्धक वचनों के अतिरिक्त और कहीं भी कोई भावव्यंजना 'हिम्मत विरुदावली' में काम की नहीं है।"

पद्माकर का कवि रूप वास्तव में उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में देखने को मिलता है। जहाँ तक भाषाधिकार का प्रश्न है, हिन्दी में उनकी टक्कर के अधिक कवि नहीं निकलेंगे। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन इस विषय में महत्त्वपूर्ण है:—

"इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है, वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान, स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है।"

प्रश्न १४—कुछ लोगों का कथन है कि भूषण की कविता साम्प्रदायिक संकीर्णता से ग्रसित है। दूसरे लोगों का कथन है कि भूषण अपने काल के राष्ट्रीय कवि हैं। इस विषय की सम्यक् विवेचना करते हुए आप अपना मत दीजिए।

उत्तर—यदि भूषण के काव्य का गम्भीर अध्ययन न किया जाय, उनकी कुछ कवितायें ही पढ़ी जांय तो उन पर जातीयता या संकीर्णता का दोष लगा

देना एक स्वाभाविक बात है क्योंकि उनकी कविता में यत्र-तत्र 'हिन्दू', 'हिन्दु-आई', मुसलमानी' आदि शब्द पढ़ कर एक साधारण पाठक की यही धारणा बनती है कि वास्तव में भूषण का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित था और वे हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का ही प्रयत्न करते रहे। भूषण की कविता पर जातीयता और संकीर्णता का आक्षेप लगाने वाले लोग प्रमाण स्वरूप उनके इस प्रकार के पद उद्धृत करते हैं :—

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यौ माला राखी गर में।
मीड़ी राखि मुगल मरोड़ राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर में।
राजन की हद राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

या

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, गुन गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी मैं।

या

देखि देखि मुगलों की हरमें भवन त्यागें,
उझकि उझकि उठैं बहत बयारी के।
दिल्लीपति भूल मति गाजत घोर यान,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़धारी के॥

लेकिन दुःख का विषय तो यह है कि उपरोक्त पदों का गम्भीर अध्ययन करने और उनका तर्कपूर्ण विश्लेषण करने से यह कहीं भी प्रमाणित तो नहीं होता कि भूषण ने उपरोक्त पंक्तियों में मुसलमानों के विरुद्ध विषवमन किया है। इससे पूर्व कि हम यह प्रमाणित करें कि भूषण अपने युग के सबसे बड़े राष्ट्रीय कवि थे, हमें यह देख लेना भी आवश्यक है कि राष्ट्रीयता होती क्या है और भूषण के समय में इसका क्या अर्थ था ?

राष्ट्र का आज यों यह अर्थ है कि जहाँ एक प्रकार का राजनैतिक विधान हो, वह एक राष्ट्र है। इस परिभाषा के अनुसार पाकिस्तान भी आज दूसरा राष्ट्र है क्योंकि वहाँ का विधान दूसरा है। भारत के ही कुछ भाग जो पुर्तगाली लोगों के अधिकार में हैं, वैधानिक दृष्टि से अलग राष्ट्र माने जाएँगे। एक निश्चित राजनैतिक विधान के प्रति आस्था प्रकट करने वाला जनसमुदाय एक राष्ट्र है। यह तो राष्ट्र की प्रजातान्त्रिक परिभाषा हुई किन्तु भूषण के समय में भी इस परिभाषा को लागू करना ठीक नहीं होगा क्योंकि उस समय तो राष्ट्र का अर्थ था एक व्यक्ति विशेष के द्वारा अधिकृत एक विशेष भू-भाग यह वास्तव में एकतन्त्र का युग था अतः एक व्यक्ति की इच्छा ही नियम, शासन, धर्म और कर्तव्य सब कुछ थी। फिर वह एक व्यक्ति (राजा) चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान।

भूषण के युग में ऐसा व्यक्ति (राजा) औरंगजेब था। यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि औरंगजेब के समान धार्मिक असहिष्णु व्यक्ति भारत में दूसरा नहीं हुआ। हिन्दू संस्कृति के मूल पर प्रहार करके वह उसे समाप्त कर देना चाहता था। उसकी सबसे बड़ी विवेकहीनता इस बात में थी कि वह हिन्दू-संस्कृति का मूल जनेऊ, तिलक और मन्दिरों को ही समझता था। भारत भर के सब जनेऊ जला देने, तिलक चाट जाने और मन्दिर नष्ट कर देने के पश्चात् भी सब हिंदू धर्म को नष्ट कर पाता इसमें सन्देह है क्योंकि इस बीच में स्वयं उसके समाप्त होने की सम्भावनायें बनी हुई थीं।

अंग्रेजों ने जब भारत में पदार्पण किया और राजतन्त्र अपने हाथ में लिया तो वे हिन्दू और मुसलमानों के हितों के समान रूप से शत्रु थे। इसलिए उनके अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाना जातीय संकीर्णता नहीं अपितु

राष्ट्रीयता मानी गई और अनेक मुसलमान और हिन्दू कवियों को अंग्रेज विरोधी काव्य रचना के कारण राष्ट्रीय कवि का गौरव प्राप्त हुआ। प्रश्न यह है कि इन लोगों को संकीर्ण जातीय कवि क्यों न कहा जाय। उत्तर स्पष्ट है, हिन्दू और मुसलमान समान रूप से इस नवीन आततायी से पीड़ित थे और अपनी संस्कृति के अनुकूल आचरण करने में स्वतन्त्र नहीं थे। अंग्रेजों ने भारत पर जितने अत्याचार किए, औरंगजेब ने उससे कम नहीं किये। औरंगजेब से पूर्व बाबर, अकबर, आदि की नीति हिन्दू-विद्रोही नहीं थी। वे हिन्दुओं से मिलकर चलना चाहते थे और समझदार भी इतने अधिक थे कि भारत को ही वे अपनी मातृभूमि मानने लगे थे और कम-से-कम यह दम्भ कभी नहीं किया कि भारत हमारी ही भूमि है हिन्दुओं की नहीं। जब हिन्दुओं ने उनके काल में यह देखा कि ये भी भारत को हमारी ही भाँति अपना देश समझते हैं, गंगा और यमुना को उचित आदर देते हैं (प्रसिद्ध है कि शाहजहाँ केवल यमुना का ही पानी पीता था) तो उन्हें कभी भी मुसलमानों की राष्ट्रीयता पर संदेह नहीं हुआ। हो भी कैसे सकता था जब दो जातियाँ एक देश को अपना मान लें और एक दूसरे को हीन-दृष्टि से न देखें, आपस में समानता का व्यवहार करें तो फिर उनकी एक राष्ट्रीयता में सन्देह का कोई स्थान नहीं है।

औरँगजेब ने एक लम्बे समय के पश्चात् हिन्दू और मुसलमानों की इस प्रिय भावना पर कुठाराघात किया। दो गले मिले हुए व्यक्तियों को अलग करके उसने उन दोनों को एक-दूसरे के रक्त का प्यासा बना दिया। अतीत की सब मान्यताओं को उसने अपमान के साथ ठुकरा दिया, एक जाति-विशेष के साथ उसका व्यवहार एक प्रकार का था, दूसरी जाति-विशेष के साथ दूसरे प्रकार का। इसलिए जातीय विद्वेष के प्रारम्भ करने और उसे चरम सीमा तक पहुँचा देने का सेहरा तो केवल औरंगजेब के सिर पर ही बाँधना चाहिए। औरंगजेब ने भारत के प्रति ही नहीं अपने पूर्वजों के प्रति भी गद्दारी की। बाबर, अकबर, हुमायूं आदि ने जातीय विद्वेष की जिस खाई को बड़ी कठिनाई से पाट कर हिन्दू और मुसलमानों में प्रेम और सद्भाव उत्पन्न किया था, औरंगजेब ने अपनी अदूरदर्शिता और विवेकहीनता से उस खाई को और भी

अधिक चौड़ा कर दिया। एक प्रतिष्ठित शासक होते हुए भी वह आक्रामक बन गया। भूषण ने एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि बाबर, अकबर और हुमायूं ने एक मर्यादा स्थापित की थी जिसके कारण हिन्दू और मुसलमान एकता के सूत्र में बंधे थे। यथा—

बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद बांधि गए,
हिन्द और तुरक की कुरान वेद ढब की।
और बादशाहन में दूनी चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर शाहजहाँ शाख पूरैं तन की॥

औरंगजेब ने प्रथमतः अपनी अच्छी परम्परा के प्रति विद्रोह किया और हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक भावना में कटुता की चिनगारी लगा दी। इसका परिणाम उसे स्वयं भोगना पड़ा। शासन की डगमगाती नैया में उसका जीवन हमेशा ही आपद्ग्रस्त और प्रसन्नताहीन रहा।

अब दूसरे पक्ष पर विचार किया जाय। शिवाजी हिन्दू थे ठीक है, और भूषण उनके राजकवि थे यह भी ठीक है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि केवल हिन्दू होने के कारण ही भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा की है और केवल मुसलमान होने के कारण ही औरंगजेब की निन्दा। अगर शिवाजी हिन्दू मात्र के प्रशंसक होते और मुसलमान मात्र के निन्दक तो शायद यह आक्षेप थोड़ा बहुत उन पर लगाया भी जा सकता था। हमारे विचार से तो ऐसा होने पर भी जातीय संकीर्णता का आक्षेप उन पर नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने वाले भारतीय अंग्रेज मात्र के विरुद्ध थे। ऐसा स्वाभाविक भी है। किन्तु भूषण ने कई स्थान पर राजा जसवन्तसिंह और उदयभानु की निन्दा भी की है।

एक बात ध्यान देने की यह है कि भूषण मुसलमान मात्र के विरुद्ध विषवमन नहीं करते। उनके वाग्बाणों का लक्ष्य तो दिल्ली का तख्त और उस पर स्थित औरंगजेब है। उन्हें औरंगजेब और औरंगजेबशाही, जिसे अत्याचार-शाही या जुल्मशाही भी कह सकते हैं, से तीव्रतम घृणा है। भूषण के ऐसे पद तो मिलेंगे जिनमें औरंगजेब, औरंगजेब के सरदारों, सिपाहियों आदि के प्रति

घृणा है किन्तु ऐसे पद नहीं मिलते जिनमें मुसलमान मात्र के विरुद्ध उन्होंने घृणा प्रकाशित की हो।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि भूषण जिस व्यक्ति के राजकवि थे उस शिवाजी पर कोई भी इतिहासकार साम्प्रदायिक संकीर्णता का आक्षेप नहीं लगाता। शिवाजी की नीति मुसलमानों के विषय में बहुत उदार थी। वे मुसलमान धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। शिवाजी की फौज में मुसलमान बड़ी संख्या में थे और अच्छे-अच्छे पदों पर थे।

मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ को उद्धृत करते हुए डा० उदयनारायण तिवारी लिखते हैं :—

"उन्होंने एक नियम बना दिया था कि जब कभी उनके अनुयायी अधिकारीगण लूट-पाट करें, तब वे मस्जिद के धर्मग्रन्थ और स्त्रियों को किसी प्रकार की हानि न पहँचायें। जब कभी उनको पवित्र कुरान की कोई प्रति मिली उन्होंने उसे सम्मानपूर्वक रखा और अपने मुसलमान अनुयायियों को उसे दे दिया। जब कभी किसी मुसलमान की कोई स्त्री उनके आदमियों द्वारा कैद कर ली गई और उन्होंने उसकी रक्षा करने वाला कोई मित्र नहीं देखा तो स्वतः उन्होंने उस पर दृष्टि रखी।"

ऐसे व्यक्ति का राजकवि अपने आश्रयदाता के सिद्धान्त के विरुद्ध लिख भी कैसे सकता है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने शिवाजी की प्रशंसा में लिखा है और अत्युक्ति में भी; किन्तु उसका काव्य प्रशंसामात्र काव्य ही नहीं है। उसमें लोकप्रियता के तत्व इसलिए विद्यमान हैं कि शिवाजी उस समय एक शासक मात्र ही नहीं थे बल्कि राष्ट्रीयता, धर्म, वीरता, स्वाभिमान और भारतीय गौरव के प्रतीक थे; अतः उनकी प्रशंसा में लिखी गई कविता एक व्यक्ति के प्रति होते हुए भी समाज के लिए है क्योंकि उनके काव्य का नायक राष्ट्र का भी नायक था।

यह बात भी ध्यान देने की है कि शिवाजी में और परम्परागत राजाओं में भी अन्तर है। शिवाजी राजा नहीं, ये हीरो (लोकप्रिय वीर) थे। उन्होंने एक-एक देशभक्त को इकट्ठा कर देश के शत्रु औरंगजेब के विरुद्ध फौज इकट्ठी की

थी । इसलिए राजा न होकर वे नेता थे । तब चूंकि लोगों की राजनैतिक चेतना अधिक विकसित नहीं थी इसलिए अपने अनुयायियों के लिए नेता को छत्रपति राजा भी बनना स्वीकार करना पड़ा । ऐसे महान् नेता की प्रशंसा में लिखी गई भूषण की कविता देश के लोगों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है । पंडित रामचन्द्र शुक्ल भूषण के विषय में लिखते हैं :—

"भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर-काव्य का विषय बनाया, वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिंदूधर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे । उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई । इसी से भूषण के वीररस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए । भूषण की कविता कवि-कीर्ति-सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है । जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा ।उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी । क्या संस्कृत साहित्य में, क्या हिन्दी साहित्य में सहस्रों कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में ग्रन्थ रचे जिनका आज पता तक नहीं है । पुरानी वस्तु खोजने वालों को ही कभी-कभी किसी राजा के पुस्तकालय में कहीं किसी घर के कोने में उनमें से दो-चार इधर-उधर मिल जाते हैं । जिस भोज ने दान देकर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके-चरित काव्य भी कवियों ने लिखे होंगे, पर आज उन्हें कौन जानता है ?"

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता । वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनु-सरणमात्र नहीं हैं । इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है । वे हिन्दू जाति के प्रति-निधि कवि हैं ।

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण राष्ट्रीय कवि थे, उनका दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं था, वे साम्प्रदायिक संघर्ष को भड़काने वाले कवि नहीं थे । हमारा विचार तो यह है कि यदि भूषण साम्प्रदायिक कवि होते तो उनके काव्य में साम्प्रदायिक घृणा की उत्कट दुर्गन्ध भी होनी चाहिए थी जो कि नहीं है । शिवाजी ने अपने चरितनायक लोकनायक शिवाजी की प्रशंसा की

है और एक पथभ्रष्ट मुसलमान शासक की निन्दा, इतने ही से तो वे साम्प्रदायिक नहीं हो जायंगे।

यदि भूषण संकीर्णतावादी साम्प्रदायिक कवि होते तो मस्जिद तोड़ डालने, कुरान जला डालने और मुसलमान स्त्रियों के अपमान से अनुभव हुई प्रसन्नता वे अपने काव्य में अवश्य व्यक्त करते। परन्तु भूषण के काव्य में तो एक पंक्ति भी ऐसी नहीं मिलती, जिसमें लिखा हो कि शिवाजी ने इतनी मस्जिदें तोड़ीं, इतनी कुरान की प्रतियाँ जलाईं और इतनी मुसलमान स्त्रियों का अपमान किया। शिवाजी ने मुसलमान मात्र के विरुद्ध हिन्दुओं के हृदय में घृणा उत्पन्न करने का प्रचार अपनी कविता से बिल्कुल नहीं किया। जो ऐसा कहता है कि उन्होंने घृणित प्रचार किया है, हमारे विचार में वह व्यक्ति ही ऐसा घृणित प्रचार करता है। अपने आश्रयदाता को यदि वह विलासी और मद्यपी होता तो भूषण (यदि वह संकीर्ण दृष्टिकोण का होता) मुसलमान स्त्रियों के अपमानजनक नग्न चित्र कविता में उपस्थित कर सकता था किन्तु भूषण ने कविता आँख बन्द करके नहीं लिखी। भूषण की कविता शिवाजी के चरित्र का शृंगार है और शिवाजी हमारी राष्ट्रीयता के पावन किरीट हैं।

शिवाजी भूषण जैसा कवि पाकर धन्य हैं तो भूषण शिवाजी जैसे नायक पर कृतकृत्य।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया कि भूषण वास्तव में अपने समय के सर्वमहान् राष्ट्रीय कवि हैं।

'साकेत'-सौरभ

(श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' की समीक्षात्मक टीका)

टीकाकार—श्री नगीनचन्द्र एम० ए०

खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थों में 'साकेत' का विशिष्ट स्थान है। 'साकेत' हमारे युग का प्रधान राम-काव्य ही नहीं, भारतीय-जीवन का प्रतिनिधि ग्रन्थ भी है।

'साकेत'-सौरभ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की इसी अमर कृति की समीक्षात्मक टीका है। इस में सम्पूर्ण 'साकेत' की सरल तथा सुबोध टीका के अतिरिक्त प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्धरण की विस्तृत समीक्षा भी की गई है। प्रत्येक पंक्ति के भावार्थ के साथ ही उसके गूढ़ार्थ तथा काव्य-गत विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इस विद्वत्ता तथा गवेषणापूर्ण ग्रन्थ में राम-कथा के प्राचीन तथा अर्वाचीन गायकों की कृतियों—वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म-रामायण, रामचरित मानस, रघुवंश, रामचन्द्रिका, कवितावली, गीतावली, विदेह, साकेत सन्त, मेघनाद वध आदि-आदि से 'साकेत' की तुलना करके 'साकेत' के कवि की मौलिकता का स्पष्ट निरूपण किया गया है। यथास्थान गुप्त जी की अन्य कृतियों तथा हिन्दी के प्रतिनिधि आधुनिक कवियों की रचनाओं के उद्धरण भी दे दिये गये हैं और 'साकेत' के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रमुख आलोचकों के विचार भी संकलित कर दिये गये हैं।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य विशेषतः 'साकेत' के गम्भीर अध्ययन के लिये यह पुस्तक अधिकतम उपयोगी सिद्ध होगी।

मूल्य १०)

रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली।

संत-काव्य

प्रश्न १—संत नामदेव के व्यक्तित्व एवं विचारों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—उदारता, सदाशयता एवं भावुकता से परिपूर्ण हृदय वाले संत नामदेव जाति के छीपी थे। उनका जन्म सतारा जिले के नरसी बयनी गांव में सं० १३२६ में हुआ था। शैशव से ही साधु-सेवा और सत्संग में उनकी विशेष रुचि थी। कहा जाता है कि उन्होंने संत विसोवा को अपना गुरु बना लिया था। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी उनके हृदय में अपरिमित श्रद्धा थी। ज्ञानेश्वर जी के साथ रहकर उन्हें देश-भ्रमण करने और इस प्रकार अन्य अनेक संत-महात्माओं से परिचित होने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर जी के स्वर्गवास के उपरांत संत नामदेव उत्तरी भारत के पंजाब प्रान्त में आ बसे। यही उनके मत के प्रचार का केन्द्र बना। बताया जाता है कि संत नामदेव का स्वर्गवास सं० १४०७ में हुआ।

कबीर साहब ने संत नामदेव को एक आदर्श भक्त के रूप में माना है। वे पंढरपुर के विट्ठल भगवान् को ही अपना इष्टदेव मानते थे।

नामदेव की अधिकतर रचनाएं मराठी भाषा में हैं और शेष हिंदी में। 'आदिग्रन्थ' के अन्तर्गत उनके ६० से भी अधिक पद संगृहीत हैं। "इनकी भाषा पर पंजाबीपन का भी कुछ प्रभाव आ गया है किन्तु इनसे अधिक शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठों का संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं है। संत नामदेव की कथन-शैली की विशेषता उनके छल-हीन हृदय, निर्द्वन्द्व जीवन एवं आध्यात्मिक उल्लास द्वारा अनुप्राणित है और वह बिना सुझाये ही विदित हो जाती है।

संत नामदेव का 'गोविन्द' सर्वव्यापी है, वह घट-घट में बसा है। वह एक होकर भी अनेक में—सब में—व्याप्त है; उससे रहित कहीं कुछ भी नहीं है। एक होकर भी वह सब में इस प्रकार व्याप्त हो रहा है जैसे एक सूत

सहस्रों मणियों में से निकल जाता है। क्या जल की तरंगें, फेन अथवा बुलबुले जल से भिन्न हो सकते हैं? फिर भला कोई वस्तु अपने कर्त्ता, कोई कार्य अपने कारण से दूर कैसे रह सकता है? संत नामदेव ने इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

एक अनेक विआपक पूरक, जत देषउ तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहत, बिरला बूझै कोई॥
सभु गोविंदु है सभु गोविंदु है, गोविंदु बिनु नहिं कोई।
सूतु एकु मणि सत सहंस जैसे, ओति पोति प्रभु सोई॥
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न होई।
इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई॥
मिथिला भरमु अरु सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
सुक्रित मनसा गुरु उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ॥
कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु हिरदै बिचारी।
घट-घट अंतर सरब निरंतरि, केवल एक मुरारी॥

भक्त कवि अपने प्रभु को स्नान कराना चाहता है, उस पर पुष्प-वर्षा करना चाहता है, शोडषोपचार से उसका पूजन करना चाहता है, किन्तु जल, पत्र, पुष्प, नैवेद्य—समस्त पदार्थों में उसे अपना आराध्य छिपा दिखाई देता है। वह असमंजस में पड़ जाता है कि क्या करे; मन्त्रमुग्ध-सा होकर वह कह उठता है :

आनीले कुंभ भराइले ऊदक, ठाकुर कउ इसनान करउ।
बइआलीस लष जी जल महि होते, बीठलु भैला काइ करउ॥
जत जाउ तत बीठलु भैला, महा अनंद करे सदकेला।
आनीले फूल परोईले माला, ठाकुर की हउ पूज करउ॥
पहिले बासु लई है भवरह, बीठलु भैला काइ करउ।
आनीले दूधु रीधाईले षीरं, ठाकुर कउ नैवेद करउ॥
पहिले दूधु बिटारिउ बछरै, बीठलु भैला काइ करउ।
ईभै बीठलु ऊभै बीठलु, बीठलु बिनु संसार नहीं॥
थान थनंतरि नाम भा प्रणवै, पूरि रहिउ तूं सरग मही॥

इस प्रभु के साथ साक्षात्कार करने के लिए एकांतनिष्ठा अनिवार्य है

नादभ्रमे जैसे मिरगाए। प्रान तजे बाको धिआनु न जाए॥
ऐसे रामा ऐसे हेरउ। राम छोड़ि चितु अनत न फेरउ॥
जिउ मीना हेरै पसूआरा। सोना गढ़ते हिरै सुनारा॥
जिउ विषई टेरै पर नारी। कउडा डारत हिरै जुआरी॥
जह जह देषउ तह तह रामा। हरिके चरन नित धिआवै नामा॥

संसार चाहे जो कहे, समाज चाहे जितनी निन्दा करे किन्तु भक्त को इसकी परवाह नहीं। वह मतवाला तो जी भरकर तथा अत्यन्त सुरुचिपूर्वक अपने भरतार का शृंगार करके ही दम लेगा :

मैं बउरी मेरा राम भतारु। रचि रचि ताकउ करउ सिंगारु॥
भले निंदउ, भले निंदउ, भले निंदउ लोगु।
तनु मनु राम पिआरे जोगु॥
बादु विवादु काहू सिउ न कीजै। रसना राम रसाइनु पीजै॥
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई। मिलउ गुपाल नीसानु बजाई॥

ज्ञानोदय होने के उपरान्त आराधक और आराध्य का मिलन हो गया—सावन के बिना बादल गरजने लगे, बादल के बिना वर्षा होने लगी। पारस के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण में परिवर्तित हो गया। कुंभ जल में विलीन हो गया, आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया :

अणमडिआ मंदलु बाजै, बिनु सावण घनहरु गाजै।
बादल बिनु बरषा होई, जउ ततु विचारै कोई॥
मोकउ मिलिओ रामु सनेही जिह मिलअै देह सुदेही॥
मिलि पारस कंचनु होइआ, मुष मनसा रतनु परोइआ।
निज भाउ भइआ भ्रमु भागा, गुर पूछे मनु पतिआगा॥
जल भीतरि कुंभ समानिआ, सम रामु एकु करि जानिआ।
गुर चेले है मनु मानिआ, जन नामै ततु पछानिआ॥

भांति-भांति के विषय-भोग, जिह्वा के स्वाद, कनक और कामिनी, धन और धरती आदि समस्त वस्तुएं भ्रममूलक हैं, पतन की ओर ले जाने वाली हैं;

बुद्धिमानी उनसे बचने में है, उनमें आसक्त होने में नहीं। 'निर्भय' होने के लिए यह अनिवार्य है कि मानव इन दोनों से बच कर 'सत्य की साधना करे :

काएं रे मन बिषिआ बन जाइ। भूलै रे ठगमूरी षाइ ॥
जैसे मीनु पानी महि रहै, काल जाल की सुधि नहीं लहै।
जिहवा सुआदी लीलित लोह, ऐसे कनिक कामनी बांधिउ मोह ॥
जिउ मधु माषी संचै अपार, मधु लीनो मुषि दीनी छारु।
गऊ बाछकंउ संचै षीरु, गला बांधि दुहि लेइ अहीरु ॥
माइआ कारन स्रमु अति करै, सो माइआ लै गाडै धरै।
अति संचै समझै नहीं मूड़, धनु धरती तने होइ सइउ धूड़ि ॥
काम क्रोध त्रिसना अति जरै, साध संगति कबहूं नाहि करै।
कहत नाम देउ ताची आणि, निरभै होइ भजीऐ भगवान ॥

अस्तु, संक्षेप में कह सकते हैं कि संत नामदेव विट्ठल भगवान् के उपासक हो कर भी वस्तुतः निर्गुणोपासक थे, वे परमात्मा को सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी भी मानते थे, परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए छल, और कपट के त्याग और एकांत निष्ठा को अनिवार्य मानते थे, भक्ति-मार्ग में गुरु का महत्व स्वीकार करते थे और आराधक तथा आराध्य के मिलन को ही जीवन का उच्चतम ध्येय—मानव जीवन की महानतम सफलता—मानते थे।

प्रश्न २—"संत कवियों में रैदास जी का एक विशेष स्थान है"—रैदास जी के जीवन, व्यक्तित्व तथा कृतित्व के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—संत कवियों में रैदास जी का एक विशेष स्थान है। रैदास जी जाति के तो चमार थे किन्तु उनकी भक्ति बहुत ही उच्चकोटि की थी तथा उनकी कविता अत्यन्त सरल एवं मधुर है। रैदास जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों का विचार है कि वह कबीर साहब के समकालीन और स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे। इन्हें मीराबाई का गुरु

भी माना जाता है किन्तु इन बातों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

रैदास जी के मुख्य ग्रन्थ "रैदास जी की बानी" और "रैदास जी के पद" हैं। इनके बहुत से पद आदि ग्रन्थ में भी संगृहीत हैं। "रैदास जी की रचनाओं की विशेषता उनमें लक्षित होने वाली सरलहृदयता एवं दैन्य तथा गहरे भगवत्प्रेम में पायी जाती है। उनका आत्म-निवेदन बहुत ही सुन्दर, स्पष्ट तथा हृदयग्राही है और उनकी भक्ति का रूप प्रेम के रंग में सराबोर दिखलाई देता है। उनकी उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत हमें अन्य संतों की 'जोग जुगति' का प्रायः अभाव सा ही दीखता है। एकान्त निष्ठा, सात्विक जीवन, विश्व-प्रेम, दृढ़ विश्वास और आत्म समर्पण के भाव ही उनमें अधिक पाये जाते हैं।" एक उदाहरण देखिए—

तुम चंदन हम इरंड बापुरे, संगि तुमारे बासा।
नीच रूप ते ऊँच भए हैं, गंध सुगंध निवासा॥
माधउ, सत संगति सरनि तुम्हारी।
हम अउगन तुम उपकारी॥
तुम मकतूल सुपेद रूपीअल, हम बपुरे जस कीरा।
सत संगति मिलि रही औ माधउ जैसे मधुप मकीरा॥
जाती ओछा, पानी ओछा, ओछा जनमु हमारा।
राजा राम की सेव न कीन्ही, कहि रविदास चमारा॥

बाह्य पूजन अथवा सगुणोपासना में रैदास जी का विश्वास नहीं जमता। कारण स्पष्ट है। भक्त को सगुणोपासना के लिए समुचित सामग्री ही प्राप्त नहीं होती :

दूध बछरै थनउ बिटारिउ। फूलु भँवरि, जलु मीनि बिगारिउ॥
माई गोविन्द पूजा कहा लै चरावउ। अवस न फूलु अनूपु न पावउ॥
मैलागर बेरहे है भुइअंगा। विलु अंम्रितु बसहिं इक संगा॥
धूपदीप नई बेदहि बासा। कैसे पूजा करहि तेरी दासा॥

अतः कवि का भक्तिपूर्ण हृदय यही निश्चय करता है कि :

तनु मनु अरपउ पूजा चरावउ। गुर परसादि निरंजनु पावउ॥

रैदास जी तो ध्यान की साधना में विश्वास रखते हैं। वह ऐसा तप चाहते हैं जिसके उपरांत फिर कोई और तप शेष ही न रहे :

ऐसा ध्यान धरौं बरो बनवारी। मन पवन दै सुखमन नारी॥
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना। सो तप तपौं जो बहुरि न तपना॥

सत्य तो यह है कि काया के दुःख-सुख बस उसी समय तक हैं जब तक परम तत्व की अनुभूति नहीं होती। परब्रह्म में विलीन होते ही मानव का अहं ठीक उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जैसे समुद्र में समाते ही नदी की उच्छृंखलता समाप्त हो जाती है। वास्तव में आशा ही निराशा को जन्म देती है; आशा-निराशा की चिन्ता ही न रहने पर सर्वत्र आनन्द और उल्लासमयी आशा ही शेष रह जाती है :

गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ। गावन हार को निकट बताऊँ॥
जब लग है या तन की आसा। तब लग करै पुकारा॥
जब मन मिल्यौ आस नहि तन की। तब को जावन हारा॥
जब लग नदी न समुद्र समावै, तब लग बढ़ै हँकारा।
जब मन मिल्यों राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा॥
जब लग भगति मुकति की आसा, परम तत्व सुनि गावै।
जहँ-जहँ आस धरत है यह मन, तहँ-तहँ कछू न पावै॥
छाड़ै आस निरास परम पद, तब सुख सति कर होई।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्व अब सोई॥

भक्त अपने भगवान् में खो जाना चाहता है, यदि वह पर्वत के रूप में उसके सम्मुख आता है तो भक्त मोर बन जाता है, भगवान् चांद है तो भक्त चकोर; भगवान् दीपक है तो भक्त बत्ती; भगवान् तीर्थ है तो भक्त यात्री बन जाने के लिए तैयार है :

जउ तुम गिरवर तउ हम मोरा। जउ तुम चँद तउ हम भए हैं चकोरा॥
माधवे तुम न तोरहु तउ हम नहीं तोरहि।
तुमसिउ तोरि कननसिउ जोरहि॥
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती। जउ तुम तीरथ तउ हम जाती॥

भक्त और भगवान् का यह अपूर्व सम्बन्ध धन्य है !

प्रश्न ३—संत आनन्दघन की रचनाओं की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर— आनन्दघन उच्चकोटि के साधक तथा कवि थे। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "उनकी रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है कि वे उच्चकोटि के अनुभवी व्यक्ति और कवि थे।···उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा का मूल स्रोत बहुत व्यापक एवं उदार था और उनमें स्वानुभूतिजनित सहृदयता की भी कमी नहीं थी। उनकी कथन-शैली में भी, अन्य सन्त कवियों की ही भांति सरलता वा स्वाभाविकता लक्षित होती है। उसमें पदलालित्य एवं सरसता भी बहुत कुछ पायी जाती है।"

कवि ने आत्म-निरूपण करते हुए कहा है :

अवधू नाम हमारा राखै, सोई परम महारस चाखै।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी।
जाति न पांति न साधन साधक, ना हम लघु नहिं भारी।
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीर्घ न छोटा।
ना हम भाई ना हम भगिनी, ना हम बाप न धोटा।
ना हम दरसन ना हम परसन, रस न गंध कछु नाहीं।
आनंदघन चेतनमय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं॥

संत कवि ने इस रहस्य वाणी में आत्म-निरूपण तो कर दिया किन्तु अपने प्रभु का परिचय वह किस प्रकार दे ? उसकी क्या निशानी बताए ? यह कार्य उसे अपनी शक्ति से परे की बात जान पड़ता है। उसका स्वरूप वाणी से परे की वस्तु है—वर्णनातीत है। उसे न रूपयुक्त कहा जा सकता है, न अरूप और न ही रूपारूप। उसे 'सिद्ध स्वरूपी' कहना भी ठीक नहीं है और 'सिद्ध सनातन' कह कर संतोष नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उसका केवल अनुभव किया जा सकता है, श्रवण-कथन नहीं किया सकता :

निसानी कहा बताऊँ रे, तेरो बचन अगोचर रूप।
रूपी कहूं तो कछू नाहीं रे, कैसे बँधे अरूप।
रूपारूपी जो कहूँ प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप।
सिद्धसरूपी जो कहूँ रे, बंधन मोक्ष विचार।

न घटे संसारी दसा प्यारे, पुन्य पाप अवतार।
सिद्ध सनातन जो कहूं रे, उपजै विरणसें कौरण।
ऊपजै विरणसें जो कहूँ प्यारे, नित्य अबाधित गौन।
अनुभव-गोचर वस्तु को रे, जारणवो यह ईलाज।
कहन सुनन को कछु नाहीं प्यारे, आनंदघन महाराज।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि संत आनन्दघन में युक्ति-युक्त ढंग से यदि जटिलतम समस्या को लिपिबद्ध करने की अपूर्व क्षमता थी तो स्पष्टतम शब्दों में उसका समाधान—ईलाज—प्रस्तुत करने का असाधारण सामर्थ्य भी था।

आनन्दघन स्थूल-से-स्थूल बात को भी सरल एवं सुबोध शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त कर सकते थे। अपने अन्तर में होने वाले ज्ञानोदय का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

मेरे घट ज्ञान-भानु भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागो विरह को सोर।
फैली चहुँ दिस चतुर-भाव रुचि, मिट्यौ भरम तम जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, और कहत ना चोर।
अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषय-ससि-कोर।
आनंदघन एक वल्लभ लागत, और न लाख किरोर।

आनन्दघन जी के कुछ पदों में उस बाजीगर की रहस्यमयी लीला का उल्लेख भी है :

देखो एक अपूरब खेला।
आपही बाजी आपही बाजीगर, आप गुरू आप चेला।
लोक अलोक बिच आप विराजत, ज्ञान प्रकाश अकेला······

प्रेम के—आपस के—मामलों में आनन्दघन आराधक आराध्य के अतिरिक्त किसी और की मध्यस्थता पसन्द नहीं करते। रूठी प्रियतमा को मनाने का कार्य केवल प्यारे को ही करना चाहिए, किसी बिचोलिये अथवा दलाल को नहीं। इसका कारण यह है कि प्रेम का सौदा—व्यवहार—अगम

है प्रत्येक व्यक्ति उसे पूरी अथवा ठीक तरह समझ नहीं सकता :

रिसानी आप मनावो रे प्यारे, बिच्च वसीठ न फेर।
सौदा अगम है प्रेम का रे, परखत बूझै कोय।
ले दे वाही गम पड़ै प्यारे, और दलाल न होय।....

यदि प्यारे के वचनामृत प्राप्त हो सके तो मन की उलझन और शरीर की जलन एक साथ शान्त हो सकती है :

दो बातां जिय की करो रे, मेटो मन की आँट।
तन की तपन बुझाइये, प्यारे, बचन सुधारस छाँट।

प्रियतम की तो एक प्यार भरी चितवन अजरता एवं अमरता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है :

नेक नजर निहारिये रे, उजर न कीजे नाथ।
तनक नजर मुजरे मिलै प्यारे, अजर अमर सुख साथ।

हृदय का हृदय से यह अनुरोध कितना मधुर है !

आनन्दघन जी ने जिस प्रेम का पल्ला पकड़ा, वह सब प्रकार की दुविधाओं अथवा भेदभाव से सर्वथा युक्त है :

प्रेम जहाँ दुविधा नहीं रे, नहि ठकुराइत रेज।
आनन्दघन प्रभु आइ विराजे, आपहि ममता सेज।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हृदयप्रसूत इन रचनाओं में अनुभूति की निश्छलता और अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता का अद्भुत संगम है।

प्रश्न ४—गुरु गोविन्दसिंह जी के जीवन तथा उनकी काव्य-कला पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'खालसा पंथ' के संस्थापक, गुरु गोविन्द सिंह गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे। उनका जन्म सं० १७२३ में हुआ। शैशव से ही खेल-कूद, आखेट, युद्ध-कला, बाण-विद्या आदि में इनकी विशेष रुचि थी। पिता (गुरु तेगबहादुर) की नृशंस हत्या के उपरांत तो गोविन्दसिंह जी के हृदय में प्रतिशोध का एक अदम्य सागर ही उमड़ पड़ा। उन्होंने आत्म-त्याग की भावना से अनुप्राणित वीर युवकों का एक दल संगठित किया और आस

पास के नरेशों के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने लगे। देखते ही देखते यह दल इतना सशक्त हो गया कि यह मुगल साम्राज्य को भी चुनौती देने लगा। ऐसे ही एक युद्ध में गोविन्दसिंह जी ने, सं० १७६५, में शरीर त्यागा।

शस्त्र-विद्या के साथ-साथ गुरु गोविन्दसिंह काव्य-शास्त्र में भी निष्णात थे। कहा जाता है कि उनके दरबार में ५२ आश्रित कवि थे। उन्होंने संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रंथों का शुद्ध एवं सुन्दर अनुवाद कराने का भी प्रयत्न किया था। एक उच्चकोटि के धर्म-गुरु होने के अतिरिक्त वे एक साहसी वीर, नीतिपरायण नेता तथा कुशल कवि भी थे। उनकी रचनाएं गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं। उनकी अन्य कृतियां हैं—विचित्र नाटक और चण्डी चरित्र।

गुरु गोविन्द सिंह आडम्बर के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि प्रभु को पाने का उपाय सच्चा प्रेम है, आंख मूँदकर बगुले की भांति ध्यान लगाना अथवा सातों समुद्रों में स्नान करना नहीं :—

काह भयो दोउ लोचन मूंदिकै, बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो।
न्हात फिर्यो लिए सात समुंद्रन, लोक गयो परलोक गंवायो।
बासु कियो बिखिआन सों बैठकै, ऐसे ही ऐस सुबैस बितायो।
साचु कहौं सुनि लेहु सबै, जिन प्रेम कियो तिनही प्रभु पायो॥

जिस प्रकार आग के सहस्रों अंगारे उठकर अन्त में आग में ही मिल जाते हैं जैसे धूल के करोड़ों कण उठकर फिर धूल में ही समा जाते हैं और जिस भांति नदी की विभिन्न तरंगें पल भर अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखकर फिर उसी जल-राशि में विलीन हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार एक ही विश्वरूप से उत्पन्न होने वाले ये असंख्य व्यक्ति अन्ततोगत्वा उसी विराट रूप में अन्तर्धान हो जाते हैं :

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
न्यारे-न्यारे ह्वै कै फेरि आग मैं मिलाहिंगे।
जैसे एक धूर ते अनेक धूर धूरत हैं,
धूर के कनूका फेर धूर ही समाहिंगे॥

जैसे एक नद से तरंग कोट उपजत हैं,
पान के तरंग सब पान ही कहाहिंगे।
तैसे विस्व रूप तें अभूत भूत प्रगट होइ,
ताही ते उपज सबै ताही मैं समाहिंगे॥

मनुष्य अपने बाहरी रूप रंग—वेष-भूषा, भाव-भाषा, व्यवहार-व्यवसाय, धर्म-विश्वास, जाति पाति—में एक दूसरे से भिन्न भले ही हों किन्तु वास्तव में वे एक ही पिता की सन्तान हैं, एक ही गुरु के शिष्य हैं और एक ही दीपक के प्रकाश हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की विचारधारा को गुरु गोविन्द सिंह जी की यह एक महत्वपूर्ण देन है :

कोऊ भयो मुंडिया संन्यासी, कोऊ जोगी भयो,
कोऊ ब्रह्मचारी, कोऊ जतियन मानवो।
हिन्दू तुरक कोऊ राफजी इमाम साफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानवो॥
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानवो।
एक ही की सेव सबही को गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सबै, एकै जोत जानवो॥

प्रश्न ५—"सहजोबाई की कविता में प्रेम और भक्ति की बड़ी सरस भावनाएं अंकित हैं।"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर—सहजोबाई की रचनाएं उनके ग्रंथ—'सहज प्रकाश'—में संकलित हैं। इन रचनाओं से इनकी प्रगाढ गुरु भक्ति, संसार की ओर से पूर्ण विरक्ति, मानव जीवन, प्रेम, निर्गुण-सगुण भेद, नाम स्मरण आदि से सम्बद्ध भावनाओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। संत-सुलभ विनयशीलता का भी उनमें प्राचुर्य है :

तुम गुनवंत मैं औगुन भारी।
तुम्हरी ओट खोट बहु कीन्हे, पतित उधारन लाल बिहारी॥

खान पान बोलत अस डोलत, पाप करत हैं देह हमारी।
कर्म विचारौ तौ नहिं छूटौं, जो छूटौं तौ दया तुम्हारी॥
मैं अधीन माया करू हो करि, तुब सुधीन माया सूं न्यारे।
मैं अनाथ तुम नाथ गुसाईं, सब जीवन के प्रान पियारे॥

गुरु के प्रति सहजोबाई के हृदय में अनन्य श्रद्धा थी; गुरु का महत्व, उनकी दृष्टि में हरि से भी अधिक था :

राम तजूं पै गुरु न विसारूं।
गुरु के सम हरि कूं न निहारूं॥

अन्य संत-कवियों की भांति उन्होंने भी संत-समागम का भी महत्व स्वीकार किया है :

साध मिले हरिजी मिले, मेरे मन परतीत।
सहजो सूरज धूप ज्यों, जल पाले की रीत॥

धनवानों की अपेक्षा निर्धन अधिक 'सुखी' जीवन बिताता है :

साहन कूँ तो भय घना, सहजो निर्भय रंक।
कुंजर कै पग बेड़ियां, चींटी फिरै निसंक॥

अतः सहजोबाई का एकमात्र उपदेश यह है कि—

बाबा काया नगर बसावौ।
ज्ञान दृष्टि सूं घट में देखौ, सुरति निरति लौ लावौ॥
पाँच मारि मन बसि करि अपने तीनौं ताप नसावौ॥
सत सन्तोष गहौ दृढ़ सेती, दुरजन मारि भजावौ॥

और उनके सगुण रूप वर्णन में तो सगुणोपासक भक्त कवियों की काव्य-वीणा के स्वर गूँजते हैं :

मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
नृत तन नटवर मदन मनोहर, कुंडल झलक अलक विथुराई॥
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई॥....

निस्संदेह, सहजोबाई की कविता में, सगुणोपासक भक्त कवियों जैसी; प्रेम तथा भक्ति पूर्ण सरस भावनाओं का अंकन है।

प्रश्न ६—संत पलटू साहब की कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन कीजिए।

उत्तर—भाव एवं वर्ण्य विषय की दृष्टि से पलटू साहब की रचनाएं अन्य सन्त कवियों की कृतियों से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। उन्होंने भी गुरु-महिमा, विश्व-प्रपंच, अन्तर्यामी राम, भक्ति, प्रेम, योग, आत्मा परमात्मा के मिलन, वैराग्य, सत्संग तथा संत माहात्म्य आदि को ही अपनी रचनाओं का वर्ण्य विषय बनाया है। इनकी रचनाओं पर कबीर साहब की गहरी छाप है। इसीलिये ये 'द्वितीय कबीर' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

संत के लक्षणों का उल्लेख करते हुए पलटू साहब कहते हैं कि संत न तो मुक्ति की कामना करता है, न धर्म, अर्थ अथवा काम की; ऋद्धि तथा सिद्धियां उसके सम्मुख तुच्छ हैं और स्वर्ग अनाकर्षक। वह न तीर्थ करता है, न व्रत; न वैकुण्ठ प्राप्त करने का आकांक्षी होता है, न आवागमन से मुक्ति पाने का। वह तो हरि-भक्ति और केवल हरि-भक्ति का आकांक्षी होता है :

संत न चाहे मुक्ति को, नहीं पदारथ चार।।
नहीं पदारथ चार मुक्ति संतन की चेरी।
ऋद्धि सिद्धि पर झुकैं स्वर्ग की आस न हेरी॥
तीरथ करहिं न वर्त नहीं कछु मन में इच्छा।
पुन्य तेज परताप संत को लगै अनिच्छा।।
ना चाहै बैकुंठ न आवागमन निवारा।
सात स्वर्ग अपवर्ग तुच्छ सम ताहि विचारा॥
पलटू चाहै हरि भगति ऐसा मता हमार।
संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार।।

वस्तुतः संत और राम में कोई अन्तर ही नहीं है; उन्हें एक ही समझना चाहिए :

संत औ राम को एक कै जानियै, दूसरा भेद ना तनिक आनै।
लाली ज्यों छिपी है मिहंदी के पात में, दूध में घीव यह ज्ञान ठानै।।

फूल में बास ज्यों काठ में आग है, संत में राम यहि भांति जानै।
दास पलटू कहैं संत में राम है, राम में संत यह सत्य मानै॥

अतः संत मिल जाने के उपरांत किसी और फल-प्राप्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती :

पलटू तीरथ को चला, बीचे मिलिगे संत।
एक मुक्ति को खोजते, मिलि गइ मुक्ति अनंत॥

संत की भांति गुरु के प्रति भी पलटू के हृदय में अपार श्रद्धा है :

गगन कि धुनि जो आनई, सोई गुरु मेरा।
वह मेरा सिरताज है, मैं वाका चेरा॥

पलटू साहब भक्ति की तुलना में आसन-प्राणायाम, जप-तप आदि को सर्वथा महत्वहीन एवं व्यर्थ मानते हैं :

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात॥
और झूठ सब बात करै हठ जोग अनारी।
ब्रह्म दोष वो लेय काया को राखै जारी॥
प्रान करै आयाम, कोई फिर मुद्रा साधै।
धोती नेती करै कोई ले स्वासा बांधै॥
उनमुनि लावै ध्यान करै चौरासी आसन।
कोई साखी सबद कोई तप कुस कै डासन॥
पलटू सब परपंच है करै सो फिर पछितात।
एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात॥

आराध्य के साक्षात्कार का एक ही मार्ग है—अविचल प्रेम—ऐसा प्रेम जो बाधाओं में फले-फूले, विरोध में अधिक गहरा हो और आपदाओं में मुसकाना जानता हो :

पलटू ऐसी प्रीत कर, ज्यों मजीठ को रंग।
टूक टूक कपड़ा उड़ै, रंग न छोड़ै संग॥

इस प्रकार के प्रेम का कवच पहना हो, गुरु ज्ञान के घोड़े पर सवार

हो और सुरति की कमान साथ हो तो विजय अवश्यम्भावी है :

बखतर पहिरे प्रेम का, घोड़ा है गुरु ज्ञान।
पलटू सुरति कमान लै, जीति चलै मैदान।।

किन्तु प्रेम का पथ तो तलवार की धार का पथ है, कोई खाला का घर नहीं है :

सीस उतारै हाथ से सहज आसिकी नाहिं।।
सहज आसिकी नाहिं खांड खाने की नाहीं।
झूठ आसिकी करै मुलुक में जूती खांहीं।।
जीते जी मरि जाय करै ना तन की आसा।
आसिक को दिन रात रहै सूली पर बासा।।

इतनी कठोर साधना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं, यह कार्य तो कोई बिरला ही कर सकता है :

आसिक का घर दूर है पहुँचै बिरला कोय।।
पहुँचै बिरला कोय होय जो पूरा जोगी।
बिंद करै जो धार नाद के घर में भोगी।।
जीते जी मरि जाय मुए पर फिरि उठि जागै।
ऐसा जो कोइ होय सोई इन लातन लागै।।
पुरजै पुरजै उड़ै अन्न बिनु बस्तर पानी।
ऐसे पै ठहराय सोई महबूब बखानी।।
पलटू आप लुटावही काला मुंह जब होय।
आसिक का घर दूर है पहुंचै बिरला कोय।।

चंचल मन इस लक्ष्य-पूर्त्ति में प्रधानतम बाधा सिद्ध होता है अतः मन को सर्वथा पराभूत किये बिना इस ओर बढ़ना असम्भव है। मन-महाराज की मृत्यु हो जाने पर इस पथ की कोई बाधा शेष नहीं रहती, निर्दिष्ट सपने दिखाई देने लगता है और पथिक सन्तोष का सांस लेकर कह उठता है

खसम मुआ तौ भल भया सिर की गई बलाय।।
सिर की गई बलाय बहुत सुख हमने माना।

लागे मंगल होन बजन लागे सटियाना ।।
दीपक बरे अकास महल पर सेज बिछाया ।
सूतों यहीं अकेल खबर जब मुए की पाया ।।
सूतौं पांय पसारि भरम की डोरी टूटी ।
मने कौन अब करै खसम बिनु दुबिधा छूटी ।।

और उस 'निर्दिष्ट' का वर्णन, पलटू साहब के शब्दों में, इस प्रकार है :

चढ़ै चौमहले महल पर कुंजी आवै हाथ ॥
कुंजी आवै हाथ सब्द का खोलै ताला ।
सात महल के बाद मिलै अठएं उजियाला ।।
बिनु कर बाजै तार नाद बिनु रसना गावै ।
महा दीप इक बरै दीप में जाय समोवै ।।

इस प्रकार जोत में जोत मिल जाने के उपरांत और कोई लक्ष्य शेष नहीं रहता ।

प्रश्न ७—स्वामी रामतीर्थ के जीवन तथा विचारों पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—स्वामी रामतीर्थ का जन्म सं० १९३० में पंजाब के एक गांव में हुआ था । कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी इनके पूर्वजों में से एक थे । प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के अतिरिक्त रामतीर्थ जी ने उर्दू, फारसी और गणित में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की । शिक्षा के उपरान्त कुछ समय तक तो इन्होंने अध्यापन-कार्य किया किन्तु श्री कृष्ण की भक्ति, गीता के अध्ययन-मनन एवं वेदान्त दर्शन की ओर अधिक रुचि होती जाने के कारण इनकी जीवन-सरिता की धारा ही एक अन्य दिशा की ओर बह निकली । सं० १९५५ से स्वामी रामतीर्थ आत्मानुभूति निमग्न हो गये । इन्होंने देश-विदेश की यात्रा करके अपने भावों की अभिव्यक्ति की किन्तु कोई नवीन सम्प्रदाय नहीं चलाया । सं० १९६३ में इन्होंने जल समाधि ले ली ।

स्वामी जी की अनेक रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उन्होंने 'ब्राह्मी-

स्थिति' उपलब्ध कर ली थी। "वे सभी कुछ को आत्म-स्वरूप में ही देखते थे और अपनी प्रत्येक चेष्टा को भी उन्होंने पूर्णतः उसी रंग में रंग डाला था। उनकी दशा कभी-कभी भावोन्माद की कोटि तक पहुँच जाती थी, किन्तु उनके विचारों में किसी प्रकार की विशृंखलता नहीं लक्षित होती थी। अपनी मानसिक स्थिति का परिचय इन्होंने एक बार 'A state of balanced recklessness' अर्थात् 'संतुलित प्रमाद की अवस्था' के द्वारा दिया था और उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति विश्वकल्याण का लक्ष्य लेकर ही हुआ करती थी। उन्होंने 'धर्म' की व्याख्या भी वैसी ही की है जिससे वह अपने चित्त की एक 'बढ़ी-चढ़ी अवस्था' ही सिद्ध होता है जिसमें विश्वात्मा एवं जीवात्मा एकाकार हो जाते हैं और खुदी (देहात्म भाव) खुदाई (ब्रह्म भाव) में परिणत हो जाती है।"

स्वामी जी ने अपनी एक गज़ल में जीवात्मा को सम्बोधित करके कहा है : तू तो वास्तव में विश्व का सम्राट् है, आश्चर्य की बात है कि तू (अपनी वास्तविक शक्ति को भुलाकर) याचक बन गया है। तू तो काल का भी रचयिता है, फिर तेरी दशा घड़ी के डायल के समान क्यों हो रही है ? तू आकाश, सूर्य तथा चन्द्रमा से प्रभावित क्यों हो रहा है, यदि उन्हें गर्ज हो तो वे सौ सौ बार आकर तेरे चरण धोकर उस चरणामृत का पान करें ! भला खंजर में इतनी सामर्थ्य कहां कि तुझे काट अथवा नष्ट कर सके, तू तो स्वयं ही भ्रमवश यह समझने लगा है कि तू घायल (विनष्ट) हो चुका है। क्या राजा तथा रंक सबका पोषण करने वाला (तेरे अतिरिक्त) कोई और है ? फिर तू इस प्रकार अपने को निर्धन और दरिद्र क्यों मान रहा है ? वस्तुतः समय तो तेरे संकेतों की प्रतीक्षा करता रहता है फिर न जाने तू क्यों उसके डर से क्षीण-क्षीण हो रहा है। अरे, राम तो सदा ही तेरे पास रहता है किन्तु तू स्वयं परदा बनकर उसके साक्षात्कार में बाधक बन रहा है :

शाहंशाहे जहान है, सायल हुआ है तू।
पैदा कुने ज़मान है, डायल हुआ है तू॥

सौ बार गर्ज़ होवे तो, धो धो पियें कदम।
क्यों चर्खों मिहरो माह पै मायल हुआ है तू॥
खंजर की क्या मजाल कि इक ज़ख्म कर सके।
तेरा ही है ख़याल कि घायल हुआ है तू॥
क्या हर गदाओ शाह का राज़िक है कोई और।
अफ़लासो तंगदस्ती का कायल हुआ है तू॥
टाइम है तेरे मुजरे के मौके की ताक में।
क्यों डर से उसके मुफ्त में जायल हुआ है तू॥
हम बगल तुझसे रहता है हर आन राम तो।
बन पर्दा अपनी वस्ल में हायल हुआ है तू॥

इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामी रामतीर्थ की रचनाओं में "एक सच्चे संत के विचार भावावेश की शैली में व्यक्त किये गये दीख पड़ते हैं और उनमें सात्विक जीवन जागरूक बना दीखता है।······ उनमें ओज एवं प्रवाह के साथ-साथ स्वानुभूति का वह आनन्दोल्लास भी है जो प्रायः गंभीरतम आध्यात्मिक जीवन में ही संभव हुआ करता है।"

———

संत काव्य-संग्रह तथा कबीर-संग्रह

प्रश्न १—कबीर के जीवन पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—कबीर की गणना हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में की जाती है। महान् पुरुषों के सम्बन्ध में जिस प्रकार के प्रवाद प्रचलित हो जाते हैं, कबीर के विषय में ऐसे प्रवादों की संख्या कम नहीं है। कबीर के जन्म से सम्बद्ध घटनाओं में सब से प्रसिद्ध घटना है, एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उनके पैदा होने की। कहा जाता है कि काशी में स्वामी रामानन्द का एक ब्राह्मण भक्त था। एक बार वह अपनी विधवा पुत्री सहित स्वामी जी के दर्शन के लिए आया। स्वामी जी ने भूल से उसे (लड़की को) पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। स्वामी जी का ध्यान परिणाम की भयंकरता की ओर आकर्षित करने पर भी स्वामी जी अपना आशीर्वाद वापस न ले सके। अन्त में समाज में अपवाद से बचने के लिए वह विधवा युवति अपने शिशु को लहर तारा के तालाब के पास फेंक आयी। नीरू और नीमा नामक जुलाहा-दम्पति उधर से जा रहे थे, सुन्दर बालक देखकर उन्होंने उसे उठा लिया और उसका पालन-पोषण किया। बाद में यही बालक कबीर नाम से प्रसिद्ध हुआ।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और डाक्टर रामकुमार वर्मा का विश्वास है कि उपरोक्त कथा गढ़ी हुई है अतः वह वास्तविकता से दूर है।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल अपने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ में कबीर के विषय में लिखते हैं---"जनश्रुति के अनुसार वे जन्म से तो हिन्दू थे किन्तु पाले-पोसे गये थे मुसलमान के घर, परन्तु इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनका जन्म वस्तुतः मुसलमान परिवार में हुआ था। एक पद में जो 'आदि ग्रन्थ' में रैदास के नाम से और रज्जब दास के 'सर्वांगी' में पीपा नाम से मिलता है, लिखा है :—

"जाके ईद बकरीद, कुल गऊरे बध करहिं मानि यहि शेख शहीद पीरा।
जाके बापि ऐसी करी पूत ऐसी सरी तिहूँरे लोक परसिध कबीरा॥"

इससे प्रकट होता है कि कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले-पोसे ही नहीं गये थे पैदा भी हुए थे। पीपा और रैदास दोनों कबीर के समकालीन और गुरु भाई थे। इसलिए कबीर के कुल के सम्बन्ध में जो कुछ उनमें से कोई कहे

उस पर विश्वास करना चाहिए।"

इस प्रसंग में डा० वर्मा का कथन भी महत्वपूर्ण है—

"बात जो भी हो, कबीर का जन्म जनश्रुति ब्राह्मण-कन्या से जोड़ती है किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कबीर विधवा की सन्तान थे तो यह बात लोगों को ज्ञात कैसे हुई ? उसने तो कबीर को लहरतारा के समीप छिपा कर रख दिया था और यदि ब्राह्मण विधवा को वरदान देने की बात लोग जानते थे तो उस विधवा ने अपने बालक को छिपाने का प्रयत्न ही क्यों किया ? रामानन्द के आशीर्वाद से कलङ्क-कालिमा की आशंका भी नहीं हो सकती थी। इस प्रकार कबीर की यह कलंक-कथा निर्मूल सिद्ध होती है। इस कथा के उद्गम के तीन कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि इससे रामानन्द के प्रभुत्व का प्रचार होता है, वे इतने प्रभावशाली थे कि अपने आशीर्वाद से एक विधवा कन्या के उदर से पुत्रोत्पत्ति कर सकते थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि कबीर के पंथ में बहुत से हिन्दू भी सम्मिलित थे, अपने गुरु को जुलाहा की हीन और नीच जाति से हटा कर वे उसका सम्बन्ध पवित्र ब्राह्मण जाति से जोड़ना चाहते थे और तीसरा कारण यह है कि कुछ कट्टर हिन्दू और मुसलमान जो कबीर की धार्मिक उच्छृङ्खलता से क्षुब्ध थे उन्हें अपमानित और कलंकित करने के लिए उनके जन्म का सम्बन्ध इस कलङ्क-कथा से घोषित करना चाहते थे।"

"दूसरा प्रमाण सद्गुरु गरीबदास जी साहिब की वाणी से प्राप्त होता है इसमें पारख का अङ्ग ॥५२॥ के अन्तर्गत कबीर साहब का जीवन चरित्र दिया हुआ है, आरम्भ में ही लिखा है :—

(गरीब) सेवक होय करि ऊतरे, इस पृथ्वी के माँहि।
जीव उधारन जगतगुरु, बार बार बलि जाँहि ॥३००॥
(गरीब) काशीपुरी कस्त किया, उतरे अधर उधार।
मोमिन को मुजरा हुआ, जंगल में दीदार ॥३८१॥
(गरीब) कोटि किरण शशिभान सुधि, आसन अधर विमान।
परसत पूर्ण ब्रह्म कुं, शीतल पिंडरु प्राण ॥३८२॥
(गरीब) गोद लिया मुख चूँबि करि, हेम रूप झलकंत।
जगर मगर काया करै, दमकैं पदम अनन्त ॥३८३॥

(गरीब) काशी उमटी गुल भया, मोमिन का घर घेर ।
कोई कहै ब्रह्मा विष्णु हैं, कोई इन्द्र कुबेर ॥३८४॥

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि कबीर ने काशी में सीधे मुसलमान (मोमिन) ही को दर्शन देकर उसके घर में जन्म ग्रहण किया और मोमिन ने शिशु कबीर का मुँह चूमकर उसके अलौकिक रूप के दर्शन किये । इस अवतरण से भी कबीर के ब्राह्मण विधवा से उत्पन्न होने की किंवदन्ती मिथ्या होती है । सद्गुरु गरीबदास साहिब की वाणी भी प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाना चाहिए क्योंकि उसे संवत् १८६० की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया है ।"

कबीर ने अपने को जुलाहा स्वीकार किया है और जुलाहे मुसलमान होते हैं ।

१. तनना बुनना तज्या कबीर रामं नामं लिखि लिया सरीर ।
२. जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनि दस ठाईं हो ॥
३. जाति जुलाहा मति कौ धीर,
हरषि हरषि गुण रमै कबीर ।
४. तू बांहमन मैं काशी का जुलहा,
चीह्नि मोर गियाना ।
५. जाति जुलाहा नाम कबीरा,
बनि बनि फिरौं उदासी ।
६. कहै कबीर मोहि भगत उमाहा,
कृत करणी जाति भया जुलाहा ।
७. ज्यूँ जल में पैसि न निकसै,
यूँ ढुरि मिल्या जुलाहा ।
८. गुरु प्रसाद साधु की संगति,
जग जीतैं जाइ जुलाहा ।

लेकिन एक बात बड़े महत्व की है । कबीर ने कई स्थानों पर अपने को कोरी भी कहा है । कपड़ा बुनने वाले हिन्दू को कोरी कहते हैं और कपड़ा बुनने वाले मुसलमान को जुलाहा ।

'हरि को नाम अभय पद पाता, कहै कबीरा कोरी ।

तो एक बात तो निश्चित है कि कबीर जहाँ भी पैदा हुए कपड़ा बुनने का काम ही उनका पैतृक पेशा था। कबीर के पदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने जितने रूपक बांधे हैं अधिकांश कपड़ा बुनने की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए चाहे उन्हें हम जुलाहा कहें चाहे कोरी, कोई विशेष अन्तर नहीं है। ध्यान देने की बात थह है कि अनेक बार अपने को जुलाहा या कोरी कह देने पर भी कबीर ने अपने आपको मुसलमान कभी नहीं कहा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि कुछ ऐसी जातियाँ भारतवर्ष में थीं जो ब्राह्मणद्वेषी थीं और वेद-स्मृतियों को नहीं मानती थीं। इन जातियों ने कभी सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन किया। कबीर किसी ऐसी ही जाति के थे इसलिए वे हिन्दू और मुसलमान दोनों से अपने को अलग बताते हैं। यह बात सत्य है कि ऐसा धर्म परिवर्तन कबीर से एक दो पीढ़ी पूर्व ही हुआ होगा इसलिए कबीर पर उस धर्म के संस्कार भी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निम्नांकित तथ्य बड़े महत्व के हैं :

१. "आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थीं।

२. 'जोगी' नामक आश्रमभ्रष्ट घरबारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्व भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे। कपड़ा बुनकर और सूत कात कर या गोरखनाथ या भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाया करते थे।

३. इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी। जाति-भेद और ब्राह्मण की श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही इनकी कोई आस्था थी।

४. आस-पास के बृहत्तर हिन्दू समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे।

५. मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे।

६. पंजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

७. कबीरदास इन्हीं नवधर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।

"जोगी जाति का सम्बन्ध नाथपंथ से है। जान पड़ता है कि कबीर के वंश में भी यह नाथपन्थी संस्कार पूरी मात्रा में थे। यदि नाथपन्थी सिद्धान्तों

की जानकारी न हो तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।"

जोगी लोगों के विषय में आचार्य क्षितिमोहन सेन के विचार भी जान लेने योग्य हैं :

"बंगाल के युगी (जुगी) या नाथ लोग पहले तो वेद-स्मृति शासित हिन्दू ही नहीं थे। नाथ धर्म एक स्वतन्त्र और पुराना धर्म है। मध्ययुग में इनमें से अधिकांश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बाद में उन लोगों ने जो पुरोहित का काम काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाज में एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ।"

जो भी हो, इतना निर्विवाद है कि कबीर जिस वंश में उत्पन्न हुए थे उसने निकट भूत में धर्म परिवर्तन किया होगा। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकांश कोरी (हिन्दू) अपना सम्बन्ध कबीर से मानते हैं और अपने को कबीर पन्थी कहते हैं। ठाकुरों की एक जाति ऐसी अभी तक विद्यमान है जो आधी मुसलमान है और आधी हिन्दू। मुसलमान इतनी है कि उनके यहाँ निकाह होता है। शेष सब बातें हिन्दुओं की हैं। नाम भी हिंदुओं जैसे, पण्डित भी शादी में भाग लेता है। और ठाकुरों में शादियों की जो रीतियाँ प्रचलित हैं वे सभी उनमें मिलती हैं। कबीर जुलाहा या कोरी थे। निश्चित रूप से यह ऐसी ही जाति रही होगी जो आधी मुसलमान हो। दोनों धर्मों के प्रति थोड़ा-थोड़ा विश्वास होने के कारण ऐसी जाति को किसी धर्म विशेष के प्रति ममत्व नहीं हो सकता इसीलिए शायद कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों को काफी खरी-खोटी सुना सके। इसलिए हिन्दू संस्कार और मुसलमानी संस्कारों का विचित्र मिश्रण कबीर में मिलता है। कबीर का पूरा नाम 'कबीरदास' है। यह नाम ही इस बात की घोषणा करता है कि दो संस्कारों के मिश्रण से उसका निर्माण हुआ है। जिन नामों का अन्त दास के साथ होता है वे हिन्दू नाम ही होते हैं, किन्तु कबीर स्पष्टतः मुसलमान नाम है।

अब प्रश्न उठता है कि कबीर कब और कहाँ उत्पन्न हुए थे ?

यदि स्वयं कबीर के शब्दों पर विश्वास किया जाए तो कहा जाएगा कि

कबीर काशी में उत्पन्न हुए थे और रामानन्द जी के शिष्य थे। वैसे ये दोनों ही बातें निर्विवाद नहीं हैं। कबीर ने कहा है:—

"काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताए।"
"तू बाह्मन हौं काशी का जुलहा।"

डा० बड़थ्वाल का विचार है कि कबीर का जन्म-स्थान मगहर है। इस विषय में उन्होंने कबीर की निम्नांकित पंक्तियां उद्धृत की हैं :—

तेरे भरोसे मगहर बसियो, मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई।"

डा० बड़थ्वाल लिखते हैं—"इससे जान पड़ता है कि काशी में बसने के पहले वर्ष केवल मगहर में रहते ही नही थे, उन्हें पहले-पहल परमात्मा का दर्शन भी वहीं प्राप्त हुआ था। अधिक सम्भव यह है कि कबीर का जन्म मगहर ही में हुआ हो जो आज भी प्रधानतया जुलाहों की बस्ती है।"

एक बात अवश्य मानने योग्य है कि भक्ति के कीटाणु कबीर के मन-मस्तिष्क में आरम्भ से ही थे और अपने पैतृक पेशे में कबीर का मन नहीं लगता था। कबीर को संसार से उदास देखकर सब से अधिक दुःख तो कबीर की माता को होता था। वह सोचती थी जाने कबीर को क्या हो गया है। संसार से विरक्त होने पर अपने पुत्र के लिए मातायें जैसे आज भी रोती है, कबीर की मां भी उसी रूप में कबीर के शब्दों में रोती दिखाई देती है:—

"तनना बुनना तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर।
ठाढ़ी रोवै कबीर की माय, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाय।
कहैं कबीर सुनहु री माई, पूरण हारा त्रिभुवन राई।"

कबीर राम की ओर कैसे आकर्षित हुए? इसका उत्तर तो रसखान और कवयित्री 'ताज' हैं जो कृष्ण के लिए 'हिन्दुआनी' तक होने को तैयार हैं। लगता है कि आरम्भ में कबीर नाथपंथी जोगियों के चमत्कारों के कारण उनकी ओर आकृष्ट हुए होंगे, परन्तु शान्ति के न मिलने पर उचित गुरु की खोज में निकल पड़े होंगे। कबीर ने विरक्त होकर जंगल छान डाले—

"जाति जुलाहा नाम कबीरा बन-बन फिरौं उदासी।"

तीर्थाटन किया—

"बृन्दावन ढूँढ्यौ ढूँढ्यौ जमुना को तीर ।
राम मिलन के कारने, जन खोजत फिरै कबीर ।।

किन्तु उन्हें कोई ऐसा पथप्रदर्शक नहीं मिला जो उन्हें परमात्मा से मिलने का सीधा और संक्षिप्त रास्ता बता देता। अन्त में काशी की जनाकीर्ण नगरी में एक दिन कबीर की यह चिरपोषित अभिलाषा पूरी हुई और उन्होंने उस काल के सर्वश्रेष्ठ महात्मा रामानन्द में वे सब विशेषतायें पाईं जिनकी कल्पना वे करते रहते थे। किन्तु रामानन्द एक मुसलमान को शिष्य कैसे बना लेते? उन्होंने इन्कार कर दिया। कबीर ने एक तरकीब सोची। उन्हें पता था कि रामानन्द जी नित्य प्रातः गंगास्नान के लिए जाया करते हैं। एक दिन प्रातः के अंधेरे में वे पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर लेट गये। स्वामी जी निश्चित समय पर आये और उनका पैर भूल से कबीर के ऊपर पड़ गया, रामानन्द जी के मुंह से सहसा निकल पड़ा, 'राम राम कह'। यही अमोघ मंत्र लेकर कबीर लौट आये। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि रामानन्द जी ने कबीर को विधिवत् शिष्य बना लिया था। कबीर पाखण्ड के बड़े विरोधी थे। रामानन्दजी भी इस विषय में एक क्रांतिकारी संत माने जाते हैं। भगवद्भक्ति में उन्होंने जाति-पांति का बन्धन शिथिल कर दिया था, इसलिए सभी वर्गों के लोग जो अब तक उपेक्षित थे, उनकी ओर आकृष्ट हुए होंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—

"आरम्भ से ही कबीर हिन्दू भाव की उपासना के प्रति आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों जबकि रामानन्द जी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे।.......रामानुज की शिष्य-परम्परा में होते हुए भी रामानन्द जी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे, जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानन्द जी से ही प्राप्त हुआ है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास इस बात से सहमत नहीं हैं कि रामानन्द कबीर के गुरु हैं। अपनी कबीर ग्रन्थावली में वे एक स्थान पर लिखते हैं :—

"केवल किंवदन्ती के आधार पर रामानन्द को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किंवदन्ती भी ऐतिहासिक जांच के सामने ठीक नहीं ठहरती।

रामानंद की मृत्यु अधिक से अधिक देर में मानने से सं० १४६७ में हुई, इसके १४ या १५ वर्ष पहले भी उसके होने का प्रमाण विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी। क्योंकि हम ऊपर उनका जन्म १४५६ ठीक कर आये हैं। ११ वर्ष के बालक का घूम-फिर कर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नहीं होता। और यदि रामानन्द जी की मृत्यु संवत् १४५३—५४ के लगभग हुई तो यह किंवदन्ती झूठ ठहरती है, क्योंकि उस समय तो कबीर को संसार में आने के लिये अभी तीन-चार वर्ष रहे होंगे।"

डा० रामकुमार वर्मा श्यामसुन्दरदास जी के कथन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं :

"बाबू साहब ने यह नहीं लिखा कि रामानंद की मृत्यु तिथि उन्होंने किस प्रामाणिक स्थान से ली है। नाभादास के भक्तमाल की टीका करने वाले प्रियादास के अनुसार रामानन्द की मृत्यु सं० १५०५ विक्रमी में हुई। इसके अनुसार रामानंद की मृत्यु के समय कबीर की अवस्था ४९ वर्ष की रही होगी। इस अवस्था में या उसके पहले कबीर क्या कोई भी भक्त घूम-फिर कर उपदेश दे सकता है और रामानंद का शिष्य बन सकता है।"

डा० बड़थ्वाल का भी निश्चित मत है कि कबीर रामानंद के ही शिष्य थे। वे लिखते हैं :—

"मुहिसिन फनी काश्मीर वाले के लिखे फारसी इतिहास ग्रन्थ 'तवारीख दविस्तां' से भी यह बात प्रकट होती है। उसमें लिखा है कि कबीर जोलाहा और एकेश्वरवादी था। अध्यात्म-पथ में पथदर्शक गुरु की खोज करते हुए हिंदू साधुओं और मुसलमान फकीरों के पास गया और कहा जाता है कि अंत में रामानंद का चेला हो गया।"

इसके अतिरिक्त डा० बड़थ्वाल ने सन्त समुदाय में व्यास जी के नाम से प्रसिद्ध ओड़छेवाले हीराराम शुक्ल तथा गरीबदास के पदों को भी उद्धृत किया है जिनसे रामानंद का कबीर का गुरु होना प्रमाणित होता है :

सांचे साधु जु रामानन्द।
जिन हरि सों हित करि जान्यौ और जानि दुखदंद।
जाको सेवक कबीर धीर सुमति सुरसुरानंद।
तब रैदास उपासक हरि को, सुरसु परमानंद।

—(व्यास हीराराम शुक्ल)

गरीब रामानंद से लख गुरु तारे चेले भाइ।
चेलों की गिनती नहीं, पद में रहे समाइ।

—गरीबदास

किन्तु रामानन्द के विषय में तो स्वयं कबीर के शब्द भी सबसे ठोस प्रमाण हैं। रामानन्द की मृत्यु का उल्लेख करते हुए कबीर लिखते हैं—

आपन अस किये बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा॥
इंद्री कहां करैं विसरामा, (सो) कहाँ गये जो कहत हुते रामा॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय मृतक वही पदहि समाना॥
रामानंद रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके॥

अर्थ—कबीर कहते हैं कि उन हरि का भेद कोई नहीं जानता जिन्होंने बहुतों को अपने समान कर दिया है। (लोग समझते हैं कि रामानन्द वैसे ही मर गये जैसे और लोग मर जाते हैं—इसी से पूछा करते हैं) उनकी इन्द्रियाँ कहाँ विश्राम कर रही हैं ? उनका राम-राम कहने वाला जीवात्मा कहाँ गया ? (कबीर का उत्तर है कि) वह मरकर परम पद में समा गया है (क्योंकि) रामानंद रामरूप मदिरा से मत्त थे। हम कहते-कहते थक गये परंतु लोग यह भेद ही नहीं समझ पाते।

रामानंद जी पाखण्ड विरोधी थे। वे भगवद्भक्ति में जाति-पांति और बाह्याडम्बरों को अधिक महत्व नहीं देते थे। ऐसे गुरु के विषय में कबीर लिखते हैं—

राम ! मोहि सत गुरु मिले अनेक कलानिधि, परमतत्व सुखदाई।
काम अगिनि तन जरत रही है, हरि रसि छिनकि बुझाई॥
दरस परस तै दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यो लाई।
पाखंड-भरम-कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि ल्यावै तीरा॥
नाव जहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा॥

कुछ लोग शेख तकी को कबीर का गुरु बताते हैं किन्तु विद्वानों का बहुमत इसके विरुद्ध है। क्योंकि शेख तकी का कबीर की रचनाओं में जहाँ नाम आता है वहाँ कबीर के कहने के ढंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह

बात गुरु से नहीं कही गयी। उल्टा ऐसा लगता है जैसे कबीर शेख तकी को उपदेश कर रहे हों।

"घट, घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम शेख।"

कबीर वास्तव में अपने को ही सबसे बड़ा ज्ञानी मानते थे (रामानन्द को छोड़कर)।

कबीर भया है केतकी, भंवर भए सब दास॥
जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ राम निवास॥
जहि भा किरति ना हती, धरती हता न नीरा।
उतपति परलै ना हती तब यह कहा कबीरा॥
सुरवर मुनि जन औलिया यह सब उरलौ तीर।
अल्लाह राम की गम नहीं तहं घर किया कबीर॥

इसलिए संसार के बड़े से बड़े ज्ञानी से बात करते समय कबीर की शैली उपदेशात्मक ही रहती है जैसे—

शेख अकरदी सकरदी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अन्त औ जुग जुग देखहु दीठि पसार॥

कबीर का जन्म संवत् बाबू श्यामसुन्दरदास सं० १४५६ मानते हैं।

चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रवार इक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसाइत कौ पूरनमासी जनम लए॥

डा० रामकुमार वर्मा इसे अग्राह्य मानते हैं और कहते हैं कि अमावस्या और पूर्णमासी का एक साथ होना सम्भव नहीं।

पं० सीताराम चतुर्वेदी ने इस विषय में जो हल उपस्थित किया है वह युक्तियुक्त प्रतीत होता है। उनका कथन है--

"किन्तु यदि ध्यानपूर्वक और विचारपूर्वक उक्त दोहे को पढ़ा जाय तो किसी प्रकार का विरोध बरसाइत और पूर्णमासी में नहीं रह जाता। दोहा कहता है—

चौदह सौं पचपन साल गए चन्द्रवार इक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसाइत कौ पूरनमासी जनम लए॥

इसका शुद्ध अर्थ यह है—

"संवत् चौदह सौ पचपन (१४५५) बर्ष में ज्येष्ट सुदी (शुक्ला) वट सावित्री (अमावस्या) चन्द्र ने एक दिन ऐसा नया ठाट बनाया कि उस दिन पूर्ण चन्द्र हौकर (कबीर होकर) प्रकट हो गए।" इस दोहे में बदी शब्द भ्रामक है और लोक मुख में पड़कर ही (कृष्णपक्ष) का सुदी (शुक्लपक्ष) हो गया है। अतः बरसाइत और पूर्णिमा का जो द्वंद्व दिखाई पड़ता था वह ठीक अर्थ न करने के कारण ही था। दोहे में वही चमत्कार वर्णन किया गया है कि अमावस्या के दिन पूर्णिमा (पूर्णचन्द्र) के दर्शन हो गये, अन्धकार का विनाश हो गया। श्रीमद्भागवत में दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के तृतीय अध्याय में भगवान् कृष्णचन्द्र के जन्म का ऐसा ही वर्णन दिया गया है :

"मुनिगण और देवगण प्रसन्न होकर फूल बरसाने लगे। उसी घोर अन्धकार-मय (भाद्रपद कृष्णपक्ष अष्टमी की रात को) आधी रात के समय हरि ने जन्म लिया। उस समय सागर के साथ मेघ भी मन्द-मन्द गर्जन करने लगे। जैसे पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो वैसे ही देवकी के गर्भ से सर्वान्तिर्यामी हरि प्रकट हुए।"

इसलिए पं० सीताराम चतुर्वेदी सं० १४५५ को ही कबीर की ठीक जन्म-तिथि मानते हैं।

कबीर विपयक अन्य तथ्यों की भाँति कबीर की शादी के विषय में भी विद्वान् एक मत नहीं हैं। कबीर के बराबर नारी-विद्वेषी तो शायद ही कोई दूसरा कवि हो, किन्तु कबीर की पंक्तियों से ही ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने शादी अवश्य की थी यद्यपि बाद में पत्नी को छोड़ दिया। कबीर कहते हैं:—

नारी तौ हमहू करी पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरि नारी बड़ा विकार।

कुछ विद्वानों का विचार है कि लोई उनकी स्त्री का नाम था जिसको सम्बोधित करके प्रायः कबीर अपनी बात कहते हैं :—

'कहत कबीर सुनहु रे लोई,
हरि बिन राखनहार न कोई।"

कमाल कबीर का जगत्प्रसिद्ध पुत्र है। लगता ऐसा है कि कमाल कबीर की भाँति विरक्त पुरुष नहीं था वह धन संचय कर के भौतिक सुख प्राप्त करने और अपना वैभव बढ़ाने का आकाँक्षी रहा होगा। कबीर ने इस विषय में कहा है :—

बूड़ा बंश कबीर का, उपजा पूत कमाल ।
हरि का सुमरिन छाँड़ि कै, घर ले आया माल ।।

कहते हैं कि कबीर का मुसलमान विद्वेषी होना सुनकर तत्कालीन सुल्तान सिकंदर लोदी ने कबीर को बड़े कष्ट दिये थे । जान पड़ता है कि कबीर अपने समय में एक बड़े चमत्कारी पुरुष के नाते प्रसिद्ध थे । अनेक विद्वान् सिकंदर लोदी को कबीर का समकालीन नहीं मानते । किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि कबीर को जंजीरों से बाँधकर नदी में डुबोया गया, हाथी के नीचे कुचलवाया गया और आग आदि में फैंका गया किन्तु राम की कृपा से वे सदैव बच गये । इस तथ्य से सम्बन्ध रखने वाली पंक्तियों के विषय में डा० बढ़थ्वाल का कथन है कि ऐसी पंक्तियाँ कबीर ने प्रह्लाद के प्रसंग में लिखी होंगी । डा० बढ़थ्वाल इन प्रचलित कथाओं के विषय में लिखते हैं :—

"संत परम्परा में ये कथायें बहुत प्रचलित हैं कि प्रह्लाद के साथ कबीर की पूर्ण तुलना के लिए कथायें गढ़ी गई हैं । म्लेच्छ कुल में पैदा होने पर भी कबीर वैष्णव हो गया था इस दृष्टि से उसकी प्रह्लाद से समानता की है । कबीर ग्रन्थावली में भी इसका वर्णन है । इसी से उसकी प्रामाणिकता को भी हम अभेद्य नहीं कह सकते । हाँ, अगर हम काजी का अर्थ हिरण्यकश्यप का न्यायाध्यक्ष माने और इस पद को प्रहलाद के सम्बन्ध का मानें तो कुछ खप सकता है । पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

अहो मेरे गोविन्द तुम्हारा जोर । काजी बकिया हस्ती तोर ।।
तीनि यार पतियारो लीना । मन कठोर अजहुँ न पतीना ।।
गंग गोसाइन गहरी गम्भीर, जँजीर बाँधिकर खरे हैं कबीर ।
गंग लहरि मेरी टूटी जंजीर, मृग छाला पर बैठे कबीर ।।

जो भी हो, इतना अवश्य है कि अपने इस क्रान्तिकारी और रूढ़िविद्रोही कार्य की कीमत कबीर को पूरी-पूरी चुकानी पड़ी होगी । संसार के किसी महापुरुष को यह कीमत नहीं चुकानी पड़ी ।

कबीर की मृत्यु भी कम क्रान्तिकारी नहीं थी : जन्म भर रूढ़ियों से जूझने वाले इस वीर ने "काशी में मरकर मोक्ष मिलता है' इस रूढ़ि को भी मरते दम तक चुनौती दी और इसलिए जान बूझ कर वे मगहर चले गये जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इस स्थान पर मरने वाले बड़े से बड़े पुण्यात्मा को

भी नरक प्राप्त होता है। कबीर ने लिखा है—

सकल जनम शिवपुरी गंवाया ।
मरत बार मगहर उठि धाया ॥

कबीर का तो यह ध्रुव विश्वास था कि "हृदय का क्रूर यदि काशी में मरे तो उसे मुक्ति नहीं मिल सकती और यदि हरिभक्त मगहर में भी मरे तो भी यम के दूत उसके पास नहीं फटक सकते"—

हिरदे कठोर मरत बनारसी नरक न बच्या जाई ।
हरि का दास मरे मगहर सेना सकल तिराई ॥

तथा

जो कासी तन तजै कबीरा, रामहिं कौन निहोरा ।

इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि चाहे मैं नरक भले ही चला जाऊँ पर भगवान् के चरणों का यश काशी को न दूंगा :—

चरण विरद काशीहि न देहूँ । कहै कबीर भल नरके जैहूँ ।

और अन्त में राम नाम उच्चारण करते हुए उन्होंने मगहर में ही मोक्ष लाभ किया—

"मुआ रमत श्री रामै"

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में दो दोहे प्रचलित हैं ।

सम्वत् पन्दरह सौ औ पांच मौं मगहर कियौ गमन ।
अगहन सुदी एकादसी मिले पदन में पवन ॥
सम्वत् पन्द्रह सौ पछत्तरा कियो मगहर को गवन ।
माघ सुदी एकादसी रल्यौ पवन में पवन ॥

उपरोक्त दोहों के अनुसार उनके निधन सम्वत् १५०५, और १५७५ ठहरते हैं। कबीरपंथी लोग १५०५ को ही उनका निधन सम्वत् मानते हैं अतः वही ठीक समझना चाहिए। इसके अनुसार कबीर १३० वर्ष के होकर मरे।

ग्रन्थ—कबीर ने कितने ग्रन्थों की रचना की थी इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है । स्व० रामदास गौड़ ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दुत्व' में कबीर की ७१ पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी है । डा० रामकुमार वर्मा उनकी संख्या ६१ मानते हैं परन्तु डा० हजारीप्रसाद का कहना है कि उनमें से अधिकांश पुस्तकें दूसरों की लिखी हैं। कबीर की वाणी बीजक में संगृहीत है । वह प्रामाणिक

भी मानी जाती है परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के सिद्धान्तों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं।

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देखि मनमाँहि।
बिन साखी संसार कौ झगरा छूटत नाँहि॥

कबीर के विषय में प्रसिद्ध है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—'मसि कागद छुआ नहिं' अतः उनकी वाणी को उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध किया होगा और बहुत संभव है कि शिष्यों ने मौखिक रूप में ही याद रखा हो। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर के कुछ ऐसे पदों का संग्रह किया है जो कबीर पंथी साधुओं को कंठस्थ हैं। कबीर का विश्वास था कि वेदशास्त्र पढ़ने से ज्ञान नहीं आता, ज्ञान तो अपने आप मनन करने से आता है : 'सो ज्ञानी आप विचारै'। इसलिए उन्हें पूरा विश्वास था कि ये पण्डित लोग तो पुस्तक भारवाही जन्तु हैं असली ज्ञान तो कबीर को ही है।

"बालि बालि तौ कबिरा लैगा पण्डित ढूंढें खेत।"

प्रश्न २—संत कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—वीरगाथा काल के समाप्त होते-होते देश में एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई थी। हिन्दू नरेश अपनी भुजा और तलवार का विश्वास खो चुके थे। प्रतिरोध करने की उनकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी थी। हिन्दुओं की पराजय ने उनके गर्व-दीप्त मुख को लज्जावनत कर दिया था। हृदय में उत्साह की तरंगों के स्थान पर निराशा का क्रुद्ध-क्षुब्ध खारा सिंधु हिलोरें ले रहा था। हृदय की वेदना को आँखों की राह निकालने के अतिरिक्त हिन्दुओं के पास दूसरा उपाय कुछ नहीं था। सामाजिक निराशा का इतना भयंकर अन्धकार देश के इतिहास में बहुत बार नहीं आया।

हिन्दुओं के राज्य के लिए संकट तो पैदा हो ही गया, उनकी धार्मिक मान्यताओं के आगे भी विदेशियों ने प्रश्न वाचक चिन्ह लगा दिया। हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े जाते थे, वे जनेऊ नहीं पहन सकते थे, तिलक नहीं लगा सकते थे। आततायी महमूद गजनवी की यह भयंकर वाणी सारे भारत में गूंज रही थी, "मैं मूर्ति बेचने वाले के नाम से नहीं, मूर्ति तोड़ने वाले के नाम से विख्यात होना चाहता हूँ।" और सोमनाथ के पत्थर के देवता नामशेष कर दिये गये थे। सोमनाथ के मंदिर की मूर्तियों के साथ-साथ सगुण ईश्वर

में विश्वास रखने वाली जनता का हृदय भी शतधा हो चुका था । एक प्रश्न भयंकर बनकर उनके मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर काटने लगा था, 'जो ईश्वर स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की क्या रक्षा करेगा ?' स्पष्ट कहा जा सकता है कि महमूद गजनवी का गदाप्रहार मूर्ति के मस्तक पर ही नहीं, मूर्तिपूजा की जड़ पर भी हुआ और भारतीय जनता की मूर्तिपूजा-विषयक आस्था एक बार दुर्बल पत्ते की भाँति डोल गयी, धर्म के क्षेत्र में अराजकता फैल गयी ।

सच तो यह है कि यदि जन जीवन के रंगमंच पर हिन्दी के ये संत कवि न आते तो हमारी हजारों वर्षों की संस्कृति कुछ दिनों में ही समाप्त हो जाती। संत कवियों ने उपासना का एक ऐसा क्षेत्र तैयार किया जो इस्लाम की उपासना पद्धति के अनुकूल था । संत कवियों का यह महान् ऐतिहासिक कार्य है कि उन्होंने एक युगानुकूल साधनापद्धति का आविष्कार कर लिया । यों तो ईश्वर के निराकार रूप की चर्चा हिन्दू धर्म ग्रन्थों में भी थी किन्तु थी वह दर्शनों तक ही सीमित । वह सामाजिक स्तर पर कभी कार्यान्वित नहीं की गयी । कह सकते हैं कि निराकार ईश्वर को उपासना या भक्ति का विषय बनाकर इन संत कवियों ने उसे सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप दिया ।

डा० श्यामसुन्दर दास इसी बात को और भी स्पष्ट रूप में कहते हैं :—

"मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे श्रद्धालुओं के देखते-देखते सोमनाथ का मन्दिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था । गजेन्द्र की एक ही पुकार सुनकर दौड़ आने वाले और ग्राह से उसकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट काल में भी उसकी रक्षा के लिए आते हुए न दिखाई दिये । अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असम्भव ही सा था । इधर योगप्रधान नाथपंथ का प्रभाव देश में बहुत बढ़ा हुआ था । सूफी फकीर भी अपने प्रेम और उदारता के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे । इस कारण लोगों ने सगुण भक्ति का उस समय वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया । और अन्त में नामदेव जैसे सगुण भक्त को

ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा । उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी । यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभास-मात्र मिल सकता था । संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और उसे अधिक समय तक विपत्ति की अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राम-भक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी । पर इससे जनता पर होने वाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता ।"

संत-कवियों का कार्य बड़ा जटिल और गंभीर था । उन्हें आने वाली आततायी संस्कृति के विरुद्ध दुहरा मोर्चा खोलना था—१. आध्यात्मिक जगत् में, २. समाज में । यह भूलना नहीं चाहिए कि अधिकांश संत-कवियों के विषय में कबीर वाली बात 'मसि कागद छुआ नहीं' चरितार्थ होती थी, इस लिए बिना गंभीर अध्ययन के कुछ विचार बना लेना और उस पर जमे रहना आसान बात नहीं हैं, किन्तु यह देख कर आश्चर्य होता है कि इन लोक अनुभवी कवियों में बहुत सी बातें सामान्य हैं—जिन पर इन लोगों ने विशेष रूप से जोर दिया है, यों अन्तर्विरोध भी उनमें मिल जायेंगे । वैसे अन्तर्विरोधों से तो कौन बचा है, बड़े से बड़े सगुण भक्त कवि भी यह दावा नही कर सकते कि वे जिस सिद्धान्त-विशेष को मानते हैं उससे एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटे ।

अब हम संत कवियों की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालने से पहले उन्हें दो भागों में बाँट लेंगे—१. साधना के क्षेत्र में या भक्ति के क्षेत्र में २. व्यवहार के क्षेत्र में या समाज में ।

साधना या भक्ति के क्षेत्र में :—१. सभी संत कवि निर्गुण ईश्वर में विश्वास करते हैं । सगुण भक्त कवियों की भाँति इस विषय में उनकी रीति समन्वय की नहीं है जैसे सूर-तुलसी की है (जो कि सगुण और निर्गुण दोनों को ही मानते हैं) अपितु विरोध की है । वे तो स्पष्ट रूप से सगुण ईश्वर का

विरोध करते हैं और निर्गुण ईश्वर का ही प्रतिपादन करते हैं। रामानन्द के शिष्य होते हुए भी कबीर ने आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया था कि मेरे राम रामानंद के राम से भिन्न हैं।

"राम नाम तिहुँ लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना।"

कबीर संसार को उपदेश करते हैं—"हे भाई निर्गुण राम का जप करो, अविगत की गति लखना सहज नहीं। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड, और कमला भी जिसे नहीं जान सके (उसमें जानने की चेष्टा करना साहस का कार्य है) सो कबीर की सलाह है कि हरि की छाया पकड़ो, उन्हीं की शरण में जाओ :—

निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरण मरम न जाना।
सेस नाग जाके गरुड़ समाना। चरन कवल कमला नहिं जाना॥
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निजजन बैठे हरि की छाहीं।—कबीर

संत कवियों का राम तो निर्गुण और सगुण सबके परे है :—

संतो धोखा कासूँ कहिए।
गुन में निरगुन निरगुन में गुन, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथाणां जाई।
जाति स्वरूप वरण नहीं जाके, घट घट रह्यौ समाई।
पिंड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
पिंड ब्रह्माण्ड छांड़ि जे कहिए, कहै कबीर हरि सोई होई॥

२. **बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध**—बहुदेववाद और अवतारवाद का विरोध सभी संत कवियों की सामान्य प्रवृत्ति है। वास्तव में यह विशेषता उनकी निर्गुण साधना के अन्तर्गत ही आती है। सगुण ईश्वर के दो ही रूप प्रमुख हैं, या तो अनेक देवताओं में उसकी [illegible] देखना, या उसे अवतार मान लेना। ये दोनों बातें सगुण ईश्वर से सम्बन्ध रखती हैं इसलिए संत कवियों ने एक स्वर से इसका विरोध किया है—

एक जनम के कारणे, कत पूजो देव सहेसो रे।
काहे न पूजो राम जी, जाके भक्त महेसो रे॥—कबीर

डा० बड़थ्वाल लिखते हैं—जिन परिस्थितियों ने इस नवीन निर्गुणपन्थ को जन्म दिया था, एकेश्वरवाद उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्तों को मानने पर भी हिन्दू वहुदेववाद में बुरी तरह फंसे हुए थे जिससे वे एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमानों की घृणा के भाजन हो रहे थे। एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमान भी स्वयं एक प्रकार से बहुदेववादी हो रहे थे क्योंकि काफिरों के लिए वे अपने अल्लाह की संरक्षा का विस्तार नहीं देख सकते थे जिससे प्रकारान्तर से काफिर का परमेश्वर अल्लाह से अलग सिद्ध हुआ। अतएव निर्गुणवादियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया और बहुदेववाद का घोर विरोध किया। देखिए चरनदास की प्रतिज्ञा है कि राम के अतिरिक्त और किसी देवता के लिए उनका सिर नहीं झुकेगा चाहे नष्ट भले हो जाए :—

यह सिर नवे राम कुं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिए, यह तन जायो छूट ॥—चरनदास

और देवता तो जुगनुओं के समान हैं इसलिए सूर्य के समान प्रकाशवान् उसी परमेश्वर की आराधना करने का परामर्श सुन्दरदास जी संसार को देते हैं—

और देवी देवता उपासना अनेक करै,
आवन की हौंस कैसे अकड़ोड़े जात है,
'सुन्दर' कहत एक रवि के प्रकाश बिन,
जुगना की जोती कहाँ रजनी बिलात है ॥—सुन्दरदास

कबीर बहुदेववादियों पर और भी निर्ममता से वार करते हैं। वे ऐसे लोगों को व्यभिचारिणी स्त्री के समान बताते हैं जो अपने पति को छोड़कर यारों पर आसक्त रहती है—

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोइ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्यों होइ ॥

इसलिए कबीर ने हिन्दू, मुसलमान दोनों को सावधान किया है और केवल राम की पूजा करने का आदेश दिया है—

कहे कबीर एक राम जपहुरे हिन्दू तुरक न कोई।
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखि न जाई ॥—कबीर

सभी सन्त कवि राम नाम के उपासक हैं। कहीं उनका राम दशरथ पुत्र

(अवतार राम) न समझ लिया जाय इसके विषय में वे सचेत हैं। कबीर इस विषय में अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेरा आराध्य राम अवतार राम नहीं है अपितु परम ब्रह्म राम है—

ना जसरथि घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा। न जसवै लै गोद खिलावा॥
ना ग्वालन के संग फिरिया। गोवरधन लै न कर धरिया॥
बावन होइ नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लै न उधरिया॥
गण्डक सालिगराम न कोला। मछकछ ह्वै जलहि न डोला॥
बदरी बैसि ध्यान नहिं लावा। परसराम ह्वै खतरी न रोलावा॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा। जगरनाथ ले घंट न गाड़ा॥

दादू के शिष्य रज्जब का कहना है कि राम और परशुराम दोनों एक ही समय में हुए। दोनों आपस में एक-दूसरे के द्वेषी थे। कहिए किसको कर्ता कहें? दत्तात्रेय, गोरखनाथ, हनुमान और प्रह्लाद ने न शास्त्र पढ़े न शिक्षा पाई। फिर भी उन्हें सिद्ध शरीर प्राप्त है, वे अमर हो गये हैं; किन्तु कृष्ण व्याध के एक ही बाण से मर गये:

परशुराम औ रामचन्द्र भए सु एक बार।
तौ रज्जब द्वै द्वेष करि को कहिए कर्तार॥
दत्त, गोरख, हणवंत प्रह्लाद। शास्त्रो पढ़िए न सुनिए बाद।
मारे मरै न सिद्ध सरीरं। कृष्ण कालबस एक ही तीरं॥

—रज्जब

रज्जब के गुरु भाई वपना भी चक्कर में हैं कि इस प्रकार के स्वामी और सेवक में किसी प्रकार का तात्विक भेद नहीं है। दोनों के कृत्रिम शरीर हैं। दोनों योनि के संकट में पड़ते हैं। दोनों में केवल मात्रा का भेद है। एक चींटी के समान निर्बल है तो दूसरा हाथी के समान शक्तिशाली:—

ठाकुर चाकर की किर्तम काया। जोनी संकट दोनों आया॥
एक कुँजर एक कीड़ी कीन्हा। एकहि शक्ति घणेरो दीना॥
ना सौ बूढ़ा ना सौ बाला। वपना का ठाकुर राम निराला॥

—वपना

गुलाल साहब का विचार है कि अवतारों को भी मोक्ष तभी प्राप्त हो

सकता है जब वे परमात्मा की भक्ति करें :—

सुर, नर, नाग, मानुष, औतारा। बिनु हरि भजन न पावैं पारा ॥

—गुलाल

दादू का तो विचार है कि राम और कृष्ण दोनों ही माया के अन्तर्गत हैं—

माया बैठी राम ह्वै, वाकूँ लखे न कोइ ।
सब जग मानै सत्त करि, बड़ो अचम्भो मोहि ॥
माया बैठी राम ह्वै कहै मैं ही मोहन राइ ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं जोनी आवै जाइ ॥—दादू

पलटू तो चौबीसों अवतारों को काल के वश में मानते हैं। उनका कहना है कि राम, परशुराम, कृष्ण सभी को तो मरना पड़ा—

दस चौदह अवतार काल के बसि में होई ।
पलटू आगे मरि रहौ आगे मरना मूल ।
राम कृष्ण परसराम ने मरना किया कबूल ।

नानक कहते हैं राम ने लक्ष्मण और सीता के लिए विलाप किया। उन्हें हनुमान से सहायता लेनी पड़ी। मूर्ख रावण नहीं जानता था कि मेरी मृत्यु का कारण राम नहीं परमात्मा है। नानक कहते हैं कि परमात्मा स्वतन्त्र है, पर राम भाग्य के लेख को नहीं मिटा सके।

सतयुग, त्रेता, द्वापर तुलसी साहब (एक सन्त कवि) को इसलिए बुरे लगते हैं क्योंकि उपरोक्त युगों में अवतारों की अधिकता रही, जिन्होंने मार-कूट करना सिखाया, परन्तु परमपद की राह नहीं दिखाई—

द्वापर त्रेता का यह लेखा। ये युग में अवतार विशेषा ॥
मारि निशाचर जग के माँहि। यह लीला उनने दर्साई ॥
जीव जेहि के घर से चलि आया। वहि घर राह नहीं दरसाया ॥
मार कूट संग्राम सुनाया। आतम हति जिव मारन माया ॥

—तुलसी साहब

कबीर अवतारों को और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कितना कम महत्व देते हैं, देखिए—

अक्षय वृक्ष इक पेड़ है, निरंजन ताकी डार ।
तिरदेवा शाखा भए, पात भया संसार ॥

३. ईश्वर को अन्तर में ही मानना—सगुणोपासक कवियों की भाँति सन्त कवि ईश्वर को बाह्य संसार में नहीं मानते। उनका तो कहना है कि ईश्वर सदैव हृदय में ही रहता है। कबीर का कहना है, जैसे कस्तूरी-मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है और वह व्यर्थ ही वन-वन में ढूंढता है, उसी प्रकार राम घट-घट व्यापी हैं, उन्हें बाहर ढूँढने की आवश्यकता नहीं। कबीर उन्हें (परमात्मा को) अपने से बिलकुल भिन्न ही नहीं मानते हैं। वे लिखते हैं:—

प्रीतम को पतियां लिखूँ, जो कहुँ होइ विदेस।
तन में मन में नैन में, वाकों कहा संदेस॥

४. सद्गुरु का महत्व—गुरु को भगवान् से भी अधिक महत्व देना सन्त कवियों की एक और सामान्य विशेषता है। सर्वप्रमुख संत कवि कबीर का ही इस विषय में कथन है:—

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पाइ।
बलिहारी या गुरु की, गोविंद दिया बताइ॥
कबिरा ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि के रूठे ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥ —कबीर

दादू का कहना है कि तत्व उन्हें भी गुरु से ही प्राप्त है—

साचा समरथ गुरु मिला, तिन तत दिया बताइ।
दादू मोटर नवली, संबघृत मथि कर खाइ॥
दादू काढ़ै काल मुख स्रवनहु सब्द सुनाइ।
दादू ऐसा गुरु मिला, मिरतक लिया जिलाइ॥
दादू सुधिबुधि आतमा, सतगुरु परसइ आइ।
दादू भृङ्गी कीट ज्यों, देखत ही ह्वै जाइ॥ —दादू

देखिए सुन्दरदास भी अपने गुरु की स्तुति करते हैं और उन्हें इस भवजल से उद्धार करने वाला मानते हैं:—

भवजल में बहि जात हुते जिन,
काढ़ि लियो अपनो कर आदू।
और सन्देह मिटाइ दिए सब,
कानन टेर सुनाइ के नादू।

पूरन ब्रह्म प्रकास कियो पुनि,
छूटि गयो यह वाद विवादू ।
ऐसी कृपा जु करी हम ऊपर,
सुन्दर के उर हैं गुरु दादू ।।

—सुन्दरदास

राम की भी कृपा तभी होती है जब गुरु कृपा करता है :—

साहेब मेरा सिर खड़ा, पलक पलक सुधि लेय ।
जबहीं गुरु किरपा करें, तबहिं राम कछु देय ।।

देखिए चरनदास भी अपने ज्ञान का सारा श्रेय गुरु को ही देते हैं :—

मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान ।
चरनदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्रान ।। —चरनदास

कबीर के शिष्य धर्मदास कहते हैं—

धरमदास गुरु समरथ हो, ताको अटल अपार ।
साहेब कबीर सतगुरु मिले, आवागमन निवार ।।

—धर्मदास

सहजो भी अपने गुरु की बड़ी कृतज्ञ है—

चिउंटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसौं ना ठहराइ ।
सहजो कूँ वा देश में, सतगुरु दई बसाइ । —सहजो

दया तो गुरु को साक्षात् परमब्रह्म ही मानती हैं और उन्हें लौकिकता से परे मानती हैं :—

सतगुरु ब्रह्मसरूप हैं, मनुष भाव मत जान ।
देह भाव मानै 'दया', ते हैं पसू समान ।। —'दया'

गरीबदास भी अपनी भवमुक्ति का श्रेय गुरु को ही देते हैं :

ऐसा सतगुरु हम मिला, बेपरवाह अबन्ध ।
परमहंस पूरन पुरुष, रोम रोम रवि चन्द ।।
ऐसा सतगुरु हम मिला, भवसागर के माहिं ।
नौका नाम चढ़ाय करि, ले राखे निज ठाहिं ।। — गरीबदा

यों गुरु की भक्ति तो सगुणभक्ति-शाखा के कवियों में भी मिलेगी । पर अन्तर यही है कि संत कवि गुरु को परमेश्वर ही मान लेते हैं । सारांश यह कि

सगुण भक्तों से निर्गुण भक्त गुरु को परमेश्वर से अधिक महत्व देते हैं।

५. **सती या प्रतिव्रता का आदर्श**—कृष्ण-भक्त कवियों में परकीया की भावना अधिक ग्राह्य हुई। स्पष्टतः यह लोकमर्यादा के विरुद्ध पड़ती थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रायः सभी संत कवियों ने भक्ति में पतिव्रता का आदर्श माना है। निश्चित रूप से उनका यह सिद्धान्त इनकी [illegible] भावना को ही व्यक्त करता है। सती में एक के प्रति आसक्ति और शेष के प्रति विरक्ति, असीम प्रेम, साहस, त्याग आदि की जो भावनायें हैं उनसे ये कवि प्रभावित दिखाई देते हैं। सती के विषय में कबीर कहते हैं :—

पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिवरता के रूप पर, बारौं कोटि सरूप॥
साधुसती अरु सूरमा, इन पट तर कोउ नाहिं।
अगम पंथ को पग धरै, डिगै तो कहाँ समाइ॥
साधु सती अरु सूरमा, कबहुँ न फेरहिं पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरें, ताको मुँह मति दीठि॥
टूटै परत अकास सा, कौन सकत है झेल।
साधु सती अरु सूर का, आनी ऊपर खेल॥ —कबीर

जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति की सेवा एकान्त भाव से करती है उसी प्रकार भक्त को भगवान् की करनी चाहिए। दादू कहते हैं—

पतिवरता गृह आपणे, करे खसम की सेव।
ज्यों राखे त्यों ही रहे, आग्याकारी टेव॥ —दादू

सुन्दरदास भी पतिव्रता के आदर्श को सामने रखते हुए कहते हैं —

पति ही सूं प्रेम होइ पति ही सूं नेम होइ
पति ही सूं छेम होइ पति ही सूं रति है।
पति ही है जाप जोग पति ही है रस भोग
पतिही सूं मिटै सोग पति ही सूं गति है।
पति ही है ज्ञान ध्यान पति ही है पुन्न दान
पति ही है तीर्थ स्नान पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाँहि, पति बिनु गति नहि
सुन्दर सकल विधि एक पतिव्रत है॥
—सुन्दरदास

महात्मा चरनदास भी यही कहते हैं :—

आज्ञाकारी पीव की, रहे पिया के संग।
तन मन सौं सेवा करै, और न दूजौ रंग ।। —चरनदास

६. **सहज, सुरत, त्रिकुटी** तथा हठयोग का वर्णन सभी संत कवियों में कुछ न कुछ मिलेगा। क्योंकि ये सभी लोग हठयोग से प्रभावित थे।

७. **वेद शास्त्र का विरोध** भी सन्त कवियों में समान रूप से मिलेगा। कबीर तो पोथी में विश्वास ही नहीं करते—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ ।।

कबीर का कहना है कि वेद शास्त्र पढ़ कर ज्ञान नहीं आता, ज्ञान आता है स्वयं सोचने बिचारने से—"सो ज्ञानी आप विचारे।"

वेद कतेब दोइ फंदवारा, ते फन्दे पर आप विचारा।
ब्रह्मा विष्णु महेसर कहिए, इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत होइ रहियो, इनहूँ मुक्ति न पाई ।। —कबीर

दादू का भी विचार कुछ ऐसा ही है। वे कहते हैं कि विना प्रेम के वेद-शास्त्र व्यर्थ हैं:—

दादू पाती प्रेम की, बिरला बाँचे कोइ ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े, प्रेम बिना क्या होइ ।।

७. **ब्रह्मा विष्णु महेश**—की सभी सन्त कवियों ने बुराई की है और उन्हें मायाग्रस्त कहा है।

८. **भजन**—के विषय में सभी संत कवि कहते हैं कि वह मन ही मन होना चाहिए, प्रकट न हो :

सहजो सुमिरन कीजियै, हिरदे माँहि छिपाइ।
होठ होट सूं ना हिलै, सकै नहीं कोइ पाइ ।।

शाक्त निन्दा—प्राय: सभी सन्त कवियों ने की है। इस विषय में वे वैष्णवों के प्रशंसक हैं और उनके प्रेम को प्रमाण मानते हैं :

चन्दन की चुटकी भली, ना बंबूर अमराँउ।
वैष्णौ की छपरी भली, ना साकत को बड़गाँव ।।
साकत से सूकर भला, सूचा राखै गाँव।
बूड़ा साकत बापड़ा, बैसि सभरणी नाव ।।

साखित-सुनहा दूनौ भाई, वो नींदै वो भोंकत जाई ॥ – कबीर

११. ब्राह्मण विरोध भी प्रायः संत कवियों की सामान्य विशेषता ही है, ब्राह्मण भी शाक्त के समान ही अपवित्र और भक्तिद्रोही समझा जाता है :

साकत बांभण जिनि मिलै, वैष्णौ मिले चंडाल।
अंकमाल दै भेंटिए, मानों मिले गोपाल ॥
"जो तू बामन बामन जाया और राह ह्वै क्यों नहीं आया ."
'तू बाह्मन हों काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गयाना ।'—कबीर

१२. साधु प्रशंसा भी प्रायः सभी संत कवियों में सामान्य है :—

साधु बड़े परमारथी, घन ज्यौं बरसे आइ।
तपन बुझावै और की, अपनो पारस लाइ ॥
वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर ॥ —कबीर
दादू पाया प्रेम रस, साधू संगत माहिं।
फिरि फिरि देखे लोक सब, पाया कतहूं नाहिं ॥ —दादू
कोटि यज्ञ ब्रत नेम तिथि, साधू संग में होइ।
विषय व्याधि सब मिटत है, साँति रूप सुख जोइ ॥ —दयाबाई
पलटू तीरथ के गए, बड़ा होत अपराध।
तीरथ में फल एक है, दरस देत हैं साध ॥ —पलटू

१३. विरह की मार्मिक उक्तियाँ—सभी संत कवि माधुर्य भाव की उपासना करते हैं। उनकी कविता में सूर जैसा रस और जायसी और मीरा की विरह तीव्रता है।

१४. हिंसा का विरोध—प्रायः सभी संत कवियों में मिलेगा। यह इन पर वैष्णव प्रभाव प्रतीत होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि वैष्णव को संत कवि आदरणीय मानते हैं। कबीर हिंसावादियों को फटकारते हुए कहते हैं :—

दिन भर रोजा रहत है, रात हनत है गाय।
यह तौ खून वह बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय।
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल ॥ —कबीर

(दादू) सूखा सहजै कीजिये, नीला भानै नाँहि ।
काहे कौं दुख दीजिए, साहिब है सब माँहि ॥ — दादू

१५. माया से सावधान रहने का उपदेश भी सभी संत कवियों ने दिया है क्योंकि रमैया दुलहिन ने सब बाजार को लूट लिया है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसके वशीभूत हैं। यह भगवान् से मिलने के मार्ग में सब से बड़ी बाधा है।

१६. हिन्दू-मुसलमानों को उपदेश—भी सभी संत कवियों ने दिये हैं और उन्हें यह बताने का प्रयत्न किया है कि तुम दोनों लोग अंधेरे में हो।

कहै कबीर इक राम जपहु रे हिन्दु तुरक न कोई।
हिन्दु तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई ॥
दुइ जगदीस कहाँ ते आए कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक नमाज एक पूजा ॥ — कबीर
दादू हिन्दू लागै देहुरे मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलख सौं सदा निरन्तर प्रीति ॥
न तहाँ हिन्दू देहरा न तहँ तुरक मसीत।
दादू आए आप हैं, नहीं तहाँ रह रीति ॥ — दादू

१७. बाह्याडम्बरों तथा पाखंडों का विरोध सभी संत कवियों ने एक स्वर से किया है :

केसन कहा बिगारिया, जो मूँडै सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूँडिए, जामैं विषय विकार ॥
कबीर माला मन की, और संसारी भेख।
माला पहिरै हरि मिलै, तौ अरहट के गल देख ॥ —कबीर
जटा जनेऊ कंठि धरि, छापा तिलक लगाइ।
लच्छण ना वैराग के, जो लौं भोग सुहाइ ॥ —नानक
माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करे, मैं पाया बिसराम ॥ —मलूकदास

सब दिखलावहिं आपको, नाना भेस बनाइ ।
आपा मेटन हरि भजन, तेहि दिसि कोई न जाइ ।।

१८. मूर्तिपूजा का विरोध—सभी संत कवियों ने समान रूप से किया :—

मनुआ कैसे बावरे, रे पाथर पूजन जाँइ ।
घर की चकिया कोई न पूजे, जाको पीसो खाइ ।।
पाहण केरो पूतला, करि पूजैं करतार ।
इही भरोसे जे रहे, ते बूड़े काली धार ।।
हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ ।
सत गुरु की कृपा भई, डारचा सिर थैं बोझ ।
पाहन कूं क्या पूजिए, जनम न देई जाब ।
आँधा नर आसा मुखी, यों ही खोवै आब ।। —कबीर

१९. तीर्थाटन का विरोध—भी निरपवाद रूप से सभी सन्त कवियों ने किया है :—

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवावण जाइ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ ।।
तीरथ तो सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ ।
कबीर मूल निकंदिया, कौण हलाहल खाइ ।।
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि ।
दसवाँ द्वारा देहुरा, ता मैं जोति पिछाणि ।। —कबीर
कोई दौड़े द्वारिका, कोई कासी जाहिं ।
कोई मथुरा को चले, साहब घर ही माहिं ।। —दादू
पलटू तीरथ के किए, बड़ा होत अपराधी । —पलटू

२०. जाति-पाँति का विरोध—सभी सन्त कवियों ने सामान्य रूप से कया है :—

एक रामते सबहि बने हैं, को बामन को सूद्रा ।
जो तू बाह्मन बाह्मन जाया और राह तू क्यों नहिं आया ।

२१. **कर्म या उद्यम** :—सन्त कवियों में एक बड़े महत्व की बात यह है कि उन्होंने सामाजिक व्यवस्था की जड़ श्रम, उद्यम, या कर्म को बड़ा महत्व दिया है। संत कवि इस बात के विरोधी हैं कि एक भजन करने वाला व्यक्ति भोजन के लिए दूसरे पर आश्रित रहे। सच बात तो यह है कि कबीर, रैदास आदि सभी संत कवि अपना पैतृक व्यवसाय करते हुए भी संत थे। मौलिकता का उचित ध्यान रखते हुए उसे स्वीकार न करते हुए ये लोग आध्यात्मिक उत्कर्ष की अधिक से अधिक ऊँचाई को पहुँच गये थे। अकेले मलूकदास ऐसे हैं जिनका एक दोहा आलसियों का सहारा बन गया :

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सब के दाता राम॥

दोहे की प्रसिद्धि चाहे जिस रूप में हो गयी हो—स्वार्थियों ने चाहे जिस रूप में अपने लाभ के लिए उसका अर्थ लगाया हो, किन्तु वास्तव में इससे यह कहीं प्रगट नहीं होता कि मलूकदास अकर्मण्यता का प्रचार करना चाहते थे। उपरोक्त दोहे का स्पष्ट अर्थ यह है कि अपना पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं, तू मनुष्य है, अतः पेट से अधिक भगवान् की चिन्ता कर। मलूकदास ने जो भी कुछ लिखा है, लोगों की कल्पना है कि ऐस ही दोहे का परिवर्धित रूप मात्र होगा, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि कहीं एक बार भी इसके अतिरिक्त इस भाव की मलूकदास की और कोई रचना नहीं मिलती। देखिए वे ही मलूकदास लिखते हैं कि जब किसी के सामने मुँह से यह निकालता है कि कुछ दो, तो उसी क्षण आदर, मान, महत्व, स्वाभिमान सब नष्ट हो गये :—

आदर मान महत्व सब बालापन को नेह।
ये चारों तबही गए जबहि कहा कछु देह॥ —मलूकदास

तुलसी की निम्नाँकित पंक्ति से इसकी तुलना करके देख लीजिए, मलूकदास ही भारी पड़ते हैं—

तुलसी कर पर कर परै करतर कर न परै। —तुलसी

शेष सन्त कवियों का तो कहना ही क्या, उद्यम की प्रतिमूर्ति तो वे स्वयं थे। कोई कपड़ा बेचकर अपनी जीविका चलाता था तो कोई जूता सीकर। लेकिन

भीख मांग कर काम चला लिया जाय. जैसे इस बात को तो वे सुनने को भी तैयार नहीं थे। कबीर गम्भीर वाणी में कहते हैं :—

> **माँगन मरन समान है, मति कोउ माँगो भीख।**
> **माँगन ते मरना भला, यह सतगुरु की सीख॥** —कबीर

यदि देश के सभी साधु, संन्यासी कबीर की इन पंक्तियों को अपने-अपने जीवन में कार्यान्वित करते तो आज भक्ति के क्षेत्र में जो कलुषता आ गयी है वह बिलकुल न होती। बिना श्रम के प्रसन्नता कैसी, किसी से अगर कुछ माँगना पड़ा तो स्वाभिमान तो वहीं समाप्त हो गया। माँगने वाला कितना भी बड़ा बने, देने वाले से वह छोटा ही है। रहीम ने ठीक ही कहा है :—

> **रहीमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।**
> **नारायण हू कौ भयौ, बावन आँगुर गात॥** —रहीम

जिस साधु में स्वाभिमान नहीं, उसे साधु कैसे कहा जाय, और जो भीख माँगता फिरता है उसमें स्वाभिमान आयेगा कहाँ से। कबीर कहते हैं :—

> **आब गई आदर गया, नैनन गया सनेह।**
> **ये तीनों तबही गए, जबहि कहा कछु देह॥**

उद्यम के विषय में दादू का कथन भी महत्वपूर्ण है—

> **उद्यम अवगुन को नहीं, जो करि जानइ कोय।**
> **उद्यम में आनन्द है, साईं सेती होय॥** —दादू

भक्त लोग उद्यमहीन फकीरी को विलासिता मानते हैं : इसीलिए रज्जब का कहना है—

> **एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग।**
> **एक बूड़हिं बैराग में, एक तरहिं सो गृही लोग॥** —रज्जब

राजर्षि जनक का सा आदर्श रज्जब ने रखा है : वे गृहस्थ को विरक्त से अधिक मानते हैं क्योंकि गृहस्थ जीवन यापन के लिए परिश्रम करता है।

प्रसिद्ध सन्त और कवि नामदेव का कहना है कि हृदय में राम का ध्यान रखो और हाथ-पैरों से काम भी करते चलो :—

> **नामा माया मोहिया, कहै तिलोचन मीत।**
> **काहे छापै छाइलै, राम न लावै चीत॥**

नामा कहै तिलोचना, मुखां राम संभालि ।
हाथ पांव कर काम सब, चित्त निरंजन नालि ।।

२२. प्रायः सभी सन्त कवि नारी-विद्वेषी हैं। वे उसे माया का सबसे सशक्त प्रतिनिधि मानते हैं। इसलिये कबीर कहते हैं—

नारी की झाईं परै, अंधो होत भुजंग ।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी कौ संग ।।

नारी सभी बुरी हैं चाहे वह अपनी स्त्री हो या मां—

नारि नारि सब एक सी जिसनें अरितम माइ ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आध्यात्मिक उन्नति में अहर्निश लीन रहने वाले इन फक्कड़ सन्त कवियों ने संसार के कल्याण या संसार की उन्नति की कभी उपेक्षा नहीं की। वे मुँह में राम और बगल में छुरी रखने वाले पाखंडी संत नहीं थे, अपितु समाज के निम्नतम वर्ग की नारकीय दशा को देखकर उसे समाप्त करने के लिए उसी में से उत्पन्न हुए कर्मवीर थे। वास्तव में सन्त कवियों ने समाज से पाखंड और वाह्याडम्बरों को दूर करने का जो प्रयत्न किया उनका मुख्य काम वही था। भक्ति की बात तो एक सामान्य बात थी, भक्ति तो उनका जीवन ही बन गयी थी।

संत कवि निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक के व्यक्तियों को एक सामान्य भाव-भूमि पर लाकर उनका परिचय मानवता के माध्यम से कराना चाहते थे। हिन्दू और मुसलमान पहले मनुष्य हैं बाद में कुछ और—यह सर्वप्रथम सन्त कवियों ने समझा और उन्होंने मानवता का एक ऐसा चित्र तैयार किया जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच में कोई खाई नहीं थी, कोई व्यवधान नहीं था। संत कवि खरी भाषा में खरी बात कहते थे। पाखंडियों के प्रति दया करना तो मानों उन्होंने सीखा ही नहीं था। इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि समाज के निम्नवर्ग में आज भी जो चेतना दिखाई देती है उसका बहुत कुछ श्रेय इन्हीं संत कवियों को है। कबीरपंथी, दादूपंथी, रैदासपंथी साधारण कोटि के व्यक्ति भी आज अपने को आध्यात्मिक रूप में किसी से तुच्छ नहीं समझते। उनका अपना जीवन-दर्शन है जो उन्हें सन्त कवियों से प्राप्त हुआ है।

प्रश्न ३—गुरु नानक के जीवन पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—वैसे तो सिख मत के प्रथम दस गुरुओं में नानक मुख्य हैं जिन्होंने यह मत चलाया ।

गुरु नानक का जन्म संवत् १५२६ कार्तिक पूर्णिमा के दिन तलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ । इनके पिता का नाम कालूचन्द खत्री और माता का नाम तृप्ता था । इनके पिता अपने यहां के सूबेदार बुलार पठान के यहाँ कारिन्दे थे । बचपन से ही नानक जी साधु स्वभाव के थे । संवत् १५४५ में इनका विवाह गुरुदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ । सुलक्षणी से श्रीचंद और लक्ष्मीचंद दो पुत्र प्राप्त हुए ।

आरम्भ से ही यह संसार से कुछ उदासीन से थे । इनके पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु व्यर्थ । एक बार इनके पिता ने उन्हें व्यापार के लिए कुछ पूंजी दी । मार्ग में उन्होंने वह सब धन संतों की सेवा में समाप्त कर दिया और लौटकर पिता को बताया कि उन्होंने सच्चा सौदा किया है । पिता ने उन्हें खूब पीटा । इनकी एक बहिन नानकी इन्हें बहुत प्यार करती थी । वह इन्हें अपने साथ अपने घर सुलतानपुर लेगई । उन्होंने प्रयत्न करवाके उन्हें वहां कुछ कार्य दिला दिया । अब नानक नवाब दौलत खाँ लोदी के भंडारी हो गये । लेकिन इनकी सन्तों का स्वागत करने की आदत यहाँ भी नहीं गयी और हमेशा भंडार में से दोनों हाथों से संतों के लिए खर्च करते रहे । यह बात नवाब तक पहुँची । नानक पर सरकारी रुपये के दुरुपयोग का और गबन का अभियोग लगाया गया, किन्तु हिसाब पाई-पाई ठीक निकला । लेकिन इस कृत्य के बाद नानक को स्वयं नौकरी से घृणा हो गयी और वह देशाटन को निकल पड़े । शायद ही किसी संत ने नानक के बराबर यात्रा की हो । इनकी पहली यात्रा दिल्ली, हरिद्वार, काशी, गया तथा जगन्नाथ की हुई । दूसरी यात्रा सेतुबंध रामेश्वर, सिंहलद्वीप आदि स्थानों की हुई और तीसरी यात्रा में तो इन्होंने संसार का एक अच्छा खासा भाग घूम डाला—गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिक्कम, भूटान, तिब्बत आदि । चौथी यात्रा में इन्होंने मध्यपूर्व एशिया को अपना लक्ष्य बनाया और मक्का शरीफ, रूम, बगदाद, ईरान, काबुल-कन्धार, आदि सब स्थानों में घूमे ।

इनके विषय में मक्का की एक घटना बड़ी प्रसिद्ध है। मक्का शरीफ में गुरु नानक काबे की ओर पैर करके सो रहे। काजी के क्रुद्ध होने पर उन्होंने कहा कि अच्छा जिधर खुदा का घर न हो उधर मेरे पैर कर दो। कहते हैं कि काजी ने जिधर-जिधर नानक के पैर घुमाए, काबा उधर ही घूमता गया।

अन्त में लम्बे भ्रमण के पश्चात् नानक जी करतारपुर में आकर रहने लगे और वहाँ सत्संग के साथ-साथ सदाव्रत भी खोला। यहीं संवत् १५७९ में इनके माता-पिता का देहावसान हुआ।

सत्तर वर्ष की आयु में सन् १५३९ (संवत् १५९६) में नानक ने निर्वाण प्राप्त किया।

नानक के पदों का संग्रह सिखों के छठे गुरु अर्जुन ने सं० १६६१ में कराया। यही 'आदि ग्रन्थ' या 'ग्रंथ साहब' के नाम से प्रसिद्ध है। सिख इसे ईश्वरीय ग्रंथ मानते हैं और पूजते ह। जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणी, ओंकार, सिद्दगोष्ठी आदि आपकी प्रसिद्ध वाणियाँ हैं।

यह अब तक विवादास्पद है कि नानक का गुरु कौन था। कबीरपंथी लोग कबीर को ही नानक का गुरु मानते हैं। इतना तो अवश्य है कि नानक को कबीर से बहुत कुछ प्रेरणा मिली है और नानक की रचनाओं पर कबीर का प्रभाव भी स्पष्ट है। नानक की उपासना पद्धति और काव्य-भाषा के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"गुरु नानक आरम्भ से ही भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था, जिसकी उपासना का स्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। उन्होंने घरबार छोड़ बहुत दूर-दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अन्त में उन्होंने कबीर की निर्गुण उपासना का प्रचार पंजाब में आरम्भ किया और वे सिख सम्प्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। गुरु नानक भक्तिभाव से पूर्ण होकर जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रन्थ साहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी में। यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्य-भाषा या ब्रजभाषा

है, कहीं खड़ी बोली के पंजाबी रूप भी आ गये हैं जैसे चल्या, रह्या । भक्ति या विनय के सीधे-सादे भाव सीधी-सादी भाषा में कहे गए हैं । इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावी रचना का परिचय मिलता है।"

डा० बड़थ्वाल गुरु नानक के विषय में लिखते हैं :—

"यदि वस्तुतः देखा जाय तो नानक उन महात्माओं में से थे जिन्हें हम संकुचित अर्थ में किसी एक देश, जाति अथवा धर्म का नहीं बतला सकते । समस्त संसार का कल्याण उनका ध्येय था । इसलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान दोनों की धार्मिक संकीर्णता का विरोध किया । परन्तु अपने समय के वास्तविक तथ्यों के लिए वे आँख बन्द किए हुए न थे।"

नानक की कुछ पंक्तियां :—

जो नर दुख में दुख नहिं मानै ।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै ।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना ॥
हरष सोच ते रहै नियारौ, नाहिं मान अपमाना ।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग ते रहै निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन, ना तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
गुरु किरपा जेहि नर पर कीन्ही, तिन यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयौ गोविंद सौं, ज्यों पानी संग पानी ॥

\+ \+ \+

रे मन राम सों कर प्रीति ।
श्रवण गोविंद गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत ।
कर साधु संगति सुमिरि माधो, होय पतित पुनीत ।
काल ब्याल ज्यों ग्रसै डोलै, मुख पसारे मीत ।
कहै नानक राम भज ले, जात अवसर बीत ।

\+ \+ \+

अवसर स्वाद सब फिक्के लागे, जब सच नाम मुख दीया ।
कह नानक सो खरा स्वादी, एक उँकार रस पीया ॥

प्रश्न ४—दादू के जीवन पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—दादू पंथी दादू का जन्म सं० १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद

नामक स्थान में मानते हैं। दादू संत कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। दादू के गुरु कौन थे यह बड़े विवाद का विषय है। कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं ईश्वर ने बुड्ढे के रूप में उन्हें अपना शिष्य बनाया था। कुछ लोग कहते हैं कि कबीर पुत्र कमाल ही उनके गुरु थे; लेकिन कुछ विद्वानों का विश्वास है कि दादू के गुरु कबीर थे क्योंकि कबीर का प्रभाव उन पर अत्यन्त स्पष्ट है। डा० बड़थ्वाल लिखते हैं :—

"दादू ने स्थान-स्थान पर कबीर का उल्लेख बड़े आदर से किया है जिससे प्रकट होता कि वे उनको उपदेष्टा गुरु से भी बढ़ कर समझते थे। यहाँ तक कि साक्षात् परमात्मा मानते थे। दादू की वाणी विचार-शैली, साहित्यिक-प्रणाली और विषय-विभाजन सब ही दृष्टि से कबीर की वाणी का अनुगमन करती है। यह इस बात का दृढ़ प्रमाण है कि किसी ने उन्हें कबीर की वाणी की शिक्षा दी थी।"

दादू जाति के धुनिया थे। कुछ लोग इन्हें मोची और कुछ ब्राह्मण भी मानते हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि दादू रहे किसी निम्न जाति के ही होंगे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर में रहे। वहाँ से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए सं० १६५९ में नराणे (जयपुर से २० कोस दूर) में आकर बस गये और यहाँ से तीन-चार कोस नराणे की पहाड़ी पर संवत् १६६० में इनका देहावसान हुआ। उनके पोथी और कपड़े अब तक इस स्थान पर सुरक्षित बताये जाते हैं।

दादू का कई भाषाओं पर अधिकार था, यथा—सिंधी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, फारसी आदि। इन अब भाषाओं में उन्होंने काव्य रचना भी की है। किन्तु विशेष रूप से उन्होंने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में ही लिखा है। दादू की रचना भावपूर्ण, शांत और गम्भीर है। उसमें कबीर जैसा तेज नहीं। कहते हैं कि दादू की चर्चा कबीर तक भी पहुँची थी और उन्होंने दादू को बुलाया था। ये शाही दरबार में भी गये थे और इनके सिद्धान्तों की सत्यता को सबने एकमत होकर स्वीकार किया था। एक साखी में इनके शिष्य राज्जबदास ने इस घटना का उल्लेख किया है :—

अकबर साहि बुलाइया, गुरु दादू को आप ।
साँच झूठ ब्यौरो हुआ, तब रह्या नाम परताप ॥

कहते हैं दादू के १०८ चेले थे जिनमें सुन्दरदास सर्वप्रसिद्ध हैं जो ६ वर्ष की अवस्था में ही गुरु के पास भेज दिये गये थे । संत कवियों में अकेले सुन्दर-दास ही ऐस हैं जो विद्वान् और शास्त्रज्ञ थे । दादू के अपने पुत्र गरीबदास इनके उत्तराधिकारी हुए ।

दादू के शिष्यों में हिन्दू-मुसलमान सभी आते हैं । दादू पंथ में दो प्रकार के साधु पाए जाते हैं—(१) भेषधारी विरक्त जो गेरुए कपड़े पहनते हैं और पठन-पाठन तथा भजन में अपना समय व्यतीत करते हैं । (२) नागा जो सफेद कपड़े पहनते हैं और लोक-व्यवहार का सभी कार्य करते हैं । दादू का अपना अलग दादू पंथ है । इसके अनुयायी राजस्थान में, विशेष रूप से जयपुर राज्य में बहुत मिलते हैं ।

इनके विषय में आचार्य शुक्ल का कहना है :—

"दादू की वाणी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते-जुलते दोहों में है । कहीं-कहीं गाने के पद भी हैं । भाषा मिली-जुली पश्चिमी हिन्दी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है । इन्होंने कुछ पद गुजराती, और पंजाबी में भी कहे हैं । कबीर के समान पूर्वी हिन्दी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है । इनकी रचना में अरबी-फारसी के शब्द अधिक आए हैं और प्रेम-तत्त्व की व्यंजना अधिक है । घट के भीतर रहस्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है । दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है; पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गम्भीर है । कबीर के समान खंडन और वाद-विवाद में इन्हें रुचि नहीं थी । इनकी बानी में भी वे ही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियों की बानियों में साधारणतः आया करते हैं, जैसे-ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति-पाँति का निराकरण, हिन्दू-मुसलमानों का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध आदि । दादू की कुछ पंक्तियाँ :—

रंगभरि खेलौं पिउ सौं, तहँ कबहूँ न होय वियोग ।
आदि पुरुष अन्तर मिल्या, कुछ पूरबले संजोग ॥

सब सेजौं साईं बसै, लोग बतावैं दूरि ।
निरन्तर पिउ पाइया, तीन लोक भरपूरि ॥

× × ×

विगसि विगसि दरसन करै, पुलकि पुलकि रसपान ।
मगन गलित माता रहै, अरस परस मिलि प्रान ॥
निरखि निरखि निज नाँव ले निरखि निरखि, रस पीव ।
निरखि निरखि पिव कौं मिलै, निरखि निरखि सुख जीव ॥

+ + +

बाला सेज हमारी रे तूं आव ।
हौं बारी रे, दासी तुम्हारी रे ॥
तेरा पंथ निहारूं रे, सुन्दर सेज संवारूं रे, जियरा तुम पर वारूं रे ।
तेरा अंगना पेखौं रे, तेरा मुखड़ा देखौं रे, तब जीवन लेखौं रे ॥
मिलि सुखड़ा दीजै रे, यह लाहा लीजै रे, तुम देखें जीजै रे ।
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रंगड़ राती रे, दादू वारणे जाती रे ॥

+ + +

पिवसौं खेलौं प्रेमरस, तौं जियरे जक होई ।
दादू पावै सेज सुख, पड़दा नाहीं कोई ॥
तन-मन मेरौ पीव सौं, एक सेज सुख सोई ।
गहिला लोग न जाणहीं, पचि पचि आपा खोइ ॥
पीव न देखा नैन भरि, कण्ठ न लागी धाय ।
सूती नहिं गलबाँह दे, बिचही गई बिलाय ॥
सखी सुहागिन सब कहैं, प्रकट खेलै पीव ।
सेज सुहाग न पाइये, दुखिया मेरा जीव ॥

प्रश्न ५—सुन्दरदास के जीवन पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—सुन्दरदास महात्मा दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में माने जाते हैं। इनका जन्म द्यौसा (जयपुर राज्य) नामक स्थान में चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में हुआ। इनके पिता का नाम परमानन्द और माता का नाम सती था। इनके जन्म के विषय में एक बड़ी विचित्र कहानी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि

दादू के एक प्रिय शिष्य जागा जी आमेर नगर में वस्त्र बुनने के लिए सूत माँग रहे थे और उत्साह में आकर आवाज लगाते जाते थे—'दे माई सूत, ले माई पूत।' एक अविवाहिता लड़की ने सूत लाकर दिया और कहा 'लो बाबा सूत।' जागा जी के मुँह से निकल गला 'लो माई पूत।' जब गुरु दादूदयाल को यह बात पता लगी तो वे बड़े चक्कर में पड़े क्योंकि उस कन्या के भाग में बालक ही नहीं लिखा था। अन्त में जागा जी को ही उस कन्या के गर्भ में जा कर वास करना पड़ा और दिन पूर्ण होने पर उन्होंने जन्म लिया।

जब ये छः वर्ष के ही थे तब दादू इनके यहां पधारे। दादू ने बालक को देखकर कहा 'बालक बड़ा सुन्दर है।' 'सुन्दर' नाम इनका तभी से पड़ा। इनके पिता ने तुरन्त ही इन्हें गुरु को सौंप दिया। इनके शिष्य होने के एक वर्ष बाद ही इनके गुरु का देहान्त हो गया। तब जगजीवन नामक साधु के साथ ये अपने जन्मस्थान द्यौसा आ गये। तीन वर्ष वहाँ रहने के पश्चात् जगजीवन के साथ ये फिर काशी चले गये। वहाँ इन्होंने बीस वर्ष की अवस्था तक संस्कृत व्याकरण, वेदान्त और पुराणादि का गम्भीर अध्ययन किया। कहते हैं इन्हें फारसी का ज्ञान भी था। काशी से लौटने पर ये राजपुताने के फतहपुर (शेखावटी) नामक स्थान में आकर रहे और कार्तिक शुक्ला ८ में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

इनके काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं :—

"निर्गुण पंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य कला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। काव्य की भाषा भी मँजी हुई व्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञान चर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुन्दर पद्य कहे हैं। और संतों ने तो केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। यों तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रन्थ हैं पर 'सुन्दर विलास' सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसमें कवित्त-सवैये ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयों में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। संत तो ये थे ही पर कवि भी थे। इससे समाज की

रति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोद पूर्ण उक्तियाँ हैं, जैसे गुजरात पर— "आमंड़ छीत अतीत सों होत विलार और कूकर चाटत हाँडी।" मारवाड़ पर— "वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू।" दक्षिण पर— राँधत प्याज बिगारत नाज न आवत लाज करैं सब भच्छन," पूरब देश पर— "ब्राह्मन छत्रिय वैस रु सूदर चराई वर्न के मच्छ बघारत।"

इनकी कुछ पंक्तियाँ:—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होइ,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिए ॥
जोरिए तो तब जब जोरिबे कि रीति जाने,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए ॥
गाइये तौ तब जब गाइबे को कण्ठ होइ,
श्रवण के सुनत ही मनै जाइ गहिये ॥
तुकभंग छन्द भंग अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नाहिं कहिए ॥

गेह तज्यौ अरु नेह तज्यौ पुनि खेह लगाइ कैं देह संवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन, धूप समै जो पंचागिनी बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सहै दुःख भारी।
डासन छाड़ि कै कासन ऊपर, आसन मारचौ पै आस न मारी ॥

अपने गुरु के विषय में उन्होंने कितना सुन्दर कवित्त लिखा है :—

भव जल मैं बहि जात हुते जिन,
काढ़ि लियो अपनों करि आदू।
और संदेह मिटाइ दिए सब,
कानन टेर सुनाइ कैं नादू ॥
पूरन ब्रह्म प्रकास कियौ पुनि,
छूटि गयौ यह वाद-विवादू ॥
ऐसी कृपा जू करि हम ऊपर,
सुन्दर के उर है गुरु दादू ॥

'जीव' के विषय में सुन्दरदास जी लिखते हैं :—

मातु तो पुकारि छाति कूटि-कूटि रोवति है,
बापहू कहत मेरो नन्दन कहाँ गयो।
भैयाहू कहत मेरी बाँह आजु हरी गई,
बहन कहति मेरो बीर दुःख दै गयो।
कामिनी कहति मेरो सीस सिरताज कहाँ,
उन्हें तत्काल रोइ मांग सरापा लयो।
सुन्दर कहत कोऊ ताहि नहिं जानि सकै,
बोलत हुतो सो यह छिन में कहाँ गयो।

दीनता केवल प्रभु के समक्ष, और किसी के सामने नहीं :—

होई निश्चिन्त करै मत चिन्तहिं,
चोंच दई सोई चिन्त करैगो।
पाँव पसारि परै किन सोवत,
पेट दियो सोइ पेट भरैगो।
जीव जिते जलके थलके पुनि,
पाहन में पहुँचाय धरैगो।
भूखहिं भूख पुकारत हैं नर,
सुन्दर तू कहँ भूख मरैगो॥

प्रश्न ६—"कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची चीज प्राप्त है।" अथवा

कबीर केवल भक्त ही नहीं थे वे एक महान् कवि भी थे। समझाइये।

उत्तर—यह तो निश्चित बात है कि कविता कबीर का लक्ष्य नहीं थी, किन्तु यह भी सत्य है कि वह लक्ष्य तक पहुँचने का साधन अवश्य थी। कुछ लोग कबीर की कविता पर नीरसता का आरोप लगाते हैं। हो सकता है कबीर की कुछ कवितायें नीरस हों; परन्तु संसार में ऐसा कौन-सा कवि है जिसके विषय में कहा जा सके कि उसकी प्रत्येक पंक्ति सरस है। महाकवि तुलसी में भी ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो केवल वर्णन की पूर्ति भर हैं। फिर कबीर तो कवि होने का दावा भी नहीं करते, वे तो स्पष्ट कहते हैं :—

"पैगम्बर को संदेसा लाए हंस उबारन आए"

वे तो भवताप-तप्त लोगों के लिए एक अलौकिक संदेश लाये थे। संदेश अच्छा होना चाहिए, संदेश की भाषा कैसी भी हो। लेकिन यह कहना कबीर के साथ अन्याय होगा कि उनकी भाषा आकर्षक एवं सशक्त नहीं है। कबीर जैसी मार्मिक, सरस, और आकर्षक भाषा बहुत कम कवियों में मिलती है। कबीर के भाषाधिकार के विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :—

"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है, बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमायश को पूरा नहीं कर सके और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लोगों में पायी जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर "बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय" में न केवल उस गम्भीर गूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अवधूत और जोगिया, मुल्ला और मौलवी सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की; तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।"

कबीर का वास्तविक काव्य उनकी विरह की उक्तियों में मिलता है। यों तो कबीर राम को पिता, माता आदि सभी रूपों में देखते हैं किन्तु सबसे मधुर रूप प्रियतम का रूप है। वे राम को प्रियतम के रूप में भी देखते हैं—

"दुलहिन गावो मंगलाचार ।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं पंचतत्त बाराती ।
रामदेव मोर पाहुने आए हौं जोबन मैं माती ॥"

साधारण रूप से यह माधुर्य भाव की भक्ति ही साहित्य की अमूल्य निधि है और विशेष रूप से कबीर के माधुर्य-भक्ति सम्बन्धी पद कबीर की अपनी सब रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट है ही, पूरे हिन्दी साहित्य में भी उनके टक्कर के सरस पद मिलने कठिन हैं। जायसी इस विषय में श्रेष्ठ माने जाते हैं किन्तु कबीर की पंक्तियों के साथ उनकी पंक्तियों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक विरह की तीव्रता और प्रेम की तल्लीनता का सम्बन्ध है, कबीर की पंक्तियाँ जायसी से किसी प्रकार कम नहीं हैं।

देखिए, कबीर अपने प्रियतम को कहाँ स्थान देना चाहते हैं। निम्नांकित दो पंक्तियों में जैसे कबीर का हृदय पिघल कर बह पड़ा है :—

नैनन्नि की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाइ ।
पलकन् की चिक डारिकै, पियकौं लेउँ रिझाइ ॥

जितना मार्मिक और गहरा भाव है भाषा उससे भी अधिक गठी हुई और व्यंजनापूर्ण है।

प्रियतम से भेंट होना सरल नहीं है, लेकिन कबीर को ध्यान हर समय उसी का रहता है। आखिर स्वप्न में कभी-कभी उसके दर्शन हो ही जाते हैं किन्तु कितनी जबरदस्त व्याकुलता है, यह जानते हुए भी कि यह स्वप्न है, कबीर अपनी आँख नहीं खोलना चाहते क्योंकि इस प्रकार वह सुखद स्वप्न भंग हो जाएगा :—

सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाइ ।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाइ ॥

आज की सर्वप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियों से उपरोक्त पंक्तियों की तुलना कीजिए और देखिए कि तल्लीनता और तीव्रता में कबीर से वे कितनी पीछे हैं :—

कौन आया था न जाने स्वप्न में मुझ को जगाने ।
याद में उन उंगलियों की हैं अभी पर युग बिताने ॥

खैर, स्वप्न तो भंग हुआ ही होगा, थोड़ी देर शान्ति के उस भ्रम से क्या

काम चलता। कबीर के नेत्र उसी की प्रतीक्षा में लगे रहते हैं। जिह्वा उसके सिवा और किसी का नाम नहीं लेती, फल यह हुआ कि आँख में जाला और जीभ में छाले पड़ गए; किन्तु अभी तक कबीर की मनस्तृप्ति नहीं हुई :—

"आँखड़ियाँ झाई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ा, राम पुकारि पुकारि॥

कबीर को लाख समझाइये, हँसी तो उनसे कोसों दूर रहती है, कबीर हँसें कैसे? प्रियतम के विरह ने तो उनकी आँखों से नींद और ओठों से हँसी छीन ली है। प्रियतम को पाना हँसी-खेल नहीं है, हृदय का सारा रक्त आँसू बन कर बह जाता है, तब कहीं प्रियतम के दर्शन होते हैं—सो कभी नहीं भी होते, इसलिए कबीर का विश्वास है कि अगर प्रियतम मिला तो रोने से ही मिलेगा, हँसने से नहीं। यह चाल बिहारी ने भी चली थी, लेकिन बिहारी में तो केवल वाग्वैदग्ध्य है, कबीर की हार्दिकता उसमें कहाँ? तुलना कर लीजिए :—

हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिन पाया तिन रोइ।
जो हँसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिन कोइ॥ — कबीर
मैं तपाइ त्रयताप सौं, राखो हियो हमाम।
मति कबहुँक आवै यहां, पुलकि पसीजै स्याम॥ — बिहारी

पंथ देखते-देखते कबीर की विरहिणी आत्मा निराश हो गयी और अब तो वह उन्मादिनी हो गयी। हर आने-जाने वाले व्यक्ति से वह प्रियतम का पता पूछती है, यह पूछती है कि क्या कोई सन्देश लाये हो। कबीर की यह विरहिणी आत्मा सूर की गोपिका और जायसी की नागमती से अधिक विरह-व्यथिता और दग्धहृदया है। देखिए व्यथा की कोई सीमा भी हो :—

बिरहिन ऊभी पंथ सिर, पूछै पंथी धाइ।
एक सबद कहि पीव को, कबरे मिलेंगे आइ॥

सारा संसार अपने-अपने प्रेमियों के साथ आनन्दमग्न है, और चैन की नींद सो रहा है पर गरीब कबीर को नींद कहां? वह तो रोता हुआ ही रात काटेगा और रोते ही दिन :—

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवै॥

कितनी सरल भाषा में, कितने थोड़े शब्दों में कबीर ने कितने जटिल भाव को व्यक्त किया है ! भाषा पर जबरदस्त अधिकार कितने कवियों को प्राप्त है ?

राम के वियोग में कबीर थोड़े ही दिन जीवित रहेंगे क्योंकि उन्हें पता है कि :—

राम वियोगी ना जिये, जिये तो बौरा होइ ।

लोग चकवा-चकवी के विरह की बात कर ही दयार्द्र हो उठते हैं । यह जानते हुए भी कि उनका वियोग अधिक लम्बा और अनिश्चित नहीं है लेकिन कबीर के विरह का क्या माप । जीवन में निश्चित ही नहीं हो पाता कि कभी मिलना होगा भी या नहीं ।

चकवी बिछुरी रैनि की, आइ मिली परभाति ।
जो जन बिछुरे राम ते, ते दिन मिलैं न राति ।।

संसार में जले की तो कुछ औषधि हो भी सकती है । सांसारिक कष्टों का तो उपचार कुछ सम्भव भी है, यदि धूप लगे तो छाँह में कष्ट दूर हो सकता है, यदि शीत लगे तो धूप में कष्ट निवारण किया जा सकता है किन्तु कबीर का कष्ट तो भिन्न कोटि का है । जिस प्रकार आग से जलने पर मनुष्य अत्यधिक बेचैन हो जाता है और उसे कहीं भी शांति नहीं मिलती; कुछ-कुछ ऐसी ही बल्कि इससे भी अधिक बुरी दशा इस राम-विरह में कबीर की है :—

बासरि सुख ना रैनि सुख, ना सुख सपने माहि ।
कबीर बिछुड्या राम सूं, ना सुख धूप न छाँहि ।।

प्रेम का प्याला पीने के कारण कबीर की विचित्र दशा हो गयी है : हृदय में भावों का ज्वार उठ रहा है किन्तु वाणी साथ नहीं देती, कितनी मार्मिक दशा है ! शरीर की नस-नस से प्रियतम की स्मृति संगीत बन कर बज रही है किन्तु अभिव्यक्ति के अभाव में वह ज्वालामुखी हो रही है ।

कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाइ ।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाइ ।।
सब रग तांत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ।।

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माँहि ।
रोम-रोम पिउ-पिउ कहै, मुख की सरधा नाँहि ॥

जायसी का विरह-वर्णन हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध है। वह उत्कृष्टतम कोटि का बताया जाता है। लेकिन कबीर की विरह-उक्तियों के साथ उनकी कबीर का सुधारक रूप, कबीर का रहस्यवादी रूप इतना लोगों के तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा कि किन में वजन अधिक है। बात यह है कि मस्तिष्क पर छा गया है कि कबीर में प्रेम की सरल-सरस उक्तियां भी हैं लोग इस बात को जानते ही नहीं।

यह विश्वासपूर्वक निस्संकोच कहा जा सकता है कि कबीर में परमात्मा के प्रति प्रेम की जो तल्लीनता और तीव्रता है, वह जायसी और मीरा से किसी भी प्रकार किसी भी बात में कम नहीं। जायसी की कुछ विरह-कातर उक्तियाँ यहां उद्धृत करना आवश्यक है ताकि तुलना द्वारा यह स्पष्ट हो जाए कि कबीर का दर्द और लोगों से अधिक है और इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी औरों से अधिक मर्मभेदिनी है :—

१. **अम्बर कुंजा कुरलियां, गरजि भरे सब ताल ।**
जिनि पै गोविंद बीछुरें, तिनके कौन हवाल ॥

२. **यह तन जारौं, मसि करों, लिखौं राम को नांउ ।**
लेखनि करौं करक की, लिखि लिखि राम पठांउ ॥

३. **यह तन जारौं मसि करूं, ज्यूं धुंवा जाइ सरग्गि ।**
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ॥

४. **यहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव ।**
लोहू सींचौं तेल ज्यौं, कब मुख देखौं पीव ॥ — कबीर

अब जायसी की कुछ पंक्तियाँ लीजिए और भाषा और भाव की दृष्टि से कबीर से उनकी तुलना कीजिए :—

हाड़ भए सब किंगरी, नसें भई सब ताँति ।
रोंव रोंव ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति ॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ ।
मकु तिहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जह पाँव ॥
पिउसौं कहेउं संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग ।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग ॥ —जायसी

अब मीरा के साथ कबीर की तुलना कर लीजिए—

> कबिरा बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाँह ।
> बैद न बेदन जानई, करक करेजे माँह ॥ —कबीर
> बाबुल बैद बुलाइया, पकरि दिखाई म्हारी बाँह ।
> मूरख बैद मरम नहिं जाने, करक करेजे माँह ॥ —मीरा

हमारा अपना विचार तो यह है कि कबीर के इस दोहे में जितनी व्यग्रता, व्यथा, तल्लीनता, बेचैनी, छटपटाहट, प्रतीक्षा, आशा, त्याग, बलिदान आदि की अनेक भावनाएँ एक साथ व्यक्त होती हैं, उसकी टक्कर की चीज न जायसी में है न मीरा में ।

> वहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव ।
> लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव ॥

प्रियतम ने विरह की आग हृदय में लगा दी है, लेकिन वह किसी को दिखाई नहीं देती । वह आग सामान्य आग नहीं है । आठों पहर बिना ईंधन के जलने वाली आग है । बेचारा कबीर परेशान हो गया है । देखिए वह किन शब्दों में अपनी भावनायें व्यक्त करता है:—

> कै बिरहिन को मीच दे, कै आपा दिखलाय ।
> आठ पहर का दाझना, मोपै सहा न जाय ॥
> हिरदे भीतर दब बलै, धुंवा न परगट होइ ।
> जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई होइ ॥

कबीर की समझ में एक बात नहीं आती कि अगर तू नहीं आता तो मत आ; किन्तु मुझे ही क्यों नहीं बुला लेता । लेकिन दोनों में से कोई बात संभव दिखाई नहीं देती, लगता है जीवन भर यों ही जलना पड़ेगा :—

> आइ सकौं नहि तोह पै, सकौं न तुज्झ बुलाइ ।
> जियरा यों लय होइगा, विरह तपाइ तपाइ ॥

कबीर के दोनों नेत्र वैरागी हो गये हैं । हाथ में भिक्षा पात्र लेकर वह भीख माँगते फिरते हैं; लेकिन भीख किस की ? आटे दाल की ? नहीं, दर्शन की । इस मार्मिक भावना को कबीर ने रूपक में मार्मिकता के साथ ही व्यक्त किया है । बिहारी के दोहों की नाज़ुक ख्याली और वाग्वैदग्ध्य भी इसमें है—

विरह कमंडल कर लिए, बैरागी दोउ नैन ।
मांगे दरस मधूकरी, छके रहें दिन रैन ॥

कबीर प्रेम के आवेश को जितनी निश्छलता और सरलता से व्यक्त करते हैं इस विषय में हिन्दी में कोई दूसरा व्यक्ति उनकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं करता—

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजल दिया न जाइ ।
नैननि प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहाँ समाइ ॥
आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोई ।
नैना माहीं तू बसै, नींद को ठौर न होइ ।
पतिवरता तब जानिए, रातिउ न उघरै नैन ।
अन्तरगति सकुचि रहै, बोलै मधुरे बैन ॥

अन्त में एक दिन कबीर को अपनी भूल का पता लगा । वह जिसे संसार में ढूंढता फिर रहा था, वह बैठा था उसी के हृदय में । जो अपने से अलग ही नहीं उसको सन्देश क्या दिया जाय ?

प्रीतम को पतिया लिखूं, जो कहुँ होइ विदेस ।
तन में मन में नैन में, वाकौ कहा सन्देस ॥

और अंत में घर बैठे ही प्रियतम से भेंट हो गयी—

बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए,
भाग बड़े घर बैठे आये ॥

अब डा० श्यामसुन्दरदास तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीरविषयक मतों को उद्धृत कर हम वह लेख समाप्त करेंगे ।

डा० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर-बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है । जो अलंकार मिलते हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाये हैं । मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, किन्तु सच्ची कला के लिए तो तथ्य की आवश्यकता है । 'भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है ।' एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्य क्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे । किन्तु

कबीर का आसन इस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतन्त्रता न मिली हो तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्व का अनुभव इसी से हो सकता है। कबीर छंदशास्त्र के ज्ञाता न थे, यहाँ तक कि दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया वही ठीक था। वस्तुतः छंदशास्त्र के नियमों का पालन वे आवश्यक ही नहीं समझते थे। अतः मात्राओं के घट-बढ़ जाने की चिन्ता उनके लिए व्यर्थ थी। परन्तु साथ ही कबीर में प्रतिभा की मौलिकता थी। उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिए शब्द की मात्रा तथा वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिससे वे सुनने वालों के हृदय में बैठ जाँय।"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं:—

"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास। किन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छोड़कर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य असाधारण जीवन रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टायें व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक संभाल नहीं पाता और रीझ कर कबीर को कवि कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को कवि न कहा जाय तो और क्या कहा जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कवि रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छंद योजना, उक्ति-वैचित्र्य

और अलंकार-विधान पूर्ण रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्य-गत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य संतों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीर-दास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोक की बात करते हैं जो साधारण मनुष्य की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने वसन्त रहता है और निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है। फिर भी जैसा कि एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है वे उस आत्म-विस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनंदिन व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं। उनके महिमा-समन्वित और अविगम्य विचार बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियन्त्रित होते रहते हैं जो सच्चे मर्मज्ञ कवियों में ही मिलते है। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होने वाली विशेषताएँ हैं—(१) सादगी और सहज भाव पर निरन्तर जोर देते रहना, (२) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना और सब प्रकार के विरागभाव, हेतु और प्रकृति-गत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखनेवाली बातों को दुर्बोध और महान् बना देने की चेष्टा के प्रति वैरभाव। इसलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखाई देते हैं, कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गए हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसलिए उनके संत रूप के साथ ही उनका कवि रूप बराबर चलता रहा है, वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं साथी और मित्र भी हैं।

प्रश्न ७—"रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊंचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है।" डा० श्यामसुन्दरदास के इस कथन की विवेचना करते हुए अपना मत दीजिए।

उत्तर—लोग वैसे तो रहस्य का मूल वेदों को ही बताते हैं, रहस्य की भावना नाथपंथी योगियों में भी पायी जाती है, किन्तु साहित्यिक-रहस्यवाद के तो कबीर ही निश्चित रूप से आदि कवि ठहरते हैं।

सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक मनुष्य इस सृष्टि के रचने वाले की खोज में लगा है। वह विश्व के वैभव को देखकर चकित होता है और इस वैभव के स्रष्टा की कल्पना कर भावविभोर रहता है।

ईश्वर की खोज के दो पथ अधिक प्रशस्त हैं—(१) दर्शन का मार्ग, (२) भक्ति का मार्ग। दर्शन ईश्वर को खोजने का बौद्धिक प्रयत्न है, मस्तिष्क का प्रयत्न है, अतः वह ज्ञानप्रधान होने के लिए बाध्य है। विश्लेषणात्मक प्रणाली के कारण और बुद्धिप्रधान होने के कारण इस मार्ग में रहस्य की गुंजायश नहीं। दूसरा मार्ग है भक्ति का। ईश्वर की प्रतिमा बनाकर भक्त अपने हृदय का सारा प्रेम, विश्वास और श्रद्धा उस पर उंडेल देता है। ईश्वर का एक निश्चित रूप सामने होने और हृदयप्रधान होने के कारण भक्ति-मार्ग में भी रहस्य की कोई गुंजायश नहीं। संक्षेप में दर्शन और भक्ति रहस्य की भावना से रहित होने के लिए बाध्य हैं। रहस्य का सूत्रपात हुआ तब, जब दो विलक्षण वस्तुओं का सम्मिश्रण हुआ। यह सम्मिश्रण था निर्गुण और भक्ति का अर्थात् जो आराध्य अब तक मस्तिष्क के चिन्तन और शुद्ध बुद्धि का विषय था उसे हृदय का आलम्बन या भक्ति का आलम्बन बनाया गया। यह सम्मिश्रण हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम कबीर में ही पाया जाता है इसलिए कबीर हिन्दी के सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि हैं। शुक्ल जी का कथन है कि साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना (काव्य) के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। इस दृष्टि से कबीर सच्चे रहस्यवादी हैं और उनका रहस्यवाद शुद्ध रहस्यवाद है। अद्वैत की इतनी तीव्र भावना सूफी कवियों में नहीं है क्योंकि वे तो प्रकृति को भी सच्चा मानते प्रतीत होते हैं। कबीर तो इस संसार में ब्रह्म के अतिरिक्ति और किसी को सच्चा ही नहीं मानते।

रहस्यवाद के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु है माधुर्यभाव। माधुर्यभाव के अभाव में रहस्य या रहस्यवाद का प्रश्न ही नहीं आता। कबीर अपने आपको राम की पत्नी (वहुरिया) मानते थे—

हरि मोर पीउ हौं राम की बहुरिया ।

कबीर ने परमात्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन के असंख्य चित्र दिये हैं जो बड़े ही अनुभूतिपूर्ण, सरस, मार्मिक तथा आकर्षक हैं । कुछ लोगों में यह भ्रम पाया जाता है कि संत कवियों में तो ज्ञान की नीरसता या शुष्कता पाई जाती है, उनमें वह सरसता नहीं जो सूफी कवियों में है । ऐसा कथन इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ऐसे लोग संत कवियों के रचना के नाम पर या तो उनकी समाज-सुधार सम्बन्धी उक्तियां पढ़ते हैं या उनकी उलट-वासियाँ या हठयोग से प्रभावित रचनायें पढ़ सन्तोष कर लेते हैं । यही बात विशेष रूप से कबीर के विषय में है । रहस्यवादी रचनाओं में सरसता उतनी ही अधिक होगी जितनी अधिक कवि के हृदय में परमात्मा के प्रति—जिसे वह पति मानता है—विरह की भावना होगी । कबीर की विरह की उक्तियाँ जितनी तीव्र, मर्मस्पर्शी तथा सरस हैं, शायद ही हिन्दी में कोई दूसरा कवि इस दिशा में उनकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके । परमात्मा के साथ विरह और मिलन के कबीर ने जो काव्यचित्र दिये हैं, वे हिन्दी साहित्य के श्रृंगार हैं । हिन्दी में अपनी सरसता और मर्मस्पर्शिता के लिए दो कवि प्रसिद्ध हैं—जायसी और मीरा । यथास्थान हम कबीर से उनकी तुलना करके देखेंगे और इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि विरह की जितनी पीर, व्याकुलता, व्यग्रता, छटपटाहट कबीर में है वास्तव में किसी में नहीं ।

कबीर राम को पति मानते हैं और उनकी राम से विधिवत् शादी भी हुई है । एक बार मिलन भी हो चुका है—

दुलहिन गावहु मंगलाचार ।
तन रत करि मैं मन रत करिहौं पंचतत्त बाराती ।
रामदेव मोरे पाहुने आए हौं जोवन में माती ॥

एक बार मिलने के पश्चात् जो विरह होता है वह कितना तीव्र हो उठता है यह कोई भुक्तभोगी ही जानता है । प्रसाद जी ने इस प्रेमाग्नि की दाहकता को समझा था—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, उस ज्वालामुखी जलन के ।
कुछ शेष चिन्ह हैं अब भी, मेरे उस महामिलन के ॥

यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि कबीर का रहस्यवाद साधनात्मक अधिक है और भावात्मक कम या यह कहना कि वह सांप्रदायिक है। सगुणोपासक कवि सम्प्रदायवादी नहीं हैं, केवल निर्गुण कवि सम्प्रदायवादी हैं, यह कथन अनुचित है। वास्तव में सगुण और निर्गुण सम्प्रदाय एक ही महान् भक्ति के दो भाग हैं। इस भक्ति आन्दोलन के दो रूप हैं—

१—एक वह रूप जिसने पौराणिक अवतारों को अपनी आराधना का विषय बनाया अर्थात् सगुणोपासना।

२—दूसरा वह रूप जिसने निर्गुण ब्रह्म को अपनी भक्ति का विषय बनाया अर्थात् निर्गुणोपासना।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि प्रेम का दोनों सम्प्रदायों में समान महत्व था। इस विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :—

"प्रेम दोनों का मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, अहैतुक भक्ति दोनों को काम्य थी। बिना शर्त भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे।"

यह बात सत्य है, इसलिए कहा जा सकता है कि निर्गुणवादी या संत कवियों का काव्य भी प्रेम से सिक्त है।

देखिए विरह में कबीर की कितनी बुरी दशा हो गयी है। रोते-रोते तो आँखों में झाईं पड़ गयी है और पुकारते-पुकारते जिह्वा में छाले पड़ गए हैं—

आंखड़ियां झाईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभणियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥

अब तो जीवन भर रोते ही रहना है, प्रिय का मिलन तो स्वप्न हो गया है लेकिन स्वप्न में ही मिलन सही, विरहिणी का तो वह भी अमूल्य धन है। कबीर की विरहिणी आत्मा की दशा का कैसा दर्द भरा चित्र है। देखिए—

सपने में साईं मिला, सोवत लिया जगाइ।
आंखि न खोलूं डरपता, मति सपना ह्वै जाइ॥

कबीर की इन पंक्तियों को महादेवी की इन पंक्तियों से मिलाइये और देखिए कि गहराई किन में अधिक है—

कौन आया था न जाने स्वप्न में मुझ को जगाने।
याद में उन उंगलियों के हैं मुझे पर युग बिताने।।

—महादेवी

अद्वैतवादी लोग यह मानते हैं कि जीव ब्रह्म का ही अंश है, अत: जैसे ही मायावरण में पड़कर वह ईश्वर से अलग होता है, बस वहीं से विरह की अकथ और असीम कथा प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए इस संसार का जीवन तो भक्त के लिए निरन्तर विलाप है। विलाप के कारण भक्त ईश्वर को कभी नहीं भूलता, इसलिए अहर्निश रोना आवश्यक है। बिना रोए ईश्वर मिलेगा भी कैसे ? कबीर इस बात को समझते हैं—

हँसि-हँसि कंत न पाइये, जिन पाया तिन रोइ।
जो हँसि हँसि ही हरि मिले, तौ न दुहागिनि कोइ।।

एक बार जिसे भगवान् की रहस्यकेलि की पुकार सुनाई दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है। प्रिय-मिलन के लिए उसकी तड़पन संसार के किसी और विरह व्यापार से तुलनीय नहीं हो सकती। चकई का विरह प्रसिद्ध है किन्तु रात्रि की समाप्ति के पश्चात् मिलने की आशा तो वहाँ होती है। राम का विरह इतना आसान नहीं है। एक बार जो इस विरह की चपेट में आ गया वह कुछ ऐसा बेहाल हो जाता है कि कह कर व्यक्त करना कठिन है। उसे न दिन में सुख मिलता है न रात में, न सपने में न जागरण में, न धूप में, न छाँह में। राम विरह का मारा भक्त हर एक साधक से पूछता रहता है कि वह कहाँ है, उसका प्रियतम किधर है ? उसके पास जाने का रास्ता कौन-सा है, उस समय तो भक्त उस विरहिणी के समान होता है जो हर एक राहगीर से पूछती रहती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे :—

चकवी बिछुरी रैनि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिलें न राति।।
वासरि सुख ना रैन सुख, ना सुख सपनै माहिं।
कबीर बिछुड़्या राम सूँ, ना सुख धूप न छाहिं।।
विरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पूछे पंथी धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबरे मिलेंगे आइ।।

कबीर का प्रियतम भी 'दुःख का राजा' है। रात-दिन आँखों से निर्झर झर रहा है, मुख से पपीहे की रट लगी हुई है, विरह वेदना से सारा शरीर म्लान हो रहा है। यह अजब दुःख है। लोग इसे सांसारिक पीड़ा समझते हैं जो केवल कष्ट देती है, केवल अभाव का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन यह पीड़ा अभावजन्य नहीं है, भावस्वरूपा है। लोग जिसे दुःख कहते हैं उससे यह भिन्न है। यह जो परम प्रियतम के लिए रो-रो कर आँखें लाल हो गई हैं, वह भी एक अनिर्वचनीय आनन्द है, प्रेमकषायित नयनों की अद्भुत खुमारी है। प्रियतम इस दुःख के मार्ग से आता है :—

नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिउ-पिउ करो, कबरु मिलहुगे राम॥
अंखड़ि प्रेम-कसाइयाँ, लोग जाणैं दुखड़ियाँ।
साईं अपणैं कारणें, रोइ-रोइ रत्तड़ियाँ॥

"बालम के बिना कबीर की आत्मा तड़प रही है, दिन को चैन नहीं रात को नींद नहीं, सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है। आँखें थक गयी हैं, रात दिखती नहीं, हाय रे बेदर्दी पिया! तू ने सुध भी न ली।" हाय, वह विरह की मारी वियोगिनी पिउ-पिउ करके जान दे रही है, किन्तु निर्गुण है वह पीव, निर्मोही है वह भगवान्! शून्य स्नेही राम ही उसके एकमात्र आराध्य हैं और कौन है जो उस पतिप्राणा का दर्शनीय बन सके।

तलफैं बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोलैं, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, साईं बेदर्दी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया॥

मैं अबला पिउ-पिउ करूं, निर्गुण मेरा पीव।
शून्य-सनेही राम बिन, देखूं और न जीव॥

कबीर की शरीर-वीणा में से विरह राग निकल रहा है परन्तु परमेश्वर के अतिरिक्त उसे न कोई सुन सकता है, न समझ सकता है। कुररी पक्षी ही रो-रो कर सब संसार को भर देता है, फिर जो राम वियोगी है उसका क्या

वर्णन किया जाय ! कबीर सोचते हैं कि मैं तो अपना शरीर जलाकर स्याही बनाऊँगा और हड्डी को कलम और इस प्रकार राम के पास अपना संदेश लिख भेजूँगा। यदि धुँआ स्वर्ग की ओर चला गया, सम्भव है राम को दया आ जाय और मेरी विरहाग्नि को दया-वर्षण करके शांत कर दें। कबीर फिर सोचते हैं कि यदि किसी प्रकार निराकार राम का मुख देख सकूं तो अपना शरीर, जीव, रक्त सब कुछ उसके लिए होम दूं। देखिए, निम्नांकित पंक्तियों में कबीर की विरहिणी आत्मा रक्त के आँसू गिरा रही है—

सब रग ताँत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥
अम्बर कुंजा कुरलिया, गरजि भरे सब ताल।
जिन पै गोविंद बीछुरैं, तिनके कौन हवाल॥
यह तन जारौं मसि करौं, ज्यूँ धूआँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥
यह तन कौं दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥—कबीर

अब कुछ जायसी की पंक्तियाँ लीजिए और कबीर की पंक्तियों की भाषा, भाव, मार्मिकता, अनुभूति-तीव्रता आदि किसी से तुलना कर लीजिए। कबीर हर तरह से बहुत भारी पड़ते हैं। "यहु तन तौं दिवला करौं" के टक्कर की पंक्तियां हिन्दी में निकलेंगे ही नहीं—

हाड़ भए सब किंगरी, नसें भईं सब ताँति।
रोंव-रोंव से धुनि उठै, कहौं विथा केहि भाँति॥
यह तन जारौं छार कै, कहो कि पवन उड़ाव।
मकु तिहि मारग उड़ि परैं, कंत धरे जहं पाँव॥
पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥—जायसी

अब यह कहना दुराग्रह मात्र होगा कि कबीर का रहस्यवाद साम्प्रदायिक है या शुष्क है।

वैद्य जी कबीर का रोग देखने आये, वे बेचारे क्या जानें कि इन्हें विरह-

ज्वर है और बिना सुदर्शन (प्रिय के) ठीक नहीं होगा—

कबिरा बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाँह।
बैद न बेदन जानई, करक करेजे माँहि ॥

जरा इन पंक्तियों से मीरा की निम्नांकित पंक्तियों की तुलना कर लीजिए, आप देखेंगे कबीर की पंक्तियों में वजन अधिक है—

बाबुल म्हांरी बैद बुलाइया रे पकरि दिखाइ बाँह।
मूरख बैद मरम नाँहि जानै, करक करेजे माँह ॥—मीरा

विरह की अग्नि कबीर के हृदय में धू-धू करके जल रही है। यह अग्नि वज्राग्नि से भी कठिन है, लेकिन इस अग्नि का लगाने वाला और जलने वाला दो ही इसका अनुभव कर सकते हैं। कबीर अन्त में तंग आकर कहते हैं कि प्रियतम ! या तो अब दर्शन दो या मुझे ही मृत्यु दे दो, अब मुझसे कष्ट नहीं सहा जाता। देखो सारा संसार प्रसन्न है। दुःख की आग मुझे ही रात-दिन खाए जा रही है। इसने नींद और भूख तक हराम कर दी है। अब विरह में बहुत जल चुका हूँ। प्रभो ! या तो तुम ही आ जाओ या फिर मुझे ही बुला लो—

कै विरहिन को मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझना, मो पै सहा न जाइ ॥
हिरदै भीतर दव बलै, धुआं न परगट होइ।
जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई होइ ॥
सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै ॥
आइ सकौं नाँहि तोइ पै, सकौं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यों लय होइगा, विरह तपाइ तपाइ ॥

बेचारे कबीर के दिन कब फिरेंगे, जब उनका जीवन सार्थक होगा। शरीर धारण करने का फल प्राप्त होगा, जब प्रिय के साथ अंग से अंग मिलाकर रभस आलिंगन का सुअवसर प्राप्त होगा, जब ये प्रिय के साथ हिलमिल कर खेलेंगे, जब उनके शरीर और इन्द्रिय, मन और प्राण प्रियतम में एक रूप हो जायेंगे। न जाने राम यह कामना कब पूरी करेंगे—

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ।
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं, तन मन प्रान समाइ॥
या कामना करौ परिपूरन, समरथ हौ राम राइ।
मोहि उदासी माधव चाहैं, चितवनि रैन बिहाइ॥
सेज हमारी स्यंध भई है, जब सोऊ तब खाइ।
यहु अरदास दास की सुनिए, तन तपन बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलिकर मंगल गाइ॥

हाय! विरह की मारी कबीरदास की आत्मा प्रिय-मिलन की आशा लेकर कब तक खड़ी रहे? प्रिय का निवास ऊँचे पर है, वहाँ जाने में कितना झिझक है, कितनी लज्जा। पैर उठते ही नहीं, उठते हैं तो तलमला जाते हैं। सात्विक भाव के कंप और रोमांच से सारा अंग शिथिल हो जाता है। पैर आगे पड़ते ही नहीं, प्रीति आशंका से हृदय अस्थिर हो उठता है। हाय उसने कभी भी तो उस मधुर मिलन का अनुभव नहीं किया—निपट बारी—निपट अनाड़ी है यह। संकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, मिलन हो तो कैसे हो? इस आपत्तिकाल में सद्‌गुरु के उपदेश का ही सहारा है—

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहिं ठहराइ, चढूं गिरि गिरि परूं।
फिरि फिरि चढ़ऊँ सम्हारि चरन आगे धरूं॥
अंग अंग थहराइ तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि ये तौ झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
छोरी कुमति विकार सुमति गहि लीजिए।
सत गुरु शब्द सम्हारि चरन चित दीजिए॥

लेकिन उस व्याकुल आत्मा को चैन कहाँ, वह उस ऊँचे रपटीले मार्ग पर ही व्याकुल भाव से निकल पड़ती है। मन, लाज, और कुल की मर्यादाओं के

भंग होने के भय से संकोची बना रहता है। नैहर की बसने वाली होने के कारण वह नैहर में प्रिय समागम या अभिसार की लज्जा नहीं छोड़ पाती—ऊँचे महल को देखकर भौंचक्की रह जाती है परन्तु सद्गुरु रूपी दूती मिलते ही प्रियतम के गले लगना उसके लिये सुगम हो जाता —

मिलना कठिन है कैसे, मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि सोचि पग धरौ जतन ते, बार बार ढिग जाय॥
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराई॥
लोक लाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नैहर बास बसौं पीहर में, लाज तजी नहिं जाय॥
अधर भूमि जहँ महल पिया का, हमपे चढ़्यौ न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भए भोला, सुरत झकोरा खाइ॥
दूती सतगुरु मिले बीच में, दीन्हों भेद बताइ।
साहब कबीर पिया सौं भेटयौ, शीतल कण्ठ लगाइ॥

असल में अब कबीर की आत्मा को नैहर अच्छा ही नहीं लगता, वह तो पिया के घर ही जाना चाहती है—

नैहरवा हमकाँ नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोइ जाइ न पावै॥

हो सकता है कि रामानन्द से भेंट के पूर्व कबीर, आसन, मुद्रा, सिंगी, खपरा तथा हठयोग में लिप्त हों लेकिन इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि गुरु के पारस-स्पर्श से कबीर स्वर्ण हो गया—उसकी सब दुविधायें मिट गईं—

सतगुरु के परताप तें मिट गयौ सब दुःख दन्द।
कह कबीर दुविधा मिटी गुरु मिल्या रामानन्द॥

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के इस आकस्मिक परिवर्तन के विषय में लिखते हैं—"सो जिस दिन महा गुरु रामानन्द ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन दी, उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टण्टे को प्रणाम किया। मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो

गए, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया। हठयोग के टंटे दूर हो गए। खुली आँखों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द पाया और अत्यन्त उल्लास के आवेग में उन्होंने घोषित किया :—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते उपजी दिन दिन अधिक चली।
जँह तँह डोलों सोइ परिकरमा जो कछु करौं सो सेवा ॥
जब सोवौं तौं करो दण्डवत् पूजौं और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौ तो सुमिरन, खाव पिवों सो पूजा ॥
गिरह (गृह) उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखों दूजा ॥
आँख न मूंदौं कान न रूँदौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं ॥

उपरोक्त उद्धरणों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि कबीर का रहस्यवाद शुद्ध रहस्यवाद है और कबीर हिन्दी के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। शुक्ल जी ने कबीर के ऊपर साम्प्रदायिक तथा नीरस रहस्यवादी होने का जो आरोप लगाया था, विश्वनाथप्रसाद सिंह अपने 'छायावाद-रहस्यवाद' नामक लेख में उसका उत्तर देते हैं। उनका उत्तर कबीर विषयक हमारे निष्कर्ष का ही समर्थन करता है।

"यदि संकीर्ण दृष्टि से देखा जाय तो किसी भी वाद-विशेष के अन्तर्गत आने वाली कविता को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। राम और कृष्ण सम्बन्धी ईश्वरत्व भावना की व्याप्ति एक समुदायविशेष में होने के कारण हम तुलसी और सूर की भक्ति-भावना पर या उनके काव्यों के वैसे स्थलों पर जहाँ उन्होंने अपने-अपने उपास्यों को ब्रह्म कहा है, बड़ी आसानी से साम्प्रदायिकता का आरोप कर सकते हैं। यदि काव्य के मूल विषय पर विचार करें तो निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म से हर हालत में अधिक व्यापक है। हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी सन्तुष्ट करने वाला है। अवतारवाद और रहस्यवाद में व्यापकता की दृष्टि से कोई तुलना नहीं हो सकती। ब्रह्म का जो

स्वरूप रहस्यवाद का आधार है वह दार्शनिक उड़ान की चरम सीमा है।"

कबीर का उपास्य निर्गुण ब्रह्म था किन्तु उसकी भक्ति का आधार प्रेम ही था, उन्होंने लिखा है—

भाग बिना नहि पाइये, प्रेम प्रीति की भक्ति।
बिना प्रेम नहि भक्ति कछु, भक्ति भरचौं सब जक्त॥
तन कौ जोगी सब करै, मन कौ बिरला कोई।
सहजैं सब विधि पाइये, जो मन जोगी होइ॥

प्रश्न ८—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समानौ यह तथ कथौ गयानी॥

यह दोहा ही कबीर के दर्शन का आधार है। कबीर ने वास्तव में तथ्य की बात इसमें कह भी दी है। बाहर जल है, उसमें एक घड़ा तैर रहा है, जिसके अन्दर जल भरा हुआ है। हो सकता है बाहर से दोनों जलों में कुछ अन्तर दिखाई दे, किन्तु तात्विक दृष्टि से दोनों जल एक ही हैं। जब घड़े का आवरण हट जाता है तो घड़े के अन्दर का जल बाहर के जल में मिल कर एक हो जाता है और उसमें कोई अन्तर नहीं रहता। अब इसको भक्ति के पक्ष में घटा कर देख लीजिए।

विश्व में ईश्वर ही ईश्वर है। जीवात्मा के रूप में जब वह किसी शरीर-विशेष में सीमित हो जाता है तो 'जीव' कहलाता है, किन्तु शरीर के आवरण के नष्ट होते ही वह पुनः ब्रह्म में समा जाता है।

भारतीय दर्शन के अनुसार ही यदि हम कहना चाहें तो कहेंगे कि कबीर अद्वैतवादी थे। यों कबीर में ऐसी उक्तियाँ भी मिलेंगी जो भेदाभेद तथा विशिष्टाद्वैत के निकट हों, किन्तु वास्तव में अन्त में कबीर अद्वैतवादी ही हैं। डा० बड़थ्वाल इस विषय में लिखते हैं:—

"संत सम्प्रदाय के इन अद्वैती सन्तों ने इस सत्य को स्वयं अपने जीवन में अनुभूत कर लिया था। कबीर ने इस सम्बन्ध में अपने भाव बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता के साथ व्यक्त किये हैं। आत्मा और परमात्मा की एकता में उनका अटल विश्वास था। इन दोनों में इतना भी भेद नहीं कि हम उन्हें

एक ही मूल वस्तु के दो पक्ष कह सकें। पूर्ण ब्रह्म के दो पक्ष हो ही नहीं सकते। दोनों सर्वथा एक हैं। अद्वैतता की उसी अनुभूति के कारण वे समस्त सृष्टि में अपनें आपको देखते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उद्घोपित किया था :

हम सब माँहि सकल हम माहीं। हमतें और दूसरा नाहीं।
तीन लोक में हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥
खट दर्शन कहियत हम भेखा। हमहि अतीत रूप नहि रेखा।
हमही आप कबीर कहावा। हम ही अपना आप लखावा॥

जो कबीर को अन्डर-हिल के समान रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त का और फर्कुहर के समान निम्बार्क के भेदाभेद का समर्थक मानते हैं वे भ्रम के कारण कबीर के सम्पूर्ण विचारों पर समन्वित रूप से विचार नहीं करते। कबीर ने पूर्ण ब्रह्म का एक ही दृष्टि से विचार नहीं किया है। उसका निर्वाचन करने के लिए सब दृष्टिकोणों से विचार करना पड़ता है, परन्तु अन्त में सबका समन्वय किये बिना पूर्णावस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। कबीर जैसे अद्वैत-वादियों ने यही किया भी है। इसी से कबीर में साथ ही निम्बार्क के भेदाभेद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का दर्शन हो जाता है। उनकी उक्तियों में से कोई भी वाद निकाला जा सकता है। परन्तु स्वतः कबीर ने उनमें से किसी एक को नहीं अपनाया है। उन्होंने उन सबसे ऊपर उठने के लिए सोपान मात्र का काम लिया है। कबीर के सूक्ष्म दार्शनिक विचारों को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें उनकी एक दो ही उक्तियों पर नहीं बल्कि उनकी सब रचनाओं पर एक साथ विचार करना होगा। ऐसा करने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे पूर्ण अद्वैती थे। वस्तुतः पूर्ण अद्वैत में कबीर का इतना अटल विश्वास है कि वे उस परम तत्व को कोई नाम देना भी पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैतभाव हो जाने की आशंका हो जाती है :

"उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई।"

जो तर्क से द्वैत को सिद्ध करना चाहते थे, कबीर उन्हें मोटी अक्ल का मानते थे :—

"कहैं कबीर तरकै दुइ साधै तिनकी मति है मोटी।'

कबीर ने जीवात्मा-परमात्मा का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिये हैं उनमें अधिकांश वेदान्त सम्मत हैं। जीवात्मा परमात्मा में इसी प्रकार मिल जाती है जिस प्रकार बूंद समुद्र में, परन्तु कहीं इसका अर्थ यह न निकले कि आत्मा कम महत्वपूर्ण है परमात्मा अधिक, कबीर लिखते हैं :—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समुद समाना बूँद में, सो कत हेरा जाय॥

वेदान्त का प्रतिबिम्बबाद और कनककुण्डल-न्याय कबीर में स्पष्ट मिलता है।

(प्रतिबिम्बवाद) **खंडित मूल बिनास कहौ किम बिगहत कीजं।**
ज्यूँ जल में प्रतिबिम्ब, त्यूँ सकल रामहिं जानीजै।

(कनककुण्डल-न्याय) **जैसे बहुकंचन के भूषन येकहि गाति तवावहिंगे।**
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्नहि माँहि समावहिंगे॥

एक सच्चे अद्वैतवादी की भाँति कबीर परमपद ही प्राप्त करना चाहते हैं, ईश्वर में लीन हो जाना चाहते हैं, न वे स्वर्ग चाहते हैं और न मोक्ष :—

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।
सो बैकुण्ठ कहौं यौं कैसा जो करि पसाउ मोहिं दैहौ॥
जो मेरे जिन द्रुउ जानत हौ तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेव ह्वै रमि रह्या सबनि में तौ काहे को भरमाओ॥
तारन तिरन तब लगि कहिए जब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में कहै कबीर मनमाना॥

कुछ लोगों का कहना है कि कबीर ब्रह्मवादी नहीं थे, एकेश्वरवादी थे। कुछ लोग एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में अन्तर ही नहीं समझते। परन्तु सत्य यह है कि ब्रह्मवाद और एकेश्वरवाद दो बिलकुल भिन्न वस्तुएं हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं :—

"पैगम्बरी एकेश्वरवाद (मोनोथिइज्म) और अद्वैतवाद (मोनिज्म) में बड़ा सिद्धान्त भेद था। एकेश्वरवाद और बात है, अद्वैतवाद और बात। एके-

श्वरवाद स्थूल-देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद। बहुत से देवी-देवताओं को मानना और सब के दादा एक बड़े देवता (ईश्वर) को मानना एक ही बात है। एकेश्वरवाद भी देववाद ही है। भावना में कोई अन्तर नहीं है। पर अद्वैतवाद गूढ़ दार्शनिक चिंतन का फल है, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त तत्व है जिसको अनुभूति-मार्ग में लेकर सूफी आदि अद्वैती भक्त सम्प्रदाय चले। एकेश्वरवाद का मतलब यह है कि एक सर्वशक्तिमान् सब से बड़ा देवता है जो सृष्टि की रचना, पालन या नाश करता है। अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्य जगत् की तह में उनका आधार स्वरूप एक ही अखंड नित्य तत्व है और वही सत्य है। उससे स्वतन्त्र और कोई अलग सत्ता नहीं है और न आत्मा-परमात्मा में कोई भेद है। दृश्य-जगत् के नाना रूपों को उसी अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त आभास जानकर सूफी लोग भावमग्न हुआ करते हैं।

"अतः स्थूल एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में भेद यह हुआ कि एकेश्वरवाद के भीतर बाह्यार्थवाद छिपा है। क्योंकि वह जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों को अलग-अलग तत्व मानता है, पर ब्रह्मवाद में शुद्ध परमात्मा के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं मानी जाती। आत्मा और परमात्मा में भी कोई भेद नहीं माना जाता। अतः स्थूल दृष्टि वाले पैगम्बरी एकेश्वरवादियों के निकट यह कहना कि 'आत्मा और परमात्मा एक ही है" अथवा 'मैं ही ब्रह्म हूँ" कुफ्र की बात है।"

शुक्ल के इस विश्लेषण के अनुसार कबीर शुद्ध अद्वैतवादी ठहरते हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं :—

"भौतिकवाद से रहित भारतीय ब्रह्मवाद को ग्रहण करने वाले कबीर पर जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों से भिन्न सत्ता मानने वाले भौतिकवाद से युक्त एकेश्वरवाद का प्रभाव नहीं पड़ता। वे चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानते थे। आत्मा और जड़ जगत् अन्त में उसी परमात्मा में विलीन हो जाता है। संसार में चारों ओर उन्हें ब्रह्म ही ब्रह्म दिखलाई पड़ता है। उनकी रचना में स्थान-स्थान पर इसी ब्रह्मवाद की झलक दिखलाई पड़ती है :—

पाणी ही ते हिम भया, हिम है गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥

कबीर सदैव ही परमात्मा में मिलकर एकमेव रहते हैं और कहते हैं कि जब भगवान् नहीं मरेगा तो मैं कैसे मर जाऊँगा :—

हरि न मरि है तौ हम काहे कुँ मरि हैं ।

संसार तो मिथ्या है, जो कुछ दिखाई देता है वह माया के कारण । यह माया बड़ी सशक्त है वह सारे संसार को घुमा रही है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब इस माया के वश में हैं । यह कभी मरती नहीं है । यह उस सूखी लकड़ी के समान है जिसमें सूखने पर भी कोंपलें निकल आती हैं अर्थात् सिद्ध से सिद्ध व्यक्ति माया के चक्कर में पड़ सकता है । मच्छन्दर नाथ का उदाहरण कबीर के सामने था ही । अद्वैतवादियों का माया के प्रति जो दृष्टिकोण है वही कबीर का भी है । वे इस विषय में गोरख को आदर्श पुरुष मानते हैं क्योंकि उसने माया को जीत लिया था । यह माया और कोई नहीं, राम की पत्नी ही है, जिसने संसार को भ्रम में डाल रखा है :—

रमैया की दुलहिन ने लूटा बजार"

"यही माया शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसा कर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी को मार रही है (अर्थात् वे माया में लिप्त हैं) लेकिन कबीर का चित्त तो राम-चरणों में लीन है; इसलिए वे इसके फंदे में नहीं आ सकते ।"

"तू रधुनाथ की खेलणा चली अहेड़े ।
चतुर निकारे चुणि-चुणि मारे कोइ न छोड़या नेड़े ॥
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी ।
जंगल महि के जंगम मारे तूं रे फिरे बलवन्ती ॥
वेद पढ़न्ता ब्राह्मण मारा सेवा करंता स्वामी ।
अरथ करंता मिसर पछाड़या तूँ फिरै मैमंती ॥
सासित कै तू हरता करता हरि भगतन की चेरी ।
दास कबीर राम कै सरनें ज्यूं लागी त्यूं तारी ॥

\+ + +

कबीर माया पापणी फंद लै बैठी हाट।
सब जग तौ फंद पड़्या गया कबीरा काट ।।

इस संसार को मनुष्य पार करे भी तो कैसे, माया रूपी छायाग्राहिणी राक्षसी उसे बीच में ही पकड़ कर खींच लेती है :—

मनुआ तो पंछी भया उड़ि कैं चला अकास।
ऊपर ही ते गिरि पड़्या या माया के पास ।।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस विषय में लिखते है—"कबीरदास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थं में ही।"

आत्मा, परमात्मा और जड़ जगत् के बीच का सम्बन्ध अद्वैतवादी कबीर की निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है :—

साधो सतगुरु अलख लखाया, आप आप दर्शाया।
बीज मध्ये ज्यों वृच्छा दरसे, वृच्छा मध्ये छाया।
परमातम में आतम दरसे, आतम मध्ये माया ।।
ज्यों नभ मध्ये सुन्न देखिए, सुन्न अंड अंकार।
निःअच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तार ।।
ज्यों रवि मध्ये किरण देखिए, अर्थ सबद के माहीं।
ब्रह्म ते जीव जीव ते मन इमि न्यारा मिला सदा ही ।।

अधिकांश विद्वान् इस विषय में भी एकमत हैं कि संत कवियों विशेषकर कबीर पर उपनिषदों का भी प्रभाव पड़ा है। यह ठीक है कि इन लोगों ने पुस्तकें नहीं पढ़ी होंगी किन्तु उपनिषदों की सभी बातें उन्होंने साधु-संगति में सीखीं। डा० बड़थ्वाल लिखते हैं—'मेरा यह अभिप्राय नहीं कि इन निरक्षर साधु-संतों ने पोथियाँ लेकर उपनिषदों का अध्ययन किया था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे उपनिषदों के सिद्धान्तों और उपदेशों से सर्वथा परिचित थे। जान पड़ता है कि मध्य युग के आचार्यों के कारण, सारा धार्मिक वातावरण वेदान्त से ओत-प्रोत हो गया था जैसा कि आज भी है। इसी वातावरण में अबाध साँस लेने के कारण वह इन अपढ़ साधु-संतों के अस्तित्व का अभिन्न अंग सा हो गया। यह बात तो निस्संदेह स्वीकार

कर ली जा सकती है कि कबीर को उपनिषदों के सिद्धान्त का ज्ञान स्वयं अपने गुरु रामानंद के मुख से प्राप्त हुआ और कबीर के शिष्य-प्रशिष्यों में होता हुआ यह आगे फैला।"

यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि वेदान्त का प्रभाव भी संत कवियों पर मिश्रित रूप में पड़ा है अर्थात् सूफी काव्य का प्रभाव गहरे भौतिक प्रेम के रूप में कबीर आदि संत कवियों में स्पष्ट है। यों प्रेम की भावना थोड़ी बहुत है उपनिषदों में भी। उपनिषदों की कुछ उक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें जीवात्मा और परमात्मा का संबंध पति-पत्नी द्वारा व्यक्त किया गया है।

डा० बड़थ्वाल विश्वासपूर्वक लिखते हैं—"निर्गुणी सन्तों के सिद्धान्त के आधार भी उपनिषद् ही हैं। बीजक की एक रमैनी में कबीर ने स्वयं उपनिषद्, उनके संवादों और सिद्धान्तों का तथा योगवाशिष्ठ आदि का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। "तत्वमसि" "वह (ब्रह्म) तुम हो"—यह उपनिषदों का उपदेश है, यही उनका सन्देश है। इसका (कि प्रत्येक जीव ब्रह्म है) उन्हें बड़ा निश्चय है। अधिकारी लोग इसे वरण (ग्रहण) करते हैं। यह स्वतः सिद्ध परम तत्व है, जिसने सनकादिक ऋषियों और नारद मुनि को सुख दिया ('छान्दोग्य' में सनत्कुमार और नारद का संवाद)। याज्ञवल्क्य और जनक के संवादों में भी यही रस बह रहा है।

"दत्तात्रेय ने इसी रस का आस्वादन किया था। वशिष्ठ और राम ने योग वाशिष्ठ में इसी का बखान किया है। कृष्ण ने ऊधो को श्रीमद्भागवत में यही परमतत्व समझाया था। इसी बात को देह धारण करते हुए भी विदेह कहलाकर जनक ने दृढ़ किया था :—

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद्, कहैं संदेसा॥
ई निसचय इनके बड़ भारी। बाहिक बरण करे अधिकारी॥
परम तत्त का निज परमाना। सनकादिक नारद सुख माना॥
जागवलिक और जनक संवादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥
वहै राम वशिष्ठ मिल गाई। वहै कृष्ण ऊधो समझाई॥
वहै बात जो जनक दृढ़ाई। देह धरे वीदेह कहाई॥

संक्षेप में कबीर का निर्गुण मार्ग या उनका दर्शन निम्नांकित तत्वों से प्रभावित है :—

१—भारतीय अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद तो उसका आधार ही है।

२—सूफियों का प्रेम तत्व ।

३—वैष्णवों का अहिंसा तत्व ।

४—हठयोगी साधना ।

उपरोक्त विश्लेषण से वह बिलकुल स्पष्ट है कि कबीर का रहस्यवाद शुद्ध रहस्यवाद है और वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रथम रहस्यवादी कवि हैं।

—०—

सूफी काव्य-संग्रह

प्रश्न १—सूफी शब्द से आप क्या समझते हैं ? सूफी मत के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए भारत में सूफी मत के प्रचार का दिग्दर्शन कराइये ।

उत्तर—'सूफ' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । कतिपय विद्वान् 'सूफ़' को सफ शब्द से निकला मानते हैं जिसका अर्थ होता है—अग्रिम पंक्ति । कयामत के दिन सदाचार और पवित्रता में श्रेष्ठ होने से जो श्रेष्ठतम माने जाकर अग्रिम पंक्ति में खड़े होंगे, वे सूफी होंगे । दूसरे मत वाले मदीना की मस्जिद के समक्ष सुफ्फा (चबूतरा) पर बैठने वाले फकीरों को सूफी संज्ञा देते है । तीसरा मत यह है कि 'सूफी' शब्द सोफिया का रूपान्तर है जिसका अर्थ ज्ञान होता है और ज्ञान के कारण ही उन्हें सूफी कहते हैं । कुछ विद्वान् 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति सफा शब्द से मानकर पवित्रता और विशुद्धता को ग्रहण करने वाले को "सूफी' कहते हैं । किन्तु इन मतों के अनुसार यह सिद्ध नहीं होता कि इस शब्द का व्यवहार एक वर्ग विशेष के लिए क्यों होता है । विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ' शब्द से है । 'सूफ' का अर्थ है सफेद ऊन । सफेद ऊन के वस्त्र का धारण करने वाले व्यक्ति सूफी कहलाये । यह वस्त्र एक वर्ग विशेष द्वारा अपना लिया गया और उस वर्ग के व्यक्ति सूफी नाम से अभिहित होने लगे ।

सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं । यद्यपि सूफी मत और इस्लाम में बहुत कुछ साम्य है, तथापि कतिपय विद्वान् आदम को सर्व प्रथम सूफी मानते हैं । लेकिन मुहम्मद साहब को इस्लाम का प्रवर्तक मानने वाले अन्तिम रसूल को सूफी मत का प्रवर्तक मानते हैं । मुसलमानों के पतन के बाद मसीही लोग सूफी मत को अपनी ओर खींचने लगे और वे आरम्भिक सूफी को यूहन्ना या मसीह का शिष्य कहने लगे ।

किन्तु मसीह का मूलमंत्र विराग है और सूफी मत के मूल में प्रेम का निवास है । अतः मसीही मत सूफी मत का मूल नहीं माना जा सकता । मसीही मत में प्रेम का प्रसार सूफी मत के संसर्ग का ही परिणाम है । यही कारण है कि मसीही मत के प्रेम में सूफी मत की प्रेम भावना की अपेक्षा आध्यात्मिकता का अभाव है ।

सूफी मत की आधार शिला जो रति भाव था, उसका विरोध शामी जातियों ने बहुत समय तक किया। मूसा और मुहम्मद साहब ने संयत संभोग का विधान किया और मसीह ने निवृत्तिप्रधान मार्ग अपनाकर लौकिक रति को अलौकिक रति में परिणत कर दिया। सूफी लोग भी 'इश्क मजाजी' को 'इश्क हकीकी' का प्रारम्भिक सोपान मानकर बुतपरस्ती को स्वीकार करते हैं। इसलिए किसी से प्रेम करके विरह को जगाने में उन्हें आत्मा की ज्योति का दर्शन होता है। प्रेम का यह रूप शामी जातियों द्वारा समर्पित सन्तानों के प्रति प्रेम का विकसित और परिमार्जित रूप है। सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में शामियों में उदित मादन भाव की ओर ध्यान रखना चाहिए। सूफी मत का आदि स्रोत हमें इसलिए शामी जाति की आदिम प्रवृत्तियों में मिलता है।

शामी जातियों में उनके बाल, का देश तथा ईस्तर आदि देवी-देवताओं के वियोगी विरह जगा रहे थे। किन्तु ये कामुक थे अतः 'पवित्र व्यभिचार' का समर्थन करते थे। लेकिन यहोवा ने इनका घोर विरोध किया और यह प्रेम परम प्रेम का रूप धारण करता गया और प्रियतम प्रत्यक्ष से परोक्ष होता गया। सूफियों का प्रेम भी इसी प्रकार मूर्त से अमूर्त की ओर जाता है। अतः सूफियों के प्रेम की मूल धारा हमें शामियों की समर्पित सन्तानों के प्रणय में दृष्टिगोचर होती है लेकिन सूफी मत में नबियों के इलहाम की भी मान्यता है। रसूलों के लिए सूफीमत में वही का विधान है।

इलहाम के सम्पादन के लिए जिन साधनाओं की आवश्यकता होती है उनमें मादक द्रव्यों विशेषकर सुरा का बड़ा सहयोग है, जिसके मद में देवता का आगमन समझकर इलहाम की घोषणा की जाती थी। सूफियों के सभाओं और तज्जनित 'हाल' का प्रचार नबियों की गुह्य मंडलियों में भी था। फलतः नबी लोग शरीर पर घाव करके जनता में प्रदर्शन करने लगे और इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इसी कारण सूफियों ने भी घाव को फूल समझ लिया।

ये नबी लोग एक मुरशिद की अध्यक्षता में अद्भुत वेषभूषा, भावभंगियों तथा करामातों से अपने को देवताओं का विशेष कृपापात्र घोषित करके जनता के आदर के पात्र बन बैठे थे। इन में मुरशिद की बड़ी प्रतिष्ठा थी। इन नबियों के अतिरिक्त कुछ महानुभाव भविष्य की बातें, शुभाशुभ तथा शकुन

आदि बताते थे। ये काहिन या रोह कहलाते थे। उनमें सूफियों का नजूम था।

सूफियों में समाधि पूजा की भावना भी पाई जाती है। मरण के उपरांत शव को मिट्टी समझकर अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा जाता, अपितु उसमें जीवन की सुप्तावस्था कयामत के दिन तक मान कर उसे विधि-विधानों से दफनाया जाता है। शामी जातियों में भी समाधि पूजा की यही भावना थी। अतः सूफियों की समाधि पूजा परम्परागत ही है।

सूफीमत में 'जिक्र' की बड़ी प्रतिष्ठा है। नबियों में भी उपवास और मुद्रा-विशेष का प्रचलन है।

कहने का अर्थ यह है कि यहोवा से पूर्व इब्रानी जाति की गुह्यमंडली में आनन्द की सृष्टि के लिए सुरा का विधान था। सुराजनित उल्लास देवता का प्रसाद समझा जाता था। उस दशा में जो कुछ मुँह से निकलता, वही इलहाम होता था।

शामियों में प्रचलित मूर्तियों के चुम्बन, आलिंगन आदि की व्यवस्था सूफियों के बोसे और वस्ल में परोक्ष रूप से विद्यमान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफियों के मादन भाव का मूल स्रोत गुह्य मंडली में ही मिलता है। यद्यपि यहोवा के आविर्भाव के कारण उक्त नबियों की प्रतिष्ठा क्षीण हो गई थी। तथापि उन्हीं की भावना का प्रसाद सूफी मत है। जिन विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में गवेषणा की है और वर्तमान फकीरों पर भी जिन्होंने दृष्टिपात किया है उनका मत भी यही है। केवल मुहम्मद तक ही जिनकी पहुँच है वे इसे नहीं मानते। लेकिन वास्तविकता यही है कि सूफी मत का उद्गम इन नबियों की भावना ही है।

यद्यपि यहोवा के उपासकों की संकीर्णता और कठोरता से मादनभाव को पर्याप्त क्षति पहुँची, किन्तु कोई भी भाव सर्वदा के लिए विलीन नहीं हो जाता, अपितु ज्वालामुखी के उद्गार की भांति उसका प्रस्फुटन होता है। फलतः अन्य देवों का बहिष्कार होने पर भी उनके गुणों का आरोप यहोवा में होने लगा और उसकी आराधना में भी मादन भाव अपना स्वरूप झलकाता रहा जो 'कवाला' के रूप में मान्य हुआ।

यहोवा ने यद्यपि रति-क्रिया से मुक्त रहने रहने की पर्याप्त चेष्टा की किन्तु यहोवा के मन्दिरों में भी देवदासों और देवदासियों की योजना से प्रेम के स्रोत का प्रवाह फूट पड़ा। हूसीअ ने यहोवा के इस रूप पर ध्यान दिया और

उसको अपनी अली के प्रेम-सार में यहोवा के प्रेम का प्रमाण मिला। यहोवा और हूसीअ के प्रेम-सार में केवल आलम्बन का भेद है, रति-क्रिया का नहीं। यही भावना मसीही मत में मादन भाव के रूप में फूली-फली।

मादन भाव के रति विधान में आलम्बन का विशेष महत्व है। आलम्बन की मोहकता तथा अलभ्यता ही परम प्रेम के रूप का विधान करती है। सूफ़ियों ने इश्क मजाजी को 'इश्क-हकीकी' की सोपान सिद्ध करके उसकी महत्ता को प्रतिपादित किया। "गीतों का गीत" 'श्रेष्ठ गीत' अथवा सुलेमान के गीतों में भी प्रेम की वही दशा दृष्टिगत होती है। इन गीतों की भावना आध्यात्मिक विवाद से पूर्ण है। परमात्मा और जीवात्मा इन गीतों के दुलहा-दुलहिन होते हैं। लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक प्रेम का निरूपण ही इन गीतों में होता है। आज भी सूफियों को इन्हीं गीतों की पद्धति मान्य है। प्रेम और प्रणय के इन गीतों में सुरा गीत भी होते थे।

"यसिअयाह" ने तो "अहं ब्रह्मास्मि" की घोषणा करके अद्वैत की प्रतिष्ठा की। वास्तव में उसके गान में वेदना, करुणा और कामुकता का संमिश्रण है। संक्षेप में वह अंशतः सूफी हैं। कथन का अर्थ यह है कि मादन भाव के अन्य अवयवों का भी आभास प्राचीन पुस्तकों में मिलता है।

मसीहा के आविर्भाव से शामी जातियों में विराग की प्रवृत्ति जगी। लेकिन उनके उपासकों ने भी विवाह का रूपक ग्रहण किया। एक स्थान पर तो मसीह को दुलहा तथा उनके भक्तों को दुलहिन कहा गया है। शायद इस पर यूनान की गुह्यटोलियों अथवा अफलातून के प्रेम का प्रभाव था। यहूदियों के व्यापारिक साहचर्य से आर्य संस्कृति का भी इस पर प्रभाव पड़ा। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का ही प्राबल्य था। जिनका मसीह पर विश्वास न जमा, उनको नास्टिक कहा गया।

नास्टिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक मत था। इसी नास्टिक मत का प्रभाव सूफी मत पर पड़ा। इसी से सूफी आज भी 'पीरेमुगां' का जाप करते हैं तथा उनसे मधुपान की याचना करते हैं। मादन भाव नास्टिक मत का प्रधान भाव था। सूफी मत का प्राचीन नाम भी नास्टिक मत मिलता है। नास्टिक मत की बिखरी शक्तियों से मानी मत की प्रतिष्ठा हुई। सूफी मत के विकास में मानी मत का बड़ा योग है। मानी मत पर बुद्ध मत का बड़ा प्रभाव था। गुरु-शिष्य परम्परा का विधान, मूर्तियों का खंडन और जन्मान्तर

निरूपण के सन्बन्ध में मानी मत ने जिस विचारधारा को जन्म दिया वह सूफी मत का दर्शन हो गया। सूफियों का स्वतंत्र मत 'जिन्दी' के मानी मत का ही अवशेष है। मानी मत की प्राणप्रतिष्ठा तसव्वुफ में हो गई।

मसीही मत यूनान में पहुँच कर अफलातून की प्रतिभा से प्रभावित हुआ। फिर प्लोटिनस के द्वारा उस पर भारतीय दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। प्लोटिनस ने, पृथ्वी से लेकर नक्षत्र मंडल तक जिस एकाकी सत्ता का आलोक व्याप्त है, उसका अत्यन्त अनूठेपन से मनोरम वर्णन किया है। सूफीमत के अध्यात्म में उसका महान् और अचल योग है। इसीलिए सूफियों ने उसे शेख (अकबर) की उपाधि देकर सम्मानित किया था। सूफी मत में इस प्रभाव से जो आनन्द प्रस्फुटित हुआ वह प्रज्ञा और प्रेम का प्रसाद है।

सूफी मत के इतने विकास के अनन्तर मुहम्मद साहब नबी के रूप में प्रकट हुए। इन्होंने कुरान की रचना करके उसे खुदा का कथन घोषित कर इस्लाम का प्रवर्तन किया। मुहम्मद साहब तरल भावनाओं के भक्त होते हुए भी 'ईमान' और 'दीन' की अपेक्षा इस्लाम पर अधिक जोर देने लगे। इसी से उन्हें सच्चा सूफी समझा जाता है। उन्हें अभ्यासी कर्मशील भक्त कहा जा सकता है। उनकी भक्ति में प्रेम की भावना नहीं, अपितु दास्य भावना पाई जाती है। प्रेम और संगीत के अतिरिक्त सूफियों के प्रायः सभी लक्षण मुहम्मद साहब में पाये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सूफीमत का पूर्ण विकास मुहम्मद साहब से पूर्व ही हो चुका था। किन्तु कालान्तर में इस्लाम के सीमित क्षेत्र में सूफीमत को भी प्रतिष्ठा मिली।

यों तो यूनानियों के व्यापारिक संसर्ग से मसीही मत भारत की आध्यात्मिक विचारधाराओं से प्रभावित होता रहा जिसका प्रभाव सूफीमत पर भी पड़ा; किन्तु भारत में सूफीमत का प्रचार प्रसिद्ध सूफी अल्हुज्विरी के आगमन काल (१२ वीं शताब्दी) से होता है। उनके बाद साम्प्रदायिक संगठन के रूप में मठ या आश्रमों की स्थापना करके सूफी मत का प्रचार कार्य आरम्भ हुआ। मुरशिद मुरीदों को लेकर प्रचार कार्य करने लगे।

इन सम्प्रदायों में सब से प्रसिद्ध चिश्तिया सम्प्रदाय हुआ। इस सम्प्रदाय की सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती हुए जिन्होंने भारत में सूफी मत का प्रचार किया। वे कई देशों में प्रचार कार्य करते हुए लाहौर में हजरत दातागंज की समाधि के निकट ठहर कर प्रचार करने लगे। अपने अन्तिम

समय में इन्होंने अजमेर को अपना प्रचार स्थान चुना। इनके शिष्यों में ख्वाजा कुतुबुद्दीन काकी ने उनके उत्तरदायित्व को संभाला। 'काकी' को सम्राट् अल्तमश को दीक्षित करने का गौरव प्राप्त है। इन्होंने संगीत को अपने मत के प्रचार का साधन चुना था। इनको इनके शिष्य फरीदुद्दीन 'शकरगंज' की बड़ी सहायता मिली। शकरगंज के दो शिष्य क्रमशः निजामुद्दीन औलिया और अलाउद्दीन साबिर हुए। इन्होंने निजामिया और साबरिया सम्प्रदाय चलाये। कालान्तर में निजामियाँ सम्प्रदाय भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया—१. हिसामिया २. हमजाशाही।

भारत में जिन सम्प्रदायों ने सूफीमत का प्रचार किया उनमें दूसरा स्थान सुहर्वादिया सम्प्रदाय का है। बहाउद्दीन जकारिया ने इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत भारत में विशेष कार्य किया। इनके पुत्र सदरुद्दीन के शिष्य अहमद माशूक ने भी बड़ा काम किया। आगे चलकर यह सम्प्रदाय भी कई उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया। जिनमें वाशरा सुहवर्दी उपसम्प्रदाय में जलाली शाखा प्रमुख है। इस शाखा के अनुयायी सिर पर काले धागे, बाँहों पर तावीज बांधते हैं तथा शृंगी बाजा लिए घूमते हैं। दूसरी शाखा मखदमी शाखा कहलाई। मीराशाही, इस्माइलशाही तथा दौलतशाही नामक तीन शाखायें और थीं।

बेशरा सुहर्वर्दी उपसम्प्रदाय में दो शाखायें लालशाहवाजिया तथा रसूल-शाही नामक प्रसिद्ध हुईं। इनमें पहली शाखा का झुकाव इसलाम की ओर अधिक था। दूसरी शाखा का जन्म अलवर में हुआ। अहमदाबाद में सुहगिया नामक शाखा का जन्म हुआ। ये तीनों शाखायें भारत में विभिन्न भागों में प्रचार कार्य करती रहीं।

एक तीसरा सम्प्रदाय बारहवीं शताब्दी में अब्दुल कादिर ने प्रचलित किया और उसे कादरिया सम्प्रदाय की संज्ञा दी। इस सम्प्रदाय में सैयद मुहम्मद गौस को इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि सिकन्दर लोदी ने अपनी पुत्री की शादी उसके साथ कर दी। इस सम्प्रदाय में भी कुमेशिया, बहलोलशाही, मुकीमशाही, नौशाही और हुसैनशाही नामक शाखाओं का प्रचलन हुआ। सं० १६६२ तक इस सम्प्रदाय का प्रचार रहा।

चौथा सम्प्रदाय नक्शवन्दियाँ सम्प्रदाय था इसका प्रचार भारत में अहमद फारूखी ने सत्रहवीं शताब्दी में किया था। इनकी मान्यता हजरत मुहम्मद के समान थी। इनके सुधारों से सूफियों का संगीत विधान, नृत्य

एवं साष्टांग दण्डवत आदि प्रदर्शन-कार्य बन्द हो गए। इन्होंने कयूमियत के सिद्धान्त का प्रचलन किया और कयूम को पूर्णतम मानव तथा सब का आश्रय सिद्ध किया। ये स्वयं को तथा अपने तीन उत्तराधिकारियों को ही कयूम मानते थे। उन तीन कयूमों में एक फ़ारुखी का तीसरा पुत्र मासूम, दूसरा हुज्जतुल्ला मासूम का द्वितीय पुत्र और तीसरा पुत्र कयूम दूसरे कयूम के पौत्र थे। कतिपय विद्वानों का कथन है कि इन कयूमों के धार्मिक उन्माद का परिणाम ही मुगल साम्राज्य का पतन है।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त उवैसी, महारी तथा शत्तारी नामक सम्प्रदाय भी प्रसिद्ध हुए जिन्होंने सूफी मत का प्रचार किया। कलन्दर और मलामती सम्प्रदाय ने भी मूल तत्वों पर अधिक ध्यान दिया तथा धर्म के बाह्य आचार-विचारों को गौण समझा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सूफी मत का प्रचार ९वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और १० वीं तथा १२ वीं शताब्दी में अपना विशिष्ट रूप चमका कर १६ वीं सदी में मुगल साम्राज्य के साथ इस मत का भी ह्रास हो गया।

प्रश्न २—सूफीमत का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए इस्लाम पर उसके प्रभाव का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—सूफी मत की उद्‌भावना शामियों की गुह्य मंडलियों में प्रचलित प्रेम की भावना से हुई है। तथा देवदास और देवदासियों का लौकिक प्रेम ही सूफी मत में पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित होकर विकसित हुआ। सूफीमत की यही मूलभूत भावना परिपक्व होकर एक स्थिर रूप धारण कर चुकी थी किन्तु उसका प्राचीन इतिहास प्रकाश में नहीं आ पाया है। इसके अतिरिक्त उसके विकास का क्रमबद्ध रूप प्राप्य नहीं है, अतः मुहम्मद साहब की उत्पत्ति से सूफीमत का इतिहास आरम्भ हुआ माना जाता है।

एक परम्परागत किंवदन्ती के अनुसार शेख अबूहाशिम प्रथम सूफी थे। इन्होंने मोसोपोटामिया के रमला नामक स्थान में एक मत की स्थापना की और विक्रम की नवीं शताब्दी के आरम्भ तक ये वर्तमान रहे। इस काल के ५० वर्ष के भीतर ही सूफी शब्द का पर्याप्त प्रचार हो गया। लगभग आधे दर्जन सूफियों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है जिनमें आबू हसन बसरानी का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। यह सूफी मत का प्रथम युग कहा जाता है।

इस युग में इब्राहीम बिन आदम का नाम उल्लेखनीय है। ये राजवंश में उत्पन्न होकर भी एक आकाशवाणी के आदेश से सूफी सन्त हो गये थे। इनके शिष्य शेख साक्कि थे जिन्होंने एक अकाल पीड़ित के मुख से ईश्वर-विश्वास के सम्बन्ध में मार्मिक वचनों को सुनकर ईश्वर को आत्मसमर्पण कर दिया था। इसी प्रकार फुजामिल बिन अयाज कुरान की एक पंक्ति सुनकर डाकू से साधु बन गये थे। बसरा के प्रसिद्ध सूफी अबू हसन की शिष्य-परम्परा में दीक्षित हो गए।

सूफी मत में स्त्रियाँ भी दीक्षित होने लगी थीं। बसरा की राबिया नामक महिला ने सूफीमत के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। वह दरिद्र परिवार में उत्पन्न होकर एक क्रीतदासी बनी। लेकिन बिना किसी इच्छा के परमेश्वर के प्रेम में लीन रही। इस युग के सूफी अन्तर्मुखी वृत्ति को स्वीकार करके एकान्त में ईश्वर का चिन्तन करते थे और तज्जनित आनन्द में लीन रहते थे। साथ ही परम प्रेम के लिए आत्मसमर्पण और पश्चात्ताप को आवश्यक मानते थे।

अब्बासवंशीय शासन काल से द्वितीय युग का आरम्भ माना जाता है। इस युग में आकर सूफियों की वृत्ति अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी भी हो चली थी, साथ ही प्रचार की भावना भी स्थान पाने लगी थी। आध्यात्मिक विकास के लिए चार स्थान भी निर्धारित हो गये थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों के आध्यामिक विचारों का प्रभाव भी इस पर पड़ा। क्योंकि मामूं ने अपने दरबार में विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित करके धार्मिक संगठन का आयोजन किया था।

इस युग में मारूफूल करखी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने सूफी मत की पारिभाषिक शब्दावली की सृष्टि की तथा सच्चे सूफी फकीर के मान्य लक्षण निर्धारित किए। भगवच्चिन्तन, भगवदाश्रय तथा भगवदुद्दिष्ट कार्यकलाप सूफी सन्त के प्रमुख लक्षण हैं तथा सांसारिक विषयों को त्याग कर ही परमतत्व की अनुभूति सम्भव है। अबू सुलेमान दारानी के अनुसार सूफी सन्त को परमात्मा के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। इनके बाद जुन्नून मिस्री हुए जिनको सूफी मत की सेवा के कारण कारावास की यातना झेलनी पड़ी। इन्होंने सूफी मत में नव अफलातूनी विचारधाराओं का समावेश किया। इस युग में अबू मजीद का नाम भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने निर्वाण का प्रति-

पादन किया। इनकी विचारधारा सर्वात्मवाद से पूर्ण प्रभावित थी। इनके बाद बायज़ीद, जुनैद, शिवली प्रसिद्ध हुए। लेकिन सबसे अधिक प्रसिद्धि मंसूर को प्राप्त हुई। इन्होंने अपने विचार-स्वातन्त्र्य के कारण "अन् अल हक" की घोषणा की और इस्लाम के समर्थकों ने इन्हें शूली पर चढ़ा दिया।

यद्यपि मंसूर को शूली पर चढ़ा दिया लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि सूफी मत में क्रांति की लहर दौड़ गई। किन्तु कुछ सूफियों ने इस्लाम और सूफी मत में समन्वय उत्पन्न करने की चेष्टा की। ये लोग ईश्वर और मानव में अभेद मानते थे। इन्हीं सन्तों की विचारधारा ने तृतीय युग को जन्म दिया।

इस युग में सूफी मत का क्रमबद्ध इतिहास निर्मित हुआ। सूफी मत को विचारधाराओं के विभेद के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों, शाखाओं तथा उप-शाखाओं में विभाजित किया। यह युग सूफीमत के प्रचार की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है।

सूफी मत के विभिन्न मतों को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय कालाबाधी, हुज्विरी तथा गजाली को है। कालाबाधी ने 'सूफीमतवाद का प्रकृति-स्वरूप निर्णय' नामक ग्रंथ द्वारा सूफी मत और इस्लाम की एकता पर बल दिया। इसी प्रकार अबुल हसन अलहुज्विरी ने भी "कशफुल महबूब" की रचना करके सूफी मत और इस्लाम के सामंजस्य को प्रमाणित किया। लेकिन विचारों की गम्भीरता और भावों की स्पष्टता अबू हमीद मुहम्मद अल गजाली के ग्रन्थों में पाई जाती है। और इन्होंने एकत्व, आत्मसमर्पण और नमाज पर विशेष बल दिया है। इन्हीं के प्रयत्न से इस्लाम और सूफी मत एक हो गया।

हुज्विरी के समय तक १२ प्रमुख शाखायें सूफी मत में पाई जाती हैं। जिनमें अवतारवादी और अद्वैतवादी को निन्दनीय माना गया है। शेष दस में कुछ दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करती हैं और कुछ सदाचार का प्रचार करती हैं। ये शाखायें सूक्ष्म भेदों के आधार पर खड़ी थीं लेकिन उनके पृथक्त्व का कोई ठोस आधार नहीं था। सूफीमत की विभिन्न शाखाओं का मतभेद मिटाने का श्रेय शेख शिहाबुद्दीन सुहर्वर्दी तथा शेख मुहीबुद्दीन इब्न अरबी को है। सुहर्वर्दी का "अवरिफुल मारूफ" नामक ग्रन्थ सभी शाखाओं का प्रामाणिक तथा मान्य ग्रन्थ समझा जाता है।

इस युग में सूफीमत का प्रचार उमर खय्याम, सनाई निजामी, अत्तार आदि कवियों द्वारा अधिक हुआ। इनके अतिरिक्त फारसी के कवि रूमी, सादी,

शब्सतरी, हाफिज एवं जामी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग तक सूफीमत इस्लाम के साथ-साथ मुस्लिम विजेताओं के द्वारा संसार के अधिकांश भाग में फैल गया। इस्लाम तलवार के बल पर पहुँचा और सूफी मत ने प्रेम की ज्योति जगाई तथा इस्लाम को ग्राह्य बनाया। इस प्रकार सूफ़ी मत का प्रचार हुआ।

हमने देखा है कि किस प्रकार सूफीमत और इस्लाम में समन्वय उत्पन्न हुआ और दोनों का भेद नष्ट हो गया। सूफीमत के साधु ही मंसूर की शूली के डर से इस्लाम की ओर नहीं झुके अपितु इस्लाम पर भी सूफीमत का अत्यन्त प्रभाव पड़ा।

मौलाना रूमी ने कुरान के तत्व को समक्ष रखा। उसको अपना कर सूफियों ने इस्लाम को मधुर तथा सरस बना दिया। वास्तविक बात तो यह है कि यदि सूफीमत से इस्लाम प्रभावित नहीं होता तो इस्लाम का समूल नाश हो जाता। लेकिन सूफियों ने घूम-घूम कर जो प्रेम का प्रचार किया वह इस्लाम के लिए मंगलमय हुआ। समझदार मुसलमान सूफीमत की किसी न किसी शाखा में सम्मिलित हुए हैं और गैर इस्लामी बन्दों पर भी अनुराग रखने लगे। सूफियों ने परमात्मा को जीव मात्र का शासक बता कर अहंमन्यता के त्याग तथा हृदय-शुद्धि पर विशेष बल दिया, जिससे इस्लाम में कोमलता और पावनता का प्रसार हुआ।

सूफियों के विभिन्न सम्प्रदायों ने रसूल, बकर, उमर तथा उसमान आदि में से किसी न किसी को आदि सूफी माना। जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश मुसलमान सूफीमत की ओर झुक गये। सूफियों के बारह सम्प्रदायों में दस को इस्लाम द्वारा मान्यता प्राप्त हुई और मुसाहिबी सम्प्रदाय सर्वप्रथम माना गया। हुलूबी सम्प्रदाय अवतारवाद के कारण तथा इलयाजी सम्प्रदाय अद्वैतवादी होने से इस्लाम धर्मावलम्बियों के लिए मान्य नहीं हुआ। अन्य सभी की विचारधाराएं इस्लाम में घुलमिल गईं।

इस्लाम के प्रत्येक अंग पर सूफी मत का प्रभाव है। क्या समाज, क्या दर्शन, क्या आचार, क्या विचार, क्या काव्य, क्या साहित्य इस्लाम के सभी अंगों पर सूफियों की छाप है। वास्तव में तसव्वुफ या सूफीमत इस्लाम का रामरस है। प्रत्येक मुसलमान पीर और तावीज आदि पर विश्वास करता है, यह सूफी मत का ही प्रभाव है। इस्लाम के दर्शन का तो निज

का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह यूनान की देन है लेकिन उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का श्रेय सूफी मत को है। इस्लाम के अधिकांश मनीषी सूफी मत के विरोध में भी आये। वे दर्शन की दृष्टि से शून्य थे, केवल कुरान या हदीस के कोरे पंडित थे। विवेक और मजहब का पूरा पाबन्द मुस्लिम सूफी ही हो सकता है। इस्लामी साहित्य में निहित दार्शनिक भावनायें भी सूफी-मत का ही प्रसाद हैं। साहित्य की उग्रता को प्रेममय रूप सूफी साहित्य ने ही दिया।

वास्तव में सूफी मत के प्रभाव से इस्लाम कोमल, कान्त और उदार हो गया। इस्लाम के रसूल और अल्लाह में भी सूफियों का पूरा-पूरा नूर और हक है। इस्लाम में सूफीमत का वह वर्षण है जो किसी भयंकर आंधी को शान्त कर पृथ्वी को सरस और प्रकृति को प्रसन्न कर देता है और जिसके प्रभाव से सृष्टि हरी-भरी हो उठती है और जिसके प्रभाव से फटे हृदय भी घुल-मिल कर एक हो जाते हैं। यदि उचित अवसर पर सूफी इस्लामी सम्प्रदायों में प्रेम का प्रचार न करते और आरिफ़ वादियों का मुंह तर्क से बन्द नहीं कर देते तो शायद इस्लाम का अन्त उसी के बन्दे परस्पर लड़भिड़ कर सहसा कर बैठते और उसके नाम के कुछ चिह्न ही अवशिष्ट रहते।

प्रश्न ३—सूफीमत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए ?

उत्तर—सूफी मत की प्राणप्रतिष्ठा इस्लाम के उदय से पूर्व ही हो चुकी थी। लेकिन इस्लाम के उदय के अनन्तर सूफी मत उसमें घुल-मिल गया। साथ ही अन्य मतों के सिद्धान्तों का प्रभाव भी सूफीमत पर पड़ा। यहाँ तक कि आर्य-धर्म के सिद्धान्तों ने भी सूफीमत पर अपना कुछ न कुछ रंग चढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि सूफीमत के कितने ही सम्प्रदाय तो इस्लाम से सदा ही भिन्न ही रहे। यही कारण है कि सूफीमत की आध्यात्मिक विचारधारायें एक नहीं हैं। सभी सम्प्रदायों में मतभेद है।

ईश्वर के सम्बन्ध में "इजादिया" सम्प्रदाय एकेश्वरवाद का समर्थक प्रतीत होता है तथा शुदूदिया सम्प्रदाय प्रतिबिम्बवाद या सर्वात्मवाद को मानता है जिसके अनुसार ईश्वर सब से परे होते हुए भी जगत् के प्रतिबिम्ब में दृष्टिगत होता है। वुजूदिया लोग केवल ईश्वर को ही मानते हैं तथा संसार की समस्त वस्तुओं में उसी की झलक देखते हैं। यही सूफियों का प्रधान एवं

मान्य मत है। सूफ़ी लोग आत्मचिन्तन के फलस्वरूप किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। सूफी सभी धर्मों से सहानुभूति रखते हैं क्योंकि सभी धर्मों में प्रकारान्तर से ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में यही मत है।

ईश्वर और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी सूफी लोग एक मत नहीं हैं। कुछ लोग तो ईश्वर को जगत् से परे होते हुए भी उसमें लीन मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जगत् में उसके अन्तरात्मा के रूप में परिव्याप्त है। इब्न अरबी ईश्वर और जगत् को समपरिमाण रूप मानता है। जिली ईश्वर और जगत् को भिन्न-भिन्न नहीं मानता अपितु ईश्वर भी जगत् रूप है। किन्तु हुज्विरी ईश्वर और जगत् को भिन्न-भिन्न कहता है और एकदेववाद का समर्थन करता है। परन्तु अधिकांश सूफी लोग ईश्वर को न जगत् के बाहर समझते हैं और न जगत् में लीन। वह भीतर भी है और बाहर भी। वास्तव में उसके स्वरूप का निर्धारण असम्भव है। अधिकाँश सूफियों ने ईश्वर को निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध स्वरूप एवं निरपेक्ष माना है। लेकिन वे परमात्मा के गुण रूप के भी समर्थक हैं। प्रधानत: सूफियों के अनुसार विश्व में वनस्पति, पशु, पक्षी, जीवजन्तु आदि जो कुछ गोचर है, वह उसी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की छाया मात्र है। सूफी उसी सौंदर्य की झलक पर मुग्ध हो उसके मूल स्रोत में मग्न होना चाहता है और उसी में तन्मय हो अपने को हक समझने लगता है।

कुरान में अल्लाह के जिन गुणों का विशद वर्णन है, सूफियों ने उनका विश्लेषण किया और उन्हें जगत, जमाल, जलाल और कमाल में विभक्त कर दिया। उन्हें हम क्रमश: सत्ता, माधुर्य, ऐश्वर्य तथा अद्भुत के रूप में देख सकते हैं।

सूफियों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर ने अपने गूढ़ रहस्य को व्यक्त करने की इच्छा से की है। हल्लाज के मत से सृष्टि ईश्वर के स्वत: स्फूर्त एवं अपरिमेय आनन्द का एक मूर्त विकासमात्र है। इसी कारण सूफियों ने सृष्टि को स्वप्न माना है। जिली का कथन है कि अल्लाह चन्द्रकान्त मणि के रूप में था। सृष्टि की कामना से उसने अपने स्वच्छ स्वरूप पर दृष्टिपात किया और वह द्रवीभूत होकर पानी के रूप में हो गया। जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भाँति ऊपर छा गया। उसी से सप्त पृथ्वी की रचना की गई। उसके सूक्ष्म तत्वों से सप्त लोक और फरिश्ते बने। सृष्टि के सम्बन्ध में अपने विचारों

को व्यक्त करने की शैली में ही भिन्नता है पर सभी सूफी यह मानते हैं कि ईश्वर ने सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। उसी आलोक ने बीज का रूप धारण किया और उसी से पृथ्वी, जल, वायु, एवं अग्नि नामक चार तत्वों की रचना हुई, फिर आकाश और तारे हुए। तदनन्तर सप्तभुवन; धातु, उद्भिज पदार्थ, जीवजन्तु एवं मानव की रचना हुई। जिनसे ब्रह्माण्ड बना और ब्रह्माण्डों से विश्व का सृजन किया।

सूफी 'मानव' को सृष्टि का चरम उत्कर्ष तथा ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। मानव शरीर में जड़ अंश का निर्माण पृथ्वी आदि तत्वों, और जड़ आत्मा अर्थात् नफ्स के समाहार से हुआ है और आध्यात्मिक अंश हृदम (कल्ब), आत्मा (रूह), ज्ञानशक्ति (सिर्र), उपलब्धि शक्ति (खफी) और अनुभूति शक्ति (आरूफा) के समाहार का फल है। नफ्स अर्थात् जड़ आत्मा मानव को पाप की ओर ले जाती है और रूह आत्मा की ईश्वरीय शक्ति का दर्शन हृदय के स्वच्छ दर्पण में कराती है।

सूफी मत में पूर्ण मानव की भी मान्यता है। पूर्ण मानव ही ईश्वर की एक मात्र पूर्ण अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मानव में परिपूर्णता का बीज सुप्तावस्था में पड़ा है। अतः इसमें ईश्वरीय गुणों के प्रस्फुटन की संभावना रहती है। मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव माने जाते हैं। इसी कारण मुहम्मदीय ज्ञान का विशेष महत्व है। सूफी साधुओं को भी पूर्ण मानव माना जाता है और उन्हें वली या 'पीर' कहा जाता है। धर्मप्रवर्तकों अर्थात् नबियों में भी पूर्ण मानव के गुणों का आरोप किया जाता है लेकिन ईश्वर के साक्षात्कार के लिए उसकी सहायता की अपेक्षा नहीं है। परन्तु सूफी मत में पीर या सद्गुरु की बड़ी मान्यता है।

सूफी लोग मानव जीवन की परिमिति 'फना' और 'बका' में मानते हैं। 'फ़ना' अभावबोधक और 'बका' भावबोधक है। हुज्विरी के अनुसार 'फ़ना' में जीव की अहंता नष्ट हो जाती है और 'बका' की दशा में ईश्वरीय रूप में जीव का अनुराग और उसकी आधीनता में अवस्थिति हो जाती है। लेकिन 'जिली' आदि सूफी 'फना' को ईश्वर में विलीन होना मानते हैं और 'बका' से तात्पर्य मानव का ईश्वर में अवस्थान होना है। कुछ सूफी ईश्वर और जगत् की भिन्नता को स्वीकार करते हुए 'जगन्मिथ्या' के समर्थक हैं। वे 'फना' का अर्थ मानवोचित गुणों का विलीन हो जाना समझते हैं और

'बका' से तात्पर्य ईश्वर में उसी प्रकार मिल जाना है जैसे जल के समाप्त होने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब उसमें मिल जाता है। सूफी 'फना' को मानवीय गुणों का नाश और 'बका' को ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति मानता है।

सूफी मत में साधना के सप्त सोपान माने गये हैं। ईश्वर को सत्तर हजार पर्दों के अन्तर्गत माना गया है। साधक अन्धकारपूर्ण पर्दों को पार करता हुआ सप्त सोपानों से प्रकाशमय पर्दों की ओर बढ़ता जाता है। इस साधना में उसमें से मानवीय गुणों का ह्रास और ईश्वरीय गुणों का आविर्भाव होता जाता है। कुछ सूफी लोग इन सप्त सोपानों के अतिरिक्त चार उच्चतर सोपान और मानते हैं। ये सप्त सोपान अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्रय, धैर्य, विश्वास और सन्तोष के नाम से प्रसिद्ध हैं। सातों सोपानों में प्रेम की बड़ी महत्ता है। प्रेम के अभाव में साधना सम्भव नहीं है। सप्त सोपानों की सिद्धि प्राप्त होने से साधक में अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है।

इन सप्त सोपानों के अनन्तर चार उच्चतर सोपानों को भी पार करना पड़ता है। जिसे सूफी लोग मुकामात कहते हैं। पहला मुकाम 'मारफत' है। जहाँ मानव-हृदय परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि अनुभूति के द्वारा कर लेता है। दूसरा सोपान वह है जहाँ प्रेम का उदय होता है। वह प्रेम वज्द या उन्माद का रूप धारण कर लेता है जिसे समाधि कहते हैं। उसी समाधि की दशा में आगे चलकर 'वस्ल' का अवसर प्राप्त होता है और यही दशा अभेदोपलब्धि सूचक है।

साधकों की कुछ अवस्थायें भी होती हैं जिन्हें हाल की संज्ञा दी गई है। 'हाल' की दशा में साधक अपनी ओर से निरपेक्ष होकर अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर देता है। साधक की प्रथम दशा 'नासूत' कहलाती है जिसमें वह 'शरीअत' का अनुसरण करता है। दूसरी दशा 'मलकूत' के नाम से अभिहित की जाती है। इसमें साधक तरीकत या उपासना में प्रवृत्त होता है। 'जबरूत' की दशा में वह 'आरिफ' बन जाता है और 'लाहूत' की दशा में पहुँचकर उसे हकीकत की उपलब्धि हो जाती है।

सूफी मत में शैतान की सत्ता भी मानी जाती है। जो साधक के मार्ग में व्याघात बन कर उपस्थित होता है किन्तु सूफी उसे हेय नहीं समझते हैं, अपितु उसे श्रेयस्कर मानते हैं तथा ईश्वर के द्वारा परीक्षण के लिए उसकी

सृष्टि स्वीकार करते हैं। उनके मत से शैतान उनकी साधना को और भी परिपक्व बना देता है।

सूफी लोग अपनी साधना में कतिपय क्रियाओं को अपनाते हैं। जिनमें नमाज, कुरान शरीफ का पारायण और अवराद अर्थात् चुने हुए भजनों का दैनिक पाठ प्रदर्शन से सम्बन्ध रखते हैं तथा आत्मनिग्रह, चिन्तन और मौन जप का सम्बन्ध हृदय और आत्मा के संयम से है।

सूफी मत में गुरु की बड़ी मान्यता है। गुरु का अन्धानुसरण भी श्रेयस्कर समझा जाता है। पीर, औलिया आदि की उपासना और मजार की पूजा तथा तीर्थयात्रा पर भी सूफियों का विश्वास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी मत में विभिन्न सम्प्रदाय होते हुए भी ईश्वर के निर्विकार एवं निर्विकल्प रूप की मान्यता है। जिसके साथ एकीकरण के लिए प्रेम की पीर का उदय होना आवश्यक है। अहंभाव की समाप्ति ही सफलता की कुँजी है। आत्मसमर्पण की भावना से ही ईश्वर का सक्षात्कार संभव है। मनुष्य अपनी इच्छा को लोप करने से अल्लाह में मिल जाता है। यही उसका 'अन-अल्-हक' है। यही तसव्वुफ का चरम उत्कर्ष और सूफी दर्शन की पराकाष्ठा है।

प्रश्न ४—सूफी साहित्य पर विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—कविता जीवन की रसात्मक अभिव्यक्ति है। अतः प्रत्येक देश की प्रत्येक भाषा में कविता का जन्म गद्य से पूर्व ही पाया जाता है। हृदय-वीणा के तार सुख-दुःखात्मक अनुभूति से झंकृत होकर कविता की सृष्टि करते हैं। उनके लिए दैवी प्रतिभा अपेक्षित है। इसी कारण 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि शब्दों के द्वारा कवि का सम्मान किया जाता है। अरबों में भी कवि की बड़ी प्रतिष्ठा है। जिस वंश में कवि का आविर्भाव होता है उसे अरबी लोग धन्य मानते हैं।

जैसा कि अभी कहा गया है कविता प्रत्येक भाषा में साहित्य के अन्य अंगों से पहले विकसित होती है। इसी प्रकार सूफी साहित्य में भी कविता पहिले लिखी गयी। किन्तु इस्लाम की संकीर्णता के कारण इस्लाम उदय से पूर्व का सूफी साहित्य उपलब्ध नहीं है, मुसलमानों ने पुरातन साहित्य को जलाकर इन्सान को 'कुरान' के भीतर घेर कर कविता के मुक्त क्षेत्र को समाप्त कर दिया। इसी कारण सूफी साहित्य में कविता पिछड़ गई और गद्य का स्वरूप

पहले प्रकट हुआ।

सूफ़ी साहित्य का प्रमुख और प्रधान अंग निबंध तथा दार्शनिक विचार-धाराओं की समीक्षा करने वाले ग्रन्थ हैं। ये निबन्ध तथा ग्रन्थ यद्यपि सूफियों के अध्यात्म का दर्शन कराते हैं तथापि इनमें भी वही संकुचित मनोवृत्ति काम करती है जो इस्लाम के समर्थन में सहायक है। स्वतन्त्र चिन्तन एवं आत्म-जिज्ञासा का अभाव है। इस्लाम के प्रभुत्व के कारण सूफियों ने इन ग्रन्थों को लिखने के लिए भी कुरान की भाषा अरबी को अपनाया। सूफी मत की प्रतिष्ठा में लिखे गए इन ग्रन्थों में गज्जाली का "इहयायउलूमुद्दीन" अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रभाव इतना हुआ कि प्रायः सभी विचारशील मुसलमान सूफ़ी हो गये। हल्लाज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "किताबुत्तवासीन" में सूफीमत का विशद वर्णन किया है, लेकिन सूफीमत का तात्विक विवेचन इब्न अरबी ने अत्यन्त गंभीरता के साथ अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फतूहात मक्कियां' और 'फुसु-हुल हिकम' में किया है। उसके ग्रन्थों में निर्भीकता एवं स्पष्टता के साथ तार्किक ढङ्ग से अद्वैत का प्रतिपादन सा दृष्टिगत होता है। अरबी के बाद गिली ने अपने निबन्ध 'इन्सानुलकामिल' में मुहम्मद साहब को ईश्वर सिद्ध कर दिया है। इनके अतिरिक्त कुरेशी का रिसाला और सुहर्वर्दी का 'अवारिफुलम्वारिफ' सूफीमत के प्रकाशस्तम्भ बनकर आये। महमूद शबिस्तरी ने अपनी फारसी की पुस्तक 'गुल्शने राज' द्वारा सूफीमत का रहस्योद्घाटन किया है। इराकी ने 'लमात' नामक चम्पू लिखकर साहित्य को एक नवीन शैली प्रदान की। इसके बाद कितने ही निबन्ध तथा ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु किसी में मौलिकता नहीं थी और न उसका विशेष महत्व ही है।

सूफी साहित्य का दूसरा अंग जीवन चरित्र हैं। अरबी तथा फारसी दोनों ही भाषाओं में प्रसिद्ध सूफी सन्तों की जीवनियाँ लिखी गईं जिन से सूफी मत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। साहित्य के इस अंग में अत्तार की "तजकिरातुल औलिया' नामक पुस्तक ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। यह पुस्तक सूफी मत के इतिहास को प्रकाश में लाने का गौरवमय कार्य करती है। दौलत शाह ने अपने ग्रन्थ 'तजकिरातुल शुअारा' में सूफी कवियों का परिचय देकर सूफी साहित्य की बड़ी सेवा की और जामी ने 'नफ़हातुल उंस' की रचना करके सूफी सन्तों से जगत् को परिचित कराया। इस प्रकार सूफियों में जीवनी लिखने की प्रणाली प्रचलित रही।

सूफी साहित्य का महत्वपूर्ण अङ्ग उनका काव्य है। सूफी मत प्रेम पर आधारित है। उसमें "इश्क मजाजी" से "इश्क हकीकी" की ओर संकेत मिलता है। इसी कारण श्रृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है। वास्तव में सूफी साहित्य के अन्य सभी अंग काव्य पर ही अवलम्बित हैं, क्योंकि सूफी काव्य ने जिस सत्य की प्राण प्रतिष्ठा सरल ढंग से की वह इस्लाम साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं है। इसका कारण यह है की सूफियों का काव्य काव्य के लिए नहीं था; अपितु प्रेमानुभूति की भावमयी अभिव्यक्ति थी। इसी से प्रतीकों के द्वारा लौकिक प्रेम का अवलम्बन लेकर अलौकिक प्रेम का आभास दिया गया है। सूफियों ने प्रतीकों को अन्योक्ति और समासोक्ति के आधार पर अपनाया है।

सूफी कवि और साधक प्रेम के परम उपासक थे। इसी कारण सूफियों ने अपने मत प्रतिपादन के लिए जिस प्रणाली को अपनाया उसमें उनका हृदय थिरकता दृष्टिगत होता है। मौलाना रूमी ने अपनी मसनवियों में कुरान का सार खींच कर रख दिया है और उन्हें सूफीमत का सर्वस्व बना दिया। तसव्वुफ में रूमी की वही प्रतिष्ठा है जो इस्लाम में कुरान की है। मसनवियाँ प्रेम की पीर को जगाने वाली हैं तथा साधक को पथभ्रष्ट होने से बचाती है। अत्तार ने अपनी मसनवियों में जीव की भोग वृत्ति का वर्णन करते हुए सद्गुरु की प्रेरणा और अन्तरात्मा की पुकार से उसका जागृत होकर ईश्वर की ओर उन्मुख होना दिखाया है तथा जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण प्रदर्शित किया है। वास्तव में रूमी और अत्तार ने सनाई द्वारा इंगित किए हुए तथ्य को मूर्त रूप दिया है।

मसनवियाँ हृदय पर सीधा प्रभाव डालकर प्रेम की ज्योति जगाती हैं लेकिन गज़लें प्रेम की तड़प उत्पन्न करके रह जाती हैं। गजलों के लिखने में फारिज ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। फारिज ने अपनी गजलों के द्वारा सूफी भावनाओं को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है। फारिज अरबी का एक मात्र सर्वश्रेष्ठ कवि है। किन्तु उसमें हाफिज के समान रोचकता और कोमलता नहीं मिलती। हाफिज की वाणी से ईरान बोलता है। वह फारसी का सच्चा कवि है। उसने लौकिक के आवरण में अलौकिक को भली भाँति लपेट लिया है।

रुबाइयों के क्षेत्र में उमर खय्याम अपनी समानता नहीं रखता। उसकी रुबाइयों के समक्ष फारस के समस्त कवि कान्तिहीन हो गये। उमर खय्याम की

रुबाइयाँ इतनी लोकप्रिय हुई कि संसार की प्रमुख भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। हिन्दी में भी कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने उमर खय्याम के खयालात का आस्वादन कराया है। खय्याम के काव्य में स्वच्छन्दता है, आनन्द की लहर है, मस्ती है और प्रेम का मधुर तराना है। उसने अपने आनन्दोन्माद में शेख, मुल्ला और काजियों पर बड़ी चुटीली चोटें की हैं। उमर खय्याम के बाद जामी ही सफल कवि हुआ है। उसके बाद फारसी में कोई प्रसिद्ध सूफी कवि नहीं हुआ।

भारत में सूफी काव्यधारा प्रवाहित हुई, उसमें गोलकुँडा के सुलतान मुहम्मदअली कुल कुतुबशाह, सुलतान अबुलहसन के दरबारी कवि तवई, बीजापुर के दरबारी कवि मुहम्मद नसरत, वली, मीर दर्द, मीर हसन, मीर तकी, अमीर खुसरो और डाक्टर मुहम्मद इकबाल ने जी भर कर गोते लगाये। अमीर खुसरो ने अपने काव्य के लिए फारसी भाषा को अपनाया और उसमें वह सरसता भर दी जिसके कारण कितने ही ईरानी उनके मुरीद बन गये।

हिन्दी में भी सूफी साहित्य का पर्याप्त सृजन हुआ। कुतुबन, मंझन, जायसी, नूरमुहम्मद आदि कितने ही कवियों ने हिन्दुओं की ऐतिहासिक और पौराणिक प्रेम कथाओं को अपना कर प्रतीक पद्धति पर सूफीमत की मधुर व्यंजना की है।

यद्यपि सूफी साहित्य का विश्व साहित्य में एक विशेष स्थान है किन्तु उसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। मादन भाव के अतिरिक्त और उसमें कुछ नहीं मिलता। यदि सूफी साहित्य से सुरति, सुरा, चमन, बुलबुल को निकाल दिया जाय तो कुछ भी न बचेगा। लेकिन इतने छोटे क्षेत्र में भी हृदय की वह सरस अभिव्यक्ति है जो विभोर कर देती है और प्रेम सागर में निमज्जित कर जीवन की ज्योति जगाने के लिए पर्याप्त है।

प्रश्न ५.—हिन्दी की सूफी प्रेम गाथाओं का परिचय देते हुए मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान निर्धारित कीजिए ?

उत्तर—हिन्दी की प्रेम गाथाओं के आरम्भ के समय के सम्बन्ध में निश्चितत: कुछ नहीं कहा जा सकता है। जायसी के पद्मावत की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर स्वप्नावती की रचना सर्वप्रथम मानी जाती है। वे पंक्तियाँ ये हैं:—

विक्रम धँसा प्रेम के वारा । सपनावति कहं गएउ पतारा ।
मधू पाछ मुगुधावती लागि । गगन पूर होइगा बैरागी ।।
राजकुंवर कंचनपुर गएउ । मिरगावति कहं जोगी भएउ ।
साधा कुँवर खंडावत जोगू । मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ।।
प्रेमावति कह सुरसरि साधा । ऊषा लगि अनिरुध वर बांधा ।

यद्यपि इन पंक्तियों में पाठ की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है लेकिन फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जायसी के पद्मावत से पूर्व कम से कम पांच प्रेम कहानियाँ अवश्य प्रचलित थीं । इन प्रेम-कथाओं के सम्बन्ध में भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका कोई लिखित रूप था अथवा मौखिक रूप से ही ये चलती रहीं । कुतबन कृत मिरगावती की खंडित प्रतियां अवश्य प्राप्त हैं । मधुमालती नाम के आधार पर मंझन, जान कवि तथा नसरती आदि की प्रेम गाथाएँ हिन्दी और फ़ारसी में पाई जाती हैं । चतुर्भुज दास की मधुमालती की प्रेम कथा भी नागरी प्रचारिणी सभा काशी को प्राप्त हुई है । सपनावती या चम्पावत, प्रेमावती या खंडरावती नामक रचनाओं का कोई पता नहीं है । इस प्रकार कुतुबन की मिरगावति ही सर्व प्रथम प्रेमगाथा ठहरती है । उससे पूर्व भी सामन्तों की प्रेमगाथायें हिन्दी साहित्य में मिलती हैं; लेकिन उनका उद्देश्य किसी मत विशेष का प्रतिपादन या सम्प्रदाय विशेष का समर्थन नहीं होता था । अतः वे इन प्रेम-कथाओं की कोटि में नहीं आ सकतीं ।

मलिक मुहम्मद जायसी के अनन्तर प्रेम-गाथाओं की एक परम्परा कुछ काल तक चलती रही । गाजीपुर के शेख हुसैन ने चित्रावली नामक प्रेम-गाथा की रचना की जिसमें नेपाल नरेश धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर के राजा चित्रसेन की दुहिता चित्रावली की कथा वर्णित है । नूर मुहम्मद ने इन्द्रावत नामक प्रेम कहानी की रचना की । इसी परम्परा में मंझन की मधुमालती, जानकवि की कनकावति, कामलता, मधुकर मालति तथा छीता कवि की रचनायें प्रसिद्ध हैं । कासिम शाह ने १८वीं शताब्दी में हंस जवाहर की रचना की । बीसवीं शताब्दी में भी ख्वाजा अहमद ने नूरजहाँ और शेख रहीम ने प्रेम रस तथा कवि नसीर ने प्रेम दर्पण की रचना की ।

ये प्रेम गाथायें पाँच श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं । जिनमें कुछ तो पौराणिक प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गई थीं—जैसे राधा कृष्ण, उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती आदि । कुछ कहानियाँ लोक-गीतों में

प्रचलित ढोला-मारू की प्रेम कथा के आधार पर लिखी गईं। कुछ जैनियों के पौराणिक व्याख्यानों के आधार पर लिखी गईं। कुछ का आधार वीर गाथा काल की प्रेम कहानियाँ थीं और कुछ में इतिहास तथा कल्पना का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। जायसी का पद्मावत इतिहास और कल्पना के आधार पर लिखा गया है

सूफी प्रेम-गाथाओं में भारतीय संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का सुन्दर समावेश मिलता है। सूफियों ने अपने प्रेम सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जो साधन अपनाया वह भारतीय संस्कृति के अनुकूल होते हुए भी इस्लामी शैली लिये हुए था। इन प्रेम गाथाओं की अपनी निजी विशेषतायें थीं। सूफी प्रेम कहानियों की विशेषता यह है कि उनमें साँसारिक प्रेम के द्वारा ईश्वरीय प्रेम सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इस प्रेम का आधार है सौन्दर्य। जिसमें अल्लाह के नूर का दर्शन किया गया है। इसीलिए सूफी काव्य सौन्दर्य-वर्णन से ओत-प्रोत है। सौन्दर्य पर अनुरक्त होकर प्रेमी प्रेम-पथ पर अग्रसर होता है और मनुष्य, परी, देव या पक्षी उनका पथ-प्रदर्शन करता है। मार्ग की अनेकों कठिनाइयों के बाद प्रेम प्राप्त करता है। इन काल्पनिक कहानियों के रूपक का उद्घाटन भी प्रायः सभी कवियों ने कर दिया।

ये प्रेम कथायें मसनवी पद्धति पर लिखी गयी हैं अर्थात् इनमें क्रमशः खुदा, मुहम्मद, तत्कालीन सम्राट्, कवि तथा पात्रों का परिचय देने के बाद कथा आरम्भ होती है। कथा के बीच में विरह की तीव्र व्यंजना करते हुए बारह मास आदि का मार्मिक वर्णन मिलता है। ये प्रेम कथायें अधिकांशतः अवधी भाषा में लिखी गई हैं केवल जान कवि ने व्रजभाषा को अपनाया है। दोहे और चौपाइयों को भाव-व्यंजना का वाहन चुना गया है। कहीं-कही चौपाइ और बरवै भी मिलते हैं।

वैसे तो सूफी साहित्य में प्रेम गाथाओं की परम्परा बीसवीं शताब्दी तक चलती रही, किन्तु जितना प्रभाव जायसी के काव्य का पड़ा उतना किसी अन्य कवि का नहीं। सूफी सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए अपनी प्रेम कथा में अन्योक्ति का जैसा सुन्दर निर्वाह जायसी ने किया है, वैसा अन्य कोई कवि नहीं कर पाया है। जायसी के काव्य में हृदय को स्पर्श करने की पूर्ण शक्ति है। उसमें विरह की तीव्र अनुभूति है। पद्मावती का रूप वर्णन और रत्नसिंह की साधना सूफी साहित्य की गौरवमय कलाकृति है। जायसी की भाषा में यद्यपि ग्रामीण

जीवन का पुट अवश्य मिलता है लेकिन प्रांजलता और परिपक्वता का भी अभाव नहीं है। जायसी की समानता में यदि किसी को खड़ा भी किया जा सकता है वह जान कवि है। लेकिन जान कवि में भी वह जान नहीं है जो जायसी में मिलती है। यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो यही कहेंगे कि सूफी काव्य की सारी विशेषतायें जायसी में वर्तमान हैं और जायसी के काव्य से ही सूफी साहित्य का गौरवमय स्थान है।

प्रश्न ६—सूफी कवियों की रहस्यात्मक भावनाओं का दिग्दर्शन कराते हुए जायसी के रहस्य का विवेचन कीजिए।

उत्तर—डा० रामकुमार वर्मा जी ने रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखा है कि रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसके द्वारा वह उस असीम सत्ता के साथ अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है और वह सम्बन्ध इतना दृढ़ हो जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। आचार्य शुक्ल 'साधना के क्षेत्र में अद्वैतवाद को भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद' कहते हैं।

लेकिन प्रश्न तो यह है कि इसको रहस्यवाद कहा क्यों जाता है। वास्तव में परमात्मा की अनुभूति एक रहस्यमय वस्तु है और तज्जनित आनन्द की अभिव्यक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कोई गूंगा सुस्वादु मधुर पदार्थ के स्वाद का वर्णन इंगितों से करने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि उसमें अस्पष्टता, अक्रमबद्धता और अटपटापन रहता है। इसलिए इसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। कबीर ने लिखा है कि:—

अकथ कहानी प्रेम की, कछू कहा न जाय।
गूँगे केरी सरकरा, खावै अरु मुस्काय॥

यही दशा प्रेमी की परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त आनन्द को अभिव्यक्त करने में होती है। वह आनन्द अतीन्द्रिय होता है। अतः भाषा उसका वर्णन नहीं कर सकती, इसलिए वह वर्णन रहस्यमय हो जाता है।

सूफी साधक प्रेमी होता है। जब उसे यह भान होता है कि मैं अतीन्द्रिय, अगोचर और अशेष परमात्मा का एक अंश हूँ तो वह उससे मिलने के लिए आतुर हो जाता है और अपने को उसमें खो देता है। उसकी दशा यह हो जाती है कि वह उसी में लीन होकर परमतत्व की अनुभूति करने लगता है। उससे उसे जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, उसे वह व्यक्त करना

चाहता है, उससे रहा नहीं जाता। किन्तु उसे व्यक्त करने की क्षमता उसमें होती नहीं है, इसलिए प्रतीकों का सहारा लेता है।

जीवात्मा खुदा के नूर की ओर आकृष्ट होती है। इसी कारण लौकिक कहानियों में सौन्दर्य की बड़ी महत्ता है। जिस प्रकार चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन या गुण श्रवण द्वारा प्रेमी प्रेमपात्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और उसके विरह में व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पीर या गुरु द्वारा पथ प्रदर्शित किये जाने पर परमात्मा से मिलने के लिए तड़प उठती है। जिस प्रकार अनेकों विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर के प्रेमी प्रेमपात्र से मिलकर आनन्द विभोर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा के मिलन की अनुभूति से आनन्दमग्न हो जाती है।

सूफियों के रहस्यवाद में विरह की तीव्र अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा के सौन्दर्य की एक झलक मात्र आत्मा के हृदय में विरह की चिनगारी प्रज्वलित कर देती है। वह जैसे-जैसे एकान्त चिन्तन, सत्संग एवं गम्भीर विचार द्वारा उसके मिलन की रूपरेखा तैयार करती है, वैसे ही वैसे विरहाग्नि तीव्रता से बढ़ने लगती है और मूर्छा का कारण बनती है। इसी कारण सूफी प्रेम-कथाओं में प्रेमी प्रेमपात्र का सौन्दर्य वर्णन सुनकर मूर्छित होते हुए दिखाये गये हैं। वास्तव में विरह में अमरत्व का गुण है और वह प्रेम का सार है। सूफियों द्वारा वर्णित प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है और विश्व के मूलाधार ब्रह्म के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण चरम प्रीति के रूप में सभी के हृदयों में उत्पन्न हो सकता है। सूफीमत के अनुसार वियुक्त जीव में विरह व्यथा अनिवार्य है।

सूफी कवियों ने प्रेमी के पथ की बाधाओं का वर्णन किया है। प्रेमी के प्रेममार्ग में अनेकों दैवी एवं सांसारिक बाधायें आती हैं। नदी, वन, पर्वत, हिंसक जन्तु आदि के अतिरिक्त उसे संसार के प्रलोभन भी आकृष्ट करना चाहते हैं किन्तु वह सब की अवहेलना करता हुआ आगे बढ़ता ही जाता है और जब तक उसे परमात्मा के शुभ आलोक के दर्शन नहीं होते, तब तक विश्राम नहीं लेता।

प्रेम के पथ में सूफी कवियों ने सप्त सोपानों की कल्पना की है जिन्हें वे मुकामात कहते हैं। पहली दशा में प्रेम का भाव जागृत होता है, दूसरी अवस्था विरह की जननी होती है। तीसरी दशा चित्तवृत्ति निरोध की होती

है। चतुर्थ सोपान पर ज्ञान प्राप्त होता है। पाँचवी दशा तन्मयता की है। छठी दशा में वह सत्य के निकट पहुंच जाता है और अन्त में मिलन होता है। इनको क्रमशः अबूदिया, इश्क, जहद, म्वारिफ, वज्द, हकीक और वस्ल कहते हैं।

वस्ल प्रेम की अन्तिम दशा है। जहाँ पहुंचकर आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इस प्रकार प्रधानतः सूफी रहस्यवाद के तीन अंग हैं। प्रथम विरहावस्था, दूसरी प्रयत्नावस्था और तीसरी मिलन की अवस्था। यहीं आकर आत्मा की लक्ष्य सिद्धि हो जाती है और रहस्य की रहस्यात्मक अनुभूति रहस्यमयी वाणी द्वारा अभिव्यक्त होकर रहस्यवाद का रूप धारण करती है।

जायसी में सूफी रहस्यवाद पूर्ण रूपेण पाया जाता है। लेकिन जायसी भारत के कवि थे। अतः अद्वैतवादी विचारधाराओं से भी पूर्ण प्रभावित हुए हैं यद्यपि उनका रत्नसेन हीरामनि द्वारा पद्मिनी का सौन्दर्य वर्णन सुनकर विरहाकुल हो उठा है। तथापि उनकी आत्मा ने प्रकृति के पदार्थों में ही ईश्वरीय भक्त का दर्शन किया है। उन्होंने प्रकृति के कण-कण में परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की झलक देखी है:—

रवि ससि, नखत दिपहिं ओहि जोति। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहं तहं बिहंसि सुभावहिं हंसी। तहं तहं छिटकि जोती परगसी॥
नयन जों देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति जग हीर॥

प्रकृति में दृष्टिगत होने वाली दीप्ति उसी दीप्ति का प्रसाद है। पद्मावत में रत्नसेन पद्मावती से यही कहते हैं:—

अनु धनि तू निसिअर निसि मांहा। हौं दिनिअर जैहि के तू छांहा॥
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज के जोति चाँद निरमरा॥

जायसी ने यद्यपि यह दिखाया है कि परमात्मा की ज्योति ही हमें सर्वत्र लक्षित होती है तथापि उन्होंने अपने अन्तर को भी परमात्मा के प्रकाश से शून्य नहीं माना है। उनका कथन है कि परमब्रह्म परमात्मा हृदय में ही है केवल उससे साक्षात्कार कराने वाले की आवश्यकता है :—

पिउ हिरदय महं भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।

जिस दिन जीव को यह पता चल जाता है, उसी दिन वह विरह की ज्वाला में दग्ध होने लगता है और उसे सभी उसके प्रेमबाण से विद्ध दिखाई देने लगते हैं:—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरो संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गनै । वै सब बान ओहि के हनै ॥

× × ×

बरुनि चाप अरु ओपहं ,बेधे रन बन टांख ।
सौ जहि तन सब रोवां, पांखिहि तन सब पांख ॥

जब उसे यह आभास होता है तो वियोग का पसार भी उसे जगत् में दिखाई देने लगता है । वह पृथ्वी और स्वर्ग के वियोग तत्व को समझकर अपने विरह को सारी सृष्टि में फैलते हुए देखता है । सायंकालीन तथा प्रभात-कालीन लाली में भी वियोगाग्नि की लपट उसे दिखाई देती है । जिसका वर्णन जायसी ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ किया है । जायसी की तीव्र विरहानुभूति बहुत कम कवियों में पाई जाती है। प्रेम में ही विरह निवास करता है :—

"पेमहि मांह विरह सरसा । मैन के घर मधु अमृत बसा ।

इस विरह की चरम अनुभूति ही मानस में प्रियतम के सामीप्य को दृष्टिगत कराती है और उससे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह विश्व में व्याप्त दिखाई देता है :—

देखि मान सर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
भा अंधियार रैन मसि छूटी । भा भिनुसार किरन रवि फूटी ॥
कंवल विगस तज विहंसी देही । भवर दसन होई कै रस लेही ॥

इस प्रकार आनन्द की सरस धारा में आत्मा परिप्लावित हो गई । अपनी प्रेम-कथा 'पद्मावत' में भी रत्नसेन और पद्मिनी के मिलन द्वारा आत्मा और परमात्मा के मिलन का आभास दिया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी का रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद के अनुकूल है । साथ ही उसमें भारतीय अद्वैतवाद की भी झलक है । आचार्य शुक्ल का यह कथन जायसी के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य है कि हिन्दी के कवियों

में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊंची कोटि की है।

प्रश्न ७—जायसी ने प्रेम-गाथा द्वारा सूफी साधक के प्रेम तत्व का विश्लेषण किया है। इस कथन के आधार पर पद्मावत की मूल भावना का परिचय दीजिए।

उत्तर—सूफी मत की मूल भावना प्रेम की भावना है। इश्क मजाजी के द्वारा इश्क हकीकी तक पहुंचा जाता है। इसी कारण सूफियों ने लौकिक प्रेम-कथाओं को अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया है। जायसी ने भी पद्मिनी और रत्नसेन की प्रेम-कथा के द्वारा यह व्यक्त किया है कि किस प्रकार आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए तत्पर होती है। जायसी ने अपनी कथा के अन्त में उसे अन्योक्ति कह दिया है तथा उसका आध्यात्मिक परिचय दे दिया है। साथ ही कथा के मध्य भाग में भी पार्थिव प्रतिबन्ध से परे आध्यात्मिक प्रेम का संकेत करते गये हैं। प्रेम के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों में उसी सत्ता की ओर इंगित किया गया है, जिसकी छाया में सारा जगत् रहता है। जायसी को उसी के विरह की अग्नि में सारा संसार जलता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

बिरह के आगि सूर जरि कांपा, रातिउ दिवस जरै ओहि तापा।

अग्नि, पवन आदि सभी उसी परम प्रिय के प्रेम में लीन होकर उसकी ओर बढ़ रहे हैं, किन्तु उस तक पहुंचने के लिए साधना की पूर्णता अपेक्षित है। जायसी ने जिस रूप-सौंदर्य का वर्णन किया है, वह भी लौकिक न होकर पारलौकिकता का आभास देता है। इसीलिए जगत् के सभी जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, पृथ्वी-आकाश उसके प्रेम-बाण से विद्ध हो जाते हैं और उसके विरह में जलते हैं।

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि-रहा सगरौ संसारा।
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी॥
बरुनि बान अस ओपंह, बेधे रन, बन ढांख।
सो जहि तन सब रोवां, पांखिहि तन सब पांख॥

राजा रत्नसेन पद्मावती के विरह में आकुल होकर जो प्रयत्न करता है,

उसमें जायसी ने आत्मा द्वारा परमात्मा से मिलने के लिए किए गये प्रयत्नों की व्यंजना की है। रत्नसेन साधक है और पद्मिनी है चैतन्य स्वरूप ब्रह्म, जिनको मिलाने वाला सुआ सद्गुरु की भूमिका में है। साधक के पथ में व्याघात बनकर आने वाला सांसारिक जंजाल नागमती है। शरीर चित्तौड़गढ़ है और मन है उसका नरेश। राघव चेतन शैतान बनकर प्रेम के पथ से साधक को भ्रष्ट करता है तथा अलाउद्दीन माया का काम करता है। इस प्रकार पद्मावत की सारी कथा व्यंग्य है जिसका उल्लेख जायसी ने इन शब्दों में किया है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियां धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अल्लादीन सुलतानू॥

यद्यपि जायसी ने अपनी कथा के मूल अर्थ का आभास अन्त में देने की चेष्टा की है और उसे एक अन्योक्ति बताया है तथापि कतिपय स्थल कथा में ऐसे हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता दृष्टिगत होती है। उन स्थलों पर व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से समासोक्ति मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उदाहरण के लिए हम सिंहलगढ़ की दुर्गमता और सिंहलद्वीप के मार्ग के वर्णन एवं रत्नसेन के लोभ के कारण तूफान में पड़ने और लंका के राक्षस द्वारा बहकाये जाने वाली घटनाओं को ले सकते हैं। रत्नसिंह के दिल्ली में कैद हो जाने पर पद्मावती ने जो विलाप किया है, वह भी समासोक्ति की सीमा में आयेगा।

कथा-प्रसंग में भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यंजना अन्योक्ति द्वारा की गई है।

सूर उदय गिरि चढ़त भुलाना। गहनै गहा, कंवल कुंभिलाना।

इस अप्रस्तुत कथन द्वारा राजा रत्नसेन द्वारा सिंहल की चढ़ाई तथा उसका कैद हो जाना ही व्यंजित किया गया है।

कथन का अर्थ यह है कि प्रबन्ध में प्रस्तुत वर्णन में आध्यात्मिक भाव की व्यंजना प्रायः सर्वत्र सामासोक्ति के आधार पर ही की गई है। लेकिन अभि-

वेयार्थ में जहाँ किसी भाव की व्यंजना नहीं है वहां वस्तु व्यंजना ही स्पष्ट दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं दोनों पक्षों (लौकिक और पारलौकिक) में मधुर भाव की व्यंजना दिखाई देती है।

पिउ हिरदय में भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौ केहि रोई।

पद्मावती के इन वचनों में विषाद और औत्सुक्य की व्यंजना है। पारलौकिक पक्ष में भी इन्हीं भावों की व्यंजना मिलती है।

उपर्युक्त कथन में वाच्यार्थ के जानने के साथ ही पद्मावती और रत्नसेन के पक्ष में उक्त दोनों भावों की प्रतीति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य द्वारा हो जाती है। साथ ही लक्ष्यक्रम व्यंग्य से आध्यात्मिक पक्ष में भी उक्त भाव व्यंजित हो जाते हैं, जब कि यह भावना प्रकट होती है कि 'ईश्वर तो अन्तःकरण में ही है।' लेकिन साक्षात्कार नहीं होता। किस गुरु से कहा जाय जो साक्षात्कार करा दे। कहने का अर्थ यह है कि लौकिक अर्थ से पारलौकिक अर्थ की उपलब्धि वस्तु व्यंजना द्वारा ही होती है जिसमें अर्थ शक्ति के उद्भव की ही निर्भरता है। जायसी में इसी का बाहुल्य है। श्लेष द्वारा अपने भावों को जायसी ने बहुत कम व्यक्त किया है। यथाः—

जे एहि खार-समुद मँह परे। जीव गंवाइ हंस होई ररे।

यहां 'हंस' शब्द में श्लेष है जो पक्षी विशेष और शुद्ध आत्मा का अर्थ प्रकट करता है।

जायसी ने अपनी कथा में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक भाव को प्रकट किया है। हीरामन तोते द्वारा पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन सुनकर रत्नसेन का मूर्च्छित हो जाना साधक की समाधि अवस्था का सूचक है। प्रेमी या साधक समाधि की दशा में दिव्य ज्योति के सान्निध्य में आता है और उसे एक आनन्दमयी अनुभूति होती है, जिसको जायसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया हैः—

आवत जग जग बालक रोवा। उठा रोइ हा ज्ञान सो खोवा।
हौं तो आहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएउ कहां?
कोई उपकार मरन कर कीन्हा। सकति हंकारि जीउ हरि लीन्हा॥

वास्तव में ईश्वर के सान्निध्य से प्राप्त आनन्द अलौकिक है और जब

जीव उससे भिन्न होकर संसार में आता है तो उसकी स्मृति मात्र से रो पड़ता है।

राजा रत्नसेन सिंहल के सातवें समुद्र में पहुंचकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है और आनन्द की धारा में आवागमन करने लगता है। राजा का यह आनन्द साधक का वह आनन्द है जो उसे साध्य के निकट पहुँचकर सांसारिक सन्ताप के नष्ट होने पर प्राप्त होता है। उस समय आत्मा ब्रह्म की आनन्दमयी ज्योति के दर्शन से अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करती हुई दिखाई देती है :—

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
भा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरन रबि फूटी॥
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले। अंध जो अहै नैन विधि खोले॥

इस प्रकार यह आनन्द विश्व के कण-कण में परिव्याप्त है।

जिस समय रत्नसिंह मन्दिर में पद्मावती के दर्शन से मूर्च्छित हो जाता है उस समय कवि ने ईश्वर की साधक के सामने हर समय उपस्थिति की सूचना दी है। साधक केवल माया में लिप्त होने के कारण उसका दर्शन नहीं कर पाता है। जो माया से सचेत रहता है उसी को दर्शन का लाभ हो सकता है:—

तबहु न जागा, गा तू सोई। जागे भेंट सोए न होई।

हीरामन के मुख से सिंहलद्वीप और पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर राजा का बेसुध होना और चैतन्य होकर उसी ओर अपने चित्त को लीन करना सच्चे जिज्ञासु का ब्रह्म-ज्योति का आभास पाकर उसकी ओर प्रवृत्त होना है। साथ ही उसके मार्ग का वर्णन साधक के मार्ग के अनुरूप ही हुआ है। जिसमें अनेकों विघ्नों को नदी, पहाड़, वन की तथा काम, क्रोध, मोहादि को बटमार की संज्ञा दी है।

इसी प्रकार जायसी ने सिंहलगढ़ के वर्णन में हठयोग के विभागों के अनुसार शरीर का वर्णन किया है:—

"गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेहि पावा तेहिं आपुहि चीन्हे॥

नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा । औ तंह फिरहिं पांच कोतवारा ॥
दसहुं दुआर गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव बाट सुधि बांका ॥
भेदे जाइ कोइ वह घाटी । जो लेइ भेद चढ़ होइ चांटी ॥
गढ़तर कुंड सुरंग तेहि माहां । तँह वह पंथ कहौ तोहि पाहां ॥
दसहुं दुआर ताल कै लेखा । उलटि दिस्ट जो लाय सो देखा ॥

इन पंक्तियों में हठयोग की साधना का पूरा वर्णन है । नौ पौरी नाक, कान आदि नव द्वार हैं। दशम द्वार है ब्रह्मरन्ध्र । काम-क्रोधादि पाँच कोतवाल हैं । गढ़ के नीचे का कुण्ड नाभिकुण्ड है, जहां कुण्डलिनी है । उससे गई हुई, सुरंग सुषुम्णा नाड़ी है जो ब्रह्मरन्ध्र तक चली गई है। जहाँ तक पहुँचने के लिये साधक को संसार से ध्यान हटाकर उसमें एकाग्र होना पड़ता है। यह तो हुई हठयोग की प्रक्रिया। साथ ही जायसी ने "चारि वसैरे सौ चढ़ै, सतसों उतरे पार" के द्वारा सूफी साधकों की चारों अवस्थाओं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी ने एक ओर तो लौकिक पक्ष का वर्णन किया है और दूसरी ओर आध्यात्मिकता की ओर भी संकेत किया है। अपनी प्रेम-कथा द्वारा इतिहास और कल्पना के सहयोग से सूफी साधक के प्रेम तत्व का विश्लेषण करने में जायसी सफल हुए हैं। उनका इश्क मजाजी इश्क-हकीकी तक पहुँचने का एक सोपान है।

प्रश्न ८—"जायसी का विरह वर्णन अत्यन्त सजीव और हृदय-स्पर्शी है।" इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

उत्तर—विरह वर्णन की उत्कृष्टता उसके प्रभाव के आधार पर होती है। जो विरह वर्णन पाठक को भी विरहानुभूति से पीड़ित कर दे वही उच्च कोटि का समझा जाता है । जायसी ने पद्मावत में जिस विरह का वर्णन किया है वह ऐसा ही है।

जायसी के विरह वर्णन में वह अत्युक्ति नहीं है, जो अस्वाभाविक और उपहास जनक हो। केवल एक दो स्थल ही ऐसे हैं जहाँ जायसी ने ऊहात्मक पद्धति का आश्रय लिया है। यथा राजा की प्रेम पत्रिका के इस वर्णन में:—

"आखर जरहिं न काहू छुआ। तब दुख देखि चला लेइ सूआ ॥

जहाँ पर अत्युक्ति है। यह विरह की मात्रा वर्णन में नहीं है अपितु हृदय पर विरह ताप का प्रभाव कितना है यह दिखाने के लिए है, जो अत्यन्त प्रभावशाली और मार्मिक है। निम्नलिखित पंक्तियों ने विरह के कठिन दुःख की पूर्ण व्यंजना तो कराई ही है, साथ ही यह भी प्रकट किया है कि विरह ताप असह्य होने पर भी उससे अलग होने को जी नहीं चाहता:—

जरत वजागिन करु, पिउ छाँहा। आइ बुझाउ अंगारन मांहा ॥
लागिउ जरै जरै जस भारू। फिरि भूंजेसि तजिउं न बारू ॥

जिस प्रकार भाड़ की तप्त बालू में भुनकर अन्न का दाना पुनः उसी में गिर पड़ता है उसी प्रकार प्रेम की दशा घोर यंत्रणामय है, फिर भी हृदय उसमें से निकलना नहीं चाहता। विरह का कितना मार्मिक वर्णन है। जायसी ने जहाँ भी ऊहा से काम लिया है, अस्वाभाविकता को नहीं आने दिया अपितु सामान्य और प्रकृत वातावरण में ही उसे रक्खा है।

जायसी ने विरह ताप की अधिकता को दिखाने के लिए जहाँ ऊहात्मक शैली को अपनाया है वहाँ आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य ही है केवल हेतु की कल्पना की गई है। दूसरे शब्दों में हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया गया ह। यथा:—

आप परजरा विरह बन गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा ॥
दाधा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा ॥
औ सब नखत तराइं जरहीं। टूटत लूक, धरति मँह परहीं ॥
जरे सो धरती ठावहिं ठाऊं। दहकि पलास जरै तेहिं दाऊँ ॥

इन पंक्तियों में सारी बातें सत्य हैं। कवि ने केवल कारण की कल्पना की है और इस प्रकार विरह ताप के आधिक्य को व्यंजित किया है।

जायसी के विरह का प्रसार सारे विश्व में है। इसी कारण नागमती के अश्रु सारे संसार को भिगोने वाले हैं।

कुहुकि कुहुकि जस कोयल रोई। रकत आंसु घुंघची बन बोई ॥
जंह जंह ठाढ़ि होई वनवासी। तंह तंह होइ घुँघुचि कै रासी ॥
बूंद बूंद मंह जानऊ जीऊ। गुंजा गुंजा करै पिउ पीऊ ॥

एक पटरानी का इस प्रकार साधारण स्त्री की भांति वन-उपवन में पशु-पक्षियों के समक्ष पेड़-पेड़ के नीचे रोना कितना करुणाजनक है। जायसी का यह वियोग-वर्णन हिन्दी साहित्य में निरुपम है।

विप्रलम्भ शृंगार में उन्माद का भी वर्णन किया जाता है। विरही को तापाधिक्य के कारण जड़ और चेतन का भान नहीं रहता। विरही अपने प्रियतम से मिलने के लिए जड़ पदार्थों से भी प्रार्थना करता है। नागमती भी वन-उपवनों में रोती फिरती है। जिस के कारण बेचारे पक्षियों का सोना भा कठिन हो गया है—

"फिरि फिरि रोब कोइ नहि डोला। आधी रात विहंगम बोला॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पांखी। केहि दुख रैनि न लावहि आंखी॥

परिणाम यह होता है कि पशु-पक्षी भी नागमती के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। साहित्य में कहीं भी जायसी की इस भावना के समान भावना दृष्टि-गत नहीं होती। एक पक्षी करुणाद्रवित होकर नागमती से उसके दुःख का कारण पूछता है। जिसका उत्तर नागमती इन शब्दों में देती है :—

चारिउ चक्र उजार भए, कोई न सन्देसा टेक।
कहौं विरह दुख आपन, बैठि सुनहु दंड एक॥

नागमती ने पद्मावती के लिए जो सन्देशा भेजा है, वह भी अत्यन्त मर्म-स्पर्शी है। उसमें नम्रता और शीतलता के साथ निस्वार्थ विशुद्ध प्रेम की झलक मिलती है—

हमहूं बिआही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानि पर जीऊ॥
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दिष्टि के चाहन हारी॥

केवल दर्शन की लालसा है और कुछ नहीं। कितना महान उत्सर्ग है।

वियोग कीदशा में सर्वत्र उदासीनता ही दिखाई देती है। नागमतीके वियोग में भी सभी जीव उदासीन हैं। यहाँ तक कि पेड़-पौधे भी मुरझा गये हैं। विकसित पद्मिनी भी नागमती के वियोग में मुरझा गई है, जिसके कारण यह दशा हो गई है—

कंवल सूख पंखुरी बिहरानी। गलि गलि कै मिलि छार है रानी॥

जायसी ने यद्यपि विरह-वर्णन में भारतीय पद्धति का आश्रय लिया है

तथापि उन पर फारसी साहित्य का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा है। वियोग-वर्णन में रक्त-माँस आदि का वर्णन करके बीभत्स चित्र उपस्थित करना भारतीय पद्धति के सर्वथा विपरीत है। इससे भाव की तीव्रता एवं प्रभाव-पूर्णता में भी कोई सहायता नहीं मिलती। जायसी में यह भावना पाई जाती है—

बिरह सरागन्हि भूजै मांसू। गिरि गिरि परै रकत कै आंसू ॥
कटि कटि मांसु सराग पिरोवा। रकत कै आंसु मांसु सब रोवा ॥
खिन एक बार मांसु अस भूंजा। खिनहि चबाह सिंह अस भूंजा ॥

ऐसे वर्णन हिन्दी साहित्य में नहीं मिलते। यह तो फारसी साहित्य के लिए ही मुबारिक रहे क्योंकि ऐसे वर्णन रस का ह्रास ही करते हैं।

विरह-वर्णन में कृशता का भी समावेश है। कृशता के वर्णन में रीति-कालीन कवियों ने इतनी ऊहा से काम लिया है कि उसे पढ़कर सहानुभूति उत्पन्न होने की अपेक्षा हंसी ही आती है। किन्तु जायसी की कृशता के वर्णन को पढ़कर हृदय द्रवित होने लगता है—

दहि कोइला भइ कंत सनेहा। तोला मांसु रही नहीं देहा।
रकत न रहा विरह तन जरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा।
हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब तांति।
रोवं रोवं ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भांति ॥

हिन्दी कवियों ने विरह-वर्णन करते समय षट्ऋतु और बारह मासों का वर्णन भी किया है। जिसके द्वारा विरह में उद्दीपन होता है। संयोगकालीन सुखद वस्तुयें वेदनाजनक हो जाती हैं। जायसी ने भी बारह मासों का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया है, जिसमें वेदना की निर्मलता, भारतीय दाम्पत्य जीवन की मधुरता अत्यन्त प्रौढ़, स्निग्ध और मधुर भाषा में वर्णित है। प्राकृतिक दृश्यों का कैसा प्रभाव होता है, इसको सहृदय कवि जायसी ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

चढ़ा आषाढ़, गगन घन गाजा। साजा विरह दुंद दल बाजा ॥
धूम, साम, धौरे घन आये। सेत धजा बग पांति देखाये ॥
खड़ग बीजु चमकै चहुं ओरा। बुन्द बान बरसहिं चहुं ओरा ॥

आषाढ़ के घन विरहिणी को सज्जित सेना सहित बाण वर्षा करने वाले शत्रु प्रतीत होते हैं।

नागमती के विरह वर्णन में जायसी की भावुकता पूर्णतः प्रकट हुई है। इसका कारण यह है कि उनकी नागमती एक महिषी न होकर विरह की दशा में एक साधारण स्त्रीमात्र हो गई है। इसी कारण एक सामान्य स्थिति की हिन्दू गृहिणी के वियोग-शृंगार का समुज्ज्वल रूप हमें जायसी के विरह वर्णन में देखने को मिलता है। वर्षा के आगमन पर एक विरहिणी के मन में कैसी भावना उदित होती है :—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा ॥

इस प्रकार इस विरह में हिन्दू जीवन की पूर्ण मर्यादा निहित है।

वास्तव में यदि हम यह कहें कि जायसी वियोग के कवि हैं, तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके विरहोद्गार अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पीड़ा की मार्मिक व्यंजना होने पर भी उसमें सरसता, कोमलता और सबसे अधिक गम्भीरता है। नागमती सभी जीव-जन्तुओं में सहानुभूति का भाव उत्पन्न करना चाहती है। पक्षियों से कही यह उक्ति कितनी हृदयस्पर्शिनी है :—

पिउ सौं कहेहु सन्देसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धन विरहै जरि मुई, तेहिक धुंआ हम्हँ लाग ॥

इस उक्ति में दोनों को अलग-अलग सम्बोधित करना आवेग का सूचक है। तथा 'सन्देसड़ा' शब्द में प्रेम, माधुर्य और अपनी तुच्छता की भावना प्रकट होती है।

जैसा कि अभी कहा गया है कि वियोग में सभी सुखदायक वस्तुयें दुखदायक हो जाती हैं, विरहिणी को शरद की शीतल चन्द्रिका कैसी प्रतीत होती है :—

कातिक सरद चन्द उजियारी। जग शीतल हौं विरहै जारी ॥
चौदह करा चांद परगासा। जनहू जरें सब धरति अकासा ॥
तन, मन, सेज करै अति दाहू। सब कंह चंद भयउ मोहि राहू ॥

सच तो यह है कि बिना प्रियतम के आनन्द कहाँ। आनन्द और उल्लास

ा सम्बन्ध तो हृदय से है। जब हृदय ही विरह से विदग्ध हो रहा है तो फिर उल्लास कहाँ ?

विरही जन के लिए कहीं अन्यत्र संयोगजनित आनन्द देखकर भी पीड़ा होती है। उसमें कभी-कभी ईर्ष्या की भावना आ जाती है। दूसरे का मिलन भी दुःखदायी होता है। नागमती की भी दीपावली के पर्व पर यही दशा है :–

अबहूं निष्ठुर आउ एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा॥
सखि झूमुक गावें अंग भोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी॥

कभी-कभी विरह में विरहिणी प्रकृति के पदार्थों से भी अपनी समानता करने लगती है। विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति के विभिन्न रूप उसे अपने दुःख से दुखी दृष्टिगत होते हैं। वर्षा ऋतु को देख कर नागमती कैसा सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करती है :–

बरसै मघा झकोरी झकोरी। मोर दुइ नैन चुवं जस ओरी॥
पुरबा लाग, भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥

कहने का तात्पर्य यह है कि जायसी ने विरह की प्रत्येक दशा का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन किया है। नागमती की इस अभिलाषा में हृदय के वेग की कितनी तीव्र व्यंजना है :–

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परैं, कंत धरे जहं पाव॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी का विरह-वर्णन अत्यन्त सजीव और हृदयस्पर्शी है।

प्रश्न ६—हिन्दी के सूफी साहित्य की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।

उत्तर—हिन्दी का सूफी साहित्य प्रधानतः प्रेम कथा साहित्य है। सूफियों को अपना मत जनता तक पहुँचाना था, अतः जनता की भाषा में कहानी के आधार पर अपने विचारों की अभिव्यक्तिन करने से उसके प्रचार एवं प्रसार की अधिक सम्भावना थी। इसी कारण उन्होंने जनता की भाषा में प्रेम कहानियाँ लिखीं। इसके अतिरिक्त भारत की जनता हिन्दू थी। मुस्लिम आक्रमणकारियों से वह त्रस्त हो चुकी थी। ऐसी दशा में उसके हृदय को स्पर्श करने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हीं की बात कही जाय। इसी

कारण सूफियों ने अपनी कहानियों के लिए जो पात्र चुने वे हिन्दू थे। कल्पना के साथ ही साथ हिन्दुओं को पौराणिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया गया। यही नहीं, अपितु बीच में यथावसर हिन्दू देवी-देवताओं की अवतारणा की गई तथा उनके प्रति अपने श्रद्धा के भाव प्रकट किए। लेकिन ये कवि पूर्णतः हिन्दू जीवन का समावेश नहीं कर सके। इस्लाम के प्रति उनकी रुचि बनी ही रही और कहीं-कहीं उसके वेग में उन्होंने हिन्दू मान्यताओं को निःस्सार करने की चेष्टा की और हिन्दू मूर्तियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा।

सूफियों ने अपनी प्रेम कथायें प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी हैं। कथा के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए परिस्थितियों का संगठन अत्यन्त चारुता के साथ किया है। साथ ही कल्पना का भी सहयोग लिया है। लेकिन उनका मूल उद्देश्य कथा न रहकर सूफी प्रेमतत्व की व्याख्या करना रहा है इस कारण उन्होंने यह सर्वत्र ध्यान रखा है कि कथा-सूत्र के फेर में पड़कर कहीं कथा-रूपक नष्ट न हो जाये। यह उनके लिए सब से बड़ी बाधा थी जो कथा-विकास में व्याघात उपस्थित करने वाली हुई। सूफियों में सिद्धहस्त कवि जायसी जहाँ काव्य कला सम्बन्धी अन्य बातों में श्रेष्ठ हैं, वहां इस क्षेत्र में आकर उन्हें भी असफलता का सामना करना पड़ा है। ऐतिहासिक कथा होने से उनकी कठिनाई द्विगुणित हो गई है। साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने कथा के मोह में पड़कर अपने आदर्श को खो दिया है। ऐसे कवियों में जान कवि का नाम लिया जा सकता है।

प्रबन्ध काव्य की सफलता चरित्रों के पूर्ण विकास में हुआ करती है। सभी प्रबन्धकार कवि विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को डालकर स्वाभाविक रूप में उनका विकास दिखाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन सूफियों का आदर्श यहाँ भी उनके मार्ग में बाधक बनकर उपस्थित हो जाता है। उन्हें अपने पात्रों को भी अपने आदर्शों के अनुकूल ढालना पड़ता है। कवि की सफलता तो तब है जब कि पात्रों का विकास भी स्वाभाविक हो और उनका आदर्श भी रक्षित रहे। किन्तु ऐसा सभी नहीं कर पाये हैं। ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाते समय सूफी कवियों को ऐतिहासिक पात्रों के साथ

अपने आदर्श की रक्षा के लिए काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ी है और वे पात्र भी मानवेतर पात्र हैं। पद्मावत में जिस ऐतिहासिक कथानक का चयन किया गया है उसमें सुआ का कोई स्थान नहीं, लेकिन पद्मावत का सारा कथानक उस सुआ पर ही अवलम्बित है, वह गुरु की भूमिका में उपस्थित किया गया है। सूफी कवियों ने देव, परी, परेवा, राक्षस, बनचर आदि कितने ही पात्रों की कल्पना करके अपने आदर्श को रक्षित किया है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि चरित्र-चित्रण में अस्वाभाविकता आ गई है। कुछ कवियों ने तो अपने पात्रों का नामकरण तक अपने आदर्श के अनुकूल ही किया है। नूर मुहम्मद की अनुराग बांसुरी के पात्र ऐसे ही हैं। जिनके नाम जीव, अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार आदि हैं।

समस्त सूफी कवियों की प्रेम-गाथायें एक निश्चित साँचे में ढली सी प्रतीत होती हैं। किसी में मौलिक उद्भावना का अवसर दिखाई नहीं देता। सब में वही सौन्दर्य, आकर्षण, वही प्रेम की तीव्रता, वही विरह की पीड़ा और अन्त में वही मिलन दशा वर्णित की गई है जो ईरानी आदर्शों के अनुकूल है। विरह वर्णन में नवीनता का समावेश अत्युक्तियों के आधार पर अवश्य किया है किन्तु गूढ़ भावों का सूक्ष्म विश्लेषण इन कवियों में बहुत कम मिलता है, लेकिन कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति एवं विवशता आदि भावों की सुन्दर व्यंजना की है। वे कवि केवल वही हैं जिन्होंने घटनाप्रवाह की अपेक्षा चरित्रचित्रण के महत्व को स्वीकार किया है।

इन कवियों का वस्तु वर्णन तथा घटना वर्णन भी प्रभावशाली नहीं है। कहीं-कहीं तो वर्णन का विस्तार खलनेवाला हो गया है। ये वर्णन न तो उत्सुकता की वृद्धि करते हैं और न सहानुभूति ही उभाड़ते हैं। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का परिपाक अच्छा नहीं हुआ है। वीर रस में तो सर्वत्र असफलता ही दिखाई देती है।

सूफी कवियों की भाषा शिथिल है। उनका भाषा पर पूरा अधिकार दृष्टिगत नहीं होता है। केवल जायसी और नूर मुहम्मद ही ऐसे कवि हैं जिन्हें भाषा की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है। जायसी में शुद्ध और

मुहाविरेदार अवधी मिलती है और नूर मुहम्मद में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग। उसमान ने अपनी भाषा में भोजपुरी को और मंझन ने अरबी फारसी को अच्छा स्थान दिया है। जान कवि का भाषा अधिकार सबसे अधिक प्रशंसनीय ह। भाषा की दृष्टि से उन्हें निस्सन्देह सिद्धहस्त कवि कहा जा सकता है।

हिन्दी के सूफी साहित्य में प्रेम गाथाओं के अतिरिक्त पद और दोहे आदि भी मिलते हैं। चारी साहब, बुल्लेशाह, अब्दुल समद और नजीर के पद बहुत प्रसिद्ध हैं। सूफियों ने दोहों की पद्धति में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अमीर खुसरो ने अपने दोहों में सुन्दर चेतावनियाँ दी हैं। इनके अतिरिक्त जायसी के अखरावट और आखिरी कलाम के दोहे, शेख फरीद के सलोक, यारी साहब की साखियां, पेमी, हाजी वली और बजहन के दोहे भी चुभते हुए हैं। इन दोहों में भाषा की स्वच्छता और कथन की शैली अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है।

हिन्दी सूफी साहित्य में यद्यपि गद्य साहित्य का अभाव है तथापि जायसी का अखरावट, हाजी वली का प्रेमनामा, वजहन का अलिफ नामा और किसी कवि का अल्ला नामा आदि फारसी के निबन्ध-साहित्य के आधार पर ही लिखे गये हैं, जिनमें सूफी सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया गया है। इनको हम पद्यबद्ध निबन्ध कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी साहित्य भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

कतिपय संभावित स्थलों की व्याख्यायें

बहुरि वियोग भयउ सिर सेती। कहेसि बात नाहिं आवहि एती॥
कींगरी लिहे वियोग बजावइ। सभही सुनि बोहि देखहि आवइ॥
सुन बियोग सभही एन बोलों। भाइहु राग आसन हरि डोला॥
जेइरे सुनिउ से भुलीउ, चिन्त न रहीउ काही।
बज्र करेजा जाही कर, भावी योग उर ताही॥

व्याख्या—यह अवतरण शेख कुतुबन की लेखनी से उद्भूत मृगावती नामक काव्य से उद्धृत किया गया है। चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र

कंचननगर की राजकुमारी के सौंदर्य से उसकी ओर आकर्षित होकर उसे प्राप्त करने के लिए उसके नगर में पहुँचा। उस समय राजकुमारी मृगावती सिंहासनासीन थी। बड़े-बड़े राजा-राव उसके समीप नहीं पहुँच सकते थे। उस समय राजकुमार ने जो साधन अपनाया उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

जिस समय राजकुमार ने यह सोचा कि मैं राजकुमारी का सामीप्य किस प्रकार पा सकता हूँ तो उसके हृदय में वियोग की ज्वाला जलने लगी। उसके सिर पर वियोग सवार हो गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसकी भाषण शक्ति लुप्त हो गई, उसमें बात करने की क्षमता नहीं रही। इसी कारण वह किंगरी नामक वाद्य लेकर वियोग राग अलापने लगा। वह वाद्य ध्वनि जिसने भी सुनी वही उसकी ओर आकृष्ट हो गया और उसे सुनने के लिए आने लगा। उस वियोग की व्यंजित करने वाली ध्वनि को सुन कर सभी उसके सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे तथा वह राग सभी को अच्छा लगा। यहाँ तक कि हरि का आसन भी हिल गया अर्थात् वे भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहे। जिस किसी ने भी उस वाद्य ध्वनि को सुना वही आत्म-विस्मृत हो गया। किसी को भी आत्म-ज्ञान नहीं रहा। यहाँ तक कि जिसका हृदय वज्र से निर्मित था अर्थात् जो अत्यन्त कठोर हृदय था उस पर भी वियोग राग ने प्रभाव डाला।

विशेष—इस वातावरण में कवि ने विरह के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है। सूफी सन्तों का विरह व्यक्तिगत नहीं था। वह परमब्रह्म के प्रति होने से सार्वजनिक और व्यापक था।

करम आजु भल अहइ हमारा। सिध होई कै गुरु हंकारा॥
ससी रे सारद मुष देषँ पादउ। जरे पेम ओही आरी सीरावउ॥
सातौ पंवरि लाँघि जौ आया। बेगर वेगर सातउ भावा॥
आगु जई जौ देषइ ताही। तारन मांझ चंद जनु आही॥
कँ रे सरग कचपची आइ। ताल माँझ फुली जलि कोई॥

व्याख्या—वह पद्यांश शेख कुतबन कृत मृगावती नामक प्रेमकथा से अवतरित किया है। राजकुमार ने मृगावती के राजाप्रसाद के समीप किंगरी वाद्य

पर विरह की तान छेड़ी जिससे सभी प्रभावित हो गये । राजकुमारी मृगावती ने भी उस तान को सुना और अपनी एक दासी द्वारा उसी योगी वेषधारी राज-कुमार को बुला भेजा । कवि उसी का वर्णन करते हुए कहता है—

दासी को बुलाने के लिए आया हुआ देखकर राजकुमार कहने लगा कि आज हमारा भाग्य धन्य है । क्योंकि आज मेरी साधना सफल हो गई और स्वयं गुरु ने ही मुझे बुला भेजा । आज मैं शरद्ऋतु के शीतल चन्द्रमा के समान मृगावती के मुख का दर्शन करूंगा और जिसकी विरह-ज्वाला में मैं अब तक दग्ध रहा, उसी की समीपता से मुझे आज शीतलता प्राप्त होगी । क्योंकि मैं आज सात पौरियों को पार करके आया हूँ तथा प्रत्येक पौरी का मुझे भिन्न-भिन्न रूप दृष्टिगोचर हुआ है । आज मैं उसे पहले ही देखूंगा । वह मुझे तारों के बीच में चन्द्रमा के समान दिखाई देगी । उसका भवन कृत्तिका नक्षत्र में उदित प्रकाशमान तारों के समान होगा और वह सागर में प्रफुल्लित कमलिनी के समान दृष्टिगत होगी ।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि ने सूफी साधना का सुन्दर वर्णन किया है । सूफी साधक गुरु द्वारा मार्ग दिखाये जाने पर प्रेम-पथ पर बढ़ता है और उसे सप्त सोपानों को पार करना पड़ता है । इन सोपानों के नाम क्रमशः अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्रय, धैर्य, विश्वास और सन्तोष हैं । ये सप्त सोपान ही सात पंवरी हैं और बुलाने वाली दासी ही गुरु है । अन्त में साधक अपने इष्ट से मिल जाता है । कविता की अन्तिम पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार है जिसके द्वारा ब्रह्म की अनन्त प्रकाशमयी मूर्ति का आभास दिख-लाया है ।

प्रेम घाव दुख जान न कोई । जेहि लागै जानै पै सोई ।।
परा सो प्रेम समुद्र अपारा । लहरहिं लहर होइ विसंभारा ।।
विरह भौंर होइ भांवरि देई । खिन खिन जीउ हिलौरा लेई ।।
खिनहिं उसास बूड़ि जिउ जाई । खिनहिं उठै निसरै बौराई ।।
खिनहिं पीत खिन होइ मुख सेता । खिनहिं चेत खिन होइ अचेता ।।
कठिन मरन ते प्रेम बेवस्था । ना जिउ जियै न दसवँ अवस्था ।।

व्याख्या—यह पद्यांश श्री मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत से अवतरित किया गया है। हीरामनि नामक सुआ से पद्मिनी के अनिन्द्य सौंदर्य का वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन मूर्छित हो गया। उसी समय का वर्णन करते हुए कवि कहता है:—

प्रेम घाव का दुख ऐसा होता है जिसको कोई जान नहीं सकता। केवल वही जान पाता है, जिसके वह घाव होता है। जो अपार प्रेम समुद्र में गिर पड़ता है वह उसकी प्रत्येक हिलोर से बेसुध होता जाता है। जिस प्रकार समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य जल के भंवर में फंस कर उसी में घूमता रहता है उसी प्रकार राजा रत्नसेन विरह के भंवर में फंस गया और क्षण क्षण में वह उसमें डूबने-उतराने लगा। उसकी दशा जल के भंवर में ग्रस्त मनुष्यों जैसी हो गई। कभी-कभी उसकी विरहजनित शोकपूर्ण निश्वासें निकलती थीं और उसका प्राण उसमें डूबता हुआ दिखाई देता था और पुनः वह पागलों की भाँति दिखाई देने लगता था। थोड़ी देर में उसके मुख का रंग पीला पड़ जाता था और थोड़ी देर में श्वेत हो जाता था अर्थात् पीड़ा और वेदना उसके मुख से प्रतिबिम्बित होने लगती थीं। कभी वह मूर्छित हो जाता था और कभी चैतन्य हो जाता था। वास्तव में वह ऐसी विरह अवस्था में पड़ा हुआ था कि वह मृत्यु से भी कठिन प्रतीत होती थी। क्योंकि न तो उसकी दशा को जीवित कहा जा सकता है और न उसे दशमी अवस्था अर्थात् मृत्यु ही कहा जा सकता है।

विशेष—वियोग की पीड़ा का उल्लेख कवि ने इन पंक्तियों में किया है। काव्य-शास्त्र के अनुसार विरह की दस अवस्थायें मानी गई हैं। अभि-लाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।

पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा॥
पंथ सूरी कै उठा अंकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ मंसूरू।
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरे घरहिं मांझ दस पंथा॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद माया। पांचों चोर न छांड़हि काया॥
नवौ सेंध तिन्ह कै दिठियारा। घर मूसहिं निसि की उजियारा॥

अबहु जागु अजाना, होत आव निसि भोर।
तब कछु हाथ न लागहिं, मूसि जाहिं जब चोर ॥

व्याख्या—यह पद्यांश श्री मलिक मुहम्मद जायसी रचित पद्मावत के प्रेम-खण्ड से अवतरित किया गया है। पद्मिनी के सौंदर्य के वर्णन को सुनकर जब राजा मूर्छित हो गया और चैतन्य होने पर उसके विरह की आग में जलने लगा, उस समय उसके शुभचिन्तक जन उसे समझाते हुए कहते हैं—

प्रेम का पर्वत अत्यन्त कठिनाई से निर्मित हुआ है। उस पर केवल वही चढ़ सकता है जो सिर के बल चढ़ने का प्रयत्न करे। शूरवीरों के मार्ग में नुकीले कांटे उठे रहते हैं। जिस पर या तो चोर ही जा सकता है या मंसूर ही। अर्थात् हल्लाज जिस प्रकार हँसते-हँसते सूली पर चढ़ गया था सच्चा प्रेमी उसी प्रकार प्रेम के पथ पर चढ़ता हुआ जा सकता है। तू राजा है अतएव तू गुदड़ी क्या पहनेगा और फिर तेरे घर में ही दस मार्ग हैं अर्थात् तेरे शरीर में ही दस मार्ग हैं। इसके अतिरिक्त काम, क्रोध, तृष्णा, अहंकार और माया ये पाँचों चोर तेरे शरीर को नहीं छोड़ेंगे अर्थात् इन पाँचों बातों में फंसा होने के कारण प्रेम के पथ पर नहीं चल सकता। क्योंकि नौ छिद्र उनकी दृष्टि में रहते हैं और वे सदा रात में या दिन के प्रकाश में घर में चोरी कर लेते हैं। अतएव हे अज्ञान तू अब भी जागृत हो जा क्योंकि रात्रि की समाप्ति के अनन्तर प्रातःकाल होना आ रहा है। क्योंकि जब चोर चोरी कर ले जायंगे तो तुझे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

विशेष—प्रेम को पहाड़ मान कर तथा उस पर उलटे चढ़ने का उपदेश देकर ही योग की क्रिया का दर्शन कराया गया है। योगी साधना द्वारा सुप्तावस्था में पड़ी हुई कुंडलिनी को जागृत करता है और वह उलट कर सुषुम्णा नाड़ी में होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है। तभी साधक को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। लेकिन काम, क्रोध, तृष्णा, अहंकार और माया उसके मार्ग में बाधा डालते हैं जो मनुष्य को नेत्र, श्रवण, मुख, नासिका तथा लिंग और गुदा के द्वार से प्रविष्ट होकर भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हैं। अतएव कवि साधक को सावधान होने के लिए कहता है। साथ ही ज्ञान की ज्योति

जगाने से इन चोरों का वश नहीं चलता। इस प्रकार सूफियों के प्रेम तत्व पर हठयोग का प्रभाव पड़ा हुआ दृष्टिगत होता है।

हिय के जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिआरा बूझा।
उलटि दीठि माया सौं रूठी। पलटि फिरा जानि के झूठी॥
जो पै नाहि अहथिर दसा। जग उजार का कीजिअ बसा॥
गुरु बिरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाई लेइ सो चेला॥
अब करि फनिग भृंग कै करा। भोर होउ जेहि कारन जरा॥
फूल फूल फिरि पूछौं जौ पहुंचौं ओहि केत।
तन नेवछावरि कै मिलौं ज्यौं मधुकर जिउ देत॥

व्याख्या—यह पद्यांश श्री मलिक मुहम्मद जायसी रचित पद्मावत नामक ग्रन्थ से लिया गया है। पद्मिनी के विरह में मूर्छित हुआ राजा रत्नसेन अपने साथियों के वचनों से जब चैतन्य अवस्था को प्राप्त हुआ, उस समय का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

जिस समय राजा को चेतना प्राप्त हुई उस समय उसने अपने हृदय में प्रेम के दीपक को जलते हुए पाया और उसके प्रकाश में उसे अलौकिक ज्योति के दर्शन हुए जिसके समक्ष उसके बदन में जलता हुआ दीपक उसे अन्धकार से पूर्ण ज्ञात हुआ। उसकी दृष्टि सांसारिक पदार्थों से हट गई और माया उसको प्रलुब्ध न कर सकी। उसने माया को असत्य समझ कर उसकी ओर देखा तक नहीं। उसने सोचा कि यदि मनोदशा स्थिर नहीं है तो सारा संसार ऊजड़ है उसके बसे होने में कोई अर्थ नहीं। गुरु ने विरह की जो चिनगारी प्रज्वलित की है उसको जो जगाता हुआ रहेगा वही सच्चा चेला है। अर्थात् हीरामन तोते ने जिस सौन्दर्य की देवी का वर्णन किया है उसकी ही साधना में लीन रहने वाला ही सच्चा प्रेमी है। अब तो कीट के ऊपर प्रभाव डालने वाले भृङ्ग के उपाय से तद्रूप ही हो जाना श्रेयस्कर है अर्थात् जिस प्रकार भृङ्गी कीट किसी कीड़े पर चक्कर लगाते-लगाते उसे अपने समान कर लेता है, उसी प्रकार उसके प्रेम में लीन रहकर उसे अपने समान कर लेना है या उसे प्राप्त करना है। जिस प्रकार से भौंरा प्रत्येक फूल पर होता हुआ उसी पुष्प की ओर जाता है और अपने को उस पर (कमल पर) उत्सर्ग कर

देता है उसी प्रकार मैं भी पद्मावती को प्राप्त करके रहूँगा और उस पर अपने को निछावर कर दूंगा ।

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही के छाया ।।
पाइय नाहिं जूझ हठ कीन्हे । जेहि पाया तेहि आपुहि चीन्हे ।।
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा । औ तंह फिरहिं पांच कोटवारा ।।
दसंव दुआर गुप्त एक ताका । अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ।।
भेदे आइ सोइ यह घाटी । जों लहि भेद चढ़ै होई चांटी ।।
गढ़तर कुंड सुरंग तेहि मांहा । तहं वह पंथ कहौं तोहि पांहा ।।
चोर बैठ जस संधि संवारी । जुआ पेंत जस लाव जुआरी ।।

जस मरजिया समुद्र धंस, हाथ आव तब सीप ।
ढूंढि लई जो सरग दुआरी, चढ़ै सो सिंगल दीप ।।

व्याख्या—यह पद्यांश जायसी द्वारा रचित पद्मावत से अवतरित किया गया है । शिवजी राजा रत्नसेन से सिंहलगढ़ का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

हे राजा ! यह गढ़ इतना दुर्गम है जितनी दुर्गम तेरी देह है । पुरुष में उसी की छाया दृष्टिगत होती है । चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे या उसे प्राप्त करने के लिए हठ करे लेकिन उसे वही प्राप्त कर सकता है जो स्वयं को पहचान लेता है । उस दुर्ग में नौ पौरी हैं और उसमें पाँच कोतवाल फिरते हैं । उस दुर्ग में एक दसवाँ द्वार और है, लेकिन वह गुप्त है । उस दुर्ग का मार्ग अत्यन्त टेढ़ा तथा उस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है । जो व्यक्ति चींटी के समान उसके रहस्य को जान लेता है वही उस घाटी को विद्ध कर सकता है अर्थात् उस दुर्ग तक पहुँचने में सफलता प्राप्त कर सकता है । उस दुर्ग के नीचे एक कुण्ड है और उसमें एक सुरंग है । उसी सुरंग में होकर वह मार्ग है जिसका वर्णन मैं तुम से कर रहा हूँ । जिस प्रकार चोर संभल कर सेंध में प्रविष्ट होता है और जिस सावधानी से जुआरी अपना दाँव लगाता है, उसी सावधानी से जो उस समुद्र में प्रविष्ट होता है उसी के हाथ सीप लगती है । जो स्वर्ग के द्वार को ढूंढ लेता है वही सिंहल द्वीप में पहुँच सकता है ।

विशेष—इन पंक्तियों में हठयोग की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है । मानव शरीर के अन्दर नौ छिद्र ही नौ पौरी हैं जिनमें दो छिद्र नाक के

है, दो कान के हैं, दो आँखों के हैं, एक मुंह, एक लिंग, एक गुदा का। दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। शरीर में इडा, पिंगला और सुषुम्णा नामक नाड़ियाँ हैं। कुण्ड नाभि कुण्ड है और सुषुम्णा नाड़ी सुरंग है। जिसमें होकर कुण्ड-लिनी ऊपर को चढ़ती है और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्रों को निरुद्ध करके पिपीलिका मार्ग से ऊपर तक पहुँचती है। जो साधक ब्रह्मरन्ध्र की साधना कर लेता है वही ज्ञानी कहलाता है।

दसवं दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिष्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो तहां साँस मन बंधी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी॥
तू मन नाथू मारि के सांसा। जो प मरहि अबहि करू नासा॥
परगट लोक चार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता॥
"हौं हौं" कहत सबै मति खोइ। जौं तू नांहि आहि सब कोई॥
जियतहि जुरै मरै इक बारा। पुनि का मीचु को मारै पारा॥
आपुहि गुरू सो आपुहि चेला। आपुहि सब और आपुहि अकेला॥
आपुहि मीच जियत पुनि, आपुहि तन मन जोई।
आपुहि आप करै जो चहै, कहां सो दूसर होइ॥

व्याख्या—मलिक मुहम्मद जायसी की लेखनी से उद्भूत पद्मावत की इन पंक्तियों में शिवजी सिंहल गढ़ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सिंहल गढ़ में नौ द्वार हैं और उस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि :—

उसका दसवाँ द्वार ताल वृक्ष के समान ऊंचा है। उसे वही देख सकता है जो उलटी दृष्टि से देखने की क्षमता रखता हो। जो व्यक्ति श्वास और मन बाँध लेता है, वही वहाँ जा सकता है। जिस प्रकार कृष्ण यमुना में प्रविष्ट हो गये थे उसी प्रकार वह प्रविष्ट हो सकता है। इसलिये तू अपने मन को नाथ ले अर्थात् वश में कर ले और श्वास को मार ले अर्थात् प्राणायाम का साधन कर। क्योंकि यदि मरना निश्चित है तो अभी तू अपने को उत्सर्ग कर दे। प्रकट रूप से तो तुझे लोकाचार की बातें करनी चाहिएं और मन को गुप्त रूप से उसी में लीन करना चाहिए जिससे कि मन लगा हुआ है। तूने 'हौं हौं' कहकर अपनी सारी बुद्धि को खो दिया है अर्थात् अहंकार में तू अपनी बुद्धि को भ्रष्ट कर रहा है। यदि तू अहंकार का परित्याग कर दे, अपनी सत्ता को

उसी में विलीन करदे तो तुझे तेरा सर्वस्व अर्थात् प्रेमपात्र दृष्टिगोचर हो जायगा। तू जीवित अवस्था में ही प्रयत्न कर। मृत्यु से न डर क्योंकि मरना तो एक ही बार है। यदि तुझे अपने प्रिय का साक्षात्कार हो जायगा तो फिर मृत्यु क्या कर सकती है। तू अपने को ही गुरु समझ और अपने को ही शिष्य समझ ले। साथ ही अपने को सब में व्याप्त भी समझ और अपने को सब से भिन्न भी मान। स्वयं को ही जीवन और स्वयं को ही मृत्यु मान तथा मन और शरीर में अपने के अतिरिक्त अन्य को न देख। यदि तू प्रियतम में भी अपने को देखने की चेष्टा करे तो तुझे दूसरा कोई दृष्टिगत ही नहीं होगा।

विशेष—कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने के लिए प्राणायाम की साधना करनी पड़ती है तथा अहंकार का परित्याग करना पड़ता है। इस क्रिया को अपने आप अपने ही भीतर करना पड़ता है अतः चेला और गुरु के अन्तर की आवश्यकता नहीं है।

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंगल बुद्धि पद्मनी चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांधा सोई न एहि चित्त बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझे लेहु जौ बूझे पारहु॥

व्याख्या—ये पंक्तियाँ मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत से अवतरित की गई हैं। कवि अपनी प्रेम-कथा को एक अन्योक्ति के रूप में उपस्थित करता है। कथा के अन्त में वह इन पंक्तियों द्वारा कथा की वास्तविकता का उद्घाटन करते हुए कहता है :—

यह शरीर चित्तौर है और मन राजा है। हृदय सिंहल गढ़ है तथा पद्मिनी बुद्धि है। हीरामन तोता गुरु है जिसने मन रूपी राजा को मार्ग दिखाया है। क्योंकि संसार में बिना गुरु के ऐसा कौन है जो निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सके। नागमती सांसारिक धन्धों की भूमिका में अवस्थित है। जिस व्यक्ति का चित्त इसमें नहीं बंधता है वही इससे मुक्त रह सकता है। राघव दूत साधक (प्रेमी) के मार्ग में बाधा डालने वाला शैतान है तथा अला-

उद्दीन माया है जो शैतान के आदेश से प्रेमी को प्रेम पात्र से विलग करती है। इस प्रकार इस प्रेम कथा का विचार करना चाहिये। जो इसको समझ लेता है, वही इस कथा के मर्म को समझ सकता है।

विशेष—जायसी का पद्मावत एक अन्योक्ति है। जिसके द्वारा कवि ने सूफी प्रेम मार्ग का प्रदर्शन किया हैं और बताया है कि किस प्रकार आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए विरहातुर होती है तथा किस प्रकार शैतान तथा माया उसके पथ में बाधक बनकर आते हैं। किन्तु सभी को पराजित होना पड़ता है और अन्त में आत्मा-परमात्मा का मिलन हो जाता है।

दुख मानुस कर आदिक वासा। ब्रह्म कमल महँ दुखकर बासा।।
जेहि दिन सृष्टि दुख समाना। तेहि दिन मैं जिव के जिव जाना।
मोहि न आज उपज्यौ दुख तोरा। तोर दुख आदि संघाती मोरा।।
अब ले भवन दुःख के कांवर। दुइ जग दीनों सुख न्यौछावर।
मैं अपान दै तोर दुख लिया। मरके अबसो अमृत पिया।।

व्याख्या—यह पद्यांश मंझन कवि द्वारा लिखित मधुमालती नामक प्रेम कथा काव्य से अवतरित किया गया है। मधुमालती का प्रेमी-कुंवर मनोहर मधुमालती के प्रति अपने प्रेमोद्गार प्रकट करते हुए कहता है :—

हे मधुमालती मनुष्य का सर्वप्रथम निवास स्थान दुःख ही है। जिस कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी, उसमें भी दुख निवास करता है। मैं समझता हूँ कि सृष्टि में जिस दिन दुःख व्याप्त हो गया उसी दिन से प्राणियों को वास्तविक जीवन का अनुभव हुआ। आज ही मेरे हृदय में तेरा दुःख उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् प्रेम का बाण आज ही मेरे हृदय में विद्ध नहीं हुआ है अपितु तेरा विरहजन्य दुःख तो मेरा आरम्भ का साथी है। अब तो दुःख के भार को अपने ऊपर स्वीकार कर लिया है और दोनों संसार का सुख मैंने न्यौछावर कर दिया है। अर्थात् मैंने तेरे विरह में जलकर सांसारिक और पारलौकिक सुखों का परित्याग कर दिया है। मैंने तेरे विरह के इस दुःख को अपनत्व को देकर प्राप्त किया है अर्थात् मैंने अहंकार का नाश कर दिया है और इस प्रकार मैं मरकर भी अमृत को प्राप्त करना चाहता हूँ।

तैं मैं दोउ सदा संग वासी। औ संतत एक देह निवासी ।।
औ मैं त्वैं दुइ एक सरीरा। दुइ माटी सानी इक नीरा ।।
एक बार दुइ बहैं पनारी। एक दीप दुइ घर उजियारी ।।
एक जीव दुइ कह संचारा। एक अगनि दुइ ठावैं बारा ।।
एकै हम दुइ कै औतारी। एक मन्दिल दुइ किये दुआरी ।।
एक जोति रूप पुनि एकै, एक प्रान एक देह।
असहि आप जोरि कोई चाहै, याकर कौन सन्देह ।।

व्याख्या—यह संदर्भ मंझन कवि कृत मधुमालती से अवतरित किया गया हैं। कुंवर मनोहर अपनी प्रियतमा मधुमालती के प्रति अपना प्रेम भाव प्रकट करते हुए कहता है —

तू और मैं दोनों सदैव ही एक साथ रहा करते हैं और निरन्तर इस शरीर में निवास करते हैं। वास्तव में यह एक ही शरीर है जिसमें मेरी और तेरी सत्ता है। दो मिट्टियाँ एक जल में सानी गई हैं अर्थात् मुझमें और तुझमें एक ही तत्वों का निवास है। एक ही मार्ग से दो नालियों का प्रवाह चलता है तथा एक ही दीपक दोनों घरों को प्रकाशित करता है। अर्थात् मुझमें और तुझमें दोनों में एक ही ब्रह्म की आभा है और वही ब्रह्म हमारे प्रेम की ज्योति को जगाता है। प्राण एक ही है, जो दोनों शरीरों को संचालित करता है तथा एक ही अग्नि है जो दो स्थानों पर प्रज्वलित हो रही है। अर्थात् हम दोनों में एक ही ब्रह्म व्याप्त है। वास्तव में हम दोनों एक हैं जिस प्रकार एक ही मन्दिर में दो द्वार बना दिये जायँ उसी प्रकार एकही आत्मा दो शरीरों में निवास करती है। दोनों में एक ही प्राण है तथा दोनों के शरीर का निर्माण एक ही से तत्वों से हुआ है। अतएव यदि अपने को अपने में ही मिलाकर देखा जाय तो इसमें सन्देह ही क्या है ?

विशेष—प्रेमी और प्रेम पात्र दोनों में एक ही ब्रह्म की सत्ता है। जब प्रेमी इस रहस्य को समझ लेता है तो वह अपने में ही प्रेम के दर्शन करने लगता है। वह अपनत्व को भुला देता है, तभी उसे प्रेम के मार्ग में सफलता मिलती है। यही भावना इन पंक्तियों का मूलाधार है।

प्रथम भौग पुर नग्र सोहावा। भौग विलास पाउ जँह काया।
दुइ दुआर कोट संवारा । आवागमन यही दुइ बारा।
पुनि दुन्हिु दिसि अपुरब हाटा। अनबन भाँति पटन्त सभ पाटा।
जो कछु चाहिय सबै बिकाइ। मिरतक देखि जीव बल पाई ॥
कहूँ पंच अम्रित जेवनारा । कहूं सुगंधि कौ महंकारा ॥

व्याख्या— उपरोक्त पंक्तियाँ सूफी कवि उसमान द्वारा रचित चित्रावली नामक प्रेम-कथा से अवतरित की गई हैं। सुजान चित्रावली के विरह में विचरण करता हुआ एक देव की कुटिया में पहुंचा। देव उसको उपदेश देता हुआ कहता है :—

प्रेम मार्ग में चार देश पड़ते हैं और उन चारों में चार नगर हैं। पहले नगर का नाम भोगपुर है, वह अत्यन्त सुन्दर है। जहाँ पर शरीर को भोग-विलास का अवसर प्राप्त होता है। उस नगर के चारों ओर जो चहार दीवारी है उसमें दो द्वार हैं। इन्हीं दोनों द्वारों में होकर आवागमन होता है। उन द्वारों से निकलते ही दोनों ओर विचित्र बाजार लगा हुआ दृष्टिगत होता है जिसमें अनेकों प्रकार के पदार्थों की बहुलता रहती है। उस बाजार में इच्छित वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं। यदि मृतक भी उस बाजार को देख लेता है तो उसमें जीवित का सा बल आ जाता है। क्योंकि वहाँ पर कहीं तो पंचामृत का भोजन प्राप्त होता है और कहीं पर सुगन्धित पदार्थ अपनी सुगन्धि फैलात हैं।

विशेष—संसार में प्रेमीजन प्रेम-पथ की ओर बढ़ता है तो सर्वप्रथम उसे सांसारिक वासनायें प्रलुब्ध करती हैं। उन्हीं वासनाओं की प्रधानता को भोगपुर की संज्ञा दी है। माया और मोह नामक दो द्वार हैं। इन्हीं में लीन होने से जीव आवागमन के चक्कर में फंसता है। यह नगर माया मोह से पूर्ण है। अतः जीव विषय-वासनाओं में प्रलुब्ध होकर प्रेम-पथ से हट जाता है। योगी ने यही उपदेश राजकुमार को दिया है।

काया कंथा ध्यान अधारी। सींगी सबद जगत धंधारी ॥
लोचन चक्र सुमिरनी सांसा। माया जारि भस्म कै नासा ॥
हिय जो गोट मनसा पांवरि। प्रेम बार लै फिरी भांवरी ॥
परगट भेष तहां दै डारे। आगे चलै सो पंवरि उघारे ॥

रहहिं नैन जो जोति बिनु, दीपक पहिल मिलानु।

पुनि ससिहर सम दूसरे, होहि तीसरे भानु॥

व्याख्या—ये पंक्तियां सूफी कवि उसमान की लेखनी से उद्भूत चित्रावली नामक प्रेम कथा से अवतरित की गई हैं। चित्रावली के प्रेमी राजकुमार को उपदेश देते हुए जोगी साधना के समय अपनाये योगियों के आडम्बरों की उपेक्षा करते हुए कहता है :—

यह शरीर ही गुदड़ी है तथा ध्यान ही अधारी है। अर्थात् ध्यान को एकाग्र करके शरीर की साधना करनी चाहिए। अनहद नाद ही शृंगी वाद्य का शब्द है तथा यह सारा संसार धोखा है। नेत्र ही चक्र है तथा श्वास ही माला है। अर्थात् नेत्रों को त्रिकुटी पर एकाग्र करके श्वास को प्राणायाम द्वारा जीत कर साधना करनी चाहिए। इस प्रकार माया को जलाकर भस्म कर देना चाहिए। हृदय ही गोठ है, ध्यान का स्थान है तथा मन द्वार है जिसमें होकर साधक ध्यान में एकाग्रता को धारण करता है। इस प्रकार प्रेम के चक्कर में लीन होना चाहिए। योगी जिस वेष में प्रकट होते हैं उनका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार जो प्रेम मार्ग में आगे बढ़ता है उसे ही परमात्मा के द्वार के दर्शन होते हैं। अन्त में वे नेत्र जो ज्योतिहीन रहा करते हैं वे भी प्रथम साक्षात्कार के होते ही दीपक की भाँति प्रकाशित होने लगते हैं। पुनः वे चन्द्रमा के सामने हो जाते हैं और तीसरी दशा में उनमें सूर्य की कान्ति समा जाती है।

विशेष—प्रेमी को जोगी वेष धारण करने की आवश्यकता नहीं है। शृंगी, माला, कंथा तथा आधारी आडम्बर हैं। जो इनको धारण करता है वह इनमें ही फंस कर रह जाता है, उसका ध्यान ब्रह्म में लीन नहीं होने पाता है। इसीलिए बाह्य आडम्बरों का परित्याग कर देना चाहिए तथा प्रेमी को अपने हृदय को एकाग्र करके प्रेम-पथ पर बढ़ना चाहिए तभी अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

सोचत नारि जांव किह ठाँव। जानत नांहि जु याही गांव॥

गुर बिन नाहिं मिलत भौतारन। निकट आहि पै बिकट बिहारन॥

प्रान अबूझ अबूझ न बूझे। नैन असूझ असूझ न सूझै॥

चित्रकार टेरयौ गुर जान । जिन बहु करै जमनिका हान ॥
सावधान ह्वै गुर करि धाऊं । जागे भाग लाभ जिन पाऊं ॥

व्याख्या—यह संदर्भ जान कवि द्वारा रचित कामलता नामक काव्य से लिया गया है । कामलता रसाल के चित्र को देखकर मोहित हो जाती है और प्रभावित हो जाती है । इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है:—

कामलता चित्र पर मोहित होकर सोचती हैं कि मैं कहां जाऊं क्योंकि जिस गांव में वह रहता है मैं उसे नहीं जानती हूँ । गुरु के बिना स्वामी से मिलना हो नहीं सकता । यद्यपि स्वामी (ईश्वर) निकट है लेकिन उससे विहार करना अत्यन्त कठिन है । मूर्ख प्राणों को उस अज्ञेय वस्तु की जानकारी नहीं हो पाती । उन अंधे नेत्रों को उस अगोचर वस्तु (ईश्वर) के दर्शन नहीं हो पाते । इसीलिए कामलता ने गुरु समझकर चित्रकार को बुलाया, जो कि अज्ञान के पर्दे को दूर कर दे । इसीलिये अब मुझे सावधान होकर गुरु का ध्यान करना चाहिये । जिससे के मेरा भाग्य उदय हो और मुझे उनके दर्शन का लाभ प्राप्त हो ।

विशेष—सूफीमत में गुरु का बड़ा महत्व है । बिना गुरु के प्रेमी (आत्मा) अपने प्रेमपात्र (परमात्मा) से नहीं मिल सकता । इसीलिये कामलता ने चित्रकार को गुरु के रूप में स्वीकार किया है ।

चन्द ललाटी नैन कुरंग । दर-दारयौ सुठि अधर सुरंग ॥
घूँघर वारे कारे बार । बदन कमल ऊपर अति भार ॥
गिय कपोत कुंच श्री फल दोई । कटि अति छीन न पावै कोई ॥
कर पग देषि रह्यो भरमाई । अंग अंग छबि कही न जाई ॥
जैसी कुमिलानी लता, परी भौम पर नार ।
देषि कंचन रेषसी, आयौ कुंवर संवार ॥

व्याख्या—यह पद्यांश जान कवि लिखित 'रत्नावती दर्शन, से लिया गया है । कवि रत्नावली के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहता है:—

रत्नावली का मस्तक चन्द्रमा के समान चमकदार है तथा उसके नेत्र हिरन के समान हैं । उसके अधर सिंदूर के समान लाल रंग के हैं । उसके

बाल घुंघराले तथा काले हैं। उसका मुख कमल के समान है तथा उससे काम का रूप झलकता है। उसकी ग्रीवा कबूतर जैसी है तथा कुच श्रीफल के समान हैं। कटि अत्यन्त क्षीण है जिसकी समता कोई नहीं पा सकता। उसके हाथ और पैरों की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह स्त्री रत्नावती पृथ्वी पर मुरझाई हुई लता के समान पड़ी है। उसने (मोहन ने) उसे कंचन की एक क्षीण रेखा के रूप में देखा और मोहन के सिर में चक्कर आ गया।

आप में खोय मिलौ तुम पाँही। दूसर कौन लखै परछांही॥
तुमते नेह कन्त मम लागा। और मिल्यौ जस कनक सोहागा॥
मिलौ तुम्हें समुद्र होइ मोती। मोती प्राण कन्त तुम जोती।
तुम सरवर हम कंवल की गोई। तुम बिनु प्राण और कित होई।
तुम जग भानु चन्द्र होइ वारी। तुमही ज्योति रहै उजियारी।
हौं धन फूल बास तुम पीऊं। तुम बिनु नारि हाय बिन जीऊ।

व्याख्या—यह पद्यांश कविवर कासिमशाह द्वारा लिखित 'हंस जवाहर' नामक काव्य से उद्धृत किया गया है। जवाहर स्वप्न में हंस को देख रही है। इससे स्वप्न में उसका मिलन हो रहा है। इससे प्रथम मिलन का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

जवाहर हंस से कह रही है कि हे स्वामी! मैं अपने में स्वयं ही खोकर तुमसे मिल जाऊंगी। दूसरा कोई परछाहीं नहीं देख सकता। हे प्रियतम मेरा प्रेम तुमसे लग गया है और जिस प्रकार सोने में सुहागा मिल जाता है उसी प्रकार मैं तुमसे मिल गई हूँ। मैं तुममें समुद्र के मोती के समान मिल गई हूँ। हे प्रियतम यदि मेरे प्राण मोती के समान हैं तो तुम उसमें चमकने वाली ज्योति हो। यदि तुम तालाब हो तो मैं कमल की कली हूँ। हे प्रियतम तुम्हारे बिना प्राण रह नहीं सकते। तुम इस संसार में सूर्य के समान हो और मैं चन्द्रमा हूँ जिसका प्रकाश तुम्हारी ज्योति से ही है। हे प्रियतम मैं यदि पुष्प हूँ तो तुम उसमें निवास करने वाली सुगन्ध हो। तुम्हारे बिना स्त्री निर्जीव के समान है अर्थात् प्रियतम के बिना पत्नी का जीवन व्यर्थ है।

विशेष—यह पद्यांश यह व्यक्त करता है कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। जब आत्मा अपनत्व को भुलाकर अपने को उसी का रूपमात्र समझने लगती है तभी उसे उस परमात्मा के दर्शन होते हैं। कवि ने उपमा अलंकार द्वारा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति आज के साहित्य में भी दृष्टिगत होती है। निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में भी आत्मा और परमात्मा का यही सम्बन्ध प्रगट किया गया है।

कहा जाइ मैं लगी झरोखे। दरसन भएउ परस्पर धोखे।
दिस्ट परेउ बैरागी सूरति। चित्त हरेउ अनुरागी सूरति।
सुआ कहा वह कुंवर सनेही। है बैराग भेस मों एही।
सुन्दर दरसन चित्त समाना। भएउ सुखी तुम रंग पहिचाना।
आपुहि हेरत हौं घट माहीं। तेहि पावत हौं आपुहि नाहीं॥

व्याख्या—यह पद्यांश सूफी कवि नूरमुहम्मद रचित 'अनुराग बांसुरी' के साक्षात् खंड से उद्धृत किया गया है। सर्वमंगला अपने और अन्तःकरण के मिलने के सम्बन्ध में कहती है :—

मैं गवाक्ष से जाकर उसे देखने लगी और धोखे से मैंने उसके दर्शन कर लिए। मैंने देखा कि वह योगियों का सा वेश धारण किए हुए है। उस प्रेम-मयी मूर्ति ने मेरे चित्त को हरण कर लिया। तब सुआ ने कहा कि वही प्रेमी कुंवर है और वही वैरागी का सा वेश धारण किये हुए है। उसका सुन्दर दर्शन चित्त में समा गया है और तुम्हारे (अन्तःकरण के) रंग को पहचान कर सुख प्राप्त हो गया है। स्वयं अपने आप अपने हृदय में ही दर्शन करते हो। उसको अपने में ही प्राप्त किया जा सकता है।

कहा कि प्रीतम लीन्हेउ न प्राना। दिहेउ बिछोह किहेउ तन हाना।
तोरे दरस परस के आसा। रहेउ आस घट पंजर सांसा।
तुम अस कंत भुलायेहु मोही। मैं नित जरिउ सयन लखि तोही।
निसदिन सीस चढ़ायेहु खेहा। भसम किहेउ यह अम्बुज देहा।
तुम अस निठुर बिछोही, बहुरि न लीन्हा चाह।
मुयेउ सो विरहु बिछोह तें, अब कुछ करहु कि नाहु॥

व्याख्या—यह सन्दर्भ शेख निसार द्वारा लिखित यूसुफ जुलेखां नामक प्रेम कथा से अवतरित किया गया है। स्वप्न में यूसुफ और जुलेखां का मिलन हुआ। किन्तु जगने पर जुलेखां को अपने प्रियतम के दर्शन नहीं हुए। अतएव वह उस के वियोग में व्याकुल होकर कहने लगीं :—

हे प्रियतम आपने प्राणों को भी नहीं लिया। अच्छा होता कि इस वियोग द्वारा शरीर की हानि की अपेक्षा मेरे प्राणों को ले लेते। तेरे दर्शन तथा तेरे अंग स्पर्श की आशा से ही यह श्वास मेरे शरीर के पंजर में आ रही है अर्थात् तेरे मिलन की आशा में ही मैं जीवित हूँ। लेकिन हे प्रियतम ! आपने मुझे इस प्रकार विस्मृत कर दिया है कि मैं प्रतिदिन आपको स्वप्न में देख कर जलती रहती हूँ। मैं रात दिन अपने सिर पर भस्म चढ़ाती रहती हूँ और मैंने अपने कमल के समान कोमल शरीर को जलाकर भस्म कर लिया है किन्तु हे वियुक्त प्रियतम ! तुम इतने निष्ठुर हो कि तुमने पुनः मेरा कोई समाचार नहीं लिया, मुझे स्मरण नहीं किया। मैं वियोग की आग में जलने की अपेक्षा मृत भली हूँ। हे स्वामी ! अब भी आप कुछ करोगे अथवा नहीं अर्थात् हे प्रियतम! विरह चरम सीमा तक पहुंच चुका है अतः अब आपको मुझे कृपा करके दर्शन देना चाहिए।

खनी अतां याकूब के मानो। औ परमात्मा यूसुफ जानो ।।
घ्रान स्वाद इसपर्श करो मन। श्रवण शब्द नैनन का दर्शन ।।
चिन्ता चेत सन्देह परमाना। औ अनुमान सरन औ ग्याना ।।
यही जो ग्यारह हैं येहि गाता। जानूँ इन्हें यूसुफ के भ्राता ।।

व्याख्या—यह पद्यांश कवि नसीर की लेखनी से उद्‌भूत 'प्रेम दर्पण' नामक प्रेम काव्य से लिया गया है। कवि अपनी कहानी का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट करते हुए कहता है—

इस कहानी में याकूब को रूह मुअद्दन समझना चाहिये तथा यूसुफ परमात्मा की भूमिका में वर्णित है। घ्राणेन्द्रिय (नाक), जिह्वा, स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा), श्रवणेन्द्रिय (कान), दृष्टि अर्थात् नेत्र और मन, चित्त, सन्देह और प्रमाण का आधार चेतना, अनुमान, शरण और ज्ञान ये ग्यारह यूसुफ के भाई हैं।

विशेष—जिस प्रकार भाई एक ही पिता की सन्तान हैं तथा सब में एक

ही तत्व निहित रहता है और परस्पर सब का सम्बन्ध है उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ, मन आदि भी एक ही शरीर के अंग हैं और यह शरीर परमात्मा द्वारा प्रदत्त है। इसी कारण सबका पारस्परिक सम्बन्ध भाइयों जैसा है और इन सब की साधना ही परमात्मा के मिलन के द्वार को उन्मुक्त करती है।

नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौंहें हैं दुई पला॥
चांद सूरज दुनौ सुर चल ही। सेत लिलार नखत झलमलही॥
जागत निस दिन सोवत मांझा। हरस भोर विसमय होइ सांझा॥
सुख बैकुंठ भुगुति और भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू॥
बरसा रुदन गरज अति कोहू। बिजुरी हंसी हिवंचल छोहू॥
घरी पहर बेहर हर सांसा। बीते छओ ऋतु बारह मासा॥

व्याख्या—यह पद्यांश मलिक मुहम्मद जायसी के सैद्धान्तिक ग्रन्थ अखरावट में अवतरित किया गया है। कवि श्रेष्ठ पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता प्रतिपादित करते हुए कहता है:—

नाक मानो पुले-सरात का मार्ग है और भौंहें उस पुल के दोनों दाहिने और बायें पार्श्व हैं जिसमें दाहिना पार्श्व पुण्यात्माओं के जाने के लिए है और बायें पार्श्व से पापी लोग जाया करते हैं। चांद और सूर्य दोनों स्वर चलते हैं अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ियों में होकर श्वास का प्रवाह चलता है। श्वेत मस्तक नक्षत्रों के समान दीप्तिमान् है। शरीर की जागृत अवस्था को दिन समझना चाहिए और सुप्तावस्था रात्रि की प्रतीक है। जिस समय शरीर में हर्ष का संचार हो उसे प्रातःकाल समझना चाहिये और विषाद की अवस्था सन्ध्या काल की बोधक है। अनेक प्रकार के सुख तथा भोग-विलास के साधन उपलब्ध हों उसे वैकुण्ठ मानना चाहिये और रोगों के उत्पन्न होने को तथा उनसे दुख होने को नरक की संज्ञा दी गई है। रुदन वर्षा का सूचक है और क्रोध की अवस्था मेघ गर्जन है। हास्य विद्युत की आभा को प्रकट करने वाला है तथा अनुग्रह को हिम की वृष्टि समझना चाहिये। इस प्रकार घड़ी, प्रहर, चन्द्र, सूर्य, रात, दिन, ऋतु, मास, वर्षा, चमक, गरज, युग आदि इस शरीर के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

विशेष—'पुले सरात' इस्लाम धर्म के अनुसार कल्पित वैतरणी का पुल

जो पापियों के लिए तो एक बाल के बराबर होता है तथा पुण्यात्माओं के लिये पर्याप्त चौड़ा हो जाता है। कवि ने नाक को वही पुल माना है। क्योंकि नाक के दोनों नथनों में होकर इड़ा-पिंगला नाड़ियों द्वारा श्वास आता है और उसी श्वास के अवरोधन से प्राणायाम द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। भौंहों को पार्श्व इसलिए बताया गया है क्योंकि भौंहों के मिलन-स्थान अर्थात् त्रिकुटी पर ही ध्यान का अवस्थान होता है। इस प्रकार ये पंक्तियां हठयोग की प्रक्रिया की ओर संकेत करती हैं।

सूली के पार मेहर पेखा, मलकूत, जबरूत, लाहूत तीनों।
लाहूत सेती नासूत है रे, हाहूत के रस में रंग भीनो॥
धुवां होइ कै ऊपर चढ़ो, मुतलक मोती का नूर चूनो।
आंखिन चितै कै बैठि यारी, माते माते माते बूनो॥

व्याख्या—यह पद्यांश सूफी कवि यारी साहब के झूलनाओं में से उद्धृत किया गया है। कवि आध्यात्मिक सोपानों का वर्णन करते हुए साधना पथ का परिचय देता है :—

जब मेरा सांसारिक जीवन नष्ट हो गया अर्थात् मैं जीवनमुक्त हो गया तो मैंने उस प्रकाशपूर्ण सूर्य अर्थात् परमात्मा के दर्शन किये और मैं तीनों आध्यात्मिक स्थितियों को प्राप्त करता हुआ बढ़ता चला गया। अर्थात् पहले मुझे देवत्व की दशा प्राप्त हुई, फिर मुझ में ईश्वरीय शक्ति का उदय हुआ, तदनन्तर परमात्मभाव को प्राप्त करके मैं बढ़ता ही गया। देवत्व की दशा मानवीय दशा से आगे आती है। इस प्रकार मैंने सभी अवस्थाओं को पार कर लिया है और अब मैं पाँचवी अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त कर रहा हूँ। मैंने अपने को शून्यवत् बना दिया है; जो अपने को मिटा देता है वही इन क्रमिक अवस्थाओं को पार कर सकता है। इसलिए अपनत्व को मिटाकर उस वास्तविक मोती अर्थात् परमात्मतत्व की ज्योति की आभा को ही ग्रहण करो। स्वयं उसका प्रत्यक्ष दर्शन करो और फिर बैठकर मस्ती के साथ उसे गूंथा करो अर्थात् उसके दर्शन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द का उपभोग करते रहो।

जब चलते चलते रस्ते में, यह गौन तेरी ढल जायगी ।
एक बधिया तेरी मिट्टी पर, फिर घास न चरने आएगी ॥
यह खेप जो तूने लादी है, सब हिस्सों में बट जायगी ।
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या, बंजारन पास न आएगी ।
सब ठाठ पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बंजारा ॥

व्याख्या—यह पद्यांश अली मुहम्मद नजीर अकबराबादी की शायरी का सुन्दर आदर्श है । कवि संसार की अनित्यता को समझाते हुए चेतावनी देता हुआ कहता है : —

हे मानव ! जब मार्ग में चलते-चलते तेरे बोझे की यह गठरी फिसलने लगेगी अर्थात् जब वृद्धावस्था के कारण तेरा शरीर शिथिल हो जायगा, उस समय तेरी बधिया उस पृथ्वी पर घास नहीं चरने आयेगी अर्थात् उस समय तेरी बुद्धि को सांसारिक चक्र से मुक्त करने का कोई उपाय नहीं सूझेगा । तूने अपने जीवन में जो खेप लादवी है वह हिस्से में विभक्त हो जायगी अर्थात् जो पाप-पुण्य तूने जीवन में किये हैं और उनसे जिस सम्पत्ति का अर्जन किया है, वह सम्पत्ति तेरे सम्बन्धी आपस में विभाजित कर लेंगे । अन्त में जब बंजारा लाद कर चलेगा अर्थात् तेरा अन्त समय निकट आयेगा; उस समय तैंने जो यह ऐश्वर्य उपार्जन किया है, वह यों ही पड़ा रह जायगा । उस समय तो तेरे निकट पुत्री, पुत्र और जामाता का तो कहना ही क्या है, स्त्री तक नहीं आयगी । अतएव तू चेत और कुछ परलोक का चिन्ता कर ।

हिन्दी प्रेम-गाथा : काव्य-संग्रह

प्रश्न १—प्रेमगाथा काव्य के उद्गम-कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसका इतिहास बताइए।

उत्तर—प्रेमगाथा काव्य का उद्गम सूफी सम्प्रदाय की विचारधाराओं और गूढ़ चिन्तनों के वातावरण में ही ढूंढा जा सकता है। सूफी शब्द की व्युत्पत्तियां कितने ही लोग कितने ही प्रकार से देते हैं। मदीना शरीफ के 'सुफ्फा' चबूतरे से लेकर 'सूफ' सफेद—ऊन तक से इसका सम्बन्ध लोग ज़ोड़ते हैं। किन्तु सब से बुद्धिग्राह्य तर्क 'सोफिया' शब्द से 'सूफी' का जन्म मानना है। 'सोफिया' शब्द का अर्थ है ज्ञान और 'सूफी' सम्प्रदाय का तत्व-ज्ञान भी विश्रुत है। व्यापकता में दोनों ही शब्द एक-प्राण दिखाई पड़ते हैं। सूफी सिद्धान्तों की परम्परा बहुत पुरानी है—यूनानी सभ्यता से भी पुरानी। कौन कह सकता है—इसकी परम्परा भारतीय दर्शन के आधार पर प्रारम्भ हुई हो।

सूफी लोग मर्मी किंवा रहस्यवादियों की सीमा में ही शुमार किए जाते हैं। परात्पर सत्ता के साथ मनुष्य का निजी और भावात्मक सम्बन्ध, फिर मिलन और विरह की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति, इन्हीं तत्वों में रहस्यवाद अपना रूप ग्रहण करता है। ससीम का असीम के साथ मिलना जिस आनन्द की सृष्टि करता है, वह व्यक्त करने की वस्तु नहीं होता—कबीर जैसे रहस्यवादी भी उसे रूपकों और प्रतीकों में ही व्यक्त कर पाते हैं। और इसमें तो सन्देह ही नहीं कि मनुष्यों में जितनी तीव्रता, मधुरता और कोमलता दाम्पत्य और वात्सल्य भाव की रहती है, उतनी और किसी भाव की नहीं। दाम्पत्य भाव में एक निजीपन और आनन्दपूर्ण रहस्यमयता रहती है। उसी आनन्दपूर्ण रहस्यमयता का जब साधक परात्पर सत्ता के सम्बन्ध में अनुभव करने लगता है, तभी रहस्यवाद का प्रवेश द्वार सामने आ जाता है। यह

भावात्मक सम्बन्ध भगवान् के निर्गुण और सगुण दोनो ही रूपों के साथ स्थापित किया जा सकता है । ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में दाम्पत्य भावना की छाया उपनिषदों में भी प्राप्त है। उपनिषद् की ही वाणी है—'जिस प्रकार प्रियतमा द्वारा भली प्रकार आलिंगित किया हुआ पुरुष न भीतर की किसी वस्तु का ज्ञान रखता है, न बाहर का, उसी प्रकार यह जीव ज्ञान-धाम परमात्मा से मिलकर न भीतर का कुछ बता सकता है न बाहर का । वह उस समय आप्त-काम होजाता है । बाइबल न्यू टेस्टामेंट में प्रभु ईसा को दूल्हा और उनमें विश्वास रखने वाले समाज को दुलहिन बनाया गया है । इन सब बातों को समझते हुए, इसमें कोई भ्रम नहीं रह जाता कि मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय का ज्ञान यूनानियों के 'सोफिया' वर्ग से आया ।

शुद्ध इस्लाम धर्म में प्रेम और मादन भाव के लिए बहुत कम स्थान है । किन्तु कोई भी धर्म प्रकृति और प्रवृत्ति को बदल सके—ऐसा नहीं देखा गया है। अरब के लोगों में भी प्रेम अपना रंग जमाने में सफल हुआ तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं । अरब के कवियों में अरबी और फारिज ऐसे दो कवि हुए। उन्होंने इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) से इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) पर जाने का प्रयत्न किया है ।

मुस्लिम जगत् में प्रेम की आवाज लगाने वालों में नारी कवि राबिया (मृ० संवत् ८०९) का नाम सब से आगे है । यह बसरा की रहने वाली थी । इसको इस्लाम की मीरा कहना अनुचित नहीं होगा । प्रारम्भ में तो इस्लाम के कट्टरपन्थियों, मुल्लाओं और खलीफाओं का रोष ही सूफी हृदयों को मिला—उन्हें कुफ्र करने वाला बताया गया । मंसूर या हल्लाज (मृत्यु ८३१) को 'अनल हक' कहने की सजा में शूली का आलिंगन करना पड़ा, किन्तु मंसूर का बलिदान पाकर अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) की ज्वाला और भी प्रज्वलित ही हुई । आखिर में इस्लाम को तसव्वुफ से समझौता करना पड़ा । इमाम गज्जाली ने दोनों के चलते द्वेष को मिटाया, तो ईरान में मुस्लिम कट्टरता के मन्द पड़ने पर वहीं सूफी कविता चेती । मौलाना रूम, हाफिज, अत्तार आदि ऊंचे दर्जे के कवि हुए । उमर खैयाम तो अपनी रुबाइयों में सुरा

और सुन्दरी को ही सब कुछ बता गया। भाव प्रतीक रूप में कहने वाले कहते हैं—खैयाम भी इश्क हकीकी का ही प्रतिष्ठापक था।

हिन्दुस्तान में सूफी सम्प्रदाय मुहम्मद बिन कासिम के साथ आए अरबों के साथ पहुँचा। प्रथम-प्रथम उनका सम्पर्क सिन्ध के हिन्दुओं से हुआ। यहाँ के दार्शनिक वातावरण में सूफी सम्प्रदाय खूब पनपा। मुलतान सूफियों का केन्द्र-स्थल बन गया। यह सही है कि पीछे मुसलमानों का आगमन यहाँ मारकाट से ही भरा रहा, किन्तु सूफी लोग उस वातावरण में भी अपना प्रेम-सन्देश लोगों को सुनाते रहे। यहाँ के मुसलमानों में अबुलहसन हुज हुज्विरी बहुत प्रसिद्ध सूफी हुए हैं। उनका लिखा 'कशफुल महजूब' सूफी सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। यहीं से सूफियों के कई सिलसिले चले। उनमें चिस्ती, सुहरा-वर्दी, कादिरी, शत्तारी और नक्शबन्दी प्रमुख कहे जाते हैं। इनमें मुईउद्दीन चिस्ती १३४६ में शाहबुद्दीन गौरी के साथ भारत आये थे। सलीम चिस्ती का भी सूफी फकीरों में बड़ा नाम है। शाहजहाँ का बेटा दारा शिकोह भी सूफी सम्प्रदाय का पोषक और भक्त रहा है। इसका सम्बन्ध कादिरी वंश से था। ख्वाजा बहीउद्दीन नक्शबन्दियों में से थे। जायसी का लगाव चिस्ती खानदान से था ऐसा समझा जाता है।

सूफी लोग स्वतन्त्र प्रकृति के थे—यह मान लेने के बाद भी ऐसा कहना कठिन है कि वे इस्लाम के घेरे से बाहर थे। यह तो सही है कि अन्य धर्मों के प्रति उनकी भावना उदार थी, वे उनका आदर करते थे, फिर भी उनकी निष्ठा और श्रद्धा इस्लाम में ही थी। जायसी जैसे उदार कवि-हृदय, पर भी इस्लाम का भूत हावी था। सब कुछ कहने के बाद भी वह बीच-बीच में 'सों बड़ धर्म मुहम्मद मेरा' कहकर अपने को पक्का इस्लाम पंथी बता चुका है। फर्क इतना ही है कि साधारण मुसलमान कुरान की आज्ञाओं को ईश्वर वाक्य के रूप में आँखें मूँदकर मानता है और सूफी लोगों का मत भावना प्रधान है। साधारण मुसलमान कुरान में अक्ल का दखल कुफ्र मानता है और सूफी मत में स्वतन्त्र चिंतन है। शराब को लेकर कहीं-कहीं सूफियों ने शरीयत की अवहेलना भी की है। बुत तो उनके यहाँ प्रेम का प्रतीक है।

मुसलमानों के एकेश्वरवाद में अल्लाह की मुख्यता है, किन्तु उसी के साथ मुहम्मद रसूल-अल्लाह को भी प्रधानता दी गई है। सूफियों ने इस व्यापकता को कुछ और आगे बढ़ाया। रसूल में व्यक्तित्व की प्रधानता पाकर सूफियों ने उन्हें स्वभाव से अपने प्रेम का आधार बनाया।

जीव या सालिक किंवा साधक का मुख्य लक्ष्य है—ईश्वरीय सत्ता के साथ तल्लीनता प्राप्त करना। इसके लिये मनुष्य के चार विभागों को समझ लेना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—

नफ्स (इन्द्रियाँ और चंचल चित्तवृत्तियां), रूह (आत्मा), कल्ब (हृदय जिस पर परमेश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ता है) और अक्ल (बुद्धि)। नफ्स का निरोध ही साधक का परम लक्ष्य है। योग को भी पतंजलि ने चित्तवृत्ति का निरोध कहा है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" नफ्स के प्रबल रहते हुए कल्ब की शुद्धि कठिन है—जायसी का संकेत इसी शुद्धि और परिमार्जन की ओर है।

"तन दरपन कहँ साजु, दरसन देखा जो चहे।
मन सों लीजिय मांजि, मुहम्मद निरमल होइहिया॥"

कबीर का कथन भी इसी से मिलता-जुलता कथन है—

"जो मुख देखा चहिए, दरपन को मांजत रहिए।
जो पार उतरिवो चहिए, केवट से मिलकर रहिए॥"

यह बताना व्यर्थ है कि सूफी धारा और ज्ञानमार्गी धारा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इतना अवश्य है कि ज्ञान मार्गी धारा तनिक विशेष गम्भीर है।

कल्ब को अन्तःकरण की भांति सूफियों ने भौतिक पदार्थ ही माना है। हाँ, उसमें अल्लाह की छाया पड़ने से कभी उसका रूप अभौतिक भी हो जाता है। कल्ब का एक सूक्ष्मतम अंश है जिसको 'सिर्र' कहते हैं। सिर्र से मनुष्य में निष्कामता और संन्यास की भावना आती है। यह ईश्वरी जमाल (माधुर्य) का प्रसाद है। कल्ब पर पड़े हुए चित्र ही आत्मा में ज्ञान रूप हो जाते हैं।

कल्ब रूह की उन्नति का साधक है। सूफी लोग अक्ल को नफ्स से तो ऊंचा मानते हैं किन्तु उसको तथा उसके द्वारा प्राप्त इल्म (ज्ञान) को ईश्वर प्राप्ति में बाधक समझते हैं।

सूफी सम्प्रदाय की मान्यता में मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—

शरीयत—अर्थात् धर्मग्रन्थों के नियमों का विधिवत् पालन। इसमें बाहरी कर्मकांड ही अधिक है।

तरीकत—केवल हृदय की शुद्धता द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार।

हकीकत—सत्य या तत्व दृष्टि की प्राप्ति।

मारफत—अर्थात् सिद्धावस्था, जिसमें साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है और वह सर्वथा प्रेम रूप हो जाता है।

शरीयत के विरोध में सूफियों ने कहीं कुछ नहीं कहा है—ऐसी बात नहीं, फिर भी शरीयत का तिरस्कार सूफी ग्रन्थों में नहीं किया गया।

जायसी के शब्दों में—

'चारि बसेरे सौं चढै, सत सौं उतरे पार।'

इन चार प्रक्रमों के बाद ही ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है।

जहाँ तक सर्वात्मवाद का प्रश्न है—सूफियों ने सर्वात्मवाद को स्वीकार किया है किन्तु उसे प्रतिबिम्बवाद से मिला दिया है। जगत् के सम्बन्ध में कितनी ही कल्पनाएँ की जा सकती हैं। जगत् विवर्त हैं, उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं—पानी का बुलबुला आखिर तक कोई महत्व नहीं रखता। सूफियों ने जगत को ईश्वर का प्रतिबिंब कहा है। प्रतिबिंबवाद का उदाहरण भी जायसी के द्वारा अच्छा उतरा है—

"नयन जो देखे कंवल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखे हँस भा, दसन जोति नग हीर॥"

इसे उपनिषद् वाक्य से मिलाकर देखिए—उपनिषद् कहती है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' इतना ही क्यों—हिन्दी के सूफी कवियों पर भारतीय

सर्वात्मवाद के अतिरिक्त हठयोग का भी काफी प्रभाव पड़ा—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' कि सार्थकता को सूफियों ने सर्वांश में स्वीकार कर लिया।

सातौं दीप, नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहि।
जो बरम्हंड सौ पिंड है, हेरत अंत न जाहि॥

(जायसी)

प्राणायाम साधना भी भारतीय सम्पत्ति के रूप में ही सूफियों को मिली—

"चांद-सुरुज दोनों सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं।"

की छाया में जायसी स्वराभ्यास का ही वर्णन करता है। सच्चा मुसलमान रहते हुए भी भारतीय सूफी सम्प्रदाय अरब का सूफी सम्प्रदाय नहीं रह गया।

प्रेम की सीमा में आकर सूफी मत कुछ विशेष नहीं–बहुत ही विशेष रूप में उदार हो गया। अपनी प्रेम-गाथाओं द्वारा उसने यह सिद्ध कर दिया कि सभी मनुष्यों के हृदय में, चाहे वे हिन्दू हों चाहे मुसलमान, किंवा किसी और सम्प्रदाय के—उनमें प्रेम की भावना समान ही होती है। इन लोगों ने आख्यानक काव्य द्वारा यह दिखाया कि किसी के रूप-गुण से आकर्षित होकर उससे तादात्म्य प्राप्त करने की इच्छा करना, इस कार्य की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के कष्ट झेलना, अन्त में उसकी प्राप्ति से सुख, फिर उसके वियोग के दुःख और प्रेम की पीर आदि हृदय के विविध भाव तथा उसकी तरंगें—क्या हिन्दू क्या मुसलमान, सभी के हृदय में समान रूप से उठती है। इन लोगों ने मुसलमान होकर भी, हिन्दू घरानों में प्रचलित प्रेम-कहानियों को उन्हीं की भाषा में कहा। और अपने ढंग से यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ प्रेम है वहाँ जाति, सम्प्रदाय और मतमतान्तर का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। वैसे प्रेमगाथाओं का क्रम तो संस्कृत और अपभ्रंश में पुराने काल से ही आ रहा था, वीरगाथा काल भी प्रेमगाथा से पृथक् नहीं किया जा सकता फिर भी हिन्दी में नवीन रूप से उसे इन मुसलमान सूफी कवियों ने ही प्रस्तुत किया। इस दिशा में प्रथम कवि मुल्ला दाऊद हुए। ये अलाउद्दीन खिलजी के समय में थे। इनका कविता काल संवत् १३७५ के आस-पास

माना जाता है। इन्होंने 'नूरक और चन्दा' नाम की प्रेमगाथा लिखी, किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं है। अतः हिसाब से दूसरे किन्तु रचना-उपलब्धि के लिहाज से प्रथम कवि शेख कुतुबन हैं। ये चिस्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनकी रचना 'मृगावती' (निर्माण काल ६०६ हिजरी अर्थात् १५५६ वि०) ही पहला आख्यानक काव्य है। इसमें अवधी बोली में, दोहा-चौपाइयों में, चन्द्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपमुरारि की राजकन्या मृगावती की प्रेम कहानी वर्णित है। मृगावती उड़ने की विद्या में पारंगत थी। एक दिन राजकुमार को धोखा देकर वह उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में निकला। मार्ग में उसने रुक्मिणी नाम की एक सुन्दरी कन्या की रक्षा राक्षस के हाथ से की। उसके पिता ने उसका विवाह राजकुमार के साथ कर दिया, किन्तु राजकुमार के हृदय से मृगावती की जिज्ञासा नहीं मिटी। वह उसकी खोज में तत्पर रहा और अन्त में वहां पहुँच गया, जहां मृगावती अपने पिता के देहावसान के पश्चात् उनकी गद्दी सम्भाल रही थी। वहाँ वह बारह वर्ष रहा। राजकुमार के पिता को खबर लगी, तब उसने उसे बुलवाया। राजकुमार मृगावती तथा रुक्मिणी को साथ लेकर अपने नगर पहुँचा। वहाँ आखेट में हाथी से गिरकर उसकी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण आख्यानक काव्य प्रेममार्ग की कठिनाइयों से ओत-प्रोत है। बीच-बीच में सूफी सिद्धान्तों की झलक दिखाई गई है। इसी परम्परा का निर्वाह मंझन, जायसी, उसमान, नूर मुहम्मद तथा शेख निसार आदि कवियों ने किया।

आख्यानक काव्यों की रचना शैली अपने ढंग की अनोखी है। सूफी कवियों की अपनी परिपाटी ही सभी आख्यानक काव्यों में समान रूप से दर्शित है। भारतीय साहित्य में प्रबन्ध-काव्य की पुरानी सर्गबद्ध प्रथा इन रचनाओं में देखने में नहीं आती। इन्होंने फारसी की मसनवियों को ही अपना आदर्श बनाया है। इनमें विस्तार के अनुसार कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होती। एक सिरे से इनका क्रम अखंड रूप से चला जाता है—केवल कहीं-कहीं घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षकों के रूप में दे

दिया जाता है। मसनवियों की रचना में साहित्य परम्पराओं का विशेष पालन नहीं होता। इतना अवश्य आवश्यक होता है कि सारी रचना एक ही छंद में हो। फिर भी कथा वस्तु के संबंध में एक परम्परा अवश्य काम करती है। जैसे प्रारम्भ में परमेश्वर, नबी और तत्कालीन बादशाह की स्तुति, किसी भी आख्यानक काव्य में इसका उल्लंघन नहीं मिलता है। फिर सभी ने अपने गुरुओं का तथा अपने जन्म-स्थान का वर्णन भी अवश्य दिया है। छंद भी इन लोगों ने दोहा-चौपाई ही (सात-सात या कहीं-कहीं नौ-नौ चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा) रखा है जायसी के पूर्व के कवियों ने पांच-पांच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा प्रस्तुत किया है। सूफियों की प्रेम गाथा की एक आंतरिक विशेषता यह भी है कि पुरानी कथाओं में एक नया अर्थ भरा गया है। यह बात मृगावती में कुतुबन ने स्पष्ट कर दी है। 'पुनि हम अर्थ खोल सब कहा' यह आध्यात्मिक संकेत ही इनकी विशेषता है।

सब से मार्के की बात इन आख्यानक काव्यों के सम्बन्ध में यही है कि ये सभी अवधी में और दोहा-चौपाइयों में लिखे गये हैं। अब तक जिन दस आख्यानक काव्यों का पता लगा है—और जिनमें से तीन चार तो प्रकाश में भी आ चुके हैं सभी की भाषा, शैली तथा विषय निर्वाह आदि में आश्चर्य-जनक समानता है। यदि लेखकों के भिन्न-भिन्न नाम न बताये जायं तो पाठक के लिये यह समझना कठिन है कि ये रचना कई लेखकों की हैं। विषय भी सबके मिलते-जुलते ही हैं। कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर या प्रत्यक्ष किंवा स्वप्न में देखकर मोहित होता है। उधर भी यह हालत होती है। अन्त में वह कुछ विश्वस्त साथियों को साथ लेकर खोज में चल पड़ता है। प्रायः उसे कोई न कोई मार्ग प्रदर्शक भी मिल जाता है। यह मार्गप्रदर्शक अधिकतर राजकुमारी का भेजा हुआ दूत या काम करने वाला कोई पक्षी या तोता हुआ करता है। राह में उसे बड़ी विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कई बार फलागम होते-होते कोई ऐसा विघ्न आ जाता है या उससे कोई ऐसी भूल हो जाती है, जिससे उसकी उद्देश्य-सिद्धि फिर से एक अनिश्चित काल के लिये रुक जाती है।

इन आख्यानक काव्यों में वह अंश भी सर्वथा महत्त्वपूर्ण अंश होता है जिसका सम्बन्ध अध्यात्म या रहस्यवाद से होता है। लौकिक कथा कहते हुए भी कवि की दृष्टि सदा परोक्ष की ओर होती है। आख्यानक के अन्त में कवि स्पष्ट ही कहता है कि यह सारी कथा अन्योक्ति रूप में कही गई है। जायसी ने तो पद्मावती तक पहुँचाने वाले सुआ को गुरु, राघव दूत को शैतान, रानी नागमती को सांसारिक बंधन तथा सुलतान अलाउद्दीन को माया का प्रतिनिधि बताया है।

'गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया-धंधा। बांचा सोई न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।'

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से भाव रहस्यवाद से संबन्धित इन आख्यानक काव्यों में मिलते हैं। प्रेममार्गी सूफियों ने भारतीय हठयोग को भी अपनाया—ऐसा हम प्रथम कह चुके हैं। जायसी और नूर मुहम्मद का गढ़ वर्णन इस सत्य को और भी प्रकाश में ला देता है—

नवौ खंड नव पंवरी, औ तहं वज्र केवार।
चार बसेरे सौ चढ़ै, सत सौं उतरै पार।
नव पौरी पर दसम दुवारा। तेहि पर बाज राज घरियारा॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर-पहर सो आपन बारी॥
जब ही घरी पूज तेहि मारा। घरी घरी घरियार पुकारा॥

जायसी के उपर्युक्त कथन से अपने को मिलाकर नूर मुहम्मद भी कहते है—

राजै गढ़ नौ खंड बनाया। ऊंच गगन लग ताहि उठाया॥
गढ़ के ऊपर ठीक ही, घड़ियाली घड़ियाल॥
निसि दिन बैठे साधै, घड़ी मुहूरत काल॥

नैहर से पतिगृह जाने का रूपक और सरोवर में स्नान की बात भी जायसी और नूर मुहम्मद दोनों ने कही है। इसमें परमात्मा को पति रूप से मानने की झलक है।

प्रतिबिंबवाद की भावना की छाया जायसी, उसमान और नूर मुहम्मद की रचनाओं में स्पष्ट है—यदि जायसी "बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा—" कहता है तो उसमान का कथन होता है—

"चित्रहिं मह सो आहि चितेरा। निर्मल दिष्टि पाउ सो हेरा ॥

नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' में प्रतिबिम्बवाद और भी ऊपर उठ गया है—

दिष्ट परी तनु पुलिका भई। देखिन परी परी सम गई ॥

एक शब्द में—आख्यानक काव्यों में नख-शिख-वर्णन, बारहमासा और विरह वर्णन के सम्बन्ध में सभी में समान भाव पाये जाते हैं। सूफियों की प्रेम-पीर ही विरह वर्णन का मुख्य अंग है और उसका प्रवाह यूसफ जुलेखा और मधु-मालती में भी एक रस है। लगता है—इसी प्रेम पीर-वर्णन के लिए आख्यानक काव्यों की सार्थकता स्वीकार की गई।

प्रश्न २—प्रेम गाथा काव्य के रचयिताओं में से उसमान, आलम, नूर मुहम्मद तथा शेख निसार का परिचय देते हुए उनकी रचनाओं का भी आलोचनात्मक परिचय दीजिये।

उत्तर—जायसी का वर्णन प्रस्तुत पथ-प्रदर्शक में पूर्व ही 'सूफी काव्य संग्रह' में ही हो चुका है और व्यापक रूप में हो चुका है, यहां फिर से इसका उल्लेख व्यर्थ है।

उसमान की रचनाओं से पता चलता है कि उनका जन्म स्थान गाजीपुर था। उन्होंने अपनी रचना में तत्कालीन नगर का सुन्दर और सजीव वर्णन दिया है।

गाजीपुर उत्तम अस्थाना। देव स्थान आदि जग जाना ॥
गंगा मिलि तहं जमुना आई। बीच मिली गोमती सुहाई ॥
तिर धारा उत्तम तट चीन्हा। द्वापर तहं देवतन्ह तप कीन्हा ॥

इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पांच भाई थे। हुसैन के पाँचों पुत्र योग्य और किसी न किसी कला में पारंगत थे।

फिर भी अन्य मसनवी कवियों की भाँति उसमान ने पिता की वंश परम्परा किंवा गुरु परम्परा की तालिका नहीं दी है। ग्रन्थारंभ में शाह निजामउद्दीन चिस्ती तथा एक बाबा हाजी की प्रशंसा इन्होंने अवश्य की है, हाजी बाबा को तो इन्होंने अपना गुरु बताया है। अतः इनका सम्बन्ध किसी खास वंश से नहीं जोड़ा जा सकता। अपनी विद्या-बुद्धि के परिचय में भी उसमान (उपनाम 'मान') बहुत नम्र रहे। इन्होंने सिर्फ इतना ही कहना उचित समझा कि चार अच्छर पढ़ना हमने सीखा है और वह भी भाग्यवश ही।

आदि हुता विधि माथे लिखा । अच्छ चारि पढ़ हम सिखा ।।

उक्त पंक्ति से कवि की उच्चता और विनयशीलता दोनों एक साथ प्रकट होती हैं। वैसे इतना तो इनकी कविता से प्रकट है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा इस वर्ग के सभी कवियों से शायद ऊंचे दर्जे की थी।

कवि ने अपनी रचना 'चित्रावली' का रचना काल सन् १०२२ हिजरी दिया है और तदनुसार ईसवी सन् के रूप में १६१५ का समय सामने आता है।

शैली, भाषा तथा प्रबंध कौशल में जायसी और उसमान में समानता है। जायसी की रचना उसमान से ७५ वर्ष पहले की है। जहां तक परिमार्जित भाषा और व्याकरण के नियमों के निर्वाह की बात है, उसमान जायसी से आगे है, साथ ही जायसी की भाँति इन्होंने अपनी रचना में इतिहास और कल्पना की खिचड़ी भी नहीं पकाई है। इनकी कथा पूर्णतः काल्पनिक है और इन्हीं के मस्तिष्क की उपज है। अपने परिश्रम का इनको उचित गर्व भी है—ये कहते हैं—"जाकी बुद्धि होइ अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई" शब्द यहां बनाई ध्यान देने योग्य है। पुराने और इतिहास की बनी बनाई सामग्री लेकर तो बहुतों ने प्रेम गाथा लिखी पर कोई इस प्रकार निराधार गाथा लिखे तो हम जानें। ये स्पष्ट कहते हैं—

कथा एक मैं हिय उपाई। कहत मीठ और सुनत मोहाई ।।
कहीं बनाय जैसे मोहि सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ।।

कवि की निधन तिथि का निर्णय कठिन है, इसके लिये कोई साधन प्राप्त नहीं। इतना तक सोचा जा सकता है कि ये जहांगीर के समय में विद्यमान थे।

'चित्रावली' का आख्यान सार रूप में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि नेपाल का राजा धरनीधर पंवार कुल का क्षत्रिय था। वह निस्संतान था और इस कारण बड़ा दुखी रहता था। इस दुःख से उसे इतनी ग्लानि हुई कि वह राजपाट छोड़कर जंगल जाने और तपस्या करने को उद्यत हो गया, पर मंत्रियों के समझाने-बुझाने से राज्य में ही क्षेत्र (सत्र) स्थापित कर शिव आराधना में दत्तचित हुआ। शिव-पार्वती उसके उग्रतप से प्रभावित होकर उसकी परीक्षा लेने आये और भेंट स्वरूप उसका सिर मांगा। वह तलवार उठाकर अपना सिर कटाने को ही था कि भगवान् शिव ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोले—तुझे पुत्र रत्न प्राप्त होगा, जो कुछ दिन योगाभ्यास करेगा और एक अनिंद्य सुन्दरी के प्रेम-पाश में भी बंधेगा।

भगवान् की दया से राजा धरनीधर के एक पुत्र हुआ, जिसकी कुण्डली आदि बनाकर ज्योतिषियों ने उसका नाम 'सुजान' रखा। समय पाकर यह राज-कुमार कामदेव की भांति सुन्दर, महा पराक्रमी और अपूर्व विद्या-बुद्धिसम्पन्न हुआ।

एक दिन की घटना है, सुजान शिकार खेलने जाकर, राह भूलकर, किसी देव की मढ़ी में जा सोया। उस देव ने उसकी असहाय अवस्था देखकर उस पर बड़ी दया की और हर प्रकार से उसकी रक्षा का भार लिया। इसी बीच उस देव का कोई मित्र वहां आया और उसने कहा कि आज रूपनगर में राजकुमारी चित्रावली की वर्ष-गांठ का जलसा है, चलो देख आवें। पर उसने कहा—हमने राजकुमार की रक्षा का भार ले रखा है, इसे कहाँ फेंकें ? उसने कहा—इसे भी वहां ले चलो, सो रहा है कहीं रख देंगे फिर लौटने समय उठाते लायेंगे। यह राय तय कर वे दोनों देव आकाश-मार्ग से सुजान को लेकर उड़े और वहाँ जाकर चित्रावली की चित्रसारी में उसे सुला दिया और स्वयं उत्सव देखने बाहर चले गये।

इधर सुजान की नींद टूटी तो बहुत ही घबड़ाया। चित्रसारी का दृश्य उसके लिये सर्वथा नवीन था। चित्रावली का चित्र बड़ा ही मोहक था, उसनेउसी की बगल में अपना चित्र बना देने की बात सोची। वह चित्र बना कर सो गया। दोनों देव भी उसे पुनर्वार सोते में उठाकर जंगल ले आये। प्रातः काल सुजान को बीते दृश्य स्वप्नवत् ज्ञात हुए, किन्तु अपने शरीर पर पड़े रंगों के दाग से वह मान गया कि उसकी पिछली रात चित्रसारी में कटी है।

उधर कुमार का चित्र अपने चित्र की बगल में चित्रित देख चित्रावली का भी यही हाल हुआ। उसने अपने भृत्यों को कुमार की खोज में रवाना किया। चित्रावली की माता, किसी प्रकार यह सुनकर बहुत अप्रसन्न हुई कि राजकुमारी एक अज्ञात व्यक्ति पर मुग्ध है और उसका चित्र बनाती है। उसने उस चित्र को धुलवा दिया। जिस कुटीचर ने माता के पास तक राजकुमारी की शिकायत पहुँचाई थी, राजकुमारी ने उसे दुर्गतिपूर्वक राज्य से बाहर करवा दिया। इसी बीच एक योगी ने राजकुमार और राजकुमारी की मुलाकात शिव के मन्दिर में करवा दी। दोनों की मुलाकात तो हुई, किन्तु निर्वासित कुटीचर ने अपना बदला इस प्रकार चुकाया कि राजकुमार को अन्धा बनाकर एक पर्वत की कन्दरा में डाल दिया, जहाँ उसे एक अजगर निगल गया, पर उसमें विरह की आग इतनी भयंकर थी कि अजगर को उसे उगल देना पड़ा। इस घटना को एक बन-मानुष देख रहा था। उसने राजकुमार को एक ऐसा अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि पूर्ववत् हो गई। राजकुमार की विपतियों का अन्त यहीं नहीं था, इसके बाद उसे हाथी ने पकड़ा और उस हाथी को एक पक्षिराज ले उड़ा। तब हाथी ने उसे छोड़ दिया और वह एक समुद्र तट पर गिरा और घूमता हुआ सागर गढ़ राज्य में पहुँच गया। कुमार योगी के वेष में वहाँ कौलावती द्वारा दी गई योगियों की दावत में सम्मिलित हुआ। वहाँ कौलावती ने भोजन में हार रखवाकर उसे गिरफ्तार करवा लिया। फिर कौलावती के गुण-रूप पर मोहित,सोहिल नाम का राजा सैन्य लेकर सागर गढ़ पर चढ़ आया, पर गिरफ्तार राजकुमार सुजान ने उसे अपने बाहुबल से मार भगाया। प्रसन्न होकर कौलावती के पिता ने राजकुमार को अपनी पुत्री ब्याह दी।

विवाह के पश्चात् कुमार कौलावती के साथ गिरनार पहुँचा और वहाँ चित्रावली के भेजे हुए दूत से उसकी भेंट हुई और उसने उसका समाचार चित्रावली के पास पहुंचाया। फिर वही योगी जो एक बार राजकुमार को चित्रावली से मिला चुका था उसे फिर से रूपनगर की सीमा तक ले गया। रूप नगर के राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता सता रही थी। उसने चार चित्रकार राजकुमारों के चित्र लाने के लिये भेजे। इधर माता पुत्री को खिन्न देखकर उसका हाल पूछ रही थी पर वह अपने मन का भेद बताती नहीं थी। इसी समय सुजान को एक जगह बैठाकर जब दूत राजकुमारी को खबर देने आ रहा था तो रानी ने मार्ग में ही कैद करवा लिया। कुमार सुजान चित्रावली का नाम ले लेकर चिल्लाने लगा। राजा ने चाहा कि अपयश के डर से उसे मरवा डाले। फलतः उस पर हाथी छुड़वा दिया गया किन्तु सुजान ने अपने बाहुबल से हाथी को मार गिराया। इस पर राजा स्वयं सुजान को मारने चला। इसी बीच एक चित्रकार सागर गढ़ से उस कुमार का चित्र ले आया जिसने सोहिल को मारा था। सोहिल को मारने वाला कुमार सुजान ही था। राजा ने उचित पात्र जानकर चित्रावली का विवाह सुजान के साथ कर दिया।

कुछ दिनों बाद विरहाकुल कौलावती ने कुमार की खबर लाने को हंसमित्र को दूत बनाकर भेजा। कुमार ने अपने पिता और कौलावती का स्मरण कर रूपनगर से बिदा ली और सागर गढ़ आ कौलावती को बिदा करा लिया तथा अपने राज्य को रवाना हुआ। मार्ग में भी कितने ही संकट आए, समुद्र में तूफान आया फिर भी वह जगन्नाथपुरी पहुँच गया। वहां से काशी के पंडे के साथ अपने राज में पहुँच गया। दुख से रोते-रोते माता अन्धी हो गई थी किन्तु पुत्र के आवागमन की खुशी में उसकी आंखें ठीक हो गईं। सुजान रानियों सहित आनन्दोपभोग करने लगा।

चित्रावली की कथा कहीं-कहीं अस्वाभाविक और बेतुकी जंचती है, फिर

भी उसमें रोचकता है, कहीं भी जी नहीं ऊबता। बालक, युवा, वृद्ध, योगी और भोगी, सभी के लिये कुछ न कुछ मसाला इसमें मिल जाता है।

न्यूनाधिक रूप में सभी सूफी कवियों की रचना में अध्यात्मवाद जायसी जैसा है और सारी कथा अन्योक्ति समझी जा सकती है। लगता है यही सोचकर कवि ने अपनी कथा को सर्वथा काल्पनिक रखा। जायसी की भूल उसमान ने नहीं अपनाई। ऐतिहासिक पात्र को अपनाकर जायसी को फजीहत में पड़ना पड़ा।

चरित-नायक सुजान का नाम भी बहुत सोच-विचार कर रखा गया है। वह 'शिव' का अंश है अतः जन्मतः योगी या पैदाइशी साधक है। कौलावती और चित्रावली इन दोनों नायिकाओं को हम अविद्या और विद्या के रूप में देख सकते हैं। कौलावती से उसका विवाह तो हुआ किन्तु शर्त यही रही कि जब तक चित्रावली से उसका विवाह नहीं होगा तब तक सहवास नहीं होगा। सुजान अर्थात् वास्तविक ज्ञानी तो विद्या को ही अपना प्रधान ध्येय मानता है। उपनिषद् में कहा है—

विद्याञ्चाऽविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

यहाँ अविद्या से अर्थ है साधारण विद्या और विद्या से अर्थ है ब्रह्मविद्या, जिससे स्थायी शांति प्राप्त होती है। इसी प्रकार विचारपूर्वक देखने से सभी पात्र-पात्री और उनके कार्यकलाप, आध्यात्मिक साधन, तज्जनित विघ्न-बाधाओं और अन्तिम निर्वाण के प्रतीक ज्ञात होते हैं। सरोवर क्रीड़ा वाले खंड में कवि ने बड़ी सुन्दर रीति से ईश्वर की प्राप्ति की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में अदृश्य हो जाती है और वह ईश्वर की भांति खोज का विषय बन जाती है—देखिए,

हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहां लौं बूझा॥
कौन सो ठाम जहां तुम नाहीं। हम चख ज्योति न देखहिं काहीं॥
पावहि खोज तुम्हार सो, जेहि देखरावहु पंथ।
कहा भएउ जोगी भए, औ बहु पढ़े गरंथ॥

इसी भाव को संत कवि तुलसीदास ने इस प्रकार कहा है, "सो जानहिं जेहि देहु जनाई ।"

कवि उसमान की कविता और भाषा आदि के संबंध में एवं प्रबंध, शैली तथा खंड-विभाग आदि के विषय में इतना कहना पर्याप्त है कि सब कुछ जायसी जैसा ही है। अन्तर इतना है कि भाषा विशेष परिमार्जित है । यह तुलसी के सम-सामयिक थे किन्तु संस्कृत ज्ञान से अनभिज्ञ थे: अन्यथा इनकी भाषा तुलसीदास जैसी ही परिमार्जित और प्रौढ़ होती ।

कवि उसमान की जानकारी बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। एक जगह इन्होंने तत्काल ही भारत पहुँचे अंग्रेजों का भी वर्णन कर दिया है । सन् १६१२ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सूरत में अपनी कोठी खोली थी और १६१३ की यह रचना है। कहां सूरत, कहां गाजीपुर; और उस समय न रेल, न तार, न पोस्ट आफिस और न अखबार थे फिर भी उन्होंने अंग्रेजों की बाबत कहा—

बुलंदीप देखा अंग्रेजा। तहां जाइ जेहि कठिन करेजा।
ऊंच नीच धन संपति हेरा। मद बराह भोजन जेहि केरा।

इतना ही क्यों, उनका भौगोलिक ज्ञान भी असाधारण था, ऐसा लगता है। 'जोगी ढूंढन खंड' में इन्होंने काबुल, बदख्शां, खुरासान, रूम, साम, मिश्र, इस्तंबोल, गुजरात, सिंहल आदि-आदि अनेक देशों का वर्णन दिया है ।

विरह वर्णन में, यों तो सभी सूफी कवि कलम तोड़ देते हैं, किन्तु कवि उसमान के अन्य प्रसंग भी बड़े अच्छे उतरे हैं। बेटी की बिदाई के समय रानी हीरा का उपदेश, जनकपुर प्रसंग की याद दिलाता है, संत कवि तुलसी की छाया आंखों में घूम जाती है। विरह-वर्णन में कवि उसमान बहुत कुछ कबीर के समीप दिखाई पड़ते हैं।

उसमान—विरह अगिन उर महं बरै, एहि तन जानै सोइ ।
सुलगै काठ विलूत ज्यौं, धुआं न परगट होइ ॥
कबीर—हिरदे भीतर दव बलै, धुआं न परगट होय ।
जा की लागी सो लखै, की जिन लाई सोय ॥

ऋतु वर्णन भी कवि उसमान ने समुचित ढंग से निवाहा है। ऋतु वर्णन में प्रेम-मार्गी कवि बड़े पटु कहे जाते हैं।

आलम

'माधवानल काम कंदला' के रचयिता आलम के विषय में हिन्दी के इतिहास लेखकों में बड़ा भ्रम रहा है। आचार्य शुक्ल जी को छोड़ सभी ने 'माधवानल कामकंदला' के रचयिता आलम और 'आलमकेलि' के रचयिता आलम को एक मान लिया। आलमकेलि के रचयिता पहले ब्राह्मण थे और शेख रंगरेजिन के प्रेम में पड़कर मुसलमान बन गए और वे कवि आलम से पूरे सौ वर्ष बाद संवत् १७४०-६० के आस-पास हुए। पर माधवानल कामकंदला के रचयिता आलम संवत् १६४० के समीप हुए। इनकी जाति ब्राह्मण होने का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

उस समय दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट् अकबर राज करता था। उसके अर्थ सचिव राजा टोडरमल हमारे कवि आलम के आश्रयदाता थे। अपनी रचना के प्रारम्भ में आलम ने दोनों की प्रशंसा की है।

दिलिय पति अकबर सुलताना। सप्त दीप में जा की आना॥
सिहन पति जगन्नाथ सुहेला। आपनु गुरु जगत सब चेला।
धर्मराज सब देश चलावा। हिन्दू तुरुक पंच सबु लावा॥
आगरै बु महापति मंडनु। नृप राजा टोडर मल डंडनु।

अन्य सूफी कवियों कि भांति इन्होंने अपनी वंशावली और गुरु-परम्परा की बाबत कुछ नहीं कहा है।

'माधवानल कामकंदला' कवि की मौलिक रचना नहीं है। इसी नाम का एक नाटक संस्कृत में है और बहुत पुराना है। हाँ, संस्कृत नाटक के कथानक में थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है। कवि ने अपनी स्थिति स्वयं साफ कर दी है—इसलिए परकृति-हरण का दोष उन्हें उसी रूप में नहीं दिया जा सकता ।

'कुछ अपनी कुछ परकृति चोरौं। यथा सकति करि अच्छर जोरौं।
सकल सिंगार बिरह की रीति। माधौ काम कँदला प्रीति॥

हो सकता है, आलम को संस्कृत का ज्ञान हो, किन्तु स्वयं तो वह कहते

हैं कि संस्कृत की जो कथा थोड़ी-बहुत मैंने सुनी उसी को भाषा में कह दिया है।

कहते हैं पुष्पावती नगर में गोपीचन्द नामक एक राजा राज्य करता था। उसी नगर में माधव नाम का एक गुणी संगीतज्ञ ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण वेद, शास्त्र, ज्योतिष आदि विद्याओं में भी पारंगत था। उसकी वीणा के स्वर पर नगर की स्त्रियाँ अपनी सुध-बुध भूल जाती थीं। फलतः माधव की स्वर-लहरी नगर के लिए अभिशाप बन गई। लोगों के घर-गृहस्थी की शान्ति भंग होने लगी। नगरनिवासियों की फरियाद राजा तक पहुँची। नगर निवासियों का कहना था कि माधव को नगर से हटा दिया जाय या हम लोग ही नगर छोड़ दें। राजा धर्मसंकट में पड़ा। एक माधव के लिए नगर को खाली कैसे कराया जा सकता है ? फिर भी राजा ने शिकायत की जांच की। जांच से ही यह सत्य निकला कि स्त्रियां वास्तव में माधव के संगीत से लोक-लाज तक छोड़ देती हैं। फलतः माधव को पुष्पावती छोड़ कर चल देना पड़ा। वह चलते-चलते कामावती नगरी पहुँच गया।

उस नगरी में कामकंदला नाम की वारांगना रहती थी। वह लावण्य और संगीत कला दोनों में अद्वितीय थी। एक दिन राजा के दरबार में जब कामकंदला का नृत्य हो रहा था, संगीतकला के साधक होने के नाते माधव भी वहाँ पहुँच गया। पहले तो अपरिचित होने के नाते दरबानों ने उसे भीतर नहीं जाने दिया, किन्तु जब उसकी अद्भुत संगीत साधना की बात से राजा ने भीतर बुलाया, तो माधव को अपना सिक्का जमाते देर न लगी। उसकी कला पर मुग्ध होकर राजा उसे सोने का मुकुट पहनाने को ही बाध्य नहीं हुआ, राजा से दो करोड़ रुपये का उपहार भी उसे मिला। कामकंदला तो माधव पर जी-जान से मुग्ध हो गई। इसके पश्चात् कामकंदला ने सिर पर पानी से भरा कटोरा रख कर कठिन नृत्य प्रारंभ किया। नाचते समय जब वह भाव-प्रदर्शन में लीन थी, शहद की एक मक्खी उसके वक्षस्थल पर बैठ कर काटने लगी। कामकंदला अधीर नहीं हुई, उसने नृत्य की गति चौगुनी कर, एक चक्करदार टुकड़ा लिया, जिसके पवन के वेग से मक्खी उड़ गई। इस बात को माधव के अतिरिक्त कोई लक्ष्य न कर सका। अतः माधव

ने खुलेआम कामकंदला की प्रशंसा की और जो कुछ भी भेंट उसे वहां मिली थी, सब उतार कर कामकंदला को दे दी। कारण पूछे जाने पर उसने बताया—"राजा, तुम्हारी सभा मूर्खों की मंडली भर है, इसमें कोई गुणज्ञाता नहीं है। कामकंदला इतना चमत्कारपूर्ण काम कर गई और कोई अनुभव तक न कर सका।" राजा को स्वभाव से क्रोध हो आया, उसने कहा—"तुम ब्राह्मण हो, क्या किया जाय, अन्यथा तुम्हारा सिर उड़ा दिया जाता। तुम अभी हमारे राज्य से बाहर चले जाओ।"

माधव के गुणों की पहचान करने वाली कामकंदला से यह सब न देखा गया। वह छिपा कर उसे घर ले गई। कामकंदला ने वहां माधव से प्रेम-कला सिखाने की प्रार्थना की। कई दिनों तक दोनों आकंठ आनन्दोपभोग में रत रहे। अन्त में एक दिन माधव ने कामकंदला को बताया कि इस तरह अपने घर में छिपा रखने के अपराध में उसे राजदण्ड मिल सकता है, अतः उसका प्रस्थान ही उत्तम है। कामकंदला की इस प्रार्थना पर कि कम से कम एक रात तो वह और वहाँ टिके, माधव उस दिन रह गया। मध्य रात्रि में कामकंदला ने प्रार्थना की, वह ऐसा संगीत गाए, जिससे रात्रि का अन्त ही न हो। माधव ने बीन संभाली और अलाप प्रारम्भ किया। कहते हैं उस अपूर्व संगीत के प्रभाव से चन्द्रमा की गति रुक गई और ग्रह-उपग्रह सभी अपनी-अपनी धुरी पर रुक गए।

आखिर में दोनों का वियोग हुआ। माधव को न देख कर कामकंदला एक प्रकार से विक्षिप्त ही हो गई। माधव भी सुखी नहीं था। वह भी चाहता था कि किसी प्रकार कामकंदला उसे मिले। बहुत सोच-विचार कर वह राजा विक्रम की शरण में पहुँचा। राजा के परोपकार से उस समय उज्जैन नगरी धन्य हो उठी थी। माधव की भेंट बड़ी मुश्किलों से राजा से हो सकी। वह अपना और अपने गुणों का परिचय देता हुआ अपनी व्यथा आदि से अन्त तक सुना गया। प्रथम तो गणिका की प्रीति को लेकर राजा ने बहुत नीच-ऊंच उसे समझाया, पर जब उसे इस बात पर विश्वास हो

गया कि इसका प्रेम सच्चा है तो कामकंदला को ला देने की बात स्वीकार कर ली।

कामकंदला को छीन लाने के उद्देश्य से विक्रम ने कामावती नगरी पर चढ़ाई कर दी। कामावती नगरी के समीप पहुँचने पर राजा विक्रम की इच्छा कामकंदला के प्रेम की परीक्षा लेने की हुई। वह छद्म वेश में कामकंदला के घर गया और उसे म्रियमाण अवस्था में पाया। तो भी उसके प्रेम की परीक्षा के इरादे से राजा ने बताया कि माधव तो वियोग में घुलते-घुलते मर गया। यह सुनते ही तत्काल कामकंदला के प्राण उड़ गए। राजा बड़ा चकराया। उसका दुःख उस क्षण और भी बढ़ गया, जब उसने यह सुना कि माधव भी अपनी प्रिया की मृत्यु सुन कर स्वर्गवासी हो गया। राजा को इन दो प्रेमियों के खून अपने सिर लेकर जीना मुश्किल जान पड़ने लगा, उसने अपने लिए यही अंतिम निर्णय किया कि वह चितारोहण कर जल मरे।

स्वर्ग लोक तक विक्रम की मृत्यु-इच्छा की बात फैल गई। देव-देवी सब अपने विमानों पर उसका विचित्र चितारोहण देखने पहुँचे। राजा के मित्र वैताल को भी यह खबर मिली। राजा चिता में अग्नि दान की आज्ञा दे ही रहा था कि वैताल आ पहुँचा। उसने राजा का हाथ पकड़ लिया और बताया कि उसे इस प्रकार जलने की जरूरत नहीं है, वह दोनों को ही अमृत लाकर जीवित कर देगा। सचमुच ही वैताल ने अमृत लाकर राजा को दिया। माधव को अमृत पिलाया गया, वह कामकंदला-कामकंदला पुकारता हुआ उठ बैठा। फिर कामकंदला के यहाँ वैद्य के वेश में अमृत लेकर राजा स्वयं पहुँचा। कामकंदला भी जीवित हो गई। फिर राजा ने अपना दूत भेज कर कामसेन से कहलाया कि वह अपनी फौजें लेकर कामावती नगरी की सीमा पर पहुँच चुका है—किसी भी रूप में उसे कामकंदला चाहिए। कामसेन लड़ाई में राजा विक्रम के सामने टिक नहीं सका—वह हथियार फेंक शरणागत हुआ और क्षमा मांगी।

चिरविरही कामकंदला और माधव, दोनों की अटूट जोड़ी मिल गई।

कवि आलम की यह रचना 'माधवानल कामकंदला' परिमार्जित अवधी भाषा में है, यह सर्वथा विरह-प्रधान आख्यानक काव्य है। दोनों ओर—प्रेमी और प्रेमिका के हृदय में समान पीड़ा है।

विरह की व्यापकता बताते हुए आलम कहते हैं

अगम अथाह अलेख अति, विरह समुद्र अगाध।
प्रीति हिरानी बुद्धि जनु, भले ब्रह्म समाध।

विरह समुद्र अगम अति आहीं। बूडि मरै नहि पावै थाहीं॥
बुद्धि बल सौं कोउ थाह न पावै। जौ नर सप्रेम गुन चढ़ि ध्यावै॥
विरह डसत नर जिए न कोई। जौ जीवहि तौ बौरा होई॥

आलम की रचना में अध्यात्मवाद की झलक अन्य सूफी कवियों की अपेक्षा कम है। लगता है इनका प्रयास सूफी सम्प्रदाय की मूल भावना—प्रेम पीर-वर्णन में अधिक रहा है। और प्रेम की पीड़ा का वर्णन आलम ने बड़ी सफलता के साथ किया है।

आलम विरह की अंतिम अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

बुधि विद्या गुन ज्ञान, प्रेम चाव धुनि हर्ष बल॥
सब तजि होइ अयान, जा घट विरहा संचरै॥

नूर मुहम्मद

नूर मुहम्मद का जन्म स्थान 'सबरहद' कहाँ है, इसका पता आज तक नहीं चल सका है। लगता है 'सबरहद' अपने समय का कोई गांव या कस्बा होगा। श्री चन्द्रबलि पांडेय ने 'सबरहद' का सम्बन्ध जौनपुर जिले के शाहगंज स्थान से जोड़ा है। पांडेय जी के मतानुसार, ये अंतिम दिनों में अपनी ससुराल भादौं (फूलपुर आजमगढ़) में रहने लगे थे, 'अनुराग बांसुरी' में इन्होंने अपना उपनाम 'कामयाब' लिखा है। 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-

बांसुरी' के अतिरिक्त 'फेर कहा नल-दमन कहानी' के अनुसार इनकी एक रचना 'नल-दमन' भी है।

सूफी कवियों में सब से दैन्य नूर मुहम्मद को ही मिला है। कवि का स्पष्ट कथन है कि मेरी रचना तरुणाई की अनुभवहीन रचना है। मेरी बुद्धि अभी एकदम अपरिपक्व है। मैं तो खेल खेलना जानता हूँ। पोथी कहना मैं नहीं जानता। अतः विद्यावयोवृद्ध मेरी रचना देख कर नाक-भौं न सिकोड़ें।

अपनी विनयशीलता में नूर मुहम्मद कवि उसमान से भी बाजी मार ले जाते हैं। इनकी कविता में अन्य गुण भले कम हों, किन्तु यौवन की स्फूर्ति और उमंग का रंग बड़ा गहरा है।

कवि ने अपनी वंशावली या गुरु परम्परा का वर्णन नहीं किया है। स्तुति के रूप में 'सिरजनहार' ईश्वर का स्मरण ही प्राप्त है, अथवा अरबी नबी मुहम्मद साहब की याद। अपने कुल की रीति पालन में ये सचेष्ट थे। कुल-रीति की बाबत इनका कथन है—

है मगु बहुत जगत महं, तिन मगु की नहि चाव।
आपन पंथ देखावहु, राखैं तापर पांव॥

ये अंतिम मुगल सम्राट् मुहम्मद शाह के समकालीन थे और पैगम्बर के बाद ही इन्होंने शाह की प्रशंसा की है—

करौं मुहम्मदशाह बखानू। है सूरज दिल्ली मुलतानू।
धरम पंथ जग बीच चलावा। भिवरन सवरै सो दुख पावा॥

अपनी कृति का रचना काल नूर मुहम्मद ने सन् ११५७ हिजरी (संवत् १८०१) दिया है—

सन इग्यारह सौ रहेउ, सत्तावन उपनाह।
कहै लगेउ पोथी तबै, पाय तपीकर बांह॥

पंडित रामचन्द्र शुक्ल के मत से इनकी रचना इन्द्रावती ही सूफी पद्धति की आखिरी रचना है। किन्तु शुक्ल जी के समय तक शायद शेख निसार का पता नहीं चल पाया था। यह भी संभव है कि उनके सूफी पद्धति के कवि होने में उन्हें मतभेद रहा हो। वैसे शेख निसार का यूसुफ जुलेखा सोलहों आने प्रेम-आख्यानक काव्य है। सूफी ढंग के रहस्यवाद का दृष्टिकोण कुछ कवियों के सामने कम रहा है तो कुछ के सामने अधिक। आलम और निसार अपेक्षाकृत यथार्थवादी कवि कहे जाएँगे। जो हो, नूर मुहम्मद की रचनाओं में एक 'इन्द्रावती' ही उपलब्ध है, वह भी अधूरी। इसका प्रथम खण्ड प्रकाशित कर काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाले अभी तक दूसरा खंड नहीं निकाल सके हैं।

कवि उसमान की चित्रावली की भांति नूर मुहम्मद की कथा 'इन्द्रावती' भी सर्वथा काल्पनिक ही ज्ञात होती है। नूर मुहम्मद को इस कथा की प्रेरणा स्वप्न में मिलती है। फिर इतिहास और स्वप्न का संयोग कैसा ?

एक रात सपना मैं देखा। सिन्धु तीर वह तपिय वरेखा।
अहै ठाढ़ मोहि लीन बुलाई। कहेसि कि सिन्धु में बूड़हु भाई॥

तो स्वप्न में ही कवि भव-सागर में गोते लगाता है—'मरजीवा' नश्वर मानव होकर भी मोती को अपनाने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, वह अपने अनमोल मोती से इन्द्रावती की अर्चना करता है।

निश्चय ही इन्द्रावती तक पहुँचने के लिए, द्वार खुलवाने के लिए नूर मुहम्मद का कवि-हृदय माली की सहायता लेता है। माली—कहिए गुरु से कवि को मार्ग मिलता है।

फिर कवि को स्वभाव से सोचना पड़ता कि मालाएँ तो दो चाहिएँ—केवल इन्द्रावती की अर्चना ही तो उपयुक्त नहीं है, उसका पति राजकुमार मेरी दृष्टि से दूर क्यों रहे।

कथा के प्रारम्भ में ही कवि का रहस्यवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। कालिंजर का राजकुमार आगमपुर की राजकुमारी को वरण करता है और स्वप्न दर्शन विधि के अनुसार ही। ऐसी स्थिति में केवल कालिंजर नाम की ऐतिहासिकता कोई अर्थ नहीं रखती। सूत्र रूप में कहा जा सकता है-

कवि नूर मुहम्मद का मरजीवा 'कालिंजर' काल-गृह में पैदा होकर आगमपुर 'भावी जीवन' की यात्रा में आगे बढ़ते हुए चौरासी का भोग भोगता है।

आगमपुर इन्द्रावती कुँवर कालिंजर राय।
प्रेम हुते दोउन्ह कहं, दीना अलख मिलाय॥

यहाँ 'अलख' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'अलख' 'निरंजन' 'माया' आदि शब्द, नाथ योगियों तथा कबीर-दादू जैसे संतों की बोली की देन हैं।

कवि नूर मुहम्मद का प्रेम कबीर के प्रेम के समान ही महान् और निर्मल है—

अलख प्रेम कारन जग कीन्हा। धन जो सीस प्रेम महं दीन्हा।
जाना जेहिक प्रेम महं हीया। मरै न कबहू सो मरजीया॥

नूर मुहम्मद जानते हैं कि मरजीवा—मानव प्रेम के सहारे ही अमरता अपना सकता है। वह विश्वास रखते हैं कि प्रेम के लिए ही ईश्वर ने यह संसार रचा है। वह मानव धन्य है जिसने अपना सिर प्रेम की वेदी पर कटा दिया।

कवि का कथन ही उनके सम्मुख है—"सीस काटि भुई पर धरौ आना हो तो आव।"

कबी नूर मुहम्मद की रचना सूफीमत का वह रहस्य खोल देती है कि कबीर और खैयाम के रहस्यवाद का सम्मिलित रूप कैसा हो सकता है?

जहाँ तक प्रबन्ध शैली का सवाल है, नूर मुहम्मद की रचना जायसी और उसमान का ढंग लेकर ही आगे बढ़ी है। भाषा की प्रौढ़ता—नव सिखुआ होने के कारण ही संभवतः उसमान से घट कर है। ढाँचे में एक फर्क है कि जहाँ जायसी आदि ने सात-सात चौपाई के बाद दोहा का क्रम रखा है वहाँ इन्होंने पांच-पांच चौपाई के बाद दोहा बैठाया है। साथ ही दोहा-चौपाई के अतिरिक्त सोरठा, कवित्त तथा सवैया आदि छन्दों का उपयोग भी इनकी रचना में देखने में आता है। कहीं-कहीं ऐसे स्थानों में ब्रजभाषा का रंग फैल गया है। वैसे कवि की भाषा शुद्ध अवधी है। ठेठ ग्रामीण प्रयोगों की प्रचुरता रचना में है।

शेख निसार

शेख निसार का रचना काल दिल्ली के अन्तिम मुगल सम्राट् शाह आलम का समय था। शेख निसार का जन्म अवध के अन्तर्गत शेखपुर नामक कस्बे में हुआ था, अतः वहाँ के तत्कालीन नवाब आसिफुद्दौला तथा उसके न्यायप्रिय हिन्दु मन्त्री की याद कवि ने की है। कवि का जन्म स्थान शेखपुरा, जिला रायबरेली, परगना बडरावां और तहसील महाराज गंज में बताया जाता है। आज भी वहाँ शेखों की अच्छी बस्ती है। कवि निसार के कथनानुसार शेखपुर उनके पूर्वज शेख हबीबुल्ला द्वारा बसाया गया था और शेख साहब प्रसिद्ध मौलाना रूम के वंशधर थे।

अपनी शिक्षा-दीक्षा का वर्णन देते हुए कवि निसार कहते हैं कि अरबी, फारसी, तुर्की और संस्कृत आदि कई भाषाओं में उनकी गति थी। अपनी रचनाओं की संख्या भी उन्होंने सात बताई है—जिन में तीन गद्य, एक दीवान, एक अलंकार ग्रन्थ तथा एक भाषा काव्य (यूसुफ-जुलेखा) है; किन्तु यूसुफ-जुलेखा को छोड़ अन्य कृतियों का पता अभी तक नहीं चला है। 'यूसुफ-जुलेखा' आख्यानक काव्य कवि की वृद्धावस्था की रचना है—यह भी उन्हीं के कथन से प्रकट होता है। उस समय उनकी उम्र ५७ वर्ष की हो चुकी थी। ग्रन्थ रचना का समय १२०५ हिजरी दिया हुआ है जो संवत् के हिसाब में १८४७ होता है। अतः इस में ५७ वर्ष घटा कर हम कवि का जन्म संवत् १७९० पाते हैं।

'यूसुफ-जुलेखा' काव्य की रचना के साथ कवि के दुःखद जीवन का प्रसंग जुड़ा हुआ है। उनके एक मात्र पुत्र लतीफ की मृत्यु २२ वर्ष की अवस्था में हो गई। कवि का कथन है कि मृत्यु शय्या पर पड़े पुत्र ने पिता को धैर्य बँधाते हुए नबी यूसुफ का हवाला दिया और इस प्रकार उक्त याद को चिरस्थायी करने के लिए कवि ने केवल सात दिनों में पुस्तक लिखी।

जो हो, यूसुफ-जुलेखा आख्यानक का आधार है प्रसिद्ध फारसी काव्य 'यूसुफ-जुलेखा'। कवि निसार ने भरसक प्रयत्न इसे भारतीय जामा पहनाने

का किया है किन्तु उन्हें इस कार्य में अधिक सफलता नहीं मिली। मूल कथा इस प्रकार है—

हजरत 'नूह' के बसाए नगर 'किन आं' में नबी याकूब रहते थे। याकूब की सात बीवियां तथा बारह पुत्र थे। इनकी 'रोहेक' नाम की बीबी से 'यूसुफ' पुत्र तथा बेटी 'दुनियां' पैदा हुई। याकूब यूसुफ को अधिक चाहते थे, इसलिए अन्य बेटे सब इन से ईर्ष्या पालते थे। एक दिन जंगल में भेड़ चराने ले जाकर भाइयों ने यूसुफ को एक कुएँ में ढकेल दिया। उसका कुर्ता छीन कर बकरी के खून में रंग कर पिता को बताया कि यूसुफ को भेड़िया खा गया।

यूसुफ जब कुएँ में पड़े थे, संयोग से ही उधर से कुछ सौदागर गुजरे। एक ने कुएँ में पानी निकालने के लिये डोल डाला तो यूसुफ ने पकड़ लिया और सहायता के लिए पुकारा। फलतः यूसुफ बाहर निकल आए। सौदागर उनके रूप-गुण पर मुग्ध होकर उन्हें साथ ले जाना चाहते थे कि इसी समय फिर से उनके भाई उस ओर आ निकले और सौदागर से कहा कि यह मेरा गुलाम है और भाग आया है, आप चाहें तो इसे खरीद सकते हैं। सौदागरों ने मुँह मांगा दाम देकर यूसुफ को खरीद लिया।

उधर मगरिब (पश्चिम) देश में तैमूस नामक एक सुलतान राज्य करता था, जिसकी अनिंद्य सुन्दरी बेटी जुलेखा थी। विवाह के लिए बड़े-बड़े बादशाहों के पैगाम आए, पर सुलतान ने कोरा जबाब दिया।

विधि का विधान—एक रात जुलेखा को स्वप्न में यूसुफ का दर्शन मिला, उसने मन-ही-मन उन्हें अपना पति बनाने की प्रतिज्ञा की। पर मिलने का कोई साधन नहीं मिलने से वह दिनों-दिन घुलने लगी। कोई दवा काम न करती थी। उसकी चतुर धाय ने बताया कि वह क्यों नहीं स्वप्न में ही उनका नाम-गाँव पूछ लेती? फिर जब स्वप्न हुआ तो यूसुफ ने बताया कि मिश्र के वजीर के यहाँ आओ तो मुझ से भेंट होगी।

फलतः सुलतान ने हार कर मिश्र के वजीर से ही अपनी बेटी का रिश्ता

पूरा किया; किन्तु राह में जुलेखा को पता चला कि यह व्यक्ति तो स्वप्न वाला व्यक्ति नहीं है ।

खैर किसी प्रकार जुलेखा मिश्र के वजीर के हरम में अपने को बीमार बता कर अपना धर्म बचाने लगी । कुछ दिनों बाद सब सौदागर यूसुफ को लिये मिश्र पहुँचे । वहाँ उन्होंने गुलामों के बाजार में यूसुफ को बेचने के लिए खड़ा किया, उसका अपूर्व सौन्दर्य देख कर सारा मिश्र हैरान था । जुलेखा भी यूसुफ को देखने पहुँची और देखते ही पहचान गई । जुलेखा के आग्रह पर वजीर ने यूसुफ को खरीद कर उसकी सेवा के लिए रख दिया ।

अब जुलेखा ने यह प्रयत्न किया कि यूसुफ उसके दिल को तसल्ली दे, किन्तु यूसुफ को वह स्वीकार नहीं हुआ । फिर तो नारी-चरित्र के मुताबिक जुलेखा ने यूसुफ पर आरोप लगाया । यूसुफ कारावास का दण्ड भोगने लगे । जुलेखा की निन्दा सारे मिश्र में फैल गई । जुलेखा ने मिश्र की नारियों को आमंत्रित कर—भोजन के लिए बिठा कर प्रत्येक के हाथ में तरबूज और उसे काटने को छुरी दी—और ऐन मौके पर यूसुफ को उस मजमे में से निकाला । यूसुफ के सौन्दर्य के आकर्षण में मिश्र की नारियों ने अपनी उंगलियाँ काट लीं । इस प्रकार जुलेखा ने सिद्ध कर दिया कि यूसुफ का रूप ही ऐसा है कि कोई उसे देख कर अपने बस में नहीं रह सकता ।

यूसुफ को जेल से अभी तक मुक्ति नहीं मिली थी—सात वर्षों से वह जेल की सजा भोग रहा था । इसी बीच मिश्र के सुलतान ने एक भयानक स्वप्न देखा—जिसका अर्थ उसकी समझ में नहीं आया । जेल में रहते हुए भी यूसुफ के पांडित्य और सूझ-बूझ की शोहरत फैल चुकी थी । स्वप्न फल के विचार के लिये सुलतान ने उन्हें बुलाया । यूसुफ ने बताया कि स्वप्न के अनुसार सात वर्ष तक वर्षा न होगी, यदि शान्ति का प्रयत्न किया जाय तो प्रजा के प्राण बच सकते हैं । संयोग से जुलेखा ने इसी बीच अपनी आत्म-कथा और यूसुफ के कारावास का भेद सुलतान पर प्रकट कर दिया । फिर तो यूसुफ कैद से ही मुक्त नहीं हुआ सुलतान का वजीर बन गया । वजीर होने पर यूसुफ ने सबसे पहले अन्न-जल के संग्रह का ही प्रबन्ध किया । फलतः घोर दुर्भिक्ष में भी मिश्र की कोई क्षति नहीं हुई । अकाल के पाँचवें

साल में ही मिश्र का पुराना वजीर—जुलेखा का पति मर गया ।

मिश्र के अकाल के साथ ही यूसुफ की जन्म-भूमि किनआँ में भी अकाल पड़ा था । याकूब ने अन्न लाने और यूसुफ का पता लगाने अपने लड़कों को मिश्र की ओर भेजा । याकूब को यह खबर मिल चुकी थी कि यूसुफ मरा नहीं है, मिश्र के कारावास में है । इस प्रकार यूसुफ के दश भाई मिश्र पहुँचे और यूसुफ ने उन्हें पहचान लिया किन्तु अपने को उन पर प्रकट न होने दिया । सबका हाल पूछ कर और बहुत सा अन्न देकर उन्हें बिदा किया । साथ ही यह भी कहा कि अपने छोटे भाई इब्न अमीं को लाओ तो और भी बहुत सा सामान देंगे ।

अन्न के लोभ में यूसुफ के भाई इब्न अमीं को लेकर भी मिश्र पहुँचे । यूसुफ ने सभी का स्वागत किया । जब सभी भाई खाने बैठे तो दो-दो भाइयों के बीच एक थाली रखी गई । इब्न अमीं अकेला पड़ता था, अतः खुद यूसुफ उसके साथ बैठे । इस मौके पर इब्न अमीं ने उन्हें पहचान लिया । इब्न अमीं को मिश्र में रोकने का प्रयत्न यूसुफ ने किया, जिसको लेकर किनआँ वालों से संघर्ष भी हो गया; किन्तु तीस बर्ष के बाद पिता-पुत्र के मिलने का अवसर भी इसी संघर्ष के कारण मिला । किनआँ वालों से सुलतान को यूसुफ का असल पता चला और निःसंतान सुलतान ने अपनी गद्दी यूसुफ को दे दी । यूसुफ अब सुलतान थे ।

जुलेखा को विरह-पीर संभालते और तपस्या करते ४० वर्ष बीत गये । वह बूढ़ी और रोते-रोते अन्धी हो गई । अब वह पथ की भिखारिन थी ।

अन्त में यूसुफ-जुलेखा का मिलन भी होकर रहा । एक दिन यूसुफ की सवारी निकली—जुलेखा दीनावस्था में सामने आ गई, प्रेम की साधना ने जोर मारा । यूसुफ का आकर्षण जुलेखा की ओर देख याकूब ने अपनी दुआ के जोर से उसे षोडशी बना दिया । दोनों का विवाह हो गया ।

पर जब सब कुछ हो गया तो जुलेखा ने पुरानी घृणा का बदला लेना प्रारम्भ किया—यूसुफ को नाकों चने चबवा दिये । कहीं मृत्यु की घड़ी में जाकर अपना प्यार यूसुफ को दिया ।

कवि निसार की इस रचना में सब से करुण स्थल याकूब का पुत्र वियोग

है। वहाँ निसार की अपनी आत्मा बोलती है। अन्यथा प्रेम की पीड़ा का कोई सजीव प्रसंग—जो हृदय को झकझोर दे, संपूर्ण काव्य में नहीं है। सब से बढ़ कर विचित्रता तो यह है कि वर्णित प्रेम एकपक्षीय है। यूसुफ कभी जुलेखा के लिये कुछ सोचता भी नहीं। किसी भी सूफी काव्य में ऐसा एक-पक्षीय प्रेम गृहीत नहीं हुआ। चरित्र-चित्रण के ख्याल से जब यूसुफ का चरित्र ही उदात्त नहीं कहा जा सकता तो जुलेखा की क्या बात ? हां, भाइयों के निकृष्टतम द्वेष का उदाहरण इस काव्य में है। नबी के सगे भाइयों का यह हाल विचारणीय है हमें यहां विमाता के पुत्र भरत और शत्रुघ्न की याद बरबस आती है। भारतीय संस्कृति और अरबी संस्कृति का भेद स्पष्ट हो जाता है।

कवि निसार की भाषा में हमें साहित्यिक अवधी के परिमार्जित रूप की झलक मिलती है। पद्मावत के ढंग के ग्रामीण या ठेठ प्रयोग शायद ही 'यूसुफ-जुलेखा' में आए हैं। कहीं-कहीं तो व्रजभाषा की मोहक छटा छाई दर्शित होती है—

'भुवन सीतल छांह सुन्दर सुख सँजोगिन के रहै।
कवन हरियर करै पिउ बिन बेल बिरही सो डहै॥

इस प्रकार के छन्द पद्मावत, चित्रावली, मृगावती आदि किसी आख्यानक काव्य में प्राप्त नहीं हो सकते।

अलंकार आदि बाहरी सजावट निसार के काव्य में कम ही है, अनुप्रास का शौक भी इन्हें नहीं था—ऐसा प्रतीत होता है। रस का परिपाक ही कवि की विशेषता रही है। कवि निसार ने लौकिक प्रेम को पग-पग पर अलौकिक प्रेम से मिलाने का प्रयत्न नहीं किया है—इस प्रकार इनकी रचना में एक सहज स्वाभाविकता आ गई है। संत कवि तुलसी की भांति जीव और ईश्वर को—समानान्तर ले चलना प्रत्येक कवि के लिये संभव नहीं हो सकता।

प्रश्न ३—सूफी काव्य और आध्यात्मिक संत काव्य की भिन्नता पर प्रकाश डालिए। मूल विभेद की ओर संकेत दीजिए।

उत्तर—सूफी काव्य और आध्यात्मिक संत काव्य में भिन्नता को

सूफियों के रूपक में ही यदि संवारा जाय तो यह कहना उचित होगा कि सूफी काव्य पर्वत से झरने वाला वह निर्झर है—जिसमें सागर से मिलने की उत्कंठा है, तीव्रता है। निर्झर एक उद्देश्य विशेष को लेकर प्रगति फिर मिलन—कल्पना अपना चुका है, उसमें अपने पिछले जीवन की छाया यत्किंचित् शेष है; किन्तु आध्यात्मिक संत काव्य में कहीं भी मोह का भाव नहीं होता प्रत्युत एकात्मीयता का दृढ़ विश्वास लहराता है। निर्झर सागर की गोद में अपने को मिला चुका होता है, सागर बन गया होता है। उसके सम्मुख मार्ग परिवर्तन का तो प्रश्न ही नहीं होता। तीव्रता के बदले गम्भीरता होती है। द्वैत का कहीं लेश नहीं होता।

सूफी भावना को सबलता के लिये मांसल आधार चाहिये, स्थूल का पिंड छोड़ कर एक बार ही सूक्ष्म को ग्रहण करने की शक्ति उस में नहीं होती। सूफी भावना में आत्म ज्ञान की अभिलाषा है—ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश नहीं। एक शब्द में, भी कहा जा सकता है कि सूफी भावना ज्ञान यात्रा की प्रथम मंजिल है जो मानव हृदय को प्रेरणा देती है।

साधना की प्रवृत्ति और साधना की सिद्धि—में जितनी विभिन्नता हो सकती है, उतनी ही विभिन्नता सूफी काव्य और आध्यामिक काव्य में है।

सूर का एक कथन संत काव्य की दृढ़ता का मूर्त उदाहरण है—

'हाथ मरोड़े जात हो निर्बल जानिके मोहि।
हिरदय से जब जाहुगे, भरद बदौंगो तोहि॥"

सूफी प्रेमी अपने आराध्य को ऐसी चुनौती नहीं दे सकता। यह दृढ़ता तो संत-साधना में ही लभ्य है। कल्ब की शुद्धि के लिए—नफ्स को दबाने की क्रिया—संत प्रारम्भिक अवस्था में ही पूरी कर चुके होते हैं। वहां तो कबीर के शब्दों में—

दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीन चदरिया।"

मूल विभेद के रूप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सूफी काव्य शरीर की दुनिया में वसने वाला उज्ज्वल गान है तो संत काव्य विशुद्ध आत्मा-दर्शन का अमर प्रकाश।

द्वितीय-पत्र

भक्ति-काव्य तथा रीति-काव्य

भक्ति-काव्य

१. उत्तर कांड—यह रामचरितमानस का सातवाँ तथा अन्तिम सोपान है। कथावस्तु इसमें सब से कम है। भरत की चिन्ता से कांड का आरम्भ होता है। चौदह वर्ष पूरे होने में केवल एक दिन शेष है। नन्दिग्राम में बैठे हुए भरत व्याकुल हो जाते हैं कि रामचन्द्र जी के आने की सूचना क्यों नहीं आयी। बड़ा ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण है। अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा असह्य होती है। भरत जी अनेक प्रकार की आशंकायें अपने मन में करने लगते हैं। लक्ष्मण के सौभाग्य की प्रशंसा करते हैं, समझते हैं कि श्री रामचन्द्र जी उन्हें कपटी-कुटिल मानते हैं। तभी तो साथ नहीं लिया इत्यादि। गोस्वामी जी ने भरत की व्यग्र मर्म दशा का ऐसा सुन्दर निरूपण किया है कि हृदय भर आता है। अनन्य प्रेम का ऐसा पुनीत चित्रण संसार के साहित्य में अलभ्य है। भावुकता साकार हो गई है। ज्यों ही भावना की चरम सीमा होती है, जिस पर पहुंचते ही सम्भवतः भरत जी के हृदय की गति रुक जाती, श्री हनुमान् जी पहुंच जाते हैं। हनुमान् जी को देखते ही उनकी सारी भावनायें अश्रुवर्षा के रूप में प्रकट हो जाती हैं। पवनकुमार का यह नाटकीय प्रवेश कथा का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश है। राम के आगमन की चर्चा क्षण भर में अयोध्यापुरी में हो जाती है। सभी लोग रामचन्द्र जी का स्वागत करते हैं। भरत-मिलाप रामायण का अत्यन्त हृदयग्राही चित्र है। तुलसीदास जी के भरत-मिलाप वर्णन का ही प्रभाव है कि आज तक हिन्दू-जनता के लिए भरत-मिलाप एक महत्वपूर्ण पर्व बना हुआ है। रामचन्द्र जी भरत से मिलकर माताओं से मिलते हैं। सबसे पहिले वे कैकेयी माता से ही मिल कर उसकी हार्दिक-वेदना को दूर करते हैं। तुलसीदास जी की

कैकेयी बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कैकेयी की भाँति मुखर नहीं है। वह अपने व्याख्यान से अपनी सफाई न देकर मौन द्वारा ही अपने भावों का अभिव्यंजन करती है।

भरत-मिलाप के बाद मानस में श्री रामचन्द्र जी का राज्याभिषेक हैं। रामराज्य-वर्णन है। इसके पश्चात् उसमें भक्तिसम्बन्धी फुटकर प्रसंग जैसे—ज्ञान, भक्ति, संत-असंत लक्षण, काकभुशण्डि और गरुड़ का संवाद आदि हैं।

तात्पर्य यह कि कथा की दृष्टि से उत्तरकांड बहुत छोटा है पर कलेवर काफी बड़ा है। 'उत्तर रामचरित' को जिसमें सीता-वनवास और लव-कुश की कथा है, गोस्वामी जी ने अपने मानस में नहीं रखा। सम्भवतः सीता वनवास के अप्रिय प्रसंग को वे अनुचित मानते थे और लव-कुश के द्वारा भी वे अपने राम का पराभव नहीं चाहते थे। उन्होंने राम में शक्ति, शील और सौंदर्य की चरम-सीमा दिखायी है। लव-कुश काण्ड में लव-कुश से हारने के कारण शक्ति, सीता को वनवास देने से शील तथा लव-कुश के बाल-सौंदर्य के सम्मुख उनका सौंदर्य भी क्षीण हो जाता, अतः उन्हें यह प्रसंग ही अप्रिय हो गया। उन्होंने राम-राज्य के आनन्द में ही अपने काव्य की इतिश्री कर दी। गोस्वामी जी का उद्देश्य कथा-काव्य प्रस्तुत करना न होकर भक्ति का निरूपण करना था। मानस का आरम्भ भी उन्होंने सीधे राम-जन्म से नहीं किया है। रामावतार के पांच भिन्न-भिन्न कारण बताये हैं जिनमें तीन संवादों का मूल-आधार मोह का दूर करना है। राम-कथा के द्वारा शंकर जी पार्वती को, गरुड़जी काकभुशण्डि को और याज्ञवल्क्य भारद्वाजजी को राम की लीला का मर्म बताते जाते हैं। तुलसीदास जी बड़े सतर्क हैं, बीच-बीच में राम के ईश्वरत्व का प्रकाशन करते जाते हैं, यद्यपि ऐसा करने से उनकी कथा भी विशृंखल होती है और काव्य के रस में व्याघात पड़ता है। इसीलिये राम-कथा समाप्त करने के बाद भी तुलसीदास जी की भक्ति-कथा का अन्त नहीं होता। वे सामाजिक चित्रण करते हैं। ज्ञान और भक्ति का अपना दृष्टिकोण बताते हैं। संत-असंत निरूपण करते हैं। उसमें सामाजिक, दार्शनिक तथा वैयक्तिक विवेचना मिलती है। इन्हीं कारणों से कथा के न होने पर भी उत्तरकांड का कलेवर बड़ा हो गया है और अन्य कांडों की अपेक्षा गूढ़ भी हो गया है।

२. विनय-पत्रिका—यह गोस्वामी तुलसीदास जी का अंतिम व प्रौढ़तम ग्रंथ है। इस की रचना करते समय तुलसीदास जी की भक्ति-साधना तथा काव्य-साधना दोनों ही अपनी गम्भीरतम अवस्था को प्राप्त हो चुकी थीं। इसी कारण भाषा और विचार दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ गूढ़ हो गया है। कवि का ध्यान केवल भावों की गूढ़ता की ओर था, फिर भी पचास वर्षों की सतत काव्य-साधना के फलस्वरूप भाषा स्वभावतया शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों से लदती गयी है, शब्दों में अर्थ सौरस्य और व्यंजना भरती गयी है। कथा-वस्तु बड़ी ही मनोरंजक है। गोस्वामी तुलसीदास जी कलि से पीड़ित होते हैं। वे अपनी पीड़ा के शमन के हेतु सम्भवतः हनुमान् जी की प्रेरणा से भगवान् राम के दरबार में पत्रिका लेकर उपस्थित होते हैं। सारे ग्रंथ में इसी पत्रिका का ही स्वरूप है। गोस्वामी जी धार्मिक प्रवृत्ति के थे अतः उन्होंने कल्पना की कि भगवान् के महल के पहले सात द्वार होंगे जिनमें क्रमशः गणेश, सूर्य, शंकर, दुर्गा, गंगा, यमुना और हनुमान् द्वार के देवता होंगे। इन देवताओं से प्रार्थना करना, राम-भक्ति का वर मांगना उनका प्रथम कर्तव्य है क्योंकि जब तक द्वारपाल ही प्रसन्न न होगा किसी को प्रवेश ही कैसे मिल सकता है। इनमें से शिव और हनुमान् इनकी दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण हैं अतः इनके सम्बन्ध में पद भी अधिक हैं। हनुमान् के प्रति इनका निकट—स्नेह प्रतीत होता है, इसी-लिये पहले तो ये उनसे बिगड़ जाते हैं फिर बाद में अपने वचनों के लिये क्षमा मांगते हैं। सीता जी से विशेष प्रकार से विनय करते हैं कि पहले ही से अवसर पाकर इनकी दीन दशा का परिचय भगवान् को देती रहें और बताती रहें कि किस प्रकार कलि एक रामभक्त को पीड़ित करता है। इसी प्रकार लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि से विनय करने के पश्चात् वे भगवान् राम की स्तुति करते हैं। उनकी शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों विभूतियों को दिखाकर शील निरू-पण में लग जाते हैं। उनका उद्देश्य यही रहता है कि भगवान् ने जिन-जिन पतितों—व्याध, गणिका, गज, अजामिल आदि को तारा है, उनके पीछे राम की उदार-भावना को ही दिखा दें और अपने को भी उन्हीं पतितों की पंक्ति में सबसे अन्त में खड़ा कर दें। भगवान् के सेवकों में परिगणित करा लेना ही उनका उद्देश्य है।

पत्रिका के बीच में वे अपने कलि से पीड़ित होने का मर्म बताते हैं। संसार

के माया-मोहों का व्यापना ही कलि-कष्ट है। इस प्रश्न पर जगत् और जीव का दार्शनिक विवेचन मुख्य हो जाता है। यही ग्रंथ का गूढ़तम स्थल है। शंकराचार्य का दर्शन तथा उस पर इनका अपना मत ध्वनित है। एक ओर दर्शन और दूसरी ओर काव्य-शास्त्र दोनों के सामंजस्य से एक अनुपम काव्य बन गया है। जगत् का निरूपण करके फिर वे भक्ति की विवेचना करते हैं। भक्ति क्या है, भक्ति-मार्ग कैसा कठिन है, उसमें त्याग, आचार आदि का क्या स्थान है? भक्ति मार्ग के अवलम्बन में गोस्वामी जी की मान्यतायें, उनका मनोराज्य आदि सभी वस्तुयें आ जाती हैं। वे पत्रिका में भक्ति का वरदान मांगते हैं और विश्वास दिलाते हैं कि यदि एक बार भगवान् से भक्ति मिल जाय तो फिर वे कभी उस पथ को न छोड़ेंगे। सारी पुस्तक आत्म-निवेदन, दैन्य और मनोराज्य से पूर्ण है।

अन्त में वे जैसे-तैसे दरबार में उपस्थित हो जाते हैं। पत्रिका हनुमान् और भरत से हस्तान्तरित होती लक्ष्मण तक पहुँचती है। रामचन्द्र जी की चित्तवृत्ति प्रसन्न देखकर लक्ष्मण बोल उठते हैं, "इस कलिकाल में भी एक दीन तुलसी भक्त ने भगवान् की बांह गही है।" सारी सभा के सभासद् बोल उठते हैं—"ठीक है।" भगवान् भी मुस्करा कर कहते हैं—"हां, मुझे भी इसकी सूचना मिली है" और वे लक्ष्मण जी के उक्त वचन पर अपना हस्ताक्षर कर देते हैं। यही विनय-पत्रिका की वर्ण्य वस्तु है। सभी पद मुक्तक हैं यद्यपि विचारधारा में तारतम्य है।

३. भ्रमरगीत सार—पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "भ्रमरगीत, सूर सागर के भीतर का एक सार रत्न है।" पं० शुक्ल ने भ्रमरगीत प्रसंग पर ४०० पदों को चुनकर 'भ्रमरगीत सार' नाम से सम्पादित किया है। विशेष क्रम इसमें इस प्रकार है—

आरम्भ में ११ पद 'श्री कृष्ण के वचन उद्धव प्रति' हैं, जिनमें श्रीकृष्ण जी उद्धव जी से व्रज जाने की प्रार्थना करते हैं और अपना संदेश भेजते हैं। उनके संदेशों में मुख्यतया यही है कि उन्हें व्रज की याद सताती है। राज-पाट अच्छा नहीं लगता। उनके हृदय से राधिका की प्रीति नहीं हटती।

"सूर चित्त ते हटति नाहीं राधिका की प्रीति!"

मां के लिए तो यह भी कहलाते हैं कि

"आवेंगे हम दोनों भैया मैया जनि अकुलाय।"

एक पद "उद्धवप्रति कुब्जा के वाक्य" है। इस में कुब्जा संदेश भेजती है कि कृष्ण मथुरा में पैदा हुए, नंद-यशोदा, गोप-गोपी और राधिका से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसने गोपियों को कटु वचन भी कहे हैं।

फिर उद्धव जी ब्रज में पहुँचते हैं। उसी वेष में श्यामशरीर वाले उद्धव जी को देख कर गोपियों में बड़ी उत्कंठा होती है, सभी एकत्र हो जाती हैं, पर अन्य व्यक्ति और रथ देखकर उन्हें शंका होती है कि यह कोई दूसरा अक्रूर आया। परिचय प्राप्त करने पर कि ये कृष्ण-सखा हैं, गोपियाँ उनसे प्रश्न करती हैं कि आप किस मतलब से आये हैं? अब कौनसी चतुराई करनी है, जिस के लिये व्रज पर चढ़ाई की है।

"अब यह कौन सयानप ? ब्रज पर का कारन उठि धाये हौ।"

इस पर १७ वें पद में ऊधो-गोपी संवाद है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत की कथा वस्तु एक ही पद में कही गयी है। इस पद के बाद गोपियों का उपालम्भ-काव्य आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक पद में गोपियाँ ऊधो, अलि, मधु, और मधुकर आदि सम्बोधनों से आत्मनिवेदन करती हैं और व्यंग्य से ऊधो और कृष्ण पर आक्षेप करती हैं। उद्धव जी का ज्ञानोपदेश जैसे गोपियों की विरह-दशा सुन-सुन कर बन्द हो गया हो, सारे पद गोपियों के ही कथन हैं। विरह निवेदन के साथ-साथ बीच-बीच में गोपियाँ उद्धव जी का उपहास भी करती जाती हैं।

"आयो घोष बड़ो व्योपारी"

"निर्गुण कौन देश को बासी"

बीच-बीच में वे व्रज, मधुवन, गायें और राधिका की विरह दशा का भी संकेत करती जाती हैं। राधिका कहीं भी उद्धव के सम्मुख अपना विरह-निवेदन करने नहीं आती। इस प्रकार के 'उद्धव प्रति गोपी-वचन' ३५८ पद हैं। सच कहें तो सारा भ्रमरगीत यही है, गोपियों का उपालम्भ काव्य ही भ्रमरगीत सार है। तीन पदों (३७५---३७७) में यशोदा जी उद्धव जी के द्वारा संदेश भेजती हैं। एक तो वे देवकी को संदेस भेजती हैं कि वे अपने बेटे की

धाय समझकर ही इनके ऊपर कृपा बनाये रहें और मेरे लजीले कृष्ण को नित्य प्रातः मक्खन रोटी दें। साथ ही वे यह भी निवेदन करती हैं कि एक बार कृष्ण का मुख दिखा दो।

"जो पै राखति हौ पहिचानि !
तौ वारेक मेरे मोहन को मोहिं देहु दिखाई आनि।"

३७८ वें पद में उद्धव जी कुब्जा का संदेश कहते हैं। ३७९ वां पद बहुत लम्बा है। चौपाइयों में उद्धव-गोपी संवाद है, जिस में कोरा विवाद है, रसात्मकता कम है। अन्त में २० पद (३८०—३९९) मथुरा लौटने पर "उद्धव जी का वचन कृष्ण प्रति" है। इसमें उद्धव जी कृष्ण जी से गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करते हैं और उनकी दीन दशा का विस्तृत वर्णन करते हैं। अन्तिम ४०० वें पद में कृष्णजी कहते हैं कि हे ऊधो ! मुझे व्रज नहीं भूलता। वहां की लीलाओं को याद करके वे पछताते हैं और मौन हो जाते हैं।

"ऊधो ! मोहि व्रज विसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगर अरु कुंजन की छांहीं॥
+ + +
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥"

४. रास पंचाध्यायी तथा भ्रमरगीत (नन्ददास)—

रास पंचाध्यायी—नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरुभाई थे। गोस्वामी जी ने हिन्दी में रामायण प्रस्तुत की। नन्द जी की इच्छा थी कि वे श्रीमद्भागवत को भाषा में उपस्थित करें। उन्होंने दशम स्कन्ध की भाषा की भी, पर गोस्वामी विट्ठलनाथ के परामर्श पर इन्होंने भागवत का भाषानुवाद नहीं किया क्योंकि ऐसा होने पर ब्राह्मणों की वृत्ति जाती। रास-पंचाध्यायी भागवत के रास लीला के पांच अध्यायों के आधार पर रची गई है। दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में २९ वें अध्याय से ३३ वें अध्याय तक रास लीला है। उसी के क्रम से नन्ददास जी ने भी पांच अध्यायों में रास-लीला का वर्णन किया है। अनेक पद तो भागवत के श्लोकों के अविकल अनुवाद से हैं। फिर भी नन्ददास का रासपंचाध्यायी भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। शब्दचयन, प्रवाह तथा कोमलकांत पदावली में उन्होंने जयदेव

के गीतगोविन्द का सफल अनुकरण किया है। हिन्दी में ऐसा सुन्दर काव्य और कोई नहीं है। सूरदास जी के रास वर्णन का भी कुछ प्रभाव नन्ददास जी की रासपंचाध्यायी पर है। रासपंचाध्यायी एक खण्डकाव्य है। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण और अन्त में ग्रन्थ की महिमा है। पाँच अध्याय इस प्रकार हैं—

प्रथम अध्याय—शरद् ऋतु की पूर्णिमा थी। उद्दीपन की पूर्ण सामग्री थी। भगवान् ने वन में बाँसुरी पर तान छेड़ी। वंशीध्वनि सुनकर गोपियां जहां जो काम कर रही थीं उसे वहीं छोड़कर चल निकलीं। जब भगवान् के पास पहुँचीं तो भगवान् ने कहा, तुम यहाँ क्यों आईं ? तुम लौट जाओ, अपने-अपने कर्त्तव्य करो। गोपियां बड़ी दुःखी हुईं। उन्होंने कहा, आप हमारे मन की बात जानते हैं फिर ऐसे कटुवचन क्यों कह रहे हैं। उन्होंने बड़ी अनुनय-विनय की। तब कृष्ण जी ने प्रसन्न होकर रास-लीला आरम्भ कर दी। कुछ देर बाद गोपियों को गर्व-भाव आ गया ? तब भगवान् उनका गर्व शान्त करने के लिए वहीं अन्तर्धान हो गये।

द्वितीय अध्याय—गोपियां घबरा उठीं। वे पेड़ पौधों आदि से कृष्ण का पता पूछने लगीं, प्रलाप करते-करते ऐसा उन्माद हो गया कि वे कृष्ण-लीला का नाटक करने लगीं। मतवाली होकर रोदन करती हुई यमुना के तट पर फिरने लगीं। अन्त में सब भगवान् की रमण-रेती में इकट्ठी होकर श्री कृष्ण जी का गुणगान करने लगीं।

तृतीय अध्याय—इस अध्याय में गोपिका-गीत हैं। उन्होंने कृष्ण की पूर्व लीलाओं का गान किया है और कहा कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकतीं। हमारा जीवन तुम्हारे लिए है, हम तुम्हारे लिए हैं, हम तुम्हारे लिए जी रही हैं, हम तुम्हारी ही हैं।

चतुर्थ अध्याय—भगवान् प्रकट हो गये, गोपियां धन्य हो गयीं। विह्वल होकर वे उठीं और श्री कृष्ण जी के अङ्गस्पर्श से अपने हृदय का ताप दूर करने लग गयीं। इसके बाद श्री कृष्ण जी गोपियों को लेकर यमुना तट पर आये। किसी गोपी ने अपनी ओढ़नी बिछा दी और कृष्ण जी उस पर बैठ गये। गोपियां अर्द्धवृत्ताकार बैठकर उनकी रूप-माधुरी का पान करने

लगीं। गोपियों ने कृष्ण से प्रेम करने वालों की कोटियां पूछीं और कहा कि आप किस कोटि में हो। कृष्ण ने प्रेम के स्वरूप को बतला कर कहा कि मैं प्रेम करने वालों के साथ प्रेम का व्यवहार नहीं करता, परीक्षा द्वारा उनकी चित्तवृत्ति को और तीव्र करता हूँ। उन्होंने गोपी-प्रेम की प्रशंसा की और कहा कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।

पंचम अध्याय—भगवान् की ये बातें सुनकर गोपियों की व्यथा मिट गई। भगवान् ने रास-क्रीड़ा आरम्भ कर दी। महा रास होने लगा। भगवान् ने अनेक रूप धारण कर लिये। प्रत्येक गोपी के पास कृष्ण प्राप्त हुए। आकाश में देवतागण अपनी-अपनी पत्नियों के साथ आ विराजे। स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा होने लगी, गंधर्व बाजे बजाने लगे। सम्पूर्ण रात्रि रास-विहार हुआ। जब ब्राह्म मुहूर्त आया तो अनिच्छा होते हुए भी गोपियां श्री कृष्ण की आज्ञा पर अपने-अपने घर चली गयीं।

अन्त में ग्रन्थ-महिमा है. जो लोग भगवान् के रास-विलास का श्रद्धा से श्रवण करते हैं उन्हें भगवान् की महिमा मिलती है, काम-विकार छूट जाता है।

इस प्रकार नन्ददासकृत रासपंचाध्यायी में श्रीमद्भागवत की ही कथा-वस्तु है। कवि ने कथावस्तु में कोई भी परिवर्तन नहीं किया है। पर कथा-वस्तु मौलिक न होते हुए भी उनका वर्णन सर्वथा मौलिक है, कवि की प्रतिभा विषय की अभिव्यक्ति में है। शैली सर्वथा नवीन है। सूरदास जी का अनुकरण इसमें नहीं है। न तो इसमें पद हैं और न मुक्तकता है। गीत-गोविन्द की भाँति छन्दों में ही रचना है पर छन्दों में ही स्वर, नाद और ताल का ऐसा सामञ्जस्य उपस्थित किया गया है कि पद गेय हैं। गाने पर इसकी स्वर लहरी, कोमलकांत पदावली और प्रवाह गीत-गोविन्द के समकक्ष हो जाता है, इसलिये श्री वियोगी हरि जी तो रासपंचाध्यायी को ही हिन्दी का गीत-गोविन्द कहते हैं। इन पदों पर कहा गया था कि "और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया।"

भँवर गीत—भँवर गीत भी खण्ड-काव्य ही सा है। अपने ढंग का एक ही भ्रमरगीत है। इसमें पूर्व कथा नहीं है, उद्धव जी के उपदेश से ही

ग्रन्थारम्भ हो जाता है, न तो कोई मंगलाचरण है और न उद्धव-कृष्ण वार्ता, न उद्धव की व्रजयात्रा आदि का कोई उल्लेख ही है। पहली पंक्ति में ही उद्धव जी गोपियों के बीच में बैठे हुए मिलते हैं और आरम्भ हो जाता है—

"उद्धव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी"

दूसरे पद में इस बात का संकेत मिलता है कि वे एक उद्देश्य से आये हैं, उन्हें केवल गोपियों को ज्ञानोपदेश करना है, जिस का अवसर और स्थल उन्हें नहीं मिला—पर ज्योंही मिला वे अपने कर्तव्य-पालन में दत्तचित्त हो गये। गोपियों ने कृष्ण नाम सुन कर तथा इन्हें कृष्ण-सखा जान कर इन्हें अर्घ्य, आसन आदि दिया, परिक्रमा की पर ज्यों ही वे कृष्ण के ध्यान में लगीं कि मूर्छित हो गयीं। उद्धव जी का योगी हृदय इतना कठोर था कि उनकी ऐसी विरह दशा देखकर भी तनिक न पिघला। उन्होंने जल-छींटे देकर उनकी मूर्छा भग्न की और ज्योंही गोपियों की मूर्छा टूटी, बोल उठे—

"वे तुम से नहीं दूर ज्ञान की आँखियन देखो

गोपियाँ भी, जो अभी मूर्छित थीं, आवेश में आ गयीं। वे भी उसी प्रकार विद्वत्ता के साथ ही उद्धव जी का खण्डन करते हुए बोल उठीं—

"कौन ब्रह्म की जोति ज्ञान कासों कहो ऊधो"

उत्तर-प्रत्युत्तर आरम्भ हो जाता है—निर्गुण-सगुण, ज्ञान, ईश्वर, जीव, माया आदि विषयों का शास्त्रार्थ होता है। बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण और दार्शनिक वाद-विवाद नन्ददास जी ने प्रस्तुत किया है। तत्कालीन ज्ञान और भक्ति के पथों का सुन्दर निरूपण है। अन्त में तर्कों में ही उद्धव जी के तर्क निर्बल पड़ते जाते हैं और गोपियों के भक्तिमार्ग के तर्क अकाट्य ही हो जाते हैं। भँवर गीत को ध्यान पूर्वक पढ़ने से प्रतीत होता है कि उद्धव जी निरुत्तरप्राय ही हो गये थे। जब गोपियाँ झुँझला उठीं, उन्होंने विवाद-क्रम को छोड़कर उपालम्भ देना आरम्भ कर दिया। संयोग से एक गोपी के चरण पर एक भौंरा आ गया। रंग साम्य को दृष्टि में रख कर गोपियाँ बार बार उस भौंरे को सम्बोधन करके उद्धव और कृष्ण पर कटाक्ष करने लगीं और साथ ही अपने विरह का निवेदन भी करने लगीं। उनके इस प्रलाप का

सुनकर उद्धव जी मूक हो गये। शास्त्रार्थ से तो हारे थे ही, प्रलापों और उपालम्भों ने उन में सहानुभूति भी उत्पन्न कर दी। योग के अभ्यासों से मारे हुए उनके मानवीय भाव सजीव होने लगे। उन्हें गोपियों का प्रलाप, उनकी कटूक्तियाँ और आक्षेप प्रिय लगने लगे। उनका ज्ञान-गुमान सर्वथा विलीन हो गया। वे सोचने लगे कि उनकी सारी योग-शिक्षा व्यर्थ थी, उनका अब तक का जीवन ही बेकार गया। ये गोपियां तो कृष्णमय हैं। मुझ से बहुत आगे हैं। मेरी भूल थी कि मैं इन कृष्ण के परम प्रेमियों को योग की चटसार में बिठाना चाहता था। अब मुझे प्रतीत हुआ है कि प्रेम ही सब का मूल तत्व है। प्रेम तो हीरा है और योग काँच है, यह मेरा भ्रम था कि मैं योग को प्रेम के समान समझता था। ऐसी भावना होने पर वे गोपियों के भक्त बन गये। वे गोपियों की चरण-धूली की आकांक्षा करने लगे। क्या ही अच्छा होता कि मैं व्रज की लता-बेली आदि होता और मेरे ऊपर इन व्रज गोपिकाओं के प्रतिबिम्ब ही पड़ जाते। फिर उद्धव जी गोपियों के गुण गाते हुए मथुरा आये और कृष्ण जी के पास जा कर उनके प्रति बहुत झुंझलाये। उन्होंने कहा कि तुम कितने अरसिक और कठोर हो, यह हमने व्रज जा कर देखा। भला जो गोपियाँ तुम्हारी इतनी भक्त हैं उन्हें इस प्रकार सता रहे हो। उद्धव के वचनों को सुन कर कृष्ण जी आनन्दित हो गये। उन्होंने अपना असली स्वरूप दिखाया। उद्धव जी ने देखा कि कृष्ण और गोपियाँ एक ही हैं। उनके अंग-अंग में गोपियाँ हैं। वे उनके साथ शाश्वत विहार कर रहे हैं।

इस प्रकार नंददास कृत भँवर गीत जो एक प्रबन्ध में बंधा है, अत्यन्त ही मनोरम है। इसके पूर्वार्द्ध में ऊधो-गोपी संवाद है, उत्तरार्द्ध में गोपी-उपालम्भ और प्रलाप तथा उद्धव का मत परिवर्तन तथा मथुरा को लौटना है। अन्तिम पद में गोपी-कृष्ण का शाश्वत-मिलन है।

५. मीराबाई की पदावली—'पदावली' मीराबाई द्वारा रचित फुटकल पदों का संग्रह है। इस में कोई एक विषय नहीं है। समस्त पदावली मीरा जी की आत्माभिव्यक्ति ही है। ये कृष्ण की अनन्य भक्त थीं फिर भी हिन्दी की कृष्ण काव्यपरम्परा का अनुशीलन उनके पदों में नहीं मिलता। कृष्ण की लीलाओं का कोई ज्ञान इसमें नहीं है। यही कारण है कि अनेक पदों में गोपाल, गिरधर

नागर, साँवरिया, मोरमुकुट, वैजयन्तीमाला आदि का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी अनेक विद्वान् मीरा जी को निर्गुण-काव्य-कार सन्तों में परिगणित करना चाहते हैं। मीराबाई की पदावली को भी विषय की दृष्टि से हम निम्नलिखित चार वर्गों में बांट सकते हैं—

१. सन्तपरम्परा से मिलते जुलते लपद—इसके अन्तर्गत उनके प्रार्थना, उपदेश और चेतावनी के पद आवेंगे। ये पद ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण हैं। इनमें कबीरदास की बहुत सी शब्दावली मिलती है और कबीर, रैदास, पीपा, धना, सेन आदि सन्तों का उल्लेख मिलता है। राम शब्द भी प्रायः उसी अर्थ में मिलता है जिस अर्थ में कबीर ने प्रयुक्त किया है। इन्हीं पदों के कारण कुछ लोग इन्हें कृष्ण-भक्त न मान कर सन्त परम्परा में रैदास की शिष्या मानते हैं। मीरा ने रैदास को अनेक पदों में गुरु कह कर सम्बोधित भी किया है। पर सन्त-भावना वाले पदों की संख्या बहुत नहीं है, मीरा की पदावली बहुत दिनों तक मौखिक भी रही थी, अतः यह भी संभव हो सकता है कि इसके बहुत से पद मीरा के न हों, सन्तों ने ही इनकी रचना की हो और मीरा के पदों में मिला दिया हो।

२. विरह और प्रेम से सम्बन्ध रखने वाले पद—ये पद ही मीरा पदावली के सर्वश्रेष्ठ पद हैं। इन्हीं में मीरा की प्रेम भावना साकार हो उठी है। इन पदों का किसी सांप्रदायिक भावना से कोई संबन्ध नहीं है। कृष्ण प्रेम उन्मादिनी मीरा अपने हृदय की सहजानुभूति व्यक्त करती है। पद सर्वथा स्वतन्त्र हैं। माधुर्य-भाव का अनूठा और सर्वोत्तम रूप इन में मिलता है। भक्ति की दृष्टि से भी इन पदों में इनकी भक्ति में वैष्णव भक्तों और सन्तों के बीच की भावना मिलती है।

३. जीवनी सम्बन्धी पद—इन में मीराबाई और इनके कुटुम्बियों की कहासुनी है। इनमें इनके जीवन के कटु अनुभव हैं। काव्य-दृष्टि से ये पद साधारण हैं।

४. मिश्रित पद—होली-सावन आदि ऋतु सम्बन्धी पद तथा और अन्य प्रकार के पद जो उक्त वर्गों में नहीं आते।

गोस्वामी तुलसीदासः विनय-पत्रिका

प्रश्न १—"सम्भव है तुलसीदास जी का रूपान्तर में अद्वैतवाद-प्रतिपादित महावाक्यों में विश्वास रहा हो पर सिद्धान्त रूप से तो उन्होंने विशिष्टाद्वैत को ही स्वीकार किया है ?" इस मत से आप कहां तक सहमत हैं ? विनय-पत्रिका के उद्धरणों से अपने मत की पुष्टि कीजिये ।
(संवत् २००२)

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास जी ने यत्र-तत्र अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों ही मतों के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, इसलिए कुछ उन्हें अद्वैतवादी और कुछ विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं । इसलिए इसके पूर्व कि गोस्वामी जी के मत को बतलाया जाय इन दो मतों का सूक्ष्म अन्तर जान लेना चाहिये । शंकर के अद्वैत के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण है । ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है । जीव और जगत् की अलग सत्ता नहीं है । भ्रमवश जीव को जगत् की सत्यता का भान होता है । आत्मा और परमात्मा का ऐक्य दिखलाने के लिए अद्वैती 'सोऽहम्' की कल्पना करते हैं । जीव और ब्रह्म का यही ऐक्य-ज्ञान ही मोक्ष है । श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ उनका सगुण रूप-पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार के रूप में विशिष्ट रूप धारण करता है । चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म के रूप में जीव और जगत् की भी सत्ता है । जीव ब्रह्म का अंश है और और सदा यहां तक कि 'सामीप्य' में भी अपनी सत्ता बनाये रहता है । इसलिए 'सोऽहम्' की कल्पना यहां 'तू और मैं' में परिवर्तित होती है और विशिष्टाद्वैती माया को भगवान् की शक्ति मानकर सीता रूप में स्वीकार करते हैं और ज्ञानमार्ग का अवलम्बन न करके भक्ति का सहारा लेते हैं ।

गोसाईं जी के पदों को समझने के लिए विनय के उन पदों को देखना चाहिए जिनमें उन्होंने जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार प्रगट किये हैं । राम की स्तुति करते हुए वे उनकी निर्गुण और सगुण दोनों ही उपाधियों का उल्लेख करते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे निर्गुण उपाधियों को अपना मत नहीं समझते । क्योंकि एक पद में कहते हैं कि "आदि मध्यान्त भगवन्त तुम सर्वगतमीश पश्यंति ते ब्रह्मवादी । यथा पट-तन्तु, घट-मृत्तिका सर्प-स्रग,

दारु-करि, कनक-कटकाङ्गदादी।" स्पष्ट है कि यहां गोस्वामी जी का अद्वैत प्रतिपादित निर्गुण-ब्रह्म वादियों का मत ही बतला रहे हैं। साथ ही साथ जहाँ वे सगुणात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं वहाँ विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित रूप में, व्यूह-विभवादि पांच रूपों मिल जाते है। यथा 'पर' के रूप में—"अनन्त भगवन्त जगदन्त अंतक त्राससमन श्रीरमन भुवनाभिरामा"; 'व्यूह' के रूप में—ज्ञान गोतीत गुण वृत्ति हरता'; 'विभव' के रूप में—"भूमि भर भारतर प्रकट परमात्मा ब्रह्म नर रूप धर भक्तहेतु"; अंतर्यामी के रूप में "झूठ क्यों कहौं जानो सब ही के मन की" तथा 'अर्चावतार' रूप में "निज प्रभुता विसारि जन के बस होते सदा यह रीति।"

संसार के सम्बन्ध में अद्वैत का "जगन्मिथ्या" मत विनयपत्रिका में अनेक स्थलों पर मिलता है। "अब मैं तोहि जान्यो संसार। देखत में कमनीय कछुक नाहिन पुनि किये विचार" आदि माया के सैद्धान्तिक मिथ्यापन के लिये नहीं हैं परन्तु संसार के दम्भ-मोह, और कामादि बाह्य उपकरणों के लिये ही हैं, जिनसे बचने के लिये ही भगवान् के दरबार में वे विनय-पत्रिका उपस्थित करते हैं। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि "कोउ कह झूठ सत्य कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपनु पहिचानै।" स्पष्ट है कि वे अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत के असत्य, सत्य और सत्यासत्य के सिद्धान्तों का निराकरण कर रहे हैं। संसार का मिथ्यापन नश्वरता आदि अद्वैत विशेषण केवल व्यावहारिक मिथ्यापन के लिये हैं। सिद्धान्त रूप में तो वे अचित् माया के स्वरूप में सीता, चित् के रूप में लक्ष्मण और ब्रह्म रूप में राम का ही ध्यान करते हैं।

विनयपत्रिका में कहीं भी 'सोऽहम्' का उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैत तू और मैं का सम्बन्ध "तू दयालु दीन हौं,—तू दानि हौं भिखारी" "ब्रह्म तू हौं जीव तू ठाकुर हौं चेरो" स्पष्ट शब्दों में व्यक्त है।

अद्वैत के मोक्ष का ऐक्यज्ञान तथ्य भी विनयपत्रिका में नहीं मिलता। तुलसीदास जी विनयपत्रिका इसलिये नहीं लिखते कि उन्हें मोक्ष मिल जाये। वे तो भक्तों को पंक्ति में अपने को खड़ा देखने की ही कल्पना करते हैं। मोक्ष की उदासीनता उनके इस पद में स्पष्ट है—

"को जामै को जैहे जमपुर को सुरपुर परधाम को।
तुलसी बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को।।"

तथा

"तुलसीदास वह चिद्विलास जग बूझत बूझत बूझै"

में जग की नित्यता तथा अनेक बार जन्म लेकर भगवद्भक्ति मांगना आदि में ठीक-ठीक विशिष्टाद्वैती प्रवृत्ति-सी झलक रही है।

अद्वैतवादी जीव की कोई सत्ता नहीं स्वीकार करते। माया के कारण ही उसकी भिन्नता प्रतीत होती हुई मानते हैं। ज्ञान के द्वारा माया का स्वरूप-ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म का एकीकरण ही मोक्ष है। ज्ञान के उन साधनों का तुलसीदास जी खण्डन नहीं करते और न उस मार्ग पर ही अपना मत देते हैं। पर भक्ति का साधन स्वीकार करना और भक्ति के द्वारा उसी स्थिति की प्राप्ति और शाश्वत काल तक भगवान् की भक्ति की कल्पना करने से उनकी विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित मत में आस्था प्रतीत हो रही है।

इसलिये इसमें सन्देह तो नहीं है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस और विनयपत्रिका दोनों ही में अद्वैत मतों का सम्यक् समर्थन किया है, पर विनयपत्रिका में जहां तुलसीदास जी अपने व्यक्तित्व ही को सम्मुख लिये राम दरबार में खड़े दिखाई पड़ते हैं रामानुज के ही सिद्धान्तों से ओतप्रोत प्रतीत होते हैं। उनके अध्यात्मिक विचारों का जितना यथातथ्य, स्पष्ट और पूर्ण परिचय वहाँ मिलता है उतना मानस या अन्य रचनाओं में नहीं। मानस में तो संवादों में केवल विभिन्न मतों का निरूपण है, पर विनयपत्रिका में तो गोस्वामी जी के निजी विचार हैं यद्यपि उन्होंने अपने निजी मत का स्पष्टीकरण नहीं किया पर विनय के आधार पर तो उन्हें विशिष्टाद्वैती ही मानना युक्तिसंगत होगा।

प्रश्न २—"विनयपत्रिका में तुलसीदास जी ने अपना अपरिमित पाण्डित्य, शब्द-भण्डार, वाक्य-विन्यास, पटुता, अर्थगौरव, उक्ति-वैचित्र्य और सबसे बढ़ कर दिव्य अन्तःकरण खोलकर रख दिया है।" उपर्युक्त कथन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए और यह बतलाइये कि यह उक्ति मीरा के पदों पर कहाँ तक लागू हो सकती है?

(संवत् २०००)

उत्तर—तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका की रचना तब की जब उनकी कवित्व शक्ति और विचारधारा अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। विनयपत्रिका की रचना करते समय कवि का ध्यान जग के पर्यवेक्षकों की ओर नहीं था। मानस की लोकप्रियता उनके जीवन में ही बहुत व्यापक हो चुकी थी। उन्हें तो अपने इष्टदेव की ही रुचि आदि की चिन्ता थी। इसीलिए स्पष्ट होकर उन्होंने अपने इष्टदेव के सम्मुख अपना हृदय खोल दिया। साथ ही उन्हें जगदाधार राम को इस प्रकार प्रसन्न करना था कि उन्हें कलि की क्रूर दृष्टि से मुक्ति मिले। जीवन-पर्यन्त की शब्द-साधना का उपयोग उन्होंने राजा राम को प्रसन्न करने के लिए विनयपत्रिका में बहुत चेष्टा से किया है। इसीलिए इसमें काव्यकला भी उतनी चरम कोटि की हुई है।

विनयपत्रिका मुक्तक विनय पदों का संग्रह है, पर उसमें कवि ने एक प्रबन्ध की कल्पना की है। भक्त तुलसीदास कलि के पीड़न से दुखी होकर राजा राम के दरबार का पूर्ण रूपक प्रस्तुत करते हैं जिसमें उनका पूर्ण पाण्डित्य झलकता है। राजभवन में सात फाटक हैं, जिनमें क्रमशः गणेश, सूर्य, शंकर, दुर्गा, गङ्गा, यमुना और हनुमान् द्वारपाल हैं। इस प्रकार के देवताओं की इस रूपक की कल्पना, जो भारतीय धार्मिक विचारधारा से साम्य रखती है, उनके ज्ञान का ही द्योतक है। प्रत्येक देवता की स्तुति धार्मिक ग्रन्थों में प्रस्तुत इन देवताओं के स्वरूप का स्पष्ट अंकन करती है। उदाहरण के लिए गणेश स्तुति में उनका पूर्ण परिचय 'शंकर सुवन भवानी नन्दन' तथा उनकी प्रकृति 'मोदकप्रिय मुद-मंगल-दाता' तथा उनके गुण 'विद्या वारिध बुद्धि विधाता' सभी का छोटे से पद में ही सम्यक् निरूपण है। इसी प्रकार दुर्गा स्तुति में दुर्गा सप्तशती की पूर्ण झलक उनके एक ही पद में है। शंकर जी के सम्बन्ध में उनके सातों पद एक-एक से बढ़कर हैं; भगवान् शंकर की सहज दानशीलता "औढरदानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे" "तथा बावरे रावरो नाह भवानी" वाले पद में स्पष्ट है। अर्द्धनारीश्वर स्वरूप वसंत राग में अनिर्वचनीय पाण्डित्य का नमूना है।

गोसाईं जी का दार्शनिक ज्ञान इतना पुष्ट हो चुका था कि विनयपत्रिका के अनेक पदों में वह आ गया है। "राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत

चलु भाई रे" पद में कबीर की शैली पर जीवन पर दार्शनिक रूपक है। जीवन के सभी ठाठ शरीर, पंचतत्व, काम-क्रोधादि, मृगतृष्णा आदि सबका एक ही पद में बड़ा सुन्दर रूपक है। इसी प्रकार "केशव कहि न जाय का कहिए" वाला पद दार्शनिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। माया के सम्बन्ध में बड़ा ही गूढ़ और सारगर्भित पद है—"शून्य भीति पर चित्र रंग बिनु तनु बिनु लिखा चितेरे। धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय यह तन न हेरे" उपनिषदों का सार ही है। "फिर कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै" से गोसाईं जी का सभी दार्शनिक वादों का सम्यक् ज्ञान प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार संसार का "देखत में कमनीय कछु नाहिन पुनि किए विचार" में ही कैसा सुन्दर दार्शनिक विवेचन है। कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी का दार्शनिक ज्ञान बहुत ही पूर्ण था, साथ ही उनकी अपनी अलग विचारधारा बन चुकी थी। तभी तो वे कहते हैं कि "तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।" उनके पदों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने दार्शनिकों के मतों को आत्मसात् करके इतना अपना बना लिया था कि उनके पदों में आप चाहे अद्वैतवाद के तथ्य ढूँढ लीजिये और चाहे विशिष्टाद्वैत के। उसमें ज्ञान, योग के भी सभी सिद्धान्त मिल जायेंगे और भक्तिपक्ष की सभी पद्धतियों का अनुशीलन भी मिल जावेगा। उनका सबसे बड़ा पाण्डित्य तो इसमें है कि भक्ति और ज्ञान के तत्कालीन बिवाद को उन्होंने अपने पदों में ऐसा सुन्दर ढङ्ग से रखा है कि बिना किसी कटुता के आये हुए ही भक्ति की प्रतिष्ठा भी स्वीकृत हो गई है और ज्ञान की महत्ता की रक्षा भी हो गई है।

उनके दार्शनिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान के अतिरिक्त संस्कृतगर्भित भाषा, उसका लालित्य, उसकी व्यंजना और शब्द-साधना उनके अपरिमेय पाण्डित्य के प्रमाण हैं। भगवान् राम, दुर्गा और गङ्गा के स्तोत्र उनके शब्द-भण्डार और बड़े वाक्यविन्यासों के प्रमाण हैं। स्तोत्र तो प्रतीत होते हैं मानों दुर्गा-सप्तशती और गङ्गा लहरी के साथ-साथ चल रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द पर शब्द जोड़ते चले गये हैं। शब्दों का सागर और साथ ही साथ उनकी शुद्धता, आनुप्रासिकता, सौष्ठव, ओज और अर्थ स्वारस्य उनकी

सिद्ध कवीश्वर सिद्ध कर रहे हैं। इस समय कवि विनय लिखने की भाव-भूमि पर है, कवित्व की ओर उसे अधिक ध्यान नहीं है फिर भी यह अनुप्रासिकता और कोमल कान्त पदावली उसमें सहज ही आ गई है। गंगा की स्तुति में "विष्णु पदकंज मकरन्द तब अम्बुवर वहसि दुःख दहसि अगवृन्द विद्राविनी" पद में अनुप्रासिकता, लालित्य और कोमल कान्त पदावली का कैसा सुन्दर सामंजस्य है। संस्कृत के वाक्य विन्यास का क्रिया पद तक में प्रभाव हो गया है।

अर्थ-गौरव विनयपत्रिका के पदों की विशेषता है। स्तोत्रों में भी जहां शब्दभण्डार तथा पदविन्यास के सौन्दर्य की ही प्रधानता है, अर्थगौरव विद्यमान है। एक पंक्ति या शब्द में भी अर्थ की दरिद्रता नहीं है। सच तो यह है कि अर्थ की ही प्रधानता रहती है, पर अर्थगौरव तो उनके उन पदों में प्राप्त होता है, जहां वे अपने निकट सम्पर्क वालों के साथ पहुंच कर आत्म-निवेदन करते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे सीता के पास अपनी सिफारिश करने की विनती करते हैं 'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ" वाला समस्त पद अर्थ-गौरव की दृष्टि से अत्यन्त ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार शंकर जी की स्तुतियों में "बाबरो रावरो नाह भवानी" तथा "देखो देखो वन आजु बन्यो उमाकंत" अर्थ गरिमा के कारण बड़े ही विसद पद हैं। इन पदों के एक-एक शब्द बहुत बड़े अर्थ और व्यञ्जना शक्ति वाले हैं, वैसे विनयपत्रिका का प्रत्येक पद अर्थ की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। कवि ने अर्थ को छोड़कर और कुछ उद्देश्य ही नहीं रखा है।

विनय के पदों में उक्ति-वैचित्र्य भी बहुत विशिष्ट है, अपने इसी गुण के कारण ही तो उन्होंने राम दरबार के सभी लोगों को प्रसन्न कर रखा था जिससे सब ने एक स्वर में उनका समर्थन किया। इनके उक्ति वैचित्र्य के प्रमाण में सीता जी से कहा हुआ इनका "कबहुँक अम्ब अवसर पाइ" वाला पद प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। कहते हैं—हे माता अवसर पाकर अर्थात् जब भगवान् की मनोदशा भक्तों पर दयार्द्र हो तो और दीनों की कथा के बीच में मेरी भी सुध दिला देना और कहना कि कलिकाल में भी आपकी दासी का दास आपका नाम लेकर उदर भर रहा है, तब यदि वे पूछें तो

मेरा नाम और दशा कह देना। आपकी इतनी सहायता करने पर मैं आपके नाथ के गुण गान करता हुआ भवसागर तर जाऊँगा। इस पद में गोसांई जी की दीनता और चतुराई है कि एक तो कोई भी पत्नी सिफारिश करने से अपने को रोक नहीं सकती। "तब नाथ गुन गन गाइ" का प्रभाव ऐसा है कि सीता प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकती। 'दासीदास' शब्द रामचन्द्र जी पर ऐसा प्रभाव डालेगा कि सीता जी अपने दास की बात कह रही हैं। यही तो गोस्वामी जी की उक्ति की चतुराई है। उनकी चतुराई का फल अन्त में हुआ भी वही जैसा वे चाहते थे। रामचन्द्र जी से अपनी विनय करते हुए भी उनकी उक्तियों में वही चतुरता है। कहीं भी उन्होंने स्पष्ट कलि की बुराई नहीं की। अपने दोषों को ही गिनाते हैं, पर साथ गज, गीध, अजामिल आदि का प्रमाण उपस्थित करके अपने को भी उसी पंक्ति में खड़ा कर देते हैं। भगवान् के शीलनिरूपण में उक्ति-वैचित्र्य की मात्रा बहुत है। कहते हैं भगवान् ने अपने शील के कारण ही गज को बचाया, नहीं तो उसने सामवेद तो गाया नहीं था। परशुराम व्यर्थ क्रोधित हुए थे, पर उन्हें क्षमा नहीं किया वरन् स्वयं क्षमा माँगने लगे। सुग्रीव और विभीषण ने अपनी दुष्टता न छोड़ी पर भगवान् ने उन्हें सकुच कर कपीश्वर और लंकेश्वर बनाया। भरत ने सभा में वानरों और नीचों की मुक्तकंठ से प्रसंशा की, यह इसलिये कि भगवान् की तो भक्तों पर कृपा करनी सहज बात है। कहाँ तक लिखें विनय का प्रत्येक पद चतुराई से भरा है। अवश्य ही भगवान् को उनकी विनयपत्रिका पर विहंस करके सही करनी पड़ी होगी। सिद्ध कवीश्वर के उक्ति वैचित्र्य के प्रभाव से ईश्वर भी नहीं बच सकता।

प्रश्न ३—"शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति के अवलम्बन से स्थिर करके तुलसी ने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया है।" इस कथन की तर्कपूर्ण मीमांसा कीजिये।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में प्रेम और भक्ति का निरूपण ही अपना प्रधान लक्ष्य रक्खा है। आरम्भ से अन्त तक के प्रायः प्रत्येक पद में वे 'राम चरण रति की ही याचना करते हैं। राजा राम के दरबार

में विनयपत्रिका भेजने का प्रयोजन भी यही है कि उन्हें कलि से छुटकारा मिलने का साधन राम भक्ति मिल जाय। राज दरबार के रूपक तथा वहां उनकी पत्रिका के स्वीकार होने का जो रूपक है उसमें तथ्य यही है कि उन्हें तभी निश्चय होगा कि उनकी पत्रिका स्वीकृत होगी जब उनके हृदय में विषयों से गहन अप्रीति और राम से प्रीति हो जायगी।

राम की इस भक्तिकी प्राप्ति का साधन भी इन्होंने सबसे भिन्न बताया है। भगवान् की शक्तिशाली और सौंदर्य की विभूतियों में से केवल शील का ही उत्कर्ष विनयपत्रिका में चित्रित किया है। "ऐसो को उदार जगमाहीं, जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनिज्ञानी। सो गति देत गीध शबरी कहं प्रभु न बहुत जिय जानी" तथा "जो सम्पत्ति दशशीश अरपि करि रावण शिव पहं लीनी। सो सम्पदा विभीषण कहँ अति सकुच सहित प्रभु दीनी।"

विनयपत्रिका के अनेक पद भगवान् राम के ही शील-स्वभाव का चित्रण करते हैं। भगवान् ने भक्तों को इसलिये नहीं तारा कि वे असुर संहारन हैं या भक्त लोगों ने अपनी भक्ति के बल उन्हें वशीभूत कर लिया है। उन्होंने तो अपने पतित पावन विरद के लिये ही सबको तारा है, उन्होंने अपने स्वभाव की विवशता से सबका भला किया। "सबकौ भलो कियो राम आपनी भलाई।" खग, मृग, ब्याज और अजामिल ने न तो ज्ञान प्राप्त किया था, न वैराग्य ही लिया था और न वेद का अध्ययन ही किया था पर भगवान् ने अपनी भलाई से उन्हें तार दिया।

भगवान् रामचन्द्र का शील-स्वभाव उनका प्राकृतिक गुण है। इस स्वभाव को सुनकर "मोद न मन-तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ" तथा "सिसुपन ले पितु-मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ। राम बिमल बिधु बदन रिसौंहै सपनेहुँ लख्यौ न काउ॥" उनका समग्र जीवन उनके शील-स्वभाव का निरूपण है। उनके शील का ही लाभ उठाकर मानों तुलसीदास जी सीता जी, हनुमान् लक्ष्मण और समस्त देवी और देवताओं को प्रसन्न रखते हैं और जब सारी सभा लगी होती, हनुमान् और भरत के संकेत पर लक्ष्मण पत्रिका उपस्थित करते हुए कहते हैं—"कलिकाल में भी भगवान् ने

एक गरीब की बाँह गही है, और भगवान् यह कर कि "सुधि हौं हूँ लही है" मुस्कराहट के साथ पत्रिका पर सही कर देते हैं।

इष्ट के शील निरूपण के साथ-साथ तुलसीदास जी शील के आधार श्रद्धा भाव को भक्त को दिखाते हैं भक्त को धर्म की अवस्थाओं में विश्वास है। इष्ट के सम्मुख आत्मनिवेदन करते हुए धर्म और देवी-देवताओं को भूल नहीं जाते। वे सर्व-प्रथम श्री गणेश जी की स्तुति करते हैं और उनसे राम भक्ति का वर मांगते हैं फिर क्रमशः सूर्य, दुर्गा, शंकर, गंगा, यमुना आदि देवताओं के प्रति भी अपना श्रद्धाभाव अर्पित करके अपने मनोरथ की सिद्धि की तीव्र प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार शील के उत्कर्ष के द्वारा ही भक्ति प्राप्त हो सकती है। भक्ति की भी गुसाईं जी की अपनी एक विशिष्ट व्याख्या है। भक्ति तभी वे मानते हैं जब मन राम की ओर वैसी ही स्वाभाविक रीति से रत हो जाय जैसे सांसारिकता में है। उसमें संत-स्वभाव हो। यथा लाभ संतोष हो। दूसरे की उन्नति देखकर प्रसन्नता तथा अपमान देखकर दुःख हो। संसार में सभी ऊँच-नीच प्राणियों में समदृष्टि हो। हृदय से जलन और ईर्ष्या, क्रोध आदि सदा के लिये निकल जायें। परहित ही धर्म हो और पर पीड़ा ही अधर्म लगे। सच तो यह है कि तुलसीदास जी के विनयों के लिखने का उद्देश्य ही यह है कि वे माया-मोह से आवृत कलि धर्म से मुक्ति पायें। कलि में प्रचलित भक्ति के बाह्याडम्बर को वे भक्ति मानने को तैयार नहीं हैं। यह भक्ति योग, जप, यज्ञ आदि का फल है। तात्पर्य यह है कि तुलसीदास जी का भक्ति-मार्ग वह है जिसे हम सदाचार का पर्याय कह सकते हैं। पर एक बात अवश्य है कि वे केवल सदाचार को भक्ति नहीं कहते राम के प्रति श्रद्धा तथा उसके प्रति लगन की आवश्यकता बताते हैं। परोपकार आदि को सालन-साग बताते हैं। पर राम की भक्ति को नमक बताते हैं। जैसे बिना सामग्री के नीरस में नमक एक छटाँक भी मुख के भीतर नहीं रक्खा जा सकता और बिना नमक के सुन्दर से सुन्दर शाक 'सालन साग' खाने योग्य नहीं उसी प्रकार भक्ति बिना सदाचार केवल दम्भ और सदाचार के बिना भक्ति व्यर्थ है।

प्रश्न ४—"कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता यही है कि उसका रहस्य तो पारदर्शी रसिक जनों को ही ज्ञेय हो किन्तु उसका आनन्द सर्वसुलभ बन जाय।" महात्मा तुलसी के काव्य को दृष्टि में रखते हुए उक्त कथन की मीमांसा कीजिये।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की विशेषता यह है कि उसका प्रचार सर्वसाधारण में हुआ फिर भी वह इतना गम्भीर है कि विज्ञ से विज्ञ जन जितनी बार उसका अवगाहन करने बैठते हैं उतने ही नवीन रस उसमें से प्राप्त करते हैं। साधारण भाषा का समझने वाला व्यक्ति अपनी योग्यता का परिचय देते हुये कहता है कि "मैं रामायण पढ़ और समझ सकता हूँ" साथ ही साहित्य के बड़े-बड़े विशेषज्ञों के अध्ययन और अनुसन्धान की बहुत बड़ी सामग्री रामायण में अभी शेष है यद्यपि हिन्दी के किसी ग्रंथ का इतना अध्ययन अभी तक नहीं हुआ, जितना रामचरित-मानस का।

काव्य का सम्बंध समाज से बड़ा ही घनिष्ठ है। स्वान्तःसुखाय काव्य भी लोक के लिए होता है। जन-समाज का बड़ा भाग साहित्य की विधाओं और शास्त्र से अपरचित होता है। अल्पसंख्यक विज्ञ-जन ही भाषा-शास्त्र को जानते हैं। दोनों की रुचि और गति भिन्न होती है। फलतः या तो काव्य अलग-अलग दृष्टियों से हो, नहीं तो दो में एक वर्ग उसका आनन्द और लाभ नहीं उठा सकता। होता भी ऐसा ही है या तो काव्य का स्तर इतना साधारण होता है कि विज्ञ-जनों के मनोरंजन की उसमें कोई वस्तु नहीं होती या 'प्रसाद' के साहित्य की भांति वह इतना उच्च होता है कि साधारण जन पहुँच से बहुत दूर होता है। पर तुलसी जैसा श्रेष्ठ कलाकार वह है जो काव्य का सामान्य आनन्द सर्व-साधारण तक पहुँचाये पर उसका गूढ़ रहस्य मर्मज्ञों को ही प्राप्त हो सके। रामायण की कथा, उसका लौकिक, मर्यादित और धार्मिक रूप समस्त हिन्दू जनता को सुलभ है। अन्धों तक को भी रामायण के अधिकांश स्थल कण्ठाग्र हैं। सभी मानस के पाठ में पूर्ण आनन्द का लाभ करते हैं। मानस की साहित्यिकता, भाषा की व्यञ्जना शक्ति, उसके अलंकार, रस, छन्द, कल्पना, रागात्मकता, गम्भीर विचार, मनोवैज्ञानिकता, आदर्श निरूपण सार्वभौम, और स्थायी वृत्तियों का प्रतिष्ठापन, सर्वधर्म-

समन्वयवाद, दार्शनिक मतमतान्तरों की विवेक पूर्ण अवस्थिति, विज्ञजनों के गम्भीर अध्ययन के अङ्ग बने हुए हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी मानस का अवगाहन करते और चिरतृप्ति लाभ करते हैं। काव्य की यह कला गोस्वामी की अपनी वस्तु है। कला की यह दृष्टि अन्यत्र सुलभ नहीं है।

'मानस' से एक उदाहरण देना आवश्यक है। परशुराम-सम्वाद में श्री रामचन्द्र जी ने कहा कि "विप्र वंस की असि प्रभुताई। अभय होय जो तुमहि डराई।" देखने में यह चौपाई साधारण है। प्रसंगानुसार प्रत्येक साधारण जन उसका अर्थ निकालकर प्रबंन्ध का रसास्वादन करता है। पर इसमें गोसाईं जी को सामान्य अर्थ से कुछ अधिक अभिप्रेत है जिसका स्पष्टीकरण वे स्वयं करते हैं। वे कहते हैं—"सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुवर के। उघरे पटल परसुधर मति के।" इस पंक्ति को देखते ही ज्ञात होता है कि अवश्य ही प्रथम प्रसाद गुण युक्त राम के सरल शब्दों में कोई गूढ़ भाव छिपा होगा जिसे समझ कर ईश्वरावतार परशुराम के बुद्धि-पटल खुल गये। विचार करने पर राम के वचनों के तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं। प्रथम अर्थ में सीधा अर्थ है विप्र वंश की प्रभुता ऐसी है कि क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों से डर कर चलते हैं तो अभय रहते हैं। पर इसका गूढ़ार्थ राम के ब्रह्म-तत्त्व की ओर संकेत करता है। उस अर्थ में इसका भाव होगा कि विप्र वंश की ऐसी प्रभुता है कि जिसके कारण अभय ब्रह्म भी डरता है। ब्रह्मण्यता की मर्यादा की रक्षा करने के लिये ब्रह्म होते हुए भी मैं आपसे डर रहा हूँ। तृतीय गूढ़ अर्थ में वे अपने तथा परशुराम दोनों के ब्रह्मत्व का निरूपण करके उन्हें शक्ति लाभ का संकेत करते हैं कि विप्र वेश स्वीकार करके आप प्रभुता दिखा रहे हैं। आपको तो समझना चाहिये कि जो प्रत्यक्ष में आप से डर रहा है वह अभय (ब्रह्म) अवश्य है। इस प्रकार नम्र और सरल शब्दावली में वह रहस्य प्रकट किया कि परशुराम की बुद्धि खुल गई। अन्य लोग परशुराम के भाव-परिवर्तन को न समझ सके। इस गूढ़ अर्थ को रसज्ञ जन ही जान सकते हैं। पर गोस्वामी जी की कला यह है कि बिना इस गूढ़ अर्थ की प्रतीति के भी कथा का रसास्वादन पूर्ण रूप से हो सकता है। 'प्रसाद' की कामायनी की भाँति बिना भावार्थ के समझे रसा-स्वादन प्राप्त न हो ऐसी बात मानव में कहीं न मिलेगी। तुलसीदास के गम्भीर भाव और काव्य-कौशल सरलता के कलेवर में होते हैं। रहस्य और

काव्य-गुण व्यञ्जनामात्र में होते हैं। यही कारण है कि उसी पंक्ति को साधारण व्यक्ति पढ़कर आगे चला जाता है। और पारखी जन उसी में गोते लगाता हुआ स्थित रहता है। जितनी डुबकियाँ लगाता है उतने नए प्रकार के रत्न पाता है।

प्रश्न ५—'तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों का जितना यथा-तथ्य, स्पष्ट और बहुत कुछ पूर्ण परिचय हमें विनयपत्रिका के पदों में मिलता है, उतना कदाचित् उनकी अन्य रचनाओं में से किसी से नहीं।' आलोचना कीजिये। (सं० २००३)

उत्तर—तुलसीदास जी की विनय-पत्रिका उनकी अन्तिम रचना है। रामचरितमानस तथा अन्य प्रबन्ध तथा गीति काव्यों में कवि ने अपने इष्टदेव के समस्त क्रिया-कलापों तथा स्वरूपों को पूर्ण चित्रित कर दिया था। जीवन के चौथे चरण में जब उनकी विचारधारा दर्शन और धर्म की गम्भीरतम स्थिति में थी उन्होंने विनयपत्रिका में अपना रहस्योद्‌घाटन किया। विनय-पत्रिका में भक्ति, ईश्वर, जीव और जगत् सम्बन्धी अपनी सभी गूढ़ भावनाओं का सुन्दर प्रकाशन है। यही कारण है कि विनय के पद अन्य भक्तों के विनय के पदों की अपेक्षा कही अधिक गम्भीर हैं।

ब्रह्म निरूपण करते हुए ये भगवान् के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों पर विवेचन देते हैं। भगवान् के निर्गुण रूप का स्पष्टीकरण राम-वन्दना पदों में उपस्थित करते हैं। वे "सच्चिदानन्द व्यापक ब्रह्म" हैं पर वे ही निर्गुण ब्रह्म स्वरूप राम राजा रूप धारण करते हैं।

"अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुन ब्रह्म, सुमिराम नरभूप रूप" में उनका महाविष्णुत्व भी दिखाई पड़ता है। वे "व्यालारिगामी" हैं उरग नायक तरुन मयन पंकज नयन, क्षीर सागर अयन सर्ववासी।" स्तुतियों में सभी उपाधियाँ महाविष्णु की हैं पर शंख, चक्र, गदा, पद्म-धारी चतुर्भुज न होकर वे "द्विभुज सर-चाप धर" ही हैं।

जीव के सम्बन्ध में विनय-पत्रिका में भी उसे मानव की भाँति ईश्वर का अंश ही माना है। वह माया वश है। ईश्वर और जीव का व्यावहारिक भेद दिखाते हुए विनय में भी वे कहते हैं कि—

"हौं जन जीव ईश रघुराया। तुम मायापति हौं वश माया ॥"
माया के सम्बन्ध में उसका स्पष्टीकरण शङ्कर मत के सदृश है।
केशव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।
सून्य भीतिपर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे।
धाये मिटै न सहै भीति दुख पाइय यह तनु हेरे।
रवि कर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥"

इस प्रकार गोस्वामी जी माया में भ्रमात्मक रूप का व्यापक प्रभाव विश्व में दिखना चाहते हैं। शंकर के मायावाद की शब्दावली का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि—

बूड़्यौ मृगवारि खायो जेवरी को साँप रे
सोवत सुपनेहुँ सहै संसृति संताप रे!"

सारा जगत् इसी मोहनिन्द्रा में सो रहा है। संसार का यह भ्रमात्मक रूप देख कर वे उससे डरते हैं कहते हैं:—

"अब मैं तोहि जान्यो संसार" संसार एक भ्रम है "देखन में कमनीय किन्तु नाहिन किछु किए विचार" आदि वाक्यों से जगत् का असत्य भासित रूप ही दिखाते हैं। फिर भी वे सृष्टि को वस्तुतः राम रूप ही मानते हैं—

"सर्वदैकात्म तद्रूप भूपाल मनि [illegible] गतभेद जिष्णो" राम से शून्य जगत् असत्य है। बहिरिन्द्रियों से दिखाई पड़ने वाला जगत् भ्रमात्मक है। वह क्षण-भंगुर है, उस पर भूलना न चाहिए "धुंवा के से धौरहर देखि मत भूलि रे।"

यह भ्रम केवल मानसिक अज्ञान है। सब जान बूझ करके भी यह माया बंधन नहीं छूटता। उसी माया के भ्रम के निवारणार्थ ही गोसाईं जी विनयपत्रिका लेकर राम-दरबार में उपस्थित होते हैं। वे कहते हैं कि केवल सत्य या झूठ मान लेने से ही भ्रम की शंका दूर नहीं होती। यह माया भी ब्रह्म का उपादान कारण है। जीव के साथ स्वाभाविक रीति से यह भ्रम लगा है। इसीलिए वे कहते हैं कि—

"तुलसीदास यह जीव मोह रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै"

ज्ञान के द्वारा यह जानकर कि यह अज्ञान है इससे मुक्ति नहीं मिलती। अनेक साधन और उपाय करने पर भी बिना हरि-कृपा के माया से पिण्ड नहीं छूटता—

"करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लागि करहु न दाया।"

इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया का दार्शनिक विवेचन करके भक्ति पर आ विराजते हैं। उनके मत में भक्ति ही मोह रज्जु के बंधन से छुड़ाने का एक मात्र साधन है।

भक्ति की विवेचना भी दार्शनिक ही है। भक्ति पथ "राजडगरों सो" अवश्य है; उसमें अनेक प्रकार के मतों आदि का झगड़ा नहीं है। फिर भी "रघुपति भगति काल कठिनाई" सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता सांसारिकता से सर्वथा उदासीन होना है। गोसाईं जी भक्ति का एक मात्र लक्षण यह बताते हैं कि भगवान् के चरणारविन्दों में मन इस प्रकार स्वाभाविक रीति से लग जाए जिस प्रकार पुत्र, कलत्र, वित्तादिक में लगा होता है। उसके लिए सन्त स्वभाव आवश्यक है जिसकी व्याख्या में वे कहते हैं कि—

"यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान समसीतल मन परगुन नहि दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।"

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी विनयपत्रिका में ब्रह्म, जीव, माया जगत् का स्वरूप निरूपण करते हुए भक्ति पथ का गूढ़ तत्व ही प्रकाशित करते हैं। विनयपत्रिका की रचना का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य भी नहीं है। सारे ग्रंथ में इसके अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। विनयपत्रिका में भगवान् की लीलाओं का दृष्टिकोण ही नहीं है। रामचरितमानस में भी उन्होंने आध्यात्मिक तथ्यों के निरूपण का पर्याप्त अवसर निकाला है, पर उसमें इतनी स्पष्टता नहीं है। गीतावली, कवितावली, जानकीमंगल, पार्वती-मंगल आदि रचनाओं में दार्शनिक विवेचन नहीं के बराबर ही है। इसलिये

हम कह सकते हैं कि विनयपत्रिका में ही उनके आध्यात्मिक विचारों का सर्वश्रेष्ठ रूप देखने को मिलता है।

उत्तर कांड

प्रश्न ६—रामचरितमानस में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और उनके प्रति गोस्वामी जी की प्रतिक्रिया का जो संकेत मिलता है उसका पूर्ण विवरण दीजिये।

उत्तर—यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस की रचना स्वान्तः-, सुखाय' ही की थी पर उसमें 'लोकहित' की भावना इतनी प्रधान थी कि उनके काव्य में तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब आ विराजा है। गोस्वामीजी अपने युग के प्रतिनिधि साहित्यकार थे और उनका काव्य था समाज का सच्चा दर्पण।

गोस्वामी तुलसीदास जी की दृष्टि दीन-हीन हिन्दू समाज तक ही सीमित थी। उन्होंने देखा कि हिन्दू सब प्रकार से नष्टप्राय और आशाहीन हो रहा है। उसके दो प्रधान कारण हैं एक तो आपसी मत-भेदों से वह छिन्न भिन्न हो रहा है, उसके धर्म विषयक अनेक बाह्याडम्बर उसे नष्ट कर रहे हैं। धर्म और समाज की मर्यादा नष्ट होती जा रही है और समाज अधःपतन को प्राप्त होता जा रहा है। दूसरे शासक-वर्ग का शासन अन्याय और अनाचार से युक्त है गोस्वामी तुलसीदास जी पर इन दोनों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने यत्र-तत्र उसका स्पष्टीकरण मानस में किया।

उनके काल में हिन्दुओं में शैव, वैष्णव और शाक्त मतों के रूप में तीन सम्प्रदाय बने हुए थे। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से तीनों एक ही मत हैं पर बाह्यरूप की महत्ता मानकर तीनों ही सम्प्रदाय भ्रमवश एक दूसरे के द्रोही बने हुए थे। गोसाईं जी समन्वयवादी थे। उन्होंने अपने धर्म-समन्वय के द्वारा रामभक्ति में तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाकर तीनों के आपसी विरोध को सदा के लिये दूर कर दिया। शैव और वैष्णवों का विरोध और उसका परिहार वे इस प्रकार करते हैं—

> शंकर प्रिय मम द्रोहा, शिव द्रोही मम दास।
> सो नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महँ बास॥

गोस्वामी तुलसीदास जी राम के द्वारा शिव का पार्थिव पूजन करवाते औ रशिवाजी को राम का अनन्य भक्त दिखलाते हैं। शाक्तों की आराध्या

आदि शक्ति की महत्ता वे सीता जी जो आदि शक्ति का अवतार मान कर सिद्ध करते हैं।

"श्रति सेतू पालक राम तुम, जगदीश माया जानकी।
जो सृजति, पालति हरति नित रुख पाइ कृपा निधानकी॥"

शैव, वैष्णवों और शाक्तों के अतिरिक्त सन्तों के विभिन्न सम्प्रदाय भी चल रहे थे। कबीर, दादू, नानक तथा सूफी इसके प्रधान प्रवर्तक थे। ये लोग हिन्दू संस्कृति पर कुठाराघात कर रहे थे। आर्य धर्म के महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य को न समझ कर ये लोग वर्णाश्रम, जाति, गुरु गोपासना और धार्मिक मर्यादा का उपहास उड़ाकर साधारण जन समाज को भ्रम की स्थिति में डाले हुए थे। भारत के परम्परागत भक्ति को न समझते हुए ये सन्त अपने को सच्चा भक्त कह कर हिन्दू धर्म ग्रन्थों और संस्कारों की निन्दा कर रहे थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने उन्हें ठीक समझा और कहा कि—

साखी-सबदी दोहरा, कहि किहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत-कलि, निन्दहिं वेद पुरान॥

स्पष्ट है इसमें गोसाईं जी 'साखी सबदी दोहरा' के द्वारा कबीर आदि सन्तों और 'किहिन उपखान' के द्वारा सूफी कवियों पर कटाक्ष कर रहे हैं। अलख जगाने वाले ढोंगी साधुओं का इतना आधिक्य हो गया था कि इनके सदृश नम्र व्यक्ति को भी एक बार क्रोध ही आ गया और उन्हें दोहावली में कहना पड़ा—

हम लखि हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच॥

यह तो उन संप्रदायों की ओर संकेत है जो सामाजिक और धार्मिक अवस्था को विशृंखल करने में योग दे रहे थे। गोसाईं जी ने समाज की अवस्था का भी संकेत किया है—

"वरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
ब्रह्म जो जानहि विप्रवर, आंखि दिखावहिं डाटि॥"

गोस्वामी तुलसीदास जी अपने काल की सामाजिक दशा से सर्वथा असन्तुष्ट थे। उन्होंने रामराज्य का जो वर्णन किया है उसमें उनके असन्तोष की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। रामराज्य का वर्णन आदर्श रूप है। उसका ठीक विपरीत रूप उस काल का समझना चाहिए। उनके वर्णन से प्रतीत होता है कि लोग अपने धर्म पर आरूढ़ न थे। भय-शोक-रोग से पीड़ित थे। दैहिक, दैविक और भौतिक ताप सदैव खड़े रहते थे। आपस में वैर-विरोध बढ़े हुए थे। राम-भक्ति नर-नारियों में न थी। शारीरिक और मानसिक रोग बढ़े हुए थे। अल्पायु में लोगों की मृत्यु होती थी। दरिद्रता और दीनता का व्यापक प्रसार था। लोगों के चरित्र गिरे हुए थे। पारिवारिक और सामाजिक जीवन हर प्रकार से अधःपतन को प्राप्त था। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में ही उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा और सेवक आदि के आदर्श चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किये। आदर्श सामज की रूपरेखा रामराज्य के वर्णन द्वारा सबके सम्मुख रक्खी।

समाज राजनीतिक चेतना से शून्य था। उसमें उदासीनता छाई हुई थी। "कोउ होउ राउ हमें का हानी" की प्रवृत्ति जन समुदाय में छाई हुई थी। इस उदासीनता का मुख्य कारण उनकी विवशता थी। तुलसीदास जी इसका कारण एक तो कलियुग का प्रभाव बताते हैं, दूसरे तत्कालीन शासक वर्ग का अनीति पूर्ण राज्य। इन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं भी उस काल के शासकों मुगलों का नाम नहीं लिया है। पर रावण के शासन के वर्णन द्वारा उन्होंने मुगलों की शासन-पद्धति पर संकेत किया है :—

भुज-बल विस्य बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मंडलीक मनि रावन, राज करै निज मन्त्र॥
जेहिं विधि होई धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गांव पुर आग लगावहिं।
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति॥

नारी समाज का विशिष्ट अंग है। तुलसीदास जी ने कहीं-कहीं सामान्य रूप से नारी जाति पर कथन किया है। उन्होंने उसे तुच्छ और हेय ही कहा है। यद्यपि सीता, पार्वती, अनसूया, कौशल्या, सुमित्रा, मंदोदरी आदि के चरित्रों

के द्वारा उन्होंने नारी जाति का गौरव दिखाया है; पर उनके काल में नारियों की स्थिति निम्न ही थी, इसलिये उन्होंने नारी जाति को "अव और अवगुण की खानि" कहा है और उसे विशेष उच्चस्थान न देकर "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी" कहा है।

संक्षेप में गोस्वामी तुलसीदास जी सच्चे द्रष्टा थे। वे समन्वयवादी थे, अतः उन्होंने अपने मानस के द्वारा समाज की दुर्व्यवस्थाओं को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में फैले हुए अनाचारों का चित्र भी खींचा और उनका उपचार भी प्रस्तुत किया। शैव, वैष्णव, शाक्त, हठयोगी, सन्त-संप्रदाय आदि का अच्छा समन्वय उन्होंने किया। उन्होंने किसी के चित्रण में स्पष्ट कथन नहीं किया, सब कुछ राम-कथा के द्वारा ही उन्होंने कहा। पर उनकी केवल कविसुलभ प्रतिभा उस काल की सामाजिक स्थिति को पूर्णतया स्पष्ट कर देती है।

प्रश्न ७—मानस में ज्ञान-भक्ति सम्बन्धी प्रणालियों का उल्लेख करते हुए निर्देश कीजिए कि गोस्वामीजी ने भक्ति की श्रेष्ठता किस आधार पर दिखाई है ?

उत्तर—हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण ईश्वरोपासना के सम्बन्ध में बड़े मतभेद चल रहे थे। इसकी छाया, उस काल के प्रमुख कवियों की रचनाओं में प्राप्त होती है महात्मा सूरदास और नंददास के भ्रमर-गीतों में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। गोपियों के द्वारा उद्धव जैसे ज्ञानी का उपहास कराना तथा उद्धव का मत परिवर्तन कराना भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के हेतु ही हैं। गोस्वामी तुलसी-दास जी ने भी इस विचार को कई बार रामायण में प्रस्तुत किया है रामा-यण के कथानक को ही गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति तथा अवतारवाद को महत्ता दिखाने के लिये विशिष्ट रूप में रखा है। ईश्वर के निर्गुणत्व और ज्ञानमार्गीय तथ्यों का कथन करते हुए वे उसी का पर्यवसान सदा सगु-णात्मक भक्ति में कहते गये हैं। शिव-पार्वती संवाद, काकभुशुण्डि-गरुड़ संवाद भगवान् की उत्पत्ति की कथा आदि सभी इसी ही दृष्टिकोण से बनी हुई हैं। इतना होते हुए भी तुलसीदास जी समन्वयवादी थे अतएव भक्तिमार्गी

होकर भी उन्होंने सूर और नन्द की भांति ज्ञान मार्ग की खिल्ली नहीं उड़-वायी। उन्होंने तो दोनों का समन्वय किया है ।

वे ज्ञान और भक्ति को एक ही बताते हैं। दोनों का उद्देश्य संसार-सागर को तरना है और दोनों ही इस कार्य को करने में समर्थ हैं अतः दोनों में तत्वतः कोई भेद नहीं है—

ज्ञानहि भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

इस प्रकार पहले दोनों की तात्विक एकता दिखाकर वे भक्ति की विष्टिता बड़ी चतुराई से दिखाते हैं। गोस्वामी जी कवि-हृदय थे अतः उन्होंने इस गूढ़ विषय को काव्य-कल्पना का आधार दिया। ज्ञान और भक्ति शब्द हिन्दी व्याकरण से पुंल्लिग और स्त्रीलिंग है। माया भी स्त्रीलिंग है। तात्विक दृष्टि से भी ज्ञान में शक्ति होती है। अतः वह पुरुष स्वरूप है। माया में लुभाने वाली मोहक वृत्ति है। अतः उन्होंने कहा कि ज्ञान पुरुष है, माया (स्त्री) उसे अपने मोह में डाल कर पतनोन्मुख कर सकती है। भक्ति स्वयं स्त्री है अतः उसकी ओर माया का कोई आकर्षण नहीं है विश्वामित्र आदि ज्ञानी माया के द्वारा ही अपनी तपस्या को पूर्ण नहीं कर सके थे। भक्ति में माया का विरोध नहीं है। माया के उपकरण भक्ति में सहायक बन जाते हैं। इसी आधार को लेकर गोसाईं जी कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान और भक्ति तात्विक दृष्टि से एक हैं, पर भक्ति-मार्ग निरापद है। क्योंकि—

"मोह नारि नारि के रूपा।"

"माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ, नारि कर्म जानत सब कोऊ।"

इतना ही गोस्वामी जी का मत है। भगवान् भी भक्ति की ओर विशेष ध्यान रखते हैं। वे ज्ञानी को अपने बल पर चलने को कहते हैं पर भक्त को सब प्रकार से निर्बल समझकर उसकी रक्षा के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इसमें कवि तुलसीदास दूसरा रास्ता प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं ज्ञानी और भक्त परमेश्वर के दो पुत्र सदृश हैं, ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र है और भक्त शिशु पुत्र। निश्चय ही माँ शिशु पुत्र की ओर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करती है। प्रौढ़ पुत्र को तो वह उसी पर छोड़ देती है। अतः भक्त सदा निरापद रहता है। गोस्वामी जी श्री रामचन्द्र के मुंह से ही कहलाते हैं कि—

"मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिल बाता ॥
गहि सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अस गाई ॥
करौं सदा तिन्हके रखवारी। जिमि बालहिं राखै महतारी ॥"

स्पष्ट है जिस भक्तिमार्ग में सर्वशक्तिमान् भगवान् ही रक्षा करते हैं फिर वह मार्ग निरापद क्यों न होगा ?

इसके साथ ही साथ गोस्वामी तुलसीदास जी ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञानी प्रभुहिं विशेप पियारा'; पर उस ज्ञान मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं। ज्ञान पंथ का वे एक लम्बा रूपक उपस्थित करते हैं जिसमें ज्ञान के दीप के लिये अनेक कष्ट साध्य सामग्रियाँ एकत्रित करनी होती हैं। ज्ञान मार्ग में प्रतिपद पर कठिनाइयाँ होती हैं। प्रत्येक श्रेणी में पतन का भय रहता है। साधनायें दिन पर दिन कठिन होती हैं।

ज्ञान के पंथ कृपान की धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निरविघ्न पंथ निरवहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥

ज्ञान पंथ के द्वारा प्राप्त किया हुआ परिणाम भी भक्ति मार्ग से सरलता से प्राप्त हो जाता है। भक्ति मार्ग की प्रक्रियायें ज्ञान मार्ग की भाँति दुस्साध्य नहीं हैं अत्यन्त सुगम हैं। इसमें विप्रचरणों की सेवा, मन-वचन-कर्म से भगवान् में विश्वास और भगवद्भजन ही करना है। इसमें कोई व्रत, साधन और तप आदि नहीं है, इसलिये गोसाईं जी का मत है कि—

"जे अस भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेत श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥"

भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये तुलसीदास जी भक्ति को स्वतंत्र और ज्ञान को परतंत्र मार्ग बताते हैं।

"सो सतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ॥"

इसका कारण यह है कि भक्ति तो एक मात्र इस के अवलम्बन में रहती है उसका और कोई आधार नही। ज्ञान अपने बल पर चलता है पर वह ज्ञान हो ही कैसे सकता है। जब तक भगवान् की कृपा न होगी, किसी को ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

"सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।।"

अतः ज्ञान प्राप्ति के लिये भगवान् की कृपा आवश्यक है और भगवान् के द्रवीभूत होने का प्रधान साधन भक्ति ही है। क्योंकि रामचन्द्र जी स्वयं कहते हैं कि :—

"जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भक्ति भगत सुखदाई ।।"

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास जी भक्ति की महत्ता ज्ञान का उपहास करके या उसमें दोष बताकर नहीं सिद्ध करते, वे तो ज्ञान की अधिक बड़ाई करते हैं पर उसके बड़प्पन के साथ ही साथ उस मार्ग की दुर्गमता और दुस्साध्यता भी दिखाते हैं। वे तो 'कृपाण की धारा, वाले महत्त्वपूर्ण ज्ञान मार्ग की एक ओर और सुगम निरापद भक्तिमार्ग को दूसरी ओर रख कर स्पष्ट कर देते है कि ज्ञान मार्ग महत्त्वपूर्ण होते हुए भी भक्तिमार्ग के समक्ष ग्राह्य नहीं है। इसलिये उनका तो कथन है कि "पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं" शरभंग जैसे ज्ञानी ऋषियों ने अपने ज्ञान के समस्त फल को अर्पण करके भगवान् से भक्ति का वरदान मांगा।

ज्ञान और भक्ति जैसे दार्शनिक विषय में भी तुलसीदास जी ने अपने रूपकों के द्वारा विषय की गुत्थी बड़ी सरलता से सुलझा ली। ज्ञानमार्ग की प्रशंसा भी कर दी और उसके समक्ष भक्ति की श्रेष्ठता भी दिखाई।

टिप्पणियां

१—तुलसी की भक्ति पद्धति— (संवत् २००४)

भक्ति का सम्बन्ध हृदयवाद से अधिक होता है। भक्त भावुकता में श्रद्धा और विश्वास की विचार भूमि में अपने इष्टदेव में एकनिष्ठ होता है। विश्वास के समक्ष संसार की वह कुछ भी परवाह नहीं करता। जहाँ भक्ति है, विश्वास है, वहां तर्क आदि का विशेष विचार नहीं होता। इस हृदयवाद के साथ ही वहां भक्ति-पथ में अनेक आडम्बर आ गये थे। भक्ति का अर्थ ईश्वर की भक्ति से न होकर स्नान, पूजा, जप, आचार आदि के लिये हो चला। इस लिए गोसाईं जी ने अपनी भक्ति पद्धति में हृदयवाद के साथ ही बुद्धिवाद का भी सामञ्जस्य किया। अतएव एक ओर "साधन बिनु सिद्धि विकल

लोग तपत। कलजुग बर बनिज विपुल नाम नगर खपत" तथा "बैठे नाम काम तरु तो डर कौन घोर घन घाम को" के रूप में नाम जप की दुहाई देते हैं। पर दूसरी ओर "रघुपति भक्ति करत कठिनाई" भी कहते हैं, भक्ति के लिए कलि के काम, क्रोध, लोभादि पाप के मूलों का सर्वथा नाश आवश्यक बतलाते हैं। उनका कथन है कि जब तक भव निशा नहीं समाप्त होती, तब तक भक्ति का उदय नहीं हो सकता। तभी तो वे कहते हैं कि "तुम [illegible] तब जानि हैं। तब मन फिरि परि है। जिहि सहज नाथ सों नेह छांड़ि छल करिहै।" इस प्रकार तुलसी की भक्ति-पद्धति में काम, क्रोध, लोभादि पापाचारों के मूल के कट जाने पर ही भक्ति का बीज-वपन होता है, दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

२—तुलीदास के राम—(सम्वत् २००२)

तुलसीदास जी के राम में ब्रह्म (निर्गुण व अशरीरी), महाविष्णु (विष्णु के सगुण अवतार) और मर्यादा पुरुषोत्तम (दशरथ पुत्र) तीनों का सुन्दर सामंजस्य है। भगवान् के निर्गुण स्वरूप का उल्लेख तुलसीदास जी मानस और विनयपत्रिका दोनों में अनेक स्थानों पर करते हैं। विनयपत्रिका में राम की स्तुतियों में तुलसीदास जी उन्हें "सच्चिदानन्द व्यापक ब्रह्म" तथा महाविष्णु के स्वरूप में 'विश्व विख्यात विश्वेश' 'व्यालारिगामी' आदि उपाधियों से ध्यान करते हैं। स्तुतियों में राम की सभी उपाधियाँ महाविष्णु की हैं पर शंखचक्रादिधारी चतुर्भुज न होकर वे 'द्विभुज शरचाप-धर' ही हैं।

विनय में भगवान् का ब्रह्मत्व और महाविष्णुत्व अपेक्षाकृत कम है। कारण यह है कि यहां वे अपनी विनयपत्रिका भगवान् के पास न पहुँचा कर राजा राम के दरबार में पहुँचाते हैं। इसलिये राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही यहाँ अधिक द्रष्टव्य है। पुरुषोत्तम रूप में एक तो इनका अनुपम सौंदर्य "कन्दर्प अगणित अमित नव छवि नील नीरज सुन्दरम्" है। मनुष्य होने का परम फल यही है कि "नख सिख रुचिर विन्दु माधव छवि निरखहि नयन अघाई"। दूसरा गुण उनका शील स्वरूप है जिसे सुनकर "मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ" इस शील में मर्यादा की वह शोभा है कि "सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाऊ। कहत राम विधु वदन रिसौहें सपनेहु लख्यो न काऊ।" सम्पूर्ण

विनयपत्रिका में राम के शील स्वरूप का ही निरूपण है उन्होंने खग, मृग, व्याध आदि जितने लोगों का भला किया अपनी भलाई से अपने शील स्वभाव के कारण ही। वे शीलनिधान हैं, शरणागतपाल हैं, बिनु सेवा ही दीन पर द्रवीभूत होते हैं। जिस सम्पत्ति को रावण ने दस शीश देकर शिव से लिया था उन्होंने उसे विभीषण को बड़े ही संकोच के साथ दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम का तृतीय गुण शक्ति का रूप प्रधानतया मानस में है, जहाँ भगवान् भुजा उठाकर राक्षसों के दलन की प्रतिज्ञा ऋषियों के समक्ष करते हैं और कबन्ध, खर, दूषण, त्रिशिरा और रावण; कुम्भकर्णादि का संहार करके भू-भार उतारते हैं।

३—राम साहित्य तथा कृष्ण-साहित्य का हिन्दू समाज पर प्रभाव—
(संवत् २००१)

राम-साहित्य हिन्दी में कृष्ण-साहित्य की अपेक्षा बहुत कम है। गोस्वामी तुलसीदास जी को यदि राम-साहित्य से निकाल दिया जाय तो लगभग वह शून्य के बराबर हो जायगा। रामचन्द्रिका, रामस्वयम्बर, चिन्तामणि की रामायण आदि तो केवल गणनामात्र के लिये हैं। पर कृष्ण-साहित्य तो बहुत ही विस्तृत है। सम्भवतः आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी का आधे से अधिक साहित्य कृष्ण-काव्य ही है। पर तुलसीदास जी का दृष्टिकोण समाज को सुधारना था। उनके आराध्यदेव मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। शिशुपन से ही साधारण से साधारण कृत्यों से ही वे आदर्श चरित्र का पालन करते हैं। भक्तों के कारण धार्मिक मतों में जो विडम्बनाएं पैदा हो गई थीं, गोस्वामी जी ने उन सबका बड़े ही मीठे शब्दों में विरोध किया। समाज को पूर्ण बनाने का एक आदर्श हल भगवान् के चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया। प्रेम जैसी वस्तु का दिव्य स्वरूप वे ही प्रस्तुत कर सके। शृङ्गार के भी वर्णन में जो पवित्रता पुष्पवाटिका के प्रसंग में वे ला सके हैं कदाचित् ही कोई कवि ला सके। रामकी पितृभक्ति और उनका अपरिमित शील स्वभाव भरत और लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति, सीता का पतिव्रत, भक्तों की अनन्य भक्ति आदि आज भी समाज को गिरने से बचा रही हैं। मानस हिन्दुओं का महान् धर्म ग्रन्थ बन गया है। जब किसी को सामाजिक समस्याओं की उलझन पड़ती है, मानस की चौपाई प्रस्तुत की जाती है। शैवों शाक्तों और वैष्णवों के विवाद आदि मानस के बाद अपने आप शान्त हो गए। हो सकता है कि मानस का

इतना अपूर्व और आदर्श रूप ही इतना दुरूह हो गया कि परवर्ती रचनाकारों को राम काव्य में सफलता न मिली या उन्होंने इस पर लिखने का साहस ही न किया हो। पर समाज पर तो इसका स्वर्णिम प्रभाव पड़ा। हिन्दू समाज जब तक रहेगा तुलसी के मानस का स्थान ज्यों-का-त्यों रहेगा ।

कृष्ण-साहित्य में कृष्ण की गोकुल और वृन्दावन-लीलाएं गाई गईं। उनका ईश्वरत्व पृथ्वी के भार उतारने में इतना नहीं दिखाया गया, जितना गोपियों की इच्छा पूर्ति करने में। श्रीमद्‌भागवत में गोपियाँ अवश्य ही प्रकृति के रूप में और कृष्ण पुरुष के रूप में हैं। पर भागवत के उस आध्यात्मिक स्वरूप का हिन्दी में लगभग लोप ही है। महात्मा सूरदास अवश्य ही गोपियों के बीच भी कृष्ण के ईश्वरत्व का उद्‌घाटन करते हैं। कृष्ण स्वयं गोपियों से कहते हैं कि मैं तो ब्रह्म हूँ, मेरे माता-पिता कोई नहीं हैं आदि। पर अन्यत्र कृष्ण-काव्य में कृष्ण के ईश्वरत्व के प्रदर्शन करने की चेष्टा नहीं की गई। गीत-गोविन्द में राधा परकीया नायिका है। उनकी लीलाएं मर्यादा को त्याग कर नग्न रूप में चित्रित्र हैं। उसी के अनुसरण में हिन्दी साहित्य में भी कवियों ने कृष्ण और राधिका के सौन्दर्य और प्रेम लीलाओं का चित्रण किया। महाकवि सूरदास भी इसे न बचा सके। उनकी राधा भी गुप्त रूप से कृष्ण के साथ अभिसार को जाती है और विषयों की ओर आसक्त रहती है। संयोग और वियोग की इन प्रेम-लीलाओं को भक्त कवियों ने जब इस प्रकार वर्णन किया तो बाद के रीतिकालीन शृङ्गारी कवि तो और क्या करते ? उन्हें तो विद्यापति, जयदेव और सूरदास जी द्वारा प्रदर्शित कृष्ण का रूप मिल ही गया। उन्होंने उसी दिशा में अपनी समस्त कवित्व शक्ति का उपयोग किया। उनके आश्रयदाता राजाओं को भी मनोरञ्जन के लिए इससे सुन्दर साधन और क्या हो सकता था ? राधा और कृष्ण ही विभिन्न प्रकार के नायिका और नायक बन गए तथा उनका ईश्वरत्व भी पतित हो गया। साहित्य में इसका जैसा दुरुपयोग हुआ, वैसा ही उसका प्रभाव भी जनसमाज पर पड़ा। मन्दिर और मठों की भ्रष्टाचारिता, आडम्बर और पाप इसी के परिणाम हुए। हिन्दू जाति का अधःपतन बहुत कुछ कृष्ण-साहित्य के कारण हुआ। इस प्रकार जितना ही राम-साहित्य ने समाज को स्वस्थ और सुदृढ़ किया, कृष्ण-साहित्य ने उतना ही निर्बल।

४—तुलसी की दैन्य भावना—

गोस्वामी तुलसीदास जी की भक्ति अनन्य भाव की है। वे कहते हैं कि भगवान् के अतिरक्त मेरे और कोई नहीं है। भगवान् के अतिरिक्त और कोई नाता किसी से मानने को वे तैयार नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥"
"नाते सबै राम से मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौं"

इसी प्रकार भगवान् के प्रति विनय दिखाकर राम से अपना सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि—

"तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी॥"

अपनी दैन्य भावना के आधार वे बताते हैं। एक ओर तो भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति और पतितपावनता तथा दूसरी ओर अपनी तुच्छातितुच्छ दीनता। सीधे शब्दों में वे कहते हैं:—

"राम सो बड़ो है कौन, मोसौ कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसौ कौन खोटो।
हौं पतित तुम पतित पावन दोउ बानक बने॥"

भक्ति पथ पर चलते हुए तुलसीदास अपने को सर्वथा जगत् के विमुख मानते हैं। वे तो अपने को राम का गुलाम मानते हैं। गुलामी में काम भी उनका छोटा है—केवल दो शब्द (राम) कहना पड़ता है। बदले में उन्हें रोटी-अन्न मिलता ही है। जाति, पाँति, व्याह, बरेखी की चिन्ता ही नहीं है। कहीं पर पड़े हुए राम नाम लेते रहेंगे।

अपनी दीनता के प्रकाशन में वे अपने पापों की भी लम्बी सूची उपस्थित करते हैं।

जानत हूं निज पापजलधि जिय, जलसीकर समसुनत लरौं।
रज सम पर अवगुण सुमेर करि, गुण गिरि सम रज ते बिदरौं॥

सारी विनयपत्रिका में भगवान् के गुण, शक्ति और उदारता का ही आश्रय लेते हैं।

विनयपत्रिका के आरम्भ में राम दरबार की कल्पना करके द्वारपाल, ड्योढ़ीवान, महल के अन्दर के रक्षकों की कल्पना करके जिस प्रकार गणेश, दुर्गा, शिव, ब्रह्मा आदि सभी देवताओं की स्तुति की है वह भी उनकी दैन्य

भावना का सुन्दर उदाहरण है । माता जानकी के समक्ष पहुँच करके तो वे दीनातिदीन बन जाते हैं । वे कहते हैं —

"कबहुँक अंब अवसर पाइ मेरिऔ सुधि द्याइवो कछु करन चलाइ ।"

अपने संदेश कहते हुए अपनी दीनता का कैसा अच्छा परिचय बताते हैं ।

"दीन सब अंग हीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै प्रभु उदर एक दासी दास कहाइ ।"

इससे अधिक दैन्य भावना का प्रदर्शन हो ही क्या सकता है ? सच तो यह है कि विनयपत्रिका तुलसी की दैन्य-भावना का प्रतीक ही है ।

५—विनय-पत्रिका का महत्त्व—

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी को काव्य-जगत् तथा जन-समाज में प्रचार रामचरितमानस के द्वारा ही मिला और रामचरितमानस हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है, फिर भी, जैसा डा० श्यामसुन्दरदास जी का मत है, विनय-पत्रिका अनेक बातों में रामचरितमानस से भी बढ़ कर है । प्रचार अवश्य ही विनय-पत्रिका को उतना नहीं प्राप्त हो सका जितना मानस को, पर प्रचार ही किसी ग्रन्थ की उत्कृष्टता की कसौटी नहीं है ।

विनय-पत्रिका में गोस्वामी तुलसीदास की कल्पना और भक्ति-भावना दोनों का अपूर्व सामञ्जस्य है । कलि के काम-मोहादि से संतप्त गोस्वामी तुलसीदास राम के राजदरबार की कल्पना करते है । उनके सांग रूपक का चिन्तन करके राम दरबार के सात द्वार, राज-सभा राजा राम का ऐश्वर्य आदि की श्रेष्ठ कल्पना उन्होंने की और वहां अत्यन्त दीन बन कर पहुँचे । लक्ष्मण, भरत, हनुमान् और सीता को आप पहले से ही अपनी स्तुति से न केवल प्रसन्न कर लेते हैं वरन् अपना पक्षपाती भी बना लेते हैं । आरम्भ में तो जिस प्रकार सभी देवताओं की नम्र स्तुति करके उन्हें अपना बनाते हैं वह तो है ही मनोहर । अन्तिम पद में कल्पना की पूर्णता भी है । रामचन्द्र जी दरबार में बैठे हैं, उनकी मुद्रा अति प्रसन्न और शील-गुणयुक्त है । अवसर देखकर हनुमान् जी भरत को संकेत करते है । भरत लक्ष्मण जी को राम जी के मुंह लगे समझ कर कहने को कहते हैं । लक्ष्मण जी कहना आरम्भ करते हैं कि हे भगवान् ! एक दीन तुलसी आप के नाम का आलम्बन लेकर इस कलिकाल में भक्ति-मार्ग की रीति का पालन कर रहा है । यह सुनते ही, समस्त सभा समर्थन करती है, क्योंकि पहले ही से तुलसीदास जी ने उन्हें

प्रसन्न कर रखा था। लक्ष्मण जी आज्ञापत्र के रूप में यह कहते हुए पत्रिका उपस्थित करते हैं कि "भगवान् ने तुलसी की बांह गही है।" भगवान् उठ कर कहते हैं—"सुधि हौ हूं लही है" क्योंकि कभी अवसर पाकर सीता जी ने सुधि दिलाई थी और रामचन्द्र जी लक्ष्मण के लिखे हुए उक्त आज्ञापत्र पर सही (हस्ताक्षर) कर देते हैं। कैसी अपूर्व कल्पना है। विनय-पत्रिका का मध्य भाग निश्चित रूप से ही एक पत्रिका के रूप में लिखा गया है। प्राचीन पद्धति से लिखे हुए पत्र में लम्बी प्रशस्ति होती है, विनय-पत्रिका में यह प्रशस्ति है, फिर उसमें अपने दु:खों —संसार की विमर्दना के सम्बन्ध में पद है। भगवान् का शील निरूपण, पतितपावन रूप और भक्तभयहारी रूप है। कलियुग की व्यञ्जनात्मक आलोचना है। भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुए यह भी कहते जाते हैं कि हे भगवान् ! इस बन्धन के मूल कारण आप ही हैं और आप ही छोड़िये। पत्रिका में वे क्या चाहते हैं, यह भी बताते हैं। इस प्रकार से विनय-पत्रिका आदि से अन्त तक सच्ची पत्रिका और सांग रूपक है। उसकी शब्दावली व्यञ्जना और गूढ़त्व से भरी पड़ी है। इसमें काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रत्येक शब्द पर मिलता है। जैसा अपूर्व भावुकता का प्रदर्शन और साथ में ध्वनि, रस और अलंकार का निरूपण इसमें हैं वैसा हिन्दी-साहित्य भर में नहीं मिलेगा।

विनय-पत्रिका गोस्वामी तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों के दिग्दर्शन का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें ईश्वर, जीव, माया, जगत् और भक्ति की अत्यन्त ही स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण विवेचना है। इसमें गोस्वामी के प्रकाण्ड पाण्डित्य का सार भरा हुआ है। समस्त रचना अनुभूतिगम्य है। महात्मा जी की अन्तिम रचना होने से उसमें भाव-गरिमा की ही प्रधानता है। भाव ही गम्भीर नहीं है, भाषा भी भाव निरूपिणी होकर बड़ी ही गम्भीर तथा क्लिष्ट हो गई है। इस महानता के कारण केवल अधिकारी पात्र ही उसके रस का आस्वादन कर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि विनय-पत्रिका भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़तम रचना है। इसी कारण इतनी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इसका बहुत अधिक प्रचार न हो सका।

अमरगीत सार तथा नन्ददास कृत अमरगीत पर प्रश्न

प्रश्न ८—सिद्ध कीजिए कि सूर के पदों में काव्य के अन्तरङ्ग एवं बहिरंग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। (सं०२००४)

उत्तर—काव्य के अन्तरंग और बहिरंग पक्ष हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। कवि अपनी रचना में जीवन की अनुभूतियाँ तथा नवीन उद्‌भावनाएं उपस्थित करता है। ये अनुभूतियाँ कल्पना का सहारा लेकर पाठक या श्रोता के हृदय को आन्दोलित कर देती हैं। वह अपने व्यक्तिगत स्थूल जगत् से ऊपर उठकर रसास्वादन करता है। इनमें उन तथ्यों का भी निरूपण होता है जिनसे मनुष्य जीवन के चरम तथ्य को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। इस प्रकार के सुन्दर तथा उच्च भाव और सन्देश जब काव्योपयुक्त शैली में व्यक्त होते हैं तभी काव्य बन पाते हैं। सूरदास जी के पद हृदय की गहरी अनुभूति से युक्त तो हीं; साथ ही उनमें भाषा की चित्रमयता, रसात्मकता एवं आलंकारिकता भी है।

सूर भाव-जगत् के सुन्दर चितेरे हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में कृष्ण के बाल वर्णन को ही लीजिए। पं० शुक्ल के शब्दों में सूर बाल-जीवन का कोना-कोना झाँक आये हैं। बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी कोई मनोहारी वृत्ति का अभाव आपको सूर के पदों में न मिलेगा। कृष्ण के रूप वर्णन, उनकी बाल-सुलभ चेष्टाएं, मातृ-हृदय का सजीव चित्र, बालक्रीड़ा, माखनचोरी, गोचारण, कृष्ण-राधिका का स्वाभाविक मिलन, प्रणय, कितने प्रसंग गिनाए जाएँ, सब ही हृदय का खुला रूप प्रस्तुत करते हैं। नीरस से नीरस हृदय इन प्रसंगों के पदों को सुनकर विह्वल हो उठते हैं। बीच-बीच में कृष्ण की चतुरतायुक्त वाणी प्रत्येक जन के हृदय को हर लेती है।

संयोग प्रसंग तो सूरदास जी के और भी हृदयहारी हैं। रूप-लिप्सा के कारण सूरदास जी के गोप-गोपियों के प्रणय में अपूर्व सौन्दर्य है। राधिका

और कृष्ण के प्रणय में स्वाभाविकता है। रसिकशिरोमणि मनमोहन गोपियों के हृदय का हार बन जाते हैं। यत्र-तत्र सूरदास जी शृङ्गारिकता की दुर्गन्धि से पाठक को सुरक्षित रखने के लिये कृष्ण के ईश्वरत्व पर भी दृष्टि डालते जाते हैं; पर प्रधानता हृदयपक्ष की ही रहती है। ऐसे प्रसंगों में सूरदास जी ईश्वरत्व का उद्घाटन तो कर देते हैं पर उसके कारण रस में कमी नहीं आने देते। दानलीला प्रसंग में कृष्ण अपने को ईश्वर बताते हैं तो गोपियाँ उसका उपहास कर डालती हैं। इस उपहार से अलौकिकता तथा ईश्वरत्व की गम्भीरता रस की पृष्ठभूमि को बिगाड़ने नहीं पाती।

मुरली का प्रकरण भी बड़ा ही काव्योपयुक्त हो जाता है। मुरली के प्रति गोपियाँ सपत्नीभाव रखती हैं। मुरली पर स्त्री (सपत्नी) का रूपक फबता भी खूब है। वह तो विजयिनी भी बन जाती है। यह प्रसंग जितना ही काव्योपयुक्त है उतना ही भावपूर्ण। इसी प्रकार भ्रमर-गीत की जो कल्पना सूरदास जी ने की, वह प्रसंग कृष्ण-काव्य का प्राण ही बन गया। गोपियों की हृदयस्थ वेदना की जो धारा सूर ने बहाई उसमें समस्त रसिक-समाज बहता चला आ रहा है।

भावपक्ष के बुद्धि, कल्पना और रागात्मक तीनों ही तत्वों का सुन्दर समन्वय सूरदासजी के पदों में प्राप्त होता है। प्रत्येक विषय पर एक अपूर्व चमत्कार सा दिखाई पड़ता है। सूरदास जी का अत्यन्त ही सरल पद है—

"यशोदा मदन गुपाल सुआवै,
हलरावै दुलराइ मल्हावै सोई-सोई कछु गावै।"

इसमें बाल मनोविज्ञान का स्वभाविक चित्रण अपूर्व है। पद पढ़ते ही कवि की कल्पना मनुष्य को स्पष्ट दिखाई पड़ती है। पालने में पड़ा हुआ शिशु और लोरी गाती हुई माँ का प्रत्यक्ष चित्र दिखाई पड़ता है। स्वाभावोक्ति का सजीव उदाहरण देखकर आनन्दाश्रु उमड़ आते हैं, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। भ्रमर-गीत प्रसंग में—

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"

सुनते ही पाठक आगे पढ़ना बन्द कर देता है। उसका हृदय स्वयं वेदना-पूर्ण हो जाता है, जैसे गहरी चोट पड़ गई हो। वचनविदग्धता तो है ही, अनुभूति की गहरी रंगत भी इन पंक्तियों में है। शब्द-चित्र हृदय में टेढ़े हो कर अड़े हुए त्रिभङ्गी मूर्तिधारी कृष्ण का रूप ही प्रस्तुत कर देता है। तात्पर्य यह है कि सूर के प्रत्येक पद में अनुभूति की गहराई चित्रांकनता, नव-निर्माण तथा अपूर्व हृदयस्पर्शिता मिलेगी।

सूरदासजी श्रेष्ठ कलाकार हैं। आपने सूर-सागर में भावधाराएं तो बहाई ही हैं साथ ही उनमें माणिक्य और मुक्ताओं की प्रचुरता भी रक्खी है। सूरदास की भाषा का रूप साहित्यिक है। उनकी शब्द-सम्पत्ति बड़ी गौरवशालिनी है। उनके शब्दों में लक्षणा और व्यंजना की भरती ही अधिक हैं। कौन सा पद है जिसके शब्दों की ध्वनि देखकर हृदय कुरेद नहीं उठता।

"ऊधो मन नाहीं दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस।"

में सीधे शब्द गोपियों की प्रेम विह्वलता कातरता और दैन्य की कैसी सुन्दर व्यञ्जना कर रहे हैं। सूरदास जी के पद अलंकारों से अत्यन्त ही सजे हुए हैं। सूरदास जी के साङ्ग रूपकों की समता यदि कोई कर सकता है तो गोस्वामी तुलसीदास ही। कृष्ण की रूपमाधुरी के वर्णन में उपमाओं की बहार ही बहार है। सूरदास जी को मुक्तक पद रचना में आलंकारिक पदों की संख्या बढ़ाने में किसी प्रकार का नियन्त्रण तो था नहीं, लिखते ही चले गए। एक से एक बढ़कर रूपक, उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं इन पदों में मिलती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास जी का उद्देश्य अलंकार की प्रदर्शनी न था; फिर भी रूप-वर्णन करते हुए मुग्ध कवि श्रेष्ठ अलंकारों की सरिता न बहाते तो क्या करते। अंग-प्रत्यंग पर उपमाएं बिठाते हुए चले जाते थे। अनेक लोगों को सूरदास में पुनरुक्ति मिलती हैं, पर यह पुनरुक्ति विषय की ही पुनरुक्ति है अलंकारों की नहीं।

सूरदास जी के काव्य के प्रधान रस वात्सल्य और शृङ्गार हैं। शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सम्यक् निरूपण है। उसमें शास्त्रीय

विभाव, अनुभाव और संचारियों का निक्षेप है। अनेक पर जैसे एक-एक संचारी भावों के उदाहरण हों। शास्त्रीय रस-विधान सूरदास जी में अत्यन्त सुन्दर है। संयोग के प्रसंगों में सूरदास जी कहीं-कहीं इतने मग्न हो गए हैं कि मर्यादा का ध्यान भी नहीं रहा है। 'भ्रमर-गीत-सार' का विप्रलम्भ तो अनुपम है ही। उसके उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

निसी दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै कर कपोल भये कारे॥
कंचुकि पट सूखत नाहिं कबहूं उर बिच बहत पनारे॥

में करुण भाव साक्षात् हो रहा है। 'दानव-दलन' तथा 'गोवर्द्धन धारण' प्रसङ्गों में वीर; तथा 'दावानल' प्रसङ्ग में भयानक रस भी अपनी अपूर्वता के साथ है।

सूरदास जी के काव्यों में प्रसाद और माधुर्य गुणों की प्रधानता है। सूरदास जी शब्द-चयन करते हुए भावानुरूपता का सबसे अधिक ध्यान रखते हैं। इनके शब्दों में अपूर्व अनुप्रासिकता तथा स्वर-लहरी मिलती है—

नन्द-नन्दन के अंग-अंग प्रति उपमा न्याय दई।
कुन्तल कुटिल भंवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई॥"

में स्वर-लहरी द्रष्टव्य है। सूरदास जी में शब्द-दोष, अर्थ-दोष तथा रस-दोष देखने को नहीं मिलते।

तात्पर्य यह है कि सूरदास जी के पदों में भावपक्ष के बुद्धितत्व, कल्पना-तत्व, रागात्मक तत्व तथा कलापक्ष के भाषा के साहित्यिक रूप, काव्य-शास्त्रीय रस-निरूपण, ध्वनि, अलंकार, गुण और दोषहीनता आदि के दर्शन होते हैं। इसलिए हम निस्संदेह कह सकते हैं कि सूर के पदों में काव्य केअंतरंग और बहिरङ्ग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हुए हैं।

प्रश्न ६. "हृदय पारखी सूर ने सम्बन्ध-भावना की शक्ति का अच्छा प्रचार दिखाया है।" स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—सम्बन्ध-भावना का अर्थ यह है कि सम्बन्ध के कारण एक से दूसरी वस्तु प्रिय या अप्रिय लगे। हृदय जगत् में इसका बड़ा प्रचार होता है। इसी सम्बन्ध-भावना के कारण जन्म-भूमि के खण्डहर अत्यन्त भव्य प्रतीत होते हैं। कुरूप से कुरूप व्यक्ति अत्यन्त प्रिय लगता है। बिहारी इसी

सम्बन्ध-भावना का चरमोत्कर्ष दिखाते हुए प्रिय की उड़ाई हुई पतंग की छांह को छूती हुई छबीली दिखाते हैं। "प्यो चूम्यो मुख" को चूम कर नायिका में सात्विक होता है। तात्पर्य यह है कि प्रिय से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति हृदय में भाव-कुभावों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है, और इसके वर्णनों से काव्य सजीव हो जाता है।

कृष्ण गोप-गोपी, यशोदा-नन्द आदि के प्राण हैं। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उन सब के लिए अत्यन्त प्रिय है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु नन्द, यशोदा आदि के लिए क्लेशकारिणी हो जाती है। मोर-पंखों पर जिसका मुकुट कृष्ण धारण करते थे, सब की प्रीति की भावना है। वंशी पर तो सूर सागर में अत्यन्त ही रसयुक्त प्रकरण है।

मुरली के प्रसङ्ग से गोपियों की मनोदशाओं का उद्घाटन भी खूब हुआ है। गोपियों के लिए मुरली एक जड़ पदार्थ न होकर सजनी बन जाती है। अधर-रस पान करती हुई मुरली को देखकर गोपियाँ ईर्ष्या भाव से तिलमिला उठती हैं। कहती हैं—

"अधर रस मुरली लूटन लागी।
जा रस को पट ऋतु तप कीनों सो रस पियत सभागी।"

गोपियाँ उसे स्वाधीनपतिका के रूप में भी देख कर क्षुब्ध होती हैं। ये देखती हैं कि उसने तो कृष्ण को सब प्रकार से आधीन कर रक्खा है। उन्हें इस प्रकार कर रखा है कि वे कमर झुका कर उसकी खुशामद और सेवा में रत है। स्वयं तो अधर सेज पर शायन करती है और कृष्ण से पैर दबवाती है।

मुरली तऊ गोपालै भावति।
सुन री सखी यदपि नन्द-नन्दहिं नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाँव ठाड़ो करि, अति अधिकार जनावति।
अति आधीन सुजान कनौड़ो गिरधर नारि नवावति।

उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि उसी के कारण कृष्ण उनसे खिचे-खिचे रहते हैं। वह चुपके-चुपके हमारी बुराई करती है। अतः मुरली-वादन के रूप में कृष्ण हम पर नासापुटों को फुला कर क्रोध भी करते हैं।

"भृकुटि कुटिल कोप नासापुट हम पर कोप कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छण अधर सुसीस डुलावति॥"

उद्धव जी के प्रति भी गोपियों की समस्त भावना सम्बन्ध-भावना के रूप में ही है। ऊधो को देख कर यह जानते ही कि वे कृष्ण-सखा हैं, गोप-गोपी आदि उनकी ओर आकृष्ट हो जाते है। बड़ी प्रीति और आदर के साथ उनके पास जाते हैं और कृष्ण के समाचार आदि पूछते हैं। यह जानकर कि वे कृष्ण अभिन्नहृदय सखा है, वे एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति को भी चिर-परिचित मान लेती हैं। भ्रमर के रूप में सम्बोधन कर वे जो कुछ चाहती हैं, कहने लगती हैं—

"मधुकर तुम रस-लम्पट लोग।
कमल कोस में रहत निरन्तर हमहिं सिखावत जोग॥"

तुम तथा कृष्ण एक ही स्थल मथुरा से निकले हो, जहाँ की प्रकृति ही काली है।

"यह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे मधुप भँवारे॥"

गोपियाँ यहाँ तक बढ़ जाती हैं कि उन्हें कपटी तक कहती है।

"मधुकर जानत है सब कोऊ।
जासे तुम और मीत तुम्हारे गुननि निपुन हैं दोऊ।
पाके चोर हृदय के कपटी तुम कारे ओओऊ।"

संबंध-भावना के कारण ही न देखी हुई कुब्जा पर उनका क्रोध हो जाता है। उन्हें विश्वास हो जाता है कि कृष्ण ने ऊधो को नहीं भेजा। वे कृष्ण-दूत न होकर कुब्जा-दूत हैं।

"मधुकर कान्ह कही नहीं होई।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बटोही॥"

वे कुब्जा को भी खरी-खोटी कहने लगती हैं। सम्बन्ध-भावना के कारण गोपियों को कृष्ण की भेजी पत्री से बड़ी प्रीति हो जाती है। सूरदास जी ने इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन केवल दो पंक्तियों में दिखला दिया है—

"निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥"

सम्बन्ध-भावना से ही वृन्दावन, मधुवन, पपीहा, मोर, सभी के साथ गोपियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विरह की दशा में पपीहे को पी-पी पुकारते सुन

कर वे उस आत्मीय भाव अनुमान करती हैं और कहती हैं—

"बहुत दिन जिओ पपीहा प्यारे।"

मधुबन को हरा देख कर उनका हृदय क्षुब्ध हो उठता है। वे पुकार उठती हैं—

"मधुबन तुम कत रहत हरे।"

संक्षेप में सूरसागर में सम्बन्ध भावना का बड़ा ही विस्तृत विकास दिखाया गया है। कृष्ण के सम्बन्ध से अनेक असम्बन्धित और निर्जीव वस्तुओं से बड़ा निकट सम्बन्ध दिखाया गया है। सबके प्रति अपने प्रणय या विरह के कारण गोपियाँ अपनी रीझ वा खीझ प्रकट करती हैं। वृन्दावन के प्रत्येक रेणु से उनका घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। कृष्ण के सम्बन्ध के कारण पीत, पट, मोर-पंख, पुष्पमाल, मुरली वृन्दावन, यमना, दधि, ऊधो, कुब्जा सभी के प्रति सुन्दर उक्तियाँ सूरसागर में मिलती हैं, जैसे सब के साथ आत्मीय सम्बन्ध हो। सूरदास जी की व्यंजना प्रधान काव्य-शैली इस प्रकार के सम्बन्ध-निर्वाह में बहुत सफल हुई है। बहुत कुछ हृदय के भाव सम्बन्ध-निर्वाह के रूप में ही दिखाए गए हैं। सच तो यह है कि हृदय का स्पष्टीकरण इस प्रकार के सम्बन्धों में ही दीख पड़ता है। यही कारण है कि हृदयपारखी सूर की रचना में यह संबन्ध-निर्वाह व्यापक रूप से है।

प्रश्न १० सिद्ध कीजिये कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीति-काव्यों की शैली पर है। (संवत् २००२)

उत्तर—गीति-काव्य एक प्रकार की प्राचीन शैली है। जैसा पं० सुमित्रा-नंदन पंत ने लिखा है—

"वियोगी होगा पहिला कवि आह से निकला होगा गान।"

सम्भवतः गीतों ही के प्रस्फुटन ने कविता को जन्म दिया। भारतीय-साहित्य में सामवेद गीतों का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। संस्कृत-साहित्य में गीतों की सुन्दर परम्परा है। आरम्भ में गीति-काव्य धार्मिक पृष्ठ-भूमि को ही लिये हुए थे। गीतों की परम्परा ही अलौकिकता की ओर अधिक उन्मुख थी। मध्यकालीन राजनीतिक हलचलों में इन गीतों में ओज की प्रधानता हुई अवश्य, पर वह टिकाऊ न थी। उसका तो शान्ति के वातावरण में ही

पनपना एक स्वभाव हो गया था। जब एकान्त का रूप कवि धारण करता था तो सहज हृदयोद्गारों के रूप में गीत प्रस्फुटित हो उठते थे। इनमें हृदय के कोमलतम रूप का प्रकाशन होता रहा है। यह स्वरूप अधिकांश प्रभु के मनोहारी रूप का चिन्तन या हृदय की अनुरंजनकारी वृत्ति प्रणय का प्रकाशन है। गीतों की रचना संस्कृत साहित्य में काफी हुई, पर जयदेव के गीत-गोविन्द की महत्ता गीति-काव्य शैली में सबसे अधिक रही। इसका कारण यह है कि गीतों के लिए जिस माधुर्य और मार्दव की अपेक्षा होती है उसका उत्कृष्टतम नमूना जयदेव में प्राप्त होता है।

जयदेव ने गीत-गोविन्द में भगवान् कृष्ण की प्रणय-लीला का ही स्तवन किया है। शृङ्गारिकता तथा अश्लीलता के आधिक्य से अनेक लोगों को उसमें लौकिकता का आभास होता है। जो हो, उसमें गेय तत्व की बड़ी प्रधानता थी। उसमें कृष्ण के सम्बन्ध की कोमल वृत्तियों को लेकर कोमल-कान्त पदावली में कवि ने बड़े ही ललित गीत रचे हैं। जयदेव का अनुकरण चण्डीदास और विद्यापति ने किया। विषय और शैली दोनों ही में इन दोनों कवियों ने जयदेव का अनुसरण किया और इनके गीत भी उसी प्रकार लोक-प्रिय हुए। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के गीतों की विशेषता यह है कि ये कवि गण गेयत्व को प्रधानता देते हैं, पदों में कथात्मकता का अधिक से अधिक बहिष्कार करते हैं और अपने गीतों में धार्मिकता का रङ्ग अधिक नहीं चढ़ने देते। उनके गीतों में प्रेम तथा भक्ति में कोई भेद नहीं माना जाता।

सूरदास जी ने अपने सूरसागर की रचना में उक्त कवियों का अनुसरण किया। प्रथम अनुसरण तो यह है कि सवा लाख पदों की रचना महात्मा सूर ने काव्य-शास्त्र में प्रचलित छन्द-शास्त्रीय पद्धति में न करके राग-रागनियों में की। दूसरे सूरदास जी ने इतने विशाल काव्य की रचना की, पर उसमें जीवन-गाथा गाने का कोई उद्देश्य नहीं है। जिस प्रकार जयदेव और विद्यापति की कला की चरमावस्था नखशिख वर्णन, रूप-चित्रण एवं प्रणय तथा विरह निवेदन हैं, उसी प्रकार सूरदास जी ने भी इन्हीं प्रसङ्गों पर अपने हृदयोद्गारों का श्रेष्ठ रूप प्रस्तुत किया। आत्मविभोरता, संगीतात्मकता

और लालित्य ही सूर को भी अपनी विशेषताएं रहीं। जयदेव और विद्यापति की भाँति सूर भी प्रभु को बाहर न ढूंढकर अन्दर ही ढूंढने का अधिक प्रयास करते हैं। दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध ही सूर की प्रतिनिधि रचना है, उसमें इनकी भक्ति भावना दास्य भक्ति से कम प्रभावित है, उसमें माधुर्य की प्रधानता है।

सूरदास जी संगीत-शास्त्र में सर्वथा निपुण प्रतीत होते हैं। सूरसागर के पदों में राग-रागनियों का शुद्ध रूप मिलता है। अच्छे संगीतज्ञ संगीत मात्र के लिए ही सूर के पदों को गाते हैं। कितनी राग-रागनियां तो ऐसी भी हैं जिनका संगीत-शास्त्र में भी पता नहीं है। जयदेव और विद्यापति की भांति इनके संगीत में भी संगीत और काव्य दोनों का सुन्दर समन्वय है। विद्यापति ने जिस प्रकार अपने पदों की भाषा में लौकिक शब्दावली और प्रयोगों को प्रधानता देकर उसे लोक-रुचि प्रदान की, उसी प्रकार सूरदास जी ने भी अपने पदों में लौकिक शब्दावली और प्रयोगों को प्रधानता दी। गोस्वामी तुलसीदास की विनय पत्रिका की भांति उसमें संस्कृत-तत्समता का आधिक्य करके सहज गेय-तत्व की हानि न की।

जयदेव और विद्यापति की भांति सूरदासजी ने अपने गीतों में शृङ्गारिकता को प्रधानता दी। यद्यपि सूरदासजी जयदेव और विद्यापति की अपेक्षा लौकिक मर्यादाओं की ओर अधिक सतर्क थे, फिर भी संयोग-वियोग वर्णनों में उन्होंने जयदेव और विद्यापति का ही अधिक अनुसरण किया। संयोग वर्णनों में वे मान, अभिसार, सुरति आदि का स्पष्ट वर्णन करते हैं। राधा का नखसिख-वर्णन विद्यापति और जयदेव की भाँति करते हैं। अङ्ग, उरोज आदि का उल्लेख करते हुए आगा-पीछा नहीं करते।

इतना होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सूरदास जी प्रतिभाशाली थे। उन्होंने जयदेव और विद्यापति का अनुसरण तो किया पर उसमें सर्वथा नवीनता पैदा कर दी। कृष्ण के प्रति राधिका का स्वकीया प्रेम सूरदास की अपनी प्रतिभा का फल है। राधिका और कृष्ण के अभिसार, मान, सुरति तथा नखशिख वर्णनों में उन्होंने अभिधा का प्रयोग न करके व्यञ्जना का प्रयोग किया है। नखशिखों में दृष्टकूटों का प्रयोग किया। शृङ्गारिक प्रसंगों में ईश्वरत्व का उद्घाटन करके उसमें लौकिकता की बू न आने पाई। स्तुति के

रूप में गीत-गोविन्द की रचना करके तथा भक्ति क्षेत्र में अच्छे प्रचार पाने पर भी उसमें जो अश्लीलता के दर्शन होते हैं, उनका आभास भी सूरदास के पदों में न आने पाया। तात्पर्य यह कि सूरदास जी ने जयदेव और विद्यापति की गीति-काव्य शैली को ग्रहण करके उसमें चार चांद लगा दिए।

प्रश्न ११—"सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्वैदग्ध्य भी है।" इस कथन का सप्रमाण विवेचन कीजिये। (संवत् २००१)

उत्तर—यों तो सूरदास जी ने भावुकता और वाग्विदग्धता का सागर ही लहराया है पर इन दोनों का जो सुन्दर समन्वय भ्रमरगीत में मिलता है, सम्भवतः हिन्दी साहित्य भर में नहीं प्राप्त हो सकता। गोपियां उद्धव को देखते ही कृष्ण का स्मरण करती हैं। उद्धव की योग-चर्चा सुनकर वे तर्कोंसे उत्तर न देकर अपना हृदय ही खोल देती हैं। वे कहती हैं कि—

"प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी"

और इसलिए—

"का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम-भजन तजि करति उदासी।"

कभी-कभी वे भावावेश में भी आ जाती हैं और कह उठती हैं कि—

"जोग कथा पा लागों ऊधो ना कहु बारम्बार।
सूर स्याम तजि और भजे जो ताकी जननी छार।"

गोपियों की आँखें हरि दर्शन की भूखी रहती हैं। उनके बिना निशिदिन नेत्र बरसते रहते हैं। व्रज में सदा पावस ऋतु ही रहती है। कृष्ण तो उनके लिए 'हारिल की लकरी' के सदृश हैं। गोपियाँ सहृदया इतनी हैं कि उद्धव को कटु कहते हुए भी नम्रता से कहती हैं कि—

"बिलगि जनि मानहु ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे।"

फिर कहती हैं कि हम तो आपका जोग भी मानने को तैयार हैं, पर विवशता तो यह है कि जोग को भी मन से साधा जायगा, वह मन कृष्ण के साथ ही चला गया। भ्रमर-गीत गोपियों की भावुकता और सहृदयता से भरा पड़ा है। प्रत्येक पद का प्रत्येक चरण इसका उदाहरण है।

सूरदास जी की गोपियाँ नन्ददास जी की गोपियों की भांति शास्त्रार्थ नहीं करतीं। ज्ञान और भक्ति के सैद्धान्तिक तथ्यों का निरूपण न करके वे तो अपने वाक्चातुर्य का प्रयोग करती हैं। वे कहती हैं—

"उर में माखन चोर अड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"

जो वस्तु तिरछी अड़ जाती है उसका निकलना कठिन हो जाता है। कृष्ण त्रिभंगी हृदय में अड़े हुये हैं भला कैसे निकलेंगे? उनके अन्तर्यामीपन पर वे कैसा सुन्दर सन्देह करती हैं। कहती हैं—

हरि काहे के अन्तर्यामी।
जो हरि मिलत नहीं यह अवसर अवधि बतावत लामी।"

अपनी विवशता के प्रमाण में गोपियां कहती हैं कि—

"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटत।"

उद्धव जी का उपहास भी गोपियाँ चतुराई से ही करती हैं। वे कहती हैं—

"आया घोस बड़ो व्यौपारी।
लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आन उतारी।"

तथा—

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है।"

अन्त में उनसे कहती हैं कि 'तू रस की बात नहीं जानता' वह तो वह जानेगा जो रसिक होगा, इसलिये हम तुमसे बुरा नहीं मानतीं। इस प्रकार सूरदास जी की गोपियों ने अपने वाग्वैदग्ध्य और सहृयदता से ही उद्धव जी को निरुत्तर नहीं ही कर दिया, अपितु उन पर अपना अमिट रंग भी चढ़ा दिया।

प्रश्न २—भ्रमर-गीत काव्य परम्परा का उल्लेख करते हुये विभिन्न भ्रमर-गीतों के स्वरूप की तुलना कीजिये। (संवत् २००५)

उत्तर—भ्रमर-गीत काव्य परम्परा का मूल श्रीमद्भागवत का भ्रमरगीत

है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के भेजे हुए उद्धव व्रज में आते हैं तथा नन्द और यशोदा से श्रीकृष्ण के ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनके निर्विकार अज, अनादि, अनन्त और सर्वगत स्वरूप का निवेदन करके वे नन्द और यशोदा आदि को उनके उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए ज्ञान का उपदेश करते हैं। बाद में गोपियाँ उन्हें एकान्त में ले जाती हैं। एक भ्रमर उस समय भ्रमता हुआ आ जाता है और गोपियाँ भ्रमर के बहाने उपालम्भ करना आरम्भ कर देती हैं। उनका यही उपालम्भ ही भ्रमर के नाम से जाना जाता है।

महात्मा सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत में प्राप्त कृष्ण-वृत्त को लेकर ही अपने ढंग का उसमें नया स्वरूप दिया। भ्रमरगीत की लोकप्रियता भी सूरदास जी के कारण ही इतनी हुई उन्होंने उद्धव और गोपियों के आधार पर एक ओर तो ज्ञान की नीरसता और भक्ति की सरसता को दिखा कर भक्ति की श्रेष्ठता दिखाई; और दूसरी ओर विरह और उपालम्भ काव्य का अनुपम नमूना उपस्थित किया। श्रीमद्भागवत की कथा में बड़ा परिवर्तन इन्होंने भ्रमर-गीत में कर दिया। व्रज में आकर उद्धव नन्द और यशोदा के समीप नहीं जाते। गोपियाँ उनके रथ को दूर से ही देखती हैं। उन्हें कृष्ण का संदेह होता है। मिलने पर कृष्ण-सखा जानकर कुशल प्रश्न करती हैं। ऊधोजी उनके कृष्ण-मोह को दूर करने के लिये ज्ञान की बातें करते हैं। गोपियाँ उसका उत्तर देती हैं। उत्तर के साथ ही भागवत के भ्रमरगीत के आधार पर भ्रमर की कल्पना करके सूरदास जी गोपियों के द्वारा 'भ्रमर', 'अलि', 'मधुप' आदि सम्बोधनों द्वारा गोपियों की अवस्था का चित्रण करना प्रारम्भ करते हैं। गोपियाँ एक ओर अपना 'सहज लरिकाई को प्रेम' और अपनी विवशता "मन एक हुतो सो गयो श्याम संग को आराधै ईस" दिखाती हैं, और दूसरी ओर ज्ञान-योग की ओर उपहासास्पद संकेत करती हैं। अधि-कांश पद गोपियों के ही हैं, प्रतीत होता है उद्धव जी उनके सहज प्रेम को देखकर चुप से हो गये। गोपियों के प्रेमभाव से वशीभूत होकर वे मथुरा

लौटे और कृष्ण से ब्रज जाने की प्रार्थना करने लगे। उनके इस भाव को देख कर कृष्ण कहते हैं—अच्छा ,"आएयु जोग सिखाय" वहीं भ्रमरगीत का अन्त हो जाता है मानो ज्ञानी उद्धव के पूर्ण भक्त हो जाने पर भ्रमरगीत का लक्ष्य पूर्ण हो गया।

श्रीनन्ददास जी ने भ्रमर की कथा को उद्धव-गोपी संवाद ही बना डाला। नन्ददास जी—'ऊधो को उपदेश सुनो ब्रजनागरी" से ही प्रारम्भ करते हैं। किन्तु सूरदास जी पहले कृष्ण-उद्धव वार्ता कहलाते हैं, उद्धव-कृष्ण संवाद होता है। कृष्ण नन्द, यशोदा और गोपियों के लिये अपना अलग-अलग संदेश भेजते हैं, उद्धव जी गोकुल पहुँचते हैं, गोपियाँ उन्हें दूर से देखती हैं, आदि। गोपियों से मिलने से पूर्व की कथा की नंददास जी चर्चा ही नहीं करते। वे तो सीधे गोपियों के बीच उपस्थित होकर कहना आरम्भ कर देते हैं कि मैं कृष्ण का संदेश लेकर आया हूँ तथा "कहि संदेश नन्दलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊं"। कृष्ण का नाम सुनकर गोपियों को उनका स्मरण हो गया। वे बेहोश हो गईं। उद्धव जी ने जल के छींटे देकर उन्हें जगाया और साथ ही "वे तुम ते नहिं दूर ग्यान की आंखिन देखो" के साथ उपदेश आरम्भ कर दिया। गोपियों ने भी उनके आध्यात्मिक तर्कों का उत्तर ठीक उसी भांति देना आरम्भ किया। निर्गुण, सगुण, ज्ञान और भक्ति पर सुन्दर और विस्तृत तर्क-वितर्क नन्ददास जी करवाते हैं, जिसमें उद्धव जी की स्पष्ट हार होती है। गोपियों के उत्तर तो अन्त तक युक्तिपूर्वक और तार्किक होते हैं। पर उद्धव जी कभी वेद-पुराणों की दुहाई देने लगते हैं—"वेद पुराननि खोजि के पायौ किनहुँ न एक।" तो कभी जोग की लोक-प्रसिद्धि का सहारा लेते हैं—"कर्म बुरे जो होंय जोग काहे को धारें।" तर्क का यह क्रम और वाद-विवाद न तो श्रीमद्भागवत में है, न सूरदास में। सूरदास जी का एक पद "ऊधो को उपदेश सुनहु किन कान दै।" अवश्य ही कुछ इस पद्धति का है। यह भ्रमरगीत के अन्य पदों से बड़ा है। इसमें वाद-विवाद का थोड़ा क्रम भी है, शेष सम्पूर्ण भ्रमरगीत है, जो उद्धव के लौटकर कृष्ण

तक पहुँचने तक है। प्रतीत होता है यही पद नन्ददास जी के भ्रमर-गीत का आधार है। उसी को नन्ददास जी ने विस्तृत कर दिया है। तर्कों में साम्प्रदायिकता की छाप है।

नन्ददास जी के पश्चात् कृष्ण-काव्य पर रचना करने वाले प्रत्येक कवि के लिए इस प्रसंग पर कुछ न कुछ रचना कर देना अनिवार्य हो गया। इस प्रसंग पर स्फुट पद्य तो रीतिकालीन कवियों तक ने लिखे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनेक पद भी इस सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। पर भ्रमर-गीत कथा के रूप में 'प्रिय-प्रवास' में, पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमर-दूत' में, श्री रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' में ही मिलता है। प्रिय प्रवास का भ्रमर-गीत आध्यात्मिकता लिये हुए है। सत्यनारायण के भ्रमर-दूत में राष्ट्रीय भावना भर गई है। यह गोपियों का भ्रमर गीत न होकर यशोदा (भारत माता) कृष्ण के पास अपना भ्रमर दूत भेज रही हैं और उन्हें बुलाने का प्रयत्न कर रही हैं। रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में सूर और नन्ददास जी के भ्रमर-गीत का स्वरूप है। उसमें यमुना-स्नान के समय कमल पुष्प को देखकर कृष्ण को राधा की याद आती है। कृष्ण प्रेमविभोर हो जाते हैं। सखा उद्धव उन्हें ज्ञानोपदेश देते हैं। कृष्ण उन्हें ब्रज जाने का निवेदन करते हैं। उद्धव तैयारी के साथ रथ पर चढ़ते हैं और कृष्ण संदेश कहते-कहते रथ के साथ-साथ कुछ दूर तक चलते जाते हैं। वृन्दावन के बीच से उद्धव जी निकलते हैं। उस वन के सौंदर्य से ही उन पर से ज्ञान का आवरण उतरने लगता है। कवि ने प्राप्त भ्रमर-गीत के प्रसंग को काव्यमय बनाया है। उसमें नन्ददास का तर्क क्रम भी है और सूरदास का भावपक्ष भी। साथ ही रत्नाकर का कलापक्ष भी अनुपम है। अनुप्रासों के बाहुल्य और अलंकारों से सजी हुई भाषा में उद्धव-शतक काव्य का बड़ा ही उत्कृष्ट रूप बन गया है।

प्रश्न १३—सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीत में कौन सा आपको अधिक प्रिय लगता है और क्यों ? क्या आपके मत से इनमें से किसी ने दूसरे की रचना पर से अपनी रचना की है ? उत्तर साधार दीजिए।

(संवत् १९९९)

उत्तर—सूर और नन्ददास के भ्रमर गीतों में हमें सूरदास जी का भ्रमर गीत ही अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। कारण इस प्रकार है—

भ्रमर-गीत से तात्पर्य वे गीत-विशेष हैं जिनमें भ्रमर के बहाने उद्धव जी के प्रति गोपियों का विरह निवेदन है। गीत अपनी प्रकृति के अनुसार हृदय की नैसर्गिक भावधारा के प्रकाशन मात्र ही होते हैं। गीत में एक भाव ही होकर एक-दूसरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। उनमें काव्य का भावपक्ष या हृदयपक्ष ही प्रधान होता है। उन्हें पढ़कर या सुनकर सहृदय श्रोता या पाठक उन्हीं भावों का अनुभव करने लगते हैं। सूरदास जी का भ्रमर-गीत स्वतन्त्र गीतों का संकलन है। समस्त पदों में गोपियों का विरह निवेदन है। जिसे पढ़कर या सुनकर प्रत्येक व्यक्ति भावों की एक टीस का अनुभव करने लगता है। इसके विपरीत नन्ददास जी का भ्रमर-गीत केवल नाम का गीत है। उसमें तो आरम्भ से अन्त तक एक क्रमबद्ध कथा है; सभी पद एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पदों का लालित्य बहुत गेय है। फिर भी उत्तरार्द्ध के कुछ पदों को छोड़ कर जिनमें गोपियाँ व्यक्तिगत रूप में अपना उपालम्भ उपस्थित करती हैं—इसे हम गीति-काव्य नहीं कह सकते।

भाव की दृष्टि से भी सूरदास जी का भ्रमरगीत काव्योपयुक्त अधिक है। उद्धव के विवाद में गोपियाँ दार्शनिक सिद्धान्तों या तर्क का प्रयोग न करके अपनी भावुकता और साथ ही साथ वाक्चातुर्य का प्रयोग करती हैं। अपने हृदय की परवशता "हमारे हरि हारिल की लकरी," "ऊधो मन नाहीं दस बीस," "लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे" आदि पदों को सुनाकर उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। इस पद्धति में सर्वत्र ही कवि को लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का प्रयोग करना पड़ा है, और इसलिए काव्य के भाव और कला दोनों ही पक्षों का सुन्दर सामञ्जस्य उसमें बन पड़ा है नन्ददास के भ्रमर-गीत का पूर्वार्द्ध उद्धव और गोपियों के दार्शनिक तर्कों का विवाद है यद्यपि ये विवाद भी मनोरंजक है और कवि ने

उन्हें सुबोध करने का प्रयत्न किया है फिर भी [illegible] वे किसी अंश में गूढ़ और रूखे हो गये हैं। काव्य का रस उनमें प्राप्त नहीं होता। उद्धव ऐसे प्रसिद्ध ज्ञानी को ब्रज की ग्रामीण गोपियों से दार्शनिक तथ्यों द्वारा ऐसी बुरी हार दिलाना भी स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। तर्कों की दुर्बोधता में नन्ददास का शब्द-लालित्य भी लोप हो गया है। उत्तरार्द्ध में अवश्य ही नन्ददास काव्योपयुक्त सम भूमि पर पहुँच कर गोपियों का उपालम्भ रसात्मक ढंग से कराते हैं, पर वहां भावुकता में इतने बह जाते हैं कि उद्धव जी स्वयं अपने को धिक्कारने लगते हैं और गोपियों की चरण-धूलि के लिए लालायित हो जाते हैं। ब्रज की द्रुम और बेलि का मनोराज्य बना डालते हैं और उसके लिये भी भगवान् की कृपा की ओर संकेत करके हृदय हार जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वार्द्ध में उद्धव का इतना हृदयहीन होना कि मूर्च्छिता गोपियों को 'जल छींट' देकर संज्ञा प्राप्त कराते हैं, और संज्ञा प्राप्त होते ही "वे तुमते नहीं दूरि यान की आंखिन देखो" कहने लगते हैं। दूसरी ओर अनेक उपालम्भों को सुनते हुए उनके ज्ञान की मेड़ का प्रेम की वारिधारा में इतना बह जाना अस्वाभाविक सा हो जाता है। भ्रमर-गीत का अन्त भी नन्ददास जी तो कृष्ण के उस दार्शनिक एकीकरण से करते हैं जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ शाश्वत रूप में बिहार कर रहे हैं। पर सूरदास जी "आयहु ज्ञान सिखाय ?" मात्र कह कर रह जाते हैं। स्पष्ट है काव्य-जिज्ञासुओं के लिए सूर का एक चरण ही नन्ददास के उस महत्व-पूर्ण पद से बढ़कर है।

सूरदास के भ्रमर-गीत का कलेवर तो बड़ा है ही; उसमें नन्द, यशोदा, कृष्ण, बलदेव, कुब्जा आदि के उल्लेख भी हैं। एक ओर कृष्ण यह संदेश भिजवाते हैं कि "हम और हलधर दोनों भाई दो-चार दिन में अएँगे, और मां अकुलाएँ नहीं" और दूसरी ओर यशोदा देवकी के पास अपने लाल की धाय होने का तथा माखन रोटी खिलाने का सन्देश देती हैं। कुब्जा का संदेश भी गोपियों के लिये और गोपियों का कुब्जा के लिये बड़ा ही सुन्दर और प्रिय विषय है। उधर नन्ददास जी उद्धव और गोपियों के अतिरिक्त किसी का

नाम तक नहीं लेते। उन्हें तो ज्ञान और भक्ति का विवाद ही जैसे प्रस्तुत करता रहा हो और उसकी पूर्ति हो जाने पर और कुछ कहने की आवश्यकता भी नहीं। आरम्भिक टेक "ऊधो को उपदेश सुनो ब्रजनागरी" भी यही बतलाती है। व्रज में पहुँचने के पूर्व ही उद्धव और कृष्ण की वार्ता जो सारे भ्रमरगीत में अत्यन्त ही सुन्दर ढ़ंग से वर्णित है, यहाँ है ही नहीं। नन्द-दास में उद्धव जी एकाएक गोपियों में जा धमकते हैं। जैसे उपदेश की गठरी उनके सिर पर बंधी हो और उसके बोझ से वे दब से रहे हों कहते हैं—

"कहन समय संकेत कहूं अवसर नहिं पायो,
सोचत ही मने रह्यौ कब पाऊँ इक ठाँउ।
कहि संदेस नन्दलाल को बहुरि मधुपुरी जाउँ॥

सूर और नन्ददास दोनों के भ्रमरगीतों में भक्ति को ज्ञान से बढ़ कर सिद्ध करना ही अभिष्ट प्रतीत होता है। पर दोनों की प्रणाली भिन्न-भिन्न है। सूर की प्रणाली में मीठी चोट है तो नन्ददास की प्रणाली में अत्यन्त ही तीक्ष्णता। सूर की गोपियां सरल मृदुभाषी और नम्र हैं। अपनी दीनता से ही उद्धव को मूक कर देती हैं। नन्ददास की गोपियाँ विदुषी हैं पर मुखर हैं। वे ऊधो को "जात किन पातकी ?" "मरत कह बोल के" "षटपद पशु" आदि कह डालती हैं। उपहास भी उनके मर्यादा से बाहर चले जाते हैं। जैसे "कुब्जा तीरथ जाइ कियो इन्द्रिन को मेला।" इस प्रकार नन्ददास की गोपियाँ एक ओर तो ज्ञान-चर्चा में उद्धव जैसे ज्ञानी को परास्त करती ह, दूसरी ओर अमर्यादित वार्ता करती हैं और तीसरी ओर विरह में प्रलाप करती हैं। सूरदास जी की गोपियाँ सदैव ही मर्यादित रह कर हृदय पर अधिकार करती हैं और इसीलिये सर्वप्रिय हो जाती हैं।

सूरदास जी ने ही हिन्दी में सर्वप्रथम भ्रमरगीत की रचना की। श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत को आधार बनाकर ऊधो-गोपी संवाद के बहाने ज्ञान और भक्ति का निरूपण सर्वप्रथम सूरदास जी ने ही किया। बाद में

तो यह प्रसंग इतना प्रिय हो गया कि सभी कृष्ण-काव्य रचयिताओं ने इस विषय पर कुछ न कुछ लिखा ही है। नन्ददास जी ने भ्रमरगीत नाम से रचना सूरदास के पीछे अवश्य की होगी। सूरदास जी के भ्रमरगीतों में एक पद है—"ऊधो को उपदेश सुनो किन कान दै।" यह पद बहुत बड़ा है। इस में ऊधो और गोपियों का निर्गुण और सगुण पर विवाद भी है। ऊधो के पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें अर्घ्य और आसन देती हैं। कुशल पूछती हैं, मूर्च्छित होती हैं। उनकी दशा देख कर ऊधो प्रभावित होते हैं। संवाद में ऊधो भी बोलते हैं और गोपियाँ भी अन्यत्र सूर भ्रमर-गीत में गोपियों के ही बचन हैं। ऊधो जी सर्वथा हारकर पूर्ण भक्त होकर लौटते हैं तथा कृष्ण को वृन्दावन लौटने के लिये जोर देते हैं, तो कृष्ण कहते हैं—गोपियों को अच्छा ज्ञान सिखा आए! इस पद में और नन्ददास जी के भ्रमरगीत में एक ही क्रम है। टेक "ऊधो उपदेस सुनो ब्रज नागरी", "ऊधो को उपदेस सुनो किन कान दै" से बिल्कुल मिलती है। उक्त लिखित समस्त क्रम नन्द-दास जी के भ्रमरगीत में ठीक ऐसा ही है। अन्तर केवल यह है कि नन्ददास जी ने प्रत्येक स्थल को अपने ढङ्ग पर बढ़ा रखा है। तर्क-क्रम और प्रलाप का कलेवर बढ़ा दिया है। प्रतीत होता है कि उस पद को ही आधार बनाकर नन्द-दास जी ने अपने भंवरगीत की रचना की है। उसमें उन्हें अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का अवसर भी अच्छा मिल गया है।

प्रश्न १४—नन्ददास जी के भ्रमर गीत में तर्क का क्रम है उसे स्पष्ट कीजिए। उस तर्क में साम्प्रदायिकता को कहां तक स्थान मिला है?

(संवत् २००२)

उत्तर—ऊधो को उपदेस सुनहु ब्रजनागरी' से आरम्भ होने से ही यह प्रतीत होता है कि भंवरगीत लिखते समय नन्ददास जी का दृष्टिकोण ज्ञान और भक्ति के मार्गों के तथ्यों का तुलनात्मक निरूपण करना ही मुख्यतया था इसीलिए उद्धव जी सीधे गोपियों के बीच ही उपस्थित होकर अपनी

ज्ञान चर्चा आरम्भ कर देते हैं। भंवरगीत के आधे से अधिक भाग में तर्क ही तर्क है। जिसमें उद्धव के द्वारा निर्गुण और ज्ञानयोग का समर्थन है। गोपियों द्वारा उसी का खण्डन और सगुण तथा प्रेम मार्ग का प्रतिपादन है। तर्क का क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम उद्धव जी निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि कृष्ण तो ब्रह्म हैं। अखिल विश्व-अचर और सचर वे ही तो हैं। सर्वत्र उन्हीं का ज्योति का प्रकाश है अतः यदि ज्ञान की आँखों से देखो तो वे तुमसे दूर नहीं हैं। उनके हाथ, पाँव नासिका आदि नहीं हैं। वे तो अच्युत और निराकार हैं। उनके कोई माता-पिता नहीं हैं। कृष्ण को जो तुम जानती हो वह तो उनका लीलावतार रूप मात्र है। उद्धव के इन सिद्धान्तों का गोपियाँ सुन्दर और व्यावहारिक ढंग से उत्तर देतीं हैं कि हम ब्रह्म की ज्योति को नहीं जानतीं। हमें तो 'श्याम' का सुन्दर प्रेम मार्ग ही सीधा प्रतीत होता है। यदि तुम उन्हें निराकर कहते हो तथा अशरीरी कहते हो तो बिना मुख के उन्होंने माखन कैसे खाया? बिना पैरों के गौएं कैसे चराई। तुम हमें भ्रम में न डालो। कृष्ण तो "नन्द जसोदा पूत हैं।" कृपया योग आप उसे बताइये जिसे प्रिय लगे। भला "प्रेम पियूषहिं छांडि के कौन समेटै धूरि।"

कृष्ण के अगुणात्मक ब्रह्मत्व का ऐसा स्पष्ट और व्यावहारिक उत्तर पाने पर उद्धव जी ने गोपियों के अन्तिम शब्द 'धूरि' पर ही विवाद आरम्भ कर दिया! कहने लगे यदि धूल बुरी होती तो शंकर जी उसे शरीर पर क्यों चढ़ाते? धूरि-क्षेत्र—मनुष्य योनि में मनुष्य कर्म करके ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। तुम कर्म बुरा बताती हो। कर्म से ही सद्गति प्राप्त होती है। फिर यदि कर्म बुरे होते तो योगी लोग क्यों योगाभ्यास करते, यम-निमादि द्वारा समाधि लगाते और ज्योति में ज्योति मिलाकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते? उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि कर्म का प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं कर्मलीन होने से जीव प्रेम से विमुख हो जाता है। कर्म चाहे पाप हो या

पुण्य दोनों ही समान हैं, अन्तर यह है कि एक लोहे की बेड़ी है, एक सोने की। बन्धन तो दोनों का समान है। कृष्ण का प्रेम तो तब प्राप्त होगा जब पाप और पुण्य, सत् और असत् का सर्वथा लोप होगा। योगी लोग सायुज्य-मुक्ति-प्राप्ति के लिये ज्योति को भजते हैं। पर भक्त तो उस स्वरूप का ही भजन करते हैं जहां से वह ज्योति निकलती है। ऐसी अवस्था में यदि वास्तविक स्वरूप को न लेकर कोई ज्योति का आधार लेगा तो लोग यही कहेंगे कि—

"घर आयो नाग न पूजहिं बाँबी पूजन जाहिं।"

कर्म का ऐसा उत्तर पाकर उद्धव जी गुण पर तर्क आरम्भ करते है। कहते, हैं यदि उनके गुण होते तो वेद नेति-नेति क्यों कहते ? गोपियाँ उत्तर देती हैं, कि यदि उनके गुण ही नहीं थे तो संसार का सगुणात्मक रूप कैसे प्रादुर्भूत हुआ ? बिना बीज के भी क्या वृक्ष हो सकता है ? दृश्यमान जगत् के समस्त गुण उन्हीं के हैं। केवल माया-दर्पण के बीच प्रतिबिम्बित होकर भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। वेद और उपनिषद् भी तो जिनमें गुण की चर्चा नहीं है उन्हीं की श्वास से ही निकले हैं। फिर ये भी तो कर्म में उन्हें खोजते रहे। इसलिये कहीं भी उन्हें न देख सके और नेति-नेति कहते रहे। सच तो यह है कि कृष्ण तो प्रेम से ही देखे जा सकते हैं, जोकि कर्म से रहित होने पर ही प्राप्त हो सकता है।

गुण और प्रेम का कुछ उत्तर न देकर ऊधो जी प्रेम को रूप से सम्बन्धित बता कर कहते हैं कि सूर्य-चन्द्र के रूप को हम प्रतिदिन देखते हैं फिर भी उसके वास्तविक रूप को नही जानते, तो गुणातीत भगवान् के रूप को कैसे जानेंगे ? और यदि रूप को जानेंगे नहीं तो वह प्रेम, जो रूप देखने से ही होता है, कैसे प्राप्त हो सकेगा ? गोपियाँ उत्तर देती हैं कि सूर्य-चन्द्र के रूप को दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर देखा जा सकता है। इसी प्रकार कृष्ण को देखने के लिये और ही आँखें चाहिएं। पर जो लोग कर्म के कूप में पड़े हुए हैं वे कैसे उस दृष्टि को पाएंगे।

कर्म का नाम सुनते ही उद्धव जी पुनः कहते हैं कि कर्म तो योग मार्ग में भी क्रमशः समाप्त हो जाता है और आत्मा सर्वथा निष्कर्म होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। गोपियां कहती हैं कि जब भगवान् में ही कर्म नहीं और अन्त में कर्मों का त्याग करना ही है तो हम इस कर्म-बन्धन में क्यों पड़ें? निर्गुण तो केवल परमाणुमात्र है। वास्तविक वस्तु तो सगुण ही है। इस पर पुनः ऊधो जी ईश्वर और संसार के भिन्न-भिन्न गुणों की चर्चा को दुहराने लगे। गोपियाँ इनकी अद्वैतता का प्रमाण

"वा गुन की परछांहि री माया दरपन बीच।
गुन ते गन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच॥"

दे चुकी हैं—अतः वे खीझ उठीं तथा उन्होंने नास्तिक कह कर विवाद बन्द कर दिया।

उक्त तर्क-क्रम से स्पष्ट है कि उद्धव अपने तर्क के प्रमाणमें योग की प्रसिद्धि, वेद, उपनिषद् आदि को प्रमाण रूप में उपस्थित करते गए हैं। पर गोपियाँ व्यावहारिक दृष्टि और शुद्ध तर्क का ही सहारा लेती हैं और प्रत्येक बात पर उन्हें निरुत्तर करती हैं। स्पष्ट है कि गोपियों के भक्तिमार्ग के तर्क योगमार्ग के तर्कों से पुष्टतर हैं। अवश्य ही योग के तर्क निर्बल प्रस्तुत किये गये हैं। यह कवि की साम्प्रदायिक भावना का प्रतिफलन है।

"प्रेम पियूषै छाँड़ि के कौन समेटे धूरि ?"
"जोगी जातिहिं भजै भक्त निज रूपहिं जानै।"
तथा—"निर्गुण गुण जो पाइये लोग कहैं यह नाहिं।
घर आयो नाग न पूजहिं बांबी पूजन जाहिं॥"

तथा—"कर्म पाप अरु पुन्य लोह सोने की बेरी।"

आदि से स्पष्ट ही योग के सिद्धान्तों का उपाहस सा किया गया है। गोपियों के तर्क तो बड़े ही सुन्दर और दार्शनिक हैं। जैसे—

"वा गुन की परछाँहि री माया दरपन बीच।"

पर उद्धव जी तो जैसे घबड़ाकर द्वैत मत का प्रतिपादन करना भी आरम्भ कर देते हैं—

"माया के गुन और-और गुन हरि के जानो।"

प्रतीत होता है मानो उन्हें अद्वैत और योग के तर्क ही नहीं याद आते। बिवाद के अन्त में उद्धव जी स्वयं अनुभव करने लगते हैं कि गोपियाँ तो हमसे बहुत आगे जा चुकी हैं। वे कृष्णमय होकर सर्वथा निर्लिप्त हो चुकी हैं और अब मैं इन्हें जोग की चटसार में सन्था दे रहा था। अब मेरी समझ में आया कि प्रेम तो हीरा है और योग काँच मेरी बुद्धि भ्रम में थी कि मैं दोनों को सदृश समझता था। मैं तो चाहता हूं कि व्रज की बेलि और लता होता ताकि इनके प्रतिबिम्ब मुझ पर पड़ते। पर वह भी बिना कृष्ण की कृपा के नहीं हो सकता, इस प्रकार नन्ददास जी ने इस प्रसङ्ग के आधार पर अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त सगुण ब्रह्म, लीलारूप, पाप-पुण्यादि कर्मों से दूर होकर कृष्ण के प्रेम मार्ग का अवलम्बन और भक्ति में उनकी कृपा (पुष्टि) को ही प्रतिपादित किया है।

रास-पंचाध्यायी

प्रश्न १५—रास-पंचाध्यायी की काव्यगत विशेषताओं को दिखा कर उसका मूल्यांकन कीजिये।

उत्तर—रासपंचाध्यायी नन्ददास जी की सर्वोत्तम कृति है। इसके पांच अध्याय भागवत पर आधारित हैं। विषय की दृष्टि से कोई भी नवीन वस्तु नन्ददास की रासपंचाध्यायी में नहीं मिलती पर ग्रन्थ की भाषा-शैली और उसका कवित्व इतना नवीन और उत्कृष्ट है कि वह उसे मौलिक तथा सर्वथा नवीन बना देता है। भाषा और शैली में नन्ददास जी ने जयदेव के गीत-गोविन्द का अनुकरण किया है। ब्रज भाषा की शब्दावली में भी गीतगोविन्द के संस्कृत के माधुर्य की झनकार आती है। जैसे—

"नूपर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।"

नन्ददास जी में काव्य-रुचि विशेष थी। वे अभिव्यक्ति पर विशेष जोर देते थे। फिर भी कहीं भी रीतिकालीन कवियों की भाँति कवि ने शब्द-सौन्दर्य या अलंकारों के लिये भावों पर कुठाराघात नहीं किया। श्रीमद्भागवत से भी अधिक रासपंचाध्यायी की कथावस्तु रोचक और बोधगम्य है। जब गोपियाँ कृष्ण के ध्यान में मग्न होती हैं या उनके वियोग में तड़पती हैं तो पाठक में तद्वत् वेदना उत्पन्न होती है। गोपियों की अधीरता, व्याकुलता, और प्रलाप रुदन-भाव-पक्ष के अनुपम नमूने हैं।

प्राय: देखा जाता है कि अनुवाद या भावानुवाद रूप में जो ग्रन्थ लिखे जाते है उन में सरसता जाती रहती है क्योंकि काव्यों के भावों का अनुवाद वास्तव में सम्भव नहीं है, मूल सौंदर्य फीका पड़ जाता है। पर नन्ददास जी की रासपंचाध्यायी में ठीक विपरीत बात है। नन्ददास की लेखनी को प्राप्त कर

भागवत की रासलीला और अधिक चमक उठी है, उसकी कथा में अधिक स्पष्टता, विस्तार और रसात्मकता आ गई है। गोपियों का उन्माद और प्रलाप स्वाभाविक प्रतीत होता है। भागवत तो एक धर्म-ग्रन्थ है । उस में शुकदेव और परीक्षत के कथोपकथन हैं। प्रत्येक लीला पर परीक्षत प्रश्न करते हैं और शुकदेव जी उत्तर देते हैं। कृष्ण-लीला की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत करके अस्वाभाविकता दूर की जाती है। जैसे जब गोपियाँ अपने पति-पुत्रों आदि को छोड़ कर रास-लीला के निमित्त दौड़ पड़ती हैं तो शुकदेव जी कृष्ण के ईश्वरत्व को दिखा कर गोपियों के आगमन के या रासलीला के आलिंगन- स्पर्श आदि को उचित सिद्ध करते हैं पर नन्दद जी को रासपंचाध्यायी में इस प्रकार की दार्शनिक विवेचना नहीं है तथापि वर्णन इतना सजीव और काव्योपयुक्त है कि पाठक उस रसदशा में प्राप्त हो जाता है जिस में उचित-अनुचित, श्लील-अशलील आदि की सीमायें ही समाप्त हो जाती हैं । परीक्षत की शंका का अवसर ही नहीं होता। तात्पर्य यह कि रासपंचाध्यायी में अनुराग का सागर उड़ता दृष्टिगोचर होता है। संयोग और वियोग सृंगार का ऐसा सहज, पुनीत और मर्मस्पर्शी स्थल बहुत कम मिलता है ।

नन्ददास की रासपंचाध्यायी में कलात्मक का आग्रह बहुत है। उनका शब्द-चयन उनकी कला का सर्वप्रथम रूप है। नन्ददास जी ने चुन-चुन कर कोमल और मधुर वर्ण ही लिये हैं। उनके शब्द एक तो अनुप्रास के द्वारा एकरूपता लाते हैं, दूसरे कोमल और मधुर वर्ण योजना करते हैं, तीसरे सगीतात्मक ध्वनि उत्पन्न करते हैं, चौथे अलंकारों से सजे होते हैं तथा पाँचवें साद गुण पूर्ण होने के कारण सब में समानरूप सू रसात्मकता उत्पन्न करते हैं । उदाहरण

> "मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि,
> मधुर जंत्र की तार भंवर गुञ्जार रली पुनि ।"

उक्त पक्तियों में अनुप्रास औरउपमा अलंकार है, मधुर वर्ण योजना है

संगीतात्मक ध्वनि और स्पष्ट भाव हैं । नन्दनादास जी ने अपनी पदयोजना को इतना सुगठित किया है कि टवर्ग के कठोर वर्ण भी उनके पदों में मिलकर अद्भुत मिठास उत्पन्न करते हैं और उनका चटपटापन माधुर्य को चार चाँद लगा देता है । जैसे—

"तैसिय मृदुपद पटकनि चट-कनि कट तारन की,
लटकनि तटकनि झलकनि कल कुन्डल हारन की ।।"

'ट' वर्ण कठोर है पर 'म', 'त' 'च' 'न' और 'ल' के बीच-बीच में ऐसे पिरोए गये हैं कि अजीब माधुर्य और लालित्य उत्पन्न कर रहे हैं। स्पष्ट है कि नन्ददास जी ने इन वर्णों को बीच-बीच में जड़ कर सौंदर्य वृद्धि की है । इन्हीं पंक्तियों को देखकर कहा गया था कि "और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया ।"

रस—रास-पंचाध्ययी में शृङ्गार रस अपनी पूर्ण कला के साथ अवतरित है । वातावरण अनुकूल है । दुग्धवल शरद्-पूर्णिमा की रात्रि है, शीतल मंद समीर बह रही है, यमुना पुलिन में कृष्ण अपने सुन्दरतम वेश में बाँसुरी बजाते हैं, उद्दीपन विभाव साकार है गोपियाँ मुरली सुनती हैं—कोई बच्चे को दूध पिला रही है, कोई पति-सेवा में है, कोई दूध जमा रही है, कोई बाल बांध रही है-पर मुरली सुनते ही उनकी दशा विचित्र हो जाती है । उनके कार्य जहाँ के तहाँ बन्द हो जाते हैं । वे स्तम्भित होती हैं । उनको रोमांच होता है । वे अपना सब कार्य छोड़ जैसी की तैसी मुरली-ध्वनि की ओर चल पड़ती है । स्पष्ट है सभी सात्विक भाव और हाव, यहाँ प्रकट दिखाई पड़ते हैं । कृष्ण के समक्ष आने पर कृष्ण उन्हें लौटने को कहते हैं, पर उनके स्थायीभाव प्रेम में अन्तर कैसे आ सकता है । वे अनुनय-विनय द्वारा कृष्ण को मना लेती हैं । रास-लीला आरम्भ होती है । संयोग शृङ्गार प्रत्यक्ष हो जाता है । सभी संचारी भाव हर्ष, उन्माद, गर्व, व्यग्रता आदि उसमें दिखाई पड़ते हैं । कृष्ण के अन्तर्धान होने पर वियोग शृङ्गार का विस्तृत निरूपण है । वियोग की सभी दशाओं और संचारियों आदि का शास्त्रीय और भावुकता-पूर्ण चित्रण है ।

तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के दोनों पक्षों का सुन्दरतम चित्रण रासपंचाध्यायी में मिलता है।

छन्द—रास-पंचाध्यायी में केवल एक ही छन्द रोला का प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार भँवरगीत में सभी पद एक ही प्रकार के छन्द में हैं उसी प्रकार रासपंचाध्यायी में भी। नन्ददास जी विविध छन्दों के पक्षपाती न हो कर छन्द और स्वर में एकरूपता के पक्षपाती थे। रास-पंचाध्ययी में विविध छन्द भी अच्छे रहते हैं पर छन्दों की एकरूपता भी रस में व्याघात नहीं पैदा करती वरन् उससे रस-सौरस्य में एकरूपता भी आती है।

भाषा—नन्ददास जी का भाषा पर अनुपम अधिकार था। उन्होंने भाषा को साहित्यिक बनाया है। सूरदास जी का तो अधिक झुकाव भाषा की स्वाभाविकता की ओर था पर नन्ददास जी ने उसे सुमधुर सुसंस्कृत, और अलंकृत किया है। फिर भी नन्ददास जी ने भी भाषा के सहज मार्दव को जाने नहीं दिया है। क्षण को 'छिन' अरुण को 'अरुन','किरण' को किरन ही लिखा है। व्रज भाषा की क्रियाओं और विभक्तियों को बिगाड़ा नहीं है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत है पर उनमें व्रजभाषा की प्रकृति की छाप लगी हुई है। एक उदाहरण देना आवश्यक होगा—

"ताहि छिन उडुराज उदित रस-रास सहायक,
कुकुंम-मंडित-बदन प्रिया जनु नागरि-नायक।
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों,
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥"

संक्षेप में रास-पंचाध्यायी कवि की कलात्मक प्रवृत्ति का सफल काव्य है, व्रज-भाषा काव्य का नगीना और रसिक जनो के हृदय का कण्ठहार है।

टिप्पणियां

(अ) सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य का योग—

सूर की गोपियाँ कृष्ण रूप पर अपने को न्योछावर करती हैं। उनका स्वरूप ही उन्हें प्रेमवश करने लगता है। उनका रूप ही उनके हृदय में ऐसे गड़ गया है कि किसी प्रकार नहीं निकलता। कृष्ण के शिशुपन से ही उनका अपरिमित सौंदर्य गोपियों को आकर्षित करता है। सुन्दर रूप के मोहक प्रभाव के साथ ही साथ चपलता, चातुर्य और औचित्यपूर्ण विनोद गोपियों को वशीभूत कर लेता है। कृष्ण के पीतपट, कछनी, मोरमुकुट और सबसे अधिक उनकी मधुर मुरली व्रज युवतियों को मोहित करने के प्रभावशाली साधन हैं। सौंदर्य ही आरम्भ में उन्हें कृष्ण की ओर आकर्षित करता है। जैसे-जैसे कृष्ण बड़े होते हैं उनका चापल्य और विनोदपूर्ण लीलाएं बढ़ती ही जाती हैं माखनचोरी से उनकी गोपियों के साथ लीलाए होने लगती हैं, माखनचोरी की विनोदपूर्ण लीला के पश्चात् गारुड़ी का अभिनय करके राधा से मिलते हैं। चीर-हरण, दानलीला, पनघट-लीला, रासलीला आदि में सदा ही कृष्ण गोपियों के साथ रहते हैं। सर्वत्र ही वे ठीक रसिक के रूप में चित्रित हैं। इस प्रकार एक ओर तो उनके रूप-सौंदर्य के आकर्षण और दूसरी ओर उनके साहचर्य जनित प्रेम-भाव के कारण वे युवतियों के मन को ऐसा हर लेते हैं कि वे 'कुल की कानि' को मेटकर 'रस नागर', 'रसि नागर' कृष्ण के प्रति पातिव्रत्य धारण करने का व्रत ले लेती हैं, और इसीलिए तो उद्धव जी से कहती हैं कि "उधो मन नाहीं दस बीस। एक हुतो सो गयो स्याम सङ्ग को अपराधै ईस।" तथा "अब कैसेहु निकसन नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े" तथा "लरिकाई की प्रेम कहो अलि कैसे छूटे।" राधा-कृष्ण के प्रेम में भी रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों ही का सुन्दर योग है। प्रथम मिलन में ही राधा उनका मोहन रूप देखकर मुग्ध होती है तथा वे नीली साड़ी में गोरी राधिका को देखकर मुग्ध होते हैं। बातों-बातों में 'राधिका गोरी' को

'भुरा' लिया। 'नैन-नैन' मिल गए और ठगोरी पड़ गई। गाय दुहाने तथा खेलने आदि के बहाने नित्य ही राधा कृष्ण से मिलने लगी। गारुड़ी लीला के पश्चात् वह भी सभी लीलाओं में सम्मिलित होती है।

(आ)—सूर के शृंगार वर्णन की विशेषता—

महाकवि सूरदास जी का शृंगार वर्णन केवल काव्य के दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया है, उन्हें तो अपने कृष्णचन्द्र की व्रजलीलाएं गानी थीं। उन्हीं के बीच आवश्यक शृंगार वर्णन भी उन्होंने किये। उनके शृंगार वर्णन में कृष्ण का भी शृंगार वर्णन है और राधिका तथा गोपियों का भी। कृष्ण के शैशव से ही उनके रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने लगते हैं, कृष्ण के अंग-प्रत्यङ्गों पर जैसे उनकी दृष्टि और कल्पना लगी हो, सूरदास होने से केवल अन्तः चक्षु ही उनके खुले थे, जिनसे उन्हें सुन्दरता का सागर दिखाई पड़ता था। अंग-प्रत्यङ्गों के लिये उपमा खोजते हैं और अन्त में सन्तोष लाभ न करने से अपनी विवशता दिखाकर रह जाते हैं। कृष्ण के अङ्गादि वर्णन मात्र ही उन्हें अभीष्ट नहीं, वे तो उनकी चेष्टाओं के सौन्दर्य पर अधिक जोर देते हैं। कृष्ण के बाल-वर्णन के पश्चात् उनका कुमार और युवक रूप भी है। राधिका के वर्णन में भी उनका भोला चंचल स्वरूप है। वह विद्यापति की प्रौढ़ा नायिका नहीं है। उसका प्रेम नायिका का प्रगल्भ प्रेम नहीं है। उसमें तो 'लरिकाई का प्रेम'—साहचर्यजनित प्रेम है। कृष्ण और राधिका के प्रेम का मनोवैज्ञानिक विकास कवि ने प्रस्तुत करने का पूर्णरूप से प्रयास किया है। राधिका में रतिभाव के उदय हो जाने पर भी वह उसे गुप्त रखती है। गोपियाँ उसकी अन्तरङ्ग सहेलियाँ हैं, फिर भी वह उनसे भी छिपाव रखती है। सूरदास जी भी अन्य शृंगारी कवियों की भांति कृष्ण-राधिका का नख-शिख-वर्णन, अभिसार, रति-सुख आदि का वर्णन करते हैं। पर एक तो उनका वर्णन बहुत ही सूक्ष्म ढंग से है, दूसरे स्थल-स्थल पर कभी कृष्ण स्वयं अपना ईश्वरत्व गोपियों के सम्मुख दिखाते हैं और कभी गोप, स्वयं या बलदेव उनके ईश्वरत्व का उद्घाटन करते हैं। साथ ही कृष्ण की लीला अन्ततोगत्वा शारीरिक से मानसिक अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। इन युक्तियों से

अश्लील पदों को भी पवित्र ढंग से वर्णन किया है। यह इनका अपना ढंग है और ऐसा दिव्य-वर्णन संस्कृत और हिन्दी के समग्र कृष्ण-काव्य में उपलब्ध नहीं होता।

(इ) सूर काव्य की सामान्य विशेषताएं—

भावपक्ष और कलापक्ष ही काव्य के आत्मा और शरीर हैं। भावपक्ष के अन्तर्गत कवि द्वारा प्रस्तुत किये गए विचार, कल्पना और भाव (मनोवेग) आते हैं। और कलापक्ष में इन्हीं भावों के अनुरूप भाषा को सजाना, गुण युक्त करना, दोषों से बचाना और रसमयता लाना आते हैं। सूरदास जी के काव्य के आधार हैं लीलाधाम श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण परब्रह्म के रूप हैं। स्थल-स्थल पर उनके अद्भुत कृत्यों द्वारा, उनके अपने निज के प्रवचनों से या बलदेव के द्वारा उनका ईश्वरत्व प्रदर्शित करना है। उनकी लीलाएं भक्तजनों को आनन्द देने के लिये हैं। भक्तजन उनकी लीला गाकर संसार के दुःखों से मुक्ति पाकर बिना जप-योगादि किये ही लोक-बन्धन से मुक्ति पा जाते हैं। तात्पर्य यह कि कवि का बुद्धि तत्त्व बहुत ही श्रेष्ठ एवं सरल है। कवि की कल्पना का आधार कृष्ण का स्वरूप है अथवा उनकी लीला। इतने ही विषय पर सवा लाख न सही, दस हजार पदों की तो अवश्य ही रचना की है। विषय की पुनरुक्ति भले ही हो, पर उक्ति सदा ही नयी है। प्रत्येक पद में नयी-नयी कल्पनाएं मिलेंगी। भाव तो इतने सहज और प्रभावशाली हैं कि पाठक या श्रोता रो पड़ता है। इनके भावों की तीव्रता के कारण ही "किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर को बान। किधौं सूर को पद लग्यो" का कथन प्रचलित हो गया है।

काव्य का बहिरङ्ग रूप काव्य की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरा उतरता है। ब्रज-भाषा साहित्यिक रूप धारण किये हुये है। उसकी सहज मृदुता सर्वत्र है। शब्द चयन में अर्थ-स्वारस्थ्य के साथ ही साथ उनके सौंदर्य, अनुप्रासिकता और ध्वनि का बहुत ध्यान रक्खा है। समस्त पद गेय हैं और गीत-काव्य की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। कवि शृङ्गार और वात्सल्य रसों

की ही अधिकांश पद रचना करता है। दोनों ही रस पूर्णता की चरमावस्था पर पहुँचा दिये हैं। ऐसा सुन्दर विस्तृत वात्सल्य-चित्रण कदाचित् ही किसी साहित्य में उपलब्ध हो। कृष्ण-गोपियों के माधुर्य भाव में भी शृङ्गार रस का ऐसा निरूपण है कि उसमें अश्लीलता का दोष न छू जाय, इसको सूरदास ही जसा समर्थ सिद्ध कवि कर सकता है। तात्पर्य यह कि कवि-कर्म में सूरदास जी पूर्ण सफल रहे हैं।

(ई)—भक्ति मार्ग तथा उसके गुण-दोष—

संसार में जन्म लेकर मनुष्य काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर में मग्न होकर जीवन पर्यन्त दु:ख पाता है। उसे कभी शान्ति उपलब्ध नहीं होती। जीवन के अन्त होने पर भी इन दु:खों का अन्त नहीं होता क्योंकि पाप और पुण्य के अनुसार वह अन्यान्य चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमता और क्लेश पाता रहता है। इन दु:खों से मुक्ति पाने के लिये दो प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं। एक ज्ञान-मार्ग जिसमें मनुष्य जीव और ब्रह्म के अद्वैत भाव को समझ कर माया के मिथ्यापन को समझना है। यम-नियम आदि के द्वारा अपनी बाह्य वृत्तियों और इन्द्रियों को दमन करके ब्रह्म की अद्वैतता को प्राप्त करता है। इस प्रकार संसार के सभी उपकरण उसे उनके वास्तविक रूप में दिखाई पड़ते हैं। वह "सोऽहम्" का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी को ज्ञान या योग मार्ग कहते हैं। जिसमें ब्रह्म के ज्ञान-गोतीत, अनन्त और रक्षक रूप की कल्पना की जाती है। भगवान् का यही साकार रूप ही साधक का साधन होता है। वह इन्द्रियों का दमन नहीं करता वरन् अपनी समस्त वृत्तियों काम, क्रोध, मोहादि को अपने इष्टदेव के सम्मुख प्रेरित कर देता है। अपनी सत्ता को सर्वथा इस प्रकार नगण्य करने से संसार स्वरूपों से उसे स्वत: मुक्ति मिल जाती है। वह सदा भगवान् की कृपा और भक्ति का आस्वाद करता और शान्ति लाभ करता है। इसी मार्ग का नाम भक्ति मार्ग है। भक्त भगवान् के चौबीस अवतार मानते हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। नवों प्रकारों से भक्त भगवान् के प्रति अपने भावों को प्रदर्शित करता है।

भक्ति-भावना के लिये आवश्यक है कि उसमें दीनता, मानमर्दनता, भर्त्सना, भय-दर्शन, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा ये सात भक्ति की भूमिकाएं हों। वह सज्जनों की संगति करे। जो इष्टदेव के अनुकूल हों उन्हीं के साथ रहे, और जो विमुख हों उनका सर्वदा त्याग करे। यथालाभ सन्तोष की प्रवृत्ति धारण करे। इस प्रकार एक ओर भक्त संसार का सर्वथा त्याग नहीं करता और दूसरी ओर सांसारिक प्रलोभनों से उसका कुछ नाता नहीं रहता। ज्ञान का पथ कठिन है। बहुत साधना करने पर भी इन्द्रियों का दमन हठ-पूर्वक सफलता-पूर्वक नहीं हो सकता। ज्ञान के पंथ में अहंकार वृत्ति आ जाती है। इसी कारण बड़े-बड़े ऋषि और साधक नारद, विश्वामित्र, शङ्कर और उद्धव प्रभृति को अहङ्कार हो गया पर भक्ति में अहङ्कार वृत्ति को सर्व प्रथम दूर कर दैन्य धारण करना पड़ता है। इसलिये इसमें पतन का भय नहीं होता। दूसरे, निराकार ब्रह्म के साथ साधन करने में मन निरालम्ब हो जाता है। साधारण व्यक्ति उसे नहीं कर सकता जबकि उसके पास कोई सहायक गुरु या परिस्थितियां न हों। पर भक्ति मार्ग में भगवान् की लीलाएं ही हैं। इसमें माया का विरोध नहीं होता। इसमें तो माया के सभी उपादान भक्ति का उपादान बनकर सहायक होते हैं। किन्तु यह सब तो भक्ति-मार्ग का सैद्धान्तिक गुण है। व्यवहार में भक्ति-मार्ग ने लोगों को आडम्बरी और अकर्मण्य बना दिया। "आगे पीछे हरि खड़े जब मांगे तब देय।" के अनुसार जन परोपजीवी हो गये। माया के अविरोधी गुण के कारण अनेक ज्ञान-योग के साधनों के विरोध में इन्द्रियलोलुपता का भी अभ्यास बढ़ चला। भक्त भूल गये कि भक्ति के लिये सांसारिक विषयों से उदासीनता ही उसका प्रथम सोपान है। गोस्वामी तुलसीदास जी भक्ति की वास्तविक स्थिति बतलाते हैं—"जेहि सुभाव विषयनि लागो तेहि सहज नाथ सो नेह छाँड़ि छल करिहै।" और तभी तो कहते हैं कि :—"रघुपति भक्ति करत कठिनाई।" वे आडम्बर युक्त भक्ति को भक्ति नहीं कहते और न दम्भ में वेद-पुराण की ही निन्दा करने या सामाजिक जीवन की बुराई करने मात्र को ही भक्ति कहते हैं। केवल नाम जपने से पापों का नाश नहीं होता। वह तो तब होगा जब नाम जपने के साथ मनुष्य की सभी वृत्तियां 'कृष्णार्पण' हो जाएँ।

(ऋ) रास और मुरली का आध्यात्मिक महत्त्व—

रास का सम्बन्ध रस से है। आनन्दानुभव ही रास है। भगवान् स्वयं रस रूप है—'रसो वै सः' पुरुष और प्रकृति की आनन्द क्रीड़ा ही रास है। समस्त जड़ और चेतन के केन्द्र में निर्गुण ब्रह्म है और शक्ति स्वरूप यही ब्रह्म सब को अपने चारों ओर नचा रहा है। इसी के रूपक के रूप में कृष्ण रूप में ब्रह्म बीच में हैं और उनके इर्द-गिर्द राधा तथा गोपियाँ जो चेतन और जीव के प्रतीक हैं, शश्वत रास कर रहे हैं। गोपियाँ प्रकृति हैं और राधा उन्हीं का सार स्वरूप। गोप जीव हैं, वृन्दावन कृष्ण का शाश्वत विहार-स्थल है। कुछ लोग इनमें यौगिक क्रियाओं का भी समन्वय मानते हैं। पर कृष्ण-भक्ति की भावात्मक विचारधारा से इसका सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं प्रतीत होता।

मुरली कृष्ण-साहित्य में बहुत प्रभावशाली रही है। वेणु को नाद-ब्रह्म स्वीकार किया है। यही ब्रह्म-नाद भक्तों और साधकों को संसार से छुड़ा कर परब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। इसकी शक्ति अपूर्व है। इस स्वर के सुनाई पड़ने पर सांसारिक स्वर नहीं सुनाई पड़ते। जिस प्रकार कबीर आदि अनहद नाद का वर्णन करते हैं जिसके आविर्भाव काल में आत्मा को ब्रह्म नाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनाई देता; उसका हृदय ईश्वरीय प्रेम में उन्मत्त हो उठता है। उसी प्रकार व्रज की गोपियाँ जो आध्यात्मिक अर्थ में आत्मायें हैं, वंशी के ब्रह्म-नाद को सुनकर कुल-कानि आदि के बन्धनों को तृणवत् तोड़ कर कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त होकर एकनिष्ठता से उसी की ओर चल पड़ती हैं और ब्रह्म-प्रेम में निरत होकर शाश्वत रास में मग्न हो जाती हैं।

मुरली का दूसरा रूप जोग-माया भी माना जाता है। नन्ददास जी ने रास-पंचाध्यायी में मुरली को जोग-माया कहकर पुकारा भी है। जोग-माया के रूप में यह ब्रह्म की शक्ति है जो रागात्मिका वृत्ति के साथ है। इसके द्वारा ही गोपियाँ प्रेम-मार्ग में प्रवृत्त की जाती हैं।

(ऊ) सूर का बाल-वर्णन—

बाल-वर्णन में सूरदास जी हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय हैं। कृष्ण के

बाल स्वरूप के वर्णन में वे तुलसीदास जी की भांति केवल रूप-वर्णन को ही देकर नहीं सन्तुष्ट होते। रूप-वर्णन तो वहुत विस्तृत तथा आलंकारिक करते ही हैं, साथ ही बाल सुलभ-चेष्टाएँ, बाल-मनोभाव, बाला-क्रीड़ाएँ आदि का भी श्रेष्ठ वर्णन करते हैं।

रूप चित्रण करते हुए वे उपमायें और उत्प्रेक्षायें एकत्रित करते जाते हैं। कृष्ण-सौन्दर्य में न केवल उनके अंगों का उल्लेख करते हैं वरन् उनके साथ ही साथ आभूषणों—लटकन, कुंडल, करधनी, किंकणी, नूपुर आदि का विस्तृत वर्णन तथा उनके उपमान इकट्ठे करते हैं। कृष्ण का घुटरन चलना, धीरे-धीरे खड़ा होना,; किलकना, नन्द को बाबा कहना, कुछ खाना, कुछ फेंकना, कुछ अंग लगाना, शरीर में धूलि लपेटना आदि सभी का विस्तृत वर्णन मिलता है।

"घुटरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए।"

\+ \+

"दमकति द्वै द्वै दतियाँ विहसत मनु सोपज घर किय वारिज पर।।"

रूप-वर्णन में तो सूरदास जी की आलंकारिक कल्पना का ही चमत्कार विशेष रूप से मिलता है; पर वाल-चेष्टावर्णन तो उनकी निरीक्षण शक्ति का परिचायक है। शिशु;रुचि का सुन्दर दिग्दर्शन निम्नलिखित पद में है—

"यशोदा मदन गुपाल सुआवै।।"

मां लोरी गा रही है। मां को भुलावा देने के लिए—

"कबहुं पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुं अधर फरकावै।"

मां बालक को सोता जानकर उठना ही चाहती थी कि

"इहि अन्तर अकुलाई उठे हरि; यशुमति मधुरै गावै।।"

इसी प्रकार बालक कृष्ण आंगन में घुटने के बल चलते हैं, गिरते हैं, उठते हैं, चन्द-खिलौना मांगते हैं, माखन स्वयं खाते हैं और नन्द के मुँह में डालते हैं।

शारीरिक सौंदर्य और बाल-चेष्टाओं के साथ ही साथ उनका बुद्धि चातुर्य सौंदर्य का प्रधान अङ्ग है। कृष्ण दूध नहीं पीते थे, माता ने कहा—"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै" बस कृष्ण दूध पीने लगे। पर साथ ही चोटी भी देखने लगे और मां से कहते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
कि‍ती बार मोहिं दूध पियत भई यह अबहुं है छोटी॥

इससे मां निरुत्तर हो गई। उसे उनकी प्रिय वस्तु 'माखन रोटी' देनी ही पड़ी। एक बार कृष्ण अँधेरे घर में माखन चुरा रहे थे। गोपी ने पकड़ लिया। अब क्या करें! पर घबराये नहीं, बड़ी स्वाभाविकता से कहते हैं—

"मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे ही आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो।"

कौन ऐसे वचन सुनकर हर्षित न होगा। गोपी निहाल हो गयी। इसी प्रकार मक्खन खाते हुए जब पकड़े गये तो कहते हैं मैं तो 'बहियन को छोटो' हूं भला छीके तक कैसे पहुँचूँगा? सखाओं ने जबरदस्ती ही मक्खन मेरे मुँह में लगा दिया।

सखाओं के साथ खेल में ही उनकी यह बाल-वृत्ति मिलती है। श्रीदामा के साथ खेलने लगते हैं। जब श्रीदामा दौड़ में पकड़ लेता है तो कहते हैं कि मैं तो खड़ा हो गया था। बच्चे भी इन्हें खूब चिढ़ाते हैं। वे कहने लगते हैं—

"खेलन में को काको गुसैंया।"

कृष्ण की खेल की बेईमानी देखकर वे भी नाराज हो-हो कर बैठ जाते हैं। कहते हैं कि क्या हम तुम्हारे छांह में बसते हैं। सब मिलकर कहते हैं कि ये तो यशोदा के पुत्र नहीं हैं, ये तो 'मोल को लीन्हौं' हैं। प्रमाण में कहते हैं 'गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।' कृष्ण इसकी शिकायत माँ से करते हैं। उनका क्रोध से तमतमाया मुख देखकर माँ निहाल होती है और अपनी सौगन्ध खाकर कहती है कि तू मेरा ही बेटा है—

"सूरस्याम मोहिं गोधन की सी हौं माता तू पूत ।"

कितने ही उदाहरण दिये जायँ, सूरसागर ऐसे चित्रों में भरा पड़ा है, तभी तो पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने कहा कि "सूरदास जी वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आए हैं ।"

(ए) "और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया ।"

नन्ददास जी भाषा के चितेरे थे । जैसे चित्रकार सुन्दर रंग लगा-लगा कर चित्र में भाव भरता है, बेल-बूटों से उसकी शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार नन्ददास जी का उद्देश्य केवल भाव-प्रकाशन मात्र नहीं था, वरन् उसमें शोभा भरना था । उन्होंने अपनी करामात शब्द-चयन में दिखाई । शब्द ही कवि की सामग्री हैं । इन्हीं के द्वारा ही तो वह अपनी अभिव्यक्ति करता है । शब्दों के चुनाव में नन्ददास जी ने काफी श्रम किया है । जिस प्रकार कुशल हार बनाने वाला मोती, माणिक्य और हीरे के साथ नीलम, पन्ना और मूंगे को तराश-तराश कर रङ्ग में रङ्ग का जोड़ मिलाता है और बड़ी सावधानी से हार को गूँथता है, उसी प्रकार नन्ददास जी ने छाँट-छांट कर सुन्दर, ध्वनिपूर्ण, मधुर और सानुप्रासिक वर्णों की माला गूँथी है ।

"नुपुर कङ्कन किङ्किनि करतल मंजुल मुरली,
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ।।"

'कंकन' के साथ 'किंकिनि' की ध्वनि, अनुप्रास और मिठास मिल रही है, 'र' और 'ल' और 'म' बाहर-बाहर सजाये गये हैं । इस प्रकार ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे हीरे के साथ नीलम और पन्ना के जोड़ की भांति कण्ठय और अनुनासिक वर्ण रकार और लकार के साथ-साथ जड़े गये हैं । प्रथम पंक्ति की 'मंजुल मुरली' दूसरी पंक्ति की 'सुर जुरली' के पाँच वर्णों के तुक-साम्य के साथ ध्वनि में कैसा सुन्दर साम्य बन गया है । इसी प्रकार 'मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली ध्वनि' में 'टंकार' और 'झंकार' यदि पन्ना और नीलम हैं तो बीच में 'ताल' और आदि 'मृदुल मधुर' हीरे हैं । उनका जड़ियापन सबसे अधिक वहां दिखाई पड़ता है, जहां वे मधुर वर्णों के साथ पुरुष वर्णों का अपूर्व जोड़ बनाते हैं ।

"लटकनि लटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की ।"

'ल', क' और 'न' तीन मधुर वर्णों के बीच में एक परुष वर्ण 'ट' तथा इसकी आवृत्ति ध्वनि में कैसा मिठास उत्पन्न करती है ।

नन्ददास जी केवल सुन्दर शब्दों में मोती, माणिक्य, हीरा, नीलम औह पन्ना जोड़ते हैं, वरन् हार बन जाने के बाद् उस पर पालिश भी करते हैं। शब्दों में लघुवर्ण ही अधिक हैं, प्रयत्न पूर्वक वे दीर्घ वर्णों का कम प्रयोग करते हैं, उसमें अनुस्वार और अनुनासिक की योजना बीच-बीच में करते हैं। ह्रस्व वर्ण और अनुस्वार पदों में कान्ति लाते हैं ।

छन्दों की रचना में भी उनका जड़ियापन झलकता है। रासपंचाध्यायी के रोला छन्द ब्रज-काव्य के सुन्दरतम रोला हैं। भँवर गीत के छन्द तो नन्ददास की अपनी कृति हैं । भँवर गीत की पहली दो पंक्तियाँ सारे भँवरगीत की टेक हैं—

"ऊधो को उपदेश सुनो ब्रज नागरी ।
रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी ॥"

इनमें २१, २१ मात्राएं हैं जो कि चान्द्रायण छन्द है । भँवरगीत के अन्य पदों में चान्द्रायण के स्थान पर रोला है। प्रथम छन्द में यह भेद उन्होंने जानबूझ कर इसलिए किया कि यह दो पंक्तियाँ 'सुमेर' की भाँति मालाओं की अन्य मनकाओं से अलग दिखाई पड़ती रहें। भँवर गीत के पद छन्द की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में नवीन हैं । एक पद में दो पंक्तियाँ रोला की, दो पंक्तियाँ दोहा की तथा साथ में दस मात्राओं की एक पूँछ (सुनो ब्रज नागरी या सखा सुन स्याम के) ये पाँचों पंक्तियाँ संगीतात्मकता में कितनी वृद्धि करती हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। आगे चलकर पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी इस छन्द में अपने भ्र'मरदूत' की रचना की और नन्ददास के स्वर में स्वर मिलाया ।

तात्पर्य यह है कि नन्ददास जी ने शब्द-चयन, पद-योजना और संगीत लहरी में कला सृष्टि की है । भक्त कवियों ने "और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया" अक्षरशः उचित कहा है ।

मीराबाई पर प्रश्न

प्रश्न १६—मीरा को आप निर्गुणोपासक कवियों की श्रेणी में रक्खेंगे या सगुणोपासक ? उनके काव्य के उदाहरण देकर इस विषय की प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए । (संवत् १६६८)

उत्तर—मीरा की पदावली में अनेक पद तो उन्हें सगुणोपासक कवियों की कोटि में लाते हैं । वे मोरमुकुट और पीताम्बर धारण करने वाले कृष्ण की उपासिकाहैं । बचपन से ही वे कृष्ण की मूर्ति की पूजा करती हैं । गिरधर नागर के सम्मुख नाचती हैं, उनकी आरती करती हैं । कृष्ण की उपासना उन्हें सगुणोपासक बनाती है । वे कृष्ण के रूप का ध्यान करती हैं । कृष्ण की दुलहिन बनने की कल्पना करती हैं । स्वप्न में मिलती हैं । साथ ही साथ मीरा की शब्दावली में कबीर और दादू आदि की भांति निर्गुण पदावली का पर्याप्त प्रयोग मिलता है । वे भी "तुम बिच मो बिच अन्तर नहीं" तथा "मोरे पिया मो मांहि बसत हैं" के रूप में भगवान् की अद्वैतता का आभास करती हैं । निर्गुण पंथ वालों की ही भांति "अटल रहे अविनासी" का नाम भी लेती हैं । सुरत निरत का दिवला संजोना, सुन्न महल, झरोखे से देखना "गगन मंडल पर पिया की सेज बिछाना,-"पंचरंग का चोला पहिन कर झिरमिट खेलने जाना तथा 'सतगुरु' के मिलने से' संशय' का भागना आदि संत कवियों के साथ इन्हें मिला देते हैं । इष्टदेव के सम्बन्ध में भी केवल गिरधर नागर का प्रयोग नहीं मिलता । कभी वे गोविन्द और कभी राम भी कहती हैं । सगुण भक्त कवियों की भांति कहीं भी कृष्ण-लीलाओं का उल्लेख नहीं करतीं । "भक्त बछल गोपाल" आदि शब्द केवल विशेषण मात्र हैं । समस्त पद उनके व्यक्तिगत प्रेमभावना का ही चित्रण करते हैं । इसलिए केवल कृष्ण के गिरधर नागर' नाम के कारण अनेक विद्वान् इन्हें सगुण भक्त कवियों में नहीं मानते । इस प्रकार के ईश्वरवाची

शब्द राम, कृष्ण, गोविन्द तो कबीर के पदों में भी प्राप्त होते हैं। पर वे निर्गुण ही हैं। परन्तु केवल उक्त शब्दावली के कारण ही उन्हें सन्त कवियों में भी रखना उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि उनका प्रेम लौकिकता के लिये है। वे गिरधर नागर से पूर्वजन्म का साथ बताती हैं। उन्हें "बालमा,-"भरतार", 'प्रेम पियारा मीत', 'जनम जनम का साथी', आदि नामों से सम्बन्ध करती हैं। उनका यह सम्बन्ध जन्मजात है। किसी बाह्य संसर्ग से इसकी उत्पत्ति हुई हो या इसका यह स्वरूप बना हो ऐसी बात नहीं है। निर्गुण सन्तों के साथ ही उनका संसर्ग रहा। रैदास को उन्होंने गुरु स्वीकार किया पर उनकी माधुर्य प्रेम भावना पूर्ववत् ही रही। उनके माधुर्य भाव का सम्बन्ध अव्यक्त और अशरीरी से सम्बन्धित नहीं था। वह तो गिरधर नागर की मूर्ति से था। सन्त लोग भी अपने को भक्त ही कहते थे। राम, कृष्ण और अछय पुरुष में भेद नहीं मानते थे। भगवान् की भक्ति को ही श्रेष्ठ समझते थे। संसार से अलग रहना, बन्धनों से दूर रहना ही अपना मार्ग बताते थे। उनके प्रेम का स्वरूप सूफियों के संसर्ग से बहुत ही उत्कट हो गया था। सूफी मत, हठयोग और रहस्यवाद ने सन्तों के प्रेम में और तीव्रता उत्पन्न की थी। यही प्रेम की तीव्रता मीरा के भी प्रेम का स्वरूप थी। इसलिये सम्भवतया वे उसी ओर आकर्शित हो गईं। मीरा तो केवल प्रेम जानती थी, दार्शनिकता तथा मत-मतान्तर आदि का उन्हें पता भी न था। क्या सगुण है क्या निर्गुण,, इससे उन्हें मतलब क्या ? उन्हें तो यदि प्रेम मन्दिर में मिला तो वहीं गईं, यदि रैदास की कुटी में मिला तो वहां भी गईं। संसर्ग में बैठते और निर्गुण पदावली के सुनते-सुनते उनके भी कतिपय पदों में वे ही शब्द निकल पड़े। वे तो भावों में बहती थीं, शब्दावली की तो उन्हें कोई परवाह भी नहीं रहती थी। तात्पर्य यह कि उनकी शब्दावली में निर्गुणी सन्तों की वाणियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा; पर उनकी भक्ति-भावना पूर्ववत् बनी रही।

उनकी भक्ति-भावना का क्या रूप है ? यह जानने के लिये हमें नवधा भक्ति के श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चनवन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के रूप देखने पड़ेंगे। मीरा की पदावली इसका प्रमाण है

कि ये सभी भाव मीरा में पूर्णतया थे। अपने प्रियतम का स्वरूप वे स्पष्ट करती हुई कहती हैं—'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।' द्वैत और द्वैताद्वैत मतावलम्बियों की माधुर्य भक्ति मीरा की भक्ति में ज्यों-की त्यों मिलती है। यदि सन्त शब्दावलियों की ओर ध्यान न दिया जाय तो मीरा चैतन्य महाप्रभु के सदृश ही दीख पड़ती हैं। उनके प्रेम में कबीर की भांति उतना रोना, जलना और तड़पना नहीं है। जितना महाप्रभु के प्रेम की भांति उत्साह, हर्ष, आनन्दोल्लास और मिलन की शुभ आशा है। अन्त तक मीरा को कृष्ण का 'भक्त बछल', 'यदुनाथ', दयाल 'विपतविदारण', 'चतुर्भुज', 'नन्दनन्दन', 'यदुनाथ', स्वरूप याद रहा। जब वे घुंघरू बांधकर चुटकी देकर गिरधर नागर के आगे नाचती हैं तो हमें उनमें चैतन्य का सगुण प्रेम छलक उठता दीख पड़ता है तथा कबीर आदि से प्राप्त की हुई निर्गुण ओढ़नी पर भी वही रंग नीचे से चढ़ा स्पष्ट झलकने लगता है। अत एव उनके पदों के बाह्य स्वरूप को देखते हुए कोई उन्हें निर्गुणोपासक भले ही कहे पर हम तो उनके प्रेम के स्वरूप को देखते हुए उन्हें सगुणोपासक ही कहेंगे।

प्रश्न १७— प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मीराबाई की जीवनी का उल्लेख कीजिये। उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का उनके काव्य पर किस रूप में प्रभाव पड़ा है, यह भी दिखाइए।

(सं० २००७)

उत्तर—मीराबाई की जीवनी के सम्बन्ध में 'कर्नल' टाड के राजस्थान' के आधार पर भ्रांतियाँ फैली थीं। इन भ्रांतियों को कुछ तो गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताने के इतिहास' में दूर किया और कुछ मुन्शी देवीप्रसाद जी ने मीराबाई के जीवन-चरित में दूर किया। कर्नल टाड तो मीरा को राणा कुंभा की पत्नी मानते थे। मुन्शी देवीप्रसाद ने अपनी-खोजों के अनुसार लिखा कि राणा कुंभा तो मीराबाई के पति कुंवर भोजराज के परदादा थे और मीरा के पैदा होने से २६—३० वर्ष पहले ही मर चुके थे। खोजों के उपरान्त विद्वानों ने मीराबाई के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में जो

निश्चय किया है उसका सार इस प्रकार है—

मीराबाई सम्वत् १५५५ के लगभग मेड़ता राज्य के कुड़की ग्राम में रत्नसिंह के गृह में उत्पन्न हुई। रत्नसिंह जी जोधपुर के संस्थापक राव जोधा के पुत्र राव दूदा के चतुर्थ पुत्र थे। मीरा ने भी-अपने नाम, जन्म स्थान और कुल का इस प्रकार निर्देश किया है:—

राठौड़ां की धीमड़ी जी सीसोधाँ के हाथ।
मेड़तिया घर जनम लियो है मीराँ नाम कहायो॥

बाल्यावस्था में ही उनकी मां का देहान्त हो गया था। उनका पालन-पोषण उनके पितामह दूदा जी ने किया। दूदा जी बड़े भक्त थे। उनके साहचर्य से मीरा में भी वैष्णव भक्ति का बीजारोपण हो गया। दूदा जी की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव जी ने १८ वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ट कुमार भोजराज के साथ कर दिया। मीरा ने भी कहा है—

"वर पायो हिन्दुवाणी सूरज, अब दिल में कहा धारी।"

विवाह के कुछ वर्षों बाद सम्भवतः १५८० के लगभग भोजराज का देहान्त हो गया। पति की मृत्यु से उनके जीवन में महान् परिवर्तन आया। पूर्वजन्म की कृष्ण-भक्ति बचपन में ही अंकुरित हुई थी। पति की मृत्यु के उपरांत बाबर के युद्ध में सम्वत् १५८४ में उनके पिता और ससुर भी स्वर्गवासी हो गए। भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह भी १५८८ में मर गए। इस प्रकार के उलट-फेरों के सन्धि काल में मीरा में पूर्व अंकुरित भक्ति पल्लवित हो गई। वे कृष्ण-कीर्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में संसार की असारता को सत्य समझने लगीं। मीरा ने संतों के साथ सत्संगति करनी आरम्भ की। भक्त रैदास को उन्होंने गुरु स्वीकार कर लिया। पदावली में गुरु रैदास के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कथन किए हैं। जैसे—

"गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की पुटकी।"

रत्नसिंह की मृत्यु के बाद विक्रमादित्य चित्तौड़ के राजा हुए। उन्हें साधु-सन्तों का समागम और उनके साथ मीरा का भजन कीर्तन सह्य नहीं था। उन्होंने मीरा को समझाने का प्रयत्न किया। अपनी बहिन ऊदाबाई को उनके समीप रक्खा। उन्होंने सब कुछ निष्फल देख कर मीरा के पास विष भेजा। मीराबाई ने उसका सहर्ष पान कर लिया। उसके लिए वह अमृत हो गया। मीरा ने भक्ति में अपनी कठिनाइयों का निर्देश पदावली में यत्र-तत्र किया है।

साँप पिटारो राणा जी भेज्यो मेड़तणी गलहार।
राणा जी भेजा विष का प्याला अमृत कर दीजो जी

(ऊदा) भाभी राणा जी कियो छै यो परकोप,
रतन कचोले विष घोल्यो।

(मीरा) बाई ऊदा घोल्यो तो घोलण दो,
कर चरणामृत वही में भावसां।

कुछ लोग मीरा की मृत्यु विष से ही मानते हैं पर मीरा ने स्पष्ट कहा है कि—

"मीरा प्याला पी लिया रे, बोलो दौड़ कर जोर।
तैं तो कारण की करी रे, मेरो राखणहारो और,।

मीराबाई की इन विपत्तियों को सुन कर इनके चाचा वीरमदेव ने इन्हें मेड़ते में बुला लिया और बड़ा स्नेह करने लगे। इधर गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार किया। विक्रमादित्य मारे गए और जोधपुर के राव मालवदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। दोनों स्थानों की विपत्तियों से मीरा में वैराग्य हुआ। वे वृन्दावन और द्वारका के लिए चल पड़ीं।

वृन्दावन की कुंजगलियों को देखकर मीरा आत्मविभोर होकर साक्षात्

कृष्ण- लीला में समा गई । यहां उनकी भक्ति को पूर्णत्व प्राप्त हुआ । निर्गुण-पंथी संतों के प्रभाव से उनकी पदावली में जो हठयोग की शब्दावलियाँ आई थीं उनके स्थान में अब विवाह और प्रेम के उत्कृष्ट पद फूट निकले । वृन्दावन में उन्हें चैतन्य की शिष्य-मंडली, रूप-सनातन और जीव गोस्वामी का परिचय मिला । उन्हें अष्टछाप के पुष्टिमार्गीय विनय और लीला का बोध भी हुआ । उनका अवरुद्ध भक्त हृदय बंधनविहीन होकर प्रकट हो गया ।

ये संवत् १६०० के लगभग वृन्दावन छोड़का द्वारका चली गईं । वहाँ रणछोड़ जी की भक्ति में-डूब गईं । मीरा की भक्ति की प्रशंसा दूर तक फैल गई । लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे । इसी समय मेड़ता और मेवाड़ के दिन पुनः फिरे । मीरा को लौटाने के लिए ब्राह्मण भेजे गए । पर मीरा ने लौटना स्वीकार न किया । चित्तौड़ के ब्राह्मणों ने सत्याग्रह कर दिया, तब मीरा तैयार हुईं । अन्तिम बार रणछोड़ जी के मंदिर में दर्शन के लिए गईं । वहां विरह में इतनी मग्न हुईं कि मूर्ति ने उन्हें अपने में अन्तर्हित कर लिया ।

मीरा के मृत्यु संवत् के सम्बन्ध में भी मतभेद है । मुंशी देवीप्रसाद १६०३ मानते हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १६३० में बताया है । अकबर की भेंट मीरा से हुई थी । १६३० में अकबर ४ वर्ष का था, इस आधार पर डा० राम-कुमार वर्मा आदि आधुनिक विद्वान् मीरा का मृत्यु संवत् १६३० ही मानते हैं ।

यद्यपि मीरा में कृष्णभक्ति के बीज पूर्व जन्म के सञ्चित कर्मों के फलस्वरूप ही थे, तथापि उनकी जीवनचर्या भी उनके भक्ति पथ को पुष्ट करने में सहायक ही थी । राव दूदा जैसे वैष्णव भक्त की गोदी में पलने वाली मीरा में कृष्ण-भक्ति का अंकुरित होना समान्य बात है । प्रारम्भिक शिक्षा में उन्हें संगीत की भी सुन्दर शिक्षा मिली । स्वर ताल के साथ-साथ भक्ति के गीतों ने मीरा के हृदयस्थ भक्ति भाव में सिञ्चन का काम किया । श्वसुरालय में उसे सङ्गीत और साहित्य का अनुकूल वातावरण मिला । मीरा के शीघ्र विधवा होने तथा मेवाड़ मे लगातार मृत्युओं के होने से उसमें संसार

से विरक्ति पैदा कर दी। सबसे आशा छोड़ कर वह अपने गिरधरनागर में एकाग्र न होती तो क्या करती ? जब मीरा अपने सांवरे के रंङ्ग में रङ्ग गई, तो विक्रमादित्य के प्रतिबंधों ने उसकी भावना में तीव्रता के अतिरिक्त और कुछ न पैदा किया। संतों का सामागम दिन पर दिन सहायक होता गया। मेढ़ते में आकर तो प्रतिबन्ध में पड़ी हुई भावना उलट होकर अपने प्रियतम की ओर बढ़ चली। उस के वेग का उत्तरोत्तर विकास होता ही गया। अन्त में रणछोड़ जी में लीन हो गई।

डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने मीरा के जीवन को तीन भागों में विभक्त किया है प्रथम भाग में जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा और वैवाहिक जीवन है। इसमें ही उनकी भक्ति-भावना की आधार-शिला बनी थी। द्वितीय भाग में उनका भक्त रूप प्रकट होता है। वे संघर्ष की आँच में तप कर धर्म, कर्म और भक्त-हृदय का परिचय देती हैं। तृतीय भाग में उनकी माधुर्य उपासना की चरम-सीमा होती है। सचमुच मीरा का जीवन भक्ति-भावना का क्रमिक विकास है। उनका सम्पूर्ण काव्य उनके जीवन का प्रतिबिम्ब ही तो है।

प्रश्न १८—मीरा की प्रेम भावना पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—मीराबाई की पदावली मुख्यतया व्यक्तिगत भावनाओं के स्पष्टीकरण के रूप में हुई है। सम्भवतः वह जानती भी न थीं कि अपने पदों के कारण वे कवयित्री नाम से विख्यात होंगी। इनकी स्वयं कल्पना है कि उनका कृष्ण के प्रति पूर्व का संसर्ग है, जिसके कारण वे बचपन से ही कृष्ण के प्रेम की मतवाली हो जाती हैं और कृष्ण को 'बालमा' 'भरतार', 'प्रेम पियारा मीन', 'जनम-जनम के साथी', सांकणारो साथी' आदि नामों से सम्बोधित करती हैं। भक्ति की विचारधारा में उनमें माधुर्य भाव की प्रधानता

है, क्योंकि चैतन्य की भांति कृष्ण को पति रूप में स्वीकृत करके उनके विरह में मतवाली होती हैं, उन्हें रिझाने के लिए नाचती हैं, उनके लिये लोक-लाज छोड़ती हैं और उनके रङ्ग में रंगती हैं। तात्पर्य यह है कि कृष्ण के प्रति मीरा की प्रेम भावना स्वाभाविक थी, पूर्वजन्म के सञ्चित कर्मों के फलस्वरूप बाह्य प्रभावों वा संसर्गों से इस भावना की उत्पत्ति हुई हो, ऐसी बात नहीं है।

मीरा प्रेमोन्मत्तता से व्याकुल होकर जब अपने को न सम्भाल सकीं और लोक-लाज आदि को तृणवत् समझ कर जब बाहर आईं और सन्तों के संसर्ग में बैठीं तो उनकी वाणी पर बाह्य प्रभाव अवश्य पड़े। भावना का स्वरूप व्यक्तिगत ही रहा और आरम्भिक संस्कार बने रहे। फलतः कृष्ण का 'भक्त वत्सल, दीनानाथ, दयालु, विपति विदारन, चतुर्भुज, नन्दनन्दन, यदुनाथ' स्वरूप उन्हें याद रहा और इस प्रकार के सगुणात्मक विशेषणों ले-ले कर, पग में घुंघरू बांध कर, चुटकी दे-देकर अपने कृष्ण के समक्ष समाज के बीच में वे कीर्तन करती रहीं। उन्हें कृष्ण-मिलन की आशा बनी रही। परन्तु मीरा की संगति संयोग से निर्गुणमार्गियों की ही रही, जिनमें पति के स्वरूप में ही इष्टदेव की प्रेम भावना का स्वरूप तो था; पर उनका प्रिय साकार न होकर निराकार था। उनके प्रेम की पद्धति लौकिकता से दूर होकर अलौकिक चोले को पहने थी। उस पर सूफी मत की प्रेम की पीर का बड़ा प्रभाव था। फलस्वरूप सन्त कवियों की प्रेम-भावना रहस्योन्मुखी थी। वे निर्गुण प्रियतम से तादात्म्य ही नहीं स्थापित करना चाहते थे, वरन् उससे अपने प्रेम को इतना घना करना चाहते थे कि उनके प्रेम का वह स्वरूप हो जाय जिससे वे अपने में प्रियतम को और प्रियतम को अपने में देखने लगें।

प्रेम का यह स्वरूप बड़ा ही तीव्र और प्रगाढ़ था। साथ ही साथ मीरा की सहज प्रेम-भावना के अनुरूप भी था। इसलिये मीरा के पदों में निर्गुण शब्दावली का अनायास ही योग हो गया।

मीरा की उत्कट प्रेम-भावना इस प्रकार एक ओर कबीर के रहस्यवाद और जायसी के प्रेम की पीर तथा सन्तों के हठयोग से प्रभावित है; और दूसरी ओर चैतन्य की माधुर्य-भावना (दाम्पत्य प्रणय) से ओत-प्रोत है। उनके कीर्तन और सांसारिक व्यवहारों में शुद्ध दाम्पत्य-प्रणय और वैयक्तिक भावना है। उसमें दार्शनिकता न होकर शुद्ध और सहज प्रेम का वह रूप है जिसके लिये कबीर ने कहा कि—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै, सो पण्डित होय ॥"

प्रश्न १६—सिद्ध कीजिये कि मीरा की अनन्य तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है।

उत्तर—मीरा की भक्ति में सहज प्रेम की शुद्ध भावधारा है। काव्य के सम्बन्ध में न तो वे अपना कोई दृष्टिकोण ही रखती थीं और न अपने पदों को काव्य के लिये रचती थी। फिर भी सहज हृदयोद्गार ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप होता है। अनुभूति ही अभिव्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। काव्य ब्रह्मानन्द सहोदर इसलिये कहा जाता है कि उसमें तन्मयता होती है। जिस प्रकार ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा लौकिकता से मुक्ति पाकर तन्मय हो जाती है, उसी प्रकार काव्य भी अपनी रसवत्ता से कवि-हृदय तथा सहृदय को लौकिकता से परे उठा कर तन्मय बना लेता है। तात्पर्य यह कि काव्य

की तन्मयता ही काव्य का अन्तिम उद्देश्य है। कवि अपनी कविता में जब स्वानुभूति का सहज निरूपण करता है तो न केवल स्वयं आनन्द विभोर हो जाता है वरन् पाठक को भी तद्वत् भावना में परिणत करने की शक्ति रखता है। भावों की शुद्धता और अनुभूति की सचाई की सरल परख ही यही है कि पाठक अपने में तद्वत् भावोन्मेष अनुभव करे, जो कवि में थे। मीरा की कविता में यही बात स्पष्ट रूप में मिलती है। काव्य का भाव-सौन्दर्य उसमें अनूठा है। उसमें काव्य के शरीर (कलापक्ष) पर बिल्कुल ध्यान नहीं है। प्रत्येक पद में शुद्ध और सहज प्रेम की अनुभूति के दर्शन होते हैं। पदों की सहज शब्दावली में पाठक स्वयं तन्मय हो जाता है। मीरा की अनुभूति उसे अपनी अनुभूति प्रतीत होती है और वह ब्रह्मनन्द-सहोदर आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार मीरा की काव्य-साधना में केवल प्रेम-साधना है। उसमें भाषा, अलङ्कार, रस, काव्य के गुण आदि गौण होते हुए भी काव्य उद्देश्य की प्राप्ति है, अतएव उनकी भावना की अनन्य तन्मयता ही उनके काव्य की श्रेष्ठ विभूति है।

तुलनात्मक प्रश्न

प्रश्न २०—सूर और तुलसी की कवित्वशक्ति और विचारों की परस्पर तुलना कीजिये। (संवत् २००३)

उत्तर—कवि की शक्ति दो रूप में होती है—प्रतिभा रूप में और पाण्डित्य रूप में। सूर और तुलसी दोनों ही प्रतिभा और पाण्डित्य में इतने ऊँचे हैं कि इनकी ऊँचाई का पता लगाना और उनकी तुलना करना कठिन है।

दोनों ही कवियों ने अपने-अपने काव्य का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया है कि जो अपनी दिशा में सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण-साहित्य की रचना संस्कृत में सूरदास जी के पूर्व हुई थी। श्रीमद्भागवत, गीत-गोविन्द, महाभारत और शिशुपाल वध में कृष्ण-चरित्र ही है, परन्तु सूरदास जी ने कृष्ण का और ही स्वरूप लिया। सूर के कृष्ण न तो भागवत के ब्रह्म के रूप में दुखभंजक और असुर संहारक हैं, न गीत-गोविन्द के नटवर गोपीवल्लभ मात्र है, न महाभारत के नीतिविशारद, न शिशुपालवध के वीर नायक ही हैं। सूरसागर के कृष्ण नंदनंदन, गोपाल, गोपीवल्लभ, राधावल्लभ, मनमोहन और रसिकशिरोमणि हैं। किसी भी पूर्ववर्ती साहित्य के कृष्ण का न तो यह बाल वर्णन है, न वात्सल्यवर्णन है, न गोपी और राधा के साथ साहचर्यजनित प्रेम की उत्पत्ति और विकास है, न ऐसा अनुपम विरह के रूप में भ्रमर-गीत है। इस प्रकार कृष्ण-काव्य की रचना करना सूर की प्रतिभा का काम है। परवर्ती कृष्ण-काव्य के रचयिता आज तक सूर के पदचिन्हों पर चलते आ रहे हैं। पर क्या कोई सूर बालकृष्ण, सूर-लीला और सूर-भ्रमर-गीत के सदृश इन्हीं विषयों पर लिख सका ?

गोस्वामी तुलसीदास जी के पूर्व श्रीराम-काव्य पर प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा जा चुका था। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, रघुवंश महाकाव्यादि प्रधान ग्रंथ महाकवियों के द्वारा लिखे जा चुके थे, पर गोस्वामी जी ने जिस दृष्टिकोण से रामायण लिखी वह उसे सब से अलग ही बना देता है। मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में राम में शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों विभूतियों का वह सुन्दर सामञ्जस्य इन्होंने दिखाया और उसमें वाल्मीकि और कालिदास का कवित्व और अध्यात्म-रामायण की धार्मिकता का वह अद्भुत संयोग कराया कि तुलसी-रामायण एक ओर तो बाइबल,कुरान की

भांति धर्म ग्रंथ बन बैठी और दूसरी ओर हिंदी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य। इसकी लोकप्रियता इसके महाकाव्यत्व को प्रमाणित करती है। इनके परवर्ती अनेक कवि केशवदास, राजा रघुराजसिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित-उपाध्याय आदि ने राम काव्य पर प्रयास किया, पर क्या गोस्वामी जी की छाया भी छू पाये ? यह है इनकी प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण।

यह हुआ सूर और तुलसी की प्रतिभा का अलग-अलग दिग्दर्शन। अब यह कहना कि किसकी प्रतिभा किससे ऊंची थी, अत्यन्त कठिन है। सम्भवतः दोनों ही की प्रतिभा एक-दूसरे से ऊँची है।

पाण्डित्य से तात्पर्य मुख्यतया कवि के ज्ञान तथा उसके काव्य-कला पक्ष से है। ज्ञान की दृष्टि से दोनों ही महात्मा बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। भारतीय वेदान्त और शास्त्रों के दोनों ही विशेषज्ञ थे। ईश्वर (ब्रह्म), माया, जीव और जगत् के सम्बन्ध में सूर सागर और मानस दोनों ही में वेदान्त तत्त्व ठीक वैसे प्रतिष्ठित हैं जैसे भारतीय वेदान्त में। साथ ही दोनों महात्मा अपने-अपने व्यक्तिगत विचार भी रखते थे। सूरदास जी शुद्धाद्वैती होते हुए भी माया की प्रतिष्ठा "माधव जू नेक हटकौ गाई" कहकर करते हैं और तुलसीदास जी रामानुजी सम्प्रदाय में होते हुए भी अद्वैत ब्रह्म का यत्र-तत्र प्रतिपादन करते हैं। दोनों ही कवियों में भारतीय भक्ति मार्ग का पूर्ण विस्तार है। दोनों ही कवियों की कविता में भावतत्त्व, बुद्धितत्त्व और कल्पना तत्व का सम्यक् और उचित प्रतिष्ठापन है। दोनों ही कवि, 'भाव भेद, रस भेद और अलंकार' के पूर्ण ज्ञाता हैं। सूर सागर और मानस इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। अलंकार, छन्द, रस, ध्वनि व शब्द शक्तियों के दोनों ही कवि पूर्ण पंडित हैं, सभी अलंकार विशेषतया सादृश्यमूलक अलंकार दोनों ही महाकवियों के काव्यों में भरे पड़े हैं। उदाहरण देना अनावश्यक है। सूरदास जी प्रधानतया शृङ्गार और वात्सल्य के रससिद्ध कवि हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि

अन्य रसों के चित्रण की क्षमता उनमें नहीं थी। दावानल के वर्णन में भयानक तथा कृष्ण के चरित्र-चित्रण में यत्र-तत्र अद्भुत रस के चित्र इसके प्रमाण हैं। हाँ, उनका विषय इतना सीमित है कि उन्हें अन्य रसों के चित्रण का अवसर ही नहीं था। गोस्वामी जी में तो सभी रस विस्तार के साथ प्राप्त होते ही हैं। दोनों ही कवि विषय के अनुसार मात्रिकछन्द—चौपाई, दोहा, हरिगीतिका रोला, कुण्डलिया तथा पदों का प्रयोग करते हैं। अवश्य ही गोस्वामी जी ने छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। पर इससे भी उनकी बहुज्ञता सूर से बढ़ी हुई नहीं मानी जा सकती। सूर ने सर्वत्र ही व्रजभाषा का प्रयोग किया है, पर सच तो यह है कि भाषा की दृष्टि से तुलसीदास जी अवधी में और सूरदास जी व्रज में सफल हैं।

विचार की दृष्टि से दोनों ही कवि मुख्यतया भक्त हैं। अपने-अपने इष्ट-देव के गुणगान के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई कार्य नहीं है। दोनों की ही कला का मुख्य लक्षय 'स्वान्तः सुखाय' है। हो सकता है स्व-कल्याण में उनका लक्ष्य लोक-कल्याण भी रहा हो। गोस्वामी जी का लक्ष्य अवश्य ही लोकहित की ओर अधिक था। इसलिये उन्होंने भगवान् का स्वरूप ही इतना आदर्शात्मक प्रस्तुत किया। मर्यादा का पालन करने में जितने वे समर्थ रहे, कदाचित् अन्य कोई कवि नहीं कर सका। सूरदास जी का ध्यान किंचित् भी लोक-प्रथा की ओर न गया और इसी कारण परवर्त्ती कृष्ण-काव्य रचयिता पतनोन्मुख भी हो गए।

तुलसीदास जी विशिष्टाद्वैती हैं और सूरदास जी शुद्धाद्वैती। तुलसीदास जी मानस और विनय-पत्रिका में अपने वेदान्त-सिद्धान्तों को स्पष्टतया बतलाते हैं। पर सूरदास जी कहीं भी अपने मत का प्रकाशन नहीं करते। यत्र-तत्र स्वभावतया पुष्टि, सामीप्य भक्ति, लीला और रास आदि का संकेत दार्शनिक हो गया हो तो अलग बात है। वे तो केवल एक भक्त के नाते अपनी भक्ति का प्रकाशन मात्र करते हैं। तुलसीदास जी की भक्ति अनन्य भाव की है 'जाके प्रिय न राम वैदेही" उसे कोटि बेरी के समान छोड़ने को तैयार हैं, "यद्यपि परम सनेही" क्यों न हो। वे "मात पिता जानहुँ नहिं काऊ" और "मोरे सबइ एक तुम स्वामी" मानकर द्वार पर पड़े रहने की आकांक्षा

करते हैं। सूरदास जी विनय के पदों में अनन्य भाव से, लीलाओं में सखा भाव से और भ्रमर-गीत में माधुर्य भाव से कृष्ण की भक्ति करते हैं। परन्तु प्रधानता उसमें सख्य भाव की है, इसीलिये विनय करते हुए भी वे 'अनुपम भरोसे लरिहौं" का भी दम भरते हैं तथा माधुर्य भाव की स्थिति में भी गोपियों के द्वारा ऊधो के प्रसंग में कुब्जा के नाम पर सखाओं जैसा उपहास भी करते हैं।

प्रश्न—नूतन की उद्भावना तुलसी में अधिक थी या सूर में? इसके कारण उनकी कृतियाँ जनता में और कवियों में क्या नवीनोन्मेष ला सकीं?

उत्तर—तुलसी और सूर दोनों ही सहज महाकवि थे। नूतन उद्भावना ही उनकी प्रतिभा का मूल आधार है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम को एक नवीन और अटल स्वरूप दिया। उनके प्रत्येक पात्र तथा उनकी प्रत्येक घटना उनकी मौलिक उद्भावना को प्रकाशित करती है। उसी प्रकार सूरदास जी ने कृष्ण को काव्य में अमर और अनुपम व्यक्तित्व दिया। दोनों कवि महान् हैं। जब हम केवल नूतन उद्भावना की दृष्टि से दोनों कवियों की तुलना करते हैं तो महात्मा सूरदास जी ही बढ़ते दिखाई पड़ते हैं। इस कथन के प्रमाण इस प्रकार होंगे।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने जो विषय लिखा है उसमें मधुकरी वृत्ति रखी। सारी वनस्थली के पुष्पों का रस लेकर ऐसा शहद तैयार किया कि गुण तो सब उसमें आये पर बनी बिलकुल नवीन वस्तु। जिस प्रकार शहद में फूलों की गंध, मिठास, रंग आदि नहीं होते, उसी प्रकार गोस्वामी जी का काव्य बिलकुल नवीन बन कर आया। फिर भी यदि ध्यानपूर्वक देखें तो उसमें मौलिक उद्भावना न होकर संग्रह है। गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं मामूली मोड़ मात्र दिया है, जैसे परशुराम सम्वाद को रास्ते में न दिखाकर जनक-सभा में करवाते हैं। अहिल्या आदि के तारने में राम का ईश्वरत्व प्रदर्शन कर देते हैं। उनके सारे प्रवचन स्मृति, पुराण, शास्त्र तथा पूर्ववर्ती राम-कव्यों के कथनों के अनुवाद ही हैं। उनके सभी प्रसंग कहीं न कहीं उनके

पूर्व मिल जाते हैं। सूरदास में बात ठीक उल्टी है। उन्होंने बाहर से कम प्रसंग लिये हैं, अपने में से अधिक निकाले। श्रीमद्भागवत को उन्होंने अपने सूर-सागर का आधार कहा अवश्य है पर उसमें अनुसरण नहीं है। उन्होंने सूरसागर के कृष्ण को भागवत के कृष्ण से सर्वथा भिन्न रचा। भागवत धर्म की पुस्तक है। उसमें कृष्ण, भू भार उतारने वाले, दुष्टों को नष्ट करने वाले हैं पर सूर सागर शुद्ध साहित्यिक ग्रन्थ है। इसमें कृष्ण लीलामय है। कृष्ण के ईश्वरीय कृत्यों को भी सूरदास जी ने लीला के आवरण में छिपा रक्खा है। उदाहरण के लिये दावानल पान, कालियदमन आदि में उनका ईश्वरत्व प्रकट होता है। उनके सखा कृष्ण के ईश्वरत्व को देखकर विस्मय में पड़ कर श्रद्धाभाव से अभिभूत हो जाते हैं। परन्तु तुरन्त ही कृष्ण भोजन खाने पर डट जते हैं। खाने में उसकी छीना-झपटी ऐसी आरम्भ होती है कि वे अपनी ठगोरी से गोपों के पूर्व भाव को समाप्त कर उन्हें असली दशा में ला देते हैं। यद्यपि सूर सागर के प्रसंग वही हैं जो श्रीमद्भागवत के, पर उनके रूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सूरदास जी ने किया है। भ्रमरगीत का प्रसंग इसका प्रमाण है। भ्रमर भागवत् में भी आता है तथा भ्रमर सम्बन्धी कुछ उक्तियाँ भी वहां हैं, पर ऐसे सरस और काव्यमय प्रसंग की अवतारणा महात्मा सूरदास की ही प्रतिभा की वस्तु थी।

सूरदास जी गोस्वामी तुलसीदास जी से पूर्व हुए थे। सूरदास जी के लोकप्रिय गीतों को देख कर तुलसीदास जी ने भी गीतावली की रचना की। गीतावली लिखते समय तुलसीदास के पास महाकाव्यत्व का दृष्टिकोण नहीं था। गीतों में कोमल और मर्मस्पर्शी प्रसंग उन्हें लेने थे। उन्होंने सूरदास की शैली पर पद रचना की थी पर जिन प्रसंगों पर सूरदास जी ने अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया, वहाँ पर तुलसीदास जी के आगे जाने की कौन कहे, वे अनुसरण तक न कर सके। उदाहरण के लिए तुलसीदास जी ने भी गीतावली और कवितावली में राम का बाल वर्णन किया है, पर उसमें केवल रूप वर्णन मात्र है। बाल-चेष्टाओं तथा बाल मनोविज्ञान का वह मनोहारी और विस्तृत रूप उसमें नहीं मिलता। संकुचित क्षेत्र में ही जो विस्तार सूरदास जी प्रस्तुत करते हैं उसका मूल कारण था उनकी उद्भावना

शक्ति की तीव्रता । तुलसीदास जी बहुश्रुत और बहुज्ञ थे इस कारण उनकी मौलिक उद्‌भावना उनके बाह्य ज्ञान के घेरे में आ जाती थी पर सूरदास जी को बाह्य-ज्ञान से कुछ मतलब न था, वे तो स्वयं जो कुछ अपने भीतर ही देखते उसी का प्रकाशन करते थे ।

तुलसीदास जी बाह्य आलोचकों की ओर से भी सजग थे । मानस के आरम्भ में ही उन्होंने अपना नम्र निवेदन प्रस्तुत किया कि—

कवि न होऊँ नहीं चतुर कहाऊँ, मति अनुरूप राम गुन गाऊँ ।
कवित विवेक एक नहीं मोरे, सत्य कहहूं लिखि कागज कोरे ॥

साथ ही साथ नम्र भाव में उन्होंने अपने आलोचकों की भी व्यंजना से अच्छी खबर ले ली । इससे स्पष्ट है कि उन्हें आलोचकों से कुछ न कुछ भय था । इसीलिए उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसके लिए काफी प्रमाण रख लिया । यही कारण है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति किसी न किसी ग्रन्थ पर आधारित है ।

सूरदास जी अपने मन के मौला थे । उन्हें लोकापवाद का कोई भी भय नहीं था । इसीलिए वे तो कृष्ण सम्बन्धी अश्लील वर्णन से भी न हिचके । राधा का नख-सिख वर्णन भी कर गये । वे तो प्रतिदिन कुछ पदों की रचना अवश्य करते थे । शैली का भेद ही उन्हें अपने गीतों में रखना था; क्योंकि विषय तो उनका विस्तृत था नहीं । उनके दृष्टकूट हिन्दी में बिलकुल ही नवीन हो कर आए । कृष्ण की रूप माधुरी आदि सर्वथा नवीन हैं ।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सूरदास का क्षेत्र बहुत ही सीमित था, गोस्वामी तुलसीदास की भांति न तो उनके पास अपने इष्टदेव का विस्तृत जीवन था और न उनके पास जगत् के व्यापक आदर्श रखने को थे; फिर भी वे अपनी उद्‌भावना के बल पर सूरसागर जैसा महान् ग्रन्थ रच गये । विषय और शैली दोनों में ही उन्होंने किसी का अनुसरण नहीं किया । सब प्रकार से नवीन रहे । गोस्वामी तुलसीदास जी भी महान् प्रतिभा और नूतन उद्‌भावना के सहज कवि थे, पर वे जगत् की ओर सतर्क दृष्टि रखते थे । इस कारण उन्होंने संचय अधिक किया । अपनी नवीन वस्तु लोगों के सम्मुख न रक्खी, उनका ग्रन्थ उनके समय तक प्राप्त धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक मूल्य-

बान् सामग्रियों का सुन्दर संकलन हो गया। शैली में भी उन्होंने कोई नवीनता न लाकर उस समय तक प्राप्त समस्त शैलियों में अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। इसीलिए हम कहते हैं कि व्यक्तिगत रूप से सूर में तुलसी से नूतन उद्‌भावना अधिक थी।

जनता को नवीन उद्‌भावना से कोई विशेष मतलब नहीं, उसे तो उपयोगी वस्तु चाहिये। यदि कोई व्यक्ति समस्त आवश्यक सामग्री को एक स्थल पर दे दे तो वे अधिक कृतज्ञ होंगे। गोस्वामी जी ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि—

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।"

अर्थात् उन्होंने तो सभी पुराण, शास्त्र, वेद तथा अन्य स्थलों से ही सामग्री लेकर रामायण में रख दी। यही कारण है कि रामायण ही सभी धर्म ग्रंथों का सारग्रंथ बन गया। सभी ज्ञातव्य बातें एक स्थल पर पाकर जनता ने रामायण का हृदय से अभिनन्दन किया और मृतप्राय हिन्दू जनता को नवजीवन मिला। मानस के आश्वासन को पाकर लोगों में आत्मबल भी आ गया। रामायण का परायण करके लोग भव-सागर पार करने की इच्छा करने लगे। राम-लीलायें होने लगीं। कवियों को भी गोस्वामी जी ने नवीन मार्ग प्रदर्शन किया। काव्य-प्रणयन के साथ ही लौकिक दृष्टि भी आवश्यक है। कल्पना भी निरंकुश न हो। 'स्वान्तःसुखाय' कविता 'लोक हिताय' भी हो। कला की महत्ता तभी है जब उसके द्वारा स्वस्थ मनोरंजन हो और उससे समाज का हित हो। परवर्ती काल यद्यपि रीति और शृंगार-प्रधान हुआ, कवियों ने तुलसीदास जी का अनुसरण कम किया फिर भी नीति के दोहों की रचना की पद्धति सी चल पड़ी। भावुकता और आदर्श का सम्बन्ध तो परवर्ती कवियों में कम अवश्य हुआ पर तुलसीदास जी प्रेरक अवश्य बने।

सूरदास जी की उद्‌भावना काव्य की प्रेरक शक्ति ही बन गयी। उनके काव्य का विषय तथा शैली परवर्ती कवियों को बहुत भायी। प्रेम और विरह जिसमें किसी प्रकार का अंकुश नहीं है, काव्य के विषय बने। काव्य की

कलात्मकता, आलंकारिकता, और शब्द की मिठास जो सूरदास की शैली के प्रमुख अंग थे, परवर्ती अगणित कवियों के काव्यादर्श बन गये। जन-साधारण तो सूर काव्य से विशेष प्रभावित न हुआ, उसे तो कोई विशेष नवीन विशेषता न मिली पर कवियों ने तो सूरदास का ही अनुसरण किया।

प्रश्न २१—गीत काव्य का क्या लक्षण है ? इस दृष्टिकोण से सूरदास, मीरा तथा तुलसीदास के काव्य की तुलना कीजिये।

उत्तर—श्री महादेवी जी के शब्दों में "सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का स्वर-साधना के उपयुक्त गिने-चुने शब्दों में चित्रण कर देना ही गीत है।" गीत में कवि अपना ही सुख-दुःख की भरता है, अपने के अतिरिक्त और किसी की ओर नहीं देखता, इसीलिये गीति-काव्य में न तो कोई बाह्य विषय होता है और न कोई प्रबन्ध। प्रत्येक गीत मुक्त और अपने में पूर्ण होता है। हृदयाङ्कन होने के कारण उसमें केवल मधुर तथा कोमल भावों का चित्रण होता है। इस प्रकार गीति-काव्य में अपेक्षित है—मुक्तक गेय-पदत्व, इतिवृत्तशून्यता, आत्माभिव्यंजन, केवल कोमल और सरल भावों का चित्रण भाषा का प्रसाद-गुण और रसात्मकता।

सूरदास जी के समस्त पद गेय हैं। स्वर-साधना के उपयुक्त पदों में रचना होने से संगीतज्ञों में उनके पद बहुत प्रचलित हैं। प्रत्येक पद मुक्तक है, एक का दूसरे से लगाव नहीं है। कृष्ण का सौन्दर्य और शृङ्गार वर्णन ही उनके विषय होने के कारण केवल मधुर भावों का चित्रण हुआ है। समस्त सूरसागर में उनकी भक्ति की व्यंजना है। परन्तु उनका आत्माभि-व्यंजन केवल विनय पदों को छोड़कर प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है। वे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हैं, अपनी बात नहीं कहते। कहते भी हैं तो अंतिम चरण में संकेत रूप से। जैसे—"सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो।" इस प्रकार सूरदास जी के गीतों में इतिवृत्त भी बहुत आ गया है और कृष्ण जी की लीलाओं की प्रधानता के कारण आत्माभि-व्यंजन जो गीतिकाव्य की आत्मा है, गौण हो गया है।

मीरा के पदों में गीति-काव्य में अपेक्षित सभी अङ्ग विद्यमान हैं। कृष्ण के सम्बन्ध में भी वह बहुत कम कहती हैं। सदा अपना ही आत्मनिवेदन

करती हैं। कभी अपना दर्द सुनाती हैं। तो कभी चाकर रखने की प्रार्थना करती हैं। कभी राम नाम रस पीती हैं, कभी विरह में दीवानी होती हैं, कभी स्वप्न की चर्चा करती हैं। तात्पर्य यह कि समस्त पदावली में आत्माभिव्यजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? गेयपदत्व तो है ही। मीरा स्वयं गायिका थीं। समस्त पद मुक्तक और अपने में पूर्ण हैं। रसात्मकता इतनी है कि श्रोता सुन कर आज भी मीरा का ही सा भाव अनुभव करने लगता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली और विनयपत्रिका की रचना गेय पदों में की है। गीतावली में इतनी इतिवृत्तात्मकता है कि गेय पदों में पूरी रामयण ही है; केवल एक पंक्ति को छोड़कर कहीं भी कवि अपनी बात नहीं करता। विनयपत्रिका अवश्य ही आत्माभिव्यंजन के लिए लिखी गयी है। परन्तु पत्रिका का स्वरूप देने के कारण ससस्त पुस्तक में विचारों की एक लड़ी सी बन्धी हुई है। प्रत्येक पद स्वतन्त्र होते हुए भी तारतम्य के साथ है। कवि अपना खुला हृदय लिए हुए "तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी" के रूप में अपनी दीन दशा का चित्रण करता है। परन्तु विनीत की चरम भावना तथा राम दरबार में पत्रिका उपस्थित करने की कल्पना के कारण वह यहाँ भी अपना वह सच्चा और स्वाभाविक प्रकाशन नहीं कर सका है जो मीरा ने किया है। साथ ही विचारधारा अधिकांश पदों में ऐसी संश्लिष्ट गूढ़ हो गई है कि साधारण जनों के गाने की वस्तु नहीं रह गई। आरम्भिक स्तोत्र तो संस्कृत ही हो गए हैं, भाषा और भाव दोनों ही का काव्य पथ पर इतना अभ्यस्त स्वरूप पत्रिका लिखने के समय बन चुका था कि गोस्वामी जी कल-कल ध्वनि करने वाला उथला पर पारदर्शक जल-स्रोत नहीं उपस्थित कर सकते थे। वे तो रत्नों से भरे अपार जल-राशि को ही जनता के लिये छोड़ गए।

इस प्रकार गीति काव्य की दृष्टि से हिन्दी के प्राचीन काव्य में मीरा, सूर और तुलसी के स्थान क्रमशः ही होंगे।

प्रश्न २२—"सूर के पदों में कलापक्ष एवं हृदयपक्ष दोनों का प्राय

एक ही भांति प्राबल्य है किन्तु मीरा की रचनाओं में हृदय-पथ की ही प्रधानता है।" इस कथन की आलोचना कीजिये। (सं० २००५)

उत्तर—महात्मा सूरदास जी गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति केवल भक्त न होकर साथ ही साथ कवि भी थे। यद्यपि उनकी रचना का प्रधान उद्देश्य अपने भक्ति-भाव का प्रकाशन था या उस प्रकाशन में कवि-कर्म की प्रवृत्ति भी सचेष्ट थी। सूरदास जी विद्वान् थे, उन्हें काव्य-परम्पराओं तथा काव्य शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था। भावोन्मेष की अवस्था में जब वे सहज हृदयोद्गार को अपने इष्टदेव के सम्मुख उपस्थित करते थे तो उसे काव्यमय भी बनाते थे। सूरदास जी ने कृष्ण-जीवन के कुछ सीमित क्षेत्र के भीतर ही सवा लाख पद की रचना की। एक ही प्रसङ्ग के जो अनेक पद वे रचते थे, प्रत्येक में काव्य-दृष्टि रख कर भिन्न-भिन्न रूप में काव्यशास्त्रीय कला का निर्देश करते थे। एकनाथ जी की मूर्ति के समक्ष खड़े हुए सूरदास जी जब उनकी रूप-माधुरी में तल्लीन होते थे तो उनके अङ्ग-प्रत्यंग पर उपमाओं की सृष्टि करने में जुट जाते थे।

"वरनौं बाल भेरु मुरारी।
सीस पर धरे जटा मानो रूप किए त्रिपुरारि।"

शिव का स्मरण आते ही शिव का साङ्ग रूपक उपस्थित हुआ और शङ्कर जी के सरल, त्रिनेत्र, मुण्डमाल, चन्द्र, विभूति सभी के उपमान उपस्थित हो गए। पर एक रूपक से क्या होता है। दूसरा रूपक "देखो माई सुन्दरता कौ सागर" प्रस्तुत हो गया।

"तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि कटि पट-पीत तरंग आदि।

सांग रूपकों से भी पेट न भरा तो प्रत्येक अङ्ग के लिए पृथक्-पृथक् उपमान देने लगे—

"जानु जंघ सुघर निकाई नाहिं रंभा तूल,
पीत पट काछनी मानहुं जलज केसरि भूल॥"

मीरा में भी भक्ति-भावना सूर के ही सदृश थी। वह भी अपने गिरधर के समक्ष जब खड़ी होती है तो तन-मन भूल जती है। अपने हृदयोद्गारों के रूप में वह भी हठात् गिर पड़ती है। पर मीरा को सूरदास जी की भाँति

न तो काव्य-शास्त्र का ज्ञान था और न उसे सचेष्ट भाव से अपने हृदयोद्गारों को काव्य पद्धति में प्रकट करना था। वह भी बोल उठी—

"बसो मेरे नैनन में नन्दलाल ।।
मोहिनी मूरति सांवरि सूरति नैना बने बिसाल,
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुरसबद रसाल ।।

स्पष्ट है वह कृष्ण के अङ्गों के नाम-मात्र गिना गई। सूरदास जी की आलंकारिक पद्धति से वह बिल्कुल ही अनभिज्ञ है।

सूरदास जी को अपने विरह निवेदन के लिए भ्रमर-गीत प्रसङ्ग का सहारा लेना पड़ा। सूरदास जी को पता था कि कथानक का सहारा महाकाव्यत्व के लिए उपयोगी होता है। भ्रमर-गीत के उपालम्भ में वे लक्षणा और व्यंजना के द्वारा ही अपने विचारों का प्रकाशन करते हैं। सूरदास जी के विरह निवेदन में सीधी वाणी न होकर काव्य-पद्धति वाली वाणी है। सूर की गोपियाँ विरह-निवेदन में अभिधा का प्रयोग न करके कहती हैं—

निसदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब से स्याम सिधारे।"

तथा

"बिनु गुपाल बैरिनि भई कुंजैं,
तब ये लता अति शीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।"

तात्पर्य यह है कि कभी पावस ऋतु, कभी कुंज, कभी गायें, कभी नागिनि-काली रात आदि के काव्योपयुक्त उपमाओं के द्वारा ही कवि-विरह निवेदन करता है। पर मीरा जी यह कव्योपयुक्त पद्धति नहीं जानतीं। वे तो सीधे कहती हैं—

'मैं हरि बिन क्यूँ जिऊँ री माय।
पिय कारण बौरी भई; ज्यूँ काठहि घुन खाइ।।"

तात्पर्य यह कि सूर की रचना में काव्यशास्त्र के अनुरूप वात्सल्य, संयोग तथा वियोग शृंगार, वीर, भयानक आदि रसों के उदाहरण भरे हैं। प्रत्येक में शास्त्रीय विभाव, अनुभाव, संचारी, सात्विक आदि का पूर्ण विवेचन प्राप्त

होता है। साथ ही उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि अलंकार की झड़ी प्रत्येक पंक्ति में ही मिलती है। शब्द योजना भावानुरूपिणी है। उसमें भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय है। सूरदास जी के दृष्टिकूट में उनकी काव्य-रूचि और भी अधिक प्रधान हो जाती है उधर मीरा "तन मन की सुधि भूली दरद दिवाणी" बन-बन घूम रही थी। इन्हीं से सीधे अपनी कथा कह रही थी। उस में हृदयोद्गारों की ही रसात्मकता है। उसमें 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' के रूप में रस न मिलेगा। अनायास ही अनुभाव, संचारी आदि आजायें तो आजायें। अलंकारों की भी दशा यही है। वह तो जानती भी न थी कि उसके हृदयोद्गार जो निकल रहे हैं कभी 'कविता' नाम से पुकारे जायेंगे और उनका पोस्टमार्टम करके आलोचक उसमें शब्द-शक्ति रस, अलंकार और गुण-दोषों को खोजेंगे।

रीति-काव्य

ग्रन्थ-परिचय

१. बिहारी बोधिनी—इस ग्रंथ में लाला भगवानदीन ने बिहारी सतसई का सम्पादन किया है और उसकी टीका की है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि दीन जी ने बिहारी लाल जी के दोहों का वर्गीकरण विषय क्रम से किया है। जैसे—भक्ति, नीति, नायिका भेद, ऋतुवर्णन, विरह, संयोग आदि। इससे एक ही विषय के दोहे एक ही स्थान पर मिल जाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि दीन जी ने टीका बड़ी सुन्दर लिखी है। सरल शब्दों में अच्छा भाव-स्पष्टीकरण है। दीन जी काव्य-शास्त्र के अच्छे विद्वान् और श्रेष्ठ अध्यापक थे। बिहारी के परम पक्षपाती थे। फलतः वे बिहारी के भावों को अच्छी प्रकार समझते थे। बात केवल एक है कि उन्हें बिहारी के प्रति पक्षपात-सा हो गया था; अतः जो बिहारी के गुण हैं उन्हें उन्होंने प्रकाशित किया ही है, पर जो दोष भी औरों की दृष्टि में हैं उनके लिए भी दीन जी ने गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। टीका के साथ उनकी भाव-सम्बन्धी संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी हैं, इनसे बिहारी के काव्य-सौंदर्य पर प्रकाश पड़ता है।

टीका की तीसरी विशेषता यह है कि 'दीन' जी अलंकार-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता और अध्यापक थे ही, उन्होंने बिहारी के प्रत्येक दोहे में प्राप्त अलंकार भी बताये हैं।

बिहारी की जितनी अधिक टीकायें निकलीं उतनी रामचरित मानस को छोड़कर किसी और ग्रन्थ की न निकलीं। स्वर्गीय रत्नाकर जी की टीका 'बिहारी-रत्नाकर' अवश्य ही 'दीन' की टीका से अधिक विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण है; फिर भी 'दीन' जी की 'बिहारी-बोधिनी' आज तक बिहारी सतसई की टीकाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बिहारी-रत्नाकर के प्रकाशित हो जाने पर भी बिहारी बोधिनी अपना स्थान पूर्ववत् ही बनाए हुए है।

२. कवित्त-रत्नाकर—कविवर सेनापति जी के दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—काव्य-कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। काव्य-कल्पद्रुम अभी तक प्रकाशित नहीं मिलता। कवित्त-रत्नाकर को प्रयाग-विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् ने प्रकाशित किया है। श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० ने डा० धीरेन्द्र वर्मा के पथ-प्रदर्शन में इस ग्रंथ का सम्पादन किया और भूमिका और टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया।

कवित्त रत्नाकर में पाँच तरंगें हैं—१. श्लेष वर्णन २. शृङ्गार वर्णन, ३. ऋतु वर्णन, ४. रामायण वर्णन, ५. राम रसायन वर्णन।

श्लेषवर्णन—सेनापति जी को शब्द-चमत्कार प्रिय था। शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ को लेकर उसमें अलंकार और सौंदर्य की सृष्टि करना ही वे कवि-कर्म मानते थे। साहित्य शास्त्र में श्लेष अलंकार माना गया है, वह शब्दालंकार भी होता है और अर्थालंकार भी। शब्द-श्लेष वहाँ होता है जहाँ दो या दो से अधिक अर्थ एक ही शब्द या पद से निकलें और इन भिन्न अर्थों का आधार प्रयुक्त शब्द ही हो, यदि हम उस शब्द को बदल कर उसका पर्यायवाची कोई शब्द रख दें तो अनेक अर्थ न बन सकें। पर अर्थालंकार तब होता है जब पद में प्रयुक्त शब्द के पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी पद के भिन्न-भिन्न अर्थ होते रहें। सेनापति के श्लेष-वर्णन में शब्द श्लेष ही मिलते हैं, चमत्कार पदों में प्रयुक्त शब्दों पर ही निर्भर है, शब्दों के बदलने पर भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति नहीं होती।

इनके श्लेष वर्णन में दूसरी विशेषता यह है कि इनमें श्लेष एक शब्द तक में ही सीमित नहीं रहता वरन् सम्पूर्ण पद में एक विचारधारा का रूपक होता है। पद के अन्तिम चरण में श्लेष का स्पष्टीकरण होता है, ऊपर के तीन चरणों में श्लेष द्वारा अन्तिम चरण का प्रतिपादन होता है। जैसे—

नाहीं नाहीं कहै थोरी माँगे सब दैन कहैं,
मंगन को देखि पट देत बार बार हैं।
जिनको मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं।

भोगी ह्वै रहत विलसत अवनी के मध्य,
कन-कन जोरें दान पाठ पर वार हैं,
सेनापति वचनन की रचना विचारौ यामें,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं ॥"

इस पद के अन्तिम चरण में कहते हैं कि दाता और सूम (कृपण) समान हैं। ऊपर की तीनों पंक्तियों के प्रत्येक शब्द में श्लेष है, सभी शब्द दाता और कृपण दोनों अर्थों में घटित होते हैं। दाता के अर्थ में होगा—'नहीं'-नहीं करते, थोड़े माँगने पर सब कुछ देने को कहते हैं। कृपण अर्थ में इसी पंक्ति का अर्थ होगा 'नहीं नहीं' करते रहते हैं, थोड़ा ही माँगने पर भी 'दै' (देने) को नहीं कहते। 'पट' का अर्थ दाता पक्ष में वस्त्र और कृपण पक्ष में दरवाजा (बन्द करना), घटी का अर्थ दाता पक्ष में घड़ी (समय) और सूमपक्ष में कमी, भोगी—दाता पक्ष में ऐश्वर्यवान् और सूमपक्ष में सर्प, कन-कन, दाता पक्ष में कनक-न, और सूम पक्ष में कन-कन हैं। तात्पर्य यह है कि सभंग पद (शब्द तोड़ कर) तथा अभंग पद दोनों प्रकार के शब्द-श्लेष इनमें मिलते हैं और इस प्रकार दोहरे अर्थों का चमत्कार प्रस्तुत करना ही सेनापति का उद्देश्य है। इस चमत्कार के लिए सेनापति जी को शब्दों को बड़ा तोड़ना-मरोड़ना पड़ा है और अनेक स्थानों पर अर्थ बड़ी कठिनाई और खींचतान से भी लगते हैं। सेनापति जी को अपने इस चमत्कार पर गर्व था और उन्होंने इसके लिए प्राय: प्रत्येक पद के अन्तिम चरण में गर्वोक्ति का संकेत भी किया है। यद्यपि वास्तव में इसमें कोई खास कवित्व की बात न हो कर शब्दों की जोड़-जाड़ मात्र ही है। इससे भाव विकृत हो जाते हैं, जिन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गये हैं उनमें उपमेय और उपमानों में कोई सादृश्य नहीं रह जाता। भाव विशृंखल और अशोभन भी हो जाते हैं।

शृंगारवर्णन—सेनापति का शृंगार-वर्णन हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के शृंगार-वर्णन की ही भाँति है। उसमें आलम्बन, उद्दीपन, नखशिख तथा नायिका-भेद के पद हैं। संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का निरूपण है। नायक के स्थान पर कृष्ण का नामोल्लेख है।

इस तरंग का आरम्भ नेत्रों की सुन्दरता से होता है। आलंकारिक पद योजना से प्रत्यंग का शृंगारिक वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन अधिक है। इन वर्णनों में केशव और विद्यापति के अनेक भाव सेनापति में बड़ी सुन्दरता के साथ रखे गये हैं। रूप वर्णन ही आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में मिलता है। नख-शिख में परम्परा प्राप्त अंग, नयन, वेणी, कपोल, कुच, एड़ी तक सटकारे केश, महावर आदि का ही उल्लेख है। नायिकाओं के कुछ प्रमुख भेदों को जैसे—मुग्धा, खंडिता, बचन-विदग्धा, प्रौढ़ा आदि चुनकर उनके अनुरूप पद रचना की है।

इन शृंगार-वर्णनों में इन्होंने परम्परा का ही वर्णन किया है, विद्यापति की भाँति इन्होंने खुला-शृंगार निरूपण किया है। बहुत से व्यक्ति उसमें अश्लीलत्व की गंध पाते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। काव्य के शृंगार-वर्णन में अश्लील उसे नहीं माना जाता जहाँ कुच, नितम्ब या काम का उल्लेख होता है, यह तो शृंगार निरूपण में आवश्यक और अनिवार्य है। शृंगार शास्त्र और कामशास्त्र अंगाङ्गी हैं। विना काम-शास्त्र के शृंगार-शास्त्र ही नहीं बन सकता है। अश्लील तो काव्य का एक दोष है जो कि केवल वहीं होता है जहाँ कोई अनुचितार्थ, व्रीड़ा का कथन हो। सेनापति या विद्यापति के शृङ्गार वर्णन में ऐसी बात नहीं है। सेनापति जी ने संयोग शृङ्गार में बाह्याङ्गों का जितना वर्णन किया है उतना मानसिक अवस्थाओं का नहीं। विरह वर्णन में अवश्य ही मनोभावों का चित्रण सुन्दर किया है। शृंगार तरंग में भी अनुप्रास तथा अन्य अलंकारों की ओर उनकी सचेष्ट दृष्टि रही है। काव्य पक्ष की दृष्टि से शृङ्गार-तरंग श्लेष तरंग की अपेक्षा अधिक सुन्दर है।

ऋतु-वर्णन—सेनापति ने ऋतु-वर्णन को काफी प्रधान रूप में किया है। उनकी प्रवृत्ति शृंगारिक थी अतः उनका ऋतु-वर्णन अधिकांश उद्दीपन के रूप में ही हुआ है, फिर भी उन्होंने ऋतुओं को लिया आलम्बन रूप में ही है। वर्णन करते समय उनका उद्देश्य तो ऋतुओं का निरूपण ही था पर जब वे उसका वर्णन करने लगे तो काव्य-परम्परा में बह गये। उनके पूर्व संस्कृत और हिन्दी में अधिकांश प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में ही था,

इसी का प्रभाव सेनापति पर भी पड़ा। वे भी प्रकृति के वर्णन में संयोग और वियोग की विभिन्न परिस्थितियों, मनोदशाओं और उद्दीपक उपकरणों को प्रकट करने लग लये। अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि ने प्रकृति के रम्य रूपों का वर्णन करना आरम्भ किया है पर उद्दीपन की भावना अज्ञात रूप से आ गयी है। पावस, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं के वर्णनों में कवि अधिकतर तो प्रकृति का ही वर्णन करता है पर एकाध पंक्ति ही उद्दीपन का स्वरूप बना देती है। जैसे—

दामिनी दमक सुरचाप की चमक, स्याम,
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला, कलापी, कल कूजत हैं जित तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तैं॥

यहाँ तक तो शुद्ध प्रकृति वर्णन है पर आगे चलकर इसे वे उद्दीपन रूप देते हैं। यह प्रकृति विरह को बढ़ाने वाली बन जाती है—

सेनापति आवन कह्यौ है मनभावन सु,
लाग्यो तरसावन विरह-जुर जोर तैं -
आयो सखी सावन, मदन सरसावन,
लग्यो है बरसावन सलिल चहुं ओर तैं॥

सेनापति के ऋतु-वर्णन में अलंकार-वृत्ति की बड़ी प्रधानता है। अनुप्रास के बिना तो कोई पंक्ति लिखना उनकी शान के खिलाफ था। उपमा और उत्प्रेक्षाएँ भी उनके वर्णन का लक्ष्य बन गयी हैं। आचार्य केशवदास का बहुत-सा प्रभाव इस प्रवृत्ति में मिलता है। केशवदास जी की भांति इन्होंने अलंकारों के लिये अपने प्रकृति-वर्णन को विकृत तो नहीं किया पर अलंकार इतने प्रधान बन गये हैं कि प्रकृति चित्रण अनेक स्थलों पर गौण हो गया है। जैसे—

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं विसाल संग
स्याम रंग भेंटि मानों मसि में लगाये हैं।
तहाँ मधुकाल आइ बैठे मधुकर पुंज,
मलय पवन उपवन बन धाये हैं।

सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आये हैं।
आधे अन सुलगि रहे आधे माना,
विरही दहन काम क्वैला परचाये हैं।

रामायण वर्णन—इसमें राम-कथा पर कुछ पद हैं। इनमें राम-चरित की कथा तो सारी है पर कुल ७६ ही छंद हैं, अतः समग्र राम-कथा हो ही क्या सकती है। फिर भी राम-काव्य की एक कड़ी अवश्य है। इसमें कथा का आधार उन्होंने वाल्मीक रामायण को ही बनाया है, तुलसी-रामायण का कोई प्रभाव उस पर लक्षित नहीं होता। पदों को मुक्तक भी मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं। काव्य दृष्टि से इसमें उतना चमत्कार और काव्यत्व नहीं है जितना प्रथम तीन तरङ्गों में।

राम-रसायन वर्णन—इसमें कवि ने राम के ईश्वरत्व और माहात्म्य का निरूपण किया है तथा शिव और गंगा के सम्बन्ध में सुन्दर छन्द लिखे हैं। इसमें कवि की भक्ति-भावना दिखाई पड़ती है। रामायण तथा-राम-रसायन के कारण हमें मानना पड़ता है कि सेनापति जी प्रधानतया भक्त थे। यदि यही दो तरंगें न होतीं तो सेनापति जी भी देव, बिहारी और मतिराम की भांति रीतिकालीन कवि ही समझे जाते। भाव और भाषा दोनों में इन पर विद्यापति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। विद्यापति की भांति इन्होंने भी अपने शृंगार-काव्य का आलम्बन कृष्ण को और भक्ति-काव्य का आलम्बन शिव, गंगा और राम को बनाया है।

देव-दर्शन—इस पुस्तक में व्रज-भाषा के आधुनिक प्रसिद्ध कवि श्री हरदयालुसिंह जी ने महाकवि देव के निम्नलिखित प्रसिद्ध ग्रन्थों के कुछ पदों का संग्रह किया है।

१. भाव विलास—यह देव जी की प्रथम रचना थी जिसे उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में ही लिखा था। इस पुस्तक में रस और अलंकारों का निरूपण है। रसों में शृंगार रस का ही विस्तृत विवेचन इसमें है। अन्य रसों में तो केवल नामोल्लेख हैं। शृंगार के हाव, भाव और नायिका भेद, उद्दीपन, संचारी आदि के लक्षण और उदाहरण विस्तार से

प्रस्तुत किये गये हैं । इसी प्रकार ३९ अर्थालंकारों का भी विवेचन है । इसमें उन्होंने लक्षणों में आचार्य मम्मट के लक्षणों का ही अनुवाद कर दिया है, पर उदाहरण सारे ही मौलिक हैं । प्रस्तुत संग्रह में भाव-विलास का संग्रह रीति-ग्रन्थ के रूप में न होकर मुक्तक-पदों के रूप में है । भाव-विलास के उदाहरण वाले छन्द तो सम्पादक ने देव की कविता की बानगी में चुन रखे हैं । इसमें संयोग और वियोग दोनों प्रकार के छन्द हैं । 'देव' जी को जितना संयोग प्रिय था उतना वियोग नहीं, अतः उनकी रचना में भी वियोग के पद अपेक्षाकृत कम हैं, इस संग्रह में भी यही बात है । देव के संयोग शृंगार के पद अनेक लोगों की दृष्टि में अश्लीलता के निकट पहुँच जाते हैं, अतः इस संग्रह का छन्द नं० ९ "सुनि के धुनि चातक मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों" ही परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । छन्दों की संख्या ८० है ।

२. **अष्टजाम**—यह पुस्तक देव जी ने औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को सुनाई थी । आजमशाह विलासी था अतः उसने इस पुस्तक को पसन्द किया । इसमें विलासपूर्ण दिनचर्या मात्र है । इसमें भी संयोग शृंगार की ही प्रधानता है जो अश्लीलता के निकट पहुँचती है । इसके २० छन्दों में भी केवल एक ही पद परीक्षार्थी को द्रष्टव्य है, वह है छन्द संख्या ९८ जिसमें खंडिता का काव्यमय वर्णन है—

"वा चकई को भयो चित चीती चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची ।"

३. **भवानी विलास**—इस ग्रन्थ में भी रस और नायिकाभेद ही है । इसके ८ विलास हैं जिन में ७ विलासों में नायिका भेद है, आठवें विलास में अन्य आठों रसों का वर्णन है । प्रस्तुत संग्रह में सभी छन्द शृङ्गार रसान्तर्गत नायिका भेद के ही हैं । काव्य की दृष्टि से कई पद उत्तम हैं पर परीक्षा की दृष्टि से कोई पद विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता । कुल छन्द ५० हैं ।

४. **रस विलास**—नाम से तो मालूम होता है, कि इस ग्रन्थ में रस होगा पर वास्तव में इसमें भी नायिका भेद ही है । इसके आरम्भ में नारी का महत्त्वपूर्ण कथन है क्योंकि वही—"योग, मुक्ति और भोग के मूल काम" को तृप्त करने वाली है ।

"रमनी राका-ससिमुखी पूरै काम समुद्र।"

रस विलास में सात विलास हैं। इसमें नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीरगा, वनवासिनी, सैया, पथिक-वधू, ६ भेद दिये गये हैं। फिर इनके अनेक भेद कहे हैं। जाति (व्यवसाय), कर्म, गुरग, और देश के क्रम से भेदों का विस्तार है। इस ग्रन्थ में प्रौढ़ता काफी है, देव की शैली का स्वरूप इसके नवीन छन्दों में आकर परिपक्व हो गया है। प्रस्तुत संग्रह में ५४ छन्द हैं जिनमें पद संख्या ७ ही श्रेष्ठ है।

५. प्रेम-चन्द्रिका— इस ग्रंथ में रस विलास से भी अधिक प्रौढ़ता है। कवि वैचित्र्य और विस्तार से सिमिट कर गम्भीरता की ओर बढ़ा है। इसमें नारी की स्तुति के स्थान पर प्रेम का महत्त्व बताया गया है। शब्दों में व्यंजनाशक्ति अधिक है। इसमें चार प्रकाश हैं। पहले में प्रेम का वर्णन और महत्त्व है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के पांच भेद—सानुराग शृङ्गार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य हैं। तृतीय प्रकाश में मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम है। चौथे प्रकाश में प्रेम के चारों भेदों का क्रमशः गोपियों के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य आदि के द्वारा वर्णन है। काव्य की दृष्टि से प्रेम-चन्द्रिका देव का सबसे सरस ग्रंथ है, इसमें रीतिवद्धता भी सबसे कम है। संग्रह में ३७ छन्द हैं। कृष्ण-लीला सम्बन्धी अच्छे छन्द हैं। परीक्षा की दृष्टि से भी इसी के छन्द अच्छे हैं क्योंकि इसमें भाव पुनीत और कृष्ण से सम्बन्धित हैं। छन्द संख्या १८, २०, २६, २८, ३६, और ३७ द्रष्टव्य हैं।

६. सुजान विनोद—इस ग्रंथ में ऋतुओं के अनुसार नायिका भेद वर्णित हैं। शिशिर, वसन्त में शृंङ्गार की उत्पत्ति है जिसकी पात्र है मुग्धा, ग्रीष्म-वर्षा विनोद का समय है जिसकी पात्र मध्या और शरद, हेमन्त विलास तथा उत्सव का समय है जिसकी पात्र है प्रौढ़ा। सुजान-विनोद देव के प्रौढ़तम ग्रन्थों में से है। इसमें कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में गम्भीरता और शक्ति है। संग्रह में ३९ छन्द हैं, छन्द संख्या १९ में शृंङ्गार रस के उन्नीसों संचारी भाव एक ही पद में दिखाये गये हैं और कमाल यह कि विचार-शृंखला सुन्दर है। छन्द ३८ सद्यःस्नाता का साक्षात् और पूर्ण चित्र

है। परीक्षा की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

७. सुख सागर-तरंग—इसमें पार्वती, सीता, रुक्मिणी और वृषभानु नन्दिनी के सौभाग्य का वर्णन है। वसंत पंचमी और होली के सुन्दर वर्णन हैं। मानलीला के छन्द हैं, ऋतुवर्णन सुन्दर है, संग्रह में ४३ छंद हैं। इसका रसा छन्द बड़ा ही सुन्दर है, अपने अन्तर्गत ही वृन्दावन की रासलीला का साङ्ग चित्र-कल्पित किया गया है।

८. कुशलविलास—इसका भी वर्ण-विषय नायिका भेद है। यह ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं है। सम्पादक ने हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग की हस्तलिखित प्रति से ही ३६ छन्द चुने हैं। छंद भी साधारण ही हैं।

९. स्फुट कवित्त—इस वर्ग में ५१ छंद हैं। इसमें कई छंद तो दुबारा आगये हैं, जैसे छन्द सं० ७ और ५१। इन स्फुट छन्दों में सम्पादक ने अन्य ग्रंथों से सुन्दर छन्द चुने हैं। छंद संख्या ३ में सीता जी के विवाह के समय अटारियों पर बैठी हुई स्त्रियों का काव्यमय चित्र खींचा गया है। प्रथम छन्द में कृष्ण का नख-शिख वर्णन है।

संक्षिप्त रामचंद्रिका—इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १६५८ है। ग्रन्थ रचना का उद्देश्य बताते हुए केशवदास जी ने स्वंय लिखा है कि वाल्मीकि जी ने स्वप्न में दर्शन देकर राम काव्य लिखने को प्रेरणा की थी—

वाल्मीकि मुनि स्वप्न में दीन्हों दरसन चारु।
केसव तिनसों यों कह्यो, क्यों पाऊं सुखसारु॥

वाल्मीकि—भलो बुरो न तू गनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न रामदेव गाइ है। न देवलोक पाइ है॥

केशवदास जी ने रीति-ग्रन्थ लिखना तो१६४८ में आरम्भ किया था। प्रतीत होता है १० वर्ष बाद रामायण का जो प्रभाव युग पर था उसे देख कर उन्हें मानसिक विकलता हुई। जिसके फलस्वरूप उन्होंने उक्त स्वप्न देखा और प्रायश्चित्त के रूप में रामचन्द्रिका की रचना की—फिर भी उनमें धार्मिकता-प्रधान तुलसीदास की ओर झुकाव न हुआ। उन्होंने तो काव्य रचना के लिये वाल्मीकि जी के महाकाव्य रामायण को ही अपने वर्ण-वृत्त का आ..ार बनाया और चाहा यह कि काव्य के उपकरणों को लाकर उसे तुलसी के रामचरित-मानस से भी आगे बढ़ा दें। हनुमन्नाटक और प्रसन्न-राघव के गु..ों का भी

उन्होंने रामचन्द्रिका में लाने का पूर्ण प्रयास किया। ग्रन्थ में भक्ति भावना कहीं भी नहीं है। इसमें काण्ड नहीं हैं 'प्रकाश' हैं। कुल ३९ प्रकाश है, प्रत्येक प्रकाश में कथा भाग का नाम दिया गया है।

रामचन्द्रिका में भक्ति-दर्शन या लोकादर्शों पर दृष्टि है ही नहीं। उसमें तो केवल काव्य-दृष्टि है। आरम्भ में राम को ईश्वर अवश्य कहा है पर आगे उनके ईश्वरत्व का कहीं संकेत भी नहीं है। केशवदास जी आचार्य थे और आचार्य भी अलंकारवादी। छंद और अलंकार योजना को ही वे महा-कवित्व मानते थे। इसीलिए उन्होंने रामचन्द्रिका को छन्द और अलंकारों का अपूर्व उदाहरण ग्रन्थ बनाया। एक गुरु (ऽ) एकाक्षरी 'श्री' छंद से लेकर अनेक वर्णों और मात्राओं के छंद लिखे हैं। आरम्भ में तो क्रमशः एकाक्षरी द्व्यक्षरी, त्र्यक्षरी, चतुरक्षरी आदि छंद लिखे हैं। जैसे छंद शास्त्र की ही पुस्तक लिख रहे हों। छंदों में परिवर्तन बहुत अधिक है। छंद शास्त्र के प्राय; सभी छंद ग्रन्थ में मिलते हैं। अलंकारों के लिये ही उन्होंने पद लिखे और प्रयत्न पूर्वक अधिक से अधिक अलंकार एक-एक छंद में उन्होंने रक्खे हैं, एक-एक पद में १५–१६ अलंकार तक मिल जाते हैं। इसलिये यदि रामचन्द्रिका में प्रबन्ध-काव्य के गुण न देखकर केवल छंद-अलंकारों का उदाहरण ग्रन्थ माना जाय तो यह अपूर्व ग्रन्थ है।

रसखान और घनानन्द—रसखान और घनानन्द दोनों में ही एक प्रवृत्ति थी। दोनों की जीवनियों में बड़ा साम्य है। दोनों ही दिल्ली निवासी थे पर आगे चल कर दोनों ही कृष्ण-भक्ति में इतने मग्न हो गये कि अपना-अपना घरबार छोड़कर ब्रज में ही रहने लगे और पुष्टिमार्गी सच्चे भक्तों की भांति कृष्ण-लीला में रत हो गये और वृन्दावन में ही अपना शेष जीवन बिताकर गोलोक में शाश्वत निवास करने के लिए चले गए। दोनों ही कवि कृष्ण की माधुर्य-भक्ति के उपासक थे। इनकी भक्ति में शृंगारिक प्रवृत्ति थी, रीतिकालीन भक्तों की भाँति कृष्ण-राधिका में नायक-नायिका का रूप है और भक्ति-रस में निमग्न होकर इन्होंने मर्यादावाद का बन्धन स्वीकार न किया। दोनों की कविताओं में भक्ति का सागर लहराता है जिसमें प्रेम, सौंदर्य, विहार और रतिरंग की लहरें उमड़ती रहती हैं।

रसखान जी मुसलमान और आनन्दघन जी भटनागर कायस्थ और दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। संयोग से दोनों के ग्रंथों के नामों में साम्य है। रसखान का 'सुजान रसखान' और आनन्दघन का 'सुजान-सागर' है। दोनों के कवित्तों और सवैयों में बड़ा साम्य तथा भाव और भाषा में एकरूपता है। रसखान जी आनन्दघन जी से उगभग १०० वर्ष पहले हुए थे।

नागरी प्रचारिणी सभा ने रसखान और घनानन्द जी के पदों का एक संग्रह प्रकाशित किया है। रसखान की प्रेम-वाटिका के ५३ दोहे और 'सुजान रसख़ान' के १३३ पद तथा आनन्दघन के 'सुजान सागर' के ४८३ पद और फुटकल ६ पद इस संग्रह में रक्खे गये है। संपूर्ण ग्रन्थ में एक ही विषय कृष्णलीला और प्रेम के सम्बन्ध में मुक्तक-छंद ही हैं, एक से एक सरस सुन्दर और मनोहर छंद है।

प्रश्न १—बिहारी सतसई की लोकप्रियता का क्या रहस्य है ? हिन्दी साहित्य में सतसई की परम्परा और विकास का निर्देश कीजिए और बतलाइये कि उस में बिहारी का क्या स्थान है ?

उत्तर—विहारी सतसई के अतिरिक्त वहुत सी सतसइयाँ हिन्दी में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि ने भी सतसई लिखी है। वृन्द आदि और बहुत से लोगों ने सतसइयाँ लिखीं पर किसी को वह लोकप्रियता न मिली जो विहारी को। इसका सब से बड़ा प्रमाण तो यही है कि बिहारी सतसई की सैंकड़ों टीकायें निकली। सम्भवतः तुलसीकृत रामायण से भी अधिक इसकी टीकायें निकलीं। अभी तक टीकाएँ निकलती चली जा रही हैं। बिहारी को लेकर कुछ दिनों तक हिन्दी जगत् में एक तूफान मच गया। बिहारी और देव में से कौन बढ़ कर है इस पर आलोचकों में इतना विरोध बढ़ा कि पद्मसिंह शर्मा और भगवानदीन तो अपने विरोधी मिश्रबन्धुओं के ही विरोधी बन बैठे। बिहारी-सम्बन्धी आलोचना भी इसी लिए हिन्दी में सम्भवतः इतनी है कि शायद ही किसी प्राचीन कवि के सम्बन्ध में लिखा गया हो। बिहारी के दोहे इसीलिए बड़े लोकप्रिय हो गए।

इस लोकप्रियता का कारण यह है कि बिहारी के दोहों में दोहा-काव्य

की सभी विशेषतायें अपनी चरम सीमा में प्राप्त होती हैं। रहीम जी ने दोहा-छन्द की विशेषता बताते हुए कहा था कि—

दोहा—"दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
जिमि रहीम नट कुण्डली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥

रहीम के दोहे में उक्त गुण है अवश्य, पर बिहारीलाल जी दोहे के छोटे कलेवर में जितना अधिक भाव स्पष्टतापूर्वक भरते हैं आज तक कोई भी कवि न भर सका। इसीलिए पाठक बिहारी के दोहे को जब पढ़ता है, उसके अन्दर लम्बे भाव को कल्पना से समझ कर खूब आनन्द पाता है। उदाहरण के लिए जब वह पढ़ता है कि—

"दृग उरझत टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥"

तो वह प्रेम-पन्थ की सारी जीवन कहानी को एक दोहे में पाकर रस-मग्न हो जाता है।

दोहे का दूसरा गुण है :—

सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

अर्थात् नावक के तीर की भांति दोहा होता तो छोटा है पर वह मर्म पर घाव करता है। बिहारीलाल के दोहों में भी यह शक्ति है। चाहे वे भक्ति के हों, चाहे नीति के और चाहे शृंगार के, अपने-अपने भाव के अनुरूप वे प्रभावशाली हैं। साधारण सा दोहा है—

"घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जांचत जाय।
दिये लोभ चमास चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय॥

बिहारीलाल जी के दोहे ऐसे हैं जैसे उर्दू गज़लें। उर्दू की गज़लें चाहे उच्च विचार प्रस्तुत न करें पर उनका प्रकाशन ऐसा मर्मस्पर्शी होता है कि श्रोता के हृदय की कली खिल उठती है। उक्ति-वैचित्र्य पर ही वह रीझ जाता है। वह कई बार सुनने के लिए उतावला हो जाता है। हिन्दी के कवियों में बिहारी को छोड़ कर कोई कवि इस गुण को अपनी कविता में न ला सका। उदाहरण के लिए बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है —

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
इहि खाय बौराय जग, उहि पाये बौराय॥

इसी उक्ति वैचित्र्य को 'चोज' कहते हैं। बिहारी के दोहों में ये भरे पड़े हैं। इसीलिए ये श्रोता पर प्रभाव डालते हैं।

दोहे का तीसरा गुण है:—

सतसइया के दोहरे चुने जौहरी हीर।
भाव भरे तीछन खरे, अर्थ भरे गम्भीर॥

बिहारीलाल के दोहे 'चुने जौहरी हीर' भी हैं। बिहारीलाल के ७०० दोहों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसे हम रत्न न कह सकें। ऐसा कोई भी कवि हिन्दी में न हुआ जिसकी सरस कविता में कहीं न कहीं रसहीन पदावली न हो। पर बिहारी में बात ऐसी ही है। उसका प्रत्येक दोहा जवाहर है। कोई न कोई विशेषता प्रत्येक में मिल ही जायगी।

इसके अतिरिक्त बिहारी के दोहों का विषय लोकप्रिय है। प्रत्येक दोहे में या तो भक्ति है या नीति या शृंगार।

"मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल॥

में सूरदास जी जैसी भक्ति है तो अन्य दोहों में कामिनी के सभी शृंगारिक अंगों का वर्णन करते हैं—

अपने अंग को जानि के, जोवन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितम्ब को, बड़ो इजाफा कीन॥

हिन्दी साहित्य में दोहे तो वीर गाथाकाल में ही लोकप्रिय हो गयेथे। कबीर ने भी बहुत से दोहे लिखे। पर सतसई नाम से सर्व-प्रथम रचना तुलसी की है जिसे राम-सतसई या तुलसी-सतसई कहते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि उन्होंने सतसई न लिख कर दोहावली ही लिखी। गोस्वामी तुलसीदास जी के पश्चात् रहीम जी की 'रहिमन-सतसई' मिलती है। रहीम को सचमुच दोहों से बड़ी रुचि थी। दोहों में ही उन्होंने 'रहिमन शतक की भी रचना की। उनकी पदावली भी सतसई-परम्परा की प्रधान पुस्तक है।'

बिहारीलाल जी तीसरे सतसईकार हैं। पर एक दृष्टि से ये प्रथम भी

हैं। इनकी सतसई 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' की पद्धति को लेकर चलने वाली हिन्दी की प्रथम पुस्तक है। जैसे उक्त सतसइयों में शृंगार का निरूपण है और जैसे वे लोकप्रिय हुई थीं उसी प्रकार 'बिहारी-सतसई' भी हुई। बिहारीलाल जी ने इन्हीं दो ग्रन्थों से प्रेरणा और भाव लिए और अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर उसे अपूर्व बना डाला।

इनकी सतसई इनके जीवन में ही इतनी लोकप्रिय बनी कि इन्हीं के अनुकरण पर मतिराम जी ने मतिराम-सतसई की रचना की। मतिराम जी ने तो बिहारी के एक-एक दोहे को दृष्टि में रक्खा। एक उदाहरण ही काफी होगा—

बिहारी—मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परै, स्याम हरित दुति होय॥
मतिराम—मो मन तम-तोमहि हरौ, राधा को मुखचन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नंद-नंदन-आनंद॥

मतिराम सतसई बिहारी सतसई की लोकप्रियता तो न प्राप्त कर सकी, पर उसके अपने गुण निराले ही थे। जहाँ बिहारी सतसई में अर्थ-गम्भीर्य, सामासिक शब्दचयन, अनुभाव-विधान की गम्भीरता है वहाँ मतिराम सतसई में शब्द-लावण्य, भाव-सुकुमारता और रसात्मकता है :

मतिराम सतसई के बाद वृन्द कवि ने वृन्द-सतसई लिखी। वृन्द ने रहीम के अनुकरण पर नीति-विषयक दोहे लिखे। इसीलिए उसे उतनी लोकप्रियता न मिली जितनी बिहारी आदि को। वृन्द के पश्चात् 'रस निधि' ने 'रतन हजारा' लिखा। यह सतसई तो नहीं है पर इसमें सतसई की परम्परा अवश्य है। इसके बाद बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा विक्रमादित्य ने 'विक्रम सतसई' नाम से रचना की। विक्रम सतसई भी सरस रचना है और इस परम्परा को आगे बढ़ाने वाली है।

आधुनिककालीन कवियों ने भी सतसई की परम्परा चलाई। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है श्री वियोगी हरि की 'वीर सतसई'। हरि जी ने अपनी सतसई से हिन्दी में नवीन वस्तु उपस्थित की। डिंगल कवि सूर्यमल की 'वीर सतसई' की भाँति इनकी सतसई भी महत्त्वपूर्ण रचना है।

ब्रजभाषा जो केवल शृंगार के लिए उपयुक्त समझी जाती थी, वीर-रस के लिए भी उपयुक्त सिद्ध हुई। इस ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिला।

श्री दुलारेलाल जी की 'दुलारे-दोहावली' बिहारी के अनुकरण पर बनी। इस पर उन्हें देव-पुरस्कार मिला। वह भी एक प्रकार की सतसई ही है।

इसके पश्चात् श्री रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' तथा श्री तुलसीराम शर्मा की 'श्याम-सतसई' प्रकाशित हुई।

इस प्रकार सतसइयां अभी तक निकलती गईं। हिन्दी में सतसइयां तीन विषयों पर लिखी गईं—भक्ति, नीति और शृंगार पर। शृंगार प्रधान सतसइयों में भी भक्ति और नीति के दोहे मिलते हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, बिहारी सतसई ही इन सभी ग्रन्थों में सबसे अधिक लोकप्रिय है। वास्तव में बिहारीलाल जी की सतसई में भी यद्यपि बाहर का बहुत कुछ अनुकरण है, फिर भी उनका अनुकरण भी बहुत हुआ है। बिहारी के दोहों के भाव मतिराम, देव, रसखान आदि कवियों ने लिए। उनके दोहो पर ही सवैये, कवित्त और छप्पय वनाये गये। फिर भी उतना भाव न आ सका जो वे एक दोहे में ही लिख गये थे। सचमुच श्री पद्मसिंह शर्मा जी के इस कथन में पर्याप्त सत्यता है कि "बिहारी ने जिसका अनुकरण किया उसमें तो नई रंगत ला दी पर जिन्होंने बिहारी की नकल करनी चाही वे उसकी छांह तक न छू पाये।" सतसई-साहित्यमाला में बिहारी सतसई सुमेरु ही बनी रही।

प्रश्न २—"जिस कवि में कल्पना की सामाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा।" इस कथन की व्याख्या करके बतलाइये कि बिहारी में ये बातें कहां तक थीं ?

उत्तर—मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने में स्वत: समर्थ हो। एक छन्द का लगाव पूर्वापर किसी और छन्द से नहीं होता इसलिये इसमें सरसता न हुई तो रचना फीकी हो जाती है। प्रबन्ध में तो नीरस रचनायें भी प्रसंग विशेष में प्रबन्ध की रसधारा से सिक्त रहती हैं पर मुक्तक में ऐसी बात नहीं है। नीति-कथन आदि के पद जब प्रबन्ध

काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो प्रसंग विशेष के कारण पाठक में भावोद्रेक करते हैं, पर जब मुक्तक में प्रयुक्त होते हैं तो केवल सूक्तियां मात्र रह जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने अनेक दोहों में सूक्तियां ही कही हैं। पर मानस में होने के कारण उनमें भावोद्रेक की पूर्ण शक्ति है। पर उसी प्रकार के दोहे कबीर, वृन्द और रहीम की दोहावलियों में सूक्तिमात्र हैं।

ऐसी अवस्था में मुक्तक काव्यकार को अपने स्वच्छन्द पद में जीवन का कोई चित्र उपस्थित करना पड़ता है। यह चित्र व्यंग्य के आधार पर उपस्थित किया जाता है और उसके गर्भ में एक लम्बा प्रसंग निहित होता है। इसी प्रसङ्ग की व्यञ्जना से साधारण पद भी रसपूर्ण हो जाता है। उदाहरण के लिए बिहारी का प्रसिद्ध निम्न पद—

"नहिं पराग नहीं मधुर मधु, नहीं विकास यहि काल।
अलि कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल।"

राजा जयसिंह की एक कथा विशेष की व्यञ्जना के ही कारण इतना सरस हो गया है। यदि इसमें यह प्रसङ्ग न होता तो दोहा साधारण अन्योक्ति मात्र रह जाता, इतनी सरसता न आती। तात्पर्य यह है कि मुक्तक तभी सफल होगा जब उसमें जीवन के आनुषंगिक व्यापारों के मेल खाने वाले खण्डचित्रों को लेकर उसका बंधान बांधा जायगा। साथ ही इन जीवन-वृत्तों का चुनाव इतना स्पष्ट होगा कि पाठक उस तक पहुँच भी सके। तुलसीदास जी की गीतावली और सूरदास जी के पदों में जीवन के ऐसे ही साधारण चित्रों का संस्थान है और इसीलिए वे पद सरस भी बहुत हैं।

दूसरी ओर पूर्वापर किसी छन्द से लगाव भी नहीं रखना पडता। दोहा ऐसे छोटे छन्द में तो उसके भावों को और भी अधिक संकरे क्षेत्र में चलना पड़ता है। ऐसी अवस्था में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति ही उसका अवलम्बन होती है। कल्पना की शक्ति से वह बड़े-बड़े प्रसङ्गों को छोटे अनुबन्धन में रख लेता है और भाषा की समास-शक्ति से कुछ इने-गिने शब्दों में ही उन्हें प्रस्तुत कर देता है। जैसे :—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल॥

उपर्युक्त दोहे में एक लम्बा प्रसंग है, श्रीकृष्ण जी ने व्रज की रक्षा के लिये गोवर्धन उठाया था पर राधिका की ओर देख लेने से रति भाव के उद्रेक होने से उन्हें कम्प सात्विक हो गया। हाथ कांपने लगा, पर्वत डगमगाने लगा, व्रज के सभी लोग घबरा गये। राधिका भी कांप उठी। कृष्ण लजा गये क्योंकि एक ओर रक्षा करने में उनका शैथिल्य प्रकट हो गया दूसरी ओर उनका प्रेम भी लक्षित हो गया। इतना लम्बा प्रसंग एक दोहे में भर सकना तथा भावों और चेष्टाओं की पूर्ण व्यंजना करना बिहारी का ही काम है। अलंकारों के रूप में भी ऐसे ही सानुबंध व्यापारों का दिग्दर्शन बिहारी ने बड़ी खूबी से किया है। उदाहरण के लिए उनका प्रसिद्ध दोहा—

'दृग उरझत टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित्त प्रीति।
परति गांठ दुर्जन हिए, दई नई यह रीति॥'

उद्‌धृत किया जा सकता है। इसमें सूत्र के टूटने, उलझने और जुड़ने की लम्बी और आकर्षक कल्पना करके कवि ने असंगति अलंकार प्रस्तुत किया है। इसी कारण दोहा इतना प्रिय हो गया है।

बिहारीलाल जी के दोहों को हम दो प्रधान भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वे दोहे जिन में भावानुभावादि की प्रधानता है और जिन में जीवन के व्यंग्य चित्र हैं। इनमें अनेक दोहे ऐसे भी हैं जिनमें नायिका-भेद के गूढ़ रहस्य भरे हैं। इसी लिए पाठक सरलता से उन भावों तक नहीं पहुँचता। दूसरे वे दोहे हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य तथा अलंकारत्व की प्रधानता है। परन्तु दोनों प्रकार के दोहों में कवि की कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति का सुन्दर समन्वय है। यही कारण है कि बिहारी की सूक्तियां सरस भी हो गई हैं और सतसई के समस्त दोहे काव्य में अनुपम रत्न बने हुए हैं।

इस प्रकार सफल मुक्तक के रचियता को एक ओर किसी विशेष कथा में मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग देना होता है दूसरे उसमें काव्यसौष्ठव का समाहार करना पड़ता है।

प्रश्न ३—"बिहारी की रस व्यंजना का पूर्ण वैभव अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर

व्यंजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है।" इस कथन की विवेचना उदाहरण देते हुए कीजिए। (सं० २००३)

उत्तर—बिहारीलाल जी मुक्तक काव्य के रचयिता हैं। मुक्तकों में बिना अनुभवों और चेष्टाओं के विधान के रसचित्रण कठिन है। प्रबन्ध काव्य में अनेक स्थल ऐसे भी आ सकते हैं जहाँ अनुभवों और चेष्टाओं के बिना भी काम चल जाय पर जब एक छंद में ही भाव की भी व्यंजना करनी है और विभाव पक्ष का भी निरूपण करना है तो बिना अनुभाव-योजना के रस-संचार नहीं हो सकता। कवि भावों का नाम नहीं लेता अनुभावों के द्वारा ही उन्हें व्यक्त कर देता है। जैसेः—

"सटपटाति सै ससिमुखी, मुख घूंघट-पट ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि के, गई झरोका झांकि॥

इसमें अनुभावों की ही योजना कर दी गई है—सटपटाना, घूंघट निकालना झमक कर के झरोखे से नायक को झांकना सभी नायिका की चेष्टाएं हैं पर इन्हीं के द्वारा कवि ने रस के सभी अंगों को दिखलाया ह। आलम्बन नायिका और नायक दोनों प्रस्तुत हैं। नयिका का पावक-झर के सदृश झरोखे में लपकना ,उसका ससिमुख और घूंघट पट उद्दीपन है, त्रास, व्रीड़ा और उत्सुकता संचारी हैं, अभिलाष दशा का चित्रण है जिसमें विलास हाव है। स्थायी भाव रीति इन सब की व्यंजना से अत्यंत मनोहारी रूप में चित्रित कर दिया गया है। यदि अनुभवों का ऐसा सुन्दर विधान न होता तो रस संचार दोहे में न हो सकता।

बिहारीलाल जी ने अनुभावों और हावों का अच्छा वर्णन किया है। उन्होंने लक्षण ग्रन्थों और प्राचीन श्रृङ्गार काव्यों का सहारा तो लिया है पर अपनी स्वतन्त्र अनुभूति के बल पर कितने ही अनुभावों और चेष्टाओं का विधान किया है जो कहीं नहीं मिलते। इसीलिए इनके अनुभाव और हाव बहुत ही स्वाभाविक और हृदयग्राही हैं। हिंदी के अन्य शृंगारी कवि ऐसा न कर सके। उदाहरण के लिए—

"कहा लड़ैते दृग करैं, परे लाल बेहाल।
कहुं मुरली कहुँ पीत पट, कहुं मुकुट वनमाल।"

व्याकुलता की व्यजना के लिए मुरली, पीतपट, मुकुट और वनमाल की

अस्तव्यस्तता दिखा रही है कि चिन्ता की अवस्था में मनुष्य किस प्रकार अपनी वस्तुओं को संभाल नहीं सकता। यद्यपि दोहा सामान्य है पर अनुभावों की योजना बिहारी की अपनी स्वतन्त्र अनुभूति के द्वारा बड़े अच्छे ढंग से की गई है।

बिहारीलाल जी के अनुभावों की योजना से भाव निरूपण भी हो जाता है और उस अवस्था का सुन्दर चित्र उपस्थित भी हो जाता है। पाठक उन्हें पढ़ कर प्रत्यक्ष चित्र देखता और रसमग्न हो जाता है। जैसे :—

"उनहर की हँसि के इतै, इन सौंपी मुसुकाइ।
नैन मिले मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ॥"

कैसा मनोहारी चित्र कवि ने उपस्थित किया है। हंसने, मुसकाने और नैन मिलने के अनुभाव न केवल चेष्टाएं हैं वरन् इनका सम्बन्ध कार्य व्यापार से भी है। दोनों की स्पष्ट मुद्राएं दोनों के प्रेम-भाव को व्यक्त कर रही हैं।

नायिका की उन चेष्टाओं को जो भाव प्रेरित न होकर स्वाभाविक रहती हैं 'हाव' कहते हैं। इनके द्वारा नायिका का सौंदर्य बहुत बढ़ जाता है। इसीलिए हावों को अलंकार भी कहा है। बिहारी की कविता में नायिका का ही चित्रण विशेष है। हावों के चित्रण में उन्होंने अपनी अवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। इनके अनेक दोहे विभिन्न हावों के उदाहरण प्रतीत होते हैं पर विशेषता उनमें यह है कि उनमें अन्य रसावयव भी स्पष्ट झलकते रहते हैं। जैसे:—

रही,गुही बेनी लखे, गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुकाए बार॥"

यहां पर सात्विक के कारण गीले बालों के ही जाने से नायिका नायक का गर्वपूर्ण अनादर करती है यह "बिब्बोक" हाव का सुन्दर उदाहरण हैं। साथ ही नायक-नायिका आलम्बन, सद्यः स्नाता बिखरी अलकों वाली नयिका का स्वरूप उद्दीपन; नायक और नायिका दोनों में सात्विक अनुभाव हर्ष गर्व संचारी और रति स्थायी भावों की कैसी सुन्दर और संश्लिष्ट योजना है।

काव्य पद्धति में हावों का अवस्थान केवल नायिका में ही माना जाता है पर बिहारी जी ने तो एक स्थल पर नायक-नायिका दोनों ही के हाव दिखला दिए हैं।

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे मौन में करत हैं, नैनन ही सों बात ॥"

यह किलकिंचित हाव का श्रेष्ठ उदाहरण है। विशेपता यह है कि दोनों पक्षों में लगने के कारण सौंदर्य बहुत बढ़ गया है।

बिहारीलाल जी ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा है जिसमें प्रत्येक हाव या अनुभाव आदि पर उदाहरण लिखे हों। सच तो यह है कि काल और परिस्थिति के प्रभाव से कवि की प्रवृत्ति ही शृंगार और नायिकाओं की ओर विशेष थी अतः इनमें ही उसने अपना सफल कवित्व प्रदर्शन किया है। नायिका की ओर से नायक का आकर्षण करने वाले हावों पर बिहारी की दृष्टि अधिक थी इसीलिए विलास हाव के ही अधिक और सुन्दर उदाहरण सतसई में मिलते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि देव, मतिराम और पद्माकर ने अवश्य ही हावों और अनुभावों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं पर कहीं भी बिहारी के सदृश अनुभावों और हावों के द्वारा पूर्ण रस-व्यंजना नहीं की है। एक तो देव आदि ने प्रायः एक ही अनुभाव पर हाव के द्वारा भाव-व्यंजना की है और दूसरे उनके अनुभाव आदि के उदाहरण स्वाभाविक नहीं हैं। इसी लिये उनमें पाठक को पूर्ण रसानन्द नहीं मिलता। बिहारीलाल जी के हाव-भावादि से चित्र ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है। उनमें नायक-नायिकाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन हैं। सबसे निराली बात तो यह है कि दोहे के छोटे से आकार में ही इतने अधिक हाव-भावों का युक्तिपूर्ण उल्लेख करके सम्पूर्ण रसावयवों की मार्मिक व्यंजना कर दी है। ऐसा कमाल कोई भी शृङ्गारिक कवि न कर सका। इस कला में बिहारीलाल जी बेजोड़ हैं।

प्रश्न ४—"कहीं-कहीं इनकी (बिहारी की) वस्तु व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है।" उदाहरण देकर इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिये। (सं० २००३)

उत्तर—काव्य में अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का प्रयोग सर्वत्र होता है। किसी वस्तु का वर्णन करते हुए कवि उसे बहुत बढ़ा–चढ़ाकर इसलिए कहता है कि उस वस्तु का वास्तविक चित्र अथवा उस वस्तु का सच्चा प्रभाव पाठक या श्रोता के हृदय पर पड़ जाय। यदि वर्णन बढ़ा कर न किया जावेगा तो कवि जिसके पास शब्दों के अतिरिक्त और सामग्री नहीं है, उसका यथातथ्य निरूपण करने में असमर्थ रहेगा। परन्तु जब वह यह वर्णन इतना अधिक बढ़ा कर कर देता है कि श्रोता पर उसका कोई सुन्दर प्रभाव नहीं पड़ता अपितु एक हंसी सी आ जाती है तो वे रचनायें काव्य में अच्छा स्थान नहीं पातीं। उदाहरण के लिए नायिका की सुकुमारता का वर्णन करते हुए बिहारीलाल जी कहते हैं कि—

"अरुन वरन तरुनि-चरन-अंगुरी, अति सुकुमार।
चुवत सुरंग, रंगु सी मनों, चपि बिछुवन के भार॥

नायिका के पैरों की उंगलियाँ लाल हैं। बिछियों के भार से मानो उनकी ललाई निचुड़ रही है। इस कल्पना से अवश्य ही पाठक या श्रोता पर नायिका की सुकुमार उंगलियों का सुन्दर चित्रण अंकित हो जाता है। अतएव उक्ति काव्योपयुक्त हुई पर इसी सुकुमारता के लिए जब वे कहते हैं कि—

"छाले परिबे के डरन, सकै न हाथ छवाइ।
झझकत हियै गुलाब के, झाँवां झंवैयत पाइ।,,

यहां नायिका को डर है कि गुलाब के फूल के झांवा से उसके पाँवों में छाले पड़ जायेंगे और उनके प्रयोग में झिझक रही है। सुकामरता और कोमलता की यह व्यंजना खिलवाड़ है। इसके पाठक को कोई रस नहीं मिलता। हंसी अवश्य आ जाती है। इसी प्रकार के अनुमान के आधार पर अस्वाभाविक व्यंजनायें कई स्थानों पर मिलती हैं। जैसे जहां उनकी नायिका रहती है वहां लोगों को तिथि ही नहीं ज्ञात होती क्योंकि "नित प्रति पूनो ही रहै, आनन ओप उजारू।" इसी प्रकार चतुर्थी के दिन नायिका का मुख-मण्डल देखकर ही अन्य नारियों को चन्द्र का भ्रम हो जाना आदि में चमत्कार मात्र ही है, रस-सौरस्य नहीं। इसी प्रकार कटि का परब्रह्म के समान अदृश्य होना भी तमाशा ही है।

विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में बिहारीलाल जी व्यंजनाओं में सीमा से बहुत आगे बढ़ गये हैं। प्रतीत होता है विरह में उन पर फारसी के कवियों का प्रभाव पड़ गया था। उक्तियाँ एक से एक बढ़कर हैं नायिका विरह से इतनी दुबली हो गई है कि सदा ही समीप रहने वाली सखी भी उसे पहिचान नहीं सकती। सांस लेना भी कठिन ही है। इतनी हल्की हो गई है कि सांस लेने से छः सात हाथ आगे और पीछे हो जाती है। प्रतिक्षण उसांसों के हिंडोरे पर ही चढ़ी रहती है। आदि नायिका विरह से उतनी गरम हो गई है कि रात में भी भीगे वस्त्रों की आड़ देकर स्नेहवश सखियाँ बड़ा साहस कर उसके समीप तक जा सकती हैं। गुलाब के इत्र की शीशी जो उसके ऊपर औंधाई तो इत्र की धार विरह की उष्णता से बीच ही में सूख गई। छींट भी शरीर तक न पहुँची। विरहाग्नि की गर्मी ने परकाष्ठा ही कर डाली है जब नायिका के विरह के प्रभाव से माघ के महीने में गांव भर में लुयें चलने लगती हैं और गांव की ओर से जाने वाले पथिक उस लू की सूचना नायक को देते हैं।

इस प्रकार की व्यंजना का दुरुपयोग उर्दू की शायरी में बहुत हुआ है। अच्छा ही हुआ जो हिन्दी में यह प्रवृत्ति अधिक न चली।

प्रश्न ५—"बिहारी जैसे अर्थपूर्ण, भावदर्शक, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने न कहे। इन्होंने प्रकृति तथा मानव-स्वभाव का जो वर्णन किया है वह बहुत ही श्रेष्ठ, मौलिक तथा चित्ताकर्षक है।" इस कथन का समर्थन युक्ति एवं उदाहरण देकर कीजिये। (सं० २००४)

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर ऊपर के प्रश्नों में ही मिल जायगा। उदाहरण में बिहारीलाल जी के दोहों के समस्त गुण एक वाक्य में ही कह दिये गए हैं। इसका स्पष्टीकरण एक ही उदाहरण से कर देना पर्याप्त होगा।

"पलक प्रगटि वरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अंसुवा परि छतियां छनकु, छिनछनाई छपि जात॥"

यह दोहा विरहिणी नायिका की आंसू का वर्णन करता और व्यंजना से उसके सौंदर्य और मनोदशा का भी वर्णन करता है। विरह के कारण पलक में आँसू आता है पर तुरन्त ही गिर नहीं जाता क्योंकि आँख की बरौनियां

सघन हैं अतः आंसू उसी में बड़ा होता है साथ ही विरह गम्भीर है अतः धीरे आंसू बढ़ता है। बढ़ने के पश्चात् आंसू कपोलों पर गिरते हैं पर ठहर नहीं सकते क्योंकि कपोल बड़े ही चिकने हैं। कपोल से गिरकर वे सीधे छाती पर गिरते हैं। विरह के कारण छाती गरम है अतः ऊपर से गिरे हुए अश्रु बिन्दु छनछना कर विलीन हो जाते हैं। इतने लम्बे अर्थ को एक छोटे से दोहे में इतने सरस शब्दों में कवि ने रक्खा है महाकवि कालीदास ने भी ठीक यही भाव अपने चार चरण वाले वंशस्थ छन्द में किया है पर किसी अंश में भी बिहारी जी से अधिक भाव नहीं दिखाये हैं। विरह की कैसी सुन्दर व्यंजना है और भाषा की सामाजिक पद्धति का सुन्दर नमूना है। सच तो यह है कला का सौंदर्य भाषा पर अधिकार होने से आ सका है। दोहे की शब्दावली सानुप्रासिक है। छनछना कर छिप जाने में रूपकातिशयोक्ति अलंकार की भी सुन्दर व्यंजना है।

बिहारी मानवीय-प्रकृति-चित्रण के ही कवि हैं फिर भी शृंगार की पद्धति में प्रकृति का उद्दीपन के रूप में चित्रण आवश्यक माना गया है। बिहारी ने भी सुगन्ध, सूर्य, चन्द्र, वर्षा और वसंत आदि के वर्णन किए हैं। "प्रकृति के बिम्ब ग्रहण कराने की बिहारी से आशा करना ही व्यर्थ है। पर कहीं-कहीं प्रकृति के सीधे और अच्छे वर्णन भी हैं जैसे—

छकि रसाल, सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर-ठौर झौंरत झपत, भौंर-भौंर मधु अन्ध॥"

तथा—"पौठि रहि अति सघन वन, बैठि सदन तन छाँह।
देख दुपहरी जेठ की, छांहौ चाहति छांह॥"

शृंगारिक क्षेत्र में मानव स्वभाव का बहुत ही विस्तृत तथा अनूठा और श्रेष्ठ वर्णन अवश्य किया है। इसमें संदेह नहीं कि बिहारी भी नायिका-भेद की सीमित परिपाटी से आगे न बढ़ सके पर उसी के बीच-बीच उन्होने नई-नई कल्पनाएँ भी की हैं और जीवन की अनुभूतियों के आकर्षक चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रिय की प्रत्येक वस्तु प्रेम का आलम्बन बन जाती है। बिहारी की नायिका-नायक की पतंग देख कर बौरी लौं दौरी फिरति, छुअत छबीली छांह।" इतना ही नही प्रिय के स्पर्श की हुई वस्तु के स्पर्श से

नायिका को सात्विक भी हो जाता है। नायक और नायिका देव-दर्शन को जाते हैं। पैदल होने तथा कंकरीले रास्ते पर चलने से नायिका 'सी-सी' करती और नाक सिकोड़ती है। यह नायक को प्रिय लगता है। भरे भवन ने इशारों से बातें करना, आँख-मिचौनी, लुका-छिपी, नायक का झूठमूठ सोना और नायिका का चुम्बन का प्रयास, सुरति आदि प्रचलित परम्परा की कोई भी बात बिहारी ने नहीं छोड़ी है। जब वे प्रेम की स्वाभाविक व्यंजना करने में लग जाते हैं तो रचना बहुत सुन्दर होती है पर जब परम्परा की लीक पर चलते हैं तो रचना कुछ शिथिल हो जाती है।

सेनापति

प्रश्न ६—"सेनापति ने प्रकृति वर्णन उद्दीन के रूप में ही किया है। परन्त उनकी ऋतु सम्बन्धी रचना को देखने से यह भली-भांति विदित हो जाता है कि प्रकृति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।" इस कथन की विवेचना यथासम्भव उदाहरण देते हुए कीजिए।

(सं० २००२)

उत्तर—सेनापति जी सहृदय कवि थे। उन पर भी रीतिकालीन भावनाओं का ही प्रभाव था। वे भाषा के अलंकारत्व को ही कवित्व समझते थे। फिर भी उनमें प्रकृति के सुन्दर रूपों की ओर आकर्षण था इसलिए उन्होंने ऋतुओं का वर्णन एक अलग रूप से ही लिखा। उस काल में कविगण प्रकृति का वर्णन उद्दीपन के रूप में ही करते थे। प्रकृति को देखकर ही मन में रति और विरह के भाव उत्पन्न होते थे। सेनापति जी ने भी प्रकृति को अधिकांश इसी रूप में देखा है। अशोक और केतकी आदि फूलों के लिए सेनापति जी कहते हैं कि 'सांवरे की, सूरति की सुरति की, सुरति कराइ करि डारन बिहाल हैं।" दक्षिण की हवा विरहणी को जलाती है, रसाल उर में सालता है। सावन के वर्णन में कवि कहता है कि 'आयो सखा सावन, मदन सरसावन, तथा 'धीर जलधर की सुनत धुन धरकी है, दरकी सुहागिन की जोह भरी छतियां' और कहां तक कहें सेनापति जी की कवित्व शक्ति को भी प्रकृति उद्दीप्त करती है। वे कहते हैं कि 'सेनापति माधव महीना में पलास तरु, देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं।'

सेनापति जी ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में देखा है अवश्य, पर यह तो काव्य परम्परा का प्रभाव था नहीं तो उन्होंने ऋतु वर्णन में प्रकृति को आलम्बन रूप में ही लिया होता। इसमें सन्देह नहीं कि ऋतु वर्णन में कवि ऋतुओं का उल्लेख करके सुन्दर कल्पना और अलंकारों की रचना में जुट जाता है। फिर भी कवि की दृष्टि प्रकृति की सूक्ष्म वस्तुओं पर भी जाती है। ग्रीष्म की ऋतु में—

> "छांह को पकरी पंछी विरमत है।
> मेरे जान पौनौ सीरी ठौर पकरी कौनो,
> धरी एक बैठि कहूँ धामैं बितवत है॥"

एक सुन्दर उक्ति के साथ जेठ की दुपहरी में पवन के मन्द होने का सुन्दर संकेत किया गया है।

प्रकृति के प्रति कवि का अतीव अनुराग था तभी तो वह प्रकृति से विविध प्रकार की कल्पनाएँ प्राप्त करता है और सुन्दर अलंकारों की सृष्टि करता है। क्वार के महीने के बादलों को देखकर कवि का मन प्रफुलित हो जाता है। उनकी चाल का कवि कैसी सुन्दरता से वर्णन करता है—

> "पूरब को भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
> गग गग गाजत हैं गगन घन क्वार के।"

जाड़े में आग के सामने बैठे हुए लोगों को देखकर कवि कितनी सुन्दरता के साथ कहता है कि—

> "मानो मीत जानि, महासीत में पसारी पानी,
> छतियां की छाँह राख्यो पाउक छिपाइ कै॥"

सेनापति अलंकारों में सिद्ध-हस्त हैं। प्रकृति वर्णन के साथ ही वे अपनी अलंकारप्रियता को भी दिखाते हैं। 'दामिनी दमक' सुर चाप की चमक, स्याम घटा की झमक' में अनुप्रास की छटा है। उत्प्रेक्षाएँ तो बड़ी ही अनूठी हैं। ग्रीष्म में तहखानों की ठंडक को देखकर सेनापति जी कहते हैं 'मानो सीतकाल सीतलता को जमाइवे को धरयौ है विरंचि बीज धारा में जमाइकै' तथा वर्षा में कृष्ण के न आने पर कवि कल्पना करता है कि चारों महीनों में काली रात्रि में भ्रम में शायद कृष्ण कहीं सो गए हैं।

इस प्रकार यद्यपि सेनापति जी का प्रकृति वर्णन उद्दीपन के रूप में हुआ है तथापि उसमें कवि का प्रगाढ़ प्रेम स्पष्ट लक्षित होता है। उसमें प्रकृति का

सूक्ष्य पर्यवेक्षण तो अवश्य नहीं मिलता फिर भी प्रकृती के सम्बन्ध में उसकी अनूठी उक्तियां उसके अपूर्ण अनुराग को प्रदर्शित करने में समर्थ हैं ।

प्रश्न ७—सेनापति की अलंकार योजना पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये । (सं० २००३)

उत्तर—सेनापति जी अलंकारों को काव्य सौंदर्य का अनिवार्य अंग समझते हैं । उन्होंने अपनी कविता में अलंकारों को जान बूझ कर रखने का प्रयास किया है । एक स्थल पर वे स्वयं अपनी कविता की बड़ाई में कहते हैं "संख्या कर लीजै अलंकार हैं अधिक या में राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को" और इन अलंकारों को मूल्यवान् समझ कर गर्व तो अनुभव ही करते थे, वे चुरा न लिए जायें इसके लिए भी बड़े सचेष्ट रहते थे । इनके द्वारा प्रयुक्त अलङ्कारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा ही प्रधान हैं । अनुप्रास की छटा तो प्रत्येक पद में आना साधारण सी बात है । श्लेष के सम्बन्ध में भी इनकी धारणा बड़ी ही उच्च थी । इसलिये उन्होंने 'कवित्त रत्नाकर' में श्लेष चमत्कार पर बहुत से कवित्त लिखे हैं । इनके श्लेष-चमत्कार पर बहुत से कवित्त मिलते हैं । श्लेष-चमत्कार के उदाहरण के देने से पूर्व श्लेष के सम्वन्ध में उनकी गर्वोक्ति दे देना अच्छा होगा ।

"मूढ़न को आगम, सुगम एक ताको जाकी,
ताखन विमल विधि बुद्धि है अथाह की ।।
कोऊ पद अभंग कोऊ पद है संभग सोधि,
देखे सब अंग सम सुधा परवाह की ।
ज्ञान के निधान, छन्द कोप सावधान,
जाको रसिक सुजान सब करत है गाहकी ।।

सेनापति जी के श्लेष अधिकांश शब्द श्लेष ही हैं । उनके शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्द नहीं रखे जा सकते । प्रत्येक कवित्त के चौथे चरण में ये अपने द्वयर्थक भाव का स्पष्टीकरण कर देते हैं । ऊपर के तीन चरण ही श्लेष के उदाहरण होते हैं । जैसे अन्तिम चरण "सेनापति बचन की रचना विचारो, यामें दाता अरु सूम दोऊ कीन्हें इक सार हैं" कह कर श्लेष को स्पष्ट कर देंगे । इसकी सहायता से पाठक 'नाहिं, नाहिं

करे, थोरे मांगे बहु, देन कहैं' को एक बार दाता पक्ष में उसे नाहिं नाहिं कहैं, थोरे मांगे, बहु देन कहै' तथा दूसरी बार सूम पक्ष में 'नाहिं नाहिं कहैं थोरे मांगे बहु देन कहैं' पढ़कर बल प्रयोग के भेद से उसके दो अर्थ निकाल लेगा। यह तो हुआ उनका सभंग-पद श्लेष। उन्होंने अभंग पद श्लेष के रूप में श्लिष्ट शब्दों को भी दो अर्थों में बहुत प्रयुक्त किया है। जैसे 'मंगन को देखि पट देत बार-बार हैं' में 'पट' शब्द दाता के अर्थ में वस्त्र के लिए और सूम के अर्थ में द्वार के लिए प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी श्लेष अर्थ को निकालने के लिए पाठक को शब्दो में कुछ हेर-फेर अथवा खींचातान करने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे भोगी हो रहत विलसत अवनी के मध्य' में विलसत शब्द दाता के अर्थ में तो 'सुशोभित' है पर सूम के अर्थ में उसे 'विनसत' करना पड़ता है। इसी प्रकार श्री रामचन्द्र और चन्द्र की समता में 'निसा कलंकै' पद में चन्द्र के अर्थ में 'निशा कलंक' ठीक है पर राम के अर्थ में खींचतान कर 'निशंक लकै' करना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं सेनापति जी ने श्लेष का बड़ा अनूठा चमत्कार दिखाया है पर उनकी गर्वोक्ति के अनुसार यही श्रेष्ठ कवित्व हैं ऐसी भी बात नही है। राज-दरबार की 'वाह वाही' के लिए तो अवश्य ही एक सुन्दर वस्तु है।

श्लेष ही की सहायता से उपमा और रूपक भी ये प्रस्तुत करते हैं। गंगा और तलवार की समता में पूर्णोपमा और रूपक का सुन्दर उदाहरण "पाप पतवारि के कतल करिबे को गंगा पुण्य की तरवारि सी लसति हैं" वाले पद में उपस्थित किया है। और 'धार', 'धनी' आदि श्लिष्ट शब्दों से बड़ी सुन्दर समता दिखाई है।

कहीं-कहीं इनके अलंकारों से भाव-पक्ष भी सुन्दर बन जाता है। जैसे—

पहिले तो मन मोहौ, पीछे कर तन मोहौ,
प्यारे तुम सांचे मन मोहन कहाये हौ॥"

में परिकर का भी सुन्दर उदाहरण है। साथ ही गोपियों की अवस्था का भी सुन्दर संकेत है।

अनुप्रास का सौन्दर्य तो सेनापति जी में अनुपम है विशेषता यह है कि अनुप्रासिकता के लिए अर्थ-दोष नहीं आया है। उदाहरण में सेनापति जी

का कोई भी कवित्त देखा जा सकता है। सावन के वर्णन में अनुप्रास-सौंदर्य बहुत सुन्दर है:—

"दामिनी दमक सुर चाप की चमक,
स्याम घटा की झमक अति घनघोर तैं।
कोकिला कलापी कल कूजत है जित तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तैं॥
सेनापति आवन कह्यौ है मन भावन सु,
लाग्यो तरसावन विरह जुर जोर तैं।
आये सखी सावन, मदन-मदन सरसावन,
लग्यौ बरसावन सलिल चहुँ ओर तैं॥

षड् ऋतु वर्णन में सेनापति जी की उत्प्रेक्षाएं सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ हुई हैं। ऐसी नवीन और सुन्दर कल्पनाएँ कम कवियों ने की हैं। ग्रीष्म-ऋतु की दोपहरी में पवन शान्त हो जाता है। इस पर सेनापति जी कल्पना करते हैं—

मेरे जान पबनौ सीरी छांह को पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।"

तथा तहखानों की ठण्डक के लिए आप कहते हैं कि—

"मानो सीतकाल सीतलता के जमाइबे को,
राखे हैं विरंचि बीज धरा जमाइ कै।"

बसन्त-ऋतु के पलास के पुष्पों में इनकी उत्प्रेक्षा बड़ी ही चुटीली है—

"आधे अनसुलगि रहे आधे मानो,
विरही दहन काम, क्वैला परचाये हैं।"

कितने उदाहरण दिये जांय सेनापति जी की समस्त कविता ही अलंकारों का उदाहरण है। इनके पद मुक्तक हैं। केवल दरबारी मनोरंजन के लिए ही आप कविता रचते थे। यही कारण है कि उनमें उक्ति-वैचित्र्य और अलंकारिकता की ही विशेषता है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि इनके अलंकारों ने भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाने के साथ ही भाव सौन्दर्य को भी द्विगुण किया है।

प्रश्न ८—"सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि है" को ध्यान में रख

कर सेनापति के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए। (सं० २००४)

उत्तर—सेनापति जी ने कुछ दिन तक किसी मुसलमान बादशाह के दरबार को छोड़कर संन्यास ले लिया था। उनकी परवर्ती कवितायें अधिकांश भक्ति सम्बन्धी है। पर उन पर रीतिकालीन काव्य कला का प्रभाव बना ही रहा। उनके दो ही काम थे—"राम अरचतु सेनापति चरवतु दोउ कवित्त रचत याते पद चुनि-चुनि के।" उन्होंने अपने कवित्तों की रचना बहुत सोच-सोच कर कलात्मक ढंग से की है। यही कारण हैं कि इनकी रचना भी थोड़ी ही है, पर जो भी है भावपूर्ण, अलंकृत और सजी हुई।

सेनापति जी के ससस्त पद मुक्तक हैं। राम के भक्त होते हुए भी उन्होंने राम की कथा नहीं गाई है। काव्य का चमत्कार ही उनका काव्य रस है। अलग-अलग रसों पर रस चित्रण की दृष्टि से इन्होंने लेखनी नहीं उठाई है। पाठक इनके प्रत्येक कवित्त में काव्यानन्द तो पावेगा पर यह आवश्यक नहीं है कि शृंगारादि नव या दस रसों में से एक की ही अनुभूति हो वैसे जहां उन रसों पर भी सेनापति जी ने रचना की है भाव-गाम्भीर्य के कारण हृदय रससिक्त हो जाता है। इनके भक्ति-विषयक पदों में इड़ी तल्लीनता है। दीनता भक्ति का अनिवार्य अङ्ग है। दीनता इनके भक्ति के पदों की विशेषता है। परन्तु उनमें भी सेनापति जी अपना उक्ति-वैचित्र्य बिना दिखाये नहीं रहते। एक स्थल पर कहते हैं—

अपने करम करि हौं ही निबहौं जो तो,
हौं ही करतार-करतार तुम काहे के ?"

उद्दीपन की दृष्टि से इन्होंने ऋतु वर्णन किया है। उनमें विरह की सुन्दर व्यंजना के साथ ही उक्ति का सौन्दर्य वर्तमान है।

बीती औधि आवन की, लाल मनभावनकी,
ढग भई बावन की, सावन की रतियां।"

में अनुप्रासिकता के साथ-साथ विरह की कैसी मार्मिक व्यंजना है।

इनके कवित्तों में रूप और ध्वनि का सौन्दर्य उसकी अनुप्रासिकता में है। प्रत्येक पंक्ति आवृत्तियों और ध्वनि मैत्री के कारण बड़ी ही प्यारी लगती है।

"आयो सखी सावन, मदन सरसावन,
लाग्यो है बरसावन सलिल चहुँ ओर तैं।"

में कैसी सुन्दर पद-मैत्री है। इसकी ध्वनि बड़ी कर्णप्रिय है। श्लेष चमत्कार सेनापति की अपनी विशेषता है। ऐसी सुन्दर श्लेष इतने अधिक और किसी कवि ने नहीं लिखे हैं। श्लेष तथा अन्य अलंकार-सौदर्य के लिए प्रश्न संख्या ७ देखिये।

सेनापति जी की भाषा शुद्ध और साहित्यिक व्रज-भाषा है। कवि का भाषा पर असाधारण अधिकार विदित होता है। शब्दविन्यास सरस और पदलालित्य मनोहर है। उनकी सी सरस सुसंघटित, सजीव और मंजी हुई भाषा बहुत कम कवियों की है। व्रज-भाषा में तोड़-मरोड़ देव और बिहारी ऐसे सिद्ध कवियों ने भी की है। पर सेनापति ने बहुत कम तोड़-मरोड़ की है। माधुर्य और प्रसाद का सुन्दर समन्वय सर्वत्र ही मिलेगा। व्रज-भाषा का बनावटीपन उसमें तनिक नहीं है। अवधी या बुन्देली आदि भाषाओं के रूप इनकी भाषा में बिल्कुल नहीं मिलते। "सेनापति नैक दुपहरी के ढरत" में नैक और ढरत शब्द भाषा का स्वाभाविकता दिखाते हैं। कवि सर्वत्र ही 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग करता है। जिससे भाषा का सौंदर्य तो बढ़ता ही है उसकी स्वाभाविकता भी बढ़ती है। उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी भरसक प्रयोग कम ही है। है भी, तो उसमें भाषापन आ गया है। जैसे :—"तहखानन" शब्द में 'ख़' के स्थान पर 'ख' तथा उसका व्रजभाषा का बहुवचनान्त प्रत्यय उसे सर्वथा व्रजभाषा के रंग में रंग देता है। 'व' और 'य' के स्थान पर कवि 'उ' और 'इ' का प्रयोग करके उसमें भाषा का सौंदर्य ला देता है। जैसे :—'पाउक', 'भाउ', 'कराइ', 'आइ',।

संक्षिप्त में कविवर सेनापति सरस मुक्तकों के रचियता हैं। उनकी कविता में स्वाभाविकता के साथ कल्पना और उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता है। भाषा की आनुप्रासिकता, आलंकारिकता और शुद्धता अनुपम है। भावों का स्वरूप सर्वत्र ही निखरा हुआ और सजीव है। कवि की दृष्टि प्रधानतया भाषा के कलापक्ष पर है पर भावों को न बिगड़ने देने की ओर भी उसका पूर्ण ध्यान है। भक्तिविषक कविताओं में उसकी दृष्टि भावों की ओर अधिक हो जाती है। फिर भी कविता के अभ्यासी सिद्ध कवि की पदावली

वैसी ही सजी और अलंकृत स्वतः बनती जाती है। इनका प्रकृति-वर्णन मध्यकालीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ है। उसमें प्रकृति के साथ मानव-भावनाओं का अपूर्व सामञ्जस्य स्थापति किया है। शृंगार के उद्दीपन की सामग्री तो इन्होंने प्रस्तुत की ही है। उसमें कहीं-कहीं प्रकृति का सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट चित्रण भी है। इन्ही गुणों से इनका षट् ऋतु वर्णन हिन्दी साहित्य में सर्वप्रिय है। चाहे उनकी कविता इतनी मूल्यवान् न हो जितनी सेनापति जी स्वयं समझते थे और जिसके कारण उसके चोरी जाने का उन्हें बडा भय था, पर उसकी उत्कृष्टता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। वे हिन्दी के मध्यकालीन अच्छे कवियों की मंडली के सेनापति हो सकते हैं।

प्रश्न—९ सेनापति को आप भक्त या रीति सम्बन्धी कैसा कवि और क्यों मानते हैं ?

उत्तर—यद्यपि सेनापति जी की कविता में श्लेष, उपमा और उत्प्रेक्षा आदि का आग्रह है तथापि भावना की दृष्टि से वे शुद्ध भक्त थे। उन्होंने रामायण और राम रसायन की रचना की है। श्लेष वर्णन में भी उन्होंने राम, सीता, सूर्य और शिव पर कवित्त रचे हैं। वे राम के उत्कृष्ट भक्त थे। राम-रसायन तो भगवान् राम के ईश्वर निरूपण में ही अधिकांश लिखा गया है। भगवान् राम ही उनके एकमात्र आधार थे. जैसा कि उन्होंने व्यक्त किया है—

ऐसे रघुवीर कौ, अधीर ह्वै सुनावौं पीर
बन्धु भीर आगे सेनापति भली मौन है।
साँवरे बदन, ताहीं सारंग-धरन बिन,
दूजौ दुःख-हरन हमारौ और कौन है।"

भगवान् की कृपा और अपनी शुद्ध भक्ति पर उन्हें पूर्ण भरोसा था और इसके बल पर वे कलिकाल की कोई परवाह नहीं करते थे। वे जानते थे कि उनकी भक्ति सच्ची है भगवान् उन्हें अच्छी प्रकार जानते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि हनुमान्, विभीषण आदि भी अभिमान छोड़ कर मेरा सम्मान करते हैं।

मोहि महाराज आप नीके पहिचानै, रानी
जानकीयौ जानै हेत लछन कुमार को।
बिभीषन हनुमान, तजि अभिमान मेरौ
करैं सनमान जानि बड़ी सरकार को।

ऐरे कलिकाल ! मोहिं कालौ न निदर सकै,
तू तौ मतिमूढ़ अति कायर गँवार को।
'सेनापति' निरधार पाइ मोक्ष वरदार,
हौं तो राजा रामचन्द्र जू के दरबार को ॥

सेनापति जी भी राम कृपा का वर्णन कवि-समाज के लिए आवश्यक और अनिवार्य मानते थे। उनकी भी धारणा थी कि बिना राम गुणगान किए कवि को मुक्ति नहीं मिलती। वे गंगा के भी परम भक्त थे और राम कथा को गंगा की धारा समझते थे —

तीरथ सरब सिरोमन सेनापति जानी,
राम की कहानी गंगा धार सो बखानी है।"

सेनापति जी को काव्य के सम्बन्ध में चमत्कार और अलंकार वृत्ति प्रिय थी। शब्द-चमत्कार और शब्द-सौंदर्य को ही वे काव्य का लक्ष्य मानते थे। फिर भी राम-काव्य की रचना में इस वृत्ति को छोड़ने को तैयार थे और उसमें दोषों की स्थिति भी उन्हें स्वीकार थी—

होति निर्दोष, रवि जोति सी जगमगाती,
तहाँ कविताई कछु हेतु न धरति है।
ऐसोई सुभाव हरि कथा कौं सहज जातैं,
दूषन बिना ही भूषन सौं सुधरति है।
कीने हैं कवित्त कछु राम की कथा के तामैं,
दीजिए न दूषन कहत सेनापति है।
आप ही विचारौ तुम जहाँ खर दूषन है,
सो अखर दूषन सहित कहियतु है ॥

राम नाम के प्रति भी उनकी ऐसी ही आस्था थी जैसी तुलसीदास आदि अन्य भक्तों की। राम नाम ही सब मन्त्रों का मन्त्र है, वेद का सार है। इसी का आधार लेकर शिव, हनुमान, विभीषण, वाल्मीकि आदि महान् बने। राम नाम तो कामधेनु है—

सिवजू को निद्धि, हनुमान हू की सिद्धि,
विभीषन की समृद्धि बाल्मीकि बखान्यौ है।

विधि को अधार, चारयौ बेदन को सार, जप
जज्ञ को सिंगार, सनकादि उर आन्यो है ॥
सुधा के समान, भोग मुकुति निधान, महा
मंगल निदान सेनापति पहिचान्यो है ।
कामना को कामधेनु, रसना को बिसराम
धरम को धाम राम नाम जग जान्यो है ॥

सेनापति जी ने गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति बड़ी रामायण की रचना नहीं की, केवल ७६ छंदों में राम-कथा कह दी और राम-कथा में भी उन्होंने तुलसीदास का आधार न लेकर वाल्मीकि का आधार लिया। उन्होंने तुलसीदास का उल्लेख भी नहीं किया यद्यपि कवित्त-रत्नाकर के रचना काल (सं० १७०६) से पूर्व तुलसी-रामायण की काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी। फिर भी सेनापति की भक्ति और विचार-धारा गोस्वामी जी के सदृश ही थी। राम को यह परब्रह्म मानते थे और उनके निराकार और साकार दोनों रूपों को मानने को तैयार थे।

"दृगन सो देखै विस्व रूप है अनूप जाकौं,
बुद्धि सौं बिचारैं निराकार निराधर है ॥"

भगवान् भक्त-वत्सल हैं और सेवक के दुःखों को बड़ी प्रसन्नता और तत्परता से दूर करते हैं—

"अरि करि अंकुश विदारयौ हरिनाकुस है,
दास कौं सदा कुशल देत जे हरष हैं ॥"

सेनापति जी तो तुलसीदास जी से भी अधिक भगवान् पर दृढ़ विश्वास करते हैं। तुलसीदास की तो विनय-पत्रिका पर भी भगवान् के हस्ताक्षर हो गये थे फिर भी वे निश्चिन्त थे पर सेनापति जी तो सर्वथा निर्द्वन्द्व थे—

"सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप,
जाकी सब लागे पीर ताही रघुवीर ही।"

अन्य भक्तों की भांति सेनापति जी भी न केवल राम-भक्त थे वरन् वे शिव और गंगा के भी परम भक्त थे। तुलसी की भांति वे शिव और राम में अभेद तो नहीं मानते थे, शिव को राम का दास ही मानते थे पर इतना

अवश्य मानते थे कि शिव और गंगा की आराधना से राम-भक्ति प्राप्त होगी। इसीलिये उनकी तो उत्कट इच्छा थी कि वे काशी में जाकर गंगास्नान करें और शंकर की आराधना द्वारा राम-नाम प्राप्त करें—

"वारानसी जाइ, मनिकर्निका अन्हाइ, मेरो
संकर तैं राम-नाम पढ़िवे को मन है।"

तथा— "राम पद संगिनी, तरंगनी है गंगा तातैं,
याहि पकरे तै पांइ राम के पकरिये।"

तात्पर्य यह कि सेनापति में भक्ति-भावना प्रचुर-मात्र में प्राप्त होती है। काव्य की अभिव्यक्ति अवश्य ही उनमें काव्य शास्त्रीय थी, पर इससे तो उनके काव्य का गौरव ही बढ़ा है। उनके भक्ति-भाव तथा उच्च काव्यत्व को देखकर ही मिश्रबंधुओं ने इन्हें नवरत्नों के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ कवि बताया था। जो भी हो इनके भक्ति-भाव को देख कर हम इन्हें नन्ददास जी की भांति भक्त कवि ही कहेंगे, रीति काव्यत्व का गुण उनकी अलग विशेषता है।

देव

प्रश्न १०—देव की कविता के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—महाकवि देव के काव्य में प्रधानतया तीन भावनायें ही परिलक्षित होती हैं— १. शृंगार- भावना, २. वैराग्य और भक्ति-भावना, ३. रीति विवेचन। इन्हीं को हम क्रमशः संक्षेप में कहेंगे।

शृंगारिकता—भारताय साहित्य में शृंगार रस-राज कहा गया है। संस्कृत के सभी चोटी के कवि शृंगार-रस के कवि हुए। भक्तों में शृंगार को ही अपने काव्य का प्रधान रस चुना और देव-आलम्बन के आधार पर शृंगार का विस्तृत निरूपण भी किया और रस को पुनीत भी रक्खा। रीतिकाल में शृंगार शारीरिक धरातल पर आ गया। उसका दैवत्व और अपार्थिवत्व लुप्त हो गया, फलस्वरूप शृंगार-भावना प्रेम न रह कर विलास मात्र रह गयी।

देव जी प्रधानतया शृंगार के ही कवि थे। एक-दो ग्रंथों को छोड़ कर शेष सभी ग्रंथों में शृंगार रस का ही विस्तृत वर्णन मिलता है सच तो यह है कि जितना विस्तृत विवेचन देव ने शृंगार का प्रस्तुत किया उतना और किसी ने नहीं किया। देव जी नव रसों का मूल शृंगार को ही मानते थे

"भूलि कहत नव-रस सुकवि मूल श्रृंगार ।
तेहि उछाह निर्वेदत्त वीर-शान्त संचार -"

(भवानी विलास)

अर्थात् मूल रस श्रृङ्गार, है क्योंकि श्रृङ्गार, वीर और शांत ही प्रधान रस हैं वीर और शान्त भी शृङ्गार के उत्साह और निर्वेद से जन्म पाते हैं। शृङ्गार में सभी विभाव और अनुभाव होते हैं। अन्य आचार्यों ने शृङ्गार में २९ संचारी माने थे पर देव तो तैंतीस संचारी मानते थे और उसके उदाहरण में उनका प्रसिद्ध पद अपने संग्रह में भी है—

वैरागिनि किधौं, अनुरागिनि सुहागिनि तू
देव बड़भागिनि लजति औ लरति क्यों,
सोवति, जगति, अरसाति, हरसाति, अनखाति,
बिलखाति दुख मानति डरति क्यों।
चौंकति चकति उचकति औ बकति,
विथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों।
मोहति मुरति सतराति इतराति साह—
चरज सराहौं आहचरज भरति क्यों ॥

इसका स्पष्टीकरण भी देव जी ने ही कर दिया था—

वैरागिनि 'निर्वेद', 'उत्कण्ठता' है अनुरागिनि,
'गेर्व' सुहागिनि जानि, भाग 'मद ते' बड़भागिनि ।
'लज्जा' लजति 'अमर्ष' लरति; सोवति 'निद्रा' लहि,
'बोध' जगति 'आलस्य' अलस, हर्षति 'सुहर्ष' गहि ।
अनखाति 'असूया' 'ग्लानि, 'श्रम', विलख दुखित दुख दीनता।
'संकट' डराति, चौंकति, 'त्रसति' चकित 'अपस्मृति' लीनता ॥
उचकि 'चपल' 'आवेग' 'व्याधि' सौं विथकि कु पीरति ।
'जड़ता' थकति 'सुध्यान' चित्त 'सुमिरन' धर 'धीरति' ॥
'मोह' मोहि 'अवहित्थ' मुरति, सतराति 'उग्र' गति ॥
इतरैबो' 'उन्माद', साहचरजै सराह मति ।
अरु आह चरज बहु 'तर्क' करि 'मरन' तुल्य-मूरछि परति,
कहि देव-देव तैंतीस हूँ संचारित तिय संचरति

देव जी का मत था कि जीवन का लक्ष्य मुक्ति है और मुक्ति का फल भोग है साधना, मुक्ति और भोग इन तीनों का मूल है काम। बिना काम पूर्ण हुए परमपद भी तुच्छ है।

"बिना काम पूरन भये, लगै परमपद छुद्र।
रमनी राका-ससिमुखी, पूरे काम समुद्र॥

काम की महत्ता के साथ उन्होंने रमणी की महत्ता बतलायी क्योंकि वही कामपूर्ति का आधार है यही कारण है कि उनके काव्य का मुख्य विषय नायिका है, उसी के भेदों व उपभेदों में उन्होंने अपनी काव्य शक्ति लगा दी। उनके संयोग वर्णन में सबसे प्रधान वस्तु यह है कि कवि की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों में लिपटी हुई है। उसमें ऐन्द्रियता अधिक है, वासना की गंध है मिलन के अन्तर्गत संयुक्त प्रेमियों के सभी मानसिक और शारीरिक सुखों का वर्णन होता है। नव-दम्पति की रस-चेष्टाएँ, सुरत, विलासपूर्ण दिनचर्या और विहार का वर्णन विस्तार से मिलता है। संग्रह का प्रथम पद ही द्रष्टव्य है—नववधू का गौना है, वस्त्राभूषण दिये जा रहे हैं, सखियां ससुराल की चर्चा कर रही हैं—इसीमें कोई कहती हैं ऐसी वाणी बोलना कि 'मनभावन के मन भाये' बस इतना सुनना था कि उसके "ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर से उठि आये।"

नायिका नहाकर निकल रही है उसका वर्णन करते हुए कवि देव उसके अंग-अंग पर दृष्टि डालते हैं। पीले रंग की साड़ी भीज कर अंग से अभिन्न हो गयी है, उरोजों की आभा आभासित है' अलकों से बूंदें चू रही हैं। साथ ही साथ सम्भवतः उसके प्रिय भी सरोवर पर उसके सौंदर्य का रस लूट रहे हैं अतः नैनों से हंस कर नीवी को उकसा कर हंसती हुई वह सरोवर से निकल रही है।

मिलन के प्रसंग में परिहास का भी सुन्दर और प्रसंगानुकूल वर्णन मिलता है। परिहास प्रच्छन्न भी मिलता है और स्फुट भी। विहार का वर्णन बहुत ही अधिक है।

विरह के अंग हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा। देव के विरह में प्रवास-जन्य विरह कम है। उन्हें तो मान या खंडिता का विरह ही अधिक

प्रिय है प्रवास-जन्य और गम्भीर विरह कवि के लिय ग्राह्य नहीं। पूर्वराग और खण्डिता के विरह अवश्य ही अपूर्व हैं। इनमें पीड़ा की अनुभूतियाँ सच्ची और धार्मिक हैं। बिहारी की भाँति अतिशयोक्तियों और ऊहा का प्रयोग कम है। पूर्वराग का वर्णन करते हुए एक पद में कवि ने लिखा है कि प्रेम के कारण नायिका के शरीर के सभी पंचतत्वों का ह्रास हो गया है फिर भी मिलन की आशा से शरीर का अस्तित्व बना है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
जीव रह्यो मिलिबेई की आस, कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हंसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

खंडिता के तो एक से एक अनुपम छन्द देव काव्य में मिलते हैं—प्रातः काल प्रीतम आये हैं उनकी पलकों में पीक झलकती है और छैल की छाती में ओछे उरोजों की छाप बनी है यह देखकर नायिका में रोष उत्पन्न हो गया है। अथवा—

"प्यारी के पीक भरे अधरान, उठो मनो कंपत कोप की कोपैं"

पूर्व दिशा की ललायी है मानों खंडिता का खून उसने पिया है।

"लोहू पियोजु वियोगिनी को, अहै सामुहें लाल पिसाचिनि प्राची"

प्रवास वर्णन में एक बार नायिका विरह से सूख गयी है, आने की अवधि भी आ गई हैं, कौए को उड़ाने लगी तो उसके हाथों की चूड़ियाँ ही गिर गयीं और काग के गले में जा पड़ीं।

"हाथ उठायो उड़ाइवो को, उड़ी काग गरे परि चारिक चूरी।"

तथा—

'देव' कहै सांसनी ही अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात एती ससकी सरकराति।
लोटि लोटि परति करौट दुख बाढ़ी लैल,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पर फरफराति॥

वैराग्य और भक्ति भावना—देव में राग की थकान में वैराग्य की कविता मिलती है —

हाय कहा कही चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी,
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तउ तिसना विनसानी।
दाड़िम दाख रसाल सिता मधु ऊख पिये औ पियूष सो पानी,
पै न तऊ तरुनी रस के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी॥

अपने मन को भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
× × ×
भारी प्रेम पाथर नगारो द गरे ते बाँधि,
राधावर विरुद के वारिधि में बोरतो॥

भगवान् के स्मरण में उनका नखशिख वर्णन का पद भी द्रष्टव्य है—

"पाँयनि नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसैं पट पीत, हिए हुलसै वनमाल सुहाई॥
"कोऊ कहै कुलटा कुलीन अकुलीन कहै,
कोऊ कहै रंकिनी कलंकिनि कुनारी हौं"

वाला पद भी भक्ति-भावना का सुन्दर पद है।

रीति-ग्रंथ—देव में आचार्यत्व की मात्रा पर्याप्त थी। इनके भावविलास और शब्द-रसायन तो रीति-ग्रंथ थे जिनमें काव्य के सारे अंगों का विवेचन है, अन्य ग्रंथों में नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण है उनमें कवित्व तो था ही आचार्यत्व भी प्रचुर मात्रा में था इसीलिए उन्हें रीतिकाल का प्रमुख कवि और आचार्य कहा जाता है।

प्रश्न ११—देव के काव्य तथा उनसे पूर्ववर्ती काव्यों में भाव-साम्य दिखा कर देव की मौलिकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—देव जी के पदों से संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक कवियों की कविताओं में साम्य है संस्कृत के अमरुक शतक, कालीदास, प्रसन्नराघव आदि से अनेक छन्द ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। प्राकृत और अपभ्रन्श में भी कुछ ऐसे पद मिलते हैं जिनसे मिलते-जुलते भाव कवि देव के छन्दों में मिलते हैं। हिन्दी के कृष्ण भक्त तथा बिहारी आदि और भी रीतिकालीन

कवि देव से पहले हो चुके थे। देव के अनेक पदों तथा पूर्ववर्ती कवियों के भावों में बड़ा साम्य मिलता है। जैसे—

सूरदास जी का पद है—

'बाँह छुड़ाये जात हो' निबल जानि के मोहि।
हिरदे ते तब जाहुगे, मरद बखानौं तोहि॥"

इसी को देव ने गोपियों के कथन में प्रयुक्त किया है—

"ऊधो हहा हरिसों कहियो तुम हौ न यहाँ यह हौं नहि मानौं,
या तन ते बिछुरे तो कहा, मनते अनतै जो बसौ तब जानौं।"

विद्यापति के भी भाव देव में मिलते हैं—

सैसव जोवन दुहूं मिलि गेल
स्रवन के पथ दुहु लोचन लेल।
कटिक गौरव पाओल नितम्ब
एक क खीन अओक अवलम्ब।

(विद्यापति-पदमावती)

देव में यही भाव इस प्रकार मिलता है—

कानन की ढिग ह्वै दृग दौरत, चातुरी चाउ चावउ पसारो।
दाब्यो दुहून दुहूं दिशिते भयो दूबरी सो दबि लक विचारो॥

कविवर बिहारीलाल जी के कई दोहों तथा देव के कवित्तों का भाव एक ही है अन्तर केवल यह है कि बिहारी ने कम शब्दों में सुन्दर संकेत किया है पर देव ने एक सुन्दर वातावरण युक्त साङ्ग चित्र उपस्थित किया है। जैसे, बिहारी का दोहा है—

·········ससिमुखी, कुच आंचर बिच बांह।
भीजे पट तट को चली, न्हाइ सरोबर माँह॥

इसी पर देव का पद है—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकननि की
बिना बेनी बन्धन वदन सोभा विकसी॥

तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप पुंज,
गुंजरत मंजु रव बोलै बोल पिक सी।
नैनन हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ हंसी
ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी ॥

अथवा—

कोहर सी एड़ीन की, लाली देखि सुभाय।
आई जावक देन को, आपु भई बेपाय ॥ (बिहारी)

इसी पर देव का पद सुनिए—

आई हुती अन्हवायन नायन, सौंधे किये पग सूधे सुभायनि,
कंचुकी खोली धरी उबटैवे को, ईंगुर के रंग सी सब ठायनी।
'देवजू' रूप की रासि निहारत, पाँय ते सीस लौं सीस ते पांयनि,
ह्वै रही ठौरहि ठाढ़ी ठगी सी, हंसै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइनि ॥

महाकवि केशव के भी भाव देव जी ने लिए हैं—

प्रेत की नारि ज्यों तारे अनेक, चढ़ाय चल चितवै चहूं घाती।
कोढ़िनि सो कुकुरे कर कंजनि, 'केशव' सेत सबै तन ताती ॥
भेंटत ही बरै ही अबही, तो बरयाय गई ही सुखै सुख साती।
कैसी करौं कहु कैसे बचौं, बहुर्यो निशि आइ किये मुख राती ॥

केशव ने रात्रि को लाल मुख वाली 'प्रेत की नारि' कहा था, उक्ति संयोगिनी की थी 'देव' ने इसी को वियोगिनी की युक्ति में 'पिशाचिनी' कहा है—

वा चकई को भयो चित चीतो चितौति जहूँ दिसि चाय सों नाची,
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि, जामिनी जोति मनों जम जाँची।
बोलत बैरी बिहंगम देव, संजोगिनि की भई संपति काँची,
लोहू पियो जु वियोगिनी को, सुकियो मुख लाल पिसाचिनि प्राची ॥

मतिराम के भावों को भी देव ने लिया है जैसे—

सपने में लालन चलत, लखि रोई अकुलाइ।
जाचत हू पिय हिय लगी, हिलकी तऊ न जाय ॥ (मतिराम)

संग सोवत ही पिय के सुख सों मुख सों नहि योग वियोग सहै,
सपने महँ स्याम विदेस चले, सु कथा कवि देव कहां लौं कहै।

तिय रोइ सकी न सुनी सिसकी, हँसि प्रीतम त्यों भरी अंक गहै,
बड़ भागी लला डर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै। (देव)

देव के भी भाव उनके परवर्ती कवियों ने लिए हैं। भिखारीदास, रसलीन, बेनी, पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, भारतेन्दु और रत्नाकर ने अनेक भाव तथा शैली आदि देव से प्राप्त किये हैं। वास्तव में आदान-प्रदान काव्य में सदा से चलता आया है और यह कोई दोष नहीं है। भाव साम्य या आदान-प्रदान से कवियों की मौलिकता में अन्तर नहीं पड़ता जो कि प्रत्येक कवि अपने ढंग से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति-कौशल में ही मौलिकता आ जाती है। कविता विज्ञान तो है नहीं जहाँ अभिव्यक्ति का कोई महत्व न होकर केवल तथ्य का महत्व हो। एक ही भाव पर जब दो कवि लिखते हैं तो दोनों की कविता में नया-नया रस प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए ऊपर के उदाहरणों में बिहारी और मतिराम के दोहों में मनोहारी संकेत है पर 'देव' उसी का विस्तृत और साफ चित्र देते हैं। कुछ लोगों को संकेत प्रिय है तो कुछ को विस्तार। परवर्ती कवि पूर्ववर्ती की रचनाओं से प्रभावित होता ही हैं, दूसरे के भाव उसमें पच जाते हैं और उन्हें वह फिर नवीन रूप में प्रस्तुत करता है, अतः भाव साम्य तो स्वाभाविक पर है उसमें नवीनता, कमनीयता अवश्य आ जाती है। इससे परवर्ती कवि पर न तो चोरी का आक्षेप हो सकता है और न उसकी मौलिकता में किसी प्रकार की कमी आती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कोई नवीन बात नहीं लिखी है, भिन्न-भिन्न धर्म और काव्य-ग्रंथों के ही भाव मानस में दर्शाये हैं। सूरदास जी पर भी भागवत और विद्यापति आदि के अनेक प्रभाव थे। बिहारी के दोहों में भी पूर्ववर्ती संस्कृत और प्राकृत के शृङ्गार ग्रन्थों के भाव हैं। इस प्रकार भाव-साम्य के कारण देव की मौलिकता में कोई कमी नहीं मानी जा सकती। देव ने तो जान-बूझ कर भी दूसरों के भावों में नया सौंदर्य ढालना चाहा है, अपूर्ण चित्रों को पूर्ण किया, रंग भरा है, पृष्ठभूमि बनाई है और खूब सजाया है। वैसे रीतिकालीन अन्य कवियों की अपेक्षा देव ने भाव भी कम लिए हैं, इनमें आत्मतत्व की प्रधानता थी। अतः इन्हें दूसरों के भाव लेने का अवसर ही नहीं था।

प्रश्न २१—देव के भाषा-सौंदर्य की सोदाहरण विवेचना कीजिए। (सं० २००३)

उत्तर— देव का महाकवित्व प्रधानतया उनके भाषा सौष्ठव पर ही आधारित है। भाषा उनकी इतनी सजी हुई, प्राञ्जल कर्णप्रिय और सुकुमार है कि उनके सवैये और कवित्त हिन्दी साहित्य में अलग ही दिखाई पड़ते हैं। इनकी ब्रज-भाषा पूर्ण साहित्यिक है। कवि ने प्रयत्नपूर्वक चुन-चुन कर शब्दों का प्रयोग किया है। उसे अनुप्रासादि से ढक दिया है, फिर भी उसका स्वाभाविक माधुर्य नहीं जाने दिया है।

देव को अनुप्रास बड़े प्रिय थे, अनुप्रासों के बिना तो उनकी एक पंक्ति भी कदाचित् ही मिले।

वारों कोटि इन्दु अरविन्द रस विन्द पर मानै,
ना मलिन्द विन्द सम के सुधासरौ।
मलय मल्लिका मालती कदम्ब कचनार,
चम्पा चापे हु न चाहे चित्त चरन टिकासरौ।"

में कैसी सुन्दर अनुप्रास की छटा है। पाठक अथवा श्रोता एक बार अनुप्रास का रस प्राप्त करता है। अर्थ का आनन्द भी जो कि देव में सर्वत्र ही मनोहर मिलता है उसको द्विगुण कर देता है।

अनुप्रासों के सौंदर्य को लाने में यदि शब्दों की तोड़-मरोड़ और निरर्थक शब्दों का प्रयोग भी अभीष्ट हुआ तो भाषा लालित्य के मोह में उन्होंने वैसा भी कर दिया है। किन्तु ऐसी अवस्था में भी अर्थ का अनर्थ हो गया हो ऐसी बात नहीं है। पद कोई न कोई साधारण अर्थ का देने वाला तो होता ही है। हां, अर्थ चमत्कार चाहे न हों।

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनन्त पद,
दूनी कै नदीस नद इंदिरा फुरै परी।"

में अनुप्रासिकता की छटा ही प्रधान है। अर्थ निकालने के लिए पाठक को खींचतान करनी पड़ती है। "फुरै परी", 'देव देवकी दुरै परी" और "जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी" अन्त्यानुप्रास के लिए ही 'फुरै", 'दुरै" 'कुरै", के प्रयोग हुए हैं। जिस में 'फुरै", और 'दुरै का प्रयोग लगभग निरर्थक सा ही है और 'कुरै' में बुन्देलखण्डी प्रयोग हो गया है।

महाकवि देव का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। शब्दों का चयन अत्यन्त ही सावधानी से किया है। ऐसा कोई भी कवित्त इनका शायद ही मिले जिससे शब्दों का लालित्य, अनुप्रास और उसकी ध्वनि न मिले। प्रतीत होता है कवि को इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग स्वतः ही मिलते जाते हैं।

देव ने अनुप्रासों के साथ ही साथ बड़ी अनूठी उत्प्रेक्षायें और सुन्दर रूपक प्रस्तुत किये हैं। प्रातःकालीन लालिमा के लिए 'लोहू पियो जु वियोगिनी को सु कियौ मुख लाल पिसाचिनि प्राची' में विरहिणियों की कटु वेदना का सुन्दर स्पष्टीकरण है। कहीं-कहीं पर इनके रूपक गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति बड़े लम्बे भी हैं और सुन्दर भी। 'जोगिन ह्वै बैठी है वियोगिनि की अंखियां' में बहुत ही सुन्दर साङ्ग रूपक है। विशेषता यह है कि एक ओर तो रूपक पूर्ण रूप से चल रहा है दूसरी ओर अनुप्रास अपनी छटा में पूर्ण है और तीसरी ओर अर्थ सौरस्य भी पूर्ण रूपेण है। कम कवियों की कविता में इन तीनों का ऐसा सुन्दर सामंजस्य मिल सकता है।

शब्द भंडार की दृष्टि से यदि हम देखें तो देव की भाषा में संस्कृत के ही शब्द अधिक हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द ब्रजभाषा की प्रकृति के अनरूप नहीं हैं। फिर भी देव की भाषा में तत्सम शब्द भी प्रचुर मात्रा में हैं। इतना अवश्य है कि देव ने संस्कृत शब्दों को भी ब्रज के अनुकूल बनाने का प्रयत्न काफी किया है। 'व' के स्थान पर 'ब' 'श' के स्थान 'स' के प्रयोग बहुत हैं। अरबी, फारसी के शब्द अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। गुलाब, महल, मखमल, कलेजा, जहाज, रुख, शर्बत, गरीब, आदि शब्द तो वास्तव में हिन्दी के ही हैं। पर फर्शबन्द, खवासी, कज्जाक, फरागत आदि शब्द भी मिल जाते हैं पर ये शब्द काफी कम हैं।

देव ने अनुप्रास आदि के लिये अनेक शब्दों को ऐसा तोड़ा-मरोड़ा है कि पता नहीं चलता कि वे किस भाषा के हैं जैसे पूर्णेन्दु का पुमनेन्दु, व्यामोह का व्योह, जल्पना का लपना, पाण्डुर का पण्डुल, हेमन्त का हेउन्त। इन्होने अनप्रास के लिए अनेक नये शब्द गढ़े भी हैं, जैसे—वंशीवारों के वजन पर धनसीवारौ, तनसीवारौ, सहचर के वजन पर रहचर, चहचर, महचर। अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका कोई सिर पैर पता नहीं चलता जैसे—तीभ, धील, कावरू, सीजी, हूक, वसीकने आदि।

व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा बड़ी सदोष है। यमक और अनुप्रास के मोह में उन्होंने लिंग, कारक, क्रिया के रूपों को विकृत कर दिया है 'लहर लहर होत प्यारी की लहरिया" में 'लहरिया' शब्द स्त्रीलिंग है यद्यपि होना पुलिंग चाहिए। क्रिया 'होत' पुलिंग ही है।

वाक्य रचना भी अव्यवस्थित है। अनेक स्थलों पर अन्वय दोष, न्यून-पदत्व, अधिकपदत्व आदि भी मिल जाते हैं।

संक्षेप में देव की भाषा जितनी अधिक अलंकृत, कान्तियुक्त, अर्थ-गांभीर्ययुत है उतनी ही उसमें तोड़-मरोड़; व्याकरण की अव्यवस्थायें तथा रचना-शैथिल्य भी है। देव की दृष्टि भाषा की सजावट की ओर थी, इस सजावट में वे उसके भीतर असावधानी से आजाने वाले दोषों की ओर दृष्टि न डाल सके। फिर भी कवियों को भाषा सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनसे उनके दोष क्षम्य हो जाते हैं। वैसे व्रजभाषा के माधुर्य, संगीत और अर्थध्वनन की जो शक्ति देव की भाषा में है वह किसी अन्य कवि में नहीं। व्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय उन्हें अवश्य मिलना चाहिए।

केशवदास

प्रश्न १३—केशवदास की रामचन्द्रिका पर महाकाव्य की दृष्टि से विचार कीजिये।

उत्तर—महाकाव्य का अर्थ है महान् काव्य पर यह प्रबन्धात्मक काव्य के एक विशिष्ट अर्थ में रूढ हो गया है। इसकी कुछ विशेषतायें अनिवार्य हो गयी हैं। भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार इसका प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष होना चाहिए। किसी देव या महापुरुष के सम्पूर्ण जीवन की कथा होनी चाहिए। उसमें नायक का चरित्र सर्वाङ्गीण धीरोदात्त होना चाहिए। वीर शृंङ्गार अथवा शान्त रस की प्रधानता में यथास्थान सभी रसों का निरूपण होना चाहिए। काव्य सर्गबद्ध शैली पर कम से कम आठ सर्गों में समाप्त होना चाहिए। उसमें विविध छन्दों का व्यवहार भी आवश्यक है और अलंकार तथा काव्य सौष्ठव की दृष्टि उत्कृष्ट होनी चाहिए। महाकाव्य में संवादों की भी गरिमा वांछनीय है। ऋतु, सागर, सरोवर, संध्या प्रातः, वन, पर्वत, नगर आदि के वर्ण भी होने चाहिएं।

पाश्चात्य आलोचकों के मत में महाकाव्य में तीन गुण होने चाहिएं । महान् कथावस्तु, २. महान् पात्र और ३. महान् शैली । भारतीय महाकाव्य की परिभाषा इससे भिन्न नहीं हैं क्योंकि देव या महापुरुष के जीवन की कथा। जिसका प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष होगा अवश्य ही महान् कथा वस्तु होगी । भारतीय महाकाव्य में चारित्रिक दुर्बलता नहीं होती । धीरोदात्तता से स्पष्ट है कि चरित्र महान् होगा । सर्गबद्धता. विविधवर्णन; संवाद, विविध छन्द, अलंकार आदि महान् शैली के अवयव हैं ।

आचार्य केशवदास संस्कृत काव्यशास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे । रामचन्द्रिका की रचना में महाकाव्यत्व पर उनकी सचेष्ट दृष्टि थी । उनके विचार में तुलसीदास जी की दोहा-चौपाई वाली रामायण में काव्य-रसज्ञों को नीरसता मिलती थी अत: उन्होंने बहुछन्दों वाला ग्रन्थ रचा । उन्होंने कहा भी 'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द ।"

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो रामचन्द्रिका में महाकाव्य के सभी लक्षणों का सचेष्ट प्रतिष्ठापन है । ग्रन्थ का प्रयोजन ही उन्होंने आरम्भ में कहा है— वाल्मीक्रि जी ने स्वप्न में बताया कि राम-काव्य की रचना के बिना तुम्हें देव लोक नहीं मिलेगा ।

"न राम देव गाइ है, न देव लोक पाइ है ।"

तभी केशवदास जी ने रामचन्द्रिका की रचना की—

"मुनिपति यह उपदेश दै, जबही भयो अदृष्ट ।
केशवदास तहीं करयो, रामचन्द्र जू इष्ट ।"

रामचन्द्र जी को आरम्भ में उन्होंने ईश्वर कहा है । उनकी धीरोदात्तता काव्य में अनेक स्थलों पर शब्दों से व्यक्त की है । काव्य में ३९ प्रकाश हैं और छन्दों का तो 'अजायबघर' ही है । अवसर और भावना के साथ-साथ छन्द बदलते चले जाते हैं । वर्णनों और संवादों की तो ग्रन्थ में भरमार है । एक-एक से बढ़ कर वर्णन और संवाद हैं । इस प्रकार शास्त्रोक्त महाकाव्यों के सभी लक्षण रामचन्द्रिका में पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाते हैं, पर लक्षणों के कोरे प्रतिपादन से ही तो महाकाव्य नहीं बन जाता ! रामचन्द्रिका में महा-काव्य सम्बन्धी मूल गुण नहीं आ सके ।

महाकाव्य की सबसे प्रधान वस्तु उसकी प्रबन्ध-शृंखला है। कथा का पूर्वापर सम्बन्ध होना चाहिए, एक घटना दूसरे पर आधारित होनी चाहिए। कथा के लिए उचित पृष्ठभूमि होनी चाहिए। महाकाव्य नाटक नहीं है जहां एक घटना के बाद पर्दा गिरा और दूसरी अचानक घटित हो गयी। रामायण में तुलसीदास जी ने राम-बनवास के लिए कैकेयी-मंथरा सम्वाद, कैकेयी-दशरथ संवाद, कैकेयी-राम संवाद करवाये। फिर रामचन्द्र जी की विदाई के पूर्व लक्ष्मण, सीता, कौशल्या सुमित्रा आदि की आपसी वार्तायें, पुरवासियों में शोक, सुमन्त का राम को पहुँचाना, सुमंत का लौटना आदि कितने ही हृदय-द्रावक प्रसंग हैं जो एक दूसरे पर आधारित हैं। इनसे महाकाव्य की कथा शक्ति-शालिनी बनी है पर आचार्य केशवदास ने राम-बनवास नाटकीय करा दिया है। राम को वन जाने की आज्ञा मिली भी नहीं कि "विपिन मारग राम विराजहीं कह कर इनकी कथा अग्रसर हो जाती है। इसी प्रकार आरम्भ में दशरथ का उल्लेख होता है, चारों भाइयों के नाम गिनाये जाते हैं, विश्वामित्र जी अयोध्या में आ धमकते हैं। ३५ छन्दों में तो विश्वामित्र-अयोध्या नगरी की सैर करते हैं पर इसके बाद थोड़े से ही छन्दों में विश्वामित्र, दशरथ वशिष्ठ संवाद भी हो जाता है और वे अपने आश्रम में वापस पहुँच जाते हैं। एक-एक पंक्ति में ताड़का और सुबाहु वध हो जाता है। घटनायें मात्र गिनाई गयी हैं। बीब-बीच में यदि वर्णन आ गये तब तो केशवदास पृष्ठ पर पृष्ठ लिखते जायेंगे। पाठक वर्णनों के चमत्कार तथा उनके कष्टसाध्य अर्थों के उद्‌घाटन में कथा को सर्वथा भूल जयगा। तात्पर्य यह कि महाकाव्य की मूल वस्तु प्रबन्धात्मकता का ही निर्वाह रामचन्द्रिका में ठीक नहीं हुआ है।

महाकाव्य की महानता उसकी कथावस्तु की महनता से आती है और कथावस्तु चरित्रों की महत्ता पर निर्भर होती है। केशवदास जी ने राम को पूर्ण और पर ब्रह्म तो कहा पर उनके चरित्र में गरिमा नहीं दिखाई है। अलंकार-चमत्कार और शब्द-क्रीड़ा के चक्कर में पड़ कर उन्होंने चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान न दिया। उसमें मर्मस्पर्शी स्थलों का सर्वथा अभाव हो गया।

वर्णन और संवाद महाकाव्य के आवश्यक अंग तो हैं पर वर्णनों पर

संवादों की इतनी अधिकता और प्रधानता न होनी चाहिए कि कथावस्तु विशृंखल हो जाय। रामचन्द्रिका के वर्णन और संवाद काव्य की दृष्टि से तो बहुत ही सुन्दर है। प्रकृति वर्णनों में केशवदास जी ने बड़ी शब्द-क्रीड़ा दिखाई है। जैसे—

"विधवा बनी न नारि" में 'विधवा बनी' का अर्थ उन्होंने रक्खा है 'धव' वृक्ष से हीन वाटिका। कल्पनाएं अनेक मनोहर भी हैं। संवादों में तो ये गोस्वामी तुलसीदास से भी बाजी मार ले गये हैं, बात यह है कि एक दरबारी होने के कारण संवादों में पटु होना स्वाभाविक था। संवादों के प्रश्न उत्तर, स्वाभिमान, शानशौकत और राजसी अकड़ आदि बड़े ही स्वाभाविक हैं। पर इनकी अधिकता रामचन्द्रिका को रामायण-नाटक का रूप दे देते हैं। संवाद पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र उतना नहीं उपस्थित करते जितना वाक्पटुता और शब्द-जाल का प्रदर्शन।

रस महाकाव्य का प्राण है। महाकाव्यकार इस सौरस्य द्वारा कथा को हृदयग्राही बनाना है। केशवदास जी को प्रबन्ध या चरित्र में रसानुभूति दिखाना वांछित ही न था वे तो अलंकार-चमत्कार के लोभ में विरोधी रस तक प्रस्तुत कर देते थे। शृंगार के साथ भयानक रस का चित्रण उन्होंने किया है, प्रात:कालीन वर्णन में "दिग्भामिनी के भाल को लाल के साथ" "शोणित कलित कपाल" उपस्थित करते हैं। बात यह है कि उन्हें तो संदेह अलंकार के लिए नयी-नयी कल्पनायें जुटानी थीं, इस कार्य में रस-दोष आ गया। रस की दृष्टि से यदि हम रामचन्द्रिका पर विचार करें तो उसमें कोई विशेष रस न मिलकर भिन्न-भिन्न भाव ही विशृंखल रूप में मिलते हैं।

इनकी भाषा में शब्द-क्रीड़ा इतनी अधिक है, और इतनी खींचतान तथा अप्रचलित अर्थों का उपयोग है कि भावों का पता लगाना टेढ़ी खीर है। फल यह है कि उनके काल में ही किम्वदन्ति बन गई थी कि—

"कवि कहँ देन न चहै विदाई। केशव की कविताई।"

उनकी भाषा में न तो व्रज-भाषा का माधुर्य रह गया और न अर्थ सौरस्य। पाँडित्य-प्रदर्शन के लिए भाषा की दुर्गति हो गयी। महाकाव्य की भाषा साहित्यिक तो होनी चाहिए पर सुबोध अवश्य होनी चाहिए। इसलिए इनकी

भाषा चित्र-काव्य जा अलंकार ग्रन्थ के लिये भले ही उपयुक्त हो पर महाकाव्य के लिये ठीक नहीं है।

संक्षेप में यदि हम रामचन्द्रिका को महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से देखें तो उसके लक्षण तो जैसे-तैसे सभी मिल जायेंगे पर उनका निर्वाह नहीं हो पाया है। नाम गिनाने या शास्त्रीय पद्धति के प्रदर्शन से महाकाव्य नहीं बनता। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस और जायसी के पदमावत में महा काव्य के लक्षणों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं है फिर भी वे महाकाव्य बने हैं, पर रामचन्द्रिका में लक्षणों के विद्यमान होते हुए भी उसे हम सफल महाकाव्य नहीं कह सकते। यदि हम इसे महाकाव्य न कहकर छन्द, अलंकार और शब्द-चमत्कार का ऐसा ग्रन्थ मानें जिसमें राम-कथा गायी गयी है तो यह अपने ढंग का हिन्दी में एक ही ग्रन्थ है।

प्रश्न ?४—रामचान्द्रका में केशव की काव्य-कला का निरूपण करते हुए बतलाइये कि क्या इसमें हृदय-पक्ष सर्वथा शून्य है ?

उत्तर— केशवदास जी हिन्दी के प्रथम गम्भीर रीति ग्रन्थकार के रूप में आये। उन्होंने सर्वप्रथम काव्य-शास्त्र के सर्वाङ्गों पर शास्त्रीय विवेचन किया और हिन्दी रीति काव्य के प्रणेता बने। रामचन्द्रिका में अपने काव्य-सिद्धान्तों का प्रयोग उन्होंने प्रस्तुत किया और प्रयत्नपूर्वक अपनी कला का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ उन्होंने बनाया। केशवदास जी छन्द और अलंकार को कविता का शरीर प्राण समझते थे इसी लिए उन्होंने रामचन्द्रिका में छन्दों और अलंकारों को ही अपना साध्य समझ लिया। केशव की काव्य-कला में इसी लिए छन्द-रचना और अलंकार योजना ही प्रधान है।

छन्दों पर उनकी दृष्टि सब से प्रधान थी इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया—

"रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द।"

ग्रन्थ को एकाक्षरी छन्द 'री धी', 'सी धी' से आरम्भ किया और क्रमशः अक्षरों की संख्या बढ़ाते गये। रामचन्द्रिका में इतने अधिक छन्द बदल-बदल कर प्रयुक्त हैं कि अनेक लोग रामचन्द्रिका को छन्दों का अजायबघर कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामचन्द्रिका के छन्द निर्दोष हैं उनमें कवि

की छन्द जोड़ने की शक्ति दिखाई पड़ती है। छन्दशास्त्र के ग्रन्थ भी छन्द रचना में रामचन्द्रिका से बढ़ नहीं सकते। जिस प्रकार से केशव ने चाहा है, छन्द बनाये हैं और अप्रत्यक्ष रूप से रामचन्द्रिका को छन्द-शास्त्र का उदाहरण ग्रन्थ बना डाला है।

अलंकार को वे काव्य की आत्मा ही मानते थे—

"भूषण बिन न बिरजाई कविता बनिता मित्त।"

इसीलिए रामचन्द्रिका में उन्होंने अपनी सारी शक्ति अलंकारों के एकत्रीकरण में लगा दी। उचित-अनुचित का भी कोई ध्यान न रक्खा। कोई भी प्रसङ्ग उनके सम्मुख आया नहीं कि वे सब कुछ भूल कर अलंकार की छटा में जुट गए। ग्रन्थारम्भ में इन्होंने भी गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति गणेश बन्दना और सरस्वती वन्दना की है। गणेश जी के गुणों को वे सर्वथा भूल गए, उन्हें याद रहा 'गज-वदन' और गज के शब्द के आधार पर सारे पद में उन्हें हाथी की क्रियाओं का सांग रूपक उपस्थित करना मात्र उद्देश्य रह गया। सरस्वती वन्दना में उनका नाम वाणी याद आया कि अनुप्रास जोड़ने लगे— "वानी जगरानी की उदारता बखानी जाय" सरस्वती जगरानी कैसे हो सकती है, उदारता उनमें कहाँ से आई, क्योंकि सरस्वती (विद्या) तो बिना तपस्या के मिलनी नहीं—आदि की ओर उन्हें कुछ सोचना नहीं। इसी प्रकार केवल 'विरोधाभास' का चमत्कार दिखाने लिए लिखा है—

"पति बरनै चार मुख, पूत बरनै पाँच मुख,
नाती बरनै षट्मुख तदपि नई नई"

यहाँ पर पति तो चतुर्मुख ब्रह्मा है, पूत पंचमुखीशंकर खींचतान है, पर षडानन स्वामिकार्तिकेय तो उनके पोते थे, नाती (धेवते) कैसे हो गए थे, इस पर उन्होंने विचार नहीं किया। किसी प्रकार मुखों की संख्या बढ़ानी थी, अलंकार दिखाना था।

केशवदास जी की उपमा या श्लेष उपस्थित करने के लिए कुछ भी करना पड़े, कर देते थे, चाहे उनमें किसी प्रकार का भी साम्य न हो। उनके विचार में तो किसी प्रकार का भी साम्य न होना विशेष चमत्कार उत्पन्न करने वाला होता था। विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए विश्वामित्र के द्वारा राम का परिचय जनक के सम्मुख इस प्रकार दिखाते हैं—

"परदार प्रिय साधु मन वचन काम के"

'परदार' का अर्थ पराई स्त्री है। गुरु के मुख से बालक और राम के लिये ऐसे शब्द का प्रयोग कितना अनुचित है पर विरोधाभास का चमत्कार तो है। इसी प्रकार पर्वत के वर्णन में—

"संग शिवा विराजै गजमुख गाजै, परभृत बोलै चित्त हरै।"

यहाँ श्लेष से शिवा के दो अर्थ हैं—पार्वती और शृगाली। कितनी अनुचित है अलंकार-चमत्कार के लिए पार्वती और शृगाली की उपमा।

अलंकार के लिए खींचतान और विचित्र अर्थ देना केशव की कला है।

"विधवा बनी न नारि"

में विधवा अर्थ 'धव' नामक वृक्ष से रहित 'बनी' (वाटिका)। अर्थ बड़ी कठिनाई से निकला पर परिसंख्या अलंकार तो बन गया। 'धवा' का एक प्रयोग और विचित्र है—पहाड़ के वर्णन में लिखा है—

"शिशु सों लसैं संग धाय"

शिशु रूपी पहाड़ 'धाय' (वृक्ष) के साथ शोभित है। श्लेष तो बन गया पर कहाँ पहाड़ और कहाँ शिशु तथा धाय माँ और कहाँ धाय वृक्ष !

"विषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देत"

यहाँ पर केशवदास जी ने 'विष' का अर्थ 'जल' लिया है, विरोधाभास के चमत्कार के लिये 'विष' का अर्थ 'जल' किसकी सूझ में आयेगा ? अवधपुरी की पताकाओं के वर्णन में लिखा—

अति सुन्दर अति साधु, थिर न रहत पल आधु।
परम तमोमय मानि, दण्ड धारिणी जानि॥"

साधु शब्द का अर्थ है सीधी। एक तो पलका की दण्डधारिणी तपस्वियों से उपमा ही हास्यास्पद है, फिर उनमें विरोधाभास के लिये 'साधु' (सीधी) और चञ्चल का स्वरूप देखना और ओछापन है, पर कुछ हो श्लेष, उपमा, रूपक और विरोधाभास साथ-साथ विद्यमान तो हैं।

प्रात:काल के वर्णन में संदेह अलंकार के चमत्कार दिखाते हुये लिखा है—

परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट, किधौं शक्रछत्र मढ़यो मणिक मयूखपट
कै शोणित कलित कपाल भर किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत, दिग्भामिनि के भाल को।"

मंगल और शुभ "सिन्दूरपूर मंगल घट" के साथ कापालिक काल का 'खून से भरा हुआ कपाल' कितना अनुचित है! साथ ही 'दिशा-सुन्दरी के मस्तक का लाल' भी है। भयानक के साथ शृंगार, पर केशवदास जी इसमें चमत्कार मानते थे, इसी में कला समझते थे, इनमें रस, औचित्य आदि का दृष्टिकोण न होकर केवल अलंकार-वैचित्र्य ही है।

केशवदास जी की अलंकार-योजना सर्वत्र ही ऐसी अनौचित्य और चमत्का-युत नहीं हैं। अनेक स्थलों पर उनकी अलंकार योजना बड़ी ही उत्तम और अर्थपूर्ण है। जैसे—

लक्ष्मण दासी वृद्ध सी आई सरद सुजाति।
मनहुं जगावन को हमें बीते वर्षा राति॥

कास के सफेद फूलों के कारण तुलसीदास जी ने भी शरद की उपमा वृद्धा से दी है। शरद् ऋतु में वर्षा ऋतु के बन्द कार्य आरम्भ हो जाते थे अतः उपमा बहुत सुन्दर है।

"चढ़ा गगन तरु धाय, दिनकर वानर अरुन मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका-कुसुम बिन॥

प्रात:काल में लाल वर्ण सूर्य निकलता है और तारों को विलीन करता है अत: उपमा उपयुक्त है। इसी प्रकार सीता के अग्नि प्रवेश के वर्णन में उपमा गम्भीर और प्रसंगानुकूल है—

कि सिंदूर शालाग्र में सिन्धु कन्या,
किधौं पद्मिनी सूर सयुक्त धन्य।
सरोजासना है मनो भास बानी,
जपा पुष्प कै बीच बैठी भवानी॥"

जपा पुष्प आग की भाँति लाल होता है और काली-पूजन में प्रयुक्त जपापुष्प के बीच भवानी की उपमा बड़ी ही अनुरूप है।

केशवदास जी का हृदय पक्ष सर्वथा निर्बल नहीं था, जैसा पं० शुक्ल ने लिखा है, उन्होंने स्थल-स्थल पर मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये हैं पर चमत्कार को इतनी प्रधानता उन्होंने दी है कि वे लुप्तप्राय हो गये हैं। उनके हृदय-पक्ष को हम राजा दशरथ में देख सकते हैं। वृद्ध पिता में कैसा पुत्र-वात्सल्य होता है, वह वहाँ मिलता है। राम के वनवास के प्रसंग में लिखते हैं—

"हिय फाट्यो ज्यों जीर्ण दुकूल"

श्रृंगारवर्णन में भी राम-सीता के मिलन में उनका हृदय पक्ष दिखाई पड़ता है। "कैशव कैसे हैं दीठिन ईठि" विरह-वर्णन में मर्मस्पर्शिता के दर्शन हो जाते हैं। रौद्र और वीर-रस में तो इसका पूरा परिपाक मिलता है।

तात्पर्य यह कि केशवदास जी सहृदय तो थे पर उन्हें आश्चर्यत्व प्रिय हो गया था। हिन्दी में रीति-ग्रन्थ थे ही नहीं। संस्कृत रीति-ग्रन्थों के प्रभाव में वे रीति-ग्रन्थकार ही हुए। 'रामचन्द्रिका' भी एक प्रकार से छन्द और अलङ्कारों का उदाहरण ग्रन्थ ही उन्होंने बनाया, इसलिए वे उसमें महाकाव्य के अवयव भरने में असमर्थ हो गए।

प्रश्न १५—"यदि अलङ्कारप्रियता आड़े न आती तो केशवदास का प्रकृति-चित्रण हिंदी कवियों में बहुत सुन्दर होता।" इसे उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। (संवत् २०००)

उत्तर—आधुनिक काल के पूर्व हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण कवियों का वर्ण्य-विषय नहीं था, अधिकांश कवि प्रकृति-चित्रण उद्दीपन के रूप में करते थे। सेनापति और गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवश्य ही प्रकृति-वर्णन विषय के रूप में किया है पर उनमें भी प्रकृति-चित्रण प्रधान नहीं। गोस्वामी जी ने प्रकृति के उन्हीं अङ्गों को लिया है, जिनसे वे संसार के लोगों को कुछ उपदेश कर सकें या उनके प्रबन्ध में कुछ सहायता मिल सके। उदाहरण के रूप में उनके वर्षावर्णन और शरद्वर्णन उपदेशों से भरे हैं। वर्षा और शरद् ऋतु के चित्रण उनके उतने नहीं जितने उपदेश हैं। सेनापति ने ऋतु-वर्णन अच्छा किया है, प्रकृति पर्यवेक्षण भी कुछ अच्छा है, पर वे आलङ्कारिकता और उक्ति-वैचित्र्य की ओर अधिक झुक गये हैं, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और सभी अङ्गों पर दृष्टि उनकी भी नहीं जा सकी है। सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों के प्रकृति-चित्रण तो केवल उद्दीपन के लिए ही हैं। केशवदास जी ने रामचन्द्रिका में अच्छे प्राकृतिक वर्णन करने का प्रयास किया है। प्रातःकाल के वर्णन में सूर्योदय, लालिमा, कुमुदिनी का सकुचना, चकोर की पीड़ा, पद्मिनी का खिलना, सिन्धु में व्योम की लाली, सूर्य का आकाश पर चढ़ना और ताराओं का विलीन होना, चन्द्रमा का हीन-

द्युति होना, फल, फूल और तरुओं का खिलना आदि सभी बातों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार वाटिका-वर्णन में भी उनका प्रकृति-पर्यवेक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। परन्तु जहाँ वे प्रकृति के विभिन्न अङ्गों पर दृष्टि डालते हैं वहाँ अपना अलङ्कार-चातुर्य भी दिखाते हैं। यह आलङ्कारिकता इतनी बढ़ जाती है कि पाठक को उस बात का पता भी नहीं रह जाता कि वह प्रकृति-वर्णन पढ़ रहा है, वह भी केशवदास जी के अलङ्कारों में ही मग्न हो जाता है। प्रात:कालीन सूर्य की लालिमा का उल्लेख किया ही था कि कवि की कल्पना की दौड़ लगने लगती है। वह उससे लक्षण का अनुराग देखता है; क्योंकि काव्य-परिपाटी में अनुराग का रङ्ग लाल माना गया है, उसी पर सन्देह और उपेक्षा अलङ्कारों की छवि लाने के लिए उसी में 'कोक-नद कोक-प्रेम', 'परिपूरन-सिन्दूर', 'मङ्गल-घट', 'शक्र का मानिक मयूख वाला क्षत्र', 'कापालिक काल का शोणित कपाल' दिग्भामिनी का भाल' की कल्पनाएँ प्रस्तुत करने लगता है। इसी प्रकार सूर्य को आकाश में चढ़ते देख पेड़ में चढ़ने वाले लालमुख-वानर का जो चढ़कर कुसुमों को झकोरकर गिरा देता है साँग रूपक उपस्थित करते हैं। स्पष्ट है केशवदास जी प्रात:कालीन वर्णन तो गौणरूप में कर रहे हैं! गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह—

> "अरुणोदय सकुचे कुमुद उडुगण ज्योति मलीन।
> तिमि तुम्ह को आगमन सुनि, भये नृपति बल हीन।"

केवल सूर्योदय, कुमुद और ज्योतिहीन तारागण का नाम लेकर ही चुप नहीं होते। अलङ्कारों ने केशवदास जी के द्वारा प्रस्तुत किये हुए वर्णन को विकृत कर दिया है, 'कोकनद कोक प्रेम-मय' और 'दिग्भामिनी के भाल के लाल' का सौंदर्य, 'कापालिक-काल के शोणित कपाल' से नष्ट हो जाता है। प्रकृति का बिम्ब ग्रहण कराना तो दूर की बात है अर्थ ग्रहण भी नहीं हो पाता, प्रकृति बेचारी अलङ्कारों से आच्छन्न होकर झलक भी नहीं पाती। केशव की रामचन्द्रिका में वर्णनों की इतनी अधिकता है कि यदि अलङ्कार आड़े न आ जाते प्रकृति के समस्त चित्र उसमें बड़े सुन्दर मिलते। इन्हीं वर्णनों के आधिक्य से ही कथा की शृङ्खला तक टूट सी जाती है, पर अलङ्कारों की प्रधानता ने इन वर्णनों को भी बेकार कर दिया है।

रसखान और घनानन्द

प्रश्न १६—"इन मुसलमान हरिजन पर कोटिन हिन्दू वारिए।" इसे दृष्टि में रखते हुए रसखान की भक्ति की विवेचना कीजिये।

उत्तर—भक्ति मार्ग में बड़ी विशेषता यह रही है कि वहाँ जो कुछ प्रचार नहीं था वहीं बरता भी जाता था। "जाति-पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।" भक्तों में अक्षरशः सत्य रही। चतुर्भुज दास और रैदास आदि शूद्र तो भक्तों में सम्मानित थे ही, रसखान का सम्मान उन सबसे भी अधिक था। रसखान जी जब से कृष्ण भक्त हुये उनका पूर्व-जीवन यहाँ तक कि उनका असली नाम तक लोप हो गया। किम्वदन्ती है कि वे कुछ मुसलमानों के साथ हज्ज के लिये मक्का जा रहे थे, व्रज पहुँचने पर एकाएक उनकी वृत्ति इतनी बदली कि उन्होंने साथियों का साथ छोड़ दिया और आप व्रज में ही रहने लगे। आगे चलकर लोगों ने इनकी बादशाह से चुगली खाई कि वह तो 'काफिर' हो गया पर कृष्ण की शरण में रहने वाले रसखान को राजा से क्या भय था। सूरदास और तुलसीदास की भाँति ही उन्होंने बेधड़क कह दिया—

"कहा करै रसखान को, कोऊ चुगल लबार।
जो पै राखन हार हैं, माखन चाखन हार॥"

इन्हें तो कृष्ण की रक्षा में इतना विश्वास था कि राजा की कौन पूछे वे तो यमराज से भी नहीं डरते थे।

"क्योंकर सोच करै रसखान, कहा करि है रविनंद बिचारो।
कौन की संक परी है जु माखन चाखन हारो है राखनहारो॥"

रसखान जी की भक्ति बड़ी ही दृढ़ और अटूट थी, वृन्दावन को छोड़कर फिर वे लौटे ही नहीं और आजीवन वहीं रहे। रहते भी क्यों नहीं उनके हृदय में वृन्दावन के प्रति ऐसा ही मोह था—

"रसखानि कबौं इन आंखिन सो व्रज के बन बाग तड़ाग निहारों।
कोटिक हू कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारों।"

इस जन्म में ही नहीं वे तो जन्म-जन्मान्तरों में भी वृन्दावन सेवा का ही व्रत ले चुके थे, नर, पशु, पक्षी और जड़ जिस भी योनि में उन्हें जाना पड़े वे तो वृन्दावन में ही रहेंगे ऐसी उनकी दृढ़ भावना थी—

"मानुष हों तो वही रसखानि, बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हों तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।
पाहन हों तो वहीं गिरि को, जो धरयो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥"

ऐसा था उनका मनोराज्य, वे मोक्ष नहीं चाहते थे, चाहते थे कृष्ण-लीला का शाश्वत आनन्द। गोस्वामी तुलसीदास जी से भी भक्ति में बढ़ गये। तुलसीदास जी नें भी मुक्ति की अवहेलना की है पर उन्होंने जन्म-जन्म में राम-पद प्रेम ही माँगा है।

"अर्थ न धरम न काम रुचि गति न चाहौं निर्वान।
जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन॥"

जन्म-जन्म से उनका आशय जड़ बनने तक का नहीं है।

अपने इष्टदेव के सौंदर्य पर तो सभी भक्त रीझे हैं, सब ने सौंदर्य-रस में डबने का प्रयास किया है पर कृष्ण-सौंदर्य पर जितनी रसखान जान देते थे उतनी तीव्रता कहीं भी नहीं मिलती। यह दिखाई पड़ता है उनके उस पद में जब उन्हें कौए के भाग्य से ईर्ष्या होती है—

"वा छवि को रसखान विलोकत वारत काम कलानिधि कोटि।
काग के भाग कहा कहिए, हरि हाथ से लै गयो माखन रोटी।"

मानों रसखान मन मसोस कर रह जाते हैं—'काश मैं ही काग होता और कृष्ण के जूठन को पाता।'

सूर और तुलसी ने यशोदा और कौशल्या के भाग्यों की सराहना की है कि वे भगवान् के बाल-सौन्दर्य का असीम-सुख प्राप्त कर सकीं—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंद भामिनी पावैं।" (सूर)

पर रसखान इनसे कहीं आगे हैं, उनकी भक्ति में तीव्रता कहीं अधिक है, वे केवल प्रशंसा नहीं करते दिल में दर्द व जलन अनुभव करते हैं फिर यशोदा से नहीं वरन् अपने समान ही तुच्छ उन अहीर की छोहरियों से—

"ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।"

कृष्ण के सौंदर्य पर वे कितने बिके थे इसका स्वाभाविक चित्रण उन्होंने अपने इस दोहे में किया है—

"मोहन छवि रसखान लखि, अब दृग अपने नाहिं ।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाहिं ॥
मो मन मानिक लै गयो, चित चोर नन्दनन्द ।
अब वै मन मैं का करूँ, परी फेर के फंद ॥

प्रेम की पीर जो यहाँ परिलक्षित होती है अन्यत्र नहीं मिलती । पीड़ा की यह अनुभूति यदि मिलती है तो केवल मीरा में जब वह चिल्ला उठती है—

"जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय ।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति न करिए कोय ॥

सचमुच रसखान के प्रेम की तीव्रता अन्य भक्त-कवियों में नहीं मिलती ।

रसखान की भक्ति अन्य भक्तों से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है । रसखान ने कृष्ण-रूप पर मोहित होकर अपना कुल, समाज, धर्म आदि सभी छोड़ दिया था वे वैष्णव हुए, उनकी भक्ति पर रीझकर श्रीनाथ जी को कहना पड़ा कि अब कहाँ जाते हो ? वार्ता में इस प्रकार है—

"जब बाहर निकसिबे लागे तब श्रीनाथ जी ने रसखान जी की बाँह पकरि क्यों अरे अब कहाँ जात हो ।"

उनके इस असीम प्रेम की पहली विशेषता तो यह है कि उसमें ऐन्द्रिय सुख की प्रचुरता है । रसखान सर्वप्रथम तो कृष्ण के रूप-सौंदर्य को ही देखते हैं ।

"सोहत है चन्द्रवा सिर मौर के जैसिये सुन्दर पाग कसी है ।"
बांकी बिलोकनि रग भरी रसखानी खरी मुसुकानि सुहाई ।
कल कानन कुंडल मोरपखा उर पै बलमाल विराजति है ।"

रसखान उनके स्वरूप में ईश्वरत्व की छटा नहीं देखते, वे उसमें अलंकारिता या दार्शनिकता का बवंडर नहीं खड़ा करते; फुरसत ही नहीं है कुछ करने की क्योंकि वे तो कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर ही मतवाले हैं—

"मत्त भयो मन संग फिरै रसखानि सरूप सुधारस घूट्यो ।"

रसखान के प्रेम की अपूर्वता यह भी है कि वे भगवात् कृष्ण के शृङ्गार-रस के ही मतवाले थे । राधा और गोपियों के कृष्ण के विरह के परम प्रेमी थे ।

"राधा माधव सखिन संग, विरहत् कुंज कुटीर ।
रसिक राज रसखान जहं, कूजत कोईल कीर ।"

इस विहार-वर्णन में रसखान ने खुलकर वर्णन किया है, उनके मार्ग में मर्यादाएं बन्धन नहीं हो सकती थीं, उन पर तो अप्रत्यक्ष रूप से सूफी-प्रेम का भी प्रभाव रहा होगा। इसीलिए उन्हें परकाया-भाव ही प्रिय था, उन्होंने भी विहारी की भांति राधा को कृष्ण से अधिक महत्व दिया—

"प्रेम-अयनि श्री राधिका प्रेम वरन नन्द नन्द"

'टेरत हेरत हारि पर्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो प्लाटत राधिका पायन।"

राधा-कृष्ण के पारस्परिक स्नेह-वर्णन में रसखान जी मग्न हो जाते थे—

"आजु हौं निहार्यो वीर निपट कालिन्दी तीर,
दोउन का दोउन सों मुंह मुसकाइवो।
दोऊ परै पैयां दोऊ लेत है बलैयाँ इन्हैं,
भूल गई गैयां उन्हें गागरी उठाइवो।"

बात-बात को छीना-झपटी के मार्मिक चित्र उनके पदों में है—

"गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस काहु जू नेकु न पैहों।"

बात यहीं तक नहीं रहती, विहार के सुन्दर पद मिलते हैं—

वह सोई हुती पजंरक लली लला लीना सोआइ भूजा भरि कै,
अकुलाय कै चौंव उठी सुडरी निकरी चहै अंकन ते फरिकै।
झटका झटकी में फटो पटुका दरकी अंगिया मुकता झरिकै,
मुख बोल कढ़ै सिर से रसखान हटौ जू लला निबिया धरिकै।"

सच तो यह है कि रसखान जी आरम्भ से ही प्रेमी जीव थे, पहले साहूकार के छोरे पर आसक्त थे, बाद में उनकी आसक्ति कृष्ण पर हो गई। भक्ति मार्ग में पदार्पण करके उन्होंने अपने मन की आशिकाना रुचियों का दमन नहीं किया वरन् उन्हें कृष्ण की ओर मोड़ लिया—कृष्ण-राधिका की रंग-रेलियाँ उनकी रुचि के अनुरूप मिला गयीं, उनका भक्त हृदय उसी में गोते लगाने लगा। निश्चय ही उनकी यह प्रेम-प्रवृत्ति हिन्दू भक्तों से सर्वथा भिन्न ही थी, प्रेम की उत्कटता, स्वाभाविकता और अनन्यता में वे सब से बढ़कर थे। उनकी रुचि रीतिकालीन कवियों की-सी थी। आगे चलकर बिहारी, देव और मतिराम ने जिस विलासमय शृंगारिक प्रेम का निरूपण किया उसका पुनीत, अकृत्रिम, और मुक्त तथा स्वाभाविक रूप सर्वप्रथम यदि कहीं मिलता है तो रसखान में। इसीलिए इस कथन में समीचीनता बहुत है कि—

'इन मुसलमान हरिजन पर कोटिन हिन्दू वारिए।''

प्रश्न १७—शुद्ध ब्रज भाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है अन्यत्र दुर्लभ है' रसखान के सम्बन्ध में कहे हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन की परीक्षा कीजिए।

उत्तर—भाषा की परीक्षा करने में उसका स्वरूप तथा सौष्ठव देखना होता है। स्वरूप में आते हैं काव्य-गुण अर्थात् व्यंजनाशक्ति, प्रयोग-कौशल और अलंकार आदि। रसखान और घनानन्द की ब्रजभाषा साहित्यिक है फिर भी उसमें ब्रजभाषा का सहज माधुर्य विद्यमान है। फिर, नन्ददास और हितहरिवंश आदि के द्वारा ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप पहले ही मिल चुका था, रसखान और घनानन्द ने उत्तराधिकार में पाई हुई ब्रजभाषा को और भी निखारा जिसके कारण इनकी भाषा परवर्ती ब्रज-कवि बिहारी, देव, पद्माकर, हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण और रत्नाकर के लिए आदर्श बन गयी।

स्वरूप—ब्रजभाषा का कोश व्यापक हो चला था, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अरबी, फारसी तथा अवधी आदि के अनेक प्रचलित शब्द उसमें घुस चुके थे फिर भी तत्सम शब्द ब्रजभाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल न थे, इन्होंने इसीलिए तद्भव शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया। उदाहरण के लिए—

"अँखियाँ अँखियाँ सों सकाय मिलाय हिलाय रिझाय हियो भरिबो।''

रसखान के इस एक चरण में सभी शब्द तद्भव है कवि ने शब्दों को ब्रजभाषा के माधुर्य के अनुरूप ढाल रखा है। 'शंका' से सकाय, 'हृदय' से हियो बनाया है। 'भरिबो' का 'ब' ब्रज में 'व' के स्थान पर 'ब' और 'श' के स्थान पर 'स' बोला जाता है। यदि हम शब्द कोश पर विचार करें तो अधिक शब्द संस्कृत के ही मिलेंगे पर उसका रूप ब्रजभाषा के अनुरूप ही होता है। जैसे—

"सुन्दर स्याम सिरोमनि मोहन जोहन मैं चित चोरत हैं''

स्पष्ट है प्रत्येक शब्द संस्कृत का है पर सब पर ब्रजभाषा की छाप है, क्रिया भी अपने संस्कृत रूप (चोरयति) के अति निकट है। रसखान का इतने अधिक संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करना बड़ा ही प्रशंसनीय है। उर्दू के शब्द बहुत ही कम मिलते है। सूर और तुलसी से भी कम इन्होंने अरबी और फारसी के शब्द प्रयुक्त किये हैं जो शब्द प्रयुक्त भी हैं उन पर ब्रजभाषा की ऐसी रंगत है

कि पहचाने भी नहीं जाते। जैसे "घाइल', 'हाँसिन', 'बिहाल', 'निहाल', 'बदनाम'। घनानन्द में भी संस्कृत के शब्दों का ही बाहुल्य है पर सर्वत्र उनमें व्रजभाषापन दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

"करुवो मधुर लाग वाकों विसु अंग भयै
याहि देखे रसहू में कटुता बसति है।"

रसखानि और घनानन्द के शब्द भंडार की सबसे वड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने शब्दों के रूपों को विकृत नहीं किया है। अनुप्रास का आग्रह इन लोगों की भाषा में भी वसा ही है जैसा देव और बिहारी में पर इनके शब्द उन लोगों के अनेक शब्दों की भाँति 'पाण्डुर' के 'पाण्डल' और 'हेमन्त' के 'हेउन्त' नहीं हुए हैं। इन्होंने शब्दों को वहीं तक बदला है जहाँ तक वे अपने मूल रूप से बहुत भिन्न न हों—'काली' को 'कारी', 'कोकिल' को 'कोइल' 'वज्रमारे' का 'वजमारे' 'विष' को 'बिसु' तक ही किया है।

व्याकरण—इन लोगों की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्याकरण से सर्वथा निर्दोष है। अनुप्रास और यमक के मोह में इन लोगों ने लिंग-दोष, कारक चिन्हों या क्रिया के रूपों में गड़बड़ या वाक्य-विन्यास का शैथिल्य नह उपस्थित किया है जैसा कि देव आदि ने बाद में किया। विभक्तियाँ व्रजभाषा की परिचायक हैं। विभक्तियाँ जो कि इस प्रकार हैं—

१ कर्ता—गद्य में तो 'ने' का प्रयोग मिल भी जाता है पर पद्य में 'ने' का प्रयोग प्राय: नहीं मिलता।
२ कर्म-सम्प्रदान—को, कों, कौं
३ करण और अपादान—से, सौं, ते, तैं
४ सम्बन्ध—का, की, के
५ अधिकरण—में, मैं, माँहि, मधि, पै, पांहि, पर

रसखानि और घनानन्द में उक्त विभक्तियाँ मिलती हैं—

"ऐसे मैं आवत कान्ह सुने"
"दूरतें आइ दुरेहीं दिखाई।"
"ताहि दिनासों गड़ी अँखियाँ"

"आपनो सौं ढोटा हम सब ही का जानति हैं"
मेरे वनमाली कौं न काली ते छुड़ावहीं।"

क्रिया-पद भी व्रज भाषा के सबसे अलग हैं। रसखानि और घनानन्द के क्रियापद सर्वथा व्रजभाषा के ही हैं—

होना क्रिया सबसे प्रधान है—

हूं के स्थान पर 'हौं' जैसे मानुष हौं तो—

था के स्थान पर	हुतो	आयो हुतो नियरे रसखानि
आया "	आयो "	आयो हुतो
गया है "	गयो है "	रसखानि हिये में समाइ गयो है।
जायेगा "	जै है "	जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै
गा गया "	गाइगो "	गाइगो तान जमाइगो नेह
करूँ "	करौं "	पै कहा करौं वा रसखानि
होकर "	ह्वै "	वावरी ह्वै आई डारि दोहनी
करके "	करिकै "	करिकै अचेत चेत हरि के
रहेंगे "	रहिबौ "	कानन दै अंगुरी रहिबो

ब्रजभाषा के सर्वनाम भी अपने स्वरूप का परिचय देते हैं—

मैं के स्थान पर हौं; मुझको के स्थान पर मोहि, मोयं, मुझमें और मुझपर के स्थान पर मोमैं, मोपै ही मिलते हैं। इसी प्रकार मध्यम पुरुष में—तू, तैं, तोहि, तोकों, अन्यपुरुष में वाहि, वाकों, वासों, उन्हें, वाते आदि ही मिलते हैं। सर्वनामों का बिल्कुल सुन्दर और विशुद्ध प्रयोग इन कवियों में मिलता है। ऊपर के उदाहरणों में इनके उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।

अलंकरण—रसखानि और घनानन्द ने अपनी भाषा को खूब सजाया है। व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार पद प्रायः छोटे हैं। उनमें समास प्रायः नहीं के बराबर हैं। अनुप्रास तो सर्वत्र ही हैं।

"पीरी परी देह छीनी राजत सनेह भीनी,
कीनी है अनंग अंग अंग रंग बोरी सी।"

पदबन्धों का कैसा कलात्मक गुम्फन है, अनुप्रास की छोटी-छोटी लड़ियाँ एक कोमल झंकार में गुंथ रही हैं। इसी प्रकार रसखान के इस पद में अनुप्रास का कैसा माधुर्य है जैसे वर्ण घुलते जा रहे हों—

"नैननि सैननि वैननि मैं नहिं कोऊ मनोहर भाव बच्यो री"

यमक भी यत्र तत्र बड़े सुन्दर रूप में इन कवियों ने प्रयुक्त किये हैं जैसे—

"त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सु है रसखानी"

अनुप्रास या अलंकार जुटाने का प्रयत्न इन कवियों का कदापि नहीं रहा फिर भी स्वभावतया अलंकार आ-आ कर भाषा को सुन्दर करते रहे हैं। केशव, सेनापति, बिहारी, देव, मतिराम और भूषण आदि की भाँति इन कवियों ने अलंकार के लिए किसी भी पद की रचना नहीं की, कल्पना का चमत्कार तो कहीं भी इन लोगों ने न दिखाया, इन्हें तो कोई वर्णन या घटना का चित्र उपस्थित करना अभीष्ट था, उक्ति का चमत्कार दिखाना नहीं। यही कारण है कि इनकी भाषा स्वाभाविक है और इनके चित्र पूरे हैं। घनानन्द का एक पद इसके उदाहरण में प्रस्तुत है—

"लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसुकानि मैं।
दसन दमक फैलि हियैं मोती माल होत,
पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरांनि मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरजानि मैं।

स्पष्ट है स्वभाविक चित्रण ही इसका अलंकार है। कवि ने अपनी कल्पना को चित्र के पूर्ण बनाने में प्रयोग किया है, उपमा, उत्प्रेक्षा और संदेह की लड़ी बनाने में नहीं यही कार। है कि जितनी स्वाभाविक, सरस और अकृत्रिम व्रज-भाषा रसखान और घनानन्द की मिलती है उतनी अन्य कवियों को नहीं। इन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती श्रेष्ठकवि सूरदास और नन्ददास की सुन्दरताओं को ग्रहण किया, भावुक भक्त होने के कारण इन्होंने भाषा को सहज माधुर्य दिया। रीति कालीन कवियों की कृत्रिमता की ओर इन्हें झुकाव ही नहीं था परिणाम यह हुआ कि इनकी भाषा व्रज-साहित्य भर में सबसे अनूठी है।

प्रश्न १८ - "यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानन्द विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की

कोटि में नहीं आयेगी, शृङ्गार को ही कही जायगी ।" पं० शुक्ल के इस कथन पर विचार कीजिए।

उत्तर—'सुजान-सागर' मुक्तक पदों का संग्रह है । यद्यपि इसमें कृष्ण और राधा का उल्लेख मिलता है पर कहीं पर कृष्ण-लीला नहीं है । सारे पद भिन्न-भिन्न भावों पर ही लिखे गये हैं । पदों में भक्ति का न तो कोई दृष्टिकोण है और न कहीं ईश्वरत्व का उद्घाटन है । रसखानि में भी संयोग, रति और विहार के पद हैं । पर उनमें कृष्ण-लीला है पर आनन्दघन के पदों में कृष्ण-लीला की कोई चर्चा नहीं है, नायक-नायिका के प्रेम-चित्र ही हैं । संयोग के चित्रों में विलास के ही चित्र मिलते हैं—

"रति रङ्ग राते प्रीति पागे रैन जागे नैन,
आवत लगेई घूमि झूमि छवि सों छके।
सहज विलोल परे केलि की कलोलनि मैं,
कबहूँ उमगि रहे कबहूँ जके थके ॥
नीको पलकनि पीक लीक झलकनि सोहैं,
रसबलकनि उनमद न कहूँ सके।
सुखद सुजान घनआनन्द पोषत प्रान,
अचरजि खान उघरेहूँ लाज सों ढके ॥

स्पष्ट है इस पद में भक्ति-भाव से रंचमात्र भी लगाव नहीं है । शृङ्गार रसान्तर्गत सलज्ज नैनों का मनोहर वर्णन है । शृङ्गार के भिन्न-भिन्न संचारी भावों का शृङ्गारिक वर्णन ही संयोग-वर्णन में मिलता है । उन वर्णनों में कामोद्दीपन और विलास का ही रंग मिलता है—

"रंग सरसावैं बरसावैं घनआनन्द उमंग आपै अंगनि अनंग दरसावहीं"

ऋतु-वर्णन में ऋतु केवल उद्दीपन का काम करती है, नायिका में कामोद्दीपन करती है—दीवारी, होरी, वसन्त आदि इसी क्रम में वर्णित हैं । इतना ही नहीं आनन्दघन के लिए नायिका में ही सदा वसन्त है ।

"वैस की निकाई सोई रितु सुखदाई तामैं,
तरुनाई उलहत मदन मैमन्त हैं।
\+ \+ \+

सोभित सुजान घनआनन्द सुजान सींच्यो,
तेरे तन वन सदा वसत बसन्त है।"

इनका संयोग-वर्णन नायिका के रूप-वर्णन से भरा है और सर्वत्र ही सौंदर्य का उद्देश्य विलास-वृत्ति और आकर्षण-वर्द्धन है—

"मीत मनभावत रिझावन कौ जान प्यारी,
आई घन आनन्द घुमडि आछी बनि है।"

मंजन, अंजन, भूषण, वसन, काजल, तिरछी चितवन, घूँघट, हास-विलास आदि पर सुन्दर-सुन्दर अपूर्व पद इनकी कविता में मिलते हैं।

होली-वर्णन में उनकी शृङ्गारिक प्रवृत्ति और भी स्पष्ट होती है। नायिका का वर्णन रीतिकालीन कवियों जैसा ही है—

अंगनि पानिप ओप खरी निखरी नवजोवन की सुथराई,
नैननि बोरति रूप के और अचंभे भरी छतियां उथराई।
जान महा गरुए गुन सें घनआनन्द हेरि रत्यो युथराई,
पैने कटाच्छनि ओज मनोज के बानन बीच बिंधी सुथराई।"

मद, केलि, रति-सुख के ही वर्णन मिलते हैं।

जहाँ कृष्ण का उल्लेख भी है वहाँ भी वे रसिक, रंगीले और प्रेम-रूप ही हैं, भक्तों के उधारने वाले शेष-महेश, गनेश के लिए अगम्य नहीं है—

"रसिक रसीले भली भाँतिन छबीले घन,
आनन्द रसीले भरे महा सुख-सार हैं।
+ + +
नित हित संगी मनमोहन त्रिभंगी मेरे,
प्रानिनि अधार नंदनंदन उदार हैं।"

वे तो "नन्द को नवेलो अलबेलो छैल रंग भरयौ" हैं। उनके नैन बड़े-बड़े हैं, उनकी मुस्कान मनोहर है। ऐसे छवि से भरे 'छबीले छैल' कभी गली में अचानक ही आ जाते हैं। उनकी 'चटक-मटक भरी चलनि' और मृदु मुसुकानि पर नायिका उसके सुर की तरंगों को सुनकर 'बावरी' हो जाती है।

विरह के पद्य संयोग से अधिक मर्मस्पर्शी हैं। प्रियतम एक बार प्रीतिपगी अंखियों को दिखाकर छिप गये, प्रेयसी बिना देखे जी नहीं पाती, उसके सारे सुख पक्षी की भाँति उड़ गये हैं, वियोग वैरी आ पड़ा है—

गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
पर्‌यो आयऔचक वियोग बरी झेल सों।

आहें इतनी हैं कि उनकी सीमा नहीं, निशि दिन वह मुरझा-मुरझा के रह जाती हैं। अन्तर में उद्वेग है; आँखों में आँसुओं का प्रवाह है, न सोना है, न जागना है, न हंसना है, न रोना है। उसके रोम-रोम में व्याकुलता छाई है। पत्री में हृदय के दुःख लिखाये नहीं जाते, विरह मारे डाल रहा है, हृदय में जब प्रीति की याद आती है तो वे मसाल की भाँति जल उठती हैं।

दशा विचित्र है। न तो सोया जाता है न जागा जाता है, फूल सदृश सुन्दरी शूल बन गयी है।

सोये न साइबौ जागें न जाग अमोखि लाग सु आँखनि लागी,
देखत फूल पै भूल भरी यह सूल रहै नित्त ही चित लागी।
चेटक जान सजीव कि मूरति रूप अनूप महा रस पागी।
कौन वियोग दसा घन आनन्द मो मति संग रहै अति खागी।

इस बिरह की दुर्दशा से तो वह मर जाना ही अच्छा मानती है—"मरिबौ बिसराम गयै वह तो बापुरो मीत तज्यो तरसे।"

इस प्रकार आनन्दघनजी ने सुजान सागर में संयोग और वियोग सम्बन्धी जो पद लिखे हैं उनमें भक्ति का कोई दृष्टिकोण नहीं है। हो सकता है कि उनका भक्त हृदय इन पदों में भक्ति की ही अनुभूति करता रहा हो। भक्त अपने प्रिय के विरह में विरह की भावना महसूस करता है और स्वप्न और मनोराज्यों की कल्पना में संयोग का सुख कल्पित करता है। आनन्दघन जी पहले से ही शृङ्गार के प्रेमी थे। रसखानि की भांति जब वे भी कृष्ण भक्ति में लीन हुए तो अपने लौकिक प्रणय भाव को कृष्ण-भक्ति में परिवर्तित कर लिया होगा। प्रेम और भक्ति में केवल आलम्बन का भेद है, स्वरूप में दोनों में कोई भेद नहीं है, अतः प्रेमी हृदय को भक्त-हृदय हो जाने पर भी कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ता। उनकी विचारधारा और दृष्टि एक ही पद को दूसरी तरह देखने लगती है। जो हो, आनन्दघन के पद्य उनके लिए भले ही भक्ति के छन्द हों, पर साधारण पाठक के लिए उनमें शृंगारिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सुजान या नन्दनन्दन नायक तथा राधिका छबीली या प्यारी—नायिका ही है।

प्रश्न १६—"साक्षात् प्रेम रस के अवतार घनानन्द ने ब्रजभाषा काव्य में एक परम्परा स्थापित की।" इस कथन के गौरव साधन पर विचारते हुए इनके काव्य की सामान्य समीक्षा कीजिये। (सं० २००७)

उत्तर—व्रज भाषा काव्य की दो मुख्य परम्परायें बनीं। एक तो वह जिसे विद्यापति और महात्मा सूरदास जी ने चलाया जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का गान गीत काव्य में हुआ था। इसमें संगीत की स्वर-लहरी के साथ भक्ति भावना का प्रकाश हो गया। इन गीतों में रागात्मकता के साथ ही साथ रस निरूपण की ओर विशेष ध्यान होता था। यद्यपि गीत सर्वथा मुक्त थे तथापि उनमें कथा का आधारअवश्य था। संयोग और विप्रलम्भ शृंगार लीलाओं के आधार पर चल रहे थे। भाव पक्ष ही काव्य का उद्देश्य था, यद्यपि कवि भाषा के सौंदर्य और अलंकारिता से काफी सचेष्ट थे।

व्रज भाषा काव्य की दूसरी परम्परा वह बनी जिस में कृष्ण के बहानें कविगण काव्य-कला का चमत्कार दिखाने में जुट गये। उनकी दृष्टि रीतिबद्ध हो गई। इन कवियों ने सूरदास आदि की गीति-पद्धति को छोड़ कर कवित्त और सवैया का आश्रय लिया। कृष्ण-काव्य का उनका दृष्टिकोण अधिक से अधिक सुमिरन का बहाना मात्र था जैसा कि भिखारीदास ने प्रकट किया है कि "आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई, न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" कृष्ण और राधिका तो ओट मात्र थे उन्हें तो केवल अपनी काव्य-कला, भाषा—सौन्दर्य, शृंगारिता और अलंकारिता का प्रदर्शन ही अभीष्ट था। देव, बिहारी, मतिराम, भिखारीदास और पद्माकर आदि इसी पद्धति के रीतिबद्ध काव्यकार हुए। इनके हाथ में व्रजभाषा काव्य में कलात्मकता तो बढ़ती गई पर उसमें भक्ति और भाषा की स्वाभाविकता का दिनों दिन ह्रास होता गया।

श्री घनानन्द जी उक्त दोनों प्रकार की कविता धारा से भिन्न निकले। न तो उन्होंने सूरदास की भांति कृष्ण-लीला के गीत गाये और न देव आदि की भांति रीतिबद्ध कवित्त, सवैया और दोहों की रचना की। न तो घनानन्द ने कृष्ण-लीला वर्णन ही अपना उद्देश्य रखा और न शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये रस, नायिकाभेद, अलंकार और पिंगल आदि काव्यांगों को आधार

बनाया। वे तो भावुक सहज कवि थे। उन्हें तो अपने हार्दिक भावों का स्पष्टीकरण मात्र ही अपेक्षित था। अपने मन्तव्य को उन्होंने प्रकट भी किया है-

यो घन आनन्द छावत भावत जान सजीवन ओर ही आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बतावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत॥"

भावों के कोष को ही वाणी के प्रतीकों से उन्होंने प्रकाशित किया। घनानन्द जी प्रेमोमंग प्रधान कवि थे। यही कारण है कि इनमें अंतर्वृत्ति निरूपण की प्रधानता मिलती है। उनमें विरह की ओर झुकाव अधिक है। घनानन्द जी के मत में संयोग में भी वियोग का लगाव नहीं छूटता—

"यह कैसो संयोग न बूझि परै जु वियोग न क्यों हू विछोहत है।"

संयोग वर्णन में भी रीति-बद्ध कवियों की भांति ये हाव-भावादि काव्य-शास्त्रीय विवेचनों तक ही सीमित नहीं रहते। वे तो लौकिक कृत्यों की ओर विशेष आकृष्ट होते हैं। होली, माघ, सावन आदि का वर्णन मिलता है। रीतिकालीन कवियों की भाँति प्रकृति वर्णन उद्दीपन मात्र के लिए यहाँ नहीं है। साथ ही आधुनिक कवियों की भांति वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृति का वर्णन करने और वस्तु गणना करने भी वे नहीं बैठते। घनानन्द जी तो भारतीय ग्राम गीतों की पद्धति में प्रकृति के उपादान से प्रेम और विरह का प्रकाशन करते हैं जैसे

सावन आगम हेरि सखी मन भावन आवन चोप विसेखी,
छाए कहूँ घन आनन्द जान सम्हारा को ठौर लै भूतनि लेखी।
बूंदै लगै सब अंग दगैं उलटी गति आनने पापने पेखी,
पौन सों जागति आगि सुनि ही पै पानी ते लागति आंखिन देखी।

शैली की दृष्टि से भी आनन्द घन ने मध्यमार्ग ग्रहण किया है। बिहारी और देव की भांति इन्हें अलंकृत शैली का आग्रह प्रिय नहीं था। इन्होंने अपने पदों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि की शृंखला बनाने का सचेष्ट प्रयत्न नहीं किया। इनकी दृष्टि तो भाव व्यंजना पर ही अधिक थी। यही कारण है कि इनकी उक्तियों में मार्मिकता अधिक है। इनकी बहुत-सी उक्तियाँ सर्वथा नवीन हैं। जैसे— "मोसे अनपहचान को, पहचाने हरि कौन।
कृपा कान मधि-नैन ज्यों, ज्यों पुकार मधि मौन॥"

ब्रजभाषा के स्वरूप में भी आनन्दघन अपने पूर्ववर्ती कवियों से पृथक्

ही है। उनकी भाषा में माधुर्य अनुपम है। उसमें सजावट काफी होते हुये भी रीति के प्रभाव से दूर है। उसकी स्वाभाविकता विलक्षण है। भाषा में सक्ति अनुपम है। लोकोक्तियों का मुक्त प्रवाह उसमें है। उसमें अर्थ सौरस्य छलक पड़ता है। उन्होंने भावानुकूल भाषा को मोड़ भी दिया था।

घनानन्द जी ने इस प्रकार भक्त तथा रीति कवियों से भिन्न ही एक पद्धति बनाई। इनकी पद्धति में ही रसखानि, आलम, ठाकुर और बोधा ने काव्य रचनाएं कीं। पद्माकर के भी अनेक कवित्तों में यही पद्धति दिखाई पड़ती है। आधुनिक व्रजभाषा काव्य में भी इस पद्धति का सम्यक् अनुसरण हुआ है। हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी और जगन्नाथदास रत्नाकर में इस पद्धति का पर्याप्त अनुसरण मिलता है। तात्पर्य यह है कि घनानन्द प्रणीत व्रजभाषा परम्परा हिन्दी-साहित्य में अच्छी फूली-फली। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि घनानन्द जी इस पद्धति के प्रचारक थे, पर जिन प्रतिभावान् कवियों को रीति के सीमित क्षेत्र से अरुचि थी वे स्वभावतया उसी पथ से चले जिससे घनानन्द जी चले थे। जो भी हो, व्रजभाषा काव्य में एक प्रतिष्ठित परम्परा अवश्य बन गई थी।

तुलनात्मक विवेचन

प्रश्न २०—बिहारी और सेनापति के प्रकृति वर्णन की तुलना कीजिए।

उत्तर—प्रकृति वर्णन रीतिकालीन काव्य की एक विशेषता है। बिहारी की सतसई में भी षट्ऋतु वर्णन प्राप्त होता है। उनका ऋतु वर्णन भी रीति-कालीन पद्धति का अतिरंजन नहीं करता। फिर भी उनके कुछ दोहे प्रकृति-पर्यवेक्षण की शक्ति धारण किये हैं।

'बैठि रही अति-सघन बन बैठि सदन तन मांह।
निरखि दुपहरि जेठ की छांहौ चाहति छाह॥" (बिहारी)

यह दोहा सेनापति के

मोरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनों,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितबत है।"

से बहुत मिलता है। बिहारी भी रीति-कालीन कवियों की भांति ही प्रकृति वर्णन में शृंगारिकता लाते हैं। ग्रीष्म की लू में कवि विरहिणी की उसास की ताप की उत्प्रेक्षा करता है—

"नाहिन ए पावक प्रबल, लुवैं चलैं चहुं पास।
मानहु विरह बसन्त के ग्रीष्म लेत उसास॥"

बिहारी जहाँ प्रकृति का अच्छा चित्रण करते हैं वहाँ भी आलङ्कारिक चमत्कार उद्देश्य में रखते हैं। वर्षाकाल के घने अन्धकार के वर्णन करने के लिए रात और दिन में अभेद रुचि करते हैं और चकई चकवा के वियोग से रात्रि और दिवस का भेद प्रकट करते हैं—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आन।
रात द्योस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥"

शरद्-ऋतु के रूप में बिहारी जी को सुन्दरी ही दिखाई पड़ती है—

"अरुन सरोरुह कर-चरन दृक खंजन मुखचंद।
सम आई सुन्दरि सरद, काहि न करत आनंद॥"

इसी प्रकार वर्षा के बादलों को देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है। मानों ये स्त्रियों को लुभाने वाले नायक हैं जो अपने स्नेह शोभित हो रहे हैं—

तिय सरसौंहे मन, किए, वर करिसौंहें नेह।
धर परसौंहे ह्वै रहे, झरबर सोहें मेह॥

वास्तव में ऋतु-वर्णन की दृष्टि से बिहारी ने ये दोहे लिखे ही नहीं। उनका ऋतु-वर्णन तो शृङ्गार-रस का एक साधन है। कुछ दोहों में तो नाम के अतिरिक्त और ऋतु-वर्णन कुछ नहीं है। जैसे—

कियो सबै जग काम बस जीते जिते अजेइ।
कुसुम सरहि सर धनुप करि, अगहन गहन न देइ॥"

बिहारी ने 'अगहन' शब्द का अपनी शृङ्गारिक रुचि वाला अर्थ लगाकर ऐसा वर्णन किया जिस में ऋतु का कोई गुण नहीं है।
इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में चमत्कार दर्शन के लिए ही वे तपोवनका रूप देते हैं।

एकाध स्थल पर उनका प्रकृति पर्यवेक्षण भी अच्छा है पर यह निरीक्षण भी इसीलिए सुन्दर है कि उसमें उनकी शृङ्गारिक प्रकृति मिलती है। जैसे—

"छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत, झौंर झौंर मधु अंध॥"

हेमन्त ऋतु में रात्रि की वृद्धि साधारण सी बात है उसमें भी कवि को संयोगी और वियोगी जीवों की ही स्मृति बनी हुई है—

"ज्यों ज्यों बढ़े विभावरी, त्यों त्यों बढ़त अतन्त ।
ओक ओक सब लोक सुख, कोक-सोक हेमन्त ॥"

तात्पर्य यह है कि बिहारी ने प्रकृति-वर्णन केवल कवि परम्परा की रीति पालन के निमित्त ही किया है । उनके प्रकृति-वर्णन में प्रकृति का कोई चित्रण या पर्यवेक्षण नहीं है । सेनापति में तो प्रकृति के प्रति पर्याप्त अनुराग है । उनमें रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रभाव मात्र है । उनका प्रकृति-वर्णन शृङ्गारिक और आलंकारिक प्रवृत्ति के कारण थोड़ा ही विकृत है । आलकारिता कहीं-कहीं सौंदर्य वृद्धि भी करती है पर बिहारी का प्रकृति-वर्णन तो परिपाटी पालन मात्र है : वास्तविक प्रकृति वर्णन उसमें है ही नहीं, उनके हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म के वर्णन द्वारा प्रेम, विरह संयोग और वियोग का ही व्यक्तीकरण है ।

प्रश्न २०—सेनापति और देव के प्रकृति वर्णन की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए । (सं० २००३)

उत्तर—देव और सेनापति दोनों ही कवियों ने प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में किया है । पर सेनापति में प्रकृति-वर्णन ही लक्ष्य है । उद्दीपन का भाव काल के प्रभाव से आ गया है । पर देव ने तो प्रकृति की ओर देखा ही इस. लिए है कि शृंगार-रस के उद्दीपन में प्रकृति का बड़ा योग है । अन्यथा देव की दृष्टि तो मानवी प्रकृति पर ही विशेष है । उन्हें तो लताओं में भी नायिका ही की नवीनता दिखलाई पड़ती है । "तैसेइ नूनद्र नूत लतान में" में लता का कोई वर्णन न होकर नायिका की ही सुकुमारता के दर्शन हैं । पिक की पुकार, भौंरे की गुंजार, झिल्ली की झनकार आदि नाप मात्र ही देव के प्रकृति-वर्णन में हैं । उसमें प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन कहीं भी नहीं मिलेगा वर्षा-वर्णन में उनका "सुनि में धुनि चातक भोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकन सौं" वाले पद में प्रकृति की ही प्रधानता है । पर उसमें भी "अनुराग भरे हरिबागन में" अचूक राग अवश्य ही अलापते दिखाई पड़ जाते हैं । देव की प्रकृति सदा पीछे-पीछे चलती है । उनकी लता भी रङ्गरानी है । उसमें भी मानवी कमोद्दीपन है । वह भी समीर के झोकों से तरु पुरुषों की ओर झुक रही है । सच तो यह है कि मानव सौंदर्य के सम्मुख उन्हें प्रकृति का सौंदर्य ही न दीख पड़ा । उन्होंने आवश्यकतावश प्रकृति का उल्लेख मात्र ही किया है । प्रकृति चित्रण उनकी कवितावली में है ही नहीं ।

सेनापति प्रकृति वर्णन करने वाले कवियों में प्रधान हैं। उनका षट् ऋतु वर्णन हिन्दी के प्राचीन काव्य में अनूठा काव्य है। उन्होंने ऋतु-वर्णन ऋतु के लिये किया है। उद्दीपन का भाव उसमें आ अवश्य गया है। पर कहीं भी उस भाव की प्रधानता नहीं है। उद्दीपन के रूप में ही कविता करना सस्कृत तथा हिन्दी में एक परम्परा थी। अत: कवि उस प्रकार के भावों को लाने के लिये विवश था। पर प्रकृति के सम्बन्ध में अनूठी कल्पनायें, उसका संश्लिष्ट चित्रण तथा उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि कवि प्रकृति पर्यवेक्षण का प्रेमी था और उसने प्रकृति वर्णन नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य बढ़ाने अथवा उनके रति भाव को उद्दीप्त करने के लिये नहीं लिखा है।

प्रश्न २१—रीतिकालीन कवियों में देव का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—रीतिकालीन कवियों की दो ही मुख्य प्रवृत्तियां हैं—१—रीति-विवेचन और २-शृङ्गार-निरूपण। इस दृष्टि से एक में देव आचार्य की दृष्टि से देखे जाते हैं दूसरे शृङ्गारिक कवि की दृष्टि से। देव का स्थान निर्धारित करने के लिये दोनों ही प्रवृत्तियों में कवियों के साथ इनकी तुलना करनी चाहिये।

रीति काव्यकार की दृष्टि से देव जी मम्मट और विश्वनाथ की शैली पर काव्य के दशांग की रचना करने वाले आचार्यों में परिगणित हैं। इस शैली के रीति काव्यकार हैं आचार्य केशव, भिखारीदास, श्रीपति, कुलपति और प्रतापसाहि। मतिराम, भूषण और पद्माकर देव के समकक्ष नहीं आते, क्योंकि इनमें केवल रस या अलंकार का निरूपण है। आचार्य केशव का ऐतिहासिक महत्व है। वे हिन्दी में शास्त्रीय ढंग के प्रथम श्रेष्ठ आचार्य हैं। देव जी ने उनका गौरव स्वयं स्वीकार किया है। केशवदास का पांडित्य भी देव से बढ़कर है पर देव का विषय केशव की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इन्होंने शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। जो कि केशवदास जी में नहीं है देव की रस-चेतना भी केशवदास जी से बढ़कर है।

आचार्य-क्रम में भिखारीदास, श्रीपति, कुलपति और प्रतापसाही तीनों ही देव से बढ़कर हैं। उन लोगों में विषय प्रतिपादन की स्पष्टता और विवेचन की प्रौढ़ता बढ़कर है। उनमें हिन्दी पाठक की आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य अच्छी है पर इन आचार्यों में एक तो मौलिकता उतनी नहीं है

जितनी देव में और दूसरे सहज कवित्व शक्ति जिसके कारण देव-देव हुये हैं उन्हें कहां मिल सकती है। यही कारण है कि श्रेष्ठ आचार्यत्व होने पर भी उन्हें वह लोकप्रियता न मिल सकी जो कि देव को।

इस में कोई सन्देह नहीं कि पं० शुक्ल के मतानुसार आचार्यत्व की दृष्टि से रीतिकालीन कोई भी आचार्य विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। देव आदि आचार्यों ने तो रीति-शास्त्र सृजन में न तो कोई मौलिक योग दिया है और न विषय का सम्यक् और पूर्ण निरूपण ही उपस्थित किया है। फिर भी जो कुछ भी हिन्दी का रीति साहित्य है उसमें 'देव' जी का महत्वपूर्ण स्थान है।

शृङ्गारिक कवियों में देव को केशव, मतिराम बिहारी और पद्माकर के साथ देखना चाहिये। शृङ्गारिक कवि की दृष्टि से देव निश्चय ही केशवदास से बढ़कर हैं। केशवदास जी की कविता का उद्देश्य ही चमत्कार निरूपण है। कवि प्रिया और रसिक-प्रिया में तो वह दृष्टिकोण है ही, रामचन्द्रिका में भी वे अलंकार-प्रदर्शन और उक्ति-वैचित्र्य के समान जुटाने में लगे हैं। चाहे शुक्ल जी का यह कथन अनुचित हो कि रसिकप्रिया का लेखक हृदयहीन है पर हृदय पक्ष निर्बल अवश्य है और विशेषतया देव के समक्ष। देव की रसानुभूति, तन्मयता और रागात्मकता केशव से कहीं बढ़कर है। कला पक्ष भी देव का केशव से अधिक अच्छा है। केशव में केवल अलंकार का वैचित्र्य है पर देव में शब्द-चयन, स्वरलहरी। ध्वनि, लाक्षणिक वक्रता; कल्पना की सुकुमारता कला के निर्माण में पगी है।

भाषा के माधुर्य और रसात्मकता में मतिराम ही देव के सब से निकट पहुँचते हैं। सच तो यह है कि भाषा के लालित्य और माधुर्य में मतिराम देव से भी बढ़ जाते हैं पर भाव गाम्भीर्य में वे देव से कोसों दूर रहते हैं। मतिराम का भावपक्ष भी देव के सदृश ही अन्य रीतिकालीन कवियों से बढ़कर है पर देव की तुलना में 'मतिराम चटुल वीचियों से क्रीड़ा करने वाले स्वच्छ सरोवर हैं तो देव गहन गम्भीर वापी''

पद्माकर में कवित्व शक्ति पर्याप्त मात्रा में ऊँची है। उसमें रस परिपाक भी है और भाषा में सुन्दर प्रवाह और माधुर्य भी है। पद्माकर में अनुभूति की मात्रा भी है पर उसमें न तो केशव जैसी स्निग्धता है और न सूक्ष्म और कोमल अभिरुचि के सुन्दर चित्र ही।। भावपक्ष में पद्माकर देव के निकट

किसी अंश में चाहे पहुंच भी जायें पर कलापक्ष में कहां देव और कहाँ पद्माकर। पद्माकर की कला में कृत्रिमता अधिक है। उसमें उथली तड़क-भड़क मात्र है देव की गहराई के दर्शन वहां दुर्लभ हैं।

इस प्रकार रीतिकालीन शृङ्गारिक कवियों में देव का प्रतिद्वन्द्वी है कोई तो बिहारी। कवि कर्म के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही अभिन्न अङ्ग हैं। कवि की व्याख्या करते हुए दो में से किसी एक की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कवि की मौलिकता और अनुभूति की गहराई भी कवि की महत्ता में बड़ी आवश्यक वस्तु है। देव का भावपक्ष अधिक सबल है। उनकी प्रेमानुभूति एक तो अपनी है, बिहारी की भांति दूसरों की जूठन उसमें बहुत कम है दूसरे उसमें अनुभूति की गहराई तन्मयता, हृदयद्रावकता कहीं अधिक है। बिहारी में चमत्कार का आग्रह ही प्रधान है। उक्ति के बांकपन में वे देव से भले ही आगे चले जायें और मस्तिष्क पर प्रवाह डाल कर 'वाहवाही' प्राप्त कर लें पर हृदय को रसार्द्र नहीं कर सकते जो देव की अपनी विशेषता है। कलापक्ष में बिहारी अवश्य ही देव की अपेक्षा बढ़ कर माने जा सकते हैं पर कला का दृष्टिकोण भी देव का अपना अलग ही है। बिहारी को कला के अङ्ग भाषा की समाहार शक्ति, सामासिकता, लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्ति का विकास और अर्थ सौरस्य हैं तो देव में संगीत, झंकृति, लालित्य, सौकुमार्य कल्पना की उडान और रसात्मकता हैं।

संक्षेप में देव आचार्यत्व और व्यक्तित्व दोनों दृष्टि से रीतिकालीन कवियों में श्रेष्ठ हैं। केशवदास और देव आदि में केवल आचार्यत्व श्रेष्ठ है और बिहारी मतिराम और पद्माकर में केवल कवित्व। देव में दोनों ही भाव हैं और दोनों ही में उनका पर्याप्त ऊंचा स्थान है।

प्रश्न २२—देव और बिहारी के काव्य की तुलनात्मक आलोचना कीजिये। (सं० २००२)

उत्तर—देव और बिहारी के काव्यों की तुलना के सम्बन्ध में कुछ दिन पूर्व एक कटु विवाद चल पड़ा था। मिश्रबन्धु देव के और स्वर्गीय श्री पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदीन बिहारी के पक्षपाती थे। इनका पक्षपात बढ़कर वैयक्तिक तक हो चला था। अच्छा हुआ जो इस प्रकार का रोग अधिक न बढ़ा और पक्षपातपूर्ण तुलनाओं की प्रगति रुक गई।

देव और बिहारी दोनों ही अपूर्व प्रतिभा के कवि थे। प्रतिभा के साथ ही साथ दोनों ही कवियों का काव्य शास्त्र-ज्ञान पूर्ण था और संसार का भी अच्छा अनुभव था। पर पारस्थिति तथा काल के प्रभाव से दोनों ही कवि शृंगार रस के ही कवि बन सके। बिहारी को राज्याश्रय मिल गया। सम्मान के साथ ही धन भी प्रचुर मात्रा में मिलता रहा इसलिए दिन भर में एक दोहे से अधिक रचने की उन्हें आवश्यकता न पड़ी। यह भी सम्भव है कि दिन में वे अनेक दोहे लिखते हों और उसमें से सर्वश्रेष्ठ चुन कर राजा को सुनाते हों और उसी को सतसई में स्थान देते हों। उधर बेचारे देव को भाग्यवश कोई आश्रयदाता न मिला। वे पुस्तक की रचना करते और एक को समर्पित करते, कुछ दिन के पश्चात् वहाँ से चलना पड़ता और अन्य आश्रयदाता के लिए दूसरा ग्रन्थ प्रस्तुत करना पड़ता। इसीलिए उनके अनेक पद कई पुस्तकों में भी मिल जाते हैं। इस प्रकार देव के ग्रन्थों की संख्या जहाँ ५२ या ७२ बताई जाती है वहाँ बिहारी की केवल ७०० दोहों की एक सतसई है। पर कवित्व की जाँच तो पुस्तकों या कविताओं की संख्या-मात्र से हो नहीं सकती। मूल्यांकन करते समय रत्नों की सख्या ही देखी जाती है छोटे-छोटे सिक्कों की नहीं। बिहारीलाल जी के रत्न चुने हुए स्पष्ट झलकते होते हैं पर देव जी के रत्न तो समस्त ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं।

देव और बिहारी दोनों ही कवि रस, अलंकार और नायिका भेद के विशेषज्ञ थे। देव ने तो इन्हीं विषयों पर भाव-विलास, शब्दरसायन और जाति विलास पुस्तकें ही लिख दीं, किन्तु ग्रन्थ रचना करने पर भी उन्हें आचार्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। रस और अलंकारादि विषयों का ज्ञान कराने के लिए देव के ये ग्रन्थ पर्याप्त नहीं हैं उनके बहुत ही अपूर्ण, अस्पष्ट और कहीं-कहीं गलत तथा भ्रामक लक्षण और उदाहरण हैं। पर उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किए गए छन्दों में कल्पना की उड़ान भाषा का सौन्दर्य और रसात्मकता सुन्दर मिलती है। बिहारीलाल जी ने इन विषयों पर लक्षण ग्रन्थ लिखने का प्रयास नहीं किया पर उनके अनेक दोहे नायिका भेद, हाव, भाव, संचारी तथा अलंकारों के उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। उनके अनेक दोहों में इसी कारण प्रसाद गुण लोप

हो गया है। पाठक जब तक नायिका-भेद, शब्दशक्ति और रस का विवेचन न जान जाय, दोहे का अर्थ उसे स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार आचार्यत्व की कोटि में तो इन दो में से एक भी नहीं लिया जा सकता, पर विशेषज्ञ दोनों ही हैं।

कवि-कर्म के दो पक्ष हैं भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष ही काव्य की आत्मा है। कवि द्वारा प्रस्तुत किये विचार, कल्पना तथा भाव ही जब काव्योपयुक्त मनोरम भाषा में उपस्थित किये जाते हैं तो उसे श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा मिलती है। विचार की दृष्टि से देखने पर बिहारी और देव दोनों ही ने अपनी अधिकांश रचना नायक नायिकाओं की क्रीड़ाओं और विहार सम्बन्धी ही की हैं। अन्तर केवल यह है कि देव की रचनाओं में अश्लीलत्व स्पष्ट है पर बिहारी जी ने उसे भाषा की व्यंजना तथा अर्थ की संकीर्णता में ढक रखा है। देव ने तो भाव विलास और अष्टयाम में ऐसे निकृष्ट पद रखे हैं कि उन्हें पढ़ने पर कवि के सम्बन्ध में कुरुचि हो जाती है, बाल-चापल्य सा प्रतीत होता है। सोलह वर्ष की अवस्था में लिखा हुआ भाव-विलास सचमुच ही अप्रौढ़ प्रयास प्रतीत होता है। कुछ लोग अवश्य ही देव में जीवन के अनुभव भी देखते है, और काव्य में इन अनुभवों का भी विशिष्ट स्थान मानते हैं। बिहारीलाल जी में भी सदृश भाव है पर साथ ही उनके अनेक दोहों में शुद्ध भक्ति, जीवन के तथ्य, तथा दरबारी जीवन के वास्तविक अनुभव हैं। निश्चय ही बुद्धितत्व बिहारी का देव से बढ़कर है।

कल्पना की उड़ान में दोनों ही कवि सदृश हैं। बिहारीलाल जी कभी-कभी इतने उड़ जाते हैं कि उनकी नायिका उसासों के हिंडोले में झूमती रहती है और माघ के महीने में भी विरहिणी की आहों से लू चलने लगती हैं। इस प्रकार की असम्भाव्य कल्पनायें उपाहासास्पद हैं। फिर भी कवि का अभिप्रेत उनमें झलक पड़ता है। चित्र उपस्थित करने में बिहारीलाल जी सिद्धहस्त हैं। सरोवर से नहा कर निकलती हुई नायिका, भरे घर में नायक और नायिका की चेष्टायें, राधा और कृष्ण की लुकी-छिपी, राधिका और कृष्ण के स्वरूप आदि के साक्षात् चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। कल्पना पक्ष महाकवि देव का भी बहुत सुन्दर है। पाठक को नायक और नायिका स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। 'ब्रज दूलह' कृष्ण के स्वरूप और क्रीड़ाओं के भी मनोहारी चित्र देव ने उपस्थित किये हैं।

रागात्मक अथवा भाव तत्त्व अपेक्षाकृत देव में बिहारी से उत्तम है। देव की प्रत्येक पंक्ति में हृदय पर प्रभाव डालने वाली शक्ति अवश्य होती है। पर बिहारीलाल जी के दोहों में कलापक्ष का ही चमत्कार विशेष होता है, भावोन्मेष कम। उदाहरण के लिये 'दृग उरझत टूटत कुटुम्ब' "मकराकृत गोपाल के कुण्डल कुण्डल सोहन कान" "या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय", "मंगल विन्द सुरंग मुख ससि केसर आड़ गुरु' आदि दोहों में उक्ति अथवा अलंकार चमत्कार अवश्य ही अद्भुत है। पर इनके पढ़ने या सुनने पर हृदय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु देव जी के अलंकार वैचित्र्यप्रधान पद जैसे – "वरुनी वघम्बर में गूदरी पलक दोऊ....दीजिये दरम देव कीजिये संजोगिनी ऐ जोगिनी ह्वै बैठी हैं वियोगिनी की अंखियाँ" तथा 'वा चकई को भयौ चित चीतो...। लोहू पियो जू वियोगिनी को, सु कियो मुख लाल पिशाचिनी प्राची". "सुनि के धुनि चातक मोरन की" "कोऊ कहै कुलटा कुलीन अकुलीन कहैं" आदि अर्थालंकार तथा शब्दालंकार प्रधान पदों में भी वे भाव विद्यमान हैं जिन्हें पढ़कर हृदय तरंगित हो उठता है। जिस कविता में भी यही भावतत्त्व नहीं होता वह कविता विचार, कल्पना और कला की दृष्टि से कितनी ही श्रेष्ठ हो काव्य में श्रेष्ठ स्थान न पा सकेगी।

देव और बिहारी दोनों ही कवि कलापक्ष में सर्वथा पूर्ण हैं। बिहारीलाल जी ने हिन्दी साहित्य भर में सर्वश्रेष्ठ दोहे लिखे। उनकी कला 'दोहा दीरघ अरथ के आखर थोरे मांहि' उपस्थित करने में हैं, उसमें कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति का सफल प्रयास प्रस्तुत करना है। साथ ही साथ एक-एक दोहे में ही अलंकार और अनुभवों तथा भावों का सुन्दर उदाहरण देना है। 'गागर में सागर भरते हुए भी शब्दों की तोड़-मरोड़ न करना और व्रजभाषा का शुद्ध स्वरूप दिखा देना बिहारी ऐसे कलाकार का ही कार्य है। शब्दों की अपूर्व शक्ति बिहारी के दोहों में प्राप्त होती है। महाकवि देव सवैये और कवित्तों में अद्वितीय हैं। अनुप्रास इन्हें बड़े ही प्रिय थे- ऐसी कोई पंक्ति नहीं जिनमें अनुप्रास की छटा न हो। शब्द-चयन बड़ा ही प्राञ्जल और मधुर है। प्रत्येक शब्द बड़ा ही कर्णप्रिय है। समस्त पंक्ति की ध्वनि भावानुकूल होती है। उक्ति-वैचित्र्य प्रत्येक पद में अनुपम है। सजी हुई, अलंकृत, मधुर व्रज भाषा देव के हाथों पड़ कर खिल

गई है। देव और बिहारी दोनों की कला के स्वरूप अलग अलग हैं और अपने-अपने स्थान पर दोनों पूर्ण हैं।

प्रश्न २३—'नारी प्रकृति के कुछ रूपों का निरूपण करने में देव को जैसी सफलता मिली है वैसी बिहारी को नहीं।" इस निर्णय का आशय स्पष्ट करते हुए इसके औचित्य पर विचार कीजिए।

उत्तर—देव और बिहारी दोनों ही कवियों ने नारी-प्रकृति के उन्हीं रूपों का निरूपण किया है जिनका सम्बन्ध शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष से है। रीति परम्परा के अनुसार शृंगारी कवि इस प्रसंग में नायक-नायिका की रस चेष्टायें तथा प्रवृत्तियों आदि का ही वर्णन उपस्थित करते हैं। देव ने संयोगावस्था में नायक और नायिका की रस-चेष्टाओं का बड़ा स्पष्ट चित्र अंकित किया है। उनमें मानसिक और शारीरिक सुख का बड़ा गाढ़ा रंग है। बिहारी के इस प्रसंग के चित्रों में भाषा की करामात अधिक है, रसमग्नता वैसी नहीं है। देव की पैनी दृष्टि नारी मनोविज्ञान पर बड़ी स्पष्ट रूप में पड़ती है। वे आन्तरिक मनोदशा का प्रभाव शारीरिक अंग-विन्यास पर बड़ा सुन्दर दिखाते हैं। जैसे नववधू को गौने की तैयारी में सखी सीख देती है कि—

> बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाए,
> यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥"

देव के काव्य में इस प्रकार के उदाहरणों की भरमार है। सच बात तो यह है कि देव इन प्रसंगों में विशेष रुचि रखते हैं। अतः निश्चय ही संयोग के इस सीमित घेरे में उन्हें नारी-प्रकृति का अध्ययन करने तथा उनका चित्रण करने का अधिक अवसर रहा। बिहारी का उद्देश्य नारी-प्रकृति का चित्रण विशेष निरूपण न होकर उसमें रसवत्ता भरनी थी। उसमें अनुभावों का विधान तथा अलंकारों का विधान अभीष्ट था। दूसरे, बिहारी के अधिकांश भाव दूसरों के लिए हुए हैं। उन्होंने अमरुक शतक, आर्यासप्तशती आदि संस्कृत के शृंगारिक स्थलों को अपनी अभिव्यक्ति दी है अतः उसमें नारी-प्रकृति का चित्रण उतना प्रधान नहीं होता जितना देव में जिन्होंने दूसरों के भावों को बहुत ही कम लिया है। संयोग शृंगार चित्रण में सम्भोग, परिहास बिहार आदि प्रसंगों के उद्धरण उपस्थित करना यहां आवश्यक नहीं है पर इतना अवश्य कह देना चाहिए कि देव के द्वारा उपस्थित किए हुए उक्त प्रसंगों में आनन्द का वाता

वरण उपस्थित करने की अद्‌भुत क्षमता है इन वर्णनों में देव की अपनी विशेषता यह है कि बिहारी की भाँति ऐन्द्रिय उल्लास बना कर ही नही छोड़ देते उसमें प्रेमानुभूति भी भरते हैं।

विरह के प्रसगों में भी देव जी अनुभूति का साहचर्य सर्वत्र ही रखते हैं। बिहारी की भाँति ऊहा और अतिशयोक्तियों के द्वारा खिलवाड़ नहीं बना देते। विरह के वर्णनों में नायिका का परम्परागत वृत्तियों का सदा ध्यान उन्होंने रखा हैं। बियोगिनी नायिका प्रबासी नायक की बाट देख रही है। अवधि के पूरा होने पर कैसा सुन्दर चित्रण देव प्रस्तुत करते हैं।

"देव जु आज ही ऐबे की औधि सु बीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठाआ उड़ाइबां को उडि काग गरे परी चारिक चूरी।"

इसी प्ररकार जहाँ बिहारी की विरहविदग्धा नायिका ब्रह्म की भांति अदृश्य हो जाती है, या माघ के महीने में अपनी विरहावस्था से लू चलाती है। या इत्र के फुलेल को ऊपर से ही सुखा देती है वहा देव की विरह विधुरा नायिका का चित्रण इस प्रकार है—

देव कहै, सांसन ही अंसुवा सुखात, मुख
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति ॥
लौट परति, करौंट खाट पाटी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पर फरफराती ॥

वियोग-पीड़ा का कैसा सुन्दर चित्रण है।

खण्डिता के चित्रण में तो देव जी अद्वितीय ही हैं। उनकी अभिव्यक्तियों में बिवशता की करुणा और व्यंग्य की चमक है। 'लोहू पियो जू वियौगिनी को सो किए मुत्र लाज चिराचिनी प्राची' में खण्डिता के क्षोभ भरे मुख की कैसी सुन्दर व्यंजना है।

"पतिव्रद-ब्रती ये उपासी प्यासी
अंखियन प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप पारनो।"

में व्यंग्य कितना करुण मधुर है।

देव और बिहारी के इस प्रकार के वर्णनों में मूल भेद यह है कि बिहारी के नारी चित्रों में बौद्धिक तत्त्वों का मिश्रण है साथ ही इनके दोहे रीति के बन्धनों से बंधे हैं; उनमें आवेश के झंकार का अवकाश नहीं है। देव जी

में शृंगारिक अनुभूति का धरातल बहुत गहरा था, इसी से उनकी अभिव्यक्तियों में आवेश भी अधिक है और मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण भी बहुत अधिक है। उनकी मानसिक प्रवृत्ति संयोग वर्णन, पूर्व-राग, मान तथा खण्डिता वर्णनों की ओर अधिक थी, विरह की गम्भीर अवस्थाओं की ओर अपेक्षाकृत कम। फिर भी विरह वर्णन में कवि का उद्देश्य पीड़ा की गहरी अनुभूतियों का चित्रण था। उनके नारी-चित्रण में अनुभूतियों का प्रकाश है पर बिहारी में काव्य सौष्ठव और कला का प्रदर्शन है। बिहारी ने स्वानुभूत प्रसंग कम लिखे हैं। अत: स्वाभाविक है कि उसमें कल्पना का निक्षेप ही प्रधान होगा, अनुभूति का चित्रण नहीं। निश्चय ही देव जी नारी प्रकृति के निरूपण में बिहारी की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं।

प्रश्न २४—भक्ति और काव्य-कला की दृष्टि से जिन कवियों को आपने पढ़ा है उनका तुलनात्मक विवेचन संक्षेप में कीजिए।

उत्तर—पाठ्य-क्रम में दस कवि हैं—तुलसी, सूर, नन्ददास, मीरा, बिहारी, सेनापति, देव, केशवदास, रसखान और घनानन्द। इन सभी कवियों ने भक्ति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ रचनाएं अवश्य की है और सभी में उच्चकोटि की काव्य कला प्राप्त होती है। इतने कवियों की तुलना सम्भव भी नहीं है और उचित भी नहीं है क्योंकि सबके काव्य-विषय तथा भक्ति के दृष्टिकोण भिन्न है, जब उनका एक स्तर नहीं है तो तुलना कैसी, हाँ भक्ति और काव्य-कला की दृष्टि से उनके काव्य पर विहंगम दृष्टि किसी प्रकार डाली जा सकती है और अन्त में सबको एक दृष्टि में देख लेना अध्ययन के लिए उपयोगी भी हो सकता है।

भक्ति = भक्तिकालीन कवि—तुलसी, सूर, नन्ददास और मीरा भी एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी अनन्य भाव के राम-भक्त हैं, वे राम के अतिरिक्त संसार में किसी को जानते ही नहीं।

"मात-पिता नहीं जानउं काहू। कहउं सुभाव नाथ पतियाहू।
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। कृपा सिन्धु उर अन्तर्यामी॥

वे तो संसार के सभी नाते राम के द्वारा मानते हैं। जो राम का प्रिय है वही उनका प्रिय है चाहे वह कैसा भी नीच और निकम्मा क्यों न हो और जिसको वह राम प्रिय नहीं है वह माता, पिता, भाई, पुत्र, पत्नी कुछ भी हो, अत्यन्त अप्रिय है—

"जाके प्रिय न राम बैदेही"
तजिए ताहिं कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण भाइ भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितन्ह ने मुद मंगलकारी।
+ + +
नाते सबै राम सों मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।"

भक्ति ही तुलसीदास की कसौटी है। उसी पर वे सब को और अपने को कसते थे "स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।" कोई कैसा भी सदाचारी, गुणी और महान् हो पर यदि उसमे भक्ति-भाव नहीं तो वह सुन्दर बना हुआ बिना नमक का साग है—

"कीरति कुल करतूत भूति भल सील सरूप सलोने।
तुलसी हरि अनुराग रहित जस सालन साग अलोने।"

तुलसी-काव्य में सर्वत्र यही भक्ति है। रामचरित मानस के प्रत्येक पात्र में उनका यही दृष्टिकोण है जो लोग भक्ति-भावना से युत थे। उनका उन्होंने बड़ा सत्कार किया है। हनुमान्, भरत, लक्ष्मण, निषाद, विभिषण इसके उदाहरण हैं। पर जिनमे राम के प्रति भक्ति नहीं थी, वे महान् से महान् हो कर मानस में नीच बने हैं। इनके उदाहरण हैं—इन्द्र, रावण और कैकेयी। सच तो यह है कि तुलसी-साहित्य भक्ति भागीरथी ही है इसलिए उनका काव्य जनजीवन का कण्ठहार बन गया।

भक्तप्रवर सूरदास जी में प्रधानतया सख्य-भक्ति थी। वे स्वामी वल्लभाचार्य जी के पुष्टिसम्प्रदाय के भक्त थे। तुलसीदास का अनन्य भाव भी उनके विनय के पदों में मिल जाता है। पुष्टिमार्ग में भक्ति के तीन स्वरूप हैं। मर्यादा पुष्टि, प्रवाह पुष्टि और पुष्टि-पुष्टि। प्रवाह-पुष्टि में वात्सल्य भाव होता है। सूरदास जी के बाल-वर्णन में यही भाव मिलता है। उनके बाल-वर्णनों में वात्सल्य का सुन्दर निरूपण मिलता है और प्रत्येक पद की अंतिम पंक्ति में भक्त की वात्सल्य-भक्ति व्यंजित होती है। वह यशोदा के सुख से ईर्ष्या करता हुआ दिखाई पड़ता है—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंद भामिनि पावे।"

पुष्टि-पुष्टि में माधुर्य-भाव की भक्ति होती है। दानलीला, मानलीला,

रासलीला और भ्रमरगीत में लोक, वेद और मर्यादा के भावों से सर्वथा मुक्त गोपांगना की माधुर्य भक्ति उन्होंने प्रस्तुत की है। गोपांगनाओं के पीछे खड़े होकर सूरदास अपने भाव को प्रकट करते गये हैं। मर्यादा पुष्टि में व्रत आदि के द्वारा भक्ति होती है, इसमें श्रद्धा और माहात्म्य होती है। इसमें स्वकीया भक्ति होती है। सूरसागर में इस प्रकार की भी भक्ति है। सूरदास जी की अपनी निजी भक्ति सख्य है। गोपों के द्वारा वे उसका प्रकाशन करते हैं, कृष्ण का उपहास कराते हैं—

"गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर"

स्वयं भी खम ठोक कर कृष्ण के सम्मुख खड़े हो जाते हैं—

"आज हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हम ही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।"

समस्त सूरसागर सूरदास की भक्ति प्रकाशन के हेतु ही रचा गया, भक्ति के अतिरिक्त उनके सम्मुख और था ही क्या? जीवन भर भगवान् की लीलाओं का गान किया और अन्त में भी भगवान् में ही समा गये। किसमें सामर्थ्य है कि तुलसी और सूर की भक्तियों को तराजू पर तोले।

नन्ददास जी भी कृष्ण के परम-भक्त थे। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी, वे भी पुष्टिमार्गी थे। पुष्टि-पुष्टि ही पुष्टिमार्ग का श्रेष्ठतम रूप है— परकीया भावना इस भक्ति में होती है। उपपति के साथ प्रणय करने में लोक-वेद के बन्धनों को तोड़ना पड़ता है। प्रेम की तीव्रतम स्थिति होती है। नन्ददास जी इसी प्रकार के भक्त प्रतीत होते हैं, उन्होंने सिद्धान्त पंचाध्यायी में कहा भी है।

"रस में जो उपपति रस आही, रस की अवधि कहें कवि ताही।"

रास पंचाध्यायी में गोपियों में यही प्रेम दिखाते हैं। पलक गिरने तक के विरह को सहना गोपियों को दुःखद है, कृष्ण के अन्तर्धान होते ही गोपियाँ पागल हो गयीं, भौंरे, पक्षी, लता, पुष्प से कृष्ण को पूछने लगीं। कितनी विह्वलता उनके प्रेम में मिलती है। भंवरगीत में भी गोपियों के उपालम्भों में यह भाव ध्वनित होता है। श्याम-सगाई पुस्तक में भी यही भाव है। हिंदी भक्त कवियों में नन्ददास जी भी उसी कोटि के भक्त हैं जिस कोटि के चण्डीदास और विद्यापति। इनकी भक्ति की तुलना तुलसी और सूर से करना उपहासास्पद है।

मीरा तो भक्ति की अवतार ही थीं। उनका तो कृष्ण से जनम-जनम का साथ था। वे तो कुमारी, सधवा और विधवा सभी स्थितियों में अपने को कृष्ण की पत्नी ही मानती थीं "जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई" संतों के पास बैठ-बैठ कर, भरी समाज में कृष्ण मूर्ति के सामने नाच-नाच कर उन्होंने संसार की लोक-लाज खो दी। सास-ननद की धमकियाँ सहीं, साँप का पिटारा ग्रहण किया, विषपान किया; पर अपने गिरधर नागर पर निछावर रहीं। वन-वन, पहाड़-पहाड़ घूमती फिरी और अन्त में कृष्ण वियोग को न सहकर उनकी मूर्ति में ही समा गयी। भक्ति का ऐसा जीता-जागता और सच्चा उदाहरण तो कहीं मिलता ही नहीं। भक्तों के माहात्म्य की सारी जनश्रुतियाँ मीरा के जीवन में ही घट जाती हैं। दाम्पत्य-प्रणय की ऐसी भक्ति यदि और कहीं थी तो चैतन्य महाप्रभु में। हिन्दी के कवियों में मीरा को भक्ति मिल ही कहाँ सकती है ?

रीतिकालीन कवियों में केशव, बिहारी और देव के जीवन से तो भक्ति का सम्बन्ध रहा ही नहीं। काव्य में अवश्य ही भक्ति सम्बन्धी रचनायें हैं। बिहारीलाल जी के भक्तिविषयक अनेक दोहे हैं जिनमें भक्ति-भावना उत्कट है, सच तो यह है कि अनुभूति के दर्शन ही बिहारीलाल जी के भक्ति विषयक दोहों में मिलते हैं।

"कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय॥"

कृष्ण के स्मरण में भी उनकी भक्ति-भावना स्पष्ट और मार्मिक है—

"सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
याह बानक मो मन बस्यो, सदा बिहारीलाल॥"

बिहारीलाल जी राधावल्लभी सम्प्रदाय वालों की भाँति राधा को कृष्ण की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। उनका पहला दोहा इसका उदाहरण है। वे ग्रन्थ में कृष्ण की स्तुति न करके राधा की स्तुति करते हैं क्योंकि राधा कृष्ण की अपेक्षा अधिक द्युतिमान् और कृष्ण को भी प्रसन्न और सुन्दर बनाने वाली हैं। जीवन और काल में लौकिक शृंगार की प्रधानता अवश्य

थी; पर उनके भक्ति-विषयक दोहे सिद्ध कर रहे हैं कि बिहारी में भी घनानंद, रसखान और नागरीदास आदि की भांति भक्ति के अंकुर थे, पर जीवन में उनको ऐसा सुयोग न प्राप्त हुआ कि वे उनका समुचित विकास कर सकते।

केशवदास जी रीतिग्रन्थकार थे। १६४८ से १६५७ तक रीति-ग्रन्थ रचना करने के पश्चात् उन्हें अन्दर से प्रेरणा मिली कि बिना भक्ति काव्य की रचना के उन्हें स्वर्ग न मिलेगा। सम्भवतः तुलसी आदि भक्तों के काव्य-प्रचार से उस समय जन जीवन में ऐसी सामान्य धारणा बन गयी थी। इस प्रेरणा के फलस्वरूप ही उन्होंने स्वप्न में वाल्मीकि जी का दर्शन पाकर और उनके आदेशानुसार रामचन्द्रिका की रचना की। स्पष्ट है कि केशवदास जी में भक्ति का अंकुर था ही नहीं, जमाने की हवा के असर से विवश होकर उन्होंने राम-काव्य की रचना की। इसीलिए राम-काव्य में भी भक्ति की झलक भी नहीं मिलती। राम-चन्द्रिका के कारण उन्हें भक्ति-काव्य में स्थान भले ही मिल जाय पर भक्तों की पंक्ति में वे सबसे पीछे भी न खड़े होने पावेंगे।

कविवर देव में भी भक्ति-भावना आंशिक ही थी पर उनके कुछ छंद अवश्य ऐसे हैं जिनमें भक्त हृदय छलकता दिखाई पड़ता है। कृष्ण के स्मरण में उनका शुद्ध भाव मिलता है—

> पांयनि नूपुर मंजु बजै कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
> सांवरे अंग लसै पट पीत हिये हुलस बनमाल सुहाई॥"

कृष्ण की रासलीला का जब वे स्मरण करते हैं तो अपने ही भीतर सारी रासलीला देखने लग जाते हैं; ऐसा तादात्म्य भक्त ही में सम्भव है—

> "हौं ही ब्रजवृन्दावन मोही में बसत सदा,
> यमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
> \+ + + +
> बंसीवट तट नट नागर नचत मोमें,
> रास के विलास की मधुर धुनि बीन की॥

देव जी को वास्तव में जब सांसारिक विलासपूर्ण जीवन से घृणा हुई तब वे कृष्ण की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने ग्लानि हुई अपने पिछले जीवन पर—

"जो हौं ऐसो जानतों तू जैहै विषै के संग,
हेरे मन मेरो तेरे हाथ पाँव तोरतो।
+ + + +
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे बांधि,
राधावर विरुद् के वारिधि में बोरतो॥"

तात्पर्य यह है कि अन्तिम दिनों में देवजी भक्ति की ओर प्रवृत्त हो गये थे।

सेनापति, रसखान और घनानन्द तो भक्त थे ही, उनका जीवन ही इसका प्रमाण है। सेनापति जी राम, कृष्ण, शिव और गंगा के भक्त थे। कृष्ण के प्रति उनकी भावना माधुर्य भाव की हैं। जिन पदों में कृष्ण का उल्लेख है उनमें भक्ति का कोई स्वरूप नहीं है। कृष्ण शृंगार रस के नायक मात्र हैं। घनानन्द की भांति वे भी कृष्ण को नायक रूप में पूजते होंगे। राम के तो वे सचमुच भक्त थे, राम-भक्ति और राम-कृपा में उन्हें अटूट विश्वास था। शिव और गंगा की भक्ति भी उन्होंने इसीलिए की कि वे राम-भक्ति दिलवा सकेंगे। जैसे तुलसीदास जी सभी देवताओं के पास जाकर राम-भक्ति का वर मांगते हैं इसी प्रकार सेनापति जी भी शिव और गंगा की भक्ति करते हैं।

रसखान तो भक्ति के अवतार ही थे। कृष्ण-भक्ति के लिए उन्होंने अपना धर्म छोड़ा, बादशाह के कोप-भाजन बने, सर्वस्व त्याग कर आजीवन वृन्दावन में रह कर कृष्ण लीला में समा गये। भक्ति उनकी भी माधुर्य भाव की ही थी, इसीलिए उन्होंने नखशिख, मान और बिहार वर्णनों में रुचि दिखाई है। कृष्ण-लीला के निरूपण में वे मर्यादावादी न बने, खुला-शृंगार दिखाया, आशिकाना तबियत वाले रसखान जी कृष्ण भक्त बन कर राग-रंग के ही दीवाने रह गये।

घनानंद भी रसखान जी की भाँति संसार छोड़कर वृन्दावन चले गये थे और कृष्णलीला में रत रह कर ही अपना शेष जीवन समाप्त किया। इनकी भी प्रवृत्ति रसखान की भाँति शृंगारिक ही थी, इसीलिए इन्होंने कृष्णभक्ति में डूब कर भी नायक-नायिका की रंगरेलियों और विरह का ही चित्रण किया। इनकी कविता को देखकर इन्हें भक्त कहने में प्रत्येक व्यक्ति का दिल अवश्य हिचकेगा। पर ज़यदेव, विद्यापति, चैतन्य, रसखान आदि सभी भक्त

तो इसी प्रवृत्ति के थे, शृंगारिक रूप में कृष्ण का स्मरण करने से उनकी भक्ति-भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

काव्य-कला की दृष्टि से अवश्य ही मीराबाई को छोड़कर सभी कवि एक धरातल पर देखे जा सकते हैं। मीरा तो काव्य-कला को संभवतः जानती भी न हों, उनका संसर्ग भी रैदास आदि ऐसे सन्तों से था जिन्हें काव्य-कला की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं थी, मीरा की सहृदयता और अकृत्रिम भावोद्गार ही उनकी कला थे। पर अन्य सभी भक्त कवि थे, काव्य-कला के सभी मर्मों को जानते थे और किसी न किसी रूप में उन्होंने काव्य गुणों को अपने काव्य में भरने का सचेष्ट प्रयत्न किया है। तुलसीदास के रामचरितमानस और विनयपत्रिका तो भावपक्ष के ही निरूपण में बने। उनके छंद, रस, अलंकार गुण, शास्त्रोक्त रीति से हैं। कवि ने दोषों को काव्य में आने न दिया, विनयपत्रिका तक में अनुप्रासों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की अद्भुत लड़ी देखने को मिलती। सभी रस और अलंकार काव्य-शास्त्रीय विधि-विधान में मिलते हैं। तुलसी-काव्य न केवल धार्मिक काव्य है वरन् काव्यकला का उत्कृष्टतम नमूना है।

सूरसागर भी काव्य-कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। मुक्तक गीतिकाव्य का ऐसा महाग्रन्थ संसार में उपलब्ध नहीं। शब्द चयन, रस, अलंकार और भाषा की दृष्टि से सूरदास जी अनुपम हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्राप्त काव्य शैली में ही काव्यावयवों को भरा है पर सूरदास जी शैलीकार हैं, काव्य का जो प्रयोग उन्होंने सूरसागर में प्रस्तुत किया वह सर्वथा मौलिक और नया है। हिन्दी में गीतिकाव्य की एक परम्परा ही उन्होंने चला दी, आज तक वही परम्परा चलती जा रही है। सूरदास जी ने तुलसीदास जी की भांति अपना क्षेत्र व्यापक नहीं बनाया। अपने संकुचित क्षेत्र में अपनी कला की पूर्णता दिखाई। कला विस्तार की अपेक्षा नहीं रखती, कौशल और निरूपणता चाहती है। कौशल में निश्चय ही सूरदास जी तुलसीदास से बहुत आगे हैं। वात्सल्य और शृङ्गार रसों में तुलसी क्या संसार का भी कोई कवि सूर की समानता नहीं कर सकता। तुलसी ने भी विनयपत्रिका और गीतावली में गीतिकाव्य लिखा है पर सूर के गीति-काव्यत्व का पासंग भी वे प्रस्तुत न कर सके। कला की दृष्टि से "सूर-सूर तुलसी-ससी" बिलकुल ही उपयुक्त है।

नन्ददास जी में कला का आग्रह बहुत था इसीलिए उन्होंने जयदेव के गीत गोविन्द का अनुसरण किया। कोमलकांत पदावली, संगीत लहरी और अलंकृत शैली के वे प्रेमी थे। उनकी रास पंचाध्यायी काव्य-कौशल का उत्तम उदाहरण है। उनमें सूर की मौलिकता न थी, वे तो अनुकरणकारी थे।

रीतिकालीन कवियों में केशवदास जी सब के गुरु और रीति-परम्परा के प्रवर्तक थे, वे अलंकारवादी थे, अलंकार और शब्द-चमत्कार दिखाना ही उनकी काव्य-साधना का लक्ष्य था। शब्द-क्रीड़ा और अलंकार को ही वे काव्य कला समझते थे। अपने उद्देश्य में केशवदास जी सफल थे पर उनका प्रयोग एक प्रयोग था, उनकी कला काव्यकला का एक अंग मात्र थी और काव्य कला की दृष्टि से काव्य के जो तीन उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने जाते हैं उनमें केशवदास जी को अधम कोटि में ही स्थान मिल सकता है क्योंकि कला शब्द-चमत्कार के घेरे से आगे नहीं बढ़ती।

काव्यकला की दृष्टि से देव और बिहारी लगभग समान हैं। दोनों के हाथों भाव और भाषा में कला की निकाई मिलती है। अर्थ, अलंकार और रस तीनों का सुन्दर सामंजस्य दोनों की कला में मिलता है। दोनों की कलाओं में अन्तर है। बिहारी कम शब्दों में अधिक भाव, अलंकार और निर्दोष भाषा प्रस्तुत कर सके। देव ने सुन्दर वातावरण, सरस रचना, संगीत झंकृति और अलंकृत पदावली निर्माण की।

काव्यकला की दृष्टि से सेनापति जी बड़े महत्वपूर्ण हैं, शब्द-योजना बड़ी चामत्कारिक है। श्लेष चमत्कार उनका हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। प्रकृति वर्णनों में सेनापति जी की उत्प्रेक्षायें भी अपने ढंग की निराली ही हैं, अनुप्रास और रूपक भी इसके बहुत सुन्दर हैं। सेनापति जी काव्य-कला के पूर्ण मर्मज्ञ थे। देव और बिहारी के पश्चात् उन्हें स्थान दिया जा सकता है।

रसखान की काव्य-कला में प्रसाद गुण, स्वाभाविक और मधुर भाषा, सरस और अलंकृत पदावली प्रधान है। सूरदास और नन्ददास जी के उत्तराधिकार में प्राप्त भाषा को और भी व्रजभाषा के अनुरूप इन्होंने बनाया, इनके सवैया हिन्दी में अद्वितीय हैं। कला की दृष्टि से ये घनानन्द और पद्माकर के निकट पहुँचते हैं।

घनानन्द जी की कला पर भक्तिकालीन भक्तों और रीतिकालीन कवियों का प्रभाव पड़ा था पर उन्होंने दोनों का लाभ उठाकर अपनी प्रतिभा के योग से उसमें अपूर्वता भर दी। उनकी कला में अलंकार का आग्रह नहीं है। उनके वर्णन में चित्रण की सूक्ष्मता, व्यंजना का चमत्कार और सरस पदावली का सौंदर्य मिलता है। काव्य-रीति छोड़कर सर्वथा मुक्त और मौलिक शैली घनानन्द की अनुपम है। परवर्ती कवि पद्माकर, रत्नाकर आदि ने इनका अनुकरण किया अवश्य पर घनानन्द की शैली आज तक अपनी सी बनी है।

शब्द-रसायन

प्रश्न २५—सिद्ध कीजिये कि रीति-काव्यों की रचना तत्कालीन विलासी राजाओं की कामुकता को बढ़ाने के लिए न होकर उनके शौर्य और औदार्य का वर्णन करने के उद्देश्य से ही हुई थी।

अथवा

रीति-काव्यों की रचना के कारणों के सम्बन्ध में हिन्दी के आलोचकों में जो भ्रम फैला है उसका निराकरण करके वास्तविक हेतुओं पर प्रकाश डालो।

उत्तर—रीतिकाल का आरम्भ विक्रम की १८वीं शताब्दी के आरम्भ अर्थात् संवत १७०० के बाद से आरम्भ होता है। इससे पूर्व भक्तिकाल था, जिस समय कि अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का शासन रहा था। प्रत्येक काल में देश की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ साहित्य की गतिविधि का संचालन करती रही हैं। भक्ति-काव्य भी एक विशेष प्रवृति का परिणाम था। उस ममय वास्तविक रूप में धर्म की दुर्दशा थी, कबीर जसे अनपढ़ लोग सुनी-सुनाई बातों के आधार पर धर्म की मूर्त भित्ति वेद आदि शास्त्रों की निन्दा करके अपने समकालिक वैष्णव धर्म सूफी सम्प्रदाय, हठ-योगी, नाथ पंथ आदि के सिद्धान्तों की खिचड़ी करके मनमाने धर्म का प्रचार कर रहे थे। इससे समाज की बुरी दशा थी, उसे धर्म के प्राचीन स्वरूप का ज्ञान न रहा था। कबीर आदि बगला रहे थे मुमलमान अपने इस्लाम का प्रचार शक्ति, लोभ और तर्क आदि से कर रहे थे। इसलिए वैष्णव आचार्यों ने जो कि प्राचीन धर्म के अनुयायी थे, इन कल्पित पंथों के नाश का बीड़ा उठाया। अकबर से शाहजहाँ तक के शासन में कला-कौशल और समृद्धि उन्नत हुई, विशेषकर विलासिता के लिये अंतिम दोनों बादशाह ही प्रसिद्ध हैं। इनके साथ उस युग के अमीर-उमराव भी विलासी थे।

इस काल में एक ओर तुलसी, सूर आदि की भक्ति सम्बन्धी रचनायें हो

रही थीं, दूसरी ओर मुगल दरबारों के प्रभाव से शृङ्गारी कविताएं भी लिखी जा रही थीं। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' और केशवदास की 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' जो कि तीनों ही रीति-ग्रन्थ थे, भक्तिकाल में ही लिखी गईं।

रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि से माना जाता है। इनका रचना-काल संवत् १७०० से आरम्भ होता है। यह समय औरंगजेब के शासन का था जब कि हिन्दुओं पर इस्लामी अत्याचार पुनः होने लगे थे। उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण भारत के अनेक भागों में उसका विद्रोह किया जाने लगा। शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविन्दसिंह, गोंडवाना सरदार आदि मुगल सत्ता के प्रबल विरोधी थे। पुनः इस काल के रीति-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की विलासिता का वर्णन न करके उनके पूर्वजों के शौर्य का वर्णन किया था या उनकी उदारता का वर्णन किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने भक्तिकाल की भाँति राधा-कृष्ण की स्तुति वाली कविताएं भी लिखी हैं। जैसे—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूडि गये एक संग में।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद,
सु न्यारे करि बांचे कौन जाँचे चित भंग में।
आंखिनि में तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जम्बू नद बुन्द जमुना-जल तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम को रह्यो न माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में॥

अन्तिम रीति-कवि पद्माकर ने ग्वालियर के राजा की प्रशंसा यों की है-

बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिनि दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि पटना हू की झपट्टि करि,
कबहुँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

यदि राजाओं की प्रेरणा से शृंगारी कविता लिखते तो उनके नायक कृष्ण को न बनाकर उन राजाओं को ही बनाते।

इस अशान्त समय में भी इन राजाओं ने अपने साहित्य-प्रेम का परिचय

देते हुए कवियों की हिन्दी-साहित्य में लक्षण ग्रन्थों की कमी को दूर करने की प्रेरणा दी। इसका प्रमाण यही है कि कवियों ने अपने लक्षण ग्रन्थ या तो राजाओं को समर्पित किये हैं, या रचना के लिए उनकी आज्ञा का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए चिन्तामणि का यह दोहा लिया जा सकता है—

चिन्तामणि को हुकुम दियो साह मकरन्द।
करो लच्छ लच्छन सहित भाषा पिंगल छन्द॥

महाराज जसवन्तसिंह ने तो स्वयं भाषा-भूषण जैसा लक्षण-ग्रन्थ लिखा है।

रीतिकाल की कविता में शृंगार का कारण—सम्पूर्ण रीति काव्य प्रायः शृंगारिक है। उसमें वर्णित सामग्री जिस-किसी भी प्रकार से सर्वथा शृंगारी है। इस कारण भी बहुत से आलोचक इन कवियों को कोसते हैं। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो यह शृंगारिकता भी इन कवियों को एक दीर्घ परम्परा से मिली जो देन भी भक्त कवियों की थी। सूर और तुलसी के अनेक पदों में पर्याप्त शृंगार है। सूर के अनेक पदों में नायिका-भेद तक के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध सम्प्रदाय श्रीमद्भागवत से प्रेरित थे। भागवत में श्रीकृष्ण का जो गोपीजनवल्लभ रूप दिखाया गया है, उसी को इन वल्लभ, निम्बार्क और चैतन्य सम्प्रदायों ने अपना आलम्बन बनाया। सभी कृष्ण-भक्त कवि इनमें से किसी न किसी सम्प्रदाय के अनुगामी हैं। उनकी परम्परा गीतगोविन्दकार जयदेव और मैथिल-कोकिल विद्यापति से आरम्भ होती है। सूरदास के पद्यों में से यदि कृष्ण और राधा का प्रसंग निकाल दिया जाय तो वे शुद्ध नायिका भेद के उदाहरण हो जाते हैं। जैसे—

आजु हरि रैनि उनींदे आये,
अंजन अधर, ललाट महावर, नैन तमोर खवाये।
बिनु गुन माल विराजति उर पर, चन्दन खौरि लगाये॥
मगन देह सिर पाठा लटपटी, जावक रंग रंगाये।
हृदय सुभग नख रेख विराजत, कंकन पीठी बनाये॥
सूरदास, प्रभु यहै अचम्भव, तीन तिलक कहँ पाये।

इस प्रकार यह विपरीत रति का उदाहरण है। यही भाव बिहारी के इस दोहे का है—

पलक पीक, अंजन अधर, लसत महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥

उस काल में श्रीकृष्ण की उपासना इसी प्रकार की होती थी। सम्राटों के भी सम्राट् प्रभु के दरबार के अनुरूप समृद्धि का ठाट-बाठ उनके मन्दिरों में था। इसलिए प्रेम-तत्त्व में रंगे भक्ति भाव के काव्य ही इन्होंने रचे। रीति-कवियों ने इसी परम्परा का पालन किया। सरदार कवि ने इस पर प्रकाश डाला है कि कृष्ण शृंगार के देवता हैं। राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन प्रकृति और पुरुष के प्रेम के वर्णन का प्रतिबिम्ब है। नारी और नर का प्रेम ही सृष्टि का कारण है। इस शृंगार की तन्मयता में स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। रामकुमार वर्मा पति-पत्नी भाव को लेकर इसी रूप में लिखी गई कविता को रहस्यवादी मानते हैं।

रीतिकालीन कविता की कुछ विशेषताएँ—

१. इसमें शाब्दिक चमत्कार और वर्णन विशेष चमत्कारपूर्ण है।

२. भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है जिसमें एकरूपता है।

३. शृंगार की प्रधानता, वीर रस गौण है।

४. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नायक-नायिका भेद के वर्णन के रूप में है।

५. संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुए और उनसे सहायता भी ली गई।

६. ऐतिहासिक सामग्री भी प्रचुर है।

७. इस काल की वीर रस वाली कविताओं में भी राजनीति का स्पर्श नहीं है।

८. धार्मिक शृंगार में लौकिकता का पुट है।

९. आचार्यत्व और कवित्व का मिश्रित रूप है।

१०. दोहा, कवित्त और सवैयों की प्रधानता है।

इस प्रकार रीतिकाल के कवियों को व राजाओं को अश्लील शृंगारिक रचनाओं के लिये दोष नहीं देना चाहिये; क्योंकि वैसी अश्लीलता आधुनिक साहित्य में भी पर्याप्त है।

प्रश्न २६—देव कवि का जीवन-परिचय देते हुए उनके साहित्य की समीक्षा कीजिए।

उत्तर— रीतिकाल के कवियों में महाकवि देव प्रमुख स्थान रखते हैं। उन के जीवनवृत्त के विषय में स्वयं उनके दो पद्य प्रकाश डालते हैं।

"सुभ सत्रह सै छयालीस, चढ़त सोरही वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष ॥

× × ×

द्योसरिया कवि देव को नगर इटावो वास।

इनका तात्पर्य यह लिया गया है कि संवत् १७३० में उनका जन्म हुआ था। द्यौसरिया जाति के थे और नगर इटावा में रहते थे। उनका पूरा नाम देवदत्त था, कविता में देव शब्द का प्रयोग करते थे। बलालपुर इटावा के पंसारी टोला में रहते थे। मिश्र-बन्धुओं ने उनका एक वंश-वृक्ष भी प्रकाशित किया है। संवत् १८२४ तक वे जीवित रहे। क्योंकि उन्होंने अपनी सारी रचनाओं का संग्रह 'सुख सागर तरङ्ग' नाम से पिहानी के अलीवर्दी खां को सौंपा।

आश्रयदाता—दुर्भाग्यवश मतिराम, बिहारी, भूषण आदि के समान गुण-ग्राही आश्रयदाता इन्हें कोई नहीं मिला। इसलिये देश के अनेक भागों में वे घूमते रहे। इस भ्रमण में इन्होंने लौकिक निरीक्षण से जो अनुभव प्राप्त किये, उनके आधार पर 'जाति विलास' की रचना की। उनके कई ग्रन्थ एक को समर्पित नहीं हुए हैं। राजाओं और रईसों सभी को उन्होंने परखा। उचित सम्मान न होने से उन्होंने प्रत्येक के लिए मौलिक ग्रन्थ न करके पहली ही रचनाओं को इधर-उधर करके नवीन ग्रन्थ का नाम दे दिया। इनके आश्रय-दाताओं में औरंगजेब का लड़का आजमशाह, भवानीदत्त वैश्य, इटावा का कुशलसिंह, पिहानी का अलीवर्दी खां, उद्योतसिंह आदि थे। इन सब में कोई भी उन्हें सन्तुष्ट न कर सका। अन्त में उनको भोगीलाल नामक गुणग्राहक राजा मिल गये। उनको देव ने 'रस विलास' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ समर्पित करते हुए लिखा है —

भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया, जिन
लाखन खरचि—रचि आखर खरीदे हैं ॥

इसके पश्चात् 'सुख सागर तरङ्ग' को छोड़कर शेष ग्रन्थ किसी को समर्पित नहीं हुए।

देव का साहित्य—रीतिकाल के कवियों में परिमाण के विचार से देव का साहित्य सब से अधिक है। उनके ग्रन्थ ७२, ५७ और २६ माने जाते हैं। इसका कारण अनेक ग्रन्थों का अभी तक प्राप्त न होना है, एवं कई रचनाएं दूसरी कृतियों का परिवर्तित रूप मात्र हैं। अनेक पद्यों के द्वारा तो उन्होंने एक-एक से कई-कई काम निकालने की चेष्टा की है। उनके ग्रन्थों में भवानी-विलास, रस विलास, जाति विलास, अष्टयाम, रागरत्नाकार, सुख सागर तरङ्ग, सुन्दरी सिन्दूर, शब्द रसायन, प्रकाशित हो चुके हैं। ये सभी उनकी उत्तम रचनाएं हैं। इन सबका विषय भी अनेकता लिये हुए है।

समीक्षा—देव का साहित्य दो प्रकार का है–काव्य शास्त्र एवं उदाहरण। इनके कारण वे दो रूप में सामने आते हैं—आचार्य और कवि। इनमें पहले की दृष्टि से अन्य रीतिकालीन आचार्यों की भांति वे भी असफल हैं। एक दोहे में लक्षण देकर उदाहरण दे देने में इतिकर्तव्यता समझी गई है। उनके लक्षण ग्रन्थों से कोई भी पूर्ण रूप से काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उदाहरण की दृष्टि से वे अवश्य सफल हैं; क्योंकि वहाँ सभी कवियों का कविरूप प्रत्यक्ष है। इसमें मौलिकता, सरसता और मार्मिकता असाधारण रूप से है। देव कवि भी इन कवियों के अपवाद नहीं हैं। वे भी कवि की दृष्टि से ही विशेष महत्व रखते हैं, आचार्य की दृष्टि से नहीं। उनके पद्यों में मौलिकता है, शब्दालंकारों का सौन्दर्य है। इसी कारण बहुत से पद्य शब्दाडम्बर से लद कर अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण रह गये हैं। कई पद्यों को उन्होंने अनेक विषयों का उदाहरण दिखाया है, पर वास्तव में उन सब का उदाहरण संगत नहीं होता। जैसे—

आई हुती अन्हवावन नाइनि, सोंधे लिए बहु सूध सुभाइन,
कंचुकी छोरी उतै उबटैवे को, ईंगुर से अंग की सुख दाइन।

'देव' सरूप की रासि निहारति पाँयतें सीस लौं, सीसते पाइन ।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइन ॥

यह देव ने शृङ्गारान्तर्गत विस्मय संचारी, अद्‌भुत के स्थायी और नागर माधुर्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इनमे पहले का तो वह उदाहरण ठीक बैठ जाता है; पर अद्‌भुत का स्थायी और नागर माधुर्य का उदाहरण ठीक नहीं बैठता। कारण यह है कि या तो विस्मय को संचारी मान लिया जाय, या स्थायी, एक हो सकता है, दोनों नहीं। वस्तुतः उसकी सामग्री संचारी की ही है। टकारों की अधिकता से माधुर्य का तो उदाहरण है ही नहीं।

मिश्र-बन्धु आदि देव की भाषा के प्रशंसक हैं, तो पद्मसिंह आदि नहीं। रामचन्द्र शुक्ल के विचार में भी उनकी रचनाओं में शब्दों की भद्दी तोड़-मरोड़, वर्ण-साम्य के लिये अशक्त शब्दों के प्रयोगों से अर्थ—प्रकाशनसामर्थ्य नष्ट हो जाता है। अनेक स्थानों पर यह मत सर्वथा संगत भी है और अनेक पद्यों में असंगत। बहुत से पद्यों में शब्द-सौन्दर्य भाव-सौन्दर्य की वृद्धि में बहुत सहायक है। उनका प्रकृति-वर्णन भी बड़ा सुन्दर और ठाठ-बाठ का है। क्या मानवीय और क्या भौतिक दोनों का अत्याकर्षक वर्णन है। वर्षा-ऋतु का—

'सुनि के धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों,
अनुराग भरे हरि बागनि में सखि रागत राग अचूकन सों।
कवि देव घटा उनई जो नई बन भूमि भई दल दूकनि सों,
रंग राती हरी, लहराती लता, झुकि जाती समीर के झोंकनि सों।'

यह वर्णन अत्याकर्षक है। साथ में यह वस्तु-व्यंजना का अप्युत्कृष्ट उदाहरण है।

सारांश में कवि देव अच्छे प्रतिभाशाली कवि थे। परम्परा पालन के लिये उन्होंने काव्य-शास्त्र की रचना की। स्वतन्त्र रूप से कविता रचने में उनका व्यक्तित्व अच्छा निखरा है। भाव-योजना पर उनकी दृष्टि सदा रहती थी पर अनुप्रासप्रियता के कारण उनमें यदा-कदा असफल भी हो जाते थे। विदेशी शब्दों के प्रयोग और मूल शब्दों की तोड़-मरोड़ से उनकी भाषा में

अशक्तता आ गई है। तो भी उनके कवि हृदय की उच्चता का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

प्रश्न २९—शब्द-रसायन का आन्तरिक परिचय देते हुए लक्षण-ग्रंथ की दृष्टि से उसका महत्त्व सिद्ध करो ।

उत्तर—'शब्द रसायन' देव कवि का शुद्ध लक्षण-ग्रन्थ है। इसका दूसरा नाम काव्य-रसायन है जो कि पहले नाम की अपेक्षा प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप होने से अधिक संगत बैठता है । ग्रन्थ का विभाजन ग्यारह प्रकाशों में हुआ है। परिच्छेदों का नामकरण रसायन के अनुरूप नहीं हैं। प्राय: प्राचीन लेखकों की रीति रही है कि पुस्तक के नाम के अनुरूप परिच्छेदों का विभाज़न हो। जैसे नाम के साथ प्रकाश आने पर परिच्छेद का उल्लास हो, प्रदीप के साथ शिखा, सागर के साथ तरंग, इस पुस्तक का नामकरण भी रूपक अलंकार से है, अत: परिच्छेदों के नाम में भी रूपक का निर्वाह होना चाहिये था, जो नहीं किया गया है। इन प्रकाशों में पृथक्-पृथक् वर्ण्य विषय को बांटा गया है। जैसे—

१. प्रथम प्रकाश में तीनों वृत्तियों के साथ तात्पर्या नाम की वृत्ति का निरूपण है।

२. द्वितीय प्रकाश में तीनों वृत्तियों के शुद्ध एवं संकीर्ण भेद सोदाहरण दिये हैं।

३. तृतीय प्रकाश में रसस्वरूप, विभावादि के पश्चात् शृङ्गार के अंगों का निरूपण है।

४. चतुर्थ प्रकाश में हास्य से लेकर शान्त रस तक सभी रसों का वर्णन है।

५. पंचम में मित्र-शत्रु रस, उदास, निरस, सम्मुख रस, पृथक्-पृथक् रसों के संचारी भावों का वर्णन, चारों वृत्तियों का वर्णन है।

६. षष्ठ में शृङ्गार रस के नायक, नायिका, दूती आदि के कारण विशेष भेदों का वर्णन है।

७. सप्तम में दस काव्य-गुणों का निरूपण है।

८. अष्टम में शब्दालंकारों का विवेचन है।

९. नवम में सम्पूर्ण अर्थालंकारों का वर्णन किया है।
१०. दशम में वर्णच्छन्दों का वर्णन है।
११. ग्यारहवें में मात्राच्छन्दों का स्वरूप है।

इस प्रकार लेखक ने सम्पूर्ण काव्य का विषय भरने की चेष्टा की है। विषय-निरूपण में कुछ मौलिकता भी है। रसों के जो अनेक भेद बताये हैं और वृत्तियों के परस्पर संकीर्ण स्वरूपों के जो भेद दिये हैं, वे भी पूर्ण रूप से उनकी अपनी सूझ हैं। काव्य-शास्त्र के निरूपण में कवि बहुत कुछ बातों में संस्कृत के प्राचीन दण्डी आदि आचार्यों का अनुसरण करता है और कुछ में नवीनों का; कहीं वह बहक भी गया है। जैसे पंचम प्रकाश में रसों के साथ चार वृत्तियों का वर्णन किया है—सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी और भारती। ये चारों वृत्तियां वास्तव में नाटकीय हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष पात्रों की भाषा और स्थिति आदि के संघटन का नियम है। श्रव्य-काव्य में इनका विशेष प्रयोजन नहीं। केवल शृंगार आदि रसों के विचार से उनका विभाजन कुछ अर्थ नहीं रखता। उदाहरण के लिये 'भारती' का 'साहित्य दर्पण' में लक्षण दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।

अर्थात् जहाँ पुरुष पात्र अधिकतर संस्कृत में भाषण करें वह भारती वृत्ति है। अब देव कवि ने इसका जो लक्षण किया है वह देखिये—

वीर हास्य अद्भुत रसन बहु वक्रोक्ति सगर्व।
उदारता, अचरज, हंसी, करत भारती सर्व॥

इसमें अनेक वक्रोक्तियों को तो स्वीकार किया है और मूल का कुछ भी नहीं है। उदाहरण देखा जाय तो उसमें इतना भी नहीं मिलता:—

दारुन जुद्ध प्रबुद्ध सुरासुर, उद्धत वीर विरुद्ध उदार में,
सूर सिरोमनि राम इतै, उत रावन धीर धुरंधर धार में।
कोशल भूभुज, दूभुज शोभनि, बीस भुजा दस सीस बिहार में,
नाचत रुंड फिरै इत मंडल, मुंड हसै हर के हिय हार में॥

इस उदाहरण में वक्रोक्ति कवि की ही है, संवाद किसी का नहीं है। छन्दों में भी वर्णवृत्त के तीन भेद किये हैं—गद्य, पद्य और दण्डक।

छन्दोहीन रचना को ही गद्य कहते हैं, पुनः गद्य वृत्त का भेद कैसा ? अस्तु ! कवि ने काव्य का स्वरूप यह माना है:—

"जो शब्द बुद्धिमानों के मुख से निकलते ही पदों के द्वारा अर्थ प्रकट करे; छन्द, भाव, अलंकार और रस से युक्त ऐसी रचना काव्य होती है।"

इस प्रकार शब्द जो अर्थ वाला हो, वही काव्य का शरीर हैं।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर कहते हैं

रसमय काव्य का शब्द शरीर है, अर्थ उसका प्राण है, रसमय मन है, छन्द उसके चरण हैं, अलंकारों से वह गम्भीर अर्थात् सारपूर्ण है।

शब्द वह है जो अर्थ का ज्ञान कराये। उसके तीन भेद गिनाये हैं— वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक। इन तीनों से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन अर्थों का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वाक्य का अभिप्राय रूप चौया अर्थ तात्पर्य होता है। इनमें देव व्यंग्य अर्थ को सबसे अधम मानते हैं। लक्षणा के वे १३ भेद मानते हैं। उसके बाद वृत्तियों में सांकर्य से और अनेक भेद माने हैं। संकीर्ण भेद शब्दार्थ छः और तात्पर्यार्थ के साथ बारह होते हैं। शब्द के अर्थ चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य। इसी प्रकार अर्थविचार से लक्षणा के चार भेद माने हैं; कार्यकारण भाव, सादृश्य, वैपरीत्य, आक्षेप। व्यंजना के प्रायः वे ही स्वरूप गिनाये हैं जिन्हें आचार्यों ने आर्थी व्यंजना के भेद माना है।

रस को काव्य में मुख्य मानते हुए प्राचीनों के विचार से नौ और नवीन मत से तीन बताते हैं। तीन मानने वालों में सम्भव है, वे स्वयं एक हों, क्योंकि रसों को प्राचीन आचार्य भी ९ से कम नहीं मानते। नये आचार्यों ने तो भक्ति और वत्सल आदि नवीन रस और भी स्वीकार किये हैं। नाटक में आठ रस प्राचीन नाट्य शास्त्र के "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" के अनुकूल हैं। स्थायी भावों में जुगुप्सा के स्थान पर निन्दा माना है। वास्तव में घृणा और निन्दा का तात्पर्य पृथक्-पृथक् है। सात्विक आदि का वर्णन यथापूर्व है। तीन रस मुख्य माने हैं—शृंगार, वीर, शान्त। हास्य और भय का अन्तर्भाव शृंगार में किया है। वीर में करुण और रौद्र का, तथा अद्भुत व बीभत्स का शान्त में है। यह विवेचन कुछ विचित्र है। हास्य हृदय की

प्रसन्नावस्था में होता है, अतः शृंगार के साथ उसकी स्थिति मानी जा सकती है; परन्तु भय की स्थिति उससे मेल नहीं खाती, रति और भय का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। वीर से करुण और रौद्र का सम्बन्ध यथाकथंचित् संगत हो सकता है। क्योंकि उत्साह के साथ यदि अमर्ष संचारी हो तो वह उग्रता को लाने वाला होगा; उग्रता से वीर का आश्रय क्रोध की स्थिति में पहुँच जायगा। यही रौद्र का स्थायी भाव है। रौद्र के परिणाम से करुण की उत्पत्ति होती है। शत्रुपक्ष में यदि करुण का प्रादुर्भाव हो तो वीर का उत्कर्ष हो जाता है। अद्‌भुत अविरोधी और बीभत्स निर्वेद को बढ़ाने वाला होने से शान्त से मेल खा जाता है। इतना होने पर भी मुख्य रसों से अन्तर्भावित रसों की अनभूति कठिन है। क्योंकि मुख्य रस की सामग्री होने से उन्हीं का अनुभव विशेष होगा।

वीर और शान्त भी शृंगार के अंग बन जाते हैं। उनके साथ चार रस और आकर शृंगार के पोषक बन जाते हैं। अतः शृंगार रसों का राजा बताया है।

रसों के अनुभाव आदि के उदाहरणों में प्रायः सर्वत्र शृंगार की मात्रा है, और तो और रौद्र का उदाहरण भी शृंगारपूर्ण दिया है। चाहे शृंगार को रस का राजा मान भी लिया जाय, तो भी उससे रौद्र रस की अनुभूति नहीं हो सकती। उदाहरण देखिये :—

"पीक भरी पलकैं झलकैं, अलकै जुगड़ी सुलसै भुज खोज की,
छाय रही छवि छैल की छाती में छाप बनी कछु ओछे उरोज की।
ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते, तीखि चितौनि चली अति ओज की,
बालम ओर बिलोकि के बाल दई मनो खैंचि सनाल सरोज की ॥"

यहाँ खण्डिता का कोप दिखाया है; परन्तु क्रोध की अनुभूति से रौद्र रस की वह अनुभूति नहीं होती जो इष्ट है, इससे शृंगार की ही पुष्टि होती है।

अष्टम में चित्रालंकारों का वर्णन करते हुए सर्वतोभद्र आदि बन्धों के उदाहरण मात्र दे दिये हैं। अन्यथा उनको बनाने की रीति भी देनी चाहिये थी।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक आदि वर्णचित्र और अर्थचित्र दो भेद

माने हैं। अन्य वक्रोक्ति, श्लेष आदि अर्थालंकार में ही गिनाये हैं। अर्थालंकार स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तिरन्यास, निदर्शना, व्यतिरेक, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, हेतु, सहोक्ति, सूक्ष्म, लेख, क्रम, प्रेम, रसवत्, उदात्त, उर्ज्जस्वि, अपन्हुति, समाधि, दृष्टान्त, निन्दा स्तुति, संशय, विरोध, विरोधाभास, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, असम्भव, असंगति, परिकर, तद्गुण, मुख्य अलंकार माने हैं। इनके लक्षण आदि कुछ नहीं दिये हैं। अन्य अलंकारों को गौण कहकर एक उदाहरण में कई-कई गिना दिए हैं।

छन्दों में एक गण से बनने वाले संख्या का विचार न करते हुए एक स्थान पर दिखा दिए हैं।

इन सभी कारणों से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में यद्यपि काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध अधिकांश विषय आ गया है, तथापि यह केवल एक परम्परा का ही पालन करता है। किसी काव्य-शिक्षार्थी को इससे काव्यविषयक ज्ञान हो, नहीं सकता। क्योंकि किसी भी विषय का स्पष्टीकरण भली प्रकार नहीं किया है। इसलिए रीति ग्रन्थ के नाते तो इसको सफल नहीं कह सकते। हां' सुन्दर उदाहरणों को देखते हुए इसका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा।

—*—

काव्य रसायन

काव्य के लक्षण: —

ऊँच नीच तरु कर्म बस चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवन्त जस, नव्य काव्य सुखसार॥
रहत न घर वर धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप॥
शब्द जीव तिहि अर्थ मनु, रस मय सुजस सरीर।
चलत चहूँ जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर॥

तात्पर्य—यह संसार भले-बुरे कर्मों से प्रवाहशील है, परन्तु भगवान् का

यश और सुखदायक नवीन काव्य सदा स्थायी रहते हैं। घर, धन, नदी, वृक्ष आदि नष्ट हो जाते हैं; पर भगवान् का यश और रसमय काव्य अमर हैं।

उस काव्य का रसस्वरूप सुन्दर यशरूपी शरीर है, शब्द उसके प्राण हैं, अर्थ मन है, छन्द उसके चरण हैं और अलंकारों से वह गम्भीर अर्थात् भारवान् उत्कृष्ट हो जाता है। इस प्रकार यहाँ तो रस को शरीर माना है। वस्तुतः शब्द को शरीर, अर्थ को प्राण और रस को मन मानना चाहिये। देव रसवादी थे, अतः रस को आत्मा या प्रेरणादायक मन मानना ठीक है। इस से प्राचीन सम्प्रदाय से विरोध भी नहीं बैठता। अतः परिष्कृत लक्षण हुआ—

अर्थ और रस सहित शब्द काव्य होता है, छन्द और अलंकारों से वह प्रगतिशील और सारपूर्ण हो।

काव्य का प्रयोजन—

हरि-जस-रस की रसिकता सकल रसाइन सार ॥

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन भगवान् के यश का वर्णन करना बताया है।

शब्द-रसायन का प्रयोजन—

केते अभिमानी भये पानी के बबूला कोई
बानी बीज धरम, धरा में धरि जातु है;
सबद रसायन के अरथ उपाइन
अमर-तरु काइन, अमर करि जातु है ॥

तात्पर्य यह है कि संसार के नाशवान् होने से बड़े-बड़े अभिमानी तो मिट जाते हैं परन्तु कोई महान् व्यक्ति अपनी पवित्र वाणी द्वारा (कविता) पृथ्वी में धर्म का बीज बो जाता है। इसी प्रकार इस शब्द-रसायन के अर्थ रूपी उपायों को करके जो कि पदार्थ ज्ञान के लिये कल्पवृक्ष है, अपने इस देह को अमर कर देता है। सुन्दर कविता रचकर अमर हो जाता है। परम्परा से यह निष्कर्ष है कि उचित शब्द, अर्थ आदि काव्यांगों का प्रयोग करने की शिक्षा इस शब्द-रसायन से प्राप्त होती है। सुन्दर कविता करने का ज्ञान कराना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

शब्द और अर्थ—

देव के विचार में योग्य शब्द वही है जो कि कहने के साथ ही सुन्दर भाव सहित अर्थ का ज्ञान कराये।

शब्द तीन होते हैं—वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक।

वाचक—जिस शब्द के मुँह से निकलते ही अर्थ का ज्ञान हो जाय, वह शब्द वाचक होता है। जो अर्थ उस से जाना जाय, उसे वाच्य कहते हैं। उसके ज्ञान का कारण अभिधा वृत्ति है।

लाक्षणिक—जो रूढि और प्रयोजन के कारण प्रत्यक्ष या सीधे अर्थ को भूलकर अर्थात् उसे त्रुटियुक्त जान कर दूसरा अर्थ प्रकट करे, वह लाक्षणिक शब्द है; उससे प्रकट अर्थ लक्ष्य है और लक्षणा उसका ज्ञान कराने वाली वृत्ति है।

व्यंजक—जब अर्थ सीधे तो प्रकट न हो, घुमा फिरा कर कुछ और निकले तब वहाँ व्यंजना वृत्ति काम आती है। वह अर्थ व्यंग्य कहलाता है और शब्द व्यंजक कहा जाता है।

इस प्रकार तीन शब्द वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक माने हैं। इनके अर्थ क्रम से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य होते हैं।

तात्पर्यार्थ—जैसे किसी शब्द को स्वर के भेद से बोलने में अन्य अर्थ निकलता है, इसी प्रकार तीनों शब्द चौथा अर्थ भी निकालते हैं, उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं।

विशेष ज्ञातव्य—संस्कृत के आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीनों वृत्तियों के अतिरिक्त 'तात्पर्या' नाम की चौथी वृत्ति भी मानी थी। उनके विचार में शब्दार्थ कुछ और होते हैं और वाक्यार्थ कुछ और होता है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, इस वाक्य में अभिधा से कुम्हार, घड़ा और बनाता है. इन पृथक् शब्दों के अर्थ का ज्ञान तो हो जाता पर कुम्हार रूपी कर्ता घड़े रूप कर्म की रचना करता है, यह वाक्यार्थ अभिधा से नहीं जाना जाता। क्योंकि सारा अर्थ किसी एक शब्द का नहीं है। यही वाक्य का तात्पर्य है।

अभिधा शब्द कहते ही निकलने वाले अर्थ को बताती है, उसका अर्थ

वाच्य है। लक्षणा सीधा अर्थ ठीक न होने से उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ बताती है, उसका अर्थ लक्ष्य है। इन दोनों से गूढ़ अर्थ को व्यंजना बताती है; उस अर्थ को व्यंग्य कहते है। चौथा अर्थ जो सम्पूर्ण शब्दों को मिलाकर बनता है, उसे तात्पर्यार्य कहते हैं।

शब्द एक ही होता है, पर विशेष अवस्था में पृथक् अर्थ बताकर अलग-अलग नाम धारण करता है।

तात्पर्य अर्थ जिसमें अधिक है, वह उत्तम काव्य है, मध्यम दर्जे का वाच्यार्थ होने से मध्यम काव्य और सब से कम हो तो नीच या अधम काव्य होता है।

केवल वाचक शब्द से वाच्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण—

उज्जल अखण्ड खण्ड साँतये महल महा,
मंडल चबारो चन्द मंडल की चोट ही;
भीतर हू लालनि के जालनि विसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी, जोतिन के जोट ही।
बरनत सुबानी, चौर ढारत भवानी, कर,
जोरै रमारानी, ठाढी रमन की ओट ही,
'देव' दिगपालनि की, देवी सुख दाइनि ते
राधा ठकुराइनि के पांइन पै लोट ही।।

अर्थ—कवि राधा रानी का वर्णन कर रहा है। वैष्णव वल्लभ कुल के मत से श्रीकृष्ण विष्णु, ब्रह्मा और महेश से भी बड़े हैं। राधा उनकी अर्धांगिनी है। वैकुण्ठ से भी ऊपर गोलोक है, वहीं पर श्रीकृष्ण राधा रानी के साथ नित्य रास विहार करते हैं। इसलिये उसी रीति पर राधा के वैभव और प्रभाव का वर्णन कर रहा है। सफेद और पूर्ण महल की सातवीं मंजिल में महान् गोलाकार चौबारा अर्थात् ऊपर का कमरा है जो कि चन्द्र मंडल को, चन्द्र बिम्ब को चोट करता है, ऊंचाई के कारण उसे छूता है। उसके भीतर जड़े हुए लालों के महान् समूह की कान्ति फैल रही है, बाहर चांदनी फैली हुई है, इस प्रकार चांदनी और लालों की आभा मिलकर भव्य रूप धारण कर रही है। वहाँ पर वाणी अर्थात् सरस्वती उनके गुणों का वर्णन करती

है, पार्वती चंवर डुला रही है, लक्ष्मीदेवी अपने पति विष्णु की आड़ में हाथ जोड़े खड़ी है। देव कवि कहते हैं कि आठों इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि दिक्पालों की देवियां अपनी पालकियां छोड़-छोड़कर स्वामिनी राधा के चरणों पर झुक रही हैं। यदि "पाइनि पलोट ही" ऐसा पाठ हो तो अर्थ होगा—"पैर दवा रही है।" इसमें राधा और कृष्ण का प्रभाव और ऐश्वर्य दिखाया है, अतः उदात्तालंकार है। इसी प्रकार "जहाँ लक्ष्मी देवी स्वयं हाथ जोड़े खड़ी है, वहाँ धन का क्या ठिकाना।" इस विशेष अभिप्राय को 'रमा रानी" शब्द प्रकट करता है, अतः परिकरांकुर अलंकार है। लाटानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास और अन्त्यानुप्रास भी हैं।

स्पष्टीकरण—कवि ने इस पद्य को शुद्ध वाच्य अर्थयुक्त वाचक शब्द और अभिधा वृत्ति के लिये उदाहृत किया है। राधा और कृष्ण के प्रभाव में इन शब्दों का साक्षत् संकेत या शक्तिग्रह होता है। अभिधा सीधे अर्थ में संकेतग्रह कराती है। यहाँ शब्दों का अपने सीधे अर्थों में संकेत है, उन से कोई अर्थ परम्परा से नहीं निकलता। अब ऐसा उदाहहरण देते हैं जिस में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों अर्थ हैं; किन्तु वाच्य अर्थ ही प्रधान है, इस-लिये अभिधा ही प्रवल है।

पामरिनु पांवरे परे हैं पुर पौरि लगि,
धाम धाम धूपनि के धूम धुनियतु हैं;
कस्तूरी, अतरसार, चोवा रस, घनसार,
दीपक हजारन अंध्यार लुनियतु हैं।
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि में,
अंग अंग गोपिन के गुन गुनियतु हैं;
'देव' सुख साज महाराज ब्रजराज आज,
राधा जू के सदन सिधारे सुनियतु हैं॥

अर्थ—नगर गोकुल से निकलकर बरसाने के आरम्भ से राधा जी के महल पर पाँवड़ों पर पाँवड़े (स्वागत के लिये पाँव रखने को मार्ग में बिछाये गये वस्त्र) बिछे हुए हैं; घर-घर में धूप का धुआं छाया हुआ है। अनेक प्रकार के इत्र, अगर, चोबा रस के रस का छिड़काव मार्ग में हो रहा है। कपूर

के हजारों दीपकों से अन्धकार नष्ट हो रहा है सुन्दर मृदंग बज रहे हैं, गोपियों के अंग-प्रत्यंग के गुण अर्थात् उनके प्रत्येक अंग की सुघरता राग-रागनियों के रंग या प्रभाव से कई गुना अधिक हो गई है। अर्थात् गोपियां बड़ी प्रसन्नता से मृदंग के साथ गीत गा रही हैं। कारण यह है कि सुना है, सुख सामग्री से सजीले महाराज, ब्रजराज, कृष्ण आज राधा जी के घर पधार रहे हैं। इस में सजावट का अतिशय वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

स्पष्टीकरण—इस पद्य में सभी शब्द वाचक हैं, वाच्य अर्थ सुखदायक दिन की सजालट है; राधा के सौभाग्य को विचार कर कहने वाली सखी के मुख पर छाया हुआ गर्व लक्ष्य है। प्रयोजन यह है कि यह वचन जिस सौतिन को सुना कर कहा जा रहा है, उसका तिरस्कार करना है। इस प्रकार यहाँ अभिधा पूर्ण है। लक्षणा और व्यंजना से उसका चमत्कार अधिक है।

वास्तव में यह उदाहरण चिन्त्य है। लक्षण केवल मान लेने से ही नहीं हो जाती, वाच्य अर्थ में बाध अवश्य होना चाहिये। यहाँ कोई ऐसा शब्द नहीं है, जिस के अर्थ में बाधा हो।

लक्षणावृत्ति

जब वाच्य अर्थ संगत प्रतीत न हो, तब रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर शब्द से जो दूसरा अर्थ निकलता है, उसे लक्ष्य अर्थ कहते हैं। इस कारण लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ा और प्रयोजनवती। जहाँ लक्षणा के बाद कोई प्रयोजन व्यंग्य न हो वहाँ रूढ़ा होती है। वहाँ प्रयोजन सामने रख कर लक्षणा की जाय, वहाँ प्रयोजनवती होती है। प्रयोजनवती के भी दो भेद होते हैं, शुद्धा और मिलित या गौणी। शुद्धा के भी चार भेद और माने जाते हैं—अजहल्लक्षणा (उपादान लक्षणा), जहल्लक्षणा (लक्षण लक्षणा) सारोपा, साध्यवसाना। मिलित अर्थात् गौणी के दो भेद हैं—सारोपा, साध्यवसाना। इस प्रकार प्रयोजन-वती के छः भेद हुए। अब यदि प्रयोजन गहरा व्यंग्य हो, स्फुट व्यंग्य हो, इस दृष्टि से इनमें प्रत्येक के दो भेद हुए जिस से प्रयोजनवती के बारह भेद हो गये। एक रूढ़ा को मिला कुल भेद १३ हैं। इसका चित्र नीचे लिखे प्रकार से होगा:—
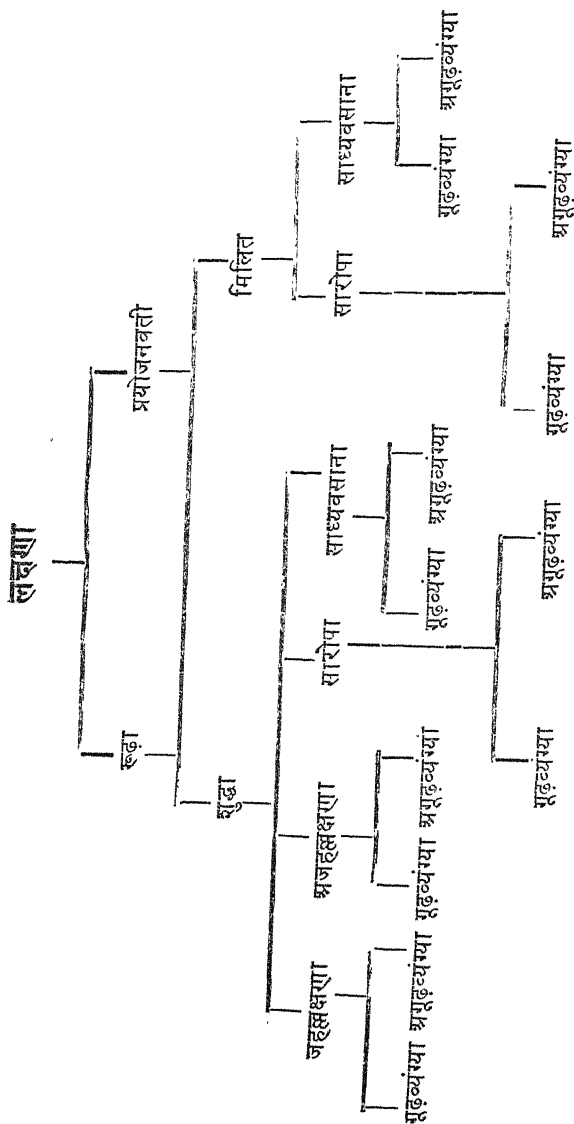
इन सभी के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. रूढ़ा—जो बिना प्रयोजन को सामने रखे की जाय।

२. प्रयोजनवती—जिस में किसी प्रयोजन को व्यक्त करना इष्ट हो।

अजहल्लक्षणा (उपादान लक्षणा)—जहाँ शब्द अपना अर्थ बताकर दूसरे का अर्थ भी बताये।

जहल्लक्षणा (लक्षण लक्षणा)—जब शब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ कहे।

सारोपा—यदि विषय में (उपमेय या प्रस्तुत वर्ण्य) में विषयी अप्रस्तुत का आरोप कर दिया जाय और दोनों शब्द से कहे गये हों।

साध्यवसाना—जहाँ विषय को विषयी ने निगल लिया हो।

मिलित—जहाँ शब्द समानता के कारण भिन्न होकर भी एक सा ही अर्थ प्रकट करें। इसी को उपचार कहते हैं। सादृश्य के कारण जहाँ लक्षणा होती है, उसे प्राचीन आचार्यों ने उपचार मूलक होने से गौण अर्थात् गुणों के सादृश्य के कारण होने वाली लक्षणा माना है। इसके भी सारोपा और साध्यवसाना दो भेद होते हैं। पहले भेद इसके नहीं होते। क्योंकि यदि शब्द अपने अर्थ को ही छोड़ देगा तो फिर सादृश्य किस बात में रहेगा?

अब इनके क्रमशः उदाहरण हैं।

रूढ़ा—दौरि फिरौं घर बाहिर हू, भय लाज भरी उर लालच लागे,
री लपटात सो नीलपटा, मिलि अंगनि के रंगरंगित लागे।
देव सु साहत मोहत हौ, प्रगट्यो सु प्रदोप महातम जागे,
सूझत सांझ सिआन कछू, सुदिया न बरै कहुँ कारे केआगे॥

अर्थ—कोई गोपी कृष्ण के प्रति अपना अनुराग प्रकट कर रही है। कहती है कि मैं एक ओर सास सुसर आदि के डर और कोई और देख लेगा तो क्या कहेगा, इस लाज के कारण न तो बाहर खड़ी रह कर प्यारे को देख ही सकती हूँ और उनको देखने का जो लोभ हृदय में तीव्र है, उसके कारण चुपचाप घर में ही बैठ सकती हूँ। यही कारण है कि कभी घर के भीतर और कभी बाहर दौड़ी फिरती हूँ। अरी सखि, वह नीला वस्त्र इस प्रकार लटपटाता है, फहराता है कि अंगों से मिलकर या छू जाने से सारे शरीर में प्रेम की रंगत फैल जाती है सिहरन मच जाती है। प्रतीत होता है कि एक ओर तो सांझ हो रही है। कृष्ण यद्यपि पीताम्बर धारी हैं पर अभिसार के लिये अंधेरा रात्रि में नीला बस्त्र ओढ़कर या पहन कर आये

हैं जिससे सांवला ही रंग और श्याम वस्त्र उस अन्धकार में मिल जाता है, इससे कृष्ण को और तो कोई नहीं पहचान सकता। पर वह पहचान गई है, इसीलिए बार-बार मिलन के लिए बाहर आती है, पर रात का समय होने से घर वालों को सन्देह न हो जाय, अतः तुरन्त भीतर चली जाती है। देव कवि वर्णन करते हैं कि अपने प्रेम में वह इस प्रकार मुग्ध करता था कि उस महान् अन्धकार के जागने या फैलने पर भी अच्छा प्रदोष या उषाकाल सा हो गया। मिलन के आनन्द से वह अन्धकार पूर्ण रात्रि प्रकाशमय या खुलती सी दीखने लगी। वह सन्ध्या कुछ प्रातःकाल सी दिखाई देती थी, रात खुलती प्रकट होती थी क्योंकि कहते हैं कहीं भी काले (नाग) के सामने दीपक नहीं बलता।

स्पष्टीकरण—नायिका को कृष्ण की लगन में वह अन्धकार पूर्ण संध्या प्रभात या उषा प्रतीत होती है। सर्वथा दिन भी नहीं सर्वथा रात भी नहीं, क्योंकि मिलन और वियोग समान हैं। लोक में कहावत है कि काले नाग के आगे दिया बुझ जाता है। पर वास्तव में यहां काला नाग तो है नहीं, इसलिये लक्षणा से काले अन्धकार के समान अर्थ लिया जो कि तीव्र प्रेम को प्रकट करता है कि उसके आगे कुछ दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि अन्धकार को काले नाग के समान बताया है और उससे लक्ष्यार्थ लेते हैं—कृष्ण के प्रति तीव्र प्रेम। इसीलिए सांझ भी उषा सी लगती है। यहां प्रयोजन कुछ नहीं है, लोकोक्ति के कारण यह लक्षणा हुई है। प्रकरण में काला नाग न होने के कारण मुख्य अर्थ में बाधा हुई है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण देते हैं—

दीप समीप न सूझै कछू, न सुनै, समुझै न, कितौ समुझाऊँ;
प्यास मरैं दृग नीर भरे, नहिं नींद परैउ, जगै न जगाऊँ।
नारि गहो कि न कान्हर नैंक? कहो किन, औषद व्याधि बताऊँ।
वेद न आइ, निवेद न 'देव' रहै दिन रैनि सुबैद न पाऊँ।

अर्थ—विरह पीड़ित गोपी श्रीकृष्ण से कह रही है कि इस रोग के कारण दीपक के पास में रहने पर भी मुझे कुछ नहीं सूझता या दिखाई देता, यदि दूती की उक्ति मानें तो अर्थ होगा कि यह ऐसी बेसुध हो रही है कि

दीपक पास में रखा होने पर भी इसे कुछ नहीं दीखता। न यह किसी का कुछ कहा सुनती है, कितना ही समझाती हूँ पर समझती ही नहीं। यद्यपि आँखें आँसुओं से भरी रहती हैं, तथापि जल से भरी रहने पर भी इनकी प्यास नहीं बुझती। पहले तो नींद ही नहीं पड़ती, पड़ती भी है तो न यह स्वयं जागती है न मैं ही जगाती हूँ। हे कृष्ण ! तुम थोड़ी, जरा नारी तो पकड़ो, नारी के दो अर्थ हैं, नाड़ी और नारी, वाच्य पक्ष में नाड़ी अर्थ ही लेना है, कहते क्यों नहीं कि मैं रोग और औषधि दोनों ही बताता हूँ। नाड़ी वैद्य पकड़ता है, इसलिए तुम नाड़ी पकड़ कर इसका रोग पहचानो और इस की औषध दवा बताओ। देव कवि कहते हैं, इस शरीर में वेदना आ बसी है, पर बताती नहीं, यह वेदना रात-दिन रहती है पर क्या करूँ मैं वैद्य नहीं पाती और दूसरा अर्थ है कि जो वेदना बनकर बस गया है, इसके मन में जिस की बेदना है, वह कहती नहीं, इसे तो वह वैद्य चाहिए जो इसके पास रात-दिन रहे, ऐसा वैद्य मैं कहीं नहीं पाती। यदि तुम से भिन्न कोई इसके दर्द को दूर करने वाला हो तो मिले। इसी लिये कोई मिलता नहीं है तात्पर्य यही है कि तुम आकर इस नारी को संभालो और इसकी विरहजन्य वेदना को जानकर इसे औषध (निज समागम की औषधि) दीजिए। रूपक, विशेषोक्ति श्लेष और यमक अलंकार हैं।

यहाँ वैद्यक के विचार से नाड़ी पकड़ना ही रूढ़ि है, परन्तु वास्तविक रोग न होने से नाड़ी अर्थ संगत नहीं है, विरहजन्य रोग ही दूती का प्रयोजन है। इसलिए नाड़ी की नारी में औषधि की मिलन में लक्षणा है। इस प्रकार इस सुन्दरी का सारा कष्ट आप के विरह के कारण है, यह बताना प्रयोजन है।

अजहल्लक्षणा (उपादान लक्षणा)

भेंट भई हरि आवते सों, इक ऐसे में आली कह्यो बिहसाइ के।
कीजे लला रस केलि अकेलिय केलि के भौन नवेली को पाइ के॥
भौंह भ्रमाइ, कछू इतराइ, कछूक रिसाई, कछू मुसकाइ के।
खैंचि खरी, दई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराइ के॥

इसका अर्थ है कि कुञ्ज भवन में प्रतीक्षा करती हुई सखी सहित नायिका की प्यारे हरि—नायक से भेंट हो गई। ऐसे में एक सखी ने मुस्कराकर नायक

से कहा कि हे नन्दलाल, हे प्यारे, इस समय इस क्रीड़ा भवन में नवोढ़ा या नवयुवति को अकेली पाकर (जो कि आप की ही प्रतीक्षा में है) काम-क्रीड़ा कीजिए। क्रीड़ा भवन में अकेली होने का तात्पर्य उस नायिका का समागम के लिए उत्सुक होना और एकान्त के कारण समागम का उचित अवसर ध्वनित होता है। ऐसा सुनकर नायिका ने लज्जा, प्रसन्नता, स्वीकृति और ऊपरी क्रोध को सूचित करने के लिए भौंहें मटका कर (नायक को अपनी स्वीकृति दिखाने के लिए), कुछ अकड़ कर (यौवन और रूप मूलक गर्व प्रकट करने के लिये), कुछ खिसिया कर (अपनी प्रसन्नता को छिपाने के लिए कृत्रिम क्रोध करके) और कुछ हंस कर (सखी को भी यह बताने के लिए कि यह क्रोध कृत्रिम है) भाव को छुपाने के लिए दौड़ कर सखी के स्तनों में कमल घुमा के मार कर खड़ी लकीर खींच दी। कमल का फूल लेकर सखी के स्तनों पर लगा कर जोर से लकीर सी खींच दी। यहां अवहित्था, हर्ष, गर्व और लज्जा संचारी भाव हैं।

इस पद्य में कमल से स्तनों को मींजना कुछ संगत नहीं बैठता क्योंकि कठोर स्तनों को कोमल कमलों से नहीं मसला जा सकता, इसलिए लक्षणा प्रियतम के हाथ रूपी कमल में होती है। वास्तव में यह अपनी चेष्टा से नायक को दृढ़ आलिंगन का संकेत है जिसमें कि प्रिय के कर-कमलो द्वारा उसका कुच-मर्दन सम्भव है। प्रयोजन है कि लज्जा भंग होने के साथ प्रिय के समागम की अभिलाषा। कमल से प्रिय के कर-कमल का संकेत किया है। कमल ने अपना अर्थ तो छोड़ा नहीं है और कर-कमल का अर्थ भी बता दिया। अतः अजहल्लक्षणा हो गई।

जहल्लक्षणा

सीखी दिन चारिक तैं, ताखी चितवनि प्यारी
देव कहैं भरि दृग देखत जितै-जितै।
आछी उनमील, नील, सुभत सरोजन की,
तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै॥

अर्थ—किसी नवयुवति ने श्रीकृष्ण को जिस दिन से देखा, उसी दिन से वह काम ज्वर से पीड़ित हो रही है। वह प्रियतम को खोजती हुई कभी

इधर कभी उधर देखती है। चार-एक दिन से अर्थात् जब से उसने काम से दीक्षा ली, तभी से पैनी, हृदय को बींधने वाली चितवन सीख ली है, देव कवि कहते हैं, वह नजर भरकर आँखें भरकर (विरह वेदना जन्य) आँसू आँखों में लाकर जिधर-जिधर से देख लेती है, उधर ही भली प्रकार खिले हुए नील कमलों की बन्दनवार सी तन जाती है। यहां रूपकातिशयोक्ति है। आँखें नील-कमल के समान हैं। कुछ तो काजल के कारण कुछ काम-ज्वर के कारण कोये काले पड़ गये हैं, इसलिए जिधर देखती है उधर ही नील कमल से दिखाई देते हैं। आँखों में आँसू होने से वे कमल और भी प्रतिबिम्बित होते हैं, उनके कारण ही कमलों की बन्दनवार दिखाई देती है

यहाँ नील कमल के तोरण या बन्दनचार का वर्णन करके नेत्र पंक्ति का बोध कराया है। अनन्त हार दिखाने का कौतुक या खेल ही इस वर्णन का प्रयोजन है। यहाँ कमल शब्द ने अपना अर्थ छोड़कर नेत्रों का अर्थ प्रकट किया है, अतः यहाँ जहल्लक्षणा या लक्षण लक्षणा हो गई।

शुद्धा सारोपा

कोयन जोति चहूँ चपला, सुर चाप सी भ्रू, रुचि कज्जल कांदौ।
बूँद बड़े बरसैं अँसुवा, हिरदै न बसैं निरदै पति जादौ॥
देव समीर नहीं दुनियें धुनि ये सुनि कै कल कण्ठ निनादौ।
तारे खुले न, घिरी बरुनी, घन नैन भये दोउ सावन भादौं॥

अर्थ—किसी विरहिणी की विरह वेदना का वर्णन करता हुआ उसकी आँखों के रुदन व्यापार की तुलना वर्षा ऋतु से करता है, कहता है, इस नायिका के नेत्रों के कोयों की कान्ति ही चारों ओर बिजली सी चमकती है, भौहें ही इन्द्रधनुष हैं, काजल की कान्ति ही बरसात में होने वाला कीचड़ है। बड़ी-बड़ी आँसुओं की बूँदों की वर्षा हो रही है, इतना होने पर भी हृदय मन्दिर में निवास नहीं करते अथवा हृदय दिल अपने वश में नहीं है। उधर जिनके कारण यह दशा है वे यदुपति श्रीकृष्ण बड़े निर्दयी हैं। वे आते नहीं, रो-रोकर कहाँ तक दुःखी हों। मधुर गले के कोयल के से मधुर शब्द सुनकर इस विरहिणी के नेत्र सावन और भादों बन गये हैं। बरौनियों

के आँसू रूपी बादल बन जाने से पुतली रूपी तारे नहीं खुले। हवा चल जाने से वर्षा बन्द हो जाती है पर यहाँ किसी प्रकार का सन्देश रूप वायु भी नहीं है। अत्यन्त उत्कृष्ट समस्त वस्तु विषयक रूपक है। साथ में श्लेष, भी है।

यहाँ विरहिणी के नेत्रों को सावन-भादों का बादल बनाया है। वास्तव में मेघ और नेत्र एक नहीं हो सकते इसलिए 'ये आँखें सावन भादों के समान रात दिन आँसू बरसाती हैं' यह लक्ष्यार्थ निकलता है। रुदन में बरसात का आरोप किया है। विषय और विषयी, उपमेय और उपमान दोनों हैं।

शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा

देव मैं शीश बसायो सनेह के भाल मृगामद बिंद कै भाख्यौ;
कंचुकि मैं चुपर्यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो;
सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो॥

अर्थ—एक गोपी कह रही है कि मैंने अपने प्यारे श्यामसुन्दर का श्याम रंग अपने शृंगार की सामग्री के रूप में नखशिख से धारण किया है। शिर पर बड़े स्नेह से स्नेह अर्थात् तेल के रूप में बरता, मस्तक में कस्तूरी के तिलक के रूप में धारण किया, अपनी चोली में चोवा या अंगराग के रूप में अपनाया, कंचुकी से तात्पर्य लक्षणा से स्तनों से तात्पर्य है। उबटने के रूप में चुपड़ा है, मला है। मखतूल के रूप में उसे गहनों में गूँथा, मूर्तिमान् शृंगार रस के रूप में शृंगार करके उसका उपभोग किया, इसी प्रकार उस सांवरिया के सांवरे रूप को मैंने नेत्रों में कज्जल के रूप में रक्खा। इस पद्य में विशेष और अपह्नुति अलंकार है।

इस पद्य में काले रंग को धारण करने का अर्थ संगत न होने के कारण लक्षणा से श्रीकृष्ण की कान्ति का अर्थ लिया जाता है, काजल, कस्तूरी, चोवा, मखतूल आदि उपमानों में उपमेय श्रीकृष्ण की कान्ति का निगरण किया गया है। इसलिए साध्यवसाना लक्षण है।

मिलित लक्षणा (सारोपा)

ग्रीषम दोपहरी मिस जोन्ह महाविष ज्वालन सों परिबेठी।
देखत दूष, पियेहु पियूष, हू अष, मयूष मिले नहुरेठी॥

'देव' दुरोयेहु जोति सो होति, अँगीठि से अंगन आग अंगेठी।
कातिक रीति जगी जम जोइ, जुठैल जठेरि सुजेठ की जेठी ॥

अर्थ—यह कार्तिक की रात्रि नहीं है, चांदनी रात के छल से ग्रीष्म-ऋतु की दोपहर महान् कालकूट जहर की ज्वाला से घिरी या लिपटी हुई है। एक तो ग्रीष्म-ऋतु की दोपहर उस पर जहर की फुहारें रमी हुई हैं, उसकी ओर देखने में भी दुःख होता है। देखने में भी जलाती है। अमृत, अहूष नाम का मीठा फल, चन्द्रमा की किरण और मुलहठी का सेवन करने पर भी दाहक होती है।

यह चाँदनी की छटा छिपाने पर भी, ओट करने पर भी अंगीठी के समान तृप्त अगों में और भी आग को धधकाती है। यह कार्तिक की रात्रि तो यम की ज्योति, नरक की अग्नि, भ्रष्ट जाठराग्नि (भीतर ही भीतर जलाने वाली भट्ठ की सी आग) और जेठ की दोपहर बन गई है। विरह के कारण नायिका को कार्तिक चाँदनी रात जेठ की दोपहरी हो रही है। कैतवा-पन्हुति, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विरोधाभास, उपमा, माला, रूपक अलंकार हैं।

इस में कार्तिक पूर्णिमा की शीतल चाँदनी रात को जेठ की दोपहरी माना है। लक्षणा से उसके समान सन्तापकारिणी है। प्रयोजन है नायिका की विरह-वेदना का वर्णन और कार्तिक की पूर्णिमा तथा जेठ की दोपहरी दोनों विषय और विषयी शब्दों से कहे गये हैं; इसलिये यह सारोपा है। साहश्य के कारण यह मिलित लक्षणा है।

इसी प्रकार मिलित साध्यवसाना भी होती है।

राति भई, न अथै दिन, सूरज पच्छिम ते उठि पूरब ऊग्यो;
घाम बन्यो वर बाहर हू सुघरा बस्यो जोग जुगन्त के जूग्यो।
भासै अकास, चहूँ चिनगी, सु चकोरन को चमकै मनो चूग्यो,
चक्रनि'देव' चितै विधि चक्र, निदोपहि देखि, दुखै सुख सूग्यो ॥

अर्थ—कोई विरहिणी चाँदनी रात को दिन बता रही है। वह कहती है कि देखो, रात हो गई किन्तु दिन अभी तक नहीं छिपा। सूर्य प्रतीत होता है कि पश्चिम से जाकर अब फिर पूरब से निकल आया है। चाँदनी रात होने से दिन छिपा प्रतीत नहीं होता और चन्द्रमा सूर्य दिखाई देता है। घर

और बाहर दोनों जगह धूप छा रही है, कहाँ जांय ? चांदनी घर और बाहर दोनों ओर छा रही है। युग-युगों से जोड़ा हुआ घाम पृथ्वी पर बसा या फैला हुआ है। आकाश धूप से प्रकाशित हो रहा है। (चन्द्रमा की चारों ओर छिटकी हुई किरणें) चिनगारियां चारों ओर चटक रही है मानो चकोरों के लिये उनका चुग्गा चमक रहा है। चकोरों का चुग्गा चिनगारी चमक रही है। देव कवि कहते है कि विपरीत विधाता ने निर्दोष जान चकवा-चकवी की ओर देखा तो सुख ने दुःख को सोख लिया। अर्थात् रात्रि के कारण चकवा-चकवी को दुःखी देख प्रतिकूल विधाता भी उन्हें निर्दोष जान अनुकूल हो गया और सुख (दिन निकलने के कारण उत्पन्न प्रसन्नता) ने उन के दुःख को सुखा लिया। इस में रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, विशेषोक्ति, भ्रम अलंकार हैं।

इसमें रात्रि भी दिन प्रतीत होता है, यह बाध होने से लक्षणा है। 'दिन के समान दाहक' यह लक्ष्य अर्थ है। प्रयोजन नायिका का विरह ताप है। विषय चन्द्रमा आदि का सूर्य आदि ने निगरण कर लिया है; इसलिये साध्यवसाना लक्षणा है। प्रयोजन गूढ़ व्यंग्य है। रात्रि में दिन का भान-ताप साम्य के कारण हुआ है; इसलिये मिलित लक्षणा है। इस प्रकार यह पद्य गूढ़ व्यंग्य मिलित साध्यवसाना का उदाहरण हुआ।

व्यञ्जना—वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने वाली वृत्ति को व्यञ्जना कहते है।

उदाहरण—

चोर मिहाचिनी के मिस मोहन मोहिं न पावै, फिरै बसुधा ह्वै,
देखैं जु 'देव' दुकूलनि मैं, मिलि, फूलनि मैं, हौं रहौं कहुँ धा ह्वै।
केसरि चन्दन, बंदन मैं, मनि कुन्दन मैं तन मैं नवधा ह्वै,
ह्वै मकरन्द, रहौं अरविन्द मैं, इन्दु के मन्दिर, बिन्दु सुधा ह्वै।

अर्थ—इस पद्य में नायिका अपने प्रेम और रूप के गर्व के कारण वितर्क करती कह रही है कि कृष्ण मुझे चाहे सारी पृथ्वी में क्यों न ढूंढ फिरें, तो भी आँख मिचौनी के खेल में मुझे नहीं पकड़ पायेंगे क्योंकि वे मुझे न पहचान पायेंगे। वे मुझे यदि वस्त्रों में खोजेंगे तो वस्त्रों के रूप रंग में एक रूप हो

जाने के कारण मुझे नहीं पहचान पायेंगे। मैं फूलों में मिल कर अर्थात् उनके रंग में एकरूप होकर उनके चारों ओर घूमती फिरूँगी, पर वे मुझे नहीं पहचानेंगे। मैं पूजा के स्थल में केशर और चन्दन में एक रूप हो जाऊँगी और शरीर में अनेक प्रकार से मणियों और सुवर्ण में एक रूप हो जाऊँगी। कमल में मैं पुष्प रस और चन्द्रबिम्ब में अमृत विन्दु बन कर रहूँगी। तात्पर्य यह है कि शरीर की कान्ति इन्हीं वस्तुओं के रंग के समान होने से इनके बीच में वे मुझे देख कर भी नहीं पहचान पायेंगे। एक वस्तु का अनेक स्थानों में वर्णन होने से विशेष अलंकार है।

इसमें वाच्य अर्थ तो खेल हैं; परन्तु नायिका का फूलों और केशर आदि में छिपना संगत नहीं होता अतः नायिका के लघुत्व में लक्षणा है। प्रणय कोप और सुख का लाभ प्रयोजन है। उस व्यंग्य से भी नायिका की सुकुमारता और अपने प्रति मोहन का और मोहन के प्रति उसका प्रेम व्यंग्य है। मोहन को अपने पीछे भगाने की सम्भावना से नायिका को अपने रूप का गर्व है, ऐसा वस्तु व्यंग्य है।

इसके पश्चात् कवि ने वृत्तियों के संकीर्ण भेद माने हैं—

जैसे १—शुद्ध अभिधा, २—अभिधा में अभिधा अर्थात् वाच्य में पुनः वाच्य, ३—वाच्य में लक्ष्य, ४—वाज्य में व्यंग्य। ५—शुद्ध लक्षणा, ६—लक्षणा में लक्षणा, अर्थात् लक्ष्य में लक्ष्य ७—लक्षणा में अभिधा, ८—लक्षणा में व्यंजना। ९—शुद्ध व्यंजना, १०—व्यंजना में व्यंजना, ११—व्यंजना में अभिधा, १२—व्यंजना में लक्षणा। १३—तात्पर्यार्थ।

वास्तव में इन में कुछ भेद चिन्त्य हैं। क्योंकि वाच्य अर्थ में वाच्य होना सम्भव नहीं। यदि परम्परा से मान भी लिया जाय तो लक्षणा में अभिधा और व्यंजना में अभिधा कैसी। पहले अभिधा, फिर लक्षणा और व्यंजना होती है। व्यंजना के पश्चात् अभिधा का प्रयोग सम्भव ही नहीं है। अस्तु, उक्त सभी भेदों के उदाहरण प्रायः पीछे ही आ चुके हैं।

साँझ ते फूलन सेज बनाइ, दुकूलन फूलन फैलि खिलौंगी,
हेलि पठाइ अकेलिय हौं, सुख सेज के पालक पौढि पिलौंगी।
सोवैंगी लाज के साज निवारिकै, साजन सँग, सपनेहु हिलौंगी,
कानन मूँदि मिहीचि कै आँखिन, चित्तहुँ ते चुरि मित्त मिलौंगी॥

अर्थ—कोई वासकसज्जा नायिका है, जिसे प्रियतम के आने का समाचार प्राप्त हो चुका है। वह प्रसन्नता में प्रियतम के साथ समागम के मनोरथ लिये वितर्क कर रही है कि मैं आज सन्ध्या से ही (यद्यपि प्रियतम तो कहीं रात्रि में आयेंगे) फूलों की शय्या बनाकर अर्थात् फूलों से बिछौना सजाकर वस्त्रों और फूलों पर फैल कर अर्थात् उन्हें भी अपनी कान्ति से छाकर खिलूँगी, प्रसन्न होऊँगी या सुशोभित होऊँगी। इससे नायिका का रूप-गर्व और उत्कण्ठासहित हर्ष नामक संचारी द्योतित होता है। उनके आने पर मैं सखी को विदा करके अकेली ही सुखदायक शय्या के पालक अर्थात् सुखदायक पुष्प सेज पर लेटे हुए साजन के साथ लेटकर स्वयं उनसे मिल जाऊँगी, भिड़ जाऊँगी, छेड़-छाड़ करूँगी। संभोग शृङ्गार दो प्रकार का होता है—नायकारब्ध और नायिकारब्ध। यहाँ नायिकारब्ध की सूचन है। इस प्रकार मैं सारी लज्जा के सामान हटाकर, लज्जा छोड़कर प्रियतम के साथ सोऊँगी, स्वप्न में भी उसके साथ हिलूँगी-संभोग की चेष्टा करूँगी अथवा स्वप्न में भी उससे तुष्ट रहूंगी, रूठँगी नहीं। कानों को बन्द करके (जिससे किसी का शब्द सुनाई न दे) आंखें मूंद करके अर्थात् संभोग की चेष्टाओं को स्वयं न देख पाये जिसमें लज्जा उत्पन्न हो हृदय से भी चुराकर मन से भी छिपकर अर्थात् मन को भी लीन करके तब प्रियतम से मिलूँगी। कान बन्द करने का अभिप्राय तो यह है कि किसी का शब्द सुनने से उसे यह ज्ञान न हो कि वह प्रिय के साथ समागम कर रही है और वहाँ भवन में या आस पास कोई उपस्थित है। क्योंकि ऐसा आभास होने से मुग्धा को अत्यन्त लज्जा होती है। अपने गुप्तांगों को भी वह रतिकाल में देखकर लजाती है; हृदय से चुराने का तात्पर्य यह है कि उसे यह भी आभास न हो कि तेरी रति का हृदय को पता है, इससे अपने मन में जब भी ऐसा विचार आयेगा तभी स्वयं लज्जित होना पड़ेगा।

इसमें 'हृदय से भी चुराकर' कहने से वाच्यार्थ में बाधा पड़ती है; अतः नायिका की अतिशय लज्जा में लक्षणा है। प्रियतम से गुपचुप मिलना वाच्यार्थ है। प्रयोजन नायिका का रति क्रीड़ा में भी अत्यन्त लजीलापन है जो व्यंग्य

है। यह अभिधा में लक्षणा का उदाहरण दिया है।

शुद्धा लक्षणा का उदाहरण

बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ
कोये राते वसन, भगौहैं भेष रखियां;
बूड़ी जल ही मैं, दिन जामिन हू जागैं, भौंहैं
धूम सिर छायो, विरहानल विलखियां।
आँसू ज्यों फटिक माल, लाल डोरे सेली पैन्हि
भई हैं अकेली, तजि चेली संग सखियां;
दीजिए दरस 'देव,' कीजिए संजोगिन ये,
सुजोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियां॥

अर्थ—कोई वियोगिनी गोपी भगवान् से प्रार्थना करती हुई अपनी दर्शनाभिलाषिणी आंखों को योगिनी (जोगन) बताती कह रही है। ये विरहिणी की आंखें जोगन बन बैठी हैं; बरौनियों का बाघम्बर या बघछाला लिये हैं, ये दोनों ऊपर नीचे भी पलकें गूदड़ी हैं, भिक्षा माँगने की झोली हैं; आँखों के रो रोकर लाल हुए कोये लाल या गेरुए वस्त्र हैं, इस प्रकार इन नयनों ने भगवा भेष धारण कर लिया है जैसा कि साधुनियां पहना करती हैं। वे सदा आँसू रूपी पानी में डुबी रहती हैं, योगी लोग भी गले तक पानी में बैठ उसमें समाधि लगाया करते हैं। आँखें आँसुओं में डूबी रहती हैं। रात दिन जागरण करती है, योगी लोग सोते नहीं सोने के समय वे समाधि लगा कर बैठे रहते है, आँखें भी दिन रात खुली रहती हैं। उनमें निद्रा का स्पर्श तक नहीं होता वे विरहाग्नि में जलती रहती हैं। जोगने धूनी लगाकर अग्नि के समीप बैठती हैं उस अग्नि का विरहानल का धुआँ भौंहों को समझना चाहिये। आँसुओं की बनी स्फटिक मणि की माला है। आँखों में छाई लाल रेखा योगिनियों की पाग है; ये अकेली होगई हैं, इन्होंने साथ की सहेलियां त्याग दी हैं। योगिनियां जगत् का संग त्याग देती हैं आँखें भी अन्य वस्तुओं से सर्वथा विरक्त हो गई हैं। देव कवि कहते हैं हे भगवन् ! अपने दर्शन देकर वियोगिनी की इन आँखों को संयोगिनी कीजिये। इस पद्य में समस्त वस्तु विषयक रूपक अलंकार है। श्लेष अलंकार भी है।

यहाँ आंखों के द्वारा योगसाधना का वर्णन किया है जो कि संगत नहीं है अतः सादृश्य के द्वारा लक्षणा करके बिना कारण निःस्वार्थ भाव से दर्शन की मांग है। दर्शनों का दान ही संयोग की मांग है। इस प्रकार शुद्ध लक्षणा का उदाहरण दिया है।

लक्षणा में लक्षणा

तेरो कह्यो करि करि, जीव रह्यो जरि जरि,
हारी पांय परि परि, तौ नकीन्ही तै संभार;
ललन विलोकि 'देव' पल न लगाए तब,
यों कल न दीन्हें तैं छलनउ, छलनहार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बांधि, हौं बंधाई
आपु विधि बूडयौ व्याधि-बाधा-सिन्धु निराधार;
ऐरे मन मेरे, तैं घनेर दुःख दीन्हें अब,
एकै बार दैके तोहिं मूंदि मारों एक बार॥

अर्थ—इस पद्य में देव कवि स्वयं गोपिका के रूप में कह रहे हैं कि अरे मेरे मन ! तेरा कहना कर-कर तेरे वश में होकर आचारण कर-करके यह जीवात्मा सांसारिक तापों में और विरह की आग में जलता रहा है। तेरे पायं पड़-पड़ कर तेरी मनौतियां कर-करके मैं हार गई परन्तु तूने मुझे नहीं संभाला; जिस समय प्यारे को देखा तब तो तूने पलक तक न लगाई उधर देखता ही रह गया। चटपट चंचल होने वाले तूने तनिक भी मुझे चैन न पड़ने दिया। भला ऐसे बेप्रीत से प्रेम करके मैं बंधवा दीं। मेरा भाग्य भी निराश्रय होकर विपत्ति या विघ्न रूपी समुद्र डूब गया है अर्थात् भाग्य भी अनुकूल नहीं है कि उसे (प्रिय को) मेरी ओर आकृष्ट कर दे। यह सब विपत्ति तैंने ही बुलाई है तैंने मुझे बड़े-बड़े दुःख दिये हैं यही चाहती हूं कि इन पलकों के किवाड़ों में तुझे एक बार ही मूँद के डाल दूँ। जो अधिक चंचल होता है उसे यही दण्ड दिया जाता है कि बांधकर गेर दिया जाय' मन की कैद यही हो सकती है कि एक बार आँख बन्द करके पुनः न खोली जाय।

भाव यही है कि मन के कारण आत्मा को आध्यात्मिक आधिदैविक

और आधिभौतिक, तीनों तापों से जलना पड़ता है, जो मन के पीछे-पीछे दौड़ता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। उसे कृष्ण प्रेम में लगाकर सदा के लिये आँखें मूँद ली जायं तो मन फिर दौड़ ही न पाये।

इसमें नेत्र आदि इन्द्रियाँ रोक कर योग साधना की लक्षणा है। उससे भी मन को वश में करने के अर्थ में लक्षणा है। तात्पर्यार्थ दृढ़ योग अर्थात् मन की एकाग्रता है।

शुद्ध व्यञ्जना का उदाहरण

हित की हितू री, नहिं तू री समुझावै आनि,
सुख-दुःख मुखसुख दानि, को निहारनो।
लपने कहां लौं बालपने की बिकल बातैं,
अपने जनहिं सपनेहु न बिसारनो॥
'देव' जू दरस बिन, तरसि मर्यो है पग;
परसि जियैंगो, मन बैरी अनमारनो।
पतिव्रत-व्रती ये उपासी, प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियासो रूप पारनो॥

अर्थ—यह खण्डिता धीरा नायिका की उक्ति है। खण्डिता नायिका वह होती है जिसका प्रिय रात्रि को दूसरी नायिका के घर रहे और वह प्रतीक्षा करती रह जाय। धीरा नायिका इस बात पर रोप तो करती है। परन्तु अपना क्रोध सीधे शब्दों में प्रकट न करके व्यञ्जना द्वारा मीठी मार मारती है। नायिका अपनी सखी से अपने प्रियतम को सुनाकर कहती है कि अरी तू मेरी इतनी प्रीति पात्र और हितैषिणी होकर भी हित की बात कुछ नहीं समझाती कि मुझे इस समय क्या करना चाहिए (मैं मान करूँ या नहीं)। अरी, सुख में और दुःख में सुख देने वाले हितैषी का ही तो मुंह देखना पड़ता है, उसी का आश्रय लेना पड़ता है, परामर्श के लिये उसी के पास जाना पड़ता है। (इनका क्या भरोसा जो कि कभी भी धोखा दे दें) बालक पन की विकल बनाने वाली बातों को कहने का क्या लाभ? तात्पर्य यह है कि बाल्यकाल में जो प्रीति थी, उसको स्मरण करके तो अब दुःख को ही बढाना है। अपने व्यक्ति को, जिसको अपना कह दिया, उसे स्वप्न में भी

नहीं भुलाना चाहिये, (हमारा तो अभी यही व्रत है परन्तु इनका नहीं) । देव कवि कहते हैं कि नायिका विकलता से कहती है कि क्या करें, इस वैरी मन को तो मारा नहीं जा सकता, यह उनके दर्शनों के लिये तरस-तरस कर मर रहा है, इसलिये उनके चरणों को छू कर ही जियेगा। तात्पर्य यह है कि अब वह प्रेम की बात तो गई, अब तो इस शत्रु मन को (क्योंकि यही उनके बिना अधिक परेशान होता है, ऐसा कहकर सखी को यह भी सूचित कर दिया कि मुझ से मान होना असम्भव नहीं है।) धैर्य देना है क्योकि उनके चरणों को छू कर इसे चैन मिल जायगा। ये आंखें पतिव्रत धर्म का व्रत लिये हैं। उनके अतिरिक्त किसी को नही देखती हैं। इस व्रत के कारण ये उपवास, अनशन किए हैं, इन प्यासी और उपवास की भूखी आँखों ने प्रातःकाल उठकर प्रियतम के प्यासे रूप की पारणा करनी है। व्रत को खोलने के लिए जो भोजन किया जाता है, उसे पारणा कहते हैं। इसमें प्रियतम को न बताकर उसके रूप को प्यासा बताया है। इससे उसका शाठ्य प्रकट किया है।

इस प्रकार धीरा नायिका वाच्यार्थ से तो प्रिय के लिये कुछ कठोर वचन नहीं कहती परन्तु गूढ़-व्यञ्जना के द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करती है। इस प्रकार वह सुख के बहाने अपना दुःख व्यञ्जना से प्रकट करती है।

अभिधा शक्ति के मूल अर्थ चार हैं—जाति, गुण क्रिया, यदृच्छा। यदृच्छा का अर्थ द्रव्य या व्यक्ति है। जिसका कि अपनी इच्छा से नामकरण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन भी शब्दों में या अर्थों में संकेत होगा वे इन चारों से भिन्न नहीं होंगे। संस्कृत के आचार्यों ने भी संकेत के स्थल ये चारों ही माने हैं। वाचक शब्द के ये चार प्रकार के संकेतित अर्थ होंगे।

इनमें जाति का उदाहरण

माखन सों मन, दूध सों जोवन, है दधि सों अधिको उर ईठी,
जा छवि आगे सुधाधर छांछि, समेत सधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै, कहि देव, बुझावत वैन बियोग अंगीठी,
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहो क्यों न लगै मनमोहन मीठी॥

अर्थ—कोई ग्वालन दूध, दही बेचने मथुरा जा रही है, मार्ग में मधुवन

में श्रीकृष्ण मिल गए, एकान्त होने से एक सखी कृष्ण से कहती है इसका हृदय मक्खन से अधिक स्निग्ध है, यौवन दूध से भी उजाला है। दही से अविक इष्ट या अच्छा लगने वाला वक्ष अर्थात् छाती (अधिक ऊँची होने से) है; जिसकी सुन्दरता के सामने अमृत सहित चन्द्रमा भी छाछ अर्थात् निस्सार है। सारी पृथ्वी (लक्षणा से पृथ्वी के सम्पूर्ण पदार्थ) उसके यौवन युक्त सौन्दर्य के आगे फीके हैं। उसकी आँखों से प्यार की चिकनाई चूती है, टपकती है, उसकी आँखों में प्यार का नशा भरा हुआ है, देव कहते हैं, इसके रसीले मीठे वचन वियोग की अंगीठी अर्थात् वियोग के अत्यन्त तीव्र सन्ताप को बुझाते हैं। हे मन को लुभाने वाले कृष्ण! जबकि ऐसी रसीली (समागम में आनन्द देने वाली) अहीरी या ग्वालन है तो भला बताओ कि वह मधुर अर्थात् आकर्ष क्यों न लगे।

इस पद्य में मन को मक्खन से अधिक स्निग्ध बताया है। मक्खन चिकना होता है; हृदय चिकना नहीं हो सकता' अतः लक्षणा से कोमलता, सहसा पिघलने का स्वभाव अर्थ लिया जाता है। मक्खन शीतल होने से शान्ति देता है, विरह की अग्नि को शान्त करने के लिए शीतल औषधि की आवश्यकता है जो उसके प्रेम भरे मन से पूर्ण हो जाती है। यौवन सफेद नहीं हो सकता' इससे निष्कलुषता' पवित्रता में लक्षणा है, इससे उसका अक्षत होना, अनुपभुक्तत्व व्यंग्य है। दही से वक्षस्थल को आकर्षक बताया है। दही की छाती से तुलना कुछ संगत नहीं बैठती। लक्षणा से वक्षस्थल से वक्षोज अर्थात् कुचों का अर्थ लिया। व्यञ्जना से उनकी उन्नतता, पूर्णता और कठोरता प्रकट होती है। उसके सौन्दर्य के आगे सृष्टि के पदार्थों सहित चन्द्रमा को फीका बताया है। चन्द्रमा को छाछ कहना संगत नहीं होता। अतः निस्सारता में लक्षणा हैं' ग्वालन की कान्ति की निष्कलंकता, सदा एक रसता प्रकट होती हैं। आँखों से स्नेह का चूना बताया है जो संगत नहीं है, अतः प्रेम की वासना लक्षित होती हैं, उपभोग की सहमति व्यंग्य। वचनों को वियोग की अग्नि बुझाने वाला बताया है जो कि अग्नि बुझाने का सामर्थ्य न होने से संगत नहीं है अतः लक्षणा से अनुकूलता का अर्थ लिया जाता है; संभोग के लिये निमन्त्रण व्यंग्य है। रसीली की आनन्ददायक में लक्षणा

है इससे कामक्रीडा कुशलत्व ध्वनित होता है। मीठी की आकर्षकता में लक्षणा है, इससे दूध दही का दान त्याग कर उसके उपभोग का औचित्य अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार इनके द्वारा सारे पद्य का व्यंग्य अर्थ यह है कि दही, दूध का कर मांगते हुए कृष्ण को संकेत है कि इन्हें लेकर क्या करोगे। इनसे भी अधिक आनन्द देने वाली इस यौवनोन्मत्ता अहीरी के समागम से इसके यौवन का आनन्द लो

इस प्रकार इस पद्य में लक्षणा और व्यञ्जना के होते हुए अभिधा का 'अहीरी' इस जातिवाचक शब्द में संकेत है।

क्रिया

राज पौरिया को रूप, राधे को बनाई ल्याई,
गोपी मथुरा तैं, मधुवन की लतानि मैं।
टेरि कह्यो कान्ह सों, चलो हो, कंस चाहे तुम,
काके कहे लूटत, सुनो है दधि दानि मैं॥
सङ्ग के न जाने, गये डगरि डेराने 'देव'
स्याम ससवाने, सो पकरि करे पानि मैं।
छूटि गयो छल, छेल बाल की विलोकनि में,
ढीली भई भौंहें, वा लजीली मुसुकानि मैं॥

अर्थ—कोई सखी मथुरा से लौटती वार राधा का रूप राजकीय चौकीदार या सिपाही का वेष बना लाई और जब मधुवन की लताओं में आई तो कृष्ण से पुकार के कहा कि तुम्हें कंस ने पकड़ बुलाया है कि तुम किसकी आज्ञा से कर में दूध दही लूटते हो। साथ वाले सखा तो न जाने डर के कहां भाग गये' अकेले कृष्ण लम्बे सांस लेते हुए अर्थात् जान-बूझ कर रोने का अभिनय करते हुए पकड़ लिये और उनके हाथ-हाथों में ले लिये किन्तु उस छैला कृष्ण की दृष्टि मिलते ही राजकर्मचारी बनने का सारा छल छूट गया अर्थात् वह अपने उस रूप को निभा न सकी और लज्जा भरी हंसी आते ही भौंहें जो सामने की थीं' नीचे आ गईं।

इस पद्य में सारी क्रिया ही बताई है।

गुण दो प्रकार के बताये हैं, एक तो काव्योक्त, दूसरा शास्त्रोक्त। काव्योक्त गुण वे हैं जो कि विद्या और कलाओं में चातुर्य हो, शास्त्रोक्त गुण रूपरंग आदि हैं। इसी प्रकार गुण और यहच्छा के भी उदाहरण हैं।

लक्षणा के अर्थ के विचार से चार भेद माने जाते हैं—१. कार्य कारण-भाव की लक्षणा, २. साहश्यमूलक, ३. वैपरीत्य अर्थात् लक्षणा मे जहाँ विपरीत अर्थ लिया जाय। ४. अक्षेप अर्थात् 'इसके बिना यह सम्भव नहीं, इस आधार पर दूसरे अर्थ का अनुमान कर लेना। इन चारों में पहले दोनों प्राचीन आचार्यों द्वारा लक्षणा के मूलकारण सम्बन्ध ही हैं। कार्य करण सम्बन्ध में शुद्धा और साहश्य में गौणी लक्षणा होता है। तीसरी विपरीत लक्षणा के नाम से प्रसिद्ध है।

सुधाधर से मुख, बानि सुधा, मुसुकानि, सुधा बरसै रद पांति।
छिनौ भरि ऐसी तिया बिछुरे छतियां सियराइं कहो केहि भांति॥

इस पद्य में कवि नायिका को सन्ताप शमन रूप कार्य का कारण बताता कहता है कि उसका मुख अमृत रखने वाला चन्द्रमा सा है, वाणी अमृत के समान मधुर है, दन्त पंक्ति (मुस्कराते समय) कान्तिमय मुस्कान के रूप में अमृत बरसा रही है। ऐसी शान्ति देने वाली उत्तम कामिनी से बिछुड़ने पर वक्षस्थल का ताप कैसे दूर हो। चन्द्रमा, और अमृत बरसाने के व्यापार के कारण से नायिका में ताप शमन रूप कार्य के सामर्थ्य की लक्षणा है।

'देव' पुरैनि के पात निचानते है जुग चक्र सचान गहे री।
हेरि सिकार रहे री कहूं, ब्रज राज अहेरी, ह्वै आजु अहे री॥

इसमें कवि श्रीकृष्ण को शिकारी बनाकर नायिका को शिकार बता रहा है कि कमल के नीचे दो चकवे बैठे हैं, आज ब्रजराज शिकारी बनकर शिकार देखते फिर रहे हैं। यहाँ साहश्य के कारण कमल से तात्पर्य मुख का और चक्रवाक युगल से स्तनों का अर्थ लिया जाता है। इस कारण शिकार खोजने की लक्षणा 'समागम की ताक में है' इस अर्थ में है।

भारे हो भूरि भराई भरे अरु भांतिन-भांतिन सं मनु भाये।

भागु बड़ो वहि भावति को, जेहि भावते लै रग भौन बसाये ॥
लाल भले हौ, भले सुख दीन्हों, भली भइ आजु भले बनि आये ॥

इसमें कोई खण्डिता नायिका नायक को उपालम्भ दे रही है। नायक सौत के महल में रात भर रहकर आया है। वह कहती है कि हे लाल! तुम बहुत भले हो, तुम अनेक प्रकार की भली चेष्टाओं से मेरे मन को भाये हो, उसके बड़े भाग्य हैं जिसने तुम्हें बड़े प्यार से अपने महल में रखा (अर्थात् जिसके साथ सारी रात रंग रलियां कीं।) आज तुम बहुत सुन्दर लगते हो। आप ने मुझे बड़ा सुख दिया। इसका विपरीत अर्थ है कि तुम बड़े छली और धूर्त हो ' मुझे सताते हो, वह बैरिन है जिसने तुम्हें अपने यहां रखा, तुम अब भी क्यों आये, अजी भी उसी के यहां रहते।

इसी प्रकार आक्षेप भी जान लेना चाहिए। व्यंजना के भी चार मूल कारण हैं—वचन, चेष्टा, स्वर और क्रिया। इनकी विशेषता से व्यंग्य अर्थ जाना जाता है।

देख्यौं हौं कौन सी छैल छिपाई तिरीखे हँसे, वह पाछे तिहारे।

इसमें 'हौं देख्यौं' में एक वचन होने से पता लगता है कि मैंने ही देखा है और किसी ने नहीं। और को धोखा दे दोगे, मुझे नहीं दे सकते।

'देव' हमें तुमें अन्तर पारत, हार उतारि उतारि उतै धरि राखौ ॥

इसमें हार उतारने की क्रिया से 'गाढ़ आलिंगन की इच्छा' अथवा इस हार को उतार कर रख दो, क्योंकि यह हार सौत का पहनाया हुआ है' यह व्यंग्य निकलता है।

होय अशोक, सुखी तुम लौं अबला तन को अब लातन मारै।

इसमें अशोक के विकास के लिए लात मारने में लज्जा करती हुई नायिका कहती है कि हे अशोक! तुम्हारी भांति स्त्रियों के पादाघात सहकर सुखी या प्रसन्न कौन होगा। यहाँ लात मारने में लज्जा की चेष्टा की गई है। इससे प्रिय के साथ समागम में पदाघात की ध्वनि है।

पावरो रूप पियो अँखियान, भर्यो सो भर्यो, उबर्यो सो ढर्यो परै

इसमें आंसूओं के बहने में प्रिय के रूप का भी बहाना बताया है। कहते हुए स्वर में विकलता आने से विरह वेदना की तीव्रता प्रकट होती है।

रस-निर्णय

कवि उसी काव्य को महत्त्वपूर्ण समझता है जो कि भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न करे और उनके यश का वर्णन करे जो कि पापों का नाशक है। उनके विचार में कविता रस से ही शोभा देती है, रस मनोभावों के बस में है अर्थात् भावों के वर्णन से रस की सिद्धि होती है। शब्द और अर्थ कविता से शोभा पाते हैं और उन शब्दों और अर्थों के बस में सारे संसार का चित्त है।

रस का लक्षण

मनुष्य के हृदय में पूर्व जन्म के या बाल्यकाल से ही वर्तमान बीज रूप में वासना या रसिकता के संस्कारों से हृदय में भाव प्रस्फुटित होते हैं। चित्त में समय-समय पर परिवर्तन से जो भाव-परिवर्तन होता है, वह उनका पल्लवित रूप है, इसके बाद वे भाव और पुष्ट होकर रस का बोध कराते हैं। अन्य वृक्ष की भांति रस रूपी कल्पवृक्ष के भी आठ अंग बताये हैं। खेत, बीज अंकुर, जल, शाखा, दल (पत्ते) फल और फूल। जिसके हृदय में भाव उत्पन्न हो. (आश्रय) वह खेत है, उत्पत्ति का स्थल है। भाग्य (भाग्यवश प्राप्त रसिकता) बीज है. योग अर्थात् सामग्री का विभाव आदि का प्राप्त होना उसका अंकुर है, प्रेम जल है। भाव उसकी शाखायें हैं, छन्द उसका विस्तार हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार फूल-फल और सुगन्ध हैं, आनन्द जो प्राप्त होता है, यही उसका अमृतमय रस है।

रस प्राचीन प्रकार से नौ हैं और नए विचार से तीन हैं।

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स और शान्त ये नौ रस हैं। वे नाटकों में शान्त को छोड़कर शेष आठ रहते हैं जो विविध भावों से स्फुट होते हैं। वे भावों के साथ काव्य में अर्थात् श्रव्य-काव्य में तो कवि की रचना या वाणी से और नाटक में अभिनेताओं की चेष्टाओं से परिपक्व या प्रकटित होते हैं।

रस के अंकुर अर्थात् उसको रस रूप में पहुँचाने वाले स्थायी भाव होते हैं। रस को जन्म देने वाले विभाव कहे जाते हैं, अनुभाव और सात्विक भाव रस का अनुभव कराते हैं।

रस की अनुभूति के मध्य क्षण-क्षण में जो अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, वे संचारी कहे जाते हैं। इनसे पूर्ण होकर संयोग और वियोग के रूप में रस का अनुभव होता है।

रसों के अंकुरभूत स्थायी भाव भी नौ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध उत्साह, भय, निन्दा, विस्मय, शान्ति (निर्वेद), यहां 'शान्त' को स्थायी मानना अनुचित है, क्योंकि वह तो रस का नाम है। रति से शृङ्गार, हास से हास्य, शोक से करुण, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर, भय से भयानक, निन्दा (जुगुप्सा) से बीभत्स, विस्मय से विस्मय, शान्ति (निर्वेद) से शान्त रस बनता है।

जिससे जो रस उत्पन्न हो और प्रकट हो, वे उसके विभाव-अनुभाव आदि हैं।

सात्विक भाव—मन में स्थायी भाव उत्पन्न होते ही जो विकार स्वयं होते हैं, उन्हें सात्विक भाव कहते हैं। ये सत्त्व अर्थात् मन से सम्बन्ध रखने के कारण सात्विक भाव कहे जाते हैं। ये आठ हैं—स्तम्भ (हक्का बक्का रह जाना), स्वेद (पसीना आना), रोमांच, कम्प, स्वर विगड़ना, चेहरा फीका पड़ना, आंसू बहाना, मूर्छा।

संचारी निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चपलता, हर्ष, जड़ता, दुःख, आवेग, गर्व, उत्कण्ठा, निद्रा, अपस्मार, अवरोध, अमर्ष, अवहित्था, मति, उग्रता, बुद्धि, व्याधि, उन्माद, मृत्यु, त्रास, तर्क— ये ३३ हैं।

नौ रसों में शृंगार सब का सार है। विभाव' अनुभाव' सात्त्विक भाव और अनुभाव के साथ संचारी भावों से पुष्ट स्थायी भाव रति शृंगार रस के रूप में परिणत होता है। संसार का सर्वस्व नायक और नायिका की जोड़ी है, उनका सर्वस्वभूत जो प्रेम है, वही शृंगार बनता है। संसार में तीन रस

शृंगार, वीर और शान्त मुख्य हैं, उनमें दो-दो आकार लीन हो जाते हैं, जैसे हास्य और भय का अन्तर्भाव शृंगार में, करुण और रौद्र का वीर में और बीभत्स तथा विस्मय का शान्त में अन्तर्भाव होता है।

शृंगार का स्थायी भाव रति है; परिवार अर्थात् स्त्री को देखकर जो चित्त की विलक्षण दशा होती है, उसे रति कहते हैं। उसके नायक-नायिका आलम्बन विभाव हैं। उपवन, सुगन्धित वायु आदि उद्दीपन हैं। बांहें घुमाना, कटाक्ष, भौंहें मटकाना, मुस्कराना अनुभाव हैं। वियोग में निर्वेद, संयोग में गर्व, मद, लज्जा, अमर्ष अनिद्रा, आलस्य, हर्ष, आदि तेंतीसों संचारी होते हैं। प्रिय का वेष धारण करना या उसकी सी चेष्टा करना, भौंहें मटकाना, उसकी ओर देखना, गुस्से में हंसना, रूप के भार से दबा सा जाना आदि हाव हैं।

शृंगार का उदाहरण—

जब ते कुंवर कान्ह, रावरी कला निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी;
तब ही ते 'देव' देखौ देवता सी हंसती सी,
खीझती सी, रीझति सी, रूसति रिसाती सी।
छोही सी, छली सी, छीनि सी, लीन्ही छली सी छीन
जकी सी, टकी सी, लागी थकी थहरानी सी;
बींधी सी, बंधी सी, विष बूड़ी सी, विमोहित सी
बैठी वह बकत, बिलोकत विकानी सी।

अर्थ—नायिका की अभिलाषा रूप विरहावस्था का वर्णन करता है—कोई दूती श्रीकृष्ण को नायिका की दशा सुना रही है। वह कहती है, हे सम्पूर्ण काम-कलाओं और विद्याओं (दूसरों के हृदय को चुराने की विद्या) के खजाने श्रीकृष्ण! जब से उस सुन्दरी के कानों में आप के यश की कहानी पड़ी है, तभी से वह कभी देवता सी चुपचाप बैठी रहती है, कभी प्रसन्न होकर हंसती सी लगती है, कभी चिढ़ती है, तो कभी प्रसन्न हो जाती है। कभी वह बिछड़ी सी कभी ठगी सी लगती है कभी ऐसी

प्रतीत होती है मानो किसी ने उसे प्रिय से छीन लिया हो, कभी वह तृप्त-सी हुई रहती वह दुबली हो रही है कभी वह चकित सी लगती है तो कभी टकटकी सी बांधती लगती है कभी थकी हुई या काँपती सी लगती है। कभी वह तीर से बिंधी सी या किसी से बांधी लगती है कभी जहर में डुबाई सी मूर्छित लगती है कभी वश में की हुई सी बैठी कुछ कहती रहती है और कभी वह बिकी हुई सी विवश-दृष्टि से देखती है।

इसमें कृष्ण आलम्बन विभाव हैं उनके सुन्दर यश से अभिप्रेत गुण उद्दीपन हैं कलानिधान होना भी उद्दीपन है। देवता के समान बैठने से स्तम्भ सत्विक भाव ज्ञात होता है यह अयत्नज अनुभाव है। कभी हंसने कभी रोने और खीझने से उन्माद विस्मय श्रम मूछा मोह असूया जड़ता व्याधि संचारी भाव हैं इस प्रकार वियोग शृंगार की निष्पत्ति होती है।

हास्य

भाषा, भूषण, भेष जहँ, उलटेई करि भूल ॥
उत्तम, मध्यम, अधम कहि, त्रिविधि हास-रस-मूल ॥

इसका हास स्थायी भाव है। उत्तम पात्र का हास स्मित या मुस्कान तक सीमित रहता है। मध्यम पात्र का हास्य मुस्कान से अधिक होता है वह खुलकर हंसता है परन्तु थोड़ा। अधम पात्र का हास्य बहुत अधिक होता है। इन तीनों को क्रम से उत्तम मध्यम और अधम जानना चाहिए। प्राचीन आर्यों ने स्मित हसित अवहसित अपहसित ये पांच भेद माने हैं।

उदाहरण

सोहैं सलोनी सुहाग भरी, सुकुमारि सखीन समाज मड़ी सी,
'देव' जु सौति ते आये लला, मुख माँह महा सुषमा घुमड़ी सी।
प्यारी की पीक कपोलनि पी के, बिलोकि सखीन हंसी उमड़ी सी,
सोचन सौहैं न लोचन होत, सकोचनि सुंदरि जाति गड़ी सी।

तात्पर्य यह है कि कोई सुन्दरी नायिका जो कि पति के सौभाग्य गर्व से

भरी थी सखियों के बीच में जड़ी हुई सी थी तात्पर्य यह है कि सखियां भी अति सुन्दर थीं। इस बीच प्यारे अर्थात् नायक सौत के घर से आये नवीन मिलन के कारण मुख पर अत्यन्त उल्लास की शोभा सी छा गई। किन्तु नायक के गालों पर प्यारी के पान की पीक चुम्बन में लगी देख सम्पूर्ण सखियों की हंसी उमड़ सी आई। नायक ने स्वयं चुम्बन न करके नायिका ने किया वह भी अधरों का न करके कपोलों का और बाद में उसे पोंछा भी नहीं। इस प्रकार सौत की अविदग्धता को देख हंसी आई। सी का प्रयोग बताता है कि हंसी तो उठी; पर वह बाहर प्रकट न होने पाई। सौत के यहां से आगमन के कारण तथा हंसती देख न जाने बुरा मान जायें यह सोचकर नायिका की दृष्टि न मिल सकी और सुन्दरी लज्जा के कारण नीची गड़ी सी जाती थी। नायिका मुग्धा प्रतीत होती है। यहां नायक आलम्बन है। उसके गाल पर पान की पीक होना और सखियों का हंसना उद्दीपन है। हास्य को छिपाने के लिए दृष्टि न मिलाना और नीचे झुकना अनुभाव हैं। चपलता लज्जा और शंका संचारी हैं। हंसी होठों से बाहर नहीं आने पाई इसलिए उत्तम हास्य है।

मध्यम हास्य होठों से बाहर आ जाता है।

"ओड़ी अडोलनि ऐंड सो डोलनि, बोलनि हाँसी कपोलन गाड़े।"

इसमें किसी ओड़ जाति की सुन्दरी के हँसने का वर्णन किया है कि वह ओड़ी जो समझाने से भी नहीं डोलती नहीं मानती वह दर्प (रूप और यौवन के गर्व) से डिग रही है चपल हो रही है बातें करती जाती है और हँसती जाती है हँसते-हँसते उसके कपोलों में गढ़े पड़ जाते हैं। यहाँ नायिका का हास्य स्मित से आगे बढ़ गया है पर यह नहीं कि सारा शरीर हिलने लग जाये।

अधम हास्य में जोर से शब्द होता है आँखों में पानी आ जाता है हाथ-पैर पटकने लगता है।

"केलि करी सगरी निसि भोरहि, सोवत ते सो उठी थहराइकै,
आपने चीर के धोखे बधू, पहिरो पट पीत मढू भहराइकै।

बांधि लई कटि सों बनमाल, सुकिकिनि बाल लई ठहराइकै,
राधिका की रस-रंग की दीपति संग सहेली हँसी हहराइकै ॥"

तात्पर्य—इसका अर्थ यह है कि राधा ने श्री कृष्ण के साथ सारी रात तो रति क्रीड़ा की जिसके कारण सारे वस्त्र और आभूषण उतार धरे थे। संभोग से थकने के पश्चात् वह प्रिय से लग कर सो गई। देर में सोने के कारण निद्रा कुछ देरी से खुली आँखें खुलते ही वह घबरा कर कि न जाने घर वाले देख लेंगे तो क्या कहेंगे, पलंग से उठ खड़ी हुई। इसी हबड़ा-दबड़ी में कपड़े पहरे तो यह तो देखा नहीं कि कपड़ा किस का का है अपनी साड़ी के धोखे में नायक का पीताम्बर पहन लिया कमर में तगड़ी बांधने के स्थान पर कृष्ण की वनमाला बांध ली; और बाला तगड़ी को हाथ में पकड़े रही। राधा के इस प्रेम की कान्ति को देख कर उसकी सहेलियां ठठा कर हँस पड़ीं।

इसमें सहेलियों का जोर से हँसना बताया है। इस में नायिका आलम्बन है उद्दीपन उसका विपरीत वस्त्र पहनना अनुभाव ताली पीटना आँखों से दूसरी सखी को संकेत करना आदि हैं। संचारी चपलता है। अधिक जोर

करुण रस

विनसे ईंट, अनीठ सुनि, मन में उपजत सोग।
आसा छूटे चारि विधि करुन बखानत लोग ॥

से हँसने के कारण यह अधम हास्य का उदाहरण है।

किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु होने या प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने और पुनर्मिलन की आशा जाती रहने से जो शोक नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है उससे करुण रस बनता है। इसके पांच भेद माने हैं—करुणा अतिकरुणा महाकरुणा लघुकरुणा सुखकरुणा।

जब किसी की वेदना को देख कर शोक उत्पन्न हो वहां करुणा होती है। जब किसी प्रिय को अति कष्ट में पड़ा देखें तो उससे सहानुभूति रूप में उत्पन्न करुणा को अतिकरुणा कहते हैं। जब कोई कष्ट पीड़ित व्यक्ति स्वयं अपनी व्यथा का करुणाजक वर्णन करे तो उसे महाकरुणा कहते हैं। यदि

कोई कष्ट में से तो छुट आए पर उसके कष्ट का स्मरण करके जो उसके प्रति करुणा होती है, वह लघुकरुणा कहलाती है। जब किसी के प्रति करुणा भी हो और साथ में सुख भी हो तो सुख करुणा कही जाती है।

करुणा का उदाहरण

बेई ससि सूरज उवत-निसि द्यौस वही
नखत समूह झलकत नभ न्यारो सो,
बेई 'देव' दीपक समीप धरि देख्यो वही
दून्यो करि देख्यो चैत पून्यो को उज्ज्यारो सो।
बेई बन बागन विलोकि सीस महल—
कनक, मनि, मोति कछु लगत न प्यारो सो,
वाही चन्दमुखी की सुमंद मुसकानि बिनु
जानि परे सब जग, अधिक अंध्यारो सो॥

कोई विरही नायक कहता है कि यद्यपि वे पहले वाले चन्द्रमा, सूर्य और तारे रात-दिन उगते हैं, परन्तु अब तो ये कुछ और ही और प्रतीत होते हैं। देव कवि कहते हैं कि दीपक भी पास घर कर देखा तो वह दुगना करके देखा तो चैत की पूर्णमासी की रात्रि का उज्याला सा देखा, दीपक कान्ति भी उतनी स्पष्ट नहीं दीख पड़ी। वे ही वन और बगीचे हैं जिनमें उस नायिका के साथ बिहार किया था, उसी शीशमहल में सोना, मणियाँ और मोती आदि कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उस चन्द्र समान आह्लादक मुखवाली सुन्दरी की धीमी-धीमी मुस्कान के बिना सारा संसार अन्धकार-पूर्ण सा प्रतीत होता है। इस में विभावना और भेदकातिशयोक्ति अलंकार के साथ उत्प्रेक्षा है।

नायक को नायिका के बिना पहले भुक्त वस्तुएँ भी असुन्दर प्रतीत होती हैं, इसलिये शोक है, परन्तु वह अधिक तीव्र नहीं लगता, अतः करुणा का उदाहरण दिया है। यहां नायिका आलम्बन है, उसके समय की वस्तुएँ और उनका रुचिकर न लगना उद्दीपन है, अनुभाव इस प्रकार के बचन कहना, है संचारी विरति, स्मृति और दैन्य हैं, शोक स्थायी भाव है।

अतिकरुणा

कालिय काल महाविकराल, जहाँ जल ज्वाला जलै रजनी दिनु,
ऊरध के अध के उबरैं नहिं, जाकी बयारि जरैं तरु ज्यों तिनु।
ता फन की फन फांसिन में, फंदि जाइ फंसे, उकसे न कहूँ छिनु,
हा ब्रजनाथ! सनाथ करो, हम होत हैं नाथ! अनाथ तुम्हें बिनु ॥

श्री कृष्ण के कालीदह में कूद जाने पर गोपियाँ विकल होकर विलाप कर रही हैं। कहती हैं, कालिय नाग साक्षात् काल रूप है, उसके विष की ज्वाला बड़ी भयानक है, उसकी जलन से कालीदह का जल समूह रात-दिन जलता रहता है। उस जल के ऊपर उड़ने वाले और नीचे रहने वाले पक्षी व जलचर जीव जल जाते हैं। तीर के वृक्ष भी जहरीली लपटों से तिनके की भाँति जलते हैं। प्यारे श्यामसुन्दर उस महा भयानक नाग के फण रूपी फन्दों में जा फंसे हैं परन्तु अभी तक नहीं छूट सके हैं। हे व्रज के स्वामी! हमें आकर सनाथ अर्थात् रक्षक वाली या स्वामी वाली कीजिये, हे नाथ! हम आप के बिना अनाथ, अर्थात् असहाय या अरक्षित हुई जा रही हैं। इस पद्य में 'व्रजनाथ' शब्द और नाथ शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, व्रज के नाथ होने से गोपियां उन्हीं से सनाथ हो सकती हैं, पुनः नाथ के रहते अनाथ होना बड़े दुःख का विषय होगा। व्रजनाथ नाथ में परिकर, केवल नाथ की आवृत्ति में लाटानुप्रास है, 'फन–फांसिन' में रूपक है।

यहाँ श्री कृष्ण को विपत्ति में पड़ा देख कर, जब कि उनके छूटने की आशा कम हो रही है, अधिक शोक है, अतः अतिकरुण का उदाहरण हुआ।

महाकरुणा

हास हुलास हिये के लिये सुनि, साँस उसास हमें दिय दोये,
देव लुन्यो सुख रूखन को बनु, या मन में विष बीजन बोये।
प्यास निगोड़ी रही गड़ि नैनन उज्जल सो निचुरैं चित कोये,
आपनो जागिबो सौंपि हमैं, अब नींद हमारियौ लै सुख सोये ॥

अर्थ—कोई विरहिणी नायिका अपनी विरह-वेदना का वर्णन कर रही है कि वे प्रिय हमारी हँसी और उल्लास को तो स्वयं ले गये और हमें लम्बे-

लम्बे सांस लेना और आहें भरना ये दोनों दे गये। सुख रूपी वृक्षों का जंगल तो कटवा दिया, अर्थात् सुख तो हमारे सारे मिटा दिये, उनके स्थान पर रात-दिन जलन का विष बो दिया है। इन आँखों में ये निगोड़ी प्यास रात-दिन भरी रहती है, जब कि कोयों से मन नित्य ही निमल पाली बन कर निचुड़ता है, ये प्रिय अपना जागना हमें सौंप कर, हमारी नींद लेकर चैन से सो गये हैं।

इसमें जागरण और निःश्वास लेना नामक विरह की अवस्थाओं का वर्णन है। परिवृत्ति, विशेषोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक और अपन्हुति अलंकार हैं।

इसमें विरहिणी की दशा बहुत अधिक वेदनामयी है, अतः महा-करुणा है।

लघु करुणा

तारि धरयौं जु गहीर गुहा गिरि, धीर धरयौं सुअधीर महा हैं,
पूँछत पीर भेर दृग नीर, सु एकै समीर करैं औ सरा हैं।
एकै अंगोछती चीर ललै तिय, छरी ललै छिरकै करि छा हैं,
मेंटत भीर अहीरन की बर बीरज की बरबीर की बाहैं॥

अर्थ—श्री कृष्ण ने उस गम्भीर, बड़े गोवर्धन पर्वत को उतार कर पुनः पृथ्वी पर धर दिया; जो गोपाल इस को देखकर अधीर हो रहे थे, उन्होंने धैर्य धारण किया; सब आँखों में आँसू भरे पूछते कि बांह में पीड़ा तो नहीं है, कुछ पंखा झलकर वायु करते और प्रशंसा करते थे कि बड़ा भारी कार्य किया जो इस पर्वत को उठा लिया। एक सुन्दरी वस्त्र लेकर उससे श्रीकृष्ण का पसीना पूँछती थी, दूध ले-ले कर छिड़कती अर्थात् दूध लाकर देती, शान्ति के लिए जल छिड़कती और अंचल से छाया करती; इस प्रकार अहीरों की भीड़ आ-आ कर श्रीकृष्ण का आलिंगन करती और बल-पराक्रम से पूर्ण बलराम के भाई श्रीकृष्ण की बांहों को पूजतीं या मसलती थीं।

इस में गोवर्धन पर्वत को धारण करने रूप महान् कार्य को देखकर विकल गोपों की श्रीकृष्ण के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। इसमें दुःख न

होकर आश्चर्य, प्रेम सहानुभूति और प्रशंसा का भाव है अतः लघु करुणा का उदाहरण है।

सुख करुणा

भाग की भूमि, सुहाग को भूषन, लाज सिरीनिधि, लाज निवासू
माइयै मेरी दुहूं कुल दीपक धन्य पति व्रत प्रेम प्रकासू ॥
लंक ते आई निसंक लिये मुख सर्वसु वारति कौसिला सासू,
पांइन पै ते उठाइ लिये, हिय लाइ, बलाइ लै पोंछति आँसू

अर्थ—श्री सीताजी लंका से अयोध्या लौट आई हैं। महल में अपनी सास माता कौशल्या से भेंट करने गई हैं; उस समय का वर्णन है; कौशल्या प्रणाम करती सीता का स्वागत करती हुई कहती हैं कि हे भाग्य की भूमि, भाग्यशालिनी, बड़े सौभाग्य वाली, सुहाग अर्थात् सधवा स्त्रियों की भूषण, सौभाग्यवती नारियों में श्रेष्ठ, स्त्रीजनोचित लज्जा और शोभा (सौन्दर्य) की भंडार, शील के घर, दोनों कुलों (पतिकुल पितृकुल) को अपने चरित्र से उज्ज्वल करने वाली हे मेरी पुत्री सीता आओ, तुम्हें धन्य है जिसका पतिव्रत धर्म के प्रति प्रेम प्रत्यक्ष हो गया है या संसार में प्रसिद्ध हो गया है। वह सीता लंका से निस्सन्दिग्ध सुख अथवा निष्कलंक मुख लिये अयोध्या आई है; उस पर माता कौशल्या सब कुछ न्यौछावर कर रही है, पैर पर से उठाकर हृदय से लगाकर माता उसकी बलाएँ लेती है और उसके आँसू पोंछती है। उस समय चौदह वर्ष के वियोग के पश्चात् प्राप्त— हो रहा था। अत; पिछले वियोगजन्य दुःख की स्मृति और मिलन-की अनुभूति मिलकर सुख करुणा की सृष्टि करती है।

तात्पर्य यह है कि असह्य अपराध करने से हृदय में तीव्र क्रोध उत्पन्न होता है। वही रौद्र रस का स्थायी भाव है, यह ईर्ष्या से भी उत्पन्न होता है। उसमें अनभाव कटु वचन, मुँह और आँखें लाल होना, आँख में आँसू, शरीर में कंपकंपी होते हैं।

उदाहरण—

पीक भरी पलकैं झलकैं अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की।
छाय रही छवि छेल की छाती में, छाप बनी कछु ओछे उरोज की॥
ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते, तीखि चितौनि चली अति ओज की।
बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मनो खैंचि सनाल सरोज की॥

अर्थ—नायक सौत के यहाँ से आया है; उसके शरीर पर समागम के चिन्ह हैं; उनको देख कर नायिका को क्रोध हो आया। उसका वर्णन करता है कि नायक की पलकों में सपत्नी की पीक दिखाई दे रही है। भुजाओं में जुल्फें गड़ी शोभा दे रही है: छैले रसिक कृष्ण की छाती में छोटे किन्तु कठोर स्तनों की छाप फैली हुई थी, इससे अविकसितयौवना के साथ समागम ध्वनित होता है। इस प्रकार का स्वरूप धारण किये कृष्ण को बड़ी बड़ी आँखों से देखकर उसकी दृष्टि से जोश अर्थात् रोषपूर्ण चितवन चली। उस बाला ने प्रियतम की ओर देखकर मानों कमल की डंडी खींची हो अथवा कमल का तीर मारा हो। सनाल डण्डी सहित सरोज की मार की, नेत्र कमल के समान हैं, उसकी दृष्टि का फैलाव ही तीर है। कमल की डण्डी को कवि ने नालीक तीर बनाया है जो कि नली में से फैंक कर मारा जाता है। इसमें कोपपूर्ण दृष्टि से ही रौद्र रस की प्रतीति कराई है। यह इस रस का असफल उदाहरण है।

इस में कृष्ण आलम्बन हैं; सौत के समागम के चिन्ह उद्दीपन, दृष्टि से तीखी चितवन फेंकना अनुभाव है, असूया नामक संचारी है, इस प्रकार रौद्र रस की अभिव्यक्ति कराई है।

वीर रस लक्षण

रन बैरी, सन्मुख दुखी, भिक्षुक आये द्वार।
युद्ध, दया अरु दान हित, होत उछाह उदार॥

अँग पुलक मुख आँसू दृग, उर आनन्द गँहीर ।
उठि उछाहि साहस समै त्रिविध होत रस वीर ।।

देव कवि ने वीर रस के तीन भेद माने हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर। युद्ध में शत्रु को खड़ा देखकर, दुःखी व्यक्ति को देखकर, द्वार पर भिक्षुक के आने से उत्साह नामक स्थायी उत्पन्न होता है ।

धाई खोरि खोरि तैं बधाई पिय आगम की,
सुनि कौरि-कौरि सुख भावनि भरति है;
मोरि-मोरि बदन निहारत विहार भूमि
घोरि-घोरि आनन्द घरी सी उघरति है ।
'देव' कर जोरि जोरि बंदति सुरनि गुरु-
लोगन के लोरि-लोरि पाँयनि परति है;
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन को चौक,
नेवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है ।।

अर्थ—किसी नायिका का प्रियतम प्रवास के लिए गया था, किसी सखी ने उसे पति के घर लौट आने की बधाई दी । उसे सुनकर नायिका का हृदय उत्साह से भर गया, उसका वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है कि प्रियतम के आने की बधाई सुन कर नायिका गली-गली में भागी फिरती है, हृदय में करोड़ों करोड़ों सुख के भाव भरती हैं अर्थात् सुख दायक कल्पनाएं करती है। कभी वह गर्दन घुमा घुमाकर केलि भवन की ओर देखती है कि पुनः उस स्थान में विहार का अवसर आ गया है । मानों घुल-घुल कर प्रसन्नता में मन ही मन में घुलती हुई आनन्द की घड़ी सी प्रकट होती है। कभी वह हाथ जोड़-जोड़कर देवताओं को नमस्कार करती है गुरु जनों के पैरों में पड़कर विनती करती है। अपनी माला तोड़कर उसके मोतियों से चौक भरती है और भूषण न्यौछावर करने के लिये धारण करती है।

इस पद्य में नायिका के उत्साह नामक स्थायी भाव का वर्णन किया है ।

अब तीनों प्रकार के वीर रस का एक ही उदाहरण देते हैं :—

'देव' महा सुन्दरी त्रिलोक सुन्दरी के दृग,
वृन्दारक वृन्दनि को मन्दारि उदार होत।
लागत चरन, सरनागत नरन, अनु-
रागत अरुन रूप, उपमा अपार होत।
देखि देखि दीन दुखी होत वसुधाधिपति,
बुधाधि ने ऊपर सुधा सहसधार होत।
एक ओर कुटिल कटाक्ष हो की कोर कोटि,
कोटि लक्ष राक्षस सपक्ष जरे छार होत।

अर्थ—भगवती दुर्गा की दृष्टि का वर्णन करता है कि अत्यन्त सुन्दरी भगवती त्रिपुरसुन्दरी (दुर्गा का एक रूप) की दृष्टि देवताओं के समूह के लिये कल्प वृक्ष के समान उदार होती है, जैसे कल्प वृक्ष दानी होता है, इसी प्रकार उसकी दृष्टि देवताओं के मनोरथ पूर्ण करती है। शरण में आए मनुष्यों के लगते ही उनके चरण लाली के रूप प्रेम प्रकट करते हैं। राग शब्द को अर्थ लाल और प्रेम दोनों होते हैं, अतः चरणों की लाली से प्रेम प्रकट करने का अर्थ लिया है। उसकी दृष्टि से देखने अर्थात् देखे जाने से गरीब और दुःखी राजा बन जाते हैं, आजाओं के ऊपर यदि वह दृष्टि पड़े तो अमृत की सी हजारों धारा पड़ती हैं, दृष्टि के एक कोर से तो इस प्रकार निर्धनों को राजा और राजा को देवता बना देती है. दूसरी ओर क्रोध पूर्ण टेढ़े कटाक्ष के कोने से लाखों-करोड़ों राक्षस अपने सहायकों के साथ जल कर राख हो जाते हैं। इस में देवताओं के लिए कल्पवृक्ष होना और दीनों को राजा बनाना दान और दयावीर का उदाहरण है, चतुर्थ चरण में दृष्टिमात्र से राक्षसों को भस्म करना युद्धवीर का उदाहरण है।

भयानक रस

घोर शत्रु देखे सुने करि अपराध अनीति।
मिले सत्रु भूतादि ग्रह सुमिरे उपजत भीति॥

भीति बढ़े रस भयानक, दृग जल, वेपथु अंग।
चकित-चित्त, चिन्ता, चपल, विवरनता, स्वरभंग॥

उदाहरण

श्री वृषभान सुता मिलि कै, जमुनां-जल केलि कै हेलिन आनी,
रोमावली नवली कहि 'देव', सु सोने से गात अन्हात सुहानी।
कान्ह अचानक बोलि उठे, उर-बाल के व्याल वधू लपटानी,
धाइ कै धाई, गही ससवाइ, दुहूँ कर झारत अंग अयानी।

अर्थ—सखियां मिल कर वृषभानु की पुत्री राधा को जल-क्रीड़ा के लिये यमुना पर ले आई। उस सुन्दरी के सोने से गोरे शरीर पर नई उगती हुई सूक्ष्म रोमावली नहाते समय अति शोभा दे रही थी। इसी समय कृष्ण अचानक कह बैठे कि हा! हा! इस सुन्दरी के वक्षस्थल पर सांपन लिपट गई हैं यह सुनते ही उस सुन्दरी ने सहसा दौड़ कर अपनी धाय पकड़ी अर्थात् धाय के पास पहुँची और घबराहट से सांस लेती हुई वह अनजान, दोनों हाथों से अपने शरीर के हिस्सों को (जहां-जहां रोम दिखाई देते थे) झाड़ने लगी। इस वर्णन से राधिका को मुग्धा नायिका सूचित करता है। भ्रम अलंकार है। उपमा अलंकार भी है।

यहाँ सांप आलम्बन है उसका शरीर में लिपट आना काले-काले रोमों को देखना और उन में सर्प का भ्रम उद्दीपन है भागना धाय के पास घबरा कर जाना, दोनों हाथों से शरीर को झाड़ना अनुभाव हैं। उसमें उद्वेग त्रास चपलता नामक संचारी व्यक्त होते हैं। इस प्रकार भय नामक स्थायी भाव भयानक रस के रूप में परिणत होता है।

बीभत्स का लक्षण

बस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै मन माहिं।
घिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जाहिं॥
निन्द्य कर्म करि निन्द्य गति, सुनै कि देखै कोय।
तन संकोच मन संभ्रमन, द्विविधि जुगुप्सा होय॥

तात्पर्य यह है कि घृणित वस्तु देखने से हृदय में जो जुगुप्सा या घृणा उत्पन्न होती है वह स्थायी भाव है, घृणित कर्म करने वाला व्यक्ति आलम्बन विभाव है, उसके निन्दित कर्म देखना और सुनना उद्दीपन है। अनुभाव नाक सिकोड़ना, थूकना आदि हैं, उद्वेग, ग्लानि, चपलता आदि संचारी होते हैं। स्वयं निन्दित कर्म करने से अपने ऊपर ग्लानि, या दूसरे के आचरण से घृणा करना इस प्रकार जुगुप्सा दो प्रकार की होती हैं।

उदाहरण

रैन जगे सब बैन पगे, उमगे कर सैननि नैन लगो हैं।
अंगहि अंग किए सुख संग, अनंग तरंगनि रंग रंगो हैं।
प्यारी के प्रीतम आये प्रभात, कछू मत बूझत घूम घुमो हैं,
देव दुरै सिर, ढोरत डोंठ, सुकोरति नाक, मरोरत भौंहैं।

अर्थ—श्री कृष्ण सारी रात्रि जागते रहे, मधुर वचनों में मग्न और नेत्रों के संकेतों में लगन लगाये हुए, इस कारण उमंग से भरे हुए अंगों-अंगों में समागम का सुख लिये कामदेव की तरंगों में रंगे श्रीकृष्ण इस प्रकार अन्य नायिका के साथ सारी रात बिता कर प्रातःकाल नायिका के भवन में आये, घुमा फिरा कर अर्थात् वक्रोक्ति द्वारा उसकी बात पूछने लगे, नायिका ने सिर छिपा कर नजर फिरा कर नाक सकोड़ी और भौंहें मरोड़ लीं या चढ़ा लीं।

यहाँ कृष्ण आलम्बन हैं, उनका अन्य स्त्री-गमन उद्दीपन है, शिर छिपाना, दृष्टि फिराना, नाक सिकोड़ना, भौंहें चढ़ाना अनुभाव हैं, इन से व्यंग्य निर्वेद, अरुचि, ग्लानि, असूया आदि संचारी व्यंग्य हैं। इस प्रकार जुगुप्सा बीभत्स रस बनाता है। वास्तव में यह बीभत्स रस का उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि जुगुप्सा का अनुभव जैसा होना चाहिये, होता नहीं।

अद्भुत रस

आश्चरज देखे, सुने, विस्मय बाढ़त चित्त।
अद्भुत-रस विस्मय बढ़े, अचल सचकित चित्त॥

राधे को न्योंति बुलाइबे को, बरसाने लौं हौं, पठई नन्दरानी,
श्री वृषभान की संपति देखि, थकी गतिऔ मतिऔ अति बानी।
भूलि गई मनि-मंदिर मैं प्रतिबिंबिनि देखि विशेष भुलानी,
चारि घरी लैं चितौति चितौति मरू करि चन्द्रमुखी पहिचानी॥

अर्थ—कोई गोपी कह रही है कि नन्द की रानी यशोदा ने मुझे राधा को निमन्त्रण देकर बुलाने के लिए बरसाने तक भेजा था। श्री वृषभानु की सम्पत्ति देख कर मेरी करने-धरने की शक्ति, बुद्धि और वाणी सब थक गई। मणिजटित भवन में भूलभुलैया में पड़ गई, और दीवालों में पड़ते प्रतिबिम्बों को देख कर विशेष भ्रम में पड़ गई, चारों ओर परछाईं पड़ने से राधा पहचान में आती न थी। चार घड़ी तक इधर-उधर देखते-देखते बड़ी कठिनाई से चन्द्रमुखी राधा को पहचान सकी।

इसमें वृषभानु की सम्पत्ति आलम्बन हैं; मणिमन्दिरों में प्रतिबिम्ब देखकर शरीर को न पहचानना उद्दीपन है; कहते समय मुख की चेष्टा, आँखों का फैलना, रोमांच आदि अनुभाव हैं; तर्क, चपलता, हर्ष, आवेग, स्मृति संचारी भाव हैं; इस प्रकार अद्भुत रस प्रतीत होता है।

शान्त रस

तत्व ज्ञान समत्व करि, उपजत सात्विक बुद्धि।
शान्त सरस सम बुद्धि बढ़ि, पछितायो मन सुद्धि॥

सुख-दुःख और शत्रु-मित्र को समान भाव से देखने से, तत्त्व ज्ञान से जो पवित्र और सत्त्व गुणप्रधान बुद्धि होती है, यहीं निर्वेद स्थायी भाव होता हैं। पूर्व कर्मों के लिये पछताना इस में अनुभाव होता है।

उदाहरण

दिना दस जोवन जोबन री, मरिये पचि होइ जु पै मरिबै न,
सबै जग जानत 'देव' सुहाग कौ, संपति भौन रही भरिबै न।
कहा कियौ सौति कहाय के काहु, लरौ पिय प्रेम तऊ लरिबै न,
असीसनि हू के सही करि बैन, कछू अब मोह रही करिबै न॥

अर्थ—कोई नायिका विरक्त होकर कहती है कि अरी यौवन के लिये क्या चिन्ता करें। जीवन के दसेक दिन तो अर्थात् थोड़े से ही दिन तो जवानी के हैं, यदि कभी मरना ही न हो तो इसके लिये मरें-पचें भी। सारा संसार इस बात को जानता है कि सुहाग की सम्पत्ति घर में भरने की तो होती नहीं अर्थात् सुहाग या सौभाग्य को अपने घर में सुरक्षित करके कोई नहीं रख सकता। किसी ने सौत कहा तो भी क्या कर लिया ? क्या पा लिया? कोई प्रिय के लालच में अर्थात् प्रिय को अपने ही वश में करने के लिये लड़ती रहे तो भी मैं तो नहीं लड़ूंगी। चाहे उसके वचनों को आशीर्वाद के ही शब्द करके मानना पड़े अर्थात् आशीर्वाद के वचन मान कर ही सहने पड़ें पर मुझे तो अब कुछ करना ही नहीं। यहाँ संसार, जीवन और यौवन की नश्वरता की बुद्धि से तत्वज्ञान हुआ है अतः निर्वेद या कामनाओं की शान्ति स्थायी भाव है, अनित्य रूप से जाने गये जीवन और यौवन आलम्बन हैं, उद्दीपन सब पदार्थों का नष्ट होना है। इन वचनों को कहना, सौत के प्रति भी साहिष्णुता का भाव रखना अनुभाव हैं। समत्व बुद्धि से विरक्ति, धृति, मति, सन्तोष, स्मृति, संचारी भाव हैं। इस प्रकार शान्त रस व्यंग्य हैं।

प्रश्न—मित्र और शत्रु रस कौन-कौन से हैं, उनका स्वरूप उदाहरण सहित सिद्ध कीजिये।

उत्तर—हास्य रस शृंगार का मित्र है रौद्र रस का करुण मित्र है, वीर रस का अद्भुत और बीभत्स का भयानक है। इनका परस्पर जन्य-जनक सम्बन्ध है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक का जन्म होता है। कविताओं में शत्रु रसों को छोड़कर मित्र रसों का वर्णन करना चाहिये।

शत्रु रस

शृंगार का बीभत्स, वीर रस का भयानक शत्रु है, अद्भुत रौद्र का का शत्रु है, करुण का हास्य शत्रु है।

मिश्र रसों का उदाहरण देते हुए शृंगार और हास्य के समन्वय का उदाहरण देते हैं:—

केलि के भौन अकेलि गई, बन बेली निहारि नवेली भुलानी,
लाल को देखि उतै बर बाल, परी भय लाज रसाल लुभानी।
खीजति, छीजति, अंग पसीजति देव थकी सी चकी चुपक्यानी,
हौंसहि देखि दृगंचल चंचल अंचल दै मुख सौं मुसक्यानी॥

अर्थ—एक गोपी दूसरी सखी से कहती है कि वह नव बाला (इससे मुग्धात्व सूचित है) वन की लताओं में चक्कर खाकर अकेली ही क्रीड़ा (काम क्रीड़ा के) के निकुञ्जों में चली गई, वहाँ पर प्यारे को देखकर वह सुन्दरी भय (समागम के पूर्व होने वाला त्रास) से लाल पड़ गई और उस रसीले छैला को देखकर ललचा गई। वह कभी अपने ऊपर खीझती थी कि कहाँ आ गई, कभी अंगों में लज्जा के कारण सिमटी जाती थी, कभी सात्विक भाव जनित पसीना शरीर से पड़ता था, वह थकी सी चुपचाप देखती सी रह गई। उसकी इस दशा और समागम का निमन्त्रण देते हुए चंचल नेत्रों को देखकर मैं मुख पर वस्त्र डाल कर हँस पड़ी।

यहाँ पहले शृंगार है, साथ ही सखी का हास्य है जो कि शृंगार की पुष्टि ही करता है।

वीर-अद्भुत

'मल्लन मारि संघारि करिंद, नरिंद पछारि कै डारि धरा धुनि,
'देव, कियो वसुदेवहिं छोरि, निहोरि कै नन्द सौं बन्दन कै दुनि।
आये अहीर पठाये घरै, चकि चित्र विचित्र निमित्त लखै गनि,
औंरा बली जनम्यो जदुबंश, सुजान्यो जसोमति कंस कथा सुनि।"

अर्थात्—कंस के पठाये चाणूर और मुष्टिक जैसे पहलवानों को मारकर गजेन्द्र कुवलयापीड़ा को मार कर राजा कंस को पछाड़ कर और यमुना पर डाल, देवकी और वसुदेव को छुड़ाया, इसके बाद बाबा नंद की विनति

करके, प्रणाम करके उन्हें व्रज को लौटा दिया । उनके विदा किये हुए अहीर मथुरा में हुई अद्भुत घटनाओं को अपने मन में विचारते हुए गोकुल अपने-अपने घर लौट आए । उनके मुख से कंस के मारने की कथा सुनकर यशोदा ने जाना कि यदुवंश में भगवान् के प्रबल अवतार ने जन्म लिया है।

इस पद्य में श्री कृष्ण का मल्ल आदि को मारना वीर रस की अनुभूति कराता है । सदा अपने साथ रहनेवाले कृष्ण के ऐसे परक्रम और उनके अवतारी रूप का ज्ञान होने से अद्भुत रस की सृष्टि है । वीर से अद्भत का जन्म हुआ है, अत: दोनों मित्र रस हैं ।

शत्रु रसों का उदाहरण

लै सुख सिन्धु-सुधा मुख सौति के आये इतैं रुचि ओठ अमी की,
तोहि निसंक लई भार अंक, मयंक मुखी सुससंकति जी की ।
जानि गई पहिचानि सुगन्ध कछू विन मानि भई मुख फीकी,
ओछे उरोज अंगोछि अंगोछि, पोंछति पीक कपोलन पी की ॥

तात्पर्य—सौत के मुख का अमृतपान करके उसके सुख को लेकर नायक इधर अर्थात् दूसरी नायिका के पास आ गए, उनके ओठों पर अमृत की कान्ति अर्थात् सौत के अधरामृत का रस अथवा उसके मुख के पान की लाली लगी हुई थी । उन्होंने हृदय में सपत्नी गमन की शंका करती हुई चन्द्रमुखी को आते ही निश्शंक होकर गोदी में ले लिया । तात्पर्य यह कि यों ही जाने से तो यह कुछ कहे-सुनेगी, पर यदि आलिंगन कर लिया तो रस में बहकर कुछ पहचानने न पायेगी । इससे नायक का दक्षिणत्व प्रकट होता है । किन्तु नायिका पहचान गई कि नायक सपत्नी से समागम करके आया है, मुख की सुगन्ध को पहचानते ही उसने कुछ घृणा मानी अर्थात् घृणा की, उसका मुख फीका पड़ गया । पहले अंगोछे या वस्त्र से उसने अपने छोटे-छोटे कुचों को पोंछा, जहाँ कि नायक ने आलिंगन करके अपने वक्ष पर लगा सौतिन का अंग राग लगा दिया दिया था, इसके पश्चात् अपने कपोलों पर प्रिय के चुम्बन के कारण लगी सौत के मुख की पीक पोंछी ।

यहाँ एक ओर तो आलिंगन का व्यापार है कि संभोग शृंगार का अंग है, साथ ही नायक को प्रिय कहने से उसके प्रति रति भी है, उसी के प्रति घृणा करना यह सर्वथा विरोधी भाव है जो रसानुभूति में बाधा डालता है; अतः दोष है। दोनों शत्रु रसों का समन्वय इसी कारण उचित नहीं।

प्रश्न—रस दोष गिनाते हुए किसी एक का उदाहरण दीजिये।

उत्तर—कवि ने रस काव्य को नौ प्रकार का माना है :—
रस युक्त, नीरस अर्थात् रस की प्रतीति जहाँ तीव्र न हो, सन्मुख रस, विमुख रस अर्थात् प्रतिकूल रस का बोध, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ, मित्र रस, शत्रु रस और उदास रस —जो न मित्र हैं न शत्रू हैं। इनमें सरस, सन्मुख या अनुकूल, स्वनिष्ठ मित्र रस, ये चारों उचित हैं, शेष दोष ही हैं।

नीरस काव्य के भी आठ भेद हैं— देश विरुद्ध, कालविरुद्ध वर्ण (ब्राह्मणादि) विरुद विधान अर्थात् कर्मों का विरोध अर्थात् अनुचित कर्मों का विधान, यात्रा और संधि विरोध, रस बिरोध और भाव विरोध। इनमें वर्ण विरोध का तात्पर्य तो यह है कि ब्राह्मण का पान खाना आदि वर्णन, क्षत्रिय का माला फेरना आदि वर्णन दोष है, विरोधी रसों के वर्णन से रस विरोध होता है और उदास रसों के कारण भावों की अभिव्यक्ति में विरोध होता है।

"राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका को गुन गावै;
त्यों अँसुवां बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिका ध्यावै।
राधे ह्वै जाइ घरीक में 'देव' सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै;
आपुन आपुहि में उरझै, सुरझै, विरुझै, समुझै, समुझावै।"

तात्पर्य—राधिका श्री कृष्ण का ध्यान एकान्त में करती है, उस भाव में इतनी मग्न हो जाती है कि तन्मय होकर स्वयं कृष्ण बन जाती है और राधा का गुण-गान करने लगती है, जिस प्रकार नायक अपनी प्रेयसी के रूप आदि का वर्णन करता है, इसी प्रकार वह कृष्ण रूप होकर अपने रूप आदि का वर्णन करती है तथा आँसू बरसाती है, बरसाने (राधा के गाँव) के लिये चिट्ठी लिख कर भेजना चाहती है। इस प्रकार कृष्ण की तन्मयता में जब

राधा के प्रति प्रेम की गहरी अनुभूति और तीव्र हो जाती है तो घड़ी भर में पुनः राधा बन जाती है अर्थात् स्वयं को चेतना पा जाती है, उस समय अपनी ही लिखी उस प्रेम पत्रिका को कृष्ण की भेजी जान कर हृदय से लगा लेती है। इस प्रकार वह अपने आप में उलझती है और सुलझती है, स्वयं खीझती हैं, अपने मन में समझती है और समझाती है जर्थात् कभी कृष्ण रूप धारण कर अपने आप को ही धैर्य देने लगती है।

इसमें सम्पूर्ण संचारी आदि श्रृंगार के ही हैं। अतः वियोगश्रृंगार का परिपाक है। इसलिए सरस का उदाहरण है।

> मूरति जो मन मोहन की मन-मोहिनी के थिरु ह्वै थिरकी सी,
> देव गुपाल के बोल सुने छतियां सियराति सुधा छिरकी सी।
> नीके झरोखेन झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी सी,
> पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकीन फिरै फिरकी सी॥

अर्थ—नायिक के हृदय में प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ हैं, उसका वर्णन किया हैं। कवि कहता है कि मन को मोहने वाली उस सुन्दरी के हृदय में मन को चुराने या वश में करने वाले श्री कृष्ण की मूर्ति, उनकी आकृति स्थिर होकर जम सी गई, जब वह गोपाल के वचनों को सुनाती हैं तो उसकी छानी अर्थात् हृदय को शांति शीतलता प्राप्त होती है मानों अमृत छिड़क दिया हो। कुल बाला होने और नेत्रों में लज्जा के बादल घिरे होने के कारण झरोखे पर बैठकर भी उन्हें भली प्रकार नहीं देख सकती, हृदय में पूर्ण प्रेम इस प्रकार छाया हुआ हैं कि वह उत्सुकता के कारण एक स्थान पर नहीं बैठ पाती और कभी इधर कभी उधर फिरकनी के समान खिड़की-खिड़की पर घूमती है। देर तक तो बैठने नहीं पाती कि कहीं देख न लें, बिना देखे भी नहीं रहा जाता, इसलिए खिड़कियों पर चक्कर काटती है।

यहां नायिका के अपने अनुराग का वर्णन होने से स्वनिष्ठ रस है अथवा अपने नायक के विषय में हैं। पर पुरुष विपयक नहीं है।

सखिन के सुख सुनि सौतिन को महादुख
होत गुरु जनन के गुनन गरूर है;
'देव' कहे लाख-लाख भाँति अभिलाष पूरि,
पी के उर उमगत प्रेम रस पूर है।
तेरो कल बोल कल भाषिन को स्वाती बूंद,
जहाँ जाइ परै तहाँ तैसिय समूर है;
व्याल मुख विष ज्यों, पियूष ज्यों पपीहा मुख,
सीपी मुख मोती, कदली मुख कपूर है॥

अर्थ—सखियों का सौभाग्य सुख (पति समागम) सुनकर सौतों को बड़ा दुख हुआ करता है; गुरु जनों अर्थात् माता-पिता या सास-सुसर आदि के गुणों का गर्व हो जाता है, उसका स्मरण हो आता है जिसके कारण मन-मानी नहीं हो पाती। उधर लाखों प्रकार से समागम आदि की अभिलाषा पूर्ण करके भी अर्थात् अभिसार आदि के द्वारा संभोग अनेक बार करके भी प्रियतम के हृदक में प्रेम रूपी रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता है। अर्थात् तेरे समागम का आनन्द लेकर भी उसकी तृप्ति नहीं होती; (वह पुनः देरे समागम का इच्छुक है) मधुर भाषिणी तेरा मधुर वचन स्वाति नक्षत्र में बरसने वाली जल बिन्दु के समान है, जहां कहीं जा पड़ता है अर्थात् जैसे के कान में जाकर पड़ता है, उसी प्रकार समूल होता है, वैसा ही परिणाम दिखाता है। जो रसिक हैं उनके हृदय को तो तेरा वचन बहुत प्रिय है; सौतों के लिये कटु हो जाता है। जैसे स्वाती नक्षत्र में बरसी बूंद सांप के मुख में पड़कर विष बनती है, चातक के मुख में अमृत (प्राण संचार करने के कारण अमृत का करने वाली) ले जाती है, सांप के मुंह में पड़कर मोती बनती है और केले में पड़कर कपूर बनती है।

इस पद्य में विशेषोक्ति और मालोपमा अलंकार हैं। यह उक्ति नायिका को जोकि परकीया है, नायक से मिलाने के लिए दूती की है; उसके समागम से नायक की अतृप्ति बताकर उसके प्रेम को प्रबल बताकर उसे अभिसार के लिए प्रेरणा दे रही है। इस प्रकार यह परनिष्ठ श्रृंगार रस का उदाहरण है॥

प्रश्न—देव कवि ने रसों के जो-जो संचारी गिनाये हैं, उनका उल्लेख करके चार वृत्तियों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—श्रृंगार के मुख्य संचारी शंका, असूया, भय, ग्लानि, धृति, स्मृति, निद्रा, बुद्धि, चिन्ता, विस्मय, व्याधि, हर्ष, उत्कण्ठा, जड़ता, मद, विषाद, लज्जा, उन्माद, अवहित्था, चपलता। आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़ सारे ही भाव श्रृंगार में आ जाते हैं।

हास्य—श्रम, चपलता, अवहित्था, जुगुप्सा, स्वप्न, ग्लानि, शंका, असूया।

करुण—रोग, दीनता, स्मृति, ग्लानि, चिन्ता, निर्वेद, चापल्य, असूया, उत्साह।

रौद्र—उत्साह, अमर्ष, गर्व, खेद, श्रम, चापल्य, जुगुप्सा, चिन्ता, ग्लानि, निर्वेद, असूया।

वीर—श्रम, असूया, धृति, तर्क, मति, मोह, गर्व, क्रोध, रोमाञ्च, हर्ष, उग्रता, आवेग।

भयानक—त्रास, मृत्यु (मूर्छा), विषाद, भय, मद, व्याधि, वितर्क, मति, अपस्मार, उन्माद।

बीभत्स—उपर्युक्त ही हैं।

अद्भुत, शान्त के संचारी—मोह, हर्ष, आवेग, मति, जड़ता, विस्मय, निर्वेद।

वृत्तियाँ

काव्य में वस्तु वर्णन आदि के रूप में चार वृत्तियां होती हैं जो कि तीन-तीन रसो का कारण होती है। १—कैशिकी, २—सात्वती, ३—आरभटी, ४—भारती।

कैशिकी—हास्य, श्रृंगार, और करुण, में नृत्य, कीर्तन, संगीत, आदि में होती है।

आरभटी—रौद्र, भय, बीभत्स रस में होती है, इसमें अच्छे क्रोधपूर्ण भाषण, गर्जन, श्रम, माया, कम्प आदि का वर्णन होता है।

सात्वती—वीर, रौद्र, अद्भुत में होती है। इसमें हर्ष क्रोध, विस्मय, क्षमा आदि का वर्णन होता है।

भारती—वीर, हास्य और अद्भुत रस में होती हैं, इसमें गर्वपूर्ण व्यंग्योक्तियां, उदारता, विस्मय और हास्य का विधान रहता है।

सुन्दर बदन बनि आई नन्द-मंदिर,
बुलाई स्याम सुन्दर को शोभा अवरेखिकै,
लीन्हे पर जंक ते निसंक भरि अङ्क, कुच,
लीपे विष-पंक मुख मीले सो विशेषिके,
जोर करि हरि पय-पान मिस प्रान पियो,
सोरु कै घिनौनी घोर मरी परी पेखि के,
खेलै देवकी को 'देव' की को न डराइ, सबु,
कीं का ब्रजमंडल बकी की रूप देखि कै।

तात्पर्य—यह श्रीकृष्ण द्वारा पूतना राक्षसी के मारे जाने का वर्णन है। बकी अर्थात् पूतना सुन्दर मुख बना अर्थात् सुन्दर रमणी का रूप बनाकर नन्द के भवन में आई और श्याम सुन्दर की शोभा—सौन्दर्य को देखकर उसने श्याम को अपने पास बुलाया। निश्छलता दिखाने के लिए अपने हृदय के कपट का विचार न करके बिना किसी शंका के उन्हें पलंग पर से उतार लिया। गोदी में लेकर विष के लेप से लिप्त स्तनों को कृष्ण के मुख में जोर से डाल दिया। तब कृष्ण ने जोर लगाकर, खींच कर दूध पीने के बहाने उस राक्षसी के प्राणों को भी पी लिया। वह बड़ा भारी शोर करके घृणामय और भयानक रूप धारण करके मर गई। उसे मरी पड़ी देखकर भी देवकी के पुत्र कृष्ण ही उसकी छाती पर खेलते रहे। देव कहते हैं, सारे ब्रज में किस का बालक नहीं डरा, उस पूतना का रूप देख कर सारा ब्रजमण्डल अर्थात् सम्पूर्ण ब्रजवासियों का समूह भय के मारे चिल्ला उठा।

इसमें भय और रौद्र दोनों का वर्णन किया है। वास्तव में दोनों की पुष्टि इस उदाहरण से होती नहीं है। यह आरभटी वृत्ति का उदाहरण है।

सात्वती—

रिखि मख राखन, अखय धनु सायकनि,
आइ कै असुर-बसुर-नायक सुभंकरन,
तारन अहिल्या, उरसल्य और सूरन के
तोरन पिनाक-भृगुपति निरहंकरन।
बंधन पयोधि, दसकन्ध-रिपु, दीनबन्धु
अधम उधारन भयंकर-भयंकर,
पावक के अङ्क सोधि सिय के कलंक, आये
लंक-रन जीति रघु-बंस के अलंकरन॥

अर्थ—श्री राम के पुरुषार्थ का वर्णन है। ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के वाले, पृथ्वी पर अवतार लेकर अक्षय वाणों और धनुष से राक्षसों और देवताओं के स्वामियों का कल्याण करने वाले (राक्षसों को मुक्ति देकर एवं देवताओं का दुःख हरने वाले) अहिल्या के उद्धारक, शत्रुपक्षीय वीरों के हृदय के कांटे अर्थात् उनके हृदयों में जिनका भय सदा बना रहता है, शंकर के धनुष को तोड़ने और परशुराम के अहंकार को मिटाने वाले, समुद्र पर पुल बांधने वाले और रावण के शत्रु, दीन दुःखियों के सहायक, पापियों का उद्धार करने वाले और संसार को भय पहुँचाने वाले दुष्टों के लिये भयानक अर्थात् उनके नाशक ऐसे रघुवंश के भूषण राम लंका को जीतकर; सीता का रावण गृह में रहने का कलंक अग्नि में शुद्ध करके अर्थात् अग्नि- परीक्षा से सीता को शुद्ध सिद्ध करके अयोध्या लौट आये।

इसमें राम का पुरुषार्थ का वर्णन होने से उत्साह स्थायी भाव के कारण वीर रस है, उसके अनुकूल रचना हुई है। अतः यह सात्वती वृत्ति का उदाहरण है।

प्रश्न—देव कवि ने शृङ्गार रस के जो भेद किये हैं, उनके उपकरण आदि का उदाहरण सहित संक्षिप्त वर्णन करो।

उत्तर—देव कवि ने रसों का विचार करते हुए एक रस के लिये पांच

तत्त्व आवश्यक माने हैं—१. स्थायी भाव, २. विभाव, ३. अनुभाव, ४. सात्त्विक भाव, ५. संचारी भाव। नौ रस काव्य में और शान्त को छोड़कर आठ रस नाटक में बताये हैं। नायक-नायिका के शृंगार को वे साक्षात् प्रकृति और पुरुष का शृंगार मानकर सृष्टि का मूल मानते हैं। सोने बने कंकन में मणियां जटिल होने से अनेक वस्तु होने पर भी जैसे एक ही कंगन की सत्ता मानी जाती है, इसी प्रकार आठों अन्य रसों से पोषित शृंगार ही रसराज है।

शृंगार के दो भेद हैं, संयोग और वियोग। संयोग शृंगार अंगी है, उसके साथ हास्य, वीर और अद्भुत रस अंग होते हैं। वियोग के अंग करुण, भयानक और रौद्र होते हैं। शान्त और बीभत्स दोनों में ही हो सकते हैं।

इसके पश्चात् रस को प्रकट करने वाले शब्दों और पात्रों के वाचक-वाच्य, लक्षक-लक्ष्य और व्यंजक-व्यंग्य तीन भेद माने हैं। शृंगार के मुख्य-तत्त्व नायक और नायिका होते हैं।

वाचक शब्दों के विषय—शुद्धा अथवा मुग्ध स्वभाव वाली स्वकीया नायिका, अनुकूल नायक, विद्या और भूषण रचना आदि की गुरु-सखी, पीठि-मर्द जो कि नर्म अर्थात् प्रणय व्यापार में परामर्श देता है, दूती, धाय जो कि कुलधर्म का उपदेश दे।

लाक्षणिक पात्र—

गर्वीले स्वभाव की स्वकीया नायिका, दक्षिण नायक, दीठ सखी, नर्म-सचिव विदूषक, मालिन या नाइन दूती होती हैं जो कि प्रिय के वशीकरण का उपदेश देती हैं।

व्यंजक पात्र—

परकीया नायिका, शठ या धूर्त पात्र, उपपति नायक होता है, नर्म सचिव विदूषक विट होता है, नगर की स्त्री (कुटनी) जो नीच जाति की ही दूती होती है, निन्दित कर्म (परपुरुष गमन) का उपदेश देती है। वे व्यंग्य

द्वारा शृंगार का बोध कराते हैं। व्यंग्य काव्य को देव नीच मानते हैं, अतः परकीया विषयक शृंगार को व्यंग्य बताया है।

स्वकीया नायिका और अनुकूल नायक होने पर लज्जा, धैर्य, निर्वेद, मति, चिन्ता, स्मृति, मूर्छा, निद्रा, स्वप्न आदि संचारी होते हैं। आंसू, स्वेद, वैवर्ण्य, सात्त्विक अनुभाव हैं। वीणा की ध्वनि, सुन्दर पुष्पों की गन्ध, प्रेम-भरे वचन उद्दीपन विभाव हैं। मन्द मुस्कान, लजायुक्त नेत्र अर्थात् देखने की इच्छा के साथ जिनमें लज्जा भी हो, छोटे और मधुर वचन बोलना, प्रिय का आदर करना ये स्वकीया नायिका के जो मामिनी न हो अनुभाव होते हैं।

गर्वीली स्वकीया नायिका के लाक्षणिक शब्द होते हैं, उसका नायक प्रायः दक्षिण नायक होता है जो कि अनेक नायिकाओं से प्रेम रखता हुआ भी सभी को निभाता है। उसके चन्दन का लेप, उदित पूर्णचन्द्र, उबटना या मद्य आदि की सुगन्ध तथा आभूषण उद्दीपन होते हैं। सीधी नायक से हंसी, सखियों से हंसना, दूत भेजना, तिरछी दृष्टि से देखना, उलाहने देना ये अनुभाव होते हैं। ग्लानि, असूया, अपस्मार, मोह, श्रम, अवसाद या खेद, मूर्छा, संचारी होते हैं। रोमांच, स्वर भंग सात्त्विक भाव होते हैं।

मुद्धा परकीया का नायक शठ या धृष्ठ होता है। वह नायिका गुप्त चरित्र वाली होती है, व्यंजक शब्दों व्यापार को प्रकट करती है, भय, किसी उत्सव अंधेरी या उजाली रात्रि में अभिसार या रोग के बहाने गुप्त संकेत भेज कर नायक से मिलती है। उसकी दृष्टि स्थिर या चंचल न होकर प्रिय में लगी रहे, कर्म भी करती रहे, अंगड़ाइयाँ लेना, उंगली ओठों पर लगाना आदि अनुभाव होते हैं, स्तम्भ अर्थात् अङ्गों का रुक जाना, कंप-कंपी, शरीर में दैन्य, मद, भय, चपलता, तर्क, उत्कण्ठा, अवहित्था, उन्माद और व्याधि संचारी भाव होते हैं।

इसके पश्चात् आयु के भेद से तेरह और अवस्था भेद से वास कसज्जा, प्रोषितभर्तृका आदि आठ भेद नायिकाओं के होते हैं। उनके भी स्वकीया और परकीया दो भेद होते हैं।

उदाहरण—

साजे दल रुक्मी, अकेलो रुक्मनी पति,
रोकिवो को राकसनि सांक गुन गाये हैं,
भूप अखंड पाखंड प्रचण्डन पै
चण्डकर मण्डन ज्यों तनाए हैं,
क्रोधछकि, जैकरि बिजै करि क बाम सों
बिलास अद्भुत हास्य साहस जनाए हैं।
देव वरदायक, सहायक हमारे, पंच,
सायक तुम्हारे दृग लायक बनाये हैं।

अर्थ—जब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। उस समय शिशुपाल आदि के साथ उनका युद्ध हुआ था। उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि रुक्मी (रुक्मिणी का भाई) सेना सजाए हुए था रुक्मिणी के पति भगवान् श्रीकृष्ण अकेले थे। राक्षणों अर्थात् शिशुपाल आदि का सामना करने के लिए शार्ङ्ग धनुष पर उन्होंने प्रत्यञ्चा चढ़ा ली है, सम्पूर्णप्रचण्ड बल वाले उन दुष्ट राजाओं को मारने के लिये सूर्य के मंडल के समान तेजस्वी धनुष संभाले हुए हैं। क्रोधपूर्वक मन लगा कर युद्ध करके और शत्रुओं पर विजय पाकर अपने पुरुषार्थ से अपूर्व विकास हास्य, अद्भुत अर्थात् आश्चर्य और साहस को प्रकट किया है। इस प्रकार विजय पाकर वे हँसी में वामा अर्थात् रुक्मिणी से परिहास करते हुए कहते हैं कि हमारी सहायता रूप वरदान देने वाले भगवान् कामदेव ने तुम्हारे नेत्रों को हमारी सहायता के लिये बाण बनाया है। अर्थात् ये शत्रु हमारे बाणों से परजित नहीं हुए, बल्कि कामदेव ने तुम्हारे नेत्रों को तीर बना दिया और उनकी मारे से ये लोग मारे गये हैं।

इसमें श्रीकृष्ण का रुक्मिणी के प्रति शृंगार भाव प्रधान है; शिशुपाल आदि शत्रुओं पर विजय पाना वीर रस का बोध कराता है, वह रुक्मिणी की प्राप्ति का सहायक होने से शृंगार का अंग है। एकाकी होकर इतने शत्रुओं पर विजय पाना अद्भुत का विषय है। रुक्मिणी से किया गया परिहास भी शृङ्गार का ही अंग है।

प्रान सों प्रान पति सों निरन्तर सोहत अन्तर पारत हेरी।
'देव' कहा कहौं बाहरे हू, घर बाहरे हू रहै भौंह तरेरी।
लाज न लागत लाज अहै तुहि जानी मैं आजु अकाजनि ऐरी,
देखति दे हरि को भरि दीठि, घरी किन एक सरीकिन मेरी॥

अर्थ—स्वकीया नायिका है, दूसरी उसकी साथिन सदा उसका पीछा किया करती है कि कृष्ण से भेंट न करने पाए। उसे नायिका कहती है कि प्राणों और प्राणों के स्वामी प्रियतम से कभी बीचा किया जा सकता है और वह क्या अच्छा लग सकता है। जब वे प्राणों के स्वामी हैं तो इन्हें हर घड़ी उन्हीं के समीप रहना चाहिए, परन्तु इन्हें उनसे दूर रखना चाहती है, यह क्या उचित और सम्भव है। तू क्या घर में और क्या बाहर भौंहें चढ़ाये रहती है। घर में तो देखने देती ही नहीं, बाहर कहीं एक-आध बार दृष्टि डालकर देख लूँ, तो वहाँ भी चौकसी में लगी रहती है। मुझे तो लज्जा नहीं लगती और तुझे अवश्य लज्जा लगती है, जो तू मुझे इस प्रकार तंग करती है। मैंने आज जाना कि तू ही मेरा सारा काम बिगाड़ने वाली है। तू मुझे एक घड़ी आँख भरकर हरि को देख क्यों नहीं लेने देती ?

यहाँ इन शब्दों से सीधे ढंग से नायिका ने उत्कण्ठा भाव को प्रकट किया है—

अनुकूल नायक का उदाहरण देते हैं। अनुकूल नायक वह है जो केवल अपनी स्त्री से अनुराग रखता है।

पीछे पीछे डोलत है, सामु हैं ह्वै बोलत है,
खोलत है घूँघट, सु प्रानन पुखोत है,
पग पग मग में बिछाय प्रेम पांवड़े से,
धोखे हू न भूल्यो, देखा देखी से धुखोत है।
देव सखियान की स्यराई अँखियान देखि,
देखि निसि दिन अनदेखे न दुखोत है।
इन्दु बदनी के इन्दु-इन्दु से बदन, श्रम,
बिन्दुन गोविन्द अरविन्द न सुखोत है॥

अर्थ—श्रीकृष्ण नायिका राधा के पीछे-पीछे घूमते हैं, उसके बिना एक घड़ी नहीं रह सकते, सामने आकर प्रणय वचन कहते हैं, उसका घूँघट खोल कर अर्थात् घूँघट में छिपा मुख देखकर प्राणों को पुष्ट करते हैं। रास्ते में जहाँ-जहाँ राधा पैर रखती है, दृष्टि इस प्रकार लगा देते हैं, जैसे प्रेम के पांवड़े बिछा दिये हों, ऐसा करना तो वे धोखे में भी नहीं भूलते अर्थात् उसके चरणों पर ही दृष्टि लगी रहती है। जहां दोनों की दृष्टि मिलती है; वहीं धोखा खा जाते हैं अर्थात् अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। सखियों की (श्रीकृष्ण को देखकर) शीतल होती अर्थात् अनुराग भरी दृष्टि रात-दिन देखते हुए भी या न देखने से कुछ दुःख का अनुभव नहीं करते। इससे उनके प्रति सर्वथा अनुराग का अभाव और नायिका के प्रति अतिशय अनुराग की सूचना मिलती है। चन्द्रमुखी राधा के अनेकों निर्मल चन्द्रमाओं जैसे मुख को देख कर भी गोविन्द रूपी कमल पसीने की बूंदों से सूखते नहीं। चन्द्रमा के कारण कमल सूख जाना चाहिये पर यहाँ नहीं सूखता, अतः रूपकमूलक विशेषोक्ति है।

यहां श्रीकृष्ण का सखियों की अनुराग भरी दृष्टि देखकर भी उससे प्रभावित न होना और राधा को देखे बिना क्षण भर न रह सकना, उनके अनुकूल नायकत्व को सिद्ध करता है।

गर्वस्वभावा स्वकीया का उदाहरण

कोमल बानि, बड़ेन की कानि, हरै मुसुकानि, सनेह सनी की,
सील सलोनी, सचित्त चितौनि, चितै ललचौनि लुनाई बनी की।
सेज पै सौति करेजनि साल, मनोज के ओज मजेज मनी की,
'देव' जु आपनो जोवन रूप धरोहरि सों धन राखे धनी की॥

अर्थ—अपने रूप और यौवन के गर्व के वशीभूत किसी नायिका का वर्णन करता है कि उसकी वाणी भी कोमल या मधुर है। गुरु जनों की भी मर्यादा रखती है, उनसे लज्जा करती है। प्रेम में सनी अर्थात् मग्न उस नायिका की मीठी हँसी मन को हर लेने वाली है। बड़े सुन्दर शील स्वभाव

वाली और लावण्ययुक्त उसकी भावनापूर्ण चितवन जो कि स्वाभाविक है, उसमें कृत्रिमता नहीं है, वह देखने वालों के हृदय को ललचाने वाली है, जब वह पति के साथ शय्या पर सोती है अर्थात् प्रिय को भी उसी से अधिक प्रेम है, इस प्रकार प्रिय के समागम के कारण वह सौत के हृदय में खटकती रहती हैं. काम के आवेश या मद के कारण मद में भी उसको अभिमान है। तात्पर्य यह है कि काम के मन से मतवाली है। देव कवि कहते हैं कि हे सुन्दरि ! तुम अपने यौवन और रूप को धनी—स्वामी की धरोहर या थाती (अमानत) के समान सुरक्षित रखो।

यहाँ रूप शील, और यौवन के कारण तथा पति का प्रेम पाने से नायिका का गर्व दिखया है।

अब दक्षिण नायक का उदाहरण देते हैं :—

कौन भांति रहबौं ? अनेकन सों एक बार,
सरस्यौ परस्पर, परस्यौ न पियो पै।
केतिक नवेली, वन बेलिन सों केलि करि,
संगम अकेली करि, काहू सों न कियो तैं।
भरि भरि भांवरि, निछावरि ह्वै और और,
अधिक अधीर ह्वै, अधर अली पियो तैं॥
'देव' सब ही को सनमान अति नीके करि,
ह्वै के पतिनी को, पति नीको रस लियो तैं।

अर्थ—बहुपत्नीवल्लभ नायक का वर्णन करता हुआ भ्रमर को कह रहा है कि हे भ्रमर ! कब भला तूने किस प्रकार एक साथ अनेक प्रेमिकाओं के साथ प्यार किया। परस्पर प्रेम करके दूसरी का स्पर्श नहीं किया। अर्थात् एक से ही प्रेम कब करने पाया ? कितनी नवविकसित वन की लताओं के साथ क्रीड़ा या रमन करके और किसे अकेली देखकर उससे तूने समागम या विहार नहीं किया ? तू किस पर नहीं रीझा। चारों ओर मंडराने के रूप में भांवरे (फेरे) भर-भर कर और उन पर न्यौछावर होकर वेदना से विकल और अधिक विह्वल होकर तूने अनेक कलियों के अधर या होटों का रस पिया, चुम्बन किया, इस प्रकार हे पते ! हे अनेक पत्नियों के प्रिय ! तूने सभी

पत्नियों का भली प्रकार आदर करके उनका रस पिया और उनके समागम का आनन्द लिया ।

इसमें भ्रमर और लताओ के पुलिंग-स्त्रीलिंग विशेषण के कारण किसी अनेक पत्नियों के साथ समान व्यवहार करने वाले नायक के व्यवहार की प्रतीति होने से समासोक्ति अलंकार है । यदि भ्रमर को अप्रस्तुत मान कर किसी प्रस्तुत नायक की प्रतीति स्वीकार करें तो अप्रस्तुत प्रशंसा बनती है । दोनों का सन्देह होने से सन्देह संकर है ।

परिवार की वधू द्वारा दूती कर्म का उदाहरण :—

कुंजनि के कोरै मन केलि रस चोरै लाल,
तालन के खोरै, बाल आवत है नित को ।
अमृत निचोरै कल बोलनि, निहोरै नेक,
सिखन के ढोरै 'व' हेरै जित तित को;
थोरे थोरे जोबन बिथोरे देत रूप रासि,
गोरे मुख भोरे, हँसि जोरे लेत हित को ।
तोरे लेत रति-दुति, मोरे लेत गति-मति,
छोरे लेत लोक लाज, चोरे लेत चित को ।

अर्थ—नायक को समागम के लिये नायिका के पास भेजने की इच्छा दूती नायक को कहती है कि हे प्रिय ! वह बाला, अर्थात् यौवन में पदार्पण करती हुई रमणी कुञ्जों के किनारे-किनारे क्रीड़ा अर्थात् समागम के आनन्द के लिये मन को चुराती अर्थात् लुभाती है । वैसा ही तो कुञ्जों का प्रदेश, उसके बीच इधर-उधर उसका विहार मन को समागम के लिये उत्सुक कर देता है, इस में न कह कर कुञ्जों के किनारे अथवा क्रोड़ का कोर लिया जाय तो कुञ्जों का मध्य ही अर्थ होगा, इस से एकान्त होने के कारण समागम के उपयुक्त स्थान हैं, यह सूचित किया है । वह बाला ताल के नीले-नीले वृक्षों के पास नित्य आया करती है, अर्थात् तुम्हारे मिलन की उत्सुकता में वहाँ आती है, ताल के पेड़ों की सघनता के कारण वहाँ अन्धकार रहता है । मधुर वचनों के कारण अमृत सा बरसाती है, सखियों के थोड़े भी निहोरे अर्थात् अनुरोध से जिधर-जिधर भी देखती है, डोरे से डालती है, दृष्टि की

परम्परा बंध जाती है' अर्थात् चंचल दृष्टि से इधर उधर खोजा करती है। थोड़े-थोड़े विकसित अर्थात् पूर्ण रूप से अविकसित स्तनों से युक्त वह चारों ओर रूप की राशि बखेर रही है; गोरे रंग के मुख से भून कर अर्थात् यों ही देखने से भी प्रेम के तन्तु जोड़ देती है, अर्थात् प्रेम उत्पन्न कर देती है। वह अपने सौन्दर्य से रति (काम की पत्नि) की कान्ति को फीकी कर रही है, सुध-बुध को भुलाये देती है; यौवन के मद से उन्मत्त होकर लोक-लज्जा अर्थात् लोक-मर्यादा को (मदावेश में अंगों के खुले जाने से) छोड़ देती है और हृदय को चुराये लेती है। इस प्रकार नायिका की कामप्रवणता को दिखा कर नायिक को उसकी ओर आकृष्ट कर रही है।

गुण

देव कवि ने काव्य की दस रीति मानी हैं जो कि अन्य आचार्यों के विचार से गुण हैं। इन में नवीन आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण माने हैं। शेष में श्लेष आदि कुछ गुणों का या तो अन्तर्भाव कर दिया है या दोषों के निराकरण से उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को अनावश्यक माना है। इन गुणों से ही रीतियां बनती हैं। इन गुणों को भी कवि ने नागर और ग्रामीण दो-दो भागों में बांटा है। ये गुण इस प्रकार हैं:—

श्लेष—शब्दों की ऐसी संगठित रचना जिस में अनेक अर्थ निकले।

प्रसाद—शब्दों से तुरन्त अर्थ का ज्ञान होना।

समता—आदि से अन्त तक शैली का समान होना।

माधुर्य—शब्द और अर्थ की मधुरता।

सुकुमार—कोमल वर्णों से मधुर अर्थों का बोध हो, ललित रचना हो।

अर्थव्यक्ति—शब्द सुनते ही ज्ञान होना।

समाधि—अनेक वस्तुओं के सार का अलौकिक रूप से अन्यत्र वर्णन।

कान्ति—लौकिक अर्थ से अधिक चमत्कारक अर्थ का ज्ञान होना।

ओज—प्रौढ़ रचना, अर्थों में गाम्भीर्य, समस्त शब्द, वर्णों का संगठन।

उदारता—ओज का आवेग कम करने वाली हर्षदायक रचना।

इन दस गुणों से युक्त कविता उत्तम होती है। नागर गुणों वाली रचना उत्तम होती है।

इन में माधुर्य का उदाहरण विस्मय के स्थायी भाव में दिया गया है। किसी भी पद्य में सरलता होने से प्रसाद गुण बनता है। ओज का उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

अनौण, छत्र ऊपर, मंडित मनि नूपुर, ज्यों,
भूप रूप भूपर, सरोज को जु फंदतु:
जुहारै जिन्हें इन्द्रानी, सुजस बरनै बानी,
कहानी जिनकी कहि, कहौ सु को न नन्दतु।
बिरंचि औ महेस, उमा है सु जिन्हें ध्यावत,
गनेस गुन गावत, सुरेस, सेस छंदतु;
त्रिलोक ठकुरानी, महाराज राम रानी श्री,
जनक नन्दिनी के हौं सुन्दर पद बन्दतु।

अर्थ—जिन चरणों पर मणि मण्डित नूपुर के सहित अनौठ नाम का आभूषण छत्र के समान है, जो कि पृथ्वी पर राजा का रूप लिये हुए हैं, जो कमल को फ़ंदे में डालने वाले अर्थात् उनका तिरस्कार करने वाले हैं, इन्द्राणी जिन को जुहार या राजकीय नमस्कार करती हैं, सरस्वती रस गान करती है, जिनकी कथा को कह-कह कर किस व्यक्ति को आनन्द नहीं होता ? यहाँ 'कोन' को पृथक् पृथक् और 'को न' रखना चाहिए। अन्यथा अनर्थ होता है कि उनकी कथा को सुनकर किसे आनन्द होता है। अस्तु, ब्रह्मा शंकर और पार्वती जिनका ध्यान करते हैं, गनेश उनके गुण गाता है, इन्द्र और शेष उनके गीत गाते हैं; तीनों लोकों की स्वामिनी, महाराज रामचन्द्र जी की रानी श्री जनक कुमारी सीता के सुन्दर चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

प्रश्न—शब्दालंकार या चित्र काव्य किसे कहते हैं ? देव के अनुसार उनका परिचय दीजिये।

उत्तर—जिन में कोई उत्कृष्ट अर्थ तो नहीं मिलता, वर्णों की योजना चमत्कारपूर्ण रीति से होती है, वे शब्दालंकार कहे जाते हैं। चित्र काव्य भी शब्द-चमत्कारमूलक हैं। उन में अनुप्रास और यमक से अनेक चित्र रचनाएं होती हैं। वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास कही जाती है। जब वे ही शब्द विभिन्न अर्थ लिये अनेक स्थानों पर दोहराये जायें तब तब यमक होता है। शब्दों की आवृत्ति आगे-पीछे होने से यमक के कई भेद होते हैं। चित्र-काव्य में गूढ़ार्थ चित्र, प्रकटार्थ चित्र, वैराग्य रस चित्र, कामधेनु काव्य सर्वतोभद्र, एकाक्षरी काव्य, अनुलोम-विलोम, गतागत आदि अनेक भेद हैं। इन में कामधेनु काव्य बहुत दुष्कर होता है। सर्वतोभद्र गोमूत्रिका बन्ध के द्वारा बनता है। इसकी लेखनशैली नीचे लिखी है :—

व	आ	व	ति	है	नि	त	तं	त	नि	को	दु	ख	घा	इ	क	छी	न	नि	के	चि	त	ही	के
	भा		ति		म	ति	मं		न		मु	ख	जा		के	बी	न	नि		नि	त	ही	
व	छा	व	ति	है	र	ति	कं	त	नि	के	जु	ष	पा	इ	के	पी	न	नि	के	वि	न	ती	के
	भा		ति		अ	ति	सं		न		सु	ख	दा		क	दी	न	न		हि	त	ही	

अनुलोम विलोम का अर्थ है सीधा और उलटा। अर्थात् पद्य को सीधा बढ़ाया जाय तो और अर्थ निकलता है। और उलटा पढ़ने से दूसरा पद्य बन जाता है। गतागत में एक चरण के अर्ध भाग में जो वर्ण कहे हों, उन्हीं को विपरीत क्रम से पुनः पढ़ा जाता है। इन रचनाओं में चमत्कारपूर्ण अर्थ नहीं होता।

अर्थालंकार

अर्थालंकार कवि ने मुख्य और गौण दो प्रकार के माने हैं। इन में पहले चालीस प्रकार के हैं और गौण तीस। इन अर्थालंकारों में स्वभाव या स्वभावोक्ति और उपमा मुख्य हैं। देवभावोक्ति में वस्तु का रूप, स्वभाविक चेष्टा प्रवृत्तियों आदि का वर्णन होता है। अन्य आचार्यों के अनन्वय, निश्चय आदि अलंकारों का अन्तर्भाव उपमा में किया है। इनके अतिरिक्त रूपक, दीपक, आवृत्ति, परिवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्या, निदर्शना व्यतिरेक' विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, पर्यायोक्ति' वक्रोक्ति 'अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार प्रमुख हैं।

गौण कलंकारों में अतद्गुण, प्रयत्नीक, सार एकावली आदि अलंकार हैं।

उदाहरण—

इन्दु के फंद फंदे बिबि खंजन, इन्दु उवै सुर डारन दूपर,
ते सुर डार फलै बिबि श्रीफल, श्रीफल कंचन पेलि तरू पर।
तौ तुव आनन, नैननि और भूजान, उरोज, उरूनि दुहूँ पर,
देव कहौं उपमा इनकी न तो सी सुरासुर लोक न भू पर॥

अर्थ—यदि चन्द्रमा में दो खञ्जन पक्षी प्रकट हों, अथवा चन्द्रमा बिम्ब रूपी जाल में दो खंजन पक्षी फंस जायें, वह चन्द्रमा कल्पवृक्ष की डालियों पर उगे' उस कल्पवृक्ष की शाखाओं पर दो नारियल उत्पन्न हों, वे श्रीफल भी सोने की लता पर स्थित हो, देव कवि कहते हैं कि हे सुन्दरि! तब मैं तेरे मुख, नेत्र, भुजा, और जंघाओं की उपमा दे सकता हूँ। तेरे सदृश सुन्दरी देव लोक (स्वर्ग) दैत्य लोक अर्थात् दैत्य, समाज या

दत्य लोक (पाताल) में तथा इस पृथ्वी पर नहीं है। इन वस्तुओं के होने पर उपमा देने को कहता है। इनका होना ही असम्भव है। अतः इन अंगों का उपमान भी संसार में दुर्लभ है, जिस से इनकी तुलना की जाय। चन्द्रमा से मुख की, कल्प वृक्ष की शाखाओं से भुजाओं की, श्रीफलों से स्तनों की, सुवर्णलता से जंघाओं की तुलना इष्ट है।

प्राचीन आचार्यों ने इस को असम्बन्धतशयोक्ति के रूप में माना है। देव कवि उसे एक प्रकार की उपमा मानते हैं।

स्वास सुगन्ध, सरोज मुखो, दृग भौंरन, पीत सुधाधरवल्ली,
बाहु लता कर पल्लव औ, पद कंज, पवित्र करो ब्रज गल्ली।
बीच फली कुच कंचन श्रीफल, संग लिये ललिता मदनल्ली,
जंगम अंगन रंग रंगी वृषभानु के भौन लसै सुर बल्ली॥

अर्थ—कवि राधिका को कल्प वृक्ष की लता बता रहा है, निःश्वास ही जिसकी सुगन्ध है, मुख ही कमल हैं। नेत्र रूपी भौंरों से पिये गये अमृत युक्त अधर ही किसलय वाली अर्थात् जिस के नेत्र ही भ्रमर है, अमृत युक्त अधर ही किसल हैं, बांहें लता हैं, हाथ नई कोंपलें हैं; चरण रूपी कमलों से जिसने ब्रज की सारी गलियां पवित्र कर दी हैं। उस लता में स्तन रूपी सुनहले नारियल के फल लगे हुए हैं। चोली फली है। फल कुछ वृक्षों में फली के भीतर लगते हैं। साथ में उसने ललिता सखी रूपिणी कोमल मल्लिका (एक श्वेत पुष्प वाली लता) ली है, श्री वृष ? भानु के भवन में इस प्रकार की चलते-फिरते अंगों वाली प्रेम के रंग में रंगी हुई कल्पवृक्ष की लता शोभा देती हैं।

इस में कवि ने सांग रूपक बांधने का प्रयास किया है जो कि सफल नहीं है। क्योंकि नायिका को कल्पवृक्ष की लता बनाया है, लता में कमल नहीं लगते, बांहों को लता माना है, ये दोनों आरोप संगत नहीं हैं। कल्पवृक्ष की लता में पुनः श्रीफल सम्भव नहीं है। कवि के विचार से अन्य आरोपों के शाब्द होने से और स्वयं उपमेय राधा का उल्लेख न करने से एकदेशविवर्ति रूपक है।

भू पर कमल जुग, ऊपर कनक खम्भ
ब्रह्म की सी गति मध्य, सूच्छम निदीवर,
तापर अनूप रूप कूप की तरंगैं जहाँ,
श्रीफल जुगुल माल, मिलित मिलन्दीवर,
'देव' तरु बल्ली जिवि डोलतीं सपल्लव प्रकाश-
पुंज तामैं, जगमग जोति दिदीवर,
इन्दिरा के मन्दिर मैं उदित अनन्द इन्दु
आनन उदित इन्दु-मंदिर मैं इन्दीवर।

अर्थ—राधिका के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है कि अद्भुत बात है कि पृथ्वी पर दो कमल हैं, उन कमलों पर दो सुवर्ण स्तम्भ हैं, उनके बीच में ब्रह्मा या विधाता की गति अर्थात् महिमा के समान अज्ञेय वस्तु हैं; सूक्ष्म अर्थात अदृश्य नदी है, जैसे विधाता क्या करने वाली है, यह कोई नहीं जानता, इसी प्रकार वह नदी भी दुर्ज्ञेय है। उस नदी के ऊपर अनुपम रूप कुएं की लहरें लहराती हैं; कुएं पर भी दो श्रीफल या नारियल हैं, जो कि भ्रमरों से युक्त हैं। देव कवि कहते हैं कि वहाँ पर दो लताएँ हिलती रहती हैं जिन पर कि कोंपलें लगी हुई हैं। जिन पर प्रकाश का समूह है जिसमें कि सुन्दर माथे की एक बिन्दी सी भासित हो रही है। इस प्रकार लक्ष्मी के भवन-कमल में पूर्णचन्द्र उदित है और उस मुख रूप चन्द्र मण्डल में नील-कमल उदित हैं। यहां कमल से चरणों का ग्रहण है सुवर्ण के खम्भों से जंघाओं का ज्ञान होता; ब्रह्मा की गति सेनायिका की कमर का ज्ञान लिया जाता है। सूक्ष्म नदी से हलकी रोमावली का ग्रहण है जो नाभि से आरम्भ हो कर नीचे की ओर जाती है। रूप के कूप से तात्पर्य है नाभि और तरंगों से पेट पर पड़ने वाली त्रिवली ली जाती है। श्रीफलों से स्तन लिये जाते हैं, उनमें भ्रमर से चुचूक (स्तनों के काला-काला मुख टुन-टुना) का अर्थ लेते हैं, दो लताओं से भुजा, पल्लवों से करतल, प्रकाश पुंज से चेहरे की कान्ति, बिन्दी से तिलक का अभिप्राय है। कमल से तात्पर्य है सम्पूर्ण मुख मण्डल, उसमें पूर्णचन्द्र मुख के लिए है उसके बीच में नील

कमल से नेत्रों का भान होता है। इस प्रकार उपमानों से उपमेयों का निगरण होने से रूपकातिश्योक्ति अलंकार है। कमल में चन्द्रमा और चन्द्रमा में नील कमल का जन्म विशेषोक्ति बनाता है। उपमा भी है।

पिंगल खण्ड

पिंगल भाग में कवि ने वर्णच्छन्द और मालाच्छन्द दोनों प्रकार के छन्द गिनाये हैं। पहले गुरु, लघु, आठों गुण वर्णों का शुभाशुभत्व निर्णय, गण मैत्री आदि का निरूपण किया है। पुनः वर्णवृत्त के गद्य, और दण्डक तीन भेद किये हैं। गद्य वह है जिसमें अनुप्रास अलंकार का ध्यान रखते हुए वाक्य-क्रम से चरणों में विभाग किये बिना रचना की जाती है। इसके भी वृत्त गद्य, चूर्णिका, उत्कलिका ये तीन भेद हैं। पद्य वे हैं जिनके एक चरण में एक से लेकर ग्यारह तक गण हों। एक चरण में एक अक्षर से लेकर छब्बीस अक्षर पर्यन्त वाले छब्बीस जातियों के वर्ण छन्द हैं। इनसे अधिक वर्ण वाले वृत्तदण्ड कहे जाते हैं जो कि अनन्त हैं।

कवि देव ने छन्दों का निरूपण बड़े विचित्र प्रकार से किया है। एक से गणों से बनने वाले छन्दों को एक साथ दे दिया है। उनकी वर्ण संख्या और क्रम का विचार न करके एक छन्द को दुगुना, तिगुना करके अन्य छन्द का लक्षण दे दिया है।

इन्होंने इस प्रकार छन्द गिनाये हैं—

एक मगण से नाड़ी, नाड़ी के साथ दो गुरु और लगाने से कन्या बनता है नाड़ी और कन्या से विद्युन्माला बनता है। इसी प्रकार एक नगण से मति, साथ एक लघु और जोड़ने से सुमति, उसे दुगुना से रति बन जाता है। भगण से भारति, उस में गुरु लगाने से शोभा, उसे दुगुना करने से सती छन्द हो जाता है।

एक भगण से माया, दो से सोमराजी चार से भुजंगप्रयात होता है। एक जग से विनोद, दो से प्रमोद, दो विनोद और एक प्रमोद से कमोद, कमोद प्रमोद से विलास बन जाता है।

इस प्रकार एक गण से बनने वाले छन्दों को कवि ने एक स्थान पर देना चाहा है।

एक बात और है कि कहीं उदाहरण के आदि के चरण में वर्णों के संकेत से लक्षण दिया है, कहीं अन्त में और कहीं उदाहरण से ही लक्षण समझने का संकेत दिया है।

जैसे—'द्रुत विलम्बित ह्वै नभ भू रच्यो'

इसमें न, भ, भ, र ये चार वर्ण आदि में लक्षण के संकेत हैं।

निजजुर को नहिं मालती हरै।

इस अन्तिम चरण में निजजुर का तात्पर्य नगण, २ जगण और रगण से है।

उपेन्द्रवज्रा मुख लूक लावै, उपेन्द्रवज्रा बरधाम पावै।
महाबली रच्छस पच्छ मारै, सुगोपिका मंडल मैं विराजै॥

इन चारों चरणों में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण कहीं नहीं है। केवल दो चरणों में छन्द का नाम है।

कहीं पर लक्षण और उदाहरण अशुद्ध हैं।

लक्षण—सुमुखी तिलका मिलि तोटक है। चार सगण से तोटक बनता है। एक सगण से सुमुखी और दो से तिलका छन्द बनता है। इन दोनों को मिलाकर तीन सगण ही बनते हैं।

पद्यों के अर्थ

सुनि कै धुनि चातक मोरन की चहुं ओरन कोकिन कूकनि सों,
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागन राग अचूकनि सों,
कवि देव घटा उनई जु नई नव भूमि भई दल दूकन सों,
रंग राति हहराति लता, झुकि जाति समीर के झूकनि सों।

अर्थ—उद्दीपन विभाग का वर्णन है। एक सखी नायिका को कह रही है कि हे सखी, चातक और मोरों की ध्वनि तथा चारों ओर होती कोयलों की कूक सुनकर श्रीकृष्ण बाग में अचूक प्रभाव वाली रागनियाँ सुनते हुए अत्यन्त प्रेम में भरे बैठे हैं। इस समय उनका हृदय प्रेम से बहुत ही उत्कण्ठित हो रहा है। आकाश में नवीन नीले मेघों की उमड़ी हुई घटा चारों ओर से घिर आई है। वन की भूमि पत्तों से छा गई है, वह कण्ठकित सी हो रही है। हरी-हरी लतायें प्रफुल्लित होकर हिल रही हैं। वायु के झोंके खा खाकर नीचे की ओर झुकी जा रही हैं। श्रीकृष्ण का बाग में अनुरक्त होकर बैठना, सखी का अपनी सहेली या नायिका को इस बात [illegible] सूचना देना, नायिका को संकेत स्थान की ओर आने के लिये आमन्त्रण [illegible] से व्यंजना करता है। बाग में मोर, चातक आदि की ध्वनि और स्वयं उपवन में

का स्थान, ये हेतु उस भूमि को विहार के योग्य ध्वनित करते हैं, आकाश में नीले-नीले बादलों की घटा का उमड़ना तथा वन भूमि का पत्तों और घास से छाया होना, वहाँ की रमणीयता द्वारा नायिका को भी संकेत स्थल की ओर चलने के लिये उत्सुक करता है। उसके लिये उद्दीपन का कार्य कर रहा है। इसके साथ-साथ आकाश में बादलों की नीली घटा का उमड़ना सूचित करता है कि इस समय सब लोग घर की ओर चले गये होंगे। इस वृष्टि की सम्भावना से बाग में किसी और के आने की सम्भावना भी नहीं है। अतः एकान्त स्थल होने से विहार में किसी प्रकार का विघ्न पड़ने की सम्भावना नहीं है। पत्तों और घासों की बहुलता छिपने लायक स्थल की अभिव्यक्ति करती है। लताओं का रङ्ग राते हुए कांपना कामजन्य वेपथु या कम्प नामक सात्विक भाव की ओर, समीर के झोंकों से उनका झुक जाना लिग बल से अपना मान छोड़कर प्रिय से लिपटना रूप अर्थ की व्यञ्जना करता है, इससे भी ध्वनि निकलती है कि इस समय लताएँ भी अनुराग में भरी हुई अपना मान छोड़कर उत्कण्ठायुक्त हो रही हैं। पुनः तुझे तो प्रियतम का संकेत निमन्त्रण मिल चुका है। नायक संकेत स्थल पर स्वयं उत्सुक होकर प्रतीक्षा कर रहा है, पुनर्वञ्चना का कोई भय नहीं है। तू भी अपने आपको संभाल नहीं पा रही है, सम्पूर्ण प्रकृति इस समय अवसर के अनुकूल है, लता तक अनुराग में भरी हुई है, ऐसे समय में तुझे अवश्य नायक के समीप तक चलना चाहिये। इस प्रकार अभिधामूला व्यञ्जना का यहां पर पूर्ण चमत्कार है।

यदुकुल कमला करोल्लास भास्वन्त,
दासन्त चिन्तामणी सन्त संतानक त्राण दातार भू,
पर पुरुष पुराण पुण्यतम प्राण नैपुण्य,
कारुण्य सौजन्य लावण्य मूर्धन्य धन्य प्रभू।
ब्रज जन रंजना द्रोकं गंजनार्त्तोहिणी,
भजनादेम साधारण प्रेम राधा धरे;
जय जय जय वासुदेवादि देवाधि,
देवा महेन्द्रादि बृन्दार कोदार माया हरै॥

अर्थ—भगवान् श्री कृष्ण की स्तुति करता हुआ कवि कह रहा है, हे कमलेश की राज्यलक्ष्मी की किरणों को उल्लासित अर्थात् भासित करने वाले ! तात्पर्य यह है कि जैसे कमलों को सूर्य खिलाता है इसी प्रकार आप देना[श] की लक्ष्मी को भासित करने वाले हैं। अथवा यदुवंश रूपी कमलों के

आकर अर्थात् समुद्र को विकसित करने वाले सूर्य, सेवकों के लिये चिन्ता-मणिरत्न स्वरूप, जिसे चिन्तामणि मिल जाता है, उसे पुनः अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे ही भक्तों की कामना पूरी करने वाले आपको पाकर शरणागत भक्तों को पुनः किसी की आवश्यकता नहीं रहती। सज्जनों के लिये कल्पवृक्ष, कल्पवृक्ष की भांति सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ति करने वाले और पृथ्वी को अर्थात् असुरों के अत्याचारों से त्रस्त पृथ्वी को उसका भार दूर करके त्राण अर्थात् रक्षा प्रदान कतने वाले पर अर्थात सर्वोत्कृष्ट, जिन्हें पाकर अन्य कोई प्राप्य नहीं रहता, ऐसे पुराण अर्थात् सबसे आदि पुरुष, पवित्र—उत्तम आत्मा वाले, निपुणता, दया, सज्जनता, अनुपम सौन्दर्य इन सब की दृष्टि से विश्व भर के शिरोमणि, हे प्रभो! आपको धन्य हो, आप की जय हो। व्रजवासियों को अपनी लीलाओं से आनन्दित करने वाले, बैरियों का बल मर्दन करने वाले, शत्रुओं की अक्षौहिणी (सेना का एक प्रमाण जिस में पैदल, हाथी, घोड़े और रथ सेना को मिला कुल सवा लाख सेना होती थी) को पराजित कर भग्न अर्थात् भगा कर तितर-बितर कर देने वाले, अक्षेम—अकुशल अर्थात विपत्तियों का नाश करने वाले, राधा के प्रति असाधारण प्रेम रखने वाले अथवा राधा के साधारण अर्थात् समान, जैसा राधा रखती है, उसी के समान विशिष्ट और दृढ़ अनुराग रखने वाले, हे आदि देव! सब देवों के आदि, सब के मूल पुरुष, हे इन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओं के स्वामी, हे अपनी कृपा से प्रवल माया को दूर करने वाले प्रभो! हे वासुदेव! वसुदेव के पुत्र और जिन में सम्पूर्ण प्राणी लीन होते हैं, ऐसे ब्रह्मस्वरूप, प्रभो! आपकी जय हो, अनेक वार जय हो।

इस पद्य में परम्परित रूपक और उल्लेख अलंकार है। इसमें व्याल नामक दण्डक है जिसमें दो नगण और रगण होते हैं। लक्षण की संगति इस प्रकार है:—

न	न	र	र	र
। । ।	। । ।	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ
य दु कु	ल क म	ला क रो	ल्लास	भास्वन्त दा

र	र	र	र	र	र
ऽ । ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ	ऽ । ऽ
सन्त चि	न्ता म णे,	सन्त सं	ता न क	त्राण दा	ता र भू,

जगन्नाथ प्रसाद भानु ने अपने छन्द प्रभाकर में इस में दस तगण माने हैं।

———

कामायनी

प्रश्न—महाकाव्य की दृष्टि से कामायनी की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—यह सर्वमान्य तथ्य है कि कामायनी एक महाकाव्य है। कामायनी की कथावस्तु पौराणिक एवं ऐतिहासिक है। उसकी कथा सामग्री ऋग्वेद, पुराणों तथा शतपथ ब्राह्मण में बिखरी पड़ी है। उसकी कथा में जलप्लावन की घटना, देव सृष्टि वर्णन आदि मिलती है। प्रसाद जी ने इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों से सूत्र लेकर विच्छिन्न शृङ्खलाओं को कल्पना से जोड़ कर कथा को काव्यात्मक बनाया है। कामायनी की कथा महान् कथा है। वह कथा उस आदिम पुरुष और आदिम नारी की कथा है, जिसने सारी सभ्यता का विकास किया। अतः वह एक साधारण कथा नहीं वरन् एक महान् व्यापक तथा महत्वपूर्ण कथा है। कथा के अनुरूप उसकी घटनाएं भी महान् हैं। देव सृष्टि के नाश तथा प्रलय के पश्चात् मनु का धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाना, इड़ा का सहयोग पाकर नागरिक सभ्यता का विकास करना, तथा अन्त में जीवन में संघर्ष के उपरान्त तीनों वृत्तियों का साक्षात्कार करना तथा आनन्द की प्राप्ति आदि इसकी महान् घटनाएं हैं।

'कामायनी' में पन्द्रह सर्ग हैं, जिनमें कवि ने मानव-जीवन की यथासाध्य पूर्ण अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः यही महाकाव्य की आत्मा है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित मुख्य घटनाओं के नाम पर है।

महाकाव्य के नायक हैं मनु। शास्त्रीय दृष्टि से अमर सन्तान होने के कारण वे नायक बनने के योग्य हैं। उनमें धीरललित नायक बनने के गुण वर्तमान हैं। प्रलय से बचे किसी प्राणी के लिए अन्न रख आना उनकी दया का परिचायक है। वे धीर तथा साहसी हैं पर साथ ही सुखान्वेषी भी। किसी के प्रतिबन्ध में वे रह नहीं सकते।

कामायनी में प्रधान रस शृङ्गार है। यद्यपि पात्रों द्वारा जिन स्थायी भावों की व्यंजना कराई गई है उनमें रति की व्यापकता होते हुए भी उसका पर्यवसान शम में हुआ है। परन्तु शम की प्रकृति पुरुष के रस से ओत-प्रोत

है। अतः इसकी प्रबन्ध ध्वनि शृङ्गार रस ही ठहरती है। इसके अतिरिक्त वात्सल्य, रौद्र, वीर तथा करुण सहायक रूप में आये हैं, परन्तु प्रधान रस शृङ्गार ही है। शृङ्गार का स्थायी-भाव रति है, जिसका जगाना सौंदर्य पर अवलम्बित है।

कामायनी में प्रकृति-वर्णन बहुत सुन्दर तथा प्रचुर मात्रा में मिलता है। कामायनी की कथा अधिकांश प्रकृति की गोद में घटित हुई है। अतः प्रकृति वर्णन के लिए उसमें पर्याप्त अवकाश था और इसका प्रसाद जी ने पूर्ण लाभ उठाया है। प्रकृति-वर्णन सभी रूपों में मिलता है। प्रकृति वर्णन अधिकतर भावाक्षिप्त रूप में मिलता है। प्रकृति-वर्णन अत्यन्त सजीव तथा पात्रों की अनुभूति के मेल में है। उषाकाल का वर्णन देखिये :—

उषा सुनहले तीर बरसाती
जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई।
यह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का,
आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में,
शरद विकास नये सिर से॥

प्रबन्ध रचना को हमारे आचार्यों ने पांच भागों में विभक्त किया है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। कथा के आरम्भ में नायक फलप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है यही प्रयत्न है। फिर फल प्राप्ति की आशा होने लगती है। नियताप्ति में फल निकट आता प्रतीत होता है तथा फलागम में उसकी पूर्णतः प्राप्ति हो जाती है। एक उच्चकोटि के महाकाव्य में प्रायः ये सभी विशेषता रहती हैं। इस दृष्टि से 'कामायनी' को भी पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है। चिन्ताकुल मनु के हृदय में आशा का उदय होता है। यही कथा का प्रारम्भ है। मनु का आत्मानन्द की खोज में श्रद्धा से मिलना, श्रद्धा का आत्म-समर्पण, दोनों का कुछ समय सहवास, यज्ञ कर्म, इड़ा से मिलकर राज्य-स्थापना आदि कार्य प्रयत्न के अन्तर्गत आते हैं। श्रद्धा का स्वप्न देखकर मनु की खोज में जाना तथा उन्हें आश्वासन देना

प्राप्त्याशा है। मनु का सारस्वत प्रदेश से श्रद्धा से मुंह छिपा कर चले जाना, श्रद्धा का फिर उनकी खोज में जाना तथा भावलोक, ज्ञानलोक तथा कर्मलोक के दर्शन कराना नियताप्ति है। इन तीनों के समन्वय पर मनु का आत्मानन्द में लीन होना फलागम है। यही इस ग्रन्थ का कार्य है। कामायनी में ये पांचों भाग पाये जाते हैं। किन्तु उनका विभाजन ठीक नहीं। आरम्भ तथा अन्त का अंश आवश्यकता से अधिक लम्बा है। कहीं-कहीं तो कथा-प्रवाह की गति रुद्ध सी जान पड़ती है। 'कामायनी' में मानसिक विचारों का ही संघर्ष अधिक है, भौतिकता को स्वल्प स्थान प्राप्त है।

'कामायनी' को देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें इतिवृत्तात्मक स्थलों का लगभग अभाव सा है। कवि प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ मनु की मानसिक परिस्थिति की भी अभिव्यक्ति करता जाता है। इस प्रकार प्रकृति की पृष्ठभूमि पर भावनाओं की अभिव्यक्ति ने महाकाव्य में प्राण से डाल दिए हैं। 'कामायनी' में कुछ दैवी घटनाएं भी पाई जाती हैं। लज्जा तथा काम दोनों अशरीरी पात्र हैं। दोनों का केवल वक्तव्य ही सुनाई देता है। पात्रों का मिलना भी आकस्मिक ही होता है। मनु के यज्ञ की गंध लेती हुई श्रद्धा ठीक उनके समीप पहुँच जाती है। श्रद्धा से विरक्त हो मनु भी सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा के पास पहुँच जाते हैं, जो उनके स्वागतार्थ पहले से ही प्रस्तुत दिखाई पड़ती है। स्वप्न में 'मनु' की दुर्दशा देखकर श्रद्धा भी बिना किसी व्यवधान के घायल मनु के निकट पहुँच जाती है। इसी प्रकार श्रद्धा का मनु को दूसरी बार खोज लेना आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जो अस्वाभाविक सी जान पड़ती हैं, किन्तु वह काल तथा प्रसाद जी की परमात्मा की नियमाकता में आस्था, इन घटनाओं की आकस्मिकता को बहुत कुछ कम कर देता है।

संक्षेप में कामायनी की रचना प्रसाद जी ने एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए की है। वह महान् कार्य है मानव की आनन्द प्राप्ति का प्रयत्न। आरम्भ से ही प्रसाद जी का प्रयत्न रहा है मानव को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना। भारतीय जीवन केवल भौतिकता में ही विश्वास नहीं रखता, वरन् उसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। जीवन के संघर्ष के उपरान्त शान्ति और आनन्द लाभ करना, उसका एकमात्र उद्देश्य है। 'मनु'

के 'आत्मानन्द' में लीन होने के साथ ही ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। आनन्द की उपलब्धि ही इस महाकाव्य का महत्वपूर्ण कार्य है।

प्रश्न २—कामायनी के रूपक तत्व पर विचार कीजिये।

उत्तर—'कामायनी' में ऐतिहासिकता के साथ ही रूपक तत्व का भी समावेश है। आमुख में प्रसाद जी ने स्वतः इस बात की पुष्टि की है कि 'कामायनी' के पात्र ऐतिहासिक ही नहीं, मानव प्रकृतियों के प्रतीक भी हैं। वे कहते हैं—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।" अतः स्पष्ट है कि 'कामायनी' में प्रस्तुत अर्थ के साथ ही सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति हुई है, रूपक से प्रस्तुत कथा में भौतिक व्यक्तियों तथा घटनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। किन्तु अप्रस्तुत कथा प्रायः मनोवैज्ञानिक दार्शनिक ही होती है। अतः रूपक से तात्पर्य है मुख्यार्थ के साथ ही गूढ़ार्थ की भी अभिव्यक्ति।

अब देखना यह है कि कामायनी में 'रूपक' तत्व के निर्वाह में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है। प्रथम 'कामायनी' के पात्रों को ही लीजिए और देखिए कि पात्रों के द्विविध-रूप को लेकर प्रसाद जी ने प्रधान कथा की शृङ्खला को न तोड़ते हुए 'रूपक' का किस प्रकार निर्वाह किया है। 'कामायनी' में प्रधान तीन पात्र हैं—मनु, श्रद्धा, इड़ा। इनके अतिरिक्त तीन पात्र और भी हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार, असुर पुरोहित किलात और आकुली। इनके अतिरिक्त काम और लज्जा दो अशरीरी पात्र भी हैं। किन्तु प्रतीक की दृष्टि से ये दोनों महत्व नहीं रखते। 'कामायनी' की प्रस्तुत कथा मनु और श्रद्धा के संयोग से मानव सृष्टि के विकास की कथा है। किन्तु अप्रस्तुत रूप में यही कथा मन की उलझन को सुलझाती हुई यह व्यक्त करती है कि आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है। मनु मन, श्रद्धा (कामायनी) श्रद्धा और इड़ा बुद्धि की प्रतीक हैं। कैवल्य केवल बुद्धि द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिए श्रद्धा का संयोग अनिवार्य है।

मनु मन के प्रतीक हैं, प्रत्येक व्यक्ति का मन न जाने कितनी चिंताओं का निवास स्थान होता है। चिंता किसी न किसी प्रकार के अभाव से उत्पन्न

होती है। जहाँ अभाव है, वहां अशान्ति भी। इसी अशान्ति से मुक्ति पाने के लिए हृदय में आशा का उदय होता है। आशा के उदय होने के पश्चात् मानव हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त विशुद्ध आत्मवृत्ति है। किन्तु मानव हृदय इसे पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता अतः काम और वासना की सृष्टि होती है। इच्छा का जागना काम और उसमें तीव्रता आना वासना है। जब वासना के आवेग में व्यवधान पड़ता है तो लज्जा आती है। वासना का परिणाम होता है अधिकाधिक तृष्णा की वृद्धि और तृप्ति के लिए मन कर्म करने में प्रवृत्त होता है। जब मन कर्म करने लगता है तो उसकी अहम्मन्यता का अर्थात् 'मैं हूँ'' का बिकास होता है।

जब मनुष्य की अहम् भावना का विस्तार हो जाता है तो उसकी तुष्टि में बाधक जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, ईर्ष्या-द्वेष का कारण बन जाती हैं इसी कारण कर्म के पश्चात् ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है। मनु अपने अधिकार पर किसी की भी रोक नहीं चाहते। वे एकाकी ही श्रद्धा के अनुराग का उपभोग करना चाहते हैं। उन्हें यह सह्य नहीं कि उनका भावी शिशु भी श्रद्धा के अनुराग का भागी हो। अपनी अहम् भावना की तृप्ति के लिए मन (मनु) श्रद्धा से वियुक्त होकर बुद्धि (इड़ा) के जाल में फंस जाता है। नूतन कल्पनाओं (स्वप्न) को उसके सहारे सत्य में परिणत करता है। बुद्धि के निर्देश से कार्य करता है। देखता है कि बुद्धि द्वारा अनेक कार्य किये जा सकते हैं। जितना वह आगे बढ़ता है, उतनी ही उसकी आकाँक्षाएं भी बढ़ती जाती हैं। यहीं तक नहीं, वह स्वयं बुद्धि की अधिष्ठात्री इड़ा पर अधिकार करना चाहता है, किन्तु बुद्धि पर अधिकार किस का हो सकता है? अधिकार भावना के अधूरी रह जाने पर मन का बुद्धि से संघर्ष होता है और फिर असफल होने पर निर्वेद उत्पन्न होता है। श्रद्धा का आश्रय छोड़ बुद्धि का पथ अनुसरण करने से मनु घायल हो जाते हैं।

मन पर आघात पहुँचने पर श्रद्धा वृत्ति स्वतः आ जाती है। उसके आ जाने पर मन अपने किए पर पश्चात्ताप कर संकोच का अनुभव करने लगता है। मन उससे साक्षात्कार न कर सकने के कारण छिपना चाहता है, किन्तु श्रद्धा उसका पीछा नहीं छोड़ती। तात्पर्य यह कि दुःख में श्रद्धा वृत्ति सदैव जागरूक रहती है। ऐसो परिस्थिति में श्रद्धा मन को और ऊंचा उठा कर

उसे आनन्द के पर्वत पर ले जाती है और उसे अलौकिक शक्ति का आभास मिलता है। भाव यह कि निर्वेद के पश्चात् जब मन द्वैत बुद्धि को त्याग देता है, तब उसकी भावना अन्तर्मुखी हो जाती है। क्रिया, ज्ञान और इच्छा को त्याग कर अर्थात् जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति से आगे बढ़कर मन श्रद्धा की सहायता से तुरीयातीत अवस्था में पहुँच कर आत्मानन्द में लीन हो जाता है। इस प्रकार चिंता का परित्याग कर मन आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा (बुद्धि), स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन और रहस्य की भूमिकाओं को पार करता हुआ अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त करता है।

'कामायनी' का दूसरा प्रमुख पात्र श्रद्धा है। ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणों में श्रद्धा मनु-पत्नी तथा कामगोत्रजा (कामपुत्री) के रूप में हमारे सामने आती है। सेवा, त्याग, ममता, करुणा, क्षमा आदि नारी-हृदय की सभी उदात्त वृत्तियों की प्रतीक श्रद्धा है।

आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति श्रद्धा से ही सम्भव है, विकल्पात्मक बुद्धि से नहीं।

'कामायनी' का तीसरा मुख्य पात्र इडा है। 'इडा' सर्ग में प्रसाद जी ने इडा का जो चित्र अंकित किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इडा बुद्धि की प्रतीक है। इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है। वह मनुष्य में वयक्तिक भावना को उत्पन्न करती है तथा वह स्वार्थ-लिप्सा तथा अधिकार-चाह को ही अपना ध्येय बना लेता है। वर्गों तथा वर्णों की सृष्टि होती है। वर्ग भेद ही समाज में ऊंच-नीच, धनी-निर्धन तथा छोटे-बड़े का भेद उत्पन्न करता है।

अब 'कामायनी' के गौण पात्र शेष रह जाते हैं। इनमें सर्वप्रथम श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। कामायनी में कुमार के व्यक्तित्व का अधिक विकास नहीं दिखाया गया है। केवल शैशव का चित्र अंकित है और दूसरा जब श्रद्धा कुमार को इडा को सौंप कर मनु की खोज में दूसरी बार निकली है। किन्तु रूपक की दृष्टि से श्रद्धा का कुमार को इडा को सौंपना महत्त्वपूर्ण है। वह मानव का प्रतीक है।

असुर पुरोहित किलात और आकुली आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। मानव हृदय में सदसत् प्रवृत्तियों का द्वन्द्व सा छिड़ा रहता है, दोनों ही हृदय पर अपना अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। विजय उसी की होती है जो बलवती होती है। कामायनी में देवता इन्द्रियों के प्रतीक हैं। सोमलता भोग की प्रतीक है।

सोमलना से आवृत्त वृषभ का अर्थ हुआ भोगसमन्वित धर्म। यदि भोग रूपी आवरण को मनुष्य हटा दे, उसे धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाए तो उसे आत्मस्वरुप की प्राप्ति हो सकती है।

'कामायनी' में तीन प्रतीक और भी हैं—जलप्लावन, त्रिलोक और मान-सरोवर। जलप्लावन भारत की ही नहीं अपितु समस्त संसार की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे धर्मशास्त्रों में इसको प्रतीकार्थ में भी ग्रहण किया गया है। जब मन इन्द्रियों की निर्बाध उपासना में लग जाता है, अर्थात् जब वह आत्मोन्मुखी न रह कर अनात्मोन्मुखी हो जाता है तो चेतनता रूप जल माया से आवृत हो जाता है।

त्रिलोक की प्रेरणा कवि को प्राचीन त्रिपुर दाह में मिली है। इसका प्रतीकार्थ भी स्पष्ट है। तीन, ज्ञान लोक, मानवलोक तथा कर्मलोक होते हैं। पहले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, फिर उसके सम्बन्ध में इच्छा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य कर्म करता है। इनके सामंजस्य में ही जीवन का वास्तविक सुख निहित है। केवल इच्छा पंगु है, उसे कर्म का सहारा चाहिए। केवल कर्म अन्धा है, उसे ज्ञान का प्रकाश चाहिये :–

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।।"

जब श्रद्धा द्वारा इन तीनों का समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था की प्राप्ति कर लेता है:—

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

मानसरोवर के लिए शतपथ में मनोरवसर्पण आया है। यह स्थान कैलाश शिखर पर है, श्रद्धा की सहायता से मनु पहुँच कर आनन्द प्राप्त करते हैं। 'कामायनी' में मानसरोवर के लिए मानस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह मानस समरसताजन्य आनन्द का प्रतीक है।

प्रश्न ३—कामायनी की भावपक्ष एवं कलापक्ष की दृष्टि से समीक्षा कीजिये।

उत्तर—प्रसाद जी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आनन्द को प्रधान मानकर चले हैं। आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी शैव, रस की शृंगार और शान्त दो सीमाएं मानते हैं। 'कामायनी' में भी इसी सिद्धान्त का पालन किया गया है। पात्रों द्वारा जिन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति काव्य में होती है, उनमें रति का ही प्राधान्य है, किन्तु अवसान शम में ही होता है। फिर भी 'कामायनी' को शृंगारप्रधान रचना ही कहेंगे, क्योंकि इसमें प्रकृति और पुरुष भी रति भाव से ही ओत-प्रोत हैं। 'कामायनी' में वात्सल्य, वीर, भयानक, अद्भुत तथा करुण आदि रसों की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई हैं, किन्तु ये सब गौण रूप में ही हैं। इस प्रकार 'कामायनी' की प्रबन्ध-ध्वनि शृंगार ही है। शृंगार को रस-राज कहा गया है। 'कामायनी' के काम सर्ग के मनु की काम-विभोर स्थिति की कितनी सुन्दर व्यंजना की गई है:—

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी फूलों के अंचल में।
अपना कल कण्ठ मिलाते थे,
झरनों के कोमल कल-कल में।

शृंगार का स्थायीभाव रति है। रति भाव को उद्दीप्त करने के लिए नारी का सौंदर्य-वर्णन अति आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रसाद जी ने कामायनी में श्रद्धा के सौन्दर्य वर्णन द्वारा मनु के हृदय में रति का उद्रेक किया है। आधुनिक साहित्य के नारी-सौन्दर्य में श्रद्धा का सौन्दर्य अनुपम है:

"घिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास"

'कामायनी' का वियोग-शृङ्गार संयोग-शृंगार की अपेक्षा अधिक मार्मिक है। 'कामायनी' में तीन प्रकार के विप्रलम्भ मिलते हैं—मान, करुणा तथा प्रवास। कर्म सर्ग में 'मनु' श्रद्धा के पशु को मार कर यज्ञ करते हैं। इस प्रकार

श्रद्धा मान कर बैठती है। जहाँ श्रद्धा रूठी हुई मृग चर्म पर पड़ी है, मनु वहाँ जाकर उसे मनाते हैं:—

> **"मधुर विरक्ति भरी आकुलता फिरती हृदय-गगन में।**
> **अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस उर में॥**

करुण विप्रलम्भ का आरम्भ मनु के प्रथम प्रयाण से ही होता है जब वे श्रद्धा से रूठ कर इडा के पास चले जाते हैं। मनु के इस पलायन के पश्चात् श्रद्धा को मनु से मिलने की आशा बहुत कम रह जाती है। अतः यहाँ श्रद्धा का विरह करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत आयेगा। किन्तु सारस्वत प्रदेश से दूसरी बार मनु का श्रद्धा से छिप कर भागना प्रवास के अन्तर्गत आता है क्योंकि श्रद्धा विश्वस्त रहती है कि उसकी मनु से पुनः भेंट होगी। इसी कारण करुण-विप्रलम्भ में प्रवास-विप्रलम्भ की अपेक्षा वेदना की अधिक तीव्रता है। करुणा-विप्रलम्भ का आरम्भ स्वप्न सर्ग से ही हो जाता है। इस स्मृति, चिन्ता, दैन्य, उद्वेग, विषाद, उन्माद, आदि सभी विरह-दशाओं का नितान्त मार्मिक वर्णन हुआ है। इसमें पुरानी पद्धति के अनुसार षड्ऋतु वर्णन अथवा ऊहात्मक पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है। विरह वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी व्यंजनापूर्ण है। विरह की अभिव्यक्ति में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। देखिये:—

> **"एक मौन वेदना विजन की झिल्ली की झनकार नहीं,**
> **जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक करुण साकार रही।**
> **हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,**
> **यह छोटी सी विरह-नदी थी जिसका है अब पार नहीं।"**

विरह का सुख-दुःख समस्त सृष्टि का सुख-दुःख हो जाता है। उसे समस्त प्रकृति सहानुभूति करती प्रतीत होती है। इसी कारण रामचन्द्र ने भी सीता का पता खग-मृग से पूछा था। मन्दाकिनी से श्रद्धा का सुख-दुःख सम्बन्धी प्रश्न कितना स्वाभाविक है:—

> **"जीवन में सुख अधिक या कि दुःख, मन्दाकिनी कुछ बोलोगी,**
> **नभ में नखत अधिक सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी।**
> **प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिन्धु मिलन को जाती है,**
> **या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी॥**

युद्ध के सम्बन्ध में वीर रस के स्थायीभाव उत्साह की कवि ने सुन्दर अभिव्यक्ति की है:—

"तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में ,
प्रकृति और उसके पुतलों के दल भी भीषण रण में ।
आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें ,
राजदण्ड को वज्र बना-सा सचमुच देखें ।
यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्भाला ,
देव-आग ने उगली ज्यों ही अपनी भीषण ज्वाला ॥"

'कामायनी' में रौद्र रस की भी सच्ची अभिव्यक्ति हुई है । स्वप्न तथा संघर्ष सर्गों में मनु हमारे सामने लोकपीड़क के रूप में आते हैं । शासक तथा शासित दोनों का अत्याचार एक दूसरे के लिए उद्दीपन का कार्य करता है । दोनों के हृदय में उत्पन्न उग्रता, उत्साह, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं । देव शक्तियों का कोप, शिव का नेत्र खोलना आदि रौद्र रस की तीव्रता को बढ़ा देते हैं।

'कामायनी' में अद्भुत रस केवल दो ही स्थानों पर मिलता है । एक तो शिव के ताण्डव-नृत्य में, दूसरे त्रिपुर मिलन में । किन्तु इस का पूर्ण परिपाक दोनों ही स्थानों पर नहीं हो पाया है ।

'कामायनी' में भयानक रस की अभिव्यक्ति केवल तीन ही स्थानों पर हुई है—प्रलय वर्णन में, युद्ध वर्णन में, तथा रहस्य सर्ग में । कवि ने तीनों ही जगह रस की व्यंजना कराने का प्रयत्न किया है ।

वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति 'कामायनी' में श्रद्धा, मनु तथा मानव के प्रसंग में मिलती है । यद्यपि अन्य रसों के समान वात्सल्य रस का भी कवि ने संक्षिप्त वर्णन किया है, किन्तु वह अत्यन्त हृदयस्पर्शी हुआ है । श्रद्धा मनु के वियोग से व्यथित होने पर भी जैसे ही 'मानव' की दूरागत किलकारी सुनती है अपनी सारी विरह व्यथा को भूलकर उत्सुक हो धूल-धूसरित बालक को गोदी में उठाकर कहती है :—

"कहाँ रहा नटखट तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना ।
अरे पिता के प्रतिनिधि तू ने भी सुख तो दिया घना ॥"

कामायनी की भाषा अत्यन्त लक्षणापूर्ण है । इसके लाक्षणिक प्रयोग स्वाभाविक तथा सुबोध हैं । अधिकांश लक्षणाओं का आधार या तो मानवी-

करण है अथवा प्रतीक पद्धति । ये दोनों ही प्रयोग साम्य के आधार पर होते हैं । कामायनी जैसे लाक्षणिक प्रयोग हिन्दी साहित्य में विरले हैं :—

लक्षणा का एक उदाहरण देखिये :

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे '
छूट पड़ा तेरा अंचल ।
देख बिखरती है मणि राजी ,
अरी उठा बेसुध चंचल ।"

प्रसाद जी ने विशेषण-विपर्य्यय का प्रयोग भी किया है । इसमें विशेषण ऐसे विशेष्य के साथ लगा दिया जाता है जहाँ वास्तव में उसे लगाना नहीं चाहिये । जैसे :

माधवी निशा को अलसाई ,
अलकों में लुकते तारा-सी ।"

यहाँ अलकों को अलसाई बताया है जो वस्तुतः नहीं होती । व्यक्ति आलस्यपूर्ण होता है अलकें नही ।

कामायनी की भाषा की दूसरी विशेषता विरोध-संयुक्त शब्दों का प्रयोग है । इस प्रकार के प्रयोग भाषा की व्यंजकता को बढ़ाते तथा सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं ।

मनु चिन्ता को सम्बोधन करके कह रहे हैं ।

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी
अरी आधि मधुमय अभिशाप ।
हृदय-गगन में धूमकेतु सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप ।"

अलंकार—प्रसाद जी ने कामायनी में अलंकारों का प्रयोग भाषा को अलंकृत करने के उद्देश्य से नहीं किया है, प्रत्युत भावोत्कर्ष के लिये ही किया है । प्रसाद जी के सादृश्यमूलक अलंकारों में दो विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं—स्वरूप बोध तथा भावतीव्रता । जहां अमूर्त के लिए मूर्त सादृश्य का प्रयोग है, वहां कवि वा लक्ष्य स्वरूप बोध कराना है—

'कीर्ति किरन सी नाच रही थी ।"

जहाँ मूर्त के लिए अमूर्त सादृश्य प्रयुक्त है वहाँ भावतीव्रता मिलती है—

"जल-संघात विलास-वेग सा बढ़ने लगा ।।"

कामायनी में सादृश्य-मूलक अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग उपमा अलंकार का हुआ है । उपमा के चार प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—

मूर्त से मूर्त की उपमा, अमूर्त से अमूर्त की उपमा, अमूर्त से मूर्त की उपमा तथा मूर्त से अमूर्त की उपमा ।

मूर्त से मूर्त की उपमा का उदाहरण देखिये—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियां कुटिल काल के जालों सी ।
चली आ रही फेन उगलतीं फन फैलाये व्यालों सी ।"

'कामायनी' की भावाभिव्यक्ति में तीन प्रकार के प्रयोग विशेष रूप से पाये जाते हैं—प्राचीन, व्यक्तिगत तथा विदेशी । प्रसाद जी के व्यक्तिगत प्रयोग कामायनी में अनेक हैं । जैसे—

"चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
अवगुण्ठन आज संवरता सा ।
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा,
लहरों में मस्त विचरता सा ।।"

'लहरों में मस्त विचरता-सा' प्रसाद जी का व्यक्तिगत प्रयोग है । जिस प्रकार 'कामायनी' में लाक्षणिक प्रयोग तथा उपमाएं भावानुकूल हुई हैं, उसी प्रकार भाषा प्रसंगवश सरल तथा कठिन हो गई है । जहां पर कुछ चिन्तन तथा रहस्य का प्राधान्य है वहां की भाषा कुछ कठिन हो गई है और जहां भावों की प्रबलता है, वहां की भाषा में प्रभाव है । चिन्ता सर्ग की भाषा कुछ कठिन है, देखिये—

"मौन नाश विध्वंस अन्धेरा,
शून्य बना था जो प्रलय अभाव ।
वही सत्य है, अरी अमरते,
तुझको यहाँ कहाँ अब ठांव ।।"

स्वप्न में मनु को घायल देखकर विरहिणी श्रद्धा के हृदय में भावों का स्रोत उमड़ पड़ता है । उस समय की भाषा को देखिये—

आज पड़ा है वह मुमूर्षु-सा,
वह अतीत अब अपना था ।

उसके ही अब हुए पराये,
सब का ही जो अपना था ॥"

'कामायनी' में लगभग एक दर्जन छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द हैं—ताटंक, रूपमाला, पादाकुलक, रोला, सार इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ नये छन्दों का प्रयोग भी है।

प्रश्न ४–इस कथन पर युक्तियुक्त विचार कीजिये कि प्रसाद जी ने कामायनी में साहित्य और दर्शन का सुन्दर सामंजस्य स्थापित कर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है।

उत्तर—प्रसाद जी आनन्दवादी कवि थे। भारत में आनन्दवाद की धारा प्राचीनकाल से कभी तीव्र, कभी मन्द गति से बहती चली आ रही है। अतः प्रसाद जी का आनन्दवाद कोई नई अथवा अन्य देशीय वस्तु नहीं। इस श्रद्धा-मूलक आनन्दवाद को अपनाने पर वर्तमान युग का भी प्रभाव पड़ा है। आज के युग में व्यक्ति किस प्रकार बुद्धि द्वारा प्रताड़ित होकर आनन्द की खोज में भटकता है, यह देखकर कवि व्यथित हो उठता है। बुद्धि द्वारा अनेक प्रकार के आविष्कार कर मनुष्य ने सभी प्रकार के विलास के साधन उपस्थित किये, फिर भी उसकी आत्मा अशान्त ही रही। अतः 'कामायनी' में व्यंग्य रूप में आधुनिक युग के लिए एक सन्देश भी निहित है।

'कामायनी' के आनन्दवाद के स्वरूप पर विचार करने से पहले यह देख लेना उचित होगा कि प्रसाद जी किस प्रकार के आनन्दवादी कवि हैं। जीवन में प्रायः दो प्रकार के आनन्दवादी देखने को मिलते हैं। प्रथम तो वे जो विकट परिस्थितियों में पड़ने पर तथा अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर विश्व से तटस्थ रह, उसका कल्याण करते हुए अपने उद्दिष्ट मार्ग पर चले जाते हैं। दूसरे प्रकार के आनन्दवादी वे हैं जो विश्व के प्रति अपना कोई दायित्व न समझ कर स्वतः आनन्द में लीन रहते हैं। प्रसाद जी प्रथम प्रकार के आनन्दवादी हैं। उनका लक्ष्य स्वतः उस आनन्द का उपभोग करना नहीं है। वे संसार को भी उसकी अनुभूति कराना चाहते हैं। अतः उनका यही लक्ष्य कामायनी में साध्य बन कर उपस्थित होता है।

प्रसाद जी तैत्तिरीय उपनिषद् के "अयमात्मा परानन्दः" के अनुसार आत्मा को आनन्दस्वरूप मानते हैं। आनन्दमय जीवन किस प्रकार हो सकता है, यही

श्रद्धा और मनु के जीवन द्वारा बताया गया है। मनु श्रद्धा से वियुक्त होकर आनन्द की खोज में इधर-उधर भटकते हैं। इडा के मोह में आवद्ध हो आनन्द प्राप्ति की आशा रखते हैं। किन्तु परिणाम उलटा ही होता है। आनन्द के स्थान पर उन्हें कलह, संघर्ष तथा विद्रोह का सामना करना पड़ता है। इस अशान्ति से घबड़ा कर वे भाग जाते हैं। उनके जीवन में तब तक शान्ति नहीं, जब तक वे श्रद्धा का आश्रय नहीं ले लेते। मनु को श्रद्धा द्वारा ही सत्य-स्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। गीता तथा मुण्डक उपनिषद् के अनुसार भी श्रद्धावान् व्यक्ति ही आत्मा के सत्य स्वरूप को पहचान कर आत्मानन्द में लीन हो जाता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद जी बुद्धिवाद का विरोध करते थे। उनकी धारणा है कि यदि किसी व्यक्ति का हृदय श्रद्धालु है तो बुद्धि या ज्ञान तो उसमें स्वतः ही आ जाता है। क्योंकि बुद्धि तो श्रद्धा की अनुगामिनी है। मनु श्रद्धा के पास रहते हुए भी हृदय से उससे दूर रहते हैं, अतः उनके हृदय में भेदभाव बना ही रहता है, और जब तक भेदभाव है तब तक आनन्द कहां। सारस्वत प्रदेश में इडा (बुद्धि) मनु (मन) के लिये नियम बनाती है किन्तु मनु में जब तक श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, उनका पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति श्रद्धालु है, जो अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित किये जाने पर भी वह अपनी श्रद्धा को नहीं छोड़ सकता। कहने का तात्पर्य यही है कि बिना श्रद्धा के आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं।

'कामायनी' के आनन्दवाद का आधार आत्मवाद है, अतः कामायनी के आनन्दवाद को समझने के लिए आत्मवाद के सिद्धान्तों पर दृष्टि-निक्षेप कर लेना आवश्यक है। आत्मवाद का प्रधान सिद्धान्त है "सोऽहम्" मैं वही हूँ। प्रसाद जी अंश-अंशी की भावना में विश्वास नहीं रखते। आत्मा परमात्मा का ही अंश है यह उन्हें मान्य नहीं। वे अपने को ब्रह्म-स्वरूप मानते हैं और इस धारणा के अनुसार सर्वत्र अपने को व्याप्त मानते हैं। इस प्रकार आत्मवाद अभेद दृष्टि की स्थापना करता है।

शांकरमत का आत्मवाद दुःखानुभूति से अछूता नहीं, परन्तु प्रसाद का आत्मवाद आनन्द से ओत-प्रोत है। शांकर अद्वैत में ज्ञान की प्रधानता है तो प्रसाद के अद्वैत में श्रद्धा की। प्रसाद का अद्वैत जगत् को ब्रह्मरूप ही मान कर

जगत् और ब्रह्म में समरसता लाता है। प्रकृति और पुरुष अभिन्न हैं अतः सृष्टि को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। शांकरमत में माया आवरण बनकर आती है किन्तु प्रसाद जी उसे शिव की कार्यकारिणी शक्ति के रूप में मानते हैं, जिसके आश्रय से आत्मा प्रकाश पाती है। प्रसाद जी के अनुसार सत्य की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण माया भी सत्य ही है। इसी कारण प्रसाद जी माया से उद्भूत जगत् को त्यागने का आदेश नहीं देते, प्रत्युत उसके ग्रहण में ही जीवन की सफलता मानते हैं। इस प्रकार प्रसाद जी की ईश्वरविषयक भावना अत्यधिक व्यापक है। वे शिव की अखंड सता में विश्वास रखते हैं।

दो विरोधी वस्तुओं में एकत्व की भावना ही समरसता है। द्वन्द्व के अभाव के दो विपक्षी वस्तुओं में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इस तादात्म्य की स्थिति को विभिन्न नाम दिये हैं। शैव इसे चिदानन्द प्राप्ति की स्थिति कहते हैं। योगियों ने इसे निर्विशेष समाधि कहा है। अन्य दर्शन इसी को परम भाव कहते हैं तथा गीता में इसी को समत्व की भावना कहा गया है। प्रसाद जी ने सबों से समरसता का सिद्धान्त किया है। जिसके अनुसार शिव और शक्ति में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है। मानव जीवन की अशान्ति का कारण समरसता का अभाव ही है। मनु के जीवन में श्रद्धा द्वारा जब तक समन्वय की भावना उत्पन्न नहीं हो जाती, जब तक उसे दुःख, दैन्य, संघर्ष आदि का सामना करना पड़ता है। आत्मा निर्लिप्त है, मन का धर्म है दुःख-सुख मानना। मन के दुःख-सुख की छाया जब आत्मा पर पड़ती है तो हम आत्मानन्द के स्वरूप को भूल जाते हैं, जीवन का चरम लक्ष्य है आनन्द की प्राप्ति। मनुष्य इसके लिए ही भटकता फिरता है, किन्तु जब तक वह आत्मस्वरूप को नहीं जान लेता, शान्ति प्राप्त नहीं होती। कामायनी में कवि ने यत्र-तत्र इसी समरसता के सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा की है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि कामायनी का साध्य समरसता है। कवि का विश्वास है कि आनन्द अथवा सुख चिरन्तन है तथा दुःख क्षणिक है। दुःख तो केवल सुख को प्रकाश में लाने के लिए आता है। सुख के ऊपर दुःख का एक हलका नीला आवरण पड़ा रहता है। जो कि समरसता के सिद्धान्त द्वारा सहज ही हटाया जा सकता है। श्रद्धा जानती थी कि सामंजस्य की भावना को न समझ सकने के कारण ही मनु की यह दशा

हुई है, अतः अपने पुत्र मानव को इडा को सौंपते समय वह उसे समरसता का ही उपदेश देती है—

"सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन मां की पुकार।"

इस प्रकार 'कामायनी' में प्रसाद जी ने समरसता के तीन रूपों का दिग्दर्शन कराया है। व्यक्ति की समरसता, समाज की समरसता तथा प्रकृति और पुरुष की समरसता। व्यक्ति की समरसता श्रद्धा के जीवन में मिलती है। समरसता के अभाव के कारण सारस्वत प्रदेश का समाज विशृंखल हो जाता है। कृति और पुरुष की समरसता का रूप हमें आनन्द सर्ग में दिखाई देता है। जीवन के दुःखमय रहने का एकमात्र कारण समरसता का अभाव ही है। ज्ञान, इच्छा और कर्म के समन्वय से ही आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। यदि मनुष्य कर्म न करे तो इच्छा की पूर्ति सम्भव नहीं, और यदि ज्ञान नहीं है तो उचित कार्य करने में असमर्थ रहेगा, अतः जीवन में तीनों के समन्वय के बिना आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने तीनों का समन्वय कराया है। प्रसाद जी का सामरस्य विवेक अथवा निवृत्ति पर निर्भर न रह कर श्रद्धा पर टिका है। आनन्द की यह अवस्था विषयातीत होती है। इसके प्राप्त कर लेने पर सभी प्रकार की आकांक्षाओं का अवसान हो जाता है। कवि की दृष्टि में आनन्द ही योग है, आनन्द ही मोक्ष है और आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से परे कुछ नहीं है। दर्शन परमात्मा के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व की घोषणा तर्क द्वारा करता है। किन्तु प्रसाद जी ने उसे अनुभूति का विषय माना है। उन्होंने दर्शन की आध्यात्मिकता को व्यावहारिक रूप दिया है। इस प्रकार कवि ने कामायनी में साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामंजस्य स्थापित कर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। मनु श्रद्धा, इडा तथा मानव को कैलाश की ओर दिखा कर उस आनन्दलोक का वर्णन करते हैं, जहाँ पाप-पुण्य कुछ भी नहीं है, सब समरस है—

"अपने दुःख सुख से पुलकित,
यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य सतत चिर सुन्दर॥"

प्रश्न ५—कामायनी के प्रकृतिचित्रण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—प्रसाद जी की कामायनी की अधिकांश कथा प्रकृति की गोद में ही घटित हुई, अतः उसमें प्रसाद जैसे प्रकृति के पुजारी के लिए अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सका। कल्पना पर पूरा अधिकार होने के कारण प्रकृति पर मानवीय चेष्टाओं का आरोप करने में उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है। प्रसाद ने प्रकृति के केवल बाह्य रूप-रंग से संतुष्ट न रह कर उसके आभ्यन्तर में प्रवेश किया है। उन्होंने अनुभव किया कि मानव-आत्मा से लेकर प्रकृति तक में उसी अंशी का अंश व्याप्त है। सभी जड़-चेतन एक ही महाचेतन शक्ति से आबद्ध हैं। हमारे यहाँ प्रकृति मुख्यतः दो रूपों में आती है–प्रस्तुत अथवा वास्तविक रूप में और अप्रस्तुत अथवा आरोपित रूप में।

प्रस्तुत रूप में प्रकृति-वर्णन वहाँ होता है, जहाँ वह स्वतः आलम्बन रूप में चित्रित की जाती है। प्रस्तुत वर्णन भी दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में केवल वस्तु परिगणन होता है, और दूसरे में वस्तुओं की संश्लिस्ट योजना रहती है। इन योजनाओं के भी तीन रूप देखे जाते हैं। शुद्ध रूप, भावाक्षिप्त रूप, और अलंकृत रूप। शुद्ध रूप में प्रकृति-वर्णन वहाँ होता है, जहां कवि प्रकृति का यथातथ्य चित्रण कर देता है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करता। कामायनी में इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन कहीं-कहीं पर ही मिलते हैं, जैसे आशा-सर्ग में शरत्कालीन वन्य-प्रकृति का वर्णन :—

> **"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं।**
> **दूर-दूर तक फैल रही।**
> × × ×
> **अचल हिमालय का शोभिततम,**
> **लता कलित शुचि सानु शरीर॥"**

कामायनी में पात्रों की परिस्थिति अंकित करने वाले भावाक्षिप्त वर्णनों की कमी नहीं। इस प्रकार के प्रकृति वर्णन में प्रकृति मानव परिस्थितियों से पूर्ण तादात्म्य करती चित्रित की जाती है। कवि श्रद्धा की परिस्थिति अंकित करने में पूर्ण सफल हुआ है। वह रात्रि सुन्दर होने पर भी श्रद्धा के लिए कितनी भयावह है, कितनी धूमिल है :—

उजले-उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल ।
धारा बह जाती बिम्ब अटल,
सुनता था धीरे पवन पटल ।।

कामायनी में सर्वप्रथम प्रकृति का प्रलयकारी विराट् रूप ही चित्रित किया गया है । कवि का अनुमान है कि देवताओं की वासनामूलक अधोगति को देखकर ही प्रकृति ने रौद्र रूप धारण किया था । देखिए प्रकृति का प्रलय- कारी चित्र—

"पंच भूत का भैरव मिश्रण,
शंकाओं के शकल-निपात ।
उल्का लेकर अमर शक्तियां,
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ।।"

इस प्रकार प्रसाद जी ने 'कामायनी' में सर्वप्रथम प्रकृति का मानव से संघर्ष दिखाया है । वह मानव-जीवन की रात्रि थी । प्रथम प्रकृति ने मानव को पराजित किया, फिर उसे निर्बल समझ उससे स्नेह किया और अन्त में वह मानव द्वारा स्वयं पराजित हुई । अब प्रकृति का यह भयावह रूप नहीं रहा । वह हंसती हुई दृष्टिगत होती है :—

"वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हंसने फिर से ।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में, शरद विकास नये सिर से ।।"

कवि ने आशा सर्ग में नवविवाहिता रमणी के रूप में प्रकृति के मान का अत्यन्त मनोरम चित्र खींचा है :—

सिन्धु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी सी ।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में, मान किये सी ऐंठी सी ।।

अपार जलराशि में से निकली थोड़ी सी प्रकृति ऐसी प्रतीत होती है, जैसे समुद्र की सेज पर कोई दुलहिन सिकुड़ी हुई बैठी है । प्रलय रात्रि में उसे जो कष्ट मिला है, उसे याद कर वह उसी प्रकार मान कर बैठी है जिस प्रकार कोई नव-विवाहिता बाला अपने पति के निष्ठुर व्यवहार पर मान कर लेती है ।

प्रसाद जी के अप्रस्तुत वर्णन सारूप्य तथा साधर्म्य दोनों ही दृष्टि से उपयुक्त हैं । यदि प्रसाद का प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साम्य द्वारा भावोत्कर्ष देखना हो तो श्रद्धा की मोहक मूर्ति को देखिये :—

घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास ।
नील घन शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास ॥

कहीं-कहीं तो कवि मानवीय रूप से प्रकृति पर और प्रकृति से फिर अन्य प्रकृति के स्वरूपों तक पहुँच जाता है, जैसे :—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग ॥

'कामायनी' में उद्दीपक वर्णनों की प्रधानता है। इसके दो प्रधान कारण हैं। प्रथम तो कामायनी के पात्रों का विकास प्रकृति की गोद में ही होता है। दूसरे कामायनी में मानव-वृत्तियों के विश्लेषण की प्रधानता है। आनन्द की अवस्था में प्रकृति हंसती तथा दुःख की अवस्था में रोती प्रतीत होती है।

संयोग के समय मनु को प्रकृति कैसी दिखाई पड़ती है—

"लतिका घूँघट से चितवन की, वह कुसुम दुग्ध सी मधुधारा।
प्लावित करती मन अजिर रही, था तुच्छ विश्व-वैभव सारा ॥"

वियोग अवस्था में प्रकृति का उद्दीपक वर्णन प्रसाद जी ने विलक्षण ढंग से किया है। कामायनी में विरहिणी श्रद्धा प्रकृति को अपनी भावना के अनुरूप ही पाती है—

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका-सी किरणें,
स्वप्न लोक को चलीं थकी-सी नींद-सेज पर जा गिरने।
किन्तु विरहिणी के जीवन में, एक घड़ी विश्राम नहीं,
बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम-घन घिरने ॥

कामायनी में अलंकृत वर्णन भी बड़े सुन्दर हैं। वे मोहक तथा रमणीय हैं। प्रसाद ने रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं किया। वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा बिम्ब ग्रहण कराने की ही उन्होंने चेष्टा की है, जिससे भावोत्कर्ष में सहायता मिलती है। कामायनी में अलंकृत वर्णन प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

"नव नील कुंज हैं झूम रहे, कुसुमों की कथा न बन्द हुई।
है अन्तरिक्ष आमोद भरा, हिम कणिका ही मकरन्द हुई ॥"

प्रसाद जी प्रकृति में किसी अव्यक्त सत्ता का संकेत पाते हैं। वे मानते हैं कि अवश्य कोई विराट् सत्ता इस संसार की संचालिका है। अद्वैत-भावना

के अनुसार प्रसाद "सर्व-खल्विदं ब्रह्म' के समर्थक हैं। "शरीरं त्वहं शम्भोः" के अनुसार वे प्रकृति को पुरुष का शरीर मानते हैं। प्रसाद जी शैवागमी थे। अतएव वे शक्ति के दो रूप मानते थे—वह आनन्दरूपिणी है तथा स्पन्दन-रूपिणी भी। आनन्द रूप में वह शिव में लीन रहती है तथा स्पन्द रूप में प्रकृति के रूप में व्यक्त हो जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रसाद जी प्रकृति को चेतनासम्पन्न पाते हैं। कवि का अनुभव है कि प्रकृति के खण्ड-खण्ड में वह अखण्ड समाया हुआ है। अतः सभी उसके प्रति आकृष्ट हैं और उसकी महानता को नतमस्तक हो स्वीकार करते हैं:—

"महा नील उस परम व्योम में अन्तरिक्ष में, ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण किस का करते हैं सन्धान।
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस में सिंचे हुए।
सिर नीचा कर किस की सत्ता सब करते हैं स्वीकार,
सदा मौन से प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ॥

कामायनी के प्रकृति-चित्रण में प्रसाद जी ने मानव-भावनाओं का प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया है। जब वे किसी व्यक्ति का वर्णन करते हैं, तो उसमें उन्हें मेघ, बिजली, वृक्ष-लता, वन-पर्वत, कमल, मकरन्द आदि दिखाई देने लगते हैं और जब प्रकृति का चित्रण करते हैं तो उसमें उन्हें प्रभात की लाली में रमणी का हास्य और पुष्प के मकरन्द में मनुष्य का विलास दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की भावव्यंजना के लिये कवि ने चित्रमयी लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, हिमालय की हंसी, वनस्पतियाँ अलसायी, लहरियां अंगड़ाई, पराग क्रीड़ा, सूखे तरु फिर मुस्काये, लतिका घूंघट आदि कवि की इसी भावना के द्योतक हैं कामायनी में प्रकृति और पुरुष का पूर्ण अभेद दृष्टिगत होता है।

इसके अतिरिक्त कामायनी के प्रकृति-चित्रण की एक विशेषता और है। इसमें देशगत, जातिगत तथा कालगत सभी विशेषताएं पाई जाती हैं। प्राकृतिक विभूति के कारण ही भारत-भूमि आदि काल से ही गौरवान्वित रही है। हमारे ऋषि-महर्षियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति की पीठिका प्रकृति ही

थी। कामायनी में भी मनु के जीवन में प्रकृति इसी क्रम से आकर मिलती है। मनु के चिन्तन के क्षण तथा क्रीड़ा-काल प्रकृति के प्रांगण में ही व्यतीत होता है तथा उन्हें निर्वाण की प्राप्ति भी प्रकृति की पुनीत गोद में ही होती है। कामायनी के साध्य समरसताजन्य आनन्द की प्राप्ति भी प्रकृति के प्रांगण में ही होती है।

प्रश्न ६—कामायनी की ऐतिहासिकता पर विचार कीजिये।

उत्तर—बिना कथानक के किसी महाकाव्य की कल्पना असम्भव ही है। कथानक, ऐतिहासिक या काल्पनिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। कामायनी के कवि ने सृष्टि के आरम्भ की कथा अपने काव्य के लिए चुनी है। कथानक का चुनाव करते समय कवि के हृदय में यह आशंका स्वयं ही जागृत हो उठी है कि इस युग के पाठक के मस्तिष्क में अवश्य ही इस कथानक के विषय में प्रश्न वाचक चिन्ह लगेगा। इसी से उसने अपने ग्रन्थ की भूमिका में उपनिषद्, पुराण आदि के प्रमाण देकर यह समाधान उपस्थित कर दिया कि वह इसे सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक कथानक मानता है। कथा का उद्‌घाटन करते समय कवि को अपनी कल्पना के प्रयोग का जो अधिकार प्राप्त है, उसका उसने पूर्ण उपयोग किया है, इसमें सन्देह नहीं।

आज के दृष्टिकोण से 'कामायनी' का कथानक ऐतिहासिक नहीं है क्योंकि उसकी कथा प्रागैतिहासिक काल की है। सारे भारतीय वाङ्‌मय को इतिहास मान लेने पर ही इसके कथानक को ऐतिहासिक कहा जा जा सकता है और ऐसा मानना उचित भी है।

कामायनी के अधिकांश कथानक का आधार पुराण हैं। पाश्चात्य विद्वान् पार्जिटर ने पुराणों का गम्भीर अध्ययन किया था और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पुराण इतिहास ही हैं। वे कहते हैं कि पुराणों में क्षत्रिय राजाओं के चरित्र तथा कार्य-कलापों का वर्णन है, यद्यपि उनमें राजाओं की वंशावलियों तथा घटनाओं का क्रमबद्ध रूप नहीं है। मनु की कथा भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न रूपों में मिलती है। पुराणों में सबसे अधिक मनु का ही नाम पाया जाता है। अतः प्रतीत होता है कि वह अपने समय का सबसे बड़ा राजा था। पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि क्षत्रिय वंश तीन हैं—सूर्य वंश, चन्द्र वंश, तथा यदुवंश। इन तीनो वंशों के मूल मनु ही हैं। पुराणों

में मनु के दस पुत्रों का उल्लेख है (कामायनी में इनके एक ही पुत्र सर्यात या मानव का उल्लेख है)।

वास्तव में पुराणों में भारतीय इतिहास के मूल पुरुष मनु ही हैं। प्रसाद जी ने पुराणों को प्रागैतिहासिक नहीं, अपितु ऐतिहासिक ही माना है तथा वे मनु को इतिहास का प्रथम पुरुष मानते हैं। उन्होंने कामायनी के आमुख में कहा है—"जलप्लावन भारतीय इतिहास की एक ऐसी प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया, वह इतिहास ही है। 'मनवे वै प्रातः' इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मिलता है। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु हुए। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं।

कामायनी के मूलाधार ग्रन्थ ऋग्वेद, पुराण तथा शतपथ ब्राह्मण हैं। कामायनी के मुख्य पात्र श्रद्धा, मनु तथा इड़ा की कथायें अक्रम, असम्बद्ध तथा बिखरी हुई मिलती हैं। उनसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन हो जाता है। जलप्लावन की कथा, देव सृष्टि वर्णन, श्रद्धा, मनु की प्रणय-कथा थोड़े से उलट-फेर के साथ विष्णु पुराण, पद्म-पुराण, वायु-पुराण, अग्नि-पुराण, मार्कण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण, देवीभागवत पुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि में मिलती हैं। छान्दोग्योपनिषद् तथा त्रिपुर रहस्य में श्रद्धा की भाव-मूलक विवेचना की की गई है। कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों की रचना करने के लिए कितने ही ग्रन्थों का मथन करना पड़ा था। उन्होंने यत्र-तत्र बिखरी घटनाओं को शृंखलित कर कथा को एकरूपता दी तथा उसे काव्यात्मक बनाया।

'कामायनी' के पूर्व भाग की प्रायः सभी घटनाएं ऐतिहासिक हैं। कामायनी का प्रारम्भ जलप्लावन से होता है। इस घटना का वर्णन हमारे पुराणों तथा धार्मिक ग्रन्थों में ही नहीं मिलता, प्रत्युत ईसाई, इस्लामी, यहूदी, आदि धर्मग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह घटना सत्य है तथा अति प्राचीन है। कामायनी में जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय के आधार पर हुआ है। शतपथ

में बताया है कि मनु की नाव मत्स्य के पंख से बन्ध कर हिमाचल प्रदेश में पहुँची थी, किन्तु प्रसाद जी कामायनी में मत्स्य के चपेटे से नाव का हिमवान् पर पहुँचना बताते हैं। उनके इस परिवर्तन से ऐतिहासिकता की रक्षा के साथ ही वास्तविकता का भी समावेश हो जाता है। जलप्लावन कम हो जाने पर मनु जिस स्थान पर उतरे थे, उसका नाम मनोरवसर्पण है, वह स्थान आज पर्यन्त इसी नाम से प्रसिद्ध है। जल-प्रवाह कम होने पर मनु यज्ञ आरम्भ करते हैं। इसका उल्लेख शतपथ के प्रथम कांड के पाँचवें अध्याय में है। शतपथ में लिखा है कि यज्ञ के बचे अन्न को मनु एक स्थान पर रख आते थे, उसी अन्न को देख कर श्रद्धा उनके पास आई थी, किन्तु कामायनी में मनु के द्वारा प्रदीप्त अन्न को देख कर श्रद्धा उनके पास आती है। प्रसाद जी ने यहाँ थोड़ा परिवर्तन अवश्य कर दिया है, परन्तु इससे उसकी ऐतिहासिकता पर कोई आघात नहीं पहुँचता। कामायनी में शतपथ के आधार पर ही किलात-आकुली असुरों द्वारा मनु से पशु-यज्ञ कराया गया है।

इड़ा तथा मनु की बातचीत, इड़ा का मनु को उनकी पुत्री बताना, मनु का उसके प्रति आकृष्ट होकर स्वच्छन्द प्रेम स्थापित करने का प्रयत्न, फलतः देवताओं का कोप और मनु का दण्ड पाना आदि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार हैं। सारस्वत प्रदेश में इड़ा का मनु की पथप्रदर्शिका होना 'ऋग्वेद' के आधार पर है। श्रद्धा का मातृ-गृह-निर्माण, तकली कातना, दिनचर्या, पशु पालना, मनु के पशु को बलि दे देने पर मान करना, ऊन की पट्टी बुनना आदि कुछ घटनाएं कविकल्पित हैं। किन्तु इन घटनाओं के समावेश से इसकी ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का आघात नहीं पहुंचने पाया है। मनु का पुत्र-प्रेम से ईर्ष्यालु होकर भाग जाना भी कल्पित ही है। इस प्रकार इन्हीं कुछ बातों को छोड़कर कामायनी के पूर्व भाग की प्रायः सभी घटनाएं ऐतिहासिक हैं।

कामायनी के उत्तर भाग की अधिकांश घटनाएं कविनिर्मित हैं। श्रद्धा का स्वप्न देखकर मनु के निकट जाना, वहां श्रद्धा, मनु कुमार तथा इड़ा का वार्तालाप, मनु का ग्लानिवश भाग जाना, श्रद्धा का मनु की खोज में पुनः जाना, दोनों का पुनः मिलन और कैलाश पर जाकर रहना, इड़ा का मानव और नगर-वासियों के साथ कैलाश पहुंचना आदि कविकल्पित हैं। प्रसाद जी ने इन सभी

कल्पित घटनाओं का समावेश हृदय तक पहुँचने तथा काव्य में एक-रूपता लाने की दृष्टि से ही किया है। ऐतिहासिक घटनाओं में कल्पित घटनाओं का मिश्रण करके भी प्रसाद जी ने ऐतिहासिक वातावरण की पूर्णतः रक्षा की है।

इतिहास व्यक्ति की अभिव्यक्ति करता है तो काव्य व्यक्ति द्वारा जाति की। इतिहास में श्रद्धा व्यक्ति ही है, किन्तु काव्य में वह नारी जाति का प्रति-निधित्व कर रही है। पुराणों की श्रद्धा में नारीत्व का विकास नहीं मिलता, वह एक साधारण सी स्त्री के रूप में ही हमारे समक्ष आती है। श्रद्धा के व्यक्ति-त्व का विकास दिखाने के उद्देश्य से कवि को घटनाओं का क्रम पलटना पड़ा है। यहां कवि की अपनी कल्पना भी कार्य करती दृष्टिगत होती है। श्रद्धा का मनु को आत्मसमर्पण कवि की अपनी कल्पना है। यहां श्रद्धा नारीत्व के सभी गुण—सेवा, दया, माया, ममता, त्याग, करुणा, आदि से परिपूर्ण है। श्रद्धा भारतीय साहित्य की अनुपम नारी है। इस प्रकार की भव्य नारीत्व की सृष्टि कवि की कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

'कामायनी' में वेद और पुराणों में अंकित श्रद्धा के सतीस्वरूप की रक्षा में कवि का सफल प्रयास रहा है। शतपथ में मनु के असत् चरित्र के कारण देवता उस पर रोष करते हैं। 'कामायनी' में मनु केवल देवताओं के ही कोप-भाजन नहीं बनते अपितु समस्त प्रजा भी क्रोधावेश में उन्हें घायल कर देती है। इस प्रकार कवि ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करते हुए उसमें परिवर्तन और परिवर्धन भी करता रहता है।

कवि को केवल ऐतिहासिक घटनाओं की ही रक्षा नहीं करनी पड़ती, उसके लिए पात्रों का ऐतिहासिक व्यक्तित्व बनाये रखना भी अनिवार्य होता है। वेदों तथा पुराणों में मनु के दो व्यक्तित्व हमारे समक्ष आते हैं। एक तो स्मृति-कार मनु का व्यक्तित्व और दूसरे मानव सृष्टि के निर्माता मनु का व्यक्तित्व। प्रसाद जी ने मनु के दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्वों की रक्षा सुन्दर ढंग से की है। कामायनी में देव-सृष्टि के विध्वंस के पश्चात् मनु को मानव-सृष्टि का प्रवर्त्तक दिखाया गया है। सारस्वत देश में कवि ने मनु को नियामक बनाकर उनके स्मृतिकार के रूप को व्यक्त किया है। ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणों में श्रद्धा एक भव्य तथा विश्वासमयी नारी के रूप में चित्रित की गई है। त्रिपुर-रहस्य तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या ही अधिक पाई जाती

है प्रसाद जी ने कामायनी में श्रद्धा के इसी व्यक्तित्व को विशद रूप में अंकित किया है। स्त्री जाति की सेवा, दया, माया, त्याग, करुणा आदि सभी विशेषताओं की मानो वह प्रतीक है। ऋग्वेद में इड़ा को मनु की पथप्रदर्शिका कहा है। शतपथ में भी इड़ा द्वारा मनु को यज्ञ में अतुल सम्पत्ति मिली। कामायनी में भी कवि ने उसके व्यक्तित्व की रक्षा के लिये ही उसे सारस्वत प्रदेश में मनु की पथप्रदर्शिका बनाया है। मनु को सारस्वत प्रदेश का शासक बना देने से उसे अतुल सम्पति की भी प्राप्ति होती है। पशु-यज्ञ में किलात, आकुली को पुरोहित बनाना शतपथ के आधार पर है। कामायनी में इड़ा, श्रद्धा, मनु, किलात आकुली तथा मानव (सर्याती) यह छै ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कवि को यद्यपि विशृङ्खल घटनाओं को कथानक रूप देने के लिए थोड़ा उलटफेर करना पड़ा है, किन्तु इससे किसी भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आघात नहीं पहुँचने पाया।

किसी भी ऐतिहासिक रचना में केवल ऐतिहासिक घटना और पात्र के व्यक्तित्व की रक्षा ही आवश्यक नहीं होती, उस रचना में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि भी अनिवार्य होती है। तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि भी अनिवार्य होती है। तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिए कलाकार को उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सभी परिस्थितियों को अंकित करना पड़ता है। उसे उस काल की सभ्यता, शिक्षा तथा आचार-विचार आदि को भी दिखाना पड़ता है। प्रसाद जी कामायनी में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने में भी पूर्ण सफल रहे हैं।

उस युग में मनुष्य फूंस की झोंपड़ी बना कर रहते थे। कुछ हड्डी या पत्थर के अस्त्र-अस्त्र काम में लाते थे। पशु-पालन और कृषि भी करते थे। 'कामायनी' में इस वातावरण की कवि ने सफल अभिव्यक्ति की है। श्रद्धा तथा मनु पुआलों की छाजन का घर बना कर रहते हैं। श्रद्धा उन की पट्टियां बुनती है तथा पशु-पालन भी करती है। मनु मृगया के लिए जाते हैं तथा अन्न से यज्ञ भी करते हैं।

'कामायनी' में ऐतिहासिक के साथ ही रूपक तत्व का समावेश हुआ है। इसमें श्रद्धा, मनु तथा इड़ा के जीवन से हमें भावात्मक संदेश मिल जाते हैं। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण

हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष-हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश: श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। इस प्रकार कामायनी की कथा एक ओर तो देव-सृष्टि के विध्वंस के पश्चात् एक नवीन मानव-संस्कृति की प्रतिष्ठा करती है और दूसरी ओर मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष भी उपस्थित करती है। अन्त में कवि हृदय-पक्ष की विजय दिखाकर अखण्ड आनन्द की स्थापना करता है। मनु के जीवन से कवि ने व्यक्त किया है कि बुद्धिवाद में पड़कर मनुष्य का जीवन सदैव उलझन में पड़ा रहता है। जब उसके हृदय में प्रेम, उदारता आदि उदात्त भावनाओं का आविर्भाव होता है, तभी उसे शान्ति मिलती है अत: स्पष्ट है कि प्रसाद जी का झुकाव इतिहास के भौतिक तत्वों की ओर उतना नहीं है, जितना मनोविज्ञान की ओर। सम्भवत: प्रसाद जी ने कामायनी की सृष्टि कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही की थी, वे उद्देश्य हैं—मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, तथा ऐतिहासिक।

प्रसाद जी इतिहास के भौतिक रूप को उतना महत्व नहीं देते थे, जितना उसके मनोवैज्ञानिक रूप को। इसी कारण कामायनी में उनका मन घटनाओं के वर्णन में उतना नहीं लगा, जितना मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण में। प्रसाद जी का विश्वास है कि किसी भी देश की संस्कृति युग-युग की तपस्या का फल है। अत: उस देश का हित उसे अपनाने में ही है। तभी वे भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्तों का उद्घाटन यत्र-तत्र करते चलते हैं। वे पुराणों में भी इतिहास का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उन्हें यह बात सत्य नहीं लगती कि प्राचीन भारत का इतिहास नहीं मिलता अथवा वेद, पुराण प्रागैतिहासिक हैं। उन्होंने वेदों, पुराणों तथा उपनिषदों के कथानकों को शृंखलाबद्ध कर तर्क, युक्ति तथा प्रमाण द्वारा ऐतिहासिक सिद्ध किया है। साथ ही प्रसाद जी ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि भारतीय इतिहास की प्रवृत्ति आरम्भ से ही आदर्शोन्मुख रही है। इस दृष्टि से 'कामायनी' की ऐतिहासिक भित्ति दार्शनिक भूमि पर खड़ी है। उनकी दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं तथा पात्रों का उतना मूल्य नहीं है जितना युग-युग से उनके हृदय

में छिपी आत्मानुभूति का। दार्शनिक इसे ही चिरन्तन सत्य के नाम से पुकारते हैं। प्रसाद जी का अधिकाँश जीवन इसी चिरन्तन सत्ता की खोज में व्यतीत हुआ था। इसी कारण उनकी अन्तिम कृति कामायनी में दर्शन का विकास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तथा इतिहास का विकास दर्शन की पृष्ठभूमि पर हुआ है।

कामायनी—व्याख्या-भाग

ओ चिंता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कम्प सी मतवाली॥

प्रस्तुत अवतरण जयशंकर प्रसाद जी के 'कामायनी' महाकाव्य में से उद्धृत किया गया है। देव-सृष्टि के प्रलयंकारी विनाश के पश्चात् मनु हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर पर एकाकी चिन्तामग्न बैठे हैं। उनके मन एवं मस्तिष्क में चिन्ता की एक रेखा सी खिच जाती है जिसको मनु इस रूप में अनुभव करते हैं।

हे चिन्ता की प्रथम रेखा ! जो मेरे मानस में आज प्रथम बार ही अंकित हुई है, विश्वरूपी वन की सर्पिणी के समान है। जिस प्रकार भ्रमण करते हुए मनुष्य को यदि उपवन में सर्प के अस्तित्व का आभास प्राप्त हो जाय तो वह उसका उपयोग यथायोग्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार विश्व रूपी वन में यदि चिन्ता रूपी व्याली का आभास प्राप्त हो जाय तो विश्व में सुखपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं हो सकता। चिन्ता, ज्वालामुखी पर्वत के प्रथम कंपन के समान मतवाली है, जिसके उपरान्त भयंकर विस्फोट होता है।

विशेष—१. 'चिन्ता' को मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न प्रथम रेखा इस लिए कहा है कि देव-सृष्टि सुख और वैभव से पूर्ण थी। चिन्ता जैसे मनोविकार से देवों का परिचय भी न था। मनु प्रथम मानव थे जिन्होंने अपने जीवन में चिन्ता का अनुभव किया था।

२. ज्वालामुखी पर्वत के मुख पर कम्पन होने से जैसे यह स्पष्ट आभास हो जाता है कि इस पर्वत के विस्फोट से समीपवर्ती स्थापित सब वस्तुएं आदि नष्ट हो जायेंगी उसी प्रकार चिन्ता के मस्तिष्क में प्रवेश होते ही यह समझ लेना चाहिए कि किसी भारी विपत्ति का आक्रमण होगा।

३. रूपक अलंकार का सुन्दर एवं सुष्ठु प्रयोग मिलता है।

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी, अरि आधि मधुमय अभिशाप।
हृदय-गगन में धूमकेतु सी, पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप॥

प्रस्तुत पद प्रसाद जी के महाकाव्य 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग से अवतरित किया गया है। चिन्तामग्न मनु चिन्ता के दुष्परिणाम को देखकर स्वतः कह उठते हैं कि–

हे चिन्ते ! तू शारीरिक रोग को उत्पन्न करती है। वास्तव में शारीरिक रोगों की सूत्रधार चिन्ता उसी प्रकार है जिस प्रकार नाटक का आरम्भ सूत्रधार से होता है। उसी प्रकार चिन्ता अनेक शारीरिक रोगों को उत्पन्न करने वाली है। इसके साथ ही यह मानसिक व्यवस्था को भी पीड़ामय कर देती है। चिन्ता एक मधुर अभिशाप के समान है। जिस प्रकार आकाश में पुच्छल तारे के उदय से किसी अशुभ घटना की सम्भावना होती है उसी प्रकार चिन्ता के मन में उदित होने से किसी विपत्ति एवं संकट की संभावना रहती है। चिन्ता इस पवित्र सृष्टि में सुन्दर पाप के समान है। यद्यपि इसके अस्तित्व का परिणाम अशुभ ही होता है। चिन्ता से प्रायः यदा-कदा मनुष्य को क्षयरोग हो जाता है।

विशेष—१. चिन्ता को मधुमय अभिशाप कहा गया है। चिन्ता के अस्तित्व में अभिशाप तो है परन्तु वह मधुर अभिशाप कहलाता है, क्योंकि चिन्ता के अभाव में मनुष्य सुखविधान की ओर प्रयत्नशील ही न हो और इस प्रकार जीवन में कर्मठता का भाव भी धीरे-धीरे शान्त होता चला जाय। इसमें मधुरता का सर्वथा अभाव ही हो जाय। तभी तो इसे मधुमय अभिशाप कहा गया है।

२. ज्योतिषियों की विचारधारा का भी इसमें आभास मिलता है। ज्योतिष के अनुसार पुच्छल तारों का उदय अशुभ घटना अथवा परिस्थिति का सूचक है। इसी प्रकार चिन्ता का उदय भी।

३. 'पाप' को सुन्दर इसलिए कहा गया है कि यदि सद्घटना एवं परिस्थिति के वश में होकर यदि कोई पाप किया जाय तो वह सुन्दर पाप कहलाता है।

४. उल्लेख अलंकार का चमत्कार सम्पूर्ण छन्द में दर्शनीय है।

उधर गरजती सिंधु लहरियां, कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों सी॥

प्रस्तुत अवतरण प्रसाद जी की 'कामायनी' के चिन्ता सर्ग में से अवतरित किया गया है। देव सृष्टि के विध्वंसकालीन प्रकृति के प्रलयंकारी रूप का शब्दमय चित्र अंकित करते हुए कवि कहता है कि—

देव सृष्टि के विनाश के समय प्रकृति का प्रलयंकारी रूप दृष्टिगोचर होता था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र की लहरें कुटिल मृत्यु के जाल के समान दिखाई देती हों और घोर ध्वनि कर रही हों। वे इतने तीव्र वेग से बढ़ी जा रही थीं जैसे अपने फण फैलाये हुए और झाग उगलते हुए सर्प लपकते आ रहे हों।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में उपमा अलंकार का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है। दोनों पक्ष उपमेय और उपमान साधर्म्यमूलक एवं आकारमूलक हैं। लहरें लम्बी और पतली होने के कारण काल के जालों सी दृष्टिगत होती हैं और वे देवताओं को अपने में फंसा कर निगल जाती हैं, इसी कारण कुटिल काल का जाल कहलाती हैं।

२. सर्प भी झाग उगलते हैं और लहरें भी झाग उगलती आ रही हैं। सर्प अपने विष के प्रभाव से मनुष्य को डस लेते हैं और लहरें भी अपने में मनुष्य को निगल कर उसके प्राण ले लेती हैं।

सबल तरंगाघातों से उस, क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी।
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी, ऊभ-चूम थी विकलित सी॥

प्रस्तुत छन्द प्रसाद जी की कामायनी के चिन्ता-सर्ग में से उद्धृत किया गया है। प्रलयकालीन प्रकृति के भैरव नृत्य का वर्णन करते हुए कवि समुद्र की तरंगों के प्रबल आघातों की प्रभविष्णुता का वर्णन करते हुए कहता है—

जल-प्रलय के समय समुद्र की वेगवती तरंगों के गम्भीर आघात से डांवा-डोल हो कर पृथ्वी इस प्रकार व्याकुल हो रही थी जिस प्रकार प्रबल तरंगों के थपेड़ों से कोई दीर्घाकार कच्छप व्याकुल हो जाता है। इतना बड़ा कच्छप भी उस समय तरंगों के प्रबल-थपेड़ों को सहन नहीं कर सकता।

विशेष—१. इस छन्द में पूर्णोपमा अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. 'ऊभचूम' शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक रूप में हुआ है। छन्द को पढ़ते ही प्रकृति के विशेषकर समुद्र के प्रलयंकारी रूप का साक्षात् चित्र सा खिंच जाता है।

३. कवि की चित्रण शैली का इसमें पूर्ण परिचय मिलता है। कवि यदि प्रकृति के कोमल कान्त रूप का चित्रण करने में पटु है तो उसका ताण्डव नृत्य भी उससे अपूर्ण नहीं रहा।

ओ जीवन की मरु-मरीचिका, कायरता के अलस-विषाद।
अरे पुरातन अमृत! अगतिमय, मोहमुग्ध जर्जर अवसाद॥

प्रस्तुत छन्द प्रसाद जी की कामायनी के चिन्ता सर्ग में से उद्धृत किया गया है। देव-सृष्टि के विध्वंस के अवशिष्ट रूप मनु चिन्तामग्न हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठे हैं। एकाकी जीवन व्यतीत करने में उन्हें निराशा ही निराशा दृष्टिगोचर होती है। अमरों के भी ऐसे विकराल विध्वंस को देखकर मनु यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जीवन में स्थायित्व नहीं है। यह केवल धोखा-मात्र है। इसी निराशापूर्ण भावना का शब्द-चित्र अंकित करते हुए मनु कहते हैं कि—

यह जीवन मृगतृष्णा की भाँति धोखामात्र है। जितना भी इसमें तत्व ढूँढने का प्रयत्न किया जाता है, उतना ही दुःख, विषाद आदि परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। मृगतृष्णा की भाँति आकर्षक होते हुए भी यह केवल मिथ्या विडम्बना है। अमर होते हुए भी मैं अत्यन्त कायर, आलस्य से पूर्ण और शोक से चूर्ण हूँ। अत्यन्त प्राचीन देव जाति से सम्बन्ध रखकर भी मैं दुर्दशा-ग्रस्त हूँ। मुझ में अज्ञान और शोक की भावना पूर्णतः अधिकार किए हुए हैं।

विशेष—१. जीवन को मृगतृष्णा इसलिये कहा है कि जिस प्रकार मरुभूमि में रवि-रश्मियों की चमक से मृगों को जल का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार जीवन में सुख नहीं, सुख का भ्रम है। मृग जिस प्रकार जल को प्राप्त करने के हेतु भागते-भागते थक जाते हैं, परन्तु उनकी आशा अपूर्ण ही रहती है, उसी प्रकार जीव इस जीवन-प्रांगण में सुख की खोज में लगा रहता है, यह सोचकर कि इस जीवन में सुख का अस्तित्व अवश्य है, परन्तु जीवनान्त पर भी उसे सुख का मिथ्या भ्रम बना रहता है और वह अन्त में भी सुख की अपूर्णता में तरस-तरस कर चला जाता है। इसीलिये यह जीवन मृगतृष्णा के समान है।

२. प्रस्तुत छन्द में रूपक अलंकार का भी अच्छा निर्वाह है।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है, व्यक्त नील घन माला में।
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर, क्षण भर रहा उजाला में।

प्रस्तुत छन्द कामायनी के चिन्ता सर्ग में से उद्धृत किया गया है। देव-सृष्टि के विध्वंस के पश्चात् मनु को सर्वत्र निराशा का अन्धकार दिखाई देता है। कहीं भी आशा की किरण दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिये प्रत्यक्ष जीवन में उन्हें निराशा और मृत्यु ही दिखाई देती है, इसलिए वे इस शून्यता को ही सत्य समझते हैं। वैसे तो मृत्यु जीवन का अभावमात्र है, जिस प्रकार छाया प्रकाश का। परन्तु प्रत्यक्षता को प्रमाण मानकर मनु मृत्यु को ही सार रूप मानकर कहते हैं कि :—

हे मृत्यु! जीवन तो तेरा एक छोटा-सा अंश है। वास्तव में मृत्यु ही सब कुछ है। जिस प्रकार व्याप्त, श्यामल-जलद-समूह में बिजली की एक रेखा क्षण भर चमक कर छिप जाती है, उसी प्रकार जीवन भी क्षण भर अथवा कुछ क्षणिक काल तक अपना अस्तित्व प्रकट करके मृत्यु में विलीन हो जाता है। मृत्यु सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और इसीलिए इस संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है। जीवन अथवा चेतना तो बिजली की चमक की भांति क्षणिक है और कराल मृत्यु श्यामल-मेघों की भाँति स्थिरतापूर्ण।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में मनु की निराशा का चरम व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है। इस समय मनु जीवन को निर्मूल और निस्सार समझकर अपने जीवन से मुक्त होना चाहते हैं, क्योंकि इसमें स्थिरता नाम मात्र को भी नहीं है।

२. उपमा अलंकार प्रस्तुत छन्द में दर्शनीय है।

धीरे-धीरे हिमाच्छादन, हटने लगा धरातल से।
जगी वनस्पतियां अलसाई, मुख धोती शीतल जल से॥

प्रस्तुत अवतरण प्रसाद जी की 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग में से उद्धृत किया गया है। जल-प्रलय के पश्चात् नवीन सूर्योदय के साथ प्रकृति का स्वरूप भयंकर से कोमल रूप में परिवर्तित होने लगा। धरित्री पर नवीन प्रकाश

छाने लगा और वनस्पतियों का भी विकास आरम्भ हुआ। इसी नव कोमल स्वरूप का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

जल-प्रलय के समय पृथ्वी तल पर जमी हुई बर्फ की तह गलने लगी और उसके नीचे दबे पेड़-पौधे निकलने लगे। बर्फ के पिघलने पर जल के द्वारा हिलते हुए पेड़-पौधे इस प्रकार दिखाई देते थे, मानो देर से सोये वृक्षादि अब आलस्य से अंगड़ाई लेते हुए जाग उठे हों और उठ कर जल से अपना मुँह धो रहे हों।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. वनस्पतियों का मानवीकरण प्रसाद जी के प्रकृति-चित्रण की प्रधान विशेषता है, जिसके कारण उसमें सजीवता का समावेश हो जाता है।

३. प्रसाद जी की प्रकृति के कोमल रूप का चित्रण उसके प्रलयंकर रूप के चित्रण की भांति स्वाभाविक है।

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलयनिशा की हलचल स्मृति, मान किए ऐंठी सी॥

प्रस्तुत छन्द प्रसाद जी की 'कामायनी' के आशा सर्ग में से अवतरित किया गया है। जल-प्रलय के पश्चात् अब रवि-रश्मियों के तेज से भू-भाग का थोड़ा-थोड़ा अंश सूखने लगा है। विस्तृत जल-राशि के बीच में से दिखाई देता हुआ पृथ्वी का थोड़ा सा अंश जिस प्रकार शोभित होता है उसका मानवीकरण करते हुए कवि सजीव चित्र सा अंकित कर देता है।

विस्तृत जलराशि से निकली थोड़ी सी पृथ्वी ऐसी जान पड़ती है मानो सिन्धु-शय्या पर कोई दुलहिन संकुचित सी (लज्जा के कारण) बैठी हो। प्रलय रूपी रात्रि में जो कष्ट उसे मिला है उसी की संघर्षमयी स्मृति में वह उसी प्रकार मान करके ऐंठी सी बैठी है, जिस प्रकार कोई नवविवाहिता बाला प्रथम रात्रि में किए गए प्रिय के निर्दय व्यवहार पर अर्थात् सुकुमार कोमलाङ्गी को झकझोरे जाने पर ऐंठ करके इस मान-भावना से बैठ जाती है कि अब चाहे जो भी हो वह अपने मान को न तोड़ेगी।

विशेष—१. प्रस्तुत सम्पूर्ण छन्द में रूपक अलंकार का अत्यन्त सुन्दर चमत्कार है।

२. नारी जीवन की विवाहोपरान्त प्रथम रात्रि की स्वाभाविक लज्जा और भाव का अत्यन्त मधुर चित्र अंकित किया गया है।

इन्द्रनील मणि महा चषक था, सोम रहित उलटा लटका।
आज पवन मृदु साँस ले रहा, जैसे बीत गया खटका॥

प्रस्तुत छन्द प्रसाद जी की कामायनी के आशा सर्ग में से उद्धृत किया गया है। कवि प्रभातकालीन नीले आकाश की शोभा का अलंकृत शैली में चित्रण करते हुए कहता है कि—

प्रभातकालीन एवं चन्द्रहीन नीलाकाश ऐसा जान पड़ता था जैसे किसी ने सोम रस को प्राप्त कर नीलम के बड़े प्याले को खाली लटका दिया हो। आज प्रलय के पश्चात् ऐसे शान्त वातावरण में पवन इस प्रकार मृदु साँस ले रहा है कि मानो उसे अब किसी प्रकार का भय न हो। जिस प्रकार मनुष्य की किसी आकस्मिक भय के उपस्थित होने पर साँस पल भर को रुक जाती है, परन्तु भय के लुप्त होने पर फिर उसी गति से चलने लगती है, उसी प्रकार पवन भी जो प्रलय के भय से रुक गया था, आज फिर कोमलता से चलने लगा है।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार का अत्यन्त सुन्दर प्रदर्शन हुआ है।

२. प्रकृति की निराली एवं अनुपम छटा का रूप भी अवलोकनीय है।

क्या कहूं, क्या हूं मैं उद्भ्रान्त? विवर में नील गगन के आज।
वायु की भटकी एक तरंग, शून्यता का उजड़ा सा राज॥

प्रस्तुत छन्द 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में से अवतरित किया गया है। शून्य वन-प्रदेश में एकाकी मनु को देखकर श्रद्धा विस्मित हो उठती है और उससे उसका परिचय पूछने लगती है कि तुम लहरों द्वारा समुद्रतल में से निकले हुए मणि-रत्नों के समान कौन हो? जो कि इस जन-हीन प्रदेश को अपनी सुन्दरता की छटा से शोभाशाली बना रहे हो। इस पर मनु बड़ी निराशासूचक वाणी से उत्तर देते हैं।

हे श्रद्धे! जब मैं इतना अधिक व्यग्र एवं व्याकुल हूँ, तब भला मैं क्या बताऊं कि मैं क्या हूँ। आज मैं इस नीले आकाश के अवकाश में हवा की लहर

के समान भटकता फिरता हूँ । जिसका न कोई आश्रय है और न ही कोई लक्ष्य । मेरा जीवन उस उजड़े हुए राज्य के समान है जिसके चारों ओर सूनापन छाया हुआ है ।

विशेष—१. प्रस्तुत छंद में प्रकृति का मनोरम चित्रण किया गया है । इसी के साथ ही मनु की गम्भीर निराशा की ओर भी दृष्टिपात किया है । किंकर्त्तव्यविमूढ सा वह एकाकी, जन-विहीन प्रदेश में चिन्तित है । परन्तु श्रद्धा अब उसकी इस निराशा को देखकर आत्मसमर्पण के द्वारा इसे कर्मशील बनाती है ।

२. 'उजड़ा सा राज' में उपमा अलंकार की छटा भी दर्शनीय है ।

दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात ।
जिसे तुम समझते हो अभिशाप जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत जाओ इसको भूल ॥

प्रस्तुत छंद 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में से अवतरित किया गया है । एकाकीपन में किंकर्त्तव्यविमूढ से मनु को चारों ओर निराला और अन्धकार ही दिखाई देता है । अतः प्रत्यक्ष को ही वे सत्य मानते हैं । जब सुख और भोग के दिन थे तब उनको सत्य मानते थे, अब दुःख की रजनी ही उन्हें सत्य भासती है । वे शून्यता को सत्य और जीवन को असत्य एवं निस्सार मानते हैं । ऐसी परिस्थिति में श्रद्धा उनके समीप आती है और कोकिला की सी वाणी में जीवन की वास्तविकता का संदेश देती है । इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों आदि के द्वारा वह उसे कर्मठ बनाती है । श्रद्धा मनु को सुख-दुःख का परिवर्तन भगवान् का वरदान सिद्ध करती है, अभिशाप नहीं । श्रद्धा कहती है :—

हे मनु ! दुःख में भी सुख का अस्तित्व उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार रात्रि में नूतन प्रभात का अस्तित्व रहता है । अन्धकारमयी रात्रि के पश्चात् जिस प्रकार प्रभात का दिव्यालोक होता है, जिस प्रकार अन्धकार के झीने पट में उषा का शरीर छिप जाता है उसी प्रकार दुःख के झीने अञ्चल में सुख छिपा रहता है । अतः स्पष्ट है कि दुःख-सुख स्थायी नहीं हैं ।

दुःख के पश्चात् सुख का मंगलमय अवसर अवश्य होता है। इसी कारण सुख का जन्म दुःख से होता है। परन्तु दुःख में सुख के छिपे रहने के कारण मनुष्य उसे देख नहीं पाता, इसी से वह विपत्तियों के मंडराये हुए बादलों को देखकर व्याकुल हो उठता है। जिस दुःख को तुमने अभी तक अभिशाप समझा हुआ था और सांसारिक कष्टों का मूल समझते थे वह भगवान् का वरदान है। सृष्टि के इस रहस्य से प्रत्येक प्राणी अवगत नहीं है।

विशेष—१. प्रस्तुत छंद में रूपक अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. कवि ने प्रस्तुत छंद में निराशावादियों एवं प्रतिक्रियावादियों की रूढ़िगत भावनाओं को निस्सार कर दिखाया।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणि-गण द्युतिमान॥

प्रस्तुत छंद भी प्रसाद जी की 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में से उद्धृत किया गया है।

यह विशाल विश्व विपत्तिजनित पीड़ा से विह्वल होकर ही सहृदय बना है। पीड़ा में मनुष्य का हृदय विभोर हो जाने के कारण सहानुभूति से पूर्ण हो जाता है और लोकहित की ओर उन्मुख होने लगता है। जो पीड़ा का स्वाद जान लेता है वही परपीड़ा को जान सकता है। वास्तव में दुःख ही मनुष्य को सुख के अनुसन्धान के लिये प्रेरित करता है। दुःख ही सुख की उन्नति का कारण है। अतः दुःख भगवान् का अत्यन्त मधुर दान है, जिससे जीवन में मधुरता का संचार होता है। सुख और दुःख यही जीवन के उत्थान और पतन तथा उतार और चढ़ाव हैं, जिनसे जीवन में मधुरता आती है। यदि जीवन में एकरूपता अर्थात् केवल सुख अथवा केवल दुःख का ही प्राधान्य रहे तो मानव हृदय उस समुद्र के समान उद्वेलित हो उठेगा जो एकदम शान्ति के प्रमाणस्वरूप ज्वारभाटा के रूप में घबरा उठता है। जिस प्रकार समुद्र की मणियाँ तल से निकलकर नीली लहरों म भारी-भारी थिरकती हैं, उसी प्रकार उनका एकरस सुख पीड़ा से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

विशेष—१. प्रस्तुत छंद में उपमालंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. सम्पूर्ण पद में आशावादिता का सुन्दर दृष्टान्त मिलता है।

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द किए है परिवर्तन में टेक॥

प्रस्तुत अवतरण प्रसाद जी के महाकाव्य 'कामायनी' में से उद्धृत किया गया है। श्रद्धा मनु को निराशा के निविड़ अंधकार में से आशा के दिव्यालोक में लाने के लिये प्रकृति के नियमों को समझाती हुई कहती है कि—

जिस प्रकार किसी सुन्दरी के अंगों का शृंगार बासी फूलों से नहीं होता और ऐसे फूलों का चरम परिणाम धूल में मिल जाना ही है, उसी प्रकार प्रकृति का यह अटल नियम है कि जो वस्तु अनुपयोगी हो जाती है, प्रकृति उसका विनाश कर देती है। उस वस्तु के नष्टप्राय होने के लिये उसकी धूल सदा ही उत्सुक रहती है, अर्थात् किसी भी पुरातन वस्तु फा अन्त आवश्यक है। पुरातनता के अन्त के पश्चात् नूतनता का उदय होता है। मनु के मानस में यह संदेह है कि जीवन सत्य नहीं है। श्रद्धा उसकी इस धारणा का विरोध करती है और कहती है कि "तप नहीं केवल जीवन सत्य है।" मनु ने प्रत्यक्ष रूप से जो विकास देखा है, उसके सम्बन्ध में श्रद्धा का कहना है कि वस्तु अनुपयोगी सिद्ध हो जाने पर नाश को प्राप्त कर परिवर्तन के अटल नियम के द्वारा नूतनता को प्राप्त करती है। प्राचीनता की केंचुल को प्रकृति पल भर भी सहन नहीं करती अर्थात् वस्तु जहाँ अनुपयोगी सिद्ध हुई कि उसको नष्ट कर दिया गया। और यही परिवर्तन ही नित्य नूतनता का रहस्य है। इस परिवर्तन-शीलता में विकास और आनन्द की गाथाएं छिपी पड़ी हैं। मनुष्य भी वृद्ध हो कर मृत्यु को प्राप्त होता है और शिशु के रूप में जन्म लेता है। यह परिवर्तन का चक्र तो नित्य चलता रहता है। इस परिवर्तन के अभाव में जीवन ही पहाड़ हो जाय। इसी कारण परिवर्तन जीवन का द्योतक है और प्रकृति का अटल नियम है।

साकेत

प्रश्न १—हिन्दी साहित्य में राम-काव्य का विकास दिखाते हुए 'साकेत' का स्थान निश्चित कीजिये।

उत्तर—उत्तर भारत में रामभक्ति का बीजांकुर प्रस्फुटित करने का श्रेय एक मात्र रामानन्द जी को है। वैष्णव धर्म के आचार्य बनकर उन्होंने सम्पूर्ण देश में भ्रमण किया और अपने आराध्य सीताराम की भक्ति और उपासना का भरसक प्रचार किया। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे, तथापि रामभक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही माने गए हैं। सर्वप्रथम महात्मा कबीर ने रामानन्द जी से रामत्व का मन्त्र लिया और निर्गुण-सगुण से परे अपने राम की सृष्टि की। कबीर ने निराकार, निर्गुण और अविगत भगवान् की उपासना करने का सन्देश दिया था, जिसको पाकर जनता संतुष्ट न हो सकी। इस स्थिति में किसी साकार वस्तु की आवश्यकता थी, जिससे जनता प्रेम और भक्ति का सन्तोष लाभ कर सके। भारतीय भक्त भगवान् के लोकरंजक और लोकरक्षक स्वरूप पर विशेष रूप से मुग्ध रहता है। प्रेम तो व्यक्त सत्ता के साथ ही हो सकता है। अतः तुलसी ने अवतरित होकर इस अभाव की पूर्णता की।

तुलसी से पूर्व सर्वप्रथम यदि काव्य में रामसम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है तो 'वाल्मीकि रामायण' में। वाल्मीकि रामायण में विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है और न राम अवतार के रूप में ही चित्रित हैं। वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त नायक हैं। 'वायु पुराण' में राम को विष्णु के अवतारों में माना गया है। उसमें राम ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित होते हैं। कुछ और आगे चलकर 'अध्यात्म रामायण' में राम देवत्व की कोटि पर पहुँच जाते हैं।

राम काव्य-धारा के सर्वप्रधान कवि तुलसीदास हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से राम काव्य को ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी साहित्य को आलोक प्रदान किया है। उन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-

जोवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है, उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इसके साथ ही उन्होंने ऐसे आदर्शों की स्थापना की है जो काल की गति के साथ विलीन नहीं हो सकते। उनका 'रामचरितमानस' राम की अमर गाथा से सुशोभित है। रामकथा का यह ज्वलन्त दीपक है, जिसके प्रकाश में जीवन का समस्त कलुष धुल जाता है। केवल मानस ही नहीं, कवि के अन्य ग्रंथ 'विनयपत्रिका', 'गीतावली', 'कवितावली, 'वैराग्य संदीपनी' आदि भी उनकी विमल गाथा से सुशोभित हैं।

महाकवि तुलसीदास के पश्चात् रामकाव्य की विमल धारा कवि केशवदास के काव्य को सरस करने के हेतु ग्रहण की गई। उन्होंने रामकाव्य के अन्तर्गत 'रामचन्द्रिका' की रचना की। केशवदास ने राम की समस्त कथा 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव पताका या प्रकरी के रूप में ही अधिक पड़ा है। कथा विस्तार अनियमित है और उसमें प्रबन्धात्मकता का तो लेश भी नहीं है। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अपने आचार्यत्व के प्र.र्शन के हेतु, भक्ति, दर्शन आदि के आदर्शों की उपेक्षा-सी कर दी है। उन्होंने केवल छन्द निरूपण के लिए हा पद-पद पर शब्दों में परिवर्तन किया है, जिससे कथा-प्रवाह में व्याघात हो गया है। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' को जो भी स्थान हिन्दी साहित्य में प्राप्त हुआ है वह केवल रामकथा की जनप्रियता के कारण। तत्पश्चात् नाभादास, अग्रदास, सेनापति, हृदयराम आदि की रचनाएं राम की अमर गाथा से सुशोभित होती हैं।

तुलसी की उस भक्ति भावना का सूत्रपात फिर बीसवीं शताब्दी में रामचरित उपाध्याय के "रामचरित चिन्तामणि" और मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में हुआ। गुप्तजी ने राम की कथा का एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया है। वाल्मीकि के राम की मानवीयता जो भक्तिकाल में राम के अलौकिकत्व से दब गई थी, फिर उन्मेष को प्राप्त हुई। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुप्तजी में भक्ति भावना का अभाव है। इस युग में राम के ईश्वरत्व की भावना में उनकी विश्वव्यापकता पर अधिक बल दिया गया है और इस प्रकार राम से प्रेम करना समस्त विश्व से प्रेम करना है। इसमें

विश्ववन्धुत्व की भावना पर अधिक बल दिया गया है। गुप्तजी ने अपने राम को भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित किया है :—

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ॥

"साकेत' में करुण रस ही प्रधान है, शृङ्गार उसका उपकारक बनकर आया है। प्रथम सर्ग ही उर्मिला और लक्ष्मण के आल्हादपूर्ण मधुर विनोद से परि-प्लावित दिखाई देता है जो भविष्य में आने वाली आपत्ति को ओर भी द्विगुणित कर देता है।

गुप्त जी के अतिरिक्त इस युग में राम-काव्य पर अवलम्बित रचना करने वाले हरिऔध जी हैं। यद्यपि वे आज के युग में कृष्ण-काव्य के प्रतीक हैं पर उन्होंने 'वैदेही वनवास" की रचना कर राम-कथा के प्रति भी अपनी रुचि दिखलाई है। हरिऔध जी राम को 'रामायण' से नरत्व की ओर अधिक ले आये हैं। "वैदेही वनवास"में अठारह सर्ग हैं और उनमें करुण रस की ही प्रधा-नता है। भवभूति की सीता में करुणा के, उद्वेग के और वेदना के जो दर्शन होते हैं, वे उपाध्याय जी की सीता में नहीं।

इस प्रकार आरम्भ से ही राम-कृष्ण की धारा एक विशिष्ट मर्यादा को साथ लिये प्रवाहित होती आ रही है। अपने-अपने युग का प्रतिबिम्ब प्रत्येक काव्य में स्पष्ट झलकता दीख पड़ता है। साकेत में भी वह विशेषता किसी से कम नहीं है। अवधी और ब्रज में राम-काव्य का विकास हुआ और बहुत उच्च स्तर तक हुआ, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु खड़ी बोली में अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर राम-कथा को एक नया मोड़ देकर गुप्त जी ने भी कुछ कम सराहनीय कार्य नहीं किया है। काव्य की भावपक्ष की दृष्टि से, मार्मिक घटनाओं के चयन की दृष्टि से अथवा पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से यदि हम 'साकेत' को "रामचरितमानस" के पश्चात्-द्वितीय स्थान दें तो अनुचित न होगा। केशव की "रामचन्द्रिका" कलापक्ष में साकेत से विशिष्ट कही जा

सकती है, किन्तु हृदय का स्थान शरीर से अधिक महत्व का है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ?

प्रश्न २—साकेत की सामान्य तथा साहित्यिक विशेषताएं बताइये ।

उत्तर—गुप्त जी ने राम की कथा को एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया । वाल्मीकि के राम में राम की मानवीयता जो भक्ति काल में राम के अलौकिकत्व से दब गई थी, फिर उन्मेष को प्राप्त हुई । परन्तु इस का वह तात्पर्य नहीं कि गुप्त जी में भक्तिभावना का अभाव है । आज के युग में प्रत्येक तथ्य को कसौटी पर कसना धर्म के सदृश आवश्यक माना जाता है । गुप्त जी भी अपने समय की इस प्रवृत्ति से वंचित न रहे । उनके राम सर्वत्र विश्व में व्याप्त हैं । उन्होंने राम को ईश्वर का विश्व-व्यापक रूप देखकर अपना आराध्य मान लिया है । "हरिऔध" की राधा यदि विश्वप्रेम में दीक्षित हैं तो यशोधरा विश्व कल्याण में तत्पर । राम चराचर व्यापी हैं, परन्तु इस युग में राम के ईश्वरत्व की भावना में उनकी विश्व-व्यापकता पर अधिक बल दिया गया है और इस प्रकार राम से प्रेम करना समस्त विश्व से प्रेम करना है । इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की भावना पर अधिक बल दिया गया है । गुप्त जी ने अपने राम को भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित किया है :—

> **राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?**
> **विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?**
> **तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे ।**
> **तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ।**

इस प्रकार गुप्त जी के राम विश्व-व्यापी हैं, ईश्वर हैं और उन्होंने मनुष्य का अवतार लिया है । "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्" की भावना से उत्प्रेरित होकर गुप्त जी ने अपने आराध्य राम को मानव रूप में अवतरित किया है । इस भूलोक पर राम-राज्य की स्थापना करने और पतितों का उद्धार कर ईश्वरता का रूप प्रदान करने के लिये ही राम ने अवतार लिया है । उनके राम इस लोक में स्वर्ग का संदेश लेकर नहीं आए, वरन

यहीं पर स्वर्ग का निर्माण करने के लिये आए हैं । कवि ने स्वयं ही विश्वव्यापी राम के मुख से यह कहलवाया है कि मैं :—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया !
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया !
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया !!

वास्तव में 'साकेत' राम-चरित्र का सुन्दर काव्य है । यद्यपि इस में लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि कुछ पात्रों का चित्रण शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन अवश्य कर गया है, परन्तु जहां तक राम और सीता के चरित्र से सम्बन्ध है, वहां तक यह आदर्शों और वर्तमान सामाजिक नीति के सिद्धान्तों के अनुकूल है। 'साकेत' की सब से महान् सफलता 'कैकेयी' के चरित्र-चित्रण में है । उसमें मानव-हृदय की दुर्बलता और पश्चात्ताप का जितनी सफलता से चित्रांकन किया गया है, उतनी सफलता से सम्भवतः 'साकेत' की किसी भी घटना का नहीं ।

गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि उनमें विश्व-बन्धुत्व की भावना विशेष रूप से पाई जाती है । अपने समय की देश की दीन-हीन दशा को देखकर उनकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी । परन्तु गुप्त जी निराश न हुए, आशा की प्रेरणाओं को प्रोत्साहित करते रहे । उन्हें विश्वास था कि अपने अतीत के दर्शन कर वर्तमान और भविष्य भी तदनुरूप बन सकता है । इसलिए वह हमारे सामने खण्डहरों से लाकर चित्र सजाया करते हैं। उन्होंने राष्ट्रवासियों को संदेश भी दिया है :—

"क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो ?
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।"

गुप्त जी की मानसिक पृष्ठभूमि में राष्ट्रीयता का स्वर सब से ऊंचा है। उनके विश्व प्रेम में वह शक्ति है जो घर-घर में सदाचार और उन्नत भावों को प्रतिष्ठित कर दे । वे प्राचीनता के पक्षपाती हैं, परन्तु उसका अन्धानुकरण नहीं करते । प्रतिक्रिया को वे सदा ही हीन समझते हैं । यही कारण है कि

उनकी राष्ट्रीयता विश्वबन्धुत्व में प्राचीनता और नवीनता का मधुर तथा विवेकपूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है।

वस्तुतः वे भारतीय संस्कृति के कवि हैं। उनकी प्रत्येक रचना भारतीय जीवन के बीच प्राचीन आर्य संस्कृति के दर्शन कराती है। 'साकेत' जीवन-काव्य है। हिन्दू-जीवन का आदर्श और राम का चरित्र ही उसका पूर्ण विश्व है। अनार्य सभ्यता ने आर्य सभ्यता को अभिभूत कर रखा था। उस समय धर्म की संस्थापना के लिए ही राम का मानव रूप में अवतार हुआ है। राक्षस रावण ने हिन्दु-धर्म पर कलंक का धब्बा लगा दिया था और राज-लक्ष्मी सीता को हरण कर लंका में ले जाकर रखा। फिर होने वाले राम-रावण के पारस्परिक युद्ध को कवि ने आर्य और अनार्य सभ्यता के संघर्ष के रूप में लिया और राम की विजय में आर्य संस्कृति की विजय दिखाकर कवि ने सर्वत्र आनन्दोल्लास का वर्णन किया है। राम की रावण पर विजय सत्य की असत्य पर अथवा रामत्व की रावणत्व पर विजय का प्रतीक है।

राम को मानव रूप में ग्रहण करने के कारण गुप्त जी ने उनके आदर्श गृहस्थ जीवन का भी चित्र अंकित किया है। उनका पारिवारिक जीवन तो सुखद और मर्यादित है ही, साथ ही उनका सामाजिक और राजनीतिक जीवन भी मर्यादाओं की सीमाओं में बंध कर आदर्श उपस्थित करता है। 'साकेत' में पारिवारिक जीवन के सम्पूर्ण चित्र आदर्श पर ही आधारित लक्षित होते हैं। वस्तुतः 'साकेत' एक जीवन-काव्य है। गुप्त जी के अनुसार तो कला जीवन के लिए है। जो लोग 'कला को कला के अर्थ' ही समझते हैं वे व्यर्थ उसको स्वार्थिनी सिद्ध करते हैं। अतः उनके काव्य में तो आदर्श जीवन के सन्देश स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। राम मर्यादा और धर्म के प्रतीक थे तो लक्ष्मण कर्तव्य और पौरुष के अवतार, तुलसी के लक्ष्मण भी पुरुषार्थ की संजीवनी से अनुप्राणित हैं। गुप्त जी की रचनाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने राम-कथा के भिन्न-भिन्न अङ्गों को नवीन दृष्टिकोण से देखा है। उनके चरित्र आदर्श हैं पर मानवता से परे नहीं। मानवेतर चरित्र उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं, वे मनुष्य को ही देवता बना देना चाहते हैं। परन्तु वे निराशा-

वादी नहीं हैं। वर्तमान प्रवृत्ति करुणा का प्रभाव ही उन पर पूर्ण रूपेण पड़ा है, परन्तु आशा की दिव्य ज्योति का प्रकाश सदैव ही उन्हें अनुप्राणित किया करता है।

'साकेत' में करुण रस ही प्रधान है, शृङ्गार उसका उपकारक बनकर आया है। प्रथम सर्ग ही उर्मिला और लक्ष्मण के आल्हादरूप मधुर विनोद से परिप्लावित दिखाई देता है, जो भविष्य में आने वाली आपत्ति को और भी द्विगुणित कर देता है। उर्मिला के विरहवर्णन का चित्रण करने की प्रेरणा कवि ने कवीन्द्र रवीन्द्र आदि कवियों से प्राप्त की, जिनके हृदय में इस आदर्श प्रतिमा के अनादर का भाव खटका और उन्होंने तुलसी व वाल्मीकि आदि कवियों को भी इसके लिए दोषी ठहराया। अतः इस कवि ने भी उपेक्षित आत्माओं का बड़ी मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता से चित्रण किया है। इस दृष्टि से भी कवि का विशेष महत्व है।

प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी गुप्त जी का 'साकेत' एक सफल काव्य है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के नियमों के अनुकूल ही प्रस्तुत काव्य में सभी नियम पाये जाते हैं। महाकाव्य के एक आवश्यक अंग प्रकृति-चित्रण की भी इसमें सुन्दर योजना की गई है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के नाना व्यापारों का मार्मिक चित्रण किया गया है। गुप्त जी ने भी प्रकृति के इसी रूप को अपनाया है। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति का तीन रूपों में प्रयोग किया है—शुद्ध प्रकृति का वर्णन, प्रकृति का आलंकारिक रूप में प्रयोग और पात्रों की भावनाओं से प्रतिबिम्बित वर्णन। परन्तु उन्होंने जहां-कहीं भी प्रकृति-सुन्दरी का आंचल पकड़ा है वहीं उनकी तूलिका भी सुन्दर रंजित चित्रों को चित्रित कर जाती है।

काव्य में अलंकारों को भाव-प्रकाशन के उपाय मात्र के रूप में ही लिया है। वे केवल अभिव्यंजना की प्रणालीमात्र हैं। उनके अलंकार भाव-व्यंजक होकर आए हैं, काव्य के भार होकर नहीं। काव्य की कोमल कान्त शब्दावली भी प्रसाद गुण से युक्त है। हां, कहीं-कहीं गम्भीर भी हो उठती है। वह भी परिस्थिति के कारण ही। उनकी भाषा भावों के अनुकूल चलती है। अपनी भाषा के बल पर गुप्त जी ने मानव-जगत् और प्रकृति-जगत् के चित्रों में

सजीवता का संचार कर दिया है। वर्तमान युग के कवियों में गुप्त जी ने सब से अधिक विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ उनके काव्य में गीति तत्व विशेष रूप से पाया जाता है जो काव्य का सर्वप्रधान गुण है।

प्रश्न ३—साकेत के प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—गुप्त जी प्रकृति के चतुर चितेरे हैं। उन्होंने प्रकृति को यथातथ्य रूप में देखकर अपनी सुन्दर शब्दावली द्वारा चित्रण किया है। उनकी प्रायः प्रत्येक कृति प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा से सुसज्जित है। विशेषतः 'पंचवटी' और 'साकेत' प्राकृतिक दृश्यों से अनुप्राणित हो उठे हैं। 'साकेत' महाकाव्य में जहां जीवन की सम्पूर्ण परिस्थितियों का समावेश किया जाता है, वहां साथ-साथ प्रकृति का विविध छविमय चित्र भी अंकित किया जाता है। अतः गुप्त जी ने अपने 'साकेत' महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण यथातथ्य रूप में अंकित किया है। प्रारम्भ में ही प्रभात का वर्णन है जो ललित-कल्पना-कलित है। प्रभात की लालिमा पृष्ठभूमि के रूप में उर्मिला के सौन्दर्य को द्विगुणित करती है:—

खुल गया प्राची दिशा का द्वार है।
गगन सागर में उठा क्या ज्वार है?

× × ×

अरुण पट पहने हुए आल्हाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं।
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं॥

प्रथम सर्ग के अनन्तर राज्य-विधान के क्षत-विक्षत हो जाने पर कवि को प्रकृति-सुन्दरी की ओर निहारने का अवसर ही न मिला। फिर रामचन्द्र के चित्रकूट प्रवास ने उन्हें प्रकृति की ओर आकर्षित किया। चित्रकूट की सौन्दर्य सुषमा को देखकर कवि मुग्ध हो उठा और उसका कण्ठ स्वर आलाप उठा।

"शिला कलश से छोड़ उत्स उद्रेक सा,
करता है नग नाग प्रकृति अभिषेक सा।
क्षिप्त सलिलकल किरण योग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न मणि सम्पदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहां हर्ष विस्मय बड़ा॥

फिर आगे चलकर कवि उर्मिला के वियोग का चित्रण करने के हेतु प्रकृति के कुछ चित्रों को उपस्थित करता है। इन चित्रों में उर्मिला की विरह विदग्धता को तीव्र करने की सन्तप्तता नहीं है, वरन् वे उसके आश्वासन के प्रतीक रूप बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं गुप्त जी ने कहा:—

"साधारणतः विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। किन्तु उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानों विद्रोह करती है। वह सब का स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको प्रियतम की आभा दिखाई देती है।" शरद् ऋतु में खंजनों को देखकर उसे अनुमान होता है मानो उसके प्रियतम ने इधर अपने नेत्र घुमाए हैं। तभी तो कवि ने अपनी काव्य कला द्वारा रूपकातिशयोक्ति से अलंकृत करते हुए शरद् ऋतु के सुहासित दृश्य का चित्रांकन इस प्रकार किया है:—

'निरख सखी, ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये।
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये।
घूमे वे इस ओर वहां, ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये।
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये।
स्वागत, स्वागत शरद्, भाग्य से मैंने दर्शन पाये।
नयन ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये॥"

इस प्रकार भावों की लपेट में प्रकृति के न जाने कितने रूप खुलते हैं। कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है,

कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है और कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। ग्रीष्म में इधर दीन मृग दुःखी हैं, उधर मीन विकल हैं, हेमन्त में यदि उर्मिला घर में दुर्बल सी थी तो पद्मिनी सर में नालशेष थी, शिशिर में मकड़ी सहानुभूति दिखाती है क्योंकि वह भी तो उर्मिला जैसी जालगता थी। वसन्त में षट्पदी भी भ्रमर से उसी प्रकार गतिहीन बैठी थी जिस प्रकार निज सद्म में सप्तपदी उर्मिला। इसी प्रकार कवि ने समस्त प्रकृति को सहृदय और सजीव बनाकर उसे सहानुभूति से पूर्ण कर दिया है।

सखि ! न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूतिवश,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहां समान दशा ॥

गुप्त जी ने कहीं-कहीं प्रकृति के गायन के स्वर का भी सुन्दर चित्रण किया है। शरत्कालीन स्वच्छ नदी की धारा ढलमल-ढलमल करती हुई प्रवाहित होती चली जा रही है। इस का सजीव चित्रण कर कवि ने चित्र में भी गतिशीलता को अनुप्राणित कर दिया है—

सखि निरख नदी की धारा,
ढलमल-ढलमल चंचल-अंचल झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके।
उछल-उछल कर छल-छल करके।
थल-थल तरके, कल-कल धरके।
बिखराता है पारा।
सखि निरख नदी की धारा ॥

कल्पना की चरम सीमा पर पहुँच कर कवि कभी-कभी प्रकृति के साथ ऐसा व्यवहार करता है मानों वह सखी-सहेली हो। यथा साकेत में :—

अरी सुरभि, जा लौट जा, अपने अंग सहेज।
तू है फूलों में पली, यह कांटों की सेज ॥

प्रकृति के साथ ऐसी तादात्म्य भावना अभिनव युग की ही विभूति है और है यह विभूति गुप्त जी के प्रकृति-चित्रण की भी। गुप्त जी ने

विराट् दृश्य को कहीं विराट् कहीं लघु चित्रों में बाँधने का भी प्रयास किया है। समस्त 'साकेत' पुरी घनीभूत तम-तोम से इस प्रकार आच्छादित है जैसे नीले कमल में भ्रमर सोया हुआ हो। साकेत पुरी भी भ्रमर बन कर अन्धकार रूप नीले कमल में शयन कर रही है। यहाँ पर कवि ने साकेत-पुरी की विशालता का लघुरूप बड़े ही कौशल से दिया है :—

"तम में क्षिति-लोक सुप्त यों,
अलि नीलोत्पल में प्रसुप्त ज्यों।

इसी प्रकार—

"वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा।"

में विराट् दृश्य को लघु रूप में इस प्रकार चित्रित कर दिया है जैसे मुद्रा में नग को जड़ दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि कवि का दृश्यों के रूप का यह आवर्तन-परिवर्तन उपयुक्त प्रकार से घड़ा गया है। उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। परन्तु क्या प्रकृति का केवल इतना ही विधान है ? नहीं, जहाँ वह एक ओर चेतन रहस्यमयी है वहाँ दूसरी ओर उपदेशिका भी। पंत ने इसी भावना का सूत्रपात कितने सुन्दर शब्दों में किया है :—

"वन की सूनी डाली पर,
सीखा कली ने मुसकाना।
पर मैं सीख न पाया अब तक,
सुख से दुःख को अपनाना॥"

इस प्रकार बहुत से ऐसे सुरम्य चित्रों से ही 'साकेत' सुशोभित है। कवि ने प्रकृति-सुन्दरी को मानवीय भावों का चोला पहनाया है जिसके कारण मानव उसकी उपेक्षा न कर उसे अपनी समवयस्का समझने लगा है। यह है गुप्त जी की आधुनिक प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी विशेषता।

प्रश्न ४—साकेत के अनुसार उर्मिला का चरित्र-चित्रण कीजिये।

उत्तर—गुप्त जी की अमर कृति 'साकेत' चरित्र-प्रधान काव्य है। काव्य की नायिका उर्मिला के चरित्र को कवि ने स्थान-विस्तार और सहानुभूति की दृष्टि से सर्वोपरि स्थान दिया है। अतएव उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम,

सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता गया। ऐसे चरित्र-प्रधान काव्य के लिए यह स्वतः ही वांछनीय है कि अन्य पात्र मुख्य पात्र के ऊपर घात-प्रतिघात द्वारा प्रकाश डालें। इस कसौटी पर 'साकेत' का चरित्र-चित्रण खरा उतरता है। 'साकेत' के सभी पात्र उर्मिला के व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। लक्ष्मण का जीवन तो उसके जीवन से छाया-प्रकाश की भांति सम्बद्ध है—उसकी निर्भय वीर वृत्ति का भी उसके चरित्र-विकास से विशेष सम्बन्ध है। 'साकेत' के रंगमंच पर यवनिका के उठते ही उर्मिला राजवधू और प्रेमिका के रूप में सविलास स्मित रेखा लिये सौमित्रि सहित मधुर वाग्विनोद में संलग्न दिखाई देती है। उनका यह सुमधुर हास-विलास और दो अमर प्रेमियों का प्रेम हिन्दी साहित्य में गीतातीत है, मौलिक और सर्वथा निर्दोष है। परन्तु उर्मिला की यह हर्ष विभोर झांकी क्षणिक ही दिखाई देती है। घटनाओं की घटा अकस्मात् ही घिर उठती है और उर्मिला की सुखों की झांकियां अब दुःखों की घाटियां बन जाती हैं।

प्रथम सर्ग के पश्चात् वह मुस्कराती हुई दिखाई देती है और कवि भी विषाद-वर्णन के हेतु पार्श्वभूमि का निर्माण करता है। इसी समय वन-गमन की तैयारियां होती हैं। वस्तुतः यही तो वियोग से अधिक दारुण वियोग का अवसर होता है। सचमुच ही उर्मिला की कठिन परीक्षा का समय आ जाता है। इसी लिए तो प्रवत्स्यत्पतिका का चित्र प्रोषितपतिका से अधिक मार्मिक एवं मर्मस्पर्शी होता है। पाषाणवत् हृदय भी उस भावी विरहिणी की तापित दशा को देखकर सिहर उठता है। निठुर विधि ने तो 'विरह !!' इस शब्द को कराहते हुए अश्रु-मसी से लिखा है, जिसका नाम सुनते ही मानव की हृत्-तन्त्रियां विकम्पित हो उठती हैं। प्रिय के प्रयाण के समय चिन्ता, काम, आशंका, मोह, निरवलम्बता, एकाकीपन का भाव आदि न जाने कितने भाव उद्दीप्त होते हैं, हृदय की अकथनीय दशा होती है। आज उर्मिला भी प्रवत्स्यत्पतिका है। प्रिय उसको इस भय से कि—

"प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे"

यहीं पर रहने का आदेश देते हैं :—

रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो !
यह भी मेरे लिए सहो,
और अधिक क्या कहूं, कहो ?"

अब उर्मिला का क्या आग्रह था कि वह संग जाने के लिए कहती। विवशता के वशीभूत होकर हृदय की चाप को त्याग ही तो दिया। मानव के मांसल हृदय को उसने देवता का प्रस्तर हृदय बना लिया और वर-वदन प्रस्फुटित कर ही उठी:—

हे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन,
आज स्वार्थ है त्याग भरा,
हो अनुराग विराग भरा ।

उसके हृदय में ईर्ष्या की भावना लेशमात्र भी नहीं होती, परन्तु परिस्थिति उसको विवश कर देती है। सीता वल्कल लेने के हेतु राम को विवाद में यह कह कर परास्त कर देती है :

"अथवा कुछ भी न हो वहां,
तुम तो हो जो नहीं यहां ।
मेरी यही महा मति है,
पति ही पत्नी की गति है ॥"

राम को निरुत्तर हो स्वीकृति देनी पड़ती है। सीता की यह तर्क-वितर्क-मयी बातें उर्मिला की स्थिति को और भी गहनतर बना देती हैं। हृदय में विरोधी भावों की एक आंधी सी ऊधम मचाती है। दुःख भार से वह दीन मुग्ध होकर "कह कर हाय, धड़ाम गिरी।" उर्मिला की इस आकुल अवस्था को देख कर लक्ष्मण और सीता भय से शंकित हो उठती हैं। सीता जी व्यजन डुलाती हुई उसकी और अपनी स्थिति का अन्तर समझाती हुई कह उठती हैं—

"आज भाग्य है जो मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा ॥"

भावी में जो होना था सो हो गया। लक्ष्मण वियोग-जयी होकर चले गये, उर्मिला एकाकी प्रेममयी प्रतिमावत् बन रह गई। नवयौवन की

सरसता में ही यति का वेश टूट पड़ा और दोनों को वियुक्त होना पड़ा। अब तो पुष्पवत् हृदय पर अवधि रूप भारी शिला का भार पड़ गया था, जिसको दृग-जल धार तिल-तिल काट रही थी। नवनीत की पुतली पर विपत्ति का पहाड़ आ गिरा। विधि की विडम्बना, अब वह कैसे सुरक्षित रहता। केवल कंकाल मात्र ही देखने को बच रहा—

"मुख कान्ति पड़ी पीली-पीली, आंखें अशान्त नीली-नीली ॥

चित्रकूट में पुनः सीता जी के चातुर्य से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। उस मिलन में भी विस्मय, आश्चर्य, करुणा और प्रेमोत्कर्ष की भावनाएं क्रमिक विकास से उद्भासित होती हैं। उर्मिला वियोग में इतनी कृशगात हो जाती है कि लक्ष्मण चित्रकूट में उसे देखते ही आश्चर्य चकित हुए अवाक् और स्तब्ध से भ्रमित हुए खड़े रहते हैं। उन्हें यह भ्रम विस्मय में डाल देता है कि वस्तुतः यह प्रतिमा उर्मिला ही है, अथवा उसकी छाया। अनुराग और कर्त्तव्य की भावना से परिपूर्ण उर्मिला प्रिय की इस दशा को देख पुकार उठती है—

"मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी ॥

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी हो गया, कदाचित् उपवन में आने से डरता होगा कि पुनः न बन्धन-पाश में बांध दिया जाऊं। परन्तु कर्त्तव्य भावना से अनुप्राणित उर्मिला विश्वास दिलाती है कि "मैंने अपनी इच्छानुसार ही तुम्हें छोड़ा है, पुनः न बाँध सकूंगी।" इन शब्दों को प्रिया-वदन से श्रवणेन्द्रिय में परिपूरित करते ही लक्ष्मण के हृदय में कैसा तूफान उठा, वह शब्दातीत है। अतः—

"गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया पद तल में,
वह भीग उठी प्रिय चरण धरे दृग जल में ॥"

वह आवेश के साथ आवेश का मिलन था—दो हृदयों के अथाह सागर का प्रगाढ़ मिलन, और उस मिलन में संसार लय हो गया। उर्मिला के त्याग के समक्ष लक्ष्मण संकोच से सिमट से गये। बात रखने के लिए सफाई के कुछ शब्द कहने ही पड़े—

"वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझ को निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।।"

प्रिया उर्मिला का कण्ठ प्रिय के वचन सुनकर गद्गद भाव से अवरुद्ध हो उठता है । अनेक भावनाओं का संघर्ष मन में होता है । कुछ मुख से निकल पाता नहीं, बस इतना ही कह पाती है—

"हा स्वामी कितना कहना था, कह न सकी कर्मों का दोष,
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष ।।"

वास्तव में चित्रकूट का यह उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन साकेत की एक आदर्श घटना है जिसमें विवश विषाद, आवेगपूर्ण अनुराग तथा दृढ़ कर्तव्य-भावना की त्रिवेणी का समागम है ।

तदुपरान्त उर्मिला प्रोषितपतिका बन जाती है, उसका वियोगिनी रूप विकसित होता है। 'साकेत' का सम्पूर्ण नवम सर्ग मानो उर्मिला के करुण आंसुओं से ही लिखा गया हो । कभी यह उन्मादिनी बन के पशु-पक्षियों से भी संवेदना प्रकट करने लगती है और कभी अपना नराश्यपूर्ण जीवन-गाथा पर करुण हो उठती है । नवम सर्ग में कवि ने जो विरहिणी उर्मिला के विरहोद्गारों का परिचय दिया है उसमें कवि की मनोवैज्ञानिक कला का सुन्दर दिग्दर्शन होता है । इसी विरह में एक वार कामदेव उर्मिला की परीक्षा लेने आता है, किन्तु वह महाव्रता सिंहिनी की भाँति गरज उठती है:—

"बल है तो सिन्दूर बिन्दु यह हर नेत्र निहारो ।"

सीता जी ने तो वन में ही मनभाया राजभवन बनाया था और उर्मिला ने राजभवन को ही तपस्विनी की उटज का रूप दिया। उमा ने अखण्ड तपस्या करके अचल सुहाग भरा दिन देखा था तो उर्मिला भी क्या उससे कम थी। उसने तो अपने अचल सुहाग को अखण्ड तपस्या बना दिया । चौदह वर्ष की अखण्ड तपस्या के पश्चात् जब उसने अपने देव के दर्शन पाये तो उसके ऐहिक जीवन की निधि तो रिक्त हो चुका थी, निर्धनता ने अपनी स्वराज्य पताका के बल पर अधिकार कर लिया था, हाँ, थीं केवल

दो अश्रुभरी आंखें ही। ये पानी में मछली सी आंखें ही मानो कहती हैं—

"पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी,
वह खोया धन आज कहाँ सीख पाऊँगी ।"

उर्मिला का यौवन उसके पति के चरणों में समर्पित तो था ही वह यौवन निधि उसके पति की ही धरोहर स्वरूप थी। अतः उस धरोहर की क्षति के कारण उसको दुःख होना स्वाभाविक ही था।

चौदह वर्ष की दीर्घकालीन अवधि-शिला, जिसको उर्मिला ने दृग-जल की अविरल अश्रुधारा से तिल-तिल काटा था, अन्त में जब कट ही गई, तो इन दो बिछड़े प्राणों की मिलन-वेला में कवि भी हर्षातिरेक की चरम सीमा पर पहुँच गया और उसकी लेखनी भी मर्मस्पर्शी दृश्य को अंकित किये बिना न रह सकी—

"लेकर मानों विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।
'नाथ नाथ' क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया,
'प्रिये-प्रिये, हां आज—आज ही वह दिन आया' ॥"

और स्वयं रामचन्द्र जी भी उर्मिला के कठिन तापस-जीवन से मुग्ध हो गये और प्रशंसा-सूचक वाग्धारा प्रवाहित कर उठे—

"तूने सहधर्मचारिणी के भी ऊपर।
धर्म-संस्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू पर ॥"

प्रश्न ५—साकेत के विरह-वर्णन की उद्धरण देते हुए समीक्षा कीजिये।

उत्तर—गुप्त जी की उर्मिला प्रोषितपतिका है और फिर उनके प्रेमी-जीवन का विश्लेष तो नव-वय में ही हो गया था। वियोग की घड़ियों में उर्मिला के जो उच्छ्वास वरवस निकले हैं और उनके बड़े-बड़े नयनों ने जो अश्रु की अविरल धारा प्रवाहित की है, उससे न केवल उर्मिला का अंचल ही भीगा है वरन सम्पूर्ण साकेत-पृष्ठ उसके संतप्त आँसुओं से गीले हैं। विरह की अधिकता के कारण यदि इस काव्य को विरह-काव्य भी कहा जाय तो उसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

उर्मिला का वियोग उसके प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में प्रारम्भ हो जाता है। वियोग का समय तो वियोग से भी अधिक दारुण होता है, प्रिय के प्रवास के समय चिंता, दुःख, मोह, काम, निराश्रितता आदि न जाने कितने भाव उद्दीप्त होते हैं। उर्मिला भी प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में कोणस्थ आंचल भीगा कर रही है। उर्मिला केवल उर्मिला ही ऐसी अभागिनी है। उसमें ईर्ष्या का लेश मात्र भाव भी नहीं है, वरन वह तो विवशता के पाश में बंध कर सब कुछ सह लेती है। वह त्याग और अनुराग की आदर्श प्रतिमा है। राम वनवास के समय सीता राम को यह कह कर कि—

"अथवा कुछ भी न हो वहां,
तुम तो हो जो नहीं यहाँ।
मेरी यही महामति है,
पति ही पत्नी की गति है।"

इससे राम को स्वीकृति देनी पड़ती है। सीता ने तो इस प्रकार अपना भाग ले लिया, उर्मिला ने वह भी त्याग दिया। कर्तव्य की वेदी पर चढ़कर उसने अपने को स्वामी के चरणों में बलिदान किया और मन को समझाया—

"हे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन,
आज स्वार्थ है त्याग भरा।
हो अनुराग विराग भरा॥"

उनकी वेदना और व्यथा के मर्म को सीता ने पूरा-पूरा समझा और आंसू बहाती हुई सत्य का प्रकाशन करती हुई बोली—

"आज भाग्य है जो मेरा,
वह भी हुआ न हाय तेरा।"

लक्ष्मण वियोगजयी हो कर चले गये और उर्मिला प्रेममयी बन कर रह गई। नव वय में ही उसका विश्लेष हो गया। विरह-ताप से संतप्त और वियोगजयी लक्ष्मण का क्षणिक मिलन एक बार फिर चित्रकूट में सीता के चातुर्य से होता है। दो वियोगी हृदयों का यह मिलन गुप्त जी की नवीन कला से हुआ है। सीता, उर्मिला की वेदना को जानती है, अतः वह लक्ष्मण को किसी बहाने से कुटीर में यह कह भेजती है :

हे तात ! ताल-सम्पुटक तनिक ले आना,
बहनों को वन उपहार मुझे है देना ।

इस पर वे जैसे ही सीता जी की आज्ञा पाकर सूर्य-कर निकर से सरोज-पुट में प्रविष्ट हुए तो क्या देखा कि वियोग में कृश होते-होते उर्मिला केवल रेखामात्र रह गई है। वे उसको देखकर स्तब्ध से विमूढ जड़वत् खड़े रह जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि वह उर्मिला ही है अथवा उसकी छायामात्र। अन्ततोगत्वा उर्मिला ही उनकी इस संशयात्मक वृत्ति को देख पुकार उठती है—

"मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी।
मैं बाँध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी ॥"

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी हो चुका है । इसी से सम्भवतः उसको भय हो कि फिर कहीं उपवन में बाँध न लिया जाऊं । इस पर वह विश्वास दिलाती है—नहीं, डरो नहीं, मैंने अपनी इच्छा से तुम्हें छोड़ा है, अतः पुनः न बांधूंगी । इन शब्दों को सुन कर लक्ष्मण का हृदय जिन संघर्षपूर्ण भावों के तूफान से उद्वेलित हो उठा, उसका वर्णन शब्दातीत है, अतः—

"गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया पद तल में ।
वह भीग उठी प्रिय-चरण धरे दृग जल में ॥

यह उद्वेग का उद्वेग के साथ और आवेश का आवेश से मिलन था । हृदय से हृदय जा मिला और उसी में समस्त संसार लय हो गया । उर्मिला की त्याग भरी दृष्टि के सामने लक्ष्मण संकुचित से हो रहे । उनका हृदय जानता था कि वह अपराधी है और उसने उसके साथ अन्याय किया है । मन ही मन लज्जित तो हो उठे परन्तु साथ ही कुछ सफाई देने का साहस भी किया और बोल उठेः—

"वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझ को निज योग्य ।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ॥"

उर्मिला भी विचलित हो उठी । प्रिय-मिलन से पूर्व उसने न जाने हृदय में क्या-क्या प्रिय को कहने के लिए ठान रखा था परन्तु विधि की विडम्बना ही विचित्र है कि इस समय भी वह प्रिय के समक्ष अपने हृदय निधि के कपाटों को अनावृत न कर सकी । निस्सहाय उसकी वाणी मुखरित हो उठी :—

"हा स्वामी कितना कहना था, कह न सकी कर्मों का दोष ।
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है संतोष ।"

दो संतप्त हृदयों का बस यही क्षणिक मिलन था, जिसमें गुप्त जी ने बड़े ही कला-कौशल से अनुभवों द्वारा ही मिलन सिद्धि की है। यहीं से उर्मिला प्रोषितपतिका बन जाती है और वेदना को ही अपने जीवन का श्रेय मान कर चलती है, क्योंकि वेदना प्रिय की स्मृति का प्रमुख माध्यम बन कर आती है। बस यही प्रिय की पुण्य स्मृति उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य है और यही उसकी साध शेष रह गई है। तभी तो वह उसकी श्रेयता का गुणगान करती है :—

"वेदने तू भी भली बनी,
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
मन सा मानिक मुझे मिला है, तुझ में उपलखनी,
तुझे तभी छोड़ूं जब सजनी, पाऊं प्राण धनी ।।"

विरहिणी उर्मिला को विरह ताप से संतप्त देखकर मलयानिल भी सशंकित हो उठता है, उसे भय है कि कहीं वह उसके विरह-दग्ध शरीर से लग कर लू न बन जाये और अपने आपको ही जला न डाले। इस पर उर्मिला स्वयं ही उसको लौट जाने को कह देती है—

"जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि शाप ।
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप ।।"

ऐसे स्थलों पर ऊहा का भय होते हुए भी कवि ने अपने कला कौशल से उसको संभाल लिया है। वस्तुतः उर्मिला का विरह जीवन से परे की कोई वस्तु नहीं। उसका विरह नित्य प्रति गृहस्थ जीवन से ही संबद्ध है। न तो वह कुलकानि बेच कर प्रेयसी बनी है और न ही उसका उन्माद साधारण जीवन की किसी प्रेम-योगिनी से प्रलयंकर ही है। हां, मिलने की आकांक्षा तो उसमें है परन्तु वह यह नहीं चाहती कि उसके प्रिय लक्ष्मण अपने धर्म अथवा उद्देश्य को छोड़ कर चले आएं। वह तो एक आदर्श विरहिणी नायिका है। यदि प्रिय को स्वप्न में भी देखती है तो लौट आने के लिए उत्प्रेरित नहीं करती है। मिलन की तीव्र अभिलाषा होने के कारण वह स्वयं

भले ही लक्ष्मण के निकट पहुँचने की आकांक्षा करती है :—

यह आती इस मन में,
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।

\+ × ×

बीच बीच में मैं उन्हें देख लूँ, मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जाएं तब लौटूँ उसी धूल में लोट।

विरहिणी का जीवन समय की शृंखलाओं से जकड़ा हुआ है। समय काटे नहीं कटता। प्रातःकाल होता है। बड़ी कठिनाई से मध्यान्ह आता है, फिर सन्ध्या और रात तो कल्प ही हो जाती है। समय की शृंखला काटने का कोई साधन नहीं, हो भी तो उसका उपयोग करने की क्षमता नहीं। वह कोई ऐसा साथी चाहती है जिससे उसका समय शीघ्र ही व्यतीत हो, क्योंकि प्रिय की आशा में ही उसकी सांसें रुकी हैं। जब तक आशा है तब तक प्राण भी अपने क्रिया-कलाप और गतिविधि में संलग्न रहते हैं। समदुःखी स्वभाव वाले से आत्मीयता हो जाने के कारण उर्मिला सभी प्रोषितपतिकाओं को निमन्त्रण देती है :—

प्रोषितपतिकाएं हों,
जितनी भी सखी, उन्हे निमन्त्रण दे आ।
समदुःखिनी मिलें तो दुःख बंटे, जा।
प्रणय पुरस्सर ले आ।

परन्तु जब इतनी विशाल और विस्तृत पुरी में उसे कोई समदुःखिनी नहीं मिलती तो वह माता सरयू के पास जाती है, उससे न जाने कितनी अतीत की स्मृतियां कहती है। उसके साथ हंसती है और कभी अपनी और उसकी दशा में तुलना कर हृदय मसोस कर रह जाती है—

"गति जीवन में मिली तुझे
सरिते बंधन की व्यथा मुझे।"

आगे चल कर कवि ने षड्ऋतु वर्णन की प्रतिक्रिया को विरहिणी नायिका के हृदय में भावनाओं के उद्दीपन के हेतु प्रस्तुत किया है, इससे उसकी दिन-

चर्या पर प्रभाव पड़ा है। जिससे उसका समय व्यतीत करने का साधन प्रस्तुत हो जाता है।

कामदेव पुष्पबाण से उस पर आक्रमण करता है इस पर वह अत्यन्त व्यथित हो उठती है और अत्यन्त दीन हो कर उससे प्रार्थना करती ह—

"मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।"

परन्तु उसकी धृष्टता को जब हटते नहीं देखती तो सती क्रुद्ध हो जाती है और आह्वान करती है—

"बल है तो सिन्दूर बिन्दु यह, हर नेत्र निहारो।"

उर्मिला के हृदय से उद्बुद्ध होती हुई यही भावनाएं तीव्र से तीव्रतर होती जाती हैं और अन्त में उसको अर्धमूर्छित सी कर देती हैं। यह अर्ध विस्मृति की अवस्था में विरह वर्णन साकेत की नूतन और प्रथम वस्तु है। उसमें रूढ़ि का पालन नहीं, स्वाभाविक स्मृति का चित्रण है। इस अर्धविस्मृति की ओट में, इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। अतः यह स्पष्ट है कि विरह वर्णन की शैली अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। उसके विरह में यदि एक ओर प्राचीन शास्त्रकारों की छाप है तो दूसरी ओर नूतनता का समावेश भी स्वतः हो गया है।

प्रश्न ६—महाकाव्य की दृष्टि से साकेत पर विचार कीजिये।

उत्तर—खड़ी बोली के महाकाव्यों में 'साकेत' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता महाकाव्य की विशेषताओं पर ही आधारित है। संस्कृत के रीति ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण उपलब्ध होते है उनको यथासाध्य रूप में चरितार्थ किया गया है। प्रारम्भ में गणेश को लेकर मंगलाचरण और सरस्वती की वन्दना है। कथा लोक सिद्ध नायक की है जो सद्वंश जातीय है। प्रधानतः शृंगार के वियोग का चित्रण है; वीर, करुण आदि गौणरूप में आए है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में धर्म की सिद्धि होती है। वर्णनों में नगर (साकेत), प्रेम, यात्रा, प्रभात, सन्ध्या, रजनी, सरिता (सरयू गंगा), पर्वत (चित्रकूट), षड् ऋतुएं; मृगया, वन, रण-सज्जा, युद्ध आदि के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त कला, देशानुराग, दाम्पत्य सम्बन्ध, जड़वाद, राजा-प्रजा के

सम्बन्ध, उपयोगितावाद, नारी की महत्ता आदि पर भी व्याख्यान हैं। इस प्रकार महाकाव्य के सभी नियमों का पालन किया गया है। अतः 'साकेत' महाकाव्य की दृष्टि से सफल काव्य है। कुछ आलोचकों को 'साकेत' के महाकाव्यत्व पर आपत्ति है क्योंकि उसमें कहीं-कहीं नियमोल्लंघन भी पाया जाता है। परन्तु इस दृष्टि-से 'काव्य' को महाकाव्य के पद से गिराना अन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार तो रामायण में भी सर्ग की दृष्टि से 'आठ' सर्गों की अपेक्षा सात ही सर्ग हैं, परन्तु उसके महाकाव्यत्व में शंका नहीं की जाती है। 'साकेत' में नियमों को पूर्णतः चरितार्थ किया गया है, भले ही उसमें अन्य कोई त्रुटि हो। 'साकेत' सर्गबद्ध रचना है और महाकाव्य 'साकेत' में आठ की अपेक्षा बारह सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में अलग-अलग एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। संगीत का, जो महाकाव्य की दृष्टि से आवश्यक माना गया है, 'साकेत' में पूर्ण स्थान है। मौलिकता की दृष्टि से नवम सर्ग में कुछ ऐसे छन्दों का प्रयोग किया गया है जो रीतिकालीन प्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त महाकाव्योचित मंगलाचरण आदि का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। 'सरयू' की महत्वपूर्ण सृष्टि इस बात की द्योतक है कि उसमें महाकाव्योचित लक्षणों का पूर्णतः समावेश हुआ है। 'साकेत' की महत्ता को कितनी सुन्दर शब्दावली द्वारा चित्रित किया गया है :

"स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुर-सरिता कहाँ, सरयू कहाँ।
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती॥"

'साकेत' के नायक लक्ष्मण भी सर्वगुणसम्पन्न वीर योद्धा हैं। कवि ने उनके तेजस्वी रूप का परिचय "शौर्य-सह-सम्पत्ति लक्ष्मण-उर्मिला" के रूप में दिया है। उनके अपने शब्द, उनके कृत्य, दूसरों के उनके विषय में शब्द :—

"तूने निज नर-नाट्य किया प्राणों के पण से।
इस पौरुष के पड़े अमरपुर में भी लाले॥"

उनकी इसी विशेषता का संकेत करते हैं। जीवन की अन्य साधनाओं की अपेक्षा वे कर्त्तव्य-पथ पर सदा आरूढ़ रहते हैं और इसी कर्त्तव्य-भावना से

उत्प्रेरित होकर वे अपनी प्रिया उर्मिला से भी नववय में विश्लेष कर चले जाते हैं। इस भ्रातृ-प्रेममय कर्त्तव्य में जो त्याग की भावना छिपी है वही आदर्श नायक का प्राण है। 'साकेत' में वे पुण्य-प्रेम की पावन प्रतिमा और तेजोमय रूप में दिखाई देते हैं।। यहाँ यह कमल से भी कोमल और कुलिश से भी कठोर चित्रित किए गये हैं—केवल कर्त्तव्य-भावना के पथ पर आरूढ़ होकर। साकेत की नायिका उर्मिला है जो उस कुल का सहृदय वधू है, जो अपनी प्रतिष्ठा में अद्वितीय था। लक्ष्मण ने यदि भ्रातृ-प्रेम का आदर्श खड़ा किया था तो उर्मिला ने भी त्यागमय जीवन से पति की साधना में योग दिया। 'साकेत' के कवि ने वियोगिनी उर्मिला को अपने महाकाव्य का केन्द्र बनाया है। आरम्भ में वह भी लक्ष्मण की भांति भावुक-प्रेमिका मात्र है, परन्तु नवें दसवें सर्ग में विरह की आग में 'तपकर' वह यशोधरा की नाईं पूत हो उठी है। कालिदास के कुमारसम्भव आदि काव्यों में प्रेम के इसी रूप को प्रदर्शित किया गया है। सूरदास ने राधा को भी इस रूप में उपस्थित किया है। परन्तु क्या पतिव्रता लक्ष्मणसंगिनी को इस रूप में दिखाना वाञ्छनीय था। कदाचित् इसी प्रश्न को सोचकर कवि ने द्वादश सर्ग में उर्मिला को अयोध्या की सेना के सम्मुख वीर क्षत्राणी के रूप में उपस्थित किया है, शत्रुघ्न लंका को लूटने की बात कहते ही हैं किः—

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।

\+ \+ \+ \+

"गरज उठीं वह—नहीं, नहीं पापी का सोना,
यहां न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना..."

यहां पर उर्मिला में महान आदर्श उपस्थित कर दिया है। उर्मिला के चित्रण में गुप्त जी का अक्षर अक्षर अनुप्राणित हो उठा। उर्मिला की अश्रुसिक्त तस्वीर को अन्धकार के गह्वर से निकाल कर प्रतिभा के प्रकाश में लाने के लिए ही कवि ने महाकाव्य के सृजन का अनुष्ठान किया है।

"लक्ष्मण के शर की अनी बनाकर टांकी,
मैंने विरहिन की एक मूर्ति है आंकी।

आंसू नयनों में, हंसी बदन पर बाँकी,
कांटे समेटती, फूल छींटती झाँकी ।।

अतः 'साकेत' का प्रधान रस विप्रलम्भ शृंगार है। उर्मिला के विषाद को ही इस महाकाव्य में स्थान दिया गया है। अन्य रसों—करुण और शान्त का भी परिपाक हुआ है, परन्तु गौण रूप में। कौशल्या के उद्‌गारों में शान्त रस और रावण के साथ युद्ध वर्णन में वीर रस का प्रधान संचार हुआ है। इसके अतिरिक्त 'साकेत' में नाटकीय तत्वों का भी स्वयमेव विधान हो गया है। संवादों के उपयोग से महाकाव्य का कथा-प्रवाह अत्यन्त रोचक बन गया है जिससे महाकाव्य में अनुपमता आ गई है। नाटकीय विषमता का भी सुन्दर उपयोग हुआ है। इस प्रकार 'साकेत' में सानुबन्ध कथा-वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद आदि वर्त्तमान हैं।

हिन्दी के समीक्षकों ने संस्कृत के आधार पर दो प्रकार के महाकाव्यों की सृष्टि की है—घटनाप्रधान और चरित्रप्रधान। 'साकेत' प्रधानतः चरित्रप्रधान महाकाव्य है, यद्यपि उसमें घटनाओं को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। लक्ष्मण का आदर्श और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन एक साथ व्याप्त हैं। वास्तविकता की दृष्टि से जितने भी पात्रों की सृष्टि हुई है, सभी कोई न कोई आदर्श उपस्थित करते हैं। राम तो हैं ही आदर्श राम, जो कवि द्वारा मानव रूप में चित्रित किये गए हैं। उनके साथ उनकी प्रकृति सीता भी आदर्श की प्रतिमा है। शेष—भरत, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि भी एक आदर्श भावना की रूपरेखा अंकित करते हैं। अतः महत् चरित्र की कल्पना कवि की मुख्य विशेषता रही है।

इसके अतिरिक्त स्थूल रूप से भी महाकाव्य के दो वर्ग माने गए हैं—परम्परागत और साहित्यिक। परम्परागत के रूप में होमर की रचनाएं और 'पृथ्वीराज रासो' आदि प्रमुख हैं। साहित्यिक महाकाव्य, कामायनी, पद्‌मावत आदि की भांति रचित होते हैं। 'साकेत' की कथा परम्पराप्राप्त है। वाल्मीकि, तुलसी आदि ने जिस कथा-सूत्र का आश्रय लिया था, उसी को गुप्त जी ने अपने महाकाव्य का आधार बनाया है। फिर भी उसमें साहित्यिक गुण की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ—नूतन छन्दों का अभिनव रूप प्रयोग,

उर्दूनुमा प्रयोग, रीतिकालीन छन्दों का प्रभाव, प्रबन्धात्मक, गीतकाव्यात्मक तथा नाटकीय शैली आदि का सुन्दर प्रयोग भी 'साकेत में हुआ है। मुक्तक और प्रबन्ध शैली के साथ आधुनिक लाक्षणिक शैली का मिश्रण उत्तमता की कसौटी पर खरा उतरता है जिससे 'साकेत' का महाकाव्यत्व स्पष्ट लक्षित हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साकेत' उक्त वर्गीकरण के आधार पर पूरा उतरता है। उसकी कथा परम्परागत तो है ही, साथ ही साहित्यिक विशेषता भी कूट-कूट कर भरी पड़ी हैं।

पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर भी महाकाव्यों के दो वर्ग माने गए हैं—संकलनात्मक तथा कलात्मक। संकलनात्मक महाकाव्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। साकेत महाकाव्य भी काव्य-कला की दृष्टि से जीवन-संदेशों को उपस्थित करता है। उसमें सामाजिक दृष्टि से जीवन के आदर्श सर्वत्र प्रस्तुत किये गए हैं। साथ ही कलात्मकता का भी पूर्ण समावेश हुआ है। आदर्श-जीवन की झांकियां प्रस्तुत करना तो इस महाकाव्य का प्रधान उद्देश्य रहा है।

अतः उक्त विवेचना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'साकेत' में एक सफल महाकाव्य के समान ही इसका निश्चित आरम्भ, विकास और अन्त हुआ है। साथ ही कथा पर आधारित रह कर जीवन के आदर्शों को परोक्षरूप में उपस्थित किया गया है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि महाकाव्य के नायक और नायिका से अन्याय किया गया है। वह अन्याय राम और सीता के पक्षपात से जनित है। उर्मिला में ऐसी विशेषताओं का समावेश नहीं किया गया जिससे वह नायिकात्व के गौरव को प्राप्त कर सके। अन्य महाकाव्यों की भांति 'साकेत' के नायक और नायिका का प्रभाव अन्य पात्रों पर नहीं पड़ता, वरन् वे राम और सीता से ही प्रभावित दिखाई देते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता, आदर्श की दृष्टि से यह अवश्य उपयुक्त प्रतीत होता है। लक्ष्मण और उर्मिला की महत्ता राम और सीता के समक्ष नत होने में ही है, अतः यह दूषण न होकर भूषण ही हुआ है। जिस प्रकार आठ से कम सर्ग होने पर भी 'रामचरित-मानस' महाकाव्य के पद पर ही प्रतिष्ठित है उसी प्रकार नायक और नायिका में कुछ कमी होने पर भी 'साकेत' का महत्त्व अक्षुण्ण है।

साकेत-व्याख्या भाग

वेदना, तू भी भली बनी ।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी ।
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी ।
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु सनी,
तू ही उसे उष्ण रखेगी, मेरी तपन मनी ।
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्ट-जनी ।
तेरी ही छाती है सचमुच, उपमोचितस्तनी ।
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी ।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी ।
मन सा मानिक मुझे मिला है, तुझमें उपल-खनी ।
तुझे तभी त्यो जबड़ूँ सजनी, पाऊँ प्राण-धनी ।

प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी के 'साकेत' महाकाव्य से उद्धृत किया गया है । नवम सर्ग में गुप्तजी ने मानों करुण रस की सरिता ही प्रवाहित कर दी हो । वियोगिनी उर्मिला प्रिय लक्ष्मण के वियोग में केवल मात्र वेदना को ही अपना आश्रय पाती है और वही मानों उसके जीवन का प्राण है । उसी की उत्प्रेरणा से उसे प्रिय की स्मृति सजग बनाए रहती है और फिर उसमें उर्मिला ने अपनी घनी चाह को प्राप्त किया है । प्रिय प्रदत्त होने के कारण उर्मिला भी वेदना का स्वागत करती है और उसे प्रिय के आने तक अपनी संगिनी बनाए रखना चाहती है । इसी भाव को व्यक्त करते हुए उर्मिला पीड़ा का स्वागत और प्रशंसा-सूत्र तैयार करती है ।

वेदने ! तू मेरे जीवन को सत्पथ की ओर अग्रसर करने के रूप में भली प्रकार से बनी है । आज मैंने तुझमें अपनी घनीभूत आकांक्षा को प्राप्त किया है । तू उस हीरे की कनी के समान है जिसने मेरे जीवन में एक नई किरण का प्रसार किया है । अर्थात् मेरे जीवन में परिवर्त्तन के द्वारा नूतनता का प्रवेश हुआ है । तू मेरे हृदय को पीड़ित करती रह, जिससे मैं सदा सचेत रह सकूं, क्योंकि तू प्रिय के बाण की नोक के समान है । तेरे हृदय में लगते

ही पीड़ा का आरम्भ हो जाता है और उसी की प्रेरणा से प्रिय की स्मृति प्रतिपल बनी रहती है । यदि यह पीड़ा हृदय में कसक उत्पन्न न करे तो सम्भवत: मैं अचेत पड़ी रहूँ और प्रिय मिलन से भी वंचित हो जाऊं । अत: हे वेदने ! तू मेरे हृदय को सालती रह, जिससे प्रिय की स्मृति बनी रहे। ऐसी स्थिति में मेरी आँखों में भले ही जल भरा रहे, अर्थात् मैं सदा ही अश्रु-आप्लावित रहूँ, तो भी मेरी देह कभी ठंडी न होगी । वियोग की वेदना सदा उसे संतप्त बनाए रखेगी । वेदना सूर्यकान्त मणि के समान है जो सदा शरीर को स्मृति की अग्नि से उष्ण बनाए रहती है । हे वेदने ! तू अभाव और दुर्भाग्य की पुत्री है । अभाव के कारण वेदना, पीड़ा अथवा चिन्ता का प्रादुर्भाव होता है । अभाव ही एक तरह से दुर्भाग्य का सूचक है । अभाव के प्रस्फुटित होते ही वेदना उत्पन्न होकर तीव्र हो जाती है । अस्तु, वेदने ! तेरी ही छाती वास्तव-में स्तनों की उपमा के उचित है । जिस प्रकार माता स्तनों द्वारा दुग्धपान कराकर शिशु का लालन-पालन एवं विकास करती है, उसी प्रकार वेदना के द्वारा प्रिय की स्मृति पोषित की जाती है । वेदने ! क्या तू वियोग की समाधि के समान है । परन्तु तुझ में एक विलक्षणता है । समाधि में साधक की चित्तवृत्तियां एकोन्मुखी होती हैं और वह अपने को और साध्य को एकत्व की प्रतिमा के रूप में देखता है, परन्तु इस वियोग-समाधि में मैं अपने को, प्रिय को और जगती को खिंचा-तना देखती हूँ । मुझे तुझ में मन जैसा माणिक्य प्राप्त हुआ है, अत: मैं तुझे तभी छोड़ूंगी जब अपने प्राण-धनी को प्राप्त कर लूँगी ।

विशेष—१. प्रस्तुत पद में कवि ने मालोपमा अलंकार का सुविशेष रूप से प्रयोग किया है । 'वेदना' को लेकर ही अलंकृत शैली में अनेक बातें कह डाली हैं ।

२. सारे पद को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि ने गीतिमय शैली का अवलम्ब लेते हुए अपनी तुकान्त शैली सम्बन्धी सुरुचि का भी परिचय दिया है।

३. अन्तिम से पूर्व दो पंक्तियों में गुप्त जी ने अद्वैत-भावना पर भी यत्किंचित् प्रकाश डाला है ।

सखि नील नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा! तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिमबिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जाय न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता-डरता॥

प्रस्तुत पद गुप्त जी के साकेत महाकाव्य से उद्धृत किया गया है। प्रकृति-चित्रण का प्रेमी कवि उदयकालीन रविरंजित शोभा का वर्णन करता हुआ विरहिणी उर्मिला के तात्कालिक भाव को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार प्रकृति सदा वियोगियों एवं संयोगियों के शोक एवं हर्ष की भावनाओं में रंग जाती है। उर्मिला के अन्तस्तल का प्रत्येक क्रिया-कम्पन प्रकृति-आंगण में रंजित एवं प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। उर्मिला की इसी भावना का व्यक्तीकरण करता हुआ कवि कहता है :—

हे सखि! देख, नील सरोवर रूप आकाश में यह सूर्य रूपी हंस तैरता उतरा है। इसने सभी तारे रूप मोती चुग डाले हैं और उनका अब अवशेष भी नहीं दिखाई देता। तात्पर्य यह है कि सूर्योदय के साथ ही धीरे-धीरे नक्षत्रों का प्रकाश विलीन होता चला जाता है। यह सूर्य रूपी हंस हिम बिन्दु रूपी मोतियों को पकड़ता हुआ चलता चला आ रहा है अर्थात् सूर्योदय के साथ ही रवि-रश्मियों के तेज से ओस कण जो मोती सदृश ज्ञात होते हैं, शुष्कप्राय होते चले जाते हैं। आकाश तो निष्कण्टक है, परन्तु धरती के कण्टकाकीर्ण होने के कारण यह डरता-डरता अपने किरण रूपी हाथ डाल रहा है।

विशेष—१. प्रस्तुत पद में श्लेष, रूपक एवं पुनरुक्ति प्रकाश का भव्यतम रूप निखर पड़ा है। श्लेष लाघव से रूपक की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है।

२. प्रस्तुत छंद में प्रकृति-चित्रण भी अत्यन्त आलंकारिक एवं सुमधुर रूप में हुआ है।

३. नाद सौंदर्य की दृष्टि से भी प्रस्तुत सवैया अत्यन्त मधुर है।

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी सी भिन्ना रही मही।

प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी के साकेत महाकाव्य से उद्धृत किया गया है। कवि सूर्य की मकड़े के रूप में और पृथ्वी की मक्खी के रूप में कल्पना करता हुआ अत्यन्त स्वाभाविक एवं आलंकारिक रूप में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करता हुआ कहता है कि :—

आकाश रूपी जाला सब ओर तना हुआ है और उसमें सूर्य मकड़े के रूप में स्थित है। मक्खी की भांति फँसी हुई पृथ्वी को यह सूर्य रूपी मकड़ा अपने किरण रूपी पैरों से मार रहा है। इस प्रकार वह पृथ्वी रूपी मक्खी धीरे-धीरे मकड़े के प्रहारों को सहन करती हुई भिनभिना रही है।

विशेष—प्रस्तुत छंद में रूपक अलंकार की सुन्दर योजना हुई है। इसी में कवि की कवित्व छटा दर्शनीय है कि किस प्रकार दो बड़े-बड़े उपमानों को काव्य के एक छोटे से छन्द में यथासाध्य रुप में जड़ कर रख दिया है।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल।
ये खारी आंसू की बूँदें दे सकती यदि मोल।
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल।
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति पुट लेकर पूर्वस्मृतियां खड़ीं यहां पट खोल।
देख आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।
जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिल डोल।
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल खगोल।
न कर वेदना सुख से वंचित, बढ़ा हृदय हिन्दोल।
जो तेरे उर में सो मेरे उर में कल कल्लोल॥

प्रस्तुत अवतरण साकेत महाकाव्य के नवम सर्ग में से अवतरित किया गया है। वियोगिनी उर्मिला चातकी की मधुर ध्वनि को सुनकर, उसके कल-कण्ठ से निःसृत मधुर रागिनी पर मुग्ध होकर उसे फिर से गाने के लिये

प्रेरित करती है और साथ ही अपनी दीनता-मानमर्षता के भाव को व्यक्त करती हुई उससे गाने के लिये अनुनय विनय करती है—

हे चातकी ! मैं तुझसे पुनः अपना राग आलापने के लिये कहती परन्तु मुझे चिन्ता है कि मेरी ये खारी आंसू की बूंदें, जो प्रिय के वियोग में सदा ही बरसा करती हैं, क्या तेरे उन मधुर बोलों का मोल चुका सकती हैं । तेरी कल-रागिणी मधुर हैं कि मैं वंचिता उसका किसी भी प्रकार से मूल्य नहीं चुका सकती; फिर भी तू इस झाड़ी के झुरमुट में अपनी कल-रागिनी से रस का संचार करती रह । तेरी 'पी कहां' की रट सुनकर मुझ में एक सजीवता का संचार सा होने लगा है और मेरी पूर्व स्मृतियां श्रुति पुट लेकर अर्थात् अत्यन्त उत्सुक एवं व्यग्र होकर अपने पट खोल कर (अत्यन्त सावधानी से चैतन्य होकर) खड़ी हैं । उनके कपोल जो प्रिय वियोग में पीले पड़ गये थे अब पुनः स्मृति आ जाने के कारण आरक्त हो गए हैं अर्थात् तेरी 'पी कहां' की रट सुनकर मेरी पूर्व-स्मृतियां पुनः सजीवन एवं सजग हो उठी हैं । मेरे अतीत के सैकड़ों स्वप्न पुनः द्वन्द्व के साथ जाग उठे हैं और अन्तस्तल में भावों का भी द्वन्द्व खड़ा हो गया है । परन्तु फिर भी बाह्य जगत् में तो मेरे लिये प्रिय के वियोग में सन्नाटा ही शेष रह गया है । अन्तर्जगत् में प्रियतम का निवास होने के कारण वह तो अनेक भावों के द्वन्द्व से परिपूर्ण है परन्तु बाह्य जगत् में अथवा लौकिक जगत् में प्रिय के अभाव में मेरे लिये सन्नाटा ही अवशिष्ट रह गया है । अतः हे चातकि ! तू अपना राग अलापती रह और मुझे वेदना सुख से वंचित न कर । मेरे हृदयरूपी हिन्दोल को अपने वेदनामय राग से और भी बढ़ा दे । हे चातकि ! जो तेरे हृदय में है अर्थात् तू भा अपने प्रिय के प्रति 'पिऊ' द्वारा अपना अनुराग प्रकट करती है और मैं भी प्रियतम के वियोग में अनुराग की घनीभूतता से परिपूर्ण रहती हूँ। तेरा हृदय भी अनुराग से पूर्ण है और मेरा भी ।

विशेष—१. प्रस्तुत पद में कवि की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की समतुलित विलक्षण प्रतिभा की स्पष्ट एवं सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

२. 'पूर्वस्मृतियों' का मानवीकरण छायावादी शैली का स्वतः ही स्मरण दिला देता है । जिस प्रकार कोई स्त्री प्रियतम का स्मरण दिलाने वाली आवाज को बड़ी सावधानी से सुनती है और उस स्मरण के कारण विरहिणी

के पीले कपोल कुछ काल के लिये आरक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वस्मृतियाँ भी अपने कान को खोले खड़ी हैं। बड़ी ही उत्सुकता से प्रिय से सम्बन्धित वाणी को सुनती हैं और इसी से उनके पाण्डु कपोल अरुण हो गये हैं। भावनाओं का यह मानवीकरण छायावाद का प्राण है, और इसी का प्रयोग करके कवि ने पद में प्राणों का संचार कर उसे सजीव बना दिया है। इस प्रकार पूर्वस्मृतियों का नारी के रूप में मानवीयकरण सुन्दर रूप में हुआ है।

दरसो, परसो, घन, बरसो।

सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती क तुम नव-यौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिघन, बरसो।
स्पष्ट दृष्टि के अञ्जन रंजन, ताप विभंजन बरसो।
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, हे अयि अभ्र स्तन, बरसो।
गत सुकाल के प्रत्यावर्त्तन, शिखिनूतन, बरसो।
जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्बोधन, बरसो।
चिन्मय बनें हमारे मृण्मय, पुलकांकुर बन, बरसो।
मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो।
घट पूरो त्रिभुवन मानस रस, कन-कन छन-छन, बरसो।

प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी के साकेत महाकाव्य में से उद्धृत किया गया है। कवि ने इसमें आषाढ़, सावन, भाद्रपद और आश्विन का उल्लेख करते हुए चौमासे का वर्णन किया है।

हे घन! तुम दर्शन दो, स्पर्श करो और बरसो। हे जीर्ण-शीर्ण जगती के नवयौवन रूप मेघ! अर्थात् शुष्कप्राय पृथ्वी में नव रूप एवं सरसता का संचार करने वाले मेघ! तुम बरसो और बरस पड़ो। हे आषाढ़ तुम घुमड़ उठो और हे पवित्र सावन! उमड़ कर बरस पड़ो। हाथी के समान चित्रित होने वाले आश्विन के मेघ! तथा स्वाति के घन रूप भाद्र तुम बरस पड़ो। तुम सृष्टि की दृष्टि के अंजन हो तथा उसका रंजन करने वाले हो। इसके साथ ही तुम्हारे द्वारा सम्पूर्ण ताप का नाश हो जाता है। व्यग्र एवं व्याकुल जगज्जननी के स्तन रूप हे मेघ! तुम बरस पड़ो। बीते हुए सुकाल को

फिर से लाने वाले तथा मयूरों को नृत्य कराने वाले हे मेघ ! तुम बरस पड़ो। (वर्षा काल में ही मयूर नृत्य किया करता है) हे चेतना उत्पन्न करने वाले मेघ ! तुम जड़ और चेतन दोनों में एक प्रकार की बिजली भर दो। जो निर्जीव वस्तुएं हैं वह भी तुम्हारे स्पर्श से प्राणयुक्त हो जावें। अतः तुम पुलकांकुर बन कर बरस पड़ो। जागृत अथवा स्वप्नावस्था में भी जीवनरूप हे मेघ ! तुम मन्त्र पढ़ो और छींटे दो; तथा तदनन्तर बरस पड़ो, जिससे सभी में प्राणों का सुसंचार होने लगे। तुम तीनों लोकों के मनरूपी मानसरोवर के प्रेमरूपी घट को क्षणभर में कण-कण करके पूर्ण करो, और फिर फिर बरस पड़ो, जिससे प्रत्येक जन के प्रिय भीगते हुए घर पहुँचें।

विशेष—१. प्रस्तुत पद में आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन, इन चौमासों का उल्लेख किया है। जहाँ इनको बरसने के लिये कहा गया है वहाँ लक्षणा से आषाढ़ श्रावण के बादलों से तात्पर्य है।

२. भाद्र को भद्र कहने में अनुप्रास का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसके साथ ही कवि के मधुर एवं लालित्यपूर्ण शब्द-कोष का परिचय मिलता है।

३. 'बरसो' 'बरसो' की प्रत्येक पंक्ति में पुनरावृत्ति से ऐसा जान पड़ता है मानो वर्षा की झड़ी लगी हुई है।

४. उक्त पंक्तियों में ऊंचे उठे हुए श्यामल बादलों को "जगज्जननी के अभ्रस्तन" कहा गया है, जिसमें वर्ण-साम्य की अधिकता दृष्टिगोचर होती है और इसके साथ ही कवि की सुन्दर अलंकार-योजना का परिचय मिलता है। प्रस्तुत पद में रूपक अलंकार की सुन्दर एवं उपयुक्त योजना हुई है।

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रञ्जन ने नयन इधर मनभाये।
फैला उनके तन का आतप, मन से सर सरसाये।
घूमें वे इस ओर वहां, ये हंस यहां उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये।
स्वागत, स्वागत शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये।
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये।

प्रस्तुत अवतरण गुप्तजी के 'साकेत' नामक महाकाव्य के नवम सर्ग में से उद्धृत किया गया है। कवि द्वारा षड्ऋतुओं के प्रसंग में शरद् का चित्र अंकित किया गया है। विरहिणी उर्मिला शरद् के प्रत्येक शोभामय चित्र में

प्रिय के अङ्गों की सुकुमारता का आभास पाती है। उर्मिला कहती है कि—

हे सखि ! इन खंजनों को देखकर ऐसा अनुमान होता है मानो प्रियतम ने इधर नेत्र घुमाए हैं, जिनका आभास इन खंजनों में प्राप्त हो रहा है। सरोवरों की स्वच्छता देखकर प्रतीत होता है कि जिस धूप ने इनको स्वच्छ किया है, वह इनके द्वारा अर्जित तप का ही साक्षात् रूप है, जो चारों ओर व्याप्त है। इसे देखकर मन भी सरसित हो उठा है। प्रियतम की गति और उनके हास्य का आभास इन हंसों से ही प्राप्त हो जाता है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रियतम इस ओर घूमे होंगे अथवा मेरा ध्यान करके मुस्काये होंगे, तभी ये हंस यहां दिखाई देते हैं। कमल भी प्रफुल्लित हो उठे हैं और प्रिय के अधरों के समान ये लाल-लाल बन्धूक के पुष्प (दुपहरिया के फूल) भी फूल उठे हैं। हे शरद् ! तुम्हारा स्वागत है, क्योंकि तुम्हारे आगमन से मैंने खंजन पक्षियों में, धूप में, हंसों में तथा बन्धूक पुष्पों में प्रिय के नेत्रों का, उनके द्वारा अर्जित तप का, हास्य एवं गति का तथा आरक्त अधरों का दर्शन प्राप्त किया है। आकाश ने तो हिमकणों के रूप में मोती बरसा कर तुम्हारा स्वागत किया है परन्तु मैं दीन अश्रुओं का अर्घ्य देकर तुम्हारी अभ्यर्थना करती हूँ।

विशेष—१. उक्त पद को पढ़कर जायसी की निम्न पंक्तियां स्वतः हृदय-पट पर अंकित हो जाती है :—

"नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हंस जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥"

२. शरद् ऋतु के इस भव्यतम चित्रण में कालिदास के प्रकृति-चित्रण की शैली का भी आभास प्राप्त होता है।

३. अपह्नुति अलंकार की सुषमा सम्पूर्ण पद में दर्शनीय है।

शिशिर न फिर गिरि वन में।
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?
वीर जमा दे, नयननीर यदि तू मानस भाजन में।
तो मोती सा मैं अकिंचना रखूं उसको मन में।
हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में।
तो उत्कण्ठा है देखूं फिर क्या हो भाव-भुवन में॥

प्रस्तुत पद गुप्त जी के 'साकेत' महाकाव्य के नवम सर्ग से उद्धृत किया गया है। विरहिणी उर्मिला आदर्श भारतीय नारी की भांति दूर रहकर भी अपने प्रिय के सुखों के लिये यत्किंचित् प्रयत्न करती रहती है। शिशिर ऋतु के आने पर वह उसको वन में जाने से रोकती है, क्योंकि वहां प्रिय को साधना में इसके कम्पन आदि के द्वारा तथा पतझड़ से कष्ट होगा। तज्जनित दुःख को वह स्वयं भोगने के लिये तैयार रहती है और शिशिर को उसके पास रहने के अनेक प्रलोभन देती है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई उर्मिला कहती है-

हे शिशिर ! तू गिरि वन में न फिर ! तुझे सब कुछ यहीं प्राप्त हो जायगा। नन्दन वन-से इस उपवन में जितना तुझे पतझड़ चाहिये, वह मैं सब तुझे यहाँ दे दूंगी। दुर्बलता और प्रिय स्मरण के कारण तुझे जित; भी कम्पन की आवश्यकता है वह मैं तुझे अर्पित कर दूंगी और सखी कहती है कि मेरे मुख पर पीलेपन का तो अभाव है ही नहीं, अतः वह भी तुझे सुलभता से प्राप्त हो सकता है। भैया शिशिर ! प्रिय के वियोग में मैंने जो नयन-नीर बहाया है, उसे यदि तू मेरे मन रूप भाजन में अथवा पात्र में जमा दे तो मैं अकिंचना उसे मोती के समान संभाल कर अपने मन में रखूं और प्रिय के आने पर बड़े चाव से उन्हें दिखाऊं। प्रिय के वियोग में मेरा हंसना तो चला ही गया है, आँसुओं के जम जाने के कारण मेरा रोना भी दूर हो जायगा। इस प्रकार मेरे भाव जगत् में हास्य एवं रोदन का अभाव सा हो जायगा। हंसने और रोने के अभाव में भाव-जगत् में कैसी अनुभूति होती है, यह देखने की मेरी उत्कट इच्छा है।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में रूपक अलङ्कार की योजना दर्शनीय है।

२. भारतीय नारी की त्याग भावना का आदर्श इस पद में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। किस प्रकार भारतीय आदर्श नारी अपने प्रिय के सुख के लिए अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करती और विपत्तियों के शोलों पर कदम बढ़ाती चलती जाती है और अन्त में असीम एवं अलौकिक सुखानुभूति का अनुभव करती है।

३. 'मोती-सा' वाचक शब्द में उपमा अलंकार की छटा भी दर्शनीय है।

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।

हो कर मधु के मीत मदन, तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो,
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह-यह हर-नेत्र निहारो,
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो॥

प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी के 'साकेत' महाकाव्य से अवतरित किया गया है। वसन्त ऋतु प्रेमियों के लिए सदा से ही परिस्थिति और घटना के अनुसार सुखद और दुःखद रही है। वसन्त मानो फूलों के द्वारा प्रेमियों को अनुरंजित करना चाहता है, परन्तु वियोगिनी उर्मिला उसके इस प्रयत्न से तनिक भी सन्तुष्ट नहीं है। उसके मानस में क्षणिक भोग की लालसा उत्पन्न होती है, परन्तु दूसरे ही क्षण वह उसको चुनौती देती हुई कहती है—

हे कामदेव! तुम मुझे फूल मत मारो, अर्थात् काम की पीड़ा से हृदय में कसक न उत्पन्न करो। तुम अपने मन में कुछ तो दया लाओ, मैं तो अबला वियोगिनी बाला हूँ, अतः मुझे काम-बाण से मत मारो। मदन! तुम तो मधुर वसन्त के मित्र हो, तो फिर कटु गरल के समान तुम मेरे साथ निर्दयता का व्यवहार क्यों करते हो। तुम्हारे इस प्रयत्न से मुझे तो व्याकुलता होगी ही साथ ही तुम भी इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सकते। इसलिए यह व्यर्थ का श्रम क्यों करते हो। मैं कोई भोगिनी नहीं, जो कि तुम मुझे अपने जाल में फंसाना चाहते हो। अपना जाल का प्रसारण वहीं करो, जहाँ संयोगी जन हों, मैं तो फिर वियोगिनी ही ठहरी। फिर भला तुम्हारे जाल में कैसे फंस सकती हूँ। यदि तुम्हें अपने बल एवं शक्ति का घमण्ड हो तो मेरे इस सिंदूर बिन्दु को देख लो—और इसे शिव का तीसरा नेत्र समझो। जिस प्रकार शिव जी के तीसरे नेत्र के द्वारा तुम भस्म कर दिए गए थे, उसी प्रकार मेरा यह, शिव जी के तीसरे नेत्र के समान सिन्दूर बिन्दु भी, तुम्हें भस्म कर देगा। इससे भी अधिक यदि तुम्हें अपने सौन्दर्य का नाज़ हो तो मेरा प्रिय पति तुमसे कहीं अधिक सुन्दर है। उस पर मैं तुम्हारा सौन्दर्य निछावर करती हूँ। और यदि तुम्हें रति के प्रेम का गर्व है तो लो मेरी

यह चरण-धूलि उस रति पर डाल दो । मेरी तो चरण-धूलि की समानता भी रति को प्रीति नहीं कर सकती ।

विशेष—१. उपर्युक्त पद में रति और 'मधु' में अत्यन्त सुन्दर श्लेष लाघव हुआ है । 'मधु' का प्रयोग 'वसन्त' और 'मधुर रस' अथवा 'अमृत' के अर्थ में हुआ है तथा 'रति' का कामदेव की स्त्री 'रति' और 'प्रीति' के अर्थ में ।

२. भारतीय नारी के आदर्श और एकनिष्ठ प्रेम की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

सखि, मैं भव-कानन में निकली ,
बनके इसकी वह एक कली ।
खिलते-खिलते जिससे मिलने ,
उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली ।
मुसकाकर अली, लिया उसको ,
तब लौं यह कौन बयार चली ।
'पथ देख जियो, कह गंज यहाँ ,
किस ओर गया वह छोड़ अली ॥

प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी के 'साकेत' महाकाव्य में से उद्धृत किया गया है । कवि अन्योक्ति द्वारा उर्मिला के मार्मिक उद्‌गारों को प्रकट करता हुआ उससे कहलवाता है:—

हे सखि ! इस संसार रूपी वन में मैं एक कली बन कर आई थी, मैं प्रस्फुटित ही हुई थी कि आजीवन मिलने के लिये प्रेमी स्वर्ण भ्रमर आ पहुँचा । मैंने मुसका कर उसके प्रणय को स्वीकार किया ही था कि इतने में न जाने कैसी हवा चली कि वह दुष्ट यह कहते हुए दूसरी ओर चला गया कि ''बाट देखते-देखते जीवन व्यतीत करो ।'' तात्पर्य यह है कि उर्मिला ने लक्ष्मण से प्रणय करना आरम्भ किया ही था कि वे उसे छोड़कर चले गए परन्तु अब उनकी प्रतीक्षा में जीवन काटना पहाड़ हो गया है ।

विशेष—१. उर्मिला के मार्मिक उद्‌गारों की अभिव्यंजना अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरम रूप में हुई है ।

२. 'भव-कानन' में रूपक अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है ।

.३ 'खिलते-खिलते' आदि के प्रयोग से पद में पुनरुक्तिप्रकाश की छटा भी पद को और भी चमत्कृत कर देती है । इसके साथ ही पद में गीतात्मकता का सुन्दर निर्वाह हुआ है ।

प्रिय-प्रवास

लेखक :-
भारतभूषण 'सरोज'

प्रिय प्रवास

प्रश्न १—महाकाव्य की दृष्टि से प्रियप्रवास पर विचार कीजिये।

उत्तर—आधुनिक युग की खड़ी बोली हिन्दी ने जो प्राथमिक विभूतियाँ प्रदान की हैं उनमें "प्रियप्रवास" महाकाव्य का स्थान अत्यन्त प्रशंसनीय है। हरिऔध जी ने "प्रियप्रवास" महाकाव्य की रचना करके हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि के अभाव को पूर्ण किया है। उनके समय तक जितने भी हिन्दी खड़ी बोली के काव्य थे, वे प्रायः अनुवादित थे मौलिक नहीं। दूसरे, वे 'अल्पकाय' थे—जयद्रथवध आदि यदि कुछ मौलिक काव्य थे भी तो वे खण्ड काव्य की कोटि में ही आ सकते थे, महाकाव्यत्व उनमें नाम मात्र को भी न था। फिर उन काव्यों का निर्माण भी गतानुगतिक था। वही अनुप्रास और तुकान्तता उनमें प्रधानतया लक्षित होती थी। 'हरिऔध' जी की काव्य-प्रतिभा हिन्दी खड़ी बोली की दरिद्रता को देखकर महाकाव्य की रचना करने के लिए चल पड़ी। 'प्रियप्रवास' एक सफल महाकाव्य प्रतीत होता है। सम्पूर्ण काव्य सर्गों में विभाजित है और नायक श्रीकृष्ण है जो निश्चित रूप से धीरोदात्त है। इसके अतिरिक्त नायक के तीन और प्रकार भी होते हैं—धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। धीरोद्धत नायक अहंकारी और मायावी होता है, धीरललित कलाप्रेमी और कोमल प्रकृति का, तथा साधारणतया उत्तम गुणों से विभूषित ब्राह्मणादि धीरप्रशान्त हुआ करते हैं। इन सब में सर्वोत्कृष्ट स्थान 'धीरोदात्त' नायक का है। उसे आत्मश्लावी, क्षमावान्, अत्यन्त गंभीर, महान् आत्मबल से युक्त, स्थिर, विनयी और दृढ़व्रती होना चाहिये। 'प्रियप्रवास' के नायक श्री कृष्ण इन सभी गुणों से विभूषित हैं अतः वे 'धीरोदात्त' नायक की कोटि के सिद्ध होते हैं।

महाकाव्य की तीसरी विशेषता रस सम्बन्धी है। 'प्रियप्रवास' में शृंगार रस में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है। आरम्भ में संयोग शृंगार और

वात्सल्य रस की विमल धारायें भी स्वच्छन्द रूप में प्रवाहित हुई हैं। यशोदा और नन्द के हृदय वात्सल्य रस के अनुपम स्रोत हैं। कथा के अन्त में शृंगार के साथ-साथ करुण रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। जहां कहीं भी कृष्ण की क्रूर हिंस्र जन्तुओं के हनन आदि वीर कथाओं के वर्णन हैं वहां वीर रस भी पर्याप्त रूप में आया है। प्रकृति के आश्चर्यजनक दृश्यों के वर्णन में अद्भुत रस का अच्छा समावेश हुआ है। 'प्रियप्रवास' के कथानक को केन्द्रीय दृष्टि में रखते हुए यह ज्ञात होता है कि उसमें विप्रलम्भ की प्रधानता है, परन्तु इसके साथ ही अन्य रस भी काव्य में सरसता और सौन्दर्य लाने में सहायक हैं।

महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार ग्रन्थ का वृत्त ऐतिहासिक हो या अनैतिहासिक परन्तु यह किसी प्रसिद्ध व्यक्तित्व पर आधृत होना चाहिये। 'प्रियप्रवास' का कथानक राधा-कृष्ण और गोप-गोपियों की चिरन्तन प्रसिद्ध कथा पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कथानक में ऐतिहासिकता भी विशेष रूप में पाई जाती है। किसी राष्ट्र या उसकी संस्कृति की गतानुगतिक धारणाओं और मनोवृत्तियों का वर्णन इतिहास के अन्तर्गत आता है। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से आज 'इतिहास' का तिथिगत घटनाओं के रूप में अर्थ लिया जाता है। कारण यह है कि सभ्यता और संस्कृति के इने गिने पत्र सुविधा से पलटे जा सकते हैं परन्तु भारतीयता का अतीत, क्षितिज की अस्पष्ट रेखा की भांति अत्यन्त विस्तृत और धूमिल है तो फिर उसको इतिहास के इस संकुचित अर्थ के अन्तर्गत करना अन्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। अतः विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार राधाकृष्ण और गोप-गोपियों की वियोग गाथा को ऐतिहासिक की रेखाओं के अन्तर्गत रखना ही उचित है।

'प्रियप्रवास' के रचयिता हरिऔध जी को भी समाज के समक्ष आदर्श की शिक्षा देना इष्ट था। उनका वह आदर्श है स्वार्थमय मोह का परित्याग और निःस्वार्थ प्रेम का संरक्षण। निस्वार्थ प्रणय की परिणति विश्व-प्रेम में होती है। यही विश्व-प्रेम कवि का आदर्श है जिसे उसने अपनी काव्य-कला द्वारा प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी यह शुभाकांक्षा प्रकट की है कि श्याम जैसे देश-प्रेमी और राधा जैसी लोक-सेविकायें—

"हे विश्वात्मा भरत भुवि के अङ्क और आवें"

अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से हरिऔध जी ने धर्म को प्रधानता दी है और आनुषंगिक रूप में मोक्ष की सिद्धि की है। वैसे तो उन्होंने भी ग्रन्थ रचना करने का मुख्य उद्देश्य स्वान्त:सुखाय ही ग्रहण किया है। तथापि तुलसीदास जी की भांति उनके भी स्वान्त:सुखायवाद और प्रेष्य-प्रभाववाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कवि की शुभाकांक्षा यही है कि उसकी कला द्वारा समाज को लाभ और इस जीवन-यात्रा से उसे कुछ उपादेय वस्तु प्राप्त हो।

'प्रियप्रवास' का आरम्भ आशीर्वचन, मंगलाचरण, खल-निन्दा आदि से नहीं, वरन संध्या-वर्णन से हुआ है। जिससे श्रीकृष्ण चरित के उस माधुर्य रूप की ओर संकेत किया गया है, जो सारे कथानक की अन्तर्धारा है। इसके अतिरिक्त सन्ध्या के वर्णन का जो क्रम है, उससे भी प्रियप्रवास के कथानक पर कुछ आभास पड़ता है—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
+ + +
अधिक और हुई नव लालिमा,
दश दिशा अनुरंजित हो गई।
+ + +
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप शीश बिहारिणी।
तरणि बिंब तिरोहित हो चला,
गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः।

आरम्भ से श्रीकृष्ण के प्रेम की मधुरिमा इसी प्रकार गोप-गोपियों के हृदयाकाश में कुछ लोहित रूप में प्रकट हुई थी और इसी प्रकार दश दिशाओं की अनुरंजिता क्रमशः बढ़ती गई फिर अन्त में किरण' मथुरापुरी रूपी अचल के शिखरों पर अचल रूप से जा चढ़ी। इसी तरह शनैः शनैः श्रीकृष्ण रूपी तरणिबिंब गोप-गोपियों के हृदयाकाश में तिरोहित और विलीन हो गया था।

निश्चय ही आरम्भ के ये पाँच पद्य कवि की कलात्मकता मर्मस्पर्शिता के परिचायक हैं। इनमें कलात्मकता तत्व विशेष रूप से पाया जाता है।

महाकाव्य का आठवाँ लक्षण है कि सर्ग में यदि मुख्यतः एक ही छन्द का समावेश हो तो अन्तिम कुछ छन्द कुछ परिवर्तित रूप में समाविष्ट होने चाहियें अथवा सम्पूर्ण सर्ग में पद-पद पर छन्दों में नूतनता होनी चाहिये। वस्तुतः छन्दों का यह नियम प्राचीनकाल से ही महाकाव्य की रचना में मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। प्रियप्रवास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थरचना के समय कवि के मानस पट पर छन्द वैविध्य की उपादेयता का रङ्ग धुल चुका था। फलतः प्रथम और द्वितीय सर्ग में द्रुतविलम्बित छन्द की ही भरमार है। तृतीय सर्ग में भी यद्यपि सामूहिक रूप में इसी छन्द की योजना की गई है परन्तु फिर भी इस सरणि का प्रवाह भी कुछ उन्मुख हुआ है। बीच में मालिनी, अन्त में शार्दूलविक्रीड़ित की योजना कर नीरस एकरसता का भंग हुआ है। तृतीय सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक बड़ी उत्कृष्टता और सफलता के साथ छन्दों की विविधता को सुचारु रूप से प्रदर्शित किया गया है।

महाकाव्य शास्त्र के अनुसार 'प्रियप्रवास' में सर्गों की संख्या आठ से अधिक सप्तदश है। अतः इस दृष्टि से तो यह पूर्ण रूपेण सफल ही है।

प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में आज के युग में हरिऔध को अपूर्व स्थान मिला है। मानव-प्रकृति और उसकी प्रगति, संयोग, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम आदि का विश्लेषण तो इस महाकाव्य का लक्ष्य है ही और भिन्न-भिन्न चरित्रों का चित्रण यथाअवसर विश्लेषणात्मक ढंग से किया गया है।

'प्रियप्रवास' नाम की उपादेयता में कुछ भी सन्देह नहीं। 'प्रिय' से गोप-गोपियों के हृदयहारी, वृन्दावन-विहारी पीत-पटधारी की ओर उसी के प्रवास अर्थात् वृन्दावन से मथुरा गमन के परिणामस्वरूप वृन्दावन-वासियों के हृदय में जो कारुण्य की धारा प्रवाहित हुई, उसी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस काव्य का चरम लक्ष्य है। अतः 'प्रियप्रवास' का नाम पूर्णरूपेण और अनुप्रासविशिष्ट होने के कारण कान्त और कलात्मक भी है। हरि-औध ने

ग्रन्थ निर्माण के समय महाकाव्य की जितनी भी विशेषताएँ हैं उनको समाविष्ट करने की चेष्टा की है और इसमें उसको अपूर्व सफलता भी मिली है। हिन्दी की वर्तमान परिस्थिति में महाकाव्य की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' अपने में आप ही पूर्ण है। प्रबन्धात्मकता और महाकाव्यत्व की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सफल महाकाव्य है।

प्रश्न २—हिन्दी-साहित्य में कृष्ण का विकास दिखाते हुए प्रियप्रवास के कृष्ण का चरित्र चित्रण कीजिये।

उत्तर—कृष्ण-चरित्र का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है। इस महासमुद्र से अगणित कवियों ने अनन्त भावमणियों का चयन कर उन्हें अपनी अपनी कलाकृति से तराश दी है, जिससे प्रत्येक कवि की प्रत्येक भावुक मणि में एक निराली ही चमक आ गई है। विद्यापति, सूर, नन्ददास और फिर रीतिकाल के अनेक कवि और आज के सत्यनारायण, रत्नाकर, हरिऔध तथा गुप्त जी सभी ने कृष्ण-गोपियों की उज्ज्वल प्रेम सरणि में नवीन-नवीन रूप देकर अनेक भाव-ऊर्मियों को लहराया है।

विद्यापति ने तो तो अपनी राधा का निर्माण समस्त विरह-व्याकुलता को मथ कर किया है। 'विद्यापति' की पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित हुई है। उन्होंने शृँगार रस की सरणि में ऐंसी डुबकी लगाई है जिससे राधा-कृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह गया है। **विद्यापति के द्वारा राधा-कृष्ण** के उद्दाम प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। उनका मिलन प्रेम और प्रेम का, हृदय और हृदय का तथा आवेग और आवेग का मिलन है। उनके द्वारा प्रतिपादित कृष्ण यौवन में उन्मत्त नायक की भांति है और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भांति। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि 'बायरन' की भांति विद्यापति का भी यही सिद्धान्त है कि "यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।" उनकी पदावली में वय:संधि, सद्य-स्नान, विदग्ध-विलास आदि के ही रंगीनचित्र पाये जाते हैं।

सूर का काव्य एक ओर यदि कृष्ण प्रेम से उद्भूत आह्लाद की प्रसन्न उसरिता है तो दूसरी ओर उनकी विरह व्यथा से उत्पन्न अगाध व्याकुलता

का बारिधि है। सूरदास ने विशेष रूप से श्रृंगार और शान्त रस का वर्णन किया है। लीला वर्णन में उन्होंने श्रृंगार रस के वियोग पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है। संयोग श्रृंगार में भी प्रत्येक भाव में भावुकता सी भरी दिखाई देती है। कृष्ण के बाल रूप का वर्णन कर वात्सल्य रस की भी कोमल, कान्त, मधुरतम धारा प्रवाहित की है। नन्द और यशोदा के पुलकित मन में अपने ढोटा की क्रीड़ाओं को देखकर जो भाव प्रस्फुटित हो उठते हैं, उनका अत्यन्त चित्रोपम और मार्मिक रूप में वर्णन किया है। वियोग श्रृंगार के वर्णन में तो कवि की कुशलता दर्शनीय है। ऐसा जान पड़ता है मानो कोई भाव आह की ज्वाला से और कोई वेदना के आँसुओं से और कोई विदग्धता के कम्पन से पूर्ण है। हृदय की भावना अनेकों रूपों में व्यक्त होती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है, जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है। सूर की गोपियाँ अनन्य स्नेहमयी होने के साथ-साथ व्यंग्य भरी भी हैं। उन्होंने कभी कृष्ण को भौंरा बनाकर और कभी कुब्जा को लेकर अनेकों उपालम्भ दिये हैं। परन्तु फिर भी सूर के भावों में सरसता, अनेक-रूपता और मनोवैज्ञानिकता का सुन्दर समन्वय है।

सूरदास की गोपियों में जहाँ हृदय की प्रधानता है, वहाँ नन्ददास की गोपियों की तर्कशीलता से मस्तिष्क हृदय पर शासन कर बैठता है। यहाँ पर हृदय मस्तिष्क से कुछ दबता सा जान पड़ता है। दर्शन काव्य का सहगामी होकर मनोवैज्ञानिकता को पछाड़ कर प्रविष्ट हो गया है और अलंकारों से वह विभूषित दिखाई देता है। सूरदास और नन्ददास दोनों में गोपी-उद्धव सम्वाद के प्रसंग में मूल विषय है, भक्ति की ज्ञान पर विजय अथवा सगुण की निर्गुण पर विजय की अपूर्व महत्ता।

भक्तिकाल की राधा-कृष्णसम्बन्धी परम्परा रीतिकाल में भी चलती रही, किन्तु भक्तिकाल के आदर्शों की रक्षा रीतिकाल में न हो सकी। इस क्षेत्र में राधा और कृष्ण एक साधारण नायक-नायिका बनकर रह गये जिनका विलासिता की वेगवती सरिता में अवगाहन करने के अतिरिक्त और कोई कार्य ही न था।

बीसवीं शताब्दी में फिर राधा-कृष्ण की भक्ति से प्रेरित होकर जगन्नाथ

दास 'रत्नाकर' ने 'उद्धव-शतक' की रचना की। ज्ञान के विरोध में प्रेम की विजय तो उद्धव-शतक में भी है। ब्रज के स्नेह सने वातावरण में आते ही उद्धव की ज्ञान-गठरी कुञ्ज-कछारों में खुल जाती है। ज्ञान के गुमान में गुरु बन कर आये थे परन्तु प्रेम की सराबोर सरिता में गम्भीर अवगाहन कर, चेले बनकर चले गए। रत्नाकर जी की गोपियां जितनी सरल हैं, उतनी ही चतुर। उनकी वाग्विदग्धता विनोद-मिश्रित है। अतः तर्कों में दर्शन की सी शुष्कता का आभास नहीं होता।

'प्रियप्रवास' में आकर उपाध्याय जी का दृष्टिकोण बदल गया है। वे आधुनिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित हैं। उन्होंने कृष्ण के प्रेमी हृदय का वर्णन करके अन्य कवियों से उच्च स्थान प्राप्त किया है। हरिऔध जी के कृष्ण सूर और रत्नाकर के कृष्ण से कुछ अधिक व्यथित हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि में प्रेम की अपेक्षा कर्तव्य का मूल्य अधिक है। विश्व प्रेम उन्हें व्यक्तिगत प्रेम से अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। हरिऔध जी की गोपियां नन्ददास की भांति तर्क-वितर्क नहीं करतीं, वे अपने को अबोध और अबला बताकर ज्ञान अनधिकारिणी समझती हैं। राधा के निर्लिप्ता और संयता होने पर भी वह कृष्ण के लिए अपनी व्याकुलता स्पष्ट कर देती है। "मैं नारी हूँ तरल उर हूँ, प्यार से वञ्चिता हूँ।" फिर भी वह आदर्श चरित्र की महानता पर पहुँच जाती है। वह अपने दुःख से नहीं, वरन समस्त व्रजवासियों के दुःख से दुःखी है।

हरिऔध जी की प्रधान विशेषता है कि 'प्रियप्रवास' की रचना के समय तक आते-आते उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल लिया है। गतानुगतिक कवियों की भांति उन्होंने परब्रह्मरूप में कृष्ण का चित्रण तो किया ही है परन्तु उनके लीलामय मनुष्य रूप पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार मानव प्राणियों का शिरोमणि है। उसमें ईश्वरीय सत्ता सर्वाधिक है। इसीलिए वह प्राणिश्रेष्ठ है। अतएव मानवता का चरम विकास ही ईश्वरीय तत्व की प्राप्ति है और यही अवतारवाद है। मानवता को त्यागकर ईश्वरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है।

अतः हरिऔध के परिवर्तित मत के अनुसार 'अवतार' ईश्वर के मनुष्य

तक उतरने की मध्यम कड़ी नहीं है; बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुँचने की। अर्थात् मनुष्य होकर भी जो आदर्श चरित्र को प्रस्तुत कर सके वही अवतार है, और ईश्वरत्व के चरम पथ पर अग्रसर है। अतः हरिऔध जी के कृष्ण ईश्वर नहीं, वरन् आदर्श पुरुष और महापुरुष के पथ पर अधिष्ठित हैं। उनके कृष्ण न तो परब्रह्म हैं और न परकीया के उपपति हैं, प्रत्युत एक अनुकरणीय आदर्श मानव हैं। त्रयोदश सर्ग में कवि ने स्पष्ट लिखा है :—

"अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का,
प्रदान की पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता,
बना दिया सभ्य समग्र गोप को।"

कवि की इस परिवर्तनशील मनोवृत्ति का मुख्य कारण है वर्तमान युग की विज्ञान और बुद्धिवाद सम्बन्धी तर्क-वितर्क की भावना। कोई भी अपने युग की प्रबल प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहता। अतः हरिऔध जी को भी तर्क का तकाजा सुनना और उसके सामने झुकना पड़ा। गिरीश के शब्दों में हरिऔध ने परब्रह्मता, मानवता और सामाजिक मर्यादा के भीतर प्रकट होने वाली सौन्दर्य-भावना का पूर्ण सामञ्जस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद प्रधान शताब्दी की आत्मा को सन्तुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है।" अतः युग की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर कवि ने कृष्ण को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। कृष्ण एक आत्मत्यागी, लोकोपकारी के रूप में दृष्टिगत होते हैं। स्वजाति और स्वदेश के हित के लिए वे प्रतिक्षण तत्पर रहते हैं। हरिऔध जी ने उनके मुख से स्वयं कहलाया है :—

"अतः करूँगा यह कार्य मैं स्वयं,
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिए॥
स्वजाति और जन्म-धरा निमित्त मैं,
न भीत हूँगा विष काल सर्प से॥"

× × ×

"सशक्त होते तक एक लोम के
किया करूँगा हित सर्व भूत का॥"

इसी से कृष्ण जैसे आदर्श महापुरुष की गुणावली को श्रद्धांजलि भेंट कर भगवान् से प्रार्थना की है कि :—

"सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे,
राधा जैसी सहृदयता विश्व के प्रेम डूबी।
हे विश्वात्मा! भरत-भुवि के अंक में और आवें॥

प्रश्न ३—'प्रियप्रवास' के प्रकृति-चित्रण की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—'प्रियप्रवास' का अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका सारा महाकाव्य प्राकृतिक छटाओं से सुशोभित है। काव्य के नायक और नायिका तथा अन्य पात्र सभी प्रकृति सुन्दरी की गोद में क्रीड़ाएँ कर फलते-फूलते हैं। त्रयोदश सर्ग में श्रीकृष्ण का प्रकृति के प्रति जितना असीम अनुराग था, वह निम्न पंक्तियों में स्पष्टतः लक्षित होता है :—

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में,
प्रफुल्ल होते करते विहार थे।
विलोकते थे सुविलास वाटिका,
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े।
समोद बैठे गिरिसानु पै कभी,
अनेक वे सुन्दर दृश्य देखते,
बने महा उत्सुक थे कभी छटा,
विलोकते निर्झर नीर की रहे॥

'प्रियप्रवास' में अधिकांश रूप में मानवेतर प्रकृति के ही वर्णन मिलते हैं। नवयुग के खड़ी बोली हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में मानवेतर प्रकृति के चित्रण और निरूपण की दृष्टि से हरिऔध का स्थान सर्वप्रथम है और 'प्रियप्रवास' की गणना हिन्दी साहित्य के विकास में मील स्तम्भ के रूप में है। काव्य का प्रारम्भ ही सांध्य-वर्णन से होता है। 'दिवस का अवसान समीप था' और आकाश कुछ लोहित हो चला था। उस लालिमा की प्रतिच्छाया से दशों दिशाएँ अनुरंजित सी हो चली थीं। और पादपों के शिखरों पर भी सुनहला पानी चढ़ चुका था। 'विहंगम-वृन्द' ने मीठी मनमोहक तानें छेड़ रखी थीं।

निर्झर सरोवर आदि सभी रमणीय अरुणिमा से प्रकृति के दर्पण सम झलकने लगे थे। इसी प्रकार क्रमश: ––

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन-मण्डल मध्य शनैः शनैः।"

कवि ने उपर्युक्त सांध्य वर्णन को मानव जगत् की घटना के पृष्ठाधार के रूप में लिया है; क्योंकि सर्ग के अन्त में यह वर्णित है कि उसी सायंकाल में श्रीकृष्ण ने विविध मर्म भरी करुणामयी मुरलिका की तान छेड़ दी थी, किन्तु वह भी कुछ काल पश्चात् नीरवता में निमज्जित हो गई। फिर द्विघटी निशा अभी बीत ही चुकी थी और सारा व्रज तमसाच्छन्न हो रहा था, आकाश ने ताराओं की दीपमालाएं जला दी थीं और, सारे व्रज के आबालवृद्ध नर-नारी कृष्ण की कलित कीर्ति का गायन कर रहे थे कि अकस्मात् 'अति अनर्थ-कारी' ध्वनि सुन पड़ी कि––

"अमित विक्रम कंस नरेश ने,
धनुष यज्ञ विलोकन के लिए।
कल समादर से व्रज भूप को,
कुँवर संग निमंत्रित है किया॥

इस प्रकार तृतीय सर्ग अर्द्ध-रात्रि और चतुर्थ सर्ग अन्तिम प्रहर की प्राकृतिक छटा का चित्रण करते हुए चलते हैं। पंचम सर्ग में स्वभावत: छा गई वियोग लाली। दिवस के अवसान से यामिनी के अन्त तक के वर्णन प्रिय-प्रवास में अधिकांश रूप में पाये जाते हैं, क्योंकि काव्य का सम्पूर्ण वातावरण प्राय: विषादपूर्ण ही लक्षित होता है। हरिऔध जी ने प्रकृति के तार-तार को पहचाना है। कृष्ण के मथुरा-प्रवास की हृदयविदारक सूचना पाकर प्रकृतिस्थ सभी पहलू शोकाच्छादित हो शांत हो जाते हैं। सम्पूर्ण प्रकृति निश्चल, नीरव और शांत हो जाती है। मानव और मानवेतर-प्रकृति में इस तरह का बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिपादित करना, कवि की नितान्त नूतन कल्पना है। जब श्रीकृष्ण के प्रयाण की वेला आई तो गगनवर्ती सूर्य ने भी अपना मुख वृक्ष की ओट

में छिपा लिया ।

"आई बेला हरि गमन की छा गई खिन्नता सी,
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में ।"

उपाध्याय जी ने कालिदास के मेघदूत की भांति 'पवनदूत' की कल्पना की है । विरहिणी राधा द्वारा पवन से करुणा और विवशता से पूर्ण साहाय्य की जो भिक्षा माँगी गई है और उसकी जो मार्मिक अभिव्यंजना हुई है, उसे पढ़ खर 'मेघदूत' की पंक्तियाँ बरबश ही स्मृति-पट पर अंकित होने लगती हैं । मानवेतर प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से नवम सर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें प्रकृति की माधुरी का उद्घाटन प्रकृति की माधुरी के उद्घाटन के लिए ही किया गया है । इसी से हरिऔधजी की प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा के प्रति अगाध रुचि स्पष्टतः प्रकट हो गई है ।

प्रकृति-पुजारी कवि हरिऔध जी को कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा नैसर्गिक-सुषमा अधिक प्रिय है । कहीं-कहीं शरद् की कमनीयता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है । शुभ-सलिल सरोवरों में समुल्लसित सुन्दर सरोज--

"मानो पसार अपने शतशः करों को,
वे मांगते शरद् से सुविभूतियां थे ।"

प्राकृतिक दृश्यों का सहज रूप ऐसा नहीं है कि वह मनुष्य के सुव्यवस्थित चित्त को अव्यवस्थित बनावे । किंतु मानसिक विकारों से आंदोलित मन को और भी अधिक आंदोलित बनाने की शक्ति उनमें है । जिस हृदय में कोई लालसा अथवा कोई दुर्बलता अपने विकृत रूप में प्रकट करने के लिए सो रही हो, वहाँ प्राकृतिक पदार्थ उसके लिए उद्दीपन का कार्य करते हैं । जिस प्रकार मिठाई खाने से कड़वी या नमकीन चीज़ का स्वाद और अधिक उग्र हो जाता है, उसी प्रकार वसन्त-माधुरी ने गोपियों के लिए वियोग-वेदना को उद्दीप्त करने का कार्य किया :

"वसन्त शोभा प्रतिकूल थी बड़ी,
वियोगमग्ना ब्रजभूमि के लिए ।
बना रही थी उसको व्यथामयी,
विकास-पाती वन-पादपावली ।

दृगों उरों को दहती अतीव थी,
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज-कोंपलें।
अनार शाखा कचनार डार थी,
प्रतप्त-अंगार–अपार-पूरिता ॥"

सर्ग के उत्तरार्ध में कवि ने यह स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि राधा के गृह की समीपवर्ती वाटिका वसन्त-वेदना के कारण कान्त होते हुए भी नितान्त शान्त थी। राधा की वियोग-वेदना की छाया ने वाटिका की प्रफुल्लता को आच्छादित कर लिया है। वसन्त ऋतु भी अपनी उद्दण्डता को छोड़ कर ठिठक सा गया है। चेतन और अचेतन जगत् में इस तरह का सामंजस्य क्रिया-प्रतिक्रिया हरिऔध जी को सर्वत्र इष्ट है। कहीं-कहीं कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का केवल कलात्मक निरुद्देश्य वर्णन किया है जहाँ सौन्दर्यविभूति के अतिरिक्त और कोई मुख्य ध्येय नहीं है। ऊधो के वृन्दावन आते समय प्रसंगवश नवम सर्ग में जो विस्तृत प्राकृतिक रूप-राशि का उद्घाटन किया है उसका प्रयोजन कला को कला के निमित्त निर्मित करना ही लक्षित होता है।

प्रकृति से मानव जगत् ने उपदेश भी ग्रहण किए हैं—जहाँ श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न दृश्यों की ओर संकेत करते हुए उनसे जीवन-यात्रा के लिए सिद्धान्त सम्बल की भीख मांगते हैं। कहीं-कहीं प्रकृति वियोगव्यथित हृदय के लिए मनोरम दृश्यावली उपस्थित कर मरहमपट्टी का भी काम देती है। गोप-गोपियों की चित्तवृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर उनकी दारुण व्यथाओं का निवारण करने में सहायता करती है। इस प्रकार भौतिक दृष्टिकोण और आधुनिक युग की आत्मा को सन्तुष्ट करने वाला, 'मनुष्य'-प्रकृति और 'मानवेतर' प्रकृति का जैसा सुन्दर समन्वय 'प्रिय-प्रवास' में दिखाई पड़ता है वह हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं।

प्रश्न ४—प्रियप्रवास की भाषा-शैली पर एक लेख लिखो।

उत्तर—'प्रियप्रवास' की भाषा यद्यपि खड़ी बोली है तथापि वह विशुद्ध नहीं कहला सकती। संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता होने के कारण वह सरल, सुगम और बोलचाल की भाषा नहीं रही। उसमें कुछ क्लिष्टता का

आभास अवश्य लक्षित होता है। भूमिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हरिऔध जी ने संस्कृत-गर्भित भाषा के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किए हैं। उनका कहना है कि 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका' और 'रामचन्द्रिका' से अधिक संस्कृतमयता 'प्रियप्रवास' में नहीं है। अतः यदि वे ग्रन्थ किसी दृष्टिकोण से उपादेय हैं तो प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादयता और महत्ता भी ग्रहणीय है। फिर वार्णिक वृत्तों का उपयोग करने के कारण संस्कृतमय भाषा को अपनाना कुछ आवश्यक सा प्रतीत होता है। इसमें कवि की रुचि-विशेष की सन्तुष्टि का भी प्रश्न रहा है। इसी संस्कृतमय शैली के अपनाने के कारण ग्रन्थ में दो दुर्विशेषताएं आ गई हैं—क्लिष्ट शब्दावली ओर संश्लिष्ट पदावली।

किसी भी कविता का मुख्य ध्येय केवल शब्द चमत्कार नहीं, उसमें भावों की प्रेषणीयता होना अत्यन्त आवश्यक है। इस उद्देश्य-पूर्ति का मुख्य साधन है प्रसाद गुण से युक्त प्रांजल भाषा। परन्तु 'प्रियप्रवास' में प्रायः 'प्रसाद' का अभाव ही लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त भाषा में ब्रज भाषा के अनेक शब्दों का मिश्रण भी पाया जाता है। जहां संस्कृत की कोमल कान्त पदावली के दर्शन होते ह वहाँ 'पायन नुपुर मंजु बजैं कटि किंकिनी की मधुराई' जैसी लचीली और मृदुल पंक्तियाँ भी सुनाई देती हैं। समास-बहुलता और संस्कृत के वार्णिक छन्दों का प्रयोग होने के कारण राधा के रूप सौन्दर्य की मधुरिमा और उसकी गुणावली में भी क्लिष्टता आ गई है।

"रूपोद्यान-प्रफुल्लप्राय-कलिका राकेन्दुबिम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली ॥"

इन त्रुटियों के होते हुए भी कवि ने अपनी कविता की प्रतिभा की संजीवनी से परिष्कृत कर संस्कृत वृत्तों के नियन्त्रण में रहते हुए भी सुन्दर और सरल पदों की योजना की है। कहीं अनुप्रासप्रियता को सरल और सरस व्यंजना द्वारा तुकान्तता की त्रटि का निवारण कर दिया। यथा—

"कमल-लोचन क्या कल आ गए
पलट क्या कुफल क्रिया गई,

किसलिए ब्रज कानन में उठी,
मुरलिका तरलिका उर बालिका।
किस तपोबल से किस काल में
सच बता मुरली कलनादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली,
मधुरता, मृदुलता मनहारिता ॥"

इनका वाक्य-विन्यास सुव्यवस्थित, सुसंगठित, भावपूर्ण और सुन्दर है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ही कवि की भाषा संस्कृतगर्भित नहीं है। इनकी लेखनी शब्दों के सरल प्रयोग की ओर भी बढ़ी है। अतः दोनों प्रकार की भाषाओं का इस ग्रन्थ में पूर्ण समावेश हुआ है। शब्द-भण्डार इनका अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है।

'प्रियप्रवास' में संस्कृत के मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, वसन्त-तिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। अतुकान्त पदों के होने पर भी इतना लय और तुक है कि जितना तुकान्त कविता में भी नहीं पाया जाता है। प्रायः दुःखद भावनाओं के चित्रण के लिए मन्दाक्रान्ता का प्रयोग किया गया है। संस्कृत में मेघदूत काव्य का श्रीगणेश महाकवि कालिदास जी ने इसी छन्द से किया है। 'प्रियप्रवास' में भी राधा पवन को दूत बनाकर भेजती है। उस स्थान पर राधा का संदेश उपर्युक्त छन्द द्वारा ही प्रेषित किया गया है।

किसी भी काव्य-शैली के उत्कर्ष-विधान के लिए (१) प्रसादगुण और बोधगम्यता, (२) भाषा की भावानुरूपता, (३) पदलालित्य और अलंकारों का उचित समावेश, (४) प्रतिपाद्य वस्तु की आकर्षणशीलता और (५) कल्पना की उड़ान, इन पाँच उपकरणों की आवश्यकता होती है।

'प्रियप्रवास' पर सामूहिक रूप से विचार करने पर यद्यपि प्रसाद गुण और प्रांजलता का अभाव लक्षित होता है तथापि सरलता और बोधगम्यता के नमूने यत्र-तत्र भरे पड़े हैं—

"प्रिय पति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है ?

'प्रियप्रवास' में हरिऔध ने भी भाषा को भावों के अनुकूल अनुकरणात्मक बनाने का प्रयत्न किया है।

"मथित चालित ताड़ित हो महा,
अति प्रचण्ड प्रभञ्जन पुंज से।
जलद के दल के दल आ रहे,
घुमड़ते गिरते ब्रज घेरते॥"

प्रचण्ड-प्रभञ्जन के आघातों से प्रेरित होकर जलद-पटलों के दल के दल आने और घुमड़-घुमड़कर घिरने के वर्णन के लिये जिन वर्णों की, जिस छन्द की और जैसे अनुप्रासों की योजना की गई है उनसे भावाभिव्यक्ति की ध्वनि अनायास ही सुन पड़ती है। हरिऔध जी ने हृदयगत भावों और उनके विश्लेषणों को ही प्रधान समझा है। उनके दृष्टिकोण के अनुसार शब्दाडम्बर मात्र यथार्थ कविता नहीं है। यथा —

"पट हटा सुत के मुख-कञ्ज की,
विचकता जब थी अवलोकती।
विवश सी तब थी फिर देखती,
सरल, मृदुता, सुकुमारता॥"

जिस प्रकार कविवर तुलसीदास जी को कभी-कभी लम्बे-लम्बे रूपक को प्रस्तुत करना इष्ट था, ठीक वही प्रवृत्ति 'प्रियप्रवास' प्रणेता में भी उपलब्ध होती है। दशम सर्ग में यशोदा, कृष्ण के वियोग में अतीत सुखद स्मृतियों की कल्पना करती है।

"ऊधो मेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा,
शोभा देती अमित उसमें कल्पना क्यारियाँ थीं।
प्यारे प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों,
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे॥"

इसी प्रकार का लम्बा रूपक आगे तक चलता हुआ रूपकों की एक शृङ्खला सी बांध देता है। हरिऔध के प्रियप्रवास में ऐसे कितने ही मनोहर स्थल हैं

जहाँ अलंकारों का चमत्कार भी विद्यमान है और साथ ही साथ यह भी प्रयत्न किया है कि अलकारों की वेदी पर भावों की नैसर्गिक सुषमा और शैली की सरलता, सुगमता और बोधगम्यता बलि न पोने पावे।

'प्रियप्रवास' में भी कवि की कल्पना की उड़ान प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। कल्पना की स्वच्छन्दता, सुन्दरता, सूक्ष्मता की दृष्टि से काव्य का षष्ट और पंचदश सर्ग विशेष महत्वपूर्ण है। षष्ठ सर्ग में जहाँ एक दिन नाना चिन्तासहित राधिका अपने घर में बैठी थी, और प्रातःकालीन सुपवन इसी काल वातायनों से प्रविष्ट हुआ और राधा ने अपने दुःख की कथा श्याम को सुनाने के हेतु पवन से प्रार्थना की, वहाँ से लेकर सर्ग के अंत तक जिन मृदुल मर्मस्पर्शी भावनाओं को शब्द-चित्र में चित्रित किया गया है वे निश्चय ही किसी साहित्य की सुषमा को द्विगुणित कर सकती हैं। इस प्रसङ्ग को पढ़कर बरबस कविकुल-गुरु कालीदास के 'मेघदूत' का स्मरण होने लगता है। जिस समय राधा पवन से कहती है —

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला मौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है॥

प्रेमपरायण हृदय की उत्कण्ठा का कितना सूक्ष्म चित्रण किया गया है इन पंक्तिथों में।

पंचदश सर्ग का कुञ्ज-प्रसंग कल्पना अथवा भावुकता के उत्कर्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुञ्ज के गुलाब से जाकर राधा अपनी करुण गाथा सुनाती है किन्तु जब उससे प्रभावित न हौकर वह उत्तर नहीं देता तो निदान जूही के पास जाती है।

"आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली,
मेरी बातें तनिक न सुनी पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी हृदय तल की नारि ही जानती है,
जूही तू है विकचवदना शान्ति तू ही मुझे दे॥"

पाटल के परुष पुरुष-हृदय की उपेक्षा और जूही के कान्त कान्ता-हृदय के

साथ राधा-हृदय का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना कवि की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और ऊंची कल्पना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से 'प्रियप्रवास' का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि हरिऔध ने वार्णिक वृत्तों और संस्कृतमय शब्दावली का प्रयोग करके यद्यपि कुछ क्लिष्टता का प्रदर्शन किया है और प्रगतिशील हिन्दी के प्रति अन्याय भी किया है, परन्तु सम्भवतः 'वैदेही वनवास' की रचना कर उस अन्याय का परिहार भी किया है अतः कवि के इस महाकाव्य की शैली-सुमन-स्थली में अधिकांशतः कोमल कान्त पदावली की शस्यश्यामल क्यारियों में अलंकारों और कल्पनाओं की कमनीय कुसुमावली विराजित हो रही है।

प्रश्न ५—'प्रियप्रवास' की राधा का चरित्र-चित्रण कीजिये।

उत्तर—विरहिणी राधा हरिऔधजी के कीर्तिस्तम्भ 'प्रियप्रवास की आदर्श नायिका है। राधा के नयिकात्व पद पर अधिष्ठित होने के कारण श्री कृष्ण प्रस्तुत काव्य के नायक हैं। बाल्यकाल से ही दोनों शिशु प्रेम रस में साथ-साथ और फिर धीरे-धीरे जैसे ही उनकी जीवनलता विकसित होती गई, उनकी प्रेम-बेली भी बढ़ी। उषा काल में अरुण पट पहने हुए उषा सी कमनीय राधा का भी सौन्दर्य अपूर्व है। वह सर्वत्र "सद्" के भार से विभूषित ही लक्षित होती है। वह सद्वस्त्रा, सदलंकृता, सत्-प्रेम और सम्तोषिता है। इसके अतिरिक्त वह राकेन्दु-बिम्बानना; मृगदृगी, कंजनयनी, सौंदर्य के सभी उपमानों से सुशोभित है। बाल्यकाल में उत्पन्न सरल युग्मों का स्नेह, वयोवृद्धि के साथ 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाता है और अन्त में 'प्रेम की परिणति' प्रणय में होती है। उसके शरीर में एक यौवन की उमंग और मन में प्रेम का आवेग उमड़ पड़ता है। वह एक साथ ही प्रेममयी, विनोदमयी और भक्तिमयी है। परन्तु जैसे ही उसने अपने हृदय के साथ अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित किया और मन में उनको प्रेमी और पति रूप में वरने की आकांक्षा की, ठीक उसी समय वे कंस का संदेश पाकर समष्टिहित के लिए कभी न लौटने के लिए मथुरा चले गए। राधा का प्रेम-पगा हृदय इस अशुभ और आकस्मिक समाचार को पाकर विक्षुब्ध हो उठा, परन्तु फिर भी उसने अपने को प्रत्येक प्रकार से

आश्वासन देने का प्रयास किया। वह बारम्बार यही कहती है—

> "प्रिय-स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।
> पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है॥"

उसके इस आश्वासन में अधीरता थी, आशंका, प्रेम और व्याकुलता की व्यंजना थी, उसके विरहविदग्ध हृदय में विभिन्न भावों की क्रान्ति मची थी। कभी कोई भाव उद्दीप्त होकर प्रधानता प्राप्त करता, तो कभी कोई। इस समय उसके व्यथित हृदय ने कृष्णप्राप्ति की भावना को जगत्-हित-कामना से श्रेष्ठतर और प्रबलतरसिद्ध किया है:—

> "मेरे प्यारे, पुरुष, पृथिवी-रत्न और शांत भी हैं,
> सन्देशों में यद्यपि उनकी वेदना, व्यंजिता है।
> मैं नारी हूं तरल उर हूं, प्यार से वंचिता हूँ,
> जो होती हूँ विकल विमना व्यस्त वैचित्र्य क्या है?"

कृष्ण मथुरा-प्रवास करते हैं और राधा प्रेम-योगिनी बन कर रह जाती है। परन्तु प्रिय-विरह में बावली अपने दुःख की कथा किसको सुनावे। अन्त में सौरभिल पवन तरुणी के कनकबरनी लता-से तन को स्पर्श करता है। निराश्रिता अबला को आवश्यक आश्रय मिल जाता है और पवन को दूत बना लेती है। वह असमर्थतासूचक वाणी में पवन-दूत से निवेदन करती है—

> "पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी,
> तो तू मेरी विनय इतनी मान ले और चला जा।
> छू के प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आजा,
> जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगा के॥"

राधा को यदि इतनी व्यग्रता थी, तो क्या कृष्ण मथुरापुरी में हृदय के स्थान पर पत्थर का टुकड़ा लिए बैठे रहे? नहीं, हृदय की सच्ची स्मृति में दोनों पक्षों में ही उत्सुकता और तीव्र आकर्षण उत्पन्न हो उठता है। दिल को दिल की चाह होती है। परन्तु कभी-कभी इतने आकर्षण में भी कण्टकों के रूप में परिस्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं, जिनको निभाना मानव मात्र का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। इन दो प्रेमी हृदयों में समाज की मर्यादा और

आदर्श की भावना अथवा व्यष्टि और समष्टि हित की भावना आ खड़ी होती है, जिसमें से एक को चुनना पड़ता है। कृष्ण आदर्श महापुरुष तो थे ही, तो फिर उनके लिए आत्म-उत्सर्ग का मार्ग ही ग्रहणीय था। हरिऔध जी ने भी तो आदर्श कृष्ण के महापुरुषत्व के दर्शन निम्न पंक्तियों में करा दिए हैं:—

"स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं,
जो आ जाता जगत-हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी-सा दमन करते लोक सेवा निमित्त,
लिप्साओं से भरित उर की सैकड़ों लालसायें॥"

प्राणेश की इस आदर्शपूर्ण भावना से अभिभूत होकर उस प्रेम-योगिनी ने भी इसी आदर्श को स्वीकार किया और आदर्श प्रेमिका बन गई। हाँ, एक ओर उसकी इच्छा होती है कि किसी प्रकार कृष्ण से मिलन हो जाता, परन्तु फिर सोचती है कि केवल हृदय की संतुष्टता और प्रेम के लिए प्रिय को कर्त्तव्य से विमुख क्यों करूँ? प्रेम और कर्त्तव्य में जहाँ संघर्ष उत्पन्न हो, व्यष्टि और समष्टि की हित कामना में से जहाँ एक को चुनना हो, अपने स्वार्थ की बलि देना ही मानवमात्र का आदर्श है। राधा आदर्श प्रेमिका है, उसने अपने हृदय की प्रबल कामना को दबाकर अपनी ही बलि देकर लोक-हित-कामना को चुना। तभी तो वह कहती है:—

"प्यारे आवें सुवचन कहें प्यार से गोद लेवें,
ठण्डे होवें नयन दुःख हो दूर मैं मोद पाऊँ।
ये भी हैं भाव मम उर के और ये भाव भी हैं,
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥"

राधा और कृष्ण दोनों के समक्ष एक ही प्रश्न था, अन्तर था केवल इतना ही कि जहाँ राधा के लिए दोनों मार्गों का एक ही क्षेत्र था, वहाँ कृष्ण के लिए आत्मोत्सर्ग मार्ग स्थानान्तर में था। राधा और कृष्ण एक ही घटना के दो पहलू हैं, एक ही लक्ष्य के दो पक्ष हैं। राधा ने भी आदर्श पुरुष कृष्ण की भांति स्वीकार किया है कि—

"सच्ची यों है न निज सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ,
संरक्षा में प्रणयपथ के भावतः हूँ सयत्ना॥"

ब्रज की गोप-बालाओं, गोपों, नन्द, यशोदा आदि सभी में राधा का सेवा-भाव व्याप्त है और उसी के बल पर उसने उन्हीं की वेदना तथा उत्पीड़न को दूर करने का प्रयास भी किया है, यहाँ तक कि उसकी ममता कीट-पतंग आदि तक भी व्याप्त है।

इसी प्रणय पथ पर चल कर उसे प्राणेश के सीमित क्षितिज के मध्य परमात्मा के असीम रूप की झांकी मिली है।

"मेरे जी में अनुपम महाविषा का प्रेम जागा,
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।"

फिर क्रमश: राधा ने अपने प्रियतम के व्यष्टि रूप को परमात्मा में विलीन कर दिया:—

"पाती हूँ विश्व प्रियतम में, विश्व में प्राण प्यारा,
ऐसे मैंने जगत पति को श्याम में ही विलोका।"

उस पुण्यात्मा आदर्श राधा की अन्त: प्रेरणा ने उसकी उलझनमयी परिस्थिति के प्रति इस प्रकार समाधान किया कि वह प्रेम करती है व्यक्तित्व से। तभी तो उसको वियोग की वेदना सताती है, फिर वह क्यों न प्रेम करे उसे समष्टि रूप से, जिसका आंशिक प्रतिनिधि है उसका व्यक्तिगत प्रेमपात्र। अत: उसका अन्त:करण मानों इसी अटल निश्चय में बंध जाता है कि वह श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को अपने प्रेम का पात्र न बनाकर उनके समष्टिगत रूप परमात्मा से ही प्रेम करेगी, किन्तु फिर उस अव्यक्त परमात्मा पर प्रेम कैसे सम्भव हो सकता है? प्रेम-प्रासाद का आधार कोई मूर्त्त अथवा स्थूल होना चाहिए। अत: उस परमात्मा का जो व्यक्त रूप है अर्थात् जगत् उसीसे प्रेम करना चाहिए। लोकसेवा ही भगवान् की सेवा है। जगत् के प्राणी वर्ग से प्रेम करना ही परमात्मा से प्रेम करना है:—

'विश्वात्मा जो परम प्रभु हैं रूप तो हैं उसी के,
सारे प्राणी सरि-गिरि लता बेलियां वृक्ष नाना।"
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा,
भावों सिक्त परम-प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है॥"

इसी प्रकार क्रमश: राधा कृष्ण-प्रेमिका से विश्व की आदर्श प्रेमिका बन

गई। कृष्ण की भांति उन्होंने भी अपने को लोक-सेवा में समर्पित कर दिया :—

"वे छाया थीं सुजन-जन शिर की शासिका थीं खलों की,
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की,
आराध्या थीं व्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं॥"

इस प्रकार हरिऔध जी के राधा-माधव और माधव-राधा के चित्रण में संयम और आदर्शवादिता का सुन्दर समन्वय है। वहाँ 'शिव' और 'सुन्दरम्' का सन्तुलित सामंजस्य प्रतिफलित होता है। उनकी काव्य-नायिका राधा व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होकर विश्वप्रेमिका बन जाती है। जिससे वह अपनी लक्ष्य प्राप्ति की साधना में सफल हो जाती है। राधा-कृष्ण की इस महानता से प्रभावित होकर कवि ने भी भगवान् से प्रार्थना की है कि:—

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे,
राधा जैसी सदय-हृदया विश्वप्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा! भरत-भुवि के कअं में और आवें।"

प्रश्न ६—"प्रियप्रवास में मुख्यतः वियोग शृंगार और वात्सल्य रस मिलता है।"—उद्धहरण देते हुए इस पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—कृष्ण-काव्य के प्रमुख स्रष्टा सूरदास ही नहीं हैं, वर्तमान युग में हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' की महत्वपूर्ण रचना का प्रणयन किया है। प्रिय-प्रवास में प्रमुखतया प्रेम के वियोग पक्ष का करुण निदर्शन है। इसमें 'प्रेम', 'आदर', 'सख्य', 'स्नेह', 'वात्सल्य' 'भक्ति' और 'प्रणय', सभी वृत्तियों का चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है; जिसमें लीन हो जाने पर हृदय यही बारम्बार सोचता रह जाता है—

"यदि विरह विधाता ने स्रजा विश्व में था;
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी।
यदि स्मृति विरची तो क्यों उसे है बनाया,
वपन-पटु-कुपीड़ा बीज प्राणी उरों में॥"

सभी वृत्तियों का संश्लिष्टात्मक परिचय देने पर भी कवि ने प्रधानता **विप्रलम्भ शृंगार और वात्सल्य रस को दी है।** काव्य का प्रायः सम्पूर्ण वायु-

मण्डल (atmosphere) वियोग वेदना से परिपूर्ण है। वात्सल्य में भी करुण-वत्सल को प्रधानता दी गई है। अमिश्र को नहीं। करुण-वत्सल का प्रारम्भ वहाँ से होता है जब स्वफलक-सुत अक्रूर कंस का सन्देश लेकर आता है और एक विघोषक वाद्य की बहु ताड़ना कर घोषणा करता है:—

"अमित विक्रम कंस नरेश ने ,
धनुष-यज्ञ विलोकन के लिए ।
कल समादर से व्रज-भूप को ,
कुंवर संग निमन्त्रित है किया ।
यह निमन्त्रण लेकर आज ही ,
सुत स्वफलक समागत हैं हुए ।
कल प्रभात हुए मथुरापुरी ,
गमन भी अवधारित हो चुका ।।"

कमल-लोचन की अशनि-पात के समान वह सूचना पाकर सभी व्रजवासी शोक से अति कुण्ठित हो उठे और यह दुःख भरी कुत्सित भावना उनके मानस को मथन करने लगी। सम्पूर्ण व्रज का प्रसाद-पूर्ण वातावरण अवसाद में परिणत हो गया। सभी गोप-गोपी नृशंस-नृपाल की दुरभिसंधि को कोसने लगीं, क्योंकि कमल-लोचन का उसके पास गमन अवधारित हो चुका था। जैसे-जैसे निशि-घटा घटती जाती थी वैसे ही बढ़ती थी उर की व्यथा। यदि अन्य व्रजवासियों की यह विषादमयी करुणावस्था थी तो फिर स्नेहागार नन्द-यशोदा की पुत्र-वियोग में कितनी दयनीय अवस्था होगी। पुत्र की वियोग-वेदना से तड़फ-तड़फ कर और नृपाधम की नृशंसता का अनुमान कर वह करुणा क्रन्दन कर बैठती थी। 'परन्तु हरि न जाग उठें' इस भय से सिसकती तक भी न थी। कवि ने मातृ-हृदय की वियोगजनित विकलता का कितना मनोवैज्ञानिक सुन्दर विश्लेषण किया है—

"पट हटा सुत के मुख-कंज की ,
विकचता जब थीं अवलोकती ।
विवश सी तब थीं फिर देखती ,
सरलता, मृदुता, सुकुमारता ।।"

जब जरा दुःख-वेग घटता तो मही पर घुटने टेक व्रजवल्लभ की कुशलता की याचना करती हुई विनय करती थी। उस विनय में मातृ-हृदय का पुत्रवत्सल-भाव कितना गम्भीर और मार्मिक है। उसके अन्तस्तल की गहराई की थाह कौन पा सकता है। उसकी वेदना अवर्णनीय है। अपर व्यक्ति सिवा भुक्त-भोगी के उसकी अवसादावस्थापूर्ण अनुभूति से तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि "जाके पाँव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।" इन गम्भीर अनुभूतियों से प्रभावित होकर यशोदा ने 'जगदम्बिका' से करबद्ध हो यों विनय की है—

"कलुषनाशिनी दुष्ट-निकंदनी ,
जगत की जननी जगदम्बिके ।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा ,
जननि ही जिय है कुछ जानता ॥"

कृष्ण के प्रवास करने पर भी वे उनके प्रत्यागमन की आशा लगाये अनेकों मेवे आदि व्यंजनों को सुन्दर भाजनों में सजाकर रखतीं और;—

"प्रतिदिन कितने ही देवता थी मनाती ,
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थी।
निज घर पर नाना ज्योतिषी थी बुलाती ,
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा ॥"

यशोदा-माँ के हृदय की उत्सुकता, आशा और उत्कण्ठा का कितना मनोवैज्ञानिक चित्रण है। उत्कण्ठा का उत्कर्ष मानों मातृ-हृदय से उबल पड़ता है। कवि ने मातृ-हृदय की इतनी स्वाभाविक और गम्भीर अनुभूतियों का विशद विश्लेषण किया है, मानों कवि-हृदय, मातृ-हृदय से तदाकार हो गया हो। कवि की गम्भीर पैठ सराहनीय है। जब वत्सलता का उदधि उमड़ता है और हृदय-वेदना की सीमा असीम हो जाती, तथा मनःशक्ति भी परास्त हो जाती है, तो वे अपने पातकी प्राणों को कोसने लगती हैं जो ऐसे अशुभ अवसर पर भी उनके शरीर का साथ दिये हुए हैं। फिर आलम्बन के गुणों के स्मरण से अनुभूति भी तीव्र हो उठती है। अतः अष्टम सर्ग में गोप और गोपियों के मुख से अतीत स्मृतियों के रूप में श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव और उनकी विविध बाल-लीलाओं का वर्णन किया गया है। यशोदा-उद्धव सम्वाद में भी यशोदा के मातृ-हृदय के भावों की सकरुण अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नन्द और

यशोदा के इस वेदनामय प्रसंग में करुणा की लहर ही व्याप्त है। इस वेदनामय प्रसंग में सर्वत्र वत्सल रस का ही भान होता है।

"प्रिय-प्रवास" में व्याप्त वियोग-गाथा के दो पहलू हैं। एक का लक्ष्य है, पुत्र-वियोग, दूसरे का प्रणयी-वियोग। प्रणयी कृष्ण के मथुरा प्रवास के वियोग में गोप-गोपियों ने जो करुण विलाप किये हैं, वे प्रवास-विप्रलम्भ और करुण के अन्तर्गत आते हैं। प्रेम जब नायक अथवा नायिका के तल में विफल हो जाता है, तब 'विप्रलम्भ' कहा जाता है। यह विप्रलम्भ भी चार प्रकार का है— पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। 'प्रियप्रवास' का प्रवास-विप्रलम्भ अन्त में जाकर करुण में परिवर्तित हो गया है। विप्रलम्भ और करुण में मुख्य अन्तर यही है कि विप्रलम्भ का स्वायीभाव रति है और करुण का स्थायी भाव शोक है। विप्रलम्भ में सम्भोग की परिणति सम्भव है किन्तु करुण में आरम्भ से अन्त तक शोक ही शोक रहता है। इष्ट मिलन की आशा अति दूरवर्ती हो जाती है। "प्रियप्रवास" में भी आशा पीछे चल कर बिल्कुल निरस्त हो गई है और राधा एक ऐसे पथ की पथिक बन जाती है जो उसे शान्त रस की ओर प्रवृत्त कर देता है। विश्व व्यापकता में प्रियतम की माधुरी का अनुभव करना कभी भी शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। अतः 'प्रियप्रवास' में विप्रलम्भ का परिपाक नहीं हो सका। वियोग की तीव्रता के लिए संयोग की कसक आवश्यक होती है। किन्तु राधा और कृष्ण में 'हरिऔध' जी ने शृंगारिक संयोग का चित्रण नाम-मात्र को भी नहीं किया है। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि 'प्रियप्रवास' में प्रवास-विप्रलम्भ का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। इसी कारण से प्रियप्रवास महाकाव्य में कारुण्य का जितना पुट है, उतना विशुद्ध शृंगार का नहीं। कारुण्य के वर्णन में कवि को सफलता भी पर्याप्त मिली है। राधा के करुण क्रन्दन की व्यापकता चेतन और अचेतन की सीमान्त रेखा को लांघ गई है। जिस प्रकार राम के चित्रकूट में प्रवास करने पर घोड़ों की जो गति हुई थी, कालिदास के राम के साथ उनकी वियुक्तावस्था पर तरस खाकर मृगियों ने दूब चरना छोड़ दिया था, और लताबेलियों ने भी अनुकम्पा प्रदर्शित की थी, ठीक उसी प्रकार राधा के दुःख की छाया जब वृक्षों पर पड़ी तो वे मनमारे, नीरव से, शान्त से, खड़े हो गए। प्रातःकाल जब कृष्ण अक्रूर के साथ प्रस्थान करने लगे तभीः—

"काकातूआ महर के द्वार का भी दुःखी था ।"

उनके प्रवास करने के उपरान्त पीड़ा और भी घनीभूत हो गई है । लता-बेली, पादप, मार्ग का रेणु, कुंज, कानन, अब सभी करुणा के प्रतीक बन गये हैं । इनको देखते ही अतीत की स्मृतियाँ सजग हो उठती थीं और हृदय के तार वेदना, टीस और कसक की भाव-अंगुलियों से झंकृत हो उठते थे । इस समय ये सब वियोगाग्नि को और भी उद्दीप्त कर रहे थे, मानों वे इसी कारण निर्मित किये गये हों ।

'हरिऔध' जी ने मानव-भावनाओं के विकास के लिए अनुकूल-प्रतिकूल अथवा प्रतिबिम्बरूप प्राकृतिक दृश्यों और वर्णनों का उपयोग किया है । इस कला द्वारा कवि ने कारुण्य के प्रभाव को और भी तीव्रतर बनाने में सफलता प्राप्त की है । उदाहरण :—

"या मैंने था दिवस अति ही दिव्य ऐसा विलोका ,
या आँखों से मलिन अब हूं देखता वार ऐसा ।"

ऐसे पद्यों में भूत और वर्तमान के बीच जो वैषम्य है उससे करुणा की कसक कंटीली सी बन जाती है और हृदय में कंटीली बन और भी चुभने लगती है । अतीत की स्मृति वर्तमान को और भी दुःखद बना देती है । राधा और गोपियों की अनन्य प्रेमासक्ति को देखकर यह प्रश्न स्वभावतः उठ जाता है कि क्या प्रेम-बेलि का विकास एकाकी था ? अथवा कृष्ण भी प्रेम-सागर में डुबकियाँ लगाया करते थे । हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण की भी वेदना और उत्सुकता का वर्णन किया है । उनके गोपियों आदि से न मिलने का कारण राजनीति के अत्यन्त पेचीले पचड़ों में पड़ना था, उन्होंने उद्धव को ब्रज में सान्त्वना कार्य के लिए भेजा । उद्धव ने भी प्रेम-परायण गोप-गोपियों को यह विश्वास दिलाया कि—

"सायं प्रातः प्रति पल घटी है उन्हें याद आती ,
सोते में भी ब्रज अवनि का स्वप्न वे देखते हैं ।
कुञ्जों पुञ्जों मन मधुप लौं सर्वदा घूमता है ,
देखा जाता तन भर वहाँ मोहिनी मूर्ति का है ॥"

जब उद्धव ने गोपकुमार मण्डली में मुकुन्द का सन्देश दिया तो उनमें से एक ने अत्यन्त धीमे स्वर में कातर होकर यह घोषित किया—

"मुकुन्द चाहे यदुवंश के बनें,
सदा रहें या गोप वंश के ।
न तो सकेंगे ब्रज भूमि भूल वे,
न भूल देगी ब्रज मेदिनी उन्हें ॥

हृदयों की इस क्रिया-प्रतिक्रिया से कारुण्य-धारा और भी तीव्रतर हो उठी है और आँसुओं के द्वार का नियन्त्रण तोड़ देती है और आंसुओं की धारा प्रवाहित हो जाती है। हृदयाकाश में जब वेदना के मेघ घनीभूत हो कर आँसुओं के रूप में बरस पड़ते हैं, तब यह हृदयाकाश स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। यही तो प्रकृति का नियम है।

काव्य के अन्त में वेदना और करुणा की वह धारा जो आरम्भ में वेगवती वर्षाकालीन धारा के समान उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, वह मन्द पड़ जाती है, और उसमें निर्वेद और आत्मत्याग की शरत्कालीन शान्ति तथा पुण्य की प्रसन्नता छा जाती है। राधा अपने प्रियतम को विश्वप्रेम में पा लेती है। संसार की सेवा में ही उसने प्रभु की भक्ति का आभास पाया है। उसके प्राणेश कृष्ण भौतिक और स्थूल प्रेमपात्र से चल कर दार्शनिक ब्रह्म बन गए और उनके साथ-साथ वह भी धीरे-धीरे विश्व-प्रेमिका बनती गई। उसका प्रेम मोह से चलकर निःस्वार्थ प्रणय की अवस्था से गुजरते हुए करुणा और निर्वेद की दशा में प्रवृत्त हो गया है। विप्रलम्भ शृङ्गार के विकास का ऐसा क्रम जिस में हरिऔध जी का आदर्शवाद स्थित है, साहित्य शास्त्र के लिये एक अद्वितीय वस्तु है।

करुणा का चित्रण करना कवि की एक प्रधान विशेषता है। साथ ही इस युग की विशेपता है, भवभूति की अनुपम प्रवृत्ति की। उनके काव्य-हृदय की प्रमुख तार 'करुणा' की तन्त्री से निर्मित है। इसके अतिरिक्त 'हरिऔध' जी के काव्य में यद्यपि अन्य रसों का भी संचार हुआ है, तथापि कवि ने प्रमुख रूप से वत्सल और शृङ्गार का आश्रय लिया है और उनमें भी अन्तः धारा और परिणति के रूप में करुणा की विशेषता है।

प्रश्न ७—कृष्ण-काव्य का विकास दिखाते हुए प्रियप्रवास का स्थान निश्चित कीजिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में जितने व्यापक रूप में कृष्ण-काव्य की रचना हुई, उतने व्यापक रूप में और किसी अन्य धारा का विकास न हो सका। इस

महान् वारिधि में से अगणित कवियों ने असंख्य भाव-मणियों का सञ्चय किया। कृष्ण-चरित का मुख्य आधार तो 'श्रीमद्भागवत' का दशम स्कन्ध है, परन्तु हमें कृष्ण का सब से पहले परिचय ऋग्वेद में एक अनार्य सामन्त के रूप में मिलता है। महाभारत के कृष्ण ज्ञानी और योद्धा के रूप में निर्मित हुए हैं। उसके पश्चात् बारहवीं शताब्दी के लगभग 'श्रीमद्भागवत' का निर्माण हुआ है। हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य का आरम्भ मैथिलकोकिल विद्यापति से माना जाता है किन्तु उन पर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव का अत्यधिक प्रभाव है अतः जयदेव से ही कृष्ण-काव्य का वास्तविक इतिहास मानना चाहिये।

'विद्यापति' के पश्चात् भक्तिकाल में कृष्ण-काव्य का विकास बहुत अधिक हुआ जिसका श्रेय श्रीवल्लभाचार्य जी को है। इन्होंने अपनी भक्ति का आधार भागवत पुराण रखा। इसमें भक्ति की अपेक्षा 'प्रेम' को अधिक महत्व दिया है। सूर के काव्य में कृष्ण के जीवन का सर्वाङ्ग चित्रण भले न हो, किन्तु बाल-कृष्ण का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है वह अद्वितीय है। उन्होंने वात्सल्य रस का कोना-कोना झांक लिया है। उनके इष्ट ही बाल-कृष्ण थे जिनकी उन्होंने बालसुलभ चेष्टाओं तथा अन्तः प्रकृति का भी सूक्ष्म तथा मनोरंजक चित्राङ्कन किया है। सूरदास जी ने रस-राज के प्रत्येक अंग को स्पर्श किया है। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के कवियों को भी कृष्ण-काव्य लिखने की प्रेरणा वल्लभाचार्य के पुत्र स्वामी विट्ठलदास जी से मिली जिनमें नन्ददास जी का स्थान महत्वपूर्ण है। कृष्ण-काव्य के कवियों में भक्तिकाल में सूर के बाद मीरा का ही स्थान आता है जो अपनी भक्ति में अनन्य है। उन की भक्ति में हृदय की व्यथा है, जिसकी अभिव्यक्ति उनके अश्रुओं से भीगी हो चुकी है।

मीरा के पश्चात् घनानन्द और रसखान ने अगाध प्रेम-भक्ति में विभोर होकर अपनी आकुलता को व्यक्त किया है। इनके काव्यों में भाषा की सरसता तथा प्रवाह इनकी कलाकुशलता का द्योतक है।

रीतिकाल तक आते-आते कृष्ण-भक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया। रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण को साधारण नायक-नायिका बना डाला है।

रीतिकाल के पश्चात् आधुनिक युग का आरम्भ भारतेन्दु से माना जाता है। यह संक्रान्तिकाल के कवि थे जिनकी क्रान्तिमयी वाणी से रीतिकालीन जीर्ण परम्परा को जोर से झटका लगा जिससे साहित्य के आलम्बन और

उपकरण बदल गए । कृष्ण को अनूठे ढंग से परखने वालों में गुप्त जी सिद्ध-हस्त हैं । द्वापर की महत्ता और कृष्ण काव्य में उसके विशिष्ट स्थान पर बहुत व्यक्तियों की दृष्टि पड़ी । कविवर रत्नाकर के कृष्ण रसमूर्ति हैं । प्रेम के पात्र होते हुए भी प्रेम विह्वल 'नैकु कहि बैननि, अनैकु कहि सैननि, रहि सही सोऊ कहि दीनि हिचकीनि सौं' आदि से स्पष्ट होता है । उद्धव-शतक की प्रेमविह्वलता द्विवेदी युग के बुद्धिवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया स्वरूप है ।

'प्रियप्रवास' में आकर कृष्ण-काव्य का रूप पूर्णतया बदल गया है क्योंकि उपाध्याय जी आधुनिक परिस्थितियों से प्रभावित थे । इसमें कृष्ण को भगवान् न मानकर महापुरुष ही माना है । कवि ने उनका लोकनायक रूप ही प्रस्तुत किया है । समय-समय पर संसार में अनेकों महापुरुष जन्म लेते रहे हैं । कृष्ण भी उसी नृ-रत्नमाला की मणि हैं । उद्धव के द्वारा इन्होंने न योग की ही बहुत चर्चा कराई है और न कृष्ण के प्रेमी हृदय का वर्णन भावुकता में किया है । इन्होंने तो तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा की है । हरिऔध के कृष्ण कुछ अधिक व्यथित है यद्यपि वह कर्त्तव्य को प्रेम से ऊंचा स्थनान देते हैं । विश्व का प्रेम उन्हें व्यक्तिगत प्रेम से अधिक प्रिय है । वे लोक-सेवा में व्यस्त तथा परोपकार में सर्वस्व न्यौछावर कर देने के लिए आकुल हैं । वे जाति और धर्म के जागरण तथा राष्ट्रीय चेतना के समर्थक हैं ।

"स्वजाति और जन्म-धरा निमित मैं,
न भीत हूँगा विकराल काल ले ।
कभी करूंगा अवहेलना न मैं,
प्रधान धर्माङ्ग परोपकार में ॥"

इनके कृष्ण में निखिल मानव गुणों का आदर्श रूप मिलता है । उनमें अपूर्व धीरता, असीम साहस, दिव्य बुद्धि के साथ-साथ विनयशीलता भी है । सभी कवियों की भांति इनके कृष्ण भी परम सुन्दर, सुकुमार, कलाप्रिय तथा सरस-हृदय व्यक्ति है, उनका माधुर्य व्रजागनाओं की विभूति है । 'प्रियप्रवास' में ये रूप अधिकतर पट के पीछे ही रहे हैं यद्यपि वर्णित चित्रों से इनका स्वरूप अधिक स्पष्ट हो गया है । 'गोवर्धन धारण करना' इसको मुहावरे के रूप में प्रयुक्त कर कवि ने कमाल कर दिखाया—

"लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र की।
सकल लोक लगे कहन उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥"

प्यार और लोकहित भावना के दोनों कूलों का स्पर्श करती हुई राधा की भावधारा बही है। चाहे वह हृदय से प्रिय से मिलना चाहती है पर कर्त्तव्य पथ से प्रिय को विचलित नहीं करना चाहती। यहाँ प्रेम और कर्त्तव्य में संघर्ष मचा है परन्तु कवि ने व्यष्टि को त्याग समष्टि की हित कामना का राधा और कृष्ण दोनों का महान आदर्श सामने रखा है। उनके प्रेम की पीड़ा और निराशा उन्हें अकर्मण्यशील नहीं बना सकी:--

"स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आ जाता जगत हित है सामने लोचनों के ॥"

'प्रिय प्रवास' में करुणा की जो सरिता बही है उसमें सबसे पृथुल धारा यशोदा के शोक की है। प्रेम अनेक आशंकाओं को जन्म देता है और प्रत्येक आशंका पर यशोदा का हृदय सिहरता हुआ दिखाया गया है। कवि मातृ-हृदय में सहजभाव से ही पहुँच गया है--

"यदि दधि मथने को बैठती दासियां थीं,
मथन-रथ उन्हें था चैन लेने न देता।
वह यह कह के रोक देती उन्हें थी,
तुम सब मिल क्या कान को फोड़ दोगी ॥"

यशोदा उद्धव सम्वाद में कितनी ही विफल आशाएँ, कितनी ही अतीत की स्मृतियाँ तथा वेदनाएँ सजीव हुई हैं। काव्य के अन्त में यशोदा को व्यथित, मूर्छित तथा विकल दिखाकर कवि ने निराश तथा भग्न हृदय को करुणा के शून्य में सदैव के लिए एकाकी छोड़ दिया है। यशोदा के दुःख का समकक्षी नन्द भी है, जो संयत तथा गम्भीर है, शायद यह इसके पुरुष होने का उसे दण्ड है। यहां उसकी व्यथा अधिक गम्भीर तथा अथाह है।

कला पक्ष की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली के अन्यतम ग्रन्थों में लिया जा सकता है। काव्य के मुख पृष्ठ पर ही "भिन्न तुकान्त कविता का एक महाकाव्य" लिखा मिलता है। कवि की रुचि उसमें निराली है। व्रज के

नायक कृष्ण का चरित्र जहां अन्य कवियों ने व्रज की मीठी माधुरी में व्यक्त किया और उसके लिए सवैया, कवित्त इत्यादि छन्दों को अपनाया वहां कवि ने अपनी अनन्यता प्रदर्शित करने के लिये खड़ी बोली को ले अतुकान्त छन्द रखा। यह काव्य सस्कृतगर्भित वर्ण-वृत्तों में लिखा गया है। मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका तथा द्रुतविलम्बित आदि छन्दों का प्रयोग है। शृंगार और करुणा का आधिक्य है। वियोग पक्ष का आधिक्य होने के कारण सारा काव्य करुणामय ही है। भाषा को माधुर्यमयी बनाने के लिए दिल खोल कर अनुप्रास लाने का प्रयत्न किया है।

प्राकृतिक दृश्यों का विभाजन सुन्दरता से किया गया है, जो मानवीय भावों से एकाकार हो उठे हैं। उपाध्याय जी ने प्रकृति का हृदय पहचान कर हृदय के भावों के अनुरूप ही प्रकृति का रूप दिखाया है। कालिदास के मेघदूत की भांति पवन को दूत बनाकर सुन्दर पथ निर्देश किया है। ग्रन्थ की भाषा यद्यपि कहीं-कहीं अपरिचित सी है तथापि करुणा की अपार धारा में उन्होंने अपेक्षाकृत उसे सरल कर दिया है। मोह और प्रणय का सूक्ष्म अन्तर इसमें दिखलाया गया है। प्रत्येक स्थान का वातावरण पूर्णतया विलक्षण है। प्रिय का प्रवास होने के कारण सम्पूर्ण ग्रन्थ वियोग पक्ष से करुण है। इसमें प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, प्रणय, भक्ति आदि प्रेम की सभी वृत्तियों का पूर्ण तथा तल्लीनता से युक्त चित्र है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदि से अब तक कृष्ण काव्य का विकास हुआ। सूर, मीरा, नन्ददास, रत्नाकर, गुप्त आदि सभी अपने प्रयास में सफल हुए परन्तु हरिऔधजी का कृष्ण काव्य अपना उपमान नाम ी नहीं रखता। इन्होंने परम्परा से परे जाकर एक नया दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य को दिया जो वैज्ञानिक तथा सत्य की दृष्टि से पूर्ण तथा तर्कसम्मत है।

प्रिय-प्रवास—व्याख्या भाग

ककुभ-शोभित गोरज बीच से, निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे ।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा, विलसता नभ में नलिनीश है ।।
अतसि पुष्प अलंकृतकारिणी शरद नील—सरोरुह रंजनी ।
नवल-सुन्दन श्याम-शरीर कीं, सजल नीरद सी कल कान्ति थी ।

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध जी के प्रिय प्रवास से उद्धृत किया गया है। गो-चारण करके लौटते हुए कृष्ण की शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

धूल से रंजित दिशाओं से निकलते हुए कृष्ण इस प्रकार शोभित होते थे मानो दिशाओं की कालिमा को नष्ट करके आकाश में सूर्य शोभित हो रहा हो। अर्थात् कालिमा सदृश गो-रज से सनी हुई दिशाओं में कालिमा को नष्ट करके सूर्यसदृश कृष्ण अवतरित हो गया हो। उनके शरीर की कान्ति अलसी के पुष्प को भी अलंकृत करने वाली, शरद के नील कमल को रंजित करनेवाली तथा जल युक्त मेघों की श्यामल कान्ति के समान थी।

विशेष:—प्रस्तुत अवतरण के पूर्व छन्द में उपमा अलंकार का प्रयोग किया गया है। दूसरे छन्द में उपमाओं के सुन्दर प्रयोग द्वारा कृष्ण के शरीर की कान्ति का वर्णन किया है।

स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के, दलन की यह निर्मम प्रार्थना ।
बहुत सम्भव है यदि यों कहें, सुन नहीं सकती 'जगदम्बिका' ।।
पर निवेदन यह है ज्ञान दे । अबल का बल केवल न्याय है ।
नियम -शालिनी क्या अवमानना, उचित है विधि सम्मत न्याय की ।।

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध जी के प्रिय-प्रवास महाकाव्य से उदधृत किए गए हैं। यशोदा पुत्र की मथुरा गमन सम्बन्धी सूचना को सुनकर तथा कंस के अत्याचारों का स्मरण कर जगजननी 'जगदम्बिका' से उसके दलन की तथा स्वसुत के रक्षण की प्रार्थना करती हुई कहती है कि—

हे जगजननी ! आप स्वसुत रक्षण और पर पुत्र अर्थात् कंस के विनाश

की यह कठोर याचना सुनकर सम्भव है कि कहें कि इस निर्भम प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु जगत् माता मेरा यह सविनय निवेदन है कि हम निर्बलों का बल तो केवल न्यायमात्र है। कंस तो शारारिक बल के द्वारा अपनी शक्ति की वृद्धि कर सकता है परन्तु हम निर्बलों का बल तो एक-मात्र न्याय है। यदि प्रयोजन के बिना ही जन–विनाश किया जाय तो इस अन्याय का भोक्ता न्यायानुसार कंस ही है। हम निर्बल तो कृपापात्र बनने के अधिकारी हैं। हे नियमशालिनी! तो क्या ईश्वर द्वारा प्रतिपादित न्याय का अपमान अथवा अस्वीकृति उचित है। अर्थात् विधिसम्मत न्यायानुसार हम आप की कृपा के पात्र हैं। यद्यपि आप जगत् की जननी हैं तथापि जगत् की प्रत्येक सन्तान के विकास के लिए न्याय ही उचित है।

विशेषः—प्रस्तुत छन्द में यशोदा के ममत्व, मातृ-वत्सलता तथा स्नेहाभिभू-तता के अभिनव दर्शन होते हैं। पुत्र की ममता से उत्प्रेरित होकर जगत् की जननी जगदम्बिका से वह प्रार्थना करती हैं। भावों का अन्तर्द्वन्द्व भी दर्शनीय है। इसी में कवि की प्रतिभा की विलक्षणता है।

विधि अहो भवदीय विधान की,
अति अगोचरता बहुरूपता।
परम युक्तिमयी कृतिभूति है,
पर कहीं वह है अति कष्टदा॥

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' नामक महाकाव्य से उद्घृत किया गया है। यशोदा जगत् जननी जगदम्बिका से स्वसुत के रक्षण की प्रार्थना करती हुई उसके विधान की यत्र-तत्र कष्टदायिता का संकेत करता हुई कहती है–

हे जगत् जननी, यद्यपि आपके विधान की विधि अनेकरूपिणी एवं अगम है तथा अत्यन्त युक्तिपूर्ण है तथापि वह कहीं-कहीं अत्यन्त कष्टदायिनी है। आपकी विधि विलक्षण एवं अनेकरूपिणी इसलिये है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वहाँ उसका अभाव पाया जाता है तथा जहाँ अनिच्छा का भाव रहता है वहाँ आवश्यकता से अधिक प्रदान किया जाता है।

विशेष–१. प्रस्तुत छन्द में जगदम्बिका की विधि की कष्टमयता तथा यशोदा की दुःखद स्थिति पर कवि ने संस्कृतगर्भित भाषा शैली में विचार किया है।

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था,
कांटे से कमनीय कंज कृति में क्या है न कोई कमी।
पोरों में कब ईख की विपुलता है ग्रन्थियों की भली,
हा! दुर्दैव–प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहां की नहीं।

प्रस्तुत छन्द हरिऔधजी के महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में से लिया गया है। ब्रज जैसी सुखमयी पुण्यभूमि में दुःख रूप काँटे का उगना एक विडम्बना है। भाग्य का बल किसी के बल से नष्ट नहीं हुआ। होनहार होकर ही रहती है। दैवी शक्ति अजेय एवं अपरिमेय है। इसी भाव को अनेक उदाहरणों में स्पष्ट करता हुआ कवि कहता है—

काले एवं कुत्सित कीट का कुसुम में कोई काम नहीं था परन्तु फिर भी दुर्दैव ने उस सुन्दरता में इस कुत्सित कीट का कलंक लगा ही दिया। इस दैवी शक्ति को भला कौन रोक सकता है। होनहार हो कर ही रही। सुन्दर कमल की रचना में काँटे से किसी प्रकार की कमी अथवा अभाव का भाव नहीं होता परन्तु कमल में सदैव काँटों की विपुलता भी पाई जाती है। इसी प्रकार ईख की पोरी में भला गाँठों की अधिकता कब अच्छी लगती है। परन्तु ईख की पोरों में गांठें निश्चित एवं आवश्यक रूप से पाई जाती हैं। फिर कवि दुर्दैव को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे दुर्दैव-प्रगल्भते! तूने अचातुर्य को अथवा अन्याय को कहाँ नहीं अंगीकार किया।

विशेष:—१. कवि ने प्रस्तुत छन्द में व्रज में दुःख विपत्ति के आगमन को विधि का अन्याय सिद्ध किया है। साथ ही विधि की विडम्बना की ओर संकेत भी किया गया है।

चिन्ता की सी कुटिल उठती अंक में जो तरंगें,
वे थीं मानों प्रकट करतीं भानुजा की व्यथाएँ।
धीरे-धीरे मृदु पवन में चाव से थी न डोली,
शाखाओं के सहित लतिका शोक से कंपिता थी॥

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के पंचम सर्ग से उद्धृत किया गया है। प्रियप्रवास में हरिऔध जी ने भी प्रकृति को सजीव माना है जो मानव प्रकृति के प्रत्येक क्रिया-कम्पन का उत्तर-प्रत्युत्तर देती है तथा मानव की सुख-दुःखात्मक अनुभूति के साथ हर्ष एवं शोक प्रकट करती है। इसी भाव

को प्रकट करते हुए कवि व्रज की दुःखात्मक अनुभूति के प्रति प्रकृति द्वारा सहानुभूति प्रकट करता है।

यमुना के अंक में जो चिन्ता के समान कुटिल तरंगें उठती थीं, वे मानो भानुजा अथवा कालिन्दी की व्यथा को व्यक्त कर रही थीं जो व्रजवासियों के दुःख में स्वयं अत्यन्त दुःखित थीं। शाखाओं सहित जो लताएँ थीं वे पवन से धीरे-धीरे नहीं डोल रही थीं वरन् वे शोक से अत्यन्त कंपित थीं।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में कवि ने मुद्रा के चित्रण में विशेष कला दिखाई है। 'चिन्ता' में मनुष्य के माथे पर प्रायः कुटिल रेखाएँ सी पड़ी रहती हैं। यमुना में इसी प्रकार की कुटिल तरंगों को देखकर कवि ने प्रकृति में भी इस सूक्ष्म भावना का संचरण किया है। दुःख अथवा शोक में मनुष्य कम्पित सा होने लगता है। लताएँ भी पवन से कम्पित हैं परन्तु कवि ने उन्हें व्रजवासियों के शोक से कम्पायमान देखा है। इस प्रकार सूक्ष्म भावों के चित्रोपम वर्णन में कवि की कला निखर उठती है।

२. 'मानो' शब्द के प्रयोग से उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा भी अवलोकनीय है।

३. सम्पूर्ण छन्द में भाषा का विशेषकर संस्कृतगर्भित भाषा का प्रवाह सुगम, सरल, सुबोध एवं सुपाठ्य बना देता है।

जो है प्यारी अवनि व्रज की यामिनी के समाना,
तो तातों के सहित सब गोपाल हैं तारकों से।
मेरा प्यारा कुंवर उसका एक ही चन्द्रमा है,
छा जावेगा तिमिर वह जो दूर होगा दृगों से॥

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में से उद्धृत किया गया है। कृष्ण मथुरा प्रवास करने ही वाले हैं कि एक आभीर बूढ़ा दीनों के से वचन कहता हुआ अक्रूर के पास आकर विनय करने लगा कि कृष्ण को किसी प्रकार यहीं छोड़ कर सब धन-सम्पत्ति आदि लेकर मथुरा चले जाओ। कृष्ण के बिना इस व्रज भूमि में अन्धकार छा जायगा तो फिर बिचारे व्रज-वासियों का क्या होगा ? इसी प्रभाव को व्यक्त करते हुए कवि ने आभीर द्वारा कहलवाया है कि—

यदि यह व्रजभूमि रात्रि के समान है तो तात सहित सब गोपाल नक्षत्रों के समान हैं और उन सब नक्षत्रों के राजा के समान मेरा प्यारा कृष्ण एक

चन्द्रमा है। जिसके तनिक भी दूर होने से यहां पर अन्धकार छा जावेगा। अतः जिस किसी तरह से भी कृष्ण-से चन्द्र को यहीं रहने दो।

विशेष—१. इस छन्द में कवि ने ब्रजवासियों का कृष्ण के प्रति अनन्य स्नेह का दिग्दर्शन करवाया है। कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय उनकी अनन्यता, विवशता, तन्मयता और तल्लीनता प्रशंसनीय है।

२. इसमें उपमा अलंकार की अलंकृति भी दर्शनीय है।

आविर्भूता गगन-तल में हो रही है निराशा,
आशाओं में प्रकट दुःख की मूर्तियां हो रही हैं।
ऐसा जी में ब्रज-दशा देख के था समाता,
भू-छिद्रों से विपुल करुणा धार है फूटती सी॥

प्रस्तुत अवतरण हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य से उद्धृत किया गया है। ब्रज के दुःखपूर्ण वातावरण की अतिशयता को देखकर कवि कहता है कि—

ब्रज के दुःखद वातावरण को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों गगन-तल में निराशा ही निराशा की धारा फूट कर निकल रही है और आशाओं के स्थान पर शोक एवं विषाद की मूर्तियाँ प्रकट हो रही हैं और पृथ्वी तल के छिद्रों से मानों करुणा की धारा फूट कर निकल रही हो। कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्दिक् वातावरण में शोक और विषाद की भावना ही गूँज रही थी, कहीं भी सुख लेशमात्र भी न था। दुःख का अटल साम्राज्य ही छाया हुआ था।

विशेष:—कवि ने प्रस्तुत छन्द में ब्रजवासियों तथा उनके चतुर्दिक् वातावरण का दुःखपूर्ण चित्रण किया है। छन्द को पढ़ने मात्र से तत्कालीन स्थिति का भान स्पष्ट रूप से होने लगता है। किसी भाव का चित्रोपम वर्णन करने में ही कवि की प्रतिभा की विलक्षणता है।

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो,
तो पांवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो,
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना॥

प्रस्तुत छन्द हरिऔध जी के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' के षष्ठ सर्ग से उद्धृत किया गया है। राधा कृष्ण के वियोग में निःसहाय सी पड़ी है कि

इतने में सुरभित पवन उसे स्पर्श करती है। उसी को अपना अवलम्ब मानकर उससे अपने वियोग दुःख को कम करने की याचना करती है। राधा कहती है कि-

जब तू मथुरा जावेगी तो कृष्ण के भवन में, जहां वे बैठे हों, यदि कोई सूखी लतिका पड़ी हो तो उसे कृष्ण के पद-पद्मों में लाकर रख देना और इस प्रकार लता का वृक्ष से वंचित होना बताकर मेरा भी प्रीति से त्यक्त होना बता देना और लता की दशा द्वारा यह स्पष्ट कर देना कि मैं (राधा) भी मलीन और कृशगात हो गई हूँ।

विशेष—१. कवि ने प्रस्तुत छन्द में मेघदूत के भाव का अत्यन्त सुन्दरता से चित्रण किया है।

२. राधा की विवशता, मलीनता, कृशांगता आदि के भावों का भी अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है।

स्वकुल-जलज का जो समुत्फुल्लकारी,
मम परम-निराशा यामिनी का विनाशी।
व्रजजन-विहगों के वृन्द का मोद-दाता,
वह दिनकरशोभी रामभ्राता कहाँ है॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रिय-प्रवास' के सप्तम सर्ग से उद्धृत किया गया है। नन्द कृष्ण-बलराम को मथुरा में ही छोड़कर व्रज में आते हैं। यशोदा उनको अकेला लौटकर आता हुआ देखकर छिन्नमूला लता-सी गिर पड़ी और फिर सचेत होने पर वह नन्द से 'कहां हैं, कहां है' की ध्वनि में पूछने लगी। उसकी इस विवशता एवं विलापमयी अवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए कवि यशोदा द्वारा कहलवाता है कि—

जो कृष्ण अपने कुलरूप कमलों को विकसित करने वाला है, और मेरी निराशारूपी-रात्रि का नाश करने वाला है, तथा जो व्रजवासी रूप पक्षियों को हर्षित करने वाला है, वह दिनकर के समान शोभित बलराम का भाई कृष्ण कहां है?

विशेष—१. इस छन्द में 'कहां है' की ध्वनि को सुनकर पपीहे के 'पी कहां' 'पी कहां' के पूर्ण आलाप की स्मृति हो आती है।

२. इस छन्द में कवि ने यशोदा द्वारा कृष्ण की गुण-गाथा की एक माला-सी पिरोकर रख दी है।

३. रूपक अलंकार का भी विशेष रूप से अच्छा निर्वाह हुआ है।

विपुल सुन्दर वन्दन-वार से,
सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहंसते व्रज सद्म समूह के,
वदन में दशनावलि थी लसी ॥

नव-रसाल-सुपल्लव के बने
अजिर में वर तोरण थे बंधे।
विपुल जीह विभूषित था हुआ,
यह मनो रस-लेहन के लिये ॥

प्रस्तुत छन्द प्रिय-प्रवास के अष्टम सर्ग से उद्धृत किये गये हैं। एक आभीर के द्वारा कवि ने कृष्ण-जन्म-दिवस के अवसर पर व्रज की शोभा का वर्णन करवाया है। कवि उस शोभा का वर्णन करते हुए कहता है कि—

जिस दिन कृष्ण का जन्म हुआ उस दिन सभी द्वार वन्दनवार से सुशोभित थे। वह विपुल वन्दनवार ऐसे जान पड़ते थे मानों हर्ष-विभोर होते हुए व्रज-सद्म-समूह की दांतों की पंक्ति हों। आँगन में आम के पत्तों के तोरण बने थे जिनको देखकर ऐसा भान होता था मानों रसास्वादन प्राप्त करने के लिए अनेक जिह्वा लटक रही हों। अर्थात् टँगे हुए आमों के पत्ते जिह्वा की भाँति लटक रहे थे मानो वह रस को चाटना चाहते हों।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्दों में उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

२. शब्दावली संस्कृतमयी होने के कारण छन्द में विशेष माधुर्य रूप स्वाद मिलता है।

जब सुव्यंजक भाव विचित्र के,
निकलते मुख-अस्फुट शब्द थे।
तब कढ़े अधराम्बुधि से कई,
जननि को मिलते वर रत्न थे ॥

अधर सांध्य सुव्योम समान थे,
दशन थे युगतारक से लसे।
मृदु हंसी वर ज्योति समान थी,
जननि मानस की अभिनन्दिनी ॥

प्रस्तुत छन्द हरिऔध के प्रिय-प्रवास के अष्टम सर्ग से उद्धृत किये गए हैं। जब कृष्ण के मञ्जुल मुख में दो दांत शोभित होते थे, उस समय का वर्णन करते हुए कवि यशोदा के मातृवत्सल भाव का चित्रण करता है।

जब कृष्ण किसी मधुर भाव को व्यक्त करने के लिये तुतलाते हुए वचन बोलते थे तो उनके मुख से निःसृत अस्फुट शब्दप्रवाह यशोदा को ऐसा मधुर एवं मञ्जुल जान पड़ता था मानो उसके अधर रूप जलधि से अनेक सुन्दर रत्न प्राप्त हो गये हों। कृष्ण के अधर सायंकाल के आकाश के समान रक्तिम थे तथा उनके दो दांत उस सांध्य-नभ-सम अधर में दो तारों के समान शोभित होते थे। उस पर मृदु मुस्कान सुन्दर ज्योति के समान थी जो माता के मानस का अभिनन्दन करने वाली थी।

विशेष :—इस छन्द में मातृ-वत्सलता का उत्कृष्टतम दृष्टान्त उपलब्ध होता है। माता का हृदय ममत्व की भावना से विभोर होकर पुत्र के प्रत्येक क्रिया-कम्पन में एक विशेष मधुरिमा का आस्वादन करता है। इस भाव को एक मातृ-हृदय ही अथवा भुक्त-भोगी ही समझ सकता है। इस भाव का चित्रोपम वर्णन कवि ने अपनी तूलिका द्वारा कर दिखाया है जो उसकी विलक्षण प्रतिभा का प्रमाण है।

२. इस छन्द में रूपक अलङ्कार का भी अच्छा निर्वाह हुआ है।

प्राणी है यह सोचता समझता मैं पूर्ण स्वाधीन हूँ,
इच्छा के अनुकूल कार्य सब मैं साध लेता सदा।
ज्ञाता हैं कहते मनुष्य वश में है कालकर्मादि के,
होती है घटना-प्रवाहपतिता स्वाधीनता यंत्रिता॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रिय प्रवास' के नवम सर्ग से उद्धृत किया गया है। कृष्ण मथुरा में गोपियों तथा अन्य व्रजवासियों की स्मृति में अत्यन्त व्याकुल हैं। मिलन के लिये प्रयत्न करते हैं परन्तु पेचीले राजनीति के पचड़े फिर वाधा डाल देते हैं। इसी प्रकार अनेक बार परिस्थिति और घटना विशेष के चक्र में पड़कर वे व्रज को जाने में असफल हो जाते हैं। इसी भाव को लेकर कवि कहता है कि—

प्राणी सदा यह सोचता एवं समझता है कि वह पूर्णतः स्वाधीन है और

अपनी इच्छानुकूल सब कार्य पूर्ण कर सकता है। परन्तु ज्ञानी लोगों का कहना है कि मनुष्य काल और कर्म आदि के वश में है। परिस्थिति और घटना से वशीभूत होकर उसे कर्म क्षेत्र में उतरना पड़ता है। घटना के प्रवाह में पड़कर उसकी कर्मादि की स्वाधीनता पराधीन एवं वशीभूत हो जाती है और प्राणी अपनी इच्छानुसार सब कार्यों की पूर्ति नहीं कर सकता।

विशेष—१. कवि ने इस छन्द में जनमात्र के प्रश्न को हल कर दिखाया है। इसमें एक सामान्य तथ्य का निरूपण किया गया है।

२. "Man proposes, god disposes" की भावना का प्रत्यक्षीकरण भी स्पष्ट रूप से हो जाता है। मनुष्य कर्म-क्षेत्र में कुछ सोचता है तो काल आदि के वश में उसके विपरीत ही कुछ और ही होता है। "मेरे मन कछु और है, कर्त्ता के कछु और" की भावना ही इसमें विशेष रूप से स्पष्ट की गई है।

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को,
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में,
मैं हूँ सुन्दर मानदण्ड व्रज की शोभामयी भूमि का॥

प्रस्तुत छन्द हरिऔध जी के 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में से उद्धृत किया गया है। उद्धव मथुरा से जब प्रवास करते हैं उस समय मार्ग के दृश्यों की कितनी मनोरम छटा दिखाई देती है, इसका विशद चित्रण करते हुए कवि गोवर्धन शैल की महानता, गौरवपूर्णता एवं उच्चता का दिग्दर्शन कितनी सुन्दर आलंकारिक शैली में करता है—

गोवर्धन पर्वत की ऊँचाई और महानता को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो पर्वत अपना शीश ऊँचा करके आकाश की ओर देख रहा हो, अर्थात् उसकी महानता की सीमा गगनचुम्बिनी जान पड़ती थी। अथवा उसकी इतनी अधिक ऊँचाई को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वह अपनी सर्वोच्चता के दर्प से पूर्ण गौरव से शीश ऊँचा किए खड़ा हो। अथवा वह सारे संसार में यह वार्ता प्रसिद्ध करता था कि वह व्रज की शोभामयी भूमि का मानदण्ड है अर्थात् उसकी विशालता से व्रज भूमि की शोभा आँकी जा सकती थी।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में कालीदास के "स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः" का भाव अवतरित किया गया है।

२. अन्तिम पंक्तियों में 'या' वाचक शब्द के प्रयोग से छन्द में सन्देह अलङ्कार की निहिति अत्यन्त सुन्दर रूप से हुई है।

३. गोवर्धन शैल की महानता एवं ललामता का आकर्षक एव लालित्य-पूर्ण वर्णन करने से कवि की व्रज के प्राकृतिक दृश्यों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति-भावना दृष्टिगोचर होती है।

पुष्पों से परिशोभमान बहुशः जो वृक्ष अंकस्थ थे ,
वे उद्घोषित थे सदर्प करते उत्फुल्लता मेरु की ।
या ऊँचा करके स-पुष्प कर को फूले द्रुमों व्याज से ,
श्री पद्मापति के सरोज-पग को शैलेश था पूजता ।

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के नवम सर्ग से उद्धृत किया गया है। गोवर्धन शैल पर लगे हुए बहुशः वृक्षों की शोभा का आलंकारिक शैली से वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

गोवर्धन पर्वत के अङ्क में पुष्पों से सुशोभित जो वृक्ष लगे हुए थे वे पर्वत की उत्फुल्लता एवं प्रसन्नता की घोषणा कर रहे थे अथवा फूले हुए वृक्षों के मिस सत्पुष्प रूपी हाथों से श्री लक्ष्मीपति विष्णु के चरण कमलों का शैलेश पूजन कर रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि पुष्पों से सुशोभित वृक्ष पुष्प-मण्डित करों के समान शोभित होते थे जो मानो विष्णु के चरण-कमलों का पूजन कर रहे हों।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में सन्देह अलङ्कार का सुन्दरता से नियोजन किया गया है।

२. रूपक एवं कैतव अपह्नुति अलङ्कार का आलङ्कारिक शैली में वर्णन किया गया है।

स्वकीय पंचांग प्रभाव से सदा ,
सदैव नीरोग वनान्त को बना ।
किसी गुणी-वैद्य समान था खड़ा ,
स्वनिंबता गर्वित वृक्ष निम्ब का ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग 'प्रिय-प्रवास' के नवम सर्ग में से उद्धृत किया गया है। कवि प्राकृतिक दृश्यों में वृक्षावली की नामावली के अनुसार उनकी शोभा का एवं उनके प्रत्येक गुण का वर्णन करते हुए कहता है—

नीम का वृक्ष अपनी निम्बता अथवा कड़वेपन से गर्वित होकर किसी गुणशील वैद्य के समान अपने पंचांग प्रभाव से सदैव सारे वन के भाग को रोगरहित बनाता हुआ खड़ा था।

विशेष—१. 'पंचांग' से अभिप्राय जड़, शाखा, पत्ते, फल और फूल इन वृक्ष के पांच अङ्गों से है, जिनसे शारीरिक रोगों का विनाश होता है।

२. इसमें 'वैद्य के समान' वाचक शब्द की व्यवहृति से उपमा अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

रसाल-गूदा छिलका-कदंश में,
कु-बीज गूदा मधुमान-अंक में।
दिखा फलों में, वर पोच वंश का,
रहस्य लीची तरु था बता रहा॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के नवम सर्ग में से उद्धृत किया गया है। कवि वृक्षों में लीची वृक्ष के एक गुण विशेष का अङ्कन करते हुए कहता है कि—

लीची का वृक्ष फलों में श्रेष्ठ और नीच कुलों के रहस्य को इस प्रकार प्रकट कर रहा था कि श्रेष्ठ कुल में बुरी सन्तति एवं नीच कुल में उत्तम सन्तति का होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार लीची के बुरे छिलके में मधुर गूदा होता है तथा उस मधुर गूदे में कु-बीज का अस्तित्व निहित रहता है। इस प्रकार लीची का वृक्ष समाज की कुलीनता-अकुलीनता के वर-पोच-वंश के रहस्य को प्रकट करता है।

विशेष—कवि ने इस छन्द में अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से प्रकृति के सहारे एक सामान्य एवं स्वाभाविक तथ्य का निरूपण किया है।

न कालिमा है मिटती कपाल की,
न बाप को है पड़ती कुमारिका।
प्रतीत यह थी होती विलोक के,
तमोमयी सी तनया-तमारि को॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के नवम सर्ग में से उद्धृत किया गया है। कवि यमुना की शोभा का वर्णन करते हुए उसकी श्यामल छाया के द्वारा एक सामान्य तथ्य का निरूपण करता है कि—

भाग्य में जो कालिमा व कलंक लिखा होता है वह किसी भी प्रयत्न से नहीं मिट सकता और नहीं बेटी बाप को पड़ती (पिता के अनुसार होती) है। इसका प्रमाण यह है कि कालिन्दी सूर्य की पुत्री होते हुए भी काली ही रहती है अर्थात् उसका जल श्यामल रंग का दिखाई देता है।

विशेष—१. 'सी' वाचक शब्द के प्रयोग से प्रस्तुत छन्द में उपमा अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

२. कवि ने कलापूर्ण शैली में समाज के सामान्य तथ्य का निरूपण किया है।

प्रवाह होता जब वीचिहीन था,
रहा दिखाता वन अन्य अंक में।
परन्तु होते सरिता तरंगिता,
सवृक्ष होता वन था सहस्रधा ॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के नवम सर्ग से उद्धृत किया गया है। कालिन्दी और वन की बिम्बित-प्रतिबिम्बित-शोभा का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि—

जब यमुना का प्रवाह निस्तरङ्ग अथवा शान्त होता था तब उसके अङ्क में अन्य वन दिखाई देता था। अर्थात् जल में प्रतिबिम्ब होते हुए वन की शोभा को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों उसके अङ्क में एक और वन की रचना हो गई हो। परन्तु जब सरिता तरङ्गित हो उठती थी और उसका जल चञ्चल हो उठता था तो उसमें प्रतिबिम्बित सम्पूर्ण वन वृक्षों सहित सहस्रशः हो उठता था। ऐसा जान पड़ता था मानों अनेक छोटे-छोटे वन उसमें प्रतिबिम्बित हैं।

विशेष—१. कवि ने प्रस्तुत छन्द में एक सामान्य परन्तु सूक्ष्म दृश्य का अपनी तूलिका द्वारा सुन्दर शब्द-चित्र अङ्कित किया है।

प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को,
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे।
हो पाता है कब तरणि का नाम ही त्राणकारी,
नौका ही है शरण जल में मग्न होते जनों की ॥

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के दशम सर्ग में से अवतरित किया गया है। मथुरा से आए हुए कृष्ण-सखा उद्धव व्रजवासियों को ज्ञानोपदेश देकर उनका दारुण वियोग हरने के लिये आए हैं। वे व्रजवासियों को अनुनय, नय तथा मधु से भरा उपदेश देते हैं। उनके उपदेश का श्रवण करके अत्यन्त व्यथित-सी होकर यशोदा उद्धव से कहती है कि—

प्यासा प्राणी जल के नाम का स्मरण मात्र कर लेने से तथा उसका पान न करने से कब शान्त होता है अर्थात् जल की तृष्णा उसका पान करने से ही मिटती है। इसी प्रकार सरिता में डूबते हुए के लिये स्थूल रूप नौका के बिना कोई रक्षा का उपाय नहीं। अर्थात् जलमग्न होते समय नौका का नाम मात्र लेने से रक्षा नहीं हो सकती। उस समय स्थूल एवं साक्षात् वस्तु नौका का आश्रय प्राप्त करने से ही संरक्षण हो पाता है। अतः हम वियोगाब्धि में डूबते हुओं के लिए कृष्ण का नौका रूप नाम ही पर्याप्त संरक्षा का उपाय नहीं, जैसा कि तुम कहते हो वरन् साक्षात् कृष्ण की आवश्यकता है जो रक्षा करके हम डूबते हुओं का आश्रय है। दर्शन की प्यास भी कृष्ण के स्मरण से नहीं वरन् दर्शन से ही पूर्ण हो सकती है। फिर बताओ तो सही, हे ऊधो! कि हम किस प्रकार कृष्ण के नाम-स्मरण से ही कुशल-क्षेम के साथ रह सकते हैं।

विशेष—इस छन्द में यशोदा की मातृवत्सलता, विवशता, दीनता एवं असमर्थता का सुन्दर चित्रण हुआ है। कृष्ण जैसे प्रिय पुत्र के बिना माता की कितनी दीन दशा होती है इसकी छाया प्रस्तुत छन्द में स्पष्टतः मिलती है।

ऊधो मेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा,
शोभा देती अमित उसमें कल्पना क्यारियां थीं।
न्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों,
उत्साहों के विपुल-विटपी थे महा मुग्धकारी।

प्रस्तुत छन्द भी 'प्रियप्रवास' के दशम सर्ग से उद्धृत किया गया है। यशोदा कृष्ण वियोग में व्याकुल होती हुई मथुरा से आए हुए उद्धव के समक्ष अपने अतीत के सुखों का स्पष्टीकरण करती हुई कहती है कि—

हे उद्धव! कृष्ण के मथुरा-प्रवास से पूर्व मेरा हृदय-तल एक उद्यान के

समान था, जिसमें अनेकों कल्पना की क्यारियाँ लगी हुई थीं। अर्थात् मैं नोचा करती थी भविष्य-सुख के लिए, परन्तु दुःख गले पड़ा है। उन कल्पना रूपी क्यारियों में अनेकों भाव-कुसुम खिला करते थे। इसके अतिरिक्त उत्साह के बड़े-बड़े वृक्ष अत्यन्त मुग्धकारी थे, जो अब छिन्नमूल से हो गए हैं। अर्थात् कृष्ण के मथुराप्रवास से पूर्व मेरे हृदय तल में अनेक सुखमयी भावनाएं, कल्पनाएं एवं विचारधाराएं उठा करती थीं; परन्तु अब इस दुःख रूप उपल-वृष्टि से सबका नाश हो गया है। इस प्रकार अतीत के सभी सुख वर्तमान में दुःखों के रूप में सामने आ गए हैं।

विशेष—प्रस्तुत छंद में सांग रूपक का चित्रण किया गया है, जिसके द्वारा कवि की भाव-कलिकाएं यथापूर्व प्रस्फुटित हो पाई हैं।

> **ऐसा प्यारा रुचिर रस से सिक्त उद्यान मेरा,**
> **मैं होती हूं व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।**
> **सूखे जाते सकल तरु हैं नष्ट होती लता हैं,**
> **निष्पुष्पा हो विपुल मलिना बेलियां हो रही हैं॥**

प्रस्तुत अवतरण भी हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के दशम सर्ग में से उद्धृत किया गया है। अपने हृदय रूपी उद्यान के विपुल सुखों का विनाश देख कर यशोदा अत्यन्त दुखित होती हुई उद्धव से अपनी व्यथाओं का प्रकटीकरण करती है कि—

हे उद्धव! अत्यन्त प्रिय एवं मधुर सुखों से सिंचित मेरा उद्यान इतना नीरस एवं शुष्क हो गया है कि आज मैं उसके ध्वंस का स्मरण करने मात्र से ही अत्यन्त व्यथित होती हूँ। इस हृदयरूप उद्यान की सभी लताएं एवं वृक्ष सूख गए हैं और वे अत्यन्त मलिन एवं पुष्प-विहीन होकर निपतिता-सी पड़ी रहती हैं। इस प्रकार स्वर्ग-सम आशाएं निराशाओं में परिवर्तित हो गई हैं और मेरे हृदय का सुखरूपी उद्यान शुष्कप्राय हो गया है।

विशेष—इसमें भी सांग रूपक का चित्रण सुन्दरतापूर्वक किया गया है। शब्द-प्रवाह अनुकरणीय है।

> **धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्तिशाली,**
> **ऊधौ आदौ तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा।**

ज्योतिर्माला वलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा,
राकाश्री ले समुदित हुआ चित्त उत्फुल्लकारी ॥

प्रस्तुत छंद 'प्रियप्रवास' के दशम सर्ग में से अवतरित किया गया है। कृष्ण-जन्म के पूर्व की अवस्था का तथा उसके जन्मकाल के सुअवसर का प्रकटीकरण करते हुए यशोदा कहती है कि—

कृष्ण-जन्म के पूर्व मेरा भाग्य अन्धकार एवं निराशा से पूर्ण था। फिर वह धीरे-धीरे कृष्ण-जन्म के साथ ही साथ स्वच्छ और कान्तिपूर्ण हुआ, अर्थात् निराशा के तमोमय अन्धकार के स्थान पर आशाओं की ज्योति विकीर्ण हो उठी। फिर उसमें ज्योति-समूह एक अद्भुत चन्द्रमा का उदय हुआ जो पूर्णिमा की रात्रि में प्रफुल्लता एवं विकास को लिए हुए उदित हुआ। ऐसे सुअवसर पर मेरा भाग्याकाश ज्योति से चमक उठा था। परन्तु अब फिर कृष्ण के मथुरा-प्रवास से वह अन्धकार और निराशा से पूर्ण हो चुका है।

विशेष—१. प्रस्तुत छंद में स्मरण एवं रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। २. शब्द-प्रवाह की सौम्यता और व्रजभाषा के लालित्य से पूर्ण है।

मेरी आशा नवल-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा,
नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमोदकों के,
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डाठियां थीं ॥

प्रस्तुत छंद हरिऔध के कीर्तिस्तम्भ 'प्रियप्रवास' में से उद्धृत किया गया है। यशोदा उद्धव के समक्ष कृष्णविषयक आकांक्षाओं को प्रकट करती है कि—

कृष्ण की प्राप्ति के पश्चात् मेरे अन्तस्तल में अनेक आकांक्षायें परिपूर्ण थीं, जो आज दुर्भाग्यवश कृष्ण के मथुराप्रवास के कारण अपूर्ण ही रह गई हैं। वास्तव में वे मेरी आशायें अत्यन्त महान् एवं सुमधुर थीं। वे मेरी आशायें नव-कोमल लता के समान थीं जो सचमुच अत्यन्त मनोमुग्धकारी थीं। उस आशारूप लता के नीले-नीले पत्ते नीलमों से बने हुए थे, उसमें हीरे के पुष्प लगे थे और आरक्त गोमोद के फल प्रफुल्लित थे। उस लता के फल पन्नों द्वारा रचित सुन्दर डंडियों पर आधारित थे। तात्पर्य यह है कि

आशालता का प्रत्येक अवयव अत्यन्त मुग्धकारी एवं मनोहर था। परन्तु अब वे सारी आशाएं शुष्क हो गई हैं। शुष्क ही नहीं वरन् छिन्नमूला हो गई है जिनके पुनः विकास की कोई आशा ही नहीं।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में मातृ-हृदय की दीनता, विवशता, व्यग्रता, व्याकुलता, उत्सुकता एवं अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति की भावनाएं स्पष्टतः लक्षित होती हैं। मातृ-हृदय की निराशा एवं अतीत स्मृति के प्रति औत्सुक्य-भावना भी दृष्टिगोचर होती है।

२. उज्ज्वल अतीत के प्रति औत्सुक्य की भावना होने के कारण स्मरण अलङ्कार का भी अच्छा चमत्कार है।

> **चिंता-रूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी,**
> **मेरी जैसी मृतक बनती हेतु संजीवनी है।**
> **नाना-पीड़ा-मथित-मन के अर्थ है शान्ति धारा,**
> **आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु मन्दाकिनी है॥**

प्रस्तुत छन्द 'प्रियप्रवास' के दशम सर्ग से उद्धृत किया गया है। यशोदा के जीवन की संजीवनी कृष्ण के पुनः मिलन की आशा ही है जो उसे अब तक जीवित रखे हुए है। उसी के आधार पर उसका जीवन टिका है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई यशोदा उद्धव से कहती है कि—

हे उद्धव ! कृष्ण की चिन्तारूपी मलिन एवं अन्धकार तथा निराशामयी रात्रि में आशा एक विलक्षण एवं विचित्र चांदनी के समान है। वही आशा मेरे जैसी मृतक के लिए संजीवनी बूटी है जो अभी तक प्राण की लौ छिपाए हुए है। मेरा जो मन अनेक पीड़ाओं से मथित है, अर्थात् जो अनेक पीड़ाओं से व्यग्र एवं जीर्ण-शीर्ण हो चुका है, उसके लिए यह शान्ति की धारा के समान है। वास्तव में आशा मेरे हृदय रूपी मरुस्थल के हेतु मधुर मन्दाकिनी के समान है। अर्थात् हृदय रूपी शुष्क भूमि में आशा की ही मधुर धारा उसे सरस एवं स्निग्ध बना देती है।

विशेष—१. इसमें रूपक अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. मातृ-हृदय की व्यग्रता, चिन्ताजनित व्याकुलता का सुन्दर एवं स्पष्ट आभास प्राप्त होता है।

उद्धव-शतक

लेखक :—
भारतभूषण 'सरोज'

उद्धव शतक

प्रश्न १—उद्धव-शतक किस प्रकार का काव्य है ? युक्तियुक्त विवेचन कीजिये।

उत्तर—विद्वानों ने विभिन्न सिद्धान्तों को काव्य के वर्गीकरण का आधार बनाया है। पाश्चात्य विद्वानों ने व्यक्ति और संसार को आधार बनाकर काव्य का सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिव मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। हमारे यहां अर्थ को आधार बनाकर काव्य के ध्वन्यात्मक आदि भेद किये गये हैं। ऐन्द्रियिक प्रत्यक्षता के आधार पर काव्य-ग्रन्थों का दृश्य और श्रव्य नामक दो श्रेणियों में विभाजन किया गया है। आचार्यों ने श्रव्य काव्य को प्रबन्ध और मुक्तक इन दो भागों में बाँट कर प्रबन्ध-काव्य को महा काव्य और खण्डकाव्य में विभक्त किया है। प्रबन्ध-काव्य में एक तारतम्य रहता है, मुक्तक काव्य इससे मुक्त होता है। उसका प्रत्येक छन्द स्वतः पूर्ण होता है अर्थात् उसके प्रत्येक छन्द को अपने अर्थ के लिये अपने पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती छन्द की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती।

अब यदि उद्धव-शतक की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक दोनों का सुन्दर सामंजस्य है, अर्थात् इसमें एक घटना विशेष की कथा भी है और साथ ही इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र सा भी है। इसकी लघुकाय कथा का सार इस प्रकार है कि भगवान् कृष्ण अपने सखा उद्धव को पत्र-वाहक बनाकर वियोग-विदग्ध गोपियों की सान्त्वना के लिए गोकुल भेजते हैं। उद्धव जी अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा गोपियों को योगमार्ग का अवलम्बन लेने के लिये कहते हैं। परन्तु गोपियां अपने सरल एवं स्वाभाविक तर्क से शुद्ध हार्दिक प्रेम की महिमा को व्यक्त करके भक्ति में चरम आस्था प्रकट करती हैं। गोपियों की अत्यधिक प्रेम विमुग्धता से उद्धव जी इतने प्रभावित हुए कि वे अपने योगज्ञानसम्मत मार्ग को त्याग कर भक्ति के रंग में रंग गए। वह फिर कृष्ण के पास लौटकर गोपियों पर कृपा करने की सम्मति देते हैं। सम्पूर्ण काव्य में यह सुन्दर तारतम्ययुक्त छोटी-सी कथा है, परन्तु

साथ ही साथ प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण भी है। अतः यह कहा जा सकता है कि उद्धव-शतक में भी दोनों विधियों का सुन्दर सामंजस्य बड़े कौशल से किया गया है।

यद्यपि हम उद्धव-शतक को नाटक के समान दृश्य काव्य नहीं कह सकते तो भी हम इसे चित्रोपम (मूर्त) काव्य अवश्य कह सकते हैं। क्योंकि इसके पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है मानो कवि किसी चित्रपट पर चित्र चित्रित कर रहा है, जिसके अनुरूप पढ़ते समय हमारे मस्तिष्क पर भी चित्र चित्रित होते जाते हैं। उद्धव-शतक का पटोद्घाटन भी नाटकीय ढंग से हुआ है। यमुना पर स्नान के निमित्त गए हुए कृष्ण एक मुरझाए हुए बहते कमल को सुगन्ध की वांछा से नासिका से लगाते ही राधिका की सुध कर बैठते हैं। और तत्क्षण मूर्छित हो जाते हैं। अतः कहा जा सकता कि उद्धव-शतक वह चित्रोपम सत्काव्य है, जिसमें प्रबन्धात्मक मुक्तक का प्राधान्य है।

हमारे यहां इस प्रकार के शतक-काव्यों की रचना कोई नयी नहीं है। संस्कृत में अमरु-शतक तथा भर्तृहरि-शतक इसी प्रकार के काव्य हैं। प्राचीन कवि अपनी मुक्तक रचनाओं को जब वह प्रचुर मात्रा में हो जाती थी तो उनमें से पद्यरत्नों का चयन करके उन्हें शतक अथवा सप्तशती (सतसई) के रूप में संगृहीत कर देते थे। यह शतक लिखने की पद्धति हिन्दी में संस्कृत से ही चली आ रही है। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य में दोहा छन्द में शतक या सतसई लिखने की पद्धति हिन्दी काव्य के माध्यमिक काल में प्रचलित थी, उसी प्रकार यह काव्य भी केवल घनाक्षरी (कवित्त) छन्दों में सतसई के समान लिखा गया है। इसमें ११८ घनाक्षरियां हैं। सतसई में पूरे सौ दोहे नहीं हुआ करते वरन् उनकी संख्या कुछ अधिक ही रहती है।

चूंकि सतसई दोहा-पद्धति के लिए ही रूढ़ि-सी हो गई है, इसलिए इसका नाम सतसई पर न रख कर संस्कृत की शतक शैली के आधार पर 'उद्धव-शतक' रखा गया है। इसकी एक विशेषता यह है कि मुक्तक काव्य होने पर भी इस में रत्नाकर जी ने अपने पद्य-रत्नों की माला इस प्रकार गूंथी है जिससे उनमें एक विशेष तारतम्य बंध गया है अतः कहा जा सकता है कि उद्धव-शतक मुक्तक काव्य होते हुए भी एक सूत्र में इस प्रकार गूंथा हुआ है

कि जिसके कारण उसमें सुन्दर प्रबन्धात्मकता आ गई है। अतः उद्धव-शतक को निःसंकोच प्रबन्धात्मक मुक्तक कह सकते हैं।

प्रश्न २—"उद्धव-शतक में भावात्मकता एवं कलात्मकता का मणि-कांचन योग है।" आलोचना कीजिए।

उत्तर—भावनाओं के चारु चित्रण में ही कला की सार्थकता होती है। भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य केवल कुछ एक प्रतिभासम्पन्न कवियों की रचनाओं में ही होता है। रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में भावपक्ष एवं कलापक्ष के अतीव सुन्दर सामंजस्य के कारण उसका काव्य-कौशल छलका पड़ता है। उद्धव-शतक के काव्य-कौशल की प्रचुरता रत्नाकर जी की पाण्डित्य-पूर्ण प्रतिभा की परिचायक है।

उद्धव-शतक में विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त रस का प्राधान्य है। शृंगार रसराज कहलाता है, उसमें भी संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार का अधिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रायः सभी संचारियों का समावेश हो जाता है। कृष्ण और गोपियाँ आलम्बन विभाव तथा कृष्ण द्वारा प्रेषित पत्रिका और व्रजभूमि एवं उसका वातावरण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। कृष्ण, गोपियां और उद्धव का प्रेम के आवेग से उत्पन्न स्तम्भ, प्रस्वेद, अश्रुप्रवाह, उच्छ्वास, कण्ठावरोध, वैवर्ण्य, कम्प आदि सात्विक भाव अनुभाव हैं, जिनके चित्रण में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है। रत्नाकर जी की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के कारण अनुभाव सजीव हो उठे हैं। पाठक के सम्मुख उन अनुभावों का चित्र सा खड़ा हो जाता है।

भगवान् कृष्ण स्नान के लिए यमुना पर जाते हैं, वहाँ पर मुरझाए कमल को बहते हुए देखकर उन्होंने उसे पकड़ कर ज्यों ही नासिका से लगाया कि उसी क्षण वे राधा का स्मरण करके बेसुध होकर गिर पड़ते हैं। अगले दिन उद्धव इसका कारण पूछने के लिए उनके पास जाते हैं। कृष्ण सोच में पड़ जाते हैं कि—

"कहा कहैं ऊधो सौं, कहैं हूँ तो कहाँ लो कहैं,
कैसे कहैं, कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं।"

इस प्रकार कृष्ण अपनी व्यथा-कथा को कहने की युक्ति सोच ही रहे हैं, कि—

"तो लौं अधिकाई हैं उमगि कण्ठ आइ भींचि,
नीर ह्वै बहन लागी बात अंखियान तैं।"

उद्धव अपने ज्ञान के अभिमान से विरहिणी गोपियों को उपदेश देने के लिये चले जाते हैं। वहाँ ब्रज-बालाओं की दीन दशा को देखकर उद्धव की क्या दशा हो जाती है, इसका भव्य-चित्रण द्रष्टव्य है :—

दीन दसा देखि ब्रज बालनि की उद्धव कौ,
गिरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन,
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से, सकबके से थके,
भूले से, भ्रमे से, भभरे से ले भकुवाने से।
होले से हले, हूल-हूल से हिय में हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥

पर्व—त्यौहारों पर अपने प्रियजन की अनुपस्थिति में स्त्रियों की कैसी मनोदशा हो जाती है और उनके मन में कैसे-कैसे भाव उठा करते हैं, इसका रत्नाकर जी ने कैसा मर्मभेदी चित्रण किया है :—

"आवत किवारी बिलखाइ ब्रजवारी कहैं,
अबकैं हमारे गाँव गोधन पुजैहै को।"

उद्धव 'मन-भावन' की 'पाती' लिये गोपियों के बीच खड़े हैं। निम्न पद में उनकी उत्कण्ठा तथा प्रेम की कैसी सुन्दर व्यंजना है—

"उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हम को लिख्यो है कहा, हमका लिख्यो है कहा,
हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं।"

कृष्ण के लिये गोपियों का संदेश कितना मार्मिक है। गोपियों के पास सन्देश देने के लिये कुछ नहीं है, अतः वे कोई लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करतीं, अपनी संक्षिप्तता में ही वे उस मूक-वेदना को निर्दिष्ट कर देती हैं जो कृष्ण के मर्मस्थल को भेदने में पर्याप्त है। वे कथन की अपेक्षा प्रत्यक्ष नाटय करके दिखलाने में अधिक आस्था रखती हैं। इसलिये उद्धव से कहती हैं कि—

"औसर मिले औ सर-ताज कछु पूछिहैं तो,
कहियो कछु न दसा देखी सो दिखाइयो।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिबै को चाहि हिचकी ले रहि जाइयो॥"

व्रज-बालाओं की दीन दशा को सुनकर कृष्ण को अत्यन्त दुःख होगा, ऐसी कल्पना करके गोपियाँ कृष्ण को व्रज की दारुण दशा न बताने के लिये उद्धव से अनुरोध करती हैं। यहाँ भारतीय नारी के मर्मस्पर्शी भावों का कितना सुन्दर चित्रण है। वह अपने प्रियतम को किसी कारण भी दुखी नहीं देखना चाहतीं :—

"आँसु भरि ऐहैं और उदास मुख ह्वै हैं हाय,
ब्रज दुःख-त्रास की न तातैं सांस लीजियो।
नाम को बताइ और जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम राम कह दीजियो।"

यहाँ 'राम-राम' शब्द ने अपनी व्यंजकता के सामर्थ्य से गोपियों के हृदय की तड़पन एवं उनका अन्तिम प्रणाम तथा उनकी कृष्ण के साथ घनिष्ठता का बोध करा दिया है।

कृष्ण के दर्शन न देने का कारण गोपियां अपना अपराध ही समझती हैं। निम्न पद में उद्धव को दिये हुए कृष्ण के प्रति सन्देश में गोपियों की कितनी प्रेम-पूर्ण कातरता व्यंजित हो रही है :—

"दीजै और ताजन सबै जो मन भावै पर,
कीजै न दरस रस-बंचित बिचारी हैं।
भली हैं बुरी हैं औ सलज निर्लज्ज हू हैं,
जो कहैं सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं॥"

उद्धव-शतक में रत्नाकर जी ने सबसे आश्चर्यमयी कातरता यह दिखाई है कि नन्द, यशोदा और राधा को दूर ही रखा है। ऐसा करके इन तीनों की मनोदशा का मूक चित्रण किया है जो अपनी अलौकिकता के कारण तीव्र मर्मस्पर्शी हो गया है। जो बात अनेकों पृष्ठ रंगने पर भी सिद्ध नहीं होती, वह मौन-वाणी द्वारा ही व्यक्त कर दी। राधा विचारी इतना धैर्य व साहस कहां से लाती जो उद्धव की बातें सह सकती। इसलिए गोपियां उद्धव से कहती हैं—

फैले बरसाने में न रावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।

भावपक्ष के समान ही उद्धव-शतक का कालापक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। रत्नाकर जी की भाषा भावों की अनुगामिनी बनकर आई है। उद्धव-शतक की भाषा माधुर्य, प्रसाद तथा ओज तीनों गुणों से समुपेत है। उद्धव-शतक में मुहावरों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा में एक प्रकार की लाक्षणिकता आ गई है। यथा—

"आए हौं पठाये वा छतीसैं छलिया के इतै,
बीस बिसै ऊधो बीरबावन कलाँच ह्वै।
कहै रतनाकर प्रपंच न पसारौ गाढ़े,
बाढ़े पै रहौगे साढ़े बाइस ही जांच ह्वै॥"

रेखांकित शब्दों में वही मुहावरे आये हैं जिनका सम्बन्ध गणना में आने वाले अंकों से है। इसी प्रकार—

"दिपत दिवाकर को दीपक दिखावै कहा।"
\+ \+ \+
"चेरी हैं न ऊधो! काहू ब्रह्म के बबा की हम॥"

आदि मुहावरों ने एक प्रकार की लाक्षणिकता उत्पन्न कर दी है।

उद्धव-शतक में अलंकारों ने कहीं भी भावापहरण नहीं किया है, वरन् वे भावोत्कर्ष एवं रसोद्रेक में सहायक होकर आए हैं। रस-सिद्ध कवि की वाणी में अलंकार स्वतः आ गए हैं। उद्धव-शतक में आए हुए अलंकार मस्तिष्क के व्यायाम के परिणाम नहीं हैं। उनके शब्द-चयन ने भावों को सुन्दर एवं स्निग्ध बना दिया है। कृष्ण की प्रेम-पत्रिका प्राप्त करने पर गोपियों की बढ़ती हुई उत्सुकता का वर्णन 'वीप्सा' के द्वारा कितना सुन्दर हो गया है।

"उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगी।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥"

शब्दालंकारों के प्रयोग में कृत्रिमता की अधिक सम्भावना रहती है; किन्तु रत्नाकर जी के श्लेष, यमक तथा अनुप्रास सभी अलंकार भाव-परिपोषक

होकर सार्थक रूप से उपयुक्त स्थानों पर ही आए हैं।

'अनंग' शब्द को लेकर अंग रहित अर्थात् ब्रह्म और मदन दोनों पर चरितार्थ करते हुए गोपियों के द्वारा उद्धवोपदिष्ट अंगहीन ब्रह्म की आराधना का कैसा मंजुल भाव-व्यञ्जक तथा उपहास-मूलक कथन कराया गया है—

"एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग रहित अराधि करिहै कहा।"

अर्थालंकारों के अन्तर्गत, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अपह्नुति एवं अतिशयोक्ति की ओर उद्धव-शतक के कवि का अधिक झुकाव है। इन सबमें सांगरूपक अलंकार उनको अधिक प्रिय है—

"हेत खेत मांहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की,
प्रेम-तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं।
करिनी प्रतीति काज करनी बनावट की,
राखि ताहि हेरि हिय हौंसनि सनो नहीं॥"

जब गोपियां कृष्ण की प्रेम-पत्रिका का उत्तर लिखने लगती हैं तो उस समय का वर्णन कितना अतिशयोक्तिपूर्ण हो गया है—

"सूखि जाति स्याही लेखनी कै नैकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है॥"

निम्न पंक्तियों में व्यतिरेक और अपह्नुति की छटा दर्शनीय है—

"यह वह सिंधु नाहीं सोखि जो अगस्त लियो,
ऊधौ यह गोपिनी के प्रेम को प्रवाह है॥"

रत्नाकर जी ने उद्धव-शतक की रचना घनाक्षरी या कवित्त छन्द में की है। प्राचीन कवियों ने मुक्तक रचनाओं के लिये कवित्त को ही अधिकतर अपनाया था। इस छन्द की यह विशेषता है कि यह शृंगार और वीर दोनों रसों के लिये उपयुक्त होता है। उनका यह छन्द, भाव, भाषा और विषयानूकूल है। उद्धव-शतक की भाव-गरिमा के उत्कर्ष में सभी काव्योपादानों ने अपना भाग सौम्यता से निभाया है। इसीलिये किसी विद्वान् का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि "उद्धवशतक में कलात्मकता और भावात्मकता का मणि-कांचन योग है।"

प्रश्न ३--भ्रमरगीत की परम्परा का उल्लेख करते हुए उसमें उद्धवशतक का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति-मार्ग की दृढ़ स्थापना की। अब भक्ति के सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने की आवश्यकता थी। शास्त्रीय तर्क-वितर्क साधारण जनता के सन्मुख कैसे उपस्थित किये जा सकते थे? इस कार्य का पूर्ण भार भक्त कवियों ने अपने ऊपर ले लिया। इन भक्त कवियों ने भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ ही साथ ज्ञान की अव्यावहारिकता भी प्रदर्शित की। उपनिषदों आदि में प्राप्त ज्ञान-मार्ग के खंडन की आवश्यकता न थी पर इन सगुणोपासक भक्त कवियों से पहले कुछ ऐसे उपदेशक जनता के सामने आ चुके थे, जिन्होंने गम्भीर मुद्राएं धारण करके ज्ञान को कोरी बातें बनाकर लोगों को वेदों और शास्त्रों से विमुख करने का प्रयत्न किया था। भक्त कवियों ने इन उपदेशकों के विनाशकारी स्वरूप को पहचान कर अपनी रचनाओं में भक्ति के प्रचार के साथ ही साथ कोरे ज्ञान का खंडन भी प्रारम्भ कर दिया। इसका सबसे सुन्दर अवसर कृष्णोपासक कवियों को मिला। गोपियों और उद्धव के संवाद द्वारा इन्होंने ज्ञान की अव्यावहारिकता सिद्ध कर दी।

इन उद्धव गोपी संवाद विषयक रचनाओं का आधार श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण है। पर भागवत में यह अंश बहुत छोटा है। इस ग्रन्थ में उद्धव उस रूप में नहीं मिलते जिस रूप में वे सूरदास आदि रचनाओं में मिलते हैं। भागवत के उद्धव ज्ञानोपदेश के द्वारा भक्ति या प्रेम से विमुख करने नहीं आते। कृष्ण विरहिणि गोपियों को समझाने के लिये अपने सखा उद्धव को भेज देते हैं। कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि तुम गोपियों को जाकर यह उपदेश दो कि मैं सर्वात्मा हूँ अतः तुमसे मेरा वियोग हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भागवतकार की भावना के अनुसार कृष्ण जी ने उद्धव के द्वारा भक्तजनों पर अनुग्रह किया। उद्धव जी के ज्ञानोपदेश से नन्द, यशोदा नतमस्तक हुए पर गोपिकाओं को संतोष नहीं हुआ। उनके पास वह हृदय था, जिसमें कृष्ण की रसिक मूर्ति विद्यमान थी। उद्धव के रथ को देखकर वे खीझ उठीं, कृष्ण के प्रति उन्होंने उपालम्भ देने प्रारम्भ किए कि "कृष्ण को अपने माता-पिता ही याद आ सकते हैं, हमें वे क्यों याद करेंगे।" इसी समय एक

भ्रमर उनके चरणों को कमल समझकर गुनगुनाता हुआ वहाँ आ पहुँचा। गोपियों ने उस भ्रमर को आधार बनाकर कृष्ण और उसके सखा उद्धव को तीखी-तीखी सुनानी प्रारम्भ कीं।

भागवतकार का यह प्रसंग इतना रमणीय एवं आकर्षक रहा कि हिन्दी के भक्त, रीतिकालीन और आधुनिक सभी कवियों ने इसी को अपने भावों की अभिव्यंजना के लिये माध्यम बनाया। कवि ने भ्रमर को उपालम्भ का विषय चुन लिया। भ्रमर का प्रयोग प्रतीक के अर्थ में होने लगा। भ्रमर में कृष्ण की निष्ठुरता, रसलोलुपता, श्यामलता और उद्धव की अस्पष्ट उपदेशात्मकता का आभास पाया जाने लगा। गोपी-विरह प्रसंग में भ्रमर उपालम्भ का विषय बना और वह प्रसंग जिसमें उद्धव-गोपीसम्वाद है, "भ्रमरगीत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भ्रमरगीत की परम्परा में सूर, तुलसी, नन्ददास, रहीम, मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, सेनापति, दास, भारतेन्दु, प्रेमघन, सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध, गुप्त, रत्नाकर और रसाल ने अपनी सुरीली तानें सुनाई हैं। भक्ति-काल के कवियों ने इस प्रसंग के द्वारा भक्ति की महत्ता की स्थापना का प्रयास किया। उन्होंने उद्धव को ज्ञानियों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित करके ज्ञानवाद वा खंडन किया तथा प्रेममय भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठतर ठहराया।

रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण और गोपियों को नायक-नायिका के रूप में स्वीकार करके भ्रमरगीत प्रसंग को विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत उपालम्भ के रूप में ग्रहण किया। रस की दृष्टि से विप्रलम्भ शृंगार के रूप में यह प्रसंग अधिक भावात्मक है।

आधुनिक युग जो हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है, चिन्तनशील तथा आदर्शवादी है। अतः भ्रमरगीत के प्रसंग में कृष्ण को लौकिक रूप में स्थिर न रखा जा सका। कविरत्न ने इसमें राष्ट्रीय भावना का समावेश कर दिया।

इस विषय पर इतनी अधिक रचनाएं हो चुकी थीं कि पिछले कवियों में सूरदास तथा नन्ददास आदि के भ्रमरगीतों का पिष्टपेषण मात्र ही रह गया था। परन्तु रत्नाकर जी ने अपनी रचना में विषय को फिर नवीन सा कर दिया। इतने पुरातन विषय को लेकर भी उन्हें जो आश्चर्यजनक सफलता मिली, वह उनकी प्रतिभा तथा शक्ति का प्रमाण है।

उद्धव-शतक का उद्गम 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध यही उद्धव-गोपी-संवाद है। फिर भी यह कृष्णभक्त कवियों से कई बातों में भिन्न है। रत्नाकर जी ने उद्धव-शतक की रचना में कृष्णभक्त कवियों की पद-शैली को न अपनाकर रीतिकालीन कवियों की कवित्त-पद्धति को अपनाया।

सूरदास, नन्ददास आदि ने कृष्ण की व्याकुलता का उतना वर्णन नहीं किया है। सूरदास आदि ने सिद्धान्त प्रतिपादन पर अधिक ध्यान देकर इसकी उपेक्षा कर दी है। इसी कारण सूर सागर में व्रजबालाओं के प्रेमोद्गारों के समक्ष कृष्ण का भाव कुछ दब सा गया है। वैसे सूर ने कहीं-कहीं कृष्ण के प्रेमोद्गारों को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। भक्ति पक्ष में तो वह एकांगी प्रेम ठीक है परन्तु प्रेम-पक्ष में यह उतना सुन्दर तथा स्वाभाविक नहीं। जिस प्रकार भक्तों के लिए प्रभु परोक्ष रहते हैं उसी प्रकार गोपियों के लिए कृष्ण नहीं थे। गोपी-कृष्ण के प्रेम ने तो सर्वाङ्गीण पूर्णता प्राप्त कर ली थी। वहां तो मान को भी स्थान था। रत्नाकरजी ने उद्धव-शतक में गोपियों तथा कृष्ण के तुल्यानुराग का वर्णन करके भक्ति को वास्तविक प्रेम-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। हमारे यहां प्रेम में तुल्यानुराग ही आदर्श रहा है। उद्धव-शतक के कृष्ण व्रजभूमि का इन मार्मिक शब्दों में स्मरण करते हैं—

"गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालिनि की,
गोरस के काज लाज-बस कै बहाइबो।
कहै रत्नाकर रिझाइबो नबेलिनि को,
गाइबी—गवाइबो औ नाचिबी-नचाइबो॥
कीबौ स्रमहार मनुहार कै विविध विधि,
मोहिनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबबो।
ऊधौ सुख सम्पति समाज व्रज-मण्डल के,
भूलै हूं न भूलै, भूलैं हमको भुलाइबो॥"

भ्रमर को बीच में रखकर कबिवर रत्नाकर ने उद्धव तथा कृष्ण को कोई उपालम्भ नहीं दिया। इस बात में भी वे बंधी हुई पुरानी परिपाटी से कुछ पृथक् ही जान पड़ते हैं। समूचे उद्धव-शतक में केवल ७५ वां एक ही ऐसा कवित्त है जिसमें भ्रमर को बीच में रखकर उद्धव को उपालम्भ दिया गया है।

रत्नाकर व्रजभाषा काव्य की पुरातन परिपाटियों के उपस्थापक हैं। उन्होंने रीतिकालीन प्रभावों से अपने को बचाए रखना उचित नहीं समझा। परन्तु रीतिकालीन परम्परा होने पर भी, आधुनिक बुद्धिवाद का पूरा सहारा लिया है। यही कारण है कि रत्नाकर जी ने अपने उद्धव-शतक में अनुभावों और संचारियों की योजना के साथ सयुक्तिक तर्क को भी प्राधान्य दिया है। इस प्रकार रत्नाकर जी ने पुरातन भक्त कवियों की भावनाओं को बहुशः प्रशस्त भ्रमरगीत प्रसंग के माध्यम से अपने प्रतिभासम्पन्न उक्ति-कौशल तथा बुद्धिमूलक तर्क से सजाकर सर्वथा चामत्कारिक स्वरूप दे दिया।

प्रश्न ४—उद्धव-शतक के आधार पर रत्नाकर जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये।

उत्तर—श्रीमद्भागवत ही वह प्रधान ग्रन्थ है जिस पर समस्त कृष्ण-भक्ति का रमणीय एवं पवित्र प्रासाद आधारित है। उद्धव और गोपियों के प्रसङ्ग में ज्ञानयोग तथा प्रेम और भक्ति की जो विवादपूर्ण चर्चा है उसका भी आधार भागवत ही है। भागवत में गोपियों के द्वारा प्रेम और भक्ति की ज्ञान और योग के सम्मुख विशेष महत्ता दिखाई गई है। अस्तु, जितने भी कृष्णभक्त कवि हुए हैं सभी ने ऐसा ही किया है। उद्धव-शतक में भी महाकवि रत्नाकर ने भी ऐसा ही किया है, किन्तु ऐसी सुन्दरता और मौलिकता के साथ यह विवाद चलाया है कि कदाचित् कोई भी ऐसा नहीं कर पाया।

इसी प्रसङ्ग में कवि ने दार्शनिक विचारों का भी सुन्दर समावेश किया है। यद्यपि विचार सभी प्राचीन और चिर प्रसिद्ध हैं फिर भी उनके संगुम्फन का ढंग सर्वथा मौलिक और स्तुत्य है।

एक दिन कृष्ण स्नान के लिये यमुना पर जाते हैं। एक बहते कमल पुष्प को पकड़ कर वे सूँघते हैं। कमल को सूँघते ही उन्हें राधा का स्मरण हो आता है जिससे वे अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। तदनन्तर वे अपने हृदय की व्यथा को सखा उद्धव के समक्ष प्रकट करते हैं। उद्धव जी को अपने ज्ञान का गर्व था। साक्षात् भगवान् को ही जब मोह ने घेर लिया और उसके निवारण का भार उद्धव पर आ पड़ा तो उसके गर्व का ठिकाना न रहा। उद्धव तुरन्त भगवान् को ज्ञानामृत से सचेत करने लगे—

पाँचों तत्त्व माँहि एक सत्त्व ही की ही सत्ता सत्य,
याही तत्त्व-ज्ञान कौ महत्त्व श्रुति गायो है।
तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ, क्यों पुनि,
भेद पाँचभौतिक के रूप में रचायौ है॥

इसी प्रकार वे भगवान् कृष्ण को कहने लगे—

असत असार या पसार मैं हमारि जान,
जन भरमाए सदा ऐसे रहिबो करें।
जागत और पागत अनेक परपंचनि मैं,
जैसे सपने में अपने को लहिबौ करें॥

कृष्ण इसके उत्तर में केवल इतना ही कहते हैं:—

"आबो एक बार धारि गोकुल गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम॥

उद्धव गोकुल के लिये प्रस्थान करते हैं किन्तु मार्ग ही में उनके ज्ञानी और विरागी मानस में एक दूसरी ही लहर लहराने लगती है। वहाँ उस पर प्रेम और भक्ति की छाई हुई वारिदावली से दूसरी ही सुधा-वृष्टि होने लगती है। उनकी ज्ञान-गठरी की गाँठ खुल जाती है और उनकी सभी विचार-पूंजी फैलकर कछार के करील और तमालों में उलझ जाती है।

उद्धव का आगमन सुनकर गोपियाँ आती हैं और प्रेमातुर होकर कृष्ण का संदेश पूछती हैं। इस समय प्रेम से गोपियों की जो दशा हो जाती है उसे देख कर ज्ञानी और विरागी उद्धव भी ऐसे ही हो जाते हैं। उद्धव फिर भी अपने ज्ञान का दिव्य आलोक फैलाते हैं और कहने लगते हैं कि:—

"मोह बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तो सब अन्तर निरन्तर बस्यौ रहै॥"

आगे उद्धव कहते हैं कि यह सब तो माया का प्रपंच है, जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य सत्त्व, जो पंचतत्त्वनिर्मित इस संसार में एकसा है अपने वास्तविक रूप में नहीं प्रकट होता। सर्वत्र अनेक वस्तुओं के रूपों में वस्तुतः उसी एक ब्रह्म का रूप है जो भ्रम पटलोन्मीलित ज्ञान-चक्षुओं से दृष्टिगोचर होता है:—

"पंच तत्त्व मैं जी सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ,
हम तुम उनमें समान ही समोई हैं।
कहै रतनाकर विभूति पंचभूत हू की,
एक ही सी सकल प्रभूतनि में पोई है ॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है।
देखो भ्रम पटल उघारि ज्ञान आँखिनि सौं,
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है ॥"

अनेकत्व में एकत्व का उच्च दार्शनिक सिद्धान्त कवि ने बड़े ही चातुर्य से काँच के टुकड़ों का दृष्टान्त देकर दर्शाया है।

तीसरी उक्ति के द्वारा उद्धव जी वारिधि और बूंद की तात्विक एकता के आधार पर भेद-भावना के त्याग का उपदेश देते हैं और अविच्छिन्न संयोग का उपाय योग द्वारा ज्ञान-ज्योति को प्रदीप्त करना बताते हैं:—

"कहै रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ,
वारिधि और बूंद के विचारि बिछुरन कौं।
अविचल चाहि मिलाप तौ विलाप त्यागि,
जोग-जुगति करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं।।"

सर्वप्रथम गोपियों ने यह जानना चाहा कि कृष्ण जैसा रसिक शिरोमणि इतना अनाड़ी कैसे हो गया। दर्शन-शास्त्र के अनेकत्व में एकत्व के गहन विषय को भोगी गोपियां समझने में असमर्थ थीं अतः वे अपने हृदय की बात पूछती हैं कि प्यारे कृष्ण कब आवेंगे और उन्हें वे कब देखेंगी। ऐसे ही कुछ आवश्यक प्रश्न पूछने के अनन्तर गोपियों ने कहा कि जो तुम कहते हो सो हमने माना ठीक है पर हमें एकत्व की भावना पसन्द नहीं। वारिधि और बूंद का मेल कराकर वारिधि का तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं पर बिचारी बूंद की सत्ता तो समाप्त हो जाती है। यह हमें स्वीकार नहीं। वस्तुतः भक्त अपने व्यक्तित्व को मिटा कर भगवान के साथ एकत्व नहीं चाहता, सांनध्य चाहता है—

"जैहै बनि बिगरि न वारिधिता वारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।"

उद्धव ने ब्रह्म को विश्व-व्यापी और अनन्त कह कर योग के द्वारा त्रिपुटी में रख कर आन्तरिक चक्षुओं से देखने का विधान बताया है। गोपियाँ अपने स्वाभाविक सारल्य से उसे न समझ कर असम्भव और सन्दिग्ध मानती हैं। उनका कहना है कि अरूप, अनन्त और अलख विश्व-व्यापी ब्रह्म त्रिपुटी में कैसे देखा जा सकता है।

"रूप रस-हीन जाहि निरूपि निपट चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चाखिबौ कहौ।
एते बड़े बिस्व मांहि हेरे हू न पैये जाहि,
ताहि त्रिपुटी में नैन मूँद लखिबौ कहौ॥"

उद्धव की योग की उक्तियों का गोपियों ने अपने सरल वचनों द्वारा कसा परिहास किया है। वे कहती हैं कि वियोगाग्नि के प्रशमन के लिये तुम वायु-भक्षण करने को कहते हो उससे तो उल्टी वियोगाग्नि भड़क उठेगी—

"कहै रतनाकर वियोग आगि सारन कौं,
ऊधौ हाय ! हमको बयारि भखिबौ कहौ।"

गोपियाँ प्रथम तो उद्धव से कुछ स्वाभाविक सारल्य से बातचीत करती हैं, किन्तु कुछ देर में वे उनसे हिल-मिल सी जाती हैं और बातचीत करते-करते उनकी वाणी खुल जाती है। तब वे चातुर्य चमत्कार के साथ अपनी वाक्पटुता, हास्यप्रियता, तथा तर्क-कुशलता के द्वारा उद्धव को मुग्ध करने लगती हैं।

योग का अर्थ वे संयोग लेकर उद्धव के विरति-वियोगात्मक योग के विधान को असंगत बताती है :—

"मुक्ति-मुक्ता को मोल-माल ही कहा है जब ,
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं ।"

अलख और अरूप ब्रह्म के विरोध में उनका कहना है कि यदि ब्रह्म रूप, रंग और अंग से रहित है (अनंग है) तो हम उनकी आराधना नहीं करना चाहतीं क्योंकि एक ही अनंग से यह दुर्दशा हो गई है, दूसरे से न जाने क्या होगा-

"एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब ,
और अंग-रहित अराधि करि हैं कहा ।"

कहीं-कहीं आवेश में आकर वे-'चेरी हैं न ऊधो ! काहू ब्रह्म के बबा की हम' तक कह डालती हैं। उद्धव के स्वप्नवत् संसार के विचार को गोपियों ने बड़े चातुर्य से उद्धव पर ही घटित किया है :—

"जग सपनो सो सब परत दिखाई तुम्हें ,
तातैं तुम ऊधो हमें सोवत लखात हौ ।"

प्राणायाम के विरोध में गोपियों का भोला-भाला कथन बड़ा ही मनोरंजक है। वे कहती हैं :—

"एकै बार लैहैं मरि मीच की कृपा सौं तुम,
रोकि रोकि सांस बिन मीच मरिबौ कहा ।"

बिना ब्रह्मज्ञान के गोपद रूपी भवसागर में पड़ने का जो डर उद्धव ने दिखाया है वह व्यर्थ है क्योंकि—

"प्रेम रत्नाकर गभीर परे मीनन कौ,
इहि भव-गोपद की भीति भरिबो कहा ।"

उद्धव के ज्ञान रूपी सूर्य के ताप के प्रसार को देख गोपियां तनिक धमकी के साथ कहती हैं :—

"यह वह सिंधु नाहिं सोख जो अगस्त लियो,
ऊधो हम गोपिनी के प्रेम कौ प्रवाह है ।"

अक्रूर ने कृष्ण को ले जाकर गोपियों के साथ विश्वासघात सा किया था इसलिए अब वे उद्धव का भी विश्वास नहीं करतीं और कहती हैं कि :—

लै गयौ अक्रूर क्रूर सुख-सूर-कान्ह,
आये तुम आज प्रान व्याज उगाहन कौ ।"

उद्धव का ज्ञान वस्तुतः गोपियों की अथाह भक्ति में ऐसा लुप्त हो जाता है

कि उद्धव बस मन्त्र-मुग्ध से ही खड़े रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय होती है।

सूक्ष्मता से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि रत्नाकर जी ने शास्त्रीय दार्शनिक गूढ़ विचारों को सर्वथा नवीन ढंग से प्रयोग में लाकर काव्य की भावधारा को विस्मयकारी बना दिया है।

प्रश्न ५—उद्धव-शतक में रत्नाकर जी की बहुज्ञता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अनेक कवियों की बहुमुखी प्रतिभा होती है। वे संसार की अनेक विद्याओं तथा कलाओं के ज्ञाता होते हैं। उनकी यह बहुज्ञता उनकी रचनाओं में उचित अवसर पाकर किसी न किसी रूप में अपना स्थान बना लेती है और काव्यमय आवरण पाकर नूतनता का आभास देने लगती है। किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि अपनी बहुज्ञता का प्रकाशन अपने काव्य में स्थान-स्थान पर करता ही रहे और इस बात का ध्यान न रखे कि कहाँ कैसा प्रसंग है, कैसी परिस्थिति है अथवा कैसी आवश्यकता है। उसे इन बातों का ध्यान रखकर ही अपनी बहुज्ञता का उपयोग करना अभीष्ट होता है।

महाकवि रत्नाकर ने वैद्यक, रसायन शास्त्र, मनोविज्ञान, वेदान्त, तर्क-शास्त्र, योग-दर्शन और विज्ञान आदि के अनेक सिद्धान्तों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। उनका यह प्रयोग इतना भव्य एवं उपयुक्त हुआ है कि कहीं भी यह प्रकट नहीं होता कि कवि अपनी बहुज्ञता का प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ कर रहा है। हां, यह अवश्य है कि ऐसे अवसरों पर कवि ने श्लेष आदि अलंकारों की सहायता ली है।

वैद्यक में विषमज्वर की औषधि सुदर्शन चूर्ण बताई जाती है और वैद्यों के मतानुसार नाड़ी से रोग की परीक्षा करके उपचार का विधान बताया गया है। इसी साधारण बात को लेकर रत्नाकर जी ने गोपियों के मुंह से श्लिष्ट शब्दों के द्वारा मर्मस्पर्शिनी व्यंजना के साथ कृष्ण के पत्र के सम्बन्ध में कैसा सुन्दर भाव प्रदर्शित किया है—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हूं यौं सुधि बिसराई हैं॥

करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनी कौ,
भाय क्यौं अनारिनि कौं भरत कन्हाई हैं ।
ह्यां तौ विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है ।।

वद्य लोग रसायन शास्त्र के अनुसार पारे की भस्म तैयार करते हैं । रत्नाकर जी ने भी कैसा व्यञ्जनापूर्ण भाव रखकर इस रासायनिक प्रक्रिया को किया है और उसी में सोना रखकर एक प्रेम रसायन बनाया है । रसायन वैसे ही अमूल्य वस्तु समझी जाती है फिर यह तो ऐसी रसायन है जिससे प्रेमी हृदय शक्ति पाता है :—

दीन्यौ प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कौ,
हिय सौं कुटेव-हरुवाई बहिराइ कै ।
कहै रतनाकर त्यों कंचन बनाई काय,
ज्ञान अभिमानि की तमाई बिनसाइ कै ।।
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहुँ कोदनि सौं,
निज बिरहानल तपाइ पिघलाइ कै ।
गोप की वधूटी प्रेम-बटी के सहारे मारे,
चल-चित-पारे की भस्म झुरकाइ कै ।।

मनोवैज्ञानिक बातें भी इसमें बड़ी सुन्दरता के साथ व्यञ्जित की गई हैं । गोपियों की प्रेम-पूर्ण भावनाओं का बड़ा ही स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है । प्रेमोद्वेग से मन और शरीर की जो दशाएं होती हैं वे स्थान-स्थान पर बड़ी स्वाभाविकता एवं चित्रोपमता के साथ सजीव भाषा में चित्रित की गई हैं :—

"नैकु कहि बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।"

निम्न छन्द में गोपियों की आवेगपूर्ण मनःस्थिति तथा औत्सुक्य का दर्शनीय चित्रण है :—

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगी ।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं ।।

गोपियों के प्रति उद्धव के ज्ञानोपदेश में वेदान्त के सिद्धान्तों का कितना सुन्दर प्रतिपादन हुआ है—

"सोई कान्ह सोई तुम सोई सबहीं हैं लखो,
घट-घट अन्तर अनन्त घनश्याम कौ।
कहै रतनाकर न भेद भावना सौं भरौं,
बारिधि और बूंद के बिचारि बिछुरन कौं॥"

उद्धव के ज्ञानोपदेश को गोपियों के सरल एवं स्वाभाविक तर्कपूर्ण विचारों ने किस प्रकार छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है, यह तो उद्धव-शतक के अधिकांश भाग को आच्छादित किए है।

योग सम्बन्धी प्राणायाम आदि की ओर उद्धव के द्वारा संकेत कराते हुए कवि ने अपने योगविषयक ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है—

चाहत जौ स्वबस संजोग स्याम सुन्दर कौं,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रतनाकर सु-अन्तर-मुखी ह्वै ध्यान,
मंजु हिय-कंज जगी जोति मैं धँस्यौ रहै॥

विज्ञान के प्रकाश एवं प्रतिविम्ब सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर रत्नाकर जी ने गोपियों के मुख से कितनी सुन्दर भावव्यंजना का चित्रण कराया है। वस्तुतः यदि दर्पण के सम्मुख कोई व्यक्ति उसके निकट खड़ा होकर अपने प्रतिबिम्ब को देखे तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण के ऊपरी धरातल पर ही पड़ता हुआ दिखाई देता है। किन्तु जैसे ही जैसे वह उससे दूर हटता हुआ अपने प्रतिबिम्ब को देखता है वैसे ही उसे वह प्रतिबिम्ब दर्पण के भीतर धंसता सा दिखलाई देता है। गोपियों ने अपने मन को दर्पण मान कर श्रीकृष्ण को ज्ञान के द्वारा दूर किये जाने पर अपने मन-मुकुर में उसके धंसने का कैसा सुन्दर वर्णन किया है :—

"ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि प्रिय प्रान मूरि,
त्यौं-त्यौं धंसे जात मन मुकुर हमारे मैं॥"

साराँश यह कि कवि अपने ज्ञान का उपयोग जिस स्वाभाविकता से कर सकता है उसी प्रकार रत्नाकर ने भी किया है। बहुज्ञता-प्रदर्शन के प्रसङ्ग में सभी संभावित त्रुटियों से महाकवि रत्नाकर सर्वथा अलिप्त हैं।

प्रश्न ७—उद्धव-शतक की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिये ।

उत्तर—आज हिन्दी-जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को यह विदित है कि महाकवि रत्नाकर की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है । महाकवि रत्नाकर ने ब्रजभाषा के साहित्य का आद्योपान्त अध्ययन किया तथा अपनी समस्त कृतियों का माध्यम ब्रज-भाषा को ही बनाया । उन्हें ब्रज-भाषा से अत्यधिक प्रेम था । यही कारण है कि उन्होंने आज खड़ी बोली के युग में भी ब्रज-भाषा के माधुर्य पर मुग्ध होकर उसे अपनाया ।

रत्नाकर जी से पूर्व ब्रज-भाषा की क्रियाओं तथा कारकों का स्वरूप स्थिर नहीं था, जैसे ब्रजभाषा में देना क्रिया के सामान्य भूत में 'दीन, दीयौ, दीन्यौ' इत्यादि रूप प्रचलित थे । इसी प्रकार लिङ्ग-रचना सम्बन्धी रूपों और विधानों में भी अनेकरूपता पाई जाती थी । इस प्रकार के विभिन्न रूप किसी अंश में लाभप्रद भी कहे जा सकते हैं किन्तु ऐसी दशा में साहित्य का रूप अस्थिर ही रहता है । रत्नाकर जी ने इस प्रकार की क्रिया तथा कारकों के रूपों की अस्थिरता को स्थिरता प्रदान करके ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता दी ।

जिस ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता प्रदान करने के कार्य को केशव ने उठाया, बिहारीलाल ने आगे बढ़ाया और कविवर घनानन्द ने प्रौढ़ बनाया उसको रत्नाकर जी ने पूर्णता पर पहुँचाया । यद्यपि कविवर बिहारीलाल तथा घनानन्द इत्यादि ने ब्रजभाषा को परिमार्जित करने का स्तुत्य कार्य किया तो भी इस भाषा का पूर्ण परिष्कार करने का श्रेय महाकवि रत्नाकर जी को ही है ।

निस्सन्देह भाव काव्य की आत्मा है, परन्तु सुन्दर भावों का कलेवर भी सुन्दर होना चाहिये । भाव कितने ही सुन्दर हों यदि उनकी अभिव्यक्ति उनके उपयुक्त सुन्दर भाषा में न होगी, तो भावों का उत्कर्ष प्रभावहीन हो जाता है । यदि भाव साधारण भी हों और उन्हें सुन्दर भाषा में अभिव्यक्त किया जाय, तो भाव भी उत्कृष्ट प्रतीत होने लगते हैं । अतः काव्य में भाषा का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके साथ ही कवि को अपनी भाषा में मनोरंजकता, सबलता, सजीवता, लाते हुए उसे चित्ताकर्षक बनाने के लिए वाग्वैचित्र्य और कलाकौशल का रंग भी उस पर चढ़ाना पड़ता है । तभी कवि मानव-हृदय पर अधिकार कर पाता है ।

रत्नाकर जी के उद्धव-शतक की भाषा सब प्रकार से व्याकरणानुमोदित नियम नियन्त्रित, संयत एवं सुव्यवस्थित है। वह सर्वथा शिथिलता, अस्पष्टता और निरर्थकता से रहित है। वाक्यविन्यास इतना सुगठित है कि प्रत्येक शब्द अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए है। उनके वाक्य में से एक भी शब्द निकाल लेने पर वाक्य का चमत्कार नष्ट हो जाता है।

उद्धव-शतक की भाषा में अपूर्व चित्र-चित्रण-शक्ति विद्यमान है। शब्दों की योजता इस प्रकार की गई है कि पाठक की आंखों के समक्ष एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। राधिका की स्मृति के कारण बेसुध हुए कृष्ण का चित्र अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाषा में चित्रित किया गया है--

आए भुज-बंध दिए ऊद्धव सखा कौ कंध,
डगमग पाय मग, धरत धराए हैं।
कहै रतनाकर न बूझैं कुछ बोलत औ,
खोलत न नैन हूं अचैन चित छाए हैं॥

प्रस्तुत काव्य में रत्नाकर जी की भाषा माधुर्य तथा प्रसाद गुण से समुपेत है। क्योंकि ओज गुण वीर रस के लिये उपयुक्त होता है, अतः इस गुण का उद्धवशतक की भाषा में सर्वथा अभाव है। उनकी भाषा भावों की अनुगामिनी बन कर आई है, अतः उनके भावों की व्यंजना सहज ही सहृदय सामाजिक को मोहित कर लेती है।

प्रायः हिन्दी कवियों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनकी भाषा में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का अभाव ही रहता है परन्तु रत्नाकर जी ने इनका सफल प्रयोग किया है जिससे भाषा स्वाभाविक और हृदयहारिणी बन गई है। जैसे--

"तीन गुन पांच तत्व बहकि बतावत सो,
जैहै तीन तेरह तिहारी तीन पांच ह्वै।"

इसके अतिरिक्त--

"दिपत दिवाकर कौं दीप दिखाये कहा।"
"चेरि हैं न ऊधो! काहू ब्रह्म के बबा की हम।"
"काम विधि बाम की कला में मीन-मेष कहा।"

इत्यादि मुहावरों को अपने काव्य में प्रयुक्त करके रत्नाकर जी ने अमरत्व प्रदान किया है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा में अलंकारों ने स्वतः अपना स्थान बना लिया है। पर्याप्त संख्या में होते हुए भी अलंकारों ने कहीं भी भावापहरण नहीं किया है। वरन् ये भावों के उत्कर्ष में सहायक ही हुए हैं।

रत्नाकर जी के उद्धव-शतक की भाषा में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं भी लघु वर्ण गुरु रूप में अथवा गुरु वर्ण लघु रूप में नहीं पढ़ा जाता जिसके कारण छन्द की गति में तनिक भी अन्तर नहीं होता। यह कवि को दी हुई रियायत भी मानो रत्नाकर जी को अभीष्ट नहीं। बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन्होंने इस कविसुलभ रियायत का लाभ न उठाया हो। इसके अतिरिक्त अभिधा; लक्षणा, व्यंजना शक्तियों का सुन्दर संगुम्फन उद्धव-शतक की भाषा में दर्शनीय है। सारांश यह कि रत्नाकर जी के उद्धव-शतक की भाषा सभी काव्योचित गुणों से समुपेत है।

प्रश्न ८—उद्धव-शतक में प्रकृति-वर्णन का क्या स्थान है ?

उत्तर—इस अपार सृष्टि का सृष्टिकर्त्ता जिस प्रकार परमसत्ता को माना जाता है उसी प्रकार कवि भी अपनी सृष्टि का कर्त्ता है। वह विधाता के समान अपनी सृष्टि-रचना में स्वतन्त्र है। कवि भाषा के माध्यम द्वारा अपने हृदय के अन्तर्भावों के प्रकाशन का प्रयत्न करता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु उसके भावों की आलंबन हो सकती है। भारतीय मनीषी आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति का विकास अरण्यों के आश्रमों में ही हुआ मानते हैं। आर्यों ने आध्यात्मिक ज्ञान के अमूल्य रत्नों को प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में ही प्राप्त किया। आदि मानव ने जब आंख खोली तो उसने अपने को प्रकृति देवी की गोद में पाया। उसी गोद में उसका लालन-पालन एवं विकास हुआ। प्रकृति मानव की चिर-सहचरी है। अतः समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला कवि अपनी चिर-सहचरी प्रकृति को अपने भावों का आलम्बन बनाए बिना कैसे रह सकता था। काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रायः सभी समय के सभी कवियों ने किया है।

काव्य में प्रकृति-चित्रण के विभिन्न प्रकार माने गए हैं। ये प्रकृति-वर्णन की विधियाँ इस प्रकार हैं—

(१) जब प्रकृति को आलम्बन बनाकर उसका वर्णन किया जाय जैसे कालीदास का हिमालय-वर्णन और शुक्ल जी का प्रकृति-वर्णन।

(२) प्रकृति को उद्दीपन रूप में भी चित्रित किया जाता है। जैसे—रीति-कालीन कवियों के बारहमासे इत्यादि।

(३) प्रकृति को अलंकार-योजना में सहायक रूप से ग्रहण करके भी उसका वर्णन किया जाता है जैसे सूर ने कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन के लिए प्रकृति को उपमान रूप में ग्रहण किया है।

(४) कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन इस ढंग से होता है कि वह हमें अपने क्रिया-कलापों द्वारा उपदेश देती हुई सी प्रतीत होती है। इस प्रकार का चित्रण तुलसीदास जी ने किया है।

(५) प्रकृति का मानवीकरण करके भी उसको चित्रित किया जाता है। जैसे निराला जी ने प्रसाद के समान संध्या को एक सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है।

(६) प्रकृति को ईश्वरीय सत्ता की अभिव्यक्ति मानकर भी उसको चित्रित किया जाता है।

इन षड्विधाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि प्रकृति के प्रति रागात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। अब यह भी उल्लेखनीय है कि जब प्रकृति का उद्दीपन रूप से वर्णन होता है तो आश्रय पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ता है। इससे हम कवियों द्वारा संयोग-वियोग के वर्णनों को भली प्रकार हृदयंगम कर सकते हैं

संयोगावस्था में प्रकृति का मधुर रूप रसानुभूति को बढ़ाने वाला होता हैं। अतः संयोग शृंगार में प्रकृति के इसी रूप का उपयोग होता आया है।

विरहावस्था में प्रकृति का मधुर रूप विरहवेदना को तीव्र करता है। जैसे गोपियां कहती ह—'बिन गोपाल वैरनी भई कुंजै।' इसी प्रकार विरहावस्था में प्रकृति का यह स्वरूप पूर्वस्मृति को तीव्रता से जागृत करता है।

विरहावस्था में प्रकृति मानव का प्रतिबिंब रूप होकर भासित होती है। वह विरहियों को उनके मानस की भांति जलती हुई प्रतीत होने लगती है।

रत्नाकर जी भी प्रकृतिप्रेमी थे। इसी कारण उद्धव-शतक जैसे लघुकाय काव्य में भी प्रकृति को आवश्यक रूप से स्थान देना वे न भूले। उन्होंने उद्धव-शतक में छः ऋतुओं से सबंधित केवल छः छन्द लिखे हैं। प्रकृति-वर्णन की संक्षिप्तता में षड्ऋतुओं की विशाल व्यापकता को निहित कर सकने का कवि-कौशल स्तुत्य है। यदि इस प्रकार इस काव्य में प्रकृति का निर्देश न किया जाता तो यह एक खटकने वाली कमी होती।

उद्धव-शतक में रत्नाकर जी ने प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण नहीं किया है, यहाँ उन्होंने व्रज-भाषा के प्रकृति-वर्णन की रूढ़ियों का अनुसरण-मात्र किया जान पड़ता है। उन्होंने प्रकृति की ऋतुओं की सभी अवस्थाओं को गोपियों में घटाकर दिखाया है। इस प्रकार कल्पना में भी नवीनता है। यही उसका निरालापन कहा जा सकता है। श्लेष के द्वारा प्रकृतिपरक जो अर्थ निकलता है वह तो सामान्य ही है, पर उक्ति-चमत्कार का वह रूप कि व्रज में सभी ऋतुएं निरन्तर बनी रहती हैं, एक प्रकार का विरोध सा है, जिसको सिद्ध करके दिखाया गया है।

'आश्रय' पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ता है, रत्नाकर जी ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की अच्छी उद्भावना की है। उनकी प्रकृति विषण्णावस्था में है, क्योंकि उनकी गोपियां विरह के कारण क्षीण हैं। विरहावस्था में प्रकृति मानस की अवस्था का प्रतिबिंब होकर सामने आती है, इस सिद्धान्त के अनुसार उनका चित्रण तथ्यपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल ने प्रकृति-चित्रण के स्वरूप का वर्गीकरण किया है। जिन काव्यों में प्रकृति की व्यंजना द्वारा तथ्य या भावों का बिम्ब ग्रहण किया गया है, उनको उन्होंने एक कोटि में रखा है तथा प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप करके चलने वाले काव्यों को द्वितीय कक्षा में। जिन काव्यों में 'यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण' द्वारा चित्र ग्रहण कराया जाता है, उन काव्यों की पृथक् कोटि है। शुक्ल जी के प्रकृति-चित्रण के स्वरूपों के विभाजन के अनुसार रत्नाकर जी का ऋतु-वर्णन प्रथम भेद के द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत आता है। अर्थात् प्रकृति पर मानव भावनाओं का आरोप किया गया है। हेमन्त ऋतु की विशद भावना का सर्वत्र निरन्तर प्रसार दिखाई देता है—

रीते परे सकल निषंग कुसमायुध के,
दूर दुरे कान्ह, पै न तातै चलै चारौ है।
रत्नाकर बिहाइ बर मानस कौं,
लीन्यो है हुलास हंस बास दूरि बारौ है।
पाला परे आस पै न भावत बतास बारि,
जात कुम्हिलात हियो कमल हमारो है॥

षट ऋतु ह्वै हैं कहुँ अनत दिगंतनि मैं,
ऋतु तौ हिमंत कौ निरन्तर पसारौ है ॥

विरहावस्था में प्रकृति का मधुर रूप और भी उत्तापकारी हो जाता है। गोपियों को इसकी भी शिकायत है:—

"जात घनश्याम के ललात दृग-कंज-पांति,
घेरी दिख-साध-भौंर-भीर की अनी रहै।
कहै रत्नाकर विरह विधु वाम भयो,
चन्द्रहास ताने घात घालत घनी रहै ॥
सीत-घाम-वर्षा-विचार बिनु आने ब्रज,
पंचबान-बाननि की उमड़ ठनी रहै।
काम विधना सौं लही फरद दवामी सदा,
दरद दिवैया ऋतु सरद बनी रहै ॥

प्रश्न ६—समीक्षा कीजिए कि 'उद्धव-शतक' में भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्मिलित प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।"

उत्तर—सतसई परम्परा की भांति भ्रमरगीत की परम्परा पुरातन है और अपने विषय की मार्मिकता के कारण बड़े-बड़े कवियों द्वारा प्रशस्त हो चुकी है। इस प्रसंग का आधार यद्यपि भागवत है तथापि हिन्दी के कवियों ने उसे उपहास का विषय बनाकर एक सजीवता प्रदान कर दी है। श्रीमद्भागवत के उद्धव के साथ न तो इतना तर्क हुआ और न उनका इतना उपहास किया गया है। गोपियां उद्धव की युक्तियों से प्रभावित हुई और उद्धव गोपियों के प्रेम की सराहना करते हुए लौटे।

इसी प्रसंग को सूरदास और नन्ददास ने अपनाकर साहित्य की एक अमूल्य निधि प्रदान की है। निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य और व्यंग्यपूर्ण निरर्थकता सिद्ध करने के लिए ये दोनों ग्रन्थ अद्वितीय हैं। किन्तु सूर में जहां हृदयपक्ष की प्रबलता है, वहाँ नन्द की गोपियों में बुद्धिपक्ष की प्रबलता है। उन्होंने तर्क का उत्तर तर्क से दिया है। ये दोनों ग्रन्थ भक्तिमार्ग के परिपोषक हैं, उनमें ज्ञान और हठ-योग के विरुद्ध भक्ति की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है और उनमें भक्त कवियों

का हृदय बोलता हुआ दिखाई देता है। कविवर रत्नाकर जी ने उद्धव-शतक लिख कर आज के युग में उस परम्परा को विद्यमान रखा है। किन्तु उन्होंने भक्तिकाल की आत्मा के लिए रीतिकाल के शरीर को आवरण रूप से स्वीकार किया है।

रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में भक्तिकाल की सरलतामयी भावुकता और रीतिकाल की आलंकारिकता दोनों के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ में मुक्तक और खण्ड-काव्य की प्रवृत्ति सम्मिलित है। खण्डकाव्य का सा इसमें प्रबन्ध-निर्वाह भी है और मुक्तक की सी छन्दों की साज-सम्हाल भी है। इसमें भक्तों के गीतों और पदों को न अपना कर रीतिकालीन कवित्त-सवैयों को अपनाया है। उद्धव-शतक में सूर और नन्ददास तथा श्रीमद्भागवत की छाया के अतिरिक्त कुछ अपनी मौलिकता भी है।

रत्नाकर जी हिन्दी के वैष्णव कवि कहे जा सकते हैं। वे हिन्दी की प्राचीन काव्यधारा में पूर्ण रूपेण निष्णात थे और उसी प्राचीनता के पथ के अनुगामी थे। नवीन युग की काव्यधारा में गोता लगाने पर भी वे सर्वथा अलिप्त रहे और दूरवर्ती प्राचीनता के रमणीय स्रोत को प्रवाहित करते रहे। रत्नाकर जी सच्चे अर्थों में पौराणिक थे। उन्होंने पौराणिक होने के नाते अपने काव्य की कथावस्तु का चयन पुराणों से किया है।

सूरदास, नन्ददास आदि ने जिस गोपी-उद्धव संवाद को लेकर भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी ने निर्गुण के सामने सगुण की महत्ता का बखान किया है, उसी प्रसंग को लेकर रत्नाकर जी ने भी उद्धव-शतक की रचना करके भ्रमरगीत परम्परा की अन्तिम कड़ी का निर्माण किया है। रत्नाकर जी के उद्धव-शतक के प्रत्येक कवित्त में से भावुकता की अप्रतिहत धारा उमड़ती सी प्रतीत होती है। ऐसा प्रतात होता है मानों रत्नाकर जी ने भावसागर में गोता लगाकर उद्धव-शतक के कवित्त रूपी रत्नों को निकाल कर संवारा हो। जिस प्रकार भक्त कवियों ने ज्ञान और योग पर प्रेम और भक्ति की विजय दिखाई है उसी प्रकार रत्नाकर जी ने भी ब्रह्मज्ञानी उद्धव को प्रेम-रत्नाकर में निमग्न कर दिया है।

रत्नाकर जी के उद्धव-शतक की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसमें उभय-

पक्षी प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों की अपेक्षा रत्नाकर जी ने भगवान् कृष्ण को कुछ अधिक विरह-विह्वल दिखाया है। यमुना में बहते हुए एक कमल को देखकर कृष्ण को समान वर्ण वाली राधिका जी की स्मृति इतनी तीव्र हो जाती है कि वे बेसुध हो जाते हैं। किसी तरह चेतना आने पर अपनी प्रेम दशा का वर्णन उद्धव से करना ही चाहते हैं कि—

"गहबर आयो गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम परयो चपल चुचाई पुतरीनि सौं।
नैकु कहि बैंननि, अनेक कहि नैननि सौं,
रही सही सोउ कहि दीनी हिचकीनि सौं ॥"

इतनी दीन दशा होने पर जब भावातिरेक बढ़ जाता है और शब्द अपने कार्य-क्षेत्र से परे हो जाते हैं तो ज्ञानी उद्धव उन्हें ज्ञानोपदेश द्वारा समझाते हैं—

"बारनि कितेक तुम्हें बारन कितेक करैं,
बारन उबारन ह्वै बारन बनौं नहीं ॥"

❀ ❀ ❀

"आपुहिं सौं आपु को मिलाप और बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायो है ॥"

भावातिरेक और मार्मिकता के साथ-साथ उपर्युक्त छन्द में रीतिकालीन आलंकारिक प्रवृत्ति है और दूसरे में भक्तिकाल की सरल पद्धति।

अपने सन्मित्र उद्धव की अहंमन्यता को दूर करने के लिये उन्हें भगवान् गोकुल भेजते हैं। वे उनके ज्ञानोपदेश की भीख मांग कर सब कुछ त्याग कर ग्रहण कर लेंगे यदि उनके सखा एक बार गोकुल गली की धूलि को धारण कर आवे। उद्धव के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उन पर प्रेम का रंग चढ़ने लगता है। फिर भी वे अपने ज्ञान और योग का सन्देश देते हैं। रत्नाकर जी के वर्णन में केवल इतना ही अन्तर है कि यद्यपि गोपियों ने उन्हें मधुप कहकर सम्बोधित किया है तथापि श्रीमद्भागवत अथवा सूर के भ्रमरगीत की भाँति कोई वास्तविक भौंरा वहाँ नहीं आता।

सूर की गोपियों की भांति रत्नाकर की गोपियों की अधिकांश उक्तियां तो निजी अनुभव और प्रेम की दृढ़ता पर आश्रित हैं, तथापि कुछ उक्तियां नई और निराली हैं। उनमें कुछ में हृदय की सीधी आभा है और कुछ में रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव की झलक है। रत्नाकर की गोपियां भी व्यक्तित्व की रक्षा चाहती हैं। वे ब्रह्म बन जाने की अपेक्षा व्यक्ति बना रहना अधिक पसन्द करती हैं। क्योंकि ब्रह्म रूपी समुद्र में बूंद समा जाने से समुद्र का तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, बूंद की बूंदता ही नष्ट हो जाती है। द्वैत-वाद की यह अत्यन्त प्रज्वलन्त उक्ति है।

"विकसित विपिन वसन्तिकावली को रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने में।"

वाले कवित्त में वसन्त का दूसरा चित्र विरहिणी गोपियों के निवास स्थान में उतार दिया है। उनके तन का पीलापन वसन्त के पतझड़ के पूर्व का पीला-पन, व्रज बालाओं की पत (लज्जा) झरना ही पतझार है। उनका पागल हो जाना रसालों का बौराना है। फिर अन्तिम दो पंक्तियों में विशेष चमत्कार लक्षित होता है। 'मीन-मेष' मुहावरे का अर्थ है शंका करना, लेकिन वसन्त के सम्बन्ध में यह उक्ति मीन और मेष राशियों में ही होती है। बरसने में मीन और मेष राशियों के लिये ठहरना नहीं पड़ता, इसलिये वहां उसकी स्थिति के लिये मीन-मेष करने की गुंजाइश नहीं है। इसी प्रकार रत्नाकर जी ने उद्धव-शतक में ज्यौतिष-ज्ञान का भी परिचय दिया है। ज्योतिष के सम्बन्ध में रत्नाकर जी का ज्ञान बिहारी के ज्ञान से कहीं कम न था और फिर उसमें मुहावरे का प्रयोग होना मणि-काञ्चन संयोग की बात है।

किसी भाव को कल्पना के रंग में रंग कर उसे सूक्ष्मता और सुकुमारता का सौन्दर्य देकर चित्रित करने में रत्नाकर जी रीतिकालीन कवियों से कम नहीं। गोपियां ऊधो से निवेदन करती हैं कि कृष्ण से उनकी विरह-दशा का वर्णन न करना, जिससे वे उदास हो जावें। गोपियां उनको कल्पना में भी उदासीन नहीं देखना चाहतीं। इसमें गोपियों के हृदय की वेदना, मार्मिकता, विरह की दर्द भरी कसकन और प्रिय के दुःखनिवारण की असहनीय क्षमता स्पष्ट लक्षित होता है :—

"आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाय,
ब्रज दुख त्रास की न तातैं सांस लीजियो।
नाम को बताइ और जताइ गाम ऊधो बस,
श्याम सों हमारी राम-राम कहि दीजियो ॥"

अतिशयोक्ति के प्रयोग में भी रत्नाकर जी रीतिकालीन कवियों के समकक्ष ठहरते हैं। अतिशयोक्ति के साथ-साथ श्लेष का भी चमत्कार दर्शनीय है—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल हैं,
उमगि तपन तौ तापक कर धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक ओक मण्डल में,
बेग ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना।
हरिकौ समेत हरि गिरि के गुमान गिरि,
पल में पातालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने में न रावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुन पावै ना ॥"

प्रथम पंक्ति में श्लेष का चमत्कार है। गंगा जी पहले ब्रह्मकमण्डल में विष्णु चरणोदक के रूप में रही थीं। परन्तु यहाँ राधिका जी के नेत्रों को कमण्डल बनाया है क्योंकि श्रीकृष्णरूपी ब्रह्म के तन की पानिप (अर्थात् तेज) को पानी भी कहते हैं। गंगा जी का वेग तो महादेव जी ने सहन कर लिया था किन्तु राधा जी के आँसू की गंगा का वेग शिव जी भी न सहन कर पायेंगे और हिमालय भी पाताल को चला जायगा। इस छन्द में गंगा-वतरण और उद्धव शतक तक के लेखक मिल जाते हैं।

उनकी कुछ उक्तियों में दूर की सूझ और कल्पना का विस्तार है :—

"टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हूं कठोर बैन पाहन चलावो ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोहि,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना ॥"

यह तो एक वैज्ञानिक सत्य है कि दर्पण के जितने टुकड़े हो जाते हैं, उसमें

उतने ही प्रतिबिंब दिखाई देते हैं। इस वैज्ञानिक सत्य को भी कवि ने अपनी कवित्व-छटा से अलंकृत कर उसे सुन्दर बना दिया।

गोपियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण पर विश्वास करती हैं। वे अपने मन और नेत्रों की प्रामाणिकता के विरुद्ध ब्रह्म को किस प्रकार स्वीकार करें। सूर ने गोपियों की विरह-दशा की तुलना की है परन्तु रत्नाकर जी ने उसे और भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित किया है—

"वे तो बस बसन रंगावैं मन रंगत ये,
भसम रमावैं वे, ये आप ही भसम हैं।"

× × ×

'आपुहि भई हैं मृग छाला ब्रज बाला सूखि,
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैंगी॥"

चमत्कार-प्रदर्शन वाले छन्दों में उतना हृदय का स्पन्दन नहीं सुनाई पड़ता। उनके एक छन्द में बिहारी की छाया का विस्तार और झलक कितनी महत्त्वपूर्ण है। रत्नाकर जी ने रस के 'प्रयोगनि' की बात छेड़कर प्रसङ्ग में संजीवनी शक्ति भर दी है। रस (प्रेम की बातें, सोने की भस्म) तो दुर्लभ है, उनका तो कहना ही क्या, जिन्हें सुदर्शन जैसी सुलभ काष्ठादि औषधियाँ भी नहीं मिलतीं—

"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन;
देत न सुदर्शन हूँ यों सुधि बिसराई हैं।

\+ + + +

ह्याँ तो विषम ज्वर की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।"

ऋतु-वर्णन में भी सेनापति जी की श्लेषात्मक पद्धति की झलक मिलती है। सूरदास ने भी 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' कहकर पावस को स्थायी बना दिया था। उसमें व्यंजना का सौन्दर्य यह था कि जब शरीर में ही पावस ऋतु लगी है तब उससे भाग कर कहाँ जांय। रत्नाकर जी ने ब्रज में सभी ऋतुओं को चिरस्थायी कर दिया है।

रत्नाकर जी में सूर और नन्ददास की सी हास्य-व्यंग्य की झलक भी दिखाई देती है। सूर ने कृष्ण के काले तन पर बड़े व्यंग्य किए हैं। यह हास्य-व्यंग्य रति के ही आश्रित हैं। रत्नाकर की गोपियां अपनी खोज में कृष्ण की सर्प से तुलना करती हैं, सांप तो आंख से सुनने का कार्य करता है। (सूर ने तानसेन की तान के सम्बन्ध में कहा है कि विधि ने शेषनाग को कान नहीं दिये, नहीं तो प्रसन्नता में उसके सिर हिलाने से पृथ्वी चलायमान हो जाती।) किन्तु कृष्ण ने उद्धव को दूत बनाकर कानों से आंख का काम लिया है—

> **"एते दूर देसनि सों सखनि-संदेसनि सौ,**
> **लखन चहै जो दसा दुसह हमारी है।**
> × × ×
> **रीति नीति भुजङ्गनी की निपट न्यारी है।**
> **आंखिन तै एक तो सुभाव सुनिवै को लियो,**
> **काननि तैं एक देखिवै की टेक धारी है॥"**

रत्नाकर की गोपियों में सजीवता सूर की गोपियों से कुछ कम पाई जाती है। उनके व्यंग्य कहीं-कहीं बड़े तीखे हैं। परन्तु रत्नाकर की गोपियों के भी व्यंग्य पर्याप्त गहरी चोट करते हैं। कुब्जा के कूवर पर गोपियों ने एक स्थल पर अत्यन्त तीखा-सा व्यंग्य कसा है। वहां कल्पना का चमत्कार भी स्पष्टतः लक्षित होता है :—

> **"सोच है चहै के संग ताके रंगभौन मांहि,**
> **कौन धौं अनोखौ ढंग रचत निराटी है।**
> **छांटि देत कूबर कै आंटि देत डाँट कोऊ,**
> **काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है॥"**

इसमें टकार का प्राधान्य है और वैसे भी कुछ बीभत्सता आ जाती है जो वस्तुतः शृंगार के विरुद्ध है। किन्तु असूयाभाव में वह क्षम्य हो जाती है।

रत्नाकर जी का यह ग्रन्थ अपनी परम्परा में एक बहुमूल्य रत्न है। इसमें भक्ति-कालीन भावुकता के साथ रीतिकालीन चमत्कार का सुन्दर समन्वय है। रत्नाकर जी ने भक्तिकाल की आत्मा के लिये रीतिकाल के शरीर को आवरण रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने भक्त और शृंगारी दोनों कोटियों के कवियों की विशेषताओं से सम्पन्न होकर हिन्दी साहित्य की निधि को पूर्ण किया है।

उद्धव-शतक व्याख्या-भाग

चलत न चारयौ भांति कोटिनि बिचार्यौ तऊ,
दाबि दाबि हार्यो पै न टार्यौ टसकत है।
परम गहीली वसुदेव देवकी की मिली,
चाह-चिमटी हूं सौं न खैंची खसकत है॥
कढ़त न क्यों हूँ हाय बिथके उपाय सबै,
धीर आक-छीर हूं न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासिनी कौ ध्यान धंस्यौ,
निसिदिन काँटे लौं करेजें कसकत है॥

प्रस्तुत कवित्त रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से उद्धृत किया गया है। मथुरा-प्रवासी कृष्ण ब्रजवासियों के लालन-पालन एवं गोप-गोपियों की प्रेम-लीलाओं का स्मरण करते हैं और ब्रज के प्रति अपने ध्यान को अनेकों प्रयत्नों द्वारा हटाने की चेष्टा करते हैं परन्तु वह (ध्यान) तो हटाने से और भी धंसता चला जाता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कृष्ण अपने सखा उद्धव से कहते हैं—

हे उद्धव ! ब्रजवासियों के विलास का ध्यान धंस कर हृदय में प्रतिदिन काँटे की तरह कसकता रहता है। अनेक प्रकार से इससे निवृत होने का विचार किया परन्तु कोई वश नहीं चलता। इस कांटे को निकालने के लिये मैं दाब-दाब कर रह गया परन्तु वह तो हिलाए हिलता नहीं। वसुदेव और देवकी की अत्यन्त नुकीली प्राप्त हुई जो प्रेम रूपी चिमटी है, उससे खींचने पर भी नहीं खिसकता। अर्थात् नन्द यशोदा के अपरिमित वात्सल्य के सामने वसुदेव और देवकी का स्निग्ध स्नेह कुछ मूल्य नहीं रख पाता। हाय ! वह किसी प्रकार भी नहीं निकलता, सारे उपाय व्यर्थ चले गए हैं। धैर्य रूपी आक का दूध लगाने पर भी फूटकर नहीं निकलता।

विशेष—२. उत्तरोत्तर भाव में उत्कर्ष होने के कारण सार अलंकार है। श्लेष से पुष्ट सांगरूपक का भी चमत्कार दर्शनीय है।

२. काँटे निकालने की सामान्य सी बात को कितनी भावुकता, कला एवं प्रतिभा से प्रस्तुत किया गया है। यदि काँटा चुभ जाय तो पहले उसे दाब कर निकाला जाता है, फिर चिमटी से पकड़ कर खींचा जाता है। इस पर भी न निकलने पर आक का दूध लगाया जाता है, जिससे वह फूट कर निकल पड़े। परन्तु यहां तो ऐसा ध्यान रूपी काँटा चुभ गया है जो सारे प्रयत्नों के करने पर भी नहीं निकलता। यही तो विलक्षणता है।

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं,
प्रेम रतनाकर हियैं यौं उमगत है।
त्यौंही विरहातप प्रचण्ड सौं उमड़ि अति,
ऊरध उसास कौ भकोर यौं जगत है॥
केवट विचार कौ बिचारौ पचि हारि जात,
होत गुन-पाल ततकाल नभ-गत है॥
करत गम्भीर धीर-लंगर न काज कछू,
मन को जहाज डगि डूबन लगत है॥

प्रस्तुत छंद रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से उद्धृत किया गया है। मथुरा-प्रवासी कृष्ण राधा के स्मरण से अत्यन्त व्याकुल हैं। उसका ध्यान आते ही उनकी स्थिति बड़ी डावांडोल सी होने लगती है। उनकी इस स्थिति को प्रकट करते हुए कवि कहता है—

राधा के सुन्दर मुख रूपी चन्द्रमा के ध्यान से कृष्ण के हृदय में प्रेम समुद्र उमड़ने लगता है। उसी समय प्रचण्ड विरह रूपी अग्नि से उमड़ कर ऊर्ध्वोच्छ्वास रूपी बवण्डर चलने लगता है। ऐसी स्थिति में विचार रूपी नाविक परिश्रम करके हार जाता है और गुण रूपी रस्सी का पाल उसी समय आकाश में उमड़ आता है। धैर्य रूपी गम्भीर लंगर भी कुछ कर नहीं पाता,

विशेष—१. श्लेष से पुष्ट रूपकालंकार का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वारभाटा आता है, जिसके कारण जहाजों की स्थिति डांवाडोल हो जाती है। कवि ने इसी भौतिक घटना को

अपनी चामत्कारिक कल्पना का आधार बनाकर उसे कला की तूलिका से सुशोभित कर दिखाया है।

सील-सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की,
और ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी,
उर घनश्याम के अधीर अकुलानै तैं॥
आसाच्छन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर मांहि,
व्रज मैं सुदिन बारि-वृन्द हरियानै तैं।
नीर को प्रवाह कान्ह-नैननि तीर बह्यौ,
धीर बह्यो ऊधौ-उर-अचल रसाने तैं॥

प्रस्तुत छंद रत्नाकर जी के उद्धवशतक में से अवतरित किया गया है। कृष्ण मथुरा में आकर व्रज की सुख-विलास और आनन्दमयी स्मृतियों से व्याकुल हो उठते हैं। उनकी इस व्याकुलता से व्रज में सुदिन और मथुरा में दुर्दिन छा जाता है। प्रस्तुत छंद श्लिष्ट होने के कारण द्वचर्थक है। एक प्रकृति की ओर और दूसरा कृष्ण पक्ष में लगता है।

प्रथम पक्ष—शील आचरण से सनी हुई, सुरुचि से पूर्ण अच्छी चर्चाओं के चलते ही, नेत्रों के मीलोन्मीलन से और ही चमक पदा हो गई। अधीरता पूर्ण व्याकुलता से कृष्ण के हृदय में सहसा वेदना उमड़ उठी। कृष्ण की इस व्याकुलता से व्रज में निराशापूर्ण बुरा दिन दिखाई दिया और कृष्ण के हृदय में गोपियों की स्मृति होने के कारण गोपियों के समूह में प्रसन्नता उत्पन्न होने के कारण अच्छा दिन दिखाई दिया। स्मृति आने पर कृष्ण के नेत्रों से अश्रु-प्रवाह प्रवाहित होने लगा और ऐसी परिस्थिति में उद्धव का हृदय रूपी पर्वत पिघल जाने के कारण धैर्य बह चला।

द्वितीय पक्ष—शीतलता से सनी हुई सुहावनी और तीव्र पुरवा हवा के चलते ही नेत्रों में और ही मस्ती छा गई। श्याम मेघों के उमड़ने से उनमें बिजली चमकने लगी और दिशाओं के मेघाच्छन्न होने के कारण आकाश में वर्षा का दिन दिखाई देने लगा। इससे ब्रज में पानी की बूंदों से हरियाली के कारण सुहावना दिन दिखाई देने लगा। नदियों के जल का प्रवाह किनारों

से बाहर प्रवाहित होने लगा और पर्वत भी उस प्रवाह में अधीर होकर बहने लगे।

विशेष—१. 'और ही ओप' के कारण भेदकातिशयोक्ति अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है। असंगति और श्लेप अलंकार का कलापूर्ण प्रयोग कवि की प्रतिभा की विलक्षणता का द्योतक है।

२. द्वितीय चरण में प्रकृति को अन्य रूप में अभिव्यक्त करने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है।

हित खेत माँहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की
प्रेम तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं।
करिनी प्रतीति काज करनी बनावट की
राखि ताही हेरि हिये हौंसनि सनौ नहीं॥
घात में लगे हैं ये बिसासी ब्रजवासी सबै
इनके अनोखे छल-छंदनि में छनौ नहीं।
बारनि कितेक तुम्हें बारन कितेक करैं
बारन-उबारन ह्वै बारन बनौं नहीं॥

प्रस्तुत अवतरण रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से उदधृत किया गया है। कृष्ण मथुरा में आकर व्रज की विलास-लीलाओं का स्मरण करके गोपियों के मोह-जाल में पड़ने लगते हैं। विरह के कारण उनकी अत्यन्त व्याकुल स्थिति को देखकर कृष्ण सखा उद्धव उनको ज्ञानोपदेश देकर सचेत करते हैं और गोपियों के प्रति प्रीति को कपट-जाल की संज्ञा देते हैं।

हे सखा! ये सभी विश्वासघाती व्रजवासी आप की खोज में लगे हुए हैं। अतः इनके कपट-जाल में मत फंसो। इन्होंने हित रूपी खेत में विशुद्ध स्वार्थ, की खाई खोदकर प्रेम रूपी घास को छिपा कर रखा है। आप वहाँ न जावें। विश्वास दिलाने के लिये उन लोगों ने चिथड़ों की हथिनी बना कर रखी है, उसे देखकर हृदय में इच्छाओं और कामनाओं से पूर्ण मत हो। कितनी बार तुम्हें कितनों ने मना किया है कि गज उद्धारक बनकर स्वयं हाथी मत वनो।

विशेष—१. प्रस्तुत छंद में कवि ने बड़ी कुशलता से हाथी को पकड़ने की रीति कवित्व रूप में प्रदर्शित की है। हाथी जब मद में चूर होता है तो खाई

खोदकर उसमें घास रख दी जाती है और हाथी के आकर्षण के हेतु वहां हथिनी को खड़ा कर दिया जाता है। हाथी हथिनी को देखकर और घास के प्रलोभन में खाई में कूद पड़ता है, और इस प्रकार वह पकड़ा जाता है।

२. यमक और रूपक अलंकार का चमत्कार भी दर्शनीय है।

कान्ह दूत कैधों ब्रह्म–दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजनारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यो हम, कान्ह-ब्रह्म एकहि, कह्यो जो तुम
तौहू हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूंदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

प्रस्तुत अवतरण रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से उद्धृत किया गया है। मथुरा प्रवासी कृष्ण अपने ज्ञानी सखा उद्धव को व्रज में विरह-विह्वल गोपियों को ज्ञानोपदेश के लिये भेजते हैं। उद्धव भी अपने ज्ञान-गौरव के गर्व में व्रज की धूलि का स्पर्श करते हैं। जिसके प्रभाव से उनका ज्ञान कुंज-कछारों में गिर जाता है। जो अवशिष्ट रह जाता है, उससे वे गोपियों से ज्ञान-चर्चा करते हैं। परन्तु गोपियां अत्यन्त सरल हृदय होने के कारण तलवार की धार से तीक्ष्ण ज्ञान को न समझ सकती हैं और न ही उसे ग्रहण कर सकती हैं। उद्धव गोपियों को कृष्ण और ब्रह्म के एकत्व सम्बन्धी उपदेश देते हैं। गोपियां इस एकत्व भावना को स्वीकार करते हुए भी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं समझतीं। अतः वे उद्धव को वड़ा व्यंग्यपूर्ण एवं तर्कपूर्ण उत्तर देती हैं।

हे उद्धव ! आप कृष्ण के दूत अथवा ब्रह्म के दूत के रूप में इस प्रण को धारण करके कि गोपियों की विचारशीलता में परिवर्तन लाना है, पधारे हैं। अर्थात् तुम्हारी बातों से ऐसा जान पड़ता है मानो तुम हम गोपियों की विचार-परम्परा में अपने उपदेशों द्वारा परिवर्तन लाना चाहते हो। परन्तु हे ऊधो ! तुम प्रीति की रीति तो जानते नहीं हो, यहां तक कि तुम उसके 'क, ख' से भी अज्ञ हो ! विपरीत रूप में तुम-अनीति को ग्रहण करके अनाड़ियों

की भाँति अन्याय का विस्तार करना चाहते हो। तुम जो कहते हो कि कृष्ण और ब्रह्म एक ही हैं। सो तो हम भी मानती हैं। परन्तु फिर भी हमें एकत्व की भावना रुचिकर नहीं जान पड़ती। क्योंकि बूंद और समुद्र की एकत्व की क्रिया से समुद्र की समुद्रता में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, अर्थात् वह तो ज्यों का त्यों बना रहता है, एक बूंद घटने अथवा बढ़ने से उसकी महत्ता में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता उसका अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है परन्तु बूंद की बूंदता में हानि होती है। इसी प्रकार ब्रह्म में गोपियों के मिल जाने के कारण गोपियों का अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

विशेष--१. अन्तिम चरण में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का कथन किया गया है, अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

२. 'अनारी' शब्द श्लिष्ट होने के कारण छन्द में श्लेषालंकार का भी अच्छा चमत्कार प्रदर्शित किया गया है।

३. अद्वैतवाद का उद्धव के द्वारा मंडन और सगुणवादी गोपियों के द्वारा खंडन किया गया है।

४. गोपियों के हृदय का सारल्य भाव, हास्य, व्यंग्य और विनोदमयी प्रकृति का भी अच्छा परिचय मिलता है।

चोप करि चन्दन चढ़ायौ जिन अंगनि पै
तिनपैं बजाइ तूरि धूरि धरिबौ कहौ।
रस-रत्नाकर सनेह निखार्यौ जाहि
ता कच कौ हाय जटा जूट बरिबौ कहौ॥
चन्द अरबिंद लो सराह्यौ ब्रजचन्द जाहि
ता मुख कौ काकचंचवत करिबौ कहौ।
छेदि छेदि छाती छलनी कै बैन बाननि सौ
तामैं पुनि ताइ धीर नीर धरिबौ कहौ॥

प्रस्तुत छन्द रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से अवतरित किया गया है। ब्रज में गोपियों को ज्ञानोपदेश देने के लिये आए हुए कृष्ण-सखा उद्धव गोपियों को योगमार्ग की कठिन क्रियाओं का पालन करने के लिये कहते हैं। गोपियाँ उन योग चर्चाओं और योग क्रियाओं को अपने प्रति कठिन और प्रतिकूल समझकर अत्यन्त व्यंग्य उक्तियों से योगमार्ग का खंडन करती हैं।

हे उद्धव ! कृष्ण की संयोगावस्था में जिन अंगों पर हम चन्दन चढ़ाती रहती हैं, उन्हीं कोमलांगों पर तुम धूम-धाम के साथ धूल मलने के लिये कहते हो। जिस कच-जाल को प्रेम के पारावार कृष्ण ने स्नेह के साथ सुलझाया है, उसी को तुम जटाओं की तरह बढ़ाने के लिये कहते हो। जिस वर-वदन की ब्रज के चन्द्र रूप कृष्ण ने चन्द्र और कमल के साथ समता करके प्रशंसा की है, उसी को तुम कौए की चोंच की भाँति बनाने के लिये कहते हो, और जिस वक्षस्थल को तुमने अपनी वाणी रूपी बाणों से छेद-छेद कर छलनी बना डाला है, उसी में तुम तरल धैर्य रूपी जल को धारण करने के लिये कहते हो। भला जिस वस्तु में छेद ही पड़ चुके हैं वहां तरल वस्तु कैसे टिक सकती है।

विशेष—१. सनेह शब्द में श्लेष का सुन्दर चमत्कार है। द्वितीय चरण की प्रथम दो पंक्तियों में 'उपमा' की अद्वितीय छटा है। इसके अतिरिक्त अन्तिम पंक्तियों में 'रूपक' अलंकार का चमत्कार भी दर्शनीय है।

२. 'छेदि-छेदि छाती छलनि' में छेकानुप्रास की सुन्दर योजना हुई है।

३. गोपियों की व्यंग्यमयी प्रवृत्ति और निर्गुण पर सगुण की विजय का अच्छा आभास मिलता है।

चिन्ता मनि मंजुल पंवारि धूरि —धारनि मैं
कांच-मन-मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ।
कहै रतनाकर बियोग-आगि सारन कौ
ऊधो हाय हमकौ बयारि भखिबौ कहौ॥
रूप-रस-हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताकौ रूप ध्याइबो औ रस चखिबौ कहौ।
एते बड़े बिस्व माँहि हेरैं हू न पेयै जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदी लखिबौ कहौ॥

प्रस्तुत अवतरण उद्धवशतक में से उद्धृत किया गया है। उद्धव जब गोपियों को ज्ञानोपदेश देते हैं और उन्हें योग की क्रियाओं का पालन करने के लिये कहते हैं तब गोपियां उन्हें अपने लिये सर्वथा अगम जान कर कटूक्तियों एवं व्यंग्यपूर्ण उक्तियों द्वारा निस्सार सिद्ध करती हैं।

हे उद्धव ! तुम योग मार्ग का पालन कराकर सुन्दर कामना रूप चिन्ता-मणि को धूलि में फेंकने के लिये कहते हो और कांच के हीन-से मनरूप टुकड़े को, जिसमें योगमार्ग के अनुसार वृत्तियों का निरोध किया जाता है, सम्हाल कर रखने के लिये कहते हो। अर्थात् प्रेममार्ग में, जहां सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होती है, उसको त्यागने के लिये कहते हो और ज्ञानमार्ग, अप्राप्य है और अगम है, और उसके द्वारा कुछ फल प्राप्ति की आशा नहीं, उसको अपनाने के लिये कहते हो। उस पर भी तुम वियोगाग्नि को शान्त करने के लिये वायु-भक्षण करने का उपाय बताते हो। परन्तु वायु भक्षण से तो अग्नि की वृद्धि ही होती है अथवा वायु सेवन से वियोग दुःख ही बढ़ता है। जिस ब्रह्म को तुम रूप और रस से हीन सिद्ध कर चुके हो, अर्थात् जिसे तुमने निराकार और निर्गुण तथा अगोचर सिद्ध किया है उसी के रूप का ध्यान करने तथा अमृत रस का आस्वादन करने के लिये कहते हो। कितनी असम्भव और बे मेल की बातें करते हो। जिस अगोचर ब्रह्म को इस विशाल विश्व में ढूँढने पर भी नहीं ढूँढा जा सकता उस अणोरणीयान् महतो महीयान् को नेत्र मूंद कर त्रिकुटी में देखने के लिये कहते हो। भला यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ?

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में श्लेष अलंकार है। 'चिन्तामणि' में सभंग श्लेष है। जिसका अर्थ कामना रूपी 'चिन्तामणि' आभासित होता है। अतः श्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है।

२. गोपियों की व्यंगमयी उक्तियों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का खंडन किया गया है।

३. भारतीय दर्शन का इसमें स्पष्ट आभास दृष्टिगत होता है।

नेमव्रत संजम के पींजरैं परैं को जब,
लाज-कुल-कानि, प्रतिबंधहिं निवारी चुकीं।
कौन गुन गौरव को लंगर लगावैं जब,
सुधि बुधि ही को भार टेक करि टारि चुकीं॥
जोग-रत्नाकर मैं साँस घूंटि बूड़ै कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानिक, बिचारि चुकीं।

मुक्ति-मुकता कौ मोल-माल ही कहा जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकीं ॥

प्रस्तुत छन्द रत्नाकर जी के उद्धव शतक में से उद्धृत किया गया है। उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश देते हैं परन्तु गोपियां अपने प्रेम मार्ग को उत्कृष्ट सिद्ध करती हुई योग सम्बन्धी उपदेशों का खंडन करती हैं:—

हे ऊधो ! तुम जो कि हमें ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने के लिये बाध्य करते हो सो कैसे हो सकता है। जबकि हमने लज्जा और कुल की मर्यादा जैसे सम्बन्धों को तोड़ दिया है; ऐसा हो जाने पर नियम, व्रत, संयम के पिंजरे में कौन पड़े। रस्सी रूपी गुणों के लंगर को कौन लगावे अर्थात् इसके झंझट में कौन पड़े जबकि हम अपनी सुध-बुध का भार ही प्रतिज्ञा करके टाल चुकी हैं। अर्थात् कृष्ण से प्रेम करने के पश्चात् हमारी सुध-बुध सब चली गई है। हम अपनी चेतनावस्था में कदापि रहती ही नहीं। हे ऊधो ! हमने तो जीवन की गति के लिये प्रेम का सीधा मार्ग ग्रहण कर लिया है, योग मार्ग के अथाह सागर में श्वास घोटकर कौन डुबकी लगावे। इतना कठिन कार्य न तो हमारे योग्य है और न ही हमें रुचता है। हम तो सरल, सुगम और सुबोध प्रेम मार्ग का ही अनुसरण करेंगी। यदि तुम ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने में मुक्ति रूप मोती का प्रलोभन देते हो तो वह हमारे लिये व्यर्थ है। जब हम मोहन लला पर मन जैसे माणिक्य को वार चुकी हैं तब मुक्ति रूप मोती का हमारे लिये क्या मूल्य है। अर्थात् हमारे मन-माणिक्य के सामने उसका कुछ भी महत्व नहीं।

विशेष—१. गोपियों की सरल और युक्तिपूर्ण उक्तियों द्वारा अत्यन्त सुन्दरता के साथ निर्गुण ब्रह्म का खंडन किया गया है। प्रत्येक अवस्था में वे अपने प्रेममार्ग को ही युक्तिसंगत और अनुकरणीय सिद्ध करती हैं। जिसके समक्ष योगमार्ग का स्वयमेव खंडन हो जाता है।

२–'गुण' शब्द में श्लेष का सुन्दर चमत्कार है। अन्तिम चरण की अन्तिम पंक्तियों में रूपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

वे तो बस बसन रंगावें मन रंगत ये,
भसम रमावें वे ये आपुहिं भसम हैं।

सांस-सांस माँहि बहु बासर बितावत वे,
इनके प्रत्येक सांस जात ज्यों जनम हैं ।।
ह्वै के जग भुक्ति सों बिरक्त चाहत-वे,
जानत ये भुक्ति, मुक्ति दोऊ विष सम हैं ।
करिकै विचार ऊधौ सूधो मन माँहि लखौ,
जोगी सों वियोग भोग भोगी कहा कम हैं ।।

प्रस्तुत कवित्त रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से अवतरित किया गया है। कृष्ण सखा उद्धव व्रज में आकर गोपियों को ज्ञानोपदेश के द्वारा योग मार्ग का अनुसरण करने के लिये कहते हैं । परन्तु सरलहृदय गोपियां इस मार्ग को अपने लिये कठिन जानकर अनेक प्रमाणों एवं व्यंग्यमयी उक्तियों के द्वारा निर्मूल सिद्ध करती हैं । सरलोक्तियों के द्वारा वे वियोगियों को योगियों से श्रेष्ठ सिद्ध करती हैं । वियोगियों में अधिक साधना और त्याग का भाव सिद्ध करके योगमार्ग का खंडन किया है। गोपियां उद्धव से कहती हैं—

हे ऊधो ! तुम जो हमें योग सम्बन्धी उपदेश देते हो, भला बताओ तो सही कि 'वियोगी' 'योगियों' से किस बात में कम हैं। योगिजन तो केवल अपने वस्त्रों को गेरुआ रंग से रंगा लेते हैं परन्तु वियोगी तो अपने प्रेमपात्र की भावना में ही अपने मन को रंग लेती हैं अर्थात् उनका मन ही प्रिय के प्रेम से प्रेममय हो जाता है । वे तो केवल अपने तन पर भस्म रमाते हैं और ये स्वयं ही वियोगाग्नि में भस्म होकर रह जाती हैं। इससे और क्या त्याग भावना हो सकती है। यदि योगी एक-एक श्वास में अनेकों दिन बिता देते हैं तो वियोगियों के एक-एक श्वास जन्म भर के समान अत्यन्त दीर्घकालीन होता है अर्थात् एक श्वास लेने में जो समय लगता है वह उनके लिये एक जन्म के समय के समान जान पड़ता है। इस प्रकार प्रिय-वियोग में इनका समय अत्यन्त कठिनाई से व्यतीत होता है। वे सांसारिक भोग आदि से विरक्त होकर मुक्ति रूप फल की कामना करते हैं और इनके लिये तो भोग और मोक्ष दोनों ही विषसम त्याज्य हैं। संसार में रह कर भी वियोगियों को इन दोनों में से किसी की इच्छा नहीं रहती। अतः जरा

अपने मन में विचार कर देखो कि योगियों की अपेक्षा वियोग का भोग करने वाले भोगी क्या कम हैं, अर्थात् नहीं।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में 'योगी' और वियोगी की अत्यन्त सुन्दर कवित्व-पूर्ण तुलना प्रदर्शित की गई है।

२. व्यतिरेक अलंकार की छटा भी दर्शनीय है।

३. गोपियों के हृदय की भावुकता, सरलता और व्यंग्यमयी प्रवृत्ति का भी अच्छा आभास मिलता है।

की ज्ञान भानु कीजै प्रकास गिरि-सृंगनि पै,
ब्रज में तिहारी कला नैकु खटिहै नहीं।
कहै रत्नाकर न प्रेम-तरु पैहै सूखि,
याकी डार पात तृन तूल घटिहै नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी हैं ऊधौ,
पी पी की बिहाई और रट रटिहै नहीं।
लौटि लौटि बात कौ बबंडर बनावत क्यों,
हिय तैं हमारे घनश्याम हटिहै नहीं॥

प्रस्तुत छन्द रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में से उद्धृत किया गया है। उद्धव जब गोपियों को ज्ञानोपदेश देते चले जाते हैं और उनके मना करने पर भी शान्त नहीं होते तब गोपियां उनकी उस प्रवृत्ति से चिढ़ कर उन्हें वहां से पलायमान कराने की रीति चलाती हैं। वे बड़े चातुर्य से उनके उपदेशों की अप्रभविष्णुता और निस्सारता को प्रकट करती हुई उन्हें वहां से वनों-तपोवनों आदि की ओर भेजती हैं जहां तपस्वी और साधक सदा तप में लीन रहते हैं। वे उद्धव से कहती हैं—

हे ऊधो! तुम अपने ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश, पर्वत की चोटियों पर जहाँ पर अनेक तपस्वी तप में लीन रहते हैं, करो। यहां ब्रज में तुम्हारी कला तनिक भी विकसित नहीं हो पायेगी। तुम्हारे उपदेशों का न तो प्रभाव ही पड़ेगा और नहीं वे किसी प्रकार उपयोगी सिद्ध होंगे। तुम्हारे ज्ञान रूपी सूर्य के प्रताप से हमारा प्रेम रूपी वृक्ष किसी प्रकार भी न सूखने पावेगा। न ही इसकी शाखाओं, फूलों और पत्तों में किसी प्रकार की हानि हो सकती

है। कोई भी पत्ता सूख कर कभी नहीं गिर सकता। हमारी जिह्वा तो हे ऊधो! मंजुल चातकी के समान बन चुकी है और इस लिये वह पी पी के अतिरिक्त और कुछ नहीं रट सकती। तुम चाहे कितना भी ज्ञान चर्चा करने का प्रयत्न करो परन्तु हमारी तो यह अटल प्रतिज्ञा है कि हम 'पिउ पिउ' के अतिरिक्त और किसी का स्मरण नहीं कर सकतीं। फिर तुम लौट-लौट कर अर्थात् उलट-पुलट कर बात का बवंडर क्यों बनाते हो। इस ज्ञान के हवा रूपी तूफान से हमारे हृदय में से कृष्ण-रूप श्यामल मेघ नहीं हट सकते। अतः तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ है।

विशेष—१. 'प्रेम तरु' में रूपक की अत्यन्त सुन्दर योजना है। 'बात' और 'घन श्याम' में श्लेष का महत्वपूर्ण चमत्कार है। 'बात' का एक अर्थ है, ज्ञान-चर्चा और दूसरा हवा लिया गया है। इसी प्रकार 'घनश्याम' से कृष्ण और और श्यामल मेघ का तात्पर्य है।

२. कलापक्ष की दृष्टि से यह छन्द पूर्ण मधुर शैली का द्योतक है। इसके अतिरिक्त भाषा का चमत्कार 'पी-पी' जैसे पुनरुक्तिप्रकाश पूर्ण अलंकारों से और भी अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ है।

३. यह एक माननीय तथ्य है कि आकाश में छाये हुए मेघ, आंधी के प्रभंजन आदि के वेग से विलुप्त हो उड़ जाते हैं। परन्तु गोपियों के हृदयाकाश में जो 'घनश्याम' छाये हुए हैं वे बवंडर के प्रताप और वेग से भी नहीं मिट सकते। यही तो इन घनश्याम की विलक्षणता है।

आधुनिक कवि : पन्त

लेखक :—
भारतभूषण 'सरोज'

आधुनिक कवि : पन्त

प्रश्न १.—पन्त जी की कृतियों को ध्यान में रखते हुए सिद्ध कीजिए कि उनकी भावुकता समय के साथ-साथ चिन्तन की गम्भीरता में विलीन होती गई है।

उत्तर—पन्त जी आरम्भ से अत्यन्त भावुक कवि के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उनकी भावुकता समय के साथ-साथ चिन्तन की गम्भीरता में विलीन होती गई है। यही कारण है कि उनकी कला कृतियों में भावना की अपेक्षा विचार का प्राधान्य लक्षित होता है। 'वीणा' से 'पल्लव', 'पल्लव' से 'गुंजन' और गुंजन' से 'युगान्त' तक आते-आते कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। 'युगान्त' में छायावाद के युग के अन्त की सूचना है और प्रगतिवाद के युग के अरुणोदय का आह्लाद ! 'युगान्त' के आरम्भ से ही प्रगतिवाद उनके काव्य में आरम्भ होता है और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वह अपनी जड़ जमा लेता है।

'युगान्त' में जिस नवीन दृष्टिकोण का आभास मात्र मिलता है, 'युगवाणी' में उसी की व्याख्या है और 'ग्राम्या' में उसका प्रयोग। उनके इस नवीन दृष्टिकोण का विकास उनके मानसिक विकास के सामंजस्य में हुआ है। अध्यात्म से प्रकृति, प्रकृति से प्रेम, प्रेम से जीवन और जीवन से जगत् की रूपरेखा ही इस भाव-विकास की कोटियां हैं। कवि धीरे-धीरे सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर, कल्पना से सत्य की ओर बढ़ता दिखाई देता है। युग-वाणी और ग्राम्या में सत्य और ठोस जगत् ही उनके चिन्तन का विषय रहा है। वह अपने भाव को सजीव प्रतिमा के रूप में देखना चाहता है। कल्पना के स्थान पर रक्त मांस और झंकार के स्थान पर जीवन-गति के दर्शन करने की उसकी अभिलाषा है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वह व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख होता है। वह केवल अपनी मुक्ति ही नहीं चाहता, जनता के सुख-दुख में एकाकार होकर समष्टि की मुक्ति-साधना में प्रयत्न-

शील होना चाहता है, और यही जीवन-सन्देश वह सम्पूर्ण समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।

"सर्व-मुक्ति हो मुदित तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब।"

इस प्रकार कवि की कल्पनाएँ एवं भावनाएं अब इस धरती के मानव की ओर एकोन्मुखी होकर केन्द्रित हो गई हैं। वह अब गगन की उन्मुक्त सीमाओं में विहार नहीं करता वरन उसका तो सन्देश है—

देखो भू को! जीव प्रसू को!
हरित भरित, पल्लवित मर्मरित
कूजित, गुंजित, कुसुमित भू को।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अधिकांश कविताओं में कवि साहित्य और कला की दृष्टि से मार्क्सवाद से प्रभावित दिखाई देता है। साम्यवादियों की भांति कवि ने इतिहास और समाज की व्याख्या प्रस्तुत की है। अन्तर केवल इतना ही है कि पन्त जी का व्याख्या प्रस्तुत करने का ढंग पद्यबद्ध होने के कारण कलात्मक है। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को मरणासन्न जानकर उसकी निन्दा की है और दूसरी ओर किसान और मजदूर दलों के प्रति प्रशंसात्मक उक्तियां भी अर्पित की हैं। इस वाद से प्रभावित होने के कारण कवि को सौन्दर्य के दर्शन कल्पना जगत् की सूक्ष्मता में न होकर मांसलता में होते हैं। इसी से कवि ने कहा है—

कहां खोजने जाते हो, सुन्दरता औ आनन्द अपार?
इस मांसलता में है मूर्तित, अखिल भावनाओं का सार।

इस प्रकार साम्यवादी दृष्टिकोण और साम्यवादी दर्शन को जिस स्पष्टता, पूर्णता और गम्भीरता के साथ पन्त ने उपस्थित किया है वैसा किसी अन्य कवि ने नहीं। ये रचनाएं मानवता के प्रति कवि की दृढ़ आस्था से उद्भूत हैं। इसमें नारे लगाने वाली कट्टर प्रचारात्मक प्रवृत्ति की गन्ध नहीं। उन्होंने साम्यवादी विचारधारा को यदि अंगीकृत किया है तो लोक-कल्याण की भावना से। इसी से जहाँ इस विचारधारा में अपूर्णता का आभास पाया है वहां अन्य विचारकों और मनीषियों की विचारधारा को भी अपनाया है। अतः मार्क्स

के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण होते हुए भी गाँधी, अरविन्द और रवीन्द्र के प्रति भी उनकी आस्था है। इस प्रकार उन्हें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वित रूप ही अधिक प्रिय है। भौतिकवाद के प्रतीक हैं मार्क्स और अध्यात्मवाद के गांधी और अरविन्द। भौतिकवाद में स्थूलता और समष्टि की भावना निहित है और अध्यात्मवाद में सूक्ष्मता और व्यष्टि की। उनके अनुसार इसी स्थूल-सूक्ष्म, व्यष्टि-समष्टि के समन्वय से नवीन मानवता की सृष्टि सम्भव है।

प्रगतिवाद के आन्दोलन के साथ ही काव्य का विषय भी आन्दोलित हो कर शोषक और शोषितवर्ग की ओर उन्मुख हो गया। जब प्रगतिवाद का साम्यवाद के रूप में प्रचार हुआ तब से काव्य सर्वाङ्ग रूप से ही ग्राम-जीवन के प्रकाश से प्रकाशित होने लगा। पंतजी का दृष्टिकोण, प्रगतिवादी कवि होने के नाते ग्राम-जीवन के चित्रण की ओर तो रहा, परन्तु वहाँ वे किसी वाद के प्रचारक के रूप में दिखाई नहीं देते, वरन उनका जीवन-द्रष्टा का पक्ष विशेष रूप से लक्षित होता है। लोककल्याण तथा सुधार की भावना से उत्प्रेरित होकर उन्होंने धोबियों का नृत्य, ग्राम-श्री, ग्राम-युवति आदि में उनके अकृत्रिम और आकर्षक चित्र अंकित किये हैं। इस आह्लादपूर्ण ग्राम्यजीवन के एक पक्ष के अतिरिक्त इसका दूसरा चित्र भी अंकित किया है जिसमें शोषित वर्ग की दरिद्रतापूर्ण दयनीय कराह सुनाई देती है। वास्तव में जीवन का यथार्थ चित्र खींचने में कवि का ग्राम्य जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण स्पष्ट लक्षित होता है—

यहाँ धरा का मुख कुरूप है कुत्सित गर्हित जन का जीवन
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या जहां उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?

प्रकाश के उन चित्रों में तम के ये चित्र कितने भयानक लगते हैं। इस प्रकार की स्थिति का अध्ययन प्रगतिवादी भी करते हैं और साम्यवादी भी। पंत जी ने भी उसका साक्षात् चित्राङ्कन कर दिखाया है। वास्तव में कवि इन ग्रामीणों के प्रति सहानुभूति जागृत करने में सफल हुआ है। उनका प्रयत्न सदा यही रहा है कि मनुष्य का जीवन उच्च से उच्चतर और सुन्दर से सुन्दरतर बने। परन्तु उन्होंने कभी भी यह पुकार नहीं उठाई कि गांवों की

और लौट चलो। विज्ञान की शक्ति की ओर उन्हें आकर्षण है और वे जनता को उससे लाभान्वित होकर जीवन को उपादेय बनाने के लिये प्रेरित करते हैं। परन्तु भौतिक समृद्धि को सर्वस्व भी नहीं समझते। विज्ञान की शक्ति से परिचित होते हुए भी उसके मादक दोषों से भी अपरिचित नहीं—

मानव ने पाई देश काल पर विजय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय।
चर्बित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित।
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित॥

पन्त जी ने भारत के प्राचीन दर्शन की आध्यात्मिकता में पहुँचकर भविष्य में निर्मित होने वाले समाज की कल्पना द्वारा रूपरेखा उपस्थित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सर्वप्रथम 'स्वर्ण किरन' में लक्षित होती है। फिर आगे के संग्रहों में वह अधिकाधिक पुष्ट होती गई है।

कवि ने 'स्वर्ण-धूलि' में समाज की अनेक समस्यायें उठाकर उन पर चिन्तन किया है और अपना समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनके विचार से मानव-सभ्यता की विकृति का मूल कारण मनुष्य की बहिरन्तर शक्तियों का पारस्परिक द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्व के फलस्वरूप अश्रु, स्वेद और रक्त से सना हुआ मानव-सभ्यता का इतिहास पीड़न, शोषण तथा संघर्षण का प्रतिरूप बन गया है। इस प्रकार की विषमता का मूल कारण साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिकता का विनाश करके लोक-संगठन ही मानवता का कल्याण कर सकता है। भाव की दृष्टि से देखा जाय तो एकता ही सत्य है, और यदि सत्य की दृष्टि से देखो तो भिन्नता ही सत्य है, क्योंकि मनुष्य की रुचि, स्वभाव, मन आदि सब कुछ भिन्न हैं। परन्तु संसार की प्रगति न केवल कटु सत्य से हो सकती है और न केवल स्वप्न से। दोनों में सामंजस्य की भावना से ही समाज चल सकता है।

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ़ पाता गिन गिन पग,
सामंजस्य न यदि दोनों में,
रखती मैं, क्या चल सकता जग?"

आगे चलकर कवि स्पष्ट करता है कि मानव का विकास भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों के सामंजस्य से हो सकता है। यही सामंजस्य की भावना ही प्रगतिशील पन्त की मानवता के लिये श्रेयस्कर सिद्ध हुई।

प्रश्न २—पन्त जी के प्रकृति चित्रण पर उदाहरण देते हुए विचार कीजिये।

उत्तर—हिन्दी काव्य क्षेत्र में पन्त जी का प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से अपूर्व स्थान है। अल्मोड़े की चित्रित घाटी में अवतरित और पोषित होने के कारण वे प्रकृति के उपासक ही नहीं वरन् अनन्य प्रेमी हैं। उनकी काव्य रचनाओं की आधार-शिला प्रकृति ही है। इसी आधार-शिला पर उनका काव्य-भवन खड़ा हुआ है।

प्रकृति पन्त जी की कविता की जननी और प्रेरक शक्ति है। यदि हिमालय की तलहटी पर कवि का जन्म हुआ होता तो संभवतः कवि को यह कहने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता कि "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक सौन्दर्य के दृश्यों को देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बनाकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" इससे स्पष्ट है कि प्रकृति-प्रेम ने कवि के मानस में एक अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया और इस अज्ञात आकर्षण ने सौन्दर्य भावना को। इसी लिये प्रकृति के मनोरम और विस्तृत क्षेत्र को छोड़कर मानव सौन्दर्य की संकुचित सीमा में बंदी होना उसे अभीष्ट नहीं। प्रकृति की ममतामयी गोद को छोड़कर वह कामिनी के केश-जाल में कैसे आबद्ध हो सकता है।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

इस प्रकार आरम्भ से ही पन्त जी ऐन्द्रियिक सौन्दर्य-भावना को पराभूत कर विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करते रहे हैं।

कवि प्राकृतिक सौन्दर्य को इतना अभिभूत होकर देखता है कि उसमें मानव और प्रकृति का तादात्म्य हो जाता है। सचराचर प्रकृति मानव के साथ मिलकर एक रूप हो उठती है। मधुकरी का मधुर राग कवि को मुग्ध करता

है और वे भी अनुनय पूर्वक अनुरोध करते हैं—

सिखा दो न, हे मधुप कुमारी,
मुझे भी अपना मीठा गाना।

'न' शब्द में कितनी उदारता, कितना अनुरोध है। पन्त जी प्रकृति के वैभव के प्रति आकर्षित होते हैं। उसमें मधुर स्वर्ग का आवास है जहां जीवन की बाधाएं दूर हो जाती हैं।

उनकी प्रारम्भिक रचना 'वीणा' में प्रकृति-प्रेम के साथ-साथ मानव के प्रति भी प्रेम मिलता है। दोनों ही इनके काव्य का विषय बनते हैं। अकस्मात् बाल-विहंगिनी का स्वर्गीय गान सुनकर वह आश्चर्यचकित हो प्रश्न करता है—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणी !
तूने कैसे पहचाना ?

प्रकृति में व्याप्त आकर्षण और सूत्र के आधार पर ही वे एक प्रेयसी की कल्पना करते हैं और उस कल्पित सुन्दरी की वियोग-गाथा के दर्शन 'ग्रन्थि' में मिलते हैं। इस प्रकार इनके ग्रन्थों में क्रमश: शिशुसुलभ सरलता से मादकता और मादकता से प्रौढ़ता प्रदर्शित होती है। कवि का प्रकृति-प्रेम अधिकाधिक गम्भीर होता जाता है और वह प्रकृति में उपदेश, महान् संदेश तथा अज्ञात प्रियतम का प्रतिबिंब देखने लगता है।

"विलोड़ित सघन गगन में आज
विचर रहा है दुर्बल घन भी धर कर भी,
बना है कहीं क्रुद्ध गजराज।"

पन्त जी ने वैसे तो प्रकृति की रंगस्थली पर कोमल कान्त दृश्यों का ही प्रत्यक्षीकरण कराया है, परन्तु कहीं-कहीं उसके उग्र रूप के दर्शन भी मिलते हैं–

पन्त जी के प्रकृति चित्रण की एक विशेषता है कि उन्होंने प्रकृति को सजीव-सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। उन्होंने स्वयं कहा है 'जब कभी मैंने प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त किया तब मैंने अपने आप को भी नारी रूप में अंकित किया है।' नौका-विहार में गंगा की शान्त धारा में एक

"सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल

लेटी है शान्त क्लान्त निश्चल,
गोरे अंगों पर सिहर सिहर लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर ।"

पन्त जी का यह प्रकृति-प्रेम काल, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार क्रमशः पतित होने लगा। एक समय था जब उन्होंने कहा था, 'कुसुमों के जीवन का पल हंसता ही जग में देखा' लेकिन आगे चलकर जब ये मानव के दुःख-दैन्य की पीड़ा से प्रभावित हुए तो प्रकृति के अशेष सौन्दर्य के प्रति उनकी जो भी आस्था थी, मानो अब धीरे-धीरे निलीन होने लगी। उन्होंने स्पष्ट कहा है

कहाँ मनुज को अवसर, देखे मधुर प्रकृति मुख ।
कब अभाव से जर्जर, प्रकृति उसे देगी सुख ।।

इस प्रकार प्रकृति के प्रति वीतराग की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई है और वह चिन्तनशील होता गया है। स्वर्णमय भविष्य की कल्पना, कामना में संलग्न कवि प्रकृति को धीरे-धीरे पीछे छोड़ता चला आया है, क्योंकि आत्म-चेतना के सोपान पार करके कवि ऊर्ध्व चेतना की ओर प्रयाण कर चुका है। आज उसकी दृष्टि में प्रकृति की अपेक्षा मानव का स्थान सर्वोपरि है। प्रकृति के सौंदर्य पर दृष्टि जाती भी है तो उसका मन वर्तमान मानव-सभ्यता और संस्कृति की जर्जरता को देख कर चीत्कार कर उठता है। वे 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' आदि में जैसे कवि का बाल प्राकृतिक भाव सर्वथा तिरोहित हो गया हो। यह सब कुछ होते हुए भी पन्त जी की सौन्दर्य चयन प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यही भावना आज भी उनके आधुनिक काव्य जीवन-पथ को प्रशस्त करती चली जा रही है। 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' की भावना का सर्वत्र प्राधान्य है। पन्त जी छायावादी से रहस्य-वादी और रहस्यवादी से प्रगतिवादी के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु प्रकृति की प्रेरणास्वरूप प्राप्त की गई सौन्दर्य-भावना उनके काव्य में बराबर लक्षित होती है।

प्रश्न ३—"पंत जी के काव्य में भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर सांमजस्य हुआ है।"—इस उद्धरण को ध्यान में रखते हुए पन्त जी के भावपक्ष और कलापक्ष पर विचार कीजिये ।

उत्तर—पन्त जी का हिन्दी के भावुक कलाकारों में एक विशिष्ट स्थान है। उनके काव्य में भाव और कला का सुन्दर सामंजस्य उपलब्ध होता है। पन्त जी का कवि प्रकृति की सुरम्य स्थली से प्रेरित हो कर काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ है, इसी से उनके काव्य में अनुभूति की गंभीरता, सुरम्यता, स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं।। पन्त जी के काव्य में सुन्दर का विशेष महत्त्व है यद्यपि वह सत्य और शिव से शून्य नहीं है। प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य में भी उनकी सुमन-चयन की प्रवृत्ति प्रमुख रही है। तभी तो आरम्भ से ही कवि की यह याचना रही है—

"नव नव सुमनों से चुन-चुन कर,
धूलि सुरभि मधुरस हिमकरण।
मेरे उर की मृदु कलिका में,
भर दे कर दे विकसित मन !

पन्त जी ने अपने काव्य को प्रकृति के कोमल रूपों से ही विशेष रूप से विभूषित किया है। विप्लवकारी दृश्यों की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं रमी है। पल्लव, वीचिजाल, मधुपकुमारी, किरण, छाया, पवन आदि प्रकृति के कोमल पक्ष की ओर इनकी सौन्दर्यमयी दृष्टि ने विहार किया है। यद्यपि इनकी 'परिवर्तन' कविता इस कथन का अपवाद है परन्तु उसका समाधान इस रूप में किया गया है कि किसी परिस्थिति विशेष के चक्र में पड़कर पन्त जी संसार के उस दूसरे छोर पर पहुँच गये होंगे, और यह उनकी प्रतिनिधि कविता नहीं कही जा सकती।

अल्मोड़े की चित्रित घाटी में पोषित यह कवि प्रकृति के रंग-रूपों में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उसका प्रत्येक क्रिया-कम्पन इसके हृदय और प्राणों में स्पन्दन भर देता है। प्रकृति का प्रत्येक अवयव उसकी दृष्टि में सजीव है, जो मानव के क्रियाकलापों को सदा सहयोग देता है। इस दिव्य अनुभूति के कारण वह प्रकृति के प्रत्येक क्रिया-कम्पन को देखकर हर्षविभोर हो उठता है। एक ओर वह पुंज-पुंज विहगों को देखकर हर्ष से अभिभूती हो उठता है—

विहग विहग
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज, चिर सुभग, सुभग।

तो दूसरी ओर छाया को तरु के नीचे एकाकिनी देखकर उसकी अवस्था पर दयार्द्र हो उठता है। पहले वह उसकी अवस्था को देख कर अपनी अवस्था से उससे सामंजस्य का विचार करता है, परन्तु शीघ्र ही वैषम्य का पता लगने के कारण असूयामिश्रित संतोष का भाव जागृत हो जाता है—

आह ! अभागिन हो तुम मुझसी, सजनि ध्यान में अब आया।
'तुम इस तरुवर की छाया हो, मैं उनकी पद की छाया।
विजन निशा में किन्तु गले तुम, लगती हो फिर तरुवर के।

❀ ❀ ❀

और हाय मैं रोती फिरती रहती हूँ निशदिन वन, वन।"

कितनी दीन वेदना है। अनुभूति जब कुछ गंभीर हो जाती है तो कवि को प्रकृति में एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव होने लगता है। उसे ऐसा जान पड़ता है मानो कोई उसे मौन निमन्त्रण देकर बुला रहा है। प्रथम रश्मि के स्पर्श से विहंगिनी के कलकण्ठ से गीतियां फूट निकलती हैं। इस पर कवि एक साथ विस्मित होकर कह उठता है:—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणी,
तूने कैसे पहचाना ?

कितनी गम्भीर अनुभूति है। किसी एक भाव का साक्षात् चित्र अंकित कर देना कवि की अनुपम कला का चातुर्य है।

प्राकृतिक सौंदर्य के अतिरिक्त कवि की शारीरिक सौन्दर्य संबन्धी अनुभूति भी बड़ी तीव्र है। शारीरिक सौन्दर्य का विलास तो ज्योत्स्ना के शयनागार में ही दर्शनीय है। हृदय की कोमल भावनाओं में एक प्रकार की गुदगुदी उत्पन्न कर देना कवि की कविता का विशेष गुण है। कल्पना का एक स्पर्श, रूप-रस-गन्ध आदि का एक टच किन भावनाओं को उद्दीप्त कर देता है, इससे पन्त जी पूर्णतया परिचित थे। किसी एक कल्पना व भाव द्वारा हृदय की ऊर्मिल प्रवृत्तियों को जागृत कर देना, कवि की सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। कवि की अनुभूति इतनी गंभीर है कि जहाँ कोई भाव उठा, तुरन्त ही उसे कलात्मक पाश में बाँध लिया:—

"आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण ! रहने दो यह गृह काज।"

इसी प्रकार 'वीणा' की अनेक कविताएं हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करने वाली हैं। परन्तु पन्त जी केवल गुदगुदा कर ही नहीं रह जाते, वरन उनमें मानव-हृदय की ईर्ष्यामय विवशता का कितना मार्मिक उद्गार है:—

"करुण है हाय प्रणय, नहीं दुरता जहां दुराव,
करुणतर है वह भय, चाहता है जो सदा बचाव।

अन्तिम पंक्तियों में कितनी गम्भीर कसकन है। 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कविताएं पन्त जी की किसी करुणा भार से प्रेरित हैं। उनमें हृदय का आवेश अजस्र-धारा की भाँति फूट पड़ा है। कवि का हृदय जब करुणापूर्ण विवशता के भार से दबने लगता है तो वह अपने वियोग में संसार को ही वियोगमय अनुभव करने लगा है। यहाँ तक कि वह कविता का उद्गम ही वियोग और करुणा के आँसुओं से घोषित कर देता है :

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

वियोगजन्य विकलता का कवि के मानस पर इतना गंभीर प्रभाव पड़ा है कि वह मानने लगता है कि कविता किसी वियोग-गान के रूप में प्रस्फुटित हुई होगी।

इससे स्पष्ट है कि पन्त जी के मुख्य रस करुण और शृंगार हैं। अन्य रस कल्पना की ही करामात हैं। पन्त जी ने आरम्भ से ही संयम का बड़ा अभ्यास किया है। 'पल्लव' का युवक कवि तो अवश्य आवेग के प्रवाह में बह गया है परन्तु बाद में उसमें संयम का अंकुश सा लग गया है। समय और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ कवि की कल्पना और चिन्तनशक्ति विकसित होती गई है। चिन्तन का इतना विकास हो गया है कि अनुभूति उसके भार से कुछ दबी हुई सी जान पड़ती है।

पन्त जी के भावों के चित्रण में कल्पना का प्राधान्य लक्षित होता है। कल्पना के बल से वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव को भी कलात्मक पाश में बाँध देते हैं। उनकी कल्पना का सबसे बड़ा गुण है उनकी मूर्तिविधायिनी शक्ति। यह शक्ति इतनी सबल है कि कवि के सम्मुख छोटी-छोटी वस्तु भी चित्ररूप में आ जाती है।

पन्त जी के काव्य में गीततत्व मिलता तो अवश्य है, परन्तु उतना सबल रूप में नहीं जितना कि अन्य गीतिकाव्यकारों में। वास्तव में पन्त जी आवेश-प्रधान कवि नहीं हैं। उनमें चिन्तन का प्राधान्य है। प्रभाव की वह प्रवणता एवं तीव्रता नहीं मिलती जो गीतिकाव्य का प्राण है।

कलापक्ष—पन्त जी के काव्य में भाव का सुन्दर एवं मार्मिक चित्रण तो है ही, साथ ही उसमें कला का प्राधान्य विशेष रूप से लक्षित होता है। वास्तव में पन्त जी प्रधान रूप से कलाकार हैं। उनके काव्य में सर्वप्रथम कला का, उसके उपरान्त विचारों का और अन्त में भावों का स्थान है। कलात्मकता में विशेष रूप से आकृष्ट करने वाली वस्तु है—चित्रण कला। कवि की कल्पना इतनी प्रखर है तथा उसकी अनुभूति इतनी तीव्र है कि उसके सम्मुख प्रत्येक जागृत हुआ भाव चित्र का रूप धारण कर लेता है। सुहाग की मधुमयी रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई नायिका का चित्र कितना रम्य एवं चित्ताकर्षक है :—

> **"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !**
> **विकम्पित उर मृदु पुलकित गात**
> **सशंकित ज्योत्स्ना सी चुप चाप,**
> **जड़ित पद नमित पलक दृग पात,**
> + + + +
> **लाज की छुईमुई सी म्लान**
> **प्रिय प्राणों की प्राण।**

प्रत्येक शब्द किस प्रकार सजीव चित्र की भांति जड़ा हुआ है। एक कुशल चित्रकार की कला इसी में है कि वह अपने चित्र में उन वस्तुओं का अंकन करे जो प्रभावोत्पादक और आह्लादकारी हों। पन्त जी की प्रतिभा इन सार वस्तुओं को शीघ्र ही ग्रहण कर लेती है। उन्होंने संध्या का जो 'बांसों' का झुरमुट और संध्या का 'झुटपुट' द्वारा चित्र अंकित किया है वह वास्तव में कवि की विलक्षण चित्रांकन कला का द्योतक है।

कवि की यह कला विकसित होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गई है कि उसने अनेक स्थलों पर एकशब्द-चित्र (एक ही शब्द में पूर्ण चित्र) अंकित किए हैं। उनकी 'नक्षत्र' कविता ऐसे सचित्र विशेषणों से परिपूर्ण है। 'स्तब्ध विश्व

के अपलक विस्मय' से अधिक व्यंजक नक्षत्र का चित्र और क्या हो सकता है। इसी प्रकार 'निर्भर' को 'मूक गिरिवर का मुखरित गान' कह कर नादमय चित्र अंकित किया है। ये चित्र भावुकता एवं अर्थगाम्भीर्य समन्वित भी हैं। 'बादल' को 'मेघदूत की सजल कल्पना' कहने मात्र से ही एक सकरुण प्रसंग स्मृति-पट पर अंकित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त पन्त जी को शब्दों की अन्तरात्मा का पूर्ण ज्ञान है। शब्दों की अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान पन्त जी को है, उतना हिन्दी के गिने-चुने कवियों को ही होगा। इसी कारण उनका प्रत्येक शब्द व्यंजनापूर्ण है। जो शब्द जहाँ जड़ दिया है उसका स्थान वहीं निश्चित हो गया है। पन्त जी की वर्ण-योजना भी बड़ी सूक्ष्म है। वे शब्द-चयन के बल पर वही दिखाते हैं जो एक कुशल चित्रकार रंग, छाया और प्रकाश के चित्रण से कर दिखाता है। कहीं-कहीं तो रूप, रस, गन्ध आदि का भी आभास मिल जाता है।

पन्त जी ने भाव, भाषा एवं स्वरैक्य के द्वारा जो ध्वनि-चित्रण किया है वह वास्तव में स्तुत्य है। इसके लिये इन्होंने स्वर और व्यंजनों का बड़े सूक्ष्म परीक्षण के द्वारा चयन किया है। ध्वनि चित्रण में व्यंजनों का प्राधान्य है। परन्तु जहाँ गति का चित्रांकन करना होता है वहाँ स्वरों का प्राधान्य है। 'विरह अहह कराहते इस शब्द को' में 'ह' की आवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रत्यक्ष ही कोई कराह रहा हो।

पन्त जी के अनुसार अलंकार काव्य के लिये अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक है। पन्त जी की कविताओं में उपमा, रूपक आदि अलंकार भाषा को विशेष रूप से अलंकृत करते हैं। छाया को मूर्त रूप देने के लिये कितनी सुन्दर अप्रस्तुत योजना हुई है—

तरुवर के छायानुवाद सी, उपमा सी भावुकता सी।
अविदित भावाकुल भाषा सी, कटी छटी नव कविता सी!

पन्त जी ने प्राय: प्रस्तुत मूर्त के लिये अप्रस्तुत अमूर्त का भी उपयोग किया है। इस प्रकार की उपमान योजना 'बादल' कविता में विशेष रूप से लक्षित होती है। इनके काव्य में अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों की भी छटा दर्शनीय है—

तरणि के ही संग तरल तरंग से,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

पन्त जी की भाषा में संस्कृत की व्यंजनापूर्ण पदावली होते हुए भी ब्रज-भाषा, फारसी और कहीं कहीं अंग्रेजी के शब्दों का भी पुट है। तद्भव एवं देशज शब्दों का चित्रोपमता की दृष्टि से प्रयोग किया गया है।

छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर कर उन्हें सजीव बना देते हैं। पन्त जी ने केवल मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। प्रचलित छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, रोला, चौपाई आदि ही कवि को रुचिकर प्रतीत होते हैं। ग्रन्थि में इन्होंने रन-ग्रौन-लाइन्स का भी प्रयोग किया ह। वैसे तो पन्त जी ने मुहावरों का प्रयोग न के बराबर किया है, परन्तु जहाँ कहीं भी किया है वहां वह अपनी विशिष्टता रखता है।

सारांश यह है कि पन्त जी की भाषा हिन्दी के परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। उसमें हिन्दी की समस्त शक्तियों का पूर्ण विकास है। उसका प्रत्येक पद चुस्त, गठित एवं सशक्त है।

प्रश्न ४—पन्त तथा निराला के काव्य को ध्यान में रखते हुए दोनों की तुलना कीजिये।

उत्तर—आचार्य-प्रवर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के द्वारा साहित्यिक क्रान्ति हुई। उसके फलस्वरूप खड़ीबोली काव्य के क्षेत्र में भी समादृत हुई। गद्य के क्षेत्र में तो उसकी प्रतिष्ठा पहले ही हो चुकी थी। आरम्भ में खड़ी-बोली-काव्य में इतिवृत्तात्मक एवं शुष्कता का होना स्वाभाविक था। परन्तु वह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। समय ने करवट बदली। कविता-कामिनी के सौभाग्य से महाकवि प्रसाद का आविर्भाव हुआ। उन्होंने उसे नवीन गति-विधि प्रदान की। उसमें मार्दव, भावुकता, कल्पना और सरसता का एक साथ संचार हुआ। स्रोत तो फूटा प्रसाद के प्रयत्न से परन्तु उसे विकास के पथ पर द्रुतगति से लेजाने के लिये अवतरित हुए दो महाकवि—निराला और पन्त।

इन दोनों महाकवियों का आविर्भाव प्रायः एक ही समय में हुआ। निराला सन् १८९९ में तथा पन्त उसके एक वर्ष पश्चात् सन् १९०० में

अवतरित हुए। उनके जन्मकाल के लगभग ही काव्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का विकास आरम्भ हुआ। सन् १९१६ के लगभग जब उन्होंने थोड़ा बहुत लिखना आरम्भ किया उस समय तक खड़ीबोली-काव्य की शैली पूर्णतः स्थिर नहीं हो सकी थी। प्रसाद ने उसे जो रूप दिया था उसे लेकर ही दोनों ने आगे बढ़ना आरम्भ किया। निराला जी का जन्म बंगाल में हुआ था, उन्होंने बाल्यकाल में ही बंगला साहित्य से परिचय प्राप्त कर लिया था। बंगाल ने बहुत पहले ही अंग्रेजी-साहित्य की शैली का बहुत कुछ अनुसरण कर लिया। पन्त जी ने अंग्रेजी का अध्ययन किया और उसकी गीति शैली से प्रभावित हो उन्होंने उसे अपना लिया।

उस समय खड़ीबोली-काव्य के सामने भाषा की दृष्टि से एक दुराहा था, यदि कवि खड़ीबोली में उर्दू, फारसी और अरबी के शब्दों का मिश्रण करने लगते तो वह 'हिन्दुस्तानी' का रूप धारण कर लेती तथा संस्कृत पदावली को ग्रहण करने से उसमें और ही प्रकार की साहित्यिक छटा आ जाती। इन दोनों ही महाकवियों ने दूसरे मार्ग को अपनाना समीचीन समझा। आरम्भिक कुछ कविताओं में चाहे भाषा उतनी संस्कृतगर्भित न हो परन्तु अधिकाँश कविताओं में संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक दीखता है। दोनों की भाषा का रूप इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा।

भारति, जय-विजयकरे! कनक सस्य कमल धरे।
लंका पदतल-शतदल गर्जितोर्मि सागर-जल॥
धोता शुचि, चरण-युगल-स्तव कर बहु अर्थ भरे!

(निराला)

स्वर्ग खंड ऋतु परिक्रमित, आम्र मंजरित मधुप गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम पिक कल कूजित उर्वर अभिमत हे।
दश दिशि हरित शस्य श्री हर्षित, पुलक राशिवत् हे,
जन भारत हे, जागृत भारत हे (पन्त)

यद्यपि हिन्दी-साहित्य में वैष्णव-भक्तों के द्वारा गीतों की अत्यधिक रचना हो चुकी थी, परन्तु इन्होंने उस गीति शैली को न अपना कर अंग्रेजी का लिरिक-शैली को ही अपनाया। निराला जी ने संगीत पर अपने ध्यान को

इतना केन्द्रित किया है कि कहीं-कहीं उनके काव्य में संगीत के आग्रह ने भावों की हत्या ही कर दी है। एक उदाहरण देखिये—

अभरण भर वरण-गान वन-वन उपवन-उपवन,
जाग छवि, खुले प्राण, मधुप-निकर कलरव भर।
गीत-मुखर पिक-प्रिय-स्वर स्मर-शर हर केसर-झर,
मधुपूरित गंध ज्ञान ॥

पन्त जी ने भी लय और गति का पर्याप्त ध्यान रखा है। उन्होंने अपनी शैली को सुसज्जित करने के लिये अंग्रेजी-काव्य के अनुसार लाक्षणिक, वैचित्र्य, अप्रस्तुत-विधान आदि को विशेष रूप से अपनाया है।

महाकवि निराला ने आरम्भ में छन्द को बन्धनमुक्त करने का साहस दिखाया। कविता-सुन्दरी को सम्बोधित कर उन्होंने कहा—

"प्रिय छोड़ कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।
गजगामिनी वह पथ तेरा संकीर्ण, कंटकाकीर्ण ॥"

आरम्भ में इस शैली का विरोध अवश्य हुआ किन्तु आगे चलकर यह अपनाई जाने लगी। पन्त जी ने भी अनेक कविताएं इसी शैली पर लिखी हैं।

निराला की शैली पर, जैसा हम संकेत कर चुके हैं, बंगला की काव्य-शैली का विशेष प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप उनकी कविताओं में समस्त पदावली एवं क्रियापद के लोप का आधिक्य दीख पड़ता है। पन्त की तरह लाक्षणिक वैलक्षण्य लाने की प्रवृत्ति इनमें अधिक नहीं है।

दोनों महाकवियों की शैली पर थोड़ा सा विचार करने के अनन्तर हम इनके भाव-पक्ष पर आते हैं। पन्त का जन्म अल्मोड़ा जैसे प्रकृति के सुन्दर प्राङ्गण में हुआ था। बाल्यकाल से ही वे प्रकृति-सुन्दरी के कोमल क्रोड़ में पले थे। साहचर्य के कारण प्रकृति उनकी अपनी बन गई थी। इससे स्वभावतः उनके काव्य में सबसे अधिक वर्णन यदि किसी का हुआ है तो प्रकृति का। जब कवि स्वयं प्रकृतिमय हो गया है तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अपने हृदय का दर्शन हो इसमें आश्चर्य ही क्या है। निराला ने प्रकृति-चित्रण पर ध्यान दिया है पर दोनों के प्रकृति-चित्रण में अन्तर है। निराला स्वामी विवेकानन्द और कवि सम्राट् रवीन्द्र के साहित्य से प्रभावित थे। बाल-काल से

ही उनकी विचार-धारा में वे डुबकी लगा चुके थे। अतः उनके प्रकृति-चित्रण में अद्वैतवाद संबंधी वेदान्त का पुट मिल गया है। प्रकृति के प्रतीकों का प्रयोग निराला ने जीवात्मा और परमात्मा के लिये किया है। उनके मिलन का चित्रण उन्होंने इतना खुलकर किया है कि हम वेदांत की विचारधारा का आरोप ऐसी कविताओं में न करें तो अश्लीलता में वे रीतिकालीन कवियों की शृङ्गारिक कविता से भी अधिक दीख पड़ें। पंत में प्रकृति का चित्रण करते समय यदि रहस्यवाद आ जाता है तो वह अत्यन्त स्वाभाविक दिखाई देता है। 'मौन निमन्त्रण' कविता इसका अच्छा उदाहरण है। निराला की कविताओं में स्पष्ट रूप से वेदांत दीख पड़ता है पर पन्त इस प्रकार के 'वाद' के बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं। यह दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त दोनों के काव्य में प्रेम की टीस, निराशा-आशा की छाया तथा आगे चलकर करुणा और देशभक्ति के भी दर्शन होते हैं।

दोनों ही महाकवि अपने बदलते युग के साथ बदलते रहे हैं। यह साहित्य के लिये स्वस्थ चिन्ह है। पंत की आरम्भिक कविताओं में ऐसा दीख पड़ता है मानों कवि की अपने हृदय की वेदना उसके काव्य में झलक रही है। सौंदर्य, प्रेम, और वेदना उसके लक्ष्य हैं। धीरे-धीरे अपनी वेदना से हट वह जगत् की वेदना से पीड़ित होता है। वह देखता है और चाहता है—

जग पीड़ित है अति दुःख से, जग पीड़ित रे अति सुख से।
मानव-जग में बट जावें दुःख सुख से औ सुख दुख से॥

वह जगत् में सुख-दुःख का सम विभाजन चाहता है। यह विभाजन कैसे हो? इसका हल क्या है? उसे लगता है गांधीवाद से इसका हल हो सकता है। वह आगे बढ़कर उसका स्वागत करता है। चरखा देखते ही सहसा उसके हृदय से यह स्वर फूट पड़ता है—

नग्न गात यदि भारत माँ का,
तो खादी समृद्धि की राका,
हरो देश की दरिद्रता का,
तम, तम, तम! भ्रम, भ्रम, भ्रम!

परन्तु उसे गाँधीवाद में देश के दैन्यदलन की पूर्ण सामर्थ्य न दीखी और वह साम्यवाद की ओर झुका। उसने पूंजीपतियों के प्रति कहा—

"वे नृशंस हैं, वे जग के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू इनसे शोषित !
जग जीवन का दुरुपयोग है इनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम हैं उनके क्षण !'

धीरे-धीरे साम्यवाद की भावनाएं इतनी प्रबल होती गईं कि कवि उसी का रंगीन चश्मा लगा कर सब वस्तुओं को देखने लगा। जिस ताजमहल के सौंदर्य पर सदा से कवि-समाज मुग्ध होता आया है, उसे देख कर कवि के मुख से ये शब्द निकल पड़े—

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।
शव को दें हम रूप रंग, आदर मानव का।
मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का।"

निराला का ध्यान भी देश की दलित दशा की ओर गया। उन्होंने कभी देश के प्राचीन खंडहरों के प्रति दृष्टि दौड़ाई, कभी प्राचीन वैभवसम्पन्ना दिल्ली से प्रश्न किया, कभी विधवा को देख दुःखी हुआ और कभी उसकी दृष्टि गई उस श्रमिक-पत्नी की ओर जो इलाहाबाद के पथ पर साँय-साँय करती दोपहरी में पत्थर तोड़ रही थी। निराला ने पन्त की तरह साम्यवाद को ग्रहण नहीं किया। पन्त की इस प्रकार की कविताओं को देख कर आलोचकों को सन्देह होने लगा था कि कहीं 'वाद' के चक्कर में पड़कर हिन्दी के ये सुकुमार कवि अपने कवि रूप को न खो बैठें। अब पंत जी की आधुनिकतम रचनाओं को देख कर ऐसा लगता है कि उनकी वाणी ने फिर एक मोड़ लिया है।

इस प्रकार ये दोनों महाकवि आधुनिक हिंदी साहित्याकाश के दो देदीप्यमान नक्षत्र हैं। निश्चय ही इन दोनों की कान्ति ने हिंदी को प्रकाशपूर्ण बनाया है। दोनों महाकवि माता भारती के भंडार को और भी अमूल्य रत्नों से भरें यही कामना है। तथास्तु !

प्रश्न ५—कविवर पंत के काव्य को ध्यान में रखते हुए उनकी विचारधारा के विकास क्रम को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—कवि एक कल्पनाजीवी प्राणी होता है। वह अपने परिवेष्टन का अध्ययन करता है और उसे अपनी कल्पना का मनोरम आवरण पहनाकर आकर्षक एवं कलात्मक रूप में अभिव्यक्त कर देता है। उसकी कल्पना का आधार वास्तविक संसार ही होता है। अतः किसी कवि विशेष की कल्पना के प्रेरक तत्वों को खोजने के लिये उसके जीवन के क्रमिक विकास पर दृष्टिपात करना चाहिए। कविवर पंत के कवि जीवन के विकास-क्रम का अध्ययन उनकी परिस्थितियों एवं वातावरण के द्वारा किया जा सकता है।

पंत जी को कविता करने की प्रेरणा सर्वप्रथम प्रकृति-निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय उनकी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि जीवन के पूर्व भी प्राकृतिक दृश्यों का एक अज्ञात आकर्षण पंत जी के हृदय को एक अव्यक्त सौंदर्य में तन्मय करके आनन्द विभोर कर देता था। पर्वत प्रान्त के शान्त वातावरण के प्रभाव के कारण कवि के भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह अवस्थित मिलती है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर उसे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया। इसी कारण आलोचकों का यह आक्षेप है कि पंत की कल्पना लोगों के सम्मुख आने में लजाती है। 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में वर्तमान है। प्रारम्भिक अवथा में कवि प्रकृति के वैभव से अत्यधिक प्रभावित था। प्राकृतिक छटा के समक्ष वह मानव सौंदर्य को हेय समझता है। तभी तो कवि कहता है—

> **"छोड़ द्रुमों को मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया,**
> **बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?**
> **भूल अभी से इस जग को !**

इस प्रकार के 'वीणा' के चित्रणों में कवि का प्रकृति के प्रति अगाध मोह मिलता है।

प्रकृति निरीक्षण से कवि को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में अत्यधिक सहायता मिली है। कवि प्रकृति को अपने से पृथक्, एक सजीव सत्ता रखने

वाली नारी के रूप में देखता है। कवि जब कभी प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव करता है, तब वह अपने को भी नारी रूप में अंकित कर देता है। साधारणतः प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने कवि को लुभाया है पर 'परिवर्तन' में प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण भी किया है। कवि ने मानव का सुन्दर पक्ष ही ग्रहण किया है जिससे कवि का मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से हटकर भावी समाज की कल्पना में निमग्न हो जाता है। इसका कारण यही है कवि संघर्षप्रिय एवं निराशावादी नहीं।

क्रमशः कवि ने गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। कविवर रवीन्द्र और श्रीमती नायडू की अंग्रेजी कविताओं से वह विशेष रूप से प्रभावित हुआ। संस्कृत के 'रघुवंश' जैसे ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इससे कवि की प्रतिभा एवं कल्पना निखर उठी। कालेज के विद्यार्थी जीवन में कवि पर शैले, कीट्स और टेनीसन प्रभृति अंग्रेजी कवियों का भी प्रभाव पड़ा। इससे कवि का शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध बढ़ा। इसी कारण 'पल्लव' में प्रकृति-सौंदर्य एवं प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना अति प्राञ्जल रूप में हुई। 'वीणा' और 'पल्लव' के रचना काल तक कवि का प्रकृति की महत्ता में पूर्ण विश्वास था परन्तु स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के अध्ययन से प्राकृतिक दर्शन से ज्ञान और विश्वास में अभिवृद्धि हुई। प्राकृतिक दर्शन मनुष्य को जीवन की क्षणभंगुरता का संदेश देकर उसे निष्क्रिय बना देता है अतः वह त्याज्य है। मनुष्य भाग्यवादी बनकर पतित होता चला जाता है। कवि की 'परिवर्तन' नामक कविता उसके इसी मानसिक परिवर्तन की द्योतक है।

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन;
यही तो है असार संसार, सृजन, सिंचन, संहार!

दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन से कवि के हृदय में निराशा और उदासीनता ने घर कर लिया। उसे जीवन के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी और वसंत के खिले सौंदर्य में पतझड़ का अस्थिपंजर—

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण,
'वही मधु ऋतु की गुञ्जित डाल

झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती, जीवन है भार।"

इस विचारधारा से कवि के सहज जीवन व्यतीत करने की भावना पर पुकार का आघात पहुँचा जिससे प्रभावित होकर 'पल्लव' के सुन्दरम् के स्थान पर 'गुंजन' में शिवम् की प्रतिष्ठा हुई। कवि अन्तर्मुखी हो उठा और उसकी कल्पना अधिक सूक्ष्म और भावात्मक हो गई। शिवम् की प्रतिष्ठा के कारण सत्यम् अज्ञात रूप मे आगया। कवि अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास खो बैठा और वह भावुक से बुद्धिजीवी बन बैठा। इस प्रकार कवि की प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौंदर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती गई। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में कवि की सौंदर्य कल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना में परिवर्तित हो गई। कवि प्रकृति के सौंदर्य से हटकर कह उठा—

"कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख।"

यहीं से कवि की काव्य साधना का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। जीवन के प्रति एक अन्तर्विश्वास कवि की बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा। कवि की भाषा में भी उस सौंदर्य का अभाव हो गया जो 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' तक मिलता था।

'युगान्त' में आकर कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। युगांत में छायावाद के युग के अन्त की सूचना है और है प्रगतिवाद के युग के अरुणोदय का आह्लाद। 'युगवाणी' में कवि के मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों का समन्वय मिलता है। इसमें भौतिकवाद और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के समर्थन के साथ ही साथ उसका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय भी किया गया है। उसने 'युगवाणी' में मध्ययुग की संकीर्ण नैतिकता का खण्डन करके जनता को नवीन जागरण का संदेश दिया है। सामन्त कालीन संस्कृति के अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों का परित्याग करके अपनी सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने का संदेश है। 'युगांत' और 'युगवाणी' की कविताओं में चिन्तन का प्राधान्य है।

उपर्युक्त विचारधारा ने 'ग्राम्या' को जन्म दिया । 'युगवाणी' प्रगतिवादी पंत का सिद्धान्त काव्य था, ग्राम्या उसका प्रयोग । 'युगवाणी' में पंत जी अपने नवीन सिद्धान्तों की रूपरेखा निश्चित कर रहे थे । सिद्धान्त अमूर्त होते हैं इसलिये 'युगवाणी' में इसमें पुष्ट मांस का अभाव है । 'ग्राम्या' तक वे सिद्धान्त स्थिर कर चुके थे और अब उन्होंने उसके प्रयोग के लिए मूल आधार चुन लिया था । 'पल्लव' में जिसने नारी के सम्बन्ध में कहा था—

मूंद पलकों में प्रिया के ध्यान को ।
थाम ले अब हृदय इस आह्वान को,

वही 'युगवाणी' में कह उठता है—

'मुक्त करो नारी को मानव, चिर बन्दिनी नारी को ।'

पंत जी का ग्राम्य दर्शन बौद्धिक सहानुभूति के आश्रित है, उसमें ग्राम-जीवन का निरीक्षण और आलोचन है, निमग्नता नहीं । ग्राम जीवन में घुल-मिलकर उसके भीतर से यह कविताएं नहीं लिखी गई । कवि एक तटस्थ दर्शक की भांति दूर से खड़ा देख रहा है । उसकी तटस्थता का कारण यही है कि उसने ग्रामीण जनता को रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है । एक मरणोन्मुख संस्कृति के अवयव स्वरूप में देखा और ग्रामों को सामन्त युग के खण्डहर के रूप में—

"यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित ।"

कवि की इस बौद्धिक सहानुभूति का अर्थ यह है कि उस में कवि भाव-मग्न नहीं होता । वह दोनों पहलुओं का संतुलित विवेचन करता हुआ दोषों के प्रति भी जागरूक रहकर अपने आलोचक की कल्याण कामना करता है । इसका प्रधान कारण यह है कि कवि के स्वभाव और सिद्धान्तों में एक बड़ी खाई है जिसे वह बुद्धि के द्वारा पाटने का प्रयत्न करता है । उसके स्वभाव की सौन्दर्यप्रियता जो जीवन के एकान्त में मनन और चिन्तन द्वारा पोषित होती रहती है अब भी उनकी दृष्टि में घुली-मिली है । इस कारण उनकी दृष्टि अब पूर्ण ग्रामीण नहीं हो सकती । उसके जीवन में साधारण व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा कम संघर्ष रहा है । भौतिक जीवन संघर्ष से दूर ही रहा है । फलतः संघर्ष की ओर बौद्धिक आकर्षण रखते हुए भी उसका हृदय उसमें निमग्न होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर सकता है ।

पंत जी प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का समानार्थी मानते हैं। छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन, अदृश्य शिखर पर कलाहीन विराम करने वाली कल्पना को पन्त जी ने इस उपयोगितावाद में एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती प्रदान की है। मधुर कल्पना के सुन्दर लोक में मनोहर संगीत का श्रवण करने वाले इस कलाकार को छायावाद से अरुचि हुई और उसने अपने गगन ताकने वाले कवि से कहा—

"ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
निस्पंद शून्य, निर्जन, निस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को ?
मानव पुण्य प्रसू को

इस दिशा में उनका पहला प्रयोग 'युगवाणी' है। 'युगवाणी' इस प्रकार से मार्क्सवाद का काव्य में रूपान्तर है। पंत ने मार्क्स के क्रान्तिकारी दर्शन का गंभीर अध्ययन और मनन किया है। नवीन संस्कृति युग-युग की प्राचीन संस्कृति की बेड़ियों को काट देगी—

"युग-युग के बन्दी गृह से मानवता निकली बाहर।"

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अधिकाँश रचनाओं में कवि मार्क्स के साहित्य और कला सम्बन्धी विचारों का काव्यात्मक उच्चार कर रहा था परन्तु द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप जब परिस्थितियों का वात-चक्र दूसरा रूप ग्रहण करने लगा तब कवि की भावधारा में एक आकस्मिक परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस प्रकार के परिवर्तन के फलस्वरूप पंत जी ने भारत के प्राचीन दर्शन की आध्यात्मिकता में पहुँचकर भविष्य में निर्मित होने वाले आदर्श समाज की कल्पनारचित रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस प्रकार की प्रवृत्ति सर्वप्रथम 'स्वर्ण किरण' में दिखाई पड़ी और फिर परवर्ती संग्रहों में वह अधिकाधिक पुष्ट होती गई। कवि की शारीरिक अस्वस्थता की मानसिक प्रतिक्रिया द्वारा भी उसके समक्ष मनुष्य की भौतिक असमर्थता की पोल खुल चुकी थी। निदान वह लोक संगठन के संचालन के समानान्तर ऊर्ध्व सांस्कृतिक संचरण के आन्दोलन को मानवता के कल्याण के लिये अनिवार्य समझने लगा।

कवि के विचार में मानव सभ्यता की विकृति का मूल कारण मनुष्य की बहिरन्तर शक्तियों का पारस्परिक द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व के फलस्वरूप अश्रु, स्वेद और रक्त से सना हुआ मानव-सभ्यता का इतिहास पीडन, शोषण तथा संघर्षण का प्रतिरूप बन गया है। इस प्रकार की सर्वग्रासी विषमता को दूर करने के निमित्त कवि मानव की नैतिक मुक्ति का पथप्रदर्शक बनकर प्रकट हुआ है। गांधी और योगिराज अरविन्द के जीवन-दर्शन पर कवि की आस्था दृढ़ हो चली है। इसी लिए 'खादी के फूल', 'युगपथ', 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में इन दोनों महान् विभूतियों के प्रति श्रद्धावनत होकर कवि ने अनेक कविताओं की रचना की है।

वर्ग-संघर्ष या वर्ग-युद्ध का निवारण करने वाला साहित्य हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि में प्रतिक्रियावादी और जनवाद का शत्रु है। परन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इस प्रकार की भ्रांत धारणा वादग्रस्त बुद्धि का दुराचार मात्र है। समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए वर्ग-संघर्ष ही अन्तिम उपाय नहीं है। इसी लिये 'उतरा' की भूमिका में यह कहा गया है कि सम्पूर्ण युग-संघर्ष को केवल वर्ग-संघर्ष में केन्द्रित करके देखना संकीर्ण दृष्टिकोण का परिणाम होगा। वर्गकटुता और शोषण से मुक्त जिस प्रकार का नया समाज भविष्य के गर्भ में है। उसका पूर्वाभास संक्रमणकालीन साहित्यकार जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित करता है---

'नग्न क्षुधातुर, जीवन्मृत भू के, असंख्य शोषित जन,
मानव तन को शोभावृत कर नवयुग का पदार्पण।

उपर्युक्त गतिरोध का समाधान कवि निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत करता है---

'बहिर्नमन विज्ञान हो महत
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत जी अधिक काल तक कृत्रिम वातावरण में नहीं रह सके। स्वर्ण-किरण में कवि का वास्तवरूप प्रकट हुआ है। युगवाणी और ग्राम्या में कवि के कृत्रिम रूप के दर्शन हुए थे। उनकी नवीन कविताओं में जन-संस्कृति के वैभव का सूक्ष्म सौंदर्य अंकित है। साथ ही वर्तमान संघर्ष के भीतर से ही अभिनव आदर्श समाज को देखने की चेष्टा की गई है। यहाँ कवि रूढ़िग्रस्त विचारों से मुक्त है।

आधुनिक कवि पन्त : व्याख्या–भाग

शशि किरणों से उतर-उतर कर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'प्रथमरश्मि' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। सूर्य के प्रकाश की प्रथम रश्मि के आगमन के पूर्व बाल-पक्षियों की चहचहाहट सुनकर कवि आश्चर्य चकित रह जाता है और बाल-विहङ्गिनी से पूछता है कि प्रथम रश्मि के आगमन की सूचना उसे किसने दी ? जिस समय वातावरण इस प्रकार था कि—

अपनी इच्छा से अनुरूप नानारूप धारण करने वाली परियाँ इत्यादि चन्द्रमा की किरणों का अवलम्बन लेकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर नवजात कलिकाओं के मृदुल मुख का चुम्बन करती हुई उन्हें मुस्कराना अर्थात् खिलना सिखा रही थीं उस अवस्था में हे रङ्गिणि ! तुझे प्रथम रश्मि के आगमन का पता कैसे लग गया और उसके स्वागत के निमित्त तूने अपना मनमोहक गाना प्रारम्भ कर दिया।

पंत जी मूलतः कल्पना के कवि हैं। नवजात कलियों के खिलने में उनकी कितनी सुन्दर कल्पना है कि वह उनके खिलने का कारण कामरूप नभचर द्वारा चुम्बन को मानते हैं। प्रस्तुत पद्य में पंत जी की भाषा कितनी परिमार्जित है। उसमें एक प्रकार की मसृणता एवं कोमलता है। यहाँ भाषा माधुर्य और प्रसाद गुण से पूर्ण है। 'उतर-उतर' में पुनरुक्ति प्रकाश है, 'मृदु मुख' में अनुप्रास की सुन्दर छटा है। खिलने के लिए मुसकाना शब्द कितना फबता है।

निकल सृष्टि के अन्ध गर्भ से
छाया-तन बहु छायाहीन
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक टोना नाना

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पन्त' की 'प्रथमरश्मि' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। आलोक की 'प्रथम रश्मि' के आगमन के पूर्व ही उसके आगमन का समय निकट आया जानकर बालविहङ्गिनी उसके स्वागत के निमित्त अपना मधुर गान छेड़ देती है। कवि बालविहङ्गिनी की इस क्रिया से आश्चर्य चकित रह जाता है और प्रथम रश्मि आगमन का पता उस विहङ्गिनी को किस प्रकार लग जाता है, इस रहस्य को जानने के लिए वह उत्सुक है। कवि अपनी कल्पना के बल पर आलोक की रश्मि से पूर्व रात्रि के अन्तिम प्रहर के वातावरण का चित्रण निम्न पंक्तियों में करता है—

उस समय सृष्टि अन्धकारमयी होती है और मानो उस अन्धकार से ही उत्पन्न होकर छायामय देहधारी और जिनके शरीर की कोई छाया नहीं पड़ती ऐसे दुष्ट राक्षस जादू-टोना करके अपने प्रपंचों का जाल रचते हैं। छायामय से आशय है कि उनका शरीर स्थूल न होकर सूक्ष्म होता है जिसे स्पर्श के द्वारा अनुभव नहीं किया जाता। यहाँ कवि का इससे अभिप्राय अंधकार में रहने वाली अनेक दुष्ट मायावी आकृतियों से है। जब सृष्टि का वातावरण इस प्रकार का था तो ऐसी स्थिति में हे रङ्गिणी ! तूने प्रथम रश्मि के आगमन के समय का अनुमान कैसे कर लिया ?

प्रस्तुत पद्य में पंत जी की रात्रि के वातावरण की कल्पना कितनी सुन्दर बन पड़ी है। 'अन्ध-गर्भ' में रूपक की सुन्दर छटा है। यहां पंत जी की भाषा कुछ संस्कृतगर्भित हो गई है परन्तु फिर भी क्लिष्ट नहीं हुई है।

है यह वैदिक वाद;
विश्व का सुख दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद—
गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण।
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण।

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'स्नेह' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। इसमें स्नेह का कुछ परिचय दिया है—

वैदिक युग ही सभ्यता का प्रथम युग माना जाता है। वैदिक वाद से अभिप्राय यह है कि वैदिक काल से चला आता हुआ वाद जिसका यहां अर्थ है अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित। कवि स्नेह का परिचय देता है कि यह अत्यन्त प्राचीन काल में ही अस्तित्व में आ गया था और तभी से चला आ रहा है। मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन को गति प्रदान करने वाली वस्तु स्नेह ही है जो विभिन्न स्थितियों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यह स्नेह ही संसार को सुख और दुःख में उन्मत्त करने का कारण है। अपने स्नेहभाजन का संयोग हमें सुख में विभोर कर देता है तथा उसका वियोग हमें दुःख के महोदधि में निमग्न कर देता है। स्नेह का स्वर एकतामय है अर्थात् यह पृथक्-पृथक् प्राणियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता रखता है। स्नेह के कारण वाणी को दृष्टि प्राप्त हो जाती है और नयन को वाणी प्राप्त हो जाती है। मन कानों तक आ जाता है और मन स्वयं बातें सुनने लग जाता है। स्नेह का कुछ ऐसा प्रभाव होता है कि उसके कारण असम्भव भी संभव हो जाता है। गोस्वामी जी की 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' वाली बात के अभाव की यहां पूर्ति हो जाती है। पंत जी में गिरा को नेत्र प्राप्त हो जाते हैं और नेत्रों को वाणी प्राप्त हो जाती है।

उड़ गया अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव-शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'पर्वत प्रदेश में पावस' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। इस पद्य में कवि ने पर्वत पर वर्षा होने का भव्य चित्रण किया है—

पर्वत पर स्थित बादल पक्षी के सदृश अपने पारे के समान श्वेत पंखों को फड़फड़ाकर ऊपर उठ रहे हैं। बादल का रंग कुछ श्वेत सा होता है। कवि बादल में पक्षी की कल्पना करता है और ऊपर उठते हुए बादलों को पक्षी का उड़ना मान लेता है। यहाँ कवि ने बादलों के स्थान पर भूधर (पर्वत) का ही उड़ना कहा है परन्तु भूधर से कवि का अभिप्राय पर्वत पर स्थित

बादलों से ही है। अब मूसलाधार वर्षा होने लगी जिसके कारण पर्वत पर सर्वत्र जल ही जल दिखाई देने लगा। पर्वत में से जो झरने फूट कर बह रहे थे अब उनका पृथक् अस्तित्व दृष्टिगत नहीं होता क्योंकि झरनों में से पानी निकलने के कारण वर्षा के पूर्व तो उनका पृथक् अस्तिव दिखाई देता था परन्तु वर्षा आरम्भ होने पर सर्वत्र जल ही जल हो गया अतः इस स्थिति में निर्झरों का केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है। उस शब्द के कारण ही उनके अस्तित्व का पता रहता है। मूसलाधार वर्षा के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश ही पृथ्वी पर टूट कर गिर रहा हो।

इस पद्य में प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त ने पर्वत प्रदेश की वर्षा का कितना सुन्दर चित्रण किया है। भाषा प्रसाद गुण से पूर्ण तथा प्रवाहमयी है। 'अपार पारद के पर' में अनुप्रास की सुन्दर छटा है। 'टूट पड़ा भू पर अम्बर' लुप्तोत्प्रेक्षा का सुन्दर उदाहरण है। कवि ने अपने कौशल के द्वारा थोड़े से ही शब्दों में हमारी आँखों के समक्ष प्रकृति के एक दृश्य का सजीव चित्र खड़ा करने का सफल प्रयास किया है।

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं;
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'आँसू से' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। कवि की अपनी मान्यता है कि कल्पना, गान, छन्द और मधुर लय वेदनाजन्य होते हैं इसीलिये तो कवि कह उठा—

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान!

प्रस्तुत पद में कवि का कथन है कि कल्पना के मूल में हृदय को कचोटने वाली एक वेदना निहित रहती है। वही वेदना कल्पना की जन्मदात्री है। अगली पंक्ति में कवि कहता है कि गान दुःख अथवा अश्रुओं से उद्भूत होता

है। अभावजन्य आहों से सुरीले छन्दों का सृजन होता है। इस प्रकार माधुर्य मे मुक्तलय की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती अर्थात् उसकी सर्वत्र पहुँच है। कसकती-वेदना, अश्रु और आहें समस्त संसार में व्याप्त हैं। और इन्हीं से कवि कल्पना, गान और सुरीले छन्दों की उत्पत्ति मानता है अतः मधुर लय का कहीं भी अवसान नहीं हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं आदि कवि वाल्मीकि के हृदय से भी क्रौंचवध के अवसर पर कविता स्वतः फूट पड़ी थी। क्रौंच पक्षियों का जोड़ा अपनी केलिक्रीड़ा में मग्न था। सहसा एक निषाद ने अपने तीर से उनमें से एक पक्षी को मार गिराया। आदि कवि का हृदय इस दृश्य को देखकर करुणाभिभूत हो गया और उसके मुँह से यह छन्द निकल पड़ा—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती : समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

द्विरद-दन्तों-से उठ सुन्दर
सुखद कर-सीकर-से बढ़कर
भूति शोभित बिखर बिखर
फैल फिर कटि के-से परिकर
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर !

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'आँसू में' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। कविवर पंत मूलतः प्रकृति के कवि हैं। प्रत्येक प्रसंग में प्रकृति उनका साथ देतो है। अपनी कल्पित प्रियतमा के साथ विचरण करते हुए कवि ने जो पर्वतीय दृश्य देखा था उसका स्मरण कर रहा है—

इस पद्य में कवि ने बादलों के विविध रूप धारण करने का चित्रण किया है। हाथी के दाँत और बादल दोनों का रंग श्वेत होता है। कभी तो बादल हाथी के दाँतों के सदृश ऊपर उठते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और कभी हाथी की सूँड द्वारा फेंकी हुई बूंदों से भी अधिक सुखद अनुभव कराते हैं। कभी अपने जल के वैभव के मद से शोभायमान होते हैं और कभी विच्छिन्न हो जाते हैं। और कभी बादल फैलकर ऐसा रूप धारण करते हैं कि ऐसा प्रतीत

होता है कि वह पर्वत रूपी श्रेष्ठ हाथी का परिकर (फेंटा) हो। विभिन्न समयों में बादल अपने विविध रूप परिवर्तित करके पर्वत रूपी हाथी के विभिन्न अंगों तथा प्रसाधनों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार बादल विविध वेश धारण करके पर्वत को एक हाथी का रूप प्रदान कर देते हैं अर्थात् बादलों के विविध वेशों से युक्त पर्वत हाथी सा प्रतीत होने लगता है।

कवि ने निकट से प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। यही कारण है कि कवि पाठकों के नेत्रों के समक्ष एक सजीव चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुआ। कविवर पंत ने प्रकृति का साक्षात् निरीक्षण किया है किन्तु कवि ने अपनी कल्पना को कहीं भी पीछे नहीं रहने दिया। अपनी कल्पना के बल से कवि प्राकृतिक दृश्य को एक सजीवता प्रदान कर देता है। प्रस्तुत पद्य में संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग किया गया है। 'द्विरद-दंतों' 'कर-सीकर' तथा 'विविध वेश' में अनुप्रास की सुन्दर छटा है। 'बिखर-बिखर' में पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकार है। 'फैल फिर कटि के से परिकर' में उपमा सुन्दर बन पड़ी है।

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा ?

प्रस्तुत पद्यांश आधुनिक कवि 'पंत' की 'ग्रन्थि से' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। इसमें कवि अपनी प्रियतमा के साथ व्यतीत किये हुए मधुर क्षणों का स्मरण कर अपनी प्रियतमा को संबोधन करके कहता है—

यह प्रेम की कैसी अनोखी रीति है। प्रणय-सम्बन्ध का क्या विचित्र ढंग है कि इसमें सभी कार्य उलटे होने लगते हैं। प्रेमी अपने प्रेम पात्र को अपांगों अर्थात् कटाक्षों के द्वारा अधिक देख पाता है। साधारण व्यवहार में तो मनुष्य पूरी आँख के एक कोने से कम देख सकता है परन्तु प्रेम की रीति ही विचित्र है, इसमें आँख के कोने के द्वारा अधिक देखा जाता है। ज्यों-ज्यों प्रेमी दूर होता जाता है त्यों-त्यों वह अपने प्रेमपात्र के हृदय में अधिक घर करता जाता है। साधारण व्यवहार में हम देखते हैं कि जो वस्तु किसी वस्तु से दूर होगी वह उससे पृथक् ही होगी परन्तु प्रेम व्यापार में इसके विपरीत होता है। प्रेम

पात्र दूर होकर हृदय के अधिक निकट आ जाता है। जब प्रेमी और प्रेमपात्र का संयोग होता है उस समय एक दूसरे का आकर्षण इतना तीव्र रूप धारण नहीं करता जितना कि वियोग के समय। प्रेम व्यापार में प्रेमी प्रथम प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करता है, तदनन्तर परिचय प्राप्त करता है। प्रेम की उद्‌बुद्धि सर्वथा परिचयनिरपेक्ष होती है। इसी प्रकार का भाव कविवर रत्नाकर ने उद्धव शतक में गोपियों के द्वारा व्यक्त कराया है। इसमें हृदय को दर्पण मान-कर इस बात की व्यंजना कराई है—

"ज्यों-ज्यों बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान-मूरि
त्यों-त्यों धँसे जात मन-मुकुर हमारे में ॥"

प्रस्तुत पद्यांश की भाषा अत्यन्त सरल है। इसमें विरोधाभास की सुन्दर छटा है तथा 'पानी पी घर पूछनो नाहीं भलो विचार' वाले मुहावरे का यहाँ प्रयोग हुआ है। मुहावरे के प्रयोग से कविता में प्रभावोत्पादकता आ गई है।

भूमि-गर्भ में छिप विहंग से
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते सांस, छुटा जड़ पंक।

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'बादल' शीर्षक कविता से उद्‌धृत किया गया है। इस कविता में बादल आत्मकथा कहते हैं। वे अपने कृत्यों का वर्णन करते हैं—

बादल जब बरसते हैं तो वह पानी का रूप धारण कर लेते हैं। वह अपने इस रूप में पृथ्वी के गर्भ में छिप जाते हैं। और पक्षी के सदृश अपने रोम वाले पंखों को फैला कर अगणित ऐसे बीजों में प्राणों का संचार करते हैं जो अभी तक अंकुरित नहीं हो पाये हैं और उन्हें जड़ पंक से छुटकारा दिला देते हैं। वर्षा होने के उपरान्त पानी भूमि के गर्भ में विलीन हो जाता है। पानी से आर्द्र भूमि रोमांचित सी दिखाई दिया करती है। पानी का स्पर्श पाकर ही मिट्टी में पड़े हुए बीज अंकुरित होते हैं।

प्रस्तुत पद्य की भाषा संस्कृतगर्भित होते हुए भी प्रवाहमयी है। 'विहंग-से' में उपमा सुन्दर बन पड़ी है। 'सेते साँस' में अनुप्रास की सुन्दर छटा है।

यहाँ आत्मकथात्मक नूतन शैली के दर्शन होते हैं। पंत जी ने संस्कृत साहित्य के साथ-साथ अंग्रेजी कविताओं का भी अच्छा अध्ययन किया है। कालेज के विद्यार्थी जीवन में पंत जी पर शैले, कीट्स, टेनीसन आदि अनेक अंग्रेजी कवियों का प्रभाव पड़ा। पंतजी ने 'बादल' नामक कविता की प्रेरणा कदाचित् शैले की 'क्लाउड' शीर्षक कविता से ग्रहण की होगी।

अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयङ्कर
घुमा रहे हैं घनाकर जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर !
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्‌मण्डल !

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि पंत की 'निष्ठुर परिवर्तन' नामक कविता से उद्धृत किया गया है। प्राकृतिक दर्शनों के अध्ययन ने कवि को निराशावादी बना दिया। परिवर्तन जहाँ अनिष्टकारी होता है वहाँ लाभकारी भी हो सकता है परन्तु निराश कवि को परिवर्तन में विनाश ही दृष्टिगत होता है। परिवर्तन के द्वारा उपस्थित की गई दुर्दशा का अवलोकन करके कवि का संवेदनशील हृदय चीत्कार कर उठा और उसने परिवर्तन को निष्ठुर विशेषण से संबोधन करके उसके कुकृत्यों का दिग्दर्शन कराया।

इस पद्य में कवि ने परिवर्तन को सर्प के रूप में देखा। कवि उसको सम्बोधित ही इस प्रकार करता है—हे सहस्रों फण वाले नाग ! तुम्हारे न दिखाई देने वाले लाखों चरण इस संसार के घायल वक्षस्थल पर निरन्तर अपने चिन्ह छोड़ते जा रहे हैं। परिवर्तन के चरण अलक्षित इस कारण हैं कि उसका कोई स्थूल रूप नहीं वरन् अमूर्त रूप है। अत्यधिक मात्रा में (विषैले) झाग उगलती हुई तुम्हारी विस्तृत भयावह फुंकार महान् आकार वाली पृथ्वी के विशाल आकाश को झकझोर रही है। मृत्यु मानो तुम्हारा विषैला दाँत है। तुम्हारे दर्शन का परिणाम मृत्यु होना है। और एक कल्प

(सौ युगों का एक कल्प होता है) से दूसरे कल्प में समय का पदन्यास ही तुम्हारी केंचुली है । जिस प्रकार सर्प पुरानी कैंचुली को छोड़कर नई कैंचुली धारण करता है उसी प्रकार परिवर्तन एक पिछले कल्प का परित्याग करके नये कल्प में पदार्पण करता है। सर्प के लिये बिल होता है। समस्त संसार ही इस परिवर्तन रूपी सर्प का बिल है। सर्प प्रायः एक वक्र कुण्डली मार कर बैठा करता है। दिशामण्डल ही इस सर्प की कुण्डली है।

प्रस्तुत पद्य में कवि की भाषा भावों के अनुरूप हो गई है। कवि का शब्द-चयन ऐसा है कि उनका संघात उसी प्रकार के भयंकर वातावरण का सृजन करता है। संयुक्त वर्ण कवि के अभीप्सित भावों की सुन्दर अभिव्यञ्जना कर रहे हैं। इसमें सांग रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है। 'मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर, में लुप्तोत्प्रेक्षा भी है। यत्र-तत्र अनुप्रास की छटा भी विकीर्ण है। इस कविता में पंत जी ने नई ताल और लय का प्रयोग किया है ।

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम कुटिल, काल कृमि से घुल पल-पल,
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोत्पल बन वांछित कृषिफल !
अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ् मण्डल
नैश गगन सा सकल
तुम्हारी समाधि स्थल !

प्रस्तुत पद्यांश आधुनिक कवि 'पंत' की 'निष्ठुर परिवर्तन' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। प्राकृतिक दर्शनों के अध्ययन से कवि निराशावादी बन गया है। परिवर्तन जहाँ अनिष्टकारी होता है वहाँ लाभदायक भी हो सकता है परन्तु निराश कवि को परिवर्तन में विनाश ही दृष्टिगत होता है। परिवर्तन के द्वारा उपस्थित की गई दुर्दशा का अवलोकन करके कवि का संवेदनशील हृदय चीत्कार कर उठा और उसने परिवर्तन को निष्ठुर विशेषण से संबोधन कर के उसके कुकृत्यों का दिग्दर्शन कराया।

इस पद्यांश में कवि ने यही दिखाया है कि परिवर्तन संसार को किस-

किस प्रकार से पीड़ित करता है। अत्यधिक अरमानों से प्रफुल्लित संसार के मन रूपी कमल के कीड़े के समान कुटिल काल ! तुम प्रति क्षण उसे छिद्रों के द्वारा छान रहे हो। जिस प्रकार वृक्षों को लगने वाला कीड़ा वृक्ष के फल और पत्तों को छिद्रों से चलनी बना देता है उसी प्रकार यह परिवर्तन-रूपी कीड़ा कुटिल काल बन कर संसार के प्रफुल्लित मन को छान रहा है। हे निष्ठुर परिवर्तन ! तुम्हीं पसीने (परिश्रम) से सींची हुई सृष्टि की स्वर्णिम पकी हुई खेती को, जो कि किसानों का वांछित फल होता है, ओला बन कर विनष्ट कर देते हो। तुम्हारी भयंकर ध्वनि से निरन्तर धड़कते रहने वाला रात्रि के आकाश के सदृश भयावह जो इस पृथ्वी का दिशामण्डल है वही तुम्हारा समाधि स्थान है अर्थात् वहाँ तुम समाधि लगाए सतत बैठे रहते हो।

प्रस्तुत पद्य की भाषा संस्कृतगर्भित होते हुए भी अत्यन्त प्रवाहमयी है। 'मानस शतदल' में रूपक अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है 'कृमि से' में उपमा का अच्छा निर्वाह है। 'विपुल वासना विकच विश्व,—में अनुप्रास की सुन्दर छटा है। इस कविता में पंत जी ने नई लय और ताल का प्रयोग किया है।

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
हैं मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर।
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया, खोल निज पंख
सुभग, किस गुप्त-नीड़ में रे किस मग !
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल
छाया तरु वन में तम श्यामल।

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'एक तारा' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है।

इस पद्य में कवि संध्या के उपरान्त पदार्पण करने वाले रात्रि के अन्धकार का वर्णन कर रहा है। एक ओर सन्ध्या के व्यतीत होने का वर्णन है दूसरी ओर रात्रि के श्यामल अन्धकार के आगमन का वर्णन है। अब सन्ध्याकालीन स्वर्णिम आभा वाला सूर्य छिप गया और संसार विविध वर्णों वाली वस्तुओं से हीन हो गया अर्थात् अंधकार के कारण वस्तुओं का वास्तविक वर्ण अब देख नहीं पड़ता, सब कुछ काला ही काला दिखाई देता है। गंगा के स्वच्छ चंचल जल में किरणों का लाल कमल कुम्हला कर अपनी पंखुड़ियों को मूँद चुका अर्थात् अभी तक गंगा के स्वच्छ निर्मल जल में प्रतिबिम्बित होने वाला सन्ध्याकालीन स्वर्णिम सुर्य अस्त हो गया। गंगा के जल की लहरों पर जो सन्ध्याकालीन सूर्य की स्वर्णिम रेखाएं पड़ रही थीं वे सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा अन्धकार के आजाने पर नीलिमा में परिणत हो गईं। जिस प्रकार (किसी सुन्दरी के) अधरों पर की अरुणिमा अत्यत्रिक ठंड के कारण नीली हो जाती है। अभी तक सान्ध्य सूर्य वृक्षों की चोटियों पर बैठा हुआ सा प्रतीत होता था जैसे कोई पक्षी बैठा हो परन्तु अब वह स्वर्ण-विहंग (सूर्य) अपने सुन्दर पंखों को खोलकर उड़ गया अर्थात् दृष्टि से ओझल हो गया। पता नहीं वह किस गुफा रूपी घोंसले में किस मार्ग से चला गया। श्यामल अन्धकार जो प्रारम्भिक होने के कारण कुछ नीला-नीला और कोमल सा था वह मृदुल स्वप्नों से जगती के अंचल को भरकर वृक्षों के वन में छा गया।

कवि पंत मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उन्होंने कविता करने की प्रेरणा प्रकृति से ही ग्रहण की थी। अतः उनका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सजीव हो गया है। शब्दों के द्वारा कवि आँखों के सम्मुख प्रकृति का एक चित्र सा उपस्थित कर देता है। संध्याकालीन सूर्य को कवि ने लाल कमल बताकर अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यहाँ यह बात ध्यान रखनी होगी कि कमल भी सूर्य के अस्त होने के साथ ही कुम्हला जाता है। लहरों की स्वर्णिम रेखाओं के नीलिमा में परिणत होने की उपमा अधरों की अरुणिमा के नीले रंग में परिणत होने से कितनी सुन्दर बनी है। इस पद्य में कवि ने 'स्वर्ण-विहंग' सरीखे प्रतीकात्मक शब्दों का भव्य प्रयोग किया है। मृदु-

मृदु, नील-नील, कोमल-कोमल, पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार है। यत्र-तत्र अनुप्रास की सुन्दर छटा विकीर्ण है। भाषा में पूर्ण प्रवाह है।

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्‌गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'नौका विहार' शीर्षक कविता से उद्-धृत किया गया है। कवि ने गंगा में नौका-विहार किया है। उसी दृश्य का कवि ने अपनी लेखनी से चित्रण किया है। इस पद्य में कवि ने अधिकतर उस समय अपने हृदय में उठने वाले विचारों को ही अभिव्यक्त किया है।

ज्यों-ज्यों नाव किनारे की ओर जा कर पार लग रही है उस समय कवि के हृदयों में अनेकों विचार उद्‌भूत होते हैं। गंगा की इस अविच्छिन्न धारा के सदृश ही इस संसार का क्रम भी अविच्छिन्न ही है। इस जीवन का उद्‌गम भी शाश्वत है, उसका कभी अन्त होने वाला नहीं। इस जीवन की गति भी शाश्वत है और जन्म-मरण का संगम भी शाश्वत है। आकाश की नीलिमा, चन्द्रमा की रूपहली चाँदनी और छोटी-छोटी लहरों की चंचल क्रीड़ा सब शाश्वत हैं। इनमें किसी का भी अन्त नहीं होता। हे संसार के जीवन को खेने वाले नाविक! जन्म-मरण जो चिर है उसके दोनों ओर जीवन रूपी नौका का विहार शाश्वत होता रहता है। कवि प्राकृतिक दर्शनों के अध्ययन से निराशावादी हो गया था अतः वह संसार के इस शाश्वत अस्तित्व के ज्ञान को भूल गया था। जीवन के शाश्वत होने का प्रमाण पाकर कवि अपने आपको अमर समझने लग गया।

कवि गंगा की अविच्छिन्न धारा देखकर इतना प्रभावित होता है कि वह इस जगत् के शाश्वत क्रम में विश्वास करने लगता है और अभी तक प्राकृतिक दर्शनों के अध्ययन के प्रभाव से जो कवि के हृदय पर निराशा का साम्राज्य छाया हुआ था वह छिन्न-भिन्न हो गया। 'जीवन-नौका' में रूपक सुन्दर बन पड़ा है। यत्र-तत्र अनुप्रास की छटा विकीर्ण है। एक ही शब्द का अनेक बार प्रयोग पाठक को खटकता नहीं। भाषा प्रसाद गुण से पूर्ण है।

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आंखें हैं दो लावण्य-लोक,
स्वर्ग में निसर्ग-संगीत-सार !
पृथु उर, उरोज ज्यों सर सरोज,
बढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम-बन्धन,
पीनोरु स्कन्ध जीबन-तरु के,
कर, पद, अंगुलि, नख-शिख शोभन !

प्रस्तुत पद आधुनिक कवि पंत की 'मानव' शीर्षक कविता से उद्धृत किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में कवि प्रकृति को मानव सौंदर्य से श्रेष्ठ समझता था और कहता था—

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन ॥
भूल अभी से इस जग को !

प्रगतिवादी विचारधारा के प्रभाव से कवि मानव की ओर आकर्षित हुआ और कह उठा—

'सुन्दर हैं विहंग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सब से सुन्दरतम।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने मानव-सौंदर्य का ही वर्णन किया है। मानवशरीर की पतली नीली धमनियों में मदिरा से भी अधिक मादक रुधिर की धारा प्रवहमान है। उसकी आँखें मानो दो लावण्य लोक (सौंदर्य लोक) ही हैं। मानव के स्वर में प्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक संगीत का सार निहित है।

उसका विशाल वक्षस्थल और उस पर स्थित पयोधर सरोवर और कमल के सदृश हैं। (यहाँ नारी–सौंदर्य का वर्णन है)। लम्बी और सुगठित बलशाली भुजाएं साक्षात् प्रेम का बन्धन हैं। उसकी मोटी जंघाएं जीवन रूपी वृक्ष के तने के सदृश हैं। उसके हाथ, पैर, अंगुलियाँ और नख-शिख सब शोभनीय हैं।

इस पद में भाषा अत्यधिक संस्कृतगर्भित हो गई है। 'पृथु उर, उरोज ज्यों सर सरोज' में उपमा सुन्दर है। 'जीवन-तरु' में रूपक अलंकार है। यत्र-तत्र अनुप्रास की छटा दर्शनीय है, जैसे 'लावण्य-लोक', 'संगीत संसार', 'सर सरोज' में।

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय—
जिनकी ज्योति छटा के लक्षण से प्लावित आज दिगंचल,
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्ज्वल !

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पंत' की 'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक-कविता से उद्धृत किया गया है। कवि ने श्रद्धावनत होकर जगद्वंद्य महात्मा जी के प्रति उनके महत्व का निवेदन किया है।

कवि ने महात्मा जी को मृत्यु अथवा निर्वाण की ओर उन्मुख प्राचीन आदर्शों के दीप की अन्तिम लौ का उदय कहा है। जिस प्रकार दीपक जब बुझने वाला होता है तो उसकी शिखा एक बार ऊंची उठती है और फिर वह बुझ जाता है। इसी प्रकार प्राचीन आदर्श निर्वाण प्राप्त करने वाले थे। महात्मा जी उन प्राचीन आदर्शों की प्रतिष्ठा के समर्थक थे। कवि को विश्वास है कि आज के इस जनवादी युग में महात्मा जी के पश्चात् प्राचीन आदर्शों का समर्थन कोई नहीं करेगा इसीलिए कवि ने महात्मा जी को अन्तिम दीप-शिखोदय कहा है। कवि का विश्वास है कि प्राचीन आदर्श महात्मा जी के पश्चात् सर्वथा मिट जायंगे। महात्मा जी की एक क्षण की आत्मिक ज्योति की छटा से आज समस्त दिशाएं आप्लावित हैं। कवि का विश्वास है कि आज के जनवादी आदर्शों के सामने प्राचीन आदर्शों की पराजय ही मानव के लिए हितकर है क्योंकि प्राचीन आदर्श आज के लिए अनुपयुक्त हैं, आज

के युग में जनवादी आदर्शों द्वारा संसार का कल्याण हो सकता है। इसी कारण वह महात्मा जी द्वारा प्राचीन आदर्शों की प्रतिष्ठा के कार्य में उनकी असफलता को उनकी सफलता से अधिक लोकोज्ज्वल कहता है। क्योंकि प्राचीन आदर्शों की स्थापना में असफलता होने पर ही जनवादी आदर्श सफल हुए। जिनको कवि आज के युग के लिऐ उपयोगी मानता है। इस समय कवि जनवादी आदर्शों का समर्थक था।

इस पद में पन्त जी की भाषा भावों की अनुगामिनी बन कर आई है। भाषा संस्कृतगर्भित होते हुए भी प्रवाहमयी है।

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत-शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियां क्रुद्ध दे रहीं युद्ध निमन्त्रण।
सत्य न्याय के बाने पहने, सत्वलुब्ध लड़ रहे राष्ट्रगण,
सिन्धु तरंगों पर क्रय-विक्रय स्पर्धा उठ-गिर करती नर्तन।

प्रस्तुत पद्य आधुनिक कवि 'पन्त' की '१९४०' शीर्षक कविता से उदधृत किया गया है। इसमें कवि ने द्वितीय महायुद्ध का कारण बतलाया है —

एक ओर साम्राज्यवाद अपने पूर्ण विनाश के उपकरण जुटाकर अड़ा हुआ है अर्थात् युद्ध के लिए सन्नद्ध है और दूसरी ओर साम्राज्य की प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न हुई अवरुद्ध शक्तियां क्रुद्ध होकर साम्राज्य को युद्ध का निमन्त्रण दे रही हैं अर्थात् उसे युद्ध के लिये आह्वान कर रही हैं। सत्ता के लोभी राष्ट्रों के समूह सत्य और न्याय के कृत्रिम आवरण पहन कर परस्पर लड़ रहे हैं। समुद्र की तरङ्गों पर से चलने वाले व्यापार की स्पर्धा कभी ऊपर उठकर कभी नीचे गिरकर नृत्य कर रही है। अर्थात् युद्ध का एक प्रमुख कारण व्यापारिक प्रतिस्पर्धा भी है।

आधुनिक कवि : महादेवी

प्रश्न १.—महादेवी वर्मा के प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—महादेवी का काव्य-क्षेत्र अधिकतर रहस्य भावना से ही ओत-प्रोत है परन्तु आधुनिक रहस्यवाद को छायावाद का एक अङ्ग माना गया है। उनके रहस्यपूर्ण गीतों में वर्तमान युग के छायानुगीतों की छाया भी लक्षित होती है। उनके गीत रहस्य भावना से अनुरंजित होने पर भी वर्तमान प्रवृत्ति से वंचित नहीं हैं। उनमें पद-पद में छाया का रंग घुला-मिला दिखाई देता है। प्रकृतिस्थ अंगों से भावों का आदान-प्रदान ही उनकी उमड़ती हुई कवित्व-प्रवृत्ति की संतुष्टि नहीं है। प्रकृति के पीछे परोक्ष रूप में छिपी महान् शक्ति को पाने तथा उससे एकात्मता स्थापित करने की भी उनकी उत्कण्ठा है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि महादेवी जी उस रहस्य को जानने के लिये ही व्याकुल हैं और रंजित प्रकृति से सर्वथा उदासीन हैं। प्रकृति का रूप भी सुन्दर है परन्तु उसके पीछे छिपे महान् प्रियतम का रूप सुन्दरतम है। उसी सुन्दरतम रूप से एकात्म-भाव स्थापित करने के लिये कवि की आत्मा सदा व्याकुल और व्यग्र रहती है:—

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पथ से युग कल्प उसका छोर क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वाश घेरे?

इस प्रकार महादेवी की दृष्टि क्षितिज की सौन्दर्य सृष्टि का ही उपभोग नहीं करना चाहती, वरन् प्रकृति की सौदर्य-निधि के पीछे छिपी परोक्ष सत्ता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से देखना चाहती है। छायावाद की सीमा केवल प्रकृति और मानव के तादात्म्य तक ही है। उसके उपरान्त नहीं।

वास्तविक रूप में तो प्रकृति के द्वारा ही तृप्ति प्राप्त होती है। सरिता का कलकल नाद और चन्द्र की आकाश में छिटकी हुई चांदनी सब निराशाओं पर आशा की एक किरण छिटक देती है। पन्त, निराला और प्रसाद ने इसी

रूप में प्रकृति के स्वर्गीय स्वरूप का उपभोग किया है। प्रकृति की अनुरंजित शोभा पर मुग्ध होकर उससे परे जब वे उसके पीछे छिपी रहस्य सत्ता का अनुभव करते हैं, तब उनकी काव्य-रचना में रहस्य भावना के दर्शन स्पष्टतः हो जाते हैं। महादेवी जी ने भी प्रकृति के रंजित रूप को निहारा है परन्तु उनमें उस परम सत्ता के दर्शन शाश्वत रूप से मिलते हैं। अपर-प्रत्यक्ष की अपेक्षा उनमें पर-प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है।

छायावाद के अनुसार प्रकृति काव्य का अभिन्न अंग है। प्रकृति पुरुष का विराट् रूप है। उसमें निर्जीवता की अपेक्षा सजीवता के दर्शन कण-कण में व्याप्त हैं। इसमें जीव और प्रकृति का अन्योन्याश्रय संबंध है। यही अन्योन्याश्रितता भारतीय एकात्मवाद की आधार-भूमि है। महादेवी के अनुसार "छायावाद ने मनुष्य और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण प्रकृति मनुष्य को अपन दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।"

छायावाद का आरम्भ द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। छायावाद में कवि ने अपनी भावना का आरोप इतिवृत्तात्मकता की नीरसता से उद्वेलित होकर प्रकृतिस्थ उपादानों पर किया। सुख में प्रकृतिस्थ अवयवों में आनन्दनिधि को प्राप्त किया और दुःख में अश्रु-निपात का स्वर सुनना पड़ा। प्राचीनकाल में भी इस प्रवृत्ति की तीव्रता के दर्शन होते हैं। कवि अपनी भावना का आरोप प्रकृति के उपकरणों पर करता था अथवा भावातिरेक में अमूर्त को मूर्त रूप दे देता था। हिन्दी के आदि नक्षत्र सूर और तुलसी में भी यदा-कदा इसके दर्शन मिलते हैं। सीता जी के वियोग में भावातिरेक में राम खग, मृग और मधुकर श्रेणी से सीता जी का पता पूछते हैं। पीड़ा के घनीभूत हो जाने पर ऐसी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से देखी जाती है। महादेवी, प्रसाद तथा पन्त की काव्य रचनाओं में छायावाद की इस प्रवृत्ति के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। जब भौतिक जगत् इन्हें निराशा का प्रतिमूर्त दिखाई देने लगा तब कवि वहाँ से पलायन कर प्रकृति के विराट् और सुन्दरतम रूप से जा मिले। महादवी ने भी प्रकृति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है—

प्रिय ! सान्ध्य गगन, मेरा जीवन !

यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !
साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन
सन्ध्या का नभ से मूक-मिलन,
यह अश्रुमती हंसती चितवन !

कवयित्री का सान्ध्य गीत गगन से मानो तादात्म्य प्राप्त करना चाहता हो। 'अश्रुमती हंसती चितवन' में सन्ध्याकालीन आकाश में भिन्नवर्णी रेखाओं का चित्र सा अंकित हो जाता है। छायावादी प्रवृत्ति का यह उत्कृष्ट-तम उदाहरण है।

महादेवी जी प्रकृति में निहित सौन्दर्य को अपने प्रिय की छवि के रूप में देखती हैं। प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा प्रियतम में आत्मसात् करने का साधन मात्र ही है। वे उसमें उलझ कर नहीं रह जाती, इसलिये प्रकृति उनका साध्य नहीं हो पाई है, वह केवल साधन बन कर ही रह गई है। यही कारण है कि आत्मीयता का अनुभव होने से उनके छायानुगीत अनुभूतिप्रधान हैं। उनकी इस आत्मीयता का परिचय उनके काव्य में सर्वत्र मिलता है—

आज मेरे नयन के तारक हुए जलजात देखो !
अलस नभ के पलक गीले
कुन्तलों से पोंछ आई
सघन बादल भी प्रलय के
श्वास में मैं बाँध लाई,
पर न हो निस्पन्दता में चंचला भी स्नात देखो !

प्रस्तुत गीत में तारक, जलजात, बादल आदि का महत्त्व गौण है और भावना का अतिरेक ही लक्षित होता है।

शुक्ल जी ने छायावाद को 'कायावृत्ति का प्रच्छन्न पोषण' कहा है। इस

धारणा के अनुसार यदि महादेवी के गीतों की परीक्षा की जाय तो उनकी प्रेम साधना में 'छायावृत्ति' का आभास तनिक भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके गीतों में तो विरह की अनुभूति ही सर्वत्र व्याप्त है, विरह में ही वे अपने को 'चिर' समझती हैं। 'जिन प्राणों से लिपटी हो पीड़ा सुरभित चन्दन सी' उसमें भला कायावृत्ति अथवा वासना की गन्ध कब आ सकती है। हाँ, सौन्दर्य और प्रेम की अनुभूति का आदर्श स्वरूप उनके काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। सौन्दर्य और प्रेम की उत्कटता और अतिशयता का प्रमाण स्मित की रेखाओं से अथवा संयोगावस्था में नहीं आँका जा सकता वरन् अश्रुओं की रेखाओं से।

इसके अतिरिक्त उनके काव्य में प्रकृति का स्वरूप उद्दीपन के रूप में भी दिखाई देता है। उसमें निहित सौन्दर्य-निधि उनकी सुप्त भावनाओं को जागृत कर देती है। भावनाओं की उद्दीपनावस्था में वे अनुराग से पूर्ण होकर मीरा की भांति 'साँवरे के रंगराती' सी हो जाती हैं। तारकों की खिली चाँदनी को देखकर उन्हें ऐसा जान पड़ता है मानो उनके प्रिय का आगमन निकट ही है।

मुस्काता संकेत भरा नभ, अलि क्या आने वाले हैं ?

इस प्रकार छायायुगीन कविता भाव-प्रधान होने के कारण हमारे बाह्य जीवन की अपेक्षा मानसिक जीवन को अधिक प्रभावित करती है। लोक-कल्याण की भावना भाव-जगत् में ही अपना महत्व रखती है। महादेवी जी की कविता भाव प्रधान है और लोक-कल्याण का अप्रत्यक्ष रूप है।

प्रश्न २—सिद्ध कीजिये कि गीति काव्य की दृष्टि से महादेवी का काव्य अत्यन्त उच्च कोटि का है।

उत्तर—गीतिकाव्य का प्रवाह आदि काल से ही प्रवाहित होता चला आ रहा है। गाने और रोने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य कभी अपने आनन्दार्थ और कभी परहितार्थ गुनगुनाता और गाता चला आ रहा है। गीत वास्तव में उस क्षण-विशेष के भावातिरेक की अभिव्यक्ति हैं, जब मनुष्य के हृदयगत भाव असीमित होकर स्वयमेव ही गीतियों में प्रस्फुटित हो उठते हैं। भावातिरेक में हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति गीति काव्य का प्राण है। चाहे वह अभिव्यक्ति ग्राम्य गीत के रूप

में हो अथवा कृष्ण-प्रेम में मतवाली मीरा का आत्मनिवेदन हो। मनुष्य में इस प्रकार की गीतिपूर्ण प्रवृत्ति होने के कारण साहित्य क्षेत्र में भी इसकी सरस और निर्मल धाराएं सदा से प्रवाहित होती चली आ रही हैं। हिन्दी की इस गीति-कविता को अंग्रेजी साहित्य में 'लिरिक पोइट्री' कहा गया है।

गीत- रचना में एकरूपता, प्रवाहपूर्णता, आत्माभिव्यक्ति, आत्मनिवेदन और भावातिरेक, ये सभी विशेषताएं होती हैं। भावना की गीतिमय अभिव्यक्ति होने के कारण गीत प्रायः छोटा ही होता है। इसीलिये संक्षिप्तता भी गीतिपूर्ण रचना का प्राण है। एडगर एलेन पो ने कहा है कि "भावना की तीव्रता जो गीत को गीत बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है, एक लम्बी कविता में आदि से अन्त तक नहीं बनी रह सकती।" अतः एक ही आशय, एक ही भाव तथा एक ही स्थिति गीतिकाव्य का मूल है।

गीत हृदय और हृदयगत भाव की वस्तु है। चाहे तो वह कृष्ण के प्रेम में मतवाली मीरा का आत्मनिवेदन हो चाहे कबीर की निर्गुण ब्रह्म को पति मान कर पति के रूप में आराधना हो अथवा महादेवी के विरहोद्गार और करुण-उद्गार हों। इस प्रकार गीतिकाव्य का क्षेत्र हृदय से संबन्धित होने के कारण अत्यन्त व्यापक है। इसमें जहां अनुभूति की गम्भीरता आती है, वहाँ अभिव्यक्ति में स्वयमेव आकर्षण और प्रवाहपूर्णता आ जाती है। जिस प्रकार एकत्रित प्रभूत जलराशि वेग के साथ प्रवाहित होने लगती है और उस समय उसमें प्रवाहपूर्णता आ जाती है, उसी प्रकार भाव-तरंगों के उमड़कर प्रवाहित होने से उसमें अनुपम आकर्षण और मार्मिकता आ जाती है।

हिन्दी साहित्य क्षेत्र में गीतिकाव्य की अत्यन्त उल्लेखनीय कवयित्रियां हुई हैं। मीरा और महादेवी का काव्य संगीत के स्वरों में गूंजता हुआ अपने इष्टदेव के चरणों में समर्पित किया गया है। मीरा और महादेवी हिंदी काव्य-क्षेत्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गीतिकार हैं। जो गीतिकार होता है उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कलाकार भी हो। भाव और कला का सुन्दर सामंजस्य किसी विरले ही कवि में पाया जाता है। मीरा का काव्य भाव-प्रधान और कला-शून्य है। परन्तु महादेवी गीतकार और सफल कलाकार दोनों ही हैं। वे केवल भाव को अभिव्यक्त करके ही नहीं रह जातीं वरन् उस भाव को

स्पर्श कराने में भी वह सचेष्ट रहती हैं। उनके गीत में संक्षिप्तता, एकरूपता, और मार्मिकता के दर्शन होते हैं। यथा--

विरह का जलजात, जीवन विरह का जलजात,
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास।
अश्रु इसका दिवस चुनता अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात।
आंसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल,
तरल जल-कण से बने घन सा क्षणिक मृदु-गात।
जीवन विरह का जलजात।

मीरा की भांति महादेवी ने भी प्रथम पंक्ति में अपनी मानसिक अवस्था का परिचय दे दिया है। जीवन को विरह का कमल कहा है और विरह में ही चिर मिलन का आभास पाया है। जीवन को विरह का कमल कहने में उन्होंने आवृत्ति का प्रयोग किया है मानो एक बार कहकर उनके मन को शान्ति न मिली हो। इस प्रकार उन्होंने अपनी गहन वेदना का अत्यन्त सूक्ष्म चित्र अंकित किया है।

महादेवी जी की सभी कविताओं में गेयता कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनमें संगीत की टेक का अच्छा विधान हुआ है। 'जीवन विरह का जलजात' प्रत्येक पद के अन्त में दोहरा कर लिखा गया है जिससे उनकी घनीभूत पीड़ा की सुन्दर अभिव्यंजना हो जाती है।

गीतिकाव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें वैय्यक्तिकता होनी चाहिए। महादेवी जी के गीतों में सर्वत्र वैय्यक्तिकता का ही आभास पाया जाता है। उन्होंने सर्वत्र अपना ही राग अलापा है और अपने हृदय के करुण स्पन्दन को ही अङ्कित करने की इच्छा प्रकट की है। अपनी ही करुण कथा को कोमल रागिणी द्वारा आलाप कर अपने प्रियतम को अपनी ओर आकर्षित करना चाहा है। इसके अतिरिक्त उनके गीतों में एकरसता और एकरूपता भी पाई जाती है। कुछ लोगों ने इस विषय में आपत्ति उपस्थित की है कि कवयित्री को बीच में भाव-परिवर्तन करना चाहिए था। उनके इस कथन में सत्यता का कुछ अंश होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि महादेवी जी के गीतों को प्रबन्ध

काव्य की भाँति आदि से अन्त तक पढ़ने से यह आभासित होता है, वरन् उनके गीतों में आत्माभिव्यक्ति और एकरसता का जैसा सुन्दर चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।

गीतिकार के साथ-साथ महादेवी जी एक सफल कलाकार भी हैं। उनमें केवल भावातिरेक ही नहीं है, वरन् कला भावों को ऐसे रूप-रंग में रंग देती है जिससे पाठक या श्रोता भी उस भाव का वैसा ही अनुभव करें जैसा स्वयं महादेवी को हुआ है। जिन साधनों से महादेवी जी ने भाव को कलामय रूप देने का प्रयत्न किया है, वही उनकी कला है। 'सुन्दर' का सृजन भी उनके काव्य में भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ हुआ है। "इस जादूगरनी वीणा पर गा लेने दो क्षण भर गायक" तथा 'तारोंमय अम्बर' में उनकी सौन्दर्य भावना स्पष्ट रूप से अंकित हुई है।

कबीर की भांति महादेवी के आराध्य निर्गुण हैं। सगुण गायक तो अपने प्रिय के रूप-रंग से परिचित होते हैं और उसी के रूप-रंग में रंग जाते हैं परन्तु निर्गुण गायक अपनी अन्तरात्मा पर ही विशेष रूप से निर्भर रहता है। वह अपने आराध्य के स्वरूप की जैसी कल्पना करे वह मान्य है। महादेवी जी के आराध्य निर्गुण हैं और उन्होंने अपने आराध्य की आराधना माधुर्य-भावना के आधार पर की है। वे अपने प्रिय से समता के धरातल पर मिलना चाहती हैं। बाद में उनकी मिलन की इच्छा भी निवृति मार्ग की पथिक बनती गई है। इसका कारण है कि उनको विरह की पीड़ा मधुर जान पड़ती है। इसी से वे इसको खोना नहीं चाहतीं। जैसे-जैसे आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ता चला जाता है वैसे ही प्रेम का रंग उत्तरोत्तर गहरा होता चला जाता है।

कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित
कौन प्यासे लोचनों में, घुमड़ घिर झरता अपरिचित।

अपने प्रिय के रूप-रंग से अपरिचित होने के कारण ही महादेवी जी ने उसे 'कौन तुम मेरे हृदय में' कह कर संबोधित किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि महादेवी जी के गीतों में दार्शनिक तत्त्व के दर्शन होने पर भी उसमें संगीतात्मकता भी समान रूप से

पाई जाती है। महादेवी जी ने अपने कल कण्ठ से रागिणी का आलाप कर सरस्वती के चरणों में उसे सदा के लिये अर्पित कर दिया।

प्रश्न ३—मीरा और महादेवी के काव्य की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य को उन्नति पथ की ओर अग्रसर करने में केवल पुरुष सहृदयों का ही सहयोग नहीं रहा वरन् साहित्य-संसार की कवयित्रियां भी अनुपम कार्य करती रही हैं। मीरा और महादेवी ने तो अपने हृदय के सम्पूर्ण उद्‌गारों को कलामय रंग में रंगकर सरस्वती के पाद-पद्मों में अर्पित कर दिखाया है। भारत-भारती भी आज ऐसी अमूल्य निधि को पाकर अपने सौभाग्य क्षणों को सराहती है। गुप्त जी की वाणी भी उनके ऐसे महत्वपूर्ण क्रिया-कलाप को देखकर एक उत्कर्षपूर्ण शब्द-विधान कर गई है—

"अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

गुप्त जी की इस करुणापूरित वाणी में कितना अगाध सत्य है। इन दोनों नारियों ने हिन्दी साहित्य को अश्रुदान कर उसे रसाप्लावित किया है और उसे एक करुण अभिव्यक्ति दी है।

आश्चर्य और विस्मयजनक बात है कि इन दोनों कवयित्रियों में आकर्षक साम्य है। कुछ लोग तो इस साम्य के कारण महादेवी को आधुनिक मीरा के नाम से पुकारते हैं। दोनों महान् साधिका हैं और दोनों ने ही अपने हृदय के सम्पूर्ण अनुराग को बटोरकर परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दिया है। महादेवी और मीरा दोनों की आराधना में आराध्य के प्रति तीव्र विदग्धता है। दोनों ने ही परमात्मा को पति रूप में मानकर माधुर्य-भाव की भक्ति की है। उनकी भक्ति का चरम लक्ष्य उसी परम आत्मा में लीन हो जाना है। महादेवी में प्रिय की अन्तरात्मा में लीन होने की कितनी व्यग्रता दिखाई देती है—

"जब असीम से हो जायगा मेरी लघु सीमा का मेल,
देखोगे तब देव अमरता खेलेगी मिटने के खेल।"

दोनों कवयित्रियों ने अपनी असीम वेदना को गीतों में उतार दिया है।

साधिका दोनों हैं, कवि दोनों हैं पर फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है जिससे मीरा मीरा है और महादेवी महादेवी।

कबीर की भाँति मीरा ने परमात्मा को माता, पिता, पति आदि विभिन्न रूपों में नहीं देखा अपितु प्रियतम के रूप की ही आद्यन्त आराधना की है। महादेवी निराकार ब्रह्म की उपासिका है और मीरा साकार ब्रह्म की। दूसरे शब्दों में मीरा कृष्णोपासक है और महादेवी ब्रह्मोपासक। परमात्मा का बोध कृष्ण के व्यक्तित्व के रूप में और आत्मा का बोध गोपी के रूप में सहज ग्राह्य है। किन्तु रहस्य द्रष्टा कवि को प्रतीक आदि के सहारे इस तथ्य का निरूपण करना पड़ता है। कृष्ण वियोग में मतवाली मीरा के कलकण्ठ से अकस्मात् ही गीतियां फूट निकलती हैं—

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मेरे, कबहू न पायो चैन।
सबद सुनत मोरि छतियाँ काँपे मीठे मीठे बैन।
बिरह कथा कासे कहूं सजनी, वह गई करवट ऐन॥
कल न परत पल हरि मन जोवत, भई छमासी रैन।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटन सुख दैन॥

कितने सरल और सीधे-सादे शब्दों में मीरा सी साधिका ने अपने विरह-जनित हृदयोद्‌गारों का प्रकटीकरण किया है। वास्तव में मीरा का कर्त्तव्य कवि-कर्म नहीं है वरन् आत्मनिवेदन मात्र है यद्यपि उनका आत्मनिवेदन भी कला से पूर्ण है तथापि उनका उद्देश्य दूसरा ही था।

महादेवी की साधना में तल्लीनता, तन्मयता और भावोन्मादकता के साथ साथ सौन्दर्य का पूर्ण योग है। उनके गीत उनकी कलात्मक प्रतिभा के सहारे केवल पूजा-आरती के गीत न होकर साहित्य की अनुपम निधि भी हैं। भावना के साथ-साथ भावाभिव्यक्ति में कला का कितना सुन्दर योग है—

"इस चितवन की अमिट निशानी अंगारे का पारस पानी,
इसको छूकर मोह तिमिर, लिखने लगता हैं स्वर्ण कहानी,
किरणों के अंकुर बनते यह जो सपना बीता है।"

मीरा भावोन्माद में प्रिय-मिलन के लिये अभिसारिका के रूप में जाती है

और बस उस आनन्दानुभव में सांवरे के रंग में मदमाती होकर पग में घूंघरू बांध कर नाचने में ही लवलीन हो जाती है। परन्तु महादेवी भी मीरा सा आनन्द लूटने से वंचित न रहीं। वे तो पीड़ा में ही प्रिय सुख का अनुभव करती हैं क्योंकि वह प्रिय प्रदत्त है। इसलिये वे शृंगार आदि का वर्णन पीड़ा और वेदना की कसक को उद्दीप्त करने के हेतु करती है—

"शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन
विरह का इतिहास कहतीं जो सुभग पाते कभी सुन।"

इस प्रकार उनकी पंक्तियाँ भी अतल हृदय की वेदना को अभिव्यक्त करती हैं।

महादेवी जी पर मीरा की असीम भावुकता और सहृदयता का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि "जीवन की ऐसी ही पार्श्व भूमि पर मां से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पदरचना आरम्भ की थी।"

महादेवी और मीरा के काव्य में अनेक स्थलों में एक ही भाव की छाया दिखाई देती है। परन्तु महादेवी का दृष्टिकोण साधिका के साथ-साथ कलाकार का भी है। मीरा पहले साधिका, और कविपक्ष उसका गौण है। महादेवी कल्पनामयी है और मीरा में अनुभूति की तीव्रता है। जहाँ तक त्याग और साधना का प्रश्न है वहां मीरा महादेवी को बहुत पीछे छोड़ देती है मीरा की तन्मयता और तल्लीनता हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

साहित्यिक काट-छाँट और कला की अभिव्यक्ति में मीरा महादेवी से कहीं पीछे रह जाती है। माधुर्य भाव दोनों में है। परन्तु दोनों की तन्मयता में अन्तर है। महादेवी की तन्मयता एक कलाकार की तन्मयता है। मीरा की कविता में मीरा का साधिका-रूप सजग है।

मीरा ने अपने काव्य में जड़-जगत् के स्थूल चित्र अधिक लिये हैं। महादेवी ने निराकारोपासना की अनुगामिनी होने के कारण जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे अधिक सूक्ष्म तथा भावनाओं की कोटि में अधिक ऊंचे हैं। यद्यपि दोनों साधिकाओं ने काव्य को अपने करुणाश्रुओं से रसाप्लावित किया

है तथापि दोनों के अश्रुओं में अन्तर है। महादेवी "नीर भरी दुःख की बदरी" होकर रहती हैं और मीरा 'प्रेमदिवाणी' होकर। महादेवी संसार में रत रह कर भी प्रिय की योग-साधना में तल्लीन रहती है और मीरा ने सम्पूर्ण विश्ववैभव का त्याग कर एक कृष्ण का ही वरण किया है। मीरा त्यागी है और महादेवी लोकसंग्रही। वैसे दोनों के काव्य में मधुरता है, तन्मयता है और संगीतात्मकता हैं। मीरा भवपीड़ा से व्यथित है, वह इससे दूर प्रियतम में लीन होना चाहती है। किन्तु महादेवी ने पीड़ा से ही समझौता सा कर लिया हैं 'प्रियतम से कम मादक पीर नहीं।" महादेवी को यदि प्रिय मिल भी जायं तो वह पहले उनमें पीड़ा ढूंढेगी। उसने तो स्पष्ट कहा है—

"तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।"

इस प्रकार दोनों महादेवी और मीरा में आत्मसमर्पण की भावना उच्चतम कोटि पर पाई जाती है। लेकिन मीरा के गीतों में जो टीस है, जो दर्द है और जो भावना की तीव्रता पाई जाती है वह महादेवी के गीतों में भी नहीं है और न ही सूर, विद्यापति और जयदेव के गीतों में। महादेवी के गीतों में भाव और कला का जैसा सुन्दर सामंजस्य उपलब्ध होता है वसा अन्यत्र नहीं। अतः दोनों साधिकाएं अपने युग और परिस्थिति के अनुसार महान् साधिकाएं हैं। फिर भी मीरा के गीतों की तीव्रता और अनन्यता अनुपम है।

प्रश्न ४—महादेवी के काव्य की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य के अमर कलाकारों में महादेवी जी का महत्व-पूर्ण स्थान है। वे मीरा की भाँति साधिका भी है और इसके साथ-साथ उनका कलाकार का रूप भी विशेष रूप से ज्योतिपूर्ण है। उनके काव्य का अध्ययन व अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी कलामयी सौन्दर्य पूर्ण प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। महादेवी जी का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कलाकारों में नाम परिगणन किया जा सकता है, जिनकी कला को किसी भी परिभाषा पर खरा उतारा गया है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही कला का अन्तिम स्वरूप है, जो महादेवी के काव्य में पूर्णतः परिलक्षित होयी है। भावना की अतिशयता में वे कला का प्रकटीकरण करने में सचेत रहती हैं और दूसरी ओर कला के प्रदर्शन में भी इतनी लवलीन नहीं हो जातीं कि उनका काव्य भावनारहित होकर निष्प्राण सा रह जाय। कला और भाव के

सन्तुलित समन्वय में ही काव्य की सफलता होती है। कला की किसी भी परिभाषा के अनुसार यदि महादेवी के काव्य को परखा जाय तो वह कसौटी पर पूरा उतरता है। जानसन के अनुसार कविता छन्दात्मक रचना को कहते हैं। महादेवी की कविता छन्दात्मक तो अवश्य है परन्तु छन्दात्मक रचना निष्प्राण भी हो सकती है। महादेवी की रचनाओं में इस अभाव की पूर्ति भी पूर्णतः लक्षित होती है। उनमें जीवन-स्पन्दन पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है।

कार्लाइल के अनुसार काव्य संगीतात्मक विचार हैं। परन्तु यदि विचार अपनी बौद्धिकता के कारण संगीत को दुर्वह अथवा बोझिल बना दे तो काव्य में उसके लिए स्थान नहीं है। अतः दूसरी परिभाषा के अनुसार काव्य सौंदर्य की संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। महादेवी जी के काव्य में इन सभी तत्वों का सन्तुलित समावेश हुआ है। छन्द, भावना, कल्पना, संगीतात्मकता एवं सौंदर्य का सुमधुर सामंजस्य इनकी कविता में प्रचुर मात्रा में मिलता है। रस्किन' के अनुसार काव्य में भावना की उच्चता और महानता का होना भी अनिवार्य है। महादेवी के काव्य में भावना की उत्कर्षता के भी पूर्णतः दर्शन होते हैं। इस प्रकार कला संबंधी सभी परिभाषाएं उनके काव्य पर इस प्रकार घटित होती हैं, मानो महादेवी का उनके प्रति महान् उत्तरदायित्व हो, और उनका उन्होंने पूर्ण चित्राङ्कन किया हो। मेटरलिंक के अनुसार "कला में दुःख को सौंदर्य से अनुप्राणित करने की शक्ति है।" यह परिभाषा महादेवी के काव्य पर पूर्णतः घटित होती है। महादेवी जी ने व्यक्तिगत वेदना को सौन्दर्य का परिधान पहना कर व्यक्त किया है।

महादेवी ने अपने गीतों का विषय प्रिय-वियोगजनित वेदना को ही चुना है। सूर ने यदि कृष्ण-वियोग से व्याकुल गोपियों की पीड़ा को सौन्दर्य से अनुप्राणित कर काव्य में प्रस्तुत किया है तो महादेवी जी की प्रिय-विरह जनित पीर ही उनके रहस्यगीतों में मुखरित हो उठी है। परन्तु अपने अतिक्रन्दन को सीधे-सादे शब्दों में रख देना ही कला का कर्त्तव्य नहीं है, वरन् सांकेतिक ढंग से सुप्त भावनाओं को जागरित कर देना ही कला का कर्त्तव्य है। गीतकार को अपनी करुण भावना को इस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए जिससे हमारी हृदयतन्त्रियाँ अकस्मात् ही झंकृत हो उठें। जिस भाव की अनुभूति कला-

कार को जिस रूप में हुई है उसी रूप में पाठक अथवा श्रोता को भी हो। महादेवी ने इसी सांकेतिक शैली का प्रयोग किया है। सुन्दर प्रतीकों का अवलम्ब लेकर वे हमारी सुप्त भावनाओं को पुनः जागृत कर देती हैं।

"मुस्कराता संकेत भरा नभ,
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?"

में नभ की मुस्कान से प्रिय के आगमन की सूचना मिल जाती है।

कवि के काव्य की दूसरी एवं महत्वपूर्ण कलात्मकता है उसकी चित्रोपम शैली। छायावादी कवि होने के नाते कवि ने अपने सूक्ष्म भावों का प्रकृति के उपादानों से चित्र-सा अंकित कर दिया है। शब्द-चित्रों द्वारा कवि के सूक्ष्म भावों की अनुभूति भी स्वयमेव प्रकट होती जाती है साथ ही पाठक के सहजात भावों को भी स्पर्श एवं अनुप्राणित करती चलती है। पन्त जी शब्द-चित्र अंकित करने में अत्यन्त कुशल हैं। विशेष कर उनका छाया चित्र तो यथार्थता को लिये हुए है और सजीवता से पूर्ण है। इसी प्रकार के अनेक शब्द-चित्र महादेवी जी ने भी अंकित किए हैं।

"तन्द्रिल निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन,
प्राणों में भरने स्वर नवीन।"

महादेवी के शब्द-चित्र में रूप-रंग के चित्रण के कारण सजीवता आ गई है। उनमें न केवल संगीतात्मकता ही है वरन् रूप-रंग का भी सुन्दर विधान हुआ है। इसी कारण काव्य-कला को सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि "संगीत-कला की भांति केवल वह स्वरविधान ही नहीं, मूर्तिकला की भांति केवल स्वरूप ही वह नहीं स्थिर करती, चित्रकला की भाँति केवल रंगों पर ही निर्भर नहीं, वरन् वह सभी का एक सम्मिश्रित स्वरूप है तथा हमारी इन्द्रियानुभूति को वास्तविकता की तरह स्पर्श करती है।" महादेवी ने भी इसी प्रकार के अनेक शब्द-चित्र अंकित किए हैं। उनका वसन्त-रजनी का चित्र दर्शनीय है—

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी बन्धन शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुण्ठन, मुक्ताफल अविराम दे बिछा
चितवन से अपनी ; पुलकती आ वसन्त रजनी !

विशेषण तथा चित्रानुरूप भावों की अभिव्यंजना में सांग रूपक और समासोक्ति का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

धर कनक थाल में मेघ सुनहला पाटल सा,
कर बालारुण का कलश विहग रव मंगल सा
आया प्रिय पंथ से प्रात—
सुनाई कहानी नहीं मैं प्रिय पहिचानी नहीं''

इस गीत में सांगरूपक की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है । इसकी विशेषता केवल इसी में नहीं कि यह एक साकार चित्र सा उपस्थित कर देता है वरन् रंगों की योजना करने से यह और भी सजीव हो उठा है ।

मधुर भावना के अनुरूप ही उन्होंने भाषा को भी व्रजभाषा की मधुरता से रससिक्त किया है । वास्तव में खड़ी बोली को व्रजभाषा की मधुरता प्रदान करने का श्रेय महादेवी जी और पन्त को ही है । कर्कश एवं कठोर शब्दावली का बहिष्कार कर संस्कृत मिश्रित कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग इनकी भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है । उनकी इस विशेषता को देखकर उनकी कला को 'अनावश्यक वस्तुओं के बहिष्कार'' के अन्तर्गत रखा जा सकता है । वास्तव में कला में ऐसे ही उपादानों एवं उपकरणों का समावेश किया जाता है, जिनसे सौन्दर्यानुभूति पर किसी प्रकार का आघात न हो ।

महादेवी की गीतिपूर्ण रचना का अनुशलीन करने से ज्ञात होता है कि उनके गीत भी भावोन्माद एवं संक्षिप्तता से पूर्ण हैं । उन गीतों में उनका हृदय खुला पड़ा है । गेयता से पूर्ण होने के कारण आरोह-अवरोह का अच्छा क्रम लगा हुआ है ।

इसके अतिरिक्त अलंकारों का प्रयोग भी महादेवी जी का प्रशंसनीय है । अलंकार शोभा के लिये होते हैं न कि अलंकार के लिये । महादेवी जी के काव्य में अलंकारों का जैसा सफल एवं सरल प्रयोग मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं । उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिये रूपकों एवं उपमाओं का ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है कि वे भावों के एक अभिन्न अंग से बन गए हैं ।

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !

में रूपक की योजना उस करुण भावना के उद्दीपन के रूप में हुई है ।

इसी प्रकार उपमामूलक अलंकारों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग मिलता है।

महादेवी जी के काव्य की एक और विशेषता है—मानवीकरण की प्रवृत्ति, यह प्रवृत्ति प्रत्येक महान् कवि में और विशेष कर छायायुगीन कवि में पाई जाती है। महादेवी ने विशेष रूप से मानव के रूप में ही कल्पना की है। शेक्सपीयर की मानव-संबंधी यह कल्पना—"दुष्ट सागर का आक्रोशमय फेनिल मुख" महादेवी में भी पाई जाती है।

एक सुनहली ऊर्मि क्षितिज से टकराई बिखरी,
तम ने बढ़ कर बीन लिये वे लघु कण बिन तोले।

इसके अतिरिक्त व्यतिरेक और प्रतीप आदि अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

उनकी काव्य-प्रणाली की शैली संकेतात्मक शैली है। जिससे सुषुप्त भाव-ऊर्मियां भी तरंगित हो उठती हैं। इस शैली के द्वारा वह हृदयगत भाव और कल्पना का इन्द्रियगत प्रभाव उत्पन्न करने वाला चित्र उपस्थित कर देती है जो काव्य कला की एक अनिवार्य विशेषता है। इस प्रकार महादेवी जी की प्रणयानुभूति एवं विरहजनित वेदना जितनी तीव्र होती गई है, उनकी कला में वैसे उत्तरोत्तर विकास होता गया है। उनका कलात्मक विकास जितना स्वाभाविक एवं क्रमिक रहा है, उतना किसी अन्य कवि का नहीं।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिये कि महादेवी के काव्य में करुणा का प्राधान्य है।

उत्तर—महादेवी वर्मा का गीतिकाव्य क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। गीति-काव्य में हृदय की गम्भीर अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतर होकर कवयित्री के कल कण्ठ से फूट निकलती है तभी शुद्ध गीति का प्रणयन होता है। महादेवी जी के काव्य में दुःखवाद अथवा करुण का प्राधान्य है। इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति गीतिमय हो उठी है। उनके काव्य में कारुण्य की अधिकता के दो कारण हैं—पहली तो युग के नैराश्यपूर्ण जीवन की छाया और दूसरे बुद्ध भगवान् की फिलासफी का प्रभाव।

महादेवी जी के आरम्भिक गीतों में इसी व्यापक दुःखवाद की व्यंजना मिलती है। मानों बुद्ध भगवान् की करुणा विश्व-पीड़ा को देखकर नारी के

कल कण्ठ से करुणतम बन कर फूट निकली हो । इसी कारण जो विश्व-मंगल-कामना का संदेश बुद्ध भगवान् की वाणी में मिलता है वही महादेवी जी की काव्य-सरिता का मुखरित गान है । "बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्ति या अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था ।" इसी कारण से वे अपने चारों ओर दुःख और पीड़ा का ही प्रसार देखती हैं । उसका प्रभाव उनके जीवन में इतना व्यापक है कि वे पीड़ा के ही सहारे अपने प्रियतम को खोजना चाहती हैं—

मेरे बिखरे प्राणों में सारी करुणा ढुलका दो ,
मेरी छोटी सीमा में अपना अस्तित्व मिटा दो ।
शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा ।
तुमको पीड़ा में ढूंढा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा ।

यह करुण भावना कवि की अधिकांश रचनाओं में अनेक सुन्दर एवं मधुर रूपों में चित्रित मिलती है । उत्तरोत्तर यह करुण भावना विकसित एवं व्यापक होती गई है । उनकी व्यक्तिगत करुणा धीरे-धीरे समष्टिगत होती चली गई है । महादेवी जी इस करुणा में आपाद मस्तक मग्न हो गई हैं और यही करुणा ही उनके जीवन का संबल होती गई है । इस पीड़ा में उन्हें एक अनुपम एवं मधुर विकास का अनुभव होता है—

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा ,
तुमको पीड़ा में ढूंढा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा ।

प्रियतम के विरह में रोते-रोते उनका आंसुओं का कोष भी खाली हो चुका है—

"उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते ,
आँखों के कोष हुए हैं मोती बरसा कर रीते ।

वह इस पीड़ा को त्यागना भी नहीं चाहतीं क्योंकि वह प्रियप्रदत्त है । प्रिय-प्रदत्त होने के कारण उसमें मधुरता है, मादकता है और एक मधुर वेदना और टीस की रेखा है । इसी कारण वे उसी में ही लीन हो जाना चाहती हैं । उनके कल कण्ठ से यह रागिनी फूट ही निकलती है—

तुम अमर प्रतीक्षा हो, मैं पग विरह-पथिक का धीमा,
आते जाते मिट जाऊँ पाऊँ न पंथ की सीमा।

यह सब कुछ होने पर भी प्रियतम अज्ञात और अलक्ष्य है। उन्हें स्वयं ही प्रिय के आकार-प्रकार का ज्ञान नहीं। उस प्रियतम की अप्रत्यक्षता के कारण ही उसकी पीड़ा भी अनन्त और व्यापक तथा सीमाहीन है। फलतः प्रियतम को पाने की इच्छा से वह उर्मिला की भांति अपने आप को पीड़ा के पथ में परिवर्तित कर देना चाहती हैं। महादेवी जी को प्रिय-प्रदत्त इस पीड़ा से इतना अधिक मोह हो गया है कि उसकी समकक्षता में वह स्वर्ग को भी नहीं चाहतीं---

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार !
रहने दो हे देव अरे ! यह मेरा मिटने का अधिकार ॥

यद्यपि उनकी करुणा संयम की डोरों से बंधी हुई है, तथापि जितना गंभीरता इनकी कला में पाई जाती है उतनी किसी अन्य कवि की कविता में दुर्लभ है।

यद्यपि मीरा और महादेवी की करुणा में तीव्रता एवं गंभीरता आदि की दृष्टि से समानता है तथापि उनकी दृष्टिकोण सम्बन्धी भावना में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। मीरा की पीड़ा एवं करुणा की भावना गंभीर होते हुए भी वैयक्तिक है और महादेवी की करुणा व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर हो रही है। महादेवी की पीड़ा में एक रहस्यवादी करुणा-भावना है। यह करुणा इतनी स्वाभाविक है कि जीवन के साथ ही इस चक्र का विकास आरम्भ हुआ है।

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात रे

इस शाश्वत दुःख-भावना में समस्त मानव जाति को एक सूत्र में बाँध देने की क्षमता है। कवयित्री ने सागर की लहरों, निर्झरों तथा सजल मेघों में अपने ही आँसुओं का आभास पाया है---

मैं नीर भरी दुःख की बदरी विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली

इसी कारण उनके काव्य में करुण भावना का प्राधान्य पाया जाता है। करुणा की इतनी सुन्दर, स्वाभाविक और सजीव अभिव्यंजना हिन्दी कवयित्रियों में अप्राप्य है। इसी कारण से महादेवी जी हिन्दी साहित्य में करुणा की सजग एवं साक्षात् प्रतिमा मानी गई हैं।

प्रश्न ६—महादेवी के रहस्यवाद की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—छायावाद के अभिनव स्वरूप 'रहस्यवाद' के प्रमुख कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रहस्यवाद में भारतीय उपनिषदों का सार ऐसी विचित्र रचना-प्रणाली द्वारा संजोया गया है कि वह सर्वथा काव्य की एक नवीन सामग्री बन गया है। महादेवी जी के काव्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनकी वस्तु और शैली दोनों रहस्यवाद के रंग में रंगी हुई हैं। उनके रहस्यवाद में भारतीय भावना का शुद्ध सांस्कृतिक रूप दृष्टिगोचर होता है। इसी भावना से उनका काव्य अनुप्राणित है। उनके काव्य में उसी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं जो उपनिषदों का सार है और जिसे कबीर ने अपनी भावुकता, तन्मयता, तल्लीनता एवं एकाग्रता के द्वारा भारतीय जीवन की शिराओं तक व्याप्त कर दिया था। स्वयं महादेवी जी का रहस्यवाद के सम्बन्ध में मत है कि "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं, उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली है, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह की सृष्टि कर डाली, जो मानव-हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" इस प्रकार महादेवी जी ने भारतीय उपनिषदों के रहस्यवाद का सार रूप ग्रहण किया।

रहस्यवाद की चरम सीमा सर्वात्मवाद है जो ज्ञानियों की जिज्ञासा का अन्तिम रूप है और यहीं से माधुर्य भावना आरम्भ होती है। इसी माधुर्य-भावना के आधार पर रहस्यवाद का निर्माण हुआ है। वि० सं० ७७३ के आस-पास एक अन्दा नामक भक्तिन हुई थी, जिसने इसी माधुर्य-भावना की आराधना की थी। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें रहस्य का समावेश अवश्य हो जायगा। महादेवी

जी ने भी काव्य-क्षेत्र में इसी भावना को जन्म दिया है। मीरा की भगवद्भक्ति भी इसी माधुर्य भावना का अवलम्ब लेकर विकसित हुई है। उनके अनुसार इस सृष्टि के सारे मानव स्त्रीरूप हैं। पुरुष कोई नहीं है, कृष्ण के अतिरिक्त भला इस सृष्टि में अन्य पुरुष कौन हो सकता है। मीरा और महादेवी की रहस्यभावना में समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है। मीरा सगुणोपासिका थीं। अपने गिरधर लाल के समक्ष घंटों नाचा करती थीं। महादेवी जी की सारी साधना उस अव्यक्त और असीम का रहस्य सुलझाने की खोज में ही व्यस्त रही है। उनकी इस रहस्यभावना में माधुर्य भाव और कबीर के दाम्पत्य भाव का सामंजस्य लक्षित होता है। वे तो कहती हैं "मैं तो मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा।"

महादेवी जी भावयोग में रत रहती हैं। हृदय की भावना के आधार पर उन्होंने उस परम सुन्दर प्रियतम को प्रत्यक्ष किया है। उन्हें सदा उस प्रियतम के प्रति ही जिज्ञासा रहती है।

कनक से दिन मोती सी रात
सुनहले सांझ गलाबी प्रात,
मिटता रमता बारम्बार
कौन जग का वह चित्राधार ?"

सृष्टि के पीछे छिपे हुए छलिया पर वह मुग्ध है। अपने प्रियतम से मिलने के लिये महादेवी जी को जिन-जिन परिस्थितियों से सामना करना पड़ा है उनका भी मार्मिक चित्र उनके काव्य-चित्रण में कलामयी तूलिका द्वारा अंकित किया गया है। विरहिणी को स्वयं तिल-तिल जलने की तनिक भी चिन्ता नहीं, उसे तो इस बात की चिन्ता है कि कहीं उसके दीपक के जलने से जो कालिमा उत्पन्न होगी उससे उसके प्रिय का पंथ तो कालिमामय न हो जायगा। कितनी सात्विक भावना है भारतीय नारी में। प्रेमी किस प्रकार अपने प्रिय के लिये अपने सारे अरमानों को उस पर निछावर कर डालता है, इसका यह कितना भव्य स्वरूप है।

"यह न झंझा से बुझेगा
बन मिटेगा मिट बनेगा

भय यही है हो न जावे, प्रिय तुम्हारा पथ काला।"

महादेवी जी के लिये तो मुग्धता सुध की जननी है सुध पीड़ा की। तभी तो किसी आलोचक ने उनके विषय में कहा है, "वेदना महादेवी के काव्य गगन में वायु-सी व्याप्त है। पीड़ा उन्हीं के दर्शन से प्राप्त हुई है अतः वह त्याज्य नहीं। हार बनना है तो हृदय बिंधवाना ही होगा।"

महादेवी के रहस्यवाद में अद्वैतवाद की भावना ही मुख्यतः लक्षित होती है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में महादेवी जी ने अपना मत इस प्रकार स्पष्ट किया है—

मैं तुमसे हूं एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश
मैं तुम से हूं भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास।"

इस प्रकार एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व का आभास पाना ही भारतीय फिलासफी का सार है।

महादेवी जी ने कबीर आदि के समान गुरु और दूती को भी स्थान दिया है। दूती या गुरु के स्थान पर पीड़ा ही पथ-प्रदर्शिका है। यदि वह संकेत न करती रहे तो साधक सो जाय। गुप्त जी ने संकेत रूप में यही भाव लिया है—

"वेदने तू भी भली बनी...हीरकनी॥"

महादेवी ने पीड़ा को "मीठी सी", "चन्दा-सी" और 'मधु मदिरा की धार' कहा है।

मैं नीर भरी दुख की बदरी
+　　+　　+
सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात॥"

इस प्रकार महादेवी जी में दार्शनिक और कवि का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उपनिषदों की शुष्कता और नीरसता को हृदय के साँचे में ढालकर सरस और हृदयग्राही बना डाला है। वेदान्त के दर्शन का ग्रहण भी अत्यन्त सुन्दर और सरस रूप में किया गया है प्रिय को महान् मानते हुए भी वह अपने व्यक्तित्व की महत्ता को भी जानती हैं। वह अपने व्यक्तित्व की पृथक्ता पर भी जोर देती हैं। उनका आत्मसमर्पण पत्नी का ही नहीं प्रेमिका का भी है—

"सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं,
बह रहे आराध्य चिन्मय मृण्मयी अनुरागिनी मैं ।"

इस प्रकार रहस्यवाद को काव्य की सरसता में ढाल कर जिस रूप में महादेवी ने हमारे समक्ष उपस्थित किया है वही सदा से भारतीय दर्शनों का आदर्श होता चला आया है। जिस रहस्य भावना को व्यक्त करने के लिये महादेवी ने जिन प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापार का वर्णन किया है वे वास्तव में मर्मस्पर्शी ओर हृदयहारी हैं और हिन्दी साहित्य में वे आदर्श रूप हैं।

आधुनिक कवि महादेवी : व्याख्या-भाग

उस सोने के सपने को, देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोष हुए हैं मोती बरसा कर रीते।
अपने इस सूनेपन की, मैं हूं रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती दीवाली।

प्रस्तुत छन्द महादेवी वर्मा के गीत में से अवतरित किया गया है। महादेवी अपने आराध्य प्रियतम के विरह में लम्बी अवधि बिता चुकी है परन्तु अभी तक प्रिय मिलन की सम्भावना नहीं। अतः वेदना और एकान्तता को ही प्रियप्रदत्त समझकर वह साधिका उसमें ही लवलीन होकर अपने मन की इच्छाओं को पूर्ण करती है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई कवयित्री का कहना है कि—

उस स्वर्ण स्वप्न के दर्शन किये हुए कितने ही युग बीत गये हैं परन्तु अभी तक प्रिय-मिलन की सम्भावना नहीं। मेरी आँखें आँसू रूप मोती बरसा कर खाली हो गई हैं। प्रिय-विरह में अश्रु-वर्षा को करते-करते मेरे आँखों के कोष भी खाली हो चुके हैं, अर्थात् अब उनमें जल भी शेष नहीं रहा, जिसको मैं अश्रुओं के रूप में बहा सकूं। अतः सूनापन ही मेरा मित्र बन गया है। उसी का चारों ओर साम्राज्य छाया हुआ है ओर मैं अकेली ही उस राज्य की रानी हूँ। इस एकान्त राज्य की रानी बन कर मैं यहाँ मतवाली सी बन कर रहती हूँ। जब दिवाली का शुभ अवसर आया और प्रिय का अभाव खटका तो वेदना जो कि प्रिय-प्रदत्त है आश्रय के रूप में आ खड़ी हुई। उसी विरह-वेदना में मैं प्राण रूपी दीपक को जलाकर सदा दिवाली मनाती हूँ। मेरे प्राणों की लौ सदा प्रिय-विरह की अग्नि से जलती रहती है।

विशेष—१. प्रस्तुत छन्द में कवि ने रूपक अलंकार की सुन्दर योजना की है। गीतात्मकता और चित्रोपमता कवि के काव्य की अन्यतम विशेषताएं हैं।

अलक्षित आ किसने चुपचाप
सुना अपनी सम्मोहन तान,
दिखाकर माया का साम्राज्य
बना डाला इस को अज्ञान ?
मोह मदिरा का आस्वादन
किया है क्यों हे भोले जीवन ?

तुम्हें ठुकरा जाता नैराश्य
हंसा जाती है तुमको आशा,
नचाता मायावी संसार
लुभा जाता सपनों का हास
मानते विष को संजीवन
मुग्ध मेरे भोले जीवन !

प्रस्तुत अवतरण महादेवी जी के गीतों में से अवतरित किए गए हैं। महादेवी जी अपने जीवन में अकस्मात् मोह और अज्ञान का मन्त्र सा व्याप्त देखकर अपने अतीत की ओर निहारती हुई वर्तमान की दशा प्रदर्शित करती हैं—

मेरे इस आशा और उल्लासपूर्ण जीवन में प्रविष्ट न होकर जाने किसने कैसी मोहक तान सुनाई है और माया के साम्राज्य की ओर आकृष्ट कर अज्ञान की सीमा में बाँध दिया है। ऐ भोले से मतवाले जीवन तुमने किस कारण से माया के साम्राज्य की ओर आकृष्ट होकर मोह रूप मदिरा का रसास्वादन लेने की इच्छा की है। इसी मोह-मदिरा का पान कर अब तुम अज्ञान के आवरण में पड़ गये हो। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे जीवन-कानन में अकस्मात् ही आकर न जाने किसने ऐसा मन्त्र फूंका है कि मैं अज्ञान में फंस गई हूँ। तो हे प्रिय तुम्हीं बताओ कि यह मतवाला-सा जीवन किस प्रकार मोहजाल से दूर हो।

इस अज्ञानावृत मेरे जीवन में कभी निराशा छा जाती है तो कभी आशा का संचार होने लगता है। जिससे विषाद और प्रसन्नता तथा प्रफुल्लता का प्रसार होता है। इस प्रकार जीवन सुख और दुःख के चक्र में पड़ा कभी रोता हुआ और कभी हंसता हुआ पिसता रहता है यह मायापूर्ण संसार अपने माया जाल में आबद्ध

कर नाना भाँति की मोहक कल्पनाओं का उद्भव और विकास करता है। इस प्रकार कल्पनाएँ और लालसाएँ जीवन को मायासूत्र से आबद्ध किए रहती हैं और मानव का जीवन चरम लक्ष्य की सिद्धि में कभी भी सफल नहीं हो पाता। मोह-जाल में फंसा हुआ मनुष्य इन सांसारिक सुखों को अपने जीवन के मधुरतम क्षण समझकर विष को अमृत के रूप में समझने का प्रयास करता है। यह भूला भटका सा जीवन विष को अमृत के रूप में समझकर अपने सत्पथ का स्वयं नाश करता है।

विशेष—१. प्रस्तुत पद में कवि ने सांसारिक सुखों को अस्थायी और क्षणिक माना है। प्रिय से मिलन अथवा परमतत्व की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिये। कवि ने कबीर आदि निर्गुण-संतों की भांति इस संसार को मोह और अज्ञान का मायाजाल कहा है। वहाँ निराशा और आशा मनुष्य की कठपुतली की भांति माया-सूत्र से आबद्ध कर नचाती रहती हैं।

१. रूपक अलंकार का चमत्कार भी प्रस्तुत छन्द में दर्शनीय है।

२. मानसिक अन्तर्द्वंद्व सम्पूर्ण पद में एक चेतना और सजीवता का संचार करता है।

२. महादेवी जी की अपने आराध्य के प्रति एकनिष्ठता, अनन्यता, तन्मयता और तल्लीनता भी दृष्टिगोचर है।

सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीर परियों विहार;
गीली केसर मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार,
भ्रमर का मधु संगीत छेड़, देते हैं हिल पल्लव अजान
फैला अपने मृदुस्वप्न पंख,
उड़ गई नींद निसि क्षितिज पार,
अध खुले दृगों के कंज कोष
पर छाया विस्मृति का खुमार
रंग रहा हृदय ले अश्रु हास, यह चतुर चितेरा सुधि विहान।

प्रस्तुत गीत महादेवी के गीत-संग्रह में से उद्धृत किया गया है। महादेवी

सूर्योदय से पूर्व प्रभातकालीन प्रकृति के रंजित दृश्य का तथा सूर्योदय के पश्चात् उषाकालीन मनोरम दृश्य का चित्रांकन करती हुई कहती है:—

प्रभात वेला में समीर रूपी परियाँ विहार करने लगती हैं और सौरभ-रूपी अपने केश जाल को खोल कर मुक्तकुन्तला हो जाती हैं अर्थात् पवन के साथ सौरभ भी प्रत्येक स्थान पर उड़-उड़ कर अपने को विकीर्ण करता है। तितलियों के नव-कुमार मद में मतवाले होकर गीली केशर पर झूमने लगते हैं। अनभिज्ञ पल्लव भी मर्मर शब्द करते हुए मधुर संगीत की तान छेड़ देते हैं। उनका वह मधुर संगीत अत्यन्त मादक होता है। प्रभात काल में प्रकृति की ऐसी मनोरम क्रीड़ा के पश्चात् सूर्योदय के साथ ही उषाकाल में अंगड़ाइयाँ लेते हुए ऐसा जान पड़ता है मानो नींद अपने मधुर स्वप्न-पंखों को फैलाकर क्षितिज के पार दूर उड़ गई है। अर्थात् अब उषाकाल में निद्रा में वह मस्ती और अचेतना नहीं है जो अर्धरात्रि के समय होती है। अब उसमें स्वप्न की सी प्रवृत्ति भी नहीं है वरन् चेतना का दिव्यालोक व्याप्त होता जाता है। अधखिले नेत्र रूपी कमलों में अब विस्मृत का खुमार छाया हुआ है अर्थात् रात्रि भर में तो स्वप्निल कल्पनाएं विकसित हुई थीं अब वे विलुप्त होती जा रही हैं। अब स्वप्न का केवल आभास मात्र रह गया है। यह चतुर प्रभात मेरे आँसू लेकर हँसता हुआ हृदय को रंजित कर रहा है मानो मेरी सुध लेकर उदित हुआ हो।

विशेष—१. प्रस्तुत छंदों में कवि ने प्रभातकालीन एवं उषाकालीन प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किया है। इसमें रीतिकालीन कवियों की नाम-परिगणन की प्रवृत्ति नहीं है वरन् गीतात्मक शैली में बिम्ब ग्रहण करवाया गया है।

२. सम्पूर्ण छंद में रूपक अलंकार की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है।

३. मानवीकरण के सहारे सारे छन्द में मानवता की सजीवता और चेतनता का संचार हो गया है। मानव के अंग-प्रत्यङ्गों का आरोप प्रकृति के उपकरणों पर करना छायावादी शैली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

काल के प्याले में अभिनव ढाल जीवन का मधु आसव,
नाश के हिम अधरों से मौन, लगा देता है आकर कौन?
बिखर कर कन-कन के लघु प्राण, गुनगुनाते रहते यह तान,
'अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास।'

प्रस्तुत अवतरण महादेवी जी के गीत-संग्रह से अवतरित किया गया है। कवयित्री इस सृष्टि के विस्तार और प्रसार को देख कर आश्चर्यचकित हो जाती है और इस सृष्टि के निर्माता की खोज करती है कि अन्ततोगत्वा इसका कर्त्ता-धर्ता कौन है। वह इस सृष्टि के पीछे छिपे छलिया पर मुग्ध है और उसके अन्वेषण में नित्य प्रति लगी रहती है। वह मानव जीवन के मृत्यु और विकास के क्रम से अपरिचित होकर इस नियम के रचयिता की खोज करती हुई कहती हैं कि—

मानव-जीवन का यह मृत्यु और जन्म का क्रमिक विकास भी विस्मयकारी है। जीवन की लम्बी अवधि में मृत्यु रूपी विचित्र प्याले में जीवन की मधुर शराब चुपचाप नाश रूपी अधरों से न जाने कौन आकर पिला जाता है। सृष्टि के कण-कण में व्याप्त गान को ध्यानपूर्वक सुनने में ऐसा जान पड़ता है मानों इसका प्रत्येक कण इस गीत को गुनगुनाता है कि अमरता जीवन का ह्रास है और मृत्यु उसका चरम विकास। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों का जो यह मत है कि अमरता ही जीवन की सिद्धि है और वही उसकी सफलता है, वह निराधार है। इसका प्रमाण सृष्टि का प्रत्येक कण है जो मृत्यु को ही जीवन का विकास, नाश नहीं, समझता है।

विशेष—१. सृष्टि का यह सतत नियम है कि जन्म के पश्चात् मृत्यु और नाश के पश्चात् विकास होता है। रात्रि के पश्चात् प्रभात भी अवश्यम्भावी है। रात्रि दिवस का अन्त नहीं वरन् दूसरे दिन का विकास का आरम्भ है। इसमें नूतनता, नवीनता और सौन्दर्य का रहस्य छिपा हुआ है। इसी प्रकार मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है वरन् वह तो उसका सुन्दरता से पूर्ण चरम विकास है। यदि यह माना जाय कि मृत्यु जीवन का विकास है और जन्म और मृत्यु का क्रम इस सृष्टि का सनातन नियम है तो आखिर इस नियम का संचालक कौन है। इसी रहस्य और परम तत्व के अन्वेषण में महादेवी जी संलग्न हैं।

२. अन्तर्द्वन्द्व प्रधान यह छंद महादेवी जी के अन्तस्तल में छिपे औत्सुक्य को प्रकट करता है। सृष्टि के पीछे छिपे छलिया पर मुग्ध साधिका उसको जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक है।

३. भाषा और अलंकार का सौंदर्य भी दर्शनीय है। साधिका का रूप प्रबल होने के कारण भाव और उसकी अनुभूति तो गम्भीर है ही, साथ ही कला का

भी विकसित रूप प्रस्फुटित हुआ पड़ता है। रूपक अलंकार और भाषा का माधुर्य तथा भाव और उसकी अनुभूति की गम्भीरता के कारण काव्य की दृष्टि से यह छन्द उत्कृष्ट कोटि व उत्तर कोटि का सिद्ध हुआ है।

बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं
नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूं।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूं,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूं।
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूं।
दूर तुमसे हूं अखंड सुहागिनी भी हूं!

प्रस्तुत गीत महादेवी जी के गीत में 'आधुनिक कवि' गीत-संग्रह में से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवयित्री ने आत्मा की ब्रह्म से एकात्मकता स्थापित की है। ब्रह्म और आत्मा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु इन दोनों के तादात्म्य होने पर भी आत्मा का ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व है। इस भाव का अनेक दृष्टान्तों द्वारा प्रकटीकरण करते हुए कवयित्री कहती है कि—

हे प्रिय और मेरे अन्यतम आराध्य! मैं तुम्हारी वीणा भी हूँ और इस वीणा से निःसृत रागिनी भी हूँ। में वह प्यासी चातकी हूँ जिसके नेत्रों में श्यामल मेघों की कान्ति बसी हुई है। चातकी सदा स्वाति नक्षत्र की बूंद का ही पान करती है और मैं भी तुम्हारे द्वारा प्रदत्त वस्तु को उपहार समझ कर उसका सुन्दरतम उपभोग करती हूँ। मैं वह पतंगा हूँ जिसके हृदय में निष्ठुर दीपक समाया हुआ है। पतंगे को जला देने के कारण ही दीपक को निष्ठुर कहा गया है। शलभ अपने प्राणों को बलि करके भी निष्ठुर दीपक से प्यार करता है। मैं उस विकल बुलबुल के सदृश हूँ जो हृदय में पुष्प के प्रति प्रेम को छिपाये हुए है। मैं वह चलती हुई छाया हूँ जो शरीर से मिलकर भी अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। यद्यपि मैं तुमसे दूर हूँ तथापि पूर्ण सौभाग्यशालिनी हूँ। कहने का तात्पर्य यह ह कि प्रिय से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध के सूत्र में आबद्ध रहने पर भी मेरा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है।

विशेष—१. प्रस्तुत पंक्तियों में कवयित्री ने यह स्पष्ट किया है कि उसकी आत्मा का यद्यपि उसके आराध्य से पूर्ण तादात्म्य हो गया है तथापि उसका अपना भी स्वतन्त्र अस्तित्व है।

तेरा अधर विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूं क्यों मेरे साकी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?
रोम-रोम में नन्दन पुलकित,
सांस-सांस में जीवन शतशत,
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित,
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

प्रस्तुत छंद महादेवी जी के 'आधुनिक कवि' नामी गीत-संग्रह में से उद्‌घृत किया गया है । आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो जाने पर आत्मा को संसार में उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता । सर्वत्र उस परम तत्त्व की ही लीला छाई हुई है और आत्मा उस लीला में पूर्णतः अनुरंजित है । सृष्टि के सारे क्रिया-कलाप, नक्षत्र, सूर्य आदि का उदय और अवसान, मानव का स्वप्न और जागरण सभी ब्रह्म के विभिन्न क्रिया रूप हैं । इस भौतिक जीवन और जगत् का समस्त भोग आदि भी ब्रह्ममय हो जाता है । महादेवी जी इसी तुरीया अवस्था की सीढ़ी पर चढ़ने में प्रयत्नशील हैं । उनकी आत्मा में परमात्मा का समावेश हो जाने पर उन्हें सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय दृष्टिगोचर होती है । इसीभाव को स्पष्ट करते हुए कवयित्री जी की भावना इस रूप में प्रस्फुटित हो उठी है—

हे प्रिय ! तुम्हारे चुम्बित व स्पर्श करते हुए अधर ही मेरा हाला का प्याला है और उस प्याले में तुम्हारा हास्य ही मेरी मदिरा के रूप में बना है । तुम्हारा मानस ही मेरी मधुशाला व मदिरा पीने का स्थल है । यदि सर्वत्र तुम्हारी ही महत्ता है तो फिर हे मेरे प्रिय साकी ! फिर मैं यह खोज क्यों करूं कि तुम मुझे मधुमिश्रित वस्तु का पान करवाते हो वा विषमय का ? विश्वास के पद पर आसीन होकर और घनिष्ठता तथा एकात्मवाद के सूत्र से बंधकर भी मुझे क्या आवश्यकता है मधु और विष की खोज की । यदि ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वात्म रूप में मेरे में समाया हुआ है तो इस अवान्तर भेद की रचना कैसे हो सकती है ?

तुम्हारे ही संसर्ग और सामीप्य को प्राप्त कर मेरे रोम-रोम में प्रसन्नता, आनन्द और हर्ष का संचार होता है । प्रत्येक श्वास में शतशत जीवन का

अस्तित्व है और प्रति स्वप्न में तुम्हारा ही साम्राज्य है। अर्थात् प्रत्येक श्वास एवं अन्य क्रिया-कलाप आदि में, यहाँ तक कि स्वप्न में भी तुम्हारा ही निवास है। मेरे जीवन में न जाने कितने स्वर्गों की रचना होती है और न जाने कितने ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु मुझे इस बात की क्या चिन्ता। यदि आत्मा ने परमात्मा जैसी अमूल्य शक्ति को प्राप्त कर लिया तो फिर जीवन में ग्रहणीय रह ही क्या गया। अर्थात् परम तत्व को प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीवन और जगत् में कोई ऐसी प्राप्य वस्तु शेष नहीं रह जाती।

विशेष—१. प्रस्तुत गीत में महादेवी जी की रहस्य साधना में कबीर के एकात्मवाद और सर्वात्मवाद की झलक दिखाई देती है। कबीर भी दुलहिन के रूप में कहते हैं—"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥" महादेवी को भी सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है। वे तो कहती हैं यदि ब्रह्म को प्राप्त कर लिया तो जीवन और जगत् में कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती। ब्रह्म ही सर्वस्व है।

२. प्रस्तुत गीत की लय और तान में मधुरता तो मानों कूट-कूट कर भरी हुई है। भावातिरेक से अभिभूत होकर जो भाव तरंग कवयित्री जी के मानस में उद्वेलित हो उठी थी वही गीत के रूप में प्रस्फुटित हो उठी है।

पुलक पुलक मेरे दीपक जल !
सारे शीतल कोमल नूतन, मांग रहे तुझसे ज्वाला कण,
विश्व शलभ शिर धुन कहता मैं, हाय न जल पाया तुझमें मिल !

प्रस्तुत गीत महादेवी जी के 'आधुनिक कवि' पुष्प में से उद्धृत किया गया है। आत्मा अथवा जीव परमात्मा को प्राप्त करने के लिये अनेकों तप करते हैं। परम तत्त्व की प्राप्ति अनेक कठिनाइयों से प्राप्त होती है। अस्तु, महादेवी जी अपने प्राणरूपी दीपक को नित्यप्रति जलने के लिये उत्प्रेरित करती हैं। पीड़ा को सहन करने के पश्चात् ही प्रिय की प्राप्ति होती है। अतः महादेवी जी का कहना है कि—

हे प्राण ! तुम प्रसन्नता से जलो। समस्त विश्व की शीतलता, नवीनता और कोमलता तुझसे अग्नि-कण उधार के रूप में माँग रही है। विश्व-रूप पतंगा भी तुझसे बारम्बार अपना सिर धुन-धुन कर कह रहा है कि मैं तेरे साथ दीपक की ज्वाला में भस्म न हो सका।

विशेष—पतंगे के एकनिष्ठ और आत्मत्याग से पूर्ण प्रेम को आदर्श मानकर महादेवी जी ने भी उसी प्रेम का अनुसरण करने का आदर्श उपस्थित किया है।

हिम-तरंगिणी

लेखक :—
भारत भूषण 'सरोज'

हिम-तरंगिणी

प्रश्न १—श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' ने राष्ट्रीय जागरण में जो योग दिया है, उस पर प्रकाश डालिये ।

उत्तर—मध्यप्रदेश के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता पंडित माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' ने अपनी भावाभिव्यक्ति के निमित्त जिस काव्य का सृजन किया है वह राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत है । इनका देश-प्रेम इनकी रचनाओं में मुखरित हो उठा है । इनका सम्पूर्ण जीवन निस्वार्थ त्याग, देश-प्रेम, वीरता, आत्म-सम्मान और बलिदान का सजाव प्रतीक रहा है । इनकी कविता में ये समस्त भाव साकार हो उठे हैं ।

भारत की पुण्य भूमि अनेक शताब्दियों से विदेशी शासकों के द्वारा पादाक्रांत रही । भारत की भोली जनता ने विदेशी शासकों के अनेक प्रकार के अत्याचार सहन किए । पारतन्त्र्य की बेड़ियों को छिन्न-भिन्न करने के लिये भारत की आत्मा मचल उठी । भारत माता के अनेक सपूतों ने अपनी माता की मुक्ति के निमित्त अपने शीश निछावर किए । जब से हम परतन्त्र हुए तभी से हमारा स्वतन्त्रता संग्राम चलता रहा है चाहे उसका रूप कुछ भी रहा हो । हिन्दी साहित्य के आदि काल में यद्यपि राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था किन्तु फिर भी अनेक वीर राजपूतों ने विदेशियों से लोहा लिया और हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग किया । परतन्त्रता और मृत्यु में से उन्होंने मृत्यु का वरण किया । उन्होंने अन्तिम श्वास तक शत्रु के दाँत खट्टे किये और वीर क्षत्राणियों ने जौहर की ज्वाला में सहर्ष प्राणों का बलिदान किया । हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्य-काल में तुलसीदास सरीखे क्रांतदर्शी कवियों ने इस स्वातन्त्र्य संग्राम का नेतृत्व करके जनता का पथ-प्रदर्शन किया । तुलसीदास जी राष्ट्र-व्यापी पारस्परिक द्वेष से पूर्ण अवगत थे अतः उन्होंने अन्य मार्ग का अनुसरण किया । उन्होंने परोक्ष रूप से अपने रामचरितमानस के द्वारा जन-जागरण का सन्देश दिया । हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य-काल

में छत्रपति शिवाजी ने विदेश शासन से मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त राष्ट्र-निर्माण का भरसक प्रयत्न किया। इस राष्ट्रीय भावना के प्रसारण में कविराज भूषण ने पूर्ण योग दिया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य-काल से राष्ट्रीय भावना का पुनः बीज वपन हुआ। उस समय मुसलमान विदेशी शासक थे जो जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते थे। उस समय हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता थी। अंग्रेजों के आगमन पर राष्ट्रीयता के मान-दण्ड बदल गए और अब मुसलमान शासक न रहकर हिन्दुओं की भांति शासित ही हो गये। हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों को मिलाकर राष्ट्र की कल्पना की गई और इस प्रकार राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति हिन्दी के आधुनिक साहित्य में हुई।

अंग्रेजों से मुक्त होने के लिये भारत की आत्मा छटपटा उठी। राष्ट्र-निर्माण का प्रयत्न किया गया और आधुनिक काल के कवियों ने राष्ट्र के उद्‌बोधन के लिए कविताओं की रचना की। जिन कविताओं में ये भाव निहित मिलते हैं वे राष्ट्रीय कविता कहलाती हैं और उनके रचयिता राष्ट्रीय कवि। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी भी एक राष्ट्रीय कवि हैं। राष्ट्र-जागरण के निमित्त भेरी बजाने वाले कवियों में चतुर्वेदी जी की भेरी का स्वर सर्व-प्रमुख रहा है।

देश-प्रेम एक मिश्र भाव है। इसमें देशप्रेम से अभिप्राय देशवासियों से प्रेम का है। देशवासियों के प्रति प्रेम और वीरता की भावना का संमिश्रण देशप्रेम कहलाता है। देशप्रेम के अन्तर्गत आने वाली ये दोनों भावनाएँ पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं में पूर्ण रूपेण उपलब्ध होती हैं। कवि ने अपनी वीर रसमयी कविता के द्वारा न केवल स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानियों को स्फूर्ति प्रदान की है अपितु वह स्वयं उसका कर्णधार भी है। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी केवल कवि ही नहीं रहे वह स्वयं स्वतन्त्रता-संग्राम के एक कर्मठ सैनिक रहे हैं। इस प्रकार इनके जीवन में एक साथ ही स्वतन्त्रता-संग्राम के क्रियात्मक और कलात्मक दोनों पक्षों के दर्शन होते हैं।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं से स्पष्ट लक्षित होता है कि देशप्रेम का भाव उनके रक्त के प्रत्येक बिन्दु में व्याप्त है जिसकी अभिव्यक्ति

उनके काव्य में हुई है । उनकी कविताओं में सच्ची वेदना एवं तड़पन के सर्वत्र दर्शन होते हैं :—

'मुझे तोड़ लेना बनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक !
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जाते वीर अनेक ।"

यहाँ पुष्प की अभिलाषा में कवि के जीवन का सत्य बोल उठा है। यही उनकी कविताओं का मुख्य तत्त्व है। आधुनिक काल में वीरता के अन्तर्गत केवल बलिदान का भाव रह गया है, शत्रु के विनाश का नहीं। यह गाँधीवाद के प्रभाव के कारण है। गाँधीवाद के अनुसार बलिदान का यह भाव जितना चतुर्वेदी जी की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है उतना अन्य किसी कवि की रचना में व्यक्त नहीं हुआ है। इसलिए आलोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने पं० माखनलाल चतुर्वेदी को साहित्य की गाँधीवाद विचार-धारा के आवेगशील कवियों में अग्रगण्य माना है।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की देशप्रेम से अभिभूत तथा राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कविताओं का अधिकांश प्रणयन जेलों में ही हुआ है। कवि ने देश की स्वतन्त्रता के निमित्त अनेक बार जेल की यात्रा की है। कवि को अपने घर के प्रति भी सन्देह हो गया है कि वह उसी का है अथवा अन्य किसी का। इसलिए वह कहता है :—

जिसके रवि उगें जेलों में, सन्ध्या होवे वीरानों में।
उसके कानों में क्या कहने आते हो ? यह घर मेरा है ?

कवि की ईश्वर में पूर्ण आस्था है। वह सर्वत्र ईश्वर के दर्शन करता है। सभी पदार्थों में ईश्वर होने के कारण वह कभी भयभीत नहीं होता। कवि विलासपुर जेल में है। उसे जेल के प्रत्येक पदार्थ तथा वहां के प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रिय ईश्वर के दर्शन होते हैं।

पत्थर के फर्श, कगारों में, सीखों की कठिन कतारों में।
खंभों; लोहे के द्वारों में, इन तारों में दीवारों में।
कुंडी, ताले, संतरियों में, इन पहरों की हुँकारों में।

गोली की इन बौछारों में, इन वज्र बरसती मारों में।
इन सुर शरमीले गुण गरबीले कष्ट सहीले वीरों में।
जिस ओर लखूं तुमही तुम हो प्यारे इन विविध शरीरों में॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्रीय-जागरण में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यही नहीं, उनकी भेरी का स्वर सर्वोच्च है। उनकी कविताओं में अभिव्यक्त होने वाली राष्ट्रीय तथा देश-प्रेम की भावना स्वानुभूत है, कल्पनाजन्य नहीं। राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम कवि के जीवन के अभिन्न तत्त्व रहे हैं। एक सफल वक्ता तथा देशसेवक होने के कारण चतुर्वेदी जी जीवन की बाह्य प्रेरणाओं से ही प्रभावित हैं। उनमें कल्पना की ऊंची उड़ान नहीं है।

प्रश्न २—हिम-तरंगिणी के काव्य-सौष्ठव का दिग्दर्शन कराइये।

उत्तर—पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्र-जागरण के निमित बजाई गई भेरी का स्वर अत्यन्त स्पष्ट एवं उच्च है। वे भारतीय राष्ट्र के स्वातंत्र्य-संग्राम के अमर सेनानी रहे हैं तथा अनेकों को स्फूर्ति प्रदान की है। उन्होंने अपने हृदय के तीव्रतम भावों को अभिव्यक्त करने के लिये जो छन्द योजना की है वह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। उनकी कविता हृदय के भावों का सहज प्रोद्भास है, उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं। उनकी कविताओं में व्यक्त हुए भाव कल्पनाजन्य न होकर स्वानुभूत हैं। इसलिए हम निस्संकोच कह सकते हैं कि चतुर्वेदी जी की कविता का भाव-पक्ष अत्यन्त प्रौढ़ तथा प्रबल है।

हिम-तरंगिणी में कवि की विभिन्न समयों में रची गई कविताओं को संगृहीत किया गया है। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि का अपने प्रियतम भगवान् के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है। कवि सर्वत्र सभी पदार्थों में उसी के दर्शन करता है—

पत्थर के फर्श, कगारों में, सीखों की कठिन कतारों में।
खंभों लोहे के द्वारों में, इन तारों में दीवारों में।
कुंडी, ताले, संतरियों में, इन पहरों की हुंकारों में।
गोली की बौछारों में, इन वज्र बरसती मारों में।

तुम धुर शरमीले गुण गरबीले, कष्ट सहीले वीरों में।
जिस ओर लखूं तुमही तुम हो प्यारे इन विविध शरीरों में ॥

कवि के इष्टदेव भगवान् राम और कृष्ण हैं। किसी किसी कविता में उन्होंने अपने इष्टदेव को स्पष्ट रूप से सम्बोधित भी किया है। कवि इन्द्रियों की कुचालों तथा वासना और दम्भ से संतप्त है, इसलिये वह भगवान् कालियमर्दन को पुकारता है :—

गो-गण संभाले नहीं जाते मतवाले नाथ,
दुपहर आई बर-छांह में बिठाओ नेक।
वासना-विहंग ब्रजवासियों के खेत चुगे,
तालियां बजाओ आओ मिलके उड़ाओ नेक।
दम्भ-दानवों ने कर-कर कूट टोने यह,
गोकुल उजाड़ा है गुपाल जू बसाओ नेक।
मन कालियमर्दन हो, मुदित गोवर्धन हो,
दर्द भरे उर-मधुपुर में समाओ नेक।

उपर्युक्त पद्य में 'वासना-विहंग', 'दम्भ-दानवों', 'उर-मधुपुर' में रूपक की सुन्दर छटा है। 'वासना-विहंग' व्रज-वासियों' में अनुप्रास का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसी प्रकार कृष्ण से सम्बद्ध एक और कविता दर्शनीय है—

माखन पावे वृन्दावन में बैठा विश्व नचावे,
वह मेरा गोपाल, पतन से पहिले पतित उठावे।
व्याकुल ही जिसका घर है अकुलातों का गिरिधर है,
मेरा वह नटवर है, जो राधा का मुरलीधर है!

हिम-तरंगिणी की एक कविता में माता की ममता तथा विवशता दर्शनीय है। माता कृष्ण को कहती है कि तू चाहे सब कुछ विस्मरण कर देना परन्तु दीन माता की गोद को न भुलाना :—

महलों पर कुटियों को वारो पकवानों पर दूध दही,
राज-पथों पर कुंजें वारो मंचों पर गोलोक-मही।
सरदारों पर ग्वाल, और नागरियों पर व्रज-बालाएं,
हीर हार पर वार लाड़ले वनमाली वनमालाएं।

छीनूंगी निधि नहीं किसी सौभागिनी, पुण्य-प्रमोदा की ,
लाल वारना नहीं कहीं तू गोद गरीब यशोदा की ।

कवि भारतीय संस्कृति का समर्थक है । यही कारण है कि उसकी कविताओं में संस्कृति के प्रतीक घनश्याम श्रीकृष्ण को स्थान मिला है । अधिकांश कविताओं में कवि ने श्रीकृष्ण की आराधना की है ।

कवि पराधीनता की अवस्था में किसी प्रकार के सुख की इच्छा नहीं करता, वह कहता है :—

भाई, छेड़ो नहीं, मुझे खुल कर रोने दो ।
यह पत्थर का हृदय आंसुओं से धोने दो ।
रहो प्रेम से तुम्हीं मौज से मंजु महल में ।
मुझे दुखों की इसी झोंपड़ी में सोने दो ।।

कहीं-कहीं चतुर्वेदी जी की कविता अत्यन्त हल्की हो गई है, जैसी कि कुछ आर्य-समाजियों के भजनों में उपलब्ध हुआ करती है । चतुर्वेदी जी की इस प्रकार की कविता का नमूना देखिये:—

जिस ओर देखूं बस अड़ी हो तेरी सूरत सामने ,
जिस ओर जाऊं रोक लेवे तेरी सूरत सामने ।
छुपने लगूं तुझसे मुझे तुझ बिन ठिकाना नहीं ,
मुझसे छुपे तू जिस जगह बस मैं पकड़ पाऊं वहीं ।
मैं कहीं होऊं न होऊं तू मुझे लाखों में हो ,
मैं मिटूं जिस रोज मनहर तू मेरी आखों में हो ।

इसी दर्जे की एक और कविता के पद देखिये:—

विश्व के उपहार ये—
निर्माल्य ? मैं कैसे रिझाऊं ? कौन-सा इनमें कहूं मेरा ?
कि मैं कैसे चढाऊं ? चढ़ विचारों में, उतर जी में,
कलंक टटोल मेरे बोल राजा, बोल मेरे ।

इस प्रकार के भजन हवन-मन्त्रों की छोटी पुस्तकों में उपलब्ध होते हैं । जैसे—

अजब हैरान हूं भगवन् तुझे क्योंकर रिझाऊँ मैं
कोई वस्तु नहीं ऐसी जिसे सेवा में लाऊं मैं।

हिम-तरंगिणी की कविताओं में अनुप्रास की छटा विकीर्ण है। जैसे—

तो मधुर मधुमास का वरदान क्या है ?
तो अमर अस्तित्व का अभिमान क्या है ?
तो प्रणय में प्रार्थना का मोह क्यों है ?
तो प्रलय में पतन से विद्रोह क्यों है ?

इनकी कविताओं में रूपक का भी सुन्दर निर्वाह मिलता है। जैसे—

पलक की चिक, बिना प्रभु पाये, सिमट कर गिर पड़ी।

यहाँ 'पलक की चिक' व्यस्त रूपक है।

रूपक का एक और उदाहरण देखिये—

खाने को पाने आये हो ?
रूठा यौवन-पथिक, दूर तक उसे मनाने आये हो ?

यहाँ यौवन-पथिक में रूपक का कितना सुन्दर निर्वाह हुआ है।

हिम-तरंगिणी का कलापक्ष भावपक्ष की अपेक्षा कुछ दुर्बल है। इसकी कविताओं की भाषा खड़ी बोली है। इस संग्रह की तीसवीं कविता की भाषा व्रजभाषा है :—

माधव दिवाने हाव-भाव पै बिकाने।
अब कोइ चहै बन्दै निन्दै, काह परवाह।
बौरन ते बातें जिन कीजो नित आय-आय,
ज्ञान, ध्यान, खान-पान काहू की रही न चाह।
भोगन के व्यूह, तुम्हें भोगिबो हराम भयो,
दुख में उमाह, इहां चाहिए सदा ही आह।
विपदा जो टूटै कोऊ सब सुख लूटै,
एक माधव न छूटै तो कराह को सदा सराह।।

इनकी खड़ी बोली में यत्र-तत्र उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—फैसला, फकत, फरियाद, कसूर। कहीं-कहीं तो पूरा पद्य ही उर्दू-फारसी शब्दों से ही बना हुआ है। जैसे—

"जहाँ से खुद को जुदा देखते हैं।
खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं।"

किसी-किसी कविता में शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है जैसे 'मति भिल्ली के भाव-बेर हों जूठे, भोग लगा जा !' में भिलनी के स्थल पर भिल्ली का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं ह्रस्व मात्रिक शब्दों को दीर्घ मात्रिक भी कर लिया है, जैसे 'भूमि का शत-शत कलेजा ऊग आया' में उग के स्थान पर मात्रापूर्ति के निमित्त 'ऊग' किया गया है। चतुर्वेदी जी ने कहीं-कहीं 'उठा' तथा 'उठे' के स्थान पर 'उट्ठा' और 'उट्ठे' शब्दों का प्रयोग किया ह। हिमतरंगिणी में 'छुपा' और 'मुझी' शब्दों का प्रयोग हुआ है जब कि इनके स्थानों पर 'छिपा' और 'मुझ ही' शब्दों को प्रयुक्त करना चाहिए था। 'ध्वनि के खतरों बिखरे मग में तुम मन्द चलो' में खतरों शब्द का प्रयोग व्याकरण विरुद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिम-तरंगिणी का कलापक्ष भावपक्ष की अपेक्षा कुछ निर्बल है। उसका भावपक्ष अत्यन्त प्रौढ़ तथा प्रबल है।

हिमतरंगिणी-व्याख्या भाग

हरि खोया है ? नहीं हृदय का धन खोया है,
और न जाने वहीं दुरात्मा मन खोया है।
और आज तक नहीं, हाय इस तन को खोया है,
अरे बचा क्या शेष पूर्ण जीवन खोया है॥

प्रसङ्ग—माखनलाल चतुर्वेदी आधुनिक काल के राष्ट्रीय कवि हैं। कवि खड़ी बोली का सफल लेखक है। प्रस्तुत अवतरण इनकी 'हिमतरंगिणी' नामक पुस्तक की एक कविता से उद्धृत है। कवि अपनी पत्नी के स्वर्गवास दिवस पर अपने भाव व्यक्त कर रहा है।

व्याख्या:—कवि कहता है कि न जाने आज मेरा मन किसी अभाव का अनुभव कर रहा है, शायद मैंने अपनें हृदय में से ईश्वर की पवित्र सत्ता को खो दिया है, पर नहीं मैंने तो अपने हृदय की सम्पूर्ण निधि को ही खो दिया है। इसके साथ ही मैं अपनी आत्मा और मन से भी वंचित हो गया हूँ। कवि दुःख के साथ कहता है कि हृदय-धन, आत्मा और मन के

खो जाने पर भी मेरा शरीर उसी प्रकार है, मेरे तन को कोई चोट नहीं आई। असीम वेदना भी इसे प्रभावित नहीं कर सकी। कितना निर्मम है वह शरीर जो प्रिय के वियोग में भी ज्यों का त्यों जीवित है। कवि प्रेयसी के विरह का कटु अनुभव करते हुए कहता है कि प्रिय को खोने से मानो मैंने अपने जीवन को ही खो दिया है। शेष कुछ भी नहीं रहा। प्रिय की मृत्यु के साथ मेरे जीवन का भी अन्त हो गया। मेरी आशाएं, अभिलाषायें, आकांक्षायें सभी समाप्त हो गईं। रह गया केवल निष्ठुर तन, धन और मन से वंचित होकर।

विशेष—भाषा की सरलता एवं माधुर्य ही प्रस्तुत अवतरण की विशेषता है। भाषा के साथ-साथ भाव भी कितने सौम्य, सरस एवं कवि के अनन्य प्रेम के द्योतक हैं।

क्या तू ही है जो कहता है सम सब मेरे पास ?
किन्तु प्रार्थना की रिश्वत पर करता शत्रु विनाश ?
मेरा वैरी हो क्या उसका तू न रह गया नाथ !
मेरा रिपु, क्या तेरा भी रिपु रे समदर्शी नाथ !

प्रसंग—राष्ट्रीय कवि माखनलाल चतुर्वेदी वास्तव में ही "एक भारतीय आत्मा" है। विश्व में वैषम्य देख कवि का हृदय द्रवित हो जाता है। प्रस्तुत पद्यांश श्री चतुर्वेदी जी की "हिम-तरंगिणी" नामक काव्य रचना का है।

व्याख्या—ऊंच-नीच, निर्धन-धनी, सुखी-दुखी, असम विश्व को देख कर कवि का कोमल हृदय चीत्कार कर उठता है। कहा जाता है कि ईश्वर के लिए प्रत्येक जीव समान है, वह सबके लिए एक सा है, फिर ऊंच-नीच का भेद क्यों? एक राजमहलों में रहता है और दूसरा कड़कती धूप में पथरीली भूमि पर भी सोने का अधिकारी नहीं। क्या ऐसे ही भगवान् को समदर्शी कहा गया है? कवि ईश्वर से कहता है, हे भगवान् तुम्हीं कहते हो कि विश्व के सारे जीव मेरे लिए सम हैं। पर तुम भी एक व्यक्ति द्वारा प्रार्थना रूपी दी गई रिश्वत लेकर उस व्यक्ति के शत्रु का नाश कर देते हो। फिर तुम्हारे लिए सब समान कहाँ रहे? कवि का हृदय विषमता की भावनाओं से पुनः आक्रान्त हो पुकार उठता है कि हे भगवान्! ठीक है कि तुम सब जीवों के नाथ हो, स्वामी हो। परन्तु जब एक व्यक्ति किसी दूसरे से शत्रुता के कारण उसके विनाश के लिए तुमसे प्रार्थना करता है और तुम उसके शत्रु को सचमुच

विनाश कर देते हो, क्या उस समय तुम उस विनाश होने वाले व्यक्ति के नाथ नहीं रहते। व्यक्ति विशेष का शत्रु तुम्हारा भी शत्रु हो जाता है। हे भगवान् ! जब तुम्हारे राज्य में ऐसा अन्याय, अन्धेर है तो यह समदर्शी कहलाने का ढोंग किस लिए ?

विशेष—१. विश्व की विषमता से प्रभावित कवि के सुकोमल हृदय की उथल-पुथल एवं भोली जिज्ञासाएं वास्तव में प्रशंसनीय हैं।

२. अन्तिम पंक्ति में समदर्शी शब्द कितना व्यंग्यपूर्ण एवं व्यंजनामय है।

चाहों सी, आहों सी, मनुहारों सी, मैं हूं श्यामल श्यामल।
बिना हाथ आये छुप जाते हो, क्यों ? प्रिय किस के मंदिर में।।
चली छिया छी हो अन्तर में।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ माखनलाल चतुर्वेदी जी की संकलित काव्य रचना "हिमतरंगिणी" की हैं। कविवर चतुर्वेदी आधुनिक काव्य क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। कवि यहां अपना परिचय देता हुआ प्रकृति की अलक्ष्य सत्ता से भोली एवं सरल जिज्ञासा करता है, एवं उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

व्याख्या—कवि प्रकृति की अलक्ष्य सत्ता को सम्बोधित करते हुए कहता है कि तुम चाँद हो और मैं रात्रि। अब वह रात्रि का अर्थात् अपना परिचय देता है। कवि कहता है कि मैं काली काली अन्धकारमयी रात्रि हूँ और वह अन्धकारमयी रात्रि कैसे है, कभी न सफल होने वाली असीम चाहों के समान, कभी न समाप्त होने वाली अनन्त आहों के समान, और बार-बार की जाने वाली मनुहारों की भाँति। अर्थात् मैं चाहों की भाँति असीम, आहों सी अनंत एवं मनुहारों सी पुनः; पुनः लौट-लौट कर आने वाली श्यामल यामिनी हूँ। हे शशि (अलक्ष्य सत्ता) तुम मेरे समीप आकर भी बिना मेरे हाथ में आये न जाने क्यों छिप जाते हो, आँखों से ओझल हो जाते हो, छिप जाते हो ?

विशेष—१. यहाँ कवि ने अलक्ष्य सत्ता के प्रति अपनी जिज्ञासा एवं प्रेम का आभास दिलाते हुए अनन्त असीम नीलिमामय रात्रि एवं प्रभात काल में छिप जाने वाले इन्दु का सुन्दर चित्र अंकित किया है।

२. उपमायें नवीन, सुन्दर एवं माला के समान पिरोई हुई हैं।

चाहों में ले दौड़ धूप कर मैंने मजहब को दुलराया।
पर तुम मुझको धोखा देकर अरे प्रेम के जी से बोले ।।
कौन तुम्हारी बातें खोले ।

प्रसंग—कविवर माखनलाल चतुर्वेदी जी राष्ट्रीय कवि होने के साथ-साथ भक्तहृदय भी हैं। जहाँ-तहां इनकी ऐसी भावनाएं एवं उद्‌गार बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत पंक्तियाँ भी ऐसी ही हैं जो "हिम-तरंगिणी" से उद्‌धृत हैं।

व्याख्या—कवि परमात्मा की अद्‌भुत लीला एवं प्रेम, धर्म के धंधे को देख प्रस्तुत उद्‌गारों का अभिव्यक्तीकरण करता है। कवि भगवान् के अनोखे कर्तबों से कुछ चकित सा है एवं अपने आपको उन कार्य एवं लीलाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाता है। कवि कहता है कि कौन तुम्हारी रहस्यमयी वातों को प्रकट करे। धर्म को देख कवि समझता है कि शायद भगवान् इसी में है। अतएव वह प्रेम को समाप्त कर धर्म की ओर बढ़ता है। कवि कहता है कि मैंने बड़ी चाहों एवं अभिलाषाओं से धर्म को अपनाया कि उसमें तुम्हारी (भगवान्) सत्ता के आनन्द का अनुभव करूंगा। पर तुमने मुझे उस आनन्द से वंचित कर दिया। मुझे धोखा देकर तुम प्रेम में जा बसे। यही तुम्हारी अनन्त एवं कौतुकमयी लीला है जिसका पार नहीं पाया जाता।

विशेष १०—प्रस्तुत कविता कवि के प्रौढ़ एवं सुलझे हुए विचारों का फल है। कवि असमंजस में न रह लक्ष्य पर पहुँच गया है कि भगवान् धर्म-मजहब के ढकोसले में न होकर सच्चे प्रेम में निवास करता है।

२. भाषा सरल, सरस एवं चलती-फिरती साहित्यिक है। सीधे सादे शब्द हैं, कहीं अलंकार जुटाने का प्रयास नहीं।

बोल तो किसके लिए मैं
गीत लिखूं बोल बोलूं ?

प्राणों की मसोस, गीतों की
कड़ियां बन-बन रह जाती हैं,
आंखों की बूंदें बूंदों पर,
चढ़-चढ़ उमड़-घुमड़ आती है।

रे निठुर किस के लिए
मैं आँसुओं में प्यार खोलूं ?

बोल तो किसके लिए मैं
गीत लिखूं, बोल बोलूं ?

प्रसङ्ग—माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी के आधुनिक साहित्य में अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रस्तुत कविताँश आपकी "हिम-तरङ्गिणी" नामक काव्य-रचना से उद्धृत है।

व्याख्या—दुनिया से निराश कवि क्षुब्ध होकर कह उठता है कि जो तुम (अलक्ष्य सत्ता) मुझे गीत लिखने को प्रेरित कर रहे हो, यह तो बताओ मैं यह गीत किस के लिए लिखूं ? कौन यहाँ सुनने वाला है जिसके लिए मैं बोलूं ? कवि कहता है मेरी असफलताएं, निराशायें एवं विवशताएं ही कविता की पंक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। मेरे दुःख ही मेरे गीतकी पंक्तियाँ हैं। मेरी आँखों में आँसू आते हैं और उमड़-घुमड़ कर बरस पड़ते हैं। ओ निर्मम ! फिर यह तो बता कि मैं किस के लिए अपनी आंखों के आँसुओं में प्यार व्यक्त करूं।

विशेष—प्रस्तुत गीति हिन्दी गीति-काव्य का शृंगार है। भाषा एवं भावों में प्रबलता और प्रवाह के साथ संगीत में माधुर्य है।

जीवन के इन बागीचों में, सुमन खिले फल भी तो झूले,
पर मैंने सब फेंक दिये, वे फले फूले, वे फले फूले।
प्राण तू मुझसे न छूटे, बोल राजा, स्वर अटूटे।
मौन का अब बांध टूटे।

प्रसङ्ग—प्रस्तुत अवतरण चतुर्वेदी की "एक भारतीय आत्मा" की प्रसिद्ध काव्य रचना "हिम तरंगिणी" के एक सुन्दर गीत का है।

व्याख्या—कवि अपने जीवन का सभी कुछ खो जाने पर भी प्रसन्न है, यदि केवल एक ईश्वरीय सत्ता उससे न छूटे। कवि कहता है कि मेरे इस जीवन रूपी उद्यान में प्रत्येक प्रकार के साँसारिक सुखों एवं ऐश्वर्य रूपी फूलों तथा फलों का उद्गम एवं विकास हुआ। पर मैंने सबको ठुकरा दिया। मैंने किसी की परवाह नहीं की। परन्तु हे भगवन् ! तुम्हीं मेरे जीवन एवं प्राण हो, तुम मुझसे पृथक् न हो। हे परमात्मा ! तुम अब अपनी मूकता को छोड़ो, मौन का निवारण करो और अपनी वाणी रूपी सुधा से मुझे तृप्त हो जाने दो।

विशेष—कवि की ईश्वर पर अडिग श्रद्धा एवं अचल प्रेम इन पंक्तियों में कूट-कूट कर भरा है ।

> **जी पर, सिंहासन पर, सूली पर, जिससे संकेत चढ़**
> **आंखों में चुभती भाती सूरत मस्तानी किसकी है ?**
> **यह अमर निशानी किसकी है ?**

प्रसङ्ग—प्रस्तुत अवतरण माखनलाल चतुर्वेदी जी की "हिम-तरंगिणी" नामक पुस्तक का है । कवि अलक्ष्य सत्ता से प्रभावित है ।

व्याख्या—कवि अपने हृदय में अपने अंग-अंग में किसी ईश्वरीय सत्ता का अनुभव करता है । कवि जिज्ञासा करता है कि यह जो मैं सत्ता का प्रभाव अपने पर देख रहा हूँ यह किसका है ? कवि कहता है कि जिसको मैं सदैव अपने हृदय में स्मरण करता रहता हूँ और जिसके संकेत मात्र से अपने आप को न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहता हूँ, जिसके लिए मैं फाँसी पर जाने के लिए भी हिचकिचाता नहीं हूँ, जिसके कहने पर मैं विश्व के प्रत्येक कार्य को कर सकता हूँ एवं जिसकी धुंधली सी आकर्षक मूर्ति मेरे नेत्रों में एवं हृदय के सिंहासन पर विराजमान है, वह कौन है ? वह किसकी निशानी है जो कभी समाप्त नहीं होने वाली अर्थात् अमर है ?

> **मधुर-मधुर कुछ गा दो मालिक !**
> **प्रलय-प्रणय की मधु सीमा में, जी का विश्व बसा दो मालिक !**
> **रागें हैं लाचारी मेरी, तानें बात तुम्हारी मेरी,**
> **इन रंगीन मृतक खंडों पर, अमृत रस ढुलका दो मालिक !**
> **मधुर-मधुर कुछ गा दो मालिक !**

प्रसङ्ग—कविवर माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि हैं । 'हिम किरीटिनी' के उपरान्त 'हिमतरंगिणी' नामक पुस्तक आपकी प्रकाशित हुई है । इसमें विभिन्न विषयों के ५५ गीत हैं । प्रस्तुत पंक्तियाँ एक मधुर गीत की कुछ कड़ियाँ हैं जिनमें कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है ।

व्याख्या—कवि कहता है कि हे भगवन्, हे विश्व के स्वामी ! कुछ मधुर मधुर संगीतमय गाओ, जिससे विश्व में सरसता का संचार हो जाये । विश्व की विषमताएँ समाप्त हो जायें । दुःख-सुख, अश्रु-हास, प्रलय-प्रणय का मिलन

हो जाए और इनके मधुर सम्मिलन में एक नया हृदय का संसार बस जाये। कवि कहता है कि मेरे गीत वास्तव में गीत नहीं, उनके राग मेरी विवशताएँ हैं और उसका संगीत तुम्हारी और मेरी बातों का ही रूप है। कवि कहता है कि हे ईश्वर ! तुम अब ऐसा गा दो कि जिससे जड़ में भी चेतना जाग ही उठे, वह सजीव हो उठे। हे भगवन् ! इन रंगीन एवं जड़ पत्थरों पर जिनमें जीवन नहीं है, जो मृतक हैं, अमृत की वर्षा कर दो, जिससे वह जीवित हो उठें। तुम्हारी वाणी के अमृत के स्पर्श से ही निर्जीव भी सजीव हो जाये। हे स्वामी ! कुछ ऐसा ही मधुर-मधुर गाओ।

पत्थर के फर्श, कगारों में सींखों की कठिन कतारों में,
खंभों, लोहे के द्वारों में इन तारों में दीवारों में,
इन सुर शरमीले गुण गरवीले कष्ट सहीले वीरों में,
जिस ओर लखूं तुम ही तुम हो प्यारे इन विविध शरीरों में ॥

प्रसङ्ग—माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय कवि है। कवि पर–दुःखकातर एवं भक्तहृदय हैं। जेल की दीवारों में कवि बन्द है पर वहाँ भी वह ईश्वर के दर्शन करता है। कवि को सृष्टि के कण-कण में उसी अलक्ष्य सत्ता के दर्शन होते हैं। यह गीत भी कुछ ऐसी ही भावनाओं का है एवं 'हिम-तरंगिणी' नामक काव्य ग्रन्थ से उद्धृत है।

व्याख्या—कवि विश्व की प्रत्येक वस्तु में उस अलक्ष्य सत्ता का आभास पाने के लिये व्याकुल है। वह कहता है, जेल के इस पत्थर के फर्श, कगारों, सींखचों की पंक्तियों, बिजली के खंभों, लोहे के प्रवेश द्वारों में, जेल की दीवारों में और उनके बीच रहने वाले वह देशभक्त जो अपने गुण गर्व से देवताओं को भी लज्जित करते हैं एवं प्रत्येक प्रकार का कष्ट सह रहे हैं, इन सब वस्तुओं में एवं जहाँ तक और जितनी दूर मेरी दृष्टि जाये सब ओर मुझे हे भगवन् तुम्हारे ही दर्शन हों। सारांश यह कि कवि विश्व के कण-कण में, अणु-अणु में परमात्मा के दर्शन करने को लालायित है। दुनिया के प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक शरीर में वह ईश्वर का आभास पाने को उत्सुक है।

कुरुक्षेत्र

(देवधारी सिंह दिनकर)

लेखक :—

भारतभूषण 'सरोज'

कुरुक्षेत्र

प्रश्न १—कुरुक्षेत्र के काव्य सौष्ठव का दिग्दर्शन कराइये ।

उत्तर—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का कुरुक्षेत्र भावात्मक काव्य न होकर विचारात्मक काव्य है । दिनकर जी ने विचारों को ऐसे कौशल के साथ शृंखला-बद्ध किया है कि इस काव्य में एक विशेष प्रबन्धात्मकता आ गई है । कुरुक्षेत्र की निर्मिति में प्रमुख प्रेरक विचारों को कवि ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है, किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है ? या उस पर जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है ? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शान्ति की रचना दुर्योधन ने भी की थी, तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शांति का भंग नहीं करना चाहिए था ?" ये ही कुछ मोटी बातें हैं, जिन पर सोचते-सोचते यह काव्य पूरा हो गया ।

महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की विजय हुई, परन्तु घोर रक्तपात से लिप्त इस विजय से धर्मराज युधिष्ठिर विषण्ण हैं । उनकी इस विषण्णावस्था से लेकर ही प्रस्तुत काव्य का प्रारम्भ हुआ है । अपने हृदयगत अन्तर्द्वन्द्व के परिशमन के निमित्त धर्मराज मरणासन्न भीष्म पितामह के समक्ष जाते हैं । पितामह ने अपने सदुपदेश के द्वारा युधिष्ठिर की आत्मग्लानि का निवारण करके और उसे संन्यास धारण करने से विमुख करके कर्म-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी । कवि का प्रतिपाद्य पितामह के विचार ही हैं । युधिष्ठिर की ग्लानि को निवारण करने के निमित्त पितामह ने जो युक्तिपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, वे द्रष्टव्य हैं—

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू त्याग-तप से काम ले, यह पाप है ।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो ॥

वस्तुतः पितामह के ये विचार सर्वथा बुद्धि-सम्मत हैं, क्योंकि आज तक संसार में ऐसा कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं जहाँ कि किसी के स्वत्व पर

अतिक्रमरण करने वाले अत्याचारी ने किसी के त्याग-तप से प्रभावित होकर उसके अधिकार प्रदान कर दिये हों। इसी प्रकार--

स्वत्व मांगने से न मिलें, संघात पाप हो जायें,
बोलो धर्मराज, शोषित वे जियें कि या मिट जायें।

भीष्मपितामह के उपर्युक्त शब्द भी अक्षरशः बुद्धि-संगत हैं और निर्वितर्क हैं। अधिकार मांगने से तो मिलें नहीं और यदि उनको प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया जाये, वह पाप कोटि में रख दिया जाये तो फिर शोषितों के लिये कौन सा मार्ग शेष रह जाता है।

आज के इस छद्मवेशी युग में अहिंसा शब्द का पर्याप्त बोलबाला है। गांधीवाद के अन्तर्गत अहिंसा शब्द की भ्रमपूर्ण व्याख्या हुई है। कवि ने भीष्मपितामह के ब्याज से अहिंसा शब्द की सुन्दर एवं समीचीन व्याख्या की है। कवि का विश्वास है कि अहिंसा बलवान् का शस्त्र है। कोई निर्बल व्यक्ति अथवा समाज यह कहे कि मैं अहिंसा का पालन कर रहा हूँ, यह उसका ढोंगमात्र है, आत्मप्रवंचना है, क्योंकि जब उसमें प्रतिकार लेने का सामर्थ्य ही नहीं तो उसके लिये मौन धारण करने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है। यदि वह अपनी इस निर्बलता को अहिंसा की संज्ञा देता है तो वह उसका पाखंड है। इसी विचार की अभिव्यक्ति निम्न पद्य में दर्शनीय है--

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो?

वस्तुतः क्षमा उसी सर्प को शोभा देती है जिसके पास अपने अहित करने वाले से प्रतिकार लेने की पूर्ण शक्ति विद्यमान हो। यदि वह चाहे तो अपने शत्रु को भस्मसात् कर सकता है, परन्तु सामर्थ्य होते हुए भी किसी से प्रतिकार न लेना यह उसकी क्षमा होगी। जिस सर्प के पास दांतों का और विष का अभाव है और जो विनीत एवं सरल है उसके लिए क्षमा शोभा नहीं देती। इसीलिए यह विचार समीचीन है कि अहिंसा निर्बल का नहीं, बलवान् का शस्त्र है। अपने प्रतिद्वन्द्वी को भस्मसात् करने की पूर्ण क्षमता रखने वाला व्यक्ति अथवा समाज यदि उदारतापूर्वक उसको क्षमा कर दे तो यह उसकी अहिंसा होगी।

युगीन परिस्थितियों के प्रभाव से कवि ने प्रगतिवादी विचारों की भी कुरुक्षेत्र में अभिव्यक्ति की है। परन्तु कवि के ये विचार उसके प्रतिपाद्य प्रमुख विषय से सर्वथा असंबद्ध नहीं हैं। उनके ये विचार द्रष्टव्य हैं—

शान्ति नहीं तब तक जब तक, सुख-मार्ग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।
जब तक मनुज-मनुज का यह, सुख-मार्ग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।

प्रगतिशील विचारों के अन्तर्गत कवि किसी भी कर्मठ के सदृश भाग्यवाद का खण्डन करता है—

ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में, मनुज नहीं लाया है
अपना सुख उसने अपने, भुजबल से ही पाया है।
भाग्यवाद आवरण पाप का, और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन, भाग दूसरे जन का॥

यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि कविवर दिनकर साम्यवाद का उच्चार करने वाले प्रगतिवादियों की कोटि में नहीं हैं। साम्यवाद के समर्थक प्रगतिवादी केवल मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की ओर लक्ष्य करके चलते हैं; परन्तु दिनकर जी केवल भौतिक उत्कर्ष को प्राप्त मानव को निरा पशु मानते हैं। मानव ने बुद्धि के बल पर अनेकानेक वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार कर लिया, उसने बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली; परन्तु जब तक मनुष्य अपनी अन्त:प्रकृति पर विजय प्राप्त करके प्रेमपूर्ण व्यवहार करना नहीं सीखता, तब तक संसार में शांति नहीं हो सकती। तभी तो कवि कहता है—

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय,
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप।
भ्रमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्रजाल विचित्र,
श्रेय मानव के न आविष्कार ये अपवित्र।

इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी संसार के इतिहास की व्याख्या वर्ग-संघर्ष

के द्वारा करते हैं। उनका कहना है कि संसार का इतिहास शोषक और शोषितों के संघर्ष का ही इतिहास है। वे अतीत की ओर दुर्लक्ष्य करके चलते हैं; परन्तु भारतीय संस्कृति में पगे हुए दिनकर जी अतीत को महत्त्वपूर्ण बताते हैं। इसका कारण है कि साम्यवाद का जन्म योरोप में हुआ है जिसका अतीत अत्यन्त अन्धकारपूर्ण है। वहां भोगवाद का सदा से प्राधान्य रहा है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं—त्याग, यज्ञ, बलिदान। भारत के उज्ज्वल अतीत में हमारी संस्कृति के इन पवित्र सिद्धान्तों पर आचरण किया जाता था, इसी लिये कवि की अतीत के विषय में अपनी धारणा है कि—

"बंधे धर्म के बन्धन में सब लोग जिया करते थे,
एक-दूसरे का दुख हँसकर, बाँट लिया करते थे।
ऊंच-नीच का भेद नहीं था, जन-जन में समता थी,
था कुटुम्ब-सा जन-समाज, सब पर सब की ममता थी।
जी भर करते काम, जरूरत भर सब जन थे खाते,
नहीं कभी निज को औरों से थे विशिष्ट बतलाते।
सब थे बद्ध समष्टि-सूत्र में, कोई छिन्न नहीं था,
किसी मनुष्य का सुख समाज के, सुख से भिन्न नहीं था।"

कवि आशावादी है, उसका हृदय-परिवर्तन में विश्वास है। इसीलिये पितामह से धर्मराज को कहलवाता है—

"आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से;
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगी नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से;
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से॥"

कुरुक्षेत्र के विचार-पक्ष के विवेचन के अनन्तर उसके कला-पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिये। विचारों में एकसूत्रता एवं शृंखला होने के कारण

इस काव्य में एक विशेष प्रबन्धात्मकता आ गई है। अहिंसा जैसे गूढ़ भाव की व्याख्या कवि ने जो थोड़े से शब्दों में की है वह कवि के कौशल का परिचायक है। शब्दों के हेर-फेर से कवि ने अहिंसा का अधिकारी बलवान् को बतलाया है, निर्बल को नहीं।

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो,

कुरुक्षेत्र की भाषा विषय के अनुरूप परिवर्तित हुई है। इसकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली है जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो गया है. कुरुक्षेत्र की भाषा प्रसाद गुण से पूर्ण है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

बंधे धर्म के बन्धन में सब लोग जिया करते थे,
एक-दूसरे का दुख हंसकर, बांट लिया करते थे।

कहीं-कहीं कवि ने शास्त्रीय तथा अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

वह कौन रोता है वहां—
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढे कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का।
जिसका हृदय उतना मलिन मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है।

प्रस्तुत पद्यांश में व्याहार ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इसका अर्थ वाक्य होता है। इस शब्द के प्रयोग से यहां अप्रतीत दोष आ गया है। इसी प्रकार वलक्ष शब्द अप्रचलित है। यह संस्कृत वलक्ष का तद्भव है जिसका प्रयोग महाभारत में हुआ है। इसका अर्थ है प्रसादमय। यहां पर इसका अर्थ स्वच्छ, निर्मल, तथा सुलझी हुई लेना पड़ेगा, क्योंकि यहां इसका प्रयोग बुद्धि के लिये हुआ है। इस शब्द के प्रयोग से यहां अप्रयुक्त दोष आ गया है। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से भाषा के प्रसाद गुण को ठेस अवश्य पहुँची है परन्तु इन शब्दों का प्रयोग कवि के अभीष्ट वातावरण का निर्माण करने में सफल हुआ है।

इसी प्रकार कहीं-कहीं व्याकरणविरुद्ध प्रयोग भी इसमें उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

और तब सम्मान से जाते गिने
नाम उनके, देश-मुख की लालिमा
है बची जिनके लुटे सिन्दूर से,
देश की इज्जत बनाने के लिये
था चढ़ा जिनने दिए निज लाल हैं!

उपर्युक्त पद्य में 'जिनने' शब्द व्याकरणसम्मत नहीं, इसके स्थान पर जिन्होंने शब्द का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मात्रापूर्ति के लिये कवि ने 'जिनने' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द के प्रयोग से च्युत-संस्कृति दोष-आ गया है।

कवि ने यत्र-तत्र प्रचलित उर्दू-फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे इस पद्य में इज्जत शब्द। इसी प्रकार कवि ने लबालब, मगर, तूफान, जब तलक, कदराई इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है।

कहीं-कहीं मात्रा-पूर्ति के लिये कवि ने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। जैसे—

शृंग चढ़ जीवन के आरपार हेरते से
योगलीन लेटे थे पितामह गम्भीर से,

इसी प्रकार—

और तब रहता कहां अवकाश है
तत्त्वचिन्तन का, गभीर विचार का?

यहां गंभीर के स्थान पर गभीर शब्द का प्रयोग किया। गभीर का अर्थ भी गंभीर है; परन्तु यह प्रचलित शब्द नहीं है।

कहीं-कहीं पूर्ण शब्दों का प्रयोग न करके उनके एक भाग के प्रयोग से ही काम चलाया है। उदाहरणार्थ—

'चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भांति, तीर—
जिसके निषङ्ग में, करो में दृढ़ चाप है,

यहां कवि ने 'वह' का प्रयोग न करके 'व' से ही काम चलाया है। इसी प्रकार अन्यत्र 'और के स्थान पर औ' का प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा करके

दिनकर जी ने केवल कवि-सुलभ अधिकार का प्रयोग किया है। मात्रा-पूर्ति के निमित्त कवि ऐसा करने के लिये विवश हो गया।

'कुरुक्षेत्र' की भाषा में यत्र-तत्र अलंकार भी उपलब्ध हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास ही अधिक आया है। उदाहरणार्थ—

सुविकच, स्वस्थ, सुरम्य सुमन को
मरण-भीति दिखला कर,
करती हैं रस-भंग, काल का
भोजन उसे बता कर।

यहाँ प्रथम पंक्ति में अनुप्रास की सुन्दर छटा दर्शनीय है।

अर्थालंकारों में उपमा और रूपक ने 'कुरुक्षेत्र' में अपना स्थान बना लिया है। उदाहरणार्थ—

ईश जानें, देश का लज्जा विषय,
तत्त्व है कोई कि केवल आवरण
उस हलाहल-सी-कुटिल द्रोहाग्नि का
जो कि छलती आ रही चिरकाल से
स्वार्थ लोलुप सभ्यता के अग्रणी
नायकों के पेट में जठराग्नि।

यहाँ द्रोहाग्नि को हलाहल और जठराग्नि के समान बताया गया है, अतः यहाँ उपमा की सुन्दर छटा है।

पर स्वतन्त्रता-मणि का इनसे, मोल न चुक सकता है,
मन में सतत दहकने वाला, भाव न रुक सकता है।

इस पद्य में 'स्वतन्त्रता-मणि' में रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

हमें यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि 'कुरुक्षेत्र' की भाषा में अलंकारों ने भावापहरण न करके भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण योग दिया है। 'कुरुक्षेत्र' में पाये जाने वाले अलंकारों की संख्या थोड़ी है, परन्तु जो भी अलंकार आए हैं वे प्रयाससाध्य न होकर स्वतः आए हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां 'कुरुक्षेत्र' का विचारपक्ष अत्यन्त उच्च एवं सुलभा हुआ है, वहां उसका कलापक्ष सर्वथा उससे सामञ्जस्य रखने वाला

है । दोनों पक्ष प्रबल होने के कारण 'कुरुक्षेत्र' का हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में अपना एक विशिष्ट स्थान है ।

प्रश्न २—"कुरुक्षेत्र" में कवि ने कथा के व्याज से हिंसा-अहिंसा और साम्यवाद-गांधीवाद के सम्बन्ध में अपने भाव प्रकट किये हैं।" इस उद्धरण की समीक्षा कीजिये ।

उत्तर—साहित्य शाश्वत है । उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । युधिष्ठिर और भीष्म का जो तेजस्वी रूप तथा उनकी धर्म के प्रति जो दृढ़ भावनाएं महाभारत में व्यक्त की गई हैं, उन्हीं को युग के अनुरूप अभिव्यक्ति देने का सफल प्रयास दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र में किया है ।

संसार में सुख-दुःख का सामंजस्य होना चाहिये । पन्त जी का कथन है—

जब तक मनुज-मनुज का यह सुख भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा ।

तथा—

जग पीड़ित है अति दुख से । जग पीड़ित हैं अति सुख से ॥

इनके बटवारे से ही मानव जाति में सुख और शान्ति हो सकती है । क्रान्ति का रूप शान्ति में परिवर्तित हो सकता है । देश में क्रान्ति, द्रोह, ईर्ष्या आदि का मूल कारण यही है । इसी वैषम्य के कारण कभी शान्ति नहीं हो सकती । परन्तु आज यह वैषम्य कलह बढ़ाने की पहेली सी बन गई है । यही युद्ध का मूल कारण है । इसी से शान्ति क्रान्ति में परिवर्तित हो जाती है । अत एव—

शान्ति नहीं तब तक जब तक, सुख-भाग न नर का सम हो ।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो ॥

कवि जब किसी एक विशेष घटना को अपने काव्य में उद्धृत करना चाहता है, तो उस समय उसके सामने विशेष अधिकारों की भावना भी बनी रहती है । घटना को किसी अन्य रूप में बदलकर उद्धृत करने का जहां कवि को पूर्ण अधिकार है वहां पात्रों के चरित्र चित्रण के क्षेत्र में उसे संकुचित होना पड़ता है । पात्र के चरित्र-चित्रण को बदलना पात्र के प्रति अन्याय करना है । प्रस्तुत काव्य के कवि ने महाभारत महाकाव्य का अनुसरण करना

ही अपना लक्ष्य नहीं समझा। उसने स्वयं भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि "कुरुक्षेत्र की रचना न तो भगवान् व्यास का अनुकरण है और न ही महाभारत को दोहराना मेरा उद्देश्य है। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, परन्तु तब यह रचना केवल मुक्तक रूप में ही रह गई होती।" परन्तु फिर भी रचना को प्रबन्ध के रूप में लाना ही कवि का उद्देश्य मात्र न था।

'कलिङ्ग विजय' नामक कविता को लिखते हुए कल्पना की ऊँची उड़ानों में कवि को ऐसा जान पड़ा कि शायद "युद्ध की समस्या सारी समस्याओं की जड़ है।" इसी क्रम में कवि की दृष्टि जब द्वापर की ओर पड़ी तो उन्होंने युधिष्ठिर को देखा, जो 'विजय" इस छोटे से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे। किन्तु यहां भीष्म के धर्म-कथन में प्रश्न का दूसरा पक्ष भी विद्यमान था।

"युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है उस पर, या जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये आतुर है उस पर ? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शान्ति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी; तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शान्ति का भंग नहीं करना चाहिए था ?" यह विवादास्पद प्रश्न कुरुक्षेत्र की रचना को पूरा कर देता है। अतः गांधीवादी सिद्धान्त को मानकर ही शत्रु को जीता जाय या हिंसक को हिंसा द्वारा ही जीता जाय ? यही एक प्रश्न उनके सामने था। इसी समस्या को हल करने के उद्देश्य से उन्होंने महाभारत के युधिष्ठिर और भीष्म इन पात्रों को चुना। गीता में भी प्रश्न करने वाला अर्जुन है और उत्तर देने वाला कृष्ण है। वहाँ अर्जुन मोही के रूप में दिखाई देते हैं और कृष्ण बुझती हुई शिखा में घृत डालने वाले और उत्तेजक के रूप में दिखाई देते हैं। प्रस्तुत काव्य में भी युधिष्ठिर गाँधीवाद के सिद्धान्त के पोषक हैं और भीष्म हिंसा द्वारा ही शत्रु को जीतना चाहते हैं।

भीष्म शरशय्या पर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर के हृदय में जो-जो प्रश्न पश्चात्ताप के उठे उनका समाधान भीष्म ने किया। युधिष्ठिर पश्चात्ताप करते

हैं। "मैंने हिंसक को हिंसा द्वारा जीता, आह ! अनर्थ किया !" परन्तु उधर भीष्म समाधान करते हुए कहते हैं कि हृदय में जो द्रोहाग्नि उठी थी वह किसी न किसी रूप में निकलनी अवश्य थी। युधिष्ठिर का हृदय पश्चात्ताप की अग्नि से जल रहा था, वे संसार को अपना मुख दिखलाने में किसी प्रकार असमर्थ पाते थे, किसी प्रकार मन शान्त नहीं–न वन में, न आत्मघात करने में ही कुशल है, क्या करें–

जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
एक आग तब से ही जलती है मन में;
+ + + +
मानव को देख आंखें आप झुक जातीं, मन
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊं वन में।

वहाँ इतना तो होगा ही कि—

पशु खग भी न देख पायें जहां, छिपा
किसी कन्दरा में बैठ अश्रु खुल के बहाऊंगा।
जानता हूं, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूंगा, दुःख तो भुलाऊंगा॥

परन्तु फिर भी—

बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूं कभी
तो भी सुनता हूं अट्टहास क्रूर काल का,
और सोते जागते में चौंक उठता हूं मानो
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।

परन्तु भीष्म युद्ध और हिंसा का समाधान करते हुए कहते हैं—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी।
किन्तु उक्त प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।

वे कहते हैं हृदय में जो द्रोहाग्नि उठी थी वह किसी न किसी रूप में निकलनी अवश्य थी–

भट्टियाँ इस भांति जब तैयार होती हैं तभी
युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता
राजनीतिक उलझनों के व्याज से,
या कि देश प्रेम का अवलम्ब ले।

और भी—

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

अत्याचारी का आत्मबल से उद्धार होना सर्वथा असम्भव है। रामायण के राम भी शस्त्र बल से, युद्ध से, हिंसा द्वारा ही अत्याचारी रावण का विध्वंस करते हैं—

कानन में देख अस्थि पुंज मुनि पुंगवों का
दैत्य-वध का था किया प्रण जब राम ने,
"मतिभ्रष्ट मानवों के शोध का उपाय एक
शस्त्र ही है ?" पूछा था कोमलमना वाम ने

इस पर राम ने उत्तर दिया कि—

"नहीं प्रिये, सुधर मनुष्य सकता है तप, त्याग से भी,
तप का परन्तु वश चलता नहीं सदैव पतित—
समूह की कुवृत्तियों के सामने।"

क्षमा का अधिकार शक्तिमान् को है। इसी का समाधान भीष्म ने किया है। प्रस्तुत काव्य में यदि क्षमा द्वारा युद्ध क्षम्य कर दिया जाता तो यह सम्भव ही था कि शत्रु पक्ष उनको निर्बल ही बनाता। "आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है।"

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत सरल हो ?

और भी—

सहनशीलता, क्षमा, दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।

गीता में भी युद्ध के आरम्भ में स्वयं भगवान् ने अर्जुन से जो कुछ कहा उसका सारांश भी अन्याय के विरोध में तपस्या के प्रदर्शन का निवारण था।

इस प्रकार सम्पूर्ण पुस्तक में कवि ने साम्यवादी भावना की पुष्टि के साथ-साथ कर्मवाद का दिव्य प्रकाश बिखेरा है। कवि नहीं चाहता कि मानव भाग्य के पीछे पड़ा रह कर अपने जीवन को अंधकारमय करे। वह जीवन को क्षण-भंगुर बनाकर उसके प्रति पलायन वृति नहीं रखना चाहता। यद्यपि यह जीवन मरण का दामन पसारे खड़ा है, इसके पग-पग में अन्धकार और आशंका की कीचड़ बिछी है, फिर भी साहस और वीरता से ही काम चल सकता है, कर्त्तव्य की प्रेरणा ही जीवन को ऊंचे स्तर पर ले जाकर बिठा सकती है। मनुष्य कर्मशील है। इस प्रकार सारे काव्य में उन्होंने गाँधीवाद की अपेक्षा साम्यवाद की पुष्टि की है। दूसरे शब्दों में वह वर्तमान युग का भगवान् कृष्ण तथा महाभारत का भीष्म प्रगट हुआ है।

प्रश्न ३ - कुरुक्षेत्र के आधार पर सिद्ध कीजिए कि दिनकर के काव्य में विचारों के ऊपर भावों का भी एक पर्दा पड़ा रहता है।

उत्तर—आज के युग में जो प्रगतिवादी युग आ रहा है उसी के अन्तर्गत यह प्रस्तुत काव्य है। दिनकर उन प्रगतिवादी कवियों में से हैं, जिनके काव्य में विचारों के ऊपर भाव का भी एक पर्दा अवश्य पड़ा रहता है, वे केवल विचार की ओर ही नहीं देखते वरन् पाठकों की भावनाओं को भी आन्दोलित करते हैं। दिनकर कल्पना-प्रसूत कवि हैं। उनकी कल्पना उत्तमकोटि पर पहुँचती है। भाषा की रसात्मकता को लाकर वे विचार को उद्वेग में लाने का प्रयत्न करते हैं। कवि ऐसे राष्ट्र का सृजन करना चाहता है जहाँ कर्तव्य की प्रेरणा ही जीवन का मूल तत्त्व हो, जहां कर्तव्य की आवाज ही जिन्दगी की आवाज हो। संसार की वास्तविकता से जहां अन्य कवि गण ने काल्पनिक जगत् की ओर भागने की चेष्टा की है, वहाँ दिनकर ने उस कठोर वास्तविकता से होड़ लेने की ठानी है, क्योंकि उनका कहना है कि काव्यों का रसास्वादन पृथ्वी के निवासी अर्थात् वास्तविक जगत् के प्राणी करेंगे न कि स्वर्ग के देवता।

उनका लक्ष्य उन्मुक्त आकाश में विचरण करना नहीं है अपितु पृथ्वी पर ही स्वर्ग खड़ा करना है, और इसलिए इनके काव्यों में कल्पना की उड़ान

अवश्य है, पर वह जीवन और जगत् की डोरी से इस प्रतार बंधी है कि कल्पना और भावना पर इनका नियन्त्रण बना रहता है। दिनकर भावना के आकाश में उड़ते अवश्य हैं परन्तु सीमा तक। उन्होंने आज के मानव का भी अत्यन्त कवित्वपूर्ण चित्र खींचा है।

चाहिए न उसको केवल ज्ञान
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
+ + +
चांदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान;
+ + +
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर,
फूल की, रस में बसी-भीगी हुई जंजीर।

कितनी कवित्वपूर्ण पंक्तियाँ हैं। उपदेश बोझल न होकर सरस एवं सौष्ठव-युक्त है। इस प्रकार एक नूतन संदेश, नई प्रेरणा अकिंचन भाव से प्राप्त होती है।

आज का मानव पहले के मानव से भिन्न है। पहले का मानव प्रकृति में रहता था, परन्तु आज का मानव प्रकृति से हटकर नागरिकता की ओर चला गया है। "लगे हैं हम मानव का संहार करने", "आज का मानव इस सांसारिकता से हटकर भावुकता की ओर बढ़े" यह कवि की इच्छा है। परन्तु वे आज के मानव की दशा का भी चित्र अंकित करते हैं कि वह किस ओर बढ़ा जा रहा है। युद्ध के शोषण से अपने करों को रंग कर जो मनुष्य ज्ञानी और विद्वान् होने का दावा करते हैं उनके प्रति दिनकर का विद्रोहात्मक हृदय गूंज उठा है—

व्योम से पाताल तक सब कुछ उसे है ज्ञेय,
पर, न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
× × ×
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान्, और मानव भी वही।

इनके काव्य में कवित्व-शक्ति अत्यधिक पाई जाती है, जो इनकी प्रधान विशेषता है। युधिष्ठिर के अत्यन्त करुण पश्चात्ताप तथा भीष्म का युद्ध के प्रति समर्थन तथा ओज, वीरता तथा उत्साह से पूर्ण उक्तियों को पढ़कर सचमुच पाठक का हृदय आन्दोलित हो उठता है। कभी उसकी भावनाएं युधिष्ठिर की करुण उक्तियों की ओर द्रवीभूत होकर यह प्रकट करती हैं कि वास्तव में युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है, तो दूसरी ओर भीष्म की ओजस्विनी प्रवाहमयी शब्दावली द्वारा चित्रित शब्दचित्रों को देखकर वह भी उसी में मग्न हो जाता है और उत्साह से उसमें भी जोश आ जाता है।

"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।

उधर दूसरी ओर भीष्म का वीरतापूर्ण आदर्श हैं—

कायरों सी बात कर मुझको जला मत, आज तक
है रहा आदर्श मेरा वीरता, बलिदान ही,
जाति-मन्दिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूं विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।

तथा—

सच पूछो, तो शर में ही बसती हैं दीप्ति विनय की,
सन्धि-वचन संपूज्य उसी का जिसमें शक्ति विजय की।

इस प्रकार कवि ने अपने काव्य में सजीवता और वास्तविकता को कितनी पटुता और काव्यकुशलता से चित्रित कर पाठक की भावनाओं को भी आन्दोलित कर परिणाम तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। भीष्म की उक्तियों में ओज गुण का प्रवाह है। इसी के बल पर वह युधिष्ठिर के पश्चात्ताप पर उसकी अहिंसक शक्ति पर विजय प्राप्त करता है और युद्ध को मानव का कर्त्तव्य सिद्ध करता है। कर्त्तव्यपरायणता का कितना सुन्दर उदाहरण है—

जिनकी भुजाओं की शिराएं फड़की ही नहीं
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का,

जिनके हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका,
जिनको सहारा नहीं भुजा के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्म-बल का ॥

कवि ने भाग्यवाद का खण्डन किया है। कवि को यह स्वीकार नहीं कि मानव भाग्य के पीछे पड़ा रह कर उस पर ही हाथ धरे बैठा रहे और चारों ओर से हमारे ऊपर अत्याचारों के पहाड़ टूटते रहें और मानव इनके पंक में फँसा रहे। जब तक इन भुजाओं में रक्त का संचार है और होता रहेगा तब तक कवि अधिकार की भीख मांगना नहीं चाहता—

गिड़गिड़ा कर किन्तु माँगे भीख क्यों
वह पुरुष जिसकी भुजा में शक्ति हो।

+ + +

जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है, वह मनुज मात्र का धन है,
धर्मराज, उसके कण-कण का अधिकारी जन-जन है।

क्षमा याचना एवं अहिंसा का आश्रय केवल उन्हीं को शोभा देता है, जिनकी भुजाओं में शक्ति हो, जिनके हृदय में बिजली से खेल खेलने का साहस हो और जो अंगारों के शोलों पर हंसते हुए आगे की ओर बढ़ सकें।

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उनको क्या जो दन्तहीन विष रहित विनीत सरल हो।

इस प्रकार कवि ने साम्यवादी दृष्टिकोण को ही लिया है। आज के वैषम्य को शान्त करने का भी साधन साम्यवाद को आदर्श मानकर चलना है। इस प्रकार कवि ने विचारों के साथ-साथ पाठकों की भावनाओं को भी आन्दोलित करने में सफलता प्राप्त की है।

कुरुक्षेत्र—व्याख्या-भाग

वह कौन रोता है वहाँ-इतिहास के अध्याय पर
जिसमें लिखा है नौ जवानों के लहू का मोल है।
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष बलक्ष है
जो आप तो लड़ता नहीं कटवा किशोरों को मगर
आश्वस्त हो कर सोचता,
शोणित बहा लेकिन गई बच लाज सारे देश की ?

यह 'कुरुक्षेत्र' के प्रथम सर्ग का प्रथम पद्य है। कुरुक्षेत्र का प्रारम्भ ही इस प्रकार होता है कि कवि एक चिन्ताग्रस्त महान् विभूति को देखकर कहता है—

वहाँ पर वह कौन अश्रुधारा बहा रहा है ? यह अश्रुधारा बहाने वाले धर्मराज युधिष्ठिर हैं। महाभारत के युद्ध में कौरवों के पूर्ण विनाश के उपरान्त धर्मराज अत्यन्त विषण्ण हैं। वह इतिहास पर दृष्टि डालते हैं। इतिहास का मनन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नवयुवकों के रक्त का मूल्य किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के वाक्य का विश्वास है अर्थात् किसी वृद्ध कुटिल नीतिज्ञ के नीति वाक्य का विश्वास ही नवयुवकों के रक्तपात का कारण बनता है। नवयुवक उस वृद्ध नीतिज्ञ की बात को प्रमाण मानते और तदनुसार आचरण करते हैं। उस वृद्ध कुटिल नीतिज्ञ की बुद्धि जितनी स्वच्छ एवं निर्मल है उसका हृदय उतना ही मलिन है, वह स्वयं तो युद्ध में भाग नहीं लेता परन्तु उसका सूत्रधार होता हुआ नवयुवकों को युद्धाग्नि में भस्मसात् करवा कर ही संतुष्टि का अनुभव करता है और सोचता है कि रक्तपात तो हुआ परन्तु सारे देश की लाज बच गई।

प्रस्तुत पद्य की भाषा अत्यन्त सरल है परन्तु इसमें व्याहार तथा वलक्ष आदि शब्दों के प्रयोग के कारण अप्रतीत और अप्रयुक्त दोष आ गया है। 'व्याहार' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में उपलब्ध होता है। 'वलक्ष' शब्द संस्कृत

'बलक्ष' का तद्भव है जिसका अर्थ है प्रसाद पूर्ण । यहाँ यह शब्द बुद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ है । यहाँ पर इसका प्रयोग बुद्धि की स्वच्छता और निर्मलता के अर्थ में हुआ है । यह भी एक अप्रचलित शब्द है । हमें यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि ये दोनों ही शब्द सर्वथा व्याकरण सम्मत हैं । प्रस्तुत पद्य में शीर्ष शब्द एक लाक्षणिक प्रयोग है । यहाँ शीर्ष का अर्थ 'सिर' न होकर 'बुद्धि' है ।

ईश जानें, देश का लज्जा विषय तत्त्व है कोई कि केवल आवरण
उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्नि का जो की जलती आ रही चिर-काल से
स्वार्थ लोलुप सभ्यता के अग्रणी नायकों के पेट में जठराग्नि-सी ।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के प्रथम सर्ग से उद्धृत किया गया है । देश की रक्षा के निमित्त लक्षावधि नवयुवक अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं । जिससे कितनी ही देवियाँ विधवा हो जाती हैं तथा कितनी ही माताओं की गोद शून्य हो जाती है । कवि सोचता है—

भगवान् ही जानता है कि देश की लज्जा नाम की कोई वास्तविक वस्तु है अथवा यह केवल उस विष के सदृश कुटिल द्रोहजन्य अग्नि का आवरण मात्र है अर्थात् देश की लज्जा एक पर्दा है जिसके नीचे हलाहल के सदृश द्रोह की अग्नि प्रज्वलित रहती है । यह अग्नि सभ्यता के अगुए, स्वार्थी नायकों के पेट में अन्न के पाचन करने वाली अग्नि के समान निरन्तर जलती रहती है और यह चिरकाल से जलती चली आ रही है ।

देश की लज्जा के नाम पर कितना रक्तपात हो जाता है । देश की लज्जा नाम की कोई वास्तविक वस्तु है इससे कवि सहमत प्रतीत नहीं होता । इसी लिए वह 'ईश जाने' कहता है । इस पद्य में द्रोहाग्नि को हलाहल-सी कुटिल बताया है । यहाँ उपमा सुन्दर बन पड़ी है । यह पूर्णोपमा है जिस में उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं । द्रोहाग्नि की उपमा जठराग्नि से भी दी गई है । जठराग्नि पेट में निरन्तर प्रज्वलित रहती है, इसी प्रकार द्रोहाग्नि भी निरन्तर प्रज्वलित रहती है । यहाँ पर भी उपमा का सुन्दर निर्वाह है । इस पद्य की भाषा अत्यन्त सरल है । अलंकारों ने कहीं भी भावापहरण नहीं किया है वरन् भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण योग दिया है ।

'आ गए हम पार, तुम उस पार हो, यह पराजय या कि जय किसकी हुई ?
व्यंग्य, पश्चात्ताप, अन्तर्दाह का अब विजय उपहार भोगो चैन से ।"

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के प्रथम सर्ग से उद्धृत किया गया है। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों के अपने ही भाई कौरवों का पूर्ण विनाश हो गया। सब लोग विजय का आनन्द मना रहे हैं परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर इस विजय से दुखी हैं। उनका अन्तःकरण रो रहा है, उनका हृदय अत्यन्त विषण्ण है। उन्हें एक स्वप्न सा दिखाई देता है जिसमें सुयोधन (दुर्योधन) कह रहा है—

हम संसार के झंझटों को पार करके इधर परलोक में आ गए हैं और तुम उस पार संसार में विद्यमान हो। यह किसकी विजय अथवा पराजय हुई है। आज तुम्हें यह विजय भी एक व्यंग्य करती हुई दीख रही है। इस विजय पर तुम पश्चात्ताप कर रहे हो और तुम्हारा अन्तःकरण दह्यमान है। अब तुम इस व्यंग्य, पश्चात्ताप और अन्तर्दाह से युक्त विजय रूपी उपहार का शांतिपूर्वक भोग करो।

धर्मराज को विजय में भी भाग्य का व्यंग्य दीखता था। सुयोधन का उपर्युक्त कथन उनके विषण्ण हृदय को और अधिक पीड़ा देता है। इस पद्य की भाषा अत्यन्त सरल खड़ी बोली है। भाषा में अत्यधिक प्रवाह है। 'विजय उपहार' में रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

"कानन में देख अस्थि-पुंज मुनि पुंगवों का
दैत्य-वध का था किया प्रण जब राम ने।
"मतिभ्रष्ट मामवों के शोध का उपाय एक
शस्त्र ही है ?" पूछा था कोमलमना वाम ने।
"नहीं प्रिये सुधर मनुष्य सकता है तप,
त्याग से भी" उत्तर दिया था घनश्याम ने।
"तप का परन्तु वश चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने।"

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय सर्ग से उद्धृत किया गया है। महाभारत के युद्ध में विजय से विषण्ण धर्मराज अपने शंकाकुल हृदय के समाधान के लिये मरणासन्न भीष्म पितामह के समीप पहुँच जाते हैं। वहाँ भीष्मपितामह उन्हें धर्म-अधर्म से परिचित कराते हैं। जब कोई स्वत्व छीनने को उद्यत हो तो उस समय त्याग-तप से कार्यसाधन नहीं होता। पाशविकता की खड्ग के

सामने आत्मबल का कुछ बश नहीं चलता। इसके आगे और समझाते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

श्रेष्ठ मुनियों की हड्डियों का समूह वन में देख कर जब राम ने राक्षसों के संहार का प्रण किया था तब कोमल मन वाली सीता देवी ने उनसे पूछा था कि क्या मतिभ्रष्ट मनुष्यों को ठीक करने का उपाय केवल एक शस्त्र ही है ? कोई अन्य ऐसा उपाय नहीं जिसके द्वारा उनको सुधारा जा सके। तब श्री रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया था कि केवल शस्त्र ही मतिभ्रष्ट मानवों को ठीक करने का उपाय नहीं, मतिभ्रष्ट मानव तप और त्याग के द्वारा भी सुधर सकता है। आगे भीष्मपितामह कहते हैं कि नीच प्रवृत्ति वाले समुदाय के समक्ष तप और त्याग का सर्वदा वश नहीं चलता। जब उनके सुधारने में तप और त्याग असमर्थ रह जाते हैं तो शस्त्र की ही शरण लेनी पड़ती है। इसी प्रकार कौरवों को सुधारने के लिये पहले सारे प्रयत्न किये गए परन्तु जब शांतिपूर्ण सारे प्रयत्न विफल हो गए तभी शस्त्र द्वारा उनका संहार किया गया।

इस पद्य की भाषा कुछ संस्कृतगर्भित है फिर भी भाषा में एक प्रवाह है जो भावों को स्पष्ट रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत सरल हो !

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के तृतीय सर्ग से उद्धृत किया गया है। महाभारत के युद्ध में विजय-प्राप्ति पर धर्मराज युधिष्ठिर का मन अत्यन्त विषण्ण है। वह अपने हृदय में उठने वाले भावों के समाधान के निमित्त भीष्मपितामह के समक्ष जाते हैं। भीष्मपितामह उसे धर्म-अधर्म का रहस्य बतलाते हैं। वे कहते हैं कि हे धर्मराज माना युद्ध एक निन्दनीय कर्म है। परन्तु जब स्वत्व माँगने से न मिले तो उसका उपाय युद्ध ही शेष रह जाता है। दुर्योधन को मनाने के लिये क्षमा, दया, तप, त्याग और मनोबल का आश्रय लिया गया परन्तु दुर्योधन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रस्तुत पद्य में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या कवि ने बहुत सरल ढंग से की है। उसने भीष्मपितामह को आगे करके यह बतलाया है कि अहिंसा का अधिकारी कौन है—

क्षमा कर देना अथवा अहिंसा उस सर्प को शोभा देती है जिसके पास बिष

हो। क्षमा उस सर्प को शोभा नहीं देती जो दन्तहीन हो, विष रहित हो, विनीत अथवा नम्र हो और सरल हो। भाव यह है कि अहिंसा का अधिकारी वह है जो शक्तिसम्पन्न हो, जिसमें अपने शत्रु से प्रतिशोध लेने का पूर्ण सामर्थ्य हो। अपने शत्रु से प्रतिशोध लेने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति यदि अपने शत्रु को क्षमा कर दे तो वह अहिंसा शोभनीय होगी, वही वास्तविक अहिंसा होगी। और यदि कोई व्यक्ति जो शक्ति विहीन है, अपने शत्रु से प्रतिशोध लेने की सामर्थ्य नहीं रखता, उनको नष्ट कर देने की क्षमता नहीं रखता, वह यह कहे कि मैं क्षमाशील हूँ और अहिंसा का पालन करता हूँ तो उसका यह कथन कोरा पाखण्ड होगा क्योंकि ऐसी दशा में उसके लिये और कोई मार्ग शेष नहीं रहता। सामर्थ्य के अभाव में उसे चुप रहना पड़ता है। इसी लिये कहा गया है कि अहिंसा बलवान् का शस्त्र है, निर्बल का नहीं।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने आधुनिक काल को आच्छादित करने वाले अहिंसा शब्द की कितने सुन्दर तथा सरल ढंग से व्याख्या की है। इसमें यह बताया गया है कि अहिंसा का अधिकारी कौन है। गांधीवाद के द्वारा अहिंसा शब्द की प्रायः भ्रष्ट व्याख्या होती रही है। कवि गांधीवादी अहिंसा से सहमत नहीं है। वह अहिंसा के वास्तविक स्वरूप की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करता है। इतने बड़े भाव को इतनी सरल भाषा में तथा थोड़ी सी पंक्तियों में सुन्दर रूप से व्यक्त कर देने का कवि का कौशल अत्यन्त सराहनीय है।

प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएं दीप्त,
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है,
छोड़ प्रतिवैर पाते मूक अपमान वे ही
जिन में न शेष शूरता का वह्निताप है,
चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भांति, तीर
जिसके निषंग में करों में दृढ़ चाप है,
जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु,
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के तृतीय सर्ग से उद्धृत किया गया है। धर्मराज महाभारत के युद्ध की विजय से विषण्ण हैं। भीष्मपितामह उनके सम्मोह का निवारण करते हैं। उनका कहना है कि संसार सहनशीलता, क्षमा और

दया का तभी आदर करता है जब उनके पीछे बल का दर्प देदीप्यमान हो। जहाँ बदला लेने का सामर्थ्य न हो वहाँ यह कहना कि हम क्षमाशील हैं, आत्मप्रवंचना है। क्षमा करने की क्षमता शूरवीरों का शृङ्गार बतलाते हुए भीष्मपितामह धर्मराज से आगे कहते हैं—

प्रतिशोध के द्वारा शौर्य की शिखाएं प्रज्वलित होती हैं। प्रतिशोध न लेने की भावना मनुष्य में महापाप है। इसका यह कारण है कि यदि दुष्ट प्रवृत्तियों से प्रतिशोध नहीं लिया जायगा तो उसका उत्साह और भी बढ़ेगा जिसका फल यह होगा कि अत्याचार और अनय और भी बढ़ेंगे। जिन लोगों में शूरता की अग्नि का तनिक भी अवशेष नहीं रह गया है वे ही वैर-शोधन का भाव छोड़कर अपमान को चुपचाप सहन करते रहते हैं और जिसके हाथों में सुदृढ़ धनुष और तरकस में तीर हैं वह चोट खाकर अर्थात् अपमान सहन करके सहिष्णु क्यों बना रहेगा? सहिष्णुता और क्षमा विजेता के विभूषण हैं, उसी को शोभा देते हैं परन्तु पराजित जाति सहिष्णु बनी रहेगी तो वह सदैव पराधीनता के बंधन में बंधी रहेगी।

इस पद्य में कवि ने पराधीन भारत की जनता को प्रतिशोध के लिये उद्यत किया है। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व की अवस्था में कवि गाँधी जी के सहिष्णुता और क्षमा के सिद्धान्त से सहमत प्रतीत नहीं होता। वह प्रतिशोध के लिये आवाहन करता है और पराधीन भारत के लिये सहिष्णुता को अभिशाप बतलाता है। वास्तव में धर्मराज और युधिष्ठिर को आगे रखकर कवि ने तत्कालीन समस्याओं के समाधान के लिये अपने विचार प्रस्तुत किए हैं जो आप में पर्याप्त तर्कपूर्ण तथा बुद्धिग्राह्य हैं।

धर्म है हुताशन का धधक उठेगा तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड-वेग वायु को बुलाता है?
फूटेगा कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव;
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?
फूंक से जलायेगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है?
विद्युत खगोल से अवश्य ही गिरेगी कोई
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है?

प्रस्तुत पद्य कुरुक्षेत्र के तृतीय सर्ग से उद्धृत किया गया है। जिस प्रकार युद्ध के पूर्व रणस्थल में अर्जुन को मोह हुआ था और श्रीकृष्ण ने उसका समाधान किया था उसी प्रकार युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपरान्त धर्मराज का मन विषण्ण हो गया। अपने समाधान के लिये वह मरणासन्न भीष्म पितामह के पास पहुँचते हैं। भीष्म पितामह प्रतिशोध का समर्थन करने हैं। कौरवों से जब किसी प्रकार भी सन्धि न हो सकी तभी पाण्डव प्रतिशोध के लिये उद्यत हुए। प्रतिशोध की भावना को स्वाभाविक बताते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

तुरन्त धधक उठना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है। उसके धधकने के लिये प्रचण्ड वेग वाली वायु को बुलाने की आवश्यकता नहीं। ज्वालामुखी पर्वत में से ज्वाला का निकलना अटल है, अतः उसमें से ज्वाला के निकलने के लिये संसार को उसके मुख पर बैठ कर धूम मचाने की आवश्यकता नहीं। भयंकर सर्प अपनी फुफकार से पृथ्वी को स्वयं ही जलायेगा, खरोंच मारकर उसको जगाने की आवश्यकता नहीं। आकाश से बिजली का गिरना स्वाभाविक है अतः वह अवश्य ही गिरेगी। इसी प्रकार किसी के उत्कट अभिमान को ठोकर मारकर उद्दीप्त करने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही प्रतिशोध के रूप में प्रकट हो जायगा।

इस पद्य की भाषा संस्कृतगर्भित है परन्तु फिर भी उसमें एक गति है, प्रवाह है। इसमें उपयुक्त उदाहरणों द्वारा प्रतिशोध की भावना की स्वाभाविकता का प्रतिपादन किया है।

सच है, सत्कृत किया अतिथि-भूपों को तुमने मन से,
अनुनय, विनय, शील, समता से, मंजुल, मिष्ट वचन से ॥१॥
पर स्वतन्त्रता-मणि का इनसे, मोल न चुक सकता है,
मन में सतत दहलने वाला भाव न रुक सकता है ॥२॥

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के चतुर्थ सर्ग से उद्धृत किये गए हैं। महाभारत के युद्ध की विजय से विषण्ण धर्मराज युधिष्ठिर को भीष्मपितामह बतलाते हैं कि युद्ध सहसा नहीं होता है। उसके कारण बहुत दिनों पहले तैयार होते रहते हैं। इसी महाभारत के युद्ध के पूर्व बहुत दिनों से पारस्परिक विद्वेष

पल रहा था और उसमें जो कुछ कमी रह गई थी वह तुम्हारे राजसूय ने पूरी कर दी। अन्य राजाओं को तुम्हार: राजसूय रण-कौशल-सा ही प्रतीत हुआ। आगे भीष्मपितामह कहते हैं कि—

यद्यपि यह सत्य है कि तुमने अतिथि राजाओं का अपने निश्छल मन से स्वागत किया था। तुमने अनुनय, विनय, शील, समभाव, सुन्दर और मधुर वचनों से उनका सत्कार किया था परन्तु इन बातों के द्वारा स्वतन्त्रता रूपी मणि का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। मन में एक के उत्कर्ष को देखकर प्रज्वलित रहने वाला ईर्ष्या का भाव नहीं रुक सकता। तुम्हारे राजसूय के द्वारा उनकी स्वतंत्रता का जो अपहरण हुआ सो उनको सह्य नही था। उनकी स्वतंत्रता रूपी मणि का तुम्हारे सद्भाव पूर्ण स्वागत से मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। परतन्त्र होने पर उनका ईर्ष्या भाव उद्दीप्त हुआ और जिसका परिणाम महाभारत का युद्ध हुआ।

इन दोनों पद्यों की भाषा प्रसाद गुण से पूर्ण है। मनुष्य को स्वतंत्रता अत्यधिक प्रिय होती है और संसार में धन के रूप में मणि ही सबसे मूल्यवान् समझी जाती है। स्वतंत्रता-मणि में रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यहाँ रूपक ने भावाभिव्यक्ति में पर्याप्त योग दिया है।

सच है, बुद्धि-कलश में जल है, शीतल सुधा तरल है।
पर, भूलो मत कुसमय में हो जाता वही गरल है ॥१॥
सदा नहीं मानापमान की बुद्धि उचित सुधि लेती।
करती बहुत विचार, अग्नि की शिखा बुझा है देती ॥२॥

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के चतुर्थ सर्ग से उद्धृत किये गए हैं। महाभारत के युद्ध में विजय प्राप्त करने पर विषण्ण धर्मराज को मरणासन्न भीष्मपितामह समझाते हैं कि यह युद्ध अनिवार्य था। यह युद्ध तो उसी दिन प्रारम्भ हो जाना था जिस दिन की भरी सभा में द्रौपदी की लाज लूटी गई थी। उस प्रसंग को स्मरण करके पितामह अपने को भी धिक्कारते हैं। वे आगे युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि निर्भय होकर सुलगते हुए अंगारों पर चलना, तेज खड्ग की धार पर पैर रखकर मचलना, छाती तान कर तीर खाना, हंसते-

हंसते विष का पान करना और सिर की आहुति चढ़ाना शूरवीर का धर्म है। वह मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म सर्वदा प्रज्वलित रहना बतलाते हैं। उनका कथन है कि वीरता को बुद्धि का दासत्व स्वीकार नहीं करना चाहिए, यद्यपि—

यह सत्य है कि बुद्धि रूपी कलश में जो जल है वह तरल और शीतल अमृत के सदृश है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उपयुक्त अवसर न होने पर वही विष में परिणत हो जाता है। जिस समय शौर्य प्रदर्शन की आवश्यकता हो यदि उस समय बुद्धि मनुष्य को रोक देती है तो वह विष के समान परिणाम देने वाली हो जाती है। बुद्धि सर्वदा मान-अपमान की उचित अग्नि-शिखा को बुझा देती है जो कि अपमान होने पर अत्यन्त आवश्यक होती है।

उपर्युक्त पद्यों में भी भाषा प्रसाद गुण से युक्त है। 'बुद्धि-कलश' में रूपक की सुन्दर छटा है। बुद्धि-कलश के शीतल सुधा को शौर्य की अग्नि के बुझाने का कारण होने से अच्छा नहीं बतलाया अतः यहां तिरस्कार अलंकार है। अलंकारों ने भावापहरण नहीं किया है वरन् भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण योग दिया है।

शारदे ! विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं,
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर मैं,
संतप्त विश्व के लिये खोजता छाया,
आशा में था इतिहास-लोक तक आया,
पर, हाय, यहाँ भी धधक रहा अम्बर है;
उड़ रही पवन में दाहक, लोल लहर है,
कोलाहल-सा आ रहा काल गह्वर से,
वाड़व का रोर कराल क्षुब्ध-सागर से।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के पंचम सर्ग से उद्धृत किये गए हैं इनमें कवि की उक्ति है—

हे सरस्वती देवी ! मैं व्याकुल कर देने वाले परिवर्तन काल का पुरुष हूँ, और मैं इस कलियुग में द्वापर युग की घटनाओं को रखकर देखता हूँ। आज सारा संसार युद्धाग्नि से संतप्त है, उनके लिए शीतल छाया की खोज करता हुआ मैं इतिहास-लोक तक आया था और मुझे आशा थी कि वहां कुछ शीतल

छाया मिलेगी परन्तु अत्यन्त दु:ख की बात है कि इतिहास के लोक में भी आकाश धधक रहा है और वायु में भस्मसात् कर देने वाली चंचल लहरें उठ रही हैं। काल के गह्वर से कोलाहल आ रहा है और भयंकर क्षुब्ध सागर से वाड़वाग्नि का शब्द सुनाई दे रहा है।

कवि युद्ध में रत संसार को देखकर अत्यन्त खिन्न हो गया था। युद्ध से ऊबे हुए कवि ने शान्ति की खोज के लिए इतिहास का आश्रय लिया परन्तु वहाँ भी उसे वही युद्ध की गर्जना सुनाई दी। इन पद्यों की भाषा संस्कृतगर्भित परन्तु प्रवाहमयी है। इनमें यत्र-तत्र अनुप्रास की सुन्दर छटा विकीर्ण है।

हाय रे मानव, नियति का दास !
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास !
प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सबको किये भयभीत,
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
चीरता परमाणु की सत्ता असीम, अजेय,
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय ?
लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग से उद्धृत किया गया है। कवि संसार के द्वितीय महायुद्ध को देखकर अतीव विषण्ण हुआ। वह भारतीय संस्कृति का पुजारी है। उसका विश्वास है कि भोग लिप्साओं के द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक दुखी होता जाएगा। प्रसाद जी की भाँति वह भी बुद्धि और हृदय का समन्वय चाहता है। बुद्धि का आश्रय लेकर संसार ने वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार किया। मनुष्य ने बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली परन्तु हृदय के योग से अन्त:प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी अभी शेष है, उसके बिना संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इन्हीं बातों पर विचार करता हुआ कवि कहता है—

हे मानव ! अत्यन्त दु:ख की बात है कि तू अब भी नियति का दास है। हे मन के वंशज तू अपना उपहास स्वयं ही बना हुआ है अर्थात् सर्वशक्तिमान्

होते हुए भी तू अपनी ही कमजोरी के कारण उपहसित होता है। तूने प्रकृति के रहस्यों पर विजय प्राप्त कर ली है। सभी प्राकृतिक शक्तियों को अपने वश में कर लिया है। सिन्धु से आकाश तक सब तेरे अतुल पराक्रम से भयभीत हैं। सिन्धु अथाह है और आकाश अपार है परन्तु तूने अपनी सीमित शक्ति से भी उनको भयभीत कर दिया है। सृष्टि अपरिमेय थी परन्तु तूने अपनी बुद्धि के बल से वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार करके उसे भी परिमित बना दिया। पहले यह विश्वास किया जाता था कि परमाणु का विभाजन नहीं हो सकता परन्तु तूने आज परमाणु को भी विभक्त कर दिया है, तेरी शक्ति असीम होती जा रही है और तू अजेय है। परन्तु बुद्धि की वायु में असहाय उड़ता हुआ तू किस दिशा की ओर जा रहा है और तुझे कोई भी उपाय नहीं सूझता। बुद्धि के द्वारा तूने वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार करके मानव विनाश का ही आयोजन किया है। उनका सदुपयोग न करके तूने उनका दुरुपयोग ही किया है। इस प्रकार तू उन्नति के मार्ग की ओर बढ़ने की इच्छा करता हुआ भी अवनति के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है। तेरा इस दिशा में प्रगति करने का क्या उद्देश्य है और क्या प्रयोजन है? यदि तुझे अपना उद्देश्य ज्ञात नहीं तो तेरा यह वैज्ञानिक यन्त्रों के आविष्कार के निमित्त किया हुआ समस्त परिश्रम व्यर्थ है।

यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान,
काँपते जिसके करों को देख कर परमाणु।
खोलकर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश,
है सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गए परदे, रहा अब क्या यहां अज्ञेय ?
किन्तु, नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जय,
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष।

प्रस्तुत पद्य कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग से उद्धृत किया गया है। कवि संसार के द्वितीय महायुद्ध को देखकर अत्यन्त विषण्ण हो गया। वह भारतीय

संस्कृति का पुजारी है। उसका विश्वास है कि आज के दुःखों का कारण मनुष्य की वासना एवं भोगलिप्सा है। वासना रूपी रात्रि के घोर अन्धकार में ही मनुष्य भ्रमित हो रहा है। प्रसाद जी की भांति वह भी बुद्धि और हृदय का समन्वय चाहता है। बुद्धि का आश्रय लेकर मनुष्य ने वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार किया। मनुष्य ने बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करली, परन्तु अभी अन्तःप्रकृति पर विजय प्राप्त करनी शेष है, जिसके बिना संसार में शान्ति नहीं हो सकती। कवि इन्हीं बातों पर विचार कर रहा है—

आकाश में इस मनुष्य का वायुयान उड़ रहा है। जिसके हाथों को देख कर प्रकृति के परमाणु कांपते हैं अर्थात् उन सब पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है और वह मनुष्य के इंगित पर नाचते हैं। पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और आकाश इन सब का रहस्य मनुष्य जान चुका है। मनुष्य ने जब इनको जानने का प्रयत्न किया तो इन सब के आवरण हट गए और मनुष्य ने उनके विषय में सब कुछ जान लिया, कोई भी बात मनुष्य से छिपी नहीं रही। परन्तु मनुष्य की इससे परितुष्टि नहीं हुई। संघर्ष करना उसका स्वभाव है और उसे नित्य प्रति कुछ न कुछ नवीन कठिनाई से विजय किये जाने वाले विघ्न चाहिएं ताकि वह उनसे संघर्ष करता रहे। उसको ऐसे क्षेत्र की आवश्यकता है, जिससे संघर्ष करके नई विजय प्राप्त करे। नित्य विजय प्राप्त करते रहने से उसको उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। मनुष्य की बुद्धि प्राकृतिक पदार्थों पर विजय प्राप्त करने पर विश्राम नहीं लेगी, बल्कि मनुष्य चन्द्रमा और मंगल से भी बात करेगा। जो मनुष्य इतनी प्रगति करने वाला है उसे कवि पशु मात्र ही कहता है, क्योंकि उसने अन्तःप्रकृति पर विजय करने की चेष्टा अभी प्रारम्भ नहीं की है। उस पर विजय किए बिना मानव मानवत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय,
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप।
भ्रमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्रजाल विचित्र,
श्रेय मानव के न आविष्कार ये अपवित्र।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग से उद्धृत किया गया है। कवि का हृदय द्वितीय महायुद्ध को देखकर चीत्कार कर उठा। उसका विश्वास है कि समस्त प्रकृति के रहस्यों को जानने वाला मनुष्य अभी पशु ही बना हुआ है। कवि बुद्धि के बल पर विज्ञान के चमत्कृत करने वाले आविष्कारों को मानव की उन्नति अथवा कल्याण का साधक नहीं मानता। उसका कथन है, 'श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।' बुद्धि पर जब तक चेतन हृदय की विजय नहीं होती, तब तक मानव का कल्याण नहीं हो सकता। कवि का विचार है :

रस से सिक्त इस पृथ्वी के मनुष्य का महत्व अमंगलकारी वैज्ञानिक यन्त्रों के आविष्कार में नहीं है। यह विज्ञान और अग्नि-वर्षण करने वाली विद्या-बुद्धि संसार को दहन करने वालीं, मृत्यु को लाने वाली तथा सृष्टि को संतप्त करने वाली है। यह भटकने वाले मार्ग पर बिना सोचे-समझे आगे बढ़ने वाले ज्ञान का एक अभिशाप है। यह विचित्र इन्द्रजाल भ्रमित बुद्धि का एक कौतुक (तमाशा) है। विज्ञान के ये अमंगलकारी आविष्कार मानव का कल्याण नहीं कर सकते। कवि मानव के प्रति मानव के प्रेम को संसार के लिये कल्याण-कारी मानता है।

इस पद्य की भाषा संस्कृतगर्भित है परन्तु उसमें एक सुन्दर प्रवाह है। इस पद्य में कहीं-कहीं अनुप्रास की छटा भी दृष्टिगोचर होती है।

दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ श्रेय जीवन का,

है सद्धर्म दीप्त रख उसको हरना तिमिर भुवन का।

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग से उद्धृत किया गया है। निज बन्धु-बान्धवों के रक्तपात पर अवस्थित महाभारत के युद्ध में अपनी विजय से धर्म-राज अपने समाधान के लिये मरणासन्न भीष्मपितामह का आश्रय लेते हैं और उनके समक्ष आत्मग्लानि निवेदित करके अपनी वन में भाग जाने की इच्छा प्रकट करते हैं। वह चाहते हैं कि संसार को त्याग कर मैं संन्यास ग्रहण कर लूँ

जिससे मुझे मिथ्या धर्मराज कहलाने का पातक न लगेगा परन्तु उसके संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करने पर भीष्म पितामह उसे उपदेश देते हैं—

जीवन रूपी दीपक की समाप्ति कोई जीवन का श्रेष्ठ कार्य नहीं है। यह तो संसार से पलायन मात्र है, परिस्थितियों से आंख मूंद लेना मात्र है जिससे संसार का किसी प्रकार भी हित साधन नहीं हो सकता। मनुष्य का सच्चा कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन रूपी दीपक को देदीप्यमान रखकर संसार के अन्धकार को दूर भगाये। संसार की विषम परिस्थितियों का निवारण संसार में रह कर अपने पौरुष के द्वारा किया जा सकता है। संसार से पलायन करने से तो वे परिस्थितियां ज्यों की त्यों बनी रहेंगी, उनका बिनाश नहीं हो सकता और संसार के अत्याचारों और विषम परिस्थितियों का अन्त करना मनुष्य का सच्चा धर्म है जो कि संसार में स्थित रह कर ही किया जा सकता है।

उपर्युक्त पद्य की भाषा में प्रसाद गुण ओतप्रोत है। जीवन के महान् सिद्धान्त को थोड़े से शब्दों में और इतनी सरल भाषा में व्यक्त करना दिनकर जी के कौशल का परिचायक है। जीवन में दीपक का आरोप होने से यहां रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न रक्त में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवित अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"

प्रस्तुत पद्य 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग से उद्धृत किया गया है। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की विजय अपने बन्धुओं के रक्तपात पर अवस्थित थी। धर्मराज उस विजय से विषण्ण हैं। वे आत्मग्लानि से अभिभूत होकर मरण-

सन्न भीष्मपितामह के समक्ष अपनी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते हैं। भीष्म पितामह उनको कर्मयोग का उपदेश देते हैं और गीता के निष्काम कर्म की ओर संकेत करते हैं। उनका कहना है कि तुम अपने कर्मों के द्वारा संसार का मार्ग प्रदर्शन करो। यह सत्य है कि मनुष्य मनुष्य का वध करता है अतः वह बड़ा पापी है परन्तु मानव के हित के लिए भी तो मानव ही कार्य करता है। इसलिये—

हे धर्मराज आशा के दीपक को प्रज्वलित रखो, एक दिन ऐसा अवश्य होगा जब कि पृथ्वी रण के भय से मुक्त हो जायगी। मनुष्य की भावना सर्वदा भोग लिप्सा में लिप्त नहीं रहेगी और जीवन में अनीति एवं अत्याचार का व्यवहार भी बन्द हो जायेगा। जब मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार हो जायेगा तो उसके लिये हार-जीत का कोई मूल्य नहीं रह जायगा। मनुष्यत्व का माप-दण्ड स्नेह और बलिदान बन जायेंगे और पारस्परिक प्रेम के द्वारा यही पृथ्वी स्वर्ग बन जायगी।

संसार की विषमताओं से हताश मनुष्य के लिये इस पद्य में आशावादी सन्देश निहित है। एक दिन ऐसा अवश्य होगा कि संसार में मानव-मानव के बीच प्रीति उत्पन्न होगी जिससे यह पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी, ऐसा कवि का विश्वास है। इस पद्य की भाषा अत्यन्त सरल है। 'आशा के प्रदीप' में रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

चिन्तामणि (प्रथम भाग)

प्रश्न १—हिन्दी निबन्ध के विकास का इतिहास प्रस्तुत कीजिये और शुक्ल जी का उसमें स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—अन्य साहित्यांगों की भांति निबन्ध का आरम्भ भी भारतेन्दु युग से ही मानना चाहिए। इससे पूर्व यद्यपि राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का लिखा 'राजा भोज का सपना' हमें मिलता है किन्तु वह निबन्ध से अधिक कथा है।

भारतेन्दु बाबू ने स्वयं उत्कृष्ट निबन्ध लिखे और अपने मित्रों का एक मंडल भी तैयार किया जो हिन्दी साहित्य की सेवा में तन-मन से लगा रहा। उनके इस साहित्यिक मित्र-मंडल के प्रधान व्यक्ति हैं—उपाध्याय पं० बद्री नारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन-सिंह, लाला श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि।

यद्यपि उपर्युक्त लेखकों ने लेखों के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक, कहानियां आदि सब कुछ लिखीं किन्तु फिर भी ये लोग निबन्धकार के नाते ही हिन्दी में विख्यात हैं।

पं० प्रतापनायरायण मिश्र इस काल के विशिष्ट निबिन्धकार हैं। निबन्धों के लिए ही उन्होंने अपना 'ब्राह्मण' पत्र निकाला था। प्रतापनारायण मिश्र बड़े ही विनोदी जीव थे। उनका यह विनोद उनके निबन्धों में उभर कर आया है। व्यंग्य तो इस काल के सभी लेखकों की बहुत बड़ी विशेषता है, फिर मिश्र जी का तो कहना ही क्या? व्यंग्य से रहित बात, बात ही क्या? लेख चाहे जितना गम्भीर हो, मिश्र जी को उसमें विनोद की कुछ न कुछ सामग्री अवश्य मिल जाती थी। मिश्र जी की भाषा में पूर्वीपन मिलेगा। इस काल के लेखकों के मुख्य विषय थे—देश-दशा, समाज-सुधार और नागरी-प्रचार। ये सब विषय

मिश्र जी ने भी अपनाये। नीचे लिखे निबन्धों के शीर्षक से ही उनकी विनोद-प्रियता स्पष्ट हो जायगी, 'बूरे के लत्ता कीने कनातनु कौ डौल बाँधै', 'समझदार की मौत है', 'मनोयोग', 'वृद्ध', 'भौं' आदि।

यह ध्यान देने की बात है कि मिश्र जी के लेखों में ग्राम्यपन अधिक है, साहित्यिक दृष्टि से उनके लेख उच्चकोटि के नहीं हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट इस युग के दूसरे महान् निबन्धकार हैं। भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे और उसमें देश, समाज और नागरी की भलाई के लिये इनकी लेखनी तेंतीस वष तक अविश्रान्त रूप से चलती रही। भट्ट जी का कहना था कि एक दिन आयगा कि लोग 'हिन्दी प्रदीप' की पुरानी फाइलें पढ़ेंगे और मुझे विश्वास है कि 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित उत्कृष्ट रचनाओं से तब हिन्दी साहित्य का एक कोना तो भर ही जायेगा। भट्ट जी का विश्वास निराधार नहीं था।

भट्ट जी के लेखों में जितनी साहित्यिकता थी, विषयों का उन्हें जितना गम्भीर ज्ञान था, भाषा पर उनका जैसा एकाधिकार था, इस काल के भी अन्य लेखकों में वैसा कम मिलेगा। भट्ट जी ने क्या नहीं लिखा? उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, सब कुछ उन्होंने लिखा और निबन्ध भी सब प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक।

भट्ट जी का व्यंग्य बड़ा ही शिष्ट और साहित्यिक होता है। इस दिशा में वे मिश्र जी से भी बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। आर्थिक कठिनाइयों में 'हिन्दी-प्रदीप' का ३३ वर्ष तक चलाना इनकी साहित्यिक निष्ठा और भक्ति का परिचायक है। भट्ट जी अपनी भाषा में अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, उर्दू आदि के शब्दों का खुलकर प्रयोग करते हैं और कहावतों का प्रयोग तो उन्होंने इतना किया है कि अगर अलग संकलित करली जाएं तो एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। उनके कितने ही लेखों के शीर्षक तक कहावतों के नाम पर हैं। मिश्र जी और भट्ट जी को हम हिन्दी का 'एडीसन' और 'स्टील' कह सकते हैं।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' इस काल के तीसरे विशिष्ट लेखक हैं। आप भाषा की सजावट और परिष्कार पर अधिक ध्यान देते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—'लखनऊ का उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी

हिन्दी का था। आपने 'आनन्द कादम्बिनी' नामक एक पत्रिका निकाली और अधिकतर आपके लेख उसी में प्रकाशित हुए।

भारतेन्दु युग में हिन्दी ने आश्चर्यजनक उन्नति की, इस काल के लेखकों में हिन्दी के लिये जो उत्साह, जो लगन थी, वह फिर कभी देखने को न मिली, ऐसा लगता है मानो हिन्दी का ही उनका जीवन हो। इस काल के लेखकों ने हिन्दी पर अपना तन-मन-धन सब कुछ अर्पण कर दिया। हिन्दी की उपेक्षा के दिनों में यदि ऐसे लगन के लेखक न होते तो आज हिन्दी की दशा क्या होती, यह कल्पनातीत है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम भी हिन्दी निबन्ध साहित्य में बड़े ही महत्त्व का है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण है, उन्होंने कविता, आलोचना, निबन्ध सब कुछ लिखे—किन्तु वे निबन्धकार के ही नाते जाने जाते हैं। भारतेन्दु युग में भाषा के क्षेत्र में अराजकता थी, जिसकी जैसी इच्छा होती थी वैसा लिखता था। द्विवेदी जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि भाषा को व्याकरणसम्मत बनाया और लेखकों की भाषा की अशुद्धियों की खरी आलोचना करके उन्हें सजग, सतर्क किया।

द्विवेदी जी ने सबसे पहले अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। उन्होंने स्वयं भी विचारात्मक, वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक आदि सभी प्रकार के लेख लिखे। उनके कुछ निबन्ध तो साहित्य में स्थायी महत्त्व के हैं, जैसे 'कवि और कविता' तथा 'प्रतिभा' आदि। द्विवेदी के अधिकांश लेख सुझाव के रूप में लिखे गये हैं—जैसे—'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि। द्विवेदी जी की भाषा संस्कृतगर्भित और गम्भीर होती थी।

पं० माधवप्रसाद जी मिश्र बड़े ही उत्साही लेखक थे, परन्तु लिखते तभी थे जब इन्हें कोई छेड़ दे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इनके विषय में लिखा है—

"—मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के नहीं लिख सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ा ही रखा करें।"

पं० माधवप्रसाद मिश्र पक्के सनातनी थे। सनातन धर्म के विरुद्ध वे एक भी नहीं सुन सकते थे। जो इनके विरुद्ध लिखते थे, ये उनके विरुद्ध लिखते थे। इनके लेख प्राय: 'सुदर्शन' नामक पत्र में निकलते थे। मिश्र जी गम्भीर स्वभाव के पण्डित आदमी थे। भावनाओं के ऊपर मिश्र जी के दो लेख मिलते हैं—'धृति' और 'क्षमा'। इनके लेखों के कुछ शीर्षक हैं–'पर्व त्यौहार', 'उत्सव', 'तीर्थस्थान' आदि। आचार्य शुक्ल इनके विषय में लिखते हैं—

"पं० माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा, उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुन्दर मर्म-पथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी।"

बाबू गोपालराम गहमरी ने भी कुछ लेख लिखे हैं। इनकी भाषा बड़ी चंचल और चटपटी होती थी। इनके निबन्ध विलक्षण रूप खड़ा करने में बड़े सफल हुए हैं। 'ऋद्धि-सिद्धि' आदि कितने ही लेख इन्होंने लिखे हैं।

बाबू बालमुकन्द गुप्त भी निबन्धकार के नाते हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। द्विवेदी जी से 'अनस्थिरता' शब्द पर इनका प्रसिद्ध विवाद चला था। श्री बालमुकन्द गुप्त बड़े ही प्रतिभाशाली लेखक और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। देश-प्रेम की उत्कट भावना इनके हृदय में थी। इनके लेखों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि गुप्त जी को प्रचार अधिक नहीं मिला, किन्तु ये किसी भी प्रकार द्विवेदी जी से कम प्रतिभाशाली नहीं थे। हिन्दी संसार 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' को कभी भूल नहीं सकेगा। गुप्त जी का व्यंग बड़ा ही तीखा और मर्मभेदी होता है। शम्भु के चिट्ठे में सामाजिक रूढ़ियों और राजनैतिक पराधीनता के विरुद्ध बड़े ही व्यंग्यगर्भित लेख इन्होंने लिखे हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास का नाम भी हिन्दी निबन्ध-लेखकों में बड़े महत्त्व का है। डा० श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी में लम्बे और व्याख्यात्मक साहित्यिक निबन्धों का प्रचलन किया, जैसे—कबीर, सूर-तुलसी आदि पर इनके विस्तृत निबन्ध। श्यामसुन्दरदास जी की भाषा संस्कृतगर्भित और सशक्त होती है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी अच्छे निबन्धकार थे। शुक्ल जी ने इनके विषय में लिखा है—"यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो

विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मितहास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुश्रुत हैं। गुलेरी जी के 'कछु आधार्य' तथा 'मारेसि मोहि कुठाँव' आदि निबध प्रसिद्ध हैं।

थोड़ा लिखकर अधिक प्रसिद्ध होने वालों में हिन्दी में दो लेखक हैं—गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। सरदार पूर्णसिंह के निबंध अपनी अबाध भावुकता के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके कुछ लेख हैं—'आचरण और सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता'। अधिक निबंध पूर्णसिंह जी के नहीं मिलते।

इसके पश्चात् शुक्ल जी का आगमन हिन्दी निबंध-क्षेत्र में हुआ और कुछ विद्वानों का तो कहना है कि इतना समर्थ निबंधकार हिन्दी में आज तक नहीं हुआ। शुक्ल जी प्रकांड विद्वान् और विचारक थे, भाषा पर तो इनका जैसा अधिकार है, शायद ही किसी का हो। शुक्ल जी के निबंध इतने गठे हुए विचार इतने व्यवस्थित होते हैं कि पूरे लेख में से एक शब्द 'का' या 'की' जैसा भी निकाल दीजिये तो अर्थ अस्पष्ट हो जायेगा। निबन्ध तो सच्चे अर्थों में शुक्ल जी ने ही लिखे। शब्द-शक्तियों पर शुक्ल जी का पूर्ण अधिकार है। इन्होंने करुणा, क्रोध, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति आदि मानसिक मनोवेगों पर बहुत सुन्दर विश्लेषणात्मक निबन्ध लिखे हैं। शुक्ल जी ने विचारात्मक, आत्म-व्यंजक, वर्णनात्मक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध लिखे हैं।

शुक्ल जी के लेख यद्यपि अत्यन्त गम्भीर होते हैं किन्तु कहीं-कहीं हास्य की छटा भी उनमें मिल जाती है, जैसे—पक्के गीत गाने वालों का एक शब्द-चित्र शुक्ल जी उपस्थित करते हैं :—

"जब वृत्ताकार मुँह फाड़ आ···आ···करके ये विकल होते हैं तो अच्छे-अच्छे आलसियों का भी धैर्य विचलित हो जाता है।'

शुक्ल जी के अधिकांश लेख चिन्तामणि के दो भागों में संकलित हैं। लम्बे साहित्यिक प्रबन्ध भी शुक्ल जी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि पर लिखे

है जो कि हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि हैं । शुक्ल जी जैसा निबन्धकार पाकर हिन्दी साहित्य कृतकृत्य हो गया है ।

निबन्धकारों में बाबू गुलाबराय का भी विशिष्ट स्थान है । बाबू गुलाबराय के हास्यात्मक लेख ही उनके सर्वोत्कृष्ट लेख हैं ।

हास्य का बड़ा ही परिष्कृत और संमत रूप हमें बाबू गुलाबराय में मिलता है । इनके हास्यात्मक साहित्यिक निबन्धों का आनन्द वही व्यक्ति ले सकता है जो बहुपठित हो क्योंकि विभिन्न कवियों एवं लेखकों की कृतियों की ओर उनमें संकेत रहता है । 'साहित्य संदेश' के सम्पादक होने के नाते साहित्यिक निबन्ध बाबू गुलाबराय ने काफी संख्या में लिखे हैं । 'कसौली' नामक निबन्ध बाबू गुलाबराय के हास्यात्मक लेखों का प्रतिनिधित्व करता है । 'प्रबन्ध प्रभाकर' में बाबू गुलाबराय के साहित्यिक निबन्ध संकलित हैं ।

प्रसाद जी के निबन्ध 'काव्य-कला तथा निबन्ध' नामक पुस्तक में संगृहीत है । निराला जी की 'प्रबन्ध प्रतिभा' में भी उच्चकोटि के निबन्ध हैं । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं । द्विवेदी बड़े ही समर्थ निबन्धकार हैं । भाषा पर शुक्ल जी जैसा अधिकार, विवेचनात्मक गम्भीर प्रतिभा और एक विचित्र ओज तथा भावुकता द्विवेदी जी के निबन्धों की विशिष्टता है । विचार और अनुभूति' में डा० नरेन्द्र के लेख संकलित हैं । डा० नगेन्द्र अच्छे निबन्धकार हैं पर वे आलोचक के नाते हिन्दी में प्रतिष्ठित हैं ।

डा० सत्येन्द्र, रामरत्न भटनागर, नामवरसिंह, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि भी अच्छे निबन्ध-लेखक हैं ।

प्रगतिवादी निबन्धकारों में, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्ता, शिवदत्तसिंह चौहान, डा० रांगेय राघव तथा यशपाल आदि का नाम आता है ।

डा० रामविलास शर्मा के लेख 'साहित्य और संस्कृति', 'संस्कृति और परम्परा' में संगृहीत हैं । इसके अतिरिक्त इनके फुटकर निबन्ध भी प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं ।

डा० शर्मा की भाषा सशक्त, व्यंग्यपूर्ण और मार्मिक होती है । भाषाडम्बर

तो डा० शर्मा में मिलेगा ही नहीं। भारतेन्दु का व्यंग्य अपने परिष्कृत और अधिक पैने रूप में डा० शर्मा में मिलता है। नये निबन्धकारों में डा० शर्मा की टक्कर के निबन्ध लेखक कम ही हैं।

यशपाल के निबन्धों का संग्रह 'देखा, सोचा, समझा' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

हिन्दी का निबन्ध साहित्य प्रगति के पथ पर आरुढ़ है। उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

शुक्ल जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति अब तक नहीं हो सकी है। इतनी प्रतिभा और विवेचनात्मक गहराई का दूसरा लेखक हिन्दी में दिखाई नहीं देता। शुक्ल जी का निबन्ध-साहित्य में वही स्थान है जो प्रेमचन्द का उपन्यास साहित्य में और प्रसाद का नाटक-साहित्य में।

प्रश्न २—चिन्तामणि के निबन्धों की आलोचना कीजिये?

उत्तर—चिन्तामणि में आचार्य शुक्ल जी ने दो प्रकार के निबन्धों को संगृहीत किया है। भाव और मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध तथा साहित्यिक समीक्षात्मक निबन्ध। लेखक ने प्रत्येक विषय का प्रतिपादन अत्यन्त बुद्धिमत्ता के साथ किया है। उनके निबन्धों से उनकी अध्ययनशीलता, विचारशक्ति और मननशीलता का पूर्ण परिचय मिलता है।

शुक्ल जी के निबन्ध गम्भीर विषयों पर लिखे गये हैं। ऐसे निबन्धों पर लिखने के लिये बुद्धि के परिष्कार की आवश्यकता है। इसलिये प्रतिभा के अतिरिक्त मनन की भी स्पृहा है। शुक्ल जी में यह विशेषता और यह गुण पाया जाता है। इस प्रकार के निबन्धों के लिये बुद्धि की ग्राहिका शक्ति अपेक्षित है। सभी दृष्टियों से ये निबन्ध बौद्धिक हैं।

बुद्धि की कोरी प्रयत्नशीलता शुष्कता की जननी है। एक सैद्धान्तिक और नियम निर्धारक लेखक शुष्कता और सरसता की चिन्ता नहीं करता। मनोविज्ञान के तत्त्वों पर मनोवैज्ञानिक जो लेख लिखता है, उसमें सुरुचि का सम्पादन कम हुआ करता है। लेकिन शुक्ल जी साहित्यिक व्यक्ति थे, इसी कारण उन्होंने सभी प्रकार के निबन्धों को साहित्यिक रूप दिया है।

साहित्य की परिभाषा करते हुए आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—वाङ्मय का वह अंग जिसमें चमत्कारपूर्ण अनुरंजन भी अर्थ-बोध के साथ हो, वह साहित्य है। चमत्कारपूर्ण अनुरंजन बुद्ध और हृदय के सामंजस्य से ही संभव है। शुक्ल जी ने अपने निबन्धों म जहाँ बुद्धि की गंभीरता का चमत्कार दिखाया है, वहाँ हृदय की सरसता का भी समावेश है।

बुद्धि के साथ हृदय का सहयोग होने से ही उनके निबन्धों में शुष्कता नहीं है। विषय की गुरुता और गंभीरता के बाद जब पाठक में शिथिलता आने की सम्भावना होती है, तभी हृदय का सहयोग मिल जाने से उसे एक प्रकार का आनन्द प्राप्त हो जाता है और पाठक की मानसिक थकावट शान्त हो जाती है।

हृदय का यह सामंजस्य इन निबन्धों में प्राय: तीन रूपों में पाया जाता है। १. व्यंग्य और उपहास के समावेश द्वारा २. व्यक्तिगत घटनाओं के उल्लेख द्वारा ३. पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन।

मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों में व्यंग्य की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। 'उत्साह' शीर्षक निबन्ध में वर्तमान युग की वीरता तथा विभिन्न प्रकार के वीरों का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—"इस जमाने में वीरता का प्रसग उठाकर वाग्वीरों का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं।" यह आजकल के 'ढपोर शंखों' पर कितना चुटीला व्यंग्य है जो हृदय को रमाने के साथ सरसता का भी संचार करता है। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध मे देशभक्त का रूप धारण करने वाले आडम्बरियों के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है—रसखान तो किसी की "लकुटी और कामरिया" पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके-मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम खीजकर, बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम जरा सा दुबला हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।" इस प्रकार की शैली शुक्ल जी

की सहृदयता की ही परिचायक है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी व्यक्तिगत घटनाओं का उल्लेख करके भी मरमता का संचार किया है। विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से सम्पादित ज्ञान का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुर और झिल्लियों की झंकार मिश्रित सीत्कार का बंधा तार सुनकर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।" इस प्रकार के प्रयोगों में लेखक ने अपने व्यक्तित्व का समावेश करके विषय को तो स्पष्टता प्रदान की ही है, साथ ही पाठक से भी आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किया है, जिससे हृदय की निकटता का आभास मिलता है। "श्रद्धा और भक्ति" नामक निबन्ध में वचनसम्बन्धी चातुर्य का वर्णन करते हुए शुक्ल जी ने इस प्रकार हृदय का बुद्धि के साथ समन्वय किया है—"हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं-कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक दिन मैं काशी की एक गली में जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बर्तन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं, इतना लो तो लें। इतने में ही सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।"

तीसरा प्रकार विभिन्न घटनाओं के समावेश का है। उन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं का यथावसर उल्लेख किया है। यथा-इन्द्रकृत हत्या की बटाई में अन्य देवताओं को उसका भाग मिलने की कथा, हरिश्चन्द्र-शैव्या की कथा, आप-बीती कथा, रामभक्त हनुमान की कथा, सांची के स्तूप का वर्णन तथा गधे का बाघ बनने की हितोपदेश की कथा आदि। इन कथाओं के समावेश से विषय का प्रतिपादन होता है तथा सरसता का संचार होता है।

उनकी सहृदयता से समावेश में मैं इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, जिसमें लोभियों के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए कहा है—"लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रियनिग्रह, तुम्हारी

मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है।"

इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में भाषा और शैली में भी चमत्कार उत्पन्न करके सहृदयता प्रदर्शित की है। अलंकारों के प्रयोग ने इसमें अधिक सहायता प्रदान की है। उपमा का यह प्रयोग कितना सरस है, "इन्हें जो कुछ हम श्रद्धांजलि देते हैं। वह ठीक समाज के पेट में दुरुस्त जाता है, जहाँ से रस रूप में उसका संचार अंग-अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है, वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतिसार या संग्रहणी वाले को खिलाया हुआ अन्न।" इसी प्रकार 'लोभ और प्रीत' नामक निबन्ध में लोभ का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—'रुपये के रूप, रस, गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते है, उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए भैंस पर भी न टूटते होंगे।"

शुक्ल जी के निबन्धों की इस शैली और विषयप्रतिपादन की पद्धति की विवेचना करने के अनन्तर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि उनका यह कथन सर्वथा उपयुक्त है—"अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थानों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।"

प्रश्न ३—आचार्य शुक्ल जी के निबन्ध व्यक्ति प्रधान हैं या विषय-प्रधान? अपने मत का प्रतिपादन युक्तिसंगत उक्तियों से कीजिये।

उत्तर—आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि के निवेदन में पाठकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया है कि उनके निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान और इस प्रश्न का समाधान उन्होंने पाठक के ऊपर ही छोड़ा है। चिन्तामणि में संगृहीत भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध तथा समीक्षात्मक निबन्ध विशेष अध्ययन, मनन और चिन्तन के परिणाम हैं।

निबन्धों में संघटित विचार-परम्परा की अभिव्यक्ति के कारण विचारात्मक निबन्ध विषय-प्रधानता की कोटि में आते हैं। क्योंकि ऐसे निबन्धों का प्रमुख

लक्ष्य विषय को स्पष्ट करना ही होता है केवल कथात्मक और भावात्मक। निबन्ध ही व्यक्तिप्रधान हो सकते हैं, विचारात्मकता निबन्धों में व्यक्ति के प्रधान होने के लिये अवकाश नहीं होता। अतएव शुक्ल जी के निबन्ध भी अपना वैशिष्ठ्य विषय-प्रधानता के कारण रखते हैं।

साथ ही हम यह भी देखते हैं कि आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में विषय की स्पष्टता के लिये 'सारांश यह है', 'तात्पर्य यह है', मैंने पिछले प्रघट्टक में ऐसा कहा है'. आदि वाक्यों का प्रयोग किया है। ये वाक्य भी स्पष्ट करते हैं कि शुक्ल जी का ध्यान विषय के प्रतिपादन की ओर कितना अधिक है।

शुक्ल जी ने सूत्रात्मक शैली का अनुसरण किया है। किसी भी बात को शुक्ल जी ने सूत्रात्मक शैली का अनुसरण किया है। किसी भी बात को सूत्ररूप में कह कर उसकी व्याख्या विस्तार के साथ करना उनकी विशिष्टता है। यही विषय-प्रधानता लक्षण है।

लेकिन शुक्ल जी कोरे विचारक ही नहीं हैं, अपितु साहित्यिक हैं और साहित्यिक के लिये सहृदयता आवश्यक है। सहृदयता ही व्यक्ति-प्रधानता प्रदान करती है। उन्होंने अपने निबन्धों में व्यक्तिगत घटनाओं का समावेश करके व्यक्तिपरता का समावेश किया है। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में आधुनिक बाबुओं का उपहास करते हुए आपने लिखा है—'मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ सांची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है, जिसमें महुये के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुये चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुओं की कैसी भीनी महक आ रही है। इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा—"यहाँ महुये-सहुये का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे। मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।" इसी प्रकार 'क्रोध' नामक निबन्ध में अपरिष्कृत क्रोध को समझाते हुये उन्होंने एक घटना का

उल्लेख करते हुए लिखा है—"एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गए। जब आग न जली, तब उस पर क्रोध करके पानी डाल किनारे हो गये।" इस प्रकार की व्यक्तिगत घटनायें बताती हैं कि आचार्य शुक्ल के निबन्धों में व्यक्ति-प्रधानता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक निबन्ध मे निबन्धकार की शैली उसके व्यक्तित्व से अनुस्यूत होती है। अंग्रेजी में एक कहावत है—"Style is the man" (शैली ही व्यक्ति है) और आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में यह कहावत पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। इस प्रकार शुक्ल जी के निबन्धों में विषय प्रधानता और व्यक्ति प्रधानता दोनों का उपयुक्त और संयत सन्निवेश मिलता है। उन के निबन्ध विचारात्मक होने के कारण विषय प्रधान तो हैं ही, पर उसमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नही है। निबन्ध गत विषय और व्यक्तित्व दोनों को उन्होंने समान स्थान दिया है जिन निबन्धों में इन दोनों तत्वों की अभिव्यक्ति मिलती है, उन्हें वे वैयक्तिक निबन्ध ही स्वीकार करते हैं।

प्रश्न४—निम्नलिखित निबन्धों का परिचय दीजिए ?

करुणा, कविता क्या है ? तुलसी का भक्तिमार्ग, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था।

करुणा

करुणा एक दुःख का भाव है जिसका आविर्भाव सम्बन्ध-ज्ञान के साथ होता है। बालक अपने समान ही अन्य प्राणियों को देखकर स्वभावतः अपने-अपने अनुभवों का आरोप दूसरों पर कर लेता है। उस समय वह विवेचना की क्षमता नहीं रखता। फिर जब वह कार्य-कारण सम्बन्ध का अभ्यासी हो जाता है तो दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान कर लेता है और स्वयं भी एक प्रकार के दुःख का अनुभव करता है। इसी कारण माँ के झूठ-मूठ रोने पर बच्चे को भी रोते देखा गया है।

दुःख की श्रेणी में प्रकृति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध का पात्र हानि का लक्ष्य बनाया जाता है और करुणा के पात्र को लाभ पहुँचाने का यत्न किया जाता है। दुःख तथा आनन्द दोनों भावनाओं में पात्र की भलाई

की उत्तजना दिखाई देती है। आनन्द की श्रेणी में पात्र को हानि की उत्तेजित करने वाला शुद्ध मनोविकार दृष्टिगत नहीं होता, पर दुःख की श्रेणी में पात्र की भलाई को उत्तेजित करने वाला भाव अवश्य है। आनन्द की श्रेणी में एक लोभ ऐसा अवश्य है, जिससे अन्य व्यक्ति या वस्तुओं को हानि भले ही हो पर लोभ का पात्र हानि का लक्ष्य नहीं बनता है।

समाज के सम्बन्ध विस्तार के साथ सुख और दुःख की अनुभूति का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक हो जाता है। दूसरों की सुख-दुःख सम्बन्धो क्रियायें अपने सुख-दुःख का कारण बन जाती है। लेकिन दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम, दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम की अपेक्षा अधिक व्यापक है। हमें किसी के सुख से उतनी सहानुभूति नही होती, जितनी दुःख से। अज्ञात-कुलशील वाले व्यक्ति को भी दुखी देखकर हमे दुःख होने लगता है। उस पर करुणा होती है। दूसरे के दुःख से दुःखी होने के लिये पात्र में दुःखी ही अपेक्षित है लेकिन सुख से सुखो होने के लिये पात्र का सद्गुणविभूषित होना आवश्यक है। दुःखी की इसी व्यापकता के कारण दूसरे के दुःख से दुःखी होने को करुणा, दया आदि की संज्ञा दी गई है। किन्तु दूसरों के सुख से सुखी होने के लिये कोई नाम नहीं है।

करुणा की तीव्रता पात्र से अपना सम्बन्ध और उसके गुणों पर आधारित है। किसी भोली-भाली सुन्दरी, सच्चरित्र परोपकारी महात्मा तथा अपने सबंन्धी के दुःख से हमें व्याकुलना होती है।

करुणा मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता की स्थापना करती है। अन्य प्राणियों का संसर्ग ही मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता को प्रकट करता है। दूसरों के सुख की सृष्टि करने वाले और दुःख से मुक्त कराने वाले कार्य शुभ और सात्विक कहलाते हैं और उन कर्मों में प्रवृत्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति सात्विक कहलाती है और ऐसी दृत्ति करुणा से ही बनती है।

अन्य के दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव मनोविकार कहलाता है, लेकिन अपने भावी आचरण से सम्भाव्य दुःख का विचार करके उस प्रकार के आचरण से बचना शील या सद्वृत्ति कहा जाता है। इसीलिए दूसरों को दुःख न पहुँचाने को ध्यान में रखकर अनियमित कार्य करने वाला व्यक्ति भी दुःशील नहीं कह-

लाता । सद्वृत्ति या शील की रक्षा के लिये, समाज की हित-चिन्तना के लिये असत्य भाषण भी उचित माना गया है । मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली करुणा ही है ।

जो व्यक्ति करुणा करता है, उसके प्रति दूसरों की श्रद्धा उमड़ पड़ती है । श्रद्धा सात्विकशील होती है । इससे भी करुणा की सात्विकता सिद्ध होती है । मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार होते है, बुद्धि नहीं । इसीलिये किसी उपदेशक की उपेक्षा कवि का प्रभाव अधिक पड़ता है ।

प्रिय के वियोगजन्य दुःख में भी करुणा का अंश मिला होता है । प्रिय के प्रत्यक्ष में होने वाले सुख का निश्चय परोक्ष में अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है । जो करुणा साधारण जन के दुख से होती है, वही प्रिय के सुख के अनिश्चिय से हो जाती है । वही हमारे लिए असह्य हो जाता है । लेकिन अनिश्चित बात के लिये सुख या दुःख प्रकट करना अज्ञान कहलाता है, इसी कारण इस करुणा को मोह कहा जाता है । माता कौशल्या राम-जानकी की वन-गमन पर इस प्रकार अपना दुःख प्रकट करती हैं—

वन को निकरि गए दोउ भाई ।
सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई ।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई ।।

कभी-कभी तो प्रेमी प्रिय पात्र के अनिष्ट तक की सम्भावना कर लेता है । शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है, जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट की कोई भावना नहीं रहती ।

किसी व्यक्ति के बहुत से भावों, मनोवृत्तियों तथा जीवन के व्यापारों का आधार वह व्यक्ति होता है, जिससे प्रेम या घनिष्ट सम्बन्ध होता है । प्रत्येक व्यक्ति का संसार वही है जिससे उसका सम्बन्ध होता है । अतः अपने सम्बन्ध-क्षेत्र से अपने संसार से एक प्रधान अङ्ग का कट जाना या जीवन के एक अङ्ग का खंडित हो जाना है । किसी प्रिय का सुहृद् के चिर वियोग या मृत्यु के शोक से साथ करुणा या दया का भाव मिल कर चित्त को बहुत व्याकुल करता है ।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये करुणा वाँछनीय है ।

करुणा ही पारस्परिक सहायता के लिये प्रेरित करती है। सहायता का आधार विवेचना नहीं होती, मन को स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा होती है। दूसरे की सहायता से अपनी रक्षा की सम्भावना का विचार सच्चा सहायक कभी नहीं करता। इसका विचार तो विश्वात्मा किया करती है। यदि समाज शास्त्रियों का वह कथन सत्य मान लिया जाय कि एक दूसरे की सहायता अपनी रक्षा की भावना से करता है तो लोग मोटे, मुसटण्डे और समर्थ लोगों पर करुणा करते, दीन या अपाहिजों पर नहीं। पर देखा जाता है इसके विपरीत। हमारी करुणा दीनता और दुर्बलता के अनुपात से ही अधिकतर होती चली जाती है। अतः परस्पर साहाय्य के व्यापक उद्देश्य का धारण करने वाला मानव अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के विशेषतः अपने परिचितों के थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं। पर छद्म शिष्टाचार में प्रयोगाधिक्य के कारण इस शब्द का वास्तविक मूल्य अत्यन्त कम हो गया है।

करुणा का पात्र बदले में करुणा करने वाले के प्रति करुणा प्रकट नहीं करता, श्रद्धा या प्रेम प्रकट करता है। बहुत सी युवतियाँ दुष्टों के हाथ से उद्धार करने वाले के प्रेम-पाश में आबद्ध होती देखी गई हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यन्त संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है, उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों के प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश-काल सम्बन्धी विस्तार बढ़ाता है। उपयुक्त भाव की प्राप्ति में यही विस्तार विशेष सहायक होता है। स्मृति और अनुमान आदि प्रकारान्तर से भावों या मनोविकारों के लिये विषय उपस्थित करते हैं और उनसे उत्पन्न भावों को तीव्र करते हैं या मन्द करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों का मन्द या दूर करने वाली स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्तःकरण वृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। कवि लोग मनोविकारों को परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध में निर्वाह पर जोर देते हैं। मनोवेगों के अभाव में मनुष्य स्मृति और अनुमान बुद्धि के होते हुए भी जड़ है। सभ्यता और जीवन की कठिनता से अपने मनोभावों को दबा कर मनुष्य अपने जीवन को नीरस बना लेता है। प्राकृतिक दृश्यों में उसके आनन्द की अनुभूति नहीं करता है। दुराचारी से घृणा करते हुए भी सभ्यता के कारण उसके मुख पर उसकी प्रशंसा करता है। जीवन निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरों के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने का अवकाश नहीं।

मनोवेगों के उत्पन्न होने पर तदनुसार व्यापार न करने से मनोवेगों का अभ्यास भी समाप्त हो जाता है। किसी विवशतावश यदि हम करुणा का भाव उत्पन्न होने पर भी उसे क्रियात्मक रूप न दे सकें तो धीरे-धीरे करुणा का भाव उत्पन्न होना ही समाप्त हो जायगा। प्रायः तीन कारणों से भाव या मनोविकार के अनुसार कार्य करने में विवशता होती है—१. आवश्यकता, २. नियम, ३. न्याय।

हम किसी वृद्ध नौकर को उसकी अशक्ति पर करुणा प्रकट करते हुए भी कार्य की आवश्यकता के कारण निकाल क उसके स्थान पर दूसरा रख लेते हैं। कहीं-कहीं नियम के कारण भी हमें विवश होना पड़ता है। किसी दीन काश्तकार को दयनीय स्थिति को जानते हुए किसी जमींदार का कारिन्दा उससे लगान प्राप्त करने के लिये विवश होता है। राजा हरिश्चन्द्र ने भी नियम के वशीभूत हो कर शैव्या से कफन ले लिया था। उसके विलाप को सुन कर हृदय अवश्य द्रवित हुआ था, पर नियम के कारण उसे क्रियात्मक रूप देने में विवशता थी। इसी प्रकार न्याय भी करुणा को प्रकट करने में बाधा उपस्थित करता है। किसी व्यक्ति ने किसी से १०००) उधार लिया। बाद में उसकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि वह देने में असमर्थ है। न्यायाधीश तो उसे रुपया चुकाने को बाध्य करेगा ही, केवल ऋण-दाता की करुणा ही उसे मुक्त कर सकती है।

कविता क्या है ?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों का दूसरों के भावों विचारों और व्यापारों से संघर्ष करता चलता है, यही जीवन है। लेकिन जब वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, आदि से पृथक् सत्ता धारण करके अपने आप को भूल कर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। यह साधना भावयोग कहलाती है और वह कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष है।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुंच कर मनुष्य अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। इसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती है और इसके अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। अनेक रूपात्मक जगत् की भाँति हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन भावों का व्यायाम और परिष्कार जगत् क विभिन्न रूपों और व्यापारों के साथ सामजस्य होने पर ही जाना जाता है। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति चिरकाल से जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव करती चली आई है। उन भावों का हमारे भावों के साथ मूल या सीधी सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिये हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। विश्व के प्रत्यक्षतम और गूढतम तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिये इन मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते, तब तक उन पर काव्य की दृष्टि नहीं पड़ती।

प्रकृति के लघुतम तथा दीर्घतम पदार्थों एवं व्यापारों का भी मनुष्य जाति

के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य है। अतएव इन पदार्थों और व्यापारों के द्वारा जैसा रस परिपाक सम्भव है, वैसा आधुनिक वैज्ञानिक पदार्थों एवं तज्जन्य व्यापारों से नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता—सभ्यता की वृद्धि के साथ ही मूल भाव आच्छन्न होते गये और नवीन भावों की सृष्टि होती गई। साथ ही बौद्धिक व्यापारों की भी वृद्धि हुई। क्रोध, लोभ, घृणा आदि भावों के विषयों में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ, यहाँ तक कि वे अमूर्त तक होने लगे।

इतना होने पर भी मनुष्य मूल-भाव को एकदम विस्मृत नहीं कर सकता। किसी कुटिल भाई द्वारा अपने को सम्पत्ति-हीन करने के लिये बनाये गये दस्तावेज को देख कर जो क्रोध होता है, वह सभ्यता के आवरण-दस्तावेज पर न होकर उसी पर होता है। काव्य दृष्टि से इस क्रोध और कुत्ते के उस क्रोध में कोई अन्तर नहीं, जो अपनी रोटी छीनने पर उसे दूसरे कुत्ते पर होता है। केवल विषय के रूपान्तर का भेद है और यही रूपान्तर है सभ्यता। इस रूपान्तर के कारण क्रोध भी रूपान्तर होकर, आवरण मंडित होकर आता है। लेकिन यह रूप मर्मस्पर्शी नहीं होता है अतः उसका उद्घाटन कवि-कर्म का मुख्य अंग हैं। अतएव सभ्यता की वृद्धि के साथ कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी और आवरण-आधिक्य के कारण कवि-कर्म कठिन होता जायगा, क्योंकि आवरण के हटने पर ही वस्तु काव्य के लिये उपयुक्त होती है। काव्य के लिये आधुनिक, प्रत्यक्ष और वास्तविक रूपों का अध्ययन करके भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा, जो मूर्त और गोचर होंगे। क्योंकि काव्य में केवल अर्थ ग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।

कविता और सृष्टि-प्रसार—हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामञ्जस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। काव्य दृष्टि कहीं तो १. नर-क्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और कहीं, ३. समस्त सचराचर के।

१. संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्य में अधिकतर पाई जाती है। प्राचीन महा-काव्यों और खण्ड काव्यों में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी यथावसर आ गये हैं परन्तु मुख्य यात्रा नर-क्षेत्र के भीतर ही होती है। मुक्तक काव्य भी मनुष्य की भीतरी और बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य प्रकृति तो उद्दीपन मात्र मानी गई है। मनुष्य के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाये जाते हैं, वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिये रखे जाते हैं।

२. मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों में ही पाया जाता है। वहीं बिम्ब-ग्रहण कराया गया है। वाल्मीकि कालिदास आदि कवियों ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परि-स्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण दिया है। मेघदूत में ऐसे संश्लिष्ट वर्णन अधिक हैं।

प्रकृति अनन्त रूपों में हमारे सामने आती है—कहीं उग्र, कहीं कराल, कहीं भव्य आदि। सच्चा कवि हृदय-प्रकृति के सभी रूपों में रमता है। साहचर्य सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों में माधुर्य की अनुभूति होती है। अपने बाल्य जीवन से सम्पर्क रखने वाले खण्ड-हर, टूटी-फूटी झोंपड़ी, चिड़-चिड़े स्वभाव का मनुष्य आदि भी स्मृति-पट पर आकर हमारी भावना को लीन करते हैं। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं। आज हम प्रकृति से दूर हटकर सभ्यता की मूर्ति बन कर रहना चाहते हैं, किन्तु प्रकृति मानो हमारी पक्की मुंडेरों से घास के रूप में फूट कर हमारे जीवन से सम्पर्क की घोषणा

करती है । जो केवल प्रकृति में विलास-सामग्री ही देखते हैं, उनमें व्यक्त सत्ता, मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देने वाले रागात्मक सत्व की कमी है ।

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं । लेकिन जब कवि उन व्यापारों मे किसी तथ्य का आरोप करता है, तो वह काव्य न रहकर सूक्ति बन जाता है । हम प्रकृति के पदार्थों को मिटाकर नवनिर्माण की चेष्टा करते है, मानो उन्हें जीवित रहने का कोई अधिकार ही नहीं है । इन तथ्यों का सच्चा आभास हमे उनकी परिस्थिति से मिलता है । अत: उनमें से किसी की चेष्टा विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी । प्राचीन अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है । उनकी विशेष-विशेष परि-स्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं ।

काव्य-दृष्टि कभी तो नर-क्षेत्र और मनुष्येतर-क्षेत्र दोनों पर अलग-अलग रहती है और कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन क्षेत्र पर । काव्यानुशीलन करने वाले जानते है कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही सीमित नहीं रहती, जड़-सृष्टि तक भी जाती है । उनसे जीवन की सभी भावनायें प्रसूत होती हैं, चाहे वे रौद्र हों या सौम्य । जड़ जगत् के भीतर पाये जाने वाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की व्यंजना करती है । इन तथ्यों का मार्मिक उद्घाटन कहीं-कहीं अन्योक्तिकारों ने किया है ।

३. जो काव्य-दृष्टि सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र में मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली है, वह अधिक व्यापक और गम्भीर कही जाती है । जब हम अपनी भावना को विस्तृत करके अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नर सत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं, तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है । उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचता है, जहाँ उसकी वृत्ति प्रशान्त और गंभीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही बदल जाता है ।

काव्य और व्यवहार—मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्कबुद्धि से हम किसी काम मे नहीं लगते। संसार के महान् से महान् कार्य किसी न किसी भावना की प्रेरणा से ही होते हैं। किसी काम के परिणाम की भावना ही हर्ष, क्रोध, करुणा, भय आदि का संचार करके कार्य की ओर प्रेरित करती है। शुद्ध ज्ञान कर्म प्रेरक नहीं है। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में किसी वेग का होना आवश्यक है और इस वेग की जननी कविता ही है। हाँ, यह अवश्य है कि भावुक तथा काव्यानुशीलन से भावना के क्षेत्र को विस्तीर्ण करने वाले स्वार्थवृत्ति से रहित होते हैं तथा आत्मगौरव, कुलगौरव एवं दूसरों का जी दुखाने के डर से कर्म से विरत हो जाते हैं।

मनुष्यता की उच्च-भूमि—कविता भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उसका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में भाव-प्रसार अधिक होता है। मनुष्य के हृदय में अपने परिजनों, सम्बन्धियों, पड़ौसियों, देशवासियों और यहाँ तक कि मनुष्य-मात्र तथा प्राणी-मात्र से प्रेम करने का स्थान है। वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य का दर्शन करके मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है और हमारा जीवन सारे संसार में व्याप्त हो जाता है।

कवि प्रसाद से हम संसार के सुख-दुख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्चभूमि प्राप्त होती है। कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च-भूमि पर ले जाती है। भाव-योग की सबसे उच्च-कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।

भावना या कल्पना—काव्यानुशीलन भावयोग है और 'उपासना' उसका

एक अङ्ग है। इसी उपासना को 'भावना' या 'कल्पना' कहते हैं। भावों के प्रवर्त्तन के लिये कल्पना अपेक्षित है। शिथिल या अशक्त कल्पना वाले हृदय में मार्मिकता होते हुए भी किसी कविता की अभीष्ट अनुभूति नहीं कर पाते। कल्पना दो प्रकार की होती हैं—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक तथा श्रोता या पाठक में ग्राहक-कल्पना अपेक्षित है। क्योंकि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता, वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से मूर्ति-विधान करना पड़ता है।

मनोरंजन—कुछ लोग कविता का उद्देश्य मनोरंजन मानते है। परन्तु कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिये मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थित किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पाठक या श्रोता का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को लक्ष्य करके पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्दः काव्यम।" मनोरंजन के तो अन्य भी साधन हैं। कहानी भी मनोरंजन करती है पर कविता और कहानी एक बात नहीं।

सौन्दर्य—सौन्दर्य बाहर की वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है। कुछ वस्तुओं का रूप-रंग थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि उसका ज्ञान हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जगत् के समान हमारा मन भी रूपमय और गतिमय है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी, उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायगी। मनुष्य-मनुष्य में ही नहीं, अपितु प्रकृति के पदार्थों में भी सौन्दर्य की झलक पाता है। जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य

अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है, वह अवश्य एक दिव्य विभूति है।

कविता-रूप-सौन्दर्य ही नहीं, कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के मार्मिक दृश्य सामने रखती है। कविता वीभत्स और अप्रिय दृश्यों को भी सुन्दरता प्रदान करती है। वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सौन्दर्यों का विधान करती है। बाह्य सौन्दर्य रूप से सम्बन्धित है और आभ्यान्तर गुणों से।

सुन्दर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष होते हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमङ्गल आदि वाच्य के शब्द नहीं हैं। कवि तो सौन्दर्य-स्रष्टा होता है। चाहे वह सौन्दर्य वस्तुओं के रूप-रङ्ग में हो या मन, वाणी या कर्म में। कवि लोग प्रायः बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सौन्दर्यों का मेल दिखाते हैं।

चमत्कारवाद्—काव्य का उद्देश्य मनोरंजन मानने वाले उसमें चमत्कार के दर्शन करने की चेष्टा करते हैं पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं, वे चमत्कार को काव्य नहीं मानते। चमत्कार से तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसमें शब्द-क्रीड़ा, वर्ण-विन्यास की विशेषता, वचन-भंगी या दुरारूढ़ कल्पना से हैं। भावुक कवि चमत्कार का प्रयोग अनुभूति को तीव्र करने के लिये करते हैं। चमत्कारवादी चमत्कार-शून्य मार्मिक उक्ति को काव्य नहीं मानते, किन्तु वास्तव में काव्य वही है जिसमें हृदय-स्पर्श करने की क्षमता हो। चमत्कारपूर्ण अद्भुत भर विचित्र कथन तो सूक्ति के अन्तर्गत आता है। क्योंकि काव्य वह उक्ति है जो हृदय में कोई भाव जागृत करदे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे और जो उक्ति केवल कथन के ढङ्ग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार तथा कवि के श्रम या निपुणता के बिचार से ही प्रवृत्त करे, वह सूक्ति है। जहाँ दोनों बातें पाई जाँय, वहाँ प्रधानता को ध्यान में रखकर सूक्ति या काव्य कहा जायगा। उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या बक्रता के सम्बन्ध में हम से 'कुन्तल' जी का "वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बन्द्ध हो, उसके आगे नहीं।

कविता की भाषा—अगोचर बातों या भावनाओं को कविता स्थूल और

गोचर रूप में भाषा की लक्षणा शक्ति द्वारा सामने लाती है। लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रकार का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। भावना को मूर्तरूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिन से किसी एक का नहीं, बल्कि बहुत—से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ-ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कहते हैं। यथा 'अत्याचार' शब्द। किन्तु ऐसे शब्दों का कविता के लिए विशेष मूल्य नहीं। क्योंकि कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्तरूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक अर्थसंकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार पारिभाषिक और शास्त्रीय शब्द भी कविता में अप्रतीतत्व दोष की सृष्टि करते हैं।

जिस प्रकार मूर्तविधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए संगीतात्मकता का विधान करने वाले वर्ण-विन्यास की अपेक्षा है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।

हमारी काव्य की भाषा की विशेषता है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। गिरिधर, मुरारि आदि ऐसे ही शब्द हैं। लेकिन ऐसे शब्दों को चुनने के लिये प्रसङ्गानुकूलता अपेक्षित है।

अलङ्कार—भावना के उत्कर्ष और अर्थ की पूर्ण व्यंजना एवं प्रभावोत्पादकता की वृद्धि के लिये अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं। जो इसे साध्य मानते हैं वे कविता के रूप को विकृत कर देते हैं। अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों, चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में, चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में लाए जाते हों, वे हैं प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिये ही। जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री

अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता।

कुछ लोगों ने अपात्र की प्रशंसा और द्रव्य न देने वालों की निन्दा करके कविता पर अत्याचार किया है। कविता देवी के मन्दिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि 'स्वान्तः सुखाय' कविता लिखते हैं।

मनुष्य के लिये कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे अन्य शास्त्र आदि न हों।

तुलसी का भक्तिमार्ग

तुलसी के समान भक्ति रस का पूर्ण परिपाक अन्यत्र नहीं देखा जाता। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अङ्ग है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभव के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकलते हैं जिन में अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता आती है। गोस्वामी जी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिये मैदान पड़ा हुआ है। वहाँ जिस प्रकार के लोक-व्यवहार से अपने को अलग करके आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होने वाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं, उसी प्रकार लोक-व्यवहार में मग्न रहने वाले अपने भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों के भीतर ही आनन्द की वह ज्योति पा सकते हैं जिस से इस जीवन में दिव्य जीवन का आभास मिलने लगता है।

तुलसी की राम-भक्ति वह दिव्य वृत्ति है, जिससे जीवन में शक्ति सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है। तुलसी के ग्रन्थों में आलम्बन के महत्त्व से प्रेरित दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के सभी अंगों का समावेश है। राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य की चरम अभिव्यक्ति मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को आकर्षित करने वाली है।

तुलसी अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल से लोक-व्यापार के भीतर भगवान् की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करने वाले हैं। लोक-व्यवहार में मग्न होकर जो मंगल ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्य को अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। तुलसीदास जी उपदेशवाद या तर्क को केवल वाक्य-ज्ञान मात्र मानते हैं, जो व्यर्थ है—

'वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥"

वाक्य-ज्ञान और बात है, अनुभूति और बात।

तुलसी ने अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनन्त शक्ति और अनन्त शील की वह झलक दिखाई है. जिसके प्रकाश में लोक का प्रमोदपूर्ण परिचालन हो सकता है। सौन्दर्य के बीच में शील और शक्ति प्रतिष्ठित होकर और भी सुन्दर प्रतीत होने लगती है। अनन्त शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित अनन्त शील की प्रतिष्ठा करके गोस्वामी जी को पूर्ण आशा होती है कि उसका आभास पाकर जो पूर्ण मनुष्यता को पहुँचा हुआ हृदय होगा वह अवश्य द्रवित होगा।

सुनि सीतापति शील सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।

इसी हृदय पद्धति द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम जाता है। अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच जो अनन्त-शील होता है वह प्रत्येक प्राणी को मुग्ध करने वाला है। विनय-पत्रिका उन भाव-तरंगों की माला है, जो भव-विह्वल भक्त के हृदय में भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख आती हैं। भक्त में दैन्य, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्मनिवेदन आदि की गम्भीरता उस महत्त्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिये। महत्त्व के सान्निध्य के अनुसार ही इन स्फुट भावों का विकास होता है। अन्त में लघुत्व का महत्त्व में लय हो जाता है।

भक्ति का मूल तत्त्व महत्त्व की अनुभूति है। इस अनुभूति के साथ ही

दैन्य की भावना का उदय होता है। गोस्वामी जी में यही भाव पाया जाता है—

"राम सौ बड़ौ है कौन, मो सौ कौन छोटौ।
राम सौ खरौ है कौन, मो सौ कौन खोटौ॥"

भक्त को प्रभु के महत्त्व और अपने लघुत्व का वर्णन करने में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। वह प्रभु की अनन्त शक्ति के सामने अपने को दीन, उसके अनन्त शील के सामने अपने को महान् पापी समझता है। उसे अपनी दीनता और अपने अत्युक्ति पूर्ण पापों के वर्णन में सन्तोष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उसके जी का भार हल्का हो जाता है तथा भक्त का सुधार भी होता है

अपने दैन्य भाव के उत्कर्ष की व्यंजना के लिये तुलसी ने लोक की सामान्य प्रवृत्ति को अपने पर आरोपित करते हुए कहा है:—

"जानता हूँ निज पाप जलधि जिय जल सीकर सम सुमन लरौं।
रजसम पर अवगुन सुमेरु करि गुन गिरि सम रज निदरौं॥"

भक्त के हृदय में परम महत्त्व का सानिध्य प्राप्त करके उसमें लीन होने के लिये अनेक प्रकार के भावों का संचार हुआ करता है। कभी वह अनन्त रूप-राशि के अनुभव से प्रेम-पुलकित होता है, कभी अनन्त शक्ति की झलक पाकर आश्चर्य-लीन होता है कभी अनन्त शील की भावना से अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करता है और कभी उसे भगवान् के दया-दाक्षिण्य को देख कर इस प्रकार सन्तोष होता है—

"कहा भयो जो मत मिलि कलिकालहि कियौ मोंतु आ मोर को हौं,
तुलसीदास सीतल नित यही बल पड़े ठिकाने ठौर कौ हौं।"

भगवान् के सान्निध्य मे भक्त के हृदय का सारा संकोच दूर हो जाता है।

भक्ति में प्रतिफल की भावना नहीं होती। भक्ति केवल भक्ति के लिये की जाती है। भक्त के लिये भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। तुलसी ऐसे ही भक्त थे। तभी तो उन्होंने एक कृष्ण-भक्त के यह कहने पर कि राम केवल बारह कला के अवतार थे और कृष्ण सोलह के, अतः कृष्ण की भक्ति करो, कहा था:— "जौ जगदीस तौ अति भलौ, जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम चरन अनुराग॥"

तुलसी की भक्ति तो चातक की मेघ के प्रति जैसी थी। चातक जिस प्रकार मेघ के लोक-रक्षक रूप को पहचानता है। उसी प्रकार तुलसी ने भी राम के लोक-रक्षक रूप को पहचाना था। राम की भक्ति और राम द्वारा अपनाये जाने का लक्षण है। मन का स्वतः ही शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त होना—

"तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिर परि है।"

इस प्रकार शील को राम-प्रेम का लक्षण ठहरा कर गोस्वामी जी ने अपने व्यापक भक्ति-क्षेत्र के अन्तर्भूत कर लिया है।

भक्त प्रभु के सौन्दर्य, शक्ति आदि की अनन्तताजनित मधुर भावना में कमी नहीं आने देना चाहता। वह अपने जैसे पापी की सुगति को प्रभु की शक्ति का एक चमत्कार समझता है। अतः अपनी सुगति न होने में उसे भगवान् की शक्ति का अभाव के दुःख होगा—

नाहि न नरक परत मो कहँ डर यद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ी भाख दास तुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो॥

प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते-करते भक्त अन्त में जा कर उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसमें वह अपने साथ-साथ समस्त संसार को उस एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होता देखने लगता है।

काव्य में लोक-मङ्गल की साधनावस्था

भावना आत्मबोध और जगद्बोध को समान ही मानती है और भक्त भगवान के उसी रूप की उपासना करता है, जिसकी आनन्दमय ज्योति जगत के कण-कण में अभिव्यक्ति होती है। उसी का प्रकाश 'राम राज्य' कहलाता है। भारतीय भक्ति-मार्ग में उसी नारायण की दिव्य कला का दर्शन नर में दिखाई पड़ता है।

ब्रह्म के तीन रूप हैं—सत, चित और आनन्द। काव्य तथा भक्ति-मार्ग आनन्द को लेकर चलते हैं। इस आनन्द की अभिव्यक्ति के दो रूप हैं—साधनावस्था, सिद्धावस्था, । ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का अभिव्यति के क्षेत्र में आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। लोक-पीड़ा, बाधा अन्याय, अत्या-

चार के बीच दबी हुई आदन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणित हो कर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रञ्जन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो आनन्द मंगल के सिद्ध स्वरूप के माधुर्य विभूति और सुषमा आदि की ओर तो आकर्षित होते ही हैं, साथ ही विपत्ति, अत्याचार, पीड़ा आदि के शमन में क्रोध, उत्साह, भय, करुणा आदि भावनाओं के उद्दीप्त होने में भी उन्हें सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। ये ही पूर्ण भक्त या कवि हैं जिनको जीवन की प्रत्येक परिस्थिति आनन्दमय दिखाई देती है। कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनको उक्त दोनों पक्षों—साधनावस्था और सिद्धावस्था—में से एक के प्रति आकर्षण होता है। इस दृष्टि से काव्य के दो रूप हो सकते हैं—

१—आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले।

२—आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

डंटन जिसे शक्ति काव्य कहता है, उसे प्रथम रूप के अन्तर्गत रख सकते हैं, ऐसा काव्य ही प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। डंटन का कला-काव्य केवल मनोरञ्जन को ही उद्देश्य मानता है, लेकिन कला दोनों मे अपेक्षित है। क्योंकि कला ही स्थायी प्रभाव को उत्पन्न करने वाली और रस की पूर्ण अनुभूति—साधारणीकरण कराने वाली है। लेकिन कला शब्द को कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं वाले 'कला' शब्द से विस्तृत समझना चाहिये।

आनन्द की साधनावस्था को ले कर चलने वाले काव्य—रामायण, महाभारत, रघुवंश, रामचरित मानस, पद्मावत, पृथ्वीराज रासो तथा सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले—आर्या सप्तशती, गाथा सप्तशती, सूरसागर, बिहारी सतसई तथा गीत गोविन्द आदि हैं।

आनन्द की साधनावस्था—संसार से दुःख को हटाने के लिये आनन्दमय ब्रह्म भीषण, कटु अथवा प्रचण्ड कैसा ही रूप धारण करल, इसमें भी मनोहरता, मधुरता और आर्द्रता के दर्शन होते हैं। विरोधी भावों का यही सामञ्जस्य तो कर्म-क्षेत्र का सौन्दर्य है और यही लुभाने वाला है। आदि कवि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का यह

उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटा कर ही होता है। इसीलिये हमारे कवि असौन्दर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश आदि के साथ रोष, हाहाकार ध्वंस आदि के दृश्य भी उपस्थित करते हैं। लेकिन सब की परिणति आनन्द में ही होती है। सभी काव्यों में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य दिखाई देता है।

लोक-मंगल का विधान करने वाली, अभ्युदय की सिद्धि करने वाली वृत्ति धर्म कहलाती है। अतः अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता चाहे उग्र हो और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर भगवान् की आनन्दकला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति चाहे सफल हो या असफल, लेकिन उसमें सौन्दर्य है। वाल्मीकि और व्यास ने इसी सौन्दर्य का दर्शन किया तथा कराया है।

मंगल-अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग मंगल की शक्ति की विजय ही दिखाते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वह सर्वत्र अस्वाभाविक हो। कुशल कवि बीच में अधर्म और अमंगल का उत्कर्ष दिखा कर अन्त में पतन दिखाते हैं और इस प्रकार स्वाभाविकता की रक्षा करते हैं। कवि मंगल शक्ति की सफलता, कला सौन्दर्य की सृष्टि के लिये ही दिखाते हैं।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित होकर दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल होता है, उसे वह पाठक के सामने भी रख देता है। इसीलिये बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्यों का सामञ्जस्य देखने को मिलता है। राम यदि सद्गुण, शील और सदाचार की मूर्ति हैं, तो उनका रूप भी विमोहक है और रावण अत्याचारी, क्रोधी, अधार्मिक है तो वह विरूप ही है। यही संसार के सभी काव्यों का रहस्य है। अंग्रेजी कवि शैले तक में भी यही भावना मिलती है।

शुभ कर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि प्राची आख्यानों में भी जो अपनी कल्पना से नवीन उद्भावनायें करते हैं वे भी चिर प्रतिष्ठित आदर्शों के अनुकूल ही होती हैं। नवीन भावों के लिये नवीन आख्यानों की रचना कर लेते हैं।

कर्म सौन्दर्य के उक्त विरोधी भावों के द्वन्द्व की उपेक्षा करके टालस्टाय द्वारा प्रचारित केवल प्रेम और मातृ-भावना के प्रदर्शन में काव्य का उत्कर्ष मानना एकदेशीय है। केवल इसे ही दुष्ट से दुष्ट के प्रति प्रेम-प्रदर्शन को ही कर्म-सौन्दर्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि मनुष्य के शरीर में जैसे दो अङ्ग दक्षिण और वाम हैं, उसी प्रकार हृदय के भी दो पक्ष कोमल और कठोर या मधुर और कटु हैं। दोनों के समन्वय के अनन्त मंगलमय पक्ष के उत्कर्ष में ही काव्य-कला का पूर्ण विकास दृष्टिगत होता है।

आश्रय की चेतना में भाव-मण्डल का कुछ भाग तो प्रकाशमान रहता है और कुछ अन्त: संज्ञा के क्षेत्र में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरण काल में कभी कभी स्थाई भाव अन्त: सज्ञा के क्षेत्र में चले जाते हैं। यथा रति स्थायी भाव का संचारी ईर्ष्या कभी-कभी उसे भी दबा लेता है। इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र का मूल प्रेरक भाव तो एक ही रहता है, जो घटना चक्र को चला कर अन्य भावों के लिये भी क्षेत्र तैयार करता है।

ऐसे मूल भावों में कोमल और कठोर दोनों ही भाव हो सकते हैं। यदि मूल भाव की प्रवृत्ति मंगलमयी है तो उसकी व्यापकता सभी कोमल, कठोर भावों को सुन्दर बना देती है। ऐसे मूल भावों की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उसे पाठक की सहानुभूति प्राप्त होती है और विरोधी पात्र से तादात्म्य नहीं होता। लेकिन तीक्ष्ण तथा उग्र भावों में सौन्दर्य की मात्रा बीज भाव की व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार ही होती है।

करुणा और प्रेम नामक भाव मंगल विधायक हैं। करुणा रक्षण की ओर उन्मुख करती है और प्रेम रंजन की ओर। लेकिन रक्षण, रंजन से पहले की वस्तु है। इसी से शायद भवभूति ने करुणा को एक मात्र रस कहा है। रामायण का मूल भाव ही करुणा है, जो क्रौंच-वध के दृश्य से आदि कवि के हृदय में संचरित हुई थी। राम-जन्म के मूल में भी करुणा का भाव निहित है। ताड़का और मारीच-वध उसी के मंगलमय रूप हैं और सीता हरण के बाद उसी में आत्म-गौरव तथा दाम्पत्य-प्रेम का सम्मिलन हो गया है। लेकिन यदि रावण-वध में केवल आत्म-गौरव और दामपत्य-प्रेम का ही

प्राधान्य होता तो राम के क्रोध में काव्य का लोकोत्तर सौन्दर्य न होता। लेकिन उसमें लोक रक्षा की भावना प्रमुख थी, तभी वह करुणा काव्य को उत्कर्ष तथा सौन्दर्य दे सकी।

इससे सिद्ध होता है, क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भाव भी अव्यक्त रूप से करुणा अपने में छिपा कर पूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। स्वतन्त्रता के उन्मुक्त उपासक और घोर परिवर्तनवादी शैली के पात्रों में भी भावों की अनेकरूपता का विकास मिलता है। स्थिर सौंदर्य और गत्यात्मक सौन्दर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष दोनों उनमें मिलते हैं।

टाल्स्टाय के मतावलम्बी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर वे पीड़ितों की सेवा में दौड़-धूप अत्याचारियों को प्रभावित करने के लिये साधुता और कष्ट-सहिष्णुता में सौंदर्य दर्शन करते हैं हम भी पूर्ण प्रभविष्णुता के लिये काव्य में सत्व गुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं और प्रेम तथा करुणा दोनों भाव सत्वगुण प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्वगुण ही पारमार्थिक सत्ता के निकट पहुँचाता है।

जब अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त रूप जगत में सत्, रज, तम तीनों की प्रतिष्ठा हैं, तब ब्रह्म की आनन्द-कला का प्रकाश तभी सम्भव है, जब कि तमोगुण और रजोगुण दोनों पर सतोगुण की विजय दिखाई जाय। अतः प्रकृति चाहे किसी ओर जाये, लेकिन सौंदर्य का विधान उसके सत्वगुण में प्रवृत्त होने पर ही सम्भव है। इसी कारण हमारे भगवान् वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हैं।

अतीत के चल-चित्र

(लेखिका—महादेवी वर्मा)

प्रश्न १—'अतीत के चलचित्र' में कौन से चित्र आपको सबसे मार्मिक लगे हैं ? उन चित्रों की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

या

'विषाद की गहरी कालिमायें', 'अतीत के चलचित्र' के सभी चित्रों में प्रकाश के—सुख के सभी रंग विलुप्त हो गए हैं।' इस बात से आप कहाँ तक सहमत हैं, अपने कथन के प्रमाण के लिए चित्रों की रूपरेखा भी प्रस्तुत कीजिए।

या

'अतीत के चलचित्र' में रंग भरते समय महादेवी तटस्थ नहीं रह सकी हैं। इसीलिए आवेश और आवेग में दुःख के रंग और भी गहरे हो गए हैं।

या

"महादेवी जी ने कहीं भी दरिद्रता को महिमान्वित नहीं किया है। हाँ, यह दिखाने का प्रयत्न अवश्य किया है कि अच्छी-अच्छी प्रतिभायें दरिद्रता की निर्मम और भयंकर अग्नि में जल कर भस्म हो जाती है—और जो प्रतिभायें देश और समाज में कभी युगान्तर उपस्थित कर सकती थीं, अकाल ही काल के गाल में चली जाती हैं।" उपरोक्त कथन को स्पष्ट कीजिए और अपने कथन का समर्थन आवश्यक या सम्बन्धित चित्रों की रूपरेखा देकर कीजिए।

उत्तर—हमें 'अतीत के चलचित्र' में निम्नांकित चरित्र अत्यधिक मार्मिक लगते हैं। क्योंकि इन चित्रों में विषाद का रंग इतना गहरा है कि पाठक उसी रंग में रंग जाता है। चित्र हैं—

पहला (रामा नौकर का चित्र), दूसरा (विधवा भाभी का चित्र),
छठा (विधवा, बालिका माँ का चित्र), सातवां (घीसा का चित्र),
नवां (अलोपी का चित्र), ग्यारहवां (लछिमा का चित्र)।

पहला चित्र :—रामा नौकर :—

इस चित्र में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) रामा का चित्र और चरित्र (२) महादेवी का बचपन और बालकों के मनोविज्ञान का सुन्दर वर्णन

प्रथम चित्र का विषय रामा दरिद्रता की ही उपज है। समाज के पाखण्ड, अत्याचार और दरिद्रता ही इस चित्र की पृष्ठभूमि बनाते हैं। रामा के विषय में महादेवी लिखती है :—

"वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर माँगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा था, जहाँ न कोई अपना घर और न रहने का ठिकाना।।"

रामा महादेवी के घर इन्दौर में एक दिन अचानक आ पहुँचा। उसके आते समय का चित्र भी बड़ा मार्मिक है :—

"एक दिन दोपहर को माँ बड़ी, पापड़ आदि के अक्षय कोष को धूप दिखा रही थीं, तब न जाने कब दुर्बल और क्लान्त रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर—निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह—"ए मताई, ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो" कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया।

"आबनूस के रंग के समान काले और कुरूप रामा पर महादेवी की माता जी को दया आ गई और उन्होंने उसे नौकर रख लिया। पर प्रश्न था कि उसे क्या काम दिया जाय। घर का काम करने के लिये घर में पहले से ही काफी नौकर थे, अन्त में माँ ने उसे अपने व्यक्तिगत नौकर के रूप में रख लिया और शीघ्र ही रामा के लिये काम भी खोज निकाला गया। रामा का मुख्य काम था, बच्चों की देख-रेख करना। महादेवी वर्मा सहित घर में चार बच्चे थे। बच्चों को सोते से उठाकर लाना, सबके हाथ-मुँह धोना, कलेवा खिलाना, कहानियाँ सुनाकर उनका मन बहलाना तथा थपकियाँ देते रात को उन्हें सुला देना, यही रामा का दैनिक कार्य था।"

रामा के विषय में महादेवी वर्मा ने लिखा है—"हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार उतना ही सीमाहीन था।"

एक बार महादेवी मेले में खो गई, फटकार रामा पर पड़ी, क्योंकि मेला देखते-देखते उन्होंने रामा की उँगली छोड़ दी थी और इधर-उधर चीजें देखते-देखते खो गईं। बेचारा रामा सुबह से शाम तक ढूँढ़ता रहा, अन्त में बड़ी मुश्किल से एक दूकान पर बैठी मिलीं।

एक दिन महादेवी पड़ौस के घर में फूल तोड़ने छत के मार्ग से गईं, मार्ग में एक संकरी दीवार दोनों को मिलाती थी जिससे गिरने पर हड्डी बचना भी मुश्किल था। पर वे किसी प्रकार उसे पार कर वहाँ पहुँचीं। लेकिन रास्ते में ही कुतिया के बच्चों को देखकर फूल चुराने की बात को भूल गईं और कुत्ते का पिल्ला किस प्रकार ले जाया जाय, सोचने लगीं। इतने में गृहस्वामिनी निकल आईं और उनको भी चोरी की बात उन्होंने स्पष्ट बता दी। एक पिल्ला लेकर महादेवी घर आईं तो रामा ने कानों को पकड़ कर अधर उठाते हुए कहा—"कहोजू, कहोजू, किवे गये रहे।" महादेवी ने अपनी माता से इस दुर्व्यवहार की शिकायत की और रामा को फटकार सुननी पड़ी।

रामा यद्यपि अच्छा नहीं गाता था परन्तु महादेवी उसका गाना सुनती थीं क्योंकि "रामा केवल हमारे लिये गाता और हम केवल उसके लिये सुनते थे।"

महादेवी बचपन में ही उर्दू, ड्राइंग, संगीत घर पर ही शिक्षकों से पढ़ती थीं। वे लिखती हैं—"मेरे पण्डित जी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौनों के बीच में ही मौलवी साहब, संगीत शिक्षक और ड्राइंग मास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सम्भल सकेगा।"

मौलवी साहब से महादेवी बहुत डरती थीं। एक दिन वन्द झावे में वे मौलवी साहब के आने पर छिप गईं। अन्त में रामा ने ही वहाँ से उनका उद्धार किया। तब से माँ और रामा के प्रयत्न ने उन्हें उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

रामा घर का कितना अविभाज्य अंग था। महादेवी से सुनिये :—

"रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब १०-१५ दिन के लिये नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबू जी की देखभाल के लिये रहना पड़ता था, बिना रामा के हम जाने के लिये किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं होते, अतः वे हमें छोड़ जातीं।'

रामा अत्यधिक सेवापरायण नौकर था। एक बार महादेवी के छोटे भाई को चेचक निकली तो शेष बच्चों को लेकर रामा ऊपर के खण्ड में रहा और इस प्रकार सब बच्चे चेचक से बचे रहे।

महादेवी को एक बार ज्वर के साथ कान के नीचे एक गिल्टी निकल आई तो रामा ने दिन-रात एक कर दिया। निरन्तर सेंकते रहने के पश्चात् उनकी गिल्टी तो तीसरे दिन बैठ गई पर रामा को भयंकर बुखार चढ़ गया। आखिर किसी प्रकार वह बच गया। माँ उससे शादी को कहती पर हमेशा वह यह कह कर टाल देता 'बाई की बातें। मोह नाम मिटे आपनन खौं का कनने हैं, मोरे राजा हरे कोह जेई अपने रामा की नैया पार दै है।'

पर अचानक एक दिन रामा कहीं जाने को तैयार होकर निकला और फिर बहू लेकर ही लौटा। पर बहू का स्वभाव अच्छा नहीं था। वह बच्चों से चिढ़ती थी, बच्चे भी (महादेवी आदि) उसे चिढ़ाने के पचास उपाय ढूँढा करते, उनका दण्ड मिलता रामा को। रामा अब बच्चों से इतना न मिल-जुल पाता, जितना पहले बच्चों से मिला रहता था। इस नये व्यवधान से बच्चे भी दुःखी थे और रामा भी दुःखी रहता था।

अन्त में एक दिन उसकी बहू रूठकर मायके चली गई तो रामा को जैसे कुछ संतोष मिला। क्योंकि अब वह राजा भैया (महादेवी) के साथ खेल सकता था। पर मां को यह अच्छा नहीं लगा, उन्होंने रामा को समझा-बुझाकर बहू के पास भेज दिया। महादेवी लिखती हैं:—

"उस पार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है, मां ने रुपये भेजे, आने के लिये पत्र लिखा, पर उसे जीवनपथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।"

······आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भैया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौने के संसार का सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती जाती है—निर्वाक्, निस्तन्द्र, पर स्नेहतरल और इस प्रकार रामा की इस कथा का अन्त दुःख में ही होता है।

दूसरा चित्र (विधवा भाभी)

महादेवी जी जब छः सात वर्ष की बच्ची ही थीं और स्कूल जाया करती थीं तब मार्ग में एक घर में से एक स्त्री घूँघट में से उनकी ओर ताकती रहती

थी। बाद में महादेवी जी की उससे घनिष्ठता हो गई और भाभी की इस दुःखभरी कहानी को महादेवी कहती हैं :—

बचपन का मिशन स्कूल मुझे अब तक स्मरण है जहाँ प्रार्थना और पाठ्यक्रम की एकरसता से मैं इतनी रुआँसी हो जाती थी कि प्रतिदिन घर लौटकर नींद से बेसुध होने तक सबेरे स्कूल न जाने का बहाना सोचने से ही अवकाश न मिलता था। स्कूल निकट होने के कारण बूढ़ी कल्लू की माँ मुझे किताबों के साथ वहाँ पहुँचा भी आती थी और ले भी आती थी।

हमारे घर से कुछ ही हटकर एक ओर रंगीन सफेद रेशमी और सूती कपड़ों में और दूसरी ओर चमचमाते हुए पीतल के बर्तनों से सनी हुई एक नीची सी दूकान में जो वृद्ध सेठजी बैठे रहते थे उन्हें तो मैंने कभी ठीक से देखा ही नहीं, परन्तु उस घर के पीछे वाले द्वार पर पड़े हुए पुराने टाट के परदे के छेद से जो आँखें प्रायः मुझे आते-जाते दीखती रहती थीं, उनके प्रति मेरा मन एक कुतूहल से भरने लगा। कभी-कभी मन में आता था कि परदे के भीतर झाँककर देखूं, पर कल्लू की माँ को उन आँखों की स्वामिनी से मेरा परिचय भाता न था, हाँ, उसकी कथा सुनाने में उसे अवश्य रस मिलता था। वह अनाथिनी भी है और अभागी भी। बूढ़े सेठ सबके मना करते-करते भी इसे अपने इकलौते लड़के से ब्याह लाये और उसी साल लड़का बिना बीमारी के ही मर गया। घर में कोई देखने वाला है ही नहीं। एक ननद है जो शहर में ससुराल होने के कारण जब-तब आ जाती है और तब इसकी खूब ठुकाई होती है।

एक दिन पानी बरस जाने के कारण कल्लू की माँ तो घर पर ही रुक गई और मैं पानी बन्द होते ही तुरंत घर चल दी, पर उस परदे के सामने ही मेरा पैर अचानक फिसल गया, मैं रोने लगी। कह नहीं सकती कि परदे से निकल कर उन आँखों की स्वामिनी ने कब मुझे आंगन में खींच लिया परन्तु सहसा विस्मय से मेरी रुलाई रुक गई। एक दुर्बल पर सुकुमार बालिका जैसी स्त्री अपने अंचल से मेरे हाथ और कपड़ों का कीचड़ मिला पानी पोंछ रही थी और भीतर दालान से वृद्ध सेठ का कुछ विस्मित स्वर कह रहा था, "अरे यह तो वर्मा साहब की बाई है।"

उसी दिन से वह घर मेरे लिये एक आकर्षण बनने लगा। उस एकांत घर में वह किशोरी बालिका कितनी कार्यव्यस्त रहती थी, यह मेरी बालक-बुद्धि से भी न छिपा रहता था। इतना कार्य करने पर भी वह हर समय हंसती ही रहती थी। मेरी उससे घनिष्ठता हो गई। वृद्ध भी अपनी बहू के लिये ऐसा निर्दोष साथी पाकर इतने प्रसन्न हुए कि स्वयं ही बड़े आदर यत्न से मुझे बुलाने—पहुँचाने लगे।

मैं और भाभी (महादेवी उसे भाभी कहने लगी थीं) दिन भर गुड्डे-गुड़ियों का शृंगार करते रहते थे और इस प्रकार दिन अच्छी तरह बीत रहे थे। सबसे कठिन दिन तब आते थे जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे।

रंगों पर भाभी प्राण देती थी, मैंने गुड़ियों और खिलौनों से दूर अकेले बठ-बैठकर अपने नन्हे हाथों से उसके लिये एक लम्बी-चौड़ी ओढ़नी काढ़ी थी और जब वह दालान में दरवाजे की ओर पीठ किये बैठी कुछ बीन रही थी, दबे-पाँव आकर ओढ़नी खोलकर मैंने उसके सिर पर डाल दी। क्षणभर के लिये भाभी अपनी उस स्थिति को भूल गई जिसमें रंगीन वस्त्र वर्जित थे और आनन्दातिरेक में मेरी ठुड्डी पकड़कर खिलखिला पड़ी।

इतने में ही वृद्ध अपनी पुत्री को लेकर घर आ पहुँचे। उन्होंने यह क्रीड़ा देखी। क्रोध में जलते अंगारों जैसी आँखों वाली खुली तलवार सी कठोर ननद देहली से आगे पैर बढ़ा चुकी थी।

इसके उपरान्त जो हुआ वह तो स्मृति के लिये करुण है। क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा। बचाने का कोई उपाय न देखकर ही कदाचित् मैंने जोर-जोर से रोना आरम्भ किया, परन्तु बच तो वह तब सकी जब मन से ही नहीं, शरीर से भी बेसुध हो गई।

इस घटना से दुःखी होकर मैं कई दिन ज्वर में पड़ी रही। फिर तो हम लोग इन्दौर से चले ही आये। बाद में पता चला कि वधू की रक्षा का भार संसार को सौंप कर वृद्ध कभी के विदा हो चुके हैं, परन्तु कठोर संसार ने उसकी कैसी रक्षा की, यह आज तक अज्ञात है। प्रायः सोचती हूँ—जब वृद्ध ने

कभी न खोलने के लिये आँखें मूँद ली होंगी, तब वह जिसे उन्होंने संसार की ओर देखने का अधिकार ही नहीं दिया था, कहाँ गई होगी और तब न जाने किस अज्ञात प्रश्न के उत्तर में मेरे मन की सारी ममता आर्त्त-क्रदन कर उठती है—नहीं, नहीं··· ।

विधवा भाभी का यह चित्र न जाने भारत की कितनी लाख विधवाओं की कठिनाइयों एवं उनके दुर्वह और अश्रुमय जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। वह चित्र भी दुःख के गहरे रंगों से रंगा है और सुख का तो कहीं आभास तक नहीं है।

छठा चित्र (विधवा मां)

यह एक विधवा बालिका की कहानी है। बालिका को गर्भ है, उसके बाबा उसे तीर्थ घुमाने के बहाने प्रयाग ले आये हैं, वहाँ उसके बच्चा हुआ है। वे बच्चे को मार डालना चाहते हैं पर लड़की (माँ) उन्हें ऐसा नहीं करने देती। वह महादेवी से एक बार मिलना चाहती है और अपने बाबा को इसीलिये उनके पास भेजती है। अन्त में महादेवी उस पूरे परिवार को अपने आश्रय में ही ले लेती हैं। महादेवी के शब्दों में कथा यों है—

फागुन के गुलाबी जाड़े की वह सुनहली संध्या थी। पता चला, अपना नाम न बताने वाले वृद्ध सज्जन मुझ से मिलने की प्रतीक्षा में बहुत देर से बाहर खड़े हैं। उनसे सवेरे आने के लिये कहना अरण्य-रोदन हो गया है।

मेरी कविता की पहली पंक्ति ही लिखी गई थी, अतः मन खिसिया-सा आया। कुछ खीझी, कुछ कठोर सी मैं बिना देखे ही एक नयी और दूसरी पुरानी चप्पल में पैर डालकर जिस तेजी से बाहर आई, उसी तेजी से उस अवां[illegible] आगंतुक के सामने निस्तब्ध और निर्वाक् हो रही। बाहर एक वृद्ध खड़े थे, दूध से सफेद बाल और दूध-फेनी सी सफेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो रहा था। एक क्षण में ही उन्हें धवल सिर से लेकर धूल भरे परों तक देखकर कहा—"आपको पहचानी नहीं।" वृद्ध ने क्लान्त और शांत कंठ से उत्तर दिया—'जिसके द्वार पर आया है, उसका नाम जानता है, इससे अधिक माँगने वाले का परिचय क्या होगा? मेरी पोती आप से एक बार मिलने के लिये बहुत विकल है। दो दिन से इसी उधेड़बुन में

पड़ा था, आज साहस करके आ सका हूँ—कल तक शायद साहस न ठहरता, इसी से मिलने के लिए हठ कर रहा था । क्या आप इतना कष्ट स्वीकार करके चल सकेंगी ? तांगा खड़ा है ।"

मैं सहज ही कहीं आती-जाती नहीं । पूछा—"क्या वह नहीं आ सकती ?" पर वृद्ध लज्जा के कारण बोल न सके और मुँह फेर कर गीली आँखों को छिपाने की चेष्टा करने लगे । पूछने पर वृद्ध से पता लगा कि "उनके एक पोती है जो आठ वर्ष की अवस्था में मातृ-पितृ हीन और ग्यारहवें वर्ष में विधवा हो गई थी ।" अधिक तर्क-वितर्क का अवकाश नहीं था, किसी ने मेरे कण्ठ से बलात् कहला दिया—"चलिए, किसी को साथ लेलूं क्योंकि लौटते-लौटते अंधेरा हो जावेगा ।"

शहर की गंदी गलियों को पार कर, किसी प्रकार एक तिमंजिले मकान की सीढ़ियाँ पार कर हम लोग ऊपर पहुँचे । दालान में ही मैली फटी दरी पर खम्भे का सहारा लेकर बैठी हुई एक स्त्री-मूर्ति दिखाई दी, जिसकी गोद में मैले कपड़ों से लिपटा एक पिण्ड सा था । वृद्ध मुझे वहीं छोड़कर छज्जे पर जा खड़े हुए ।

एक उदासीन कण्ठ से 'आइये' में निकट आने का निमंत्रण पाकर मैंने अभ्यर्थना करने वाली की ओर ध्यान से देखा । वृद्ध से उसकी मुखाकृति इतनी मिलती थी कि आश्चर्य होता था । स्त्री-मूर्ति ने कुछ खिजलाहट भरे स्वर में कहा—"बड़ी दया की, पिछले पाँच महीने से हम जो कष्ट उठा रहे हैं, उसे भगवान् ही जानते हैं, अब जाकर छुट्टी मिली है, पर लड़की का हट तो देखो अनाथालय में देने के नाम से बिखरने लगती है और किसी के पास छोड़ आने की चर्चा से अन्न-जल छोड़ बैठती है । अब आपही उद्धार करें तो प्राण बचें ।"

इस लम्बी-चौड़ी भूमिका से मैं अवाक् रह गई । जब प्रकृतिस्थ हुई तो वस्तुस्थिति मेरे सामने धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी । मेरा शरीर सिहर उठा, पैर अवसन्न हो रहे और माथे पर पसीने की बूंदें आ गईं । सामाजिक विकृति का बौद्धिक निरूपण मैंने अनेक बार किया है पर जीवन की इस विभीषिका से मेरा यही पहला साक्षात् था और तब अपने ऊपर कुछ लज्जित होकर मैंने उस मटमैले शाल को हटाकर उस बच्चे को निकट से देखा जिसको

लेकर बाहर-भीतर इतना प्रलय मचा हुआ था। उग्रता की प्रतिमूर्ति-सी नारी की उपेक्षाभरी गोद उस कोमल मुख पर एक अलक्षित करुणा की छाप लगा रही थी। यह कैसे जीवित रहेगा, इसकी किसी को चिन्ता नहीं है। है तो केवल यह कि कैसे अपने सिर बिना हत्या का भार लिए ही इसे जीवन के भार से मुक्त करने का उपाय कर सकें।

मैंने उस माँ-बालिका को देखने की इच्छा प्रकट की। उत्तर में विरक्त सी बुआ ने दालान की बाँई दिशा में एक अंधेरी कोठरी की ओर उँगली उठा दी। भीतर अँधेरा था। कुछ क्षणों में जब आँखें अंधेरे की अभ्यस्त हो गई तब मैंने आले में रखे हुए दिए को जला दिया।

स्मरण नहीं आता, वैसी करुणा मैंने कहीं देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी, सहस्रों सिकुड़न भरी मैली चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिए के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया, उसका ठीक चित्र दे सकना सम्भव नहीं है। वह १८ वर्ष से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—दुर्बल और असहाय जैसी।

उसने खाट से जमीन पर उतर कर अपनी दुर्बल बांहों से मेरे पैरों को घेरते हुए मेरे घुटनों में मुँह छिपा लिया।

उसने अपने नीरव आँसुओं में अस्फुट शब्दों के द्वारा मुझे यह समझाने का प्रयत्न किया कि वह अपने बच्चे को नहीं देना चाहती। यदि दादा जी राजी न हों तो मैं उसके लिए ऐसा प्रबन्ध कर दूँ जिससे उसे दिन में एक बार दो रूखी-सूखी रोटियां मिल सकें। कपड़े वह मेरे ही पहन लेगी और विशेष खर्च उसका नहीं है। फिर जब बच्चा बड़ा हो जायगा तब जो काम उसका बता देंगी, वही तन-मन से करती वह जीवन बिता देगी।

तब २० वर्ष की अवस्था में मुझे १८ वर्षीय लड़की और २९ दिन के नाती का भार स्वीकार करना ही पड़ा। वृद्ध अपने सहानुभूतिहीन प्रान्त में भी लौट जाना चाहते थे परन्तु मनुष्यता की ऊँची पुकार में यह संस्कार के क्षीण स्वर दब गए।

पूरी कथा दुःख के गंभीर जल में डूबी है। महादेवी ने उस असहाय बालिका का उद्धार अवश्य किया, पर यह तो एक वर्ग का प्रश्न है, व्यक्ति का नहीं, बालिका-माँ एक वर्ग की प्रतिनिधि है। जब तक समाज का ढाँचा नहीं बदला जायगा, तब तक एक दो व्यक्ति का उद्धार करने से कुछ होना सम्भव नहीं।

सातवाँ चित्र (घीसा)

गंगा पर झूँसी के खण्डहर और उसके आस-पास के गाँवों से महादेवी वर्मा को कुछ विशेष मोह है। जब एक बार कुछ दिन वे वहाँ ठहरी थीं, कुछ लड़के उनके पास पढ़ने आ जाते थे, घीसा उन में से ही एक था। जाति का कोरी था, गरीब और उपेक्षित। उसके केवल एक माँ थी, पिता का देहावसान हो चुका था। ९ वर्ष का घीसा अपनी अवस्था से अधिक गम्भीर, अधिक समझदार और कर्तव्य परायण था। बड़ा ही गुरुभक्त था, उसे देख कर एकलव्य की कथा याद आने लगती है। एक बार जब घीसा बीमार था, उसे पता लगा कि शहर में साम्प्रदायिक दंगा हो गया है। महादेवी शहर से ही आती थीं। उसे बड़ी चिन्ता हुई, गुरु जी का क्या होगा और बीमार ही वह उन्हें समाचार देने पढ़ने के स्थान पर पहुँचा। जब अपने अवकाश के दिन समाप्त कर महादेवी लौटने लगीं तो वह अपनी कमीज को बेच कर बड़ा सा तरबूज उन्हें भेंट देने लाया। महादेवी उस बच्चे की भक्ति और प्रेम भाव से अभिभूत हो गईं, उन्हें स्वीकार करना पड़ा। बाद में घीसा बहुत बीमार रहा। अब महादेवी के शब्दों में ही कहानी सुनिये:—

गंगा पर झूँसी के खण्डहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है, उसे देख कर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे हैं: मैं अवकाश के समय को वहाँ सुख से काट देती हूँ।

ग्वालों के बच्चे अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते. गड़रियों के बच्चे अपने झुण्ड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देख कर कान पकड़ कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डण्डा खेलने वाले निठल्ले लड़के भी बीच में नजर बचा कर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया और जब मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्रित हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे, सो कैसे बताऊँ। कुछ कानों में बालियाँ और हाथ में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे। कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुर्ता पहने खेत में डराने के लिये खड़े हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे। कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की उपेक्षा बटोर बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूलि मुझे अब तक नहीं भूली जब घने और काले अन्धकार में मैंने सहसा एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आते देखा। आँख छोटी पर व्यथा से आर्द्र थीं। गाढ़े की धोती ने उसके सलूका रहित अङ्गों को भलीभांति ढक लिया था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस अर्धनग्न दुर्बल बालक को अपने पैरों में चिपकाये हुए थी, उसे मैंने संध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और संकेतों में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं है, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों को साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतबार को मैंने उसे सब से पीछे अकेले एक ओर बैठे हुए देखा। अत्यन्त दुर्बल और निस्तेज नाम था घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जायश, न शरीर में। घीसा की सचेत आंखों में न जाने कौन सी जिज्ञासा भरी रहती वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर ही टिकी रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्याबुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिचे-खिचे रहते।

घीसा का बाप कोरी था। अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं की उपेक्षा करके वह एक दूसरे गांव से एक युवति वधू ले आया। गांव वालों को यह असह्य था। थोड़े दिन जीकर वह परलोक सिधारा। गांव में कुछ युवकों ने उदारतावश उस विधवा की नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व

लेना चाहा पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली, बोली—हम सिंह की महरारू होइ के सियारन के जांय (मैं सिंह-पत्नी होकर अब गीदड़ों के घर जाऊँ।) मुझे यह भी बताया गया कि घीसा अपने बाप के मरने के बाद हुआ है।

यह कथा अनेक क्षेपकोंमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई थी मेरा मन फेरने के लिये और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। अपने छोटे से छोटे काम का उत्तर-दायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ; परन्तु उस उपेक्षिता और मानिनी विधवा का वही एक सहारा था।

एक बार मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे पर घीसा गायब था। पता लगा कि घीसा कपड़े धो रहा है, गुरु साहब ने आज्ञा जो दी थी। इतने में ही घीसा गीले कपड़े पहने ही जब मेरे सामने आ गया तब मेरा रोम-रोम गीला हो गया।

एक बार मैं उन विद्यार्थियों के लिये ५-६ सेर जलेबियाँ ले गई। पर प्रत्येक को पाँच-पाँच से अधिक न मिलीं। कोलाहल में घीसा अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर चुपचाप खिसक गया। पता चला कि वह अपने पिल्ले को उसका हिस्सा देने गया है।

घीसा ने जब सुना कि शहर में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हो रहा है तो वह चुपचाप निकल कर बीमारी ही में कभी दीवार कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा। परन्तु उस दिन किसी प्रकार मुझे आपत्ति से बचाने के लिये अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उनकी टूटी खटिया पर लिटाकर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और पूर्ववत् पढ़ने को जाने लगा।

आखिर वह दिन आ ही गया जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था। मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा।

शाम का समय, एक-दो दिए जल चुके थे, तब मैंने दूर पर एक छोटा सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। निकट आने पर देखा, नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सँभाले था। पूछने पर पता चला कि गुरु साहब के लिये यह तरबूज देने की उसकी बड़े दिनों से इच्छा थी, इससे कुरता दे आया, चुराया नहीं है।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोएगा, छुट्टी भर रोएगा, ले जावें तो वह हर रोज नहा धोकर पेड़ के नीचे पड़ा हुआ पाठ दुहराता रहेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर छाया रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर (शहरों में) किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं। परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार में अब तक सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गई। लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका—तब घीसा को उसके भगवान् जी ने सदा के लिये पढ़ने से अवकाश दे दिया था।

मेरे लिये अभी इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों से उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

वास्तव में घीसा तो भारत के कोटि-कोटि दीन-हीन क्षुधातुर बालकों का प्रतिनिधि है। प्रतिभाशाली बालक दरिद्रता और अकाल-मृत्यु की भेंट चढ़ जाते है। उपरोक्त कहानी में यही व्यञ्जना है। यदि ऐसे बच्चों को विकास के अच्छे अवसर मिले तो न जाने कितनी उच्चकोटि की प्रतिभायें प्रकाश मे आ जाये।

प्रस्तुत चित्र आद्यन्त दुःख के गहरे रंगों से रंगा है। दरिद्रता की सर्वग्रासी कालिमा ने इस चित्र के प्रकाश के—दृष्टि के सभी रंग ढक दिये है।

नवाँ चित्र (अलोपी)

तीसरे पहर जब महादेवी कुछ पढ़ने में व्यस्त थीं, अन्धा अलोपी आया, एक लड़के के साथ। वह कुछ काम चाहता था। अन्त में तय हुआ कि अलोपी

छात्रावास में रहने वाली लड़कियों के लिए शाक लाया करेगा। धीरे-धीरे अलोपी ने कुछ पैसा भी बचा लिया और एक स्त्री ले आया। स्त्री धन से प्रेम करने [illegible] थी। एक दिन वह अलोपी का सब कुछ लेकर भाग गई। अलोपी का हृदय टूट गया, जो फिर कभी नहीं जुड़ा। अलोपी का मधुर व्यवहार, आत्मीयता, निष्कपटता, अबोधता अविस्मरणीय चीजें हैं। भग्नहृदय अलोपी फिर अधिक दिन तक नहीं जी सका।

महादेवी के शब्दों में कहानी सुनिये—

अलोपी को मैंने कब देखा? यह कहानी भी उसी के समान अपनी विचित्रता में करुण है।

घोर गर्मी के दिन, तीसरा पहर थके यात्री के समान मानो ठहर-ठहर कर बढ़ रहा था। इतने में पता लगा कोई बुलाता है। सोचा न उठूँ, पर भिखारी की आवश्यकता से अधिक मुझे अपनी शिष्टता की परीक्षा का ध्यान था। निरुपाय उठना पड़ा, उन्हें बुलाया। चर्म के आवरण से अपना विद्रोह प्रकट करने वाले अस्थि-पंजर के लिये फटे-लम्बे कुरते को दुहरा कारागार बनाये दस-बारह वर्ष का बालक लाठी को एक ओर से थामे आगे-आगे आ रहा था और ऊँची धोती और मैली बन्डी में अपने कंकाल को यथासम्भव मुक्ति दिये एक अन्धा लाठी के दूसरे छोर के सहारे टटोल-टटोल कर बढ़ते हुए पैरों से उसका अनुसरण कर रहा था।

जब उसने मुख ऊपर उठा कर नमस्कार किया तब ऐसा जान पड़ा मानो नमस्कार का लक्ष्य खजूर का पेड़ हो।

अलोपी की दैन्यभरी वाचालता से पता चला कि उसके चक्षु के अभाव की पूर्ति उसकी रसना ने करली और इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों में चाहे ज्ञान का उचित विभाजन न हो सका पर उसके परिणाम का संतुलन नहीं बिगड़ा।

उसका पिता काछी था, वंशधर कोई न था, अतः अलोपी देवी की कृपा से एक पुत्र हुआ, वह भी नेत्रहीन। अतः उसका नाम भी रखा गया अलोपी-दीन।

अब पिता तो स्वर्ग चला गया है। माँ तरकारियाँ लेकर फेरी लगाती है।

पर अलोपी को यह अच्छा नहीं लगता कि वह जवान होकर घर बैठा रहे और माँ मर-मर कर कमाये। इसी से वह काम की खोज में निकल पड़ा है।

आखिर, अलोपी की बात माननी ही पड़ी। दूसरे दिन से वह शाक लाने लगा। भयङ्कर गर्मी हो या भयङ्कर शीत, अलोपी के काम में बाधा नहीं पड़ती थी। वसन्त हो या होली, दशहरा हो या दिवाली, अलोपी के नियम में कभी कोई व्यतिक्रम नहीं देखा गया।

एक बार हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हुआ तो दिन के योग्य शाक लेकर अलोपी आ उपस्थित हुआ। उसे अपने से अधिक दूसरों की चिन्ता रहती थी।

महीने में साधारणतः ७०) की शाक-तरकारियाँ आती थीं। एक दिन तो एक (मार्ग-दर्शक) ने बताया कि दादा का रुपया उसकी माई गाड़कर रखने लगी है।

गर्मियों की छुट्टियों के बाद लौट कर सुना कि अलोपी की माँ अलग रहने लगी और नयी पत्नी ने आकर घर सम्भाल लिया। सुना एक काछिन जो दो पतियों को मुक्ति दे आई है, अन्धे के लिये स्वर्ग की रचना करना चाहती है। अलोपी उसे कण्ठ-स्वर से ही जानता था। इसी से कदाचित् वह विश्वास कर सका।

अलोपी इस ढहते हुए स्वर्ग में छः महीने रह सका, फिर सुना कि उसकी चतुर पत्नी सब कुछ लेकर उसे मायापाश से सदा के लिये मुक्ति दे गई है।

आहत-हृदय अलोपी आखिर बीमार पड़ गया। पुलिस में अपनी स्त्री का हुलिया लिखाना वह नीच का काम समझता था।

अलोपी कुछ अच्छा होने पर आने लगा, पर उसमें पहले जैसा जीवन नहीं रह गया था। पैर घसीट-घसीट कर चलता, हाथ से लाठी छूट-छूट पड़ती। अलोपी के सब साहस, सम्पूर्ण उत्साह और समस्त आत्म-विश्वास को संसार का एक विश्वासघात निगल गया है। यह सत्य होने पर भी कल्पना जैसा जान पड़ता है।

उसकी माँ बड़ी ममता से अन्धे पुत्र का सब अपराध भूल गई थी। पर हठी पुत्र ने अपने आप को क्षमा नहीं किया अतः उन दोनों का वह करुण

मधुर अतीत फिर न लौट सका।

मैं दशहरे का अवकाश घर पर बिता रही थी। अलोपी एक दिन तरकारियाँ देकर सन्ध्या समय तक मेस में ही बैठा रहा फिर, जाते समय मेरी कुत्ती फ्लोरा को अपनी पिछौड़ी में बँधे मुरमुरे देकर, हिरनी सोना को मूली की पत्तियाँ खिलाकर और बरामदे को नमस्कार कर जो गया तो कभी नहीं लौटा।

तीसरे दिन रोने से सूजी आँखों वाले रग्घू ने समाचार दिया कि उसका अन्धा दादा बिना उसे साथ लिये ही न जाने किस अज्ञात लोक की महायात्रा पर चल पड़ा।

बालक रग्घू के लिये दूसरे काम का प्रबन्ध कर मैंने अलोपी के शेष स्मारक पर विस्मृति की यवनिका डाल दी है। पर आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति में पुंजीभूत होने लगती है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ—नियति के व्यंग्य से, जीवन और संसार के छल से मृत्यु पाने वाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिये प्रेत होकर मंडराता रहेगा।

प्रस्तुत चित्र एक अन्धे व्यक्ति, उसके अन्धकारमय जीवन का करुण चित्र है। आरम्भ और अन्त दोनों ही दुःख के गहरे सागर में डूबे लगते हैं।

ग्यारहवाँ चित्र (लछिमा)

लछिमा हर समय प्रसन्न रहने वाली एक पहाड़ी युवति है। अभावों के बीच ही हर समय प्रसन्न रहती है। शादी हुई थी पर पति मूर्ख है। ससुराल वालों ने एक बार इतना मारा कि मरा समझ कर फेंक दिया, पर बच गई, किसी प्रकार अब भी ससुराल नहीं जाती। अपाहज माँ-बाप और अनाथ भतीजों की रक्षा और भरण-पोषण करती है। वह एक निस्वार्थ मित्र और बहादुर स्त्री है। प्रतिभा ईश्वर ने उसे दी है पर उसके विकास के साधन नहीं दिये। गरीब इतनी है कि शृङ्गार प्रसाधनों के नाम पर एक कंघी भी नहीं है। महादेवी की वह घनिष्ठ मित्र बन गई है, यद्यपि वह पत्र नहीं डालती पर महादेवी हमेशा उसकी याद करती हैं। महादेवी के शब्दों में कहानी यों है—

एक ऊँचे टीले पर लछिमा का पहाड़ के हृदय पर पड़े छाले जैसा छोटा घास-फूँस का घर है। बाप की आँखें खराब हैं, माँ का हाथ टूट गया है और भतीजी-भतीजे की माता परलोकवासिनी और पिता विरक्त हो चुका है। सारांश यह कि लछिमा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इतना स्वस्थ नहीं जो इन प्राणियों की जीविका की चिन्ता कर सके। रात-दिन एक करके वह जितना कर पाती है, उससे भी न तो अन्न का अभाव दूर होता है और न वस्त्र की समस्या सुलझती है।

लछिमा की जीवनगाथा उसके आँसुओं से भीग-भीग कर अब इतनी भारी हो गई है कि कोई अथक कथावाचक और अचल श्रोता भी उसका भार सहन करने को प्रस्तुत नहीं।

सभ्यता के शेष चिह्नों से साठ मील दूर स्थित एक गाँव में लछिमा का विवाह हुआ था, उसका पति पागल तो नहीं था पर बालक की भाँति मूर्ख अवश्य था। जेठ, देवर उसके पति का हिस्सा लेना चाहते थे पर लछिमा उस में बाधक थी, अतः एक बार वह इतनी अधिक पीटी गई कि बेहोश हो गई और मृत समझ कर खड्ड में गिरा दी गई। किसी तरह घसिट-घसिट कर वह अपने मायके तक पहुँच ही गई। मार्ग में कुछ खाने को न मिला तो पीली मिट्टी के लड्डू बना कर खाये और पानी पिया।

उसके लौटते ही भौजाई ने एक बालिका और एक मास भर के शिशु पुत्र को उसकी गोद में रख कर चिरकाल के लिये विदा ली। पर लछिमा ने सब कुछ सम्भाल लिया।

लछिमा के व्यवहार में मुझे एक ऐसी समानता का अनुभव होता है—जिसका अन्य पहाड़ी स्त्रियों में अभाव है। मैं अच्छे-अच्छे व्यंजन खा सकती हूँ, यह जानकर भी वह बड़े यत्न से ऐसी वस्तुयें लाती ही रहती है जो जंगल में प्राप्य हैं। उसके अनुरोध से मुझे वे चीजें भी चखनी पड़ती हैं जो मुझे भाती नहीं, जैसे शहद आदि।

एकान्त और निर्जन सदन प्राप्य है। मोटे-मोटे पोथे लिख लेना भी कठिन नहीं, पर लछिमा जैसा अकारण ममतालु सहायक दुर्लभ ही रहेगा।

एक बार मेरा हिमालय का चित्र बनाना देखते-देखते वह बोल उठी—"सागान मिलता तो मैं ठीक-ठीक वर्णन उतार देती।" मैंने उपहास के भाव से प्रश्न किया "क्या-क्या चाहिये ?" लछिमा ने कहा— 'एक बड़ा सा नीला कागज चाहिये और सफेद और हरा रंग।'' छोटी लछिमा की बुद्धि का इतना विशाल परिचय पाकर चकित होना ही स्वाभाविक था। मुझे सफेद कागज पर बड़े प्रयास से नीला आकाश बनाते देख उसने नीले कागज की बात सोच ली होगी।

वह कपड़ों पर काढ़ना और बुनना भी जान गई है। अपने पिता के लिये उसने एक स्वेटर बुना भी है, वह किसी से कुछ लेना पसन्द नहीं करती।

न जाने किस युग में लछिमा के पास एक काठ की कंघी थी। फिर जब से वह खोई तब से झरने में धोकर बहुत उलझे बालों को नौंच फेक देना ही उसका प्रसाधन हो गया है। मेरे यहां एक पुराने काले कंघे का उपहार पा लेना उसके लिये एक असम्भावित घटना हो गई। उस कंघे को दरांती के साथ कमर में खौंस कर वह पहाड़ के किस-किस कोने में, किस-किस झरने की सहायता से शृङ्गार नहीं करती फिरी, यह बताना कठिन है; पर उसकी विचित्र केश-रचना जनित प्रसन्नता देख कर आंसू आये बिना नहीं रहते।

एक बार स्त्रियों ने सुना कि लछिमा न जाने क्या धूप-दीप करके उनकी सन्तान का अमंगल मनाती रहती है। पूछने पर पता चला कि दुर्गा की फटी-पुरानी तस्वीर के आगे अंगार रख कर और उन पर कुछ सूखी पर सुगन्धित पत्तियों की धूप डाल कर वह कह लेती है कि जो उस पर बुरी दृष्टि डाले, उसकी आँखें जल कर क्षार हो जावें, मैंने उसे कुछ समझाया पर लछिमा को मेरे कथन के सूक्ष्म भाव तक पहुँचने में कठिनता नहीं हुई, तब से उसके धूप-दीप में अपना ही नहीं, सब की कल्याण-कामना रहती है।

यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है, उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दरांती के साथ वह अंधेरी से अंधेरी रात में भी मार्ग ढूँढ़ लेती है, उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर से घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।

एक बार ससुराल के लोग उसे लिवाने आये, उसने कहा कि उसके पति यहीं रहें, वह भूखी रह कर उन्हें खिलायेगी, पर ससुराल नहीं जायेगी, क्योंकि वहां के लोग उसे मार डालेगे और उसके माता-पिता, भतीजा-भतीजी भूख से अपने आप मर जायेंगे।

उसके इस उत्तर से वहाँ का जन-समाज बड़ा क्षुब्ध हुआ पर उसने कोई चिन्ता नहीं की।

मेरे आने का दिन लछिमा के लिये बहुत व्यथा भरा दिन रहता है। भैंस दुह कर वह मेरे यहाँ दौड़ी आती है। पानी भर कर तथा बच्चों को रोटी देकर एक-एक चक्कर लगा जाती है। जैसे-जैसे मेरा सामान बंधता है, वैसे-वैसे मानो लछिमा के जोड़-जोड़ के बन्धन शिथिल होते जाते हैं।

एक मील तक मुझे पहुँचाने आने का उसका नियम है। मील का दूसरा पत्थर आते ही जब मैं उसे लौट जाने का आदेश देती हूँ तब वह खोई सी खड़ी हुई बार-बार आँखें पोंछ कर दृष्टि से ही कुछ दूर तक मेरा अनुसरण करती रहती है। मेरी दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी लछिमा का आँसुओं से गीला कण्ठ दूर तक सुनाई देता रहता है—सम्भल के जाना, जल्दी लौटना, अच्छा-अच्छा।

जब जंगल में फल लगते हैं तो उन्हें खाकर ही वह क्षुधा नाश कर लेती है, पर जाड़ों में वह क्या करेगी जब बर्फ संसार को खाने को दौड़ती है। वह मुझे कोई पत्र नहीं लिखती, पर गर्मी के दिनों में जब मैं नीरव हिमानी के कोने में पहुँचने के लिये विकल हो उठती हूँ, तब मुझे निरक्षरा लछिमा की चिट्ठी नहीं मिलती, कौन कह सकता है।

लछिमा की कथा दरिद्रता के देशव्यापी ताण्डव नृत्य की एक झाँकी देती है, आर्थिक विषमता की ज्वाला से जाने लछिमा जैसी कितनी जनता का जीवन भस्म हो रहा है, इसके अतिरिक्त आज का संकट भरा विश्व नारी के लिये और भी भयावना है, लछिमा की कथा यह भी स्पष्ट करती ही है।

प्रश्न २—अतीत के चल-चित्र उद्देश्यगर्भित प्रतीत होते हैं। समाज के आन्तरिक नरक का स्पष्ट चित्र रखना ही महादेवी का उद्देश्य है।

इसलिए कल्पना का पुट भी उनमें उतना ही प्रतीत होता है जितना कहानी या उपन्यास।" उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिये।

या

'अतीत के चल-चित्र' दुःखमय ही क्यों हैं? क्या महादेवी के जीवन में आरम्भ से आज तक सुख की कोई घटना ही नहीं घटी, या वे जान-बूझ-कर दुःख के चित्र ही देना चाहती हैं।—समीक्षा कीजिये।

या

"अतीत के चल-चित्र दुःख, पीड़ा, सामाजिक अत्याचार और दरि-द्रता के जीते-जागते चित्र हैं। दरिद्रता सभी चित्रों की पृष्ठभूमि तैयार करती है।" समझाइए।

या

"अतीत के चल-चित्र पढ़ने से प्रतीत होता है कि हमारी सामाजिक विषमता, सामाजिक दुरवस्था, संसार के पाप, पीड़ा आदि का मूल आर्थिक विषमता है। यदि समाज में दरिद्रता न हो तो समाज का अधिकांश दुःख अपने आप समाप्त हो जाय।" स्पष्ट कीजिये।

या

'अतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखायें' और शृंखला की कड़ियां' की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। समाज पर जैसे करारे व्यंग्य 'अतीत के चल-चित्र' में मिलते हैं, वैसे शायद ही कहीं दूसरी जगह मिलें।" स्पष्ट कीजिए।

या

"महादेवी को बच्चों और स्त्रियों के प्रति विशेष ममता है। शायद सामाजिक अत्याचार और दरिद्रता के ये दोनों वर्ग ही सबसे अधिक शिकार होते हैं इसलिए।" समझाइये।

या

"महादेवी 'अतीत के चल-चित्रों को व्यक्ति के चित्र न कहकर समाज के चित्र कहती हैं, इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक चित्र किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधि है, उस वर्ग की सम्पूर्ण समस्याओं और आकाँक्षाओं के साथ।" विवेचना कीजिए।

नोट—उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर मूलतः एक ही है, इसलिए एक ही उत्तर के द्वारा उपरोक्त प्रश्नों का समाधान किया जाता है।

उत्तर—वास्तव में अतीत के विभिन्न चित्रों के द्वारा महादेवी का उद्देश्य समाज की कुरूपता, उसके अंतर में पलते हुए रौरव को ही हमारे सामने स्पष्ट करना है। अपने जीवन के असंख्य संस्मरणों में से महादेवी ने जान-बूझ कर वे ही संस्मरण चुने हैं जो हमारे समाज के वास्तविक रूप का उद्घाटन करते हैं और इसके लिए महादेवी ने दो चीजें चुन ली हैं—(१) बच्चे और (२) नारी। बच्चे हमारे समाज की दरिद्रता को स्पष्ट कर देते है क्योंकि उनके विकास का, उनके जीवन का बलिदान प्रायः दरिद्रता की वेदि पर ही होता है और नारी तो हमारे समाजके लिए जैसे जीता जागता व्यंग्य है। नारी के साथ हमारे समाज ने कभी न्याय नहीं किया। उसे जितनी पीड़ा, जितना अप-मान, जितना नरकवास यहाँ सहना पड़ा है, संसार के शायद ही किसी समाज में वहाँ की नारियों को ऐसी अग्नि-परिक्षा देनी पड़ी हो। 'सीता, से लेकर 'लछिमा' तक नारी की यह अत्याचार पीड़ित मूर्ति अपनी परम्परा में अखण्ड है।

बात असल में यह है कि जिन लोगों के हाथ में अर्थ का नियन्त्रण है, उन्हीं के हाथ में समाज का भी है। भारत में नारी और बच्चे इसीलिए सदैव परमुखापेक्षी हैं, क्योंकि उनके हाथ में अर्थ का नियन्त्रण नहीं है बल्कि जिस पुरुष वर्ग के हाथ में अर्थ का नियन्त्रण है, वह नारी को एक मिट्टी के खिलौने से अधिक महत्त्व नहीं देता। इसलिए नारी और बच्चों के चित्र ही वास्तव में हमारे समाज की पीड़ा, कुरूपता और अत्याचार के रूप को उसके प्रकृत रूप में अनावृत करते हैं।

'अतीत के चल-चित्र' में समाज पर जितने निर्मम व्यंग्य मिलते हैं, वह समाज को चौंका देने के लिए पर्याप्त हैं। महादेवी ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि ये संस्मरण उन्होंने मनोरंजन के लिए नहीं लिखे, बल्कि एक उद्देश्य की पूर्ति—समाज के वास्तविक रूप का उद्घाटन करने के लिए लिखे हैं। इसलिए जो व्यक्ति इन्हें केवल मनोरंजन की सामग्री समझेगा, वह चित्र की आत्माओं के प्रति अन्याय करेगा। महादेवी लिखती हैं :

"प्रस्तुत संग्रह में ग्यारह संस्मरण कथायें जा सकी हैं। उनमें पाठकों का सस्ता मनोरंजन हो सके, ऐसी कामना करके मैं इन क्षत-विक्षत जीवनों को खिलौनों की हाट में नहीं रखना चाहती। यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रंगों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है। अन्यथा अपनी स्मृति की सुरक्षित सीमा से इसे बाहर लाकर मैंने अन्याय ही किया है।"

उपरोक्त कथन से एक बात स्पष्ट हो गई कि चित्र उद्देश्य-गर्भित हैं, वे मानसिक विलास के लिये नहीं लिखे गये, बल्कि पाठक को समाज के वास्तविक रूप से परिचित कराने के लिये लिखे गये हैं। साथ ही महादेवी का एक और उद्देश्य भी है, पाठकों में ही ननद, ससुर आदि की श्रेणी के लोग होंगे, जिनके अत्याचार ने हमारे जीवित नारी समाज को मृत बना दिया है। शायद उनका हृदय कुछ पिघले और इस प्रकार समाज की विस्तृत पृष्ठभूमि पर से दुःख और अत्याचार के गहरे रंग पिघल कर कुछ हो जांय।

यदि हम यह कहें कि 'अतीत के चल-चित्र' के अधिकांश पात्र एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं तो अयुक्तियुक्त न होगा। महादेवी जान-बूझकर ऐसे चित्र सामने रखती हैं, जिनमें हर व्यक्ति अपनी परछाई देख सके। 'अतीत के चल-चित्र' के सृजन का मूल उद्देश्य ही यही है।

अब हम क्रमशः उन चित्रों को लें, जो एक वर्ग का प्रतिनिधित्व उसकी सभी समस्याओं और आकांक्षाओं के साथ करते हैं और एक संदेश लेकर चलते हैं तथा समाज के वास्तविक रूप का उद्घाटन भी करते हैं। नारी और बच्चे ऐसे दो भाग हम पहले ही कर आये हैं।

मारवाड़ी विधवा बहू का चित्र एक ऐसा ही चित्र है जो सभी बातों में भारत की विधवा स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है। विधवायें दिन-रात एक कर जानवर की भाँति घर का सब कार्य करती हैं पर उन्हें मिलता क्या है? लांछन और प्रतारणा औरउसमें भी हमारे यहाँ का श्वसुर और ननद वर्ग तो अपने अत्याचारों में अप्रतिम है। महादेवी लिखती हैं—

"उस १६ वर्ष की युवति की दयनीयता आज समझ पाती हूँ जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरौंदे के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल

बह ही नहीं गये, वरन् उसे एकांकी छोड़ गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका।"

विधवा की दिनचर्या सुनिये—

"प्राय: निरादर और निरन्तर मिताहार से दुर्बल देह से वह कितना परिश्रम करती थी, यह मेरी बालिका बुद्धि से भी छिपा न रहता था। जिस प्रकार उसका खंडहर जैसे घर और लम्बे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठकर बुहारना, आँगन के कुएँ से अपने और श्वसुर के स्नान के लिये ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए एक-एक कर साफ करना मेरी हँसी का साधन बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकड़ियों से प्रकाशित दिन में भी अंधेरी रसोई की कोठरी के घुटते हुए धुँये में रह-रह कर आता हुआ खाँसी का स्वर, कुछ गीली और सूखी राख से चाँदी-सोने के समान चमका कर तथा कपड़े से पोंछ कर रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया बिषाद भर देती थी।

विधवा का भोजन—"वृद्ध एक ही समय भोजन करते थे और वह तो विधवा ठहरी। दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिये पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के संयमप्रधान जीवन से ऊबकर किसी विपरीत दिशा में जा रहा था।"

समाज और विधवा—"दुकान की ओर जाने का निषेध होने के कारण बह अवकाश का समय उसी टाट के परदे के पास बिता देती थी, जहाँ से कुछ मकानों के पिछवाड़े और एक-दो आते-जाते व्यक्ति ही दीख सकते थे, परन्तु इतना ही उसकी चपलता का ढिंढोरा पीटने के लिये पर्याप्त था।"

विधवा और ननद—"सबसे कठिन दिन तब आते थे जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे।"

\+ \+ \+

"क्रोध से जलते अंगारे जैसी आँखों वाली, खुली तलवार-सी कठोर ननद देहली से आगे पैर बढ़ा चुकी थी !·····इसके उपरान्त जो हुआ वह तो स्मृति के लिये भी अधिक करुण है। क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा। बचाने का कोई उपाय न देखकर ही कदाचित् मैंने जोर-जोर से रोना आरम्भ किया। परन्तु बच तो वह तब सकी जब मन से ही नहीं, शरीर से भी बेसुध हो गई।"

'अतीत के चल-चित्र' का पाँचवाँ चित्र भी नारी का एक ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है जिससे नारी-समस्या, पुरुषों का विवाहविषयक दृष्टिकोण तथा पुरुषों का नारी के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

बिंदो का ब्याह बचपन में हुआ था और उसी साल विधवा हो गई— "विवाह के साल ही पुत्र की मृत्यु हो जाने के कारण ससुराल वाले वधू का नाम लेना भी अशुभ मानने लगे।" माता-पिता जीवित रहे तब तो ठीक, उसके पीछे विधवा की दशा देखिये—

"जब पहले-पहल भाभियों ने पति की मृत्यु का दोषी उसी को ठहराया और पड़ोसिनों ने उसके किसी अज्ञात अभाव को लक्ष्य कर व्यंग्य-वर्षा की, तब उसका हृदय पीड़ा की अनुभूति के साथ वैसे ही चौंक पड़ा, जैसे सोता हुआ व्यक्ति अंगारे के स्पर्श से जाग जाता है।"

"फिर तब से उसके लिये नित्य नवीन मानसिक और शारीरिक यातनाओं का आविष्कार होने लगा·····आज्ञा के स्वर में उससे सब काम सभालने के लिये कहा जाने लगा। अनभ्यास से उत्पन्न भूलों के लिये भाभियों के द्वारा कुछ विशेष पूजा भी मिलने लगी।"

आखिर ३२ वर्षीय बिंदो का विवाह कब्र में पैर रखते हुए ५४ वर्षीय वृद्ध से कर दिया गया। महादेवी समाज पर कठोर व्यंग्य करती हैं—

"जिस समाज में ६४ वर्ष का व्यक्ति १४ वर्ष की पत्नी चाहता है, वहाँ ३२ वर्ष की बिंदो के पुनर्विवाह की समस्या सुलझा लेना टेढ़ी खीर थी। उसके भाग्य से ही १५० वर्ष की पूर्णायु वाला कोई पुरुष न मिला और उसके जन्म-जन्मान्तर के अखण्ड पुण्य फल से हमारे ५४ वर्ष के बाबा ने उसके उद्धार का बीड़ा उठाया।"

"बिंदो ने बहुत करुण क्रंदन के साथ विवाह का निषेध किया, पर परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है, न पर्वत।"

"बाद में पता चला कि 'वृद्ध' विषम ज्वर से पीडित होकर अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं और अब बेचारी बिंदो का भविष्य पहले से अधिक अन्धकारमय है, क्योंकि 'वृद्ध' के सुपुत्रों को यह तीसरी बिमाता फूटी आँख नहीं सुहाती।"

महादेवी समाज की व्यवस्था पर कठोर व्यंग्य करती हुई कहती हैं :—

"मनु महाराज जो कह गये हैं, उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भी-पाक में विहार करने की इच्छा न हो तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिंदो तीसरे विवाह की इच्छा को हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है और उसके उद्धार के लिये निरन्तर कटिबद्ध वृद्ध परोपकारियों की इस पुण्य-भूमि में और विशेष कर इस जागृत युग में कभी नहीं हो सकती।"

छठा चित्र विधवा-बालिका-माँ का भी कम करुण नहीं है। समाज के पवित्र पुरुष की कृपा से विधवा के एक संतान होती है, पर उसका पिता कोई नहीं बनना चाहता। सारा दोष लडकी के सिर पर ही थोपा जाता है और सद्योजात शिशु को मार देने का भी प्रच्छन्न यत्न किया जाता है। महादेवी समाज पर कड़ा व्यंग्य करती हैं :—

"अपने अकाल वैधव्य के लिए वह दोषी नहीं ठहराई जा सकती। उसे किसी ने धोखा दिया। इसका उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं रखा जा सकता। पर उसकी आत्मा का जो अंश, हृदय का जो खंड उसके सामने है, उसके जीवन-मरण के लिये केवल वही उत्तरदायी है। कोई पुरुष यदि उसको अपनी पत्नी स्वीकार नहीं करता तो केवल इसी मिथ्या के आधार पर वह अपने जीवन के इस सत्य को, अपने बालक को अस्वीकार कर देगी? संसार में चाहे इसको कोई परिचयात्मक विशेषण नहीं मिला हो परन्तु अपने बालक के निकट तो वह गरिमामयी जननी की संज्ञा पाती ही रहेगी? इसी कर्त्तव्य को अस्वीकार करने का यह प्रबन्ध कर रही है, किस लिये? केवल इसलिए कि या तो उस वंचक समाज में फिर लौट कर गंगा स्नान कर, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि के द्वारा सती विधवा का स्वांग भरती हुई और भूलों की सुविधा पा सके, या

किसी विधवा-आश्रम में पशु के समान नीलाम पर चढ़कर कभी नीची, कभी ऊँची बोली पर बिके, अन्यथा एक बूँद विष पीकर धीरे-धीरे प्राण दे।"

महादेवी समाज की स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना करती हुई कहती है:—

"स्त्री अपने बालक को हृदय से लगाकर जितनी निर्भर है, उतनी किसी और अवस्था में नहीं। वह अपनी संतान की रक्षा के समय जैसी उग्र चण्डी है, वैसी और किसी स्थिति में नहीं। इसी से कदाचित् लोलुप संसार उसे अपने चक्रव्यूह में घेरकर बाणों से चलनी करने के लिए पहले इसी कवच को छीनने का विधान कर देता है। यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि "बर्बरो! तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी।" तो इनकी समस्यायें तुरन्त सुलझ जावें। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्याग भरे मातृत्व के साथ नहीं स्वीकार कर सकता, क्या वह इनकी कायरता और दैन्यभरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा? युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिये नहीं, सहन-शक्ति के लिये ही दण्ड देता आ रहा है।"

बालिका—माँ केवल इतना चाहती है कि दिन में एक बार उसे दो रूखी-सूखी रोटियाँ मिल सकें। कपड़े वह उतारे हुए ही पहन लेगी।

इससे कम इस पञ्चतत्व निर्मित संसार में और माँगा भी क्या जा सकता है?

पुस्तक का आठवाँ चित्र भी नारी-समस्या पर ही आधारित है। एक युवक एक वेश्या-पुत्री से विवाह करता है, उसके घर के लोग उसका बहिष्कार कर देते हैं, क्यों? क्या वेश्या-पुत्री समाज की सैकड़ों अभिजात लड़कियों से बुरी है? नहीं। तो फिर केवल रूढ़ियों के भयंकर जाल में से वे निकलकर वास्तविकता नहीं देख पाते। युवक बीमार पड़ता है, गहना बेचकर भूखी रहकर वेश्या-पुत्री अन्तिम श्वास तक उसकी सेवा करती है, पर वह बचता नहीं। वेश्या-पुत्री अनाथ हो जाती है। समाज के भयंकर जबड़े के तीव्र दाँतों के नीचे उसका तन-मन, जीवन-मरण के झूले पर झूलता रहता है।

वेश्या-पुत्री महादेवी को अपनी स्थिति बताती है—

"पति डेढ़ वर्ष से बीमार हैं। दवा-दारू में सब कुछ स्वाहा हो चुका है।

गहने के नाम से उसकी उँगली में चार माशे भर सोने का छल्ला शेष है। पति का एक मात्र उपहार होने के कारण इसे बेचने का विचार ही उसे क्लान्त कर देता है, और बेचकर भी कै दिन चलेगा? यदि कोई काम न मिल सका तो वह स्वयं भूखी रहकर मरने से भी नहीं डरती, पर······और उसका गला भर आया।'

ऐसी वेश्या-पुत्री किस सती-साध्वी से कम है, पर प्रश्न यह है कि हमारा तथाकथित धर्मात्मा समाज उसे किस दृष्टि से कोसता है। दरिद्रता की भयंकर अग्नि मे भी जिसका सतीत्व विचलित नहीं हुआ, उसे वेश्या-पुत्री कैसे कहा जाय? महादेवी समाज पर निष्ठुर व्यंग्य करती हैं

"वह पतित कही जाने वाली साध्वी पुत्री है और बिना समाज के प्रवेश-पत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मन्दिर में प्रवेश करना चाहती है, उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है जिससे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है। केवल वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। जिसे समाज ने एक बार कुल-वधुओं की पंक्ति से बाहर खड़ा कर दिया; उसे जन्म-जन्मान्तर तक अपनी भावी पीढ़ियों के साथ बाहर खड़े रहने को ही जीवन का सबसे बड़ा वरदान समझना चाहिये। और फिर समाज ने क्या उन्हें छोटा-मोटा काम दिया है? भगवान् के विराट् रूप के समान ही, मनुष्य के विराट् रूप की अर्चना का अधिकार इन्हीं को प्राप्त है। पर जब अपनी दुर्बुद्धि से ये अनुशासन भङ्ग कर देती हैं तब इनका अपराध अक्षम्य हो उठता है। इन्हें जानना ही चाहिये कि जिस ने ऊँचे स्वर्ग की सृष्टि की है, उसी ने नीचे पाताल की रचना भी की है। यदि पाताल के सब जीव-जन्तु स्वर्ग की ओर दौड़ पड़ें तो सृष्टि एक दिन भी न चले। अपनी इच्छानुसार ही जीवन को बदल कर यह समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न कर रही है, उसे रोकने के लिये इन्हें दण्ड देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो उठता है, नहीं तो समाज की इन पर कुछ कम ममता नहीं। भला किसे अपनी सृष्टि का मोह नहीं होता? समाज इन्हें न जाने कितने दीर्घकाल से कितने ही उपायों के द्वारा समझता आ रहा है कि माता, पुत्री, पत्नी आदि त्रिगुणात्मक उपाधियों से रहित जीवनमुक्त नारीमात्र हैं और इन की इसी

मुक्ति से समाज का कल्याण अच्छा हुआ है। फिर भी यदि यह अपने गुरु कर्त्तव्य से च्युत होकर पत्नीत्व, मातृत्व आदि सम्बन्धों को चुराती फिरें तो समाज चुराई हुई वस्तु पर इनका स्वत्व स्वीकार करके क्या अपना विधान ही मिथ्या कर दें।" महादेवी समाज की इस धर्म विरोधी, कल्याणविरोधी, अंधी वर्णव्यवस्था पर व्यंग्य करती हैं। वेश्या-पुत्री चाहे इस गन्दे समाज की लाखों तथाकथित सती-साध्वियों में अपने आपको श्रेष्ठ प्रमाणित कर दे, पर क्या समाज अपना विचार उसके विषय में बदलेगा? नहीं—

'मैं अनेकों से पूजनीया माँ और आदरणीया बहिन का सम्बोधन पाती रहती हूँ, किन्तु इसे कौन अभागा माँ-बहिन कह कर अपवित्र बनेगा? और वह जानना चाहती है अपने अपवित्र माने जाने का कारण? यह अपने विद्रोही पति के साथ सती ही क्यों न हो जाये, परन्तु इसके रक्त के अणु-अणु में व्याप्त मलिन संस्कार कैसे धुल सकेगा? स्वच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शूद्र की तपस्या के समान ही बेचारे समाज की वर्ण व्यवस्था का नाश कर रही है. जिसका मस्तक काटने के लिये स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम दौड़ पड़े थे।"

"उस अभागी स्त्री की इतनी एकान्त साधना भी उसके पति को न बचा सकी, अन्तिम क्षणों में पुत्र का मुख देखने जो पिता आए थे, उन्होंने अनहार से दुर्बल, अनेक रातों में जागी हुई, लघू की ओर वधू कर भी दृष्टिपात नहीं किया कदाचित् उनके मनमें भी यही धारणा रही है कि उसी अनाचारिणी के कारण उनके पुत्र को जीवन से हाथ धोना पड़ा है।"

श्वसुर का पुत्र-वधू के साथ व्यवहार—रात भर बेहोश रहने के बाद उसे होश आया तो उसकी चेतना लौटी। अचल से आँखें पोंछ कर उसने किवाड़ों की ओट से प्रश्न किया, 'कै बजे चलना है' तो मानो श्वसुर-देवता पर गाज गिरी। प्रथम आघात सह कर जब उनमें बोलने की शक्ति लौटी तो उन्होंने भी क्रूरतम प्रहार किया। कहा—"जो लेकर अपने घर से निकली थी, वही लेकर भलमनसाहत से अपनी माँ के पास लौट जाओ; नहीं तो तुम्हरी साथ भी हमें बुरी तरह पेश आना पड़ेगा। हमारे कुल में दाग लगाकर भी क्या तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ?"

"स्त्री ने क्रोध नहीं किया, मान-अपमान का विचार नहीं किया। जिस घर पर उसका न्यायोचित अधिकार था, उसी में पग भर भूमि की भीख माँगने के लिये अंचल फैला कर दीनता से कहा—"घर में कई नौकर-चाकर हैं, मेरे लिये दो मुट्ठी आटा भारी न होगा। मैं भी आप सबकी सेवा करती हुई पड़ी रहूँगी।"

"किन्तु श्वसुर का उत्तर लज्जा को भी लज्जित करने वाला था।"

सिलाइ-बुनाई के द्वारा आज वह स्त्री अपना जीवनयापन कर रही है।

ग्यारहवाँ चित्र लछिमा का है। वह भी नारी समस्या को ही सामने रखता है। लछिमा का विवाह हुआ, पति मूर्ख हैं, ससुराल वालों ने उसे इतना मारा कि किसी प्रकार वह जिन्दी बच गई। आज अपने हाथ-पैरों से अपना और मायके वालों का वह भरण-पोषण कर रही है।

आर्थिक स्थिति—लछिमा की आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब है। खाने वाले कई है, कमाने वाली वह एक ही है। भोजन की समस्या का भी हल नहीं हो पाता। "अच्छे दिनों की स्मृति के समान एक भैंस है। लछिमा उसके लिए घास और पत्तियाँ लाती है। दूध दुहाती, दही जमाती और मट्ठा बिलोती है। गर्मियों में झोंपड़े के आसपास कुछ आलू भी बो लेती है, पर इतने से अन्न का अभाव तो दूर नहीं होता, वस्त्र की समस्या तो नहीं सुलझती।"

लछिमा इतनी गरीब है कि एक बार उसकी काठ की कंघी जो खोई तो फिर वह खरीद न सकी और उलझे हुए बालों को तोड़कर फेंक देने के अति-रिक्त और कोई उपाय भी नहीं था। महादेवी वर्मा से एक काला और पुराना कंघा जो उसने पा लिया तो उसके लिए एक असम्भावित घटना हो गई। महा-देवी लिखती हैं:—

"शृङ्गार के असंख्य अभूतपूर्व साधनों में भरी बीसवीं शताब्दी में भी जिस स्त्री के लिये इतनी तुच्छ वस्तु दुर्लभ है, उसके दुर्भाग्य को कौन सा नाम दिया जावे।"

लछिमा ऐसे पहाड़ों में रहती है जहाँ जाड़ों में मृत्यु बरसती है और जाड़े से बचने को उसके पास कोई साधन भी नहीं है।

किन्तु समाज में स्त्री की इस दुर्गति का कारण क्या है ? उत्तर सीधा है। समाज का आर्थिक नियन्त्रण पुरुष के हाथ में है। अपने पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों का अधिकार तो है पर पुत्री का नहीं। इसी पुस्तक की बिन्दो अपने पिता की सम्पत्ति होते हुए भी उसी घर में नौकर या भिखारी की भाँति रहती थी। विन्दो के विषय मे महादेवी लिखती हैं :—

"अकेले बड़े भाई ही नौकर थे, शेष दोनों उसी जमीन-जायदाद की देख-भाल में लगे रहते थे जो उसके भी पिता की थी।"

आर्थिक रूप से पंगु स्त्री सामाजिक रूप से भी अपाहिज है। यदि सम्पत्ति पर पुरुष के समान ही उसका अधिकार हो तो पुरुष दो दिन भी उस पर अत्याचार न कर सकें, वरन् खुशामद और करें।

स्त्रियों के दुर्भाग्य का दूसरा कारण महादेवी निम्नांकित पंक्तियों में देती हैं :—

"एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाये बिना नहीं रहतीं।"

"स्त्री जब किसी साधन को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिये न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण। इस सत्य को सत्य मान लेना पुरुष के लिये कभी सम्भव नहीं हो सका है। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिये ही सम्भवतः वह अनेक विषम परिस्थितियों और संकीर्ण सामाजिक बन्धनों से उसे बांधने का प्रयास करता रहता है। साधारण रूप से वैभव के साधना ही नहीं, मुट्ठि भर अन्न भी स्त्री के सम्पूर्ण जीवन से भारी ठहरता है।

बच्चों की दुर्दशा और दरिद्रता का तांडव नृत्य दिखाने के लिये 'अतीत के चल-चित्र' के तीन चित्रपर्याप्त होंगे ? १. विन्दो का चित्र, २. घीसा का चित्र ३. बदलू कुम्हार का चित्र।

बिन्दो का चित्र—जो लोग नई शादी करके लाते हैं उनके पहले बच्चों की नई पत्नियाँ क्या दुर्दशा करती हैं, यही इस चित्र का विषय है।

विन्दो या विन्ध्येश्वरी अभी बच्ची ही थी—किन्तु उसकी नई माँ घर का सारा काम उसी से कराती थी और उसके लिये प्रशंसा में उसे सुनने पड़ते थे—'बैल के से दीदे क्या निकाल रही है' 'अभागी मरती भी नहीं' आदि शब्द। महादेवी उसका दयनीय शब्द-चित्र लिखती हैं :—

विन्दो मुझसे कुछ बड़ी ही रही होगी परन्तु उसका नाटापन देखकर ऐसा लगता था, मानो किसी ने ऊपर से दबाकर उसे छोटा कर दिया हो। दो पैसे में आने वाली खंजड़ी के ऊपर मढ़ी हुई झिल्ली के समान पतले चर्म से मढ़े और भीतर की हरी-हरी नसों की झलक देने वाले उसके दुबले हाथ-पैर न जाने किस अज्ञात भय से अवसन्न रहते थे, कहीं से कुछ आहट होते ही उसका विचित्र रूप से चौंक पड़ना और पण्डिताइन चाची का स्वर कान में पड़ते ही उसके सारे शरीर का थरथरा उठना, मेरे विस्मय को बढ़ा ही नहीं देता था, प्रस्तुत उसे भय में बदल देता था। और विन्दो की आंखें तो मुझे पिंजड़े में बन्द चिड़िया की याद दिलाती थीं।"

विन्दो की उपरोक्त शक्ल ईश्वर ने नहीं, उसकी दूसरी माँ ने बना दी है। छोटी सी विन्दो को दण्ड भी पण्डिताइन चाची अपने मोटे शरीर के अनुरूप ही भारी देतीथीं।

"गर्मी के दोपहर में मैंने विन्दो को आंगन की जलती धरती पर बार-बार पैर उठाते और रखते हुए घण्टों खड़ा देखा था, चौके के खम्भे से दिन-दिन भर बँधा पाया या और भूख से मुरझाये मुख के साथ पहरों नई अम्मा और खटोले में सोते मोहन पर पंखा झलते देखा था। उसे अपराध का ही नहीं, अपराध के अभाव का भी दण्ड सहन करना पड़ता था।"

पण्डिताइन चाची के पास इतना समय तो था नहीं कि विन्दो के रूखे उलझे बालों को सुलझातीं। उन्होंने कैंचो से काट कर उन्हें घूरे पर फेंक दिया।

एक बार जब औटते और उबलते दूध की पतीली विन्दो के पैरों पर छूट कर गिर पड़ी तो बजाय उसके उपचार होने की आशा के विन्दो चाची के डर के मारे मेरे घर आकर छिप गई। माँ ने उस पर तेल-चूना लगा दिया, पर घर जाकर फिर उसे दण्ड मिला क्योंकि "चाची के न्याय-विधान में न क्षमा का स्थान था, न अपील का अधिकार।"

अन्त में बिन्दो बीमार पड़ी, उसे चेचक निकली और वह अपनी पहली स्वाभाविक माँ के पास स्वर्ग चली गई। पण्डिताइन चाची उसकी सेवा करने के स्थान पर उससे दूर ऊपर के खण्ड में रहने लगी थीं।

घीसू की कथा भी बड़ी करुण है। दरिद्रता में उसका जन्म हुआ और दरिद्रता में ही वह मरा। इतना प्रतिभावशाली हो कर भी दरिद्रता ने उसके विकास को खा डाला। उसका पिता मर चुका है। अकेली माँ है जो पीस-कूट कर अपना और घीसा का भरण-पोषण करती है। घीसा जिनका हर बात में प्रतिनिधि है, ऐसे ग्रामीण बालकों का महादेवी शब्द-चित्र प्रस्तुत करती हैं:—

"मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुये ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की थी। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैस ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिये कीच से मैले-फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थि-पँजर रूप मे आ उपस्थित हुए थे, जिनमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन ?' की घोषणा करते जान पड़ते थे।" और घीसा उस अभागे के पास कपड़े ही क्या थे, किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुर्ता, जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अंगोछा जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अंगोछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आंख ही नहीं, मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।"

घीसा के गाँव की दरिद्रता का हृदयविदारक चित्र महादेवी प्रस्तुत करती हैं:—"कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण कोही (क्रोधी) चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे।"

बदलू दम्पति की मूर्ति तो महादेवी ने जैसे दरिद्रता की शिला को ही काट-छाँट कर घड़ी है और बदलू अपने पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वह व्यष्टि में भी समष्टि है।

बदलू का शब्द-चित्र देखिये, दरिद्रता ने उसे कैसा घड़ दिया है:—

उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी पर पिचके गालों से विद्रोह करके नाक के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ उसे कङ्काल-सहोदर बनाए बिना नहीं रहतीं। लम्बा, इकहरा शरीर भी कभी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकाशी-वृत्ति के कारण असमय वृद्धावस्था के भार से झुक आया।

बदलू की स्त्री रधिया भी दरिद्रता को सीमायें बनाती हैं—

"रधिया को मूर्तिमती दीनता कहना चाहिये। किसी पुरानी धोती की मैली कोर फाड़ कर कसे हुए सूखे उलझे बाल पर्व त्यौहार पर काली मिट्टी से मल धो भले हो लिये जायें, पर उन्हें कड़ए तेल की चिकनाहट से भी अपरिचित रहना पड़ता था। धोती और उसके किनारे को धूल एकाकार कर देती थी, इस पर उसकी जर्जरता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि घूँघट खींचने पर किनारी ही अंगुलियों के साथ नाक तक खिंची चली आती थी।"

दरिद्रता की भीषण आग में कुसुमादपि कोमल कन्धे झुलस कर निर्जीव हो जाते हैं, पर बदलू और रधिया करें भी तो क्या? महादेवी लिखती हैं—

"बर्तनों को बेचने से पूरा नहीं पड़ता, अत: अपने जन्मजात व्यवसाय से जीविका की समस्या हल न होते देख, रधिया आस-पास के खेतों में काम करने चली जाती थी। कभी-कभी उसके खेत से और बदलू के घर से लौटने तक छोटे-छोटे जीव बाहर के कच्चे चबूतरे पर या उसके नीचे धूल में जहाँ-तहाँ लेट कर बेसुध हो जाते। रधिया जब लौटती तब उन्हें भीतर पुरानी मैली धोती के बिछौने पर एक पंक्ति में सुला देती। उस परिवर्तन क्रम में जो जाग उठता था—उसे छींके पर धरी हंडिया से निकाल कर मोटी रोटी का टुकड़ा भेंट किया जाता था और जो सोता रहता था, उसे स्नेहभरी थपकियों पर ही रात बितानी पड़ती। बदलू भी उस हंडिया के प्रसाद का अधिकारी था, पर इस सीमित अन्नकोष की अन्नपूर्णा को, कब नींद से अपने एकादशी व्रत का पारायण नहीं करना पड़ता, यह जान लेना कठिन न होगा।"

बद्लू का घर—मिट्टी से पुती पर दीमकों से जर्जर दीवारें, खड़े खड़े भारी छप्पर सम्भालने में असमर्थ होकर मानो अब बैठकर थकावट दूर कर लेना चाहती हैं।''

एक रुपये के अभाव में भारत में रधिया जैसी कितनी ही प्रसविनियों को अपने जीवन से खेलना पड़ता है। अपने हाथ से अपना नाल काटने वाली रधिया जैसी प्रसविनियाँ भारत के अतिरिक्त संसार के किसी कोने में न मिलेंगी।

"नाल जहाँ काटा गया था वहाँ कुछ सूजन भी आ गई थी। मालूम हुआ, चमारिन एक रुपये से कम में राजी नहीं हुई, इसी से फिजूलखर्ची उचित न समझ कर उसने स्वयं सब ठीक कर लिया। पीड़ा के मारे उठा ही नहीं जाता था। लेटे-लेटे दराती से नाल काटना पड़ा।''

महादेवी बदलू के घर की संतान के विषय में जो लिखती है, वही भारत के अधिकांश घरों के विषय में भी ठीक है।

''उस घर में संतान का जन्म जैसा आडम्बरहीन था, मृत्यु भी वैसी ही कोलाहलहीन आती थी।''

बदलू बड़ा अच्छा कलाकार था, पर आर्थिक दुरवस्था ने उसके विकास को बाँध कर रख दिया था। यदि ऐसे लोगों को आर्थिक कष्ट न हो तो वे भी प्रसिद्धि की चरमसीमा को स्पर्श कर सकते हैं।

सारांश यह कि 'अतीत के चल-चित्र' के सभी पात्र वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आए हैं। दरिद्रता को महादेवी समाज का सबसे बड़ा अभिशाप मानती हैं और इस अभिशाप का नारी और बच्चों को सब से बड़ा शिकार। यदि हमें अच्छे और आदर्श समाज का निर्माण करना है तो दो बातें करनी पड़ेंगी—दरिद्रता का मूलोच्छेदन और नारी के साथ न्याय।

इस पुस्तक के सब नारी-पात्रों को मैथिलीशरण गुप्त की दो पंक्तियां व्यक्त कर देती हैं—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी॥

प्रश्न ३—'अतीत के चल-चित्र' को आप किस कोटि में रखेंगे,

निबन्ध, कहानी या गद्यकाव्य की कोटि में ? युक्तियुक्त उत्तर दीजिये।

उत्तर—महादेवी अपने ग्यारह संस्मरणों को ग्यारह चित्र कहती हैं। वे नहीं बतातीं कि वे स्वयं अपने चित्रों को किस रूप में मानती है।

निबन्ध हम इन चलचित्रों को नहीं कह सकते, क्योंकि विचार निबन्धों में कथित रूप में रहते हैं, व्यंग्य रूप में नहीं। दूसरी बात कथा की अविच्छिन्न धारा भी निबन्धों में नहीं चलती और चरित्र-चित्रण से तो निबन्धों का कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यही बात गद्यकाव्य के विषय में कही जा सकती है। गद्यकाव्य इसमें सन्देह नहीं कि भाव-प्रधान होता है और उसमें भावातिरेक तो होता है किन्तु भावों में तारतम्य और शृङ्खला प्रायः अज्ञात रहती है। इसके अतिरिक्त गद्य-काव्य घटनाप्रधान या कथाप्रधाव तो कभी नहीं होता। गद्यकाव्य को समाज की समस्याओं से क्या मतलब। गद्यकाव्य एक भावचित्र मात्र होता है। निबन्ध भाव या विचार समुच्चय मात्र, किन्तु इन दोनों का उचित मिश्रण कहानी में ही होता है। कहानी में विचार कथित न होकर व्यंग्य होते हैं और भाव कथा के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। कहानी का एक उद्देश्य होता है और कथाओं के परिणाम या संघर्ष के रूप में वही पूर्ण होता दिखाई देता है। अगर इस दृष्टि से देखें तो अतीत के चलचित्र कथा के अधिक निकट होने के कारण कहानी के अन्तर्गत ही पायेंगे। महादेवी स्वयं कहानी से इन चित्रों की निकटता बताती हैं। उनका कहना है कि कहानी और मेरे इन चित्रों में इतना ही अन्तर है कि कहानीकार के पात्र कल्पित होते हैं और मेरे वास्तविक हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनेपन का सम्बन्ध उनसे इतना ही बताती हैं कि वे परिचय देने वाली हैं। इसलिए इन चित्रों को उन तक ही सीमित न रखकर विस्तृत रूप में देखना चाहिये—

"इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अन्धेरे की वस्तु को हम अपने प्रकाश की धुंधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनन्त अन्धकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वह

बाहर रूपान्तरित हो जायगा। फिर जिस परिचय के लिये कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजा कर निकट लाता है, उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती ? परन्तु मेरा निकटताजनित आत्मविज्ञापन उस राख से अधिक महत्त्व नहीं रखता जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिये ही अङ्गारों को घेरे रही है। जो इसके पार नहीं देख सकता वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।

गद्य-काव्य के भाव-चित्र स्वान्तः सुखाय होते हैं, उनका विस्तार बहुत कम होता है किन्तु महादेवी के चित्रों के चरित्र तो व्यष्टि में ही समष्टि का परिचय देते हैं। वे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में हमारे समक्ष आते हैं, यह तो गद्य-काव्य की नहीं, कथा-साहित्य की, विशेषकर कहानियों की विशेषता है। महादेवी लिखती हैं—

"प्रस्तुत संग्रह में ग्यारह संस्मरण कथायें जा सकी हैं। इनसे पाठकों का सस्ता मनोरंजन हो सके ऐसी कामना करके मैं इन क्षत-विक्षत जीवनों को खिलौनों की हाट में नहीं रखना चाहती। यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रङ्गों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है, अन्यथा अपनी स्मृति की सुरक्षित सीमा के बाहर लाकर मैंने अन्याय ही किया है।"

गद्य-काव्य आत्मप्रधान होता है। महादेवी का कहना है कि उनके चित्र इतने अधिक सामाजिक हैं कि पाठक इनमें अपनी शक्ल भी देख सकता है। महादेवी स्पष्ट अपने चित्रों को संस्मरण कथायें कहती हैं जिस से स्पष्ट हो जाता है कि ये कथानक कहानियाँ ही हैं।

यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि चूँकि इसमें भावप्रधान शब्द-चित्र भी हैं, इसलिये ये गद्य काव्य के अन्तर्गत आयेंगे। चण्डीप्रसाद हृदयेश की कहानियाँ तो इससे भी अधिक भाव-चित्र-प्रधान होती हैं और महादेवी के चित्रों के विषय तो स्त्री-पुरुष हैं, उनकी 'पगडंडी' नामक कहानी में तो पात्र भी पगडंडी, बरगद का वृक्ष तथा कुँआ है। लेकिन फिर भी हृदयेशजी की कहानियाँ मानी जाती हैं और वे हैं भी कहानी, क्योंकि उनमें कहानी के तत्त्व मिलते हैं।

कहानी के मुख्य तत्त्व हैं—

१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. चरित्र-चित्रण, ४. कथोपकथन, ५. उद्देश्य, ६. शैली। महादेवी का कोई भी चित्र ले लीजिये, ये सब तत्व उसमें मिल जायेंगे। क्या महादेवी का कोई ऐसा चित्र है जिसमें घटना न हो, पात्र न हो, चरित्र-चित्रण न हो और कथोपकथन न हो ? माना कथोपकथन अपेक्षाकृत कम हैं किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कथोपकथन कहानी का प्रमुखतम तत्त्व नहीं है, वह तो नाटक का प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक कहानी का प्रमुख तत्त्व है—चरित्र-चित्रण और यह ग्यारहों चित्रों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

संयोग की बात है कि महादेवी ने प्रत्येक संस्मरण को कोई शीर्षक न देकर केवल क्रम संख्या दी है, किन्तु यदि प्रत्येक शीर्षक भी निश्चित कर दें, तो आप देखेंगे कि वह शीर्षक पूरी कथा को बांध लेगा।

जैसे क्रमशः शीर्षक १. २. ३ के स्थान पर दिये जायें।

रामा, विधवा भाभी, बिंदा, सबिया, बिट्टो, विधवा-माँ, घीसा, वेश्या-पुत्री, अलोपी, बदलू तथा लछिमा। ये ग्यारहों चित्रों के शीर्षक दिए जा सकते हैं, फिर इनके कहानी कहलाने में क्या कमी रह जायगी।

अब कथावस्तु के विचार से देख लीजिए। कहानी में कथावस्तु के तीन भाग होते हैं—१. आरम्भ, २. चरमसीमा, ३. उपसंहार। अधिकांश चित्रों में कथा इन तीनों भागों में बंटी मिलेगी।

रामा के चित्र में लीजिये—रामा आता है, यह प्रारम्भ हुआ। उसकी बहू आती है और घर में विशृङ्खलता फैलती है; यह चरम सीमा है और रामा जाकर लौटता नहीं, यह समाप्ति है।

विधवा भाभी के चित्र में—भाभी से परिचय प्रारम्भ, पिटते-पिटते भाभी का बेहोश हो जाना चरम सीमा और भाभी का निराश्रित हो जाना उपसंहार है।

घीसा के चित्र में—घीसा से परिचय प्रारम्भ, घीसा का बीमार हो दौड़कर आना चरमसीमा और उसका मर जाना ही उपसंहार है।

चाहे जिस चित्र को ले लीजिये कथावस्तु आपको व्यवस्थित और कहानी के उपयुक्त मिलेगी। इसके अतिरिक्त चित्रों के जो विषय हैं वे भी कहानी की समस्यायें हैं, जिन पर प्रायः कहानी लिखी जाती हैं और लिखी जा चुकी

है। उदाहरणार्थ—

विधवा-विवाह की समस्या, दरिद्रता, दूसरे विवाह का परिणाम और चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियों में जहाँ चरित्र प्रमुख होता है, रामा, घीसा, अलोपी और लछिमा की कथा ली जा सकती हैं।

कहानी की एक बड़ी विशेषता होती है उत्सुकता या कौतूहल। यह तत्त्व न निबन्ध में होता है, न गद्य-काव्य में, उपन्यास या कहानी में होता है। प्रत्येक चित्र में यह कौतूहल का तत्त्व भी मिल जायगा।

पाठक उत्सुकतापूर्वक कथा पढ़ता है, अब क्या होगा? अब क्या होने वाला है?

बदलू का नाम लेते ही एक दीन-हीन, परिश्रमी, अबोध और एक कला-प्रिय व्यक्ति का चित्र सामने आ जाता है।

घीसा का नाम लेते ही एक दुबले-पतले, आज्ञाकारी, निष्कपट और श्रद्धालु बच्चे का चित्र आँखों के सामने खिच जाता है। वह विशेषता भी कहानी की होती है।

एक बात और उठ सकती है, हो सकता है महादेवी की भूमिका हजारी-प्रसाद द्विवेदी की बाणभट्ट की आत्मकथा की भूमिका की भाँति कहानी-कला का ही एक अंश हो जिसका उद्देश्य पाठकों का विश्वास जीतना होता है और पाठक पर यह धाक जमाना होता है कि हम जो कुछ लिख रहे है वास्तविक है और फिर कहानियों के पात्र काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक होते हैं और वास्तविक होते हुए भी काल्पनिक चित्रों में कल्पना का पर्याप्त पुट है, यह मानना ही पड़ेगा। और मनुष्य की अतीत की स्मृतियाँ तो स्वयं एक कहानी हैं। महादेवी ने चित्रों में भी कहानी शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है। अन्त में महादेवी लिखती हैं—

"पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिये भी रामा कभी नहीं लौटा।"

अलोपी चित्र के आरम्भ में महादेवी लिखती हैं—

"मैंने उसे कब देखा, यह कहानी भी उसी के समान अपनी विचित्रता में करुण है।"

और यह ठीक भी है कि घीसा, रामा और अलोपी की कोटि की विचित्र और करुणाप्रद कहानियाँ हिन्दी साहित्य में अधिक नहीं हैं।

अशोक के फूल

(लेखक—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

प्रश्न १—निम्नांकित निबन्धों का सार अपनी भाषा में लिखिये—

१. अशोक के फूल, २. प्रायश्चित्त की घड़ी, ३. सावधानी की आवश्यकता, ४. भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, ५. भारतीय संस्कृति की देन, ६. आलोचना का स्वतन्त्र मान, ७. साहित्यकारों का दायित्व, ८. मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।

अशोक के फूल

डा० हजारीप्रसाद हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। भारतीय संस्कृति के विषय में आपका अध्ययन अत्यन्त गहरा और ज्ञान अपरिमित है। प्रस्तुत निबन्ध का नाम 'अशोक के फूल' है अवश्य, पर वास्तव में यह लेख भारतीय संस्कृति के ऊपर ही है, जिसमें अनेकों अन्य सभ्यताओं तथा संस्कृतियों का मिश्रण है। वस्तुओं के नामों के पीछे कितना मनोरंजक इतिहास छिपा रहता है, प्रस्तुत निबन्ध उसका उदाहरण है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अशोक के फूल देखे हैं और उनके मन-मस्तिष्क में अनेकों बातें एक साथ कौंध गई हैं। 'अशोक के फूल' का पूर्व इतिहास, साहित्य में उसका प्रथमतः वर्णन, कुछ अन्य पुष्पों का इतिहास और पुष्पों से विभिन्न जातियों का सम्बन्ध और उनका इतिहास आदि।

अशोक के फूल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—भारतीय साहित्य में एक समय अशोक का नाम अज्ञातप्राय: था और आज भी अशोक के फूलों की अधिक चर्चा साहित्य में नहीं मिलती। कितने ही अन्य ऐसे पुष्प हैं जिनका वर्णन साहित्य में बहुत प्राचीन काल से आज तक समान महत्त्व के साथ मिलता है, जैसे—कमल, आम्रमंजरी आदि। किन्तु साहित्य में एक समय ऐसा आया था जब अशोक पुष्प और पुष्पों पर छा गया था। यह समय था महाकवि कालिदास का समय। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह

वास्तव में अपूर्व था। नारी की शोभा बढ़ाने के लिये विभिन्न पुष्पाभरणों के रूप में अशोक की चर्चा है और यहाँ तक कि उसके महत्त्व से प्रभावित होकर कामदेव को उसको अपने पंचशरों में स्थान देना पड़ा। किन्तु फिर मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया।

पुष्पों के उद्भव की कथा—पुष्पों के उद्भव की कथा भी विचित्र है। कामदेव ने शिव समाधि भंग करने के लिये पंचशरों का प्रयोग किया था किन्तु उसे शिव की क्रोधाग्नि में भस्म होना पड़ा। वामनपुराण (षष्ठ अध्याय) में इस कथा का वर्णन है। उसके अनुसार कामदेव का रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया, जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटिदेश भी टूट गया और सुन्दर पाटल पुष्पों में परिवर्तित हो गया। चन्द्रकान्त मणियों का मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला गई।

पुष्प और उनसे सम्बद्ध जातियाँ—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि ये पुष्प गंधर्व जाति की देन हैं क्योंकि एक निश्चित काल से पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम जिसका बाद के साहित्य में काफी वर्णन है, गंधर्वों से खरीदा जाता था, यह निश्चित है। कुबेर सोम, अप्सरायें ये गंधर्वों के देवता हैं। यों बाद में ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ये स्वीकृत हैं। स्त्रियां यक्ष देवताओं के पास संतानार्थिनी होकर जाया करतीं थीं। महाभारत में इसकी चर्चा है। ये यक्ष वृक्षों से देवता माने गये हैं और इसलिये संतान की इच्छुक स्त्रियों का प्रायः ऐसे वृक्षों के पास संतान-प्राप्ति के लिये लाना लिखा है। भरहुत, बोध गया, सांची आदि में इस आशय के उत्कीर्ण किये हुए चित्र भी मिलते हैं।

अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रंथों से यह भी पता

चलता है कि चैत्र शुक्ला अष्टमी का व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की संतान-कामना फलवती होती है। अशोक कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तांत्रिक क्रियाओं में सहायक होते हैं और लाल कामवर्द्धक होते हैं।

अशोक वृक्ष की पूजा गंधर्वों और यक्षों की ही देन है।

ये गंधर्व और यक्ष थे कौन ? हिमालय का प्रदेश ही गंधर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। मूर्तियों के गठन से ये सब पहाड़ी जाति के प्रतीत होते हैं। ये लोग धनी और विलासी होते थे। प्राचीन समय में आर्य लोगों को कई प्रकार की जातियों से निबटना पड़ा था जो गर्वीली थीं, हार मानने को तैयार नहीं थीं। परवर्ती साहित्य में घृणा के साथ उनका स्मरण किया गया है। असुर, राक्षस, दानव, दैत्य ऐसी ही जातियाँ थीं। जो जातियाँ सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति साहित्य में सम्मान का भाव मिलता है। यक्ष, गंधर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालु, इसी श्रेणी में आते हैं। बाद में तो इन जातियों को देवता तक मान लिया गया।

अशोक वृक्ष का अधिष्ठाता देवता कन्दर्प है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' 'मालविकाग्निमित्र' और रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा ही मनोहर वर्णन मिलता है।

इतना अवश्य है कि अशोक सामन्ती सभ्यता का प्रतीक है। संस्कृति बदली, नये देवताओं ने पुराने देवताओं का स्थान लिया और अशोक भी पीछे छूट गया।

क्या सभ्यतायें और संस्कृतियाँ बदलती हैं—हाँ, अवश्य बदलती हैं, मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संस्कृतियाँ शुद्ध नहीं होतीं, उनमें तो भारी मिश्रण होता है। शुद्ध है, केवल जीने की इच्छा। यही जीवनेच्छा गंगा की अबाधित—अनाहत धारा के समान सब कुछ को हज्म करने के बाद भी पवित्र है। इस धारा के सामने न सभ्यतायें

ठहरती है, न संस्कृतियाँ। सब इसके अनुरूप हो हो कर चलती हैं। सब-कुछ बदलेगा, सब विकृत होगा, सब नवीन बनेगा।

अशोक आज भी खड़ा है, उसका कुछ नहीं बदला। बदली है केवल मनुष्य की मनोवृत्ति, जो कभी किसी को महत्त्व देती है, कभी किसी को। आज अशोक उपेक्षित है।

संभावित प्रश्न—(जिनका उत्तर उपर्युक्त पाठसार में निहित है।)

१. एक-एक वस्तु के नाम के पीछे सभ्यता और संस्कृति का इतिहास छिपा रहता है, अशोक के फूल के पीछे जो इतिहास है, उसे स्पष्ट कीजिये।

२. "मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है।" तो क्या सभ्यता और संस्कृति भी बदलती है ? स्पष्ट कीजिये।

३. "अशोक वृक्ष की पूजा गंधर्वों और यक्षो की देन है।" को स्पष्ट कीजिये और विभिन्न जातियों—जो भारत में आईं-की विशिष्टतायें बताइये।

४. फूलों के उद्भव के विषय में पौराणिक कहानी को स्पष्ट कीजिये।

प्रायश्चित्त की घड़ी

भारत में आदि काल से लेकर आज तक जितने धार्मिक आन्दोलन हुए हैं, उन से समस्या सुलझी नहीं है, अर्थात् छोटी समझी जाने वाली जातियों की मर्यादा ऊँची नहीं उठी है। लेकिन अब जो क्रान्ति होगी जिसका आधार धर्म न हो कर अर्थ और राजनीति होगी, वह सचमुच सब कुछ बदल देगी और वह दिन ऊँची जाति वालों के शायद प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगान्तर के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस लेख में यह भी स्पष्ट करते हैं कि धर्म और क्रान्ति का आर्थिक आधार होता है और आमूलचूल परिवर्तन धार्मिक नहीं आर्थिक और राजनैतिक हुआ करते हैं। अर्थात् क्रान्ति धार्मिक नहीं आर्थिक और राजनैतिक होती है यही उपरोक्त लेख का सारांश है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ही विस्तृत पाठ-सार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

गत महायुद्ध और उसका परिणाम—पाँच वर्ष के निरन्तर रक्तपात के बाद महायुद्ध समाप्त हो गया, पर में दुनिया में शान्ति नहीं आई। पश्चिमी (यूरपीय) राष्ट्रों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति इस युद्ध के पश्चात् भी निर्मूल नहीं हुई है। परन्तु जनशक्ति निश्चित रूप से जाग गई है। क्या पूर्व और क्या पश्चिम में सर्वत्र जनता की शक्ति बढ़ी है और साम्राज्यवादी शक्तियाँ हतवीर्य बन गई हैं। जो जनशक्ति को दबाकर मनमानी करना चाहते हैं, इतिहास-विधाता उनके प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। लेकिन हम भारतवासी अब भी नहीं चेते हैं, हम भारतमाता का जयनिनाद करते हैं; परन्तु समझते नहीं हैं कि भारतमाता है कौन, भारतमाता वास्तव में यहाँ की जनता ही है; जनता को समझने की चेष्टा अब तक नहीं की जा रही है। पूर्व और पश्चिम में जिस प्रकार की जन-जागृति हो रही है, उसे देख कर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतमाता जिस दिन अपने कोटि-कोटि दलित, दीन, निरन्न, निर्वस्त्र बालकों को लेकर जाग पड़ेगी, उस दिन की हालत हमारी कल्पना से बाहर होगी। उस दिन के लिये हमें अभी से तैयार रहना होगा अर्थात् जाति-पांति को तोड़ना होगा और निम्न जाति के लोगों को समान स्थान और समान अधिकार देने होंगे।

भारत की असंख्य जातियों का आधार कौन है? परमेश्वर, वेद, या आर्य वास्तव में विभिन्न जातियों का आधार अर्थ ही है, न परमेश्वर और न वेद ही जाति-प्रसार के मूल में है। पण्डितों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के बल पर ही यह प्रमाणित किया है कि मूल आर्य जाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, विश (वैश्य) यह तीन ही स्तर थे (अर्थात् शूद्रों का तो जिक्र तक नहीं है)। वैश्य साधारण जनता थी, जो कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य से जीविका चलाती थी। लैटिन का Vicus इसी वैश्य का समशील है। परन्तु रसेल के मतानुसार आज की बनिया जाति वैश्यों का आधुनिक रूप नहीं है अपितु राजपूतों का रूपान्तर है। जातियों के पतन और अभ्युत्थान का वृत्तान्त बड़ा ही मनोरंजक और विचित्र है। राजनीतिक चक्र के साथ कुछ जातियाँ ऊपर चढ़ीं, कुछ गिरीं। पञ्जाब के यौधेय बड़े गर्वित क्षत्रिय थे, कालान्तर में इनकी

एक शाखा को तलवार छोड़ कर तराजू पकड़नी पड़ी, और दूसरी शाखा को धर्मान्तर ग्रहण करना पड़ा। इस जाति में से जिन्होंने तराजू पकड़ी वे अब तक अग्रवाल हैं और जिन्होंने धर्मान्तर ग्रह । किया वह सिंध को 'जोहोआ' जाति है। कुछ ब्राह्मणों तथा बंगाली कायस्थों के गोत्र मिलते हैं। इधर कायस्थों को क्षत्रिय मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। राजपूती सेना का जो अंग कलेवा की रक्षा करता था, आगे चलकर कलवार (कलार-शराब बेचने वाले) के रूप में बदल गया। इस प्रकार यह हिन्दू समाज सदा वैसा ही नहीं रहा है, जैसा आज है और कभी वैसा रहेगा भी नहीं।

इतिहास में इस बात के अनेक सबूत हैं कि आर्थिक स्थिति अच्छी होते ही कई जातियाँ क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण बन गई हैं। आर्थिक विषमता के कारण कभी-कभी एक ही जाति दो भागों में बँट गई हैं। सम्पन्न श्रेणी ऊँची जाति मान ली गई है और असम्पन्न श्रेणी निचली जाति। जुलाहा और तांती एक ही जाति की दो श्रेणियाँ हैं, जुलाहा बहुत नीचे माने जाते हैं किन्तु तांती इतने उत्तम हो गये कि बंगाल में उनकी मर्यादा कायस्थों के समान हो गई। एक निश्चित सत्य के रूप में यह तथ्य स्वीकार किया जा सकता है कि जातियों का आधार आर्थिक है, धार्मिक नहीं। इसलिये जातियाँ समाप्त भी आर्थिक क्रान्ति के साथ होंगी। धार्मिक क्रान्ति के साथ नहीं।

जातियों की सामाजिक मर्यादा में आर्थिक स्थिति के अनुसार उतराव और चढ़ाव आते रहे हैं, कहीं-कहीं राजाओं द्वारा भी जाति निश्चित करने के बड़े रोचक और मनोरंजक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रतापगढ़ के अहीर और कुर्मी राजा माणिकचन्द नामक किसी शासक की कृपा से ब्राह्मण हो गये। कैम्पबेल औक्रुक ने ऐसा लिखा है। असोथर के राजा भगवतराय ने अश्ली के नोतियों को जनेऊ देकर ब्राह्मण बनाया था। कहते हैं, उन्नाव के राजा तिलकचन्द ने प्यास की मार से हैरान होकर एक लोधे के हाथ का जल पी लिया था और बाद में उसे ब्राह्मण बना लिया था। बङ्गाल के राजा वल्लाल-सेन ने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की थी कि यदि सुवर्ण वणिकों को पतित न बनाऊँ तो मुझे गो, ब्राह्मण हत्या का पातक लगे।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जाति-प्रसार के मूल में न तो परमेश्वर है, न वेद, कुछ सामन्तों, राजाओं की इच्छा और विषमता का ही यह परिणाम है। नीची जातियाँ युगों से सवर्ण जातियों द्वारा शोषित रही हैं। उन्हें केवल सेवा करने का अधिकार है और अधिकार वास्तव में सवर्ण जातियों के हाथ में रहे। धन और धर्म का नियन्त्रण सदा ही उच्च जातियों के हाथ में रहा, इन्हीं उच्च वर्ण वालों ने अपनी सुविधा के लिये नीची जाति वालों को कई वर्गों में बाँट दिया। उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

१—वे जातियाँ जिनके देखने मात्र से ही ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची समझी जाने वाली जातियों के अन्न अग्राह्य हो जाते हैं और शरीर अपवित्र हो जाते हैं।

२—जिनके शारीरिक स्पर्श से ऊँची जाति के आदमी का शरीर और अन्न दोनों अपवित्र हो जाते हैं।

६—वे जातियाँ जिनके स्पर्श से शरीर तो नहीं, पर पानी या घृतपक्व अन्न अपवित्र हो जाते हैं।

४—वे जातियाँ जिनके स्पर्श से घृत-पक्व अन्न तो नहीं पर कच्ची रसोई अपवित्र हो जाते हैं।

पहले प्रकार की जाति सब से नीची है, बाद को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती चली गई हैं। सारांश यह कि तथाकथित उच्च जाति वालों ने, सम्पत्तिशाली मनुष्यों ने, मनुष्य की भी विभेदजनक कितने ही वर्गों में बाँट डाला है, जिस से उनमें आपस में कभी एका न हो और शोषण और अत्यचार का यह चक्र अबाध गति से चलता रहे।

भारत में बाहर से अनेक जातियाँ आईं, कुछ तो यहाँ की वर्ण-व्यवस्था में मिलकर खो गईं, कुछ अपना अस्तित्व बनाये रहीं। उदाहरणार्थ अहीर एक ऐसी विशेष मानव श्रेणी थी जो इस देश की वर्तमान सीमाओं के बाहर के प्रदेश में घूमती-घामती यहाँ आई और अपने आचार-विचारों के कारण आज भी अपनी अलग सत्ता बनाये हुए है। आरम्भ में यह जाति लुटेरी मानी गई, बाद में इसकी सत्ता क्षत्रियों की हो गई।

डोम जाति किसी समय बंगाल की बहुत शक्तिशाली जातियों में गिनी जाती थी—कहते हैं, योरुप की खानाबदोश (जिप्सी) जातियाँ इन्हीं की औलाद हैं। योरुप में इनके लिये जो 'रोम-रोमनी' शब्द प्रचलित हैं, वे सच तो यह है कि डोम और डोमनी के रूपान्तर मात्र हैं। रसेल और हीरालाल के अनुसन्धानों से पता लगता है कि मध्यप्रदेश की कंजर, बेडियाँ आदि जातें इन्हीं की शाखायें है, आज इनकी मर्यादा अत्यन्त नीची है।

जातियों का नामकरण पेशों के अनुसार नहीं—कभी लोहे के काम करने वाले को लुहार, चाम का काम करने वाले को चमार कहते देख कर लगता है कि जातियों का नामकरण शायद पेशों के अनुसार हुआ हो, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। प्रसिद्ध नृतत्त्वशास्त्री रिजवी और घुर्ये का कहना है कि उत्तर भारत के चमारों में बंगाल के ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आर्य सादृश्य हैं, फिर उत्तर भारत के चमार चमार हैं और बंगाल के ब्राह्मण ब्राह्मण। इस का ऐतिहासिक कारण है। उत्तर भारत के चमार किसी आर्येतर मानव-मंडली का वर्तमान रूप हैं। यद्यपि उनमें आर्य रक्त अधिक आ गया है, फिर भी उनकी सामाजिक मर्यादा जैसी की तैसी बनी हुई है।

जाति का सम्बन्ध इस देश में तीन बातों से है—१. जन्म, २. छूआछूत, ३. विवाह। पेशा केवल सामाजिक मर्यादा को घटाने या बढ़ाने में सहायक होता है। एक ही पेशा वाली जातियां आपस में विवाह नहीं करतीं और न एक-दूसरे का अन्न-जल ग्रहण करती हैं।

भारत के धार्मिक आन्दोलन और जाति-प्रथा—जाति-प्रथा से विद्रोह करने के लिये भारत में अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए हैं। पर उनसे समस्या सुलझी नहीं है अर्थात् छोटी समझी जाने वाली जातियों की मर्यादा ऊँची नहीं उठी है। परन्तु आर्थिक और राजनैतिक कारणों से बहुत-सी हीन समझी जाने वाली जातियों की सामाजिक मर्यादा ऊपर उठी है और समाज के उच्च स्तर के लोगों ने उनका दावा स्वीकार किया है। धार्मिक आन्दोलन ने तो जाति-पाँति में वृद्धि ही की है। शंकराचार्य, गोरखनाथ चैतन्य आदि के चेलों की अलग-अलग जाति बन गई हैं और अब तो मोहनराय के शिष्य भी इसी ओर बढ़ रहे हैं।

जन-जागृति आ रही है, नीची जाति वालों का उद्धार ऊँची जाति वाले नहीं करेंगे अपितु वे स्वयं ही अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे। भारतीय सभ्यता, हिन्दू संस्कृति आदि शब्द भ्रामक हैं। आने वाली जागृति धर्म और समाज-सुधार का सहारा नहीं लेगी, वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी। जनता भगवान् है, शक्ति किसी व्यक्ति के हाथ में न देकर उसी के हाथ में देनी पड़ेगी, वह दिन आ रहा है। वह परीक्षा का दिन होगा। अपने को ऊँचा मानने वाली जातियों के लिए वह प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगान्तर के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा अर्थात् ऊँची जातियों को अपने किये हुए का भयंकर फल भोगना पड़ेगा, और फिर न कोई ऊँचा रहेगा और न कोई नीचा।

सम्भावित प्रश्न

(जिनका उत्तर उपर्युक्त निबन्ध-सार में निहित है)

१. प्रस्तुत निबन्ध का शीर्षक लेखक ने प्रायश्चित्त क्यों दिया है? क्या पूरे लेख की विषय-वस्तु की यह व्यंजना करता है? आप लेखक के विचारों से कहाँ तक सहमत हैं?

२. "हिन्दू समाज कभी वैसा ही नहीं रहा, जैसा आज है और कभी वैसा रहेगा भी नहीं।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं, समझाइये?

३. "धार्मिक आन्दोलनों से समस्या सुलझी नहीं अर्थात् छोटी या नीच जातियों की मर्यादा उनसे ऊँची नहीं उठी।' विवेचना कीजिये।

४. "आने वाली जन-जागृति धर्म और समाज-सुधार का सहारा न लेगी, वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।" समझाइये?

५. "भारत में पेशों को जाति का आधार नहीं बताया जा सकता, यह सिद्ध हो चुका है।" अपने विचार उपरोक्त कथन को स्पष्ट करते हुए व्यक्त कीजिये।

६. "जनता जनार्दन है, राष्ट्र की सब शक्ति उसी के हाथ में होनी चाहिए। वे दिन गये जब सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती थी।" स्पष्ट कीजिये।

७. "परीक्षा का दिन आ रहा है, ऊँची समझी जाने वाली जातियों के लिये वह शायद प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगान्तर के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

८. "जातियाँ न परमेश्वर ने बनाईं, न वेद ने, मनुष्य ने बनाई हैं और मनुष्य ही उन्हें एक दिन समाप्त कर देगा। आर्थिक क्रान्ति ही समाज के ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करेगी, धार्मिक क्रान्ति नहीं।" कहाँ तक आप इन विचारों से सहमत हैं ?

९. "धर्म और ईश्वर का निर्माण मनुष्य ने किया है अपने लिए और अपने लिए ही वह इन्हें बदल भी सकता है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

सावधानी की आवश्यकता

प्रस्तुत निबन्ध का दूसरा नाम 'प्रगतिशील साहित्य' या 'तरुण साहित्यकारों के कर्तव्य' भी हो सकता था, क्योंकि लेखक ने उन्हीं दो बातों को मुख्य रूप से लिया है। लेखक ने पहले तो यह बताया है कि वह सच्चा प्रगतिशील साहित्य किसे मानता है, और फिर उसने तरुण लेखकों को सुझाव दिए हैं कि उन्हें कैसा साहित्य लिखना चाहिये। निबन्ध का सार संक्षेप में यों है।

आज साहित्य में अराजकता का युग आ गया प्रतीत होता है। लखकों में आत्मविश्वास की कमी है, अनुभूति की कमी के कारण उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट नहीं है। आज 'प्रगतिशील' साहित्य के नाम पर हिन्दी जगत् में बड़ा भ्रम पाया जाता है।

प्रगतिशील साहित्य कौन सा है ?—आज आधुनिक मनोभावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गई समस्त रचनायें प्रगतिशील कही जाने लगी हैं। यह भ्रामक विचार है। यह भी गलत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनायें, मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन या प्रचार करती हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ, जिन में संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो। जो रचना केवल हमारी मानसिक चिन्ताओं का विश्लेषण करके हमें जहाँ का तहाँ छोड़ देती है, उस में गति ही नहीं है, उसे प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।"

कुछ साहित्यकार मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को ही साहित्य का

ध्येय मानते हैं और सोचते हैं कि अवचेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विचारों और कार्यों को रूप दे रही है। परन्तु ये विचार बहुत कुछ हवाई हैं, ऐसे लेखक संसार से निरपेक्ष विचारों की स्वतन्त्र सत्ता मानकर चलते हैं। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नाम की कोई चीज नहीं है। स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति पुराने दकियानूसी विचारकों की अर्धविकसित बुद्धि की अधकचरी कल्पना मात्र है। आज का साहित्यकार फ्रायड और एडलर के विचारों को हवा में से पकड़ने की कोशिश करता है। इस लिये उस प्रकार के हवाई विचारों से ओत-प्रोत, सृजन की नव-निर्माण की शक्ति से रहित साहित्य प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता।

लेकिन हिन्दी में ठोस साहित्य भी लिखा जा रहा है जिसे जन साहित्य या धरती का साहित्य कह सकते हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं— 'एक प्रकार के हमारे युवक साहित्यकार ऐसे भी हैं जो बड़ी सावधानी से ऐसे चित्रों का निर्माण कर रहे हैं जिन में दुनिया को अपने आदर्श के अनुरूप ढाल देने का संकल्प है। मार्क्सवादी साहित्य कितने ही दुर्धर्ष जड़विज्ञान के तत्त्वाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो; साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है। मुझे इस श्रेणी के साहित्य में यह बात सब से अच्छी लगती है।" पर बहुत से मार्क्सवादी लेखक भी अभी फ्रायडवाद को मार्क्सवाद के साथ मिलाने में लगे हैं। स्पष्ट है कि ऐसे लोग अपना कर्तव्य साफ-साफ नहीं समझ रहे हैं।

प्रगतिशील साहित्य वह है जो मनुष्य को अज्ञान, कुसंस्कार, मोह और परमुखापेक्षिता से बचानता है और उसमें संयम, निष्ठा, धैर्य तथा दृढ़चित्तता की भावनाओं को उद्बुद्ध करता है तथा पाशविक भावनाओं को निर्मूल करता है।

साहित्य का उद्देश्य और तरुण साहित्यकारों के कर्त्तव्य—मनुष्य सब से महान् है। संसार का संचित ज्ञान भी उससे बड़ा नहीं है। संसार के

सभी शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कणमात्र हैं। मनोविज्ञान, प्राणिविद्या तथा पदार्थविज्ञान विषयक सभी शास्त्र सामने पड़ी विशाल ज्ञान राशि की ओर संकेत भर कर रहे हैं। मनुष्य ज्ञान का अधिष्ठाता और जनक है। मनुष्य के अभाव में ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं है।

आज हिन्दी के साहित्यकारों के सामने जो समस्या है, वह आसान नहीं है। जो उत्तरदायित्व उनके ऊपर है, वह महान् है, उन्हें अपने साहित्य के द्वारा करोडों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना है, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाना है। करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कारों से मुक्त करना है। यहाँ के साहित्यिकों को अपनी धरती और आवश्यकताओं के अनुकूल साहित्य-सृजन करना है, विदेशों का अन्धानुकरण नहीं करना है। आज के साहित्यकारों को ऐसा साहित्य लिखना चाहिये—"समूची मानवता जिससे समन्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी के आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और ज्ञान बड़ी वस्तु है। इन बातों का जन-कल्याणकारी प्रचार साहित्य के माध्यम से होना चाहिये। मनोविश्लेषण बुरी चीज नहीं है पर उसका उद्देश्य कुत्सित नहीं होना चाहिये। साहित्य और कामशास्त्र में अन्तर है। यह लेखकों के निकट स्पष्ट होना ही चाहिये। सामाजिक आदर्शवाद लेखकों की रचनाओं का स्पष्ट स्तर बन जाना चाहिये। यदि मन की विचित्र स्थितियों का ही अध्ययन करना है तो हमारे देश में जातिभेद और छूआछूत की विचित्र प्रथायें हैं। इसने देश को नाना स्तरों में बांट दिया है। केवल जातिगत हीनता और कुलीनना ही इस देश के समूहजात चित्त को विचित्र और जटिल बनाने के लिये काफी थीं। इस विशाल देश में न तो आदिम मानवीय विश्वासों की कमी है, न अत्यन्त आधुनिक जटिलताओं की। यदि साहित्यिक प्रयोग करना ही है तो बाहर जाने की क्या आवश्यकता है? देश की ये विचित्र और जटिल बातें ही उसके लिये क्या कम हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं—

अपने देश के तरुण साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि ये अपने देश को उनके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो

जीर्ण देश में नवीन अमृत का संचार करे कि वह दृढ़चेता व्यक्ति की भाँति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिये उठ खड़ा हो। युवक और युवतियों में भविष्य को अपने अनुकूल बना लेने का दृढ़-संकल्प होना चाहिये।...आत्म-विश्वास से बढ़ कर हमारे पास दूसरा अस्त्र नहीं है।... सचमुच ही भारतवर्ष की परम्परा महान् है। इसके निवासियों में शौर्य है, यहाँ की भूमि रत्नप्रसू है, यहाँ का ज्ञान-विज्ञान अतुलनीय है, केवल इस देश को अपने प्रति आस्थावान् बनाना है। तरुण साहित्यकार के लिये आज स्वर्ण संयोग प्राप्त है। ऐसे ही स्वर्ण अवसर पर रूस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया था।

साहित्य का प्रभाव शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी हो सकता है। शुभ प्रभाव का होना ही वाञ्छनीय है और ऐसा ही साहित्य प्रगतिशील साहित्य कहा जा सकता है।

जर्मनी के साहित्यकारों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता के प्रचार के लिये जो साहित्य लिखा था उसके कुपरिणाम से संसार परिचित है। व्यर्थ की मानसिक बुराइयों में जाना साहित्यकार के लिये व्यर्थ है। उसे तो अपने देश की आवश्यकता के अनुकूल साहित्य सृजन करना चाहिये और इस दिशा में उसे बडी सावधानी बरतनी चाहिये क्योंकि गन्दे साहित्य से समाज गन्दा और पतित तथा सत्साहित्य से उन्नति को प्राप्त होता है। यह सोचना भूल है कि साहित्यमात्र प्रगतिशील होता है।

सम्भावित प्रश्न (जिनका उत्तर उपर्युक्त निबन्धसार मे निहित है)

१. प्रगतिशील साहित्य कौन सा है ? डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस विषय में क्या विचार है ? लिखिये।

२. आज के तरुण साहित्यकारों का इस संक्रान्ति युग में क्या कर्त्तव्य है ? बताइये।

३. आज साहित्य स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है या उसे प्रगतिशील रखने के लिये सावधानी की आवश्यकता है ? लिखिये।

४. वे कौन से आदर्श हैं जिन्हें आज के तरुण साहित्यकार को साहित्य-सृजन के समय में ध्यान रखना चाहिये ?

भारतवर्ष की साँस्कृतिक समस्या

भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों का मिलन स्थल है। संस्कृतियाँ कभी-कभी विरोधी भी होती हैं, फिर विरोधी संस्कृति के अनुयायी या समर्थकों मे संघर्ष अनिवार्य है। संघर्ष नाश उपस्थित करता है, फिर इस समस्या का हल क्या हो। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कुछ सुझाव अपनी ओर से विरोधी संस्कृतियों के मिलने के विषय में रखते हैं। निबन्ध का सार संक्षेप में यों है—

संस्कृति क्या है ?—संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय-संस्कृति कहा जा सकता है। आर्यों से पहले यहां जो जाति थी तथा आर्यों के बाद जो जातियां यहा आईं, उन सबकी संस्कृतियों का यह भारत मिलनस्थल है। सबकी संस्कृतियों को मिला कर भारतीय सस्कृति एक नाम उसे दिया जाता है। इन विभिन्न जाति और विश्वासों के मनुष्य को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करना ही हमारी वास्तविक समस्या है। बहुत सी सांस्कृतिक समस्याओं को जो किसी समय घोर विग्रहों का कारण थीं, समय ने अपने आप सुलझा दिया। उदाहरणार्थ द्रविड़ तथा नाग सभ्यता के साथ आर्यों की सभ्यता या संस्कृति का संघर्ष। किन्तु बाद में द्रविड़ तथा नागों की अनेक रीतियों को आर्यों ने ग्रहण कर लिया। उदाहरणार्थ आज हिन्दू स्त्रियों के सौभाग्य का प्रतीक सिन्दूर नाग चूर्ण है। मंगोल, शक, कुशान हूण आदि विभिन्न जातियाँ अपनी विशेषताओं के साथ इस भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अङ्ग बन गईं।

मुसलमानों के आने के पूर्व भी भारत में अनेक जातियाँ और अनेकों मत थे किन्तु समग्रत: वे हिन्दू या भारतीय ही कहलाते हैं। प्रथमत: मुसलमानों के आने से देश में एक नयी स्थिति उत्पन्न हो गई। हिन्दू सस्कृति की पाचन शक्ति मुसलमानों को नही पचा सकी। इस प्रकार मध्ययुग से भारतीय

जनसमूह दो भागों में बंट गया—हिन्दू और मुसलमान। इस विभाग का कारण जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विभिन्नता थी।

हिन्दू जनसमूह का वर्गीकरण—हिन्दू कहे जाने वाले जनसमूह में अनेक स्तर-भेद थे। श्री रिजली ने उसका वर्गीकरण करते हुए उसे सात भागों में बांटा है।

१. वे जातियाँ जो किसी कबीले का परिवर्तित रूप हैं जैसे–अहीर। यह जाति अपने आंतरिक सामाजिक मामलों में अपनी रीति-नीति का पालन करती है। केवल आंशिक रूप में ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार करती है। डोम दुसाध, भेम, कंजर आदि भी ब्राह्मण—श्रेष्ठता स्वीकार तो करते हैं पर, उनके ब्राह्मण अलग होते हैं, वे अपने उत्सवों में ब्राह्मणों को नहीं बुलाते।

२. वे जातियाँ जो पेशे के कारण अलग मानी गई हैं। पेशे के हिसाब से वस्तुतः सारी हिन्दू जाति बँटी हुई हैं। लुहार, बढ़ई, चमार इसी प्रकार की जातियाँ हैं। कुछ जातियाँ पेशे के कारण अपनी मूल जाति से अलग हो गईं, जैसे—मध्यप्रदेश के बनिये रसेल की खोज के अनुसार राजपूतों के वंशज हैं। कितनी ही ब्राह्मण जातियाँ कृषि पेशा स्वीकार करने के कारण मर्यादा भ्रष्ट मान ली गईं।

३. वे जातियाँ जो मूलतः कोई धार्मिक सम्प्रदाय थी? जैसे---उत्तरभारत के अतीथ, बङ्गाल के पुङ्गी और वैष्णव तथा दक्षिण की अनेक जातियाँ।

४. वे जातियाँ जो दो विभिन्न जातियों के मिश्रण से बनी है, जैसे वैरागी।

५. वे जातियाँ जिन्हें रिजली राष्ट्रिय जातियाँ मानते हैं, जैसे---नेवारी आदि।

६. वे जातियां जो अपने मूल स्थान से दूर पड़ जाने के कारण पृथक् जातियां बन गईं। उदाहरणार्थ गुजरात के नागर ब्राह्मणों तथा बङ्गाल के कायस्थों का मूल शायद एक ही है।

७. वे जातियाँ जो रीति-नीति का ठीक पालन न करने के कारण एक विशेष जाति से अलग कर दी गई हैं और वे अपने को नयी जाति ही बनाने लगी हैं।

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशिष्टता—कर्मफल का सिद्धान्त—वह प्रमुख सिद्धान्त जो हिन्दू कहे जाने वाले इस विभिन्नतायुक्त जनसमूह को एकरूपता देता है, कर्मफल का सिद्धान्त है। कर्मफल का सिद्धान्त भारत की अपनी विशेषता है, पुनर्जन्म का सिद्धान्त तो अन्यान्य संस्कृतियों में भी मिल सकता है, किन्तु कर्मफल का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस (ई० पू० ५ वीं शताब्दी) पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है। परन्तु विलियम जोन्स, कोलब्रूक, गार्वे, हापकिन्स आदि विद्वान् इसे भारतीय प्रभाव ही मानते हैं। कीथ का भी यही कहना है कि कर्मफल का भारतीय सिद्धान्त अद्वितीय है। प्रत्येक भारतीय यह मानता है कि उसके किये कर्म का फल दूर नहीं हो सकता, वह तो भोगना ही पड़ेगा। चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिये कर्म की दुहाई देता है, ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिये भी कर्म की दुहाई देता है, इसी सिद्धान्त के कारण भारत में हजारों वर्षों से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कृष्ट विद्रोह का भाव नहीं था। इस सिद्धान्त से प्रत्येक हिन्दू अपने कर्म के लिये व्यक्तिगत रूप से सचेत तो रहता है किन्तु सामूहिक व्यवस्था के प्रति वह उदासीन भी रहता है।

पेशे और धर्म—पेशे धर्म नहीं हैं, क्योंकि उनमें सामाजिक मांगलिक भावना का अभाव और वैयक्तिक हानि-लाभ की भावना अधिक है। इसके अतिरिक्त पेशों में त्याग का भी अभाव है, जो धर्म का मूल है। भंगी, चमार आदि नीची जातियों के पेशे को सामाजिक दृष्टि से त्यागमय कहा जा सकता है। किन्तु धर्म के त्यागी व्यक्ति अपने हृदय में सदैव संतोष और गर्व का अनुभव करते हैं और निम्न पेशे के लोग अपने पेशे से असन्तुष्ट रहते तथा उसे एक विवशता मानते हैं। चूँकि सभी पेशे एक सम्मान के अधिकारी नहीं हैं, इसलिए धर्म तो कहे ही नहीं जा सकते।

ऊँच-नीच का भेद—ऊँच-नीच के इस भेद को समाप्त करने के लिये मध्ययुग में कितने ही धार्मिक आन्दोलन चले किन्तु अपने उद्देश्य में वे सफल नहीं हुए। जाति-पांति तथा साम्प्रदायिकता उनसे बढ़ी ही, कम नहीं हुई। इस प्रकार के आन्दोलन से नाथ, लिंगायत, वैष्णव आदि अनेक जातियाँ बन

गई। अतः इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक आन्दोलनों से न तो जाति-पांति ही समाप्त होगी, और न ऊँच-नीच की भावना ही। आर्थिक सम्पन्नता तथा विपन्नता से भी जातियों की मर्यादा घटी-बढ़ी है। राजकीय शक्ति प्राप्त होने पर नीची जाति भी उत्तम क्षत्रिय मान ली गई है और आर्थिक उन्नति के साथ शूद्र का दर्जा बढ़कर वैश्य का दर्जा बन गया है। डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"वस्तुत: आर्थिक कारणों से जातियों की सामाजिक मर्यादा जितनी बढ़ी है, उतनी धार्मिक आन्दोलन के कारण एक दम नहीं। ऐसा लगता है कि भारतवर्ष की अधिकतर जातियों को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करने का एक मात्र तरीका यह है कि उनकी राजनैतिक और आर्थिक मर्यादा ऊँची की जाय।" यह दलित जनसमूह केवल उसी मार्ग से मुक्त हो सकता है।

हिन्दू धर्म और मुसलमानी मजहब में मूलभूत अन्तर—जीवन के प्रति हिन्दू और मुसलमानों का दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न है। द्विवेदी जी लिखते हैं—"मुसलमान लोग एक संघटित धर्म मत (मजहब) के अनुयायी हैं। मजहब में धर्म साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ सामाजिक और धार्मिक विधि निषेध एक-दूसरे से गुथे रहते हैं। हिन्दू कहे जाने वाले जनसमूह में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता। परन्तु मुसलमानी जनसमूह का मजहब इससे ठीक विपरीत है। वह व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। हिन्दू समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह है—किन्तु मुस्लिम समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक बृहत् समूह का अङ्ग है। इसका सीधा मतलब यह है कि हिन्दू समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता रखता है। किन्तु कोई बाहर का आदमी इस जाति का अंग नहीं बन सकता है।" दोनों दृष्टिकोणों में यद्यपि मूलभूत विरोध है. किन्तु यह कहना कि ये मिल नहीं सकते, ठीक नहीं है। आरम्भ में आर्य-द्रविड़ दृष्टिकोण में इससे भी व्यापक अन्तर था, किन्तु अन्त में दूध-पानी की भांति मिल गये। हिन्दू-मुसलमान भी मिल सकते हैं. किन्तु पहले उनका सामान्य आधार खोजना पड़ेगा; धार्मिक रास्ते से तो वे कभी नहीं मिल सकते।

हिन्दू-मुस्लिम मिलन का आधार—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तीन मार्ग बताते हैं—

१. सन्त और विद्वज्जनों का मार्ग—यहाँ ज्ञान के प्रकाश में सब जान जाते हैं कि ईश्वर-अल्ला एक ही सत्ता के दो पृथक् नाम हैं। इस विषय पर कितनी ही पुस्तकें भी लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ दाराशिकोह की मज्यअ-उल-वहटैन पुस्तक। हिन्दी में भी ऐसी पुस्तकों की कमी नहीं है। किन्तु यह मार्ग विद्वज्जनों के लिये ही है, जनसाधारण के लिये नहीं। जनसाधारण अज्ञान के अन्धकार में रहते हैं, इसलिये धर्म का वास्तविक रूप वे देख नहीं पाते। वे तो धर्म की बाह्य रूढ़ियों एवं आडम्बरों से ही चिपके रहते हैं जैसे—समाज और आरती और ये चीजें ही साम्प्रदायिक संघर्ष का सूत्रपात करती हैं।

२. लौकिक मार्ग—खान-पान, पहिरावे आदि के द्वारा एका। पर चूँकि इस मार्ग में उच्चतर मनोवृत्ति का योग नहीं है, अतः निष्फल है।

३. विज्ञान का मार्ग—यह मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे द्वारा पहले भी अति प्राचीन काल में हिन्दू-मुस्लिम आदान-प्रदान हुआ है, अब भी हो सकता है। अरबी में बहुत पहले आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त आदि के ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था और मुसलमानों ने इन ग्रन्थों से बहुत कुछ सीखा। दश गुणोत्तर अंकक्रम को अलखारिज़्मी ने सारे योरुप में फैलाया था। हिन्दुओं का मुहूर्त-शास्त्र मुस्लिम ज्योतिष में गृहीत हुआ है और अरबों का ताजक-शास्त्र और रमल विद्या संस्कृत में सम्मानपूर्ण स्थान पा सकी है। ताजक नीलकण्ठी के प्रसिद्ध सोलह योगों के नाम सीधे अरबी से लिये गये हैं। चिकित्सा के ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। यूनानी चिकित्सापद्धति के साथ भारतीय पद्धति के मिश्रण से एक नई चिकित्सा-पद्धति हकीमी का जन्म हुआ जो हिन्दुओं और मुसलमानों की प्रतिभा के मिलन का बड़ा सुन्दर फल है। मुसलमान बादशाहों ने सौ वर्षों के साथ हिजरी संवत् का सामंजस्य करके नये संवत् चलाये थे जो हिन्दुओं के राष्ट्रीय संवत् बन गये हैं। साम्प्रदायिक एकता के लिए विज्ञान की भूमि ही सर्वोत्तम है। इसी वैज्ञानिक भावना को उत्तेजित करना वांछनीय है।

हिन्दू-मुस्लिम मेल में उच्च मनोवृत्ति होनी चाहिये। उनका मेल मनुष्यता

को दासता और शोषण के बन्धन से बचाने के लिये होना चाहिये, विश्व-विजय के अभिमान के लिए नहीं। आर्य, द्रविड़, शक, नाग, अहीर आदि जातियों के शतश: वर्षीय संघर्षों के बाद हिन्दू दृष्टिकोण बना है इसलिये आज हम आसानी से नयी या विपरीत संस्कृति से मिल सकते हैं। इतिहास हमारा इस विषय में सहायक है।

इस प्रकार के मेल से ही भारत की सांस्कृतिक समस्या हल हो सकती है।

सम्भावित प्रश्न (उत्तर उपरोक्त निबन्ध-सार में निहित है)

१. हिन्दू धर्म की प्रधान विशिष्टता क्या है ?

२. हिन्दू-मुस्लिम धर्म का अन्तर संक्षेप में समझाइये।

३. "विज्ञान की भूमि पर हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति मिल सकती है।" आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?

४. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सांस्कृतिक समस्या को सुलझाने के लिए जो सुझाव हैं, उनको एक निबन्ध के रूप में रखिए।

५. हिन्दू जन-समूह के रिजली द्वारा किये गये वर्गीकरण को क्या आप ठीक मानते हैं ? स्पष्ट कीजिए।

भारतीय संस्कृति की देन

भारतीय संस्कृति के विषय में द्विवेदी जी का अध्ययन और ज्ञान असाधारण है। इस लेख में वे बताते हैं कि संस्कृति क्या है ? भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता क्या हैं और विश्व की उसको देन क्या है ?

संस्कृति क्या है ?:—एक शब्द या एक वाक्य में संस्कृति की परिभाषा देना सम्भव नहीं है। संसार की जो वस्तुयें परिभाषा के बन्धन में नहीं बँधतीं, संस्कृति उनमें से है। विश्व भर की एक संस्कृति हो सकती है, किन्तु प्रत्येक देश की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। द्विवेदी जी का कहना है—मनुष्य की श्रेष्ठ साधनायें ही संस्कृति हैं। संस्कृति कोई स्थूल वस्तु नहीं है जिसे देखा और व्यक्त किया जा सके, वह तो केवल अनुभव की जा सकती है, यह अभिव्यक्ति के परे है। मनुष्य अपनी श्रेष्ठतर मान्यताओं को व्यक्त कर पाता भी

नहीं, उनके विषय में यह केवल नेति-नेति कह सकता है। मनुष्य निरन्तर किसी वस्तु की खोज में लगा है। अवांछनीय घटनायें भी उसका एक अंग है। संस्कृति के अन्तर्गत मार-काट, लूट-खसोट और नोच-खसोट की आयेगी, क्योंकि मानव-संस्कृति का कमल इसी कीच से तो निकलेगा। मनुष्य अपने स्वभावानुसार और प्रयत्न भर उस संस्कृति की खोज में निरन्तर व्यस्त है।

भारतीय संस्कृति क्या है—भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो उसे अन्यान्य संस्कृतियों से पृथक् कर देती हैं। अविरोध की भावना इसकी सर्वमहान् विशेषता है। भारतीय संस्कृति किसी धर्म या संस्कृति का विरोध नहीं करती, वह तो मनुष्य को बौद्धिक निर्वाण (Intellectual deliverence) प्रदान करती है। बुद्धि के प्रकाश में संकीर्णता समाप्त हो जाती है और बाहर से भिन्न प्रतीत होती हुई वस्तुओं के मूल में मनुष्य एक ही सत्य के दर्शन करने लगता है। भारतीय संस्कृति की यह महान् विशेषता है कि वह मनुष्य को विवेक देती है, विरोध करने की प्रवृत्ति नहीं।

मानव और संघर्ष—मनुष्य आज जिस स्थान तक पहुँच पाया है वह उसके चिरसंघर्ष का शुभ परिणाम है। पन्त जी ने ठीक ही लिखा है—

"मानव-जीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।"

प्रकृति मनुष्य के अबाध विकास या प्रगति में पग-पग पर बाधक थी। मनुष्य को उससे अनवरत संघर्ष करना पड़ा। मनुष्य यदि संघर्ष न करता तो प्रकृति के अन्य लुप्त और लुप्तप्राय: जीवों की भाँति अस्तित्वहीन हो जाता। अत: यदि यह कहें कि मानव-सभ्यता का इतिहास मनुष्य के प्रकृति के साथ सतत संघर्ष का इतिहास है तो अनुचित न होगा। मनुष्य के पास एक ही अस्त्र था, जिससे वह शक्तिशालिनी प्रकृति का सफल विरोध ही नहीं कर सका, अपितु उस पर विजय भी प्राप्त कर सका, यह अस्त्र था, बुद्धि जो प्रकृति के अन्य जीवों के पास नहीं थी। आरम्भ में मनुष्य भी जड़ वस्तुओं के समान ही था और बुद्धि का अंकुर अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में था। धीरे-धीरे प्रकृति

की सम्पूर्ण भयंकर शक्तियों की उपेक्षा करके मनुष्य का यह बुद्धि-अंकुर आज पुष्ट-वृक्ष के रूप में बदल गया है। मनुष्य को दो कठिन कार्य आरम्भ से ही करने पड़े, एक तो प्रकृति से संघर्ष, दूसरा उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर उसकी प्रगति। इसे हम बौद्धिक या मानसिक प्रगति कोई भी नाम दे सकते हैं। आज तो मनुष्य अपनी आदिम केंचुली छोड़ चुका है और वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर, उच्च से उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर बढ़ रहा है।

मनुष्य के अन्दर आरम्भ से ही आदर्शवादी चेतना के अंकुर रहे हैं जो अनुकूल समय पाकर बढ़ते रहे हैं। यही आदर्शवादी विचार-स्रोत मनुष्य को निरन्तर प्रगति की प्रेरणा देता है। "निद्रा, भय, मैथुन, आहार इन चारों पशु-लिप्साओं के पंक से विवेक के उज्ज्वल कमल का उदय होता है। मनुष्य की आदिम भावनायें पाशविक हैं, यह जितना बड़ा सत्य है, उससे भी बड़ा सत्य है कि उन कुत्सित भावनाओं से उत्पन्न सद्भावनाओं का कमल एक ठोस वास्तविकता है। सारांश यह कि जिस प्रकार कीचड़ से उज्ज्वल कमल का उदय होता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की कुत्सित और आदिम पाशविक भावनाओं से श्रेष्ठतर और उच्चतर भावनाओं का उदय हुआ है। जो बातें मनुष्य की भौतिक उन्नति में सहायक हो सकती थीं, उनको अपनाकर मनुष्य ने सभ्यता को मूर्त्त रूप दिया है। संस्कृति इसी सभ्यता का मानसिक रूप है। संस्कृति आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा तथा सौन्दर्य-बोध को तीव्रतर करने की योजना के सम्मिलित प्रभाव से बनती है। संस्कृति विचार है, सभ्यता वस्तु। संस्कृति वास्तव में सभ्यता की प्रतिच्छाया है।

मानव का अन्तिम लक्ष्य—स्थूल से निरन्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर की ओर गति यही मानव की प्रगति है। जो वस्तुयें स्थूल इन्द्रियों को सन्तुष्ट करती हैं वे उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी वे वस्तुयें जो हमारी बुद्धि और मन को सन्तुष्ट करती हैं। स्पष्ट बात यों है कि आदिम मनुष्य और आज के मनुष्य की आवश्यकताओं में जो अन्तर है, वही उसकी प्रगति के भेद को स्पष्ट कर देता है। आज मनुष्य को साहित्य भी चाहिये जो कि मनुष्य की इस प्रगति पर सर्वमहान् बौद्धिक प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त विज्ञान तथा

अन्य कलायें भी मनुष्य की इसी ऊर्ध्वगामिनी प्रवृत्ति (प्रगति करने की प्रवृत्ति) का परिणाम है। लेकिन मनुष्य बुद्धि के सन्तोष तक आकर ही नहीं रुका। बुद्धि के परे भी कुछ है, मनुष्य को वही सन्तोष काम्य है। मानव का चरम लक्ष्य वही है। चाहे उसे ब्रह्म कहिये या पूर्ण आनन्द। अन्न (भौतिक पदार्थ) प्राण, मन, विज्ञान (बुद्धि), आनन्द (अध्यात्म तत्त्व) ज्ञान के ये पाँच उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्तर माने गये हैं। अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही मानव का अन्तिम लक्ष्य है। इसी का प्रयत्न वह अपनी आदिम अवस्था से कर रहा है।

भारतीय चिन्तन-धारा की अपनी एक विशेषता है। यहाँ विज्ञान और तत्त्व-जिज्ञासा एक ही बात मान ली गई है। यहाँ का दर्शन (Philosophy) ही यहाँ का विज्ञान था। दर्शन के द्वारा यहाँ मनीषी अपना आन्तरिक मार्ग (आध्यात्मिक प्रगति) जहाँ तक तै कर पाये, वह विश्व के लिये आज भी आश्चर्य का विषय है। मन की चंचलता, मन की एकाग्रता में बाधक होती है, उसके कठोर निग्रह को यहाँ योग का नाम दिया गया। योग केवल थोथा बौद्धिक विलास नहीं है, त्याग और वैराग्य में उसकी जन्म-भूमि है। बिना वैराग्य के योग केवल शब्द मात्र है।

यहाँ के मनुष्य ने एक ओर तो प्रकृति से संघर्ष करके अपनी सभ्यता की नींव स्थिर की और दूसरी ओर आध्यात्मिक दिशा में प्रगति कर उसने उस पर संस्कृति का मनोहर भवन बनाया। उसने जिन निश्चित मार्गों पर अपनी प्रगति के चरण चिन्ह छोड़े हैं, वही भारतीय सभ्यता और संस्कृति है।

अपने इस संघर्ष और आध्यात्मिक खोज के लिये मानव को अनेकों पीढ़ियों की आवश्यकता थी। इस आवश्यक कार्य की पूर्ति के लिये यहाँ के ऋषियों ने तीन ऋणों का विधान किया—१. देव ऋण, २. ऋषि ऋण, ३. पितृ ऋण। यदि सूक्ष्म (आनन्द) की खोज में सभी लग जाँय तो सभ्यता की समुचित रक्षा कौन करेगा ? और इस प्रकार संस्कृति अधूरी रह जायगी। अत: जैसे हमारे पिता ने हमें उत्पन्न कर सस्कृति में योगदान करने को एक पीढ़ी बढ़ाई, उसी प्रकार हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम भी उसे आगे की पीढ़ियों में अक्षण्ण प्रवाह के रूप में रखें। पितृ-ऋण जीवन-धारा के प्रवाह क

अक्षुण्ण बनाने का सुन्दरतम उपाय है और गुरु या ऋषि-ऋण से उऋण होना ज्ञानधारा के प्रवाह को अक्षुण्ण रखने का उपाय। देवऋण का अर्थ है कि देवताओं द्वारा दी गई सम्पत्ति, पृथ्वी, जल, धूप आदि का सब समान रूप से उपभोग करें। ये तीन सीढ़ियाँ (ऋण) भारतीय संस्कृति के विकास के तीन चरण-चिन्ह हैं जो उस अन्तिम लक्ष्य (आनन्द) की ओर उन्मुख हैं।

भारत संसार का कई बातों में गुरु है, धर्म के विषय में, दर्शन के विषय में और ज्योतिष के विषय में। इसके अतिरिक्त भारत ने ही विश्व-मानवता का मूलमन्त्र विश्व को दिया। "वसुधैव कुटुम्बकम्" (सारी पृथ्वी एक कुटुम्ब है) तथा निद्राभयमैथुनाहार के पङ्क से निकाल कर सारे प्राणियों को आत्मवत् समझने की बुद्धि भी उसने दी—"आत्मवत सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।"

इसलिये भारतीय संस्कृति विश्व की महानतम संस्कृति है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण विधान है। विश्व के अधिकांश देश एकाङ्गी चिन्तन से पीड़ित हैं, तब यदि भारत की सर्वाङ्गपूर्ण संस्कृति विश्व को कुछ संदेश दे सके, यह सचमुच गौरव का ही विषय है।

सम्भावित प्रश्न—(जिनके उत्तर उपर्युक्त निबन्ध-सार में निहित हैं)

१. भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

२. मनुष्य की वास्तविक प्रगति क्या है ? प्रकृति मनुष्य की प्रगति में बाधक है या साधक ? समझाइये।

३. तीन ऋणों की महत्ता पर प्रकाश डालिये।

४. क्या संस्कृति और सभ्यता में कोई अन्तर है ? स्पष्ट कीजिये।

५. स्थूल और सूक्ष्म क्या है ? क्या ये दोनों विरोधी वस्तुयें हैं ? यदि नहीं तो क्यों ? मनुष्य का अन्तिम ध्येय क्या है ? स्पष्ट कीजिये।

६. सामान्य विशेषतायें होने पर भी मनुष्य पशुओं से भिन्न है, क्यों ? समझाइये।

आलोचना का स्वतन्त्र मान

द्विवेदी का विचार है कि आलोचना की आखिर कोई सर्वमान्य न सही, बहुमान्य ही सही, पर कोई कसौटी होनी अवश्य चाहिये, जिस पर

कस कर हम किसी रचना के गुण-दोष देख सकें और उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता के विषय में अपना मत दे सकें। प्रायः देखा यह गया है कि एक ही रचना को एक आलोचक उत्कृष्टतम बताता है, एक निकृष्टतम। आखिर इतना अन्तर सम्मतियों में हो क्यों जाता है? द्विवेदी जी ने इस लेख में इसी बात पर विचार किया है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में बड़ी उच्छृङ्खलाता और एक प्रकार की अराजकता दिखाई देती है। अपने-अपने मन के अनुसार आलोचक आलोचना कर देते हैं और एक ही लेखक को कोई तो सर्वश्रेष्ठ कह बैठता, कोई सर्व निकृष्ट। गलती असल में मूल में ही है, मन आलोचना का उचित आधार नहीं है, क्योंकि मनुष्य का मन तो एक हजार अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं के संघर्ष से रूप ग्रहण करता है, इसे अगर प्रमाण मानलें तो मूल्य निर्धारण का कोई सामान्य मानदण्ड बन ही नहीं सकता। ग्राहक और विक्रेता को अपने-अपने मन के अनुसार सेर बनाने को छोड़ दीजिये, तो बाजार बन्द हो जायेंगे। साहित्य में भी अगर इस मन के सेर को ही प्रामाणिक मान लिया गया तो आलोचना की क्या दशा होगी, यह सहज कल्पनीय है।

आलोचना का मानदण्ड मन नहीं, बुद्धि हो—आलोचना क्षेत्र में उच्छृङ्खलता और विशृङ्खलता का कारण यह मन है। यह स्पष्ट हो चुका है। तब क्या उपाय है जिससे इस बीमारी या साहित्यिक अस्वस्थता पर नियंत्रण पाया जा सके। इसका उचित हल यही है कि आलोचना का मानदण्ड मन न हो कर बुद्धि हो, अर्थात् किसी वस्तु धर्म या क्रिया के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिये अनुराग-विराग या इच्छा-द्वेष को महत्त्व नहीं देना चाहिए बल्कि देखना चाहिये कि वस्तु देखने वाले के बिना अपने-आप में क्या है। पर आज तो अनुराग-विराग या इच्छा-द्वेष के द्वारा निर्णय पर पहुंचने को आलोचक गर्व की वस्तु समझता है, यह अनुचित है।

आलोचना के क्षेत्र में इस बहुमुखी विरोधिता का कारण है वस्तु को मानसिक संस्कारों के चश्मे से देखना और बुद्धि के द्वारा न देखना। और फिर आलोच्य विषय में से निराले तथ्य निकालने में भी आज के आलोचक प्रसिद्ध

हैं और उन तथ्यों को प्रमाणित करने के लिये वे दर्शन और न जाने किस-किस चीज से अपने कथन का समर्थन करते हैं। इन आलोचकों के आलोचना मान भी बिलकुल विचित्र हैं। जीव और जगत् से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे आलोचक छूटते ही शरीर के दो हिस्से कर डालते हैं—शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन, दोनों परस्पर विरोधी। फिर जगत भी दो—जड़ और चेतन। चेतन भी दो—लोकपक्षात्मक और भावपक्षात्मक। और लोकपक्ष भी दो—आदर्शवादी और यथार्थवादी इत्यादि। साधारण पाठक के लिए इस आलोचना में क्या आकर्षण है?

आलोचना की एक पद्धति है निर्णयात्मक आलोचना। इसमें आलोचक आलोच्य विषय के प्रति अपना निश्चित निर्णय देता है। आलोचक यहाँ जज का काम करता है। पर जज स्वयं अपने मन से निर्णय नहीं करता, न्याय करने का एक निश्चित मानदण्ड उसके समक्ष रहता है। जो आलोचक अपने मन और उसकी रुचि को ही अधिक महत्त्व देता है, वह जज नहीं हो सकता, वह आलोचक भी नहीं है, वास्तव में वह कवि है। क्योंकि वह मन और भावनाओं को बुद्धि से अधिक महत्त्व देता है। आलोचक का कार्य तो आलोच्य विषय का उचित वर्गीकरण और उसे जनसाधारण के लिये सुलभ बनाना है। यदि उसकी आलोचना मूल से भी अधिक क्लिष्ट और अस्पष्ट हो गई तो उसकी उद्देश्य-सार्थकता कहाँ हुई?

आलोचना की कसौटी शाश्वत नहीं, सामयिक होनी चाहिये:— साहित्य अपने युग का प्रतिविम्ब होता है, इसलिये युग की छाया में ही साहित्य का अध्ययन और उसका विश्लेषण श्रेयस्कर है। आलोचना के पुराने मान आज काम नहीं देंगे, वे ओछे पड़ जायेंगे, उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर बढ़ने पर वस्त्र छोटे पड़ जाते हैं। शरीर के लिये वस्त्र बदले जाते हैं, साहित्यानुकूल आलोचना भी बदलनी होगी। साहित्यक युग-समस्याओं को वाणी देता है और आलोचना उसे स्पष्ट करती है। द्विवेदी जी के शब्दों में—"

"प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्यायें। साहित्य उसके लिये अगर उपयुक्त अध्ययन सामग्री नहीं उपस्थित करता तो वह बेकार है। अगर इतना

तो आप भी मानेंगे कि केवल बिहारी, भूषण और देव को घोट कर कंठाग्र कर रखने वाले पण्डित भी आधुनिक युग में निकम्मे ही नहीं समाज के भार हो जायेंगे। मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे गलत न समझेंगे। आखिर बिहारी या मतिराम हमारी कौन सी राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओं का जवाब हैं। इनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं, वह यह कि इनको पढ़कर इनका क्रमबद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्यप्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारती रहती हैं। इसी को मैं साधन-रूप में साहित्य का अध्ययन कहता हूं। मैं जानता हूँ कि मेरे साथ आप निश्चय ही सहमत होंगे।" वास्तव में हिन्दी-साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से किया ही नहीं गया।

सम्भावित प्रश्न

१. क्या आप आलोचना के स्वतन्त्र मानों की आवश्यकता समझते हैं। यदि हाँ, तो क्यों?

२. आलोचना क्षेत्र में बहुमुखी विरोधिता का कारण क्या है?

प्रश्न २—'अशोक के फूल' के निबन्ध व्यक्ति-प्रधान हैं या विषय-प्रधान? अपने विचार प्रकट कीजिये।

या

"व्यक्तिप्रधान लेखों में विषय से अधिक लेखक के विचार ही प्रकाश में आते हैं।" 'अशोक के फूल' के आधार पर बताइये कि यह कथन कहाँ तक सच है।

या

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारों पर अशोक के फूल के आधार पर एक निबन्ध लिखिये।

या

"डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी रूढ़िविरोधी प्रगतिशील बिचारों के लेखक हैं। 'अशोक के फूल' के आधार पर यह बात सिद्ध कीजिये।

नोट—उपरोक्त सब प्रश्नों का उत्तर मूलतः एक ही है। अतः नीचे जो उत्तर दिया जाता है, उसमें सभी प्रश्नों के उत्तर निहित हैं।

उत्तर—विषय-प्रधान लेखों में लेखक विषय को ही प्राधान्य देता है और अपने विचारों को प्रकट करने से बचता है। अर्थात् ऐसे निबन्ध तटस्थ होकर लिखे जाते हैं; किन्तु व्यक्ति-प्रधान लेखों की यह विशेषता होती है कि लेखक विषय को स्पष्ट करने के बहाने अपने व्यक्तिगत विचार स्पष्टतः 'मैं' में प्रकट करने लगता है। 'अशोक के फूल' के सभी निबन्ध व्यक्ति-प्रधान हैं। विषय-प्रधान कोई भी निबन्ध नहीं है, क्योंकि सभी निबन्ध द्विवेदी जी ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिये ही लिखे हैं। यहाँ तक कि विषय को बीच में ही छोड़कर कभी कभी वे अपना अनुभव और मत बीच में ही व्यक्त करने लगते हैं। व्यक्ति-प्रधान लेखों के विषय में यह आवश्यक नहीं कि पाठक सब जगह लेखक के विचारों से सहमत ही हो, वह असहमत भी हो सकता है। दो-चार ऐसे उद्धरण देना आवश्यक न होगा जहाँ लेखक अशोक के फूल का इतिहास और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बताते-बताते अचानक कह उठता है—

"मेरा मन उमड़-घुमड़ कर भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं।"

× × ×

"आज अशोक के पुष्प-स्तवकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है। कल न जाने किस वस्तु को देख कर सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी। जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान् समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिये चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ और उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगी, कौन जानता है।"

लेखक अपनी जन्म-भूमि पर लेख लिख रहा है, लेकिन जन्भूमि की बात छोड़ कर वह अपने विषय में कह उठता है—

"अच्छा समझिये या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से भी तेल निकालने का सच-

मुच ही प्रयत्न करता हूँ। बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय। और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ।"

लेखक अपने 'साहित्यकारों का दायित्व' नामक लेख में महान् साधनों के मालिकों को धिक्कारते हुए सीधे अपने विषय में कहने लगता है—

"मैं जितनी दूर देखने की दृष्टि पा सका हूँ, उतनी दूर तक मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि नियमित प्रयत्नों और सुचिन्तित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति और भी शक्तिशाली होती जायगी। उसे रोकना अब सम्भव नहीं है। नदी की धारा का मोड़ना दुष्कर है। इसलिये मैं बराबर सोचता हूँ कि यह क्या ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिये ?"

× × ×

"मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि चीन, थाई-लैंड, जावा, सुमात्रा आदि ऐशियायी देशों में हिन्दी सीखने की उत्सुकता बहुत बढ़ गई है।" 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में लेखक अचानक अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट करने लगता है—"मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घदर्शिता का गर्व नहीं है, लेकिन जो कुछ अनुभव करता हूँ उसे ईमानदारी से प्रकट करने से शायद कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से यह बातें कह रहा हूँ।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि व्यक्ति-प्रधान लेखों में किस प्रकार लेखक सीधा पाठक के सामने आ जाता है। व्यक्ति-प्रधान लेखों का एक गुण और एक दोष भी है जिस की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। गुण तो यह है कि लेखक के 'मैं' में बोलने से निबन्ध में सच्चाई का अंश अधिक आ जाता है, जिस से पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। दोष यह है कि व्यक्ति-प्रधान निबन्धों में लेखक का अहं या गर्व भी प्रकाश में आ जाता है जो पाठक को कभी-कभी अपमान-जनक सा या चिढ़ा देने वाला लगता है। द्विवेदी जी अहं वाले तत्त्व के विषय में बड़े सचेत हैं और बार-बार कहते मिलते हैं "मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घदर्शिता का गर्व नहीं है" अतः दोष तो बहुत कुछ दब गया है और सच्चाई का गुण ही उनके निबन्धों में उभर कर आया है।

ऊपर कुछ ही ऐसे उद्धरण दिये गये हैं जिनसे यह प्रमाणित हो कि लेख व्यक्ति-प्रधान है, नहीं तो सैंकड़ों से अधिक ऐसे उद्धरण देना कठिन नहीं है, क्योंकि 'मैं' के बिना तो द्विवेदी जी ने बहुत कम बातें कहीं हैं। उनके एक लेख के तो शीर्षक में ही उनका व्यक्ति जुड़ा हुआ है 'मेरी जन्मभूमि'।

व्यक्ति-प्रधान लेखकों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि विषय के साथ-साथ लेखक के व्यक्तिगत विचार, मान्यतायें और विश्वास तथा अन्य विशेषतायें प्रकाश में आ जाती हैं। अब हम 'अशोक के फूल' नामक इस निबन्ध-संग्रह के आधार पर द्विवेदी जी की व्यक्तिगत विशेषतायें देखने का प्रयत्न करेंगे। प्रमाण के लिये साथ-साथ उद्धरण देना भी असंगत न होगा।

१. हिन्दी प्रेम—प्रस्तुत पुस्तक के निबन्धों से द्विवेदी जी का हिन्दी-प्रेम अनायास ही प्रकट हो जाता है। द्विवेदी संस्कृत के उतने ही बड़े पण्डित हैं, जितने हिन्दी के, इसलिये ही उनका हिन्दी-प्रेम कुछ विशिष्ट महत्त्व रखता है। 'साहित्यकारों के दायित्व में' द्विवेदी जी लिखते हैं:—

"मेरे मन में हिन्दी-भाषा और साहित्य का विशिष्ट रूप है। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था और जो स्थान अंग्रेजी ने ले लिया है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिन्दी को बैठाना है। मैंने यह बात पहले भी कही है और फिर भी दुहरा रहा हूँ। हिन्दी को संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है।

÷ + ÷

"मैं कहना चाहता हूँ कि आज हम यह भूल जायें कि हिन्दी दुर्बलों की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यन्त शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।"

"हिन्दी साधारण जनता की भाषा है, जनता के लिये ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह अपने को जनता के काम की चीज बनाए रहेगी, जनचित्त में आत्म-बल का संचार करती रहेगी, तब तक उसे किसी से डर नहीं है। वह अपने आपकी अपराजेय शक्ति के बल पर बड़ी हुई है, लोकसेवा के महान् व्रत के कारण बड़ी हुई है। और यदि अपने मूल शक्ति के स्रोत को भूल नहीं गई तो निस्सन्देह अधिकाधिक शक्तिशाली होती जायगी।

उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। वह विरोधों और संघर्षों के बीच ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की कोशिश की गई थी, पर वह मरी नहीं है, क्योंकि उसकी जीवनी शक्ति का अक्षय स्रोत जनचित्त है। वह किसी राजशक्ति की उँगली पकड़ कर यात्रा तै करने वाली भाषा नहीं है, अपने आपकी भीतरी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन पर अधिकार करने वाली अद्वितीय भाषा है।"

× × ×

"हिन्दी सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है, इसका अवसर मिलना सौभाग्य की बात है।"

२. रूढ़ि विरोधी—हर महान् लेखक रूढ़ियों का विरोधी होता है, द्विवेदी जी भी रूढ़ियों के विरोधी हैं। 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे लिखते हैं "पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ।"

"मेरे गाँव की देवता-मंडली में इधर हाल ही में एक नयी देवी का पदार्पण हुआ है। इनका गाम है 'पिलेक मैया' अर्थात् प्लेगमाता। इनका स्थान भी बन गया है, पूजा भी होने लगी है और एक भक्त पर उनका आवेश भी होता है। सौ वर्ष बाद यदि कोई कहे कि प्लेग अंग्रेजी शब्द है और यह देवी अंग्रेजी साहचर्य की देन है तो निष्ठावान् हिन्दू शायद कहने वाले का सिर तोड़ देगा।······जब मैंने अपने एक मित्र को बताया था कि कुल्ला और उनकी श्रेणी की देवियाँ तिब्बती परम्परा की देन है, यहाँ तक कि दस महाविद्याओं की 'तारा' और 'छिन्न-मस्ता' का सम्बन्ध भी तिब्बत के प्राचीन बोन धर्म से साबित किया जा सकता है, तो उन्होंने मुझे 'वज्र नास्तिक' कह कर तिरस्कार किया था। काश! मेरे मित्र जानते कि वज्र भी आर्येतर जातियों के संस्रव का फल हो सकता है।" इसी लेख (मेरी जन्मभूमि) में वे आगे साहित्यकारों को सावधान करते हैं:—

"संक्रान्ति काल से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम। पर साहित्यकारों का कर्त्तव्य तो स्पष्ट है। वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्बिजेय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें।"

३. जातिवाद के विरोधी—द्विवेदी जी सहस्त्रों वर्षों से चली आती जाति-प्रथा को मनुष्यता के मुख पर कलङ्क समझते हैं और इसका विरोध करते है। अपने 'प्रायश्चित्त की घड़ी' नामक निबन्ध में निम्न जातियों का पक्ष ग्रहण करते हुए वे कहते हैं—

"इस देश में बहुत साधुमना व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जायगा। बहुत से लोग इनका छुआ हुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। जन-जागृति जिस दिन सचमुच होगी, उस दिन ऊँची मर्यादा वाले इनका 'उद्धार' नहीं करेंगे। ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे। वह एक अपूर्व समय होगा। जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक्, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों से फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार माँगेगी। उस दिन हमारी सभी कल्पनायें न जाने क्या रूप धारण करेंगी, जिन्हें हम 'भारतीय सभ्यता', 'हिन्दू संस्कृति' आदि अस्पष्ट और भुलावने शब्दों से प्रकट किया करते हैं।"

'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में द्विवेदी जी अपने जातिविरोधी विचार प्रकट करते हैं—

"हमारा यह देश जाति-भेद का देश है। करोड़ों मनुष्य अकारण अपमान के शिकार हैं। निरन्तर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन से हीनता की गाँठ जब तक नहीं निकल जाती तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नहीं रह सकती। कर्म का फल मिलता ही है, इनसे बचने का उपाय नहीं है। जिन लोगों को अकारण अपमान के बन्धन में डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे संसार में हमारे अपमान के कारण बने हैं।"

× × ×

"छोटी कही जाने वाली जातियों में ऊपर उठने की आकांक्षा स्वाभाविक है और उसके लिए उनका संस्कृत साहित्य की ओर झुकना भी अस्वाभाविक नहीं है। यदि संस्कृतबहुल भाषा के व्यवहार से और समस्त जातियों के ब्राह्मण या क्षत्रिय कहे जाने से सात करोड़ आदमियों में अपने को हीन समझने

की मनोवृत्ति कुछ भी कम होती तो ऐसा करना वांछनीय है या नहीं, यह मैं देश के नेताओं के विचारने के लिये छोड़ देता हूँ।"

४. प्राचीनता के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण—द्विवेदी जी अंधविश्वासी दृष्टिकोण को उचित नहीं समझते। जो प्राचीन वस्तुयें सड़-गल गई हैं वे 'याज्य हैं, जो आज भी हमारे प्रगति-मार्ग में सम्बल का काम देती हैं, ग्राह्य हैं, संक्षेप में, प्राचीनता के प्रति यही उनका दृष्टिकोण है। वे सत्य को तर्क के माध्यम से छानबीन कर स्वीकार करते हैं, विश्वास के द्वारा नहीं। 'सावधानी की आवश्यकता' नामक निबन्ध में वे बताते हैं कि मनुष्य पुराने संस्कारों को उतार कर फेंकता आ रहा है और नयी बातें ग्रहण करता चला जा रहा है।

"ये अधभूले नृत्यगीतों की परम्परायें उसकी नवग्राहिणी प्रतिभा के चिह्न हैं, ये नवीन देवताओं की कल्पनायें उसके राह खोजने की निशानी हैं और ये भूली हुई परम्परायें इस बात का संकेत करती हैं कि वह परम्परा और सस्कृति के नाम पर जमे हुए पुराने किट्टाभ संस्कारों को फेंक देने की योग्यता रखता है।"

"मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे लिखते हैं—

"पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूं, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनता के विषय में द्विवेदी जी का दृष्टि-कोण संतुलित है—प्राचीनता से उन्हें न आकारण घृणा है और न अकारण प्रेम।

५. आत्म-विश्वासी—आत्म-विश्वास की भावना द्विवेदी जी के सभी निबन्धों से झलकती है। वे आशावादी हैं और पुरुषार्थ को सबसे ऊंचा स्थान देते हैं। वे एक स्थान पर लिखते हैं—"उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं, मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूं कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को बदल सकेंगे।"

६. प्राचीन साहित्य के प्रेमी—द्विवेदी प्राचीन साहित्य को आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसे बड़ा महत्त्व देते हैं। कारण साहित्य ही संस्कृति की

विच्छिन्न कड़ियों को जोड़ता है। 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे पुराने साहित्य के महत्त्व के विषय में लिखते हैं—

"अपना यह देश कोई नया साहिहित्यक प्रयोग करने नहीं निकला है, इसकी साहित्यिक परम्परा अत्यन्त दीर्घ, धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है, उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारी प्राचीन चिन्तन-सरणि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पालि और प्राकृत की बढ़िया पुस्तकों के जितने अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं, उतने हिन्दी में नहीं हुए।

७. देशभक्त—द्विवेदी जी में देशभक्ति की भावनायें होना स्वाभाविक ही हैं। हिन्दुस्तान और हिन्दी से उन्हें अनन्य प्रेम है। 'आपने मेरी रचना पढ़ी' में वे लिखते हैं—"हमारा देश महान् है और हमें महान् संयोग मिल गया है। इस समय दुविधा और झिझक की जरूरत नहीं है। अपनी आँखों से अपने वृद्ध जर्जर देश को देखना है और दृढ़ चरित्रता के अमृत से सींचकर इसे महत्तर बनाना है।"

× × × ×

"सचमुच ही भारतवर्ष की परम्परा महान् है। इसके निवासियों में शौर्य है। वहाँ की भूमि रत्नप्रसू है, यहाँ का ज्ञान विज्ञान अतुलनीय है, केवल इस देश को अपने प्रति आस्थावान् बनाना है।"

८. जन्मभूमि प्रेमी—द्विवेदी अपनी जन्मभूमि को अत्यन्त प्रेम करते हैं। 'मेरी जन्मभूमि' में वे लिखते हैं—"और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूं—'नेह कि गोई रहै सखि लाज सौं' ?"

९. रवीन्द्र-गांधी का आदर करते हैं—द्विवेदी जी रवीन्द्रनाथ ठाकुर से तो अत्यन्त प्रभावित हैं, वे उन्हें हमेशा गुरुदेव के नाम से सम्बोधित करते हैं और जहाँ-कहीं महान् कवि के रूप में किसी को याद करते हैं तो रवीन्द्र को ही। 'रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान', एक कुत्ता और मैना' आदि

निबंध इस बात के प्रमाण हैं। द्विवेदी गांधी को भी महापुरुष मानते हैं और कबीर और तुलसी के साथ उन्हें याद करते है—"कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली। क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने की क्षमता थी।"

१०. प्रगतिशील विचारों के हैं—द्विवेदी जी की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे प्रगतिशील विचारों के हैं। ये आध्यात्मवादियों की भाँति विकास की अन्तिम सीमायें वेदों के काल में नहीं ढूँढते, अपितु एक ऐतिहासिक भौतिकवादी के नाते वे सृष्टि को निरन्तर परिवर्तन और प्रगतिशील मानते हैं, उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व को हम निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं।

(क) परिवर्तन में विश्वास करते हैं—लिखते हैं—मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ कि नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य सिमटता आ रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी नीति-रीति चिरन्तन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मन्दिर ही अब मिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर तरण के लिये कृत-संकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है।

(ख) यथार्थवादी हैं—द्विवेदी जी कल्पना-लोक में रहने वाले साहित्यिकों को सावधान करते हैं और कहते हैं कि जब तक साहित्यकार धरती की मिट्टी को अपने साहित्य का विषय नहीं बनायेगा तब तक वह व्यर्थ है। 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे लिखते हैं—'साहित्यक के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत् को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है, जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया बाह्य सामंजस्य नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य सुन्दरता के ढूह में खड़े होकर आन्तरिक सौंदर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौंदर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का

उपासक है, इसलिये साहित्य को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा। अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा, सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एक मात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सच्चाई है।

(ग) 'कला जीवन के लिए' में विश्वास रखते हैं--"कला कला के लिये" के द्विवदी जी विरोधी हैं। वे कला को जीवन के लिये मानते हैं। स्वान्त: सुखाय लिखने में वे विश्वास नहीं रखते। 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे लिखते हैं--

"जो साहित्य अपने-आपके लिये लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को रोग-शोक, दारिद्रय, अज्ञान तथा परमुखपेक्षिता से बचाकर उसमें आत्म-बल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है।"

× × ×

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और मुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

(घ) प्रगतिशील साहित्य के समर्थक हैं—'सावधानी की आवश्यकता' में वे लिखते हैं--"एक प्रकार के हमारे युवक साहित्यकार ऐसे भी हैं जो बड़ी सावधानी से ऐसे चरित्रों का निर्माण कर रहे है जिनमें दुनिया को अपने आदर्श के अनुरूप ढाल देने का संकल्प है। मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़विज्ञान के तत्त्वद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है। मुझे इस श्रेणी के साहित्य में यह बात सबसे अच्छी लगती है।"

× × ×

"एक आदरणीय साहित्यिक ने मुझे अपना यह अनुमान बताया कि प्रगतिशील समझी जाने वाली नये लेखकों की रचनाओं में पचास फीसदी से अधिक कहानियों का विषय मानसिक विपथगामिता है। अपने आदरणीय साहित्यिक की बात मैंने ज्यों-की-त्यों स्वीकार नहीं कर ली। मैंने एक प्रगतिशील पत्र में प्रकाशित कुछ कहानियों की छानबीन की। मुझे यह घोषणा करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि उसकी अधिकांश प्रकाशित कहानियों से उक्त बात की पुष्टि नहीं होती। परन्तु अपने को प्रगतिवादी कहकर विज्ञापित नहीं करने वाले पत्रों की कहातियों में यह बात बहुत दूर तक ठीक है।"

❀ ❀ ❀

"तरुण साहित्यकार के लिये आज स्वर्ण-संयोग प्राप्त है। ऐसे ही स्वर्ण-अवसर पर रूस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया।"

(ङ) सामयिक साहित्य और सामाजिक आलोचना के मानों में द्विवेदी जी विश्वास रखते हैं—उनका कहना है कि शाश्वत कुछ नहीं। शाश्वत सत्य भी कुछ नहीं है। क्योंकि सत्य वही है जिससे मनुष्य का कल्याण हो, और चूँकि मनुष्य और संसार परिवर्तनशील हैं, इसलिये सत्य भी सामायिक होता है।

(च) साम्राज्यवाद या राजनैतिक पराधीनता के विरोधी—द्विवेदी साम्राज्यवाद के विरोधी हैं और एक प्रगतिशील व्यक्ति के नाते उनका निश्चित विश्वास है कि साम्राज्यवाद के समाप्त होने का युग आ गया है। जनता आज जाग उठी है। 'प्रायश्चित्त की घड़ी' में द्विवेदी जी लिखते हैं—"पाँच वर्षों के निरन्तर रक्तपात के बाद महायुद्ध समाप्त हो गया, पर नहीं, दुनिया में शान्ति नहीं आई। जिन राष्ट्रों के सिर पर दुश्मनों के पैर जमे हुए थे, वे धूल झाड़कर फिर विजयी राष्ट्रों के दल में आ खड़े हुए हैं और चौगुने उत्साह और निर्लज्जता के साथ पूर्व के राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षा को हमेशा के लिये कुचलने का प्रयत्न करने लगे हैं। राष्ट्रीय अपमान ने न इन्हें लज्जित किया है, न बुद्धिमान् बनाया है; परन्तु जनशक्ति निश्चित रूप से जाग गई है। क्या पूर्व में, क्या पश्चिम में, सर्वत्र जनता की शक्ति बढ़ी है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ हीनवीर्य बन गई हैं। इतिहास-विधाता की योजना उन बुद्धिमानों की योजना से बिल्कुल भिन्न

मालूम पड़ रही है जो जनशक्ति को दबाकर मनमानी करना चाहते हैं।"

(छ) साहित्य को राजनीति से पृथक् या उसका विरोधी नहीं मानते-'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में वे लिखते हैं--

"जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिये कुछ खास-खास विषय ही पढ़ने के हैं, वे बड़ी गलती करते हैं। आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नई प्रवृत्तियों से अपरिचित रह कर कुछ भी नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धिविलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नहीं रह सकता।"

(ज) अर्थ को या आर्थिक विषमता को वे सब समस्याओं का मूल मानते हैं-उनका विचार है कि नयी जागृति का अर्थ ही आर्थिक क्रान्ति है, बिना आर्थिक क्रान्ति के क्रान्ति व्यर्थ है। 'प्रायश्चित्त की घड़ी' में द्विवेदी जी लिखते हैं--

"निस्सन्देह यह जागृति धर्म और समाज-सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।"

(झ) जनवादी विचारों के हैं—द्विवेदी जी जनता को शक्ति का मूल स्रोत मानते हैं और राष्ट्रसत्ता जनता के हाथ में सौंप देने के वे समर्थक हैं। प्रगतिविरोधी लोगों पर व्यंग्य कसते हुए वे कहते हैं—

"हम लोग बहुत दिनों से जनता जनार्दन शब्द का व्यवहार करते आ रहे हैं, दीर्घकाल से बालिग मताधिकार की माँग पेश कर रहे हैं। समय आ रहा है, जब हमारी इन रटी बोलियों की परीक्षा होगी। क्या हम सचमुच इन दीन-हीन लोगों के हाथ में शासन-भार देने का साहस रखते हैं? क्या सचमुच हम इनके हाथ में समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति उसी प्रकार छोड़ देने को तैयार हैं जिस प्रकार भक्त अपना समूचा आपा जनार्दन को सौंप देता है? यदि नहीं तो हमने अज्ञानपूर्वक इन शब्दों का जप किया है। परीक्षा का दिन आ रहा है, हर ऊँची समझी जाने वाली जातियों के लिये शायद वह प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगान्तर के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा। इतिहास ने

जनता-जनार्दन के अपने रूपों का परिचय दिया है। परन्तु भावी जानर्दन का रूप शायद अपूर्व और अद्भुत होगा।

(ञ) मनुष्य को सबके ऊपर स्थान देते हैं—द्विवेदी जी धर्म, साहित्य, संस्कृति आदि सबके ऊपर मनुष्य को स्थान देते हैं, क्योंकि ये सभी चीजें मनुष्य के लिये हैं। 'नया वर्ष आ गया' में द्विवेदी जी अपने कथन के प्रमाण के लिये महाभारत (शान्तिपर्व २९९) से निम्नांकित पंक्ति उद्धृत करते हैं—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'

(तुम से यह गुप्त रहस्य की बात बताए जा रहा हूँ; मनुष्य से बढ़ कर कुछ भी नहीं है।)

इस प्रकार उपरोक्त विशेषताओं से जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदी जी मौलिक विचारों के महान् प्रगतिशील लेखक और एक देशभक्त व्यक्ति हैं तो यह निष्कर्ष तर्कपूर्ण होगा।

प्रश्न ३—द्विवेदी जी के जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए उनकी भाषा-शैली पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

उत्तर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०७ ई० में बलिया जिले के 'आरतदुबे का छपरा' नामक गाँव में हुआ। विद्या तो द्विवेदी जी को पैतृक सम्पत्ति में ही मिली।

द्विवेदी जी की आरम्भिक शिक्षा गांव में ही हुई। उच्च शिक्षा के लिये काशी-विश्वविद्यालय गए और वहाँ आपने संस्कृत की उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेजी में बी० ए० आप किन्हीं कारणों से न दे सके। ज्योतिष शास्त्र में आपकी विशेष रुचि है। आप इस विषय के धुरंधर विद्वान् हैं। 'अशोक के फूल' का 'भारतीय फलित ज्योतिष' निबन्ध इसका प्रमाण है।

शिक्षा समाप्त कर आप शान्ति-निकेतन चले गये और वहाँ कवीन्द्र रवीन्द्र के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। प्रतिभा और योग्यता के बल पर द्विवेदी जी शान्ति-निकेतन में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बन गये।

आचार्य क्षितिमोहन सेन का निकट सम्पर्क भी द्विवेदी जी को मिला और नाथ-पंथी या संतमार्गी साहित्य के अनुशीलन की प्रेरणा द्विवेदी जी को क्षिति-मोहन जी से मिली। आप उनका यह ऋण स्वीकार करते हैं।

द्विवेदी जी विज्ञापन से दूर रहने वाले एक साहित्यसेवी हैं। आप सन् १९-४७ में कराची में होने वाले हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं। (कराची में सभापति-पद से दिया गया उनका भाषण 'अशोक के फूल' में 'साहित्यकारों का दायित्व' नाम से संगृहीत है)

द्विवेदी जी हिन्दी के आज महान् लेखकों में गिने जाते हैं। मौलिक शैली में उन्होंने मौलिक साहित्य हिन्दी को दिया है। नाथपन्थ और संतमार्गी साहित्य पर आपका ज्ञान अद्वितीय है। आपकी प्रतिभा और शोधपूर्ण कार्यों से प्रभावित होकर लखनऊ विश्वविद्यालय ने आपको सन् १९४९ ई० में 'डाक्टर आफ लिट्रेचर' (डी० लिट्०) की उपाधि दी।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन आपको 'कबीर' नामक पुस्तक पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी दे चुका है। आजकल आप संसार प्रसिद्ध काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

आपके द्वारा लिखी हुई मौलिक पुस्तकें हैं – १. हिन्दी साहित्य की भूमिका, २. सूर-साहित्य, ३. कबीर, ४. अशोक के फूल, ५. हमारी साहित्यक समस्यायें, ६. बाणभट्ट की आत्मकथा, ७. नाथ सम्प्रदाय आदि।

भाषा-शैली—द्विवेदी की भाषा साधारणतः संस्कृतगर्भित कही जा सकती है। वस्तुतः बात यह है कि द्विवेदी जी शैली विषयानुकूल हो जाती है, फलतः कहीं-कहीं तो आपकी शैली छोटे वाक्यों वाली, साधारण हिन्दी-उर्दू शब्दों से युक्त मिलेगी और कहीं-कहीं अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ, समासबहुला भाषा, लम्बे-लम्बे वाक्यों की, जिसमें कहीं-कहीं तो एक वाक्य एक अनुच्छेद (पैरा) बनाता है। दोनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण देना असंगत न होगा।

छोटे वाक्य वाली शैली—"सारा देश आपका है। भेद और विरोध ऊपरी है। भीतर मनुष्य एक है। इस एक को दृढ़ता के साथ पहचानने का यत्न कीजिए। जो लोग भेद-भाव को पकड़ कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते है, वे गलती करते हैं।"

बड़े वाक्य वाली संस्कृतनिष्ठ एवं समासबहुला शैली– "एक बार कल्पना कीजिए, तरल तप्त धातुओं को प्रचंड समुद्र की, निरन्तर झरने वाले अग्निगर्भ मेघों की, और फिर कल्पना कीजिए, क्षुद्रकाय मनुष्य की ! विराट्-

ब्रह्माण्ड-निकाय कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त्त नृत्य, अनन्त शून्य में निरन्तर उद्भूयमान और विनाशमान नीहारिका पुंज विस्मयकारी हैं, पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य, जो नगण्य स्थानकाल में रहकर उनकी नाप-जोख करने निकल पड़ा है"

द्विवेदी जी की शैली में एक जो विचित्र मार्दव और ओज है, वह सहज ही उन्हें महान् लेखकों की पंक्ति में खड़ा कर देता है।

ओजगुण—"परन्तु मुझे यह भी मालूम है कि ऊँचे सिंहासनों तक इन साहित्यिकों की वाणी नहीं पहुँची है। शक्तिमद से मत्त लोगों ने इन चेतावनियों का उपहास किया है। हमारे देश के श्रेष्ठ साहित्यकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नानाभाव से यह सन्देश मदगर्वित राष्ट्रनायकों तक पहुँचाना चाहा, परन्तु सन्देश या तो सुना ही नहीं गया, या सुन कर भी उपेक्षित हुआ। मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि झूठी विद्वेषप्रचारिणी और विषैली बातों का जितनी तेजी से प्रचार किया गया है, निर्दयतापूर्वक इन शुभविधायी वाणियों की अवहेलना की गई है।"

× × ×

"अगर संसार को महानाश से बचाना है तो साहित्यिकों को विराट् प्रयत्न करने होंगे। इन बाधक तत्त्वों से जूझना होगा। यह मत सोचिए कि हम दुनिया के एक कोने में पड़े हुए ऐसी भाषा के साहित्यिक हैं, जो भारतवर्ष की चाहर-दीवारी के बाहर समझी ही नहीं जाती। इसलिए हमारे प्रयत्न से दुनिया की मदगर्वित राष्ट्रनीति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मैं कहना चाहता हूँ कि आज हम यह भूल जाँय कि हिन्दी दुर्बलों की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यन्त शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।"

इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी की शैली की एक विचित्र विशेषता है, उसका प्रश्नात्मक स्वर। द्विवेदी प्रश्नों की झड़ी लगाकर विषय को इतना मार्मिक बना देते हैं कि पाठक अभिभूत हो जाता है। शायद ही कोई लेखक अपने सुन्दर विश्लेषण में इतना प्रभाव उत्पन्न कर सके, जितना द्विवेदी जी अपने प्रश्नवाचक वाक्यों में करते हैं—

"मैं तो समझता हूँ: अभी इसने साहित्य का आरम्भ ही नहीं किया है

हिन्दी में कितने जनसमूहों के परिचायक ग्रन्थ हमने लिखे हैं ? इस विशाल मानव समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन, समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं ?"

द्विवेदी जी जब भावुकता में आते हैं तो कभी एक ही भाव के प्रकाशक अनेक शब्दों को लगाकर वाक्यों को बड़ा ही साररूप और मार्मिक बना देते हैं, कभी किसी वस्तु की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उससे निकृष्ट वस्तुओं के नाम वे गिनाते ही चले जाते हैं, जिससे उत्कृष्ट वस्तु का महत्त्व तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, साथ ही शैली मार्मिक और प्रवाहपूर्ण हो जाती है ।

"भारत के हजारों गाँवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई यह जनता ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है । उसका कल्याण ही साध्य है, बाकी सब कुछ साधन है—संस्कृत भी और फारसी भी, व्याकरण भी और छंद भी, साहित्य भी और विज्ञान भी, धर्म भी और ईमान भी ।"

× × ×

"अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था । बौद्ध धर्म को इस नए अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैवमार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त-साधना को झुका दिया । वज्रपात इसका सबूत है, कौलसाधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है ।"

व्यंग्य भी द्विवेदी जी की शैली की विशेषता है, द्विवेदी जी का व्यंग्य बड़ा ही गम्भीर, साहित्यिक और ईषत् हास्य से युक्त होता है । 'बुद्धिमान्' शब्द को लेकर शिष्ट व्यंग्य देखिए:—

"इतिहास-विधाता की योजना उन 'बुद्धिमानों' की योजना से बिलकुल भिन्न मालूम पड़ रही है, जो जनशक्ति को दबाकर मनमानी करना चाहते हैं ।"

"साधुमना', 'उद्धार' और 'सुधारक' शब्द पर व्यंग्य देखिए:—

'इस देश में बहुत से साधुमना व्यक्ति हैं, जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जायगा । बहुत से

लोग इनका छुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं।"

धार्मिक आन्दोलनों की निस्सारता पर व्यंग्य—

"भगवान् की सन्तान होने का उनका दावा पहले भी स्वीकृत हो चुका है, परन्तु उस दावे से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। नये सिरे से उस दावे के बल पर वे जातियाँ अधिक उन्नत और अग्रसर हो ही जाँयगी, ऐसा विश्वास करने का कोई उचित कारण नहीं है।"

ईषत् हास्य—"तीन-चार वर्ष से मैं एक नये मकान में रहने लगा हूँ। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ दिया है। यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक खतरे का समाधान होगा।"

मुहाविरे और कहावतों का प्रयोग लगता है द्विवेदी जी बहुत कम करते हैं। 'अशोक के फूल' नामक संग्रह में ढूँढने से दो एक-मुहाविरे या कहावतें मिलती है, जैसे—

"जले पर नमक तो यह कि एक तरंगित पत्र वाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा।"

"अच्छा समझिये या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे हम आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं।"

"जबकि हमारी नब्बे फीसदी जनता अज्ञान के मलवे के नीचे दबी हुई है, तब हमें मानना चाहिये कि अभी दिल्ली बहुत दूर है।"

लेकिन द्विवेदी जी की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे उन महान् लेखकों में हैं, जिनके वाक्य या सूक्तियाँ आगे चलकर कहावत का रूप धारण कर लेंगी। महान् लेखक मौलिक वस्तुओं का सृजन करते हैं, द्विवेदी जी की मौलिक सूक्तियाँ जिनमें लोकप्रिय होने के गुण हैं, यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

१. "स्वर्गीय वस्तुयें धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।"

२. "बौद्धिक वैराग्य ही मनुष्य को संस्कृत बनाता है।"

३. "काल्पनिक प्रेत को घूँसा मारना बुद्धिमानी का काम नहीं है।"

४. "सीधी लकीर खेंचना टेढ़ा काम है।"

५. "दाता महान् होने से दान महान् होता है।"

६. "बिजली की बत्ती मुँह से फूँक कर नहीं बुझाई जा सकती।" आदि आदि।

उद्धरण देना भी द्विवेदी जी की शैली की विशेषता है, अपनी बात के समर्थन के लिये ये प्राय: संस्कृत और जब कभी हिन्दी से उद्धरण देते हैं।

यद्यपि हिन्दी के उद्धरण संख्या में बहुत ही कम मिलते हैं।

शब्द भण्डार—द्विवेदी यद्यपि सामान्य: संस्कृतनिष्ठ शैली में ही लिखते है, तथापि उर्दू-अंग्रेजी शब्दों का वे निस्संकोच प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं तो वे वाक्य भी अंग्रेजी का लिख देते हैं।

द्विवेदी हिन्दी में देशी शब्दों का भी व्यवहार करते हैं जो खड़ी बोली में प्राय: कम चलते हैं और कुछ शब्द हिन्दी अंग्रेजी मिलाकर बना देते हैं—

घूमती-घामती, लूट-खसोट, नोच-खसोट, अटकलपच्चू, लुढ़कती-पुढ़कती, रीडरबार्जा आदि।

द्विवेदी जी बात समझाने के लिये अलंकारों का भी प्रयोग करते हैं, पर बहुत कम। द्विवेदी जी की शैली ओजगुण विशिष्ट, मार्मिक और प्रवाहयुक्त होती है। वाक्यों का विकास श्रृङ्खला की कड़ियों की भाँति होता है जो एक-दूसरे से गुंथा रहता है। शब्दाडम्बर की प्रवृत्ति द्विवेदी जी में नहीं मिलती। वे सरल से सरल शब्दों में बात को बड़ी सफाई से कह जाते हैं। द्विवेदी जी का लक्ष्य भाषा नहीं है, भाव है। अत: वे साधन के रूप में ही भाषा को समझते हैं। फल यह होता है कि जहाँ उनके निबन्ध सचमुच निबन्ध (बंधे हुये) होते हैं, वहाँ भाषा भी भावानुकूल हो जाती है। भाषा पर द्विवेदी जी का असाधारण अधिकार है। भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से आज उनकी टक्कर के अधिक लेखक हिन्दी में नहीं हैं।

—:❀ इति ❀:—

भट्ट निबन्धावली

ले०—(पं० बालकृष्ण भट्ट)

प्रश्न १—भारतेन्दु को छोड़कर पं बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के सर्वाधिक प्रतिभाशाली निबन्धकार हैं। विवेचना कीजिए।

या

पं० बालकृष्ण भट्ट की निबन्धगत विशेषताओं को दिखाते हुए निबन्ध साहित्य में इनका स्थान निश्चित कीजिए।

या

भट्ट निबन्धावली के आधार पर भट्ट जी की शैली पर एक शैली लिखिए।

या

भट्ट जी में यदि विषय की विविधता है तो कथन की विचित्रता भी समझाइए।

या

भट्ट जी की संक्षिप्त जीवनी लिखिए और उनके निबन्धों का वर्गीकरण कीजए।

नोट—उपरोक्त सभी प्रश्नों का उत्तार मूलत: एक है, अत: नीचे जो उत्तार दिया जा रहा है, उसमें ऊपर लिखे सभी प्रश्नों के उत्तार निहित हैं।

उत्तर—भट्ट जी का जन्म सवत् १९०१ में प्रयाग में हुआ था। भट्ट जी के पूर्वज मालव निवासी थे। भट्ट जी की उच्च शिक्षा का श्रेय उनकी विदुषी माँ को ही है। भट्ट जी ने यद्यपि अंग्रेजी में मैट्रिक तक ही शिक्षा पाई थी परन्तु उनका अंग्रेजी-ज्ञान गम्भीर था। वास्तव में भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। संस्कृत साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, कर्मकांड आदि सभी विषयों के भट्ट जी प्रकांड पण्डित थे। वेदान्त, सांख्य, पुराण, दर्शन आदि पर भी भट्ट जी का अद्भुत अधिकार था, किन्तु सचमुच यह हिन्दी के लिए एक गौरव का विषय था कि भट्ट जी संस्कृत के निष्णात विद्वान् होते हुए भी हिन्दी-भक्त थे।

हिन्दी में लिखने की रुचि तो भट्ट जी की बाल्यकाल से ही थी। अपने विद्यार्थी जीवन में निबन्ध-रचना और वाद-विवादों में भट्ट जी सदैव उत्साह-

पूर्वक भाग लेते थे। भट्ट जी का सर्वप्रथम निबन्ध भारतेन्दु जी की 'कवि वचन सुधा' नामक पत्रिका में सन् १८७२ ई० के लगभग 'कलिराज की सभा' नामक शीर्षक से छपा था। इसके बाद तो 'कविवचन-सुधा' में उनके कितने ही लेख 'रेल का विकट खेल', स्वर्ग में सलेक्ट कमेटी' आदि निकले। 'काशी पत्रिका', 'विहारबन्धु' आदि पात्रों में भट्ट जी के लेख निकले। भट्ट जी के लेखों की सर्वत्र बड़ी प्रशंसा हुई।

सन् १८७७ ई० में प्रयाग में कुछ हिन्दी प्रेमियों तथा विद्यार्थियों के सहयोग से 'हिन्दी प्रवर्द्धिनी' नामक सभा की स्थापना की गई। सभा की ओर से एक पत्र निकलने का आयोजन भी किया गया। कुछ चन्दा इकट्ठा करने के बाद भारतेन्दु जी के आग्रह से तुरन्त ही एक पत्र निकालने का निश्चय किया गया। भारतेन्दु जी के परामर्श में ही भट्ट जी को इस पत्र का सम्पादक बनाया गया। पत्र का नाम रखा गया 'हिन्दी प्रदीप'। पत्र का उद्देश्य निम्नांकित छन्द में स्पष्ट है जो स्वयं भारतेन्दु जी ने लिखा था :—

शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनन्द भरै।
बचि दुसह दुरजन वायुसौं मणिदीप सम थिर नहिं टरै॥
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब या में जरै।
हिन्दी प्रदीप प्रकाशि, मूरखतादि भारत तम हरै॥

सितम्बर सन् १८७७ से इस पत्र का निकलना आरम्भ हुआ

भारतेन्दु जी भट्ट जी के बड़े प्रशंसक थे, वे कहा करते थे—"हमारे बाद हिन्दी में भट्ट जी की लेखनी ही चमकेगी।" यह सच भी है, भारतेन्दु युग में भारतेन्दु को छोड़कर भट्ट जी की प्रतिभा का दूसरा लेखक नहीं है।

हिन्दी प्रदीप के निकलने के कुछ समय पश्चात् ही सरकार ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' पास किया जिससे डर कर सभी हिन्दी हितैषियों ने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अतः सारा भार भट्ट जी के ऊपर ही आ पड़ा और भट्ट जी ने जितने धैर्य के साथ एक युग तक उसे निभाया, वह वास्तव में आश्चर्य की बात है। उस काल के सभी प्रमुख लोगों का सहयोग भट्ट जी को प्राप्त था। कुछ के नाम ये हैं—पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीर

प्रसाद द्विवेदी, श्री राधामोहन गोकुल जी, बाबू सूर्यकुमार वर्मा, पं० मधुमङ्गल मिश्र, पं० हरिमङ्गल मिश्र, पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, बाबू जगमोहन वर्मा, श्री गणपति, जानकीराम दुबे, पं० अनन्तराम पाण्डेय, कविवर माधव शुक्ल इत्यादि।

भारतेन्दु युग के कुछ विख्यात व्यक्ति जिनसे भट्ट जी का निकट सम्पर्क था—पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० राधाचरण गोस्वामी, बाबू बालमुकन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० शिवनाथ मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० मदनमोहन मालवीय, बाबू गंगाप्रसाद गुप्त आदि।

भट्ट जी कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। 'हिन्दी प्रदीप' घाटे में चल रहा था। उसके दो सौ से अधिक नियमित ग्राहक नहीं थे। भट्ट जी को जो वेतन मिलता था वह सीधा प्रेस का बिल चुकाने में चला जाता था। घाटे में भी भट्ट जी हिन्दी की सेवा के लिये इस पत्र को लगातार ३२ वर्ष तक निकालते रहे। यह महान् आश्चर्य की बात है। भट्ट जी ने अपने जीवन में शायद ही कभी कोरे कागज पर लिखा हो। वे अपने सभी लेख विद्यार्थियों की उत्तर-पुस्तकों के एक ओर खाली पृष्ठ पर या फिर अखबारों के रैपरों पर लिखते थे। उनका सारा जीवन ही लक्ष्मी और सरस्वती की परस्पर प्रतिस्पर्धा का एक जीवित उदाहरण था।

अन्त में संवत् १९६७ (सन् १९१०) में सरकार ने उनके एक लेख पर पत्र से जमानत मांगी, यही नहीं एक सभा का सभापतित्व करने पर उन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोने पड़े। विवश होकर उन्हें 'हिन्दी प्रदीप' बन्द कर देना पड़ा। इसके पश्चात् कालाँ कांकर से निकलने वाले 'सम्राट्' के वे कुछ दिन सम्पादक रहे और 'कर्मयोगी', मर्यादा', 'सम्राट्' आदि में बराबर लेख लिखते रहे। फिर बाबू श्यामसुन्दरदास के बुलाने पर वे काशी चले गए और वहाँ वे नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' नामक बृहत् कोश के सम्पादन-कार्य में सहायता देते रहे। काम समाप्त होने पर दिसम्बर १९१३ में वे प्रयाग आये और यहीं १४ सितम्बर १९१४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

भट्ट साहित्य—भट्ट जी की लेखनी अविश्रान्त रूप से ३२ वर्ष तक चलती रही। उन्होंने कितना साहित्य इस बीच में लिखा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। उनके द्वारा लिखित सामग्री के विषय में उनके पौत्र श्री धनंजय भट्ट लिखते हैं—

'हिन्दी-प्रदीप' में उनके सैकड़ों, हजारों लेख छपे होंगे। संस्कृत के प्राचीन कवियों और ग्रन्थकारों के जीवन-चरित, श्रीमद्भागवत, वाराही संहिता, गीता और सप्तसती की आलोचनायें; षट् दर्शन संग्रह का भाषानुवाद आदि सब लिखकर उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। कविता सम्बन्धी अनोखी सूझ, उपयुक्त क्रिया, उपयुक्त विशेषण, अनोखी उपमा, नई घड़न्त कहावतों के नये अर्थ, संस्कृत की अनूठी उक्तियाँ, संस्कृत की लोकोक्तियां इत्यादि कितने ही अनुपम उपयोगी विषय लिख-लिख कर उन्होंने हिन्दी-प्रदीप में छापे। नाटक, उपन्यास, प्रहसन, नगर, नदी-पर्वतों का खोजपूर्ण अद्भुत वर्णन भी हिन्दी-प्रदीप में किया गया। नृपति चरितावली नामक लेखमाला में इस देश की छोटी-बड़ी रियासतों का हाल भी पूर्णतः छपा। हँसी-दिल्लगी-मौज की बातें भी न जाने कितनी छपती रहीं।

भट्ट जी के निबन्धों का वर्गीकरण और निबन्धकार के नाते उनका स्थान—भट्ट जी ने हजारों निबन्ध लिखे, न तो सब निबन्ध हमारे सामने हैं और न इतने अधिक निबन्धों का वर्गीकरण ही सरल है। फिर भी सुविधा के लिये व्यावहारिक शब्दों से उनके वर्गीकरण का प्रयत्न किया जा सकता है। भट्ट जी के निबन्धों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है—

१—विषयों की दृष्टि से २—शैली की दृष्टि से

विषयों का उन्हें कितना ज्ञान था और उस ज्ञान को क्या वे सफलता एवं मार्मिकतापूर्वक व्यक्त कर सके? उनके निबन्धकार के रूप में स्थान निर्धारित करने के लिये इन्हीं बातों के विवेचन की आवश्यकता है। मोटे रूप से हम भट्ट जी के निबन्धों को निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं—

१—देश-दशा सम्बन्धी निबन्ध।

२—समाज-सुधार सम्बन्धी निबन्ध।

३—हिन्दी भाषा सम्बन्धी निबन्ध।

इन्हीं तीन प्रकार के निबन्धों को निम्नांकित भागों में बाँटा जा सकता है—

१. साहित्यिक निबन्ध।

२. सामाजिक निबन्ध।

३. राजनैतिक निबन्ध।

४, धार्मिक निबन्ध।

५. फुटकर (विविध विषयों पर) निबन्ध।

६. भावों या मनोविकारों पर निबन्ध।

प्रस्तुत भट्ट निबंधावली के प्रथम भाग में उनके उपर्युक्त सभी प्रकार के निबन्ध तो नहीं हैं, पर जितने हैं वे भट्ट जी के विषयों एवं कला का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'उपमा' इस संग्रह का साहित्यिक निबन्ध है।

नाम में नई कल्पना, ढोल में पोल, दिल बहलाव के जुदे-जुदे तरीके, लोक-एषणा, पर चित्तानुरंजन आदि सामाजिक निबन्ध हैं।

राजनैतिक निबन्ध इसमें यद्यपि सम्पूर्ण रूप में कोई नहीं है किन्तु शायद ही कोई ऐसा निबन्ध है जिसमें राजनैतिक पराधीनता का चित्रण और उस पर व्यंग्य न हो।

संसार कभी एकसा नहीं रहा, ईश्वर भी क्या ठठोल है, एकान्त ज्ञान, जगत्प्रवाह आदि निबन्ध ऐसे हैं जिनका स्वर धार्मिक है। यद्यपि विशुद्ध रूप में धार्मिक निबन्ध इस संग्रह में नहीं है।

मनोविकारों या मनोभावों पर लिखे गये निबन्धों में रुचि, नीयत, विश्वास, विश्वास और तर्क आदि निबन्ध लिये जा सकते हैं।

शेष निबन्ध विविध विषयों या फुटकर निबन्धों के अन्तर्गत आ जायेंगे।

शैली की दृष्टि से निबन्धों को निम्नांकित भागों में बाँटा जा सकता है—

१. वर्णनात्मक निबन्ध।

२. विचारात्मक निबन्ध।

३. भावात्मक निबन्ध।

४. कथात्मक निबन्ध।

निबन्धों के इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक तो नहीं कहा जा सकता, हाँ, समग्रता के विचार से यह वर्गीकरण कुछ युक्तियुक्त है भी। बात यह है कि ऐसा भी निबन्ध हो सकता है जो वर्णनात्मक भी हो, भावात्मक, विचारात्मक और कथात्मक भी। भट्ट जी के कितने ही निबन्ध इस प्रकार के हैं जिन में इस वर्गीकरण के दो या तीन रूप मिश्रित हैं।

इस संग्रह के एकान्त ज्ञान, विश्वास, तर्क और विश्वास, पर चित्तानुरंजन आदि निबन्ध विचारात्मक निबन्धों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

मेला-ठेला, जवान, ढोल के भीतर पोल आदि वर्णनात्मक लेखों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

काल-चक्र का चक्कर, जगत् प्रवाह, संसार कभी एकसा न रहा, ईश्वर भी क्या ठठोल है ? आदि निवन्ध भावात्मक निबंधों के अंतर्गत लिये जा सकते हैं।

काल-चक्र का चक्कर, दिल बहलाव के जुदे-जुदे तरीके, उपदेशों की अलग-अलग बानगी, ढोल के भीतर पोल, कर्णामृत तथा कर्णकटु, प्रकृति के अनुसार जीवन-मरण; मेला-ठेला; इसमें फीकापन कब आता है, खटका आदि निबन्धों में कथात्मकता के तत्त्व हैं। इसलिये वे कथात्मक निबन्धों के अन्तर्गत जा सकते हैं।

भाषा शैली—बालकृष्ण भट्ट के पूर्व हिन्दी में तीन प्रसिद्ध लेखकों की तीन शैलियाँ प्रचलित थीं। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की उर्दू शब्दबहुला शैली, राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतशब्दबहुला शैली तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की बीच की शैली।

जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, भट्ट जी भारतेन्दु की शैली के ही अनुयायी कहे जायेंगे, यद्यपि उनकी शैली अपनी मौलिक शैली है। भट्ट जी की भाषा में क्लिष्ट उर्दू, फारसी, क्लिष्ट संस्कृत आदि का प्रयोग मिलता है। संस्कृत, उर्दू, पुरानी हिन्दी के उद्धरण भट्ट जी अत्यधिक देते हैं। इसलिये इनकी शैली को उद्धरण शैली कहना भी असङ्गत न होगा। भट्ट जी की भाषा में पूर्वीपन (इलाहाबादी बोली) का पुट अत्यधिक है और यह

स्वाभाविक है। जीवन भर इलाहबाद में रहने के कारण उस भाषा की छाप उनकी शैली पर स्वाभाविक है।

'उपदेशों की अलग-अलग बानकी' में जिस अस्सी बरस की बुढ़िया से उन्होंने उपदेश दिलाया है, वह ठेठ इलाहाबाद की ही लगती है। उसकी भाषा से ही पता लग जायगा। देखिए, बुढ़िया कह रही है—"बेटा! अब तुम सयाने भये, घर दुआर की फिकिर रखा करो, दुलहनियाँ की नथिया टूट गैहै, बतसिया का ब्याह निपरान है, सदा फक्कड़ बने रहने से काम न सरिहै। कपूत आवें तपत सपूत आवे नवत, भगवान् देखाई चार दिना में तुम नाती पोता के होईहै। झनाझन पटपट करते घर में पाँव न रखा करो, पानी भरी खाल कौन जानै आज का है, कल का हो। ऐसी चाल चलो; जेह में घर की हँसी न हो।"

'न जाने' स्थान पर भट्ट जी हमेशा 'न जानिए' का प्रयोग करते हैं। 'करना चाहते' की जगह 'किया चाहते' का प्रयोग भट्ट जी में मिलेगा और जहाँ हिन्दी में वाक्य को निरन्तर रखने के लिये 'कर' आदि का प्रयोग होता है, जैसे—'जाकर', 'आकर' वहाँ भी भट्ट जी 'जाय' 'आय' का ही प्रयोग करते हैं, निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"शिकारी जानवरों की तरह सभी इसे अपने कब्जे में लाय नष्ट-भ्रष्ट किया चाहते हैं और इन लूटेरों से बचने के लिये जो सिपाही विवेक इस के साथ कर दिया गया है, वह न जानिये किस अन्धे तहखाने में पड़ा-पड़ा सो रहा है।"

'करती है', 'जाती है' आदि के स्थान पर 'रहैं', 'करैं' आदि के प्रयोग भी भटट जी में मिलते हैं, यथा—

"कर्कशा अपढ़ स्त्रियों का दिल बहलाव लड़ाई है, घर-गृहस्थी के सब काम पिसौनी-कुटौनी से छुट्टी पाय जब तक दोन न किरं लें और आपस में झोंटा-झोंटी न करलें, तब तक कभी न अघाय, जी ऊबता रहे, चित्त में उदासी छाए रहै।"

भट्ट जी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली का रूप सामने रखती है; ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। भट्ट जी उस ओर अधिक ध्यान भी नहीं देते। उनके

सामने तो सबसे बड़ी समस्या भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाने की थी, इसलिये उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, पूर्वी बोली आदि के शब्द उनकी रचना में प्रचुर संख्या में मिलेंगे। भट्ट जी हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ा सके, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है।

उर्दू के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भट्ट जी ने खूब किया है, जैसे—

खफगान हो गया है, कुफ्र का कलमा कह रहा है, इख्तियार हासिल नहीं, होशहवास दुरुस्त हैं, अंगुश्त नुमाई कर सकता है, शाइस्तगी, नापसन्दीदा, दस लफ्ज का एक जुमला होगा, निर्खे कर सकेंगे, जरखरीद लौंडी हो, मजहब, काफियाबन्दी, कहीं-कहीं तो वाक्य के वाक्य उर्दू शैली के हैं:—

"बेशक तरद्दुद आ पड़ता है, जो हर तरह पर बलन्द समझे गए हैं, अकिल में बलन्द, शाइस्तगी और सभ्यता में बलन्द, ताकत में बलन्द, इतिफाक और एका में बलन्द, तब हौसला भी उनका बलन्द होना भी चाहिये।"

इसके अतिरिक्त नसूहत, कुन्देलनाराश, दुनियाफानी से खाना बाशद हो, पेशागोई और नबूअत, शैलानी खसलत।

अंग्रेजी शब्दों का भट्ट जी ने पर्याप्त प्रयोग किया है, कभी तो वे सीधे ही अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं और कहीं उन्हें कोष्ठक में लिख देते हैं—फाल्स बिलीफ, चियर्स, ऐजुकेशन, सोसाइटी, डिक्शनरी, नेचुरल डैथ, सोशल एनीमल, आर्टिस्ट। कहीं-कहीं तो वार्त्तालाप में भी अंग्रेजी पुट :—मिस्टर सो एण्ड सो। गुडमार्निङ्ग मिस्टर जान बुल! हाउ डू यू डू।' इसी प्रकार सेल्फ सेक्रीफाइस।

भट्ट जी की सबसे बड़ी विशेषता वास्तव में उनकी कहावतों और मुहाविरों का प्रयोग है। उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी सभी की कहावतों का उन्होंने प्रयोग किया है, इसी प्रकार भट्ट जी की शैली को हम उद्धरण शैली कह सकते हैं। उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत आदि के उद्धरण वे उन्मुक्त होकर देते हैं, भट्ट-साहित्य कहावत और मुहाविरों का अक्षय कोष है। यदि उन्हें छाँटकर अलग प्रकाशित किया जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाय।

मुहाविरों और कहावतों का जितना प्रयोग भारतेन्दु काल में मिलता है, हिन्दी में फिर दिखाई नहीं देता। हमारा विचार है कि भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति जितनी कहावतों और मुहावरों से बढ़ती है, उतनी किसी से नहीं। भारतेन्दु युग के लेखकों की रचना में जो मार्मिकता और सुन्दर व्यंजना देखते हैं, उसके मूल में मुहाविरे और कहावतें ही हैं।

अंग्रेजी कहावतें और मुहावरे:—

Eat drink and be merry this is the golden rule. Truth is truth.

Breakers of home can not be makers of nation. आदि।

संस्कृत कहावतें:—

१. बाबा वाक्यं प्रमाणम्।
२. स्तम्भेन नीवार इवावशिष्ट:।
३. अर्धमात्रालाघवेन वैयाकरणा: पुत्रोत्सवं मन्यन्ते।
४. भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थ एव।
५. यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयम्।
६. ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
७. विश्वास: फलदायक:।
८. नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
९. मुखमस्ति च वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी।
१०. अतीव रोषो कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य।
११. वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
१२. निद्रातुराणां न च भूमिशय्या।
१३. मूर्खपुत्रस्तु पण्डित: तृणवन्मन्यते जगत्।
१४. सर्वं हि महतां महत्।
१५. परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुन: पुन:।
१६. इदं हि ब्रह्माण्डं सकलभुवनाभोगभवनम्।
१७. प्राप्ते च षोडशे वर्षे शूकरी चाप्सरायते।
१८. पापी चिरायु: सुकृति: गतायु:।

१९. एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।
२०. जन्म नष्टं कुभार्यया ।
२१. लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ।
२२. फलं न किंचित् अशुभा समाप्तिः ।
२३. अग्रग्रासनसमये मक्षिकासन्निपातः ।
२४. मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती ।

हिन्दी कहावतें और मुहाविरेः—

१. जबरा मारै रोवै न दे ।
२. तुम कत बामन हम कत सूद, हमरे लौहू तो तुम्हरे दूध
३. ना बाप न भैया सब से बड़ा रुपैया ।
४. कौड़ी के तीन-तीन होंगे ।
५. बहती गंगा में हाथ धोना ।
६. वे लकीर के फकीर बने ही रहेंगे ।
७. सत की बांधी लक्ष्मी फिर मिलगी आइ ।
८. नीयत की बरकत ।
९. जीभ पर लगाम नहीं लगावेगा ।
१०. धोबी के घर धरमदास है वामनपूत मदारी ।
११. न ऊधो के देने न माधो के लेने ।
१२. काजी काहे दुबले शहर के अदेन्शे ।
१३. नाम लखनचन्द मुँह कुकरैं काटा ।
१४. बह-बह बहै बैलवा बैठे खाँय तुरंग ।
१५. दान-पुण्य को कौड़ी नाहीं शिव को टीको घोड़ा ।
१६. सुनै सबकी करे अपने मन की ।
१७. साँप मरै लाठी न टूटै ।
१८. भैंस के आगे बीन बाजे भैंस खड़ी पगुराय ।
१९ और को तूखरी सगुन बतावैं आप कुत्तों से चिथाये ।
२०. एक तौ तित लौकी दूजे नीम चढ़ी ।

उद्धरण—भट्ट जी की रचनाओं में सबसे अधिक उद्धरण संस्कृत के मिलेंगे हिन्दी कविताओं के उससे कम, उर्दू के उससे भी कम और अंग्रेजी के सबसे कम। संस्कृत के भट्ट जी द्वारा दिये गये उद्धरण असंख्य हैं, अतः कुछ उद्धार ही यहां दिये जाते हैं—

संस्कृत—

१. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।।

२. काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।

३. द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारामित्रं द्यूतेनैव ।
दत्तं भुक्तं द्यूतैनेव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ।।

४. न गणयति पराभवं कुतश्चित हरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ।।

५. यावज्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

६; अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ।।

७. आस्वाद्यस्य हि सर्वस्य जिह्वाग्रे क्षणसंगमः ।
कण्ठनाडीमतीतं च सर्वं कदशनं समम् ।।

८. तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितेन्द्रियकः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे ।।

९. पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते च पानीयम् ।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते च नादेयम् ।।

१०. क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
किंक्षणस्य कुतो विद्या किंकणस्य कुतो धनम् ।।

११. बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजबद्धः ।।

१२. ईदृशी राममायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ।

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्षमाणैव नश्यति ।

१३. पत्रपुष्पफललक्ष्मीः कदाप्यदृष्टं वृत्तं च खलु शूकैः ।
उपसपम भवन्तं वद बर्बुर कस्य लोभेन ।।

१४. पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणीतले ।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।।

१५. संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे ।
काव्यामृतरसास्वादः संगतिः सुजनैः सह ।।

हिन्दी—१. कागा काको मन हरै कोयल काको देय ।
मीठो वचन सुनाइ कै यश अपनो करि लेय ।।

२. डर न मरन विनय विधि यह भूत मिलैं निजवास ।
प्रियहित बापी मुकुर मग, वीजन अंगन अकास ।।

३. सूरदास की काली कामरि चढ़ै न दूजो रङ्ग ।

४. हम पंचन के वंश में कोई नहीं विद्वान् ।
भाँग पियें गाँजा पियें जय बोलें जिजमान ।।

५. जान को देत सुजान को देत अजान को देत सो तोहू कू दै है ।

६. लका निशिचर निकर निवासा ।
यहाँ कहाँ सज्जन कर वासा ।।

उर्दू-फारसी—

१. शराके बाब में हम को तो कुछ कलाम नही ।
शराब यार पिलावैं तो कुछ हराम नहीं ।।

२. इसलिए तस्वीर जाना मैंने खिचवाई नहीं ।
एक से जब दो हुए तो लुत्फ एकताई नहीं ।।

३. चेहल साल उमरे अजीत गुजस्त ।
मिजाजे तो अजहाल तिफली नगश्त ।

पाण्डित्य-प्रदर्शन या उद्धरण के लिये उद्धरण भट्ट जी देते हों, ऐसी बात नहीं है । किसी बात को अधिक स्पष्ट और उसे प्रमाणित करने के लिए ही

भट्ट जी उद्धरण देते हैं। दूसरी बात यह है कि अनजान में उनकी विद्वत्ता का स्पष्टीकरण भी उद्धरणों से हो जाता है। उद्धरणों की संख्या या कहावतो की सख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि भट्ट जी का संस्कृत भाषा का अध्ययन बड़ा ही गम्भीर था। एक बात यह भी है कि भारतेन्दु युग था ही उद्धरणों का युग। इसक अतिरिक्त हास्य और विनोद की बातें उद्धरणों के साथ अच्छी भी लगती हैं।

जहाँ तक भाषा-प्रेम का प्रश्न है हिन्दी से ही उन्हें सबसे अधिक प्रेम था, उर्दू के प्रति उनकी विरक्ति और हिन्दी के प्रति प्रेम निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा—"सर्वाङ्ग सुन्दर स्वच्छ हिन्दी को जलावतन, परेतिन की शक्ल जाल और फरेब से भरी हुई को पश्चिमोत्तर की अदालतों में स्थान-दान।"

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, भट्ट जी की तीन शैलियाँ मिलती हैं।

१. संस्कृत गर्भित २. साधारण हिन्दी ३. उर्दू-फारसी शब्द युक्त।

१. संस्कृत गर्भित—(जगत् प्रवाह से)

"सूर्यदेव के प्रतिदिन उदय और अस्त से आयुष्य घटती जाती है। कार्य के बोझ से लदे हुए अनेक व्यापार में व्याप्त, बार-बार जन्म लेना, बुढ़ापा आ जाना, अनेक प्रकार की विपत्ति और मरण देख किसी को त्रास नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पी कर सम्पूर्ण जगत उन्मत्त हो रहा है। इस तरह के महाप्रवाहपूर्ण भवसागर के पार होने का धैर्य एक मात्र उत्तम उपाय है। सच है 'धीरज धरै सो उतरै पारा'। और भी भारत के वन पर्व में इस जनम-मरन महानदी के प्रवाह का उत्तम रूपक दर्शाय धैर्य को एक उत्तम नौका रूप अवलम्ब निश्चित किया है। यथा—

कामलोभग्रहाकीर्णां पंचेन्द्रियजलां नदीम्।
नाव धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर॥

२. साधारण हिन्दी—(ईश्वर भी क्या ठठोल है, से)

—"जिस कसौटी, परिभाषा और सूत्र के अनुसार हम लोग आपस में एक-दूसरे को जाँचते और परखते हैं, वही परिभाषा हम वहाँ भी लगाय उसे परखें, तो उनकी ईश्वरता की सब कलई खुल जाय और दुनिया की हालत

देख अवश्य चित्त में यही समाय कि वह कोई बड़ा ही अनोखा खेलवाड़ी है। सब भांति स्वतंत्र आप एक बड़ा नटनागर बना बैठा है और इस संसार को एक नाट्यशाला की रंगभूमि बनाय, जैसा चाहता है वैसा खेल खेला करता है।"

साधारण हिन्दी लिखते समय भट्ट जी की शैली पर स्थानीय (इलाहाबादी) भाषा की स्पष्ट छाप रहती है, अनेक शब्द उनकी रचनाओं में ऐसे आते हैं जो खड़ी बोली में प्रचलित नहीं हैं, जैसे—

खेलवाड़ी, लड़काई, जून, चिऊटियाँ, ढोअन, झोंझट, झोंटाझोंटी, पिसौनी, कुटौनी, जीउवियाउ, अकलाई, जीट उड़ावें, गाटे का गाटा, गंजिया, साहुत, गावली, आकिल, अजोरन, पागुर, टटका, निपरान, खोड़ ही जपपल, जेह में, हौइहौं, ठिकरी, उकताती, गदहपचीसीडांक, हलाकान, आजादगी, थहाया, उजागर, गन्धाता, भावता, कटहा, बरकाया लुचई, सकील, बसोंधी, आसूदा, ढाबली. वित्त, फुचड़ा, रोचना, जन्त्रा छुवाव, मुहासे, अघाने, कांखते. जुड़ाती, सौंत, नाँघते, डांकते, दगीली, बिलमाये, जर्रारी, बर्रारी, चटुआ, तसमा, टांकेटूक दरसा चुक हैं, डाँयडाँय धूमते हैं, आदि।

उर्दू शब्दबहुला शैली—"... बेशक तरद्दुद आ पड़ता है, जो हर तरह पर बलद समझे गये हैं, अकिल में बलंद, शाइस्तगी और सभ्यता में बलंद, ताकत में बलंद, इत्तिफाक और एका में बलंद, तवियतदारी में, फैशन की छिलावट में, ऊँची ईमानदारी में बलंद, तब हौसिला भी उनका बलंद होना ही चाहिये।"

उपरोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है कि भट्ट जी भाषा की शुद्धता पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। उनके सामने तो हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाने का प्रश्न था, जो उचित ही था। भाषा या साहित्य में परिष्कार तो बहुत कुछ लिख जाने के बाद होता है, भट्ट जी के युग में परिष्कार से अधिक साहित्य की ही आवश्यकता थी। इसलिये समय की माँग के अनुसार उन्होंने साहित्य लिखा।

व्यंग्य, अन्योक्ति एवं हास्य की भावना इस काल के सभी लेखकों की विशेषता है। विशेषकर भट्ट जी का यह व्यंग्य सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक

किसी प्रकार का भी हो सकता है। इन व्यंग्यों एवं हास्य-वाक्यों के पीछे लेखक का सुधारक रूप छिपा रहता है।

यमक अलङ्कार के द्वारा हास्य सृष्टि:—('नाम में न कई कल्पना' से) "मारवाड़ी और दिल्ली-आगरा के खत्रियों के नाम में बहुधा मल लगा रहता है, जिसके नाम में मल है तो काम में कहाँ तक मल न होगा ?"

तथा

"भक्ति की भावना ने भी हम लोगों के नामों की खूब ही खाक उड़ाई है। अपने इष्टदेव के नाम के अन्त में दीन या दास का पद लगा दिया जाता है। न जानिये किस जून कैसी सरस्वती मुख से निकल पड़ती है, कहते-कहते दीन और दास हो ही तो गये। काम में दास तो नाम में क्यों न हो ?"

नामों को लेकर हास्य—"कितने मुअन्नस (नपुंसक) नाम न जानिये किस उसूल पर रखे जाते हैं, न नर न मादा, जैसे—राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशंकर इत्यादि।"

हाजत शब्द को लेकर हास्य—('इसमें फीकापन कब आता है' से) वर्षों तक दिनों-रात पढ़ते-पढ़ते आँखें कमजोर पड़ गईं, चश्मे की हाजत हो गई।

राजनैतिक व्यंग्य—('बड़ों के हौसले' से) विलायत वाले एक लाख की पूँजी से जब तक दस लाख का कोई काम न करें उनका हौसला बुझता ही नहीं। इङ्गलैण्ड, अमरीका, हिन्दुस्तान, चीन सबको एक किये हैं, किसी एक काम में कुछ थोड़ा सा नुकसान सहना पड़ा तो दूसरे में एक का बीस गुनाकर मालामाल हो गये। कम हिम्मती की निशानी ब्याज का घाटा हमारे समान विलायत वाले भी देखते तो इङ्गलैण्ड आज दिन तरक्की के जिस ओर-छोर को पहुँचा हुआ है, कभी न पहुँचता। लक्ष्मी सब ओर से सिमिट-सिमिट जो विलायत को अपनी वासभूमि कर रही है, काहे को कभी करती।

तथा

(विशाल वाटिका से-अन्योक्ति रूप में) भारत रूपी वाटिका में अँग्रेजी के प्रवेश से क्या हुआ :—

"इन आगन्तुकों में अमित असीम महोर्मिमाली वरुणालय को नाँघते-डाँकते एक ऐसे आये जो अपनी काल-व्याल सी भीषण विकराल दृष्टि के पात से

उस बूढ़े बागवान को संक्रामित करते नस-नस उसकी ढीली कर डाली। भोलाभाला बागवान इसी ख्याल में था कि यह भी हमारी मनोहर वाटिका पर रीझ यहाँ बस हमारा एक अंग बन जायेगा। किन्तु यह नया पाहुना ऐसा चालाक निकला कि इसने उस समस्त वाटिका को तिल-तिल नाप-जोख, बात की बात में अपना अधिकार उस पर जमा लिया और सरल चित्त बाग के माली को सब ओर से ऐसा जकड़ दिया कि अब यह इस नये पाहुने के पेंच में पड़ा हुआ सब भाँति बेबस हो गया और कुछ समझ रखा था कि थोड़े दिन के और जुल्म के बाद या तो यह चला जायगा या बस जायगा, तो औरों की भाँति यह भी हमारा होकर ही रहेगा, सो सब बात उल्टी पड़ी। यह पाहुना चालाकी में एकता निकला। पहले वालों की सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन-शक्ति को भी खूब टटोल लिया था। इसने अपनी जन्मभूमि का संबंध न छोड़ा वरन् जहाँ जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया, अपनी मातृभूमि में भेजना आरम्भ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को निःसत्व कर डाला।"

धार्मिक व्यंग्य—पादरी साहब पर–(उपदेशों की अलग-अलग बानगी से) "पादरी साहब बाजार में खड़े होकर उपदेश देते हैं—प्रभो· ईसा की सरन गहो, वह तुम सबों की पाप की गठरी का हम्माल बन सूली पर चढ़ गया, न कुछ दान का काम, न तपस्या की जरूरत, न बड़े-बड़े संयम नियम से शरीर सुखाने की आवश्यकता है, उम्दा से उम्दा शराब पिया करो, कहीं से कसर न होने पावे, सिर्फ ईसा पर ईमान लाओ, मुक्ति तुम्हारी दासी और किंकरी होगी।"

इसी प्रकार अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। गरीबी, ईश्वर, आधुनिक शिक्षा, नयी सभ्यता, धार्मिक पाखण्ड; नेताओं, पुजारियों आदि पर ढेरों व्यंग्य मिलेंगे। भट्ट जी का निबंध-साहित्य तो मधुर व्यंग्यों का अक्षय कोष है।

भाषा में चित्रात्मकता—('दिल बहलाव के जुदा-जुदा तरीके' से)

शब्द-चित्र खींच देने की भट्ट जी में अद्भुत प्रतिभा है। देखिये–"दो चार पुराने समय के खवीस इकट्ठे हो, तमाखू पिच-पिच थूकते जाते हैं और सौ वर्ष का पुराना कोई जिक्र छेड़ बैठा।"

तथा

"कर्कशा अपढ़ स्त्रियाँ.....घर-गृहस्थी के सब काम पिसौनी-कुटौनी से छुट्टी पाय जब तक दाँत न निर्रलें, झोंटा-झोंटी न कर लें तब तक कभी न अघाय।"

और कहीं-कहीं तो भट्ट जी की भाषा इतनी मधुर, व्यंजक और मार्मिक है कि काव्य का सा आनन्द आने लगता है, जैसे (कर्णामृत तथा कर्ण कटु से)—"कर्णामृत जैसे छोटे बालकों की तोतरी बोल, प्रेमपात्र का प्रेमालाप जिसके आगे कोकिलाओं का कुहूनाद भी फीका मालूम होता है, और भी वर्षा के आरम्भ में चातक को पीहो-पीहो, भोर होते ही पंचम स्वर की लय में वृक्षों पर चिड़ियों की चहचहाट...पति परदेश गया है, साध्वी पतिव्रता, तनछीन, मन मलीन। बड़े लोगों की लाज से अपने मन के भावों को छिपाती किसी तरह दिन काट रही है। अकस्मात् एक दिन डाकिये ने आइ एक पत्री दिया जिसमें प्राणनाथ के एक ही दो दिन में आने का शुभ समाचार दिया है, कर्णरसाइन उन अक्षरों को सुन पति के वियोग में ग्रीष्म के सूर्य के खरतर ताप से तपी लता सी एक बारगी लह-लही हो उठी।"

भट्ट जी के अधिकांश निबन्ध आत्मव्यंजक है, विषय-प्रधान कम क्योंकि वे जो कुछ कहते हैं उसका सम्बन्ध विषय से कम उनके अपने दृष्टिकोण से अधिक है।

विषय की विविधता, शैली की प्रौढ़ता और कथन की विचित्रता में हिन्दी के बहुत कम लेखक भट्ट जी से प्रतिद्वंद्विता कर सकेंगे। भट्ट जी के युग और भट्ट जी के कार्य को देखते हुए भट्ट जी प्रशंसा के पात्र तो है ही, साथ ही वे महान् व्यक्ति और महानतर साहित्यिकार हैं। इतनी विषम परिस्थितियों में इतनी उच्चकोटि की अनवरत साहित्य-साधना वे ही कर सकते थे। जीवन की किसी दिशा, किसी क्षेत्र और किसी अंग को उन्होंने अधूरा नहीं छोड़ा है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, पाखंडों का भंडा-फोड़ उन्होंने जिस व्यंग्यपूर्ण और चुभने वाली भाषा में किया है, वह सचमुच अद्वितीय है। भट्ट जी शताब्दियों में उत्पन्न होने वाले साहित्यकार हैं। उनका व्यक्तित्व तो इतना

विशाल है कि बड़े से बड़ा साहित्यकार भी उनके समक्ष बौना ही लगेगा। निबन्धकार, कवि, आलोचक, उपन्यासकार, एकांकीकार, नाटककार सम्पादक, समाज-सुधारक, अध्यापक भट्ट जी क्या नहीं थे। भट्ट जी ने जिस युग में जितनी और जैसी साहित्य साधना की है, वही उनकी महानता का उज्ज्वल प्रमाण पत्र है। अंग्रेजों और उनकी सभ्यता को तो भट्ट जी ने इतना कचोटा है, इतनी खरी सुनाई है कि उनकी निर्भीकता को देखकर आश्चर्य भी होता है और श्रद्धा भी। देशभक्ति की भावना तो उनके साहित्य की पृष्ठभूमि है। देशभक्ति की इसी भावना के परिणामस्वरूप 'हिन्दी-प्रदीप' बन्द हुआ और उनकी नौकरी भी छूटी; पर इस मनीषी का धैर्य न छूटा और हिन्दी का प्रदीप जो इस महापुरुष ने ३२ वर्ष जलाए रखा वह हिन्दी जगत् को शताब्दियों क्या सहस्राब्दियों तक प्रकाशित रखेगा।

भट्ट जी का साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया था। 'हिन्दी-प्रदीप' की दुर्लभ फाइलें सबको प्राप्त भी नहीं थीं, किन्तु इधर इनका जो साहित्य प्रकाशित हुआ है उससे उनके महान् व्यक्तित्व का परिचय हिन्दी जगत् ने पाया है। भट्ट जी अपने ढंग के अद्वितीय निबन्धकार है और वे हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी के निबन्धकारों में स्थान ग्रहण करने के अधिकारी है।

कर्म-भूमि

प्रश्न १—कर्म-भूमि उपन्यास का कथानक संक्षेप में लिखिये ?

उत्तर—कर्म-भूमि की कथा स्कूल के मैत्री जीवन से आरम्भ होती है। नगर के धनी सेठ समरकान्त का मातृहीन बालक अमरकान्त समृद्ध परिवार में जन्म लेने पर भी पिता की कंजूसी के कारण यथेष्ट शिक्षा-लाभ नहीं कर पाता। उस समय उसका मित्र सलीम उसके सुख-दुःख का साथी होता है। अमरकान्त के एक सौतेली बहिन नैना भी थी। यदि घर में कोई भी उसके दुःखी जीवन में शान्ति की धारा बहा सकती थी तो वह नैना ही थी। समरकान्त ने सम्पत्ति के प्रलोभन में फँसकर सुखदा नामक युवति से अमरकान्त का विवाह कर दिया। सुखदा विलास-पूर्ण वातावरण में पली युवति थी और अमरकान्त रहा था स्नेह से भी वंचित। अत: दोनों का संयोग जल और बालु का संयोग था। अमरकान्त सम्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। सुखदा श्वसुर के विचारों की समर्थक थी। अतः पति और पत्नी का हृदय मेल न खाता था।

इन्हीं दिनों में अमरकान्त सलीम और डा० शान्तिकुमार के साथ देहाती जीवन का अध्ययन करने गये। वहाँ एक गोरे द्वारा एक ग्रामीण महिला पर बलात्कार की घटना से उनके हृदय में भारत की पराधीनता को दूर करने की भावना उत्पन्न हुई और वह सभा-सोसाइटियों में वक्तृता देने लगा। समरकान्त और सुखदा को अमर की ये बातें रूचिकर नहीं थीं।

सुखदा की माँ रेणुका देवी भी इन्हीं दिनों में काशी में आकर रहने लगी थीं। उनका अमरकान्त पर बड़ा स्नेह था। सास के स्नेह से पत्नी की ओर भी अमर का कुछ झुकाव हुआ। अमर को ज्ञात हुआ कि सुखदा गर्भवती है। अत: वह उसे प्रसन्न करने की चेष्टा से दुकान पर बैठने लगा। लेकिन जब दुकान पर काले खाँ नामक चोर एक सोने का आभूषण लाकर उसे बेचने लगा तो अमरकान्त को उस व्यवसाय से घृणा हो गई। वह मन ही मन पिता के

धन-संचय की कटु आलोचना करने लगा। इतने में ही एक वृद्धा अपनी मासिक तलब लेने के लिये आई। अमर को उस वृद्धा पर दया आई। उसने वृद्धा को तलब भी दी और वह उसके घर तक उसे पहुँचाने भी गया। वहाँ युवति-पुत्री सकीना से उसका परिचय हुआ। उसके कढ़े हुए रूमालों को उसने लिया और बेचने के लिये ले आया।

जब समरकान्त को काले खाँ को लौटाने वाली घटना का पता चला, तो वे अमर पर बड़े क्रोधित हुए। सुखदा का कोप भी अमर पर हुआ, फलतः अमर पुनः दुकान पर जा बैठा। इतने में ही दो गोरे एक मेम के साथ एक आभूषण बेचने आये। वह दुकान से उतर कर ताँगे पर चढ़ने ही वाले थे कि एक पगली ने दोनों गोरों को मार दिया, मेम ने दुकान में छिप कर जान बचाई। पगली पकड़ी गई। लेकिन जब यह ज्ञात हुआ कि पगली ने अपने सतीत्व को नष्ट करने का यह बदला लिया है तो जनता की पूरी सहानुभूति पगली को प्राप्त हो गई। जनता ने चन्दा करके उसकी पैरवी करना आरम्भ किया। अमर, सलीम, डा० शान्तिकुमार सभी ने उसे छुड़ाने के लिये कठिन परिश्रम किया। सुखदा, रेणुका और सकीना आदि की भी सहानुभूति उसे प्राप्त हुई। इसी बीच में अमर और सकीना का परिचय प्रेम में बदल चुका था। जिस दिन निर्णय सुनाया जाने वाला था, उस दिन अमर पुत्र-जन्मोत्सव के कारण न आ सका। पगली मुन्नी मुक्त हुई और अपने को पतिता समझ कर पति के साथ न जाकर अज्ञात स्थान को चली गई।

समरकान्त और अमरकान्त के बीच की खाई और भी चौड़ी होती गई। फलतः अमर के म्युनिसिपल सदस्य चुने जाने पर वह विभेद इतना बढ़ गया कि अमर को अलग घर बसाना पड़ा। सुखदा अध्यापिका हो गई और अमर बकुचा लाद कर कपड़ा बेचने लगा। यद्यपि उसकी दैनिक चर्या चलने लगी थी किन्तु घर में सुखदा का प्रेम वह न पा सका। प्रेम की परितृप्ति के लिये वह सकीना के यहाँ जाने लगा। एक दिन रात्रि के समय जब वह सकीना के यहाँ गया तो उसे ज्ञात हुआ कि सकीना नंगी होकर अपने गीले कपड़ों को सुखा रही थी। उसकी करुणा उमड़ पड़ी, पर वह चाहने पर भी उसकी सहायता न कर सका।

समरकान्त की अस्वस्थता ने सुखदा को पुनः अपने घर आने के लिये विवश किया, किन्तु अमर अपने मन का सन्तोष न पा सका। उसे सकीना में ही प्रेम का रस मिलता था, जिस को वह अपने मित्र सलीम से न छिपा सका। एक दिन जब वह एकांत में प्रेमावेश के कारण सकीना से आलिंगन करने ही वाला था कि पठानिन आ गई और उसने अमर को बुरी तरह अपमानित किया। सकीना को यह बहुत बुरा लगा। इसी घटना के कुछ दिनों बाद अमर काशी छोड़ कर हरिद्वार के समीप एक गाँव में रहने लगा।

अमर ने अछूतों के उस गाँव में सुधार का बीज बोया। पाठशाला की स्थापना की, स्वच्छता का पाठ पढ़ाया और यहीं उसकी भेंट मुन्नी से हुई जो मुक्त होकर यहीं अपना जीवन बिता रही थी। मुन्नी की सहायता से अमर ने मांस, मदिरा आदि की बुरी आदतों से गाँव वालों को मुक्त करने का प्रयत्न किया। उसी समय गाँव में पैदावार कम हुई और भाव मन्दे हो गये। परिणाम यह हुआ कि किसान पूरा लगान न दे सके। वहाँ के जमींदार एक महन्त थे। जिनके राजसी ठाठ थे। उसके कारिन्दे किसानों पर अत्याचार करने लगे। इन्हीं दिनों स्वामी ब्रह्मानन्द भी वहाँ पहुँच गये और वे क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करके किसानों को भड़काने लगे। किन्तु अमर शान्ति के मार्ग को अपनाना चाहता था। बड़े प्रयत्न के बाद महन्त जी से मिलने में सफल हुआ। महन्त जी ने उसे आश्वासन दिया कि अब जनता के साथ अत्याचार न होगा, लेकिन वह आश्वासन कोरा आश्वासन ही रहा।

इधर नगर में अमर के जाने के बाद सुखदा और सकीना दोनों विरहिणी हो गईं। सुखदा का आत्म-सम्मान जगा और वह अमर को भुलाने की चेष्टा करने लगी और सकीना उसके वियोग में जलने लगी। लाला समरकान्त भी उदासीन रहने लगे और उनकी रुचि धर्म के कार्यों की ओर हुई, उन्होंने एक कथा का आयोजन किया। किन्तु एक दिन एक अछूत को कथा में बैठे देखकर उसकी पिटाई कर दी गई। डा० शान्तिकुमार को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने अछूतों का अलग संगठन बनाया और उन्हें मन्दिर-प्रवेश के लिये प्रोत्साहित किया। ये लोग आगे बढ़े, लाठी चली, कई हताहत हुए। अन्त में

सुखदा के नेतृत्व से उन्हें मन्दिर-प्रवेश का अधिकार मिला। सुखदा नगर की श्रद्धा का पात्र बन गई।

अमर की बहिन नैना का विवाह नगर के सबसे बड़े सेठ मनीराम के पुत्र धनीराम से सम्पन्न हो गया। इस विवाह से नैना को सुख प्राप्त नहीं हुआ। एक दिन सुखदा सकीना से मिलने गई। सकीना ने अपना हृदय खोलकर सुखदा के सामने रख दिया और अमर की पावनता की साक्षी दी। सुखदा वहाँ से पराजित होकर नैना से मिलने गई किन्तु वहाँ पर भी उसे नैना के पति धनीराम से अपमानित होना पड़ा। उसका हृदय क्रोध से जल उठा और उसके हृदय में बदला लेने की भावना उत्पन्न हुई।

नगर में कुछ भूमि ऐसी पड़ी थी जिसे म्यूनिसिपल कमेटी ने थोड़ा सा मुआवजा देकर किसानों से प्राप्त किया था और अब उसमें सेठ मनीराम जैसे लोगों की कोठियाँ बनने वाली थीं। दूसरी ओर दीन मजदूर नालों के किनारे सड़ी-गली झोंपड़ियों में रह रहे थे। सुखदा ने उन्हें जगाने की चेष्टा की और म्यूनिसिपल कमेटी से उस स्थान पर गरीबों के लिए स्वच्छ हवादार मकान बनवाने की प्रार्थना की। किन्तु म्युनिसिपल कमेटी के सदस्य ने उस प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया। परिणामस्वरूप हड़ताल आदि की शरण लेनी पड़ी। सुखदा ने दीन जनता का नेतृत्व किया। उसे बन्दी बना कर कारावास भेज दिया गया।

नगर में एक ओर सुखदा द्वारा इस आन्दोलन का संचालन हो रहा था। दूसरी ओर डा० शान्तिकुमार अपने अध्यापक पद से त्याग-पत्र देकर 'सेवाश्रम' के संचालन में लीन हो गये। इस आश्रम को रेणुका देवी की आर्थिक तथा सुखदा की क्रियात्मक सहायता प्राप्त थी। उधर सलीम आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उसी क्षेत्र में नियुक्त हो गया था जहाँ अमरनाथ रहता था।

अमरनाथ को नगर की सारी घटनाओं का समाचार नैना और सलीम के पत्रों से मिलता रहता था। उसे 'सकीना' की अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा पर दुःख होता था और सुखदा की सेवा-भावना और त्याग का समाचार जानकर उसे उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगी। जब अमरनाथ को सलीम की नियुक्ति

का समाचार मिला तो उसने मिल कर शान्ति से समस्या को सुलझाना चाहा। वह सलीम और फिर उसके द्वारा जिला के प्रधान अफसर गजनवी से मिला। उसे समस्या सुलझने की आशा भी हुई, लेकिन महन्त जी के अत्याचारों से विवश होकर आन्दोलन को फिर चालू करना पड़ा। सलीम द्वारा अमरकान्त गिरफ्तार कर लिये गये। तभी सुखदा के गिरफ्तार होने के अनन्तर सेठ समरकान्त भी नगर छोड़ कर गाँव आ गये और जनता का नेतृत्व करने लगे। सलीम उन पर हण्टर छोड़ने ही वाला था कि उसे उनको पहचान कर बड़ा दुःख हुआ। उसने जनता का पक्ष समर्थन करते हुए रिपोर्ट दी। सात दिन के बाद उसें कार्यभार से मुक्त कर दिया गया। वह ही किसानों का नेता बन गया। क्रमशः समरकान्त, सलीम, ब्रह्मदत्त और मुन्नी आदि बन्दी बना लिए गये। अमर की भेंट जेल में कालेखां से भी हुई। कालेखाँ नमाज पढ़ते समय जेलर आदि की चोटों से मार डाला गया।

उधर नगर में सुखदा की गिरफ्तारी के बाद डा० शान्तिकुमार ने आन्दोलन का नेतृत्व किया। उनके बाद क्रमशः रेणुकादेवी और पठानिन भी बन्दी हो गईं। अब नैना ने नेतृत्व संभाला और वह जनता के आगे-आगे म्युनिसिपल भवन की ओर चली। पुलिस कप्तान ने भीड़ को तितर-वितर करने के लिए गोली चलाने की आज्ञा चाही। इतने में ही धनीराम ने नैना को पिस्तौल से शूट कर दिया। उत्तेजित भीड़ लाश को लेकर म्युनिसिपल भवन की तरफ बढ़ी। जब लाला मनीराम को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। म्युनिसिपल कमेटी ने जनता की माँगें स्वीकार कर लीं। बन्दियों को मुक्त करने का आदेश हुआ।

जेल में अमर और सलीम महिला वार्ड की पुताई के लिए सफेदी लेकर पहुँचे। वहाँ मुन्नी, रेणुकादेवी और सुखदा से भेंट हुई। अमर ने सुखदा से क्षमा माँगी।

देहाती आन्दोलन भी सफल हुआ। समस्या सुलझाने के लिए पाँच आदमियों की कमेटी बनी। जिसमें अमर और सलीम सदस्य बने। सभी बन्दी मुक्त हो गये। सलीम और सकीना का विवाह हो गया। इस प्रकार उपन्यास की संघर्षमयी कथा का सुखद अन्त हुआ।

प्रश्न ३—औपन्यासिक तत्त्वों के आधार पर 'कर्मभूमि' उपन्यास की आलोचना कीजिये ?

उत्तर—'कर्मभूमि' प्रेमचन्द के सुन्दर उपन्यासों में से है। वह यह प्रकट करता है कि जीवन कर्मक्षेत्र है जिसमें सफलता प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। कृष्ण ने गीता में जिस कर्मयोग का उपदेश देकर अर्जुन को अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिये प्रेरित किया था, वही कर्मयोग कर्मभूमि में आधुनिक रूप धारण करके अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देने के लिये प्रस्फुटित हुआ है।

कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने कितनी ही समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। लेकिन उसकी मूलभूत समस्या विदेशी सत्ता को समूल नष्ट करना है जिसका उदय अमरनाथ के हृदय में गोरों के द्वारा एक युवति पर किये गये बलात्कार की घटना से होता है। लेकिन यह समस्या अन्य समस्याओं के उभर आने के कारण प्रच्छन्न रह गई है। पर वे समस्यायें जिनको प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में प्रमुख स्थान दिया है, इसी समस्या के कारण हैं। अतः प्रच्छन्न होने पर भी भारत की पराधीनता की समस्या प्रमुख है।

कर्मभूमि के लेखक ने सर्वप्रथम जिस प्रमुख समस्या को हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह है अछूतों की समस्या। नगर के उच्चवर्गीय व्यक्ति अछूतों को इतना गर्हित समझते हैं कि उन्हें कथा आदि धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं, वे मन्दिरों में प्रवेश नहीं पा सकते। इस समस्या को उन्होंने महात्मा गाँधी के सत्याग्रह द्वारा हल कराया है। कितने ही बलिदानों के बाद अछूतों को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है। देहातों में इसी समस्या को अमर ने सुलझाया है। किस प्रकार अमर अछूतों में हिल-मिल कर रहता है तथा उनके जीवन को उन्नत करने की चेष्टा करता है।

कर्मभूमि पर महात्मा गाँधी के असहयोग का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी अस्त्र के द्वारा कर्मभूमि में किसानों की समस्या का हाल प्रस्तुत किया गया है।

लगान के विरोध में किया गया किसानों का आन्दोलन पटेल के बारदोली-आन्दोलन का स्मरण दिलाता है। लेखक ने गाँवों के आर्थिक पहलू का भी अच्छा अध्ययन किया है और सामन्ती रीति-नीति को साम्राज्यवाद का पोषक बताते हुए गाँधीवाद के द्वारा उसको नाश करने का मार्ग दिखाया है।

प्रेमचन्द कर्म-भूमि में दीन और पीड़ित वर्ग के समर्थक बनकर आये हैं। इसी कारण उन्होंने अमीर और पूँजीपतियों पर चुटीले व्यंग्य किये हैं। नगर में दीन-हीन जनता को मकानों की जो असुविधा है, इसका सफल चित्रण इस उपन्यास में किया है और गांधी जी की नीति से ही इस समस्या को भी सुलझाया है।

इन प्रमुख समस्याओं के अतिरिक्त कर्म-भूमि में कुछ गौण समस्यायें भी हैं। जिनमें सर्वप्रथम भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति है जो भौतिक आधार पर खड़ी है। इनकी यह उक्ति इस शिक्षा पद्धति पर कैसा कटु व्यंग्य है "यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिये गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिये अपनी आत्मा को बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य ही क्या है।"

सलीम और अमर की मैत्री सम्प्रदायिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करती है। समरकान्त और अमरकान्त का धार्मिक वार्तालाप धार्मिक वितंडा-वाद का भण्डाफोड़ करने वाला है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म-भूमि उपन्यास जीवन के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों को सुलझाने की कुंजी है जिसका आधार है महात्मा गाँधी का असहयोग।

उपन्यास का कथानक स्वाभाविक रूप से विकसित होता गया है। अमर के जीवन की यह कहानी पिता से सैद्धान्तिक मतभेद होने से दो कार्यक्षेत्र ग्रहण करती है। एक क्षेत्र का अधिनायक है अमरकान्त और दूसरे क्षेत्र की प्रधान कार्यकर्त्री है। सुखदा। इस दम्पति के द्वारा कथा का परिचालन होता है। सकीना की सृष्टि कथानक को गति देने के लिये ही की गई है। अमर का काशी-त्याग उपन्यास का संघर्षमय स्थल है और किसान-आन्दोलन

तथा नगर का जन-आन्दोलन कथा के विकास को दिखाते हैं। दोनों पक्षों की जेल-यात्रा चरम सीमा है और आन्दोलनों की सफलता कर्मभूमि के कथानक की सफलता है।

कर्मभूमि के पात्र मानवीय धरातल के हैं। अमर आदर्श पात्र होते हुये भी मानवीय कमजोरी लिये हुये है। उसका सकीना की ओर आकर्षित होना हृदय की प्यास और भावुकता का तकाज़ा कहा जा सकता है, किन्तु नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है, और फिर हम उसे मुन्नी की ओर भी तो आकर्षित पाते हैं। समरकान्त लोभी, धन के प्रेमी, आडम्बरी भक्त होते हुये भी पिता का हृदय रखते हैं। उनमें भी दैवी गुण हैं जो अवसर आने पर जागृत हो जाते हैं। डा० शान्तिकुमार एक आदर्श और समाजसेवी व्यक्ति हैं। सलीम में उच्छृखलता अधिक है, लेकिन बाद को कर्तव्य की गम्भीरता भी आ जाती है।

नारी पात्रों में सुखदा स्वाभिमानिनी है। यदि वह विलास के जीवन में पगी रह सकती है तो कर्म क्षेत्र की कठिनाइयां भी उठा सकती है। सकीना सुशील और प्रेममयी महिला है। लेकिन उसके प्रेम में उथलापन नहीं है। रेणुका मातृ-हृदय से पूर्ण है। कर्मभूमि के सभी पात्र इसी संसार के, इसी समाज के पात्र हैं और उनका चित्रण करने में लेखक को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।

कर्मभूमि के घटना और दृश्य-वर्णन भी यथार्थ और प्रभावशाली हैं, जिनमें आलंकारिता और व्यंग्य का समावेश जान डाल देता है। यथा—
"शहरों के बाज़ारों और गलियों में कितना अन्तर है। एक फूल है—सुन्दर, स्वच्छ, सुगन्धिमय; दूसरी जड़ है—कीचड़ और दुर्गन्ध से भरी, टेढ़ी-मेढ़ी; लेकिन क्या फूल को मालूम है कि उसकी हस्ती जड़ से है।"

कर्मभूमि के कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक हैं। पात्रों की अनुकूलता उसे प्राप्त है। हिन्दू और मुसलमान पात्रों की भाषा में अन्तर है। साथ ही ये कथोपकथन पात्रों के चरित्र पर प्रभाव डालने वाले हैं। सभी स्थलों पर संवाद रोचक और मनोविज्ञान के अनुकूल हैं।

इस उपन्यास की भाषा स्वाभाविक और प्रचलित खड़ी बोली है, जिसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दों का सुन्दर समन्वय मिलता है। भावपूर्ण स्थलों

की भाषा भी भावपूर्ण हो गई है। ऐसे स्थलों पर कविता का सा आनन्द आता है। ऐसे ही स्थलों पर विशुद्ध हिन्दी के दर्शन होते हैं और अलंकार भी अपनी छटा दिखाते चलते हैं। कर्मभूमि में मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। कई स्थलों पर व्यंग्य भी सुन्दर बन पड़े हैं। प्रेमचन्द की विशेषता स्थान-स्थान पर सिद्धान्त वाक्यों की योजना करना है। जैसे—"भय की भांति साहस भी संक्रामक होता है, आदमी वह है जो जीवन का लक्ष्य बनाले और जिन्दगी भर उसके पीछे पड़ा रहे। हमारी डिग्री है--हमारा सेवाभाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता" आदि। कहीं-कहीं पर एक ही वाक्य पूरे दृश्य का उद्घाटन कर देता है, जैसे—"अंधेरे ने तारकोल पोत लिया था।" यह वाक्य अन्धकार की गहनता का सूचक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कमभूमि उपन्यास एक सफल उपन्यास है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में जिन समस्याओं को उठाया है, सभी का सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रश्न ३—निम्नलिखित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिये ?

अमरकान्त, सलीम, डा० शान्तिकुमार, समरकान्त, सुखदा, सकीना और मुन्नी।

अमरकान्त

अमरकान्त हमारे सामने एक मातृहीन बालक के रूप में अवतरित होता है। जिसे पिता का स्नेह भी प्राप्त नहीं हो पाता। बाल जीवन उदासीनता और कठोरता के वातावरण में बीतता है। यहाँ तक कि उसे शिक्षा का भी यथेष्ट लाभ नहीं हो पाता है। पिता की समृद्धि उसके लिये कोई मूल्य नहीं रखती। उसे निरन्तर पिता के कठोर स्वभाव का सामना करना पड़ता है। इसीलिये उसके हृदय में पिता के प्रति विरोध की भावना घर कर लेती है। पिता की सम्पत्ति-भक्ति उसे नहीं भाती। उसका मार्ग उनसे भिन्न है। वह प्रारम्भ से ही चर्खा चलाता है तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लेता है। उसमें राष्ट्र-प्रेम का उदय हो जाता है। जिस समय वह एक गोरे द्वारा एक युवती पर बलात्कार होने की घटना को देखता है तो ये विचार

उसके मस्तिष्क में आते हैं, "यह गोरे सिपाही इंग्लैंड की निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं। इनका इतना साहस कैसे हुआ ? इसलिये कि भारत पराधीन है। यह आतंक दूर करना होगा, इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।" यही विचार उसे कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट कराते हैं और उसे दीन-हीन जनता का नेता बना देते हैं।

अमर पाप और छल-कपट से कमाई हुई सम्पत्ति को घृणा की दृष्टि से देखता है। दुकान से कालेखाँ को लौटाना तथा उस स्थान को स्वच्छ कराना उसके हृदय की पावनता को प्रकट करते हैं। यह धार्मिक आडम्बरों को भी स्वीकार नहीं करता। अपने पिता के समक्ष उसने धार्मिक वितंडावाद की जो आलोचना की है, वह ध्यान देने योग्य है। वह पिता की बेईमानी से अर्जित सम्पत्ति को स्वीकार नहीं करना चाहता। उसका स्पष्ट मत है कि ऐसी सम्पत्ति से तो भूखों मरना अच्छा है। यही कारण है कि वह पिता द्वारा घर से अलग किये जाने पर कन्धे पर कपड़ा लादकर अपनी जीविका कमाना श्रेयस्कर समझता हैं। उसके इस कार्य से उसकी परिश्रमशीलता और स्वावलम्बन का भी परिचय मिलता है।

अमरकान्त आरम्भ से ही स्नेह से वंचित रहा है। उपेक्षित जीवन व्यतीत करने के कारण उसमें कष्टसहिष्णुता है। किन्तु उसका पाणिग्रहण होता है विलास के वातावरण में पत्नी युवति सुखदा से। जिस स्नेह की सरस धारा की उसे इच्छा थी वह उसे अपनी पत्नी से भी प्राप्त नहीं होती। बहिन का स्नेह उसे अवश्य प्राप्त था। किन्तु बहिन का स्नेह अपनी ही तो पूर्ति कर सकता था, उसमें दाम्पत्य-प्रेम की प्यास तो रहती ही है। सुखदा उसे परितृप्त नहीं कर पाती। उसके हृदय का स्नेहभाव उसे सुखदा की ओर झुकाता अवश्य है, लेकिन सुखदा की ओर से उसे प्रेम नहीं मिलता। उस ओर से भी उसे कर्कशता और शासिका का नियन्त्रण मिलता है। फलतः वह सकीना की ओर आकर्षित होता है। यद्यपि हम इसे अमर का नैतिक पतन कह सकते हैं, लेकिन मानव हृदय के अभाव की एक पूर्ति होने से हम उसे क्षम्य ही कहेंगे। क्योंकि सकीना के प्रति उसका आकर्षण विलास की भावना से नहीं है, कामाग्नि

की शान्ति के लिये नहीं है, अपितु हृदय की माँग के कारण है। शुष्क हृदय में सरसता का स्पन्दन लाने के लिये है। इसी कारण हम उसमें विशुद्धता के दर्शन करते हैं। हाँ, यह मान सकते हैं कि उसमें इतनी निर्भयता नहीं थी कि वह सकीना को अपने यहाँ प्रश्रय दे सकता, उसे अपनी सहधर्मिणी बना सकता। अमर को हम मुन्नी की ओर भी आकर्षित होते देखते हैं। लकिन वहाँ भी उसकी सेवा के कारण, उसके प्रेममय व्यवहार के कारण। सूखा हृदय सकीना से भी प्रेम का रस न पा सका, सूखा ही रहा, मुन्नी भी उसे परितृप्त न कर सकी। जब उसे ज्ञात हुआ कि सुखदा भी उसी के पथ का पथिक बन रहा है तो उसकी श्रद्धा सुखदा के प्रति जागरूक हो जाती है और उसे अपनी भूल पर पश्चात्ताप होता है। यद्यपि यह सत्य है कि वह स्वाभिमानिनी नारी सुखदा को पहचान न सका और सकीना की ओर झुक गया; और उसका यह झुकाव मनोविज्ञान के अनुकूल ही था; तथापि यह उसके दाम्पत्य की असफलता ही कही जायगी।

अमरकान्त एक ऐसा पात्र है जिसके चरित्र ने सभी को प्रभावित किया है। यह उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर सभी चरित्र चक्कर लगाते हैं। उसी के चरित्र से प्रभावित होकर सुखदा सेवा-पथ को अपनाती है। समरकान्त सम्पत्ति में लात मारकर सत्याग्रह-संग्राम में कूद पड़ते हैं और रेणुका देवी सेवाश्रम के लिये अपनी सम्पत्ति का दान कर देती है।

अमरकान्त का बहिन के प्रति असीम प्रेम था। काशी से दूर जाकर भी वह बहिन को विस्मृत नहीं कर पाता। क्योंकि उसको अपने बचपन में यदि शान्ति मिलती थी तो नैना ही के पास। फिर वह अपनी ऐसी बहिन को कैसे भूल जाता। नैना का विवाह धनीराम से सुन कर उसे दुःख होता है। वह उसे निरन्तर पत्र लिखता रहता है। जब उसे जेल में नैना की मृत्यु का समाचार मिलता है तो फूट-फूट कर रोने लगता है और उसके बिना संसार में अपना जीवन भी व्यर्थ समझता है। अमर सच्चा भाई रहा है। वह उतना सफल पुत्र और पति के रूप में भी नहीं हुआ है, जितना भाई के रूप में।

अमरकान्त का हृदय अत्यन्त विशाल है। उसमें संकुचित मनोवृत्तियों के लिये किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है। यही कारण है कि वह सलीम से भी

मैत्री कर लेता है और वह मैत्री उसकी निरन्तर चलती रही है। उदार इतना है कि सलीम के द्वारा गिरफ्तार होने पर भी उसके हृदय में सलीम के प्रति कोई दुर्भावना उत्पन्न नहीं होती। अछूतों के यहाँ रहकर उनके यहाँ बिना किसी भेद-भाव के खाना-पीना भी उसकी विशाल हृदयता के परिचायक हैं।

अमर आरम्भ से ही समाज-सेवी के रूप में आता है, जनहित के कार्यों में उसकी रुचि है। मुन्नी द्वारा गोरों की हत्या से उसे अपार उल्लास होता है और उसे मुक्त करने के लिए वह जिस लगन और परिश्रम से कार्य करता है, वह उसे जनता का नेता बना देती है और शीघ्र ही म्युनिसिपल सदस्य चुन लिया जाता है। लेकिन गार्हस्थिक संघर्ष के कारण उसे अपना कार्य-क्षेत्र परिवर्तित करना पड़ता है।

अमर एक कर्मठ कार्यकर्त्ता और समाज-सुधारक है, नम्रता और विनय उसके आभूषण हैं जो उसे जनप्रिय बना देते हैं। अमर में वक्तृत्व शक्ति भी है और है श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने का गुण। इसी कारण गाँव के बूढ़े-बच्चे सभी उसके आदेशों को मानने के लिए तत्पर दृष्टिगत होते हैं और इसी कारण उसे अछूतों की बुरी आदतों को सुधारने में सफलता प्राप्त होती है।

अमर ग्राम-जीवन को स्वर्गीय बनाने का प्रयत्न करता है। बच्चों में शिक्षा का प्रसार करता है तथा उनमें स्वच्छता और पवित्रता के भाव भरता है। देहातियों को उनकी कुरीतियों से परिचित कराता है और उनको दूर करने के लिए बाध्य करता है। उन्हें उनके अधिकारों की ओर भी जागरूक करता है तथा सुप्त मानवता में जागृति का शंखनाद करता है। निर्भीक इतना है कि लगान-आन्दोलन के समय किसी भी अफसर से नहीं डरता है। वह किसानों का नेतृत्व करता है और प्रसन्नता से जेल चला जाता है। लेकिन क्रान्ति में उसका विश्वास नहीं है। वह शान्ति के मार्ग में ही विजय के चिन्ह देखता है। इसीलिये अपनी गिरफ्तारी के समय उत्तेजित जनता को शान्त कर देता है।

अमर में नेता होने के सभी गुण पाये जाते हैं। वह कार्यशील है, कष्ट-सहिष्णु है, गम्भीर है और समस्याओं पर विचार करने की भी उसमें क्षमता है। इसी कारण उसे सफलता मिलती है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह

है कि वह गुण का पारखी है। मानवता के समक्ष नत होना उसने सीखा है। जो पिता उसके लिए अश्रद्धा के पात्र थे, वही जब देशसेवी का जीवन अपनाते हैं तो पूज्य बन जाते हैं। जिस सुखदा को वह विलासिनी होने के कारण त्याज्य समझ बैठा था, उसी से वह क्षमा प्रार्थना कर लेता है।

कुछ आलोचकों ने सकीना के प्रेम को उसे समाजसेवी और देशप्रेमी बनाने वाला कहा है किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि सकीना के प्रेम से पूर्व भी हम उसमें राष्ट्र-प्रेमी के लक्षण देखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमर एक आदर्श पात्र है। जिसके पास हृदय है, मस्तिष्क है और है दोनों का सामञ्जस्य। वह त्यागी, देश-प्रेमी, समाज-सुधारक और प्रेमी सब कुछ है। लेखक को उसके चित्रण में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

सलीम

सलीम हमारे समक्ष एक निर्द्वन्द्व, चपल निश्चिन्त और उद्दंड बालक के रूप में उपस्थित होता है। उसका चापल्य मित्रता के क्षेत्र में आकर गम्भीर हो जाता है। अमरनाथ से उसकी निस्वार्थ मैत्री है। यद्यपि वह जानता है कि अमरनाथ एक धनी का पुत्र है तथापि वह उसकी बेबसी और विवशता से अनभिज्ञ नहीं है। वह उसे शुल्क की चिन्ता से मुक्त कर देता है, उसका शुल्क स्वयं जमा कर देता है। साथ ही अपने हँसमुख स्वभाव द्वारा उसे हँसाने का चेष्टा भी करता है। सच्ची मित्रता अभिन्नता की द्योतक है। इसी कारण वह भी अमर पर अपना बड़ा अधिकार समझता है। जब उसे ज्ञात होता है कि अमर शुल्क के कारण दुःखी है, लेकिन इसको उसने उससे छिपाया है, तो वह कहता है "कसम खुदा की, बड़े नालायक आदमी हो तुम ? ऐसे आदमी को गोली मार देनी चाहिये। दोस्त से भी यह गैरियत।" इन शब्दों में कितनी प्रेम-भरी झिड़की है। अमर से उसकी मैत्री जीवन-पर्यन्त चलती है। अधिकार पाने पर यद्यपि साधारण वेषभूषाधारी अमर से मिलने पर कुछ संकोच तो होता है, लेकिन क्षणिक। मैत्रीभाव उसके संकोच पर विजय प्राप्त करता है। वह उससे मिलता है, जिलाधीश मि० गजनवी से भी परिचय

करता है। इतना सब कुछ होने पर भी उसे अमर को स्वयं गिरफ्तार करना पड़ता है। सलीम को यह कार्य यद्यपि हमें मित्रता की दृष्टि से उचित ज्ञात नहीं होता लेकिन परिस्थिति की विषमता उसे इस कार्य के लिये विवश कर देती है।

सलीम में कविता की प्रवृत्ति भी हम बचपन से पाते हैं। यही प्रवृत्ति उसे मस्ती प्रदान करती है। अमर के दुःख को वह इसी मस्ती से मिटा देना चाहता है। सलीम देखने में हमें कुछ उच्छृङ्खल व्यक्ति-सा ज्ञात होता है लेकिन देश के सम्मान को समझता है। गोरों के व्यभिचार वाली घटना से जितना सलीम उत्तेजित होता है, उतना अन्य कोई नहीं। वह गोरों के प्रति तो अपना क्रोध प्रकट करता ही है, साथ ही ग्रामीण जनता को भी उसकी शक्ति और उसके कर्तव्य का ध्यान दिलाता है- "इस देश में जितनी बेटियाँ हैं, सब तुम्हारी बेटियां हैं, जितनी बहुएँ हैं, सब तुम्हारी बहुएँ हैं, जितनी माताएँ है, सब तुम्हारी माताएँ हैं। तुम्हारी आंखों के सामने यह अनर्थ हुआ और तुम कायरों की तरह खड़े ताकते रहे, क्यों सबके सब जाकर मर नहीं गये ?" कितना उच्च विचार है सलीम का। भावना का ऐसा ही तीव्रवेग किसी भी पथ पर सफलता दिला सकता है।

सलीम में परिस्थिति को समझाने की गम्भीरता नहीं है। उसकी कार्य-प्रणाली सृजनात्मक नहीं है। शान्ति और अहिंसा के विचारों में उसका विश्वास दृष्टिगत नहीं होता। प्रतिहिंसा की भावना उसके हृदय में बलवती हो उठती है। इसीलिये वह मुन्नी के मुकदमे में प्रतिकूल निर्णय की सम्भावना होने पर जज पर घातक आक्रमण करने की योजना बना लेता है और उसके लिये 'काले खां' जैसे दुष्ट से सहायता प्राप्त करना चाहता है। उसकी यह विचारधारा उच्चाशय के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

अमर और सलीम की मैत्री उनकी विचार-धाराओं को एक नहीं कर पाती अमर समाज-सेवी और देश-सेवक है और सलीम चाहते हुये भी ऐसा नहीं हो पाता, उसे अपने पिता के आदेश से आई० सी० एस० परीक्षा पास करनी पड़ती है और अपने प्रयत्नों से सहायक जिलाधीश भी हो जाता है।

लेकिन वह अधिक समय तक उस स्थान पर रह नहीं पाता। जब वह अपने पिता तुल्य लाला समरकान्त पर हण्टर उठाने को उद्यत होता है और लाला जी द्वारा उसे व्यंग्यात्मक शब्द सुनने पड़ते हैं तो उसे अपने कृत्य पर ग्लानि होती है। वह जनता का समर्थन करते हुये सच्ची रिपोर्ट देता है और परिणाम-स्वरूप नौकरी से अलग कर दिया जाता। सलीम की सुप्त देश-सेवा की भावना जागृत होती है। वह अपने मित्र के पथ का पथिक बनता है तथा जनता को नेतृत्व करते हुये जेल जाता है। सलीम की जो भावना गोरों के अत्याचारों से उदित हुई थी, वही अब अपने पूर्ण विकास को प्राप्त करती है।

सलीम आरम्भ में एक छिछोरा व्यक्ति दिखाई देता है। सकीना के प्रति अमर के प्रेम का उपहास करता है। लेकिन बाद में स्वयं ही सकीना की सरलता और सरसता को देखकर उसकी ओर आकर्षित होता है, उससे विवाह करना चाहता है। मित्र के लिये यह उचित नहीं कहा जा सकता कि वह उसी की ओर आकर्षित हो, जिसको उसका मित्र चाहता है। सलीम के लिये यह उचित नहीं था। लेकिन सलीम भी इतना नीच नहीं है कि वह सकीना को प्राप्त करने के लिये हर अनुचित मार्ग को अपना ले। वह अमर से स्पष्ट कह देता है और उसका आशीर्वाद चाहता है। सच्चा प्रेमी अमर भी सकीना के सुखमय भविष्य की आशा से उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमर सलीम को देश-सेवक गम्भीर और राष्ट्र प्रेमी बनाता है और सकीना उसकी उच्छृङ्खलता को सयतता प्रदान करती है। उसे सच्चा प्रेमी बनाती है। प्रेमचन्द जी ने सलीम के चरित्रांकन में अत्यन्त सफलता प्राप्त की है।

समरकान्त

लाला समरकान्त काशी के एक धनी व्यक्ति हैं। सम्पत्ति से उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रेम है। वे सम्पत्ति को अपनी सन्तान से भी अधिक प्रिय समझते हैं। लोभी इतने अधिक हैं कि अपनी सन्तान की सुशिक्षा की भी सुव्यवस्था नहीं कर पाते। एक धनी का पुत्र उचित समय पर अपना शुल्क नहीं देपाता, इसमें उन्हें अपनी प्रतिष्ठा जाती नहीं दीखती, लेकिन यदि उनका

पुत्र देश-सेवा करता है तो इससे उनके सम्मान को चोट लगती है। ऐसे हैं आपके विचार। समरकान्त की यही अर्थ-लिप्सा उन्हें अपने पुत्र से विमुख कर देती है। उन्होंने किस प्रकार अर्थ का उपार्जन किया है, यह काले खाँ के वक्तव्य से प्रकट हो जाता है। सम्पत्ति कमाने के लिये वे गर्हित से गर्हित मार्ग भी अपनाने में नहीं हिचकते। चोरी और बेईमानी का माल भी उन्हें प्राप्त करके प्रसन्नता होती है। सम्पत्ति को वह सभी सुखों का मूल समझते हैं। चरित्र का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। तभी तो वह अपनी पुत्री नैना का विवाह एक सम्पन्न किन्तु दुश्चरित्र युवक के साथ कर देते हैं।

अपने पुत्र अमर की सज्जनता, सुशीलता और सबसे अधिक सदाचारमयी प्रवृत्ति से उन्हें घृणा है। वे इसे सुख के मार्ग में बाधक समझते है। पुत्र का म्युनिसिपल सदस्य चुना जाना उन्हें प्रिय नहीं लगता। वे सम्पत्ति की लिप्सा में अपने पुत्र का परित्याग कर देते हैं। उसे घर से निकाल देते हैं। अमर गली-गली कपड़ा बेचता है, पर उनका हृदय नहीं पसीजता। हृदय में पिता होने से कुछ प्रेम का उदय भी हो.ा है, लेकिन उनकी अहम्मन्यता उन्हें पुत्र को मनाने नहीं देती।

धार्मिक पाखण्ड और आडम्बर को ही वे सच्चा धर्म मानते हैं। पुराने विचारों के समर्थक होने से अछूतों को धर्म का अधिकारी नहीं मानते। धर्म को वे केवल मन्दिर, पूजा-पाठ तक ही सीमित समझते हैं। आध्यात्मिक सूक्ष्मता और धर्म की तात्त्विक गम्भीरता से उनका कोई परिचय नहीं है। धर्म से धन को बड़ा मानते हैं। लेकिन जब उनका पुत्र ही उस धन को कोई महत्ता नहीं देता तथा घर छोड़कर चला जाता है तो उन्हें धन का भविष्य अन्धकार-मय प्रतीत होता है। उनकी धार्मिक वृत्ति जागृत होती है लेकिन वास्तविक नहीं, केवल दिखावे और आडम्बर के प्रति। कथा में अछूतों का प्रवेश उन्हें क्रोधी बना देता है। अछूतों पर गोली चलवाने में उन्हें संकोच नहीं होता, लेकिन सुखदा का नेतृत्व उनकी आँखें खोल देता है। या यों कहना चाहिये कि अपनी पुत्रवधू का विरोध उन्हें अछूतों के लिये मन्दिर का द्वार मुक्त करने के लिये विवश कर देता है।

पुत्र और पुत्रवधू की त्यागमयी भावना लाला समरकान्त के चरित्र को भी परिवर्तित कर देती है। मनुष्य संपत्ति का अर्जन अपने और अपनी संतान के सुख के लिये करता है। लेकिन जब सन्तान ही अर्थ की ओर उपेक्षा से देखे तो उसे एक खीझ होती है। यही हाल समरकान्त का होता है। अमर का गृहत्याग उन्हें चिन्तित कर देता है। पर्याप्त समय तक वे अपनी कठोरता को प्रदर्शित करते रहते हैं। उसे सन्तान के सुधार का साधन समझते हैं। लेकिन जब कठोर होने पर भी वे अमर को बदल नहीं सकते, अपने से और भी विलग कर लेते हैं तो उनकी कठोरता दूर हो जाती है। पुत्र की जेल-यात्रा उन्हें किसान-आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये प्रेरित करती है। वे गाँव में पहुँचकर अमर के कार्य को गति देते हैं। सलीम को भी सरकारी नौकर से राष्ट्रसेवी बना देते हैं तथा स्वयं जेल को जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धन-लिप्सु तथा दूषित भावनाओं से पूर्ण समरकान्त पुत्र और पुत्रवधू के उदार चरित्र के प्रभाव से देश-सेवक, सदाचारी और सच्चे भक्त बन जाते हैं। उदार भावनायें उनके हृदय में उदित हो जाती हैं। प्रेमचन्द ने समरकान्त के चरित्र-चित्रण में अत्यन्त कुशलता दिखाई है। उनके हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया है।

सुखदा

सुखदा 'कर्मभूमि' उपन्यास के नायक-अमरकान्त की पत्नी है। वह विलास-पूर्ण वातावरण में पली हुई नारी है। यद्यपि वह अमर के विचारों को सम्मान की दृष्टि से देखती है लेकिन श्वशुर की आत्मा को भी सन्तुष्ट करना चाहती है। उसमें एक गृहिणी की योग्यता है। अपने विचारों से और अपने तर्कों से वह अमर को दूकान पर बैठने के लिये विवश कर देती है। वह चाहती है कि उसका पति गृहस्थी के कार्यों में रुचि दिखावे और उसके इंगित पर चले। वह अपने पति की शासिका बनकर रहना चाहती है। पति के प्रेम की प्यास को वह नहीं समझ पाती। उस पर अपना अधिकार समझती है और अधिकार-मिश्रित प्रेम से उसे अपने विचारों के अनुसार चलाना चाहती है।

सुखदा एक समझदार स्त्री प्रतीत होती है। जब अमर अपने और पिता

के विचारों के मतभेद को बताकर दूकान पर बैठने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रकट करता है तो सुखदा उसे किस प्रकार समझाती है—"तुम दूकान पर जितनी देर बैठोगे, कम-से-कम उतनी देर तो यह घृणित व्यापार न होने दोगे। यह भी तो सम्भव है कि तुम्हारा अनुराग देखकर सारा काम तुम्हीं को सौंप दें। तब तुम अपनी इच्छानुसार इसे चलाना।" इन शब्दों में कितनी समझ झलकती है। सुखदा के सामने यद्यपि अमर को परास्त होना पड़ता है लेकिन उसका हृदय उसकी बातों का समर्थन नहीं कर पाता।

सुखदा एक स्वाभिमानिनी नारी है। यदि वह पति के समक्ष झुकना नहीं चाहती तो उसे पति का अपमान भी प्रिय नहीं है। विलासमय वातावरण में पली हुई होने पर भी उसे कष्टों से भय नहीं है। वह अमर के यह कहने पर कि—"उस सर्वनाश की ओर मुझे मत ढकेलो" उत्तर देती हुई कहती है—"मैं तुमको बता देना चाहती हूँ कि विलासिनी सुखदा अवसर पड़ने पर जितने कष्ट झेलने की सामर्थ्य रखती है, उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। ईश्वर वह दिन लाये कि मैं तुम्हारे पतन का साधन बनूँ" और हम देखते हैं कि उसका यह कथन केवल कहने के लिये नहीं था। पिता द्वारा अमर के बहिष्कृत होने पर वह भी अपने नवजात शिशु को लेकर उसके साथ रहने लगती है। माता की सम्पत्ति को वह इसलिये ग्रहण नहीं करना चाहती क्योंकि इससे उसके आत्म-सम्मान को चोट लगती है और ५०) मासिक पर अध्यापन करने लगती है।

सुखदा को अपने श्वसुर से भी प्रेम है। वह घर की मान-मर्यादा का ध्यान रखती है। श्वसुर से अलग रहने पर जब उसे उनकी अस्वस्थता का पता चलता है तो उससे रहा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि उन्होंने उसके पति को घर से निकाल दिया है, तथापि वह उनकी सेवा करने के लिये पहुँचती है। अपने घर का कार्य और श्वसुर की सेवा दोनों ही एक साथ करके अपनी कष्टसहिष्णुता और उदारता का परिचय देती है।

सुखदा नारी के समानाधिकार के प्रति पूर्ण सजग है। उसे अपने पति के प्रति श्रद्धा है लेकिन श्वसुर की आत्मा को सन्तुष्ट रखने के लिये उसे अपने

अधिकार के प्रति विरक्ति रहती है । उसके इन शब्दों में उसके हृदय की भावना का प्रतिबिम्ब है—"मैं जानती हूँ कि हम लोग पराधीन हैं, पराधीनता मुझे भी उतनी ही अखरती है, जितनी तुम्हें । हमारे पांव में तो दोहरी बेड़ियाँ हैं, समाज की अलग, सरकार की अलग ।" नारी की सामाजिक स्थिति का यह कितना सुन्दर चित्र है । यद्यपि वह अपने प्रात, अपने अधिकार के प्रति उदासीन सी दीखती है, लेकिन मुन्नी द्वारा गोरों से अनाचार का बदला लेने वाली घटना से वह प्रसन्न होती है । उसकी प्रसन्नता में उसकी नारी जाति की जागरण अवस्था से प्राप्त प्रसन्नता का आभास मिलता है । वह मुन्नी को स्वयं अपने साथ रखने के लिये तत्पर हो जाती है । उसके मुकदमे में बड़ी अभिरुचि प्रकट करती है । अपने पति से कहे हुए ये शब्द यह प्रकट करते हैं कि नारी जाति के प्रति उसे कितनी सहानुभूति है—"एक दिन जाकर सब कोई उसका पता क्यों नहीं लगाते या स्पीच देकर ही अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो गये ।" उसे मुन्नी के ऊपर महान् श्रद्धा है । तभी तो वह कहती है कि "ऐसी देवी की तो प्रतिमा बना कर पूजनी चाहिये । उसने अपनी सारी बहिनों का मुख उज्ज्वल कर दिया ।"

जैसा कि अभी कहा गया है कि सुखदा एक स्वाभिमानिनी नारी है और अन्त तक स्वाभिमानिनी ही रहती है । पति के सामने अकारण झुकना वह नहीं जानती । सकीना से वार्तालाप करते समय वह पति के आचरण पर आक्षेप करती हुई उसे कमीना तक कह देती है । उसके कमीना कहने में उसका क्षोभ प्रकट होता है । यद्यपि एक भारतीय नारी के लिये पति के प्रति ऐसे शब्द कहना शोभनीय नहीं कहा जा सकता, लेकिन सुखदा का दुःखी हृदय इन शब्दों में उमड़ पड़ा है । वह जानती है कि सकीना के कारण ही उसके पति उससे अलग हुए थे । फिर भी ससकी बीमारी का समाचार सुनकर वह उससे मिलने जाती है । कितनी उदार है वह । वह सकीना के द्वारा यह जानकर कि अमर को जीवनभर प्रेम नहीं मिला और तुम भी उसे प्रेम न दे सकीं, इसलिये वे मेरी ओर आकर्षित हुए, वह कहती है कि "बाबूजी को अगर मुझसे शिकायत हुई थी, तो उन्हें मुझसे कहना चाहिये था । ····· उन्हें प्रेम की भूख थी, तो मुझे प्रेम की भूख कुछ कम न थी । मुझसे वह जो चाहते थे,

वही मैं भी उनसे चाहती थी। जो चीज वह मुझे न दे सके, वह मुझसे न पाकर क्यों उद्दण्ड हो गये ? क्या इसीलिये कि वह पुरुष हैं और चाहे स्त्री को पैर की जूती समझें, पर स्त्री का धर्म है कि वह उनके पाँव से लिपटी रहे ? ......अब तो जब तक उनकी तरफ से हाथ नहीं उठाया जायगा, मैं अपना हाथ नहीं बढ़ा सकती, चाहे सारी जिन्दगी इसी दशा में पड़ी रहूँ।" वह झुकी नहीं। अपनी दृढ़ता, सेवा और त्याग के कारण उसने अमर को ही झुकने के लिये विवश कर दिया।

सुखदा को अपने पति से प्रेम था। लेकिन घर की परिस्थिति के कारण वह अपने प्रेम का दान पति को न दे सकी। लेकिन अब अमर नगर छोड़ कर चला गया तो उसे ज्ञात हुआ कि उनके मार्ग में उनकी सहगामिनी न बनकर उसने भारी भूल की है। ऊपर से तो वह उनकी बुराई करने लगी; लेकिन उसका हृदय उनकी ओर झुक गया और उसने भी उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलने का निश्चय किया। अछूतों पर गोली चलते देखकर उसका हृदय करुणा से भर गया और वह आगे बढ़कर उनका नेतृत्व करने लगी। उसने कहा—"जहाँ इतने आदमी मर गये, वहाँ मेरे मर जाने से कोई हानि न होगी। भाइयो, बहिनो, भागो मत, तुम्हारे प्राणों का बलिदान पाकर ही ठाकुर जी तुमसे प्रसन्न होंगे।" उसके इन वीरतापूर्ण शब्दों ने वह जादू किया कि मन्दिर के द्वार अछूतों के लिये मुक्त हो गये। सुखदा नगर के लिये सम्मान और श्रद्धा की पात्र बन गई।

दीन-हीन जनता के प्रति भी सुखदा को बड़ी सहानुभूति थी। उसने उनके लिये स्वच्छ और हवादार मकान बनवाने के लिये म्युनिसिपल कमेटी के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। सभी को संगठित करके एक दृढ़ मोर्चा बनाया और नगर में पूर्ण हड़ताल करा दी। पुलिस ने उसे बन्दी बना लिया, लेकिन वह विचलित नहीं हुई। यहाँ तक कि उसने जमानत देना भी स्वीकार नहीं किया। इस आन्दोलन में उसकी वीरता, दृढ़ता, साहस और कष्टसहिष्णुता पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुखदा एक स्वाभिमानिनी नारी है। उसका

मस्तिष्क सुलझा हुआ है। उसमें एक त्यागी, वीर और साहसी महिला के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द ने परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में उसका चरित्र अत्यन्त सफलता के साथ विकसित होता हुआ दिखाया है।

सकीना

सकीना एक दीन और दरिद्र पठानिन की पुत्री है। दीनता इस सीमा को पहुँच गई है कि उसके पास नहाकर बदलने के लिये भी कपड़े नहीं हैं। रात्रि के समय नंगी होकर कपड़े सुखाती है। वह रुमाल काढ़–काढ़ कर अपने जीवन के लिये पैसा उपार्जन करती है लेकिन फिर भी उसने कभी भी उस दरिद्रता की शिकायत नहीं की। उस गरीबी की अवस्था में भी जो लज्जाशीलता और संयम हम उसमें देखते हैं, वह प्रशंसनीय है। उसने स्वयं ही कहा है कि कितने ही मनचले युवकों ने उसकी गरीबी का लाभ उठाकर उसे अपनी विलास क्रीड़ा का साधन बनाने की चेष्टा की; किन्तु वे उसके संयम और चरित्र की दृढ़ता के समक्ष सफलता प्राप्त न कर सके।

सकीना को हम एक सलज्ज युवति के रूप में पाते हैं। वह सुन्दरी है और लज्जा उसका आभूषण है। अमर के साथ पठानिन का वार्तालाप जिस समय होता है, उस समय वह जिस रूप में हमारे सामने आती है वह सचमुच आकर्षक है और इसके लिये अमर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है।

सकीना में प्रेम का छिछोरपन नहीं है। उसमें प्रेम-पात्र को परखने की पूर्ण क्षमता है। वह हर किसी को अपना हृदय समर्पित नहीं कर सकती। अमर की शिष्टता, सहृदयता और सरलता उसे मोहित कर लेती है, वह उससे प्रेम करने लगती है लेकिन उसे अपनी और अमर की परिस्थिति का भान है इसी कारण संयमित रहती है। अपने प्रेम को स्वयं प्रकट करना नहीं चाहती। परन्तु प्रेम वह वस्तु है जो छिपाने से छिप नहीं सकता। जब उसे ज्ञात होता है कि अमर भी उसे प्रेम करता है तो वह भी अपने प्रेम को प्रकट कर देती है।

उसका प्रेम एक आदर्श प्रेम है। वह नहीं चाहती कि उसके कारण उसके प्रेमी को कोई कष्ट हो। इसी कारण वह अमर से कह रही है—

"आपकी शराफत और हमदर्दी की जितनी तारीफ अम्मा करती थीं. उससे कहीं ज्यादा पाया । आप यहाँ ज्याया आया भी न करें, नहीं ख्वामख्वाह लोगों को शुबहा होगा । मेरी वजह से आपके ऊपर कोई शुबहा करे, यह मैं नहीं चाहती ।" यह है प्रेम की पावनता । वह इसी कारण उसके द्वारा प्रदत्त साड़ियों को भी स्वीकार नहीं करती । पर उसके प्रेम में दृढ़ता है । मां से शादी के लिये साफ इन्कार कर देती है और उसके अधिक बल देने पर विष खाने की धमकी दे देती है ।

सकीना का प्रेम एक दृढ़ भित्ति पर आधारित है । उसने अपने प्रेम की व्यंजना इन शब्दों में की है—"तुमने एक यतीम, गरीब लड़की को खाक से उठा कर आसमान पर पहुँचाया. अपने दिल में जगह दी—तो मैं भी जव तक जिऊँगी, इस मुहब्बत के चिराग को अपने दिल के खून से रोशन रखूँगी ।" प्रेम के साथ उसे अपनी और उससे भी अधिक अमर की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान है । इसी कारण वह अमर के भाग चलने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती और प्रेमी की सार्थकता एवं वास्तविकता को समझाते हुए कहती है—"असली मुहब्बत वह है, जिसकी जुदाई में भी विलास है, जहाँ जुदाई है ही नहीं, जो अपने प्यार से एक हजार कोस पर होकर भी अपने को सके गले से मिला हुआ देखती हैं ।"

उसका प्यार केवल कहने के लिये ही नहीं है अपितु अवसर पड़ने पर पर उसने प्यार के क्षेत्र से मुँह नहीं मोड़ा है । पठानिन के द्वारा अमर के फटकारे जाने पर वह अपने प्रेम को प्रकट करते हुए कहती हैं—"बाबूजी मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ. जिन्हें अपनी आबरू प्यारी है वह अपनी आबरू लेकर चाटें । मैं बेआबरु ही रहूँगी ।" यही नहीं अपितु माँ जब इस घटना का समाचार लाला समरकान्त को देना चाहती है तो निश्शंक होकर कहती है कि "अगर उनकी जिन्दनी गारत हुई, तो मेरी गारत हो गई ।" और हम देखते हैं कि वह कुमारी रह कर अमर के वियोग में ही लीन रहती है । सूख-सूख कर कांटा हो जाती है, माँ बहुत समझाती है किन्तु अमर की याद उसे बेचैन किये रहती , है उसके प्रेम की महानता को समझ कर उसकी माँ को भी अपने कार्य पर पश्चात्ताप होता है ।

प्रेमी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अपने प्रेम-पात्र में अच्छाइयाँ ही देखता है। वह अमर में भी गुणों का ही दर्शन करती है। सुखदा से वार्तालाप करते समय वह अपने हृदय को उसके सामने खोलकर रख देती है और सुखदा से अमर की प्रशंसा करती है। वह उसे अमर से प्रेम करने के लिये प्रेरित करती है। प्रेम की महत्ता और उसके उल्लास का वर्णन करते हुये वह सुखदा से कहती है—"शिकवा-शिकायत, रोना-धोना, बेताबी और बेकारी यही तो मुहब्बत के मजे हैं। फिर मैं तो वफा की उम्मीद भी नहीं करती। मैं उस वक्त भी इतना जानती थी कि यह आंधी दो-चार घड़ी की मेहमान है, लेकिन मेरी तस्कीन के लिये तो इतना ही काफी था कि जिस आदमी की मैं दिल में सबसे ज्यादा इज्जत करने लगी थी, उसने मुझे इस लायक तो समझा।" यह था सकीना का प्रेम। एक ओर तो सुखदा जैसी नारी है जो परिणीता होकर भी अपने पति को अपने हृदय का स्नेह नहीं दे पाती और 'कमीना' शब्द भी उसके लिये कह डालती है। दूसरी ओर सकीना है जो उसे अपने प्रेम और अपनी श्रद्धा का पात्र बना लेती है।

सकीना जानती है कि अमर एक सम्भ्रान्त कुल का व्यक्ति है और उसका सुख इसी में है कि वह अपनी पत्नी को भी प्रेम करने लगे। इसी लिये वह सुखदा को समझाती हुई कहती है कि "मेरे लिये इससे बड़ी खुशी की बात नहीं हो सकती कि आप और वह फिर मिल जायें, आपस का मनमुटाव दूर हो जाय। मैं उस हालत में और भी खुश रहूँगी। मैं उनके साथ नहीं गई, इसका यही सबब था" आगे चलकर वह इसी कारण सलीम की ओर झुकती हुई दृष्टिगत होती है। लेकिन उसे अमरकान्त का पूरा ध्यान है। वह अमरकान्त के प्रेम का पोषण करने के लिये जीवन भर साधना में रत रह सकती है, और यदि उनकी आत्मा को सन्तुष्टि प्राप्त हो, तो ही वह सलीम के साथ शादी करेगी। अपने इन विचारों को वह सलीम पर भी प्रकट कर देती है और हम देखते हैं कि अमर की इच्छा पर ही वह सलीम के साथ परिणीत होती है।

सकीना को आत्म-सम्मान का भी बड़ा ही ध्यान था। उसके हृदय में भी करुणा थी। दीनता के समय जबकि उसे तन ढकने कपड़े को तक भी प्राप्य

नहीं थे, वह मुन्नी वाले मुकदमे में चन्दा देती है और जब अमर को उसका चन्दा ग्रहण करने में आपत्ति होती है तो उसे दुःख होता है और प्रेम भरे व्यंग्य से अपनी गरीबी की करुण व्यंजना करती है। वह किसी की दया पर जीवित रहना नहीं चाहती। इस कारण समरकान्त की मासिक तलब लेने में भी उसे आपत्ति होती है।

सकीना जानती है कि निर्धनता एक अभिशाप है और इसी निर्धनता के कारण उसका और अमर का जीवन नष्ट हुआ है क्योंकि न वह इतनी दयनीय दशा में होती और न अमर को उसके प्रति करुणा होती। इसी कारण वह उस निर्धनता को नष्ट करने के लिये कमर कस लेती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सकीना एक सलज्ज, सुशील और प्रेमी हृदय रखने वाली नारी है। लेखक की पूर्ण सहानुभूति उसे प्राप्त है। पर सलीम की ओर उसका आकर्षण मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं है और न मुहब्बत के चिराग को दिल के खून से रोशन करने वाली के लिये यह उचित ही है।

मुन्नी

मुन्नी इस उपन्यास की एक समस्या है और प्रेमचन्द जी ने इस पात्र के चरित्र-चित्रण के द्वारा जहाँ अंग्रेजों को उच्छृङ्खलता, निर्द्वन्द्वता और पाशविकता का खुला चित्र उपस्थित किया है, वहाँ एक आदर्श भी सामने रखा है और वह आदर्श है—"अपने सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा अपने आप होती है।"

मुन्नी एक राजपूत वंश की कुलवधू है। ग्रामीण नारी होने से उसे अपने पति को कृषि-कार्य में भी सहयोग देना पड़ता है और उसी समय अचानक वह कुछ गोरों के बलात्कार का शिकार बनती है। बलपूर्वक उसे पतिता बना दिया जाता है। वह अपने आप में सिमटती हुई, लज्जा और ग्लानि का रूप बनकर खेत में से निकलती है। यद्यपि वह पतिता मन से नहीं है लेकिन सामाजिक रीति-नीति के कारण वह अपने को पतिता मानने लगती है। उसे अपने वंश का इतना अधिक ध्यान है कि अपने कारण वह अपने पति को समाजच्युत नहीं होने देना चाहती। उसका जीवन तो पापियों द्वारा नष्ट कर

ही दिया गया है, वह क्यों अपने कारण अपने पति को समाज से त्याज्य करे और अपने पुत्र के भविष्य को कंटकाकीर्ण करे। इसीलिये वह घर से निकल पड़ती है। लेकिन वेदना के अतिरेक से, पुत्र और पति के वियोग से, अपने कलंक से उत्पन्न ग्लानि से उसका मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहने पाता और वह 'पगली' हो जाती है।

पगली होने पर भी उसे अपने प्रति किये गये अत्याचार की विस्मृति नहीं होती। उसका हृदय प्रतिहिंसा से पूर्ण हो जाता है। अंग्रेज जाति के प्रति उसके हृदय में घृणा और रोष भर जाता है है और वह दो अंग्रेजों की हत्या से अपने हृदय की ज्वाला को शान्त करती है।

जनता को जब इस घटना की वास्तविकता का पता चलता है तो वह मुन्नी को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगती है। सुखदा जैसी स्त्री भी उसके लिये प्राण निछावर करने को तत्पर है। जनता के परिश्रम से वह मुक्त होती है। जनता उसका जलूस निकालना चाहती है पर उसे इतनी आत्मग्लानि होती है कि वह अपना कलकित मुख किसी को दिखाना नहीं चाहती। उसका पुत्र तथा पति भी उसे इस समय रुचिकर नहीं। पति उसे देखना चाहता है, स्वीकार करना चाहता है, पर उसकी आत्मग्लानि उसे अपना मुँह भी दिखाने नहीं देती। फलतः उसका पति उसके वियोग में मर जाता है। जब मुन्नी को यह पता चलता है तो वह भी गंगा में डूब कर अपना प्राणान्त करना चाहती है, लेकिन एक जाटव द्वारा बचा ली जाती है।

मुन्नी एक सच्चरित्र युवती है। इसी कारण अपने चरित्र पर की गई इस चोट से उसे मानसिक पीड़ा होती है और इसीलिये वह संसार की आँखों से छिपना चाहती है। चमार युवक से बचाये जाने पर भी उसे अपने चरित्र का पूरा ध्यान है। जब उस युवक ने उससे अपना प्रेम प्रकट किया तो मुन्नी ने उसे स्पष्ट उत्तर दिया—"अगर यह नियत है तो मुझे फिर ले जाकर गंगा में डुबो दो। अगर इस नियत से तुमने मेरी प्राण-रक्षा की तो तुमने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया।" यह था उसका चरित्र।

वह ऐसे समाज में, ऐसे संसार में आगई थी, जहाँ उसे सम्मान मिला था। जो अपने समाज से निम्न कोटि का समाज था। वह अपने को ऐसे ही समाज

के योग्य समझती थी। इसीलिये वह वहाँ रहकर अपने अतीत को भुलाने की चेष्टा करने लगी। उस समाज की सेवा में उसने अपने को भुला दिया। यही नहीं वह उनके नाच-रंग में भी भाग लेने लगी।

अमर के प्रवेश ने उसके जीवन को, निराश जीवन की गति दी और सरसता का संचार किया। वह अमर की सज्जनता और सुशीलता के कारण उसकी ओर आकर्पित हुई, किन्तु उसके उस आकर्षण में विलास की भावना नहीं थी, पाप की गन्ध नहीं थी, उसमें थी पावन हृदय की सहृदयता और वर्षों छिपे हुए प्यार का उद्‌गार।

अमर के सहयोग ने उसे स्फूर्ति दी। उसकी सेवा-भावना को अधिक सक्रियता दी। उसने अमर के कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर जाटवों को अस्वच्छता और अपवित्रता से निकाला। उनमें सदाचार और सुन्दर भावनाओं का प्रसार किया। अपनी सेवा से उसने इतना लोगों को मुग्ध कर लिया कि एक बार को अमर की बातों का प्रभाव न पड़े, उसकी बात प्रभावहीन न हो पाती थी। उसने चमारों को मरे जानवर का गोश्त खाने से विरत किया।

किसानों के लगान-आन्दोलन में भी मुन्नी अग्रणी बन कर रही। वह निरन्तर उस आन्दोलन में सहयोग देती रही। अमर से उसे इतना स्नेह था कि उनकी गिरफ्तारी के समय उसने जनता को पुलिस-सलीम के विरुद्ध भडका दिया। यदि अमर जनता को शान्त न करता तो जनता पुलिस से उसे छीन लेती। अमर के बाद उसने इस आन्दोलन का नेतृत्व भी किया तथा जेल गई। लेकिन वहाँ भी उसने अमर को सफेदी में सहायता करके अपने प्रेम का परिचय दिया। इस प्रकार मुन्नी ने अपने अनिच्छाकृत पाप का प्रायश्चित्त किया और भारतीय नारी के लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया। इसके चरित्र के चित्रण में प्रेमचन्द को सबसे अधिक सफलता मिली है।

डा० शान्तिकुमार

डा० शान्तिकुमार इस उपन्यास के आदर्श पात्रों में हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी, विदेशों की सभ्यता से पूर्ण परिचित होने पर भी सादगी और सत्यता को नहीं त्यागते। वे त्याग और तपस्या की मूर्ति हैं। आरम्भ से लेकर अन्त तक हम उन्हें सेवाव्रत में लीन देखते हैं। अमर जैसे शिष्य के निर्माण

करने का गौरव उन्हें प्राप्त है। उन्होंने सेवा का व्रत लिया है।

विदेशी शासन के प्रति उन्हें घृणा है। मुन्नी पर बलात्कार करने वाले गोरों पर सबसे पहले वे ही आक्रमण करते हैं। स्वयं पिस्तौल से घायल भी हो जाते हैं लेकन फिर भी जान पर खेलकर गोरों पर पिल पड़ते हैं। उनका यह साहस और यह आक्रमण उनकी उत्तेजना का द्योतक है। वैसे वे गरम लोहे को ठण्डे लोहे से काटने में विश्वास करते हैं। क्योंकि बाद में जब वे इस घटना पर विचार करते हैं तो उन्हें दुःख होता है। उदारहृदय इतने हैं कि ठीक होने पर छावनी में उन सैनिकों का पता लगाने जाते हैं। वे अहिंसा और शान्ति की नीति के समर्थक हैं।

डाक्टर साहब प्रदर्शन की अपेक्षा कार्य में विश्वास करते हैं। मुन्नी को छुड़ाने के लिये डाक्टर साहब का उद्योग सराहनीय था। उन्हें कर्तव्य के समक्ष व्यक्तिगत आनन्द भी रुचिकर नहीं है। इसी कारण जब उन्हें ज्ञात होता है कि अमर पुत्रोत्पत्ति के उत्सव में लीन होने से आज उपस्थित न होगा तो वे बिगड़ पड़ते हैं और कहते हैं—आज इस लौंडे पर ऐसा गुस्सा आ रहा है कि गिनकर पचास हंटर लगाऊँ। आज जब फैसले का दिन आया तो लड़के का जन्मोत्सव मनाने बैठ रहा। न जाने हम लोगों में अपनी जिम्मेदारी का ख्याल कब पैदा होगा ?" उनका सिद्धान्त यह है कि "आदमी वह है जो जीवन का एक लक्ष्य बना ले और जिन्दगी भर उसके पीछे पड़ा रहे" और हम उन्हें इसी आदर्श को प्यार करते हुए देखते हैं।

वे किसी भी कार्य में किसी अनुचित बात का समावेश नहीं होने देना चाहते। विपरीत निर्णय की सम्भावना होने पर सलीम द्वारा कालेखाँ को जज साहब को पीटने के लिये नियुक्ति का पता जब उन्हें चलता है तो उन्हें बड़ी वेदना होती है और वे इसके लिये सलीम को बुरी तरह लताड़ते हैं।

डा० साहब वर्तमान शिक्षा-पद्धति की अर्थ-सम्बन्धी अपव्ययता में भी बड़े रुष्ट प्रतीत होते हैं। वे इस पद्धति की कटु आलोचना करते हुए कहते हैं—"मैं चाहता हूं ऊँची-से-ऊँची तालीम सबके लिये मुफ्त हो ताकि गरीब-से-गरीब आदमी भी ऊँची-से-ऊँची लियाकत हासिल कर सके और ऊँके-से-ऊँचा ओहदा पा सके।"

डा० साहब धर्म के बाह्य आडम्बरों के विरुद्ध हैं। कथा के अवसर पर अछूतों के साथ किये गये अत्याचार के विरुद्ध लड़ने का बीड़ा उन्होंने ही उठाया था। दूसरे दिन उन्होंने अपनी कथा अलग कहना आरम्भ किया और अपनी ओजमयी वक्तृता द्वारा उन्होंने अछूतों को मन्दिर प्रवेश के लिये प्रेरित किया। उन्होंने कहा—"मन्दिर किसी एक आदमी या समुदाय की चीज नहीं है। वह हिन्दूमात्र की चीज है। यदि कोई तुम्हें रोकता है तो यह उनकी जबरदस्ती है। मत टलो इस मन्दिर के द्वार से; चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा क्यों न हो।" उनकी इस वक्तृता का प्रभाव इतना पड़ता है कि सभी अछूत संगठित होकर मन्दिर-प्रवेश के लिये बढ़ जाते हैं। डा० साहब स्वयं घायल होकर गिर जाते हैं। यदि देखा जाय तो वास्तव में अछूतों की सफलता का सारा श्रेय डा० साहब को ही है।

यद्यपि डाक्टर साहब त्याग और सेवा के अवतार दृष्टिगत होते हैं और सारा जीवन अविवाहित रहते हैं तथापि उनका हृदय प्रेम से शून्य नहीं है। हम उन्हें नैना के प्रति आकर्षित देखते हैं। जब उन्हें नैना की शादी धनीराम के साथ होने का पता चलता है तो बड़ा दुःख होता है। एक आह लेकर रह जाते हैं। परन्तु अपने सम्मान का ध्यान और अपनी प्रतिष्ठा का गौरव उनके प्रेम-प्रदर्शन में संयम का बाँध बनाकर खड़ा कर देता है। केवल आहत कण्ठ इतना भर कहते हैं—"तुम अब चली जाओगी नैना।" विवाह के उपरान्त भी वह नैना को भुला नहीं पाते। वे नैना को सुखी रखना चाहते हैं। सुखदा से वे स्पष्ट कह देते हैं—"पर नैना के लिए अपनी आत्मा की हत्या करने में भी मुझे संकोच नहीं है। मैं उसे दुखी नहीं देख सकता।" इस प्रकार हमें उनमें सरसता के भी दर्शन होते हैं।

डाक्टर साहब सेवाश्रम के लिये निरन्तर चिन्तित रहते हैं। सेवाश्रम के द्वारा छात्रों को शिक्षा--भारतीय संस्कृति की शिक्षा—देते हैं पर उसकी आर्थिक दशा की चिन्ता से व्यग्र रहते हैं। वे किसी अनुपयुक्त उपाय द्वारा पैसा प्राप्त नहीं करना चाहते। यह उनके सदाचार से विरुद्ध है।

इस प्रकार हम देखते है कि डा० शान्तिकुमार का चरित्र इस उपन्यास में सबसे पवित्र है। उनका जीवन आदर्श है और उनका जन्म सेवा के लिये है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

प्रश्न १—श्री भगवतीचरण वर्मा की उपन्यास कला पर एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिये ।

उत्तर—श्री भगवतीचरण वर्मा हिन्दी साहित्य में कवि के रूप में अवतीर्ण हुए थे । लेकिन शीघ्र ही कथा-साहित्य में भी आपने प्रवेश किया और चित्रलेखा लेकर हिन्दी साहित्य के समक्ष आये । चित्रलेखा उपन्यास जैसा कि वर्मा जी ने स्वयं ही लिखा है, अनातोले फ्राँस की ताया के आधार पर लिखा गया है परन्तु ताया और चित्रलेखा में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण का अन्तर है । चित्रलेखा उपन्यास की प्रमुख समस्या पाप और पुण्य की व्याख्या है । मुनि रत्नाम्बर के दो शिष्य पाप का पता लगाना चाहते हैं । मुनिवर उसकी स्वयं व्याख्या न करके उन्हें जीवन के दो क्षेत्रों में प्रविष्ट कराते हैं । एक शिष्य विशालदेव योगी कुमारगिरि की सेवा के लिये नियुक्त किया जाता है और श्वेताङ्ग सामान्त बीजगुप्त का सेवक बनाया जाता है । विशालदेव विलास से दूर एकान्त साधना के क्षेत्र में पदार्पण करता है और श्वेताङ्ग विलासपूर्ण जीवन में सुरा और सुन्दरी के सम्पर्क में आता है और ऐसे व्यक्ति की सेवा स्वीकार करता हैं जो नगर सुन्दरी चित्रलेखा का प्रेमपात्र है । विशालदेव कुमारगिरि की जीवन-चर्चा को देखता है । इनकी अहम्मन्यता के दर्शन करता है तथा चित्रलेखा द्वारा राजसभा में पराजित होने के अनन्तर कुमारगिरि के पतन को भी देखता है । साथ ही एक बार अपने गुरु को भी सचेत करता है, किन्तु स्वयं उनके प्रभाव से अभिभूत रहता है । दूसरी ओर श्वेताङ्ग वासना के क्षेत्र में पचकर चित्रलेखा की ओर—अपनी स्वामिनी चित्रलेखा की ओर आकर्षित होता है और बाद में यशोधरा से उस—यशोधरा से जो अपने जीवन का लक्ष्य बीजगुप्त को बना चुकी थी, परिणीत हो जाता है । नियत समय के पश्चात् गुरु रत्नाम्बर दोनों शिष्यों से पुनः मिलते हैं और पाप के परिचय को जानना चाहते हैं । विशालदेव और श्वेताङ्ग दोनों ही

अपने-अपने स्वामी को पुण्यात्मा और दूसरे को पापी कहते हैं। इस प्रकार रत्नाम्बर के मुख से लेखक ने कहलवाया है कि संसार में पाप और पुण्य कुछ भी नहीं है, दृष्टिकोण का अन्तर है। यद्यपि इस उपन्यास द्वारा लेखक पाप और पुण्य के सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित मत नहीं देता और न स्पष्टतः इस समस्या का समाधान ही प्रस्तुत करता है तथापि उसकी सहानुभूति बीजगुप्त के साथ ही रही है और वह उसी के पक्ष का समर्थन करता प्रतीत होता है।

यह उपन्यास मौलिक आधार पर लिखा हुआ न होने पर भी सुन्दर बन पड़ा है। लेखक ने अपने विचारों को बहुत ही स्पष्ट और परिपक्व शैली में व्यक्त किया है। साथ ही चरित्रों का विकास भी स्वाभाविक ढंग पर किया है। इस उपन्यास से ही उन्होंने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अपना स्थान बना लिया है।

वर्मा जी का दूसरा मौलिक उपन्यास 'तीन वर्ष' है। इस उपन्यास के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं यह गर्वोक्ति की है कि वह संसार के उपन्यास-साहित्य में उच्चत्तम कोटि के उपन्यासों में गिना जायगा। "निज कवित्त केहि लाग न नीका" के अनुसार लेखक का यह कथन अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु उच्च कोटि का उपन्यास होते हुए भी उसे इतनी महत्ता प्रदान नहीं की जा सकती। वर्मा जी की प्रतिभा का जो रूप हमें चित्रलेखा में दृष्टिगत होता है, वह इस उपन्यास में विकसित दृष्टिगत नहीं होता। लेकिन प्रतिभा का ह्रास कुछ-कुछ होता हुआ प्रतीत होता है।

'तीन वर्ष' उपन्यास पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार करता है। एक आदर्श-वादी छात्र रमेश इस उपन्यास का-प्रमुख पात्र है। जिसका परिचय अजीत नामक राजपुत्र से होता है। अजीत जीवन की वास्तविकता की अवहेलना करने वाला युवक है। वह एक दार्शनिक व्यक्ति है, लेकिन उसकी दार्शनिकता विचारात्मक नहीं है अपितु नैतिक जटिलता के कारण है। अन्त में अजीत रमेश का भाग्य-विधाता बन जाता है। रमेश उसी के इंगित पर चलता है। अजीत एक सुधारक का रूप ग्रहण करता है लेकिन रमेश को भी वह

सुधारने में असफलता हो जाता है। आदर्शवादी युवक रमेश का पतन होता है, उसके आचार में शिथिलता आती है। वह मानव से दानव बन जाता है। मदिरापन मे उसकी प्रवृति हो जाती है। वह वेश्याओं के सम्पर्क में आता है। लेखक ने भारत के लिए पाश्चात्य सभ्यता को घातक बताया है।

यह उपन्यास लेखक का उत्तम मौलिक उपन्यास है। चरित्रों का चित्रण भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है और कथोपकथन, भाषा और शैलो की दृष्टि से भी यह उपन्यास सफल है तथा वर्मा जी को उपन्यास-साहित्य मे एक विशेष स्थान प्रदान करता है।

'तीन वर्ष' के बाद लेखक की प्रतिभा का-उपन्यास लिखने की प्रतिभा का-ह्रास होता गया प्रतीत होता है और प्रतिभा की यह हीनता हम टेढ़े-मेढ़े रास्ते के रूप दिखाई देती है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास की रचना कतिपय राजनैतिक समस्याओं को लकर की गई है। लेकिन किसी भी समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। जिस युग की यह कृति है उससे भी यह पर्याप्त पीछे रह गई है। क्योंकि अस्पष्ट रूप स प्राचीन सामन्तवाद का समर्थन किया गया है। उस समय की सबस प्रगतिशील संस्था काग्रेस के सिद्धान्तों की भी अवहेलना की गई है। क्रान्तिकारी पार्टी और साम्यवादी सिद्धान्त तो दूर की वस्तु है। लेखक ने साम्यवाद और समाजवाद को एक ही समझा है और वास्तविकता तो यह है कि वह साम्यवाद को समझ ही नहीं सका है। वह उसका केवल नाम ही जानता प्रतीत होता है, इसीलिये उसका दृष्टिकोण साम्यवाद के प्रति अनुदार ही नहीं रहा, अपितु अनर्गल भी रहा है। क्रान्तिकारी पार्टी की अवतारणा जिस रूप मे इस उपन्यास में की गई है, वह जासूसी उपन्यासों जैसी वस्तु है। जिसने उपन्यास की कला में व्याघात ही उपस्थित किया है तथा उपन्यास-साहित्य का जो विकास हुआ है, उसके अनुकूल नहीं है। हाँ लेखक ने अपने उपन्यास को 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नाम दिया। इसलिये यदि सभी राजनैतिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को टेढ़े-मेढ़े रूप से उपस्थित किया गया है तो क्षम्य कहा जा सकता है। नहीं तो उसने विभिन्न पार्टियों को जो रूप दिया है, वह उस युग के अनुकूल भी नहीं है, आज की बात तो दूर की है।

हमने यह देखा है कि देश के स्वाधीनता संग्राम में कांग्रेस ने प्रमुख भाग लिया है और उसे सफलता भी मिली है, लेकिन इस उपन्यास में उसे जो रूप दिया है, वह हास्यास्पद है। उपन्यास का प्रमुख पात्र रमानाथ तिवारी सामन्तवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है। उसका चरित्र-चित्रण जिस रूप से लेखक ने किया है, वह सफल नहीं कहा जा सकता। ऐसा ज्ञात होता है कि रमानाथ का पितृहृदय तो सदा के लिये नष्ट ही हो गया है। बड़ा पुत्र काँग्रेस में सम्मिलित होने के कारण त्याज्य हो जाता है, दूसरा पुत्र साम्य-वादी होने से इतना बहिष्कृत किया जाता है कि उसे विदेश गमन के लिये पैसा भी नहीं दिया जाता है और रमानाथ तिवारी पर जैसे किसी घटना का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। उन्होंने जिस सिद्धान्त को अपनाया है वह प्रतिक्रिया-वादी सिद्धान्त है और इसी कारण स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस सिद्धांत में न तो कोई जनहित की भावना है और न उसमें कोई नैतिक महानता ही है। पिता जो कुछ करता है उसमें सन्तान के सुख और समृद्धि का बहुत कुछ ध्यान होता है, लेकिन रमानाथ को हम इस ओर से निरपेक्ष पाते हैं। उसके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का कथानक भी गुम्फित है। उसका विकास भी कला-त्मक नहीं कहा जा सकता। भाषा भी इतनी सुन्दर नहीं जितनी इससे पूर्व-वर्ती उपन्यासों की है। कथोपकथन में स्वाभाविकता और नाटकीयता का अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्मा जी ने उपन्यास-साहित्य मे जिस रूप से पदार्पण किया था, उस रूप को वे सुरक्षित नहीं रख पाये हैं। उनके औप-न्यासिक जीवन में वृद्धावस्था की शिथिलता और झुर्रियाँ सी प्रतीत होने लगी हैं उनके सभी उपन्यास मानव-जीवन को कोई ऐसा सन्देश नहीं देते जिसका समाज के विकास और उनकी उन्नति में सहयोग हो। यदि हम उन्हें 'कला-कला के लिये' सिद्धान्त का समर्थक मानें तो भी वर्मा जी पर यह उपयुक्त रूप से घटित नहीं होता। उपन्यास के क्षेत्र में 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' से जो स्थान वर्मा जी ने बनाया, वह वहीं का वहीं रहा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' ने उसे एक इंच भी ऊपर नहीं उठाया।

प्रश्न २—"टेढ़े-मेढ़े रास्ते" के किसी भी पात्र का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं है, सभी पथभ्रष्ट होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।" इस कथन के आधार पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के नामकरण की सार्थकता पर विचार कीजिये।

उत्तर—"ढेढ़े मेढ़े रास्ते" उपन्यास का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। उसमें सामन्तवादी मनोवृत्ति का समर्थन हुआ प्रतीत होता है। पं० रमानाथ तिवारी सामन्तवाद के मूर्तिमान् प्रतीक हैं। वे पक्के राज्य-भक्त हैं और उन्हें उसके उपलक्ष्य में आनरेरी मजिस्ट्रेटी का गौरव प्राप्त है। लेकिन वे अदालत में सन्ध्या के पाँच बजे बैठते हैं। पंखा कुली के साथ उनका व्यवहार उनकी कठोरता का परिचय देता है। रमानाथ का बड़ा पुत्र दयानाथ कांग्रेस में सम्मिलित हो जाता है। वे इसे अपने गौरव के प्रतिकूल समझते हैं और उसे घर से निकाल देते हैं। अपने स्कूल की प्रधान अध्यापिका को भी इसी कारण पदच्युत कर देते हैं। रामेश्वरी और दयानाथ के बच्चे उनके पास आने से जब मना कर देते हैं तो उनकी अहम्मन्यता और भी बढ़ जाती है और वे दयानाथ से कोई भी सम्पर्क नहीं रखते। उनका दूसरा पुत्र उमानाथ साम्यवाद का समर्थक होकर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें खोदने की चेष्टा करने के अपराध में सरकार का कोपभाजन बनता है। उसे विवश होकर विदेश भागना पड़ता है। वह उनसे व्यय के निमित्त रुपया चाहता है, किन्तु रमानाथ जी की सामन्ती भावना को और भी बल मिलता है। वह उसकी भर्त्सना करते हुये रुपये देने से इन्कार कर देते हैं। परन्तु उमानाथ पत्नी की सहायता से विदेश चला जाता है।

तीसरा पुत्र प्रभानाथ क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनता है। विश्वम्भर दयाल नामक पुलिस के विशेष अधिकारी द्वारा वह बन्दी बना लिया जाता है। श्यामनाथ उसकी मुक्ति का भरसक प्रयत्न करते हैं परन्तु उन्हें विफलता ही मिलती है, वह रमानाथ के प्रयत्न से मुखबिर होना चाहता है। इससे रमानाथ को सन्तोष नहीं होता और वे जेल में जाकर उसे ऐसा करने से रोकते हैं, अन्त में वीणा द्वारा विष खाकर मर जाता है।

तीनों पुत्रों को रमानाथ खो देते हैं। किन्तु उन्हें आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होती। उनकी सामन्ती प्रवृत्ति उन्हें चैन नहीं लेने देती। उनकी सामन्त शाही का नग्न रूप हम उस समय देखते हैं जबकि उनका मुख्तार रामसिंह जनता पर उन्हीं के आदेश से अत्याचार करता है। यहाँ तक कि एक व्यक्ति मृत्यु के मुँह में चला जाता है और झगड़ू मिश्र तक उन्हीं के कारण काल के ग्रास बनते हैं। लेकिन उनका हृदय नहीं पसीजता। सरकार का भक्त तथा राजा होने की अहम्मन्यता उन्हें चैन नहीं लेने देती। अन्त में अपने छोटे से पौत्र को लेकर आशा बांधना उपहास की ही वस्तु है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने अपनी झूठी प्रतिष्ठा के लोभ में अपने पुत्रों को खो दिया, वह अपने पौत्र से कुछ पा सकेगा और उसकी ममता उसको प्रभावित कर सकेगी, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। अतः रमानाथ का पथ भी टेढ़ा-मेढ़ा तथा अनिश्चित ही है।

दूसरा पात्र दयानाथ कांग्रेस का सदस्य बनकर अपने घर को त्याग देता है। वकालत छोड़ देता है और त्याग तथा तपस्या का अवतार बन सहर्ष जेल जाता है। पिता की उपेक्षा भी उसे अपने मार्ग से हटा नहीं पाती। यदि वे उसे त्याग देते हैं, तो वहभी गाँव में मार्कण्डेय के यहाँ जाते हुए भी पिता से नहीं मिलता। इतना कष्ट उठाते हुए भी उसका अहंकार दूर नहीं होता। उसका अहंकार ब्रह्मदत्त को उसके विरुद्ध कर देता है। फलतः चुनाव में वह पराजित होता है। उसका नेतागिरी का अभिमान चूर हो जाता है। उसकी यह पराजय ही उसे उसके मार्ग से विचलित कर देती है। वह सोचता है कि जिस कांग्रेस के लिये उसने इतना त्याग किया, पिता द्वारा बहिष्कृत भी हुआ, उसी कांग्रेस ने उसके मूल्य को न समझा। अतः ऐसी कांग्रेस में सम्मिलित होना वह श्रेयस्कर नहीं समझता। एक बार की पराजय से ही वह मैदान छोड़कर भाग उठता है पिता के पास क्षमा याचना के लिये; लेकिन पिता के द्वारा उसे व्यंग्य मिलता है, झिड़की मिलती है और उसके डिगने पर मिलती है और भी उपेक्षा। वह वापस लौटता है, पर वहाँ, किस उद्देश्य के लिये, किस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये? पता नहीं। उसका पथ भी टेढ़ा-मेढ़ा और अनिर्दिष्ट है।

तीसरा मार्ग उमानाथ का है और वह है साम्यवाद पर आधारित। लेकिन ऐसा लगता है कि उमानाथ स्वयं साम्यवाद को नहीं समझता। उसका अपना कोई मत प्रतीत नहीं होता। हिल्डा का आकर्षण उसे साम्यवाद-समाजवाद में घसीट लाता है और मारीसन के बाद भारत में सर्वप्रधान नेता बनने की अहम्मन्यता उसे इससे चिपकाये रहती है। उसके मत की जितनी भी मीटिंगें होती हैं सभी निरुद्देश्य होती हैं। न उनका कोई उद्देश्य होता है और न कार्य-क्रम। कभी उसे अपने मित्र मारीसन की सलाह से प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की धुन सवार होती है और उसके लिये वह इलाहाबाद में जाकर असफल प्रयत्न करता है तो कभी कानपुर के मजदूरों में ब्रह्मदत्त की राय से साम्यवाद का प्रचार करना चाहता है। किन्तु उसे कहीं भी सफलता नहीं मिलती। राजनैतिक अदूरदर्शिता उस में इतनी है कि वह आदमी को पहचानता नहीं है। सहसा चाहे जिस पर विश्वास कर लेता है और इसी कारण वह अपना सारा प्लान नरोत्तम नामक व्यक्ति को बता देता है। नरोत्तम गुप्तचर विभाग का व्यक्ति था। परिणामस्वरूप सारी योजना सरकार पर प्रकट हो जाती है और उमानाथ की गिरफ्तारी का वारण्ट निकल जाता है। उसे अपनी रक्षा के लिये पिता की सहायता न मिलने पर पत्नी की सहायता से विदेश भागना पड़ता है—निरुद्देश्य। उसका भावी कार्य-क्रम भी कोई निश्चित नहीं होता। अतः उसका पथ भी टेढ़ा-मेढ़ा है जिसका कोई निश्चित अन्त समझ में नहीं आता।

प्रभानाथ जिस मार्ग को ग्रहण करता है वह है क्रान्तिकारी मार्ग-हिंसा द्वारा विदेशी सरकार को पलटने का प्रयत्न। इस दल की नीति है, कमजोर शत्रु पर पीछे से वार करना। लेकिन वह इस पथ का पथिक जान-बूझ कर नहीं होता। अनायास वीणा के परिचय से और उसी के आकर्षण से वह क्रान्तिकारी बनता है। वह अपने भी जीवन का कोई लक्ष्य निश्चित नहीं करता। केवल वीणा का प्रेम ही उसे इस मार्ग की ओर लाता है। वह इसीलिये वीणा को कलकत्ते से बुलाता है और कानपुर न चाहते हुए भी क्रान्तिकारियों का केन्द्र बन जाता है। सेठ के यहाँ डकैती डालने वाली योजना में भी प्रभानाथ अनायास ही सम्मिलित हो जाता है। एक

बार सम्मिलित होकर फिर अलग होना सम्मान के विरुद्ध है, अतः वह काम करने ही लगता है। अन्त में रेल की डकैती वाले केस का रहस्योद्घाटन हो जाता है और प्रभानाथ बन्दी बना लिया जाता है। उसे छुड़ाने की भरसक चेष्टा की जाती है, किन्तु व्यर्थ। इसीलिये विवश होकर वीणा को उसे विष देना पड़ता है। इस प्रकार प्रभानाथ भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता, उसका पथ ही उसे टेढ़ा-मेढ़ा ही दिखाई देता है।

नारी पात्रों में वीणा प्रेम करती है प्रभानाथ से। लेकिन उसका प्रेम न तो उचित विकास ही पाता है और न उसे कोई जान ही पाता है। क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य मनमोहन—प्रभाकर—उसे जानता है और वह उसकी कटु आलोचना भी करता है। जिससे वीणा को वेदना होती है लेकिन उसके नारीत्व की सफलता हमें दिखाई नहीं देती। प्रभानाथ को पुलिस द्वारा कष्ट देने की बात से वह अपना प्रेम रमानाथ तिवारी पर प्रकट करती है और उसके प्रेम का अन्त होता है प्रभानाथ और उसकी अपनी मृत्यु में। प्रेम का चरम उत्कर्ष हम उसके जीवन में नहीं देखते। दूसरी नारी महालक्ष्मी पति से परित्यक्त होकर अपना जीवन बिताती है। पति का प्रेम तो उसे मिलता ही नहीं। वह अपना जीवन निराश्रित होकर बिताती है, क्योंकि उसका पति उसे त्याग कर सदा के लिये विदेश चला जाता है। इस प्रकार उसको भी असफलता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता।

इस उपन्यास में हम चार मार्ग देखते हैं। अमरनाथ तिवारी का सामन्ती, प्रतिक्रियावादी मार्ग, दयानाथ का अहिंसात्मक मार्ग, उमानाथ का साम्यवादी मार्ग और प्रभानाथ का क्रान्तिकारी मार्ग। लेकिन चारों मार्ग टेढ़े-मेढ़े ही हैं। किसी मार्ग का कोई निश्चित अन्त नहीं है और न कोई अपने मार्ग में सन्तुष्ट है। कोई अपने मार्ग में विवशता से पड़ा है, कोई अपनी झूठी प्रतिष्ठा के कारण उसे अपनाये हुए है और कोई लीडरी के मोह से उसे नहीं छोड़ता। सभी मार्गों का अन्त निश्चित है जिसकी न कोई मंजिल है और न कोई उद्देश्य।

अतः हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि लेखक ने इस उपन्यास का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नाम उचित ही रखा है और इस उपन्यास का कोई निश्चित उद्देश्य न रख कर इस नाम की सार्थकता प्रमाणित करदी है।

प्रश्न ३—औपन्यासिक तत्त्वों के आधार पर "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" की आलोचना कीजिये।

उत्तर—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यास का नाम वास्तव में बड़ा सार्थक है क्योंकि लेखक को किसी के प्रति कोई विशेष सहानुभूति नहीं है। न वह असहयोग आन्दोलन का समर्थन कर पाया है और न क्रांतिकारी मार्ग का, न उसे साम्यवाद से कोई मोह है। लेकिन सामन्ती विचार-धारा से उसकी थोड़ी बहुत सहानुभूति अवश्य झलकती है। लेकिन उस विचारधारा के प्रतीक रमानाथ तिवारी का जीवन भी शान्तिपूर्ण नहीं है। इसीलिये 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नाम उचित ही है।

उपन्यास का उद्देश्य होता है मानव जीवन की किसी समस्या को उपस्थित करना और उसका समाधान प्रस्तुत करना। यह उपन्यास कोई निश्चित समस्या उपस्थित नहीं करता। जो राजनैतिक समस्यायें लेखक ने उपस्थित की हैं, वे अभी अस्पष्ट हैं और उनका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। लेखक साम्यवाद को तो समझ ही नहीं पाया। उसने सबसे मोटी भूल तो साम्यवाद और समाजवाद को एक नाम देकर की है और दूसरी भूल वही की है जो साम्यवाद की विरोधी राजनैतिक पार्टियाँ उसे विदेशी-रूसी वस्तु कह कर करती हैं। यही कारण है कि उसने साम्यवाद का जो रूप इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है वह उसका अपना रूप नहीं है। क्रांतिकारी पार्टी को जासूसी रूप दे दिया है और एक प्रकार से उसका समावेश करके उपन्यास कला पर आघात ही पहुँचाया है। महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन से भी उन्होंने कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकाला है। प्रतिक्रियावादी विचार-धारा की विजय और उसका समर्थन उपन्यास को एक शताब्दी पीछे की वस्तु बना देता है। जब कि भारत प्रगति के आधार पर अग्रसर हो रहा था, उस समय सामन्ती शासन के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाना शोभनीय नहीं कहा जा सकता।

"टेढ़े-मेढ़े रास्ते" का कथानक चार उपकथानकों से मिलकर बना है। प्रमुख कथानक है रमानाथ तिवारी से सम्बन्धित कथानक, जिसके केन्द्र हैं उन्नाव और कानपुर। दूसरी प्रासंगिक कथा दयानाथ सम्बन्धी है और उसका केन्द्र

है कानपुर। तीसरी प्रासंगिक कथा उमानाथ से सम्बन्धित है जो कानपुर और इलाहाबाद में विकास पाती है और उसका अवसान होता है विदेशों में। क्रान्तिकारी पार्टी से सम्बन्धित कथानक कलकत्ता और कानपुर को अपना केन्द्र बनाता है और फतहपुर वाली घटना उसे उत्कर्ष प्रदान करती है। लेखक ने सभी प्रासंगिक कथानकों को अधिकाधिक कथावस्तु से कुशलता पूर्वक गुम्फित किया है और इसमें उसे सफलता भी इसी कारण मिल गई है, क्योंकि सभी प्रासंगिक कथानकों के नायक एक ही परिवार के सदस्य हैं। कथानक का प्रारम्भ रमानाथ तिवारी जी के सामन्ती जीवन से होता है। प्रभानाथ, दयानाथ और उमानाथ का विभिन्न मार्गों को अपनाना इस कथानक का विकास है। दयानाथ जी जेलयात्रा, उमानाथ का प्लान को प्रकट करना और प्रभानाथ की गिरफ्तारी तथा झगड़ू मिश्र का निधन कथानक को संघर्षमयी स्थिति में ले जाता है। दयानाथ का प्रत्यावर्तन, उमानाथ का विदेश-गमन और प्रभानाथ का आत्मघात कथानक की चरम सीमा है और अपने पौत्र की आशा में जीवन के दिन बिताने का तिवारी जी का विचार उपन्यास को अवसान देता है। इस प्रकार कथानक का विकास एक निर्दिष्ट प्रणाली पर है।

इस उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र साम्राज्यवादीसंस्कृति में पले हैं। सभी ने विलासपूर्ण जीवन बिताया है। इसी कारण सभी में अहम्मन्यता है। यद्यपि सभी के पथ भिन्नि-भिन्नि हैं और सभी के चरित्रों का विकास भिन्न रूप से हुआ है लेकिन यह गुण सभी पात्रों में है। रमानाथ तिवारी की अहम्मन्यता तो प्रकट ही है। वह एक राज्य के राजा नामधारी सामन्त हैं, अवैतनिक न्यायाधीश हैं और हैं परिवार के एक मात्र अधिपति। उनका शासनचक्र अपनी अधिकृत प्रजा पर तो चलता ही है, वे परिवार के सदस्यों को भी उसी शासन-चक्र में पीसना चाहते हैं। लेकिन जब वे सभी को विपरीत पाते हैं तो उनकी अहम्मन्यता जोर पकड़ती जाती है और उसके अन्दर का पिता मृत हो जाता है। यह मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दयानाथ त्यागी है, देशभक्त है, लेकिन उसकी अहम्मन्यता चुनाव के समय प्रकट होती है। उमानाथ की अहमन्यता प्लान के प्रकाशन के समय प्रकाश में आती है

जबकि वह उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तनन नहीं होने देना चाहता। पात्रो का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक हुआ है और यदि किसी के चरित्र का चित्रण असफल कहा जा सकता है तो वह है रमानाथ तिवारी का। नारी पात्रों में राजेश्वरी के चरित्र-चित्रण में लेखक को अधिक सफलता मिली है। वह एक भारतीय पतिपरायणा नारी है। पति की प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता है और पति का अपमान उसका अपमान है। महालक्ष्मी भी ऐसी ही है। हिल्डा के साथ पति का दूसरा विवाह सुनकर उसे क्षोभ नहीं होता। यद्यपि इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता किन्तु भारतीय नारी का आदर्श संयम में है और वह पति की इच्छा का अनुसरण करना कर्तव्य समझती है। इस दृष्टि से महालक्ष्मी का चरित्र उज्ज्वल है। वह पति के लिये अपने सारे आभूषण दे डालती है। इन नारियों को सामन्तकालीन नारी के रूप में दिखाया है जो पुरुष की इच्छा पर चलने वाली दासी हैं। वीणा एक साहसी और समानाधिकारिणी महिला है। वह भी प्रेम करती है। आरम्भ में उसे स्वाभिमानिनी और नारी-अधिकार की गर्विणी चित्रित किया है। लेकिन प्रभानाथ के समक्ष उसे झुकाकर लेखक ने अपनी उसी पुरातन मनोवृत्ति को खाद्य दिया है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि पात्रों का चरित्र विकास इस उपन्यास में कलात्मक ढंग से किया है। परन्तु अधिक और आवश्यकता से अधिक पात्रों का समावेश लेखक को बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता। पाठक के मस्तिष्क के लिये उलझनों के तन्तु बिखेर देना लेखक की कुशलता नहीं कही जा सकती।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की भाषा भी स्वाभाविक और प्रवाहमयी है। लेकिन उसमें वह प्रौढता नहीं है जो चित्रलेखा की भाषा में है। ग्रामीण पात्रों में ग्रामीण भाषा का प्रयोग कराकर यद्यपि लेखक ने औचित्य की सीमा में प्रवेश करने का साहस किया है तथापि वह उसमें पूर्ण सफल दिखाई नहीं देता। पूरबी भाषा कन्नौजी का यह रूप बिल्कुल ग्रामीण नहीं है, उसमें साहित्यकता लाने का प्रयत्न किया गया है। कथोपकथन भी पात्रों के अनुकूल हैं। लेकिन उसमें नाटकीयता का आनन्द नहीं है, कथोपकथनों में चुस्ती नहीं है, शिथिलता है, और इसी कारण उनमें कुछ-कुछ नीरसता ने भी पदार्पण किया है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के कथोपकथन ने पात्रों के चरित्र पर भी वाँछित प्रभाव नहीं डाला है। पात्रों का चित्रण अधिकतर वर्णनात्मक ढंग से हुआ है। सच्चे कलाकार के लिये यह उचित नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास पाठक पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। पाठक भी 'टेड़े-मेढ़े रास्ते' के चक्कर में पड़ कर भूल सा जाता है। आरम्भ से अन्त तक इस उपन्यास को पढ़कर अन्त मे पाठक को यही कहना पड़ता है कि लेखक ने व्यर्थ की भरती करके कला का उपहास किया है। अतः औपन्यासिक तत्त्वों की दृष्टि से इस उपन्यास को अधिक सफल नही कहा जा सकता।

प्रश्न ४—निम्नलिखित पात्रों का समीक्षात्मक परिचय दीजियेः—
रमानाथ तिवारी, दयानाथ, प्रभानाथ, वीणा और उमानाथ।

रामनाथ तिवारी

उत्तर—रमानाथ तिवारी को इस उपन्यास का नायक कहा जा सकता है क्योंकि आरम्भ से अन्त तक उन्हीं का प्राधान्य पाया जाता है। भारतीय उपन्यास कला की दृष्टि से तो फल का उपभोक्ता नायक होता है। किन्तु न तो इस उपन्यास का कोई फल है और न कोई भोक्ता। अतः पाश्चात्य दृष्टिकोण को ही मान्यता देनी पड़ेगी।

तिवारी जी अवध के एक प्रसिद्ध ताल्लुकेदार हैं। बरनापुर उनका ग्राम है, लेकिन निवास स्थान है उन्नाव में। सरकार उन्हें मानती है और उन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेटी का गौरव दे रखा है। साथ ही इतनी सुविधा भी दी है कि वे अपनी सुविधा के अनुसार चाहे जिस समय अपनी कोठी पर ही मुकदमे कर सकते हैं। जनता तथा परिवार के सभी सदस्यों पर उनकी धाक है और सभी उनसे डरते हैं। इसी कारण उनका अहंकार बढ़ा हुआ है।

उनकी कठोरता का दर्शन सबसे पहले हमें उस समय होता है जबकि थके हुए पंखा कुली को वह झिड़कते हैं। इसी समय उनके अधिकार मद और जमींदारी शान का आभास मिल जाता है। उमानाथ के विदेश से आने के अवसर पर प्रायश्चित के समय जब दो ब्राह्मण परस्पर वादविवाद करते हुए

लड़ने को प्रस्तुत होते हैं तो तिवारी जी के अधिकार भरे स्वर से वे सहम जाते हैं। इससे उनका जनता पर आतङ्क प्रकट होता है। जमींदारी की कटुता और शासन का गर्व उस समय अधिक खलता है जब कि उनके आदेश से उनका कर्मचारी रामसिंह जनता पर अत्याचार करता है। वे झगड़ू मिश्र का अपमान करने के कारण रामसिंह को पदच्युत तो करने का निर्णय दे देते हैं, लेकिन शासन को शिथिल नहीं होने देना चाहते। इसी कारण दो माह का समय देते हैं। उनकी निर्दयता इतनी बढ़ जाती है कि परमेश्वर नामक किसान की मृत्यु हो जाती है। वह आमरण अनशन करके न्याय चाहता है, लेकिन तिवारी जी का हृदय नहीं पसीजता। इसके बाद भी उन्हीं की रक्षा में झगड़ू मिश्र अपने प्राणों को बलि दे देते हैं लेकिन तिवारी जी पर उसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जमींदारों का यह अमानवीयपन उस समय एक प्रचलित स्वभाव था।

तिवारी जी का दूसरा रूप है राजभक्त होने का। उनकी राजभक्ति में अपनी जमींदारी के विनाश की सम्भावना अधिक है। इसी कारण वे राजभक्त हैं और इसी कारण किसी भी राजनैतिक आन्दोलन को वे हितकर नहीं समझते तथा उसका उपहास करते है। दयानाथ का कांग्रेस मे सम्मिलित होना उन्हें कुल की प्रतिष्ठा के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। इसी कारण वे उसे समझाते हैं और जब वह अपने पथ से नहीं डिगता तो उसे परित्याग कर देते हैं और अपने अधिकार से वे घर के सभी सदस्यों को भी दयानाथ से कोई सम्बन्ध न रखने का आदेश दे देते हैं। लेकिन प्रभागाथ, उमानाथ यहाँ तक कि श्यामनाथ तक उनकी इस आज्ञा की अवहेलना करते हैं, किन्तु खुलकर उनकी आज्ञा को न मानने का साहस किसी में नहीं होता। प्रभानाथ के उत्तर से उन्हें क्षोभ होता है और सबसे अधिक क्रोध उन्हे तब आता है जब दयानाथ की पत्नी उनका आदेश नहीं मानती और उनके आदेश से दयानाथ के आदेश को महत्त्व देती है। वे उस समय उस औरत को इसका दण्ड देने तक की कल्पना कर लेते हैं।

उमानाथ से वे बड़े ही प्रसन्न दिखाई देते हैं, क्योंकि वह विदेश से उच्च शिक्षा प्राप्त करके उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाला होगा। यहाँ तक

कि उसे मन ही मन वे अपना उत्तराधिकारी भी चुन लेते है। लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वह भी सरकार विराधी है तो वह भी उनकी आँख का काँटा बन जाता है। वह भी उनका कोपभाजन बनता है और जब वह विदेश जाने के लिये व्यय माँगता है तो कठोर शब्दों में उससे कहते हैं—"हम पूँजीपतियों को मिटाने के लिये तुम हमारा ही रुपया चाहते हो ? कितनी मजेदार बात है और तुम समझते हो मैं स्वयं विनष्ट होने के लिये तुम्हें शक्ति प्रदान करूँगा—तुम्हें रुपया दूँगा...उमा जाओ यहाँ से। तुम समाज के सब से भयानक शत्रु हो—जाओ, मेरे सामने से जाओ" और उनकी राजभक्ति एक विद्रूप का विषय बन जाती है।

प्रभानाथ से आरम्भ में तो उन्हें प्रेम होता है और उसी प्रेम के वशीभूत होकर वह उसे नई कार दिलाते हैं, कलकत्ते उमा के स्वागतार्थ भेजते हैं और दयानाथ के यहाँ न जाने का आदेश दे देते हैं लेकिन जब उन्हें उसकी दयानाथ के घर जाने की बात ज्ञात होती है तो वे प्रभानाथ से समाधान चाहते हैं। लेकिन प्रभानाथ का यह उत्तर पाकर कि मेरी आत्मा पर आपका अधिकार नहीं है, उन्हें पीड़ा होती है। लेकिन उस दशा में भी उनकी ममता उसके प्रति अवश्य रहती है, जो उसकी गिरफ्तारी के समय प्रकट होती है। वे प्रभानाथ को छुड़ाने की भरसक चेष्टा करते हैं, रिश्वत देने का प्रयत्न करते हैं, और कानपुर में कोठी लेकर रहते हैं और निरन्तर उसकी मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिल पाती। उस दशा में कभी-कभी उन्हें क्षोभ भी हो उठता है। उस समय उनकी ममता और राजभक्ति के बीच का अन्तर्द्वन्द्व दर्शनीय है।

तिवारी जी में अधिकार का मद है। शासन उन्होंने किया है। अतः किसी का विरोध उन्हें सह्य नहीं है। विरोध की दशा में वे क्रोधित हो उठते हैं। दयानाथ के बँगले पर जाते समय स्वयंसेवक के रोकने पर उसे चाँटा मारना अनैतिकता ही नहीं अपितु क्रोध का असुन्दर रूप है। लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वीणा भी क्रान्तिकारी दल की सदस्या है और उसी के कारण उनका पुत्र प्रभानाथ क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुआ है तो उनका क्रोध

मानवता के धरातल से उन्हें गिरा देता है और वे वीणा के चाँटा मार देते हैं। भारतीय नैतिक सिद्धान्त के अनुसार नारी पर हाथ उठाना पतन की पराकाष्ठा है और कायरता का प्रमुख चिन्ह है। रमानाथ तिवारी इसी कोटि के व्यक्ति प्रतीत होते हैं। लेकिन क्षण भर बाद ही उन्हें अपने पतन का ध्यान आ जाता है और उन्हें पश्चात्ताप होता है। वे उससे क्षमा याचना करते हैं।

पिता के रूप में रमानाथ को हम असफल पाते हैं। उनके हृदय में किंचिन्मात्र ममता प्रतीत नहीं होती। उनके हृदय की रसधारा को उनकी राज्य-भक्ति की कठोरता ने शुष्क बना दिया है। वे शासक हैं, सरकार के भक्त हैं, जमींदार है, लेकिन पिता नहीं हैं।

यद्यपि उनका मोह सन्तान के प्रति किंचिन्मात्र भी नहीं रह जाता, तथापि उनको यह स्वीकार नहीं है कि उनके पुत्रों ने जिस पथ को अपनाया है वे किसी अनुचित कारण से उस पथ से डिगें। जिस सिद्धान्त को अपनाया है उसी पर अविचलित रूप से चलना श्रेयस्कर है। इसी कारण जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि अमरनाथ ने मुखबिर होना स्वीकार कर लिया तब उन्हें आन्तरिक पीड़ा होती है। वे कह उठते हैं—"एक जान बचाने के लिये दस-बीस- न जाने कितनी जानें नष्ट हों।" पर दूसरे ही क्षण उनकी ममता कहती है—"लेकिन इन दस-बीस जानों की चिन्ता क्यों? लाखों आदमी रोज मरते हैं, हम किसकी चिन्ता करते हैं।" इस समय का अन्तर्द्वन्द्व उनके चरित्र का सुन्दर स्वरूप उपस्थित करता है। अन्त में कर्त्तव्य-भावना ही की विजय होती है और वे जेल में प्रभानाथ को इस प्रकार सावधान करते हैं—"प्रभा, अपने कर्मों का उत्तरदायी मनुष्य स्वयं होता है। किसी के विवश करने से जिसे तुम अनुचित समझते हो, उसे करना कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय तुम्हारे हाथ में है।" इस प्रकार से प्रभा की कर्त्तव्य-भावना को जागृत कर देते हैं, लेकिन पुन: उनकी ममता जग जाती है और वे उदासीन होकर चले आते हैं। इसी प्रकार जब दयानाथ कांग्रेस छोड़कर लौटता है तो वे उससे कहते हैं—"दया! तुम कांग्रेस को छोड़कर और भी बड़ी गलती कर रहे हो······तुम कायर की तरह वहाँ से भाग रहे हो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि रमानाथ का चरित्र बड़ा संघषपूर्ण है। उनके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण लेखक ने अत्यन्त सुन्दरता से किया है। एक वाक्य में उनके चरित्र का रूप उन्हीं की अन्तरात्मा से इस प्रकार चित्रित हुआ हैं—"यह सब तुमने किया; तुम्हारी अहम्मन्यता ने। तुम कुलघातक हो।'

दयानाथ

दयानाथ रमानाथ तिवारी का सबसे बड़ा पुत्र है। कानपुर का प्रसिद्ध वकील है। यद्यपि उतका पालन-पोषण विलासमय वातावरण में हुआ है तथा उसे इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रयत्न किया है, जिससे वह राज्यभक्त ही बने, लेकिन महात्मा गांधी के असहयोग से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता और कांग्रेस का सदस्य बन जाता है।

देश-सेवा वह अपने जीवन का ध्येय बना लेता है और उसी धुन में वह अपनी वकालत से भी त्यागपत्र दे देता है। कांग्रेस के आन्दोलन में सम्मिलित होने के कारण वह पिता द्वारा घर से अलग कर दिया जाता है, उनका कोप-भाजन बनता है, किन्तु वह अपने ध्येय से विचलित नहीं होता। अपने इसी त्याग के कारण वह जनता में मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। आत्म-गौरव से उसका हृदय फूल उठता है और वह अपने छोटे-छोटे बच्चों को तथा पत्नी को निरवलम्ब छोड़कर जेल चला जाता है। यह है उसका त्याग!

दयानाथ में वंश-परम्परा से अहमन्यता भरी हुई है। यदि उसके पिता उसे परित्याग कर देते हैं तो वह भी उनसे अलग रहना चाहता है। इस अलग रहने में भी आत्म-सम्मान को चोट पहुँचने की ही भावना है। पिता द्वारा अपमानित होने में भी वह वेदना का अनुभव करता है। मार्कण्डेय के पिता के निधन के अनन्तर वह सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये वरनापुर जाता है, लेकिन अपने घर नहीं जाता। इस प्रकार वह अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करने का प्रयत्न करता है।

दयानाथ की यही अहम्मन्यता उसे नेतागिरी के लिये प्रेरित करती है और वह आन्दोलन का कुशलता के साथ संचालन भी करता है। उसका जीवन एक सेवक का जीवन नहीं है। देशभक्त के सच्चाई, त्याग और कष्ट

सहिष्णुता आदि गुण तो उसमें हैं लेकिन नम्रता और सेवा की निस्वार्थ भावना उसमें नहीं है। वह सम्मान चाहता है और सारी काँग्रेस कमेटी को अपनी आज्ञा में चलाना चाहता हैं। यह एक देश-भक्त के लिये शोभा की बात नहीं।

दयानाथ को अपनी सेवा और अपने चरित्र की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है। उसी विश्वास के बल पर चुनाव में सफलता पाने की आशा करता है। उसका अपने पर यह विश्वास नैतिक दृष्टि से सराहनीय कहा जा सकता है, लेकिन इस विश्वास में गर्व की भावना श्रेयस्कर नहीं है। वह ब्रह्मदत्त की कटु आलोचना करता है, उसे गालियाँ तक देता है तथा उसके समक्ष झुकना अथवा मत प्राप्त करने के लिये कहना भी अपना अपमान समझता है। हम इसे उसका बढ़ता हुआ अहङ्कार तथा राजनैतिक अदूरदर्शिता ही कहेंगे। उस का चातुर्य तो तब प्रकट होता जब वह अपनी नैतिकता से, अपनी नम्रता से और अपनी राजनीतिक कुशलता से ब्रह्मदत्त को अपने साथ मिला लेता। लेकिन ऐसा नहीं कर पाता। जिसका परिणाम होता है उसकी पराजय।

यही पराजय उसके पतन का कारण होती है। सच्चा देशसेवक जय और पराजय की चिन्ता नहीं करता। पर दयानाथ हमें पदलोलुप दिखाई देता है। इसी कारण चुनाव में परास्त होने पर वह अपने सिद्धान्त से डिग जाता है और कांग्रेस त्यागने का विचार कर लेता है तथा पिता के पास क्षमा याचना के लिये लौट पड़ता है। उसका पिता से यह कहना—"मैंने काँग्रेस में सम्मिलित होकर गलती की, मैं कांग्रेस छोड़ रहा हूँ।" उसके पतन को व्यक्त करता है। लेकिन पिता की भर्त्सना और उनका कोप उसे पुन: गिरने से बचा लेता है। इसमें हम उसकी महत्ता नहीं, उसके पिता की ही महत्ता कहेंगे।

दयानाथ हमारे समक्ष एक मित्र के रूप में भी आता है। मार्कण्डेय से उसकी गहरी मैत्री है। वह मार्कण्डेय से अपनी आन्तरिक बातों को भी प्रकट कर देता है तथा उसे वह अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी ही नहीं बनाता अपितु घर का सारा भार भी उसे ही समर्पित कर देता है। मित्र में विश्वास का यह रूप उनकी मित्रता के गौरव का प्रदर्शक है। मार्कण्डेय के पिता की मृत्यु से उसे महान् दु:ख होता है और इच्छा न रहते हुए भी केवल उसी से सहानुभूति प्रदर्शन के लिये कानपुर जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानाथ के चरित्र में उत्थान और पतन का एक चक्र है जिसमें उत्थान ही ऊपर दिखाई देता है। लेखक ने उसका चरित्र अत्यन्त कुशलता के साथ चित्रत किया है।

प्रभानाथ

प्रभानाथ पं० रमानाथ तिवारी का द्वितीय पुत्र है। वह हमारे सामने एक छात्र के रूप में आता है। जिसको न जीवन का कुछ अनुभव है और न वह संसार के वैविध्य से परिचित। उसमें उत्साह है, उमङ्ग है और सबसे अधिक है अनुभवहीनता। इसी कारण उस पर चाहे जिस परिस्थिति का प्रभाव पड़ सकता है। उसका हृदय अभी कोमल है जो किसी अभाव से स्पन्दित होने लगता है।

नवयुवक होने के कारण वह विनोदप्रिय है। पारिवारिक जीवन में देवर और भोजाई का सम्बन्ध सरस और साथ ही विनोद को बढ़ाने वाला होता है। इसी कारण हम प्रभानाथ को भी अपनी भाभी से विनोद करते हुए पाते हैं। उमानाथ के आगमन की सूचना मिलने पर प्रभानाथ उसकी पत्नी तथा अपनी भाभी महालक्ष्मी के पास जाकर कहता है—इसीलिये तो तुम्हारे लिये उपाहार लेने कलकत्ता जा रहा हूं। सच भौजी, सिर्फ तुम्हारे लिये उपहार लेने कलकत्ता जा रहा हूं।" उसका विनोद अपनी भौजी के साथ भी होता है।

प्रभानाथ अपने भाई से प्रेम करता है। यदि पिता उसे त्याग देते हैं तो वह तो उनके कारण उन्हें नहीं त्याग सकता। पिता के यह आदेश देने पर कि तुम कलकत्ता जाते समय कानपुर दयानाथ के यहाँ नहीं जा सकते, वह स्पष्ट कहता है—"आप मुझे बड़के भैया के यहाँ नियन्त्रण लगा रहे हैं। हम लोगों को बड़के भैया के यहाँ जाने से रोककर आप बड़ के भैया को कष्ट पहुँचाना चाहते हैं, लेकिन आप इस बात पर ध्यान नहीं देते कि उनके यहाँ न जाकर, उनसे न मिलकर मुझे भी कष्ट होगा।" और हम देखते हैं कि वह उनकी आज्ञा की अवहेलन करके दयानाथ के घर जाता है और दयानाथ के जेल जाने पर राजेश्वरी को—अपनी भाभी को घर ले जाने का वही सबसे

अधिक प्रयत्न करता है। उमानाथ ने उसकी भौजी को त्याग कर हिल्डा से—एक विदेशी महिला से विवाह कर लिया है तो उसकी श्रद्धा उससे कम हो जाती है। फिर भी वह उसका सम्मान करता ही है।

प्रभानाथ का हृदय अत्यन्त कोमल है, वह एक भावुक व्यक्ति है, इसी कारण भावना के वेग में वह सब कुछ कर सकता है। कलकत्ता नगर में पूंजीपतियों की विशाल अट्टालिकायें, वेश्याओं के साथ उनकी विलास-क्रीड़ायें देखता है, दूसरी ओर वह दीन जनता को देखता है, कलकत्ते में फैली बेकारी को देखता है तो उसका हृदय पूँजीपतियों के प्रति घृणा से भर जाता है और दीनों के प्रति जगती है उसके हृदय में करुणा और वह करुणा क्रियात्मक रूप तब धारण करती है जब वह एक रिक्शे वाले पर दया करके मारवाड़ी से लड़ पड़ता है और उसे पूरी मजदूरी दिलाता है। दूसरे स्थान पर एक बेकार युवक को माता की चिकित्सा के लिये पाँच रुपया दे देता है। लेकिन जब उसे यह ज्ञात होता है कि वे दोनों मर गये तो उसे महान् दुःख होता है।

जैसा कि अभी कहा गया है कि वह भावुक है और इसकी भावुकता उसे किसी भी पथ का पथिक बना सकती है। कलकत्ते की दशा जिस समय उसके हृदय को आन्दोलित कर रही थी उसी समय उसके जीवन में वीणा का प्रवेश होता है—एक साहसी, वीर और देशभक्त महिला के रूप में। वह उसकी निर्भयता से, उसके साहस से और उसकी स्वदेश-भक्ति से प्रभावित हो उठता है और उसके प्रेम-सूत्र में आबद्ध होकर उसी के पथ का पथिक बन जाता है। वीणा का प्रेम उसे क्रान्तिकारी बना देता है। वीणा उससे इस मार्ग का अनुसरण न करने के लिये कहती है तो वह निर्भीक होकर उत्तर देता है :—

"हाँ, मैं जानता हूं और यह भी जानता हूँ कि कोई भी मनुष्य अमर नहीं है मृत्यु का कोई विधान नहीं, नियम नहीं और अवधि नहीं। वह कभी भी आ सकती है—उस पर मनुष्य का कोई भी वश नहीं, फिर भय कैसा ?" और अन्त तक हम उसे निर्भीक हो पाते हैं।

प्रभानाथ ने अपने प्रेम का सुन्दर परिचय दिया है। वीणा को उसने

अपनी प्रणयिनी बना लिया है और वह उसे अपने पास अपने कन्याविद्यालय की प्रधानाध्यापिका के रूप में स्वीकार कर लेता है। अपने पिता से कह कर उसे अपनी ही कोठी में स्थान देता है तथा उसका प्रेम वहीं विकसित होने लगता है। वीणा को वह अपनी सहधर्मिणी के रूप में मानता है और क्रान्तिकारी दल में वह भी उसे पूर्ण सहयोग देती है। अपने जीवन के अन्तिम काल में भी वह वीणा के प्रेम का पालन कर रहा है और उसी के संकेत से बलिदान हो जाता है।

प्रभानाथ एक वीर क्रान्तिकारी है। वह अपनी पार्टी की प्रत्येक योजना में अग्रणी रहता है। मृत्यु को उसे किंचित मात्र भी चिन्ता नहीं है। एक पूंजीपति के यहाँ डकैती डालने के लिये वह सहर्ष और सोत्साह ड्राइवर होना स्वीकार कर लेता है तथा डाका डालने का श्रेय सारा उसी पर है। सरकारी ट्रेन लूटने के कार्य में भी उसका प्रमुख हाथ है। अन्त में वह गिफ्तार होता है। वह अपने किसी भी प्रिय व्यक्ति पर संकट आने नहीं देना चाहता। इसी कारण डाक्टर अवस्थी के यहां स्वयं ही पुलिस के समक्ष उपस्थित हो जाता हैं। वह जानता है कि उसके अपराध का दण्ड मृत्युदण्ड होगा, लेकिन वह अपने पथ से विचलित नहीं होता। लेकिन जैसा कि कहा गया है वह भावुक है और भावुक का हृदय शीघ्र प्रभावित हो जाता है। इसीलिये अपने चाचा की आज्ञा से, उनके प्रेमानुरोध से वह सरकारी गवाह होना स्वीकार कर लेता है। परन्तु पिता का सम्बोधन पुन: उसकी कर्त्तव्य भावना को जगा देता है और फिर तो वह वीणा को भी फटकार देता है। इस प्रकार हम उसे अपने उद्देश्य के लिये बलि होते पाते हैं।

प्रभानाथ में मैत्री-धर्म को निभाने की भी पूर्ण क्षमता है। क्रान्तिकारी दल के सभी सदस्यों से वह पूर्ण सहयोग रखता है और मनमोहन का मृत्यु पर्यन्त साथ देता है। जिस समय घायल मनमोहन चलने में असमर्थ होता है तो वह पुलिस के घेरे में से उसे उठाकर उसकी जीवनरक्षा के लिये भाग खड़ा होता है। मनमोहन कहता है कि उसके कारण उसे भी संकट में फंसना पड़ेगा। इसकी वह चिन्ता नहीं करता। मित्र के लिये प्राण देने में भी उसे प्रसन्नता ही होगी।

प्रभानाथ कष्टसहिष्णु व्यक्ति है। उसके हाथ में गोली लग जाती है, उसकी पीड़ा भी बहुत होती है लेकिन वह किसी को उसका पता तक नहीं चलने देता। अपना आपरेशन भी बिना मूर्च्छा के कराना है।

इस प्रकार प्रभानाथ को लेखक ने एक साहसी, वीर और निर्भीक व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

वीणा

वीणा हमारे सामने एक वीर, साहसी और क्रान्तिकारी रमणी के रूप में उपस्थित होती है। वह बंगाल के क्रान्तिकारी दल की प्रमुख सदस्या है। पुलिस द्वारा घेरा डालने पर वह अपनी पिस्तौल से एक पुलिस वाले को आहत करके भाग खड़ी होती है और अपनी कुशलता का परिचय देती है।

वीणा क्रान्तिकारणी दल में देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर सम्मिलित हुई है। उसका विचार है कि एक शान्तिप्रिय, कायर, गुलाम राज्यभक्त ही सरकार की सहायता करता है। वह बड़ी तार्किक महिला है। प्रभानाथ जब क्रान्तिकारी दल की शक्ति की न्यूनता का वर्णन करते हुए उसकी निरर्थकता घोषित करता है तो वह उत्तर देती है—"गुलाम का अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं, उसकी जिन्दगी दूसरों के वास्ते है, उस जिन्दगी से फायदा ही क्या? दस नहीं, अगर सौ, बल्कि हजार आदमी मारे जांय, तो मुझे खुशी होगी। मैं समझूँगी कि दुनिया में हजार गुलामों की कमी हुई।" कितने उच्च विचार हैं उसके। गुलामी के जीवन से वह मृत्यु श्रेयस्कर समझती है।

वीणा क्रान्तिकारी दल के किसी भी पुरुष सदस्य से कम नहीं है। वह पूरा क्रियात्मक सहयोग प्रदान करती है। उसके आने पर ही कानपुर क्रान्तिकारी दल का प्रमुख केन्द्र बनता है। वीणा के कारण ही संकटापन्न परिस्थिति में सरसता का सञ्चार हो जाता है। वह सभी को चाय पिलाती है और अपने मृदुल व्यवहार से साहस और उत्साह का सञ्चार करती है।

वीणा एक स्वाभिमानिनी नारी है। क्रान्तिकारी दल के गौरव का उसे पूर्ण ध्यान है। इसी कारण जब उसे यह ज्ञात होता है कि प्रभानाथ ने सरकारी गवाह होना स्वीकार कर लिया है तो उसे महान् दुःख होता है और वह

रमानाथ तिवारी से कहती है—"मैं आपसे पूछती हूं कि प्रभानाथ जो कुछ कर रहे हैं, उचित कर रहे हैं ? क्या आप उसे उचित समझते हैं ?" इस पर जब वह उसके औचित्य को स्वीकार करने के लिये घर से निकलने के लिये कहते हैं तो वह निर्भीक होकर उत्तर देती है—"विश्वासघातियों का अन्न खाकर मैंने अपने को अपवित्र कर लिया है, इसका प्रायश्चित्त करना होगा।" और हम देखते हैं कि वीणा सारे क्रान्तिकारी दल की रक्षा करती है तथा अपने प्रियतम को भी पतन से बचाती है। इस प्रकार वह दोनों उत्तरदायित्वों को एक साथ निभाती है।

क्रान्तिकारी दल का कठोर कार्य करते हुए भी आखिर वीणा नारी ही है। लेकिन वह घर की चार-दीवारी के अन्दर रहने वाली नारी नहीं है। वह पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली नारी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी सहायता देने वाली नारी है। सच्चे अर्थों में वह अर्धाङ्गिनी है। प्रभानाथ की उदारता, सरल हृदयता और निर्भयता को देखकर वह मुग्ध हो जाती है। होटल में उसके साथ अलग कमरे में रहते हुए उसका हृदय आन्दोलित हो उठता है और वह अपने पर संयम नहीं रख पाती तथा प्रभानाथ के समक्ष आत्म-समर्पण कर देती है। वह नहीं चाहती कि प्रभानाथ अपने जीवन को संकट में डाले। इसलिये वह प्रभानाथ से कहती है—"नहीं, मरने के लिये मैं हूँ और सब हैं। लेकिन आप! आपके मरने का अभी समय नहीं है। अगर आप विपत्ति में पड़ जायँगे तो मैं नहीं रहूंगी—नहीं रह सकूँगी।"

वीणा अन्त तक पातिव्रत का पालन करती है। प्रभानाथ का बुलावा आने पर वह गद्गद् हो उठती है और उसके मुख से निकल पड़ता है—"मेरी साधना सफल हुई, मेरे आराध्य देव ने मुझे याद तो किया।" और वह अपनी जन्मभूमि त्याग कर अपने प्रियतम के पास आ जाती है। अपने प्रेम को छिपाती हुई भी वह उसका पालन करती चलती है। लेकिन अन्त में रमानाथ के समक्ष वह अपना प्रेम प्रकट करती हुई कहती है—"दद्दुआ! आप तो केवल अपने पुत्र को ही खो रहे हैं और मेरा सर्वस्व खो रहा है।" पति को विष देकर

उसकी मर्यादा की रक्षा करते हुए तथा विश्वम्भरदयाल नामक पुलिस अफसर को मार कर बदला लेते हुए आत्महत्या करके अपने प्रेम का भी परिचय देती है।

वीणा का हृदय उदार है तथा सेवा भावना से पूर्ण है। वह रमानाथ तिवारी की सेवा में तत्पर रहती है और उसे पुस्तक आदि पढ़ कर सुनाया करती है। अपनी सहेली प्रभा के प्रति भी उसका पूर्ण प्रेम है। उसकी मृत्यु से वह अत्यधिक दु:खी होती है तथा उसका सामान नष्ट करने में उसे बड़ा कष्ट होता है और स्मृति स्वरूप वह कुछ न कुछ बचा ही लेती है।

इस प्रकार वीणा एक आदर्श नारी है और लेखक ने दिखाया है कि भारत को ऐसी ही नारियों की आवश्यकता है।

उमानाथ

उमानाथ रमानाथ तिवारी का मझला पुत्र है। विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने से उसने भारतीयता को बिल्कुल भुला दिया है। यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को वह बहशीपन समझता है और इस देश को वह बहशी मुल्क कहता है। पिता के चरण छूने को वह 'जंगली' के नाम से अभिहित करता है। अपने से बड़ों को अभिवादन करना वह अपना अपमान समझता है। केवल हाथ मिलना उसे रुचिकर है और इसी लिये वह अपनी भाभी से भी हाथ ही मिलाना चाहता है।

विदेश जाकर उसने हिल्डा से दूसरा विवाह कर लिया है। परन्तु उस विवाह में प्रेम नहीं है, केवल फैशन की शुष्कता है। अपनी विवाहित पत्नी महालक्ष्मी की ओर आँख भी नहीं उठाता। उसको वह परित्याग कर देता है, यहाँ तक कि अपने अंग्रेज मित्र को उसे सौंपना चाहता है। लेकिन अन्त में महालक्ष्मी की सेवा, प्रेम और त्याग के सामने उसे झुकना पड़ता है। वह उसको देवी मानकर अपनी भूलों के लिये क्षमा माँगता है।

उमानाथ ने केवल उच्च शिक्षा ग्रहण की है। किन्तु वह जीवन की वास्तविकता से दूर है। संसार का व्यावहारिक ज्ञान उसे किंचित् भी नहीं

है। इसीलिये उसका न कोई निश्चित ध्येय है और न सिद्धांत है। केवल नेतागिरी के लोभ से कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनता है पर कोई ठोस कार्यक्रम निश्चित नहीं कर पाता। राजनीतिक क्षेत्र में भी वह अदूरदर्शी है। सहसा अपना सारा प्लान एक अपरिचित को देकर स्वयं संकट मे पड़ जाता है और देश से भागना पड़ता है। पश्चिमी शिक्षा ने उसे हृदयहीन बना दिया है। इसलिये उसका अपने पिता और भाई से विशेष प्रेम नहीं। राजेश्वरी के प्रति उसकी सहानुभूति स्वार्थ से शून्य नहीं। वह एक अहम्मन्यता से पूर्ण व्यक्ति है। उसका चरित्र साधारण है।

———
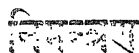
निमन्त्रण

(ले०—भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

प्रश्न १—उपन्यास कला के आधार पर 'निमन्त्रण' का मूल्यांकन कीजिये।

उत्तर—उपन्यास कला की दृष्टि से उपन्यास के निम्नांकित तत्त्व माने गये हैं—१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. कथोपकथन, ४. देशकाल, ५. शैली, ६. उद्देश्य।

हम सबसे पहले उद्देश्य को ही लेंगे और इसके लिये हमें उपन्यास पढ़ कर अपना निष्कर्ष निकालने का कष्ट भी नहीं करना है, उपन्यास आरम्भ करने से पहले लेखक ने स्वयमेव, अत्यन्त संक्षेप में अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। वाजपेयी जी लिखते हैं—

"हमारे समाज की आज जो आर्थिक, कौटुम्बिक, नैतिक और मानसिक स्थिति है, उसकी—बाहर से देखने में फैली और बिखरी हुई, किन्तु यथार्थ में सम्बद्ध और शृङ्खलित एक झलक इस अपने···उपन्यास में देने की चेष्टा मैंने की है। मैंने इस विश्वास के साथ इसकी एक-एक पंक्ति लिखी है कि यही सत्य है, यही यथार्थ है। जहाँ कहीं मैंने आलोचना अथवा प्रचार का अवलम्ब ग्रहण किया है, वहाँ भी मेरा लक्ष्य शिव ही रहा है।"

लेखक वास्तव में कहना यह चाहता है कि उसने दो काम किये हैं, एक तो उसने समाज में चल रहे पाखण्डों का पर्दा फाश किया है। दूसरे विभिन्न लोग जो कभी-कभी आशातीत और अप्रत्याशित कार्य कर जाते हैं, उनका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्या है? वे कौनसी मानसिक कुंठायें हैं जो मनुष्य के जीवन पर निर्णायक प्रभाव डालती हैं, यही मानसिक या मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ मानवजीवन में रस या विष की उत्पादिका हैं और मनुष्य के

कार्य व्यापारों का बहुत कुछ संचालन एवं नियन्त्रण ये ही करती हैं, इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

और इसे स्पष्ट करने के लिये उसने एक कहानी की कल्पना की है जिसमें उसने समाज के वर्ग से कुछ पात्र लिये हैं और इस प्रकार समाज के बाह्य और आन्तरिक रूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

कथावस्तु (कथासार)—गिरधारी शर्मा सम्पादक हैं, बड़े व्यस्त रहते है। वे 'संजीवन' नामक एक दैनिक पत्र निकालते है, प्रेस अपना अवश्य है किन्तु कर्ज में है। घर की समस्यायें अलग हैं। सम्पादक जी की पत्नी का नाम हैं रेणु और एक बच्चा रंजन है जो बुखार से पीड़ित रहता है। तीन बच्चे इससे पहले हुए और मर गये। शर्मा जी को कभी इतना समय नहीं मिलता कि वे घर की ओर भी ध्यान दें। पत्र-सम्पादन और उसका प्रबन्ध, मजदूरों का सगठन, भाषण तथा सभाओं के आयोजन आदि मे ही उनका अधिकांश समय चला जाता है। घर पर एक नौकर अवश्य है किन्तु खाना रेणु को ही बनाना पड़ता है, क्योंकि रेणु नौकर (कहार) के हाथ का बना भोजन नहीं कर सकती, नहीं तो उसके मायके के यहाँ उसकी माँ और भाभी उसे चौके में भी नहीं घुसने देंगी।

अनेक विचारों में उलझे हुए शर्मा जी एक दिन नवाबगंज की सड़क पर जा रहे थे कि अचानक मालती से भेंट हो गई "अरे आप यहाँ कहाँ मास्टर साहब ?" मालती ने पुकार लिया। शर्मा जी बड़े असमंजस में पड़ गये कि आखिर यह महिला कौन है जो मुझे जानती है। याद आया यह तो मालती है, बचपन में पढ़ाते थे तब से बहुत बड़ी हो गई है। अंग्रेजी में एम० ए०, आज बारह वर्ष बाद भेंट हुई तो मालती हठ करके शर्मा जी को अपने घर ले गई। घर माँ, मालती, पूर्णिमा, तारिणी (मालती की भाभियाँ) के साथ खूब मनोरंजन रहा। मालती लौटते समय अपनी कार में शर्मा जी को पहुँचाने निकली।

इस भेंट के बाद तो मालती-शर्मा भेंट एक सामान्य बात हो गई। मालती अपनी कार लेती और 'संजीवन' कार्यालय में पहुँच जाती और वहाँ विभिन्न विषयों पर शर्मा जी के साथ विवाद करती। मालती विवाह के विरोध मे है।

शर्मा जी से उसका कहना है कि वह समाज सेवा करना चाहती है और इसके लिये अपने बड़े भाई से वह अपने हिस्से का (मालती के पिता ने मरते समय १ लाख रुपया बैंक में छोड़ा था) पच्चीस हजार रुपया माँगती है, वे स्पष्ट इनकार कर देते हैं, कहते हैं, शादी से पहले एक पाई भी नहीं मिलेगी। बड़े भाई, माँ आदि मालती के कार्य-क्रम से सन्तुष्ट नहीं है।

एक दिन बातों ही बातों में मालती को जब शर्मा जी ने चिड़िया कह दिया तो अपने को अपमानित समझ क्रोध में आकर शर्मा जी को खूब खरी-खोटी सुना डालीं, उन्हें असभ्य और कायर तक कह डाला। लेकिन घर जाकर और खूब रोकर मालती ने इसका प्रायश्चित्त भी कर डाला। वह यह भी नहीं चाहती कि शर्मा जी को उसके अतिरिक्त कोई और जरा भी बुरा कहे, इसी बात पर उसने अपनी माँ तक को झिड़क दिया।

दूसरे दिन वह स्वयं गिरधारी शर्मा के घर गई और अपराध की क्षमा माँग ली। उस दिन मालती का परिचय रेणु (शर्मा जी की पत्नी) से भी हुआ, दोनों एक दूसरे से मिलकर प्रसन्न हुईं। धीरे-धीरे एक दूसरे के यहाँ आने-जाने लगीं। रेणु को मालती की माँ ने एक दर्जन ब्लाउज, ६ साड़ी और बहुत सी चीजे दीं। एक दिन रज्जन को देखने के लिये डा० ललित से मालती की भेंट शर्मा जी के घर पर हो गई। मालती इस आदमी से बहुत चिढ़ती थी। डा० ललित ने शर्मा जी से कहा कि आप मालती से सावधान रहें, यह अच्छी स्त्री नही है।

शर्मा जी के प्रोत्साहन देने पर मालती ने एक सार्वजनिक भाषण दिया और गरीबों के कष्टों का हृदयद्रावक चित्र श्रोताओं के सामने उपस्थित किया। इस एक भाषण ने ही मालती को शहर भर में प्रसिद्ध कर दिया।

इधर शर्मा जी मन ही मन मालती की ओर आकृष्ट थे, किन्तु शर्मा जी अपने हृदयस्थ भावों को कभी खोलकर नहीं रहते थे। इसलिये मालती यह जान नहीं पाती कि शर्मा जी के विचार उसके विषय में क्या हैं। उधर रेणु भी मन ही मन मालती के प्रति आशंकित रहती है इसलिये वह कुछ अधिक चिड़चिड़ी हो गई है। एक दिन तो बात बहुत बढ़ गई और शर्मा जी ने क्रोध

में आकर जलते चूल्हे मे पानी उँडेल दिया । उस दिन न रेणु ने खाना खाया और न शर्मा जी ने । अन्त में शर्मा जी ने स्वय ही मौन भंग किया और परिस्थितियों की विषमता और उनका अपने ऊपर प्रभाव आदि को समझाते हुए रेणु को एक लम्बा भाषण दे डाला । एक तरह से क्षमा माँग ली, समझौता हो गया ।

मालती एक दिन शर्मा जी के घर पर ही रेणु के कहने से रह गई । रात में काफी देर तक बाते होती रहीं । अन्त में रेणु सो गई, किन्तु काम-दग्ध मालती को नींद नहीं आई, वह चुपके से शर्मा जी पास पहुँची, वे जग रहे थे । शर्मा जी ने मालती के आने का अर्थ समझा, उसे पकड़ कर अपनी खाट पर बिठाल लिया और "स्पर्शमात्र से गिरधारी कुछ विकम्पित हो उठा । वह सोचने लगा, अपने जीवन-लक्ष्य की विडम्बना ही क्या उसे देखनी होगी ? जिस उद्देश्य के लिये उसका जीवन बना है, क्या यह नारी अपनी एक ही चिनगारी से उसे भस्म कर डालेगी ?" और किसी प्रकार शर्मा ने अपने आपको संयत किया और मालती की भर्त्सना करते हुए कहा कि डा० ललित तुम्हारे विषय में जो कुछ कहता था वही ठीक है । मालती इस आघात को न सह सकी, मूर्छित हो गई । जब रेणु की आँख खुली तो उसने देखा कि मालती का ब्लाउज, बोडिस और पेटीकोट आदि खाट पर पड़े देखे, मालती वहां नहीं थी । रेणु को शक हुआ, वह शर्मा जी के कमरे की ओर आई, देखा, शर्मा जी पंखा झल रहे हैं और मालती फर्श पर अचेत पड़ी है ।

बहुत दिनों तक मालती और शर्मा जी की बोलचाल बन्द रहती है । एक दिन जब शर्मा जी को समाचार मिलता है कि मालती बीमार है तो वे उसके यहाँ जाने को तैयार हो जाते हैं और आपस में बोलचाल भी आरम्भ हो जाती है । रेणु चाहती है कि इन दोनों में बोलचाल आरम्भ हो जाय क्योंकि इधर शर्मा जी मालती की अनुपस्थिति में खोए-खोए से रहने लगे हैं । सब लोग एक मेला देखने जाते है, वहां से लौटने के दो घण्टे के बाद सम्पादक गिरधारी शर्मा गिरफ्तार हो जाते है तो उन्हें बिदाई देने के लिये मालती, पूर्णिमा, विनायक आदि आ जाते हैं और चलते समय उन्हें माला पहनाते हैं । शर्मा जी को एक शुभ संवाद भी प्राप्त होता है कि मालती की

शादी विनायक के साथ हो रही है और उपन्यास समाप्त हो जाता है।

इस पूरे उपन्यास में लगभग चार प्रासङ्गिक कथायें आती हैं १. विपिन की कथा २. एक वुढ़िया का गिरधारी को पत्र और उसमें अपने पुत्र की कथा ३. ब्रजनाथ की कथा ४. विनायक की कथा।

१. विपिन की कथा—विपिन एक उत्साही मजदूर कार्यकर्ता है। गरीब है किन्तु बड़ो लगन का आदमी है। शर्मा जी उससे बड़े प्रसन्न हैं। एक दिन शर्म्मा जी के पूछने पर कि तुम शादी क्यों नहीं करते, वह एक हृदयद्राव क कथा सुनाता है—

'मेरी शादी तो बहुत दिनों की हो गई, किन्तु शादी के बाद मेरी पत्नी को चेचक निकल आई और उसकी एक आँख जाती रही, मुँह कुरूप हो गया। मुझे उससे विरक्ति हो गई, वर्षों मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अचानक ससुराल के साथ मेरा पत्र-व्यवहार फिर आरम्भ हो गया और श्वसुर साहब ने कहा कि आप ससुराल हो जाइये। वहाँ जाने पर वे मेरी पत्नी को भेजने के लिए तैयार नहीं हुए, वहाँ मुझे कई नई बातें पता लगीं। मेरे श्वसुर ने दूसरी शादी की है, उनकी नई पत्नी कोई काम करना नहीं चाहती इसलिये मेरी पत्नी एक नौकर की भाँति उनके यहाँ कार्य करती है। उसके चले जाने से कार्य कौन करेगा इसलिये वे उसे भेजते नहीं। मैंने और भी कुछ बातें पता लगाने की कोशिश की। श्वशुर साहब का एक नौकर कहार है, एक दिन मैंने उसको अपनी पत्नी के साथ पति रूप में देखा, मुझे घृणा हुई और मैं भाग आया।" बाद में इस घटना से मर्माहत होकर विपिन ने अफीम खा ली, वह किसी प्रकार बच गया। उपन्यास के अन्त में जिस फटे कपड़े वाली स्त्री का जिक्र है और ठीक उसी समय विपिन गायब हो जाता है। शायद वही स्त्री विपिन की पत्नी रही हो।

२. एक बुढ़िया का कथा—एक बुढ़िया ने सम्पादक गिरधारी शर्मा को एक पत्र लिखा और कहा कि अब आप अपना पत्र भेजना बन्द कर दें क्योंकि जो मेरा पुत्र उसे मंगा कर पढ़ता था वह एक जगह मजदूर हड़ताल में गोली का शिकार हुआ। उसके बाद मैं किसी तरह पीस-कूट कर काम चला रही थी कि मेरी विधवा पुत्रवधू को सोते समय गुण्डों ने गायब करा दिया। मैं क्या वर्णन करूँ? क्या आप अपने पत्र के द्वारा समाज-सुधार का आन्दोलन खड़ा नहीं

कर सकते ? क्या अपने अखबार द्वारा यह स्पष्ट नहीं कर सकते कि गरीबों का शोषण हो रहा है। उन पर अत्याचार हो रहे हैं और कोई सुनता तक नहीं। क्या आप एक क्रान्ति की ज्वाला अपने पत्र द्वारा समाज में नहीं लगा सकते जिससे सब अन्याय और अत्याचार जल कर भस्म हो जायें। बुढ़िया ने यह पत्र लिखा और भेजने से पूर्व ही पुत्रवधू के अपहरण की घटना से दुःखी होकर अफीम खा कर आत्मघात कर लिया। उस गाँव के किसी शिक्षक ने वह पत्र शर्मा जी के पास भेजा।

३. ब्रजनाथ की कथा—ब्रजनाथ मालती का बड़ा भाई है। वह कितना नर-पिशाच और पाखण्डी है उसकी इस कथा में यह स्पष्ट हो जाता है। घर में उसके कुकृत्यों के विषय में कोई कुछ नहीं जानता। यहाँ तक कि उसकी पत्नी तारिणी को भी कुछ ज्ञान नहीं है। अचानक एक दिन एक वेश्या बूँदी उसे एक होटल में ले जाती है और उससे दो हजार रुपये मांगती है और मना करने पर दो गुण्डों के द्वारा पकड़वाकर उसे तहखाने में डालने की धमकी देती है। गुण्डे उसे तहखाने की ओर ले भी चलते हैं। डर कर ब्रजनाथ रुपया दे देता है और वेश्या को बुरा भला कहता है। तुम ऐसी हो, तुम वैसी हो, वेश्या क्रोध में आकर उसकी सब पोलें खोल देती है कि उसने किस-किस स्त्री को प्रेम किया और अपनी बहन मालती के नाम का रुपया अपने नाम करवा लिया। बाद मे भेद खुलता है कि बूँदी का वास्तविक नाम वीणा है और ब्रजनाथ आरम्भ में शादी का झूठा आश्वासन देकर उसका सतीत्व नष्ट कर चुका है। वीणा ने आत्महत्या की कोशिश भी की थी पर किसी तरह बच गई और वेश्या हो गई। ब्रजनाथ उससे क्षमा मांग कर अपनी जान बचाता है।

४. विनायक की कथा—विनायक तीन विषयों मे एम० ए० है। पर बेकार घूमता है, कोई जीविका का साधन नहीं है। जिस घर में रहता है उसका किराया भी चढ़ गया है, मकान मालिक उसे निकालने की धमकी भी देता है। हालाँकि पहले यह घर उसका अपना ही था; किन्तु अब उसके हाथ से चला गया। विनायक के पिता कानूनगो थे। घर एक नौकर था। इण्टर तक पिता ने उसे पढ़ाया, बाद में उनकी मृत्यु होगई। एक घर अपने जीवन में वह बनवा सके

थे सो भी अब बिक गया। बाद में विनायक ट्यूशन करके किसी प्रकार पढ़ता रहा। मन ही मन मालती के घर वालों—पूर्णिमा, तारिणी, मालती आदि की तरफ वह आकृष्ट है। मालती का स्वप्न में एक बार उसने चुम्बन भी किया, तब तो वह स्वप्न ही था, किन्तु घटना-चक्र ऐसा बदला कि वह सत्य हो गया। मालती की शादी विनायक के साथ हो गई।

आलोचना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी का कहना है कि निमन्त्रण उनका दसवां उपन्यास है। दसवें उपन्यास तक वाजपेयी जी की कलम सध जानी चाहिये थी। लेकिन ऐसा दिखाई नहीं देता। घटनायें सृजन करने विषयक प्रतिभा वाजपेयी जी में ऐसी नहीं है जैसी प्रेमचन्द या यशपाल में है। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि वाजपेयी जी एक अच्छे सफल कलाकार नहीं हैं। कथा कहना शायद वे जानते नहीं। प्रस्तुत उपन्यास की कथा अत्यन्त शिथिल और असम्बद्ध है। ऐसा लगता है कि वाजपेयी जी के मस्तिष्क में केवल चरित्र ही चरित्र आते हैं और उनको किसी प्रकार जोड़ते रहने के लिये वे कथा बनाते हैं।

कथाकार के नाते उनके दो दोष तो अत्यन्त स्पष्ट हैं।

१. वाजपेयी जी आरम्भ में अपना मनन या विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं और तब कथा का आरम्भ करते हैं। वह मनन संवाद के रूप में न होकर लेखक की ओर से ही होता है और कथा से वह बिलकुल असम्बद्ध लगता है तथा कुरूपता भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार के विश्लेषणात्मक अनुच्छेद (पैराग्राफ) ही परिच्छेद के आरम्भ में है। यदि इनको निकाल भी दिया जाय तो भी उपन्यास की कथा को कोई हानि नहीं पहुँचेगी।

२. प्रासंगिक कथायें वाजपेयी जी लाते अवश्य हैं किन्तु उनकी संगति मुख्य कथा के साथ नहीं बिठा पाते। फलस्वरूप उनकी प्रासंगिक कथायें स्वतन्त्र और नीरस हो जाती हैं।

प्रासंगिक कथाओं के निम्नांकित उद्देश्य हो सकते हैं—

१. मुख्य कथा की प्रभाव वृद्धि।

२. घटनाओं में कोई मोड़ (Turn) देना।

३. मुख्य कथा के चरित्रों को अधिक प्रभावशाली बनाना।

४. कथा की शृंखला को अविच्छिन्न रखना।

लेकिन वाजपेयी जी अपनी कथाओं (प्रासंगिक) में उपरोक्त कार्यों में से एक भी कार्य नहीं साध पाते।

विपिन की कथा का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। पता नहीं इसमें कथा के द्वारा वाजपेयी जी दिखाना क्या चाहते है ? विपिन का चरित्र उपन्यास में न तो उभरकर ही आता है और न मुख्य कथा के प्रवाह में ही बहकर चलता है।

बुढ़िया की कथा के द्वारा वाजपेयी जी गाँवों की, आर्थिक और चारित्रिक दुरवस्था चित्रित करना चाहते हैं ऐसा प्रतीत होता है किन्तु न तो उस कथा का कोई प्रसङ्ग है और न उद्देश्य। यह कथा भी मुख्य कथा से असम्बद्ध है और व्यर्थ लगती है। इसके न होने से भी उपन्यास की कथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

व्रजनाथ की कथा वाजपेयी जी अचानक ले उठे हैं। घर में वह किसी से बात करता है कि नहीं, कभी उसकी छुट्टी होती कि नहीं। सारांश यह कि उसके अपने घर उसकी शक्ल ही कभी नहीं दिखाई देती। पाठकों का सबसे पहले इस पात्र से परिचय होता है बूँदी के साथ होटल में और लेखक ब्रजनाथ के चरित्र को यहाँ से स्पष्ट करना आरम्भ करता है। लेकिन व्रजनाथ की अगर यह कथा उपन्यास में से निकाल दी जाय तो उसकी मुख्य कथा पर कोई असर नहीं पड़ेगा। वाजपेयी जी एक उपदेश देने लिये प्रासंगिक—जिसे अप्रासंगिक कहना अधिक ठीक होगा—कथा की कल्पना करते हैं, जो उनके कथाकार की सबसे बड़ी असफलता है। ढेरों प्रासंगिक कथायें इकट्ठी करके उनको आपस में जोड़ तक नहीं पाते हैं।

विनायक की कथा थोड़ी बहुत मुख्य कथा से मिलकर चलती है किन्तु शायद वे विनायक को इसीलिये लाये है कि मालती की शादी गिरधारी शर्मा के साथ तो हो नहीं सकती, तो फिर किसके साथ की जाय। शायद इसी के लिये उन्होंने—विनायक को ढूँढा है और बिना अधिक कष्ट के उसे एम० ए० की तीन डिग्रियाँ भी देदी हैं। मालती के योग्य होने का एक गुण उसे प्रदान कर दिया है किन्तु मालती कभी किसी की डिग्रियों की ओर उपन्यास में आकर्षित

होती है ? न ीं, फिर स्पष्ट है कि मालती का विनायक के साथ विवाह यह भी लेखक की ज्यादती है मालती के साथ और पाठकों के साथ भी।

वाजपेयी जी के पास उपदेशों, मानसिक एवं सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी विश्लेषणों का एक पुलन्दा है और बिना कथा की प्रकृति का ध्यान रखे वे उन सभी विश्लेषणों को एक ही उपन्यास में रख देना चाहते हैं, चाहे उनकी आवश्यकता हो चाहे न हो, पाठक को वे चाहे अच्छे लगे या नहीं लगे। जो कथाकार पाठकों से अधिक अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का ध्यान रखता है वह सफल कथाकार हो नहीं सकता। वाजपेयी जी भी सफल कथाकार नही है।

वाजपेयी जी के पास चूँकि कथा कहने के लिये अधिक समय नही है इस-ि ये भाषा के आडम्बर से वे उपन्यास के कलेवर को बढ़ाते प्रतीत होते हैं। अवसर शब्द को लेकर वाजपेयी जी का भाषा चमत्कार देखिये :—

"एक-दूसरे को देखता है और देखता है नित्य नही तो जब-कभी अवसर मिला तब न अवसर मिला तो अवसर को वह मिलता है। अवसर उसे नहीं पहचानता, तो वह स्वयं अपने आपको अवसर के ऊपर फेंक देता है। विवश अवसर आते है और व्यक्ति को अपना पूरक मिल जाता है।"

वाजपेयी जी की भाषा मुहाविरेदार नही है। कहीं-कहीं तो उनकी पंक्तियाँ की पंक्तियाँ कोई अर्थ नही दे ी और कही-कही एक पैराग्राफ का अर्थ होता है एक पंक्ति का। ये सब दोष कथा की तीव्रता और रोचकता मे बाधक होते हैं।

कहने का सारांश यह है कि इस उपन्यास की कथावस्तु दोषपूर्ण है। वह बिखरी और ि तरी हुई है, शिथिल और जगह-जगह नीरस हो उठती है। लेखक उसे सम्हाल नहीं पाया है और इस प्रकार कथावस्तु विषयक दोष इस उपन्यास को असफल उपन्यास घोषित करने के लिये पर्याप्त है।

पात्र :—इस उपन्यास में मुख्य पात्र निम्नांकित है :—

स्त्रीपात्र	पुरुष पात्र
मालती	गिरधारी शर्मा
मालती की मां	विपिन

पूर्णिमा (मालती की भाभी)	विनायक
तारिणी (मालती का भाई)	व्रजनाथ
बूँदी (वेश्या)	डा० ललित
रेणु (गिरधारी की पत्नी)	रंजन (गिरधारी का पुत्र)

जैसा कि हम कथावस्तु के विषय में लिखते समय ही लिख चुके हैं कि इसमें कई प्रासंगिक कथायें बेकार हैं, उसी प्रकार कई चरित्रों का भी उपन्यास-कला की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। उदाहरणार्थ—पूर्णिमा, तारिणी, बूँदी, डा० ललित, व्रजनाथ, विपिन, विनायक आदि।

इस उपन्यास में जो चरित्र कुछ उभर कर आते हैं वे तीन हैं—१. गिरधारी शर्मा, २. मालती ३. रेणु। इन्ही पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने का हम प्रयत्न करेंगे।

गिरधारी शर्मा

"अवस्था चालीस के लगभग बदन एकहरा, वर्ण गेहुँआ। लम्बी नाक पर सुनहले फ्रेम के चश्मे का ब्रिज। खादी का कुरता पहनते हैं। पैरों में अक्सर चप्पल रहती हैं, कभी-कभी लाल महाराष्ट्री जूता, जिसकी एड़ी मुड़ी हुई, पैदल जरा तेज चलते हैं। काम के समय मजाक से चिढ़ते हैं। हाथ में छाता-छड़ी कुछ भी नहीं रखते। सिर प्रायः खुला रहता है। बालों का एक गुच्छा कभी-कभी दाँयी भौंह तक आ जाता है।"

गिरधारी संजीवन के सम्पादक हैं। शहर में उनका बड़ा यश है। सभी लोग उनकी बड़ी इज्जत करते हैं। शर्मा जी मजदूरों में भी काम करते हैं अतः नेता भी है। किन्तु प्रेस पर कर्ज है—और पत्र की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। गिरधारी शर्मा की इन कठिनाइयों से अचानक प्रेमचन्द का ध्यान ही आता है। 'हंस' वे बड़ी ही कठिनाई के साथ निकालते थे लेकिन अपने जीवन में फाके करते हुए भी उन्होंने इसको कभी बन्द नहीं होने दिया। शर्मा जी भी इस विषय में बड़े ही लगन के व्यक्ति हैं। आर्थिक विपन्नता में भी वे घबड़ाते नहीं हैं और येन-केन प्रकारेण पत्र को चला रहे है।

शर्मा जी बड़े परोपकारी हैं—उन्हें मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में

जाना है इसलिए उन्होंने दर्जी से यह वचन लेकर ओवरकोट सिलने डाला है कि वह एक दिन में ही सीकर दे देगा। किन्तु इतने में ही उन्हें विपिन मिलता है। विपिन एक कर्मण्य युवक है। हजारों मजदूरों को अखबार पढ़ने योग्य बनाने का श्रेय उसी को प्राप्त है। लेकिन बेचारा बड़ा गरीब है। मद्रास अधिवेशन में जाना चाहता है पर जाए कैसे। शर्मा जी के पास आकर बोला—"शर्मा जी मुझे न ले चलियेगा ?" शर्मा जी द्विविधा में पड़ गये, सोचने लगे-इस कर्मठ और गरीब युवक की यह आकांक्षा पूर्ण होनी चाहिये। अंत में एक उपाय उन्हें सूझा। उन्होंने विपिन को एक पत्र लिखकर दर्जी के लिए दिया, जिसका अर्थ था, अब ओवरकोट नहीं सिलेगा। विपिन से बोले—"चलने का प्रबन्ध हो जायगा। ट्रेन के टाइम से घंटा भर पहले यहीं आ जाना भला।"

शर्मा जी दयालु भी बड़े हैं—अवधविहारी (विज्ञापन क्लर्क) तथा एक दूसरे क्लर्क को वे नौकरी से हटा देते हैं क्योंकि एक ने कुछ रुपया गबन किया है और एक ने काम की उपेक्षा की है। किन्तु शर्मा जी का हृदय नहीं चाहता कि ऐसे कठिन समय में कोई आदमी बेकार हो जाय। एक दिन जब ये ताँगे में बैठे रामानारायण बाजार से गुजर रहे थे तो रास्ते में उन्होंने अवधविहारी को जाते हुए देखा। शर्मा जी ने पूछा, काम मिला ? अवधबिहारी चुप। बोले—'नहीं मिला न !' अवधविहारी की आँखों में आँसू छलछला आए। शर्मा जी ने कहा—"फौरन घर जाओ और खाना खाकर आफिस आओ और काम संभालो।" बस इससे अधिक दण्ड वे किसी को नहीं दे सकते। इसी प्रकार अपने फोरमैन के यह कहने पर कि उनकी स्त्री के बच्चा हुआ है और उसे २५) तुरन्त चाहिए। शर्मा जी उससे रुपयों के लिए इन्कार नहीं करते, कहते हैं—अच्छा लड़का हुआ है ? भगवान् करे चिरंजीवी हो। कितने रुपये चाहिएं ? जरा मुन्शी जी को बुलाना और वे मुन्शी जी को तुरन्त आदेश देते हैं कि वेनीप्रसाद को २५) दे दीजिए। शर्मा जी की दयालुता पर टिप्पणी करते हुए मुन्शी जी कहते हैं—"हो चुका ! इसी तरह यह कम्पनी चलेगी।"

शर्मा जी एक सफल गृहस्थ नहीं हैं—वे बाह्य कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि घर के विषय में सोचने का उन्हें समय ही नहीं। पुत्र रंजन

बीमार है, किन्तु न तो उनके पास अधिक बैठ सकते हैं और न बात कर सकते हैं, इतना समय ही उनके पास नहीं। उनकी पत्नी रेणु भी उनके इस व्यस्त कार्य-क्रम से कम परेशान नहीं है। कभी-कभी शर्मा जी संयम तक खो बैठते हैं, एक दिन तो क्रोध में आकर जलते चूल्हे में उन्होंने पानी उंडेल दिया और बिना खाना खाए कार्यालय चले गये।

रेणु के साथ उनके सम्बन्ध इतने मधुर नहीं हैं जितने होने चाहियें। इस बात का वे अनुभव भी करते हैं।

शर्मा जी जाति-पाँति ऊंच-नीच आदि के विरोधी हैं—वे अपने कहार के हाथ की पकाई हुई रोटी खाने को तैयार हैं, यद्यपि रेणु को इसमें घोर आपत्ति है।

शर्मा जी समाजवादी विचारों के हैं—और अमेरिकन अर्थ-व्यस्था के विरोधी हैं। शर्मा जी मालती से बहस करते हुए एक स्थान पर पूंजी-वाद के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं—"आज का हमारा पूंजीवादी अन्ध समाज और गुलाम देश, जिन दुधमुंहे बच्चों को ताजी हवा, पोषक खाद्य सामग्री, सुन्दर खिलौने, फसल फसल के अनुकूल स्वच्छ कपड़े और रहने के लिये साफ-सुथरे मकानों का प्रबन्ध नहीं कर रहा, जिन बालकों और युवकों को उनकी स्वाभाविक अभिरुचियों के अनुकूल, शिक्षा, कार्यक्षेत्र और विकासमूलक सुविधायें प्राप्त नहीं, जिनकी महत्त्वकाक्षायें, अपूर्ण, झुलसी हुई और जीर्ण जर्जर हैं उनके सुख-दुख देखने समझने, उनकी समस्याओं का समाधान करने से विरत रह कर आज उस नटनागर की कला कहाँ सो रही है।"

विनायक और मालती से बात करते समय शर्मा जी एक स्थान पर कहते हैं "जिन लोगों के पास पूंजी है वे ऐसे व्यवसायों की ओर ध्यान नहीं देते और जो ध्यान दे सकते हैं, जिनमें देश और समाज के लिए कुछ अनुराग है वे निर्धन और दरिद्र हैं।" शर्मा जी आगे कहते हैं—

"गुलाम देश। शिक्षित जनता बेकार या पथभ्रष्ट। अधिकांश जनता अशिक्षित। पूँजी उन लोगों के हाथों में जो अधिकतर मूर्ख, लम्पट, स्वार्थी, दुर्व्यसनी, अन्धविश्वासी और जड़ हैं।"

शर्माजी अपनी पत्नी रेणु को समझा रहे हैं कि हमारे जीवन के हर क्षेत्र में जो यह विषमता प्रवेश पा गई है, उसका मुख्य कारण आर्थिक विषमता ही है। आर्थिक विषमता ही संसार की सब प्रकार की विषमताओं की जननी है और आर्थिक विषमता का मूल कारण है पूँजीवाद।

"पूँजी पर आज व्यक्ति का अधिकार है और उनका यह अधिकार वंशानुक्रम के रूप में चल रहा है। चाहे जितनी योग्यता और प्रतिभा हम में हो किन्तु हम सदा बने रहते हैं मोची के मोची। ये सूदखोर महाजन, लगानखोर जमींदार, हरामखोर व्यापारी और उनके दलाल, रिश्वतखोर हाकिम और अहलकार, शाब्दिक विवादों के पेशेवर वकील सब-के-सब संगठित रूप से हमारा जो शोषण करते है, उसी का कुफल हम आज भोग रहे हैं। हमारे अन्दर का सारा असन्तोष आज सच पूछो तो आर्थिक असमानता से उत्पन्न हुआ है।"

शर्माजी, रेणु और विपिन तांगे में जा रहे हैं। अचानक गेहूँ का जिक्र आ गया और विपिन बोला—कितने अन्धेर की बात है, बाजार में जाओ तो गेहूँ मिलना दुर्लभ है।" शर्मा तुरन्त मूल कारण को समझाने में लग गये। बोले—"है यह पूँजीवादी अर्थनीति का दुष्परिणाम। एक युग था जब मनुष्यों को पदार्थों की कमी के कारण कष्ट होता था, पर आज जबकि उत्पादन की प्रचुरता है तो भी मनुष्य को उपभोग के लिये उचित परिमाण मे पदार्थ नही मिलते। बात यह है कि पूँजीवादी चाहता है कि जनता को चाहे जितना कष्ट हो पर उसको अन्धाधुन्ध मिलता जाय वह अपने कारखाने मे एक ओर माल तैयार कराने की मात्रा मे उत्तरोत्तर वृद्धि चाहता है, दूसरी ओर उसकी दृष्टि इस बात पर लगी रहती है कि माँग मे कमी न होने पाये, क्योंकि अगर बाजार में माल अधिक पहुँच जायगा, तो माग मे अन्तर आ जायगा। इस लिये वह कभी कारखाने मे काम करने वाले कर्मचारियों की सख्या घटाने लगता है और कभी तैयार माल को बाजारों मे न भेजकर गोदामों मे भरना प्रारम्भ कर देता है। कहीं-कहीं तो बाजार की दर को स्थिर रखने के लिये तैयार शुदा माल को नष्ट तक कर दिया जाता है। एक ओर जनता भरपेट भोजन न मिलने के कारण भूखी और नंगी रहती है; दूसरी ओर पूँजीपति माल की खपत बढ़ाने

के लिये करोड़ों मन गेहूँ जलाकर नष्ट कर डालता है।

शर्माजी का विचार है कि विश्व में इस पूँजीवादी मनोवृत्ति का नेतृत्व अमेरिका कर रहा है, इसलिये इससे सम्बन्ध रखने वाली एक कहानी उन्होंने रेणु और विपिन को सुनाई। बोले—इस विषय में अमेरिकन खानों के मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाला एक संवाद है।"

एक कोयले की खान का मजदूर है। वह घर पर नहीं है। सर्दी देखकर लड़का अपनी माँ से पूछता है—आज यह बात क्या है माँ, जो तुम आग नहीं जला रही हो? देखती नहीं हो कि कितनी सर्दी पड़ रही ही!"

माँ उत्तर देती है—"बेटा, घर में कोयला नहीं है।"

"बाजार से क्यों नहीं मँगवा लिया?" लड़के ने पूछा।

माँ ने बतलाया—"बेटा, आजकल तुम्हारे पिता बेकार हैं, उनको काम नहीं मिला और इस कारण हमारे पैसे चुक गये हैं।"

लड़का फिर पूछता है—"पर बाबूजी को काम क्यों नहीं मिला माँ?"

माँ का उत्तर होता है—"कोयला बहुत ज्यादा तैयार हो रहा है इसलिये।"

रेणु और विपिन सुनकर स्तब्ध रह गये।

फिर भी स्पष्टीकरण किये बिना शर्माजी की तबियत नहीं मानी। बोले—लड़का शीत से काँप रहा है, उसके दाँत कटकट बोल रहे हैं क्योंकि उसके घर में आग जलाने के लिये कोयले का अभाव है। कोयले का अभाव इसलिये है कि उसके पिता को काम नहीं मिला और इसी कारण उसके घर में पैसे नहीं हैं और काम उसे इसलिये नहीं मिला कि कोयला प्रचुर परिमाण में पैदा हो गया है। अर्थात् कोयले की उत्पादन की प्रचुरता ने उत्पादक के लड़के को सर्दी में ठिठुरने के लिये विवश किया।

शर्माजी मार्क्स का 'डास कैपिटल' पढ़ते हैं और विचारों से वे लगते भी मार्क्सवादी हैं। सिवाय इसके कि वे एक बार मद्रास कांग्रेस अधिवेशन में भी हो आये हैं, यह जानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि वे गांधीवादी भी हैं, कभी भी गांधीवाद उनके मुँह से इस उपन्यास में नहीं निकला है।

शर्माजी उपयोगितावादी हैं—"कला कला के लिये' के वे विरोधी हैं। उनका कहना है कि जो कला मानव-जीवन को उचित दिशा निर्देश नहीं

करती तथा जो जीवन को ऊँचा नहीं उठाती, वह कला व्यर्थ है। शर्मा जी के निम्नांकित कला-सम्बन्धी विचार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। शर्माजी विशेषकर मालती को सुनाकर कह रहे हैं, यद्यपि श्रोताओं में तारिणी, पूर्णिमा और मालती की भाभी भी हैं।

"युग कितना बदल रहा है, आप लोगों ने कभी सोचा है? सोचा है कभी कि आज हमारे देश को कला के नाम पर वायोलिन की मधुर झन्कार, अभिनय और नृत्य-कला के नव-नव प्रकारों की अधिक आवश्यकता है या उस संगठित शक्ति और स्वाधीनता की जो मदान्ध फासिस्ट देशों के आक्रमणों से हमें बचा सके, हमारी संस्कृति की रक्षा कर सके। कर सकेगी रक्षा उसकी उस समय तुम्हारी यह कला, जब फासिस्ट देशों के सैनिक हमारी सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक मर्यादा को भंग करेंगे। उसे कुचलने आयेंगे।" शर्मा जी कला को शाश्वत भी नहीं मानते और न यह मानते हैं कि उसका अंतिम उद्देश्य केवल तरंगित, विह्वल या अचेत कर देना है।

"रह गई बात समस्त कालव्यापी कला की शाश्वत सत्ता की, सो कला की कोई भी स्थिति, रूपरेखा और सत्ता समस्त कालव्यापी नहीं हो सकती।"

× × × ×

"कला की सार्थकता मनुष्य को केवल तरंगित, विह्वल, विवश और अचेत कर देने में नहीं, जीवन के विकास में उसको सजंग, सतर्क, सचेत, आरूढ़, कटिबद्ध और उत्तेजित करने में भी है।"

शर्माजी पक्के आदर्शवादी व्यक्ति हैं—आदर्शवादी से अभिप्राय अध्यात्मवादी होने से नहीं अपितु सामाजिक आदर्शवाद से है। शर्मा जी का विचार है कि सभ्यता बहुत आगे बढ़ गई है इसलिए पैशाचिक वृत्तियों पर मनुष्य को नियन्त्रण पा ही लेना चाहिये। शर्मा जी अध्यात्मवादियों की भाँति व्यक्तिवादी नहीं है। वे सच्चे अर्थों में समाजवादी हैं और व्यक्ति का समाज के आगे कोई मूल्य नहीं, इस सिद्धान्त को मानते हैं। एक जगह वे अपनी पत्नी से कहते हैं:—

"सच पूछो तो हम व्यक्ति नहीं हैं, समाज हैं, क्योंकि उसका प्रतिनिधित्व वहन करते हैं। हमारा प्रत्येक क्षण उसी उद्देश्य की पूर्ति में व्यतीत होना

चाहिये। ऐसी दशा में अगर हम अपने निजी अभावों का रोना रोयें, तो उन लोगों की क्या अवस्था होगी जिनके लिये हम आदर्श बने हैं। हमको देखकर वे क्या सीखेंगे ?

शर्मा जी चरित्र के बड़े पक्के और सच्चे हैं—एक बार मालती की एक भाभी ने उनके विषय में कहा था—"ऐसा चरित्रवान् व्यक्ति मैंने कहीं नहीं देखा।" कुछ कटु अनुभव तो मालती को भी इसका है। वह अपने रूप-प्रभाव का परीक्षण शर्मा जी पर करना चाहती है। किन्तु उसका निष्कर्ष भी उनके विषय में यह है:—

"इस आदमी में सेक्स की अर्ज (तकाजा) जैसे मर गई हो। महात्मा जी का यह कथन कि पुरुष और स्त्री का कामजन्य आकर्षण स्वाभाविक नहीं इसी श्रेणी के व्यक्तियों में पूर्ण चरितार्थ होता है।"

यहीं तक नहीं; रूपवती मालती शर्मा जी की शिवाजी की भाँति परीक्षा भी ले लेती है। एक रात को जब सब सो जाते हैं तो अर्धनग्न अवस्था में काम-दग्ध हो शर्मा जी के पास जा पहुँचती है। शर्मा जी की भी यह अग्नि-परीक्षा है, थोड़ी देर के लिये वह विचलित हो उठता है, लगता है कि विजय मालती की ही होगी, किन्तु अचानक शर्मा जैसे होश में आ जाता है। सोचता है:—

"अपने जीवन-लक्ष्य की विडम्बना ही क्या उसे देखनी होगी ? जिस उद्देश्य के लिए उसका जीवन बना है, क्या यह नारी उसे अपनी एक ही चिन-गारी से भस्म कर डालेगी ?" मालती अकृतकार्य रही।

किन्तु शर्मा जी प्रेमी भी हैं—वे मालती को अत्यधिक प्रेम करते हैं किन्तु उस प्रेम पर आदर्श का आवरण है इसलिए वह बर्बर प्रेम नहीं है। वास्तविक तो यह है कि १२ वर्ष पश्चात् हुई प्रथम भेंट में ही शर्मा जी मालती की ओर आकर्षित हुए थे और उसकी उपस्थिति उनके लिये सदैव आह्लादका-रिणी होती थी। शर्मा जी कई बार इस प्रकार की बातें सोचने के लिये बाध्य हो जाते थे।

"क्या उसको देखकर, उससे वार्तालाप करके वह अपने भीतर किसी प्रकार की क्षिप्तता का अनुभव नहीं करता ? उसकी सेन्टेड कुन्तल राशि को

छूता और लपेटता हुआ वायु का झकोरा, उसके धुले हुए वस्त्रों की सरसराहट, उसकी मन्थर, मादक पगध्वनि और उसके सुमन-दुर्लभ हास-परिहास का सान्निध्य क्या कभी-कभी उसे विमुग्ध नहीं करता ?"

सच बात तो यह है कि शर्माजी विमुग्ध थे ही, किन्तु आदर्श के आवरण में ही उनकी यह नवांकुरित भावना पल्लवित हो रही थी।

शर्माजी के इस प्रेम की भावना को उनका आदर्श हमेशा नियंत्रित रखता है, नहीं तो स्वयं लेखक का कहना है :—

"शर्माजी को मालती की याद न आती हो, यह बात नहीं है। क्या आफिस, क्या घर, क्या मित्रों से वार्तालाप करते और क्या सम्पादकीय स्तम्भ के लिये कलम उठाते समय, खाते-पीते, सोते-जागते, तात्पर्य यह है कि दिन-रात में पचासों बार वे उसका स्मरण करते हैं। उसका बोलना और मुस्कराना, उसका कंठ-स्वर, उसका वायलिन बजाना, उसकी छवि और वेशभूषा, प्रसाधन और उसके चुनाव, सभी कुछ उसे याद आते हैं। एक स्मृति है जो हृदय से टलती नहीं है। एक लकीर है जो हृदय पर खिंच कर रह गई है, एक सरिता है जो बह रही है। एक सागर है जो लहराया करता है।"

"किन्तु हृदय के भीतर इस सब के ऊपर एक आदर्श भी है। वे सोचते हैं कि यह सब तो व्यक्ति से सम्बद्ध है। यह तो मोह है, एक प्रलोभन, एक मरीचिका, एक छलना। इसमें कोई तत्त्व नहीं हैं।"

शर्माजी सोचते हैं—"असल चीज यह है कि शरीर का खेल मेरे जीवन और उसके आदर्श से टकरायेगा और मैं उसे सहन कर लूँगा ? ऐसा कैसे हो सकता है। मुझे जो कुछ होना है हो जाय, किन्तु मैं अपने आदर्श को कैसे त्याग सकता हूँ ? मैं वासना को अपने ऊपर आक्रमण करते हुए कैसे देख सकता हूँ ?"

"मैं रेणु के साथ बँधा हुआ हूँ। उसके अधिकारों का अपहरण मुझसे कैसे हो सकता है ? मैं ऐसा नहीं कर सकता, नहीं कर सकता।"

और सचमुच शर्मा जी ने ऐसा कभी नहीं किया। प्रेम को मन तक ही सीमित रखा, उसे शरीर तक नहीं आने दिया। मालती उनकी प्रेयसी थी और प्रेयसी के विषय में शर्माजी के विचार बड़े उच्च और निर्मल हैं। रेणु एक

दिन मालती के पास जाकर अपने सौभाग्य की भीख माँगती हुई कहती है कि तुम शर्माजी से बोलने लगो, वे तुम्हें प्रेयसी समझते हैं और प्रेयसी क्या है ? यह उन्होंने मुझे समझाया है, सुनो :—

"कहते थे प्रेयसी, प्रेयसी भी देवी होती है। वह अर्चना की वस्तु है। उसके साथ कहीं ब्याह हो सकता है ? विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो शरीर के उन स्थूल व्यापारों से सम्बद्ध है, जिससे गंध आती हैं—जो बासी पड़ते-पड़ते अन्त में सड़ जाते हैं किन्तु प्रेयसी तो प्राणेश्वरी होती है। विवाह तो भूख-शान्ति का एक मार्ग है किन्तु तृष्णा जो अजर होती है, उसकी शान्ति तो प्रेयसी ही करती है अपने आत्मदान से। वह बदला नहीं चाहती। उसे कोई कांक्षा नहीं होती। वह अर्पित ही करती चलती है।"

और अन्त में हम देखते हैं एक जगह शर्माजी मालती से बात करते समय यह स्वीकार करते हैं :—

"तुम पहले चाहे जैसी रही हो किन्तु आज तो मैं तुम्हारी पूजा करता हूं। तुम्हें मालूम नहीं, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ मालती !"

शर्माजी एक प्रेरक शक्ति भी हैं—वे विपिन जैसे कार्यकर्ताओं को तैयार करते हैं। उन्हें उत्साह देते हैं। मालती को भी समाज-सेवा के पथ पर उन्होंने ही जाकर खड़ा किया है और मालती के अतिरिक्त उनके मन में जो कभी कोई दूसरी स्त्री नहीं आई। उनका व्यवहार सबके साथ कोमल और शिष्ट रहता है। "वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है" वाक्संयम शर्मा जी में है। वे देश और समाज को अपने से बड़ा मानते हैं। सामाजिक आदर्शों के प्रति उनकी आस्था है, इसलिये मालती और विनायक के विवाह-समाचार को सुन करके उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं।

शर्माजी इस उपन्यास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आदर्श पात्र हैं। लेखक ने अपने अधिकाँश सिद्धान्त उनके मुख से ही व्यक्त किये हैं।

मालती

यह जार्जेट की साड़ी, रंग हलका आसमानी, जिसमें उड़ते हुए बादलों का आभास। यह किनारे पर सफेद चमकीला गोटा जिससे पता चले कि कभी-

कभी बिजली भी चमक उठती है। यह ब्लाउज जिसकी भूमि नारंगी, लेकिन छाप जिसमें अंगूर के बैंजनी-गुच्छों और उनकी हरी-हरी पत्तियों की। ये गोरी मांसल अनावृत बाहें और स्कन्धमूल से ऊँचाई का पथ निर्देश करने वाले वक्षकन्दुक। ये नोकदार नयन जिनमें आकर्षण का मद और निमन्त्रण! यह शृंखलित नीचे की ओर पतली पड़ती हुई वेणी, गुम्फित, काली रेशमी चोटी को नितम्ब प्रान्त के और नीचे तक लहराती हुई। अंग्रेजी से एम० ए० किया है। वायोलिन बजाने में कई प्रतियोगिता के पुस्कार और पारितोषिक ले चुकी है। आजकल नाट्यकला में अभ्यास चल रहा है। हाथ में एक पतला जंजीर, जिसमें बंधा हुआ रेशम से मुलायम घने और बड़े-बड़े बालों का कुत्ता जीभ निकाले हाँफ रहा है।

यह है मालती का रेखा-चित्र जो लेखक ने स्वयं दिया है। मालती एक आधुनिक फैशनेबिल स्त्री है।

वह 'कला कला के लिये' की समर्थक है। पाश्चात्य विचारों से ओतप्रोत है और पश्चिमी सभ्यता और विचारों में ही पूर्णता देखती है और अविवाहित रहने का जो उसका निश्चय है—निश्चित रूप से यह पश्चिमी विचारों की ही देन है। वह विनायक और शर्मा जी सबसे इस विषय में विवाद कर चुकी है कि अविवाहित रहने से अच्छी दूसरी बात नहीं है। चरित्र के विषय में उसके जो विचार हैं, वे भी पाश्चात्य रंग से रंग हुए है। मालती शर्मा जी से कहती है:—"आप कहते क्या हैं? मैं विवाह करूँगी। मैं प्रत्येक विवाहित नारी से घृणा करती हूँ। मैं नहीं मानती कि विवाह का प्रेम के ऊपर कोई अधिकार है। मैं उसे प्रेम के ऊपर मुकुट के रूप में भी मानने को तैयार नहीं हूँ।"

चरित्र के विषय मे मालती का कहना है:—

"रह गई चरित्र की बात, तो वह केवल शरीर के ही स्थूल व्यापारों तक सीमित है। मैं नहीं मानती, चरित्र मानसिक सदाचार का दूसरा नाम है। जो लोग दुनिया भर के झूठ-सच, छल-प्रपंच, कपट-धूर्तता तथा ईर्ष्या-द्वेष के रक्त से रँगे रहते हैं, जो मनुष्य के साथ कुत्ते का सा व्यवहार करते नहीं लजाते जो सत्य और न्याय से दूर रहकर एक मात्र स्वार्थों में ही संलग्न रहते

हैं, पैसे के बल पर जो जमीन और जायदाद, स्त्री और प्रेयसी के लिये भाई और पुत्र तक का छिपकर सत्यानाश कर सकते हैं, जो समाज उन्हें चरित्रहीन नहीं मानता, मैं ऐसे समाज को नहीं मानती, बल्कि मैं तो उसका सर्वनाश देखना चाहती हूँ।"

मालती की सब से बड़ी कमजोरी है उसका चरित्र। इसलिये चरित्र के विषय में किसी के उंगली उठाते ही वह क्रोधी नागिन की भाँति फुफकारने लगती है। कहीं हंसी-हंसी में शर्मा जी उसे चिड़िया कह गए। चिड़िया में व्यंजना है, जो उछृङ्खल हो और एक स्थान जिसे पसन्द न हो। बस फिर क्या था, मालती गरज उठी—

"आप मनुष्य नहीं हैं शर्मा जी, इतना और इतना मैं जानती हूँ कि आप देवता भी नहीं हैं, केवल दम्भ है मिथ्या और विकृत। आप एक सुसंस्कृत नारी का सम्मान करना तो दूर, उसके साथ बैठने और बात करने योग्य भी नहीं हैं। आप असभ्य और कायर हैं। ऐसा पुरुष कभी नेता नहीं हो सकता और ऐसे पुरुष को सेवा में किसी जिम्मेदार पद पर रहने का अधिकार नहीं है। मैं जाती हूँ और आपके पास कभी नहीं आऊँगी।"

इसी प्रकार एक बार शर्मा जी कह गये कि 'तुम्हारा भाषण आज के नवयुवकों को बड़ा आकृष्ट करेगा' तो इस वाक्य में छिपे व्यंग्य से आहत होकर उसकी त्यौरियाँ बदल गईं, शर्मा जी ने बड़े कौशल से बात बदल कर अपना पीछा छुड़ाया।

मालती के घर के लोग भी उसके विषय में संशकित रहते है। उसके बड़े भाई का कहना तो यहाँ तक है कि "अगर मैं ऐसा जानता कि विवाह न करके तू इस तरह जहाँ चाहेगी घूमेगी, जिससे चाहेगी उसी से विशेष प्रयोजन से मिलेगी, मेरा और माँ का कोई दबाव तुझ पर न होगा। यहाँ तक कि आए दिनों, अनेक तरह की झूठी-सच्ची, प्रिय-अप्रिय बातें हम लोगों को सुनने को मिलेंगी तो मैट्रिक के बाद ही बापू पर जोर देकर तुझे कहीं न कहीं विवाह के बंधन में जकड़ कर बाँध देता। आखिर हम लोगों की एक

मर्यादा है, हमारा एक समाज है और उसकी कुछ सीमायें हैं, उनके बाहर हम कैसे जा सकते हैं।"

मालती एम० ए० है। बड़े पिता की पुत्री है। पिता की अनुपस्थिति में निरंकुश है। २५ हजार रुपया उसके नाम में गया है। फिर भला वह किसका लिहाज करे और किससे डरे। वह चाहे भाई हो या चाहे शर्माजी और चाहे और कोई, सबको खरी-खोटी सुनाने को तैयार रहती है। वह तो उसी की प्रशंसा करती है जो उसकी प्रशंसा करे। बड़े भाई को भाभी के द्वारा उसने जो उत्तर भिजवाया, देखिये, वह कितना कठोर और मर्मभेदी है :—

"मैं आजाद हूँ—मैं पुरुषों के बीच रहती हूँ—उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती हूँ। बस इसलिये मैं चरित्रहीन हूँ और घरों के अन्दर सीता और सावित्री जैसी सती शकुन्तला और उर्वशी जैसी सुन्दर स्त्रियों को पालते हुए भी जो लोग केप्ट प्रोस्टीट्यूट (रखेल वेश्या) रखते हैं, वे क्या हैं।" वह भाभी से कहती है—"तुम उनसे पूछना मैं इसका उत्तर चाहती हूँ। जानना चाहती हूँ, इस विषय में उनके समाज की सीमायें क्या कहती हैं?"

लगता ऐसा है कि मालती को अपने भाई की दुश्चरित्रता की बातें ज्ञात हैं और इसलिये वह अपने बड़े भाई पर भी कठोर व्यंग्य करने से नहीं चूकती।

मालती का व्यवहार अपनी माँ के साथ विशेष रूप से कठोर है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि मालती छोटेपन से बहुत लाड़ली रही हो। क्योंकि वह अपने परिवार में अकेली लड़की है। फिर भी यदि माँ खाने को कहेगी तो मालती कभी नहीं खायेगी, चाहे अपने आप खाले।

इस पूरे उपन्यास में चार स्थल ऐसे हैं जहाँ मालती को हम अपनी माँ के प्रति अशिष्ट देखते हैं, विनम्रता तो शायद उसे छू भी नहीं गई।

एक बार माँ ने मालती से कीर्तन में चलने को कहा तो मालती ने माँ को दुत्कार दिया और साफ मना कर दिया।

एक बार सभा में चलने का जिक्र आया तो माँ ने कहा कि सभा में निकम्मे लोग जाते हैं। मालती नाराज होकर बोली—"हमारे देश में मरने पर दाह-

संस्कार के बाद चिता-भूमि को साफ करके उस पर कुछ लिखने की प्रथा है। मेरे मरने पर यही शब्द लिख देना, भला ?"

मालती की माँ अपने को भाग्यवादी कहती है तो मालती भाग्यवादियों को घृणापूर्वक कायर कहती है।

इसी प्रकार जब मालती की माँ शर्मा के विरुद्ध एक बार कुछ कहती है तो क्रोध में मालती उस पर गरज पड़ती है।

माँ इतनी सीधी है कि उससे कभी कुछ नहीं कहती।

मालती शर्माजी को प्रेम करती है और वह प्रेम घोर वासनात्मक है। शर्माजी में सैक्स की अर्ज (तकाजा) नहीं, वह मालती के लिये बड़ी निराशा की बात है। वह निश्चय भी करती है कि विषय-वासना को हृदय से अलग कर देगी पर सफल कभी नहीं होती—"उस आदमी में सैक्स की अर्ज जैसे मर गई हो। महात्माजी का यह कथन कि पुरुष और स्त्री का कामजन्य आकर्षण स्वाभाविक नहीं, इसी श्रेणी के व्यक्तियों में पूर्ण चरितार्थ होता है। मैंने भी सोच लिया है कि मैं—अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ—अपना भावी जीवन देश के काम में खपा दूँगी। मैं जल रही हूँ और जलती रहूँगी। अपनी भोग-सम्बन्धी आवश्यकताओं को मिटा दूँगी—राख कर डालूँगी उनको। मेरा जीवन महान् उद्देश्य रखता है और मैं महान् होकर रहूँगी।"

मालती शर्माजी को भाई जी कहने लग जाती है और उनकी पत्नी को भाभी। किन्तु शर्माजी को वह हृदय से भाई के रूप में स्वीकार नहीं करती—स्वीकार करना चाहती भी नहीं। जब रेणु रंजन से मालती को बुआ कहने को कहती है तो मालती आपत्ति करती है—

"बूआ कहलाओगी ?"

'क्यों ?' रेणु ने विस्मय से कहा, "मैं तुम्हारी भाभी हूँ न !" तब मालती हँसने लगी।

रेणु ने फिर पूछा—बुआ कहलाने में तुमको अच्छा नहीं लगता ?

मालती बोली—अच्छा लगने न लगने का कोई प्रश्न नहीं है लेकिन बुआ कहने से क्या मैं बुआ हो जाऊँगी।

इस बात से रेणु का सन्देह और भी पक्का हो जाता है।

मालती की एक असाधारण विशेषता है कि जो बात कहती है चाहे वह झूठी हो या सच्ची अपने हृदय-रस से सिक्त करके कहती है कि श्रोता प्रभावित हो जाय और इस विशेषता को देख कर शर्मा जी ने सोचा—अगर मालती सार्वजनिक क्षेत्र में आ सके तो कितना अच्छा हो।

धन की मालती के पास कमी नहीं है—अतः स्वभावतः वह यश की लोभी है और सार्वजनिक कार्यों के द्वारा यश-लाभ करना चाहती है। शर्मा जी के कहने से वह एक भाषण देती है, उसकी अत्यधिक प्रशंसा होती है। मालती सोचती है—अगर आज उसके पिता जीवित रहते तो कितना अच्छा था।

मालती का अतीत उज्ज्वल नहीं लगता और अगर डा० ललित की बातों पर विश्वास किया जाय (जिसका कि कोई कारण नहीं) है तो मालती का अतीत जीवन घृणित तक है, वह कई लोगों से प्रेम कर चुकी है। केवल अङ्क बढ़वाने के लिये एक प्रोफेसर से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर चुकी है और ललित तो यहाँ तक कहता है कि वह एक बार गर्भपात तक कर चुकी है। डा० ललित स्वयं कभी उससे शादी करना चाहता था किन्तु असफल होने पर हो सकता है कि उसकी बुराई वह अत्युक्ति में करता हो। किन्तु एक जगह मालती के वाक्यों में ही उसके अतीत का इतिहास झाँक रहा है। मालती सोच रही है:—

"मैंने सोच लिया है कि मैं—अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ—अपना भावी जीवन देश के काम में खपा दूँगी।"

मालती एक बार कामदग्ध हो शर्मा के पास अर्धनग्न अवस्था में रात के समय जाती है किन्तु असफल काम रहती है। यहां मालती को एक भयङ्कर धक्का लगता है जो उसके जीवन को ही बदल देता है। शर्मा के प्रति वह आकृष्ट है। अत्यन्त स्पष्ट है यह, शर्माजी उसके हृदय की बात जानते हैं किन्तु आदर्शवादी होने के कारण इतना नीचा उतरना वे अनुचित मानते हैं। मालती तितली है जो प्रदर्शन पसन्द करती है और एक जगह एक की होकर रहना उसे पसन्द नहीं।

उपन्यासकार अन्त में मालती को विनायक के साथ गृहस्थी के बन्धन में बंध जाने के लिये तैयार दिखाता है । यह बिल्कुल अस्वाभाविक है । विनायक के लिये मालती के हृदय में कभी कोई आकर्षण नहीं था, और जब मालती को ऐसा करने के लिये कोई विवश भी नहीं कर सकता था तो फिर उसने ऐसा कैसे किया । उपन्यासकार यदि उसके चरित्र में कोई आकस्मिक या क्रमिक परिवर्तन दिखा कर इस विषय मे पाठकों को अपने साथ ले लेता तो अच्छा रहता ।

इस उपन्यास में मालती का चरित्र सबसे अधिक विविधतापूर्ण है । उसका जीवन विभिन्न विरोधी तत्त्वों से भरा है । उसका चरित्र क्रमशः उत्कर्ष की ओर उठा है ।

रेणु

एक साधारण गृहिणी है । चार बच्चे हुए थे । केवल एक बचा है रञ्जन । वह भी बीमार सा ही रहता है । इसलिये घर की व्यवस्था अस्त-व्यस्त ही रहती है । घर का अधिकांश काम रेणु को ही करना पड़ता है । फिर भी वह अपने पति का बड़प्पन रखती है । सच्ची पतिव्रता स्त्री है, चाहती है शर्मा जी चिन्तामुक्त रहें—

"कितनी बार सोचती हूँ—कितनी बार तै करती हूं कि इनको घर की चिन्ताओं से मुक्त रखूं । लेकिन क्या करूँ जी नहीं मानता । मुझसे कहते हैं—चिन्ता मत करो और वह चिन्ता होती है वास्तव में उन्हीं की ।"

रेणु बड़ी सरलहृदया है और संशयालु भी है—वह मालती को शर्मा जी के साथ देखना पसन्द नहीं करती । रूपवती स्त्री से अपने पति की घनिष्टता कोई भी स्त्री नहीं चाहती । मालती के प्रति रेणु के हृदय की शंका उस समय और भी दृढ़ हो जाती है जब वह 'बूआ' कहलवाने मे साफ इन्कार कर देती है । रेणु तब सोचती है—"किन्तु इन तितलियों से और आशा भी क्या की जाय ? दुनियाँ को ठगने की जितनी भी रीतियां हैं, सब की सब इनमें ओत-प्रोत हो रही हैं । प्रकट हास में कितना छल, कितना प्रपञ्च ये प्रच्छन्न रखती हैं । हृदय का अन्तर्द्वार इन लोगों का सदा अवरुद्ध रहता है । वार्तालाप में

बनावट, वेशभूषा में बनावट, आचार-व्यवहार में बनावट यही आज की सभ्यता का मुख्य स्वरूप है और तब मालती के लिये एक कुत्सा, एक कालिमा और वितृष्णा उसके भीतर फैल गई।"

किन्तु रेणु सीधी भी ऐसी है कि वह बातों में आ जाती है। मालती ने बड़े कौशल से बात बदल दी और एक झूठा कारण रेणु को समझा दिया कि बूआ शब्द से वृद्धता का आभास होता है। मैं वृद्धा हूँ नहीं, इसलिये मुझे अच्छा नहीं लगा। रेणु विश्वास कर लेती है।

रेणु बड़ी सहनशील है—वह एक सामान्य भारतीय नारी है। एक रात को वह मालती को अर्धनग्न अवस्था में शर्माजी के कमरे में पड़ा देखती है और शर्माजी को पंखा झलते देखती है—किन्तु इस बात को वह अपने अंतर के गुह्यतम स्थान में रख लेती है और कभी इस बात को जीभ पर नहीं लाती।

लेकिन इस दृश्य ने रेणु का जीवन ही बदल दिया। उसने समझा कि नारी की सार्थकता शायद बाहरी बनाव शृंगार में है। इसीलिये तो शर्माजी मालती की ओर आकृष्ट हैं और उसी दिन से—रेणु उत्तरोत्तर अपने स्वास्थ्यसुधार तथा सौन्दर्य-प्रसाधन में अग्रसर हो रही थी। अब पहले की अपेक्षा वह अपने वस्त्र कहीं अधिक उज्ज्वल रखती थी। इस विषय में वह इतनी सतर्क थी कि किसी भी समय यदि उसे शर्माजी के साथ चल देने का अवसर आता तो बिना फिर से वस्त्र बदले हुए वह उसी दशा में चलने को तत्पर हो सकती थी। साड़ी, बाडिस, ब्लाउज, चोटी और चप्पल, यहाँ तक कि कागजात रखने का बैग तक उसका सदा अपनी जगह पर तत्पर रहता था। तबियत में उलझन रहने पर भी वह अपने भावों को छिपाकर हँस कर बातें कर सकती थी।" अब वह खाने और सोने की ओर अधिक ध्यान देने लगी है। अब नित्य ऐसी चीजें खाने की बनने लगी हैं जिनकी शर्माजी कल्पना भी नहीं करते और अब रेणु के अधिक सोने से उन्हें (शर्मा को) शिकायत तक है पर प्रकट नहीं करते। किन्तु बाहर से स्वस्थ और प्रसन्न दिखाई देने वाली रेणु के अंतर में हाहाकार मचा रहता था—"उसके होठों में मन्दमुस्कान, मुख पर लाली और नयनों में नशा झलकता है किन्तु भीतर-ही-भीतर वह जैसे अगारों के साथ खेल रही

है। वह अपने में एक ऐसा हाहाकार छिपाये है जो खेल रहा है, सो रहा है और पल रहा है।

रेणु इस परिवर्तन के लिये मालती की कृतज्ञ है और मानती है कि "उसने उसकी निद्रा भंग की है, जागरण का सन्देश उसी ने दिया है। जितनी भी स्फूर्ति, उज्ज्वलता, उमग और कर्म-धारा वह अपने में पा रही वह सब मालती की ही प्रेरणा का फल है।" पति-पत्नी एक-दूसरे को सहज प्राप्त होते हैं इसलिये एक-दूसरे का आकर्षण कम हो जाता है। आकर्षण वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु को प्राप्त करने में कठिनाई हो और घोर प्रयत्न करना पड़े। अब तक शर्माजी रेणु को सहज प्राप्त थे किन्तु अब वह समझती है कि वे मालती के हो चुके हैं और उससे छुड़ाने हैं, इसके लिये अब वह सचेत, सतर्क और कर्मशील बन गई है।

रेणु कुछ चिड़चिड़ी भी है—एक तो बेचारी रात-दिन जगती है, दूसरे मालती की शंका उसे खाये जाती है इसलिये शर्माजी को वह कभी-कभी शुष्क उत्तर दे देती है। एक दिन जब क्रोध में आकर शर्माजी ने चूल्हे में पानी डाल दिया तो वह दिन-भर रोती रही और खाना नहीं खाया।

रेणु छूआछूत मानती है—वह कहार के हाथ का बना भोजन नहीं कर सकती क्योंकि डरती है कि अगर मायके वालों को पता लग गया तो माँ और भाभियाँ उसे चौके में भी नहीं घुसने देंगी।

रेणु का चरित्र एक ओर तो मालती ने कुछ ढक लिया है, दूसरी ओर शर्माजी के प्रकाशमान व्यक्तित्व के आगे वह निष्प्रभ लगती है किन्तु वह एक गृहस्थी की संचालिका है और उस गृहस्थी में उसकी बात चलती भी है यद्यपि कभी-कभी रेणु सोचती है कि मैं क्यों नहीं बाहर जा सकती, मैं क्या मालती से कम हूं। शर्माजी से उसे यह शिकायत भी रहती है कि वे अत्यधिक व्यस्त रहते हैं और कहीं ले जाने के लिये उनके पास समय नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसकी महत्त्वाकाँक्षाओं का खून हो रहा है।

यद्यपि रेणु का चरित्र असाधारण नहीं है फिर भी वह साधारण गृहिणी का सुन्दर उदाहरण हमारे सामने रखती है।

संवाद (कथोपकथन)

उपन्यास के संवाद साधारणतः अच्छे हैं। वे सारगर्भित हैं तथा चरित्रों पर प्रकाश भी डालते हैं। घटनाओं की सूचना और कथा में मोड़ (turn) देने में भी उनका सार्थक प्रयोग हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं समस्याओं पर लम्बे वाद-विवाद नीरस हो उठते है। शर्माजी ने जो लम्बा भाषण रेणु को दिया है, वह तो अस्वाभाविक और नीरस लगता है। लेखक ने कहीं-कहीं संवादों को चमत्कारयुक्त तथा साहित्यिक सौन्दर्य से युक्त बनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये मालती और शर्माजी का यह संवाद जिसमे मालती का लता वाचक अर्थ लेकर शर्माजी व्यंग्य करते है :—

"जान पड़ता है, शर्माजी उसकी ग्रीवा पर उड़ती हुई एक लट की ओर देख रहे थे, बोले—"अब तो उलझ ही गया हूँ।"

मालती ने लक्ष्य किया—उसका नाम एक लता से भी सम्बद्ध है, बोली—

"लेकिन सुलझाव आप पर ही निर्भर है।"

"चले जाने का संकेत काफी शिष्ट है।" शर्माजी इस तरह बोले कि मुस्कराहट से उनके दो दाँत भी झलक पड़े।"

इसी प्रकार भावपूर्ण संवाद एक स्थान पर और मिलते हैं। मालती शर्मा जी के गिरधारी नाम का यथार्थ वाची घनश्याम लेकर संवादों में साहित्यिक अभिरुचि का परिचय देती है। शर्माजी मालती से कह रहे हैं :—

"सभा-मंच पर जब तुम सिंहनी की भाँति गर्जन करोगी, तो कितने ही वन्य-जन्तुओं का कलेजा दहल जायगा। श्वान और शृगालों को तो रास्ता खोजे न मिलेगा। फिर मृदुल कंठ से जब तुम किसी प्रश्न अथवा समस्या की व्याख्या करती हुई आगे बढ़ोगी, तो कितने ही श्रोताओं को तो केकी का भ्रम होगा।"

आनन्द और उल्लास की लहरें उठाती मालती बोली—"लेकिन घनश्याम जब तक कृपालु न होंगे, तब तक वर्षा भी कैसे होगी। कभी-कभी भागते हुए से दीखते हैं, कौन जाने कब बरसें। ऐसी दशा में एक नया रिस्क कौन मोल ले।"

"लेकिन घनश्याम कभी किसी को आश्वासन देकर नहीं आते, यहाँ तक कि किसी का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करते। बरसते क्षण यह भी नहीं विचार करते कि कहाँ इस वर्षा की अधिक उपयोगिता है, कहाँ कम।"

"तब तो वे सचमुच बड़े आदमी हैं।"

गिरधारी—"न्याय और अन्याय तो हमारे सोचने और निश्चित करने का विषय है सो भी अपने स्वार्थों के अनुसार। प्रकृति जो एक अबाध और दुर्निवार कर्म-धारा है उसके आगे न्याय-अन्याय का कोई प्रश्न नहीं रहता।"

मालती—"तब मुझे केकी बनने का कोई मोह भी नहीं है।"

गिरधारी—"कब से।"

मालती—"जब से प्रकृति को अबाध और दुर्निवार कर्मधारा का ज्ञान हुआ।"

देश-काल

अब से लगभग १० वर्ष पूर्व के काल के चित्र को यह उपन्यास रखता है। तब से भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल गई है, और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं फिर भी देश की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक समस्यायें वही की वही हैं, उनसे कम भी नहीं, कुछ अधिक ही। लेखक ने तत्कालीन आन्दोलनों का स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं रखा है। पुलिस के अत्याचार और सरकारी अत्याचारों का भी पाठक को इस उपन्यास से ज्ञान नहीं होता। जिस समस्या को लेखक ने लिखा है, उन्हें भी वह प्रभावशाली ढंग के कथा के माध्यम से व्यक्त नहीं कर सका। कथावस्तु बिखरी और छितरी है इसलिये समस्यायें भी प्रभावहीन लगती हैं। अधिकतर घटनाये कथित हैं, घटित कम हैं। यह भी एक दोष है।

शैली

लेखक ने उपन्यास अन्य चरित प्रणाली से लिखा है इसलिये सब पात्रों के विषय में वह अपने विचार भी व्यक्त करता गया है। स्वयं लम्बे-लम्बे विश्लेषण पैरा-परिच्छेदो के आरम्भ में देता गया है। उपन्यास कला की दृष्टि से यह एक दोष है। उपन्यास का शीर्षक निमन्त्रण क्यों है, यह समझ में नहीं

आता। यह शीर्षक अपने अन्दर की कथावस्तु की जरा भी व्यंजना नहीं करता। इस उपन्यास का अगर कोई ऐसा नाम होता जो इसकी कथावस्तु की व्यंजना भी करता तो ठीक रहता। हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत उपन्यास प्रथम कोटि का उपन्यास नहीं है, यह एक असफल उपन्यास है। लेखक भी प्रतिभाशाली प्रतीत नहीं होता। वह प्रथम श्रेणी का कथाकार निश्चित रूप से नहीं है। हम उसे द्वितीय श्रेणी के उपन्यासकारों में स्थान दे सकते हैं।

ऊपर उपन्यास के गुण-दोषों का सम्यक विवेचन किया गया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल नहीं रहा। इस असफलता के मूल में प्रतिभा की ही कमी है।

प्रश्न २—"जब कहा जाता है कि आज के नाटकों पर पाश्चात्य नाट्य कला का प्रभाव अत्यधिक है और उनमें भारतीय नाट्यकला के सिद्धान्तों का उचित पालन नहीं मिलता। इसका अर्थ है कि पाश्चात्य और पौर्वात्य नाट्यकला में कोई मौलिक अन्तर है। स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—नाटक चूँकि श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आता है, इसलिये उसका पूर्ण आनन्द पढ़ने में नहीं अपितु अभिनय में होता है। इस विषय में तो पूर्व और पश्चिम की विचार-धारा एक है।

किन्तु फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जो पूर्व और पश्चिम के नाटकों में मौलिक अन्तर उपस्थित कर देती हैं। उदाहरणार्थ भारतीय नाटकों का उद्देश्य रसनिष्पत्ति अर्थात् आनन्द होता है। नाटक के उद्देश्य आचार्यों ने निश्चित कर दिये हैं—१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम, ४. मोक्ष से भारतीय नाटक किसी को भी अपना उद्देश्य बना सकता है, क्योंकि नाटक के उद्देश्य धर्मशास्त्रों में विवेचित मानव जीवन के उद्देश्यों से अभिन्न हैं। इसलिये नाटक का अन्त सुख में ही होना चाहिये, ऐसी परम्परा है। भारत में तो सभी बातों का आधार आध्यात्मिकता को बनाया जाता है, इसलिए दुखांत नाटक भारतीय संस्कृति के विरुद्ध समझे जाते हैं।

उद्देश्य विशेष सामने होने के कारण भारतीय नाटक की कथावस्तु का विकास उसी के अनुकूल होता है और पाश्चात्य नाटकों में घटना प्रधान होती

है, इसलिये उनकी कथावस्तु का विकास बिल्कुल दूसरे ढंग से ही होता है। वास्तव में दोनों नाट्यकलाओं में यही मौलिक अन्तर है कि एक (पाश्चात्य) घटना और उसके विकास पर आधारित है, दूसरी (भारतीय) उद्देश्य और उसकी प्राप्ति पर।

अब यहाँ हम भारतीय और पाश्चात्य नाटकों के तत्त्वों की अलग-अलग विवेचना करेंगे जिसमें उनका साम्य और अन्तर स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा।

भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटक के चार तत्त्व माने गये हैं:—

१. वस्तु, २. नेता या पात्र, ३. रस, ४. अभिनय।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के निम्नांकित छः तत्त्व माने गये हैं—१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. कथोपकथन, ४. देशकाल, ५. उद्देश्य, ६. शैली

वस्तु— नाटक जिस कथानक या आख्यायान को लेकर लिखा जाता है, उसे वस्तु कहते हैं।

अँग्रेजी में इसी को प्लाट (Plot) कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की मानी जाती है—१. आधिकारिक, २. प्रासंगिक।

केवल नायक से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक कथा होती है। कथा का मुख्य विषय उद्देश्य आदि इसी में रहते हैं।

प्रासंगिक कथावस्तु को गौण कथावस्तु भी कहते हैं, इसका सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रों से होता हैं। यह कथा और इसके पात्र नायक की फल-प्राप्ति में सहायक होते हैं, इसलिये इसे सहायक कथावस्तु भी कहा जाता है। इस कथावस्तु के तीन उद्देश्य हो सकते हैं—

१. नायक के चरित्र या उसके उद्देश्य को स्पष्ट करना।

२. मुख्य कथा में उचित परिवर्तन उपस्थित करना उसे एक मोड़ (Turn) देना।

३. नायक की फल प्राप्ति में सहायक होना।

वास्तव में सहायक वस्तु एक स्वतन्त्र वस्तु सी ही होती है, उसका अपना अलग नायक होता है जो सहायक वस्तु के फल का भोक्ता होता है। उसका सम्बन्ध मुख्य वस्तु से इतना ही होता है कि एक तो इसके द्वारा मुख्य नायक का चरित्र उत्कर्ष को पहुँचा हुआ दिखाया जाता हैं। दूसरा सहायक वस्तु

का नायक मुख्य नायक का अनुचर, मित्र या बन्धु होता है जिससे उसे सहायता मिलती है।

सुग्रीव की कथा रामायण में प्रासंगिक कथा है। सुग्रीव का फल (उद्देश्य) है अपने भाई को हराकर राज्य-प्राप्ति। वह उसे प्राप्त करता है, किन्तु सुग्रीव का फल राम के उद्देश्य में बाधक नहीं, साधक बनता है। सुग्रीव राम का मित्र है।

इसी प्रकार श्री रामकृष्णदास के नाटक 'महाराणा प्रताप' में गुलाबसिंह और मालती की कथा प्रासंगिक या सहायक कथा है। गुलाबसिंह का उद्देश्य मालती को प्राप्त करना है, इसमें उसे सफलता मिलती है, वह महाराणा का सहायक और अनुचर है।

यह प्रासंगिक कथा दो प्रकार की होती है—१. पताका, २. प्रकरी।

१. पताका—एक बार आरम्भ होकर नवप्रासंगिक (सहायक) कथा अन्त तक आधिकारिक (मुख्य) कथा के साथ चलती है।

२. प्रकरी—जहाँ प्रासंगिक (सहायक) कथा प्रारम्भ होकर बीच में ही समाप्त हो जाय।

भारतीय नाटकों में कथा की ऐतिहासिकता के आधार पर उनके तीन भेद किये जाते हैं—

१. प्रख्यात—वह कथा जो इतिहासि, पुराण या लोकप्रसिद्ध हो।
२. उत्पाद्य—वह कथा जो लेखक की कल्पनाप्रसूत हो।
३. मिश्र—जहाँ कल्पना और ऐतिहासिकता का मिश्रण हो।

भारतीय नाटकों में चूँकि एक निश्चित फल (उद्देश्य) रहता है, इसीलिए कथावस्तु का विकास भी उस फल की प्राप्ति की सम्भावना, प्राप्ति में कठिनाई प्राप्ति की आशा आदि के अनुसार होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार कार्य-व्यापार की निम्नांकित अवस्थाएं मानी जाती हैं।

१. प्रारम्भ—यह कथा का आरम्भ है। इसमें नियत फल को प्राप्त करने की इच्छा अंकुरित होती दिखाई जाती है।

२. यत्न—इच्छा पूर्ण करने के लिये नायक जो यत्न करता है, वह इसके अन्तर्गत आता है।

३. प्राप्त्याशा—इसमें विघ्नों की समाप्ति के साथ-साथ फल-प्राप्ति की आशा हो उठती है।

४. नियताप्ति—यहाँ तक आते-आते फल-प्राप्ति की अनिश्चितता निश्चितता में बदल जाती है अर्थात् फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है।

५. फलागम—इसमें सम्पूर्ण बाधाओं का नाश होकर फल की प्राप्ति हो जाती है।

फलागम की स्थिति हमारे नाट्यशास्त्र में एक बड़ी विचित्र वस्तु है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार फल-प्राप्ति अनिवार्य है, इसलिए फलागम की स्थिति भी अनिवार्य है। फल-प्राप्ति कभी कभी न भी हो, इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका भी एक धार्मिक कारण है। प्राचीन भारतीय नाटकों में नाटकों का नायक प्रायः राजा होता था। राजा धर्म का रक्षक और ईश्वरांशी माना जाता था। धर्म का प्रतिनिधि होने के कारण उसकी असफलता का अर्थ था; दर्शकों की धर्म में या ईश्वर में या राजा में श्रद्धा कम हो जाना और इससे प्राचीन भारतीय आचार्यों की दृष्टि में समाज मे नास्तिकता, उच्छृङ्खलता अनैतिकता, अव्यवस्था आदि फैल जाने का डर था। जब इस धार्मिक कारण-बश फल-प्राप्ति अनिवार्य थी, तो नाटक का सुखांत होना भी बहुत स्वाभाविक था। यह माना जाता था कि नाटक के अन्त में यदि दर्शक को दुःख हुआ तो नाटक का उद्देश्य ही समाप्त हो गया, क्योंकि सामान्यतः काव्य का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति ही था और इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर भी बताय गया है। इसलिये नाटकों की समाप्ति सदैव सुख या आनन्द में ही होती थी और फलस्वरूप नाटकों के नायक अलौकिक गुणसम्पन्न होते थे, चाहे तो फूँक से पहाड़ उड़ा दें, चाहे तीर से समुद्र सुखा दें, इसलिये उनके कष्ट में पड़ जाने पर भी दर्शक कभी चिन्तित नही होते थे, वे जानते थे कि क्या हुआ जो खरदूषण के साथ चौदह हजार सैनिक हैं और राम अकेले हैं, वे अभी सबको समाप्त किये देते हैं। ये विष्णु के अवतार जो हैं जो सृष्टि की रचना करता है, अपनी ही सृष्टि स्रष्टा स अधिक शक्तिशाली कैसे हो सकती है।

हमारा विचार तो यह है कि भारतीय नाट्य साहित्य इस रूप में इतने युगों तक अस्वाभाविकता के रोग से पीड़ित रहा।

यह तो मानना पड़ेगा कि भारतीय नाटकों की कथावस्तु जितनी व्यवस्थित और उचित अनुपात में होती थी, पाश्चात्य नाट्यकला उसकी समता नहीं कर सकती, भारतीय नाट्य-शास्त्राचार्यों ने कथा को तीन प्रकार से बाँट रखा था।

१. दर्शकों की दृष्टि से।

२. अभिनेताओं की दृष्टि से।

३. नाट्यगृह या आचार्यों की दृष्टि से।

भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार वस्तु को कितने ही रूपों में वर्गीकृत कर दिया है। वे वर्गीकरण या भेद वैज्ञानिक हैं। जैसे—

अर्थ प्रकृतियाँ—कथावस्तु के चमत्कारपूर्ण अंग जो उसे कार्य की ओर ले जाते हैं। ये पाँच हैं:—

१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य।

संधियाँ—संधि का अर्थ है मेल। इनमें कार्यावस्थाओं तथा अर्थ प्रकृतियों की संधि रहती है। ये भी पाँच हैं:—

१. मुख संधि, २. प्रतिमुख संधि, ३. गर्भ संधि, ४. विमर्ष संधि, ५. निर्वहण संधि।

अर्थोपक्षेपक—कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है:—

१. दृश्य श्रव्य—वह जो रंगमंच पर घटित दिखाई जाती है।

२. सूच्य—जिसकी सूचना मात्र पात्रों द्वारा दी जाती है। इस प्रकार की सामग्री अर्थोपक्षेपक कहलाती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में कथोपकथन कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। उसे कथावस्तु का ही एक भाग समझा जाता है। यहाँ तीन प्रकार का कथोपकथन माना जाता है:—

१. श्राव्य—जो सब दर्शकों के लिये हो।

२. अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के लिये न हो, इसी को सस्वर विचार या (Loud thinking) भी कहा जाता है।

३. नियत-श्राव्य जो कुछ निश्चित् पात्रों के लिये ही हो।

(आकाश भाषित भी कथोपकथन का ही एक भेद है।)

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में भी कथावस्तु की पाँच अवस्थायें होती हैं किन्तु वे फल-प्राप्ति पर आधारित न होकर घटना पर आधारित रहती हैं और उसी के अनुकूल उनका नामकरण किया गया है।

१. प्रारम्भ (Exposition)

२. संघर्ष (Incident)

३. संघर्ष का प्रसार (Rising action)

४. चरम सीमा (Climax)

५. समाप्ति (Denounement–सुखान्त; Catastrophe–दुखांत)

पाश्चात्य नाट्यकला के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि नायक धर्म का ही प्रतिनिधि हो या अगर हो भी तो उसकी विजय सदैव निश्चित रहे।

अंग्रेजी या पाश्चात्य नाटकों में जो नाटक नायक की पराजय या मृत्यु के साथ समाप्त होता है उसे ट्रेजेडी और जो विजय के साथ समाप्त होता है उसे कौमेडी कहते हैं।

पाश्चात्य नाटकों में घटनाओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वह कथावस्तु के विकास से स्पष्ट हो गया होगा।

पात्र—पाश्चात्य नाटकों में कोई भी व्यक्ति चाहे वह अत्यन्त साधारण स्थिति का हो या अत्यन्त असाधारण स्थिति का नायक हो सकता है। (आधुनिक हिन्दी नाट्यशास्त्र आज इस विषय में पश्चिम से अत्यधिक प्रभावित है क्योंकि आज के नाटकों के नायक समाज के साधारण और उपेक्षित व्यक्ति होते हैं)।

संस्कृत नाटकों में नायकों का वर्गीकरण कर दिया गया है। नायक चार प्रकार के बताये गये हैं

१. धीरोदत्त—उदार होता है। शक्ति, क्षमा तथा आत्म-गौरव के साथ विनयी होता है। (अधिकतर इस प्रकार का नायक राजा या देवता होता है)।

२. धीर ललित—कोमल स्वभाव का विलासी नायक होता है, जैसे

संस्कृत में प्रसिद्ध नायक उदयन। (ऐसे नायक भी प्राय: राजा होते हैं)।

३. धीर प्रशान्त—शान्त स्वभाव का नायक जो प्राय: ब्राह्मण या वैश्य होता है।

४. धीरोद्धत—यह मायावी, आत्मश्लाघी, स्वभाव से प्रचण्ड तथा चपल होता है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में नायक के इस प्रकार के कोई भेद नहीं किए गये।

रस—नाटक में भारतीय आचार्य जिसे रस कहते हैं, अँग्रेजी मीमांसा-शास्त्र में उसे ही उद्देश्य कहा गया है। नव रसों में से किसी एक या अधिक रसों को उद्बुद्ध करना ही नाटककार का उद्देश्य रहता था। इसलिए प्राचीन भारतीय नाटकों के विषय में यह नहीं पूछा जाता कि इसमें समस्या क्या है ? इसका विषय क्या है ? इसका उद्देश्य क्या है, अपितु पूछा जाता है कि यह नाटक कौनसा रस प्रधान है शृङ्गार, वीर आदि-आदि।

प्राचीन भारतीय आचार्य प्राय: सब कलाओं का मूल उद्देश्य आध्यात्मिकता मानते थे, इसलिए वे रस या आनन्द को संघर्ष से अधिक महत्त्व देते थे। पश्चिम की नाट्यकला इस विषय में बिल्कुल भिन्न है, वहाँ रस भारतीय अर्थ में ग्राह्य नहीं है बल्कि वहाँ तो घटनाओं के लिये ही नाटक लिखे जाते हैं। इसलिये पाश्चात्य नाटक अपना उद्देश्य या तो केवल मनोरञ्जन रखते हैं या फिर सामाजिक या राजनैतिक समस्यायें उनके उद्देश्य होते हैं।

वृत्तियाँ—अँग्रेजी नाट्य साहित्य के मीमांसक जिसे शैली कहते हैं, भारतीय नाट्यशास्त्र की वृत्तियाँ बहुत कुछ वही हैं। ये वृत्तियाँ संख्या में चार हैं।

१. कैशिकी वृत्ति—यह कोमल वृत्ति है। इसका सम्बन्ध कोमल रसों शृंगार हास्यादि से है। इसमें नृत्य और गीत का बाहुल्य रहता है।

२. सात्वती वृत्ति—इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं अत: यह दया दाक्षिण्य शौर्य तथा दनादि से सम्बद्ध है। इसमें रौद्र तथा अद्भुत रस का भी समावेश रहता है।

३. आरभटी वृत्ति—यह रौद्र रस के उपयुक्त है। इसमें संग्राम, संघर्ष, क्रोध, माया, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन होता है।

४. भारती वृत्ति—भरत मुनि इसका सम्बन्ध करुण रस तथा अद्भुत रस से मानते हैं। इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। केवल पुरुष नटों से ही इसका सम्बन्ध है।

देश-काल—भारतीय आचार्यों ने रूपक के नाटकादि १८ भेद किये हैं। प्रत्येक भेद में उन्होंने पात्रों की संख्या तथा समय आदि का प्रतिबन्ध रखा है। कितने समय का, किस विषय का कौनसा नाटक होता है, इसका स्पष्ट विवेचन मिलता है।

पहले अँग्रेजी नाटकों में संकलनत्रय (Unity of time Unity of Place and Unity of Action) का ध्यान रखा जाता था, किन्तु अब यह बन्धन शिथिल हो गया है। शेक्सपियर जैसे प्रसिद्ध नाटककार ने ही इन बन्धनों को नहीं माना है, फिर इस शताब्दी में तो रंगमंच बहुत आगे बढ़ गया है। आधुनिक आविष्कारों ने प्राचीन कठिनाइयाँ हल कर दी हैं, इसलिये अब समय, स्थान और कार्य-व्यापारों का प्रतिबन्ध अँग्रेजी नाटकों पर भी नहीं है।

सारांश यह है कि यद्यपि बाह्य तत्त्वों में पूर्वी और पाश्चात्य नाटकों में लगभग समानता है, किन्तु जीवन के प्रति दृष्टिकोण दोनों के बीच में एक मौलिक अन्तर उपस्थित कर देता है। भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्म प्रधान है इसलिये संघर्षों को अपना उद्देश्य नहीं बनाता, पश्चिम घोर भौतिकवादी है इसलिये जीवन और संसार से परे किसी वस्तु को वह अपना उद्देश्य नहीं बनाना चाहता।

यह ठीक है कि पश्चिम का रंगमंच आज अत्यन्त उन्नत है किन्तु भारतीय नाटयशास्त्र भी जिस सीमा को इतने सौ वर्ष पूर्व ही स्पर्श कर चुका है, वह सीमा पिछड़ी हुई नहीं कही जा सकती। कथावस्तु का वैज्ञानिक वर्गीकरण पात्रों के विषय में उचित निर्देश और नाट्यगृह सम्बन्धी सम्पूर्ण निर्देश भारतीय आचार्यों ने इतने विकसित और उन्नत रूप में रखे हैं कि उन्हें देख-पढ़ कर आज भी आश्चर्य होता है।

प्रश्न ३.—"यद्यपि नाटक और उपन्यास में कुछ साम्य दिखाई देता है किन्तु उसमें अन्तर बहुत अधिक है।" इस साम्य तथा अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—जहाँ तक रूप-विधान का सम्बन्ध है, नाटक तथा उपन्यास के तत्त्व समान हैं। ये तत्त्व निम्नांकित है :—

१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. चरित्र-चित्रण, ४. कथोपकथन, ५. देशकाल, ६. उद्देश्य, ७. शैली।

यद्यपि उपरोक्त तत्त्व उपन्यास और नाटक दोनों में समान हैं, किन्तु इन तत्त्वों के अनुपात भेद से मूल रचना में बहुत बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। विभिन्न साहित्यिक विधाओं विशेषत: उपन्यास, नाटक तथा कहानी में इन तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रयोग या विभिन्न अनुपात ही उन्हें स्वतन्त्र रूप और नाम प्रदान करता है। इसलिए उपरोक्त बाह्य साम्य के होने पर भी उपन्यास उपन्यास है, नाटक नाटक है। उपन्यास नाटक नहीं हो सकता और नाटक उपन्यास नहीं हो सकता। अब हम प्रत्येक तत्त्व को लेकर दोनों का अन्तर देखने का प्रयत्न करेंगे।

कथावस्तु—उपन्यास और नाटक एक ही कथावस्तु को लेकर लिखे जा सकते हैं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति का वैविध्य उनमें आकाश-पाताल का अन्तर उपस्थित कर देता है। नाटक की कथावस्तु पर रंगमंच का अंकुश रहता है। अर्थात् नाटक लिखते समय प्रत्येक क्षण लेखक को यह अनुभव करना पडता है कि वह जो कुछ लिख रहा है, उसका रंगमंच पर अभिनय किया जायगा। इसलिए यदि नाटककार अपनी कथावस्तु में अलौकिक तत्त्वों-अरूप वस्तुओं का समावेश अधिक करेगा तो वह नाटक अनभिनेय हो जायगा। भारी-भरकम वस्तुओं का प्रदर्शन भी रंगमञ्च पर कष्टसाध्य है इसलिए इस प्रकार की वस्तुओं के वर्णन से भी नाटककार को बचना पड़ता है।

नाटक नाट्यशास्त्र के कुछ विशेष नियमों में बँधा रहता है। उदाहरणार्थ नाटक में कुछ दृश्य वर्जित माने जाते हैं, जैसे—भोजन, नगरावरोध, भीड़, युद्ध संभोग, विप्लव, अश्वारोहियों का समूह, सेना द्वारा अभियान, पहाड़ियों, नदियों, समुद्र आदि के दृश्य आदि, चूँकि इनका प्रबन्ध करना रंगमञ्च पर एक आसान काम नहीं है। इसलिए नाटककार ऐसे वर्णनों से जहाँ तक हो सकता है, बचता है।

नाटक दृश्यकाव्य है, अत: इसमें प्रत्येक बात दृश्य रूप में ही आनी

चाहिए। पाठक नाटक में प्रत्येक चीज स्पष्ट देखना चाहता है, उपन्यास में जैसे अपने मस्तिष्क में कल्पना कर लेता है, उसका भी अवकाश नाटक में नहीं रहता। इसलिए नाटककार को कथावस्तु के दो भाग करने पड़ते हैं—१. सूक्त, २. दृश्य। और दृश्य भाग पर ही नाटककार को अधिक ध्यान देना पड़ता है।

नाटक चूँकि लिखा ही अभिनय के लिए जाता है, इसलिए उसकी भाषा भी उसी के अनुरूप होती है। यदि नाटककार ऐसी भाषा लिखता है जिसका कि पात्र उच्चारण भी नहीं कर पाता, या ऐसी भाषा लिखता है कि एक अंग्रेज, एक मुसलमान, सीमांत का एक पठान, मद्रासी और यू० पी० का पण्डित एक जैसी ही भाषा बोलते हैं, तो यह घोर अस्वाभाविक हो जायगा और दर्शक इस बात को सहन नहीं कर सकेगा। इसलिए उपन्यास और नाटक की भाषा सम्बन्धी नीति भी एक-दूसरे से भिन्न होती है।

नाटक में वर्णनात्मकता के लिए बिल्कुल स्थान नहीं रहता, जैसा कि उपन्यास में सम्भव है, वहाँ तो प्रत्येक बात संवादों के ही रूप मे रहती है। इसलिए नाटककार 'मैं' में कोई विचार व्यक्त नहीं कर सकता अर्थात् अपने विचारों के प्रचार के लिए नाटककार के पास उपन्यासकार की भाँति सीधा साधन नहीं है कि अपनी ओर से जो चाहे कह दे। असल में यही विशेषता और अन्तर नाटक और उपन्यास का सबसे बड़ा भेद है। नाटककार का कार्य बड़ा ही कठिन है। विचारों और निष्कर्षों तथा समस्याओं से शून्य तो नाटक भी नहीं होता। किन्तु इन सब बातों पर नाटककार उपन्यासकार की भाँति स्वयं भाषण नहीं दे सकता, यह कार्य वह केवल अपने पात्रों से ही ले सकता है। इसलिए वह अपने विचारों को किसी पात्र के माध्यम से संवादों के द्वारा ही व्यक्त कर सकता है।

कथा के विस्तार के विषय में भी नाटककार के हाथ बँधे रहते हैं। दर्शकों के पास इतना समय और धैर्य नहीं हो सकता कि वे छः-सात घँटे नाटक गृह में बैठे रहें। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि दर्शक इतनी देर बठ भी जाँय किन्तु भूख, प्यास और थकावट क्या उन्हें नाटक में कोई आनन्द प्राप्त करने देगी? उत्तर स्पष्ट है; नहीं। इसलिए नाटककार उतनी कथा कहेगा जितनी ढाई तीन घंटे में अभिनीत हो सके। हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध नाटककार

प्रसाद जी की असफलता का सबसे बड़ा कारण यह भी है कि उनके नाटक अत्यन्त लम्बे हैं और बिना काँट-छाँट के छः-सात घंटे से कम में अभिनीत नहीं किये जा सकते। नाटक श्रव्य काव्य नहीं है, वह दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है इसलिये जब तक दृश्य काव्य की विशेषतायें उसमें न होंगी तब तक वह सफल हो भी कैसे सकता है। यही कारण है कि नाटक की कथावस्तु पग-पग पर नियंत्रित रखनी पड़ती है। अङ्क और दृश्यों में वह बंटी रहती है। रंग-मंच भी कोई असीमित क्षेत्र तो होता नहीं, उसकी लम्बाई और चौड़ाई भी निश्चित है इसलिये उस पर अधिक से अधिक दृश्यों को मूर्त करने वाले कितने पर्दे टाँगे जा सकते हैं, यह व्यावहारिक कठिनाई नाटक के दृश्यों का नियंत्रण करती है। मान लीजिये किसी नाटक में बीस दृश्य हैं। अलग-अलग दृश्यों को दिखाने के लिये रंग-मंच पर बीस पर्दे कैसे टाँगे जायेंगे, उस पर इतना स्थान ही कहाँ है इसलिये दृश्य और अंक जिनका सम्बन्ध रंग-मंच तथा व्यावहारिक अभिनय से अधिक होता है, नाटक की कथावस्तु का नियंत्रण करते हैं। प्राचीन काल में तो बन्धन और भी अधिक थे। कथानक अर्थप्रकृतियों, संधियों और कार्यावस्थाओं में भी बँटा रहता था।

उपन्यास की कथावस्तु निर्बन्ध और सब बन्धनों से मुक्त रहती है। उपन्यास चूँकि श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आता है इसलिये उसकी कथावस्तु पढ़ने के तथ्य को ध्यान में रखकर ही लिखी जाती है। उपन्यास दो सौ पृष्ठ का भी होता है और दो हजार पृष्ठ का भी हो सकता है। चूँकि उपन्यास का चरम आनन्द पढ़कर ही लिया जा सकता है, नाटक की भाँति उसे रंगमंच की आवश्यकता नहीं है इसलिये उपन्यास लेखक के मस्तिष्क में नाटककार की भाँति प्रतिबन्धों की चिन्तायें नहीं होतीं। उपन्यास की रंगशाला तो उसके अन्दर ही होती है। कथावस्तु में अभिनय का ध्यान रखना भी आवश्यक नहीं है।

उपन्यासकार एक विचारक के रूप में खुल कर अपने उपन्यास में आ सकता है अर्थात् वह 'मैं' में अपने विचार व्यक्त कर सकता है, उसे किसी पात्र आदि की सहायता लेने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और स्वयं विचार व्यक्त करने के कारण उपन्यास में किसी प्रकार की कलात्मक कुरूपता भी नहीं

आती। कितने ही उपन्यास तो आत्मचरित्र प्रणाली में ही लिखे जाते हैं जिनमें स्वयं लेखक एक पात्र के रूप में आता है।

उपन्यासकार के सामने न तो यह समस्या है कि वह कितने दृश्य उपन्यास में रखे, कितने नहीं, पाठक दो घंटे में पढ़ जायगा या दो महीने मे और न उसे यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि अश्वारोही, सेना का अभियान, समुद्र, वन, पर्वत, जलचर, थलचर, भोजन, नगरावरोध, प्रेमक्रीड़ा आदि का वर्णन करे या न करे। इसलिये ये सब बातें बिना किसी प्रकार के व्याज के उपन्यास में लिखी जा सकती है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को भी उपन्यासकार धैर्यपूर्वक देख सकता है और पाठक को भी उस आनन्द में सहयोगी बना सकता है। भूत प्रेत तथा रहस्यमय बातों के विषय में भी उसे चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि उनका प्रदर्शन कैसे होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि कथावस्तु और विभाजन सम्बन्धी जितने नियम-बन्धन हैं, उपन्यासकार उन सब के बाहर है और अपनी कृति का निरंकुश शासक है। उसे किसी के द्वारा शासित होने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है।

पात्र—नाटक में बिल्कुल गिने-चुने होते हैं। कारण यह है कि नाटक का पात्र केवल कल्पना-लोक में ही नहीं रहता, उसे रंग-मंच पर दर्शकों के समक्ष भी उतरना पड़ता है इसलिये अगर अधिक पात्र होंगे तो उनके लिये वेश-भूषा का सामान और उन सब पात्रों को उनके अभिनय और कार्य से परिचित करना साधारण कार्य नहीं है इसलिये नाटक में पात्रों की संख्या बड़ी ही सीमित होती है और जब किसी पात्र के बिना काम ही न चले तभी उसको नाटक में स्थान दिया जाता है और इसके अतिरिक्त अधिक पात्र हो जाने के कारण न तो हर पात्र का कोई व्यक्तित्व रहता है और व्यर्थ की भीड़ भी रंग-मंच पर जमा हो जाती है। प्रसाद जी के नाटकों में यह दोष बहुत खटकता है कि उनके नाटकों में पात्रों की संख्या बहुत अधिक होती है और बहुत से आलोचकों के यह कहने में सत्यांश है कि उन्हें फिर या तो किसी पात्र का गला घोंटना पड़ता है या आत्महत्या के लिये उन्हें विवश करना पड़ता है।

उपन्यासों में पात्रों के विषय में कठिनाई इससे बहुत कम है। यदि किसी उपन्यास में बहुत अधिक पात्र हैं तो हो सकता है पढ़ने में वे कोई कुरूपता

उत्पन्न करें किन्तु व्यावहारिक रूप से वे कोई कठिनता उत्पन्न नहीं करते । न तो उन्हें उनका भाव रटाना पड़ता है, न निर्देश देने पड़ते हैं और न वेश-भूषा आदि का ही उनके लिए प्रबन्ध करना पड़ता है । इसके अतिरिक्त किसी पात्र के व्यक्तित्व को उभारने के लिये लेखक स्वय अपनी निर्णायिक भाषा का प्रयोग उसके लिये कर सकता है । उदाहरणार्थ 'होरी पचास वर्ष का दुबला पतला, काला कलूटा, खिचड़ी हुए बालों वाला एक दब्बू प्रकृति का व्यक्ति था, किन्तु नाटककार ऐसे शब्दों का भी प्रयाग नहीं कर सकता ।

इस दृष्टि से भी उपन्यास और नाटक के रूप विधान में महान-मौलिक अन्तर है ।

चरित्र-चित्रण—नाटक में पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय नाटककार निर्णयात्मक भाषा का प्रयोग जैसे—'वह बुरा था' या 'वह अच्छा था' नहीं कर सकता । केवल कथोपकथन के द्वारा नाटककार पात्रों का चरित्र-चित्रण कर सकता है अर्थात् नाटक में चरित्र-चित्रण की शैली अभिनयात्मक (संवादात्मक) होती है और उपन्यास में वर्णनात्मक भी हो सकती है ।

वर्णनात्मक प्रणाली की सुविधा होने के कारण उपन्यासकार अधिक से अधिक पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत थोड़े में कर सकता है । पर नाटककार को यह सुविधा नही है ।

उपन्यास में पात्रों के मनोविश्लेषण का बहुत अवकाश रहता है । पात्र की मानसिक अव्यक्त भावनाओं को उपन्यासकार अपने उन विश्लषणों द्वारा स्पष्ट कर सकता है परन्तु नाटकार ऐसा नही कर सकता ।

उपन्यास में चूँकि कोई वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती इसलिये चरित्र-चित्रण विषयक कमजोरी उपन्यास की उभर कर नहीं आ सकता और वह प्राय: पाठक की पकड़ से छूट जाती है किन्तु चरित्र-चित्रण विषयक कोई कमी दर्शक क्षमा नहीं करेगा और ऐसी कमी की वह उपेक्षा भी नही कर सकेगा जब हर वस्तु उसके सामने साकार उपस्थित हैं तो वह उपक्षा करे भी तो कैसे ?

जहाँ उपन्यास मे अधिक पात्रों की गुंजायश रहती है तो चरित्र-चित्रण की भी सुविधा रहती है । लौकिक या अलौकिक पात्रों की कठिनाई उपन्यास में कोई कठिनाई नहीं है किन्तु नाटक में यह कठिनाई बहुत बड़ी कठिनाई है । उपन्यास में तो ज्योत्स्ना, शशि, विवेक, आशा जैसी अव्यक्त वस्तुएँ पात्र बनाई जा सकती हैं किन्तु यदि नाटक में भी ये पात्र होंगी तो कैसे तो ये साकार होकर अपना काय करेगी और कैसे उनका उचित चरित्र-चित्रण हो पाएगा ।

कथोपकथन—नाटक जिसके कारण नाटक है—न उपन्यास है और न कहानी—वह तत्त्व है कथोपकथन। कथोपकथन नाटक का मेरु दण्ड है, इसके अभाव में नायक खड़ा नहीं हो सकेगा। ऐसे उपन्यास और ऐसी कहानी की कल्पना तो करी जा सकती है जिसमें कथोपकथन न हो किन्तु ऐसे नाटक की कल्पना करना ही सम्भव नहीं, जिसमें कथोपकथन न हो। जब उपन्यास और कहानी में कथोपकन के तत्त्व को हम देखते हैं तो कहते हैं कि इसमें नाटकीयता का आनन्द आता है। वास्तव में कथोपथन का अर्थ ही नाटक हो गया है और यही वह मुख्य तत्त्व है जो नाटक को अन्य रूप साहित्यांगों से विशिष्ट रूप-रंग प्रदान करता है और भिन्न संज्ञा से अभिहित कराता है।

चरित्र-चित्रण में तो कथोपकथन आश्चर्यजनक सहायता देता है। प्राय: निम्नांकित प्रकारों द्वारा कथोपकथन चरित्र-चित्रण में सहायक होता है।

१–अन्य पात्रों के कथोपकथन द्वारा किसी पात्र विशेष के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

२–जब वह पात्र स्वयं किसी के साथ बात करता है तो चरित्र स्पष्ट होता है।

३—और जब पात्र अपने आप से बात करता है अर्थात् स्वगत कथन करता है तो उससे भी चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

नाटक का कथोपकथन कथावस्तु को व्यवस्थित करता है। नाटक में तीन प्रकार का कथोपकथन होता है—है १. श्राव्य, २. अश्राव्य तथा ३. नियत श्राव्य।

१—श्राव्य–इस प्रकार का कथोपकथन सभी उपस्थित दर्शकों के सुनने के लिये होता है।

२—अश्राव्य–यह कथोपकथन नाम मात्र का होता है। दर्शकों से आशा की जाती है कि वे इसे सुनकर भी नहीं सुन रहे हैं।

३. नियत श्राव्य–यह कथोपकथन जो सबके लिये न होकर कुछ चुने हुए व्यक्तियों (पात्रों) के लिये होता है।

इसके अतिरिक्त नाटक में कथोपकथन दो अत्यन्त आवश्यक कार्य करता है:—

१. आगे आने वाली घटनाओं की सूचना बातचीत के द्वारा मिल जाती है।

२–कथा में परिवर्तन होने की सूचना भी कथोपकथन से मिलती है।

उपन्यास इस प्रकार कोई बन्धन नहीं होता। कथोपकथन का तत्त्व उपन्यास और कहानी के लिये नाटक की भाँति अनिवार्य नहीं है।

देश-काल—नायककार को देश-काल के बन्धन में भी बन्धना पड़ता है अर्थात् संकलयनत्रत का पालन करना पड़ता है ।

उपन्यास में लेखक आसानी से कह सकता है कि अमुक पात्र बम्बई से इङ्गलैंड चला गया और फिर उसके इङ्गलैंड के जीवन का वर्णन करने लगेगा। पाठक इस परिवर्तन पर अधिक ध्यान नहीं देगा।

किन्तु नाटक में ऐसा परिवर्तन स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है नाटक बम्बई से तुरन्त इङ्गलैंड देश के दर्शन के इस अस्वाभाविक परिवर्तन का स्वागत नहीं करेगा क्योंकि यह क्रिया नाटक में कुछ सैकिंडों में ही पूर्ण करनी पड़ेगी जबकि इङ्गलैंड पहुंचने में इससे असंख्य गुणा समय लगता है। इसलिए नाटककार ऐसी घटनाओं का वर्णन ही करेगा जो एक ही स्थान पर घटित हुई हों या बिना अस्वाभाविकता के दोष के कम से कम एक ही जगह दिखाई जा सके।

इसी प्रकार काल का बन्धन भी नाटकार को मानना ही पड़ता है। शकुन्तला अभी दो वर्ष की बच्ची है, अभी चौबीस वर्ष की युवती हो गई। इस इतने लम्बे काल को नाटककार किस प्रकार भरे, यह समस्या उसके सामने रहती है इसलिये जहाँ तक हो सकता है वह बहुत लम्बे काल को अपना वर्ण्य विषय नहीं बनाता।

उपन्यासकर आसानी से लिख सकता है "और २४ वर्ष बाद" पाठक इसको अधिक अनुभव नहीं करेगा। परन्तु दर्शक अभी-अभी एक लड़की को दो वर्ष की बच्ची देखा रहा है और कुछ मिनटों में ही वह २५ वर्षीया युवती हो जाती हैं।

इसी प्रकार कार्य-व्यापार सम्बन्धी अंकुश भी नाटककार पर रहता है, वह यह सोचता है कि वस्तु जगत में दो महीने में समाप्त होने वाला कार्य-व्यापार नाटक में कितनी देर में स्वाभाविकता के साथ समाप्त कर सकता है। यह तो अच्छा नहीं लगेगा कि जिस पात्र ने रंगमंग के ऊपर पाँच वर्ष के या दस वर्ष के बच्चे के रूप में प्रवेश किया हो और तीन घण्टे के अन्दर ही वह पचास वर्षीय श्वेतकेशी हो जाय जिस पाँच या दस वर्ष की लड़की ने रंगमंच पर प्रवेश किया है, वह तीन घण्टे में श्वेतकेशी वृद्धा हो जाय। वह तो घोर अस्वाभाविक है और यह उससे भी अधिक अस्वाभाविक है कि ५० वर्ष की घटनायें दिखाई जाँय और पात्र पूर्ववत् ही बने रहें।

उपन्यास में तो प्राय: बालक पात्र उपन्यास समाप्ति तक वृद्ध हो ही जाते हैं। उपन्यासकार के ऊपर उपरोक्त बन्धनों में से कोई बन्धन नहीं है।

उद्देश्य—नाटककार जीवन की व्याख्या केवल प्रत्यक्ष रूप से कर सकता

है। नाटक में जीवन को चित्र या साकार रूप से उपस्थित किया जाता है जो वास्तव में एक कठिन कार्य है। नाटक में जीवन दृश्य के रूप में ही आता है। इसलिये जितना ही वह दृश्य पूर्ण होगा, जीवन की उतनी ही सच्ची अनुभूति करा सकेगा। दर्शक उस दृश्य के माध्यम से ही नाटक में जीवन की अनुभूति और सन्देशों को हृदयङ्गम करते है।

किन्तु उपन्यासकार जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में कर सकता है। नाटक में उद्देश्य व्यंग्य होता है और उपन्यास मे वर्णित (कथित)। उदाहरणार्थ यदि सत्य हरिश्चन्द्र नाटक दिखाया जाय तो उसमें लेखक कभी यह नहीं कह सकता कि सत्य बोलना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये के लिये ही उसे पात्र कल्पित करने होंगे और तब घटनाओं के उचित एवं स्वाभाविक परिणाम के रूप में उपरोक्त तथ्य व्यंग्य रूप मे ही प्रकट किया जायगा। किन्तु उपन्यास में तो उद्देश्य सूचक वाक्य स्पष्ट कहे जाते हैं। नाटक में ऐसे कार्य के लिये कोई अवकाश नहीं।

शैली—नाटक में ४ शैलियाँ मानी गई हैं जो रसानुसार हैं अर्थात् जिस रस का नाटक हो, भाषा उसी के अनुसार होनी चाहिये। वीर रस का नाटक हो तो भाषा ओजपूर्ण होनी चाहिये और सात्वती वृत्ति होनी चाहिये।

इसी प्रकार जब शृङ्गार रस का नाटक हो तो भाषा मधुर एवं कोमल होनी चाहिये और कौशिकी वृत्ति होनी चाहिये।

वृतियाँ चार होती हैं—१. कौशिकी २. सात्वती ३. आरभटी ४. भारती। उपन्यास में शैलियाँ भाषा के ओज और माधुर्य गुण के अनुसार नही अपितु कथन-प्रणाली के भेद के अनुसार होती हैं।

१ आत्मचरित प्रणाली—जब लेखक स्वयं एक पात्र होता है और उपन्यास 'मैं' की शैली में लिखता है।

२. अन्य चरित प्रणाली—इसमें लेखक 'वह' की शैली में उपन्यास लिखता है और स्वयं तटस्थ दर्शक के रूप में रहता है।

३. पत्र प्रणाली—जहाँ पत्रों के उत्तर-प्रत्युतर के रूप में कोई उपन्यास लिखा जाय।

४. डायरी प्रणाली—जहाँ किसी व्यक्ति के डायरी के पन्ने किसी कहानी का सृजन करें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि उपरोक्त तत्त्व उपन्यास और नाटक में उभयनिष्ठ हैं किन्तु प्रयोगविधि का अन्तर दोनों के रूप-विधान में अन्तर उत्पन्न कर देता।

मृगनयनी

प्रश्न १—रूप-विधान की दृष्टि से आधुनिक युग में उपन्यास के कितने तत्त्व माने जाते हैं, प्रकाश डालिए ?

उत्तर—यों तो शायद सृष्टि का आरम्भ और आख्यानों का प्रचलन एक साथ हुआ हो किन्तु आख्यान या कथा के जिस रूप को हम उपन्यास कहते हैं वह आधुनिक युग की ही देन है। उपन्यास में कितने तत्त्व होते हैं, यह यहाँ विचारणीय है। कभी केवल कथा को भी उपन्यास कहा जाता था किन्तु आज केवल कथा को ही उपन्यास की संज्ञा नहीं दी जाती। आज उसके रूप-विधान की विशिष्टता उसे अन्य साहित्यांगों से सहज की पृथक् कर देती है।

नाटक और कहानी की भाँति उपन्यास में भी सात तत्त्व ही होते हैं किन्तु उसके प्रयोग-वैशिष्ट्य तथा विभिन्न तथ्यों के न्यूनाधिक अनुपात के कारण ये सब साहित्यांग एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है। यों कथा तो समान रूप से नाटक, कहानी और उपन्यास सभी का विषय है, परन्तु रूप-भेद से एक स्थान पर वह उपन्यास, एक स्थान पर कहानी और दूसरे स्थान पर नाटक कहलाती है। केवल रूप–वैशिष्ट्य के कारण ही ऐसा होता है। रूप-वैशिष्ट्य को निश्चित करने वाले निम्नांकित सात तत्त्व हैं—१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. चरित्र–चित्रण, ४, कथोपकथन, ५. देश-काल, ६. शैली और ७. उद्देश्य।

कथावस्तु—कथा की दृष्टि से उपन्यास के दो भेद किये जा सकते हैं—१. भाव-प्रधान उपन्यास २. घटना–प्रधान उपन्यास। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि कथा ही उपन्यास की जान है, इसलिये जहाँ कथा ही मुख्य हो जाय और शेष बातों की जहाँ उपेक्षा कर दी जाय ऐसे उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास कहलाते हैं। ऐसे उपन्यासों में घटना घटना के लिये होती हैं, उनका कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार के उपन्यास उच्च कोटि के उपन्यास नहीं माने जाते; क्योंकि ऐसी घटनाओं का सम्बन्ध मानव जीवन से कम होता है इसलिये ऐसे उपन्यास अलौकिकता-प्रधान होते हैं और केवल मनोरंजन

की सामग्री होते हैं। चन्द्रकान्ता, भूतनाथ तथा अधिकांश जासूसी उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत ही आते हैं।

किन्तु जहाँ घटनायें साधन बन कर आती हैं, साध्य नहीं होतीं, अर्थात् किसी विशेष उद्देश्य के लिये उनका प्रयोग होता हैं, जन-जीवन का यथार्थ चित्र मानव जीवन की सभी समस्याओं और संघर्षों के साथ जहाँ रहता है ऐसे उपन्यास भाव-प्रधान होते हैं। प्रेषणीयता की विशेषता दोनों प्रकार के उपन्यासों में हो सकती हैं, क्योंकि इसी विशेषता के कारण वे साहित्य की परिधि में आते हैं; किन्तु दोनों के महत्त्व में स्पष्ट अन्तर है। उदाहरण के लिये प्रेमचन्द जी के सभी उपन्यास किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही चले हैं और घटनायें उस उद्देश्य को प्रकट करने में सहायक की भाँति आई हैं।

अब कथावस्तु के दो भाग और किये जा सकते है—१. काल्पनिक तथा २. ऐतिहासिक, अर्थात् कहीं तो लेखक अपनी कल्पना से ही कथा घड़ लेता है और कहीं कथा वह इतिहास से लेता है। इतिहास से कथा लेते समय लेखक को प्रामाणिकता के बन्धन में बंधना पड़ता है अर्थात घटनाओं के आरम्भ और समाप्ति में वह बहुत कुछ परतन्त्र रहता है। यह दूसरी बात है कि यदि लेखक चाहे तो अपने किसी भी उद्देश्य विशेष को वह पात्रों के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक उपन्यासों में उद्देश्य और कल्पना प्रख्यात कथानक से दब कर ही चलने हैं, इसके विरुद्ध काल्पनिक उपन्यासों में कथा और उद्देश्य कल्पना के आश्रित रहते हैं। कहने का अर्थ यही है कि काल्पनिक उपन्यास उद्देश्य को प्रकट करने की दृष्टि से अधिक अनुकूल होते हैं।

पात्र

पात्रों का चुना जाना बहुत कुछ कथा के प्रकार पर निर्भर करता है। यदि उपन्यास ऐतिहासिक है तो उपन्यास लेखक को प्रमुख पात्र ऐतिहासिक ही रखने पड़ेंगे और कथा का सूत्र उन्हीं के हाथ में रहेगा। लेखक ऐतिहासिक उपन्यासों में कोई अनैतिहासिक पात्र अपनी ओर से रख कर उसे अधिक महत्त्व नहीं दे सकता, अर्थात् कथा का सूत्र उसके हाथ में नहीं दे सकता और न उस काल्पनिक पात्र को इतने प्रभावशाली रूप में रखने में ही स्वतंत्र है

कि वह ऐतिहासिक पात्रों के व्यक्तित्व को ढक ले।

काल्पनिक कथावस्तु वाले उपन्यासों में अवश्य यह सुविधा और अधिकार उपन्यास-लेखक को है कि वह जितने चाहे कल्पित पात्र चुन ले और उन्हें चाहे जितना महत्त्व प्रदान करे लेकिन ऐसे उपन्यासों में लेखक पात्र जितने ही जीवन के निकट चुनेगा, उपन्यास उतना ही यथार्थ, स्वाभाविक और प्रभावशाली रहेगा। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास का नाम लिया जा सकता है, विशेष रूप से प्रेमाश्रम, कर्मभूमि और गोदान का। ऐसे पात्रों की कल्पना करना जिसका अस्तित्व इस पृथ्वी पर सम्भव नहीं है, उपन्यास की स्वाभाविकता और रोचकता में विक्षेप डालता है। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसके प्रत्येक पात्र से पाठक परिचित हो। इस प्रकार के पात्रों के कारण उपन्यास में इतनी स्वाभाविकता आ जाती है कि पाठक को लगने लगता है कि उपन्यासकार उसका ही वर्णन कर रहा है। प्रेमचन्द के सभी पात्रों में यह विशेषता मिलती है—होरी में, सूरदास में, चक्रधर में, कृपाशंकर में, सुमन में, सदन में, सब में। पात्रों को संसार के बीच में से लेने में चूँकि सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभूति की अतीव आवश्यकता होती है, इसलिये यदि कहा जाय कि पात्रों का चुनाव ही लेखक की अग्नि-परीक्षा है तो अत्युक्ति न होगी।

पात्रों की संख्या उपन्यास में उचित होनी चाहिये, न बहुत कम और न बहुत अधिक, अर्थात् जिस पात्र के बिना लेखक का काम चल जाय उसकी अनावश्यक भरती करना ठीक नहीं है। जो उपन्यासकार अधिक पात्रों को उपन्यास में भर लेते हैं, कथा के स्वाभाविक प्रवाह या विकास में वे उन्हें सम्भाल नहीं पाते हैं, फलतः उन्हें अपने ऐसे पात्रों का अनावश्यक रूप से गला घोटना पड़ता है—उन्हें समाप्त करना पड़ता है। पाठक ऐसे उपन्यासों को पसन्द नहीं करता जहाँ लेखक पात्रों के साथ न्याय नहीं करता। पाठक को यह पूछने का पूरा अधिकार है "तुमने इस पात्र का क्यों गला घोंट दिया," "तुम्हारा यह पात्र अगर उपन्यास में न होता तो क्या हानि थी"। जहाँ पात्र अनियन्त्रित हो जाते हैं, वहाँ कुछ ऐसी अस्वाभाविक और अलौकिक घटनायें उन्हें छाँटने के लिये लेखक को घटानी पड़ती हैं कि वे पाठक के गले के नीचे

नहीं उतरतीं और उपन्यास का महत्त्व समाप्त हो जाता है और वह अस्वाभाविकता के रोग से पीड़ित हो जाता है, इसलिये उपन्यासकार को पात्रों के चुनाव में बहुत ही सजग और सचेत रहने की आवश्यकता है जिससे फिर बीच में उसे पात्रों को न व्यर्थ मारने की आवश्यकता पड़े और न मरे-मराये पात्रों को पुनर्जीवित कर पाठकों को आश्चर्य में डालने की।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण तो आज उपन्यास, कहानी और नाटक सभी का प्रमुख तत्त्व है। उपन्यास या कहानी दो प्रकार से मुख्यत: लिखी जाती है, या तो किसी प्रकार की समस्या को लेकर वा व्यक्ति को लेकर। प्राय: व्यक्ति को लेकर लिखे गये उपन्यास चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास होते हैं अर्थात् ऐसे उपन्यासों में कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रकृति वाले पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। यों कथा के बीच में भी पात्रों का चरित्र-चित्रण हो सकता है। बात यह है कि लेखक जिन पात्रों को चुनता है, वे पात्र स्वाभाविकता के कारण सजीव हो आते हैं और लेखक भी उस सजीवता या उनकी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डाल पाता। कोई पात्र जुआरी है, झूठ बोलता है विशेष प्रकार से बातें करता है, बात-बात पर धमस खोता है, पुलिस का नाम सुनते ही डरता है, कुछ विशिष्ट बातों से चिढ़ता है, यह सब पात्र का चरित्र-चित्रण हुआ। चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व आधुनिक युग में ही मिला है। प्राचीन कथा-साहित्य में देखा जाता है कि कथा-विस्तार की धुन में पात्रों का कोई ध्यान नहीं रखते थे। यदि कोई व्यक्ति बुरा है तो यावज्जीवन बुरा ही रहा। यदि कोई अच्छा है तो जीवन भर अच्छा ही रहा। एक को अच्छाई छू नहीं गई है तो दूसरे के पास होकर बुराई कभी नहीं निकली। ऐसे पात्र प्राय: पुराने साहित्य में मिलते हैं। यह तो घोर अस्वाभाविक बात है, ऐसे पात्र इस पृथ्वी के नहीं लगते। चरित्र-चित्रण के मार्ग में दूसरी सबसे बड़ी बाधा है अलौकिकता। जिस उपन्यास में अलौकिक तत्त्व का समावेश है, वहाँ व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं रह जाता, वह तो किसी अलौकिक शक्ति से ढक जाता है। व्यक्त जीवन में हम जिसे व्यक्तित्व कहते हैं, उपन्यास में वही चरित्र-चित्रण है। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आपेक्षाकृत चरित्र-चित्रण का कम अवकाश रहता है क्योंकि ऐतिहासिक

उपन्यास में घटनाओं के परिणाम और पात्रों के जीवन-परिणाम पर कथाकार का अंकुश और अधिकार नहीं होता है।

मानव-जीवन की स्वाभाविकता का अर्थ है जहाँ अच्छाइयाँ और बुराइयाँ प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहती हैं। किसी बात से प्रभावित होकर एक पात्र ने कोई बुराई छोड़ दी, इस बात में अधिक आकर्षण है, बजाय इसके कि यह कहा जाय कि इस पात्र में बुराई का स्पर्श लेशमात्र भी नहीं है और इस आदमी में अच्छाई का। लेखक चरित्र-चित्रण के द्वारा पात्र के अन्तर्बाह्य को पाठक के सामने स्पष्ट कर देता है।

चरित्र-चत्रिण दो प्रकार का होता ह—(१) साक्षात् और (२) परोक्ष।

जहाँ लेखक स्वयं अपने शब्दों में किसी पात्र के चरित्र के विषय में निर्णयात्मक शब्दों का प्रयोग करता है, वहाँ साक्षात् प्रणाली का चरित्र-चित्रण मानना चाहिये। जहाँ घटनाओं आदि के द्वारा ही पात्र का चरित्र अपने आप स्पष्ट होता चला जाय, वहाँ परोक्ष प्रकार का चरित्र-चित्रण मानना चाहिये। परोक्ष प्रकार के चरित्र-चित्रण के भी कई प्रकार होते हैं—(१) जहाँ कोई दूसरा पात्र ऐसे वाक्य कहे जिनसे किसी दूसरे पात्र का चरित्र-चित्रण होता है। (२) जहाँ दो पात्र आपस में बात कर रहे हों और उससे किसी के चरित्र पर प्रकाश पड़े। (३) जहाँ स्वयं पात्र के कथोपकथन के द्वारा ही उसके स्वयं चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

कथोपकथन

कथोपकथन उपन्यास का सबसे अधिक रोचक तत्त्व है। इससे उपन्यास में नाटक का आनन्द आने लगता है। कथोपकथन के द्वारा लेखक परोक्ष प्रकार से चरित्र-चित्रण का काम भी लेता है। कथोपकथन संक्षिप्त, सारगर्भित तथा रोचक होना चाहिये। कथोपकथन के निम्नांकित उद्देश्य सम्भव हैं—(१) चरित्र-चित्रण, (२) आगे आने वाली कथा का आभास, (३) कथा को मोड़ (Turn) देना। उद्देश्यहीन और अनावश्यक कथोपकथन उपन्यास की सबसे बड़ी कुरूपता है। कथोपकथन में भाषा का प्रयोग यदि पात्रानुसार हो तो एक चमत्कारपूर्ण आनन्द पाठक को आता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में सर्वत्र यह विशेषता मिलेगी। यह समझना भूल होगा कि हिन्दी के एक

उपन्यास में यदि अंग्रेज, जर्मन और फ्रांसीसी पात्र हों तो उन्हीं की भाषा बुलवाई जाय। ऐसा करने से तो उपन्यास हिन्दी का रह ही नहीं जायगा। एक ही भाषा भिन्न-भिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार से बोलते हैं। कोई भी आदमी एक तरह नहीं बोलते पाये जाते। पात्रानुकूल भाषा से अभिप्राय यह है कि यही बोलने की विशेषता उपन्यासकार अपने सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव द्वारा उपन्यास में ज्यों की त्यों उतार दे। कथोपकथन ही पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हैं। इसलिये कथोपकथन के तत्त्व की उपयुक्तता पर उपन्यास की सफलता बहुत कुछ आधारित है।

देश-काल

उपन्यासकार जिस काल या देश का वृत्तान्त अपने उपन्यास में कह रहा है, वह उसके अनुकूल ही होना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि कोई उपन्यासकार बौद्ध काल पर उपन्यास लिख रहा है तो उसे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का पूर्ण अध्ययन होना चाहिये, नहीं तो वह वैसा वातावरण प्रस्तुत करने में उचित सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। उदाहरण के लिये प्रेमचन्द को अपने उपन्यासों तथा प्रसाद को अपने नाटकों में यह सफलता पूर्णरूप से मिली है। अगर उपन्यासकार को वर्ण्यकाल के रीति-रिवाजों, वेश-भूषा या सामान्य संगठन आदि का पूर्ण ज्ञान न होगा तो उपन्यास कभी भी एक सफल उपन्यास नहीं हो सकेगा। अरब में रहने वाले मुसलमान को धोती-कुर्ते में चित्रित करना, बंगालियों को पगड़ी और सिक्खों को मद्रासी वेश-भूषा में चित्रित करना, इस प्रकार की भूलें देश-काल-सम्बन्धी भूलें कही जायेंगी। इसी प्रकार आज से १० शताब्दी पूर्व मोटर या मोटरसाइकिल तथा वायुयान या अन्य किसी अत्याधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार का प्राचीन काल में वर्णन कालविषयक दोष माना जायगा। ऐसी भूलें उपन्यास की रोचकता को नष्ट कर देती हैं।

शैली

शैली का सम्बन्ध है उपन्यास लिखे जाने की प्रणाली से। निम्नांकित शैलियाँ प्रचलित हैं—(१) आत्मचरित प्रणाली, (२) अन्यचरित प्रणाली, (३) पत्रात्मक, (४) डायरी प्रणाली आदि।

(१) आत्मचरित प्रणाली के उपन्यासों में स्वयं लेखक ही प्रमुख पात्र

होता है और उपन्यास की घटनायें उसी को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर दौड़ती हैं ? ऐसे उपन्यास अधिक प्रभावशाली देखे गये हैं, क्योंकि उपन्यासकार स्वयं ही कहने के कारण दे सत्य से लगने लगते हैं।

(२) अन्य-चरित्र प्रणाली में लेखक को वर्णन करने की सुविधा अधिक रहती है। सिनेमा के कैमरे की भाँति उसकी दृष्टि होती है अर्थात् वह सभी पात्रों के कार्यों को देखता है और उनका विश्लेषण करता है।

(३) पत्रात्यक शैली के उपन्यास पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में होते हैं। यथार्थता का स्वाद ऐसे उपन्यासों में भी बहुत आता है, कारण पत्रों के कारण वे स्वाभाविक और सत्य जान पड़ते हैं। हाँ पत्र अपने में यद्यपि स्वतन्त्र जैसा लग सकता है, पर कथावस्तु का एक अन्त:सूत्र सब में व्याप्त रहता है। ऐसे उपन्यास हिन्दी में अभी अधिक नहीं मिलते।

डायरी प्रणाली के उपन्यास किसी व्यक्ति की डायरी के पृष्ठ के रूप में लिखे जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक पृष्ठ असम्बद्ध और स्वतन्त्र लगता है किन्तु डायरी लेखक के मानसिक संघटन तथा मनोवैज्ञानिक झुकाव को वे पृष्ठ स्पष्ट करते हैं। डायरी गुप्त वस्तु होती है इसलिये आश्चर्य का तत्त्व भी ऐसे उपन्यासों में अधिक होता है

ऐसे उपन्यास भी हिन्दी में कम ही लिखे गये हैं।

उद्देश्य

प्रत्येक साहित्यिक कृति का कुछ न कुछ उद्देश्य होना चाहिये। उपन्यास लिखने में भी उद्देश्य की अनिवार्यता माननी ही पड़ेगी। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक सयस्याओं एवं उद्देश्यों को उपन्यास अपनी विस्तृत परिधि में समेट लेते हैं। कभी महाकाब्य जिन कथानकों को लेकर लिखे जाते थे। अब उतने ही घटना-बाहुल्य को लेकर उपन्यास लिखे जाते हैं।

उद्देश्य ही में लेखक का चिन्तन और मनन निहित रहता है। अर्थात् उद्देश्य ही लेखक के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है, ऐसा कहा जा सकता है।

आज यथार्थवादी और आदर्शवादी दो प्रकार के उपन्यास विचारों की दृष्टि से हैं। कुछ लोगों का दृष्टिकोण किसी वस्तु को उसके यथार्थ (भौतिक) रूप में ही रख देने का होता है। कुछ का उद्देश्य किसी पात्र को काल्पनिक

(अयथार्थ) रूप में रखने का होता है। लेकिन जहाँ कल्पना और यथार्थ का मधुर मिलन होता है, वही सर्वश्रेष्ठ हल है। प्रेमचन्द में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद मिलता है अर्थात् वे समाज का नग्न चित्र भी रखते हैं और उसका हल भी रखते हैं। सामाजिक कल्याण का आदर्श ही सर्वमहान् लक्ष्य है। इसलिये लेखक का उद्देश्य संकीर्ण और वैयक्तिक न होकर प्रेमचन्द की भाँति सामाजिक कल्याण ही होना चाहिये।

प्रश्न २—आपको 'मृगनयनी' में कौन से पात्र सर्वाधिक पसन्द हैं और क्यों ?

या

निम्नांकित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिये—मृगनयनी, मानसिंह तोमर (राजा), लाखी, अटल, बोधन, सुमनमोहिनी।

मृगनयनी

मृगनयनी इस उपन्यास की सर्वप्रमुख पात्री है, वही इस उपन्यास की नायिका है। लेखक ने स्वयं उपन्यास का नाम मृगनयनी रखकर मृगनयनी की श्रेष्ठता और उसके महत्त्व को घोषित कर दिया है।

मृगनयनी के कई रूप इस उपन्यास में हमारे समक्ष आते हैं। अटल की बहन के रूप में, लाखी की सखी के रूप में, मानसिंह की पत्नी के रूप में और रानी के रूप में। मृगनयनी का एक रूप और रह गया जो कि उसके सभी उपरोक्त रूपों में अन्तर्व्याप्त है, वह है मानवी मृगनयनी का रूप। हम क्रमशः उसके उपरोक्त रूपों को लेंगे और उसके प्रारम्भिक विकास का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

मृगनयनी बहिन के रूप में—मृगनयनी अपने भाई अटल को एक सच्ची बहिन की भाँति हृदय से प्रेम करती है और उसका बड़े भाई की भाँति आदर करती है। दोनों बारी-बारी से रात को खेत रखाते हैं। उसमें उनका पारस्परिक प्रेम और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। बहन भाई को और भाई बहिन को अधिक से अधिक सुविधा देना चाहता है। मृगनयनी आरम्भ से ही वीर रमणी के रूप में हमारे समक्ष आती है। रात के समय खेत में घुस आये जंगली सुअर को वह एक ही तीर में धराशायी कर देता है। न तो

उसका तीर चूकता है और न सूअर के प्राण ही बचते हैं। मृगनयनी यद्यपि हँसती है, खेलती है, शोर भी मचाती है, किन्तु एक विश्लेषणातीत गंभीरता उसे घेरे रहती है। निन्नी (मृगनयनी) अपनी अवस्था की लड़कियों से अधिक गंभीर और मननशील दिखाई देती है। उसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी हो सकता है कि वह मातृ-पितृहीना है इसलिये असमय में ही वह समझदार हो गई है। मातृ-पितृहीन बच्चे छोटी उमर में ही बड़े आदमियों की तरह गम्भीर, मननशील और समझदार हो जाते हैं, यह एक प्रकट सत्य है। यही कारण मृगनयनी की रहस्यमयी गम्भीरता के मूल में प्रतीत होता है। मृगनयनी एक सच्ची बहिन है और अंत तक सच्ची बहिन बनी रहती है।

लाखी की सहेली या साथिन के रूप में:—मृगनयनी का चरित्र सबसे अधिक आकर्षक है। यह वह समय है जब वह अनन्त आकाश में उड़ते हुये पक्षी की भाँति उन्मुक्त, सुमधुर और संगीतमय है। उन्मत्त हरिणी की भाँति उसकी कुलेलें और कुलांचे भी अनियंत्रित हैं। लाखी मृगनयनी के जीवन का अंग बन जाती है। होली की धूल-मिट्टी में सनी लाखी एक दिन उसे मिलती है और इस प्रकार एक निष्कपट, हित-चिन्तक तथा उत्कट प्रेम करने वाली साथिन उसे अनायास मिल जाती है। दोनों बिना किसी परिवर्तन के एक साथ शिकार मारने नित्यश: जाती हैं। लाखी के एक मात्र आश्रय उसकी माँ की मृत्यु के पश्चात तो जैसे लाखी का पृथक् घर और पृथक् व्यक्तित्व एक साथ मृगनयनी एकाकार हो जाते हैं। लाखी अटल के प्रति आकर्षित है यह बात मृगनयनी को अच्छी लगती है और इस स्निग्ध और विनोदपूर्ण विषय को लेकर कई बार अपना मनोरंजन करती है। उसे लाखी से ननद कहलाने में जो आनन्द आता है वह वर्णनातीत है—

लाखी ने कहा—"उस नट ने जो किया था, देखती हूँ मैं भी कर सकती हूँ या नहीं ?"

'खाना नहीं बनाना है ? कब बनाओगी ?"

"तुम बनादो मेरी भली सी निन्नी।"

"खालोगी मेरे हाथ का बनाया हुआ !"

"आज नहीं तो किसी दिन खाना ही है।"

'तो मुझ से ननद कहो, एक बार ही कह दो।'

'हूं, ऊँ, बड़ी वैसी हो।'

'एक बार कह दो तो रोज-रोज खाना बना दिया करूँगी।'

'जिससे मैं निकम्मी हो जाऊँ और तुम मुझ से लड़ा करो।'

'अच्छा आज बना दूँगी फिर तुम बना दिया करो, पर एक बार कह दो।'

'ननदी बना दो खाना।'

'अभी लो भौजी।'

उस प्रकार निन्नी एक सफल और सच्ची सहेली है जो अपनी सखी के दुःख-सुख में उससे अभिन्न रहती है।

सखी रूप में ही निन्नी की शारीरिक शक्ति तथा असीम साहस का परिचय मिलता है। नाहर, अरना भैंसा जैसे भयंकर जीवों से तो इनमें एक भी नहीं डरती। कह सकते हैं कि उन्हें इस बात का अभ्यास हो गया था और चूँकि शिकार उनकी जीविका का ही एक अंग था इसलिये भय से काम भी कैसे चलता। लोग जीविका के लिए गले में साँप डालने का खतरा मोल लेते हैं, यह साहस उसी प्रकार का कहा जा सकता है। किन्तु मृगनयनी और लाखी दोनों के धर्म, साहस, प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि सबकी एक साथ परीक्षा तब होती है जब चार अश्वारोही उन्हें घेरने का प्रयत्न करते हैं। दो नवयुवतियाँ इस प्रकार की नई और अप्रत्याशित घटना से हतबुद्धि और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपना साहस खो सकती थीं, यह बिल्कुल स्वाभाविक ही होता किन्तु निरन्तर शिकार करने की आदत मनुष्य को खतरे से भयभीत होना नहीं अपितु उसका सामना करने के लिये कटिबद्ध होना सिखाती है। इसीलिये बिना कुछ क्षण गँवाये तुरन्त ही परिस्थिति का हाल ढूँढ़ लेती है। सवारों के यह कहने पर—

"ऐसी जगह ले चलेंगे जहाँ जिन्दगी भर गुलछर्रे उड़ाओगी। निकल आओ झाड़ी में से यहाँ।"

निन्नी ने तीखे-पैने स्वर में रोका, "वहीं खड़े रहो। हमको क्यों छेड़ते हो?"

"शुरू-शुरू में बाज-बाज इसी तरह भड़कती-कड़कती हैं, शिर असीसने

लगती हैं······।" वह बोला।

'चुप' निन्नी कड़की जैसे बिजली कड़क गई हो। सवार ने अपने पैदल साथी को लाखी के पकड़ने का इशारा किया और स्वयं झाड़ी का चक्कर काट कर निन्नी की बगल पर आया। उसने ठट्ठा मार कर कहा—"अच्छा! बर्छी लिये हो!! और तीर कमान!!! फजूल है फेंक दो बर्छी। तुम्हारा—आपका नाम मृगनयनी है न?"

'हाँ' कड़क के साथ निन्नी के मुँह से निकला और वज्रमुष्टि की बर्छी का फल झन्न के साथ सवार के कवच को छेद कर पसलियों के भीतर जा धँसा। लाखी ने ताक कर दूसरे पैदल की आँख वाले छेद को निशाना बनाया। सन्न से छूटकर तीर आँख के भीतर दूर तक धँस गया। दोनों 'ओह के साथ गिर-कर तड़पने लगे।"

उपरोक्त उद्धरण से मृगनयनी और लाखी दोनों से चरित्र की दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि उनके निशाने प्रायः अचूक होते थे, दूसरी बात कि वे दोनों चाहे जितना भयङ्कर और अप्रत्याशित संकट आ जाय, कभी घबड़ाती नहीं थीं।

निन्नी के चरित्र की गम्भीरता वहाँ अधिक स्पष्ट हो उठती है जहाँ नटों द्वारा प्रदर्शित बहुमूल्य वस्त्रालंकारों में कोई रुचि नहीं लेती। लाखी इन वस्तुओं की ओर बुरी तरह आकृष्ट है। लेखक ने इस अन्तर की व्याख्या नहीं दी है, उसके लिये कोई कारण नहीं दिया है। निन्नी परम्परा से ही एक साधा-रण कृषक परिवार की कन्या है, वह लाखी के ही स्तर की है। फिर वस्त्राभरणों की ओर उसका आकर्षण और झुकाव स्वाभाविक रूप से होना चाहिये किन्तु नहीं है, पता नहीं क्यों? शायद लेखक पाठक को इसके द्वारा यह बताना चाहता है कि निन्नी असाधारण लड़की है।

निन्नी समझदार तो इतनी है कि शादी के विषय में उसके अपने विचार हैं और दृढ़। वह भाई के प्रस्ताव का खुले शब्दों में विरोध करती है और इस विषय में न झुकने का ही निश्चय करती है।

चूल्हे को साफ करती हुई निन्नी बोली—"भैया से कहना कि सगाई की चर्चा को आगे न बढ़ायें, मैं ब्याह नहीं करूँगी।"

'उस नटिनी ने हाथ देखा था पर वह ब्राह्मण तो है नहीं।' लाखी ने धीरे से कहा।

'पागल हो गई हो क्या, मैं ब्याह नहीं करूँगी, तुम लोगों को सुखी देख कर ही सुख मनाऊँगी। तुम लोगों को नहीं छोड़ सकती।'

'घर अच्छा है, बड़े नगर में है।'

'कह दिया, मर भले ही जाऊँ परन्तु वहाँ नहीं करूँगी। कह दो भैया से तुम नहीं कहोगी तो और किसी से कहलवा दूँगी।'

यहाँ निन्नी का चरित्र ऐसा हो गया है कि समझ में नहीं आता, वह किसी को पहले प्रेम नहीं करती है, वह साधारण ग्रामीण बालिका है, पढ़ी-लिखी नहीं है, शरीर बलिष्ठ होते हुए भी उसके बौद्धिक विकास का कोई प्रमाण नहीं मिलता। फिर शादी का सैद्धान्तिक विरोध आवश्यकता से अधिक आधुनिक हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या उसे यह विश्वास आरम्भ ही से था कि वह राजरानी होगी, इसका कोई प्रमाण तो नहीं मिलता। सारांश यह कि निन्नी के संस्कार परिस्थितियाँ आदि को देखते हुए ये विचार अस्वाभाविक से लगते हैं। और कहाँ मानसिंह के प्रस्ताव रखते ही वह शादी के लिये तैयार होगई। खैर—

मृगनयनी उस समय बड़े ही धैर्य और गम्भीरता का परिचय देती है, जब मानसिंह शादी का प्रस्ताव रखता है। न तो वह प्रेमावेश या भावावेश में आती है और न ही लज्जा से चुप रहती है, बल्कि मानसिंह से खुली बातें करती है।

निन्नी ने धीमे से कहा—'गरीबों का और बड़ों का जन्म संग कैसा ?'

मानसिंह बोला—'आदिकाल में सबके पुरखे गरीब ही थे। अपने शौर्य से बढ़े। शौर्य में तुम मुझसे कम नहीं हो।'

राजा ने अपना हाथ बढ़ाया,—कहा 'इस भाषा को संसार भर समझता है, अपना हाथ मेरे हाथ में दो।' गर्दन मोड़े हुए, कनखियों से देखते हुए, धड़कते कलेजे और अर्धस्मित के साथ निन्नी ने अपना काँपता हुआ धूलभरा हाथ उसके हाथ में दे दिया।

बोली—"मैं नहीं जानती क्या कर रही हूँ। मेरी पत रखना।"

निन्नी के चरित्र में जो बात बड़े ही महत्त्व की है वह है उसका गाँव-प्रेम। उन्मुक्त हरिणी या पक्षिणी की भाँति उसे अपनी इस लीला-भूमि से स्वाभाविक स्नेह और ममत्व है। मृगनयनी का यह ग्राम-प्रेम अन्त तक रहता है। यह प्रेम उसके और मानसिंह के इस वार्तालाप से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

राजा ने मुस्कराकर पूछा—'इतना बल तुममें कहाँ से आया ?'

नीचा सिर किये हुए मुस्कान के साथ उसने कहा, 'राई की नदी के पानी से, हम लोगों के गाँव में और है ही क्या ?'

'राई गाँव तुमको बहुत प्यारा है।'

'बहुत, आँखों में बसा रहता है।'

'ग्वालियर के किले में तालाब है उसके पानी को देखना।'

'मैं अपनी नदी के बिना नहीं रह सकती।'

'तो ग्वालियर के किले को यहाँ उठा ले आना।'

'सींक को ही ले चलिए वहाँ।'

'कैसे ?'

'राजा को क्या गाँव के लोग यह भी बतलावें ?'

'गाँव के लोगों को नहीं राजा की रानी को बतलाना होगा।'

'तो नहर काटकर ले जाइये किले तक। मैं तो इसी का पानी पियूँगी।'

'ले जाऊँगा वचन देता हूं।'

'कब तक ?'

'काम का आरम्भ तुरन्त करवा दूँगा, बस या कुछ और ?'

'मैं ग्वालियर जाकर पर्दा नहीं करूँगी।'

'मत करना, कुछ और।'

'और कुछ नहीं।'

पर्दे की बात भी कुछ विचित्र लगती है। क्या मृगनयनी का बौद्धिक विकास इतना था कि वह आज की दृष्टि से भी पर्दे की बुराइयों पर विचार करती ? सम्भव तो नहीं लगता। जो कुछ भी हो यहीं से मृगनयनी के चरित्र में मोड़ आता है। वह एक अच्छी रानी और प्रियपत्नी बन कर दिखा देती है। एक साधारण गाँव की लड़की अपने आपको राजघराने के वातावरण के

अनुसार इतनी जल्दी ढाल ले, वास्तव में यह प्रशंसा की बात है। मृगनयनी ने केवन अक्षर-ज्ञान ही पैदा नहीं किया अपितु ललित कलाओं में भी वह अभिरुचि दिखाने लगी और धीरे-धीरे उसने संगीत कला और चित्र-कला पर अधिकार भी कर लिया। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में एक बड़े महत्त्व की बात है संयम, वह राजा को समझाती है कि किस प्रकार उचित संयम द्वारा प्रेम को शाश्वत बनाया जा सकता है। रानी होने पर भी लाखी का उचित सम्मान कर वह सच्ची मानवता का परिचय देती है और सब से महत्त्वपूर्ण मृगनयनी का वह रूप है जहाँ वह राजा को कर्त्तव्य के प्रति सजग रहने का उपदेश देती है। उसका कहना है कि खड्गहस्त रहो और कला-प्रेमी भी रहो, नहीं तो युगों-युगों की ललित कलाओं की ललित साधना को आततायी क्षण भर में समाप्त कर देगा। वह मानसिंह को जीवन में संतुलित दृष्टिकोण रखने का परामर्श देती है और हम देखते हैं कि मानसिंह तदनुरूप आचरण करके एक सफल, अविजेय और लोकप्रिय शासक बन जाता है। वह मृगनयनी जो कभी स्वयं कीच-गोबर की होली खेलती रही थी, अब होली के हुल्लड़ को पसन्द नहीं करती। मृगनयनी अपने आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य के प्रति सतत सजग रहती है।

चूँकि लेखक ने मृगनयनी के चरित्र को अत्यधिक ऊँचाई तक पहुँचा दिया हैं, उसे विदुषी, साहसी, कलाविद् कलाप्रेमी. त्यागमयी, प्रेममयी कल्याणमयी नारी के रूप में चित्रित किया है। वहाँ उसका चरित्र उस समय कुछ मलिन होने लगता है, जहाँ लेखक उसे ईर्ष्याग्नि में ॱलते दिखाता है। सुमनमोहिनी से मृगनयनी का सौहार्द नहीं है, दोनों व्यंग्य-बाणों का यथा-समय आदान-प्रदान करती रहती हैं। लाखी की शादी के उपलक्ष्य में दी गई सुमनमोहिनी की दावत में से मृगनयनी क्रोधपूर्वक उठ आती है। अगर मृगनयनी के चरित्र के आकस्मिक परिवर्तनों को थोड़ी देर के लिये भुला दिया जाय तो कहना पड़ेगा कि मृगनयनी का यह व्यवहार बिल्कुल स्वाभाविक है। दो बार विष से भी अपनी बुद्धि-प्रखरता के कारण वह बच जाती है।

हम उपन्यास में मृगनयनी को दो बच्चों की माता के रूप में भी पाते हैं, किन्तु लेखक ने उसके इस रूप की बड़ी उपेक्षा की, पता नहीं क्यों? शायद

किसी उद्देश्य से उसके मातृरूप को वह उभार कर नहीं रखना चाहता, किन्तु यदि मातृरूप का भी सुन्दर चित्र वह उपन्यास में रख सकता तो हर दृष्टि से उचित रहता। हमारा विश्वास है कि लेखक यदि चाहता तो उसके मातृरूप को भी उत्कर्ष प्रदान कर सकता था। केवल पाठक इतना ही जान पाता है कि मृगनयनी पत्र द्वारा सुमनमोहिनी को सूचित करती है कि उसके पुत्र युवराज नहीं होंगे। इस अलौकिक उदारता को हम उसके चरित्र का एक और मोड़ मानते हैं जहाँ मृगनयनी अपनी रही-सही कमजोरियों को भी जीत लेती है और कहना न होगा कि वह हिन्दी के अमर कोटि के चरित्रों (मल्लिका, देवसेना) में अपना स्थान बना लेती है।

मानवी के रूप में हम मृगनयनी को सदा ही शान्त, प्रेममयी, कल्याण-मयी और कर्त्तव्यमयी नारी के रूप में देखते हैं, यदि वह राई गाँव में गढ़ी बनवाना नहीं भूलती तो बोधन पण्डित को भी नहीं भूलती, और लाखी की मृत्यु पर तो वह फूट-फूटकर रोने लगती है। लाखी के लापता हो जाने पर तो उसकी व्याकुलता देखने योग्य है।

वर्मा जी ने मृगनयनी के चरित्र के द्वारा कर्त्तब्य और भाव का संतुलित चित्र रखा है। नारी कितनी प्रेरणामयी, कितनी साहसी, कितनी क्षमाशीला, कितनी त्यागमयी, विरागमयी, प्रेममयी और कल्याणमयी हो सकती है, मृगनयनी से सुन्दर इसका निदर्शन मिलना कठिन है।

मानसिंह तोमर

राजा मानसिंह मृगनयनी का दूसरा प्रधान पात्र है। उसे वास्तव में इस उपन्यास का नायक भी कहा जा सकता है। यों मृगनयनी के आलोक पुञ्ज में वह प्राय: निष्प्रभ दिखाई देता है और दर्पण के समान स्वच्छ चरित्र वाली मृगनयनी में उसके चरित्र का जो प्रतिबिम्ब हम देखते हैं उसमें कुछ स्थानों पर मो चेंलगे भी दिखाई देते हैं। वैसे मानसिंह एक समझदार और मननशील आदमी है सुविधा के लिये हम उसके पूरे चरित्र को निम्नांकित रूपों में बाँट सकते हैं—१. पति के रूप में, २. योद्धा के रूप में, ३. राजा के रूप में, ४. प्रेमी व्यक्ति के रूप में तथा ५. एक स्वतन्त्रचेता के रूप में।

१. पति के रूप में:—मृगनयनी के पाणिग्रहण से पूर्व मानसिंह तोमर का

विवाहित जीवन सुखी है, इसके कोई लक्षण या प्रमाण उपन्यास में नहीं हैं। नारी के प्रति उसका दृष्टिकोण एक सामन्त का रहा है इस बात का प्रमाण उसकी लगभग आठ रानियाँ हैं। रूप की तृषा ने उसे इतनी शादा करने के लिये विवश किया होगा, यह निश्चय है। सच तो यह है कि प्राचीन समय में बड़े-बड़े राजा या सामन्त केवल रूप के लिये ही शादी करते हों, ऐसा नहीं लगता। उनका अन्त:पुर तो एक छोटा-मोटा अजायबघर होता था। जिस किसी लड़की में उन्होंने कोई असाधारण बात देखी, बस उसे पत्नी रूप में प्राप्त करने के लिए बेचैन होने लगे। यह तो मानने की बात है कि रूप मुख्यत: ऐसी शादियों का आधार रहता था। मृगनयनी के रूप, गुण तथा साहस की प्रशंसा बोधन के द्वारा जब राजा ने सुनी तो वे विचलित-हृदय हो गये, राई गाँव जाने का निश्चय कर लिया। उनकी हर श्वास में उत्सुकता जग कर उसे विचलित और व्यग्र कर रही थी, वह कैसी होगी ? क्या ये जो दस रानियाँ मेरे घर में हैं, इनसे भिन्न वह असाधारण रूप-गुण-सम्पन्न होगी ? मानसिंह जब सर्वप्रथम राई गाँव में मृगनयनी को देखता है तो स्वभावत: आकृष्ट हो जाता है। मृगनयनी असाधारण रूप-गुण तथा स्वास्थ्य-सम्पन्न युवति है; राजा के आकृष्ट होने के लिये और चाहिये भी क्या ?

"यह कौन ? यहाँ कैसे ? राख के ढेर में चिनगारी कहाँ से आई ? इस सड़ियल गाँव में ऐसा सौन्दर्य ! राजा ने प्रश्नसूचक दृष्टि पुजारी की ओर की।"

× × × ×

"राजा मुस्करा कर बोला—शास्त्री जी धन्य है, यह गाँव, जहाँ सब गुणों से सम्पन्न मृगनयनी जैसी स्त्री हो।"

× × × ×

"निन्नी ने एक बार फिर मानसिंह की ओर देखा और सिर नीचा कर लिया। मानसिंह ने भी देखा और उन आँखों को बार-बार देखने का चाव जागा।"

ये राजा की प्रथम भेंट या प्रथम दर्शन के दृश्य हैं। लेखक इस बात पर अधिक जोर देता प्रतीत होता है कि मृगनयनी की आँखें असाधारण रूप से सुन्दर थीं और यदि मृगनयनी के नाम को यथा नाम तथा गुण माना जाय

तो भी यही अर्थ निकलता है। राजा उसकी आँखों को बार-बार देखने का चाव रखता है। मृगनयनी नारी असाधारण रूपवती न होती तो राजा इसकी ओर आकर्षित होता, इसमें सन्देह है। इस प्रेम को प्राकृतिक कहना तो प्रेम की हँसी उड़ाना होगा, मानसिंह अब तक इसी प्रकार की आठ पत्नियों का पाणिग्रहण कर चुका था इसलिये प्रथमदर्शन में शुद्ध और प्राकृतिक प्रेम की आखिरी परीक्षा हो चुकी थी। इसलिये एक निष्कर्ष जो सरलतापूर्वक निकलता है, वह यह है कि राजा मानसिंह तो वही साधारण रूपलिप्सु राजा है। उसने मृगनयनी को आरम्भ में जो वचन दिया 'परमात्मा मेरा साक्षी है, तुम सदा मेरे हृदय की रानी और जीवन की शोभा रहोगी, समझ गई'। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि राजा मानसिंह के मुख से विभिन्न अवसरों पर निकले इन शब्दों की आठवीं या नवीं पुनरावृत्ति हो। कैसे कहा जा सकता है कि पाणिग्रहण से पूर्व उसने शेष आठ रानियों से ये ही शब्द न कहे होंगे। पर यह बात दूसरी है, यहाँ विशेषता मानसिंह की नहीं, मृगनयनी की है। मृगनयनी के पश्चात् राजा मानसिंह ने कोई शादी करने का प्रयत्न यदि नहीं किया तो इसका श्रेय मानसिंह को नहीं, मृगनयनी को है। मृगनयनी असाधारण रूप से सफल पत्नी भी थी। उसने अपने इस भ्रमर वृत्ति वाले पति को बाँध कर रखा और सदैव अपने प्रति आकर्षित रखा। मृगनयनी आकर्षण को चिर-नवीन बनाए रखने का ढंग जानती है यह उसकी बातों से स्पष्ट है। संयम की दूरी वह अपने और मानसिंह के बीच में सदा बनाये रखती है और इसीलिये मानसिंह सदा उसके सामने याचक रूप में रहता है। मृगनयनी उसे यह स्वीकार करने के लिये विवश कर देती है—

"तुम संयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मैं अपने विचार से उसे चंचल कर देता हूँ। संयम के आधार वाला प्रेम आगे भी टिके रहने की समर्थता रखता है।"

लेकिन वह तो मानने की बात है कि मृगनयनी की अपनी विशेषताओं तथा उसके स्वयं के प्रयत्नों के फलस्वरूप मानसिंह का वैवाहिक जीवन फिर सुखी हो जाता है। मृगनयनी आन्तरिक और बाह्य रूप को स्थिर रखना जानती है इसलिये रूपलिप्सु राजा सदैव ही भ्रमर की भाँति उसके चारों ओर

चक्कर काटता है। राजा अन्य रानियों को प्रेम करता है, यह उपन्यास से स्पष्ट नहीं होता किन्तु सुखी जीवन के चित्र मृगनयनी के साथ राजा के वार्तालाप में यत्र-तत्र बिखरे हैं। मृगनयनी हमेशा यही उपाय सोचती रहती थी कि किस प्रकार वह अपने को इस योग्य बनाये कि सदैव राजा की कृपापात्र रहे। उसे सदा एक आशंका रहती थी—

"मानसिंह के आठ रानियाँ थीं, नवीं मृगनयनी। ग्वालियर आकर मृगनयनी को मालूम हुआ। परन्तु परिपाटी थी, उसको बात असाधारण नहीं लगी और न अखरी ही, तो भी उसके मन में प्रश्न उठा, "जब इन्होंने पहली स्त्री से विवाह किया होगा तब उससे भी इसी प्रकार का प्रेमालाप करते होंगे, फिर दूसरा, तीसरा और आठवाँ विवाह किया, हरएक रानी के साथ आरम्भ में इसी प्रकार की चिकनी और मीठी बातें करते रहे होंगे, क्या मेरे साथ सदा ऐसा ही बर्ताव करेंगें या किसी दसवीं के साथ विवाह करेंगे और मुझसे वैसे ही बर्तेंगे जैसे इन आठ के साथ आजकल बर्त रहे हैं।"

मृगनयनी की उपरोक्त आशका में जैसे राजा मानसिंह का अतीत अपनी पूरी स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रतिबिम्बित हो रहा है। अन्य रानियों के साथ उसके शुष्क व्यवहार की बात भी इससे स्पष्ट है।

राजा मृगनयनी के रूप पर बुरी तरह आसक्त है इसलिये यत्र-तत्र वह मृगनयनी के रूप की स्तुति करता दिखाई देता है—

"किरणें तुम्हारी मुस्कानों के साथ क्यों खेलने लगती हैं -"

+ + +

"मेरे लिये तुम सब कुछ हो। मेरी जीवन सर्वस्व, मेरी प्राणेश्वरी, मेरी जन्म-संगिनी।"

मृगनयनी अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर देती है—

"भगवान् मुझको इस योग्य बनाये कि मैं सदा इसी तरह आपकी कृपा पात्र रहूँ।"

मानसिंह तुरन्त समझ लेता है कि मृगनयनी यों चरित्र पर विश्वास नहीं करती—"प्रेम के उस उफान में भी मानसिंह को शंका हुई, जैसे वे आठों किसी झिझरी में से छिपे-छिपे ताक रही हों।"

मृगनयनी बड़ी सावधानी से मानसिंह के चरित्र को अपनी इच्छित दिशा में मोड़ती है। वह मानसिंह को समझाती है, नियम-संयम के साथ रहिये और मुझे रहने दीजिये। मृगनयनी पुरुष-मनोविज्ञान से पूर्ण परिचित प्रतीत होती है। मानसिंह के चारित्रिक परिवर्तन की सूचना उसके ये वाक्य देते हैं—

"मैं वचन देता हूं प्राणप्यारी मृगनयनी! समझ गया कि मन में तुमको जीवनपर्यन्त बसाये रखने के लिये नियम-संयम ही बल दे सकेगा। तुमको कलाओं को सीखने के लिये पूरा-पूरा समय दिया करूँगा और तुमको सदा अपने निकट समझता हुआ इतना काम करूँगा, इतना कि काम को पूरा करते-करते घनी उमङ्ग बनी रहे, तुम्हारे दर्शन प्राप्त करने की।"

इसके पश्चात् इसमें सदेह नहीं कि जीवन में पहली बार मानसिंह किसी स्त्री को सच्चे हृदय से प्रेम करता है, विषय-वासनायें अब गौण हो जाती हैं और अन्त तक फिर वह सफल पति के रूप में दिखाई देता है।

२. योद्धा के रूप में—अपने युग का मानसिंह सबसे बड़ा योद्धा था, यह बात निर्विवाद है। राजनैतिक ओर धार्मिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का वह काल कराल, कठोर और काला था। मालवा का गयासुद्दीन खिलजी, गुजरात का महमूद बघर्रा और दिल्ली का सिकन्दर लोदी ग्वालियर पर दाँत गढ़ाये हुए थे। यदि मानसिंह जैसा असाधारण बुद्धि और शक्तिसम्पन्न व्यक्ति उस समय न होता तो ग्वालियर की रक्षा सम्भव ही नहीं थी। भारतव्यापी लूट-खसोट चल रही थी, अराजकता का बोलबाला था, किन्तु ऐसे समय में भी मानसिंह के खड्ग की छाया में ग्वालियर सुख की नींद सोता था। उसे अपने शासक पर पूरा भरोसा था। सिकन्दर ने ग्वालिमर पर पाँच बार भयङ्कर आक्रमण किये किन्तु लोहे के इस राज्य से टकराकर अपनी ही हानि के साथ बार-बार लौट गया। उसके दरबारी इतिहास लेखकों ने झूठ ही लिखा है कि "मानसिंह ने प्रत्येक बार सोना, चाँदी देने का वायदा—सोना, चाँदी नहीं, देकर टाला।" अगर मानसिंह हार जाता तो सिकन्दर केवल वायदे से सन्तोष कर लेता, यह घोर अविश्वसनीय है। अनुनय-विनय की वाणी तो मानसिंह विरोधी से बोलना जानता ही न था। युद्ध करने से अधिक युद्ध का खतरा मोल लेना है, आदमी के शौर्य और साहस की वास्तविक परीक्षा यही है। मानसिंह इस

परीक्षा में सदैव खरा उतरा। उसने सिकन्दर के भाई जलालुद्दीन के साथ आये हुए अनेक मुसलमानों को ग्वालियर में शरण और रक्षा प्रदान की और कभी इस बात की चिन्ता नहीं की कि इन बातों की उसे भारी कीमत भी चुकानी पड़ सकती है। राजा में एक असाधारण सेनापति के गुण थे। युद्ध के समय उसकी बुद्धि तीव्र हो जाती थी। कठिनाइयों में घबड़ाना तो मानसिंह ने जाना ही नहीं। मानसिंह का एक साधारण सरदार (निहालसिंह) जब सन्धि-वार्ता के लिये दिल्ली से बुलाये जाने पर सिकन्दर लोदी के सामने पहुँचा तो सिकन्दर की आर्द्रता की बात सुनकर वह वाक्-संयम खो बैठा। उसके इन अग्नि-गर्भ वाक्यों में मानसिंह की वीरता की प्रशंसा भी छिपी हुई है—"जिसके राजा ने कभी वैरी के सामने सिर नहीं झुकाया, उसी का सामन्त सामने खड़ा है। दिल्ली को आपके पुरखे ने दो हजार टकों में खरीद लिया होगा क्योंकि उसके दुर्दिन हैं; परन्तु ग्वालियर को समूचे विन्ध्याचल की तोल सोने के बदले में भी नहीं मोल ले सकोगे।"

मानसिंह ने विभिन्न युद्धों में जो शूरता, धीरता और एक असाधारण सेनापति होने का परिचय दिया है, यह कोई साधारण बात नहीं है। एक बार उसने नरवर की रक्षा की और सिकन्दर की सेनायें तो धूल चाटती हुई उसी के सामने से कई बार भागीं। मानसिंह का परिचय लेखक के शब्दों में हम पाते हैं—"बड़ी घाती आँखें, भरी भौंह, सीधी-लम्बी नाक, चेहरा भरा हुआ कुछ लम्बा, ठोड़ी दृढ़, ओठ सहज मुस्कान वाले। सारा शरीर जैसे अनवरत व्यायाम से तपाया हुआ और कसा गया है। कद लम्बा और छाती चौड़ी। घनी नौंकदार मूँछें।"

६. **राजा के रूप में**—भी मानसिंह अत्यन्त सफल है। उसकी प्रजा उसकी आज्ञानुवर्ती है। नशे में धुत लोग भी उसकी आवाज सुनकर ही होश में आ जाते हैं, इतना उसका आतंक भी है। अपनी प्रजा के दुःख-सुख का यह बराबर ध्यान रखता है। अत्यन्त उदार हृदय और पर-दुःख-कातर है। राई गाँव में जब स्वागतार्थ आई हुई स्त्रियों तथा वहाँ एकत्रित पुरुषों की नग्न दरिद्रता को उसने देखा तो उसका हृदय मसोस उठा—"मानसिंह स्त्रियों के सामने आया, उन्होंने उसकी आरती उतारी। उनके फटे हुए, मोटे, मैले-कुचैले कपड़े देखकर

उसके मन में उठा—"मैं इनका राजा हूँ ? इनका राजा !!"

मानसिंह अधिकांश राजाओं की भाँति सुस्त, निष्क्रिय और आलसी नहीं था, वह दिन भर परिश्रम करने वाला व्यक्ति था। लेखक के शब्दों में—"दोपहरी को छोड़कर दिन में राजा मानसिंह किसी न किसी काम में व्यस्त रहता था। लोगों से मिलने का समय नौ वजे से बारह बजे तक। न्याय का शासन तीसरे पहर की अन्तिम घड़ियों में। चौथे पहर के आधे भाग में सेना की तैयारी और अश्वारोहण दिन के पहले पहर की तरह। रात के पहले पहर में भोजन और राज्य-व्यवस्था की चर्चा, दूसरे पहर में संगीत।" इसके अतिरिक्त उस समय का इसमें जिक्र नहीं है। जब वह वेश बदल कर जनता के दुःख-सुख का हाल जानने के लिये रात में निकलता था। ऐसी ही एक अँधेरी रात में वह निकला और एक जीर्ण-शीर्ण झौंपड़ी के पास पहुँचा। एक मजदूर की वह झौंपड़ी थी, स्त्री बीमार, पुरुष घोर परिश्रम से थका और भूखा, बच्चे भूखे, घर में आटा तक नहीं, ऐसे समय में मानसिंह पहुँचा। घर की बुरी दशा देख कर स्वयं पीसने को तैयार हो गया और पीसने लगा। थोड़ी देर में उसकी कृत्रिम दाढ़ी निकल पड़ी और मजदूर ने उसे पहचान लिया, चिल्ला उठा—अपने महाराज ! अपने महाराज !!

मजदूर पैरों पर गिरने को हुआ, मानसिंह ने दृढ़ता के साथ वर्जित किया। मजदूर ने हाथ जोड़ते हुए कहा—"महाराज मुझको क्षमा मिले, आपने यह क्या किया ?"

"कुछ भी तो नहीं कर पाया। धिक्कार है मुझको जो मैं तो भर पेट सो जाऊँ और तुम भूखों रोगों मरो ! मैं महलों में रहूँ और तुम इस झौंपड़ी में भूखे ठण्डों मरो।"

"हमाहा भाग्य है महाराज !"

"बिल्कुल भ्रम की बात। हमारे भाग्य के आधार तुम्हीं सब जन हो। तुम्हारा भाग्य बुरा रहा तो हमारा तो पहले ही खोटा हो चुका।"

मानसिंह एक साधारण मजदूर स्त्री से कितनी आत्मीयता के साथ बातें करता है। देखिये—"मैं पीस देता हूं बाई। मानसिंह ने अनुरोध लिया।"

"मैं आटा भिजवाये देता हूँ, बीमारी में पीसोगीबाई ! तो ढेर हो जाओगी।"

'मानसिंह ने दूसरे ही दिन ग्वालियर के दरिद्र मजदूर किसानों के लिये रहने योग्य घरों के बनाने की राज्य की ओर से व्यवस्था की। जगह-जगह औषधालय खुलवाने का प्रबन्ध किया।'

जहां तक न्याय का प्रश्न है, मानसिंह शीघ्र और उचित न्याय करने वाला व्यक्ति है। निरंकुश शासक होते हुए भी क्रोध उसके बश में है और साधारण से साधारण व्यक्ति पर भी क्रोध आने पर वह उसे दबा लेता है। बोधन पण्डित पर उसे क्रोध आता है पर वह उसे पी जाता है, सुमनमोहिनी आदि पर भी क्रोध आने पर वह संयम रखता है, अन्य अविवेकी राजाओं की भाँति साधारण जनों को वह अपनी क्रोधाग्नि का चारा नहीं बनाता। अतः कह सकते हैं कि वह एक अत्यम्त सफल, उदार, प्रजावत्सल और न्यायनिष्ठ शासक है।

४. कलाप्रेमी के रूप में—उपन्यास में राजा का कलाप्रेमी रूप अत्यन्त उभर कर आया है, उसकी कठिन प्रतिज्ञा है कि वह पत्थरों पर संगीत खुदवायेगा। रागों में उचित संशोधन के उसके प्रस्ताव बताते हैं कि न केवल एक गुणग्राही श्रोता अपितु एक अच्छा संगीतज्ञ भी वह है। आर्थिक संकट आने पर वह अपने निजी खर्चे में से कलाकारों का वेतन देता है। कला का प्रेम उसका यहाँ तक बढ़ता है कि उसका खड्ग-अभ्यास कमजोर पड़ने लगता है। आखिर मृगनयनी उसे समझाती है कि अगर आपका खड्ग निर्बल पड़ गया तो आपकी बर्षो की साधना को आततायी एक क्षण में नष्ट कर सकता है। मानसिंह फिर अपने कलाप्रेम को संयत और उचित अनुपात में अवश्य कर लेता है पर छोड़ता कभी भी नहीं। कलाओं के प्रति उसके हृदय में उत्कट प्रेम है। वृन्दावनलाल वर्मा का कहना है कि "ललित कलाओं के लिये मानसिंह और मृगनयनी ने जो कुछ किमा, वह भारत के इतिहास में अमर रहेगा।' गूजरी महल वास्तुकला का सुन्दरतय निदर्शन है।

५. स्वतन्त्रचेता के रूप में—मानसिंह एक मननशील और गम्भीर व्यक्ति के रूप में भी हमारे सामने आता है। विजय जंगम के साहचर्य से श्रम-सिद्धान्त का हम उस पर प्रभाव तो देखते ही हैं किन्तु सामाजिक रूढ़ियों के विषय में भी उसके अपने विचार हैं। उदारणार्थ—जाति-पांत से उसे चिढ़

है। जब उसने सुना है कि अटल और लाखी को जाति विरुद्ध विवाह के अभियोग में गाँव वालों ने निकाल दिया है तो वह बड़ा चिन्तित हुआ और यह पता लगने पर कि बोधन पुजारी इस झगड़े की जड़ है, उसे बोधन पर अत्यधिक क्रोध आया। उसने मन ही मन निश्चय किया कि राजनैतिक झगड़ों से निश्चिन्त होने पर वह उस जाति-पाँति के भूत को भी देखेगा। सब लोगों के असहयोग करने पर भी उसने अटल और लाखी को सहर्ष अपने यहाँ आश्रय दिया। वह उन दोनों की बहुत इज्जत करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिंह एक अच्छा पति, सफल राजा, विकट योद्धा, उच्च कलाप्रेमी, स्वतन्त्रचेता, गम्भीर संयमी, उदार, धैर्यवान्, परदुःखकातर, हँसमुख तथा लोकप्रिय व्यक्ति है। मृगनयनी को छोड़ कर इस उपन्यास में वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र है।

अटल

इस उपन्यास में अटल का चरित्र भी बड़े महत्त्व का है, क्योंकि उसके बराबर विविधताओं से पूर्ण चरित्र इस उपन्यास में अधिक नहीं हैं। हम अटल को इस उपन्यास में निम्नांकित रूपों में देखते हैं— १. एक भाई तथा ग्रामीण युवक के रूप में, २. एक प्रेमी के रूप में, ३. एक गढ़पति के रूप में।

१. भाई तथा ग्रामीण युवक के रूप में—अटल एक अच्छा भाई है, वह हमेशा अपनी बहन का ध्यान रखता है, उसकी आकांक्षा है कि उसकी बहिन की शादी कहीं बहुत अच्छी जगह हो जाय। वह इसके लिए घोर प्रयत्न भी करता है और ग्वालियर में एक लड़का भी देखकर आता है। उसका कहना है घर, वर अच्छा है पर मृगनयनी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती। और कोई भाई होता तो बहिन की इच्छा की कोई चिन्ता नहीं करता, पर अटल जैसे के लिये शादी इतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है जितनी बहिन की इच्छा। वह घर और वर देखा तो आता है पर बिना मृगनयनी की स्वीकृति के उसे पक्का नहीं करता। घर आने पर जब उसे पता चला कि निन्नी को यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हैं तो वह बुरा बिल्कुल नहीं मानता, कहता है— "अच्छा ठीक है, मैंने उचित ही किया जो बात पक्की नहीं की और कहीं देखा

जायगा, खोज में रहूँगा ।" और जब वह निन्नी को बुलाकर उससे स्नेह-पूर्वक यह कहता है, "तेरे मन से उल्टा-पुल्टा कभी नहीं करूँगा । उठा लेजा अपनी यह बर्छी । कल से कर इसका अभ्यास । देखूँ अरने को कैसे फोड़ती है इससे तू ।" तो उसका चरित्र बहुत ऊँचा उठ जाता है, वह हमेशा इस बात के लिये सचेत रहता है कि निन्नी को कोई किसी प्रकार का कष्ट न हो । बात यह है कि निन्नी के लिये भाई, बाप, माँ, सब कुछ वही है ।

अटल एक अत्यन्त लोकप्रिय हँसमुख ग्रामीण युवक है । होली के समय तो वह जैसे गाँव का हीरा बन जाता है । कभी बहलोल का अभिनय करेगा तो कभी सिकन्दर का—"बहलोल भागा !–सिकन्दर भागा !!" कहते हुए कुछ लोग अटल के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे । अटल दिल्ली के बादशाह का अभिनय करता हुआ अकड़ के साथ कूदता-फाँदता जा रहा था । बीच-बीच में धूल और छोटे-छोटे कँकड़ और सूखे गोबर के टुकड़े पछियाने वालों पर फेंक कर जा रहा था । दिल्ली वाले को वैसे नहीं मार पाया तो यों सही । विशेष रूप से भाभियाँ उसके बल की परीक्षा लेने की बड़ी उत्सुक हैं । वह एक साधारण किसान है, मुश्किल से साल भर के लिये नाज हो पाता है, किन्तु स्वाभिमानी और सच्चा इतना है कि न तो लाखी के मारे हुए अरने भैंसे में से कोई हिस्सा लेगा और न उसके नाज में से ही ।

२. प्रेमी के रूप में:—अटल का वह रूप जिसने उसके शेष व्यक्तित्व को ढक सा लिया है, उसका प्रेमी का रूप है । संसार की सभ्यता, कृत्रिमता और छल से अनभिज्ञ यह ग्रामकुमार प्रथम दृष्टि में ही लाखी की ओर आकर्षित होता है और फिर लाखी को छोड़कर उसकी दृष्टि कहीं नहीं जमती । इतना सभ्य (या निर्लज्ज) वह है नहीं कि निस्संकोच अपना प्रणय व्यक्त कर दे । गुमसुम रहता है, घोर संकोच में कुछ कह नहीं पाता । जब लाखी स्वयं पूछती है 'क्या बात है ?' तो वह बड़ी लज्जा और साहस संचित करके कहता है—

"क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ? वक्त नहीं कटता !"

"फिर भी ?"

"मैं तुमको बहुत चाहता हूँ, बहुत प्यार करता हूँ ।" यहाँ से अटल के

प्रेम का जो आरम्भ होता है तो वह जीवन के साथ ही समाप्त होता है, पहले नहीं। पहले तो अटल समाज को अपनी ओर करने की कोशिश करता है और बोधन पुजारी का सहयोग चाहता है, किन्तु उसके कठोरतापूर्शक अस्वीकार कर देने पर अटल की प्रेमाग्नि उसे समाज के प्रति विद्रोही बना देती है। प्रेम के लिये यह साधारण और साधनहीन युवक समाज के विरुद्ध खड़ा हो जाता है और बिना विधि-विधानों तथा समाज, और धर्म के ठेकेदारों की चिन्ता किये वह मन्दिर में लोटा माँजकर और उसमें गंगाजल भर कर ईश्वर की मूर्ति के सामने लाखी का हाथ पकड़ कर बैठता है और उन्हें साक्षी करके प्रतिज्ञा करता है—"हे भगवान्, मैं कुँवारा हूँ और लाखी कुँवारी है। मैं गंगा जी की सौगंध खाकर कहता हूँ कि यह जन्म भर मेरी होकर रहेगी।" और लाखी को विश्वास दिलाता है—"अब सदा के लिये तुम मेरी हुईं, चाहे जाति मुझको रखे या निकले। चाहे गाँव मुझको पत्थर मार-मार कर गाँव से भगादे, मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध कभी नहीं टूटेगा।" अपने शेष जीवन में अटल इस बात को सत्य करके दिखाता है। माँडू के सुल्तान गयासुद्दीन की ओर से लाखी को उड़ाने के लिये लगाये गये नट उन्हें बहकाकर नरवर की ओर ले जाते हैं। यह यात्रा कष्टों भरी है पर लाखी और अटल एक-दूसरे के और भी निकट आते हैं। नटों ने पिक्की के द्वारा अटल को फिसलाने की हजार कोशिश कीं, पर वह टस से मस न हुआ, बल्कि उसे घृणा और हुई। लाखी की चालाकी से पिक्की मारी जाती है और नट असफल-काम रहते हैं। अटल की आँखें खुलती हैं, वह लाखी की योग्यता और साहस पर मुग्ध होकर उसे दूना प्रेम करने लगता है और दोनों निश्चय कर लेते हैं कि भागने से तो अच्छा है कि जाति-पाँति का सामना करेंगे। अटल कभी न तो लाखी का चित्त दुखाता है और न कभी उसकी आज्ञा ही टालता है। अन्त में अच्छे दिन फिरते हैं और अटल गढ़पति हो जाता है, किन्तु सिकन्दर की चढ़ाई के समय लाखी गढ़ी की रक्षा करती हुई वीरगति को प्राप्त हो जाती है। जब अटल को यह पता लगता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी ने उसके प्रकाशित जीवन को घोर अंधकारमय बना दिया हो। अब वह जीवित नहीं रहना चाहता। लाखी को वह प्राणों से भी अधिक चाहता था। अब जब लाखी ही

नहीं रही तो प्राणों का वह क्या करे। लाखी ने मरते समय अटल से प्रार्थना की थी कि वह अपनी जात-पांति में दूसरा ब्याह करले, पर अटल ने तो एक दूसरे प्रकार का ब्याह ही करना निश्चित किया और वह ब्याह था लाखी से स्वर्ग में जाकर मिलना। अटल ने चिता को हाथ जोड़े और मन से कहा—"देवी ! मैं ब्याह अवश्य करूँगा, बहुत जल्दी करूँगा।" और भयंकर रूप से सिकन्दर की सेना को तहस-नहस करने के बाद घाव-पीड़ित मरणोन्मुख अटल रण-क्षेत्र में पड़ा हुआ मृत्यु से कुछ क्षण पूर्व ही बड़बड़ा रहा था—"मैं ब्याह करुँगा, उसी के साथ, वहीं जहाँ वह गई है और मैं जा रहा हूँ।" लाखी ही अटल का संसार थी। उसी के लिये वह जीता था, उसी के लिये मरा। ऐसा था महान् प्रेमी अटल।

३. गढ़पति के रूप में—गढ़पति के रूप में हम अटल को किंचित् बदला हुआ पाते हैं। वह वीर है, साहसी है, योग्य है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह मानसिंह और लाखी के बराबर महान् नहीं है। जिन लोगों के कारण उसे गाँव छोड़ना पड़ा उन लोगों के प्रति उसके हृदय में एक स्थायी घृणा पैदा हुई। लड़ाई के समय कुछ गांव वाले अटल के पास आये, उसे प्रणाम नहीं किया, यह बात अटल को खली और पुराने संचित क्रोध ने उसमें चिनगारी लगादी।

भाईचारे के अपनेपन में एक किसान बोला, "हम लोग कई रातों के जगे हैं, आज किसो और से चौकी का काम ले लो भैया ? हम लोग सो जायेंगे।" (अटल) चटक कर बोला—"इस तरह हमारे पास आया जाता है, बोलने तक का शऊर नहीं।"

किसान नहीं समझे, सकपका गये।

उनका मुखिया बोला, "तो जैसी कहो, करेंगे। बहुत थक गये हैं।"

अटल ने डपट दी—"जाओ काम पर, तुम्हीं सबके लिये तो हम अपना प्राण ओट रहे हैं।"

इसमें तो सन्देह नहीं कि परिस्थितियों को देखते हुए जो कुछ अटल ने कहा वह अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु साथ ही साथ इससे यह भी प्रकट होता है कि अटल महान् श्रेणी के व्यक्तियों में नहीं आता, इस विषय में लाखी

उससे महान् है। वह गाँव वालों को दुजार के साथ विदा करती है। अगर उपरोक्त अटल के वार्तालाप को उपन्यास में से निकाल दिया जाय तो उपन्यास के ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, हाँ, अटल के चरित्र पर जो एक छोटा सा धब्बा लग गया है, वह साफ हो जायगा।

यों अटल की सभी विशेषतायें उसके प्रेमी रूप के नीचे दब जाती हैं। वह आरम्भ से अन्त तक एक सच्चा प्रेमी है और इतना महान् प्रेमी है कि संसार में बिरले ही होते हैं। कठिन से कठिन परिस्थितियों में उसने लाखी का साथ नहीं छोड़ा, सम्पन्न होने पर भी उसकी उपेक्षा कभी नहीं की। ये सब बातें, इसमें सन्देह नहीं कि अटल के चरित्र को साधारण ऊँचाई प्रदान करती हैं।

लाखी

लाखी इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण पात्र है। वह अत्यन्त रूपवती और शरीर से पुष्ट है। अपनी अकेली माँ के साथ आकर राई गाँव में बस जाती है। निन्नी के साथ-साथ उसकी भी रूपज्वाला अनेक पतंगों (बघर्रा, गयासुद्दीन आदि) का ध्यान आकर्षित करती है। लाखी इस उपन्यास में मुख्यत: निम्नांकित रूपों में हमारे सामने आती है—१. अल्हड़ ग्रामीण युवति के रूप में, २. एक सहेली के रूप में, ३. प्रेमिका के रूप में, ४. पत्नी के रूप में।

(१) लाखी का एक अल्हड़ युवति का रूप बड़ा ही आकर्षक है। वह सुन्दर तो इतनी है कि गांव का प्रख्यात युवक अटल पहली ही दृष्टि में उसकी ओर आकर्षित होता है। होली आने पर लाखी, निन्नी के साथ दिल खोलकर गोबर और कीचड़ की होली खेलती है। वह विनोदशीला और अल्हड़ तो इतनी है कि बेचारे पुजारी को भी भूखा नहीं देखना चाहती। चुपचाप निन्नी से कहती है—"हुमक कर एक लड्डू न तोड़ दो बाबाजी के पेट पर।" दोयज के दिन निन्नी लाखी से बोली—"लाखी आज तो तुम्हारे सारे साँवले सलोने शरीर को गोबर से लपेटूँगी।"

लाखी उससे चिपट कर बोली—"लपेटो अपने सारे अंगों को, तुम्हारे अंगों से रगड़ दूँगी, सो गोबर में आधा साझा हो जायगा।"

"अच्छा तो लो।"

"हाँ होने दो ! ह ! ह !! ह !!! ह !!!!"

"ह ! ह !! ह !!! ह !!!! ह !!!!!"

दोनों एक-दूसरे से उलझ गईं और देर तक उलझी रहीं। उनको इस बात की परवाह नहीं थी कि ऊपर से कमर तक उघाड़ी हो गई हैं। दोनों कीचड़ और गोबर में सन गई थीं, दोनों के माथे, गालों और दूसरे अंगों पर गोबर की आड़ी-टेढ़ी चित्रकारी बन गई थी। दोनों एक-दूसरे को देख कर बल खाते हुये हँस रही थीं। दोनों ने अपने-अपने वस्त्र सम्भाले।

लाखी निन्नी से कहती है—"डर के मारे कोई भी स्त्री तुम्हारा सामना नहीं करेगी, किसी पुरुष को न डाँटो ?"

"अरी हिष्ट, गाँव की लड़की है न। ऐसा नहीं हो सकता, तुम इस गाँव की लड़की नहीं हो, हमारे भाई पर खेल लो न होली।" निन्नी बोली—

लाखी—"वाह बड़ी वैसी हो, क्या कहेंगे गाँव के लोग !"

निन्नी—"अच्छा तो कुछ और सही।"

लाखी—"पुजारी को छकाना चाहिये। बड़ा रसिया जान पड़ता है।"

निन्नी—"कैसे लगता है, तुमने कुछ भाँपा है।"

लाखी—"कल जब नाच-गाना हो रहा था, तब वह मेरी और तुम्हारी तरफ बार-बार देख रहा था। कभी-कभी भीग-भीग कर रीझ-रीझ कर।'

यों लाखी स्वभाव से हँसमुख और विनोदशीला है परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ भी बड़ी है। एक बार जिस बात का निश्चय कर लेती है फिर उसे बिना पूरा किये कभी नहीं छोड़ती। निन्नी के तीर चलाने की वह प्रशंसा सुनती है तो स्वयं भी निश्चय करती है कि शीघ्र ही तीर घलाना सीखूँगी—

"घर पहुँच कर लाखी ने सोचा यदि मैं तीर चलाना सीख लूँ तो कुछ बुरा तो करूँगी ही नहीं, निन्नी भी तो लड़की ही है, गूजर कन्या सीख सकती है तो अहीर कन्या किससे कम है ? मैं बहुत जल्दी सीखूँगी। निन्नी से सीखूँगी—अटक पड़ी तो अटल से भी। इसमें कुछ भी घट नहीं है। सीख लेने पर ग्वालियर के राजा के सामने लक्ष्य-भेद भी दिखलाऊँगी। राजा खा थोड़े ही जायगा, निन्नी लजाती है पर मैं नहीं लजाऊँगी।"

इसी प्रकार जब वह नटों को आकाश में रस्सी पर चलता देखती है तो तुरन्त सीखने का निश्चय कर लेती है और सीख भी लेती है।

"उसके मन में उठा, क्या मैं ऐसा कर सकती हूँ ? क्यों नहीं कर सकती ? इस नटिनी सरीखी कुलांचें चाहे न ले पाऊँ, परन्तु इस नट के सामने रस्से पर तो चल फिर लूँगी। अवश्य चल फिर लूँगी। देह को साधने और साँस को सम्भालने ही का तो काम है। सीखूँगी। घर में रस्सा है ही। जंगल से बाँस काट लाऊँगी। आज ही छुरे से चार बाँस काटूँगी और घर लौटते ही अभ्यास करूँगी। यदि शिकार मिलता रहा तो नटों को दिया करूँगी और उनसे इस विद्या को सीख कर ही रहूँगी।"

(२) सहेली के रूप में—लाखी निन्नी को हृदय से प्यार करती है और छाया की भाँति हर समय उसके साथ रहती है—घर-बाहर सब जगह। दोनों साथ शिकार को जाती हैं और शिकार मार कर लाती हैं। लाखी सदैव निन्नी के सुख की कामना करती रहती है और निन्नी सदैव लाखी के सुख की। एक-दूसरे की बहुत चिन्ता करती हैं। लाखी चाहती है कि निन्नी कहीं रानी बने और निन्नी चाहती है कि लाखी मेरी भाभी बने, इन बातों को लेकर दोनों में चुहल चलती है। हँस-हँस कर दोनों घर को भर देती हैं। वे कठिन परिश्रम करती हैं और प्रसन्न रहती हैं। लाखी में वीरता की जो थोड़ी-बहुत कमी थी, वह अब निन्नी के साथ से दूर हो जाती है। अब तो वह भी एक तीर से जंगली सुअर और अरना भैंसे को गिराने की क्षमता रखती है। प्रत्युत्पन्न-मतित्व (Presence of mind) तथा साहस लाखी में निन्नी से कम नहीं है, अपितु कहीं-कहीं तो उससे भी बढ़ कर दिखाई देता है। जंगल में अश्वारोहियों से घिर जाने पर वह जिस साहस तथा वीरता का परिचय देती है, वह सचमुच अविस्मरणीय है—

"लाखी ने ताक कर दूसरे पैदल की आँख वाले छेद को निशाना बनाया, सन्न से छूटकर तीर आँख के भीतर दूर तक धँस गया। लाखी ने एक तीर घोड़े की गर्दन पर छोड़ा, वह भी गिर गया।"

लाखी निन्नी से बोली—"बर्छी को उसकी पसलियों में से खींचकर

चलो जल्दी यहाँ से ।" पर निन्नी तो ऐसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई कि उसने "बर्छी निकालने की कोशिश की पर मुट्ठी न बंध सकी ।" लाखी अपने ठीक होश-हवास में थी और घबड़ाई हुई भी कम थी । "लाखी ने तीर-कमान को घास में एक तरफ रख दिया । बैठकर लाश की बगल में पैर अड़ाये और एक कस में बर्छी को निकाल लिया ।"

यदि निन्नी के साहस और वीरता को यहाँ हम तुलना करके देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि लाखी किसी भी प्रकार निन्नी से कम नहीं थी । रानी होने के पश्चात् निन्नी का दुर्गा रूप फिर दिखाई नहीं देता, किन्तु वीर रमणी लाखी तो सिकन्दर के आक्रमण के समय शत्रुओं से लोहा लेते हुए और उनमें से अधिकाँश की समाप्ति करते हुए वीरगति को प्राप्त होती है ।

सहेली रूप में लाखी की एक और मधुर झाँकी हम मानसिंह के साथ शिकार खेलते समय पाते हैं । लाखी और निन्नी के पराक्रम से ही नाहर और अरना भैंसा मारा जाता है । ये दोनों युवतियाँ मचान तक पर बैठना पसन्द नहीं करतीं । मानसिंह जब निन्नी और लाखी के पास आता है तो उनका साहस देखकर विस्मय विमुग्ध हो जाता है । मानसिंह निन्नी जैसी असाधारण रूप और शौर्य-सम्पन्न युवति को पाना चाहता है, वह निन्नी से विवाह का प्रस्ताव करती है ।

"सुन्दरी मृगनयनी ! साहस नहीं होता, संकोच लगता है, परन्तु कहे बिना रहा नहीं जाता, क्या तुमको ब्याह में पा सकता हूँ ? क्या अपनी जन्म-संगिनी बना सकता हूँ ?" बेचारी निन्नी इसका क्या उत्तर दे, लाखी तुरन्त सहेली और संरक्षक दोनों का सुन्दर कार्य पूर्ण करती है । राजा से कहती है—"यह तो इनके भाई बतला सकते हैं ।"

लाखी ने जब देखा कि राजा प्रेमातुर है और एकान्त की आवश्यकता है, जिससे ये लोग अधिक निस्संकोच होकर बातें कर सकें तो, तुरन्त तीर ढूँढने का बहाना बनाकर एक ओर जाकर छिप जाती है । निन्नी घबड़ाकर पूछती है—

"ठहर जा, कहाँ जाती है लाखी ? तीर तो सब यहीं हैं ।" निन्नी ने कोमल स्वर में रोका, लाखी नहीं मानी ।

कुछ देर बाद मानसिंह ने चिल्लाकर लाखी को बुलाया—लाखी रानी

जी ! इधर आ जाओ, तीर मिल गये होंगे···अब तक तो ।"

लाखी झाड़ी के पीछे से हंसती हुई बोली—"सब मिल गये, ब्याज समेत मिल गये ।" और हँसी को गदेली से ढाँपे हुए आ गई ।

"जहाँ रहते हैं वहाँ है" लाखी की ने निन्नी और देखते हुए व्यंग्य किया ।

"तुम्हारी सखी निकट है ।" मानसिंह बोला ।

सहेली होने के नाते लाखी बड़ी चुहल-पसन्द है । निम्नांकित वार्तालाप में देखिये कि लाखी का प्रेम, विनोद, सहानुभूति, शुभचिन्तना निन्नी के लिये फूट पड़ रही है :—

लाखी बोली—"देखो मेरी तरफ ।"

निन्नी—"क्यों ? क्या मैं डरती हूँ ?"

लाखी—"तो मिलाओ मेरी आंखों से आँखें ।"

निन्नी—"तो क्या कर लोगे अब ?"

लाखी—"उनसे मिलाईं थीं ?"

निन्नी—"छोड़ दो मुझ को बड़ी वैसी हो ।"

लाखी—"अच्छा बतलाओ क्या-क्या बातचीत हुई थीं, वहाँ पेड़ के नीचे ।"

निन्नी—"छिपी तो थीं वहीं कहीं चिपकी हुई ।"

लाखी—"देखा तो था जब हथलेवा हुआ, पर बातचीत नहीं सुन पाई । बड़ी देर तक तो हुई थी, क्या हुई थी ?"

निन्नी—"कहाँ बड़ी देर हुई, कुछ ही क्षण ।"

लाखी—ओ भगवान् ! बहुत छोटे क्षण थे वे !! मैं तो तीर ढूँढते-ढूंढते थक गई । बतलाओ क्या कहा था ?"

लाखी सीधी इतनी है कि निन्नी जरा-सा परेशान कर अटल की पत्नी बनने से पूर्व ही अपने को ननद कहलवा लेती है । विनोदशील लाखी उसे प्रसन्न करने के लिये उसे ननद कह भी देती है ।

लेकिन लाखी स्वाभिमानी भी बड़ी है । किसी स्त्री ने कह दिया कि निन्नी तो रानी होगी और तू उसकी दासी बनकर उसकी पीक अपनी हथेली पर लेगी या शय्या बिछाया करेगी । लाखी के हृदय को इससे एक चोट लगती है, किन्तु साथ ही निन्नी के लिये उसके हृदय में कोई बुरी भावना नहीं आती ।

'निन्नी के पाँव धो पीक अपनी हथेली पर लूँगी। राजा की सेज की चेरी बनूँगी !! लाखी के मन में दब-दब कर उठ रहा था। फिर भीतर निन्नी के भविष्य से सुखी थी।'

(३) प्रेमिका के रूप में—प्रेमिका के रूप में लाखी सबसे अधिक आकर्षक है। वह अटल को अपना हृदय दे बैठती है। अटल पूछता है—"तुम्हारा मन पक्का है ?"

लाखी—"मेरे मन से नहीं अपने मन से पूछो।"

अटल—"बस अब और कुछ नहीं पूछना है।" अटल कुछ क्षण लाखी को अपनी बाँह में कसे रहा।

एक बार निन्नी ने लाखी से पूछ लिया—"ब्याह करोगी भैया के साथ ?"

लाखी—"फिर वही बात।"

निन्नी—"हाँ, हाँ अवश्य। मैं तुम्हारी पक्की ननद जो बनना चाहती हूँ। एक बार अपने मुँह से कह तो दो।"

लाखी—"क्या मेरे हाथ की बात है ?"

निन्नी—"है। यदि हो तो करोगी ?"

लाखी—"करूँगी।"

निन्नी—"और यदि न भी हो तो ?"

लाखी—"करूँगी, करूँगी तो भी करूँगी। नहीं तो कहीं मर-खप जाऊँगी, तुम्हारे भैया में हिम्मत होनी चाहिये।"

निन्नी—"उनमें है हिम्मत, मैं जानती हूँ।"

लाखी—"तो मुझ में किसी से कम नहीं पाओगी।"

लाखी ने अटल के अतिरिक्त और किसी पुरुष की छाया भी अपने मन पर स्वप्न में भी नहीं पड़ने दी। मानसिंह को देख कर भी वह विचलित नहीं होती। वह सदैव गंगा के समान पवित्र रही। अटल की प्रेमिका लाखी शक्ति और स्वाभिमान की तो साकार प्रतिमा है। वह न तो यह चाहती है कि उसके प्रेमी का अपमान हो और न अपना स्वाभिमान कभी छोड़ना चाहती है। जब अटल गाँव छोड़ कर ग्वालियर जाने का प्रस्ताव रखता है तो वह

विरोध करती हुई कहती है—

"कोई मुझको यदि किसी की चेरी कहे—चाहे वह मेरी ननद ही क्यों न हो, तो मैं नहीं सह सकूँगी और न यह सह सकूँगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगों को भगवान् ने भुजाओं में बल दिया है और काम करने की लगन। कुछ करके ही ग्वालियर चलेंगे।"

अटल—"मैं सब तरह की विपद् झेलने को तैयार हूँ।"

लाखी—"मैं पीछे नहीं रहूँगी।"

अटल—"सो तो पूरा भरोसा है।"

सान्त्वना छिपी हुई वेदना को खोल देती है। गाँव वालों ने जब अटल-लाखी की उपेक्षा की, तो अपना प्रेम समाप्त करने के बजाय दोनों ने नटों के साथ जाना पसन्द किया और यहाँ से लाखी और अटल का व्यक्तित्व एक-दूसरे में इतना घुल-मिल जाता है कि उसे अलग करके देखना कठिन है। अटल तो केवल वीर है और निष्कपट तथा भोला है, किन्तु लाखी परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने वाली, दूरदर्शी, नीति निपुण तथा भयंकर रूप से वीर और साहसी है। स्त्री-सुलभ ईर्ष्या उसके अन्दर स्वाभाविक रूप से है, उसे एक बार चिन्ता होती है कि कहीं अटल पिल्ली के प्रति आकृष्ट तो नहीं? किन्तु किसी पर बिना प्रकट किये वह इसका हल ढूँढ़ निकालती है। अपनी चालाकी और प्रत्युत्पन्नमतित्व से चालाक नटों के सम्पूर्ण षड्यन्त्र को वह विफल कर देती है। पिल्ली को अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। इतना तो मानना पड़ेगा कि कुछ समय के लिये लाखी भी नटों की चाल में आ गई थी, परन्तु वह समय रहते ही चेत गई और इस प्रकार अपने सतीत्व और प्रेमी की रक्षा कर सकी।

अटल की आँखें खुल गईं और उसने नटों के षड्यन्त्र को समझा।

(४) पत्नी के रूप में—यों तो लाखी को अटल की पत्नी तभी से कहा जा सकता है जब लोटा माँज कर और गंगाजल भर कर दोनों ने एक होने की प्रतिज्ञा की थी, पर उसकी रही-सही कमी पूरी हुई ग्वालियर में। वहाँ मानसिंह ने विधिवत् उनकी शादी कराई और अटल को गढ़पति बना दिया। उनको

ग्वालियर में रहने के लिये अलग मकान दे दिया गया। यहाँ लाखी प्रायः निन्नी के साथ रहती और बीती बातें याद करके प्रसन्न होती । यहाँ लाखी का चरित्र कुछ प्रच्छन्न हो गया है; किन्तु सिकन्दर के आक्रमण के समय जब अटल और लाखी राई की गढ़ी में चले जाते हैं तो लाखी का एक नया स्वरूप सामने आता है। अटल और लाखी के बीच प्रेम की मादक तीव्रता अब तक है किन्तु अब उत्तरदायित्व ने उसे कुछ अधिक गम्भीर बना दिया है। लाखी हर बात में अटल की सहायता और एक पतिव्रता की भाँति सदैव ही उसकी कल्याण कामना करती है तथा सेवा करती है। लाखी को सदा इस बात का दुख रहता है कि मेरे कारण अटल को जाति से निकलना पड़ा, परन्तु रोकर या जैसे भी हो, वह अटल को विपत्ति की आंच से बचाये रखना चाहती है। सिकन्दर के आक्रमण के समय वह राई की गढ़ी की रक्षा का भार स्वयं ले लेती है और अटल को सोने के लिये कह देती है। गाँव के लोगों के साथ उसका व्यवहार स्नेहमय और उदार है। उसी रात पहरा देते समय शत्रुओं के अचानक किले पर चढ़ आने से वह उनसे लड़ती हुई मारी जाती है। इस जगह लाखी के जिस रूप के दर्शन होते हैं, निश्चित रूप से उसके सामने उपन्यास के सर्वोत्तम पात्र (मृगनयनी, मानसिंह) भी निष्प्रभ हो जाते हैं। लाखी एक दीपक की भांति अपना प्रकाश फैलाकर उपन्यास को ही अँधेरे से युक्त करके चली जाती है। मरते-मरते भी एक पतिव्रता, पतिप्राणा पत्नी का उसका जो रूप उभर कर आता है, वह उपन्यास में निस्सन्देह अद्‌भुत और अद्वितीय है। वह मरते समय अटल को बुलवाती है। लोग कहते हैं आपको ही ले चलें। वह कहती है, "नहीं, यहीं बुला लाओ, मुझको मत छुओ।"

"यह क्या हो गया।" फफकते हुये गले से अटल ने कहा।

"कुछ नहीं एक भीख मांगती हूँ, दे दो।" लाखी के टूटते हुए स्वरों में निकला।

अटल ने हाथ जोड़े।

"हिष्ट ! यह क्या !!" लाखी के रक्त-रंजित होठों में से एक पतली सी मुस्कान फटकर वहीं विलीन हो गई।

अटल ने हाथ नीचे कर लिये।

और भी टूटे स्वर में वह बोली—'ब्याह कर लेना अपनी जात-पात में...।'

मरते समय भी उस सती को अपने पति का ध्यान रहा। लाखी इस उपन्यास का बहुत ऊँचा, अद्भुत और अद्वितीय चरित्र है।

सच्ची, परदुःखकातर विनोदशील सखी, प्रणयातुरा, प्रेमी को सर्वस्व समझने वाली, समाज की भी चिन्ता न करने वाली, प्रेयसी तथा पतिव्रता, पतिप्राणा, पति के सुख को अपने जीवन से भी ऊपर समझने वाली सती लाखी का चरित्र जितना प्रकाश और संदेशपूर्ण है उतना और किसी का नहीं

प्रश्न ३— "हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों में वृंदावनलाल वर्मा शीर्षस्थान के अधिकारी हैं।" इस कथन पर विचार करते हुए मृगनयनी की ऐतिहासिकता पर विचार कीजिये।

उत्तर—अतीत तो वैसे ही आकर्षक होता है। मनुष्य अपने वर्तमान की नग्न वास्तविकता और कठोरता से ऊबकर अतीत के सुनहले और काल्पनिक लोक में विश्राम या सुख प्राप्त करता है। किसी जाति का अतीतकाल और किसी राष्ट्र का अतीत यह तो और भी बड़ी बातें हैं। अपनी जाति या देश के अतीत के विषय में जानने के लिये कौन उत्सुक न होगा।

अतीत को व्यक्त करने का कार्य अब तक कविता ने अधिक किया है। पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों की कविता में कमी नहीं है। सतयुग से लेकर आज तक का काल कविता ने अपने कोमल पाश में बाँध लिया है, किन्तु कविता स्वभाव से ही कोमल है, उसका विषय आकर्षक और मधुर होना चाहिये। दिन-प्रतिदिन की शुष्क घटनाय उसके अधिक काम की नहीं, ऐसी घटनाओं को तो गद्य ही वाणी दे सकती है। अतीत को गद्य में व्यक्त करने का उपन्यास सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।

बँगला, मराठी, गुजराती में ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी नहीं है। एक से एक सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास इन भाषाओं में है, किन्तु हिन्दी का यह दुर्भाग्य रहा कि उसमें ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रायः अभाव रहा। अतीत को सुन्दर और यथार्थ रूप में गद्य में उतारने की प्रतिभा 'प्रसाद' जी में थी, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक नाटक तो लिखे, ऐतिहासिक उपन्यास एक भी नहीं लिखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"ऐतिहासिक उपन्यास जिस ढंग से लिखना चाहिये यह प्रसिद्ध पुरातत्व-विद् श्री राखालदास वंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक, और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया। प्रथम दो के अनुवाद हिन्दी में हो गये हैं। खेद है, इस समीचीन पद्धति पर प्राचीन हिन्दू साम्राज्यकाल के भीतर की कथावस्तु लेकर मौलिक उपन्यास न लिखे गये। नाटक के क्षेत्र में अलबत्ता स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' जी ने इस पद्धति पर कई सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। इस पद्धति पर उपन्यास लिखने का अनुरोध हमने उनसे कई बार किया था जिसके अनुसार शुङ्गकाल (पुष्यमित्र-अग्निमित्र का समय) का चित्र उपस्थित करने वाला एक बड़ा मनोहर उपन्यास लिखने में उन्होंने हाथ भी लगाया था, पर साहित्य के दुर्भाग्य से उसे अधूरा छोड़कर ही वे चल बसे।"

असल में कुछ लोगों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की कोशिश की भी पर सभी को असफलता मिली। लोग इस बात को ही नहीं समझते थे कि ऐतिहासिक उपन्यास में और साधारण उपन्यास में क्या अन्तर है? वे केवल नामों के अन्तर को ही सबसे बड़ा अन्तर समझते थे। पर यह अन्तर तो अत्यन्त साधारण है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बड़ा ही कठिन कार्य है। जब तक लेखक को तत्सम्बन्धी काल के राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक वातावरण (रीति-रिवाज, वेष-भूषा आदि) आदि का गम्भीर ज्ञान न हो तब तक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा ही नहीं जा सकता। इन कठिनाइयों की ओर आचार्य शुक्ल ने भी इङ्गित किया है :—

"ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम देखने में आ रहे हैं। एक प्रकार से तो यह अच्छा है। जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं। द्वितीय उत्थान के भीतर जो कोई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये या वंग भाषा के अनुवाद करके लाये गये, उनमें देशकाल की परिस्थिति का अध्ययन नहीं पाया जाता। अब किसी उपन्यास में यदि बाबर के

सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्तकाल में गुलाबी या फीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फानूस लाये जायेंगे, सभा के बीच में खड़े होकर व्याख्यान दिये जायेंगे और उनपर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में 'धन्यवाद', 'सहानुभूति' ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना, ऐसे फिकरे पाये जायेंगे तो काफी हँसने वाले और नाक भों सिकोड़ने वाले मिलेंगे। इससे इस जमीन पर बहुत समझ-बूझकर पैर रखना होगा।"

शुक्लजी का कथन अक्षरश: सत्य है, यदि उपन्यासकार जिस काल पर उपन्यास लिख रहा है, उसका सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत न कर सका तो उसका परिश्रम व्यर्थ जायगा।

शुक्ल जी ने इस बात का अनुभव किया कि हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा को छोड़कर और कोई व्यक्ति 'इस जमीन पर पैर रखने का साहस' नहीं कर सका—"वर्तमान काल में ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में केवल बाबू वृन्दावन-लाल वर्मा दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्य युग के प्रारम्भ में बुन्देलखण्ड की स्थिति लेकर 'गढकुण्डार' और 'विराटा की पाद्मनी' नामक दो सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। 'विराटा का पद्मिनी' की कल्पना तो अत्यन्त रमणीय है।"

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यास—वर्मा जी ने निम्नांकित ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं–गढकुण्डार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, मृगनयनी।

इससे पहले कि इन उपन्यासों की ऐतिहासिकता पर विचार करें, ऐति-हासिकता की एक कसौटी बना लेना आवश्यक होगा। प्रश्न उठता है कि स्वयं ऐतिहासिकता क्या है? किन बातों को हम ऐतिहासिकता मानें, किनको नहीं? क्या अब तक इतिहास के नाम पर जो चीजें प्रस्तुत की गई हैं, वे वास्तव में ऐतिहासिक हैं? और क्या उनके अतिरिक्त ऐतिहासिकता नाम की कोई वस्तु नहीं

यदि उपरोक्त बातों को ही ठीक समझा जायें तो फिर यह मानने में क्या हर्ज है कि शिवाजी लुटेरे थे, यह मानने में क्या हज है कि भगतसिंह, चन्द्र-शेखर आदि सब लोग गद्दार थे और यह मानने में क्या हर्ज है कि आजाद हिन्द के सभी सिपाही और सुभाष बोस सबसे बड़े गद्दार थे।

किन्तु इन बातों को कौन मानता है; किन्तु ऐतिहासिक तो ये सभी बताई जा रही हैं। भारत के भूतपूर्व शासक अंग्रेज इनमें से सब बातों को ऐतिहासिक समझते हैं। उन्होंने भारत में जो मक्कारी, विश्वासघात और अनाचार, अत्याचार किए हैं वे सब अनैतिहासिक हैं, अतः अप्रामाणिक हैं। इतिहास का अब तक बड़ा विचित्र अर्थ लिया जाता रहा है। अंग्रेजों ने अब तक जो कुछ सही कहा, हमने सही माना और जो गलत कहा उसे गलत माना। ऐसा था अब तक का इतिहास। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि इतिहास में दृष्टिकोण प्रधान होता है। मृगनयनी में वर्मा जी ने ऐसे ही इतिहास को चुनौती दी है। सिकन्दर के दरबारी तारीख-नवीस ने लिखा है कि सिकन्दर ने ग्वालियर पर आक्रमण किया और मानसिंह से सोना-चाँदी का वायदा (सोना-चाँदी नहीं) लेकर लौट आया, इस पर कौन विश्वास करेगा? स्पष्ट है कि मुसलमान जब शासक थे तो इतिहास उनका भाट था। अंग्रेजों के युग में वह उनका चारण और आज इतिहास तो हमें बनाना है, वह कैसे बनाया जाये, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे लोग इस विषय में मार्गदर्शन कर सकते हैं। जहां का इतिहास लिखना हो, वहाँ की चप्पा-चप्पा जमीन छान डालिये, इतिहास वहाँ खण्डहर होकर पड़ा है। वृद्धों की स्मृति में उसके कुछ अवशेष मिलेंगे। झाँसी की वीर रानी के साथ लड़ने वाली झलकारिन नामक कोरिन अभी कुछ वर्ष पहिले ही मरी है। उससे बड़ा और प्रामाणिक इतिहास कहाँ मिलेगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि इतिहास के नाम पर जो नाम प्रचलित किये जाते हैं, वे शंका से सर्वथा परे नहीं है और कुछ ऐतिहासिक नाम तथाकथित इतिहास में ढूँढे नहीं मिलते।

वृन्दावनलाल वर्मा ने बुन्देलखण्ड की चप्पा-चप्पा जमीन को छान डाला है। प्राचीन गढ़ों और किलों के खण्डहरों को उन्होंने आत्मीयता और ममता भरी दृष्टि से देखा हैं। नदी, नाले और बीहड़ों में वे घूमे हैं, बुन्देलखण्ड की सभी छोटी-मोटी पहाड़ियों को वे छान चुके हैं। जो किवदन्तियाँ उन्होंने अपने ऐतिहासिक पुरुषों के विषय में सुनी हैं, उनको उन्होंने किसी एक व्यक्ति के कहने से ठीक नहीं मान लिया; बल्कि पूरे प्रान्त में उसका समर्थन होते देख

ही उसे वे इतिहास सम्मत मानने को उद्यत होते हैं। इसीलिये किंवदन्तियाँ भी इतिहास हैं और इतिहास भी बहुजनसम्मत किंवदन्ती के अतिरिक्त और क्या है ?

यदि इस कसौटी पर कसेंगे तो वर्मा जी के सभी उपन्यास ऐतिहासिक स्वीकर करने होंगे। किंवदन्तियों या अन्य प्रामाणिक आधारों के अनुसार जिस पात्र का जैसा अन्त प्रसिद्ध है, उसको उन्होंने वैसा ही रखा है। यदि ऐसा न होता तो वे 'विराटा की पद्मिनी' को दुःखांत उपन्यास क्यों बनाते ? क्या कोई पाठक चाहेगा कि विराट् की पद्मिनी आत्म-हत्या करले ? किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार को तो बड़े भारी बन्धन में बंधना होता है। सभी परिणाम या निष्कर्ष पहले से निश्चित होते हैं, उसे तो केवल बीच में रंग भरने का अधिकार है; हाँ, इस बात का अधिकार उसे अवश्य है कि बिना बहु-जनसम्मत परिणाम को बदले वह किसी पात्र को कितना ही चमका दे।

कल्पना और वातावरण का जहाँ तक सम्बन्ध है, वर्मा जी की प्रतिभा उच्च कोटि की लगती है। घटनाओं के सृजन में तो वे अद्वितीय हैं। जिस काल का वर्णन वे करते हैं, उसका एक स्पष्ट चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है।

तो यह निष्कर्ष निकला कि यद्यपि वर्मा जी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों का आधार किंवदन्ती है किन्तु ऐसी किंवदन्ती जिसे पूरी खोज करने के पश्चात् वर्मा जी ने इतिहास से भी अधिक विश्वसनीय पाया है।

अब संक्षेप में हम वर्मा जी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों पर विचार करेंगे।

गढ़ कुण्डार—"चौदहवीं शताब्दी के मध्यभारत के इतिहास-निर्माता, खंगारों, बुन्देलों, पैकारों, चंदेलों और पड़िहारों का इतिहास है।" पृथ्वीराज चौहान का एक सामंत खेतसिंह खंगार था जो पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद (सन् ११९२ में) स्वतन्त्र हो गया था। इसके पश्चात् कुण्डार के गढ़ में ८० वर्ष पर्यन्त खंगारों ने शासन किया। कुण्डार का अन्तिम खंगार शासक हुरमतसिंह था जिसको सोहनपाल के नेतृत्व में बुन्देलो ने धोखे से १२८८ में मार डाला। इस युद्ध में खंगारों का घोर विनाश हुआ और शासन बुन्देलों के हाथ में चला

गया। ये घटनायें ही गढ़कुण्डार का आधार हैं और ये सब इतिहास सम्मत भी हैं।

कुछ वर्मा जी के अपने (काल्पनिक) पात्र भी इस उपन्यास में हैं। उदाहरणार्थ-अर्जुन कुम्हार तथा इब्नकरीम आदि। कुछ प्रेम कहानियाँ भी लेखक की अपनी उद्‌भावनायें हैं—जैसे मानवती-अग्निदत्त और तारा-दिवाकर की प्रेम कथा। किन्तु उपन्यासकार को इस प्रकार की कल्पना का पूरा अधिकार है, बस उसे दो बातों का ध्यान रखना चाहिये—१. जो ऐतिहासिक पात्रों का बहुजन-सम्मत अन्त है, उसमें कोई परिवर्तन न हो। २. जो कल्पना उपन्यासकार करे, वह युगानुकूल हो और पूरे उपन्यास में थेगली जैसी न लगे।

उपर्युक्त दोनों बातें वर्मा जी में मिलती हैं। उन्होंने जो प्रेम-कथायें कल्पित की हैं, वे युगानुकूल हैं और उस काल की मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। वेशभूषा, आपस के सब रीति-रिवाज सब उसी काल के अनुरूप हैं।

चौदहवीं शताब्दी का अन्त भारतीय वैभव और वीरता का भी अन्त था। लेखक ने उस काल के छोटे-छोटे सामन्तों की विवेकहीन वीरता की ऐंठ को बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया। दर-दर भटकने वाला सोहनपाल सत्ताधारी हुरमतसिंह को तुच्छ समझता है। हुरमतसिंह सोहनपाल की लड़की हेमवती को विवाह में अपने पुत्र 'नाग' को देने का प्रस्ताव करता है तो सोहनपाल का पुत्र सहजेन्द्र क्रोध से आंखों से चिनगारियाँ बरसाता हुआ कहता है—"उस नीच खंगार का इतना साहस ! बुन्देले की बेटी का अपमान। जिस तरह होगा कुण्डार का नाश करूँगा। जब तक कुण्डार की ही ईंट से ईंट न बजादूँ, चैन न लूँगा।' इधर जब हुरमतसिंह सुनता है कि सोहनपाल ने घृणापूर्वक उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया है तो वह भेड़िये की तरह गुर्रा उठता है—"हूँ, उस भिखारी सोहनपाल को इतना गर्व ! मेरे नाग को हेमवती देने से इंकार ! देखूँगा उसकी हेकड़ी को।" खंगार अपने को श्रेष्ठ घोषित करता है और बुन्देले अपने को श्रेष्ठतर घोषित करते हैं। भारतीय इतिहास का यह निर्वाणोन्मुख दीप्त दर्प है। वर्मा जी ने बड़े कौशल से उसे उपन्यास का रूप दिया है। इस प्रकार गढ़ कुण्डार एक ऐतिहासिक उपन्यास है।

विराटा की पद्मिनी—विराटा की पद्मिनी का आधार जनश्रुति है। विराट की पद्मिनी के नाम से विख्यात 'कुमुद' को वर्मा जी ने किवदन्तियों के आधार पर ही चित्रित किया है किन्तु इस विषय में उन्होंने पर्याप्त खोज की है। पद्मिनी (विराटा की) की कथा अनेक स्थानों पर प्रचलित है। विराटा रामनगर और मुसंवली की दस्तूरदेहियों में भी पद्मिनी के बलिदान का सूक्ष्म वर्णन है।

विराटा की पद्मिनी में लेखक ने जिस काल को लिया है वह मुगल-शासन और वैभव की समाप्ति का काल है। भारत के शासन का सूत्र फर्रुखसियर जैसे निर्बल हाथों में था, किन्तु वह तो कठपुतली राजा था, वास्तविक शासक तो इतिहास प्रसिद्ध सैयद भाई थे, जो किंग-मेकर (King maker) के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारत के सभी राजा और नवाब स्वतन्त्र हो जाने की फिराक में थे। सैयद-भाइयों से सम्बन्धित मुसलमानों की एक बहुत बड़ी फौज कालपी में रहती थी जिससे आस-पास के सामन्तों तथा गढ़पतियों से कभी छोटी-छोटी टक्करें हो जाया करती थीं। दक्षिण भारत अलग विस्फोटासन्न ज्वालामुखी बना हुआ था, सभी राज्य मुगल बादशाह की नीति से घोर असन्तुष्ट थे। इतिहास में कुछ दिन तक क्रीड़ा करने के बाद सैयद-बन्धु भी चल बसे। फिर तो छोटे-छोटे गढ़पति और बड़े-बड़े सामन्त स्वतन्त्र होने लगे। दिल्ली का भय लोगों के सिर से उठ गया था। बुन्देलखण्ड में छत्रसाल गरज रहा था, मुहम्मदखाँ छत्रसाल का विरोध कर रहा था। इस ऐतिहासिक वातावरण को वर्मा जी ने 'विराटा की पद्मिनी' में साकार किया है। घटनायें, काल और वातावरण ऐतिहासिक हैं किन्तु उपन्यास के अधिकांश पात्र कल्पित हैं। चूँकि जिस काल को लेकर यह उपन्यास चलता है, वह काल अपने स्वच्छन्द और स्पष्टतम रूप में इस उपन्यास में प्रतिबिम्बित है। इसलिये हम इसे ऐतिहासिक उपन्यास ही कहेंगे।

झाँसी की रानी—वर्षों की खोज और परिश्रम के बाद वर्मा जी ने यह उपन्यास लिखा है। उसके लिये कचहरी के पुराने रिकार्डों से लेकर झाँसी की रानी की वंश-परम्परा में जीवित सभी लोगों से उन्होंने सहायता ली है। इस

उपन्यास को तो वर्मा जी ने इतना अधिक ऐतिहासिक बना दिया है कि बेचारी कल्पना को उसका उचित भाग भी नहीं मिला है। नानासाहब, तांत्या टोपे, महारानी लक्ष्मीबाई, सभी अंग्रेज पात्र, सारांश यह है कि राजपरिवार वे सम्बन्धित सब पात्र तो ऐतिहासिक हैं ही, रानी की दासियाँ सुन्दर और मुन्दर तक ऐतिहासिक हैं। झलकारिन कोरिन भी ऐतिहासिक है। वर्मा जी का कहना है कि कुछ वर्ष पहले ही वह मरी है। तोपों के नाम, तोपची गौसखां और किस-किस ने तोप चलायी, इतना तक ऐतिहासिक है। रानी ने स्त्रियों की फौज संगठित की थी, यह तो ऐतिहासिक है ही। रानी कहाँ लड़ी, कहाँ घायल हुई, कहां उसकी मृत्यु हुई, यह सब ऐतिहासिक है। यहाँ तक कि एक डाकू सम्भवतः कुँवर सगरसिंह का वर्णन वर्मा जी ने किया है, उस तक को वे ऐतिहासिक बताते हैं।

सारांश यह है कि 'झाँसी की रानी' उपन्यास इतिहास से भी अधिक सत्य और उपन्यास से भी अधिक रोचक है।

एक बात कह देना आवश्यक है कि इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण का प्रायः अभाव मिलता है। जब सभी कुछ पूर्व निश्चित है तो उपन्यासकार क्या करे? वह कैसे किसी चरित्र का अधिक विकास अपनी इच्छा के अनुकूल दिखाये? 'झाँसी की रानी' की कोटि के प्रामाणिक और उत्कृष्ट उपन्यास किसी भी भाषा में अधिक नहीं मिलेंगे।

अतः 'झाँसी की रानी' तो ठेठ ऐतिहासिक उपन्यास है।

मृगनयनी—वर्मा जी का प्रामाणिक ऐतिहासिक उपन्यास है। उन्होंने अपने इस उपन्यास का ढाँचा ऐतिहासिक नीवों पर ही खड़ा किया है। इस उपन्यास को लिखने से पूर्व वर्मा जी ने पर्याप्त खोज की है और आवश्यक यात्रायें भी की हैं। इतिहास, जनश्रुति तथा पुराने रिकार्डों (लेखों) को देखकर ही वर्मा जी ने अपने इस उपन्यास को अन्तिम रूप दिया है। ऐतिहासिक उपन्यासों का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह हिन्दी का तो सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है ही, साथ ही वर्मा जी द्वारा प्रणीत ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यह अद्वितीय है। पूर्ण ऐतिहासिक होते हुए भी कल्पना को इस उपन्यास में पर्याप्त स्थान मिला है, इसलिये चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास अद्वितीय बन पड़ा है।

इतिहास सम्मत उपन्यास में चरित्र-चित्रण भी सुन्दर हो सके, यह एक अत्यन्त ही कठिन कार्य है। वर्मा जी जैसे सिद्धहस्त लेखक से ही ऐसे उपन्यास की आशा की जा सकती थी।

'मृगनयनी' लिखने की प्रेरणा वर्मा जी को किसी सम्मानित पाठिका से मिली और फिर वे आवश्यक सामग्री जुटाने में जुट पड़े। वे लिखते हैं—

"१९४९ के अन्त में ग्वालियर की एक सम्मानित पाठिका ने मुझको मृगनयनी और मानसिंह तोमर के ऐतिहासिक समानी कथानक पर उपन्यास लिखने का अनुरोध किया। मैंने कथानक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अवसर पाते ही आरम्भ कर दिया। जिन स्थानों का सम्बन्ध उपन्यास की मुख-कथा से है, उनका भ्रमण भी किया।" यही नहीं कथावस्तु के संग्रह में उन्होंने जिन लोगों से सहायता ली, उनके नाम ही इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि लेखक को ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता की रक्षा का कितना ध्यान रहा होगा।

"कथावस्तु के संग्रह में महामान्य महारानी साहिबा ग्वालियर, मध्यभारत के मन्त्रि-मंडल, विशेषतः मेरे मित्र श्री श्यामलाल जी पाण्डवीय और ग्वालियर के पुरातत्त्व विभाग ने मेरी बहुत सहायता की है। ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर डाक्टर पाटिल का भी मैं आभारी हूँ जिनके सौजन्य से मुझको वे चरित्र मिले जो इस उपन्यास में छापे गये हैं।"

स्पष्ट है कि लेखक ने भरसक इस बात की कोशिश की है कि प्रत्येक तथ्य इतिहास सम्मत तथा प्रामाणिक हो।

अब यहाँ उपन्यास के मुख्य पात्रों को लेकर उनकी ऐतिहासिकता पर विचार कर लिया जाय।

मानसिंह तोमर—इस उपन्यास का नायक मानसिंह तोमर प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र है। मानसिंह तोमर १४८६ से १५२६ ई० तक ग्वालियर का राजा रहा। फरिश्ता के इतिहास लेखक ने मानसिंह को वीर और योग्य शासक कहा है—"अंग्रेज इतिहासलेखकों ने भी मानसिंह के राज्य-काल को तोमर शासन का स्वर्णयुग (Golden age of Tomar Rule) कहा है।" मानसिंह महान् वीर और पराक्रमी राजा था, क्योंकि अपने पुत्र का सर्वाधिक

शक्तिशाली व्यक्ति सिकन्दर लोदी भी कई बार मुँह की खाकर उसके सामने से लौट गया। लेखक ने लिखा है :-

"ग्वालियर पर सिकंदर लोदी के पिता बहलोल ने आक्रमण किये। फिर सिकंदर ने ग्वालियर का कचूमर निकालने में कसर नहीं लगाई। सिकंदर ग्वालियर पर पाँच बार वेग के साथ आया। पाँचों बार उसे मानसिंह के सामने से लौट जाना पड़ा। उसके दरबारी इतिहास लेखकों, अखबारनवीसों ने लिखा है कि मानसिंह ने प्रत्येक बार सोना-चाँदी देने का वायदा—सोना चाँदी नहीं—देकर टाला। आश्चर्य है सिकंदर सरीखा कठोर योद्धा मान भी लेता था। अन्त में सिकंदर को १५०४ में आगरे का निर्माण इसी मानसिंह तोमर को पराजित करने के लिये करना पड़ा। इसके पहले आगरा एक नगण्य सा स्थान था। तो भी सिकन्दर सफल न हो पाया।"

मृगनयनी—उपन्यास की नायिका मृगनयनी भी ऐतिहासिक पात्र है। वह गूजरी रानी के नाम से भी प्रसिद्ध है ग्वालियर का प्रसिद्ध गूजरी महल उसी के नाम पर बना है। आचार्य बैजू ने इसी गूजरी रानी के नाम पर गूजरी मालगूजरी, हूलगूजरी तथा गूजरी टोडी आदि संगीत के राग बनाये थे। 'मृगनयनी' शौर्य और कला दोनों के लिये विख्यात थी। लेखक उपन्यास की भूमिका में लिखता है:—

"जब १५२७ में बाबर ने मान मन्दिर और गूजरी महल को देखा तब उनको बने २० वर्ष हो चुके थे। तो सन् १५०७ में ये बन चुके थे। गूजरी रानी मृगनयनी के साथ मानसिंह का विवाह १४९२ के लगभग हुआ होगा। मानमन्दिर और गूजरी महल के सृजन की कल्पना को मृगनयनी से प्रेरणा मिली होगी। बैजनाथ नामक (बैजू बावरा) मानसिंह-मृगनयनी के गायक थे। गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी इत्यादि राग इसी मृगनयनी के नाम पर बने हैं। जिन सम्मानित पाठिका नें मृगनयनी के कथानक पर उपन्यास लिखने का अनुरोध किया था उन्होंने ठीक लिखा था कि मृगनयनी शौर्य और कला दोनों के लिये विख्यात थी।"

मृगनयनी गूजर कुल की थी। राई गाँव की दरिद्र किसान कन्या। शारीरिक बल और परम सौन्दर्य के लिये वह ब्याह के पहले ही प्रसिद्ध हो गई थी।

परम्परा में तो उसके विषय में यहाँ तक कहा गया है कि राजा मानसिंह राई गाँव के जंगल में शिकार खेलने गये तो देखा कि मृगनयनी (उपन्यास के आरम्भ की निन्नी) ने जंगली भैंसे को सींग पकड़कर मोड़ दिया ! एक साहब ने परम विश्वास के साथ मुझको बतलाया कि राजा मानसिंह अपने महल में बैठे हुए थे। नीचे देखा जंगली भैंसे के सींग पकड़ कर मृगनयनी मरोड़ रही है !! और उसको मोड़ रही है। ग्वालियर किले के भीतर जंगली भैंसा पहुँच गया और राई गाँव से जोकि ग्वालियर से पश्चिम-दक्षिण में ११ मील है, मृगनयनी जंगली भैंसे को मोड़ने-मरोड़ने के लिये आ गई:—

मैंने पहली परम्परा को ही मान्यता दी है। ग्वालियर गजेटियर में उसी का उल्लेख है।

फिर मैंने गूजरों में घूम-फिर कर बातें कीं, उन्होंने भी उसी का समर्थन किया।

लेखक ने मृगनयनी के द्वारा मानसिंह से दो वचनपूर्ति की प्रतिज्ञा उपन्यास में कराई है। लेखक का कथन है कि उसमें से एक वचन अब तक प्रमाणित है। मृगनयनी ने मानसिंह से राई गाँव से ग्वालियर तक साँक नदी की एक नहर ले जाने को कहा था। लेखक का कथन है—"राजा ने यह नहर बनवाई, उसके चिन्ह अब भी वर्तमान हैं।"

इस प्रकार मृगनयनी की ऐतिहासिकता भी पूर्ण सिद्ध है।

अटली-लाखी—अटल और लाखी को भी लेखक ऐतिहासिक मानता प्रतीत होता है। किन्तु उसने स्पष्टतः उनके ऐतिहासिक स्रोत का उल्लेख नहीं किया, फिर भी लेखक की निम्नांकित पँक्तियाँ इन दोनों को ऐतिहासिक पात्र ही घोषित करती हैं—

"पहाड़ों में होकर साँक नदी राई गाँव के नीचे से निकलती है। साँक नदी पर तिगरा का बांध बँध गया है और राई गाँव डूब गया है। राई के ऊपर ऊँची पहाड़ी पर स्थित उसके भाई की गढ़ी भी खंडहर हो गई है परन्तु उसके भाई और लाखी के त्यागों के खण्डहर नहीं हो सकते।" इसके अतिरिक्त लेखक ने यह बताते हुए, एक लुहार ने जब जातिविरुद्ध शादी कर ली

तो १२ वर्ष तक लोगों ने उसका हुक्का-पानी बन्द रखा, (यह घटना अप्रैल सन् १९५० की है) अटल और लाखी के विषय में लिखा है–"फिर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में लाखी और अटल के सिर पर क्या-क्या बीती होगी, उसकी कल्पना की जा सकती है।" स्पष्ट है कि लेखक अटल और लाखी को भी बराबर ऐतिहासिक महत्त्व देता है।

पोला-पिक्की—नाम चाहे कल्पित हों पर लेखक का कहना है कि नटों के सम्बन्ध में नरवर से सम्बन्धित एक दोहा अब तक प्रचलित है—

> "नरवर चढ़ै ज बेड़नी, बूँदी छपै न छींट।
> गुदनौटा भोजन नहीं, इस्व पके न ईंट॥"

किंवदन्ती है कि किसी ने एक नटिनी (बेड़नी) से किले और बाहर एक पेड़ से बँधे रस्से पर होकर एक चिट्ठी ले जाने को कहा और आधा राज्य देने का वचन दिया, अपना कार्य करके जब वह लौट रही थी तो रस्सा काट दिया गया और खाई में गिर कर समाप्त हो गई।'

लेखक ने इसका उपयोग अपनी कल्पना के अनुसार किया है।

बैजू—प्रसिद्ध संगीताचार्य बैजू निस्सन्देह ऐतिहासिक पात्र है। लेखक का विश्वास है कि वह मानसिंह के दरबार में था और गूजरी रानी के नाम पर कई राग इन्होंने बनाये। तानसेन के साथ इनकी प्रतिद्वन्द्विता की बात लेखक को मान्य नहीं। उसका कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ग्वालियर संगीत का गढ़ रहा है और अब तक है। लेखक का कथन युक्तियुक्त जँचता है।

बोधन पुजारी—लेखक बोधन तक को ऐतिहासिक व्यक्ति मानता है। उसका कहना है—"बोधन ब्राह्मण ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसके मारने वालों की बर्बरता का मैंने बहुत थोड़ा वर्णन किया है। उसके कुरूप का लाघवमात्र प्रस्तुत किया है, करना पड़ा।"

सिकन्दर लोदी—दिल्ली का तत्कालीन बादशाह बहलोल लोदी का पुत्र सिकन्दर लोदी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति है, इसमें सन्देह की बात ही नहीं है। ग्वालियर पर उसने पाँच बार आक्रमण किये पर असफल रहा। उसने आगरा बसाया कि ग्वालियर जीत सके, नरवर पर उसने आक्रमण करके नगर

ग्रौर मूर्ति का विध्वंस किया, सब ऐतिहासिक है।

महमूद बघर्रा—वर्मा जी लिखते हैं–"गुजरात का महमूद बघर्रा नित्य जितना भोजन करता था यह फारसी की तारीख 'मीराते सिकन्दरी' में दर्ज है। इलियट ग्रौर डासन ने इसका ग्रनुवाद किया है।" ग्रतः बघर्रा तो ऐतिहासिक व्यक्ति है ही, इसके भोजन के विषय में वर्मा जी लिखते हैं—"कलेवा के ग्रलावा बघर्रा दिनभर में एक मन गुजराती वजन भोजन करता था, जो इस गये-गुजरे जमाने में बीस सेर के बराबर होता है।" यद्यपि उसके भोजन का विशाल परिमाण कल्पना ग्रौर ग्रतिशयोक्ति लगता है किन्तु जब यह घोर ऐतिहासिक तथ्य है तो लेखक इसकी उपेक्षा कैसे कर दे! बघर्रा कलेवा में १०० केले, १ सेर शहद, १ सेर मक्खन ग्रौर एक सुराही पानी पीकर मुश्किल से दोपहर तक का समय काटता था। फिर भोजन चाहिये उसे शाम को, खाकर सोता था, किंतु पलंग के चारों ग्रोर चावलों से भरे थाल रखे रहते थे, जिन्हें भूख लगने पर ऊँघते-ऊँघते वह सफाचट कर जाता था।

स्पष्ट है कि बघर्रा उसका पूरा वृत्तान्त ऐतिहासिक है।

मालवा का सुल्तान गयासुद्दीन ग्रौर उसका पुत्र नसीरुद्दीन दोनों एतिहासिक व्यक्ति हैं, नसीर ने ग्रपने पिता को विष दिलवा दिया था। इसके पन्द्रह हजार रानियाँ थीं, घोर विलासी था यह। वर्मा जी लिखते हैं–"मालवा सुल्तान नसीरुद्दीन की पन्द्रह हजार बेगमें थीं–राज्य इसने पाया था, वासनाग्रों की तृप्ति के लिये बाप को जहर देकर। जब लगभग १०० वर्ष पीछे मुगल बादशाह जहाँगीर मालवा की राजधानी माँडू गया ग्रौर उसने नसीरुद्दीन के करिश्मों का हाल सुना, तब उसको इतना क्रोध ग्राया कि नसीरुद्दीन की कब्र उखड़वा डाली ग्रौर उसकी हड्डियों को जलवा दिया। "नापाक था, नापाक था वह!!" जहाँगीर ने कहा।"

विजय जङ्गम—यह लिङ्गायत था। लेखक इसे भी ऐतिहासिक बताता है। "विजयजंगम लिङ्गायत मानसिंह का मित्र था। मानसिंह ने इससे भी कुछ पाया तो ग्राश्चर्य नहीं।"

राजसिंह कछवाहा—का व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक है। सिकन्दर ने इसको

नरवर का किला दे दिया था; क्योंकि सिकन्दर की युद्ध में इसने बड़ी सहायता की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मृगनयनी एक विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है, इसके मुख्य पात्र तो सबके सभी ऐतिहासिक हैं। वैसे अधिकांश ऐतिहासिक हैं ही। वर्मा जी स्वयं लिखते हैं—"उपन्यास में आये हुए सभी चरित्र थोड़ों को छोड़कर ऐतिहासिक हैं।"

लेखक ने जान-बूझ कर विशेष आँकड़े नहीं दिये हैं क्योंकि उनकी आवश्यकता नहीं थी। वैसे लेखक ने सब बातों के निश्चित आँकड़ तक खड़े किये हैं, यह बात उनके कथन से स्पष्ट हो जाती है—"कुछ पाठक चाहेंगे कि मैं तत्कालीन आर्थिक स्थिति समझने के लिये आँकड़े दूँ, परन्तु अनेक पाठक कहानी चाहेंगे, इसलिये अब कहानी, बाकी फिर कभी।"

इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि मृगनयनी एक ऐतिहासिक उपन्यास है। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का जो चित्र लेखक ने दिया है वह भी अधिक से अधिक इतिहास सम्मत है।

'मृगनयनी' हिन्दी का सवश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सुबह के भूले

प्रश्न—श्री इलाचन्द्र जोशी द्वारा लिखित 'सुबह के भूले' उपन्यास का संक्षिप्त कथा-सार लिखिए।

उत्तर—जीवन की नित्य-प्रति घटने वाली घटनाओं तथा तृतीय श्रेणी के समाज को आगे रखकर श्री जोशी ने इस उपन्यास को सँवारा है। उपन्यास का कथा-प्रसंग बम्बई जैसे नगर से सम्बन्ध रखते हुए भी सर्वांश में गरीब और घृणित मुहल्ले से सम्बन्ध रखता है। प्रारम्भ में सुदूर युक्त प्रदेश के ठेठ देहात का मजदूर बैजनाथ बम्बई आता है और दूध के व्यवसाय से अपनी रोटियाँ चलाने की फिक्र करता है। कुछ पैसे हाथ में आने पर वह गाँव लौटता है और वहाँ से अपने साथ एक स्त्री को ले आता है। उसके साथ एक तीन साल की बच्ची भी होती है। एक दिन अपनी ही भांति अपना देश छोड़ कर बम्बई आने वाले निराश्रित महावीर से वह अपनी कहानी सुनाता है। वैजनाथ के आश्रय में महावीर को बंधुत्व की झलक मिली थी अत: वह मनोयोग के साथ उसकी कहानी सुनता है। महावीर स्वयं अब तक कुँवारा है। बैजनाथ वह सारी बातें सुना जाता है कि वह किस प्रकार बम्बई का आकर्षण बता कर उसे यहाँ लाया। आज 'झमिया' उतनी पत्नी है।

समय-चक्र में महावीर की उन्नति तीव्रता अपनाती है। दूध के व्यवसाय में वह बैजनाथ से अधिक सफल रहता है। थोड़े ही दिन में—उसके पास इतनी गाय-भैंसे हो जाती हैं जितनी बैजनाथ के पास नहीं। इसी बीच एक दुर्घटना घटती है। एक दिन तीन बजे रात्रि में बैजनाथ भैंस का दूध निकालते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है। औषधि और उपचार का भी अवसर नहीं मिलता। महावीर भी दौड़ा आता है किन्तु दो बूँद आँसू गिराने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता। झमिया पर तो दु:ख का पहाड़ टूट पड़ता है। उसकी आँखों में अन्धकार फैल जाता है। वैधव्य की स्थिति में बैजनाथ के साथ भग

कर वह बम्बई आई, अब इस विपत्ति में वह क्या कर सकती है ? किन्तु महावीर ऐसे अवसर में उसे हृदय से सहारा देता है । बैजनाथ का सारा कार-बार वह स्वयं परिश्रमपूर्वक चलाता है । झमिया और उसकी अबोध बच्ची गुलबिया महावीर का सहारा पाकर किसी भी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करती । महावीर के लिये गुलबिया अपनी बच्ची से बढ़कर होती है, वह झमिया के प्रति भी आदरणीय भाभी का कर्तव्य पूरा करता है ।

बच्ची गुलबिया दिन भर अपने नौकर के लड़के किशन के साथ मिट्टी के घरौंदे बनाती और बिगाड़ती है । अबोध बचपन में भी किशन के साथ वह ऐसी समस्याओं पर उलझती है कि राम बड़े हैं या राम के पिता दशरथ ? बेटा बाप से बड़ा कैसे हो सकता है—गुलबिया की बुद्धि इसे स्वीकार नहीं कर पाती ।

इतना ही क्यों एक दिन कुछ बच्चियों को स्कूल पढ़ने जाते देख उसके मन में भी स्कूल जाने की इच्छा होती है । झमिया भी सोचती है जब उसके यहां हिसाब-किताब लिखने वाले की लड़की स्कूल में पढ़ती है तो वह भी महावीर से कहेगी कि वह बच्ची को स्कूल भेजे । वह अपना मन्तव्य महावीर के सामने रखती है, गुलबिया के स्कूल जाने की व्यवस्था हो जाती है । गुलबिया का चाचा आज भी गुलबिया को अपने कलेजे का टुकड़ा समझता है । यह बात दूसरी है कि झमिया के हठ में पड़कर वह विवाहित जीवन में आ गया है । महावीर का विवाह मालती के साथ स्वयं झमिया ने कराया है । महावीर कभी विवाह के लिये तैयार नहीं हुआ । झमिया की इच्छा के आगे उसे सिर झुकाना पड़ा । मालती की विद्वेषभरी बातों और व्यवहारों से वह दिनोंदिन अपनी भाभी और बच्ची के प्रति और भी आकृष्ट होता गया । महावीर को अपने कर्तव्य से मालती डिगा नहीं सकती । गुलबिया के लिये महावीर अपने को कभी संकीर्ण हृदय नहीं बना सकता ।

उधर गुलबिया की प्रतिभा स्कूल में जाकर और भी चमक उठती है। थोड़े ही दिनों में गुलबिया सम्पूर्ण स्कूल पर अपनी धाक जमा लेती है । उसका गुलबिया नाम—उसे ठेठ देहाती नाम जँचता है । वह अपनी अध्यापिका से कहकर अपना नाम गिरिजादेवी करवा लेती है। अब तो उसे अपने

बाल्यकाल के साथी किशन की याद भी नहीं आती, एक प्रकार से वह किशन की उपेक्षा करती है। शिक्षा में उत्तरोत्तर वृद्धि क्या होती है, गिरिजा को अपने रहन-सहन और व्यवहारों में भी उच्चता लाने की बात सूझती है। उसे अपना घर भी गंदा जंचता है। गिरजा की स्थिति उस पक्षी की स्थिति कही जा सकती है, जो अपने समाज से तो दूर उड़ चुका है किन्तु उसे अपने पुराने जीवन की कुछ याद शेष है। एक दिन वह अपने चाचा—महावीर से कह कर किशन को भी किसी स्कूल में पढ़ने को भेजने की बातें सोचने लगी। वर्णमाला का अभ्यास तो वह किशन को स्वयं करा चुकी थी। किशन के पिता जग्गू ने पहले तो इस बात के लिये तैयार नहीं होना चाहा कि वह अपने लड़के को स्कूल भेजे किन्तु जब महावीर ने उसे समझाया-बुझाया और पढ़ाई का का खर्च अपने सिर लेने की बात कही तो वह तैयार हो गया।

किशन के आगे एक नई दुनिया उद्घटित हो गयी। वह अपने मन में आदि काल से कितने स्वप्न संजोता आया है। अक्षर-ज्ञान होने के दिन से तो उसकी चिन्तन-शक्ति और भी तेज हो गई। उसके सिर तो पढ़ाई का भूत जैसा चढ़ गया। वह गिरिजा के यहाँ हिन्दी की जो भी पुस्तक पाता, उसे उठा कर ले जाता और एकान्त में बैठकर पढ़ने लगता। यदि किसी समय वह देखता कि गिरिजा को अवकाश है तो उसके पास ही बैठकर पढ़ने लगता। फिर भी उसे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि गिरजा या तो स्वयं अपने अध्ययन में व्यस्त रहती है या अपनी संगिनियों से बातें करने में लीन। वह किशन को टालने के लिये कह देती है—"फिर किसी समय आना किशन।" आखिर, किशन अपना उदास मुख लेकर चला जाता है। गिरिजा और गुलबिया के दो रूप उसके आगे आते हैं, गुलबिया तो उसके मन की चहारदीवारी में अभी तक बंधी है पर गिरजा दीवार को फाँद कर बाहर निकल गई। गिरजा का व्यक्तित्व उसके मन में सम्भ्रम पैदा करता है, सहज स्नेह का भाव नहीं। फिर भी उसका विद्रोही मन सोचता है—'चाहे मैं जिन्दगी भर छठे दर्जे में ही पड़ा रहूँ, स्कूल जाना नहीं छोड़ूँगा। मेरी मोटी बुद्धि घिसते रहने से कभी तो तेज होगी।

बी० ए० फाइनल में पहुँचकर गिरिजा अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के सहारे बम्बई के उन सम्भ्रान्त परिवारों में आने जाने लगी जो समाज में उच्चवित्त कहे जाते हैं। इसका फल यह हुआ कि आगे चलकर एम० ए० की पढ़ाई की कठिनता बताकर उसने महावीर और झमिया से इस बात की स्वीकृति ले ली कि वह अब से होस्टल में ही रहेगी। उसकी इच्छा-शक्ति के आगे भोले चाचा और निरीह अम्मा को हार माननी पड़ी अब वह निःसंकोच अपनी परिचित लड़कियों और महिलाओं को अपने यहाँ बुलाती, चाय पिलाती और हँसी-खुशी की बातें करती। शांता, मीना, शीला आदि उसकी सहेलियाँ उसके यहाँ आतीं और वह भी उनके यहाँ अक्सर जाती। उसके परिचय के क्षेत्र में आने वाले संभ्रान्त युवकों—मोहनदास, चन्द्रमोहन हेमकुमार—से तथा उसके साथ के दूसरे युवकों से भी उसका मिलना-जुलना अक्सर होता। अब वह नियमित रूप से सिनेमा जाती कभी होस्टल की लड़कियों के साथ, कभी परिचित युवकों के साथ। उसे अपना घर—टीन के शेड की चहार दीवारी—इतने दिनों तक जैसे किसी इस्पाती दीवारों वाले विराट जेल की तरह लगने लगा। वह कभी एकान्त में अपने कमरे की याद करती तो उसे वह महाकाल कोठरी के समान लगता। उस जेल से, उस कोठरी से छुटकारा पाकर अब वह फैशन की रंग-बिरंगी दुनिया में स्वर्गीय वातावरण का अनुभव करती है। यहाँ उसे सब कुछ अच्छा, सब कुछ नया, सब कुछ सुन्दर और मोहक लग रहा था। ऐसा अनुभव होता था जैसे बाहर की इस रंगीनी का न कहीं ओर है, न कहीं छोर और अन्तर के इस उल्लास का न कहीं आदि है और न कहीं अन्त। फिर भी गिरिजा की खुशी अधिक दिनों तक कायम न रह सकी। अपनी प्रतिभा, विद्या और रूप के सहारे भी वह सम्भ्रान्त समाज में कुछ ऐसा अनुभव करने लगी कि लोग उससे अधिक प्रभावित नहीं हो रहे हैं। कारण ढूँढने में वह प्रयत्नपूर्वक भी कारण नहीं ढूंढ सकी। एक दिन समुद्र के किनारे की सैर में अचानक हेम-कुमार ने इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया कि बड़े और सभ्य कहलाने वाले घरों के युवक-युवति यह सोच कर गिरिजा से घनिष्ठता नहीं बढ़ा सकते कि वह एक दूध बेचने वालीकी पुत्री है। उस दिन वह आसमान से गिरी।

आँखों के आगे अँधेरा छा गया। हेमकुमार ने कहा—"बात यह है गिरिजा जी कि हमारे देश के तथाकथित फैशनेबुल समाज का दृष्टिकोण बड़ा ही छिछला, बहुत ही संकीर्ण होता है। वे एक नकली दुनिया के नकली ही तौर-तरीकों की बन्दिशों में घिरे रहते हैं। मनुष्य की वास्तविक पहिचान उन्हें नहीं है, उसके व्यक्तित्व के भीतरी रूप को न तो वे पहचान ही पाते हैं और न पहचानने की रुचि ही रखते हैं। यदि बाहरी माप-दण्ड से किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर उन्हें नीचा लगता है तो उसके कारण वह व्यक्ति अपनी सभी भीतरी योग्यताओं के बावजूद भी उन्हें अत्यन्त हीन लगने लगता है।

"मुझे दुख है कि यह अप्रिय सूचना सबसे पहले आपको मुझसे मिली।" हेमकुमार ने अत्यन्त संवेदनात्मक स्वर में कहा—"पर मैं बहुत दिनों से अनुभव कर रहा था कि इस समाज के बीच में आपका वास्तविक स्थिति से अपरिचित और अनभिज्ञ रहना उचित नहीं है। इसलिये मैंने इस कड़वे सत्य की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया है। मेरी बात सुनकर आपका दुखी होना स्वाभाविक है। पर इस सम्बन्ध में मेरी आप से यह प्रार्थना है कि आप उस समाज को एक दम भूल जायँ।

इन्हीं बातों के दौरान में गिरिजा को सिनेमा-संसार में प्रवेश की सलाह हेमकुमार ने दी।

मार्ग तय करते हुए गिरिजा ने कहा—"मैंने सुना है कि फिल्मी दुनिया कुछ ऐसी चहार-दीवारियों से घिरी है कि उस चक्र-व्यूह के भीतर प्रवेश पाना कोई साधारण बात नहीं है।"

हेमकुमार बोला—"वह चक्र-व्यूह जिनके लिये है, उनके लिये है, आपके लिये नहीं। केवल आत्मविश्वासहीन, अयोग्य और अशक्त लोग ही उससे भीत होते हैं। योग्य और समर्थ लोगों के लिये वह छुई-मुई सिद्ध होता है। आप चलिये, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके प्रवेश करते ही वे दीवारें अपने आप, जैसे किसी जादू के बल से, आपके सम्मान में हटती चली जायेंगी। आपके लिये रास्ता छोड़ती जायेंगी......

"दो-एक दिन बाद सोचकर बताऊँगी।" तनिक गम्भीरता के साथ गिरिजा ने कहा।

घर लौट कर गिरिजा जैसे एक बार आत्मचिन्तन में लीन हो गई। "मुझे मेरी नीचता का बहुत उचित दण्ड मिला है"—उसने मन ही मन अपने को कोसते हुए कहा—"मैं इसी योग्य थी। चाचा ने असीम स्नेह वश मेरी सभी ज्यादतियों को सहन करते हुए, मेरे सभी दुराग्रहों को दुलराते हुए, पढ़ने-लिखने की पूरी सुविधायें देकर, मुझे उस हद तक शिक्षित बनाया और मैं मूर्ख की मूर्ख ही रह गई। बल्कि मेरी बुद्धि स्वाभाविक सीमा त्याग कर और अधिक भ्रष्ट हो गई। ठीक है, मेरी यही दुर्गति होनी चाहिये थी। मुझे यह बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिये कि जल्दी ही मुझे यह शिक्षा मिल गई। यदि कुछ ढील मुझे और मिली होती तो मैं न जाने पतन के किस गढ़े में जा गिरती। मैं बच गई······"।

उसकी आँखों में आंसुओं की झड़ी पर झड़ी बरसती चली जा रही थी।

हेमकुमार के सिनेमा-प्रवेश के प्रस्ताव पर भी वह बहुत कुछ सोच गई। वह मन ही मन कहने को बाध्य हुई, "एक फैशनेबुल समाज से तिरस्कृत होने के बाद अब मैं 'एक दूसरे फशनेबुल समाज' में प्रवेश करके पहले से भी अधिक तौहीन कराऊँ? मोर के परों की जगह बगुले के पर खोंस कर पहले से भी अधिक जग-हंसाई की पात्र बनूँ?"

फिर वह सोचने लगी कि दूसरा रास्ता भी कौन सा है? सोचते सोचते उसके मस्तिष्क की नसें थक गईं और वह सो गई।

पुर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार दो दिनों बाद हेमकुमार से उसकी भेंट हुई। रास्ते में हेमकुमार ने पूछा—"आपने मेरे प्रस्ताव पर कुछ विचार किया कुमारी जी!"

गिरिजा बोली—"हाँ, आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।"

"मुझे बहुत खुशी हुई, आपसे यह सूचना पाकर" प्रायः पुलकिल भाव से हेमकुमार ने कहा। "अगले शनिवार को मैं आपको एक प्रसिद्ध फिल्म

कम्पनी के प्रधान पुरुष के पास ले चलूँगा। सब बातें अच्छे ढंग से और अच्छी शर्तों पर तय हो जायेंगी। आप निश्चिन्त रहें। मेरी केवल एक ही प्रार्थना है, जिन महोदय के पास मैं आपको ले चलूँगा, आप उन्हें कोई निश्चित उत्तर तत्काल ही नहीं दें। सब कुछ सुनने के बाद यही कहें कि मैं सोचकर बताऊँगी। किसी भी शर्त को स्वीकृत और अस्वीकृत करने के पूर्व आप मेरी राय अवश्य लें। नहीं तो आप धोखा खा जायेंगी। यहां की दुनिया कुछ दूसरी ही है।"

"आप जसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगी। आप की राय के बिना मैं एक कदम भी आगे नहीं बढ़ूँगी। आप निश्चित रहें।"—गिरिजा ने कहा।

शनिवार के दिन गिरिजा यथासमय हेमकुमार के बताये स्थान पर उसकी प्रतीक्षा करने लगी। गिरिजा ने देखा कि स्टेशन का यह स्थान दूध बेचने वालों, दफ्तरों और स्कूलों में खाना पहुँचाने वालों, फिल्मों में काम करने वाले मजदूरों, नयी बनने वाली इमारतों में ईंट, मिट्टी, सीमेंट गारा ढोने वाली मजदूरिनियों की हड़बड़ी और ठेलपेल के कारण जो कोलाहल मच रहा है, उससे सारा स्टेशन एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूँज रहा है। ये सब लोग उसी जाति और उसी समाज के हैं जिससे मेरे रक्त का सम्बन्ध है और जहाँ से मैं जीवन-पथ पर आगे बढ़ी हूँ।' गिरिजा के भीतर के भी भीतर से यह आवाज सारे बाहरी संस्कारों की दीवारें तोड़ कर निकल पड़ी।

मजदूर और मजदूरिनियां किस प्रकार डिब्बों के भीतर ठुँसते चले जा रहे थे, यह दृश्य वह प्लेटफार्म के पास ही खड़े होकर एक-टक आंखों से देखने लगी। इसी बीच चार-पाँच भिखारियों, भिखारिनियों और भिखारी बच्चों ने — "ए माई, गरीब लाचार के ऊपर दया करो" कहते हुए उसे चारों ओर से घेर लिया। फुटपाथों पर अपनी सारी जिन्दगी बिता देने वाले इन अभागे बूढ़े, बच्चों, जवानों और स्त्रियों का जीवन वह पहले भी देख चुकी है। छुटपन से ही उनके प्रति उसके प्रति उसके मन में दया का भाव भी है फिर भी उनके सम्बन्ध में उस मार्मिक यथार्थता का अनुभव उससे पहले कभी नहीं किया, जिसका तीव्र अनुभूति आज उसके हृदय में निर्दयता से कचोटने

लगी। उसने अपना मनीबैग खोला और उसमें से कुछ रेजगारी निकालकर उन मंगतों में बाँट दीं और इस अनुभूति के साथ कि जो कुछ भी वह उन लोगों को दे रही है, वह नहीं के बराबर है, उससे उनकी समस्या हल नहीं हो सकता। उन पाँच भिखारियों के जाते ही क्षण भर में पाँच-सात और भिखारियों और भिखारियों के बच्चों ने उसे घेर लिया। "ए माई हमको भी, ए रानी हमको भी।" कहते हुए सब उसके चारों ओर चरखे के से एकतारा स्वर में एक विचित्र सम्मिलित राग अलापने लगे। मनीबेग से कुछ और रेजगारी निकाल कर गिरिजा ने बाँटना प्रारम्भ किया। भिखारियों के लिये यह बिल्कुल नवा अनुभव सामने आया कि कोई व्यक्ति मंगतों की भीड़ से घिर जाने पर भी उन्हें डाँटने-डपटने के बजाय शान्त भाव से, आन्तरिक सहृदयता का भाव अपनाते हुए, उन्हें कुछ-न-कुछ देता चला जाय।

"यह क्या तमाशा खड़ा कर रखा है आपने ?" घेरे को तोड़कर गिरिजा के पास पहुँचने का प्रयास करते हुए हेमकुमार की आवाज सुनाई पड़ी। तब कहीं गिरिजा का ध्यान भंग हुआ।

और दोनों ही भिखारियों के दल से दूर प्लेटफार्म पर घूमने लगे। "अच्छे लोगों के फेर में पड़ गई थीं आप।" हेमकुमार ने कहा।

"बेचारे बड़े ही दुःखी, बड़े ही दयनीय हैं। मेरी तो इच्छा होती थी कि मेरे पास जितने भी रुपये हैं, सब बाँट दूँ......।"

"तब बाँटा क्यों नहीं ?" हेमकुमार की आवाज में तीखापन उभर आया।

"मैं केवल इसलिये रह गई", हेमकुमार की आवाज के तीखेपन की ओर तनिक भी ध्यान न देते हुए गिरिजा बोली—"कि लोग मेरी यह दानशीलता देखकर निश्चय ही मेरी हँसी उड़ाने लगते।"

अन्त में हेमकुमार को अनुभव हुआ कि गिरिजा कितनी भावुक और कितनी करुण है। गाड़ी आई और दोनों ही प्रथम श्रेणी के डिब्बे के भीतर जा चढ़े। बातचीत के सिलसिले में हेमकुमार ने बताया कि ख्याति-प्राप्त तारिकाओं को एक फिल्म के लिये कितना मिलता है। उसने यह भी बताया कि प्रारम्भ में पचीस-तीस हजार रुपये से बात शुरू करेगा किन्तु आप चालीस

हजार से कम पर किसी भी हालत में राजी न हों।

फिल्म-लोक की कहानी समाप्त भी नहीं हुई कि अँधेरी-स्टेशन आ गया। दोनों उतर पड़े। स्टेशन के बाहर पहुँचकर हेमकुमार ने एक टैक्सी की और उससे निर्दिष्ट स्टूडियो चलने के लिये कहा।

दोनों स्टूडियो पहुँचे। हेमकुमार ने ही गिरिजा और स्टूडियो के अधिपति शंकरलाल का परिचय कराया।

हेमकुमार उसी स्टूडियो में काम करता था। उसे काम पर भेज कर शंकरलाल गिरिजा से बातें करने लगा। उसने पूछा—"हाँ, तो आप आजकल कहाँ हैं, क्या करती हैं?"

गिरिजा ने सहज भाव से उत्तर दिया—"मैं यहीं एम० ए० में पढती हूँ और होस्टल में रहती हूँ।"

"बड़ी खुशी हुई यह जानकर। अच्छा आप क्या यह बताने की कृपा करेंगी कि नृत्य और गीत में भी कभी आपकी दिलचस्पी रही है?"

गिरिजा ने अत्यन्त शान्त भाव से कहा—"जी हाँ, मैं जिस क्लब की सदस्या रही हूँ, वहाँ नृत्य, संगीत और नाट्य-कला को विशेष महत्त्व दिया जाता है। स्टेज पर भी मैंनें काम किया है।"

"बहुत खुशी हुई यह जानकर", शंकरलाल ने प्राय: पुलकित भाव मुख पर लाते हुए कहा। "अच्छा, देवी जी, आपका सबसे प्रिय विषय क्या है, क्या मैं जान सकता हूं?"

"एम० ए० में मैंने अंग्रेजी साहित्य को अपना विषय चुना है।" आधी दृष्टि से शंकरलाल की ओर देखती हुई गिरिजा बोली।

"ओह, यह तो आपने मेरे मन का विषय बतलाया। मुझे भी अंग्रेजी साहित्य से बहुत प्रेम है। टेनीसन का "ओड टू दी स्काईलार्क" आपने अवश्य ही पढ़ा होगा। कैसी सुन्दर कविता है। पढ़कर आदमी आकाश में उड़ान भरने लगता है।"

"जी, यह कविता टेनीसन की नहीं, शेली की है।"

"हाँ, हाँ, ठीक, ठीक! याद आ गया, यह शेली की कविता है। पर टेनीसन ने भी तो शायद कोई कविता इसी तरह की लिखी थी!......"

गिरिजा ससंकोच मंद-मंद मुस्कराती हुई, जान-बूझ कर चुप रही।

'बहरहाल' शंकरलाल बोले "यह बात आपके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है कि सापको साहित्य, संगीत और कला से प्रेम है। हाँ, तो देवी जी, सबसे जरूरी बात जो मैं आपसे जानना चाहता हूँ, वह यह कि फिल्मी दुनिया में भी आप कुछ दिलचस्पी लेती हैं या नहीं ?"

"मैं इधर फिल्मों में काफी दिलचस्पी ले रही हूँ।"

'आप हमारे किसी एक फिल्म में काम करना पसन्द करेंगी ?"

"अवश्य ! पर एक शर्त के साथ······" पक्के व्यापारिक ढंग से गिरिजा ने कहा।

"वह शर्त क्या है ?"

"मैं केवल प्रधान नायिका के रूप में ही अभिनय कर सकती हूँ।"

"ठीक है ! मैं स्वयं यही सोच रहा था।"

फिर चाय-पान के साथ कुछ इधर-उधर की बातें करते हुए शंकरलाल ने कहा—"मैंने सोचा था कि प्रारम्भिक परीक्षा लेने के बाद सोचूँगा कि आप से कंट्रेक्ट करना चाहिये कि नहीं पर इतनी ही देर में मैंने अपनी अन्तर्बुद्धि से जान लिया है कि आप से अधिक उपयुक्त व्यक्ति हमें नयी फिल्म के लिये नहीं मिलने का। इसीलिये मैं चाहता हूं कि आज ही सब बातें तय हो जायें। अच्छा तो आप अपने 'टर्म्स' बता दीजिये।

"पहिले आप ही बताइये" पक्के व्यापारी की तरह गिरिजा बोली।

"देखिये, देवी जी !" तनिक गम्भीर मुद्रा में शंकरलाल ने कहा—"मैं पहले ही कह चुका हूँ, मैं आपसे वहुत प्रभावित हुआ हूँ और आपके साथ कंट्रेक्ट करने के लिये उत्सुक हूं। पर एक बात आपको साफ बता दूँ—और वह आपके हित के लिये ही कि प्रारम्भ में हम आपको अधिक नहीं दे सकेंगे और न आपको ही अधिक की माँग करनी चाहिये। अभी आपको फिल्मी दुनिया में आना है।"

"मैं आपसे यही तो पूछती हूँ कि आप अधिक से अधिक कितना देना

चाहेंगे ?" तीखी, गम्भीर और पूरी दृष्टि से शंकरलाल की ओर देखते हुए गिरिजा ने कहा।

"पच्चीस हजार।"

"प्रधान नायिका को केवल पच्चीस हजार। चाहे कोई एक्ट्रेस नवीन ही क्यों न हो, वह जब प्रधान नायिका के रूप में अवतरित होने की योग्यता रखती है और उसे अपने ऊपर पूरा विश्वास है तो वह कदापि इतनी कम रकम पर राजी नहीं हो सकती।" कहते हुए गिरिजा को अपने आत्मविश्वास पर स्वयं आश्चर्य हुआ।

"तो आप कम से कम कितना चाहेंगी ?" शंकरलाल ने अपनी मीठी मुस्कान में कुछ खट्टापन लाते हुए कहा।

"मैं कम से कम चालीस हजार लूंगी। इससे कौड़ी कम नहीं। इससे कम रकम स्वीकार करना मैं अपने आत्मसम्मान के नीचे समझती हूँ।" उसके मुख पर प्रगाढ़ गांभीर्य फैल गया हालाँकि यह सोचकर उसके भीतर के किसी एक छिपे हुए स्थान में गुद्‌गुदी उठ रही है कि रकम के आँकड़ों को किस विशेष रेखा तक आत्मसम्मान कायम रहता है और उसके नीचे कैसे वह गिर जाता है, इस बात की माप-जोख उसने खूब की।

"तब अच्छी बात है, मुझे इस सम्बन्ध में सोचने के लिये एक दिन की मोहलत दीजिये। मैं आपकी स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हूँ।" शकरलाल ने कहा।

"तो मैं इस समय चलती हूँ। आप कृपया हेमकुमार जी को बुला दीजिये।" गिरिजा ने कहा—"और आप अपने निर्णय से दो-एक दिन बाद अवश्य ही हेमकुमार जी को सूचित कर दीजियेगा, ताकि मैं अधिक समय तक अनिश्चित स्थिति में न रहूँ।"

जब दोनों कार पर आ बैठे तब हेमकुमार ने पूछा कि शंकरलाल से उसकी क्या बातें हुईं और उसने क्या उत्तर दिया। सारी बातें सुनकर हेमकुमार ने अपना अनुमान बताया कि शंकरलाल उसकी शर्त मान लेंगे।

और वह दिन भी आया जब गिरिजा 'कंट्रैक्ट फार्म' पर हस्ताक्षर करके लौटी तब होस्टल में न जाकर सीधे घर पहुँची। उसके विचारों और व्यवहारों

में बहुत परिवर्तन आ गया। घर पहुँच कर वह मां के गले से लिपट गई। अब तक उसे झमिया से बातें करने की भी फुर्सत नहीं मिलती थी। माँ भी आश्चर्य में आ गई। उस समय तो झमिया के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उसने बताया कि अब वह पढ़ने के बजाय सिनेमा में काम करेगी, झमिया सिनेमा की दुनिया की कोई बात नहीं जानती है, वह तो यही सोच सकती है कि उसे काम करने की जरूरत कैसे पड़ गई। वह बोली—"तुम वहाँ क्या काम करोगी ? भगवान् की कृपा और अपने चाचा की बदौलत अभी तुम चार आदमियों को अपने यहाँ रख सकती हो। इस तरह की बात कभी भूल कर भी न सोचना बिटिया।"

गिरिजा के द्वारा आग्रह का जोर बढ़ता देखकर झमिया को कहना पड़ा—"मैं तो यह सब कुछ समझती नहीं। अपने चाचा से पूछ लो।" गिरिजा जैसा अब तक सोचती रही है—चाचा की सरलता से जिस प्रकार लाभ उठाती आई है, सिनेमा-प्रवेश पर भी उसे विशेष दिक्कत उठाने की बात नहीं आई। चाचा ने इतना ही कहा—तुम खुशी से जाओ। सिर्फ अपनी इज्जत बचाये रखना—एक बार मैं और यह बात तुम्हारे कानों में डाल देना चाहता हूं। अगर इज्जत में कुछ भी बट्टा आने का डर हो चालीस हजार क्या, चालीस लाख पर लात मार कर चली आना। इससे अधिक और मैं इस बारे में कुछ नहीं कहना चाहता।"

"बस चाचा, मैं आपके मन की बात समझ गई। मुझ पर भरोसा करें। कभी आपको धोखा नहीं मिलेगा।"

इसी दौरान में गिरिजा की भेंट किशन से भी हुई। किशन—गिरिजा का बाल्य-सखा किशन—आज पितृहीन होकर एक प्रेस में कम्पोजीटरी करता है। कई महीनों के बाद वह गिरिजा के सम्मुख हो सका है। जब वह काफी सयाना और जवान दिखाई देता है। उसके मुख पर एक स्निग्ध और सरस सहृदयता पूरी समा न सकने के कारण जैसे बरबस टपकी पड़ती है। गिरिजा ने कहा—"किशन तुम आ गये, यह अच्छा हुआ। मैं अभी तुमसे मिलने की सोच रही थी। आजकल क्या कर रहे हो ?"

"एक प्रेस में कम्पोजीटरी करता हूं" प्रारम्भिक चकाचौंध से सँभलते हुए किशन बोला।

"कितना अभ्यास कर लिया है ?"

"अब तो काफी अभ्यास हो गया है", आत्मविश्वास के साथ किशन ने कहा यद्यपि उसके मुख पर अभी तक संकोच की छाया थी।

"चलो उस कमरे में चलो, तुम से बहुत सी बातें पूछनी हैं।" कहती हुई गिरिजा कमरे की ओर बढ़ी। किशन भी संकुचित पगों से पीछे-पीछे चला।

कमरे में पहुँच कर भी किशन प्रथम चुप रहा। गिरिजा को ही पूछना पड़ा—"अच्छा तो किशन, तुम्हें यह नौकरी पसन्द है ? तुम खुश हो ?"

"हाँ।"

"अच्छा अब तो तुम्हारा हिन्दी का ज्ञान बहुत बढ़ गया होगा ?" गिरिजा बच्चों की तरह पूछने लगी।

"हाँ गुलबि···गिरिजा, अब मैं हिन्दी की अच्छी-अच्छी और बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ कर आसानी से समझ लेता हूँ।"

"बड़ी खुशी हुई यह जान कर" गिरिजा के स्वर से और मुख के भाव से अतिरिक स्नेह झलक रहा था।

क्षण भर चुप रह कर किशन बोला "जानती हो गिरिजा, मैं जटिल से जटिल भाषा में लिखी गई पुस्तकों की अस्पष्ट से अस्पष्ट पाँडुलिपियों को बड़ी आसानी से पढ़ लेता हूँ। कम्पोजिङ्ग में भी दूसरे कम्पोजीटरों की अपेक्षा मुझसे कम भूलें होती है।"

गिरिजा देर तक किशन को पुलकित दृष्टि से देखती रही, फिर बोली—"तुम्हें वेतन क्या देते हैं ?"

"अभी तो चालीस रुपया ही देते हैं, पर मैनेजर साहब ने कहा है कि जल्दी मेरी तरक्की हो जायगी। वह मेरे काम से खुश हैं और मुझे फोरमैन बनाने की सोच रहे हैं।"

"फोरमेन बनने पर तुम्हें क्या मिलेगा ?"

"पहले साल पचास मिलेगा, दूसरे साल में साठ मिलने लगेगा। ऐसा उन्होंने बताया है।"

"तुझे सन्तोष है इस नौकरी से ?"

"हाँ गिरिजा, मुझे कोई खास असन्तोष नहीं है। अभी तो मैं एक साधारण प्रेस में काम करता हूँ पर अब मुझे काम का ऐसा तजुर्बा हो गया है कि मैं जल्दी ही किसी बड़े प्रेस में काम करने की बात सोच रहा हूँ।"

"तुम्हारी वहां इज्जत तो निभ जाती है ?" गिरजा ने जाने क्या समझ कर अचानक प्रश्न किया।

"तुम्हारा आशय क्या है; मैं ठीक समझा नहीं।"

"मैं पूछ रही हूँ कि तुम पर वहां बात-बात पर डाँट-डपट तो नहीं पड़ती ?"

"नहीं—हाँ, कभी-कभी उन्होंने अवश्य मुझे डाँटा है। जब मैं पहले-पहले एक रगरूट की तरह वहां गया था तब मैनेजर मुझे डाँटते हुए भली-बुरी बातें कहा करते थे। फोरमैन भी मुझे खरी-खोटी सुनाया करता था।"

"और तुम चुपचाप सह लिया करते थे ? पलट कर कुछ भी नहीं सुनाया करते थे ?" गिरिजा के मुख पर सहसा एक अंधेरी छाया घिर आई।

"मैं कैसे सुनाता। मुझे अपना मतलब निकालना था। काम सीखना था।"

"और अब ? अब कैसा व्यवहार है उन लोगों का तुम्हारे प्रति ?"

"अब कोई कुछ नहीं बोलता।"

"अब क्या मैनेजर तुमसे आदर से बोलते हैं ?"

"आदर से कैसे बोलेंगे। मैं उनका नौकर जो हूँ। नौकर से भी क्या कोई आदर से बोलता है ?" गिरिजा की व्यावहारिक अज्ञानता पर किशन मुस्करा पड़ा।

सहसा किशन को एक बात याद आई जिससे गिरिजा को परिचित कराने की आवश्यकता वह महसूस करने लगा। वह बोला—"जानती हो गिरिजा, जब शाम को अपना काम पूरा कर कम्पोजीटर लोग घर जाने को तैयार होते हैं तब उनकी नंगाझोरी ली जाती है।"

"ऐसा क्यों करते हैं वे लोग ?" गिरिजा जैसे पीड़ित हो उठी।

"यह देखने के लिए कि कहीं कम्पोजीटर अपनी जेब में या टेंट में टाइप छिपा कर तो नहीं ले जाते।"

"किस तरह का टाइप ?"

"सीसे के बने छोटे-छोटे टाइप होते हैं, जिनमें अक्षर खुदे होते हैं। उन्हीं अक्षरों को जोड़कर, जमा कर मशीन में छापा जाता है। तभी किताब तैयार होती है।"

कम्पोजीटर उस टाइप से क्या करेंगे, ऐसा वे लोग क्यों नहीं सोचते ? उन बेचारों के पास मशीन कहाँ और किताब छापने की सामर्थ्य कहाँ ? यदि वे इतने सम्पन्न होते तो ऐसी जलील नौकरी ही क्यों करते ?"

"नहीं, यह बात नहीं है। उन लोगों को यह शक होता है कि कंपोजीटर लोग टाइप चुराकर किसी दूसरे प्रेस वालों के हाथ सस्ते दामों में बेच सकते हैं। सीसा वजनदार होता है और थोड़े में उसका वजन बहुत अधिक हो जाता है।"

"पर उन गरीब बेचारों पर इतना अविश्वास वे लोग क्यों करते हैं ? एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का इतना सा भी विश्वास नहीं कर पाता, यह बात क्या तुम्हें अचरजभरी नहीं लगती ? मनुष्य, मनुष्य का इतना बड़ा अपमान क्यों करना चाहता है ?"

किशन को चुपचाप स्तंभित भाव से बैठा देखकर गिरिजा फिर कहने लगी—"पर चिंता की कोई बात नहीं, किशन ! मैं तुम्हें कंपोजीटर नहीं रहने दूँगी। तुम्हें इस जलील नौकरी से बहुत जल्द मुक्ति मिल जायगी। तुम्हें इस योग्य बनाऊंगी कि तुम मानवता की इस निदारुण पीड़ा को मेरी ही भांति अनुभव कर सको।"

बात किशन की समझ में ठीक से कुछ भी नहीं आई और उसे यह पूछने का साहस ही नहीं हुआ कि वह किस उपाय से और किस रूप में उसे जल्दी ही इस स्थिति से उबारेगी।

"अच्छा गिरिजा, इस समय मैं जाता हूँ, फिर मिलूँगा," कहकर किशन उठ खड़ा हुआ। संकोच के साथ उसने दोनों हाथ उसकी ओर जोड़े।

"जा रहे हो ?" गिरिजा ने स्निग्ध मुस्कान मुख पर झलकाते हुए कहा—"अच्छी बात है, मिलते रहना। अब मैं यहीं हूँ।"

गिरिजा का जीवन अब घर में और सिनेमा—स्टूडियो में बीतने लगा। वह एक धीर साधिका की भाँति स्टूडियो में अपना कर्तव्य निभा रही थी। जिस प्रथम चित्र में वह प्रधान नायिका का काम कर रही थी उसका प्रधान नायक और था। गिरिजा का साथी हेमकुमार खल नायक का पार्ट निभा रहा था। सारे स्टूडियों में वही गिरिजा का आधार था।

प्रधान नायक और प्रधान नायिका की अनबन को लेकर लोग सशंक थे किन्तु गिरिजा अपने कर्तव्य में त्रुटि नहीं आने देना चाहती थी। उसे तो यह प्रथम चित्र अग्निपरीक्षा जैसा ज्ञात हो रहा था।

समय पर चित्र का प्रदर्शन हुआ और संपूर्ण देश में उसका स्वागत हुआ। गिरिजा के विरोधियों को मुँह की खानी पड़ी। अपने चाचा महावीर और मां भमिया को गिरिजा ने यह हर्ष संवाद सुनाया। गिरिजा को सुनकर आश्चर्य हुआ कि महावीर ने उसे फिर से चेतावनी दी कि अपनी इज्जत को बचाकर चलने का ध्यान वह बराबर रखे।

किशन का जीवन अब सर्वथा गिरिजा पर अवलंबित हो गया। गिरिजा ने उसे बताया कि प्रेस के काम से छुट्टी मिलने पर वह नियमित रूप से दो घंटे बैठकर शिक्षक के पास पढ़ेगा। शिक्षक का वेतन वह अपनी गांठ से देगी। सौ रुपये महीने पर एक एम० ए० पास शिक्षक उसने नियुक्त भी कर दिया। किशन पूरी लगन से हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में अपेक्षाकृत उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर जुट गया।

उधर गिरिजा ने दूसरे चित्र के लिए स्वयं एक कहानी तैयार की। उसमें बम्बई के फैशनेबुल समाज के कृत्रिम जीवन और सांस्कृतिक ढोंग का पर्दाफाश किया गया था। ऐसी मार्मिक व्यंग्य भरे दृश्य और घटनाओं का चित्रण किया गया था जिनसे उदासीन से उदासीन व्यक्तियों के प्राणों में भी एक नयी चेतना जागे बिना नहीं रह सकती थी और उस आत्मतुष्ट समाज के विरोधाभास में बम्बई के ही दीन-दरिद्रों, अनाथों, मरभुखों और श्रमिकों के घोर दुर्दशाग्रस्त और संघर्षमय जीवन की झाँकियां बड़ी ही कलात्मक संवेदना के साथ दिखाई गई थीं। दोनों परस्पर विरोधी तत्वों को एक सुन्दर

कहानी के सूत्र में ऐसे कौशल से संबद्ध किया गया था कि कथा-रस में कहीं भी फीकापन नहीं आने पाया था, बल्कि उत्तरोत्तर दिलचस्पी बढ़ती ही गई थी। नायक का चरित्र मोहनदास से बहुत मिलता-जुलता था। नायक प्रारंभिक अवस्था में अपने समाज की विकृतियों और ढोंगों के आल-जाल में बुरी तरह फँसा रहता है और बिना कुछ सोचे-विचारे, अपने परंपरागत जीवन की घिसी हुई लीक पर चला जाता है। उसे तोड़ने और अपने चारों ओर के बंधे हुए जीवन की धारा को बदलने की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, कल्पना ही नहीं जगती। यह होते हुए भी उस सीमित जीवन की एक-रसता से यह भीतर ही भीतर ऊबा हुआ सा रहता है। सुख की निर्विचित्रता से कोई प्राणशील अनुभूति उसके भीतर नहीं जग पाती। गतिशील जीवन की किसी तूफानी तरंग से उसके भीतर की निःस्पन्दता भी नहीं हिलती। दिन बीतते जाते हैं। सहसा किसी अज्ञात और अपरिचित क्षेत्र से एक ऐसी नारी उसके जीवन प्रांगण में प्रवेश करती है जो अपने साथ कुछ नयी अनुभूतियाँ, नयी प्रेरणाएँ और नयी चेतना लाकर उसके एकरस जीवन को एक मूलतः नयी भाव तरग से, तल से सतह तक हिलकोर देती है। वह उसके साथ घनिष्ठता स्थापित करने को अत्यंत उत्सुक हो उठता है। उस नव परिचित लड़की में फैशनेबुल समाज की कृत्रिमता का लेश भी नहीं है। उसके भीतर सब कुछ नया, सब कुछ ताजा और सब कुछ मौलिक है। वह जैसे जीवन से मूल उत्स के सहसा उठकर सीधे बंबई के कृत्रिम जीवन के बीच किसी तूफानी झोंके से आ पड़ी है। वह लड़की भी अपनी अनुभव-हीनता के कारण अपने अभ्यस्त जीवन से उकताकर, मोहवश फैशनेबुल समाज के कृत्रिम जीवन के प्रति आकर्षित हो जाती है और नायक के शिष्ट व्यवहार का बड़ा अच्छा प्रभाव उस पर पड़ता है। नायक को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर उसके अहम् की तृप्ति होती है और वह भी उसकी ओर खिच जाती है। धीरे-धीरे दोनों एक-दूसरे के निकट से निकटतर सपर्क में चले जाते हैं। इसी बीच फैशनेबुल लडकियाँ एक दुष्ट प्रकृति व्यक्ति की सहायता से नायिका के विरुद्ध षड्यंत्र रचती हैं। खलनायक एक जासूस की तरह लड़की के कुल और शील का पता लगाता है और फवस्वरूप सारे

समाज के आगे यह उद्घाटित कर देता है कि वह लड़की समाज के निम्नतर स्तर से आई है और उसके मां-बाप साधारण श्रमिक हैं जो लोहा पीटकर या पत्थर तोड़कर अपना गुजारा करते हैं। सब कोई मिलकर मौन षड्यंत्र द्वारा अपने समाज से लड़की को बहिष्कृत करने के प्रयत्न में जुट जाते हैं और नायक पर उसके विरुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने में कोई बात उठा नहीं रखते। नायक में अपने समाज के अनुरूप ही चारित्रक दृढ़ता का अभाव पाया जाता है। वह अपने समाज की सामूहिक निन्दा का पात्र बनकर भी लड़की का साथ देने की शक्ति अपने भीतर नहीं पाता। फलतः वह भी धीरे-धीरे उससे कतराकर अलग हो जाता है। लड़की—नायिका—प्रारंभ में कुछ दिनों तक अपने प्रति नायक की उदासीनता का कारण समझ नहीं पाती। बाद में धीरे-धीरे उसी समाज के एक सहृदय व्यक्ति से उसे वास्तविकता का पता चलता है। उसे अकस्मात् ऐसा धक्का पहुँचता है कि वह प्रारंभिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आत्मघात करने की बात सोचती है। पहला आवेग ठंडा पड़ जाने पर वह शांत हृदय से, यथार्थवादी दृष्टिकोण से सारी स्थिति पर विचार करती है। उसके बाद वह धीरे-धीरे अपने ही पराक्रम से अपने जीवन के विकास के प्रयत्नों में जुट जाती है। जिस सामाजिक स्तर से वह जीवन में आगे बढ़ी, उस स्तर के प्रति अवज्ञा—बल्कि विद्वेष—का भाव उसके मन से हट जाता है और वह आजीवन उस स्तर के उपेक्षित प्राणियों के जीवन की परिस्थितियों को ऊँचा उठाने और उन्हीं की सेवा में अपने जीवन को खपा देने का व्रत स्वीकार कर लेती है और एक दिन ऐसा आता है जब वह आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से इस योग्य हो जाती है कि अपने व्रत के अनुसार अपनी योजना को कार्य रूप में परिणत कर सके। वह एक ऐसी शिक्षा संस्था खोलती है, जिसमें निम्नतर स्तर के दीन-हीन, असहाय और अशिक्षित लोग निःशुल्क शिक्षा पा सकें। उस शिक्षा का स्वरूप भी वह ऐसा निर्धारित करती है जो उस उपेक्षित जनता में ज्ञान-प्रचार के साथ-साथ आत्म-गौरव की भावना भर सके। धीरे-धीरे सारे देश में उसकी शिक्षा संस्था एक आदर्श संस्था के रूप में विख्यात हो जाती है और तब, वह नायिका, जो एक दिन फैशनेबुल

समाज द्वारा उपेक्षित—बल्कि विस्मृत–हो चुकी थी, उसी समाज के बने हुए नेताओं और नेत्रियों द्वारा संमानित होने लगती है और एक दिन वह भी आता है जब नायक उसकी ख्याति से मुग्ध होकर उसके पास गिड़गिड़ाता हुआ आता है और वह उसे खरी-खरी बातें सुनाकर उसे तिरस्कृत कर अपने और अपने समाज के प्रति प्रदर्शित किए गए तिरस्कार का बदला चुकाती है। नायक के पश्चात्ताप और ग्लानि का ठिकाना नहीं रहता। अंत में नायिका उसे क्षमा कर देती है।

गिरिजा ने कहानी का नाम रखा—"सुबह के भूले।" इस बार उसने पिछली फिल्म से भी अधिक मनोयोग पूर्वक काम किया। निर्देशन के संबंध में सावधान रही। गीतों की नयी-नयी सम्मिलित और समन्वयात्मक गीतों की उद्भावना उसने की। शास्त्रीय गीतों का मूल आधार लेकर उनमें विविध प्रान्तों के विभिन्न लोक गीतों और विदेशी गीतों का पुट इच्छानुसार देकर उसने कई प्रयोग किए। प्रत्येक अभिनेता और प्रत्येक अभिनेत्री के भीतर वह बराबर यह भावना भरती रही कि वे कहानी के मूल भाव को—उसकी आत्मा को—अभिनय के पहले पूर्णतया हृदयंगम कर लें और तब उसी भावना की आंतरिकता से प्रेरित होकर अभिनय करें।

कहना नहीं होगा कि गिरिजा ने फिल्म की सफलता के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। कई दृश्यों की शूटिंग तो दोबारा करनी पड़ी। इस कम्पनी का खर्चा तो अवश्य बढ़ा, पर कुल मिलाकर जो चीज बन कर अन्त में सामने आई, वह वास्तव में क्या टेकनीक, क्या आदर्श और क्या लोकप्रियता—सभी दृष्टिकोणों से अद्वितीय सिद्ध हुई। इस बार की सफलता के आगे पिछली फिल्म की सफलता नण्य लगने लगी। देश भर के फिल्मी पत्रों और फिल्म प्रेमी जनता में एक मात्र उसी की चर्चा होने लगी।

समय बीतता गया और गिरिजा अभिनेत्री, निर्मात्री और निर्देशिका—इन तीन पदों को बड़ी योग्यता से संभालती हुई नयी-नयी महत्त्वपूर्ण फिल्मों के निर्माण कार्य में जुटी रही। हेमकुमार ने उसे यह सुझाया कि वह स्वयं अपनी एक स्वतन्त्र कम्पनी खोल ले। इस प्रकार उस पर किसी का दबाव नहीं रहेगा और लाभ भी बहुत अधिक होगा। पहले तो गिरिजा राजी न हुई पर बाद

में वह इस पर तैयार हो गई और उन अभिनेता और अभिनेत्रियों को लेकर जो फिल्म व्यवसायी कम्पनियों से तंग आ चुके थे—गिरिजा ने एक लिमिटेड कम्पनी खोल ली। उसने स्वयं काफी शेयर खरीदे और वह कम्पनी की मेनेजिंग डाइरेक्टर बन गई। पहली फिल्म का नाम 'अखण्ड ज्योति रखा गया। उसमें जड़ समाज के भीतर छिपे उन उन्नत प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया (और उन्हें विकास की ओर उन्मुख करने के सुझाव उपस्थित किए गये) जो समाज के निम्नस्तर के लोगों के हृदय में निहित तो अवश्य हैं, पर जिन्हें सचेत रूप से, सुसंगठित उपायों से आगे बढ़ाने का कोई प्रयत्न कभी उस समाज के कर्णधारों की ओर से नहीं होता। उनके जड़ और निस्पन्द जीवन में सचेष्टता, गतिशीलता भरने और उनकी मूल रचनात्मक शक्तियों के बीजों को उपयुक्त मिट्टी में लाकर बिखेरने की आवश्यकता महसूस करते हुए यह फिल्म तैयार करने की बात सोची गइ।

फिल्म जन-जीवन से सम्बन्धित थी, इसलिए गिरिजा ने उसके प्रधान नायक की भूमिका के लिये किशन को चुना। उससे अधिक उपयुक्त पात्र इस सम्बन्ध में कोई दूसरा नहीं हो सकता, यह धारणा गिरिजा के मन में बद्ध-मूल हो गई थी। देहाती ओर शहराती जीवन के समन्वय से फिल्म की कहानी के प्रधान चरित नायक का निर्माण हुआ था। किशन के चरित्र का मेल उससे बहुत बैठता था।

किशन अब पहले वाला किशन नहीं रह गया था। हिन्दी की शिक्षा वह पहले ही पा चुका था। पिछले कुछ समय से शिक्षक की और गिरिजा की सहायता से अंग्रेजी का ज्ञान भी उसने काफी बढ़ा लिया था, वह गम्भीर चिन्तक बन गया।

फिर भी किशन को प्रधान नायक बनाने के कार्य को कम्पनी के अन्य लोगों ने दुःसाहस कहा। गिरिजा ने किसी की आपत्ति पर ध्यान नहीं दिया। वह जानती थी कि वह क्या कदम उठा रही है और क्यों उठा रही है।

एक दिन उसने एकान्त में किशन से घर पर कहा—"देखो किशन, इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि तुम मेरे-अपने 'उत्तरदायित्व को बड़ी गम्भीरता से महसूस करो। तुम्हारे लिये यह काम बिल्कुल नया है। तुम्हें

फिल्मी दुनियां के अभिनय क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी आदर्श उपस्थित करना है। यह बात तुम्हें एक क्षण के लिये भी नहीं भूलनी होगी।

कुछ क्षणों तक एकान्त भाव से गिरिजा की ओर देखते रहने के बाद किशन धीरे से बोला—मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ गिरिजा, कि मैं उत्तर-दायित्व को समझता हूँ और अपनी ओर से किसी भी प्रयत्न में कोई कमी नहीं आने दूंगा। बाकी मेरी योग्यता कितनी है, यह तुमसे छिपा नहीं है।"

"पर तुम्हें अपनी योग्यता के प्रति इतना अविश्वास क्यों है ?" कहती हुई गिरिजा मीठे व्यंग के साथ मुस्कराई।

अपनी लज्जा दूर करते हुए किशन ने कहा—"नहीं गिरिजा यह बात नहीं है। अपनी उस कुंठा पर मैं विजय पा चुका हूं और मेरी उस विजय का मूल-कारण तुम्हीं हो। तुम्हीं ने उसके लिये बल दिया और तुम्हीं ने बुद्धि।"

गिरिजा ने आज पहली बार किशन का मूलतः बदला हुआ रूप देखा, जिसके लिये वह तैयार नहीं थी। उसका व्यंग्य और परिहास का मनोभाव भीतर ही भीतर कपूर की तरह न जाने कहाँ विलीन हो गया। बड़े ही मीठे स्वर में उसने कहा—"तुम इस तरह क्यों सोचते हो किशन ? तुम यह क्यों भूल जाते हो कि मेरे जीवन में ऊपर से चाहे कैसा भी बदलाव क्यों न आया हो, मैं अपने अन्तर के अन्तर में वही गुलबिया हूँ जिसे तुम छुटपन में कभी डाँटते थे, कभी फटकारते थे, कभी अच्छे-अच्छे किस्से सुनाते थे। उस गुलबिया को तुम आज क्यों भूल गये हो ? यह मैं सच्ची बात सीधे ढंग से तुम्हें बता रही हूं। यह ठीक है कि जीवन की सीधी राह में चलते हुए गुलबिया कुछ वर्षों के लिये भटक गई थी, पर सुबह की भूली हुई वह गुलबिया फिर से अपनी जगह पर लौट आई है। यह सूचना तुम्हें नहीं मिली यह आश्चर्य की बात है······।"

किशन एकान्त मनोयोग के साथ देख रहा था कि गिरिजा की भाव-मग्न आँखों में एक बार ही तीव्र, किन्तु स्निग्ध सरस और सुकोमल वेदना उमड़ आई थी। अपने अन्तर की सारी शक्ति बटोर कर वह एकाएक बोल उठा—"सचमुच गिरिजा, सचमुच ? क्या सुबह की भूली गुलबिपा

सचमुच शाम को घर लौट आई है ? एक बार फिर से अपना अन्तर टटोल लो गिरिजा, जिससे मैं दुबारा फिर किसी भ्रम में न रहूं ।"

गिरिजा हँस पड़ी, बोली—"पागल, कहीं के ! तुम अब भी मुझसे धोखे की आशंका करते हो ? यह जान लो कि मैं दुनिया को धोखा दे सकती हूँ—मैंने दिया भी है—पर तुम्हें धोखे में रखने की बात एक क्षण के लिये भी मैं सोच ही नहीं सकती, यह भी क्या तुम्हें बताना होगा ? उल्टे डर यह है कि कहीं तुम स्वयं अपने आप को धोखा न दो ।"

"कैसे ?" विस्मय भरी उत्सुकता से किशन ने पूछा ।

"इस कारण कि सुबह की भूली गुलबिया तो किसी तरह घर पहुँच गई है पर किशन अभी भटक रहा है, ऐसा मुझे लगता है ।"

"किशन भी लौट चुका है गुलबि···गिरिजा, तुम्हें यह कैसे विश्वास दिलाऊँ ! और आज ही लौटा है ।······

"लौटा नहीं है, लौट रहा है, ऐसा कहो । यदि लौटकर आ गया होता तो गुलबिया कहते-कहते रुक कर मुझे गिरिजा कह कर न पुकारता ।"

किशन के मुख पर मुक्त मुस्कान अंकित हो उठी । "हो सकता है, तुम्हारी बात का विरोध मैं नहीं कर सकता । पर इतना तो निश्चित ही है कि वह भटकने के बाद अब लौट रहा है ।"

किशन और गुलबिया—दोनों ने आज फिर से एक दूसरे को समझा ।

हेमकुमार अब तक गिरिजा के लिये कितनी और कैसी भावनायें पालता रहा, उन्हें प्रकट करने के लिये वह भी व्याकुल हुआ । 'अखण्ड ज्योति' की जब प्रारम्भिक शूटिंग चल रही थी तब एक दिन हेमकुमार ने गिरिजा से कुछ निजी और व्यक्तिगत बातें करने के लिये एक घण्टे का समय चाहा । समय की कमी जानते हुए भी अन्त में गिरिजा ने संध्या को ६ बजे हेमकुमार के निवास पर ही मिलने का वचन दिया । हेमकुमार के घर वह स्वयं था और उसकी माँ । परिवार में एक नौकर के अतिरिक्त अन्य कोई न था ।

निश्चित समय पर गिरिजा हेमकुमार के यहाँ पहुँची । दोनों ही ड्राइंग-रूम में बैठे । माँ कही बाहर गई थी, नौकर ट्रे में चाय दे गया ।

दो घूंट पीने तक कमरे में सन्नाटा रहा । फिर हेमकुमार ने धीरे से कहना

शुरू किया—"मैं एक जरूरी बात की सूचना देना चाहता था कुमारी जी। आज तक कभी कुछ कहा नहीं आज एक कारण आ पड़ा है। किशन को आप ने जो प्रधान नायक की भूमिका दी है, उसका औचित्य किसी के आगे स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। विरोध करने वाले तो विरोध करने वाले हैं, पर जो लोग विरोध नहीं करना चाहते, उन्हें भी आपके इस चुनाव का कोई कारण समझ में नही आता है।"

"उन विरोध करने वालों में से क्या किसी एक का नाम लेने की कृपा आप करेंगे ?" चाय के प्याले को नीचे रखते हुए गिरिजा ने कहा।

"उदाहरण के लिये, आप मुझे ही ले लीजिये"—उसने आधी दृष्टि से गिरिजा की ओर देखते हुए कहा, "मैं आपसे आन्तरिक क्षमा चाहते हुए यह प्रकट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं स्वयं यह नहीं सोच पाता हूँ कि किशन की किस विशेषता के कारण आपने 'अखण्ड ज्योति' का प्रधान नायक चुना है ?"

गिरिजा एक परीक्षक की दृष्टि से देखते हुए हेमकुमार से बोली—"देखिये हेमकुमार जी, किशन के लिये मेरे हृदय में एक बहुत कोमल स्थान है। फिर भी केवल इसी कारण मैं उसे प्रधान नायक नहीं बनाती, उसके भीतर जो अभिनय कला के बीज है वे बहुत पहले से वर्तमान हैं। मैं पिछले कई महीनों से उन्हीं छिपे बीजों के विकास के प्रयत्नों में जुटी रही हूँ। मैंने जो चुनाव किया है, उसका अन्तिम परिणाम देखे बिना ही जो लोन आलोचनायें कर रहे हैं, उन धन्यात्माओं से अभी मुझे कुछ कहना नहीं है।"

हेमकुमार को अब अपने मन के भावों को स्पष्ट करना ही पड़ा। किसी प्रकार वह अपने को इस कथन के लिये तैयार कर पाया कि वह गिरिजा को जीवन-संगिनी रूप में देखने की लालसा आदिकाल से पालता रहा है।

गिरिजा को हेमकुमार के कथन से आश्चर्य ही हुआ। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। वह बोली—"देखिये हेमकुमार जी, मैं अपने ऊपर आपका उपकार मानती हूँ। मुझे आज जो ख्याति प्राप्त हुई है, मेरी आर्थिक दशा में जो सुधार आया, उसमें आपका बड़ा हाथ है। आप मेरे लिये गुरुतुल्य पूजनीय हैं, मैं मन ही मन सदा आपकी पूजा करती हूँ। रही आपकी

जीवन-संगी बनाने की बात सो प्रचलित अर्थ में मैं अपना जीवन-संगी बहुत पहले चुन चुकी हूँ, आपसे परिचय होने से भी बहुत पहले। इसलिये उस विशेष अर्थ में मेरे जीवन-संगी बनने की बात आप सदा के लिये अपने मन से निकाल लें, वैसे मेरा आपका संग जीवन-व्यापी है।"

किशन गुलबिया के लिये सदा ही प्रधान नायक का पार्ट अदा करने वाला रहा। 'अखण्ड ज्योति' का प्रधान नायक बनकर उसकी नजर में वह कोई विशेष महत्व नहीं पा गया है। गुलबिया अब अपने को उसके सम्मुख एक दम स्पष्ट कर देने को तत्पर हो उठी। उसने किशन से आकर बताया—उसे आज कहे बिना जैसे रहा नहीं जाता था—बोली "उन्होंने मुझे क्या कहने के लिये बुलाया था जानते हो किशन ?" एक दबी हुई, अव्यक्त और रहस्यपूर्ण मुस्कान गिरिजा की आँखों के कोणों में खेल रही थी।

"मैं क्या सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हूँ जो दूसरे के मन की सभी बातें बिना सुने ही जान लूँ।" किशन के अन्तर में दबी हुई ईर्ष्या सहसा कुछ तीखेपन के साथ फूट पड़ी।

गिरिजा के द्वारा यह बताये जाने पर कि हेमकुमार की इच्छा उसे 'जीवन का साथी' बनाने की है, किशन इतना ही कह सका—"ओह समझा।"

"मैं इस विषय में तुम्हारी राय जानना चाहती हूँ" कटे पर नमक छिड़कती हुई गिरिजा बोली।

"मैं कौन होता हूं इस विषय में राय देने वाला" प्रायः रोने के स्वर में किशन ने गिरिजा की ओर बिना देखे कहा।

"तुम सब कुछ होते हो ! तुम्हें अभी अपने अधिकार का पता नहीं है, इसके लिये मैं दोषी नहीं हूं।" गिरिजा का गंभीर स्वर सामने आया।

"तो तुम सचमुच मेरे मन की रही-सही बात जानना चाहती हो गिरिजा, अच्छी बात है। पहले तो मेरे मन की स्थिति कुछ और थी किन्तु उस दिन अब तुमने मुझे बताया कि अब भी तुम मेरी वही गुलबिया हो तो मेरे मन की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। अब तो उस मन को शान्त रहने दो।"

"जानते हो किशन मैंने हेमकुमार जी को क्या जवाब दिया ?" अपनी बोली में स्नेह घोलती हुई गिरिजा बोली—"मैने उनसे कहा मैं बहुत पहले ही अपना जीवन-साथी चुन चुकी हूं, अब उसमें कोई बदलाव नहीं हो सकता।"

"क्या मैं जान सकता हूँ, तुम्हारा वह पहले का चुना हुआ जीवन-संगी कौन है ?" सब कुछ जानते हुए भी शंकित हृदय से किशन ने पूछा।

"अपने अन्तर से पूछो", गिरिजा का संक्षिप्त उत्तर था।

"सच गिरिजा ? तब क्या अब मैं निश्चित रूप से समझ लूँ कि इस सम्बन्ध में शंका और स्नेह के लिये कोई गुंजाइश नहीं रही।"

"अब भी यदि शंका करोगे तो तुम्हारे मन के इस पाप को विधाता भी शायद ही धो सके।" शान्त किन्तु दृढ स्वर में गिरिजा ने उत्तर दिया।

और 'अखण्ड ज्योति' की शूटिंग के बाद मरणासन्न झमिया को हार्दिक प्रसन्नता प्रदान करते हुए गिरिजा और किशन स्नेह-बंधन में बँध गये। विवाह की रस्म अवश्य बाकी रह गई। झमिया के लिये गुलबिया और किशन दोनों ही दो नेत्र थे। भाग्य के चक्र में पिसी झमिया का स्वास्थ्य तो न सुधरना था न सुधरा। महावीर की हार्दिक श्रद्धा और स्नेह का संबल पाकर भी भाभी दुनिया में रुक नहीं सकी।

गिरिजा के सभी सपने पूरे होते गये—हेमकुमार की अन्यमनस्कता के बावजूद भी 'अखंड ज्योति' फिल्म सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हुई। देश के कोने-कोने से बधाई के तार आये।

झमिया के विशाल चित्र के उद्घाटन के साथ ही मातृ-मन्दिर का उद्घाटन हुआ। मातृ-मन्दिर संस्था गिरिजा के हार्दिक स्वप्न की अन्तिम साढ़ी थी। देश को मातृ-मन्दिर ने नया सन्देश दिया, यह बताना व्यर्थ है।

और महावीर—झमिया का प्यारा देवर, गिरिजा और किशन को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला महामानव, अपनी हृदय-भावनाओं की भेंट चढ़ाते हुए, नेत्रों से दो बूँद अश्रु गिराते हुए, झमिया के विशाल चित्र के नीचे सिर टेककर निस्तब्ध रह गया।

प्रश्न २—निम्नलिखित मुख्य पात्रों की चरित्र-समीक्षा कीजिए :—
महावीर, झमिया, गुलाबिया, किशन।

उत्तर—महावीर का चरित्र एक कर्मठ मानव का चरित्र कहा जायगा। एक-आध बार महावीर के जीवन में दुर्बलता की छाया प्रकट होती है किन्तु वह अधिक देर तक टिकती नहीं। झमिया के प्रति महावीर सदा ही ईमानदार रहा है। झमिया के पति बैजनाथ से महावीर को प्रारम्भ में थोड़ा सहारा मिला था किन्तु उसके प्रतिदान में महावीर ने अपनी ओर से जो वस्तु भेंट की वह सभी के लिये सम्भव नहीं। महावीर ने अपना जीवन बैजनाथ की पत्नी झमिया और उसकी पुत्री गुलबिया के लिये न्यौछावर कर दिया। यह कहना कठिन है कि गुलबिया अपने पिता के जीवन में गिरिजा बन पाती। गुलबिया को गिरिजा बनाया महावीर ने—झमिया की भी जिंदगी—बैजनाथ के सहारे नहीं कटी, बम्बई में आकर झमिया पर जो वज्रपात हुआ उसे वह संभालने में सर्वथा असमर्थ होती यदि देवर रूप में महावीर अपना पुनीत कर्त्तव्य निभाने को तैयार नहीं होता। महावीर को पत्नी और बच्चे उतने प्यारे नहीं हुए जितना प्यारा उसके हृदय में गुलबिया के लिए जगा। भाभी झमिया—महावीर के लिये श्रद्धा की मूर्ति रही है, पत्नी का स्थान उसके हृदय में मात्र व्यावहारिक रहा है। महावीर की पत्नी मालती ने अपनी शक्ति भर उसे झमिया से विरक्त करने का यत्न किया किन्तु महावीर की दृढ़ता के संमुख उसकी कुछ नहीं चली।

गिरिजा के प्रगतिशील जीवन में महावीर एक पिता का कर्त्तव्य निभाता है। महावीर का धन उसके अथक परिश्रम का धन है फिर भी उसके हृदय में धन को लेकर कभी मोह नहीं हुआ। महावीर के जीवन मे श्रेष्ठ मानव का जीवन अतिव्याप्त रहा है। आदि से लेकर अन्त तक एक भी ऐसा अवसर नहीं ढूँढा जा सकता जिस अवसर में वह मानवता के स्तर से नीचे गिरा हो। उसका अर्द्ध-शिक्षित जीवन सदा ही प्रगति को महत्त्व देता रहा। भले ही वह प्रगति को समीप से समझने में समर्थ न रहा। कुल-मर्यादा का ध्यान तो उसे सबसे प्रिय रहा। उसकी गुलबिया—गिरिजा रूप में सिनेमा-प्रवेश के समय चालीस हजार रुपये मिलने की बात बताती है किन्तु उसकी आँखों में आकर्षण

के भाव नहीं आते, वह इतना ही कह पाता है—"तुम्हारी अगर यही इच्छा है तो यही सही—फिर भी एक बात का ध्यान रखना। अगर वहां के रँग-ढंग तुम्हें अच्छे न दिखाई दें तो फिर एक दिन भी वहाँ न ठहराना।" अपने भावों को स्पष्ट करते हुए महावीर ने यह भी कह दिया कि "यदि इज्जत में कुछ भी बट्टा लगने का डर हो तो चालीस हजार क्या चालीस लाख पर लात मार कर चली आना। इससे अधिक और मैं इस बारे में कुछ नहीं कहना चाहता।"

किशन के प्रति भी महावीर का स्नेह सदा ही करुण रहा है। किशन के जीवन को ऊपर उठाने के लिये महावीर कभी अन्यमनस्क नहीं हुआ।

महावीर की मानवता उस समय देवत्व प्राप्त करती है जब वह झमिया के उद्घाटित चित्र के सम्मुख आत्मविभोर अपना सिर टेक देता है। उसकी आँखों में आनन्दाश्रु ढुलक पड़ते हैं।

झमिया

विधवा नारी का जीवन अपनाकर झमिया लाखों तकलीफ सहती है। रोटियों के भी उसे लाले पड़ते हैं। नेहर या ससुराल कहीं भी कोई आश्रय-दाता नहीं मिलता, फिर भी वह दृढ़ रहती है। पुनर्विवाह का प्रश्न उसके सामने आता ही नहीं। समाज के नियमों के अनुसार वह अपना दूसरा विवाह कर सकती थी, कोई बुराई उसके सिर नहीं चढ़ती। किन्तु उसकी आत्मा इसके लिये साथ नहीं देती। फिर भी बैजनाथ उसे बम्बई भगा लाता है। जीवन में पहली बार वह अपनी दृढ़ता खोती है। भारतीय असहाय नारी के जीवन में दृढ़ता का क्या महत्त्व है यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो इस प्रकार बैजनाथ के साथ भगने में झमिया की विवशता ही प्रगट होगी। झमिया का अन्तर्द्वन्द्व इस चीज को लेकर सदा ही चलता रहा। बम्बई अकर थोड़े दिनों बाद ही बैजनाथ उसे फिर असहाय छोड़ स्वर्गवासी होता है। झमिया की आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, अब वह क्या करे, किस प्रकार अपना जीवन बिताए, कुछ समझ में नहीं आता। अविवाहित महावीर उसके सामने होता है किन्तु तीसरी बार वह

फिर से विवाह बन्धन में बँधे, महावीर की पत्नी बने, यह उसे किसी प्रकार अच्छा नहीं दीखता। झमिया महावीर की आँखों को भाषा समझती है फिर भी अपने को दृढ़ रखने का फैसला कर लेती है। थोड़ी देर के लिये महावीर के सम्मुख आई हुई चारित्रिक कमजोरी की छाया को झमिया बड़े ही कौशल से दूर कर देती है। वह एक आदर्श भाभी के रूप में ही महावीर को सन्तोष देती है। महावीर का सिर उसके सम्मुख श्रद्धा से नत हो जाता है। झमिया के प्रति महावीर की हार्दिक श्रद्धा, झमिया की दृढ़ता और निर्मल स्नेह कि कारण ही बढ़ती है।

झमिया एक अपढ़ और गाँव की नारी है। संस्कृति और सभ्यता को वह प्रगतिशीलता की दृष्टि से यदि नहीं देख पाती तो इसमें उसका दोष नहीं है। यही कारण है कि उसकी बेटी गुलबिया को माँ के विरोधों में चचा का सहारा लेना पड़ता है। झमिया अपने देवर के सामने विवश हो जाती है। महावीर के प्रति—अपने देवर के प्रति उसके हृदय में अगाध विश्वास है।

सहनशीलता की तो झमिया जैसे अवतार ही है। महावीर का विवाह कराने के बाद मालती का प्रवेश झमिया के परिवार में होता है, झमिया एक बार मालकिन से दासी बन जाती है। सारे दुर्व्यवहारों को सहते हुए भी वह यही चाहती है कि महावीर और मालती का दाम्पत्य-जीवन सुखमय रहे।

सम्पन्न अवस्था प्राप्त करके भी झमिया अपने को कभी सम्पन्न नहीं समझ सकी—उसमें कभी भी धन का विकार नहीं आया। अपनी एक मात्र बेटी गुलबिया का परिणय सम्बन्ध अपने ही सेवक के लड़के किशन के साथ वह सहर्ष स्वीकार करती है। किशन के प्रति भी उसके हृदय में वही वात्सल्य लहराता है, जो झमिया के लिये सुलभ है।

झमिया का चरित्र एक साध्वी भारतीय नारी का चरित्र कहा जायगा, इसमें सन्देह की गुञ्जायश नहीं।

गुलबिया

'सुबह के भूले' की कथा में गुलबिया का चरित्र मानव-हृदय के उत्थान पतन का चित्र प्रस्तुत करता है। गुलबिया में प्रतिभा की प्रचुरता बचपन

में ही पाई जाती है, अपने बाल-साथी किशन से—जो उससे उम्र में बड़ा है—वह बड़ी तत्परता से द्वन्द्व निभाती है। शिवजी और हनुमान बाबा की श्रेष्ठता सिद्ध करने में दोनों ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। किशन शिवजी का पक्ष जोरदार बनाना चाहता है तो गुलबिया अपने को हनुमान बाबा के पक्ष में रखती है। वह कहती है हनुमान बाबा बड़े वीर है, उनकी कृपा रहने से भूत-पिशाच का कोई डर नहीं रहता, वह भक्त के दुश्मनों को पल में नष्ट कर देते हैं। वह किशन के इस कथन को भला किस प्रकार मान सकती है कि हनुमान बाबा बिना लड्डू के मानते ही नहीं। किशन यह भी बताता है कि हनुमान जी शिव जी के पुत्र है—लड़का अपने पिता से कभी बड़ा नहीं हो सकता।

गुलबिया की प्रतिभा उसे परास्त नहीं होने देती; वह कहती है—"पुत्र होने से क्या होता है, रामचन्द्र जी दशरथ जी के लड़के थे, पर इस कारण क्या दशरथ जी राम से बड़े माने जाते हैं।"

फिर भी गुलबिया और किशन एक प्राण दो शरीर हैं। किसी के बिना किसी को चैन नहीं। लड़-झगड़ कर भी दोनों साथ हैं। जब तक गुलबिया गुलबिया रही वह किशन की रही। इसके बाद गुलबिया स्कूल पहुँचती है—पढ़ने-लिखने की ओर उसकी प्रगति होती है, दरिद्र बाप का बेटा किशन इस दौड़ में पिछड़ जाता है। आश्चर्यजनक कहानियां सुना-सुनाकर अपनी गुलबिया को मुग्ध करने वाला किशन के आश्चर्य के साथ गुलबिया की प्रगति देखता है। गुलबिया बढ़ती है बढ़ती जाती है। किशन पीछे छूट जाता है, बहुत पीछे।

गुलबिया किशन को ही पीछे छोड़ कर आगे नहीं बढ़ती, शिक्षा की प्रगति के साथ वह अपने देवता स्वरूप चाचा महावीर और निश्छलहृदया माँ को भी पीछे छोड़ देती है। बी० ए० की ऊंची शिक्षा उसे आधुनिकता के रंग में रंग देती है। वह एक बार अपने को प्रासादों में निवास करने वालों के दिल में मिलाने का स्वप्न देखती है, अपने पुराने और शेडनुमा घर से भी उसे घृणा हो जाती है।

मोहनदास और चन्द्रमोहन जैसे युवकों से उस का परिचय इसी दौरान

में होता है। गुलबिया अब गिरिजा कुमारी बन चुकी है। गुलबिया का अस्तित्व तो स्कूल जीवन में ही समाप्त हो गया। गुलबिया या गिरिजा—जो कुछ कहिये—जिस आशा को लेकर इस नवीन समाज में आई वह पूरी नहीं हुई। जब उन लोगों को यह पता चला कि गिरिजाकुमारी निम्न स्तर के समाज से सम्बन्ध रखती है, सभी का बर्ताव उसके प्रति बदल गया। उस समाज के परिचित साथियों में से केवल हेमकुमार ही अन्त तक उससे अपना सम्बन्ध बनाये रख सका। कहना नहीं होगा उसकी वास्तविक स्थिति की सूचना भी उसे हेमकुमार से ही मिली। गिरिजा की गति यहीं से मुड़ती है, वह घर की ओर (Back to home) अपना मुख फिराती है। वह प्रथम तो कुछ देर के लिये व्यथा का अनुभव करती है किन्तु फिर उसे आन्तरिक सन्तोष मिल जाता है। वह जिस समाज की है उसी को इतना ऊपर उठाने का व्रत लेती है कि जिससे किसी उच्च और सम्भ्रान्त समाज का आभिजात्य उसे घृणित नहीं बता सके। हेमकुमार के आग्रह पर सिनेमा संसार में प्रवेश करके भी वह समाज की आँखों को खोलने का ही प्रयास चलाती है। उसके इस उत्थान प्रयास का पहला पात्र किशन होता है—किशन के बौद्धिक-स्तर को ऊँचा करने के लिये वह कुछ उठा नहीं रखती। कम्पोजीटर किशन की रूप-रेखा बदल जाती है, वह एक चिंतक विद्वान् का स्थान प्राप्त कर लेता है। वह सिनेमा क्षेत्र में गिरिजाकुमारी के साथ प्रधान नायक का पार्ट पूरा करता है। गुलबिया के स्थिर मस्तिष्क का प्रमाण उस समय मिलता है जब वह किशन के सामने गिरिजाकुमारी बनना पसन्द नहीं करती। हेमकुमार जैसे विश्वस्त साथी की स्नेह-याचना को ठुकरा कर वह अपने आपको किशन के हाथों में सौप देती है। सुबह के भूले घर का पहुँचना सभी के लिये मंगल-कारक होता है। मृत्यु-मुख में पड़ी झमिया भी सन्तोष की सांस लेकर अपने प्राण छोड़ती है।

झमिया का स्मृति में मातृ-मन्दिर की स्थापना तो गुलबिया की उस भावना का परिचय देती ह, जो समाज के उत्थान के लिये—निम्न स्तरीय समाज को आभिजात्य प्रदान करने के लिये—उसके हृदय में काम करती है।

किशन

किशन का चरित्र जहाँ एक ओर पराश्रित चरित्र कहा जा सकता है' वहाँ कर्मठता का परिचायक भी है। समाज में आज भी कितने किशन ऐसे हैं, जो साधन और सुविधा के अभाव में नरक के कीड़े बने पड़े हैं। लोगों की आँखें उनकी ओर उठकर भी नहीं उठतीं। जिस समाज को बड़प्पन के अभिमानी निम्नस्तरीय समाज कहते हैं उसी समाज की होनहार सन्तानों को यदि बनने का अवसर मिले तो उनकी प्रतिभा से संसार मुग्ध हो जाय।

स्थिति का वैषम्य हृदय-विश्वास को भी किस प्रकार आमूल हिला देता हैं इसका ज्वलन्त प्रतीक किशन है। गुलबिया पर हृदय न्योछावर करने वाले किशन के लिए यह सोचना भी कठिन होता है कि गुलबिया उसकी है। वह जब कभी गुलबिया के सामने आता है—अपनी स्थिति पर झिझकता, भय खाता हुआ। गरीबी में पला किशन, पिता के जीवन काल में और बिछोह काल में कोई परिवर्तन नहीं देखता। गरीबी का रस, नव रसों से पृथक् अपना अलग महत्व रखता है, जिसके सम्मुख सभी रस स्वादहीन हो जाते हैं।

किशन गुलबिया की सहृदयता पर बहुत ही स्वाभाविक ढङ्ग से सोचता है। सपने की दुनिया में उसे कभी भी उड़ने का सौभाग्य नहीं मिला। महावीर चाचा के लिये उसके हृदय में स्थान है, स्नेहशील अम्मा झमिया के लिये उसके हृदय में स्थान है तो गिरिजा को वह भूल कैसे सकता है, उसकी गुलबिया ही तो गिरिजा बनी हैं। उसका दृष्टि में वह चचा और अम्मा की तरह ही उदार लड़की है। यदि वह उदार न होती तो उसे इस बात की चिन्ता क्यों होती कि वह एक कम्पोजीटर की स्थिति में अपमानित जीवन व्यतीत कर रहा है। उसे उस स्थिति से ऊपर उठाने का सिर दर्द ही वह क्यों मोल लेती। हाँ, अपनी ओर से केवल अपनी स्थिति के प्रभाव में गिरिजा के इस कथन का अर्थ नहीं सोच पाता कि तुम इस बात को क्यों भूल जाते हो कि मैं अभी तक वही गुलबिया हूं।

किशन के लिये वह क्षण बड़ा ही आश्चर्यप्रद होता है, जब गिरिजा उसे आत्मसमर्पण करती है।

वह अपनी स्थिति के लिये विभ्रमित होकर ही अन्त में भी कहता है—"बस अब सारा सन्देह सदा के लिये धुल चुका, इस सम्बन्ध में कुछ न बोलो।

केवल एक बात और पूछना चाहता हूँ। तुमने हम दोनों के अन्तर के इस चिरसम्बन्ध की सार्वजनिक घोषणा के लिये कौन-सा शुभ दिन सोचा है ?''

निश्चय ही किशन स्थितिजन्य वैषम्य के ऊहापोह में ही सार्वजनिक घोषणा की मुहर को महत्त्व देता है। उसे हाथ में आये वैभव पर जैसे एक बार पूर्ण विश्वास नहीं होता। कौन जाने कहीं गिरिजा उसे ठुकरा न दे, निराश न कर दे। उसका हृदय केवल स्थिति-वैषम्य को लेकर उसे गिरिजा के सम्मुख हीन सिद्ध करता है। स्थिति का यह वैषम्य उस घड़ी तक उसके हृदय में काम करता है, जिस घड़ी तक वह परिणय के सूत्र में समाज के सामने बँध नहीं जाता।

मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार किशन के मुँह से यही बात पुनर्वार निकल पड़ती है जब गिरिजा 'अखण्ड-ज्योति' के प्रधान नायक के नाते उस की सफलता के लिये उसे बधाई के सन्देश सुनाता है। किशन कहता है—"बधाई तो प्रधान नायिका को मिलनी चाहिये"—इस पर गिरिजा कहती है—"पर विवाह में बधाई वर को ही दी जाती है।"

दोनों ही परस्पर मजाक में वर-वधू का कथोपकथन सुनाते हैं। ऐसे ही अवसर में किशन कह उठता है—"अब केवल वर की एक जिज्ञासा शेष रह गई।" गिरिजा पूछती है—"वह क्या ?" किशन कहता है—"वह यह कि वर और वधू की इस पारस्परिक स्वीकृति को सामाजिक रूप कब दिया जायगा ? वह शुभ दिन कब आवेगा।"

प्रश्न—उपन्यास के तत्वों को दृष्टि में रखते हुए 'सुबह के भूले' उपन्यास की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—यदि उपन्यास का उद्देश्य मनुष्य की उन प्रवृत्तियों को आधार बनाना है जो उसके जीवन में मौलिक परिवर्तन उपस्थित करती हैं तो 'सुबह के भूले' उपन्यास को हम एक सफल उपन्यास कहेंगे। प्रेम को रचना का आधार बनाने पर इधर कुछ लोग टीका-टिप्पणी करने लगे हैं किन्तु यह प्रयास वांछित नहीं। टीका-टिप्पणी करने वालों को यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रेम मनुष्य की अन्यान्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। प्रेम के सभी पहलू कलुषित ही होते हैं—ऐसी बात नहीं। प्रेमान्वित जीवन का वर्णन करने में कवि की निभृत आत्मा बोलती है। आधुनिक

दिव्या

प्रश्न १—'दिव्या' की मुख्य समस्या और उसके समाधान में लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है ?

उत्तर—कलाकार कलासृष्टि के माध्यम से 'कान्ता सम्मित उपदेश' उपस्थित करता है, अनुभूत सत्यों को जन-जीवन के सम्मुख प्रकट करता है, अपने जीवन-दर्शन से युग के निर्माण का स्वप्न देखता है। तुलसी ने 'रामायण', जय-शंकर 'प्रसाद' ने 'कामायनी', 'ध्रुवस्वामिनी', पंत ने 'स्वर्ण-धूलि', 'गुँजन', 'स्वर्ण-किरण', डा० रामकुमार वर्मा ने 'एकलव्य', प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन' आदि का निर्माण अपने जीवन-दर्शन की आधार-शिला पर ही किया है जिनमें अमूर्त स्वप्न को मूर्त करने का प्रयत्न है। यही वह महत्वपूर्ण शक्तिमत्ता है जिस आधारभूत कारण से वह (कलाकार) युग के लिए, समाज के लिए स्तुत्य स्वीकृत होता है।

कलाकार अपनी कला-सृष्टि को कान्त रूप प्रदान कर, सरसता से अभिषिंचित कर, ऐसी दवा समाज को देता है जिसे जनता आनन्द से, सुरुचि से ग्रहण कर स्वस्थ बने। यही दर्शन-शास्त्र और कला-कृति में महत्वपूर्ण विभिन्नता है। निश्चय ही दर्शन कडुआ पेय है जो स्वभावतः मानव रुचि के प्रतिकूल सिद्ध होता है। परन्तु साहित्य के माध्यम से विचार और दर्शन का हृदयंगम किया जाना कठिन नहीं। कलाकार अपनी कृति के माध्यम से सामयिक और शाश्वत समस्याओं, जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्याओं को उपस्थित कर अपनी चिन्तन-धारा के अनुकूल समाधान प्रस्तुत करता है।

यशपाल हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों में हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी इतिहास-पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य' में ऐसा ही विचार प्रकट किया है। प्रगतिशील लेखक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्यवस्था प्रणाली में अटूट विश्वास रखते हैं, साम्यवाद को जीवनानन्द के चरम समाधान रूप में ग्रहण करते हैं। यशपाल की 'दिव्या' में भी अप्रत्यक्षतः उसी सत्य का आग्रह है। 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में शिवदान सिंह चौहान ने ठीक

ही कहा है "......कुछ आलोचक आप (यशपाल) पर 'राजनीतिक रोमाँस' लिखने का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः बात यह है कि आपने अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के व्यापक सांस्कृतिक और सौन्दर्य पक्ष को उतना नहीं पहचाना जितना आर्थिक पक्ष को, जिससे आप मनुष्य की समस्त समस्याओं को स्थूल 'शिश्नोदर' की समस्या के रूप में संकीर्ण बना देते हैं। इसी से आपके यथार्थवाद की सीमायें बँध जाती हैं, और आपको अपनी कथाओं को मनोरंजन बनाने के लिए नग्न-प्रसंगों की भरती करनी पड़ती है। शरत् चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'पथेरदावी' के जवाब में लिखे आपके उपन्यास 'दादा कामरेड' में शैल को नग्न करने का प्रयत्न कुछ ऐसा ही है।"

'दिव्या' में कलाकार ने सौन्दर्यपूरित, नृत्य निपुण, सुकुमार दिव्या को अनवरत उत्थान-पतन की ऊंची-नीची घाटियों से बहा कर, बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म को आत्म-शान्ति, जीवन महत्व के लिए असिद्ध हेतु प्रदर्शित कर चारवाक मारिश के भौतिक जीवनानन्द को परम लक्ष्य मानने वाले नास्तिक मारिश के सिद्धान्त में समर्पित कर, साम्यवाद को प्रश्रय दिया है, उसी तत्व एवं सिद्धान्त का अप्रत्यक्ष रूप से प्रचार किया है। 'दिव्या' की गम्भीर समस्या है नारी के महत्व की, उसकी शान्ति और उन्नति तथा सुरक्षा की। दिव्या का न ब्राह्मण धर्म मूल्य आँक सका है, स्वाभिमान को आदर दे सका है, न बौद्ध धर्म। सागल राज्य की ब्राह्मण व्यवस्थानुसार वह पुरुष की भोग्या बन सकती थी, अपना समर्पण मात्र कर सकती थी परन्तु उसे उसके प्रतिदान में कुछ नहीं मिल सकता था। देखिए अन्त में प्रताड़ित, विह्वला, उत्पीड़ित दिव्या गण परिषद् के महामात्य, धर्म व्यवस्थापक भट्टारक रुद्रधीर के, दिव्या को धर्म-पत्नी स्वीकार करने की आन्तरिक लालसा के प्रत्युत्तर स्वरूप व्यङ्ग घात करती है "........आचार्य, कुलमाता और कुल महादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुषों का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपनी इच्छा से अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना

स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगा ? आचार्य, दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।"

इसी प्रकार बौद्ध धर्म के भिक्षु पृथुसेन की कामना पर कि दिव्या अपने निर्वाण के लिए तथागत धर्म स्वीकार करे, दिव्या विरोध करती हुई जोरदार शब्दों में कहती है—"भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें। ......नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दे।" और तब भिक्षु-धर्म को निस्सार सिद्ध किया जाता है।

सागल के मूर्तिकार नास्तिक चारवाक मारिश द्वारा महत्वपूर्ण प्रकट किए गए उद्‌गार 'मारिश देवी को राज प्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी को कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।' पर दिव्या भित्ती का आश्रय छोड़ दोनों बाहुओं को फैला कर आर्द्र स्वर में कह उठती है—'आश्रय दो आर्य।' और यही समस्या की अन्तिम परिणति है।

परन्तु यशपाल का समाधान एकांगी है, यह स्वीकृत सत्य है। यशपाल ने ब्राह्मण धर्मानुसार व्यवस्थित, प्रचलित भोग्या नारी का स्वरूप अंकित किया परन्तु उस मनोभूमि का, उस भावना का चित्रण नहीं किया जहां नारी अर्धाङ्गिनी मानी गई है; जहां नारी के भी पुरुषों के सदृश ही अधिकार सुरक्षित हैं। जहां परिणय-संस्कार (शादी) जैसे महत्वपूर्ण विषयों में भी धर्मस्थीय प्रकरण के विवाह संयुक्त में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं—

> वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्रां वन्ध्यां चाकांक्षेत् दश बिन्दुं,
> द्वादश कन्याप्रसविनीम् ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत।

अर्थात् ८ वर्ष तक वन्ध्या, १० वर्ष तक बिन्दु अर्थात् नश्यत्प्रसूति,

१२ वर्ष तक कन्या-प्रसविनी की प्रतीक्षा कर पुत्रार्थी दूसरी स्त्री का ग्रहण कर सकता है, तो उसी प्रकार स्त्री के सम्बन्ध में भी कहा है—

नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी ।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोपि वा पतिः ।।

जयशंकर प्रसाद ने बहुत अनुसन्धान से दृढ़तापूर्वक बताया है कि पराशर या नारद के वाक्य भी उपर्युक्त भावना से मेल खाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि दमयन्ती के पुनर्लग्न की घोषणा इसी आधार पर हुई होगी ।

'दिव्या' में बुद्ध-धर्म के उस महत्व को ग्रहण नहीं किया गया है जिस धर्म में नारियों को भी सम्मान और आदर था, स्वतन्त्रता थी । जिस धर्म में संघमित्रा आदि स्त्रियां धर्म प्रचार के निमित्त विदेश तक जाया करती थीं ।

फिर आधुनिक युग में, आज के वातावरण में 'दिव्या' का समाधान निष्प्रयोजन ही लगता है क्योंकि आज स्वतन्त्र भारत में उसकी उपादेयता नहीं रही । भले ही मुस्लिम-काल में परिस्थिति विशेष में नारी के अधिकार की सुरक्षा कम थी परन्तु आज की परिस्थिति पूर्णतया भिन्न है । आज नारी को फौज में, दफ्तर में, मतदान में पूर्ण अधिकार प्राप्त है । चूंकि आलोच्य कृति १६४५ के पूर्व की है जिस युग में नारी स्वातन्त्र्य की चर्चा विशेष महत्वपूर्ण थी अतः दोषमुक्त है (प्रसंग की दृष्टि से) परन्तु अब निश्चय ही अनुपयुक्त है, ऐसा प्रत्येक पाठक निश्चित रूप से कह सकता है ।

प्रेमचंद भी प्रगतिशील कलाकारों में हैं जिन्होंने यथार्थ छवियों को बड़ा मार्मिक रूप दिया है । प्रेमचंद मानव-वृत्तियों के पारखी थे, प्रचारवादी, वादबद्ध लेखक नहीं थे इसीलिए उनके विचार अधिक मर्मस्पर्शी, प्राणवान् और नैसर्गिक दीख पड़ते हैं । परन्तु यशपाल में यह कमी है । नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक-साहित्य' में इसी तथ्य को परखते हुए यशपाल के साहित्य के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"यशपाल जी का अनुभव-क्षेत्र बड़ा है और वे विशाल और निर्बाध जीवन-परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता रखते हैं । फिर पता नहीं क्यों वे इस शक्ति का

परिपूर्ण उपयोग न कर एक सिद्धान्त विशेष की छाया में ही साहित्य के पौधे को पनपाना चाहते हैं। क्या यह अधिक अच्छा न हो वे जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से उसे यथेष्ट खाद्य लेने दें। सिद्धान्त के गमले में रखे, चौबीस घण्टे की छाया में पले ये पौधे कहाँ तक बढ़ पाएँगे? यशपाल जी यह बात भूल जाते हैं कि उनकी शक्तियों का कहीं अच्छा उपयोग मतवाद के घेरे के बाहर निकल जाने पर ही हो सकेगा। वे इतिहास के आलोक में साहित्य की परम्परा को देखें और पहचानें—कहीं भी दार्शनिक या बौद्धिक कठघरे के भीतर महान् साहित्य की सृष्टि नहीं हुई।........किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुण्ठा है, मनुष्यता के लिए एक पंगुकारी रोग है।''

इतना होते हुए भी निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि यशपाल ने चौहद्दी के भीतर वादबद्ध होकर ही, पात्रों का रूप और चरित्र बिगाड़कर ही सही, जो दिशा का क्रमिक विकास और प्रतिक्रिया एवं प्रतिफलित परिस्थिति का अंकन किया है वह बड़ा सजीव और क्षण भर ही सही बड़ा प्रभावापन्न है जिसे नन्ददुलारे जी तथा अन्य आलोचक भी स्वीकार करते हैं। हरीश हाजीपुरी ने इसी तथ्य को देख मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए उन्हें (यशपाल को) साहित्य में एक विशिष्ट स्थान दिया है। डा० रांगेय राघव की पुस्तक 'चीवर' पढ़ने के पश्चात् लगता है कि अपने उद्देश्य की सिद्धि हेतु आलोच्य कथाकार ने किस प्रकार तथागत के धर्म एवं हिन्दू ब्राह्मण व्यवस्था का केवल अपने विचार के प्रतिपादन निमित्त, भ्रष्ट रूप अंकित किया है। परन्तु इतना सत्य है कि 'दिव्या' में जिस उदात्त भावना को रखा है वह 'मनुष्य के रूप' में अधिक विस्तार के साथ प्रकट हुई है।

———

प्रश्न २—'दिव्या' की कथावस्तु का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—(क) उपन्यास की सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु है कथावस्तु। निश्चय ही *कथावस्तु का चुनाव* भी एक महत्वपूर्ण सफलता का द्योतक, सिद्ध-

हेतु है । डा० देवराज ने कथावस्तु के सफल चुनाव पर सम्पूर्ण सफलता को आधारित माना है । किन्तु एक मात्र कथावस्तु का चुनाव ही सफलता का परिचायक नहीं वरन् वह अन्य काव्यगत अपेक्षित तत्वों के संयोग पर निर्भर है । क्रोचे ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया था कि विषय महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण है कला की अभिव्यक्ति की कला, दृष्टिकोण और अनुभूति की व्यापकता । 'राम चरित' पर न जाने कितने कलाकारों ने कलम चलाई, परन्तु वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी ही अमर हो सके, ख्याति ग्रहण के अधिकारी हो सके । महादेवी ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—" काव्यकी उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसके लिए हमारा हृदय ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श मात्र से सोना कर दे ।"

दिव्या की कथा बौद्ध काल की काल्पनिक कूचों से रंगी हुई कथा है जो निश्चय ही उपन्यास के लिए उपयुक्त चुनाव स्वीकार किया जायगा । शास्त्रीय भाषा में यह मिश्रित कथावस्तु है । मुख्य रूप से, संक्षेप में कथावस्तु यों है—यवनराज मिलिन्द के राज्य काल में मद्र साम्राज्य के महा सेनापति वयोवृद्ध सागल के गणपति मिथोद्रस की उपस्थिति में धर्मस्थ महापंडित देवशर्मा की प्रपौत्री दिव्या को, मल्लिका की शिष्या को, उस देश की प्रथानुसार मधुपर्व में आयोजित नृत्य कला प्रतियोगिता में प्रथम स्वरूप 'सरस्वती पुत्री' का पुष्प-किरीट भेंट किया जाना, और उसी स्थल पर शस्त्र कौशल में प्रथम शालिहोत्री दास श्रेष्ठी प्रेस्थ-पुत्र पृथुसेन की ओर दिव्या का शनैः शनैः प्रेमाभिभूत होना और परिस्थिति विशेष में मिथ्या बोध (Misunderstanding) के फलस्वरूप गर्भवती दिव्या पृथुसेन की सीरो (गणपति मिथोद्रस की पौत्री) के प्रति आकृष्ट समझ, अपने को पृथुसेन द्वारा अस्वीकृत होने के भय से समाज के बीच ठोकर खाने को चल पड़ना है, जहाँ जीवन की विभीषिका और मर्मान्तक पीड़ाओं को झेलते हुए मथुरा की वेश्या कला-प्रेमी रत्नप्रभा का आश्रय प्राप्त कर पुनः मल्लिका द्वारा सागल लाई जाती है और मल्लिका उसे उत्तराधिकारी के रूप में, कला अधिष्ठात्री के रूप में अभिषेक करना चाहती है परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थानुसार वह स्वतंत्र पूर्ण पद के लिए घोषित नहीं हो पाती और जीवन तथा समाज के कटु व्यवहारों

से ऊब कर सच्चा आनन्द प्राप्त करने के लिए, नास्तिक मारिश को ग्रहण कर लेती है, बौद्ध धर्म के निर्वाण और ब्राह्मण धर्मानुसार भोग्या नारी का रूप उसे सह्य नहीं होता। यों ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के अस्तित्व पर आक्षेप कर कथावस्तु समाप्त हो जाती है।

कथावस्तु का चुनाव यशपाल ने निश्चय ही सुन्दर और सफल किया है।

(ख) *विन्यास की दृष्टि से* 'दिव्या' की कथावस्तु यत्र-तत्र कुछ शिथिल पड़ गई है। तद्‌युगीन व्यवस्था-प्रणाली, विचार-भावना, सभ्यता और प्रवृत्ति के विस्तार से वर्णन के फलस्वरूप शैथिल्य उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुछ आलोचक यही दोष वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी करते रहे हैं। श्री कृष्ण मोहन 'मधुकर' ने तो इस दोष को हटाये जाने वाले दोष की श्रेणी में रखा है जिससे लेखक ऐतिहासिक रंग के अत्यधिक मोह का परित्याग कर बच सकता है।

(ग) *कथावस्तु में मौलिकता* परम अपेक्षणीय गुण है। राम चरित्र पर अनेकानेक पुस्तकों के प्रणयन के पश्चात् भी तुलसी द्वारा चित्रित राम के व्यक्तित्व एवं कारयित्री-शक्ति में मौलिकता अक्षुण्ण है। साहित्य-सृजन के लिए यह अत्यन्त; महत्वान्वित गुण विशेष है। 'दिव्या' एक मौलिक कृति है, यह पूर्ण सत्य है। यशपाल ने तद्‌युगीन बौद्धकालीन समाज से दिव्या के चरित्र को मौलिक दृष्टि से ग्रहण किया है, चित्रित किया है। कल्पना का प्राचुर्य ध्यातव्य है। कुछ पात्रों को इतिहास से ग्रहण कर काल्पनिक ढाँचा तैयार कर ऐतिहासिक वातावरण में फिट, संयोजित कर दिया है। आलोच्य कृति में व्यंजित विचार-बिन्दु में भी मौलिकता है। आज के कई लेखक मौलिकता प्रदर्शन के मोह में पाश्चात्य साहित्य की अनुपयुक्त ढंग से नकल कर रहे हैं। जेम्स ज्वायस की कृति यूलिसीज की नकल पर भगवतीचरण वर्मा का 'तीन वर्ष' असफल और अपूर्ण उपन्यास ही रहा। 'शेखर : एक जीवनी' में कुछ इसी प्रवृत्ति का परिचय है जो उस पुस्तक की असफलता के तत्वों में है। नकल की प्रवृत्ति और मौलिकता का अभाव साहित्य-सृष्टि के लिए महत्वपूर्ण त्रुटियाँ हैं। परन्तु 'दिव्या' पर यह दोष (कथावस्तु की विशृंखलता

से और मौलिकता की दृष्टि से) नहीं किया जा सकता है।

(घ) *कौशल भी* उपन्यासकार की कथावस्तु की सफलता के अनिवार्य ग्राह्य गुणों में महत्वपूर्ण है, श्री गुलाबराय, एम० ए० ने 'काव्य के रूप' में स्पष्टतया लिखा है, "कौशल से अभिप्राय कथावस्तु में सम्बन्ध-निर्वाह, उसकी उलझनों को सुलझाने की चतुरता है।" स्टीवेन्सन ने 'डा० जेकेल एण्डहाइड' में दुहरे व्यक्तित्व (Double Personality) को, प्रताप नारायण ने 'विया' में आघात द्वारा पूर्ण स्मृति जागरण को, वृन्दावनलाल वर्मा ने 'प्रेम की भेंट' में प्रेम को, गूढ़ता से उपस्थित किया है। कलाकार की सफलता गूढ़ता आरोपित करने तक ही नहीं वरन् उसको समाधान और सुलझाने में भी है। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' में गूढ़ उलझनों को सुलझाने का भी सफल प्रयास है। डा० रामकुमार वर्मा के 'कला और कृपाण' में भी समस्या का बड़ा सफलतापूर्वक समाधान देखा जाता है। निश्चय ही 'चित्रलेखा' या, 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' की तुलना में 'दिव्या' में उतनी उलझी हुई समस्या नहीं है फिर भी वह जीवन की गम्भीर समस्या, समाज तथा तद्‌युगीन राष्ट्र के जीवन्त और गूढ़ प्रश्नों पर आधारित है और आलोच्य लेखक ने उसका अपनी विचार-प्रणाली से कौशलपूर्वक समाधान रखा है।

(ङ) *सम्भवता* (Naturality) कला का प्राण है, आत्मा है। प्रेमचंद, शरत्‌चन्द्र, आदि इस दृष्टि से अभूतपूर्व माने गए हैं। 'दिव्या' की कथावस्तु स्वाभाविक है। नारी दिव्या का विजयी स्वस्थ युवक पृथुसेन की और आकृष्ट होना पुनः पृथु को सीरो के साथ देख अपने पति पृथु का विकर्षण समझ दुखी होने आदि अत्यन्त सरल जीवन की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हैं। निश्चय ही वे आवर्तन-परिवर्तन मानव जीवन में सदा होते ही रहते हैं।

(च) *संगठितता*—गुलाबराय एम० ए० का यह कथन, उपन्यास के कथानक में संगठन, क्रम और संगति का होना आवश्यक है, पूर्ण सत्य है। आज पाश्चात्य उपन्यासों में इस संगठन सौन्दर्य के विपरीत विश्रृङ्खलता, समबद्धहीनता का झुकाव उत्पन्न हो गया है। जेम्स ज्वायस का यूलिसस इसका उदाहरण है। अज्ञेय-रचित 'शेखर : एक जीवनी' में कुछ यही प्रवृत्ति कार्य

कर रही है। उसमें केवल एक पात्र के कारण एकसूत्रता का निर्वाह दीख पड़ता है। प्रेमचन्द के 'गोदान' पर भी कुछ आलोचक इस दृष्टि से आक्षेप करते हैं। राजा राधिकारमण कृत 'राम-रहीम' और 'अश्क' की 'गिरती दीवारें' पर भी यह दोषारोपण किया जाता रहा है। यहाँ 'दिव्या' का मूल्यांकन करते हुए इतना ही कहेंगे कि इसमें कथा-सूत्रता की विच्छिन्नता कदापि नहीं। सारी घटनाओं का क्रमिक विकास और आवर्तन दिव्या को एक दिशा और लक्ष्य की ओर लिए चले जाते हैं। 'दिव्या' के सभी परिच्छेद एक उद्देश्य के अधिष्ठान के साधन निमित्त हैं। कथा में विषयान्तर नहीं होता। केवल ऐतिहासिक वातावरण, मनोभावों के चित्रण के अवसर पर थोड़ी शिथिलता आती है परन्तु यह न्यूनता पाठकों का मार्ग रोक कर विश्रान्ति की स्थिति उत्पन्न नहीं करती।

(छ) *रोचकता*—'दिव्या' में रोचकता और जिज्ञासा की मात्रा पूर्ण है, यथेष्ट है। 'दिव्या' की कथा वस्तु और घटनाओं की दिशा सदा मोड़ लेती रहती है जिससे रोचकता और जिज्ञासा सदा बनी रहती है। परन्तु 'दिव्या' की रोचकता खत्री जी की ऐय्यारी उपन्यास-पुस्तकों की नहीं जो जीवन की समस्या से सम्बन्धित न हो। निश्चय ही 'दिव्या' नारी जीवन से गहरा सम्बन्ध रखने वाला सफल उपन्यास है।

(ज) कथानक के प्रायः तीन रूप उपन्यास प्रणाली में प्रयुक्त हैं—(क) आत्म-कथा रूप में (ख) द्रष्टारूप में (ग) पात्रों के रूप में। 'शेखरः एक जीवनी' (अज्ञेय), 'अन्तिम आकाँक्षा' (सियारामशरण गुप्त) आत्म-कथा रूप में; 'सेवासदन' (प्रेमचन्द), 'अमरवेल' (वृन्दावन लाल वर्मा), 'त्याग-पत्र' (जैनेन्द्र), 'दीवार की नींव' (सियारामशरण प्रसाद, एम० ए०), 'विकास' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव), 'देवदास' (शरतचन्द्र) आदि द्रष्टा रूप में और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र) पात्रों के रूप में वर्णित हैं। उपर्युक्त विभाजन-प्रणाली की दृष्टि से 'दिव्या' द्वितीय श्रेणी की कृति है जिसमें द्रष्टा रूप व्यवहृत है। प्रायः बंगला, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि साहित्य में यही रूप अधिक व्यवहृत होते रहे हैं।

द्रष्टा रूप में अभिव्यक्त 'दिव्या' की कथावस्तु के उपर्युक्त सभी तत्वों पर सांगोपाङ्ग दृष्टिपात करने पर उसे सफल ही माना जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रश्न ३—'दिव्या' के औपन्यासिक तत्त्वों पर विचार कीजिए।

उत्तर—आलोचक डा० श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा है, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" परन्तु यह परिभाषा पूर्ण नहीं है। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द के शब्दों में, "उपन्यास मानव-चरित्र का चित्रमात्र है। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" यों तो प्रेमचन्द की परिभाषा भी दोषग्रस्त है क्योंकि देवता को भी पात्र बना कर उपन्यास की सृष्टि की जा सकती है। यदि साधारणीकरण की बात उठे तो उसका निर्वाह भी सूर के शिशु की तरह रसोद्रेक कर कराया जा सकता है।

'New English Dictionary' के अनुसार 'A fictious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot.' अर्थात् उपन्यास एक लम्बे आकार की ऐसी काल्पनिक कथा है जिसके द्वारा एक कार्य-कारण श्रृङ्खला में बँधे हुए कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र और कार्यों का चित्रण किया गया हो। निश्चय ही 'दिव्या' में प्रेमचन्द की परिभाषा के अनुसार मानव दिव्या का चित्र सन्निहित है। 'दिव्या' 'उपन्यासः प्रसादनम्' के आगे 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः' कोटि की कलाकृति है।

उपन्यास में १—कथा वस्तु, २—चरित्र, ३—कथोपकथन, ४—वातावरण, ५—विचार और उद्देश्य, ६—रस और भाव ७—तथा शैली आदि अपेक्षित

तत्व हैं जिस पर किसी भी उपन्यास का भव्य प्रासाद अवस्थित रहता है।

'दिव्या' में नवयुवति दिव्या के पृथुसेन के प्रति प्रेम से उद्‌बुद्ध विरह-व्यथा और करुणा का सागर आलोड़ित है और मूर्तिकार नास्तिक चारवाक मारिश के योग में वह स्वतन्त्रता, शान्ति और जीवन का अटूट आनन्द उद्रेक स्वीकार करती है। निश्चय ही सम्भवता, रोचकता आदि की दृष्टि से कथा-विन्यास सफल ही माना जायगा। जिस तत्व की चर्चा मैं विस्तार से आगे कर चुका हूँ। निश्चय ही इसे घटनाप्रधान नहीं, वरन् सामाजिक, व्यावहारिक सम्बन्धी उपन्यास की कोटि में माना जायगा जिसे देशकाल सापेक्ष रूप में अनुरंजित कर प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें समस्यामूलक भावनाएँ निरन्तर प्रवहमान रही हैं फिर भी अतरंग जीवन के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' की तरह इसे स्वीकार कदापि नहीं किया जायगा।

पात्र की दृष्टि से दिव्या, पृथुसेन, मारिश आदि जीवन्त और विश्लेषणात्मक हैं जिनमें मानव-जीवन की कमजोरी और खूबी भी पर्याप्त हैं जिससे वे हमें आकृष्ट और प्रभावाच्छन्न किए बिना नहीं रहते। उन पात्रों का अन्तर्बाह्य सभी पक्षों का उचित समीकरण है। निश्चय ही दिव्या, पृथुसेन, रुद्रधीर आदि सामान्य परन्तु मारिश Type विशिष्ट गुणाभिभूत व्यक्तित्व है। परन्तु सभी पात्र गतिमान्, परिवर्तनशील हैं। चरित्र-चित्रण में विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक (Dramatic) दोनों रूपों का दर्शन मिलता है। इन विषयों पर अन्यत्र (पात्रों के चरित्र-चित्रण में) विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

जैसे 'गबन' की घटनाये रामा (नायिका) के चरित्रानुसार होती हैं, उसी प्रकार 'दिव्या' में घटनायें संगति रखती हैं। दिव्या घर को छोड़ कर इस लिए विस्तृत संसार में भटकने निकलती है क्योंकि उसके और पृथुसेन के बीच भ्रमपूर्ण धारणायें अंकुरित और पल्लवित हो जाती हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से भी 'दिव्या' का महत्व है। इसमें पात्रोचित विचारों का प्रकटीकरण एवं व्यंजन है। गम्भीर मारिश अपने विचारों के अनुरूप ही तथ्यों को प्रकट करता है, धर्मस्थ न्यायी होने के फलस्वरूप

न्यायपूर्ण विचार और अनुभव प्रकट करते हैं और प्रेस्थ लालसा के ज्वारानुकूल अत्यन्त संकुचित और स्वार्थान्ध रूढ़िपूर्ण विचार से अनुप्राणित दीख पड़ते हैं। पुनः पृथुसेन और दिव्या द्वारा अभिव्यक्त किए गए विचार अत्यंत नौजवान व्यक्तित्व के मस्तिष्क के प्रतिफलन हैं। मारिश कहता है—'भन्ते, दुःख और भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत-क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्म-प्रवञ्चना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति, प्रबल और असंदिग्ध सत्य है।'

देखिए अवसरवादी अनुभवी श्रेष्ठी प्रेस्थ पृथुसेन को सीख देते हैं, 'पुत्र, अवसर शीघ्र-गति से चला आ रहा है। उसे पकड़ने के लिए उत्साहित और सतर्क रहो।' ऐसे कथोपकथन से अवश्यमेव पात्रों की मनोदशाओं एवं कथानक की गति की प्रेरणा पर प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही इन्द्रदीप के ऐसे कथनों से 'मित्र मनुष्य देवताओं की इच्छा का दास है। देवता अपने प्रयोजन के लिए मनुष्य की मति से परे कार्य करते हैं। शूद्र (पृथुसेन) के आदर के लिए ब्राह्मण को (रुद्रधीर को) निर्वासन का यह दण्ड मद्र की मुक्ति का सूत्र होगा।" कथानक की प्रगति की सूचना मिलती है। कथोपकथन में 'पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ ही उसमें स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता और संक्षिप्तता होना वांछनीय है।' दिव्या पर इस दृष्टि से किंचित् दोषारोपण नहीं किया जा सकता। दार्शनिक मारिश की भाषा रुद्रधीर की भाषा से अपेक्षाकृत कुछ गम्भीर और चिन्तनयुक्त है!

वातावरण—कथानक-काल के अनुरूप उपस्थित किया जाता है। जिस युग की कथावस्तु होती है उसी के अनुरूप देश-काल और वातावरण, आवेष्टन, परिवेश अपेक्षित है। वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों में इस तथ्य की विशेष रक्षा की है, सावधानी की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने इसीलिए उनकी प्रशंसा की है। यशपाल ने भी आंगिक वेशभूषा, वातावरण, सभ्यता आदि के लिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० मोतीचन्द, लखनऊ बौद्ध विहार के वयोवृद्ध महास्थविर भदन्त बोधानन्द तथा अजन्ता और अलोरा से सहायता ग्रहण कर प्रामाणिक रंग देने का प्रयास किया है। परन्तु अपनी भावना और वाद का रंग चढ़ा कर चित्रित किया है। यशपाल

ने जिस विकृत बौद्ध धर्म का रूप 'दिव्या' में चित्रित किया है ठीक उसी काल की कथावस्तु में डा० रांगेय राघव ने 'चीवर' में बुद्ध धर्म की उच्चता और शालीनता रखी है। फिर भी यह सत्य है कि देशकाल की दृष्टि से सचेष्टता है, 'दिव्या' में; किशोरीलाल की रचनाओं की तरह उपेक्षणीय नहीं समझा गया है।

रस की दृष्टि से शृंगार, करुण विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। पृथु और दिव्या का प्रेम व्यापार आदि शृंगार के अन्तर्गत हैं और दिव्या के पुत्र की मृत्यु आदि करुण रस से आप्लावित हैं। यों एक दृष्टि से अन्त को भी, भोग्यवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देने की भावना को भी, शृंगार के अन्तर्गत ही समाहित कर सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे पूर्णतया शास्त्रीय दृष्टि से रस का पर्यवेक्षण सम्भव नहीं।

शैली और विचार एवं उद्देश्य की चर्चा भी अन्यत्र विस्तार के साथ की जा चुकी है अतः स्थानाभाव से यहाँ उसकी चर्चा सम्भव नहीं।

अन्ततोगत्वा उपर्युक्त सभी औपन्यासिक तत्वों पर विचार और विवेचन करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'दिव्या' एक सफल उपन्यास है। औपन्यासिक तत्वों का उचित दर्शन प्रस्तुत पुस्तक में हो जाता है।

प्रश्न ४—'दिव्या' के कुछ मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—(क) *'दिव्या'* उपन्यास की केन्द्र बिन्दु दिव्या ही है जिसके आधार पर प्रस्तुत उपन्यास का नामकरण भी हुआ है। धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री सुन्दरी है, कला-अधिष्ठात्री 'सरस्वती पुत्री' है, कोमलहृदया युवति है।

(१) उसकी सुन्दरता देखकर ही रुद्रधीर और मारिश उसे ग्रहण करना चाहते हैं। पृथुसेन भी उसकी ओर इसी लिए आकृष्ट हुआ था और दास-व्यवसायी श्रेष्ठी प्रतूल उसे बेच कर अधिक द्रव्य प्राप्त करने की सोचता था।

(२) परन्तु उसका जीवन बड़ा करुण और घात-प्रतिघातों से पूर्ण है। धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री होकर भी गली-गली ठोकरें खानी पड़ती हैं, दासी बनती है, वेश्या बनना पड़ता है। दुःख में न उसे बौद्ध धर्म स्वीकार करता है न हिन्दू धर्म। युवावस्था से मारिश की आश्रिता बनने के पूर्व तक विभिन्न अवस्थाओं और विपत्तियों की अग्नि में जलती रहती है। उसका रूप उसका शत्रु सिद्ध होता है। स्मरण रहे अम्बपाली की भी यही दशा हुई थी। कवि बायरन (Byron) ने भी इटली के सौन्दर्य को 'सांघातिक वरदान' बताया है।

'Italia ! Oh Italia ! Thou who hast the fatal gift of beauty, which became a funeral dower of present woes and past. On thy sweat brow is sorrow plough'd by same.' अम्बपाली ने भी कहा था "कालका भमरवण्ण-सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुँ, ते जराय साणवाकसदिसा सच्च-वादिवचनम नज्जथा' (किसी समय मेरे केश भौंरे के समान काले एवं घुँघराले व चमकीले थे, किन्तु अब वे ही जरावस्था के कारण जीर्ण सन के समान हो गए हैं।)

(३) युवति दिव्या भी स्वाभाविक रूप से अपने समान उपासक विजेता पृथुसेन के प्रति आकृष्ट होती है। पुरुष के प्रति, मधुपर्व में आयोजित नृत्यकला प्रतियोगिता में प्रथम हुई नारी दिव्या का आकर्षण निश्चय ही स्वाभाविक है क्योंकि पृथुसेन भी सुन्दर, स्वस्थ, विजयी युवक है। दिव्या का यह सोचना "सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी आर्य पृथुसेन ने मेरी कला के विषय में मत प्रकट नहीं किया—शिविका के प्रसंग में उनका खड्ग खींच लेना ......वही उनका मत था।" उसके कोमल-हृदय का झुकाव ही प्रदर्शित करता है।

रुद्रधीर द्वारा दिव्या की शिविका खींचने के समय पृथु के अपमान को, पृथु के प्रति प्रेमाभिभूत होने के फलस्वरूप, अपने जीवन से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखने वाले प्रसंग सदृश समझ बारम्बार चिन्तित होना—"रुद्रधीर उसकी कल्पना में दीखने लगा ! उसके उत्तरीय के नीचे यज्ञोपवीत लटक रहा था।

परन्तु हाथ में खड्ग खींच वह पृथुसेन की दिव्या की शिविका में कंधा लगाने से बरज रहा था। नेत्र मूंदे दिव्या की कल्पना में रुद्रधीर के प्रति भय और विरक्ति का भाव बैठ गया।"—इसी तथ्य का परिचायक है। (१) निश्चय ही बाह्य और (२) आन्तरिक चित्रण विभाजन की प्रणाली में उपर्युक्त पंक्तियाँ दिव्या के आन्तरिक भावों की चित्रक हैं।

(४) दिव्या का निरन्तर पृथुसेन के सम्बन्ध में सोचना उसके प्रेम की ही व्यंजना है। निश्चय ही दिव्या का प्रेम बड़ा *स्वाभाविक* है, भोलेपन से भरा हुआ है। (उदाहरणार्थ 'दिव्या' पुस्तक के पृष्ठ संख्या ६० का दूसरा अनुच्छेद देखें।)— कभी-कभी पृथु और दिव्या मिलते थे तो "दिव्या उद्रेक के अतिरेक से पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बहने लगती। उसे अंक में लेकर सांत्वना देने के प्रयत्न में पृथुसेन स्वयं विह्वल हो, दिव्या में आश्रय ढूंढने लगता।"

(५) साथ ही दिव्या का हृदय मनुष्योचित कमजोरियों से भी ग्रस्त है। वह पृथुसेन के अभाव में सदा चिंतित रहती है। पृथु के युद्धस्थल में जाने पर उसका हृदय आशंका से ग्रस्त हो उठता है—"समर भूमि में चोटी से एड़ी तक रक्त से भीगा पृथुसेन का शरीर उसे अश्व से गिरता दिखाई देने लगता। शोकग्रस्त सैन्य-समूह से घिरा एक शव दिखाई देने लगता और उसके साथ उसकी अपनी मृत्यु भी।" यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसे मनुष्य अत्यधिक प्यार करता है उसके प्रति शंकाएँ भी उसी मात्रा में अधिक उत्पन्न होती हैं।

(६) दिव्या भावुक भी अत्यंत है। सीरो के प्रति पृथु का आकर्षण समक्ष दुनिया की ठोकरें खाने वह असहाय अवस्था में, गर्भवती होकर भी निकल पड़ती है। उसे अपने गर्भ पर भी संकोच और लज्जा होती है। वहाँ चक्रधर की यातना उसे सहनी पड़ती है, समाज का अनेक अत्याचार उसे सहन करना होता है।

(७) निश्चय ही उपर्युक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं से पाठक को ज्ञात हो गया होगा कि दिव्या का चरित्र गतिशील और विश्लेषणात्मक है।

(८) दिव्या का माँ का रूप भी बड़ा करुण परंतु स्वाभाविक है। मालिक के पुत्र (चक्रधर के पुत्र) को अपने दूध से जीवित रखने और अपने

पुत्र को दूध से वंचित रखने की आज्ञा पर चक्रधर के घर से भाग निकलती है। उस स्थल पर मातृ-हृदय का उद्गार स्वाभाविकता और बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है।

(९) अंत में वह रत्नप्रभा (मथुरा की वेश्या) के आश्रय में नृत्य द्वारा धन-प्राप्ति की वृत्ति को जीवित रखती है और मल्लिका द्वारा सागल आने-जाने पर स्वतंत्रता से वंचित न रहने की कामना से मारिश की आश्रिता बन जाती है। यहाँ उसके हृदय के अभिमान की सूचना मिलती है। यहीं पर यह स्मरणीय है जहाँ अम्बपाली (आम्रपाली) जीवन के निर्माण की कामना से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेती है वहाँ दिव्या बौद्ध धर्म की निस्सारता सिद्ध करती हुई जीवन के अस्तित्व, महत्व को निरादृत न करने की प्रबल लालसा से—नारी स्वातंत्र्य की कामना करती है।

(१०) 'दिव्या में इस प्रकार अन्तर्बाह्य चित्रण है। चित्रण में अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों रूपों का सहारा लिया गया है। उसका चरित्र जीवंत और सफल है।

(११) अन्त में इतना तो अवश्य कहा जायगा कि वह प्रतिक्रियात्मक नारी का प्रतिनिधित्व करती है परन्तु हिन्दू आदर्शवादी नारी का नहीं जो अपने पति को सीता की तरह देवता और सर्वस्व स्वीकार करती है। यहां यशपाल के चित्रण में आधुनिक युग की साम्यवादी भावना, एवं दृष्टिकोण प्रतिफलित है। परन्तु नन्ददुलारे जी के शब्दों में ('नया साहित्य और नये प्रश्न' पुस्तक में यह विचार प्रकट किया है) यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यशपाल के चरित्र ऊपर से भौंडे लग कर भी भीतर से प्राकृत हैं।

(ख) *मारिश*—दिव्या के पश्चात् मारिश ही का चरित्र बड़ी व्यापकता और प्रभावपूर्णता से चित्रित है। भारतवर्ष के प्रत्येक विद्वान् दार्शनिक चारवाक को अवश्य ही जानते हैं जो जीवनगत भोग को ही साध्य मानता था, जिसका सिद्धान्त था—

'अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। आदि॰

इसी चरित्र का परिचय यशपाल के शब्दों में देखें—"विचारक होने के नाते महा-पंडित के स्थान में मारिश का भी निरादर न था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करने वाले, सागल के धर्मज्ञ विप्र समाज द्वारा लांछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बताने वाले मारिश का भी स्थान था।" अतः मारिश वर्गगत श्रेणी का पात्र नहीं था वरन् वैयक्तिक विशेष कोटि का था। जो (१) नास्तिक था, ईश्वर की सृजन शक्ति पर अविश्वास करता था, (२) सांसारिक जीवन को ही महत्त्वपूर्ण मानता था, (३) निर्वाण और ब्रह्मलोक के प्रति आस्था नहीं रखता था, (४) प्रत्यक्ष लोक को ही सत्य (५) तथा (६) कर्मफल के प्रभाव को स्वीकार करने वाला (७) विचारक था। जो पुनः लेखक के शब्दों में (८) सर्व-श्रेष्ठ मूर्तिकार, (९) अनैतिकता का प्रतिपादनकर्ता था। जिसका विश्वास था (१०) कला नारी की आकर्षण शक्ति का निखारमात्र है जो 'नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।'

लेखक ने चारवाक मारिश के दर्शनानुकूल उसके मुख से कहलाया है—"मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है? यह विश्वास ही तेरी दासता है। तू स्वामी के भोग के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता का बन्धन है। तू संकट से पलायन कर रक्षा चाहता है, यही तेरी निर्बलता है। संकट सब स्थान और समय तेरे साथ रहेगा। संकट का पराभव कर। पराभूत होना ही पाप है।" अर्थात् (११) वह संकट में संघर्ष को ही महत्त्व देता था और (१२) उससे पलायन को पाप की संज्ञा देता था। (१३) मारिश आगे कहता है, 'तुम अपने लिए लड़ो, अपने अन्न के लिए, अपने वस्त्र के लिए, अपने मेरय के लिए लड़ो।' (१४) सामन्तीय व्यवस्था का विरोध करते हुए कहता है, 'तुम सामन्तो के राज्य में आधे मनुष्य हो, मनुष्य बनने का यत्न करो, (१५) अधिकार के लिए मरो।" (१६) साथ ही मारिश नारी के वेश्या रूप को घृणित दृष्टि से देखता था—'तू वेश्या बनना चाहती है? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है।' (१७) वह मृत्यु को परिवर्तनमात्र मानता था, 'जिसे तुम

नाश कहती हो, वह केवल परिवर्तन है।' (१८) वह मनुष्य की परम्परा को अमर मानता था—'मनुष्य की परम्परा ही उसकी अमरता है।' (१९) उसका नारी के प्रति बड़ा उच्च विचार था—'नारी सृष्टि का साधन है।'—'पुरुष उसके चारों ओर घूमता है।' नारी प्रकृति विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। (२०) जीवन भोग करना ही श्रेयस्कर मानता था। (२१) वह नारी से 'अनुभूति का ही आदान-प्रदान' करना उचित समझता था। इस प्रकार मारिश का सिद्धान्त अपने आप में महत्वपूर्ण है। यों मारिश के सिद्धान्त को दयानन्द सरस्वती ने गलत सिद्ध किया है परन्तु यशपाल ने साम्यवादी भावना का प्रश्रय देने के निमित्त उसी को महत्व दिया है। मारिश अपने सिद्धान्त पर अटल रहने वाला प्राणी था। लेखक ने अनेक स्थलों पर मारिश का अन्तर्बाह्य चित्रण उपस्थित किया है और वही अन्तिम फल का भोक्ता भी है जिसे दिव्या, अदिव्या रूप में ही सही, प्राप्त होती है।

(ग) पृथुसेन—(क) वीर युवक था जो सागल के मधुपर्व में शस्त्र-प्रतियोगिता में प्रथम हुआ और केद्रस युद्धस्थल में शत्रु को परास्त कर लौटा। (ख) उसके पास कोमल हृदय भी था तभी तो दिव्या से मिलने पर स्वयं भी भावविह्वल और आर्द्र हो उठता था। (ग) वह अल्पज्ञ व्यक्ति था तभी तो पिता के द्वारा लालसा में बह कर सीरो से शादी करने को तैयार हो जाता है, अपने कलेजे पर पत्थर रख कर। (घ) लेखक के शब्दों में ही उसके शारीरिक सौन्दर्य को देखिए, शालिहोत्री दास प्रेस्थ का पुत्र पृथुसेन 'यवन सामन्त के समान गौर वर्ण; द्विज के समान कृष्ण नेत्र, ऊँचे और बलिष्ट शरीर का था।' (ङ) उसका दिव्या के प्रति झुकाव बड़ा स्वाभाविक और सरलता लिए हुए है। वह थोड़े समय में ही उससे घुल मिल जाता है और उसे स्त्री रूप में स्वीकार करना चाहता है। (च) साथ ही वह दृढ़चेष्ट और निर्भीक था तभी तो बुद्ध धर्म को स्वीकार करने के पश्चात् बिना संकोच के रुद्रधीर (जो उसकी मृत्यु का अभिलाषी था) के निकट चला जाता है। परन्तु धनी-पुत्र होने के कारण स्वाभिमानी भी था तभी तो दिव्या की शिविका से वंचित होने पर रुद्रधीर से युद्ध करने को तैयार हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथुसेन का चरित्र उन्नतिशील और वर्गगत

है। उसके चरित्र का बड़ा स्वाभाविक विश्लेषणात्मक रूप चित्रित किया गया है। वह परिवर्तनशील है। उसके अन्तर्बाह्य दोनों पक्षों का सफल चित्रण है।

(घ) *रुद्रधीर*—(१) अभिजातवंशीय युवक है। (२) वह गण परिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र वसुधीर का ज्येष्ठ है। (३) वह दासों के प्रति साम्य भावना नहीं रखता इसीलिए पृथुसेन को दिव्या की शिविका में कंधा देने को स्वीकार नहीं करता। (४) वह उच्छृङ्खल है तथा शराब भी पीता है और (५) दिव्या को, एक पत्नी होने पर भी, दूसरी पत्नी के रूप में रखना चाहता है। ६–वह कला प्रेमी नहीं है अतः उसे नृत्य आदि से अधिक प्रयोजन नहीं। ७–वह धन को बहुत महत्व देता है इसीलिए मथुरा में रत्नप्रभा के यहाँ दिव्या को बहुमूल्य आभूषण देकर कृतज्ञ बनाना चाहता है, आकृष्ट करना चाहता है। ८–अन्त में पृथुसेन को परास्त कर ब्राह्मण शासन कायम करता है क्योंकि वह सामन्तीय भावना से अनुप्राणित है, उसी व्यवस्था में विश्वास रखता है। उसका विश्वास है 'वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है, न छीन सकता है।'

इसका चरित्र बहुत कम समय के लिए आया है और उतना प्रभावशाली नहीं है। यह भी सामान्य गुण के चरित्र की सृष्टि है।

(ङ) *मल्लिका*—सागल की कला अधिष्ठात्री थी जिसका सम्पूर्ण जीवन कलामय था। वह अपनी आत्मा से सींचकर दिव्या को कलाविद् बनाना चाहती थी। परन्तु वह सदा असफल रही। उसकी सभी शिष्याएँ आधे मार्ग से ही पिछड़ जाती हैं।

जब पृथुसेन के शासन काल में कला की प्रेरणा और महत्ता की उपेक्षा होती है तो रुद्रधीर के षड्यंत्र में केवल कला की उन्नति की भावना से सम्मिलित होती है।

अंत में भी उसे निराश ही रहना पड़ता है। जब वह अंशुमाला रूप में दिव्या को मथुरा की वेश्या रत्नप्रभा से भिक्षा स्वरूप प्राप्त कर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहती है तो सागल की ब्राह्मण जनता विरोध कर देती है।
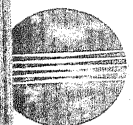
मल्लिका का चरित्र एक शिष्ट कला प्रेमी, मातृरूपिणी नारी का है। वह अपनी शिष्याओं को पुत्री की तरह प्यार करती है। उसका चरित्र भी अपने क्षेत्र में सफल है।

(छ) *शालिहोत्री प्रेस्थ*—चतुर और नीतिज्ञ व्यक्ति हैं जो जीवन में धन और मर्यादा पर विशेष ध्यान देते हैं और अपने पुत्र को भी उसी दिशा में उन्मुख देखना चाहते हैं और करते भी हैं। वे धन-संग्रह कर शनैः-शनैः राज्य-कार्य में आवश्यकतानुसार धन से योगदान दे विश्वनीय व्यक्ति बन जाते हैं परन्तु मल्लिका के यहां किये गए षड्यन्त्र में उनका नाश हो जाता है, उनका बोलबाला समाप्त हो जाता है।

(ज) *रत्नप्रभा*—मल्लिका की शिष्या, कलाप्रेमी, मथुरा की वेश्या है जो दिव्या पर करुणार्द्र हो उसे अपने आश्रय में रख लेती है और अपने जन की तरह मानती है। दिव्या को उदास देख मारिश द्वारा उसकी उदासी भंग कराने का प्रयत्न करती है। वह अपनी मातास्वरूप गुरु मल्लिका द्वारा दिव्या की आकांक्षा पर दिव्या को निःसंकोच दे देती है। निश्चय ही वह भी दयालु और सुहृदया नारी है जिसमें मातृत्व का अंश है।

———

प्रश्न ५—भाषा की दृष्टि से 'दिव्या' पर विचार कीजिए।

उत्तर—'दिव्या' की भाषा से सम्बद्ध प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है, साथ ही अनुपेक्षणीय भी। चण्डीप्रसाद हृदयेश की तरह 'दिव्या' की भाषा आलंकारिक है। उदाहरणार्थ देखें—"उस जन-प्रवाह में उत्सव का मण्डप, वर्षाकाल की बाढ़ से दूर तक फैले नदी जल में शेष रह गए छोटे से द्वीप के समान जान पड़ता था। मण्डप कलशों, कदली-स्तम्भों, तोरणों, वसंत आरम्भ में पल्लवित आम्र-पत्र के बन्दनवारों और मंजरियों से सुसज्जित था। वातावरण अनेक प्रकार के पुष्पों, गन्ध और सुगन्धित धूम्रों से सुरभित था।"

भाषा के पक्ष में विचार प्रकट करते हुए 'दिव्या' के प्रकाशक ने लिखा है,

'अतीत के रूप-रंग की रक्षा के लिए कुछ असाधारण भाषा और शब्दों का प्रयोग आवश्यक हुआ है।'

निश्चय ही स्मरणीय है, यशपाल ने 'कुछ असाधारण भाषा' का प्रयोग 'दिव्या' में ही किया है, अपनी अन्य सामाजिक आदि पुस्तकों में नहीं। स्मरण रहे, आज ऐतिहासिक लेखकों में श्री वृन्दावनलाल की भाषा वैसी संस्कृतनिष्ठ भाषा नहीं वरन् आज के जीवन की स्वाभाविक भाषा है। 'झांसी रानी लक्ष्मीबाई' की कुछ पंक्तियों को उदाहरणार्थ देखें—"घाट पर कपड़े सुखाने, बदलने में और घोड़ों को आराम देने में थोड़ा सा समय लगा। फिर दौड़ लगी और रानी बरवासागर के किले में दोपहर के करीब पहुंच गई।" जयशंकर प्रसाद के 'इरावती' उपन्यास में संस्कृतगर्भित, तत्समप्रधान शब्दों का बाहुल्य है। प्रसाद की कहानियों और नाटकों की भी भाषा क्लिष्ट, आलंकारिक और संस्कृतनिष्ठ है। 'आकाश दीप' की भाषा देखिए—"सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल प्रदेश में, नील-पिङ्गल सन्ध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जल का कुहुक स्फुट हो कर उठा जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया।" परन्तु जहां प्रसाद की भाषा में कवित्व या दर्शन का अन्तःस्रोत प्रवहमान है वहां यशपाल के वाक्यों में भाषा-क्लिष्टत्वमात्र ही है। दार्शनिक व्याख्या, विचारों का आधिक्य प्रसाद की कृतियों की तरह यशपाल में कदापि नहीं। प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियों की ही कवित्वशक्ति का आग्रह दीख पड़ेगा। 'दिव्या' की भाषा इस दृष्टि से देखिए "वृद्ध गणपति, महासेनापति मिथोद्रस परिस्थिति की गुरुता अनुभव कर केन्द्रस के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए बद्धपरिकर हुए। गणकोष और रस-सामग्री के आयोजन की व्यवस्था का कार्य उन्होंने महाश्रेष्ठी प्रेस्थ को सौंपा और सैन्य-संधान की आयोजना महासामन्त यवन ओक्रिस को।" इसमें शब्द मात्र हैं, भाषा का गाम्भीर्य या दार्शनिकता नहीं।

आज अनेकानेक विद्वान् क्लिष्टता को काव्य का अनिवार्य गुण सिद्ध करना चाहते हैं—जैसे इलाचन्द्र जोशी, मोहनलाल विद्यालंकार आदि। इसके

विपरीत विचार प्रतिपादन करने वालों में अग्रणी हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हरीश हाजीपुरी, कृष्णमोहन 'मधुकर'। मैं भी इसी पक्ष का समर्थक हूं। डा० श्यामसुन्दर दास ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि गद्य जन-जीवन की भाषा है। अतः सरलता उसका अनिवार्य गुण है। कृत्रिमता उसका दोष ही माना जायगा परन्तु विषय के गाम्भीर्य के अनुसार भाषा भी सरल और गूढ़ हो सकती है। देशकाल और वातावरण के अनुसार भाषा का आग्रह अनिवार्य-सा है। एक शराबी और एक उच्चस्तरीय व्यक्ति एवं विद्वान् तथा दार्शनिक की भाषा निश्चय ही भिन्न होगी। इस दृष्टि से, उच्चस्तरीय जीवन से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप भाषा के क्लिष्टतागत-दोष से यशपाल कुछ मुक्त किए जा सकते हैं परन्तु पूर्णतया नहीं क्योंकि जहां साधारण भाषा से भी कार्य चल सकता था, वहां भी सरल भाषा का उपयोग नहीं किया। उदाहरणार्थ देखें साधारण जनता के बीच रहने वाली बूढ़ी भी बोलती है—"मैं बीच में बोल रही हूं ?····मेरी बहन की बेटियां वलका से आई हैं,···· देखो तो, इन्हें पांव चलने का अभ्यास कहां है ? कैसी क्लान्त और विथ्री हो रही हैं।" दिव्या की धात्री की भी भाषा देखें—"हम लोगों को पान्थ-शाला पहुंचना आवश्यक है। परिजन प्रतीक्षा में उद्विग्न होंगे···· ।"

मेरे विचार से ऐसे प्रसंग और वर्णन में भी भाषा को सरल किया जा सकता था—"देवी मल्लिका मूर्तिमान् राग के रूप में अपनी किसलय-कोमल अंगुलियों और मृणाल-बाहुओं से संगीत के आरोहावरोह को इङ्गित कर रही थी।" निश्चय ही 'दिव्या' में ऐसे अनेक स्थलों को देखा जा सकता है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की कृत्रिमता और क्लिष्टता स्वयं आग्रह रूप में उपस्थित नहीं हुई हैं वरन् लादा गया है। श्री मोहनलाल, हरीश हाजीपुरी और कृष्णमोहन मधुकर आदि ने इस प्रवृत्ति को दोषस्वरूप ही माना है।

निश्चय ही व्यास-शैली उपन्यास के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। भाषा की क्लिष्टता के कारण बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' विशिष्टता रखती है। परन्तु 'दिव्या' को विशिष्टता का भी महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि क्लिष्टता का उतना अधिक आग्रह भी नहीं है। यद्यपि इस दिशा में कुछ

प्रयत्न अवश्य लगता है। 'दिव्या' की भाषा मध्य कोटि की है। भाषा की दृष्टि से यह कुछ चित्रलेखा के निकट है। परन्तु 'चित्रलेखा' भाषा की दृष्टि से 'दिव्या' से अधिक सफल है। उदाहरणार्थ कुछ अंश 'चित्रलेखा' का भी देखें—"महायज्ञ के अभिमन्त्रित धूम्र से सुवासित राजप्रासाद के विशाल प्रांगण में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के अतिथि आसीन थे। रत्न-जटित स्वर्ण के राज-सिंहासन पर महाराज विराजमान थे।"

'दिव्या' में (क) पात्रोचित भाषा नहीं है क्योंकि प्रत्येक की भाषा संस्कृतनिष्ठ है यद्यपि मारिश के कथन में कुछ गम्भीरता उत्पन्न करने का प्रयास है। (ख) तत्समप्रधान भाषा है। (ग) यत्र-तत्र ठेठ हिन्दी के शब्द तथा (घ) उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। (ङ) अलंकृत भाषा का भी यथेष्ट उपयोग है जिसकी चर्चा मैं ऊपर ही कर चुका हूं। (च) परन्तु मुहावरों की चपलता नहीं है। कई स्थल पर (छ) लोकोक्तियों और कहावतों का भी प्रयोग है जैसे प्रेस्थ अपने पुत्र पृथुसेन से कहता है—"यवन देश के विद्वानों की उक्ति है—अवसर के देवता का मुख मस्तक से लटके केशों में छिपा रहता है। उसे पहचानना कठिन है... ।"

प्रश्न ६—'दिव्या' का हिन्दी-साहित्य में महत्त्व प्रकाशित कीजिए।

उत्तर—किसी कृति का महत्व उसके काव्य-सौन्दर्य, कला-तत्त्व और भाव-तत्त्व के उचित समीकरण के अनुसार ही निर्धारित होता है। कथावस्तु की सफलता पर पूर्व ही सविस्तार प्रकाश डल चुका है।

यशपाल कृत 'दिव्या' १९४५ की प्रकाशित रचना है जिसका मुख्य और अन्तिम लक्ष्य नारी-जीवन की महत्ता पर प्रकाश डालना है। 'दिव्या' के पूर्व हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने नारी-समस्या को आधार मान कर साहित्य-सृजन किया था। जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, राधिकारमण, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, डा० रामकुमार वर्मा आदि की कृतियों में यह देखा जा सकता है। ध्रुवस्वामनी' का केन्द्र-विन्दु नारी की स्वतंत्रता और अधिकार-सुरक्षा है।

राजा जी की पुस्तक 'राम रहीम' में भिन्न दृष्टिकोण और दिशा संचालित दो नारियों को आधार मानकर कथाचक्र घूमता रहता है। यद्यपि नारी समस्या उठाने के कारण 'दिव्या' को हिन्दी साहित्य में अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता, फिर भी यह सत्य है कि उपयुक्त सभी कथाकारों की कृतियां और 'दिव्या' में विचार-दृष्टि और चिन्तन-भावना पूर्णतया विभिन्न है।

यशपाल साम्यवादी भावना से अनुप्राणित हैं अतः 'दिव्या' के माध्यम से नारी-स्वातंत्र्य के माध्यम से, सामन्तीय ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध दर्शन को अनुपयुक्त ठहरा कर, जीवन-प्रगति स्वरूप चारवाक के नास्तिकता-मूलक भावना को महत्व प्रदान किया है। सुधाकर पांडेय ने 'हिन्दी-साहित्यकार' में कहा है—"उनकी साहित्यिक मान्यताओं से व्यक्ति का विरोध हो सकता है किन्तु उन्होंने जो कुछ भी लिखा है यदि उसे देखा जाय तो हिन्दी में अपने ढंग के अकेले कथाकार हैं। यद्यपि वे प्रारम्भ से अन्त तक विद्रोही दीखेंगे किन्तु उनके विद्रोह के मूल में उनका एक अपना आदर्श है और वह आदर्शप्रधान है। जहां उनकी राजनीति उभड़ जाती है, वहां वे निश्चय ही सफल नहीं होते।"

वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, किशोरीलाल, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हिन्दी के ऐतिहासिक कथाकार हैं। वृन्दावनलाल वर्मा की मूल-चेतना-भूमि भारतीय संस्कृति है वहां राहुल तथा यशपाल ने वैज्ञानिक, साम्यवादी भावना को मूलस्वरूप से ग्रहण कर, भिन्न दिशा में प्रयाण किया है। परन्तु वृन्दावनलाल की तरह ऐतिहासिक कथावस्तु में रोमांस का पुट अवश्यमेव रहता है। एक अंग्रेजी आलोचक सी० रिकेट (C. Rickett) ने ठीक ही कहा है—"Strictly considered, every historical novel is a romantic speculation···Scott's success as a historical novelist lay in his sturdy realism·········."

अर्थात् रोमांस की प्रवृत्ति स्वीकार्य होकर भी मूल-भूत दृष्टि-विभिन्नता के फलस्वरूप 'दिव्या' और वृन्दावनलाल की कृतियों में महान अन्तर है। निश्चय ही 'दिव्या' में साम्यवादी भावधारा का, चिन्तन-दृष्टि का, प्रतिफलन

है। विचार, विषय आदि की दृष्टि से 'दिव्या' का मूल्यांकन करते हुए कह सकते हैं कि ऐतिहासिक मनोभूमि एवं पृष्ठाधार पर आधारित आलोच्य कृति का निरपेक्ष हो, परिधिविहीनता से मुक्त कर आलोचना करें तो सफल, प्रभावापन्न कृति मानी जायगी परन्तु हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय स्थान नहीं दिया जा सकता है। पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने ठीक लिखा है—"उनके (यशपाल के) लेखन का अपना ढंग है। विदेशी क्रान्तिकारी लेखकों की परम्परा के भारतीय अग्रदूत है।"

प्रश्न ६—'दिव्या' के ऐतिहासिक वातावरण एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिकता के धरातल पर अपनी पुस्तक (बाण भट्ट की आत्म-कथा) को निर्मित करने का प्रयत्न किया है। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' आदि में वृन्दावनलाल वर्मा ने भी देश-काल-वातावरण का अभूत-पूर्व चित्रण किया है जो निश्चय ही श्लाघनीय है। राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' आदि में वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश में सृष्टि के विकास के इतिहास को परखा है।

(क) *तद्युगीन नारी भावना*—'दिव्या' में देश-काल के चित्र-अंकन में यद्यपि एलोरा और अजन्ता यात्रा, तथा डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, डाक्टर मोतीचन्द, भगवतशरण उपाध्याय तथा लखनऊ बौद्ध विहार के वयोवृद्ध महास्थविर दन्त बोधानन्द से तथ्य ग्रहण कर लेखक ने स्वाभाविकता देना चाहा है फिर भी उसी वातावरण को सत्य चित्र देने में विरोध उपस्थित हो गया है। यशपाल ने दिव्या के युग और वातावरण को प्रस्तुत करते हुए लिखा है 'तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो ······स्त्री भोग्या है। मतिभ्रम होने पर मोह में पुरुष स्त्री के लिए बलिदान होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में नीतिज्ञ महत्त्वाकांक्षी और परलोकगामी पुरुष के लिए नारी को पतन का द्वार कहते हैं।······नारी का कुल क्या ? उसे भोगने वाले पुरुष के कुल से नारी का कुल होता है।······कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भांति स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं है। कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र

है ।" अर्थात् उस युग में ब्राह्मण व्यवस्थानुसार नारी को अधिकार प्राप्त न थे, स्वतन्त्रता नहीं थी, वह भोग्यामात्र थी । पुनः उन्होंने लिखा है कि मन्त्रणा-सभा आदि में स्त्रियां सम्मिलित होती थीं । 'मधु पर्व में भी स्त्रियां उपस्थित होती थीं । वे स्त्रियां नृत्य आयोजन में इच्छित पुरुष के साथ नृत्य कर सकती थीं । मल्लिका ने पृथुसेन की सत्ता समाप्त करने की लालसा तथा रुद्रधीर की व्यवस्थाप्रणाली में कला की उन्नति की आकांक्षा से जो नृत्य आयोजन किया था, उसमें हम देख सकते हैं कि जोला, वसुमित्रा, अमृता आदि अपनी इच्छानुसार पृथुसेन के साथ नृत्य और मदिरा पान करती हैं । सीरो भी पृथुसेन की विवाहिता होकर इच्छित पुरुष के साथ नृत्य करती है । अतः सिद्ध होता है कि नारियों को पूरी स्वतन्त्रता थी । फिर उसे भोग्या कहना और असुरक्षित प्रमाणित करना, केवलमात्र अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चय ही अनर्थ को प्रश्रय देना है । प्रतीत होता है, लेखक ने युग-सत्य को चित्रित करने का भरपूर प्रयत्न किया है परन्तु अपनी संकीर्ण, वादबद्ध आत्मचेतना और बुद्ध के धर्म तथा ब्राह्मण व्यवस्था पर आक्षेप और उसकी अनुपयुक्तता पर प्रहार करने के ध्येय के फलस्वरूप 'दिव्या' में स्वयं विरोधी तत्त्वों का संचरण साथ-साथ हो गया है । राहुल कृत 'वोल्गा से गंगा' में यह भ्रांति और गलती नहीं है । लेखक ने (यशपाल ने) तो यह भी चित्रित किया है कि स्त्रियां अपनी स्वेच्छा से शादी भी कर सकती थीं ।

(ख) *तद्युगीन रहन-सहन*—यशपाल द्वारा लिखित रहन-सहन, वेश-भूषा सम्बन्धी कुछ पंक्तियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है—"अभिजात पुरुष और कुल-स्त्रियां पर्व के योग और अपने वर्ण और वंशस्थिति के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किए थे । ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े लाल रेशम के उष्णीष से सिर के केशों को बांधे थे । उनके मस्तक और भुजा पर श्वेत चंदन का खौर था ।........कुछ स्त्रियों के प्रसाधन और केश-विन्यास में विशेष लालित्य था । मुक्ता लड़ियों द्वारा विविध प्रकार से गूँथे गए उनके केशों पर पुष्पों के अर्धचन्द्र किरीट शोभायमान थे । मस्तक, कान, कण्ठ, बाहुमूल, कलाई और अंगुलियां चन्द्रिका, तूलिका-लेखन, कुण्डल, हार, माला, अंगद, वलय और अंगूठियों से पूर्ण थे । पृष्ठ ९, १०, ११ आदि में इस सम्बन्ध में

विशेष वर्णन है। इसमे पता चलता था कि समाज (१) आभूषण का प्रेमी था, (२) रंग-बिरंगे वस्त्र को धारण करता था, (३) पुरुष भी आभूषण पहनते थे, (४) पर्दे का विशेष आग्रह न था, (५) सभा-उत्सव में स्त्रियां भी पुरुषों की तरह उपस्थित होती थीं, (६) सुन्दरी एवं (७) सुरा का आदर था।

(ग) *कथानक की ऐतिहासिकता*--यशपाल ने कथानक में ऐतिहासिकता (वातावरण आदि की दृष्टि से) देने के लिए बहुत से विद्वानों का सहयोग ग्रहण किया है जिसका उल्लेख लेखक ने स्वयं किया है। साथ ही कथा कल्पना पर आधारित है, इसे भी लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है। निश्चय ही यह उस युग की रचना है, जब बौद्ध और हिन्दू ब्राह्मण धर्म में संघर्ष चल रहा था। यह पुष्पमित्र के युग की कथावस्तु है।

(घ) *धार्मिक और राजनैतिक भाव-धाराएँ*--उस युग में सागल नगरी में बौद्ध धर्म, ब्राह्मण सामन्तीय धर्म, तथा नास्तिक चारवाक आदि की विभिन्न भावधाराएँ प्रतिव्याप्त थीं जिसका सफल अंकन 'दिव्या' में मिलता है।

(ङ) उस युग में यवन देश से आये हुए पुरुषों तथा ब्राह्मण तथा अभि-जातीय वर्ग में संघर्ष चल रहा था जिस का चित्रण पृथुसेन और रुद्रधीर तथा अन्य उच्चस्तरीय व्यक्तियों के संघर्ष में स्पष्टता से है। शालिहोत्री दास प्रेस्थ का ब्राह्मण तथा सामन्तीय सरदारों तथा शासकों पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न इसी दिशा का सूचक है। गोर्की की 'मां' (Mother) में तथा प्रेमचन्द के 'गोदान' में जिस प्रकार मज़दूर और पूँजीपतियों का संघर्ष है, वैसा संघर्ष 'दिव्या' में न होकर भी नारी-संघर्ष के कारण उसमे अपूर्व रोचकता और गतिशीलता दीख पड़ती है।

(च) *सामाजिक और (छ) मानसिक वातावरण*--सामाजिक वातावरण और मानसिक वातावरण के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह युग, वह समाज पूर्णतया सामाजिक, मानसिक संघर्ष से आग्रस्त था। मानसिक स्थिति के अनुकूल चित्रण देखिए--"उदास छाया को जान पड़ा, रात भर सम्पूर्ण प्रकृति भी उसकी स्वामिनी और उसकी भांति आंसू बहाकर अभी ही शान्त हुई है।" परन्तु स्मरण रहे, यह पुरानी पद्धति है परन्तु मनोवैज्ञानिक और जीवंत पद्धति है।

उपन्यास में अनुकूल और प्रतिकूल सभी रंग के चित्रण रहते हैं। 'दिव्या' में भी ऐसा देखा जा सकता है। अन्त में, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में ऐतिहासिक ज्ञान की कमी मालूम पड़ती है परन्तु 'दिव्या' के लेखक पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता। उसने इसमें अनेक प्रयत्नों से सामग्रियों को एकत्र किया है और उससे लाभ उठाया गया है।

(ज) *संकलन-त्रय* (Three Unities)—स्थल, काल और विचार-संकलन उपन्यास में कम ही मिलता है। 'दिव्या' में भी नही प्राप्त किया जा सकता। क्योंकि कथावस्तु कभी मथुरा कभी सागल घूमती रही है।

—०—

प्रश्न ८—परिच्छेदों के अनुसार कथा-क्रम पर विचार कीजिए।

उत्तर—'दिव्या' की सम्पूर्ण कथा को १३ परिच्छेदों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक परिच्छेद में परिच्छेद के नामकरण विशेष से सम्बन्धित कथासूत्र है जो दिव्या के जीवन पर प्रभाव डालते चलते हैं। (क) प्रथम परिच्छेद मधुपर्व है; सागल गणराज्य के प्रथानुसार आयोजित जिस उत्सव में, नृत्य कला में प्रथम को 'सरस्वती पुत्री' की किरीट तथा युद्ध-प्रतियोगिता में प्रथम आये को सेना में पद दिया जाता है। देवशर्मा की प्रपौत्री सरस्वती-पुत्री का किरीट धारण करती है और पृथुसेन प्रथम विजेता होता है और उसी स्थल पर दिव्या की शिविका (वहां की प्रथानुसार अभिजात वर्ग के लोग शिविका स्वयं ले चलते हैं) को पृथु को उठाने से रुद्रधीर वंचित कर देता है। कथावस्तु में गति इसी घटना से उपस्थित होती है। (ख) दिव्या के परदादा धर्मस्थ हैं जिनके शिष्ट और न्यायोचित वातावरण का चित्रण 'धर्मस्थ का प्रसाद' परिच्छेद में है। उसी परिच्छेद में पृथु का धर्मस्थ से न्याय की मांग करने आने पर दिव्या से भेंट होती है और दोनों शनैः शनैः एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। (ग) 'प्रेस्थ' परिच्छेद में पृथुसेन के पिता प्रेस्थ श्रेष्ठी का लालसापूर्ण चरित्र अंकित है जो अभिजात वर्ग से उपेक्षित और तिरस्कृत

होने की भावना से उदासीन पुत्र पृथु को अवसरवादी बनने की, कर्म करने की, शिक्षा देता है। (घ) 'आचार्य प्रवर्धन' परिच्छेद में गण-परिषद् के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के प्रासाद के भीतर अभिजात वर्ग द्वारा पृथुसेन के प्रति क्षोभ और हीन भावना का प्रदर्शन होता है। जहां रुद्रधीर को निर्वासिन दण्ड धर्मस्थ द्वारा मिलता है और रुद्रधीर के मित्र षड्यन्त्र रचते हैं। (ङ) 'आत्म-समर्पण' में दिव्या का अपने को पृथुसेन को समर्पित करना, प्रेमाभिभूत होना चित्रित है तथा पृथुसेन के विदेशियों के आक्रमण रोकने जाने पर दिव्या की पृथुसेन के विरह से उद्बुद्ध भावनाओं का दिग्दर्शन है। (च) 'विकट वास्तव' में दिव्या को विकट परन्तु वास्तविक स्थिति का दर्शन होता है; पृथुसेन के घायल होकर लौटने पर सीरो को सेवा में लगा देख दिव्या को अपने प्रति पृथु का विकर्षण समझना और संसार की ठोकरें खाने निकल पड़ना है। पृथु भी दिव्या की प्रतीक्षा करता है परन्तु दिव्या के न आने पर समझता है कि दिव्या अब उसे प्यार नहीं करती। सीरो पृथु से प्रेम प्रदर्शित कर उसकी सेवा में दत्तचित रहती देखी जाती है। (छ) 'तात धर्मस्थ' में दिव्या के लापता होने पर दासी छाया को विष्णुशर्मा का कुपित हो दण्डित करना और पीड़ा से छाया की मृत्यु एवं इस समाचार से धर्मस्थ की मृत्यु चित्रित है। वे इस कर्म को अन्याय समझते हैं। (ज) 'दास' में दिव्या का दास-व्यवसायी के जाल में पड़ने के पश्चात् चक्रधर ब्राह्मण के हाथ बेचा जाना और अपने पुत्र को दूध न पिला कर (दिव्या के गर्भ से पुत्र होता है, पृथु के प्रेम के कारण) ब्राह्मण की संतान जीवित रखने के लिए उसकी संतान को ही दूध पिलाने की आज्ञा और यातनाओं से पीड़ित हो नदी में कूदना तथा रत्नप्रभा द्वारा दिव्या का जीवन-दान एवं ब्राह्मण से मुक्ति परन्तु उसी हलचल में उसके पुत्र की मृत्यु बड़ी सजीवता से चित्रित है। (झ) 'अंशुमाला' में दिव्या का अंशुमाला नाम से वेश्या रत्नप्रभा के यहां नृत्य करना और धनोपार्जन करना दिखाया गया है, जहां दिव्या की आन्तरिक पीड़ाओं के कारण उदासी भी द्रष्टव्य है। जहां वह मारिश से प्रभावित भी होती है और रुद्रधीर के प्रति उदासीनता प्रकट करती है। (ञ) 'सागल' परिच्छेद में निर्वासित रुद्रधीर का पुनः सागल लौटना और पृथुसेन के प्रभाव

और शासन को समाप्त करने के लिए मल्लिका के साथ षड्यन्त्र की योजना तैयार करना दिखाया गया है। (ट) 'पृथुसेन और रुद्रधीर' परिच्छेद में केवल षड्यन्त्र स्वरूप आयोजित नृत्य और मदिरा में आसक्त कर पृथुसेन के शासन और प्रासाद को नष्ट करना वर्णित है परन्तु पृथुसेन भाग्य से जीवित निकल भागता है और स्थविर चीवुक की कृपा से संघाराम में आश्रय ग्रहण करता है और पूर्णतया निर्लिप्त हो, निर्वाण का आकांक्षी हो रुद्रधीर के प्रति शत्रुता छोड़ देता है। (ठ) 'मल्लिका' परिच्छेद में मल्लिका का अपनी शिष्या से दिव्या को मांग कर उत्तराधिकारी बनाने की कल्पना से सागल लाना दिखाया गया है और (ड) 'दिव्या' परिच्छेद में ब्राह्मण व्यवस्थानुसार उसे (दिव्या को) उत्तराधिकारी बनने में व्यवधान देख बौद्ध और ब्राह्मण-सामन्तीय धर्म से क्षुब्ध हो मारिश को ग्रहण कर लेना दिखाया गया है; जिस मारिश के साथ अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखने की उसकी कल्पना बनी रहती है।

प्रश्न ६—'दिव्या' की सामयिक स्वर की दृष्टि से आलोचना कीजिए।

उत्तर—महान् साहित्यकार में सृष्टि और स्रष्टा दोनों रूप अन्तर्हित रहते हैं। कलाकार सामाजिक प्राणी होने के परिणामस्वरूप आवेष्ठनगत परिव्याप्त भावनाओं और परिवेश से प्रभावित होता एवं अपनी अन्तःसूक्ष्मता से चतुर्दिक् प्रभाव विस्तारित भी करता रहता है। अपनी अनुभूति और अनुभव द्वारा वह (साहित्यकार) इस महती योजना में कुशलतापूर्वक दत्तचित होता रहता है। हाल्वेशियस, लॉक, कैंडल, हेवर्ड आदि मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्यों का अध्ययन कर इसी तथ्य का पता लगाया कि वातावरण का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य पड़ता है। 'दिव्या' की सृष्टि में सामयिक परिस्थितियां तथा भावधाराएं एवं समस्याएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव रखती है, यह हम अस्वीकार नहीं कर सकते। किसी का कहना है कि ऐतिहासिक लेखक वर्तमान में भयातुर हो इतिहास की ओट लेता है। परन्तु इस विषय पर यहां विचारना अप्रासंगिक होगा। हमें प्रस्तुत स्थल पर आलोच्य पुस्तक की सामयिकता के अपूर्व आग्रह पर दृष्टिपात करना है।

१९४४-४५ के लगभग तक नारी की स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा

था। १७५२ में सर्वप्रथम नारी स्वतन्त्रता पर Mary Wallstonecraft ने पुस्तक लिखी थी जिसे 'A Vindication of the Rights of Woman' कहा जाता है। उस भावना का परिष्कार और विस्तार युग के अनुरूप होता रहा। प्राचीन युग में भारतीय समाज में स्त्रियों को स्वतन्त्रता और अधिकार होने पर भी मुसलमानी शासन-काल में रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज में, महादेवी वर्मा के शब्दों में—"साधारण रूप-वैभव के साधन ही नहीं, मुट्ठी भर अन्न भी स्त्री के सम्पूर्ण जीवन से भारी ठहरता" था। उन्होंने 'शृंखला की कड़ियां' में लिखा है—"इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय और घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार यह एक स्त्री भी पाल लेता है।" इस दिशा में नारी-समस्यात्मक लेख महादेवी के महत्वपूर्ण हैं, युग की पीड़ित नारियों के सच्चे परिचायक हैं। यशपाल ने भी उसी समस्या से क्षुब्ध हो 'दिव्या' की सृष्टि की है। 'दिव्या' की पंक्तियां हैं—"स्त्री भोग्या है।' 'नारी का कुल क्या है ? उसे भोगने वाले पुरुष के कुल से नारी का कुल होता है। ....वह आत्मनिर्भर नहीं।" पाठक ध्यानपूर्वक देखें, एक ही मूल आक्रोश और क्षोभ यशपाल में भी कार्य कर रहा है। स्मरण रहे, महादेवी, डाक्टर रामकुमार वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, रवीन्द्रनाथ, हरिऔध, यशपाल, सभी की दृष्टि ने नारी-स्वातन्त्र्य की सामयिक भावना को ग्रहण किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए उस पर उचित प्रकाश डालने की चेष्टा की। यशपाल ने अपनी बौद्धिक चेतना एवं चिन्तन-प्रणाली के अनुरूप स्वतन्त्रता और अधिकार अक्षुण्ण के निमित्त नारी को उस पुरुष का सहयोग औचित्य ठहराया जो मारिश की तरह विचार रखता हो—"वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का आदान-प्रदान'.......कर सकता है।......'नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।........सन्तति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है।—"

कई स्थलों के वर्णन में भी आधुनिकता का प्रभाव देखा जा सकता है—"नगर प्राचीन और उत्तर मार्ग के वृक्ष भी उत्सुकता से व्याकुल नागरिकों से लदे थे।" आज भी ऐसा करते लोगों को देखा जाता है।

अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में रस्तोगी ने ठीक ही कहा है कि 'दिव्या' में सामयिकता की छाप है। निश्चय ही जन्मगत रूढ़िवादिता की भावना पर भी 'दिव्या' में व्यंग्य मिलता है। शिवदानसिंह चौहान का कहना सत्य ही है—"एक कथाकार के रूप में यशपाल का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़ कर सामने रखना है।"

इक्कीस कहानियाँ

प्रश्न १—'इक्कीस कहानियाँ' नामक पुस्तक के अन्तर्गत कौन-कौन सी कहानियाँ हैं ? उनके लेखकों के नाम लिखिये।

कहानी	लेखक
१. देवरथ	श्री जयशंकर प्रसाद
२. उसने कहा था	श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
३. रक्षा-बन्धन	श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक
४. नशा	श्री प्रेमचन्द
५. रमणी का रहस्य	श्री रायकृष्णदास
६. हार की जीत	श्री सुदर्शन
७. गंगा, गंगदत्त और गांगी	श्री पाण्डेय बेचैन शर्मा 'उग्र'
८. श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी	श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
९. रेल की रात	श्री इलाचन्द्र जोशी
१० निंदिया लागी	श्री भगतीप्रसाद वाजपेयी
११. विधाता	श्री विनोदशंकर व्यास
१२. कागज़ की टोपी	श्री वाचस्पति पाठक
२३. पत्नी	श्री जैनेन्द्रकुमार जैन
१४. झूठ-सच	श्री सियारामशरण गुप्त
१५. हूक	श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
१६. पानवाला	श्री सुमित्रानन्दन पन्त
१७. दो बांके	श्री भगवतीचरण वर्मा
१८. घीसा	श्री महादेवी वर्मा
१९. प्रोफेसर भोमभटाराव	श्री राधाकृष्ण
२०. रोज़	श्री अज्ञेय
२१. पिंजरा	श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रश्न २–निम्नाङ्कित कहानियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए।

देवरथ

उत्तर—श्री रायकृष्णदास द्वारा सम्पादित इक्कीस कहानियों में श्री जय-शंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'देवरथ' नामक कहानी प्रथम कहानी है। प्रसाद जी ने अतीत के पट पर उस वातावरण को इस कहानी में अङ्कित किया है जिसमें पड़ कर मनुष्य का महा पतन हुआ है। सनातन मानव प्रवृत्तियों पर इस प्रकार के धार्मिक आडम्बरों तथा नैतिक दुर्बलताओं की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है ? यही बात इस कहानी में बड़े ही सुन्दर ढंग से बताई गई है।

'देवरथ' कहानी की विशेषताओं पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

प्रसाद जी ने हिन्दी के अन्य अङ्गों की भाँति कहानियों में भी बड़ी देन दी है। भाषा, भाव, शैली एवं क्रम की दृष्टि से उनकी कहानियाँ उच्चकोटि की मानी जाती हैं। ठीक यही बात प्रस्तुत कहानी देवरथ में भी है। कहानी कला की दृष्टि से उच्चकोटि का होने के साथ-साथ हमारे समक्ष बौद्धकालीन धार्मिक आडम्बरों तथा उसकी प्रतिक्रियाओं का भी बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है।

कहानी में यह बात प्रकट की गई है कि बौद्ध धर्म के सभी सच्चे आदर्श मिट चुके हैं। ढोंग पाखण्ड तथा आडम्बर ही प्रधान रह गया है। धर्म की आड़ में अधर्म का नग्न नृत्य हो रहा है। पारिवारिक आदर्शों एवं सम्बन्धों की अवहेलना की जा रही है। किन्तु बिहारों में, धर्म की ओट में यही सब बातें अपने घृणित रूप में हो रही हैं। आर्य्यमित्र इन भैरवी चक्रों को देख कर व्याकुल है। संघ के नियमों को तोड़ देना चाहता है। वह इस अधेर को नहीं देखना चाहता है।

स्त्री का स्वरूप तो अत्यधिक निकृष्ट एवं घृणास्पद बना दिया गया है। उसके शील का कोई भी मूल्य नहीं रहा है। यदि नारी को मनुष्य की उदा-रता उस पंक से उबारना भी चाहे तो नारी की शील भावना अपने को ही सर्वथा अयोग्य एवं असमर्थ पाती है। आर्य्यमित्र से सुजाता स्वयं कहती है, 'मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुल-वधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण

करती हैं–कहाँ से लाऊँगी ?" उसमें तात्कालिक भिक्षु-बिहारों के घृणित वातावरण से इतनी अधिक नैतिक निर्बलता आ गई है कि वह अपनी सारी लांछना पुरुष के साथ बाँट कर उसकी जीवन-सङ्गिनी बनने का साहस नहीं कर सकती है।

प्रसाद जी ने सुजाता तथा आर्य्यमित्र के वार्त्तालाप से उपर्युक्त बात बड़ी सफलता से विवेचित की है। तत्कालीन समाज एवं धर्म का सच्चा चित्र इस कहानी में अङ्कित है। भाषा तथा प्रतिपादन बड़ा ही श्रेष्ठ है। कहानी का आरम्भ एवं विकास अन्त तक समुचित है। प्रसाद जी ने उपर्युक्त कहानी बड़े सफल ढंग से चित्रित की है। इसका अन्त और भी अधिक सुन्दर है। 'सुजाता' देवरथ के चक्र के नीचे गिर जाती है। इस प्रकार से प्रायश्चित्त उसका ही नहीं, बल्कि उस सड़े-गले संघ का भी हो जाता है। इधर तो सुजाता का शरीर उस रथ-चक्र से पिसता है और उधर काला पहाड़ उस दुर्व्यवस्था का अन्त करने उस संघ पर आ टूटता है।

उसने कहा था

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा लिखित 'उसने कहा था' नामक कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस अकेली कहानी ने ही गुलेरी जी को अमर बना दिया है।

'उसने कहा था' कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' नामक कहानी को अपने नाम को सदैव अमर रखने के लिए लिखा है। वास्तव में कहानी अपने प्रकार एवं विषय की अद्वितीय है। इसकी नवीनता में अब तक कोई अन्तर नहीं आने पाया है। इसका स्थान संसार की श्रेष्ठ कहानियों में है। उद्देश्य, कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल तथा शैली इत्यादिक सभी तथ्यों की कसौटी पर यह कहानी खरी उतरती है।

इस कहानी की भाषा विषय के पूरी तरह अनुकूल है। अमृतसर के बाजार में कहानी का आरम्भ होता है। भाषा उस स्थान के अनुकूल ही प्रयोग में लाई जाती है। आगे भी इसका क्रम एवं प्रवाह ठीक इसी प्रकार

से निर्वाहित किया गया है। कहानी का उद्देश्य पाठकों के समक्ष सच्चे परिचय में वचन पूर्ण करने का मंगलकारी सन्देश उपस्थित करना है। लहनासिंह अपने जीवन का बलिदान करके अपने दिये हुए वचन को बाल्य-काल के परिचय के आधार पर पूर्ण करता है।

कहानी की कथावस्तु यथार्थ के आधार पर खचित घटनामूलक है। इसका किसी ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी घटना स्वयं इतनी अधिक प्रभावोत्पादक है कि कथावस्तु में सौन्दर्य का आ जाना स्वाभाविक ही हो जाता है। कहानी के उद्देश्य को ध्यान में रख कर यदि इसकी कथावस्तु पर विचार किया जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि कहानी की कथावस्तु अपने ढंग की उपयुक्त ही नहीं, वरन् अद्वितीय भी है।

पात्रों को वर्णन से सम्बन्धित स्थानों के अनुकूल पूर्णतः चुन कर रखा गया है। इनकी प्रत्येक की अपनी-अपनी उपयोगिता है और आवश्यक महत्त्व है। लहनासिंह का चरित्र अन्य पात्रों की सहायता से निरन्तर निखरता ही जाता है। इसी प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कहानी में सजीव सफलता पाई जाती है। चरित्र-चित्रण की उत्तमता के हेतु कहानी में जिस पद्धति की आवश्यकता होती है, वह हमें इस कहानी में प्राप्त है। परिस्थितियों में कर्तव्य के प्रति सजगता, सद्वृत्तियों का तारतम्य इस कहानी के चरित्र-चित्रण को और भी अधिक उत्कृष्ट बना देते हैं। लहनासिंह का चरित्र बालक के रूप में, युद्ध के कुशल सैनिक के रूप में तथा अपनी चिर-परिचिता सूबेदारनी को दिये गए वचन का निर्वाह करने वाले के रूप में सभी प्रकार से श्रेष्ठ, उत्कृष्ट तथा उत्तम है।

कथोपकथन इस कहानी में सबसे अधिक विशेषता रखते हैं। गुलेरी जी अपनी ओर से कोई भी बात नहीं कहते हैं। घटना तथा पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन के द्वारा ही सारी भावाभिव्यक्ति हो जाती है। चरित्र-चित्रण के अंश पर भी इस कथोपकथन का बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा है।

देश-काल के प्रति इसमें गौरवता पाई जाती है। कहानी का विषय घटना-मूलक एवं उद्देश्य प्रधान है। समय की भी लम्बी अवधि है तथा स्थान का

भी काफी बड़ा अन्तर है। किन्तु फिर भी विधान में कोई अरोचकता एवं प्रसङ्गहीनता नहीं आने पाई है। अत: देश-काल की समस्या वर्णन को ध्यान में रख कर अधिक महत्त्व नहीं रखती।

शैली निस्सन्देह अद्वितीय है। वास्तव में पूरी कहानी की एकमात्र श्रेष्ठता एवं अमरता इसकी शैली पर ही अवलम्बित है। चित्रण की सजीवता, वर्णन की उत्कृष्टता, कथा की क्रमबद्धता तथा भाषा की उपयुक्तता इस शैली के प्रधान गुण हैं। इन सबसे अधिक इस कहानी का शीर्षक बड़ा ही कौतूहल-वर्धक है। शीर्षक पढ़ते ही पाठक के हृदय में एक अपूर्व कौतूहल-वृत्ति जागृत हो उठती है। कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा, विधान, कथानक और अभिव्यक्ति चारों ही अङ्गों में यह कहानी सर्वरूपेण सफल एवं सम्पन्न है।

रक्षाबन्धन

प्रस्तुत कहानी श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के द्वारा लिखी गई है। इसमें स्वजन-प्रेम का एक करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है जो अन्त में एक सुखद एवं आह्लादक परिस्थिति में पूरा होता है। कहानी बड़ी ही सुन्दर, रोचक एवं प्रभावशाली है।

'रक्षाबन्धन' कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

कुशल कहानीकार कौशिक ने प्रस्तुत कहानी को बड़े ही कलापूर्ण ढंग से लिखा है। कहानी अपने विषय की उत्तमता तथा वर्णन की स्पष्टता के कारण अवश्यमेव उच्च श्रेणी की कही जा सकती है। इसका आरम्भ जितना अधिक आकर्षण रखता है, उतना ही अधिक इसका अन्त भी सुखद एवं आह्लादकारी है। माँ-बेटी के सम्वाद में एक अपूर्व जादू भर कर कहानी का प्रारम्भ है, आगे भी यह प्रभाव निरन्तर बढ़ता ही गया है। श्रावणी के दिन से स्मृति अपने स्वजन प्रेम में पग जाती है। अनायास किन्तु अपरिचित अवस्था में मिले हुए भाई-बहन स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। पाँच वर्ष की अवधि के पश्चात पुनर्मिलन होता है, वह भी दूसरी ही स्थिति में, किन्तु रहस्य खुलने पर सबको अनिर्वचीय आनन्द की प्राप्ति होती है। कहानी में पाठकों का मन हरण करने की निश्चय ही शक्ति

है। कहानी का उद्देश्य, स्वजन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण का होना, सिद्ध करना है। घर के द्वार पर खड़ी बालिका के सामने से एक, दो, तीन करके कई व्यक्ति निकल जाते हैं किन्तु उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। किन्तु ईश्वरीय प्रेरणा से एक युवक उस बालिका से अपरिचित होते हुए भी सहसा उसे देख कर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। इसका मुख्य कारण ही यह है कि स्वजन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता ही है। मन और ध्यान अपने संस्कारों वश अपने से सम्बन्धित की ओर ही बढ़ा करते हैं। यह बात इस कहानी में बड़ी सफलतापूर्वक चित्रित की गई है।

कथावस्तु कल्पित है, किन्तु उसमें बड़ा विचित्र प्रभाव है। कहानी अपनी निर्बाध गति के साथ चरम लक्ष्य को प्राप्त करती है। यही इसके कथानक की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है। भाव लक्षित कराने के हेतु उपयुक्त मात्रा में उचित पात्रों का सुन्दर संकलन है। अनावश्यक पात्र एक भी नहीं है। यहाँ तक मित्र लोग भी घनश्याम की अपनी स्थिति को ही अधिक से अधिक स्पष्ट करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से घनश्याम का प्रमुख चरित्र है, जिसमें अपूर्व क्षमता एवं प्रतिभा है। वह धन की इच्छा से दक्षिण में चला जाता है, उन दिनों माँ-बहिन की उसे याद नहीं रहती, यह परिस्थिति का दोष है। किन्तु आगे हम उसे इसके हेतु पश्चात्ताप करते हुए भी तो पाते हैं, जिससे उसकी माँ तथा बहन के प्रति सच्ची निष्ठा सिद्ध हो जाती है। अन्त का मिलन कहानी का सुखान्त टच है। अन्य पात्र भी इसी प्रकार उत्कृष्ट कोटि के हैं। 'बालिका' का चरित्र तो प्रारम्भ से ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसमें उच्चता एवं श्रेष्ठता के सभी गुण विद्यमान हैं।

कथोपकथन के द्वारा पात्रों का रूप स्फुट किया गया है। इस विषय में लेखक अपूर्व क्षमता रखने वाला ज्ञात होता है। मित्रों के वार्तालाप से घनश्याम की धनाढ्यता तथा अविवाहित स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। माता दुतकार प्रकट करती है कि बालिका पितृहीना है। भाई भी उसका साथ छोड़ कर अन्यत्र चला गया है। इस प्रकार पात्रों के कथोपकथन सर्वत्र भावपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। एक अजीब वातावरण की सृष्टि हो जाती है।

कहानी की शैली के सम्बन्ध में तो पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका

है। अन्यपुरुषबाची शैली के द्वारा कहानी का सृजन हुआ है। उसमें सबसे बड़ी विशेषतया विषय की स्पष्टता है। भाषा, भाव तथा शैली सभी दृष्टिकोणों से कहानी उत्तम है।

नशा

प्रस्तुत कहानी स्व० बा० प्रेमचन्द जी द्वारा लिखी गई है। इसमें जमींदारों के वभव, विकास तथा व्यवहारों का वर्णन है। प्रेमचन्द जी तो साहित्य-साधना का सफल वरदान लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने जो कुछ लिखा वही सफल एवं उत्कृष्ट बन गया।

'नशा' कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

श्री प्रेमचन्द जी हिन्दी के उन अमर कलाकारों में से हैं, जिनके कारण हिन्दी को विश्व की किसी भी समर्थ भाषा के समकक्ष खड़ा होने का अधिकार प्राप्त हुआ है। 'कहानियों' के क्षेत्र में भी उनकी स्वाभाविक सफलता उनसे उतना ही नैकट्य रखती है जितना कि उपन्यासों में। उनके हृदय के भाव प्रधान हैं, भाषा स्वयं ही भावानुकूल स्वरूप बनाती चलती है। अतः कहानी का उत्कृष्ट होना स्वयमेव स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत कहानी 'नशा' एक उच्च-कोटि की कहानी है। उसमें जमींदारों के वैभव तथा विलास का चित्र खींचा गया है। साथ ही यह भी प्रकट है कि इस वैभव का जमींदार वर्ग में एक नशा सा छाया रहता है। फलस्वरूप उनकी मनुष्यता मिट जाती है। केवल जमींदार ही नहीं बल्कि उनकी संगति में बैठने वाले तक भी इसी विषैली मनोवृत्ति के आदमी हो जाते हैं।

कहानी में ईश्वर का चरित्र जमींदारों का प्रतिनिधित्व करता है। ईश्वरी अपने नौकरों को अमानुषिक ढंग से जरा-जरा सी बातों पर डांटता है, बेगार लेता है। कोई भी छोटे-से-छोटा कार्य भी अपने हाथों से नहीं करना चाहता। ये बातें जमींदारों की मनोवृत्ति की परिचायक हैं। गर्मी की छुट्टियाँ मात्र व्यतीत करने के लिये ईश्वरी के साथ एक ऐसा व्यक्ति जाता है जो जमींदारों का बड़ा भारी विरोधी है। उनको समाज का द्रोही, शोषक एवं जोंक इत्यादि कह कर पुकारता है। किन्तु जमींदारी का नशा थोड़े ही दिनों में उस पर भी

ऐसा छा जाता है कि वह ईश्वरी से भी आगे बढ़ जाता है। अतः इस व्यक्ति का इस प्रकार का परिवर्तन जमींदारों की संगति के प्रभाव का परिचायक है। कहानी का यही तथ्य-उद्घाटन उद्देश्य है। वर्णन की स्पष्टता एवं कथानक की उपयुक्तता से ही इसमें लेखक पूर्णतः सफल हुआ है। पात्र भी मुख्य रूप से दो ही हैं—एक ईश्वरी, दूसरा उसका साथी। अन्य पात्र तो कहानी के उद्देश्य को सफल बनाने के हेतु सहायक रूप में गौण स्थान रखते हैं। दोनों पात्रों में स्वाभाविक अन्तर है, किन्तु केवल प्रारम्भ में ही; बाद में तो जमींदारी का नशा मानसिक स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर ही देता है।

कथोपकथन भी बड़े ही मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक हैं। पात्र एवं स्थिति का बहुत कुछ स्पष्टीकरण इन कथोपकथनों से ही हो जाता है। कहानी की शैली प्रथमपुरुषवाची है। 'मैं' शब्द के द्वारा लेखक अपने मुँह से समस्त बात सुझाता है। जिसका पाठकों के हृदय पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। कहानी का शीर्षक 'नशा' एक विशेष कुप्रथा (जमींदारी के दूषित प्रभाव) की ओर संकेत करता है। कहानी की भाषा सरल, सुबोध तथा भावपूर्ण है। कहानी प्रत्येक दृष्टिकोण से उच्चकोटि की कही जा सकती है।

हार की जीत

यह कहानी हिन्दी के श्रेष्ठ कलाकार 'श्री सुदर्शन' द्वारा लिखी गई है। कहानी के क्षेत्र में लोकप्रियता की दृष्टि से प्रेमचन्द के बाद आपका ही नम्बर आता है। कला की उत्कृष्टता, वर्णन की विशिष्टता तथा शैली की उपयुक्तता आपकी कहानियों के प्रमुख-प्रमुख गुण हैं। इस कहानी में सच्चे प्रेम का चित्राङ्कन किया गया है जो कि मनुष्य-मनुष्य के बीच न होकर मनुष्य तथा एक घोड़े के बीच है। गरीब पर विश्वास करने की पवित्र भावना इस कहानी की विशेषता को और भी बढ़ा देती है।

'हार की जीत' कहानी की आलोचना—

श्री सुदर्शन ने इस कहानी को बड़े ही मार्मिक ढंग से कलात्मकता के साथ वर्णन किया है। सुदर्शन जी एक उच्चकोटि के सफल कहानीकार हैं। उनकी कहानियों का बाह्य रूप तो उत्तम होता ही है, किन्तु अन्तर भी कहीं

बाह्य से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होता है । इस कहानी में 'प्रेम' की प्रतिष्ठा की गई है । बाबा भारती का अपने घोड़े पर स्वजन की भाँति प्रेम है । वे भजन, पूजा से बचा हुआ कुछ समय घोड़े की खातिर ही खर्च करते हैं संसार की प्रत्येक वस्तु को उन्होंने त्याग दिया है किन्तु केवल एक घोड़ा ही है जिसे वे अत्यधिक प्रेम करते है । घोड़े के अभाव में वे अपना जीवन नहीं रख सकते—इतना अधिक प्रेम है । मनुष्य-मनुष्य के बीच में ही प्रेम की प्रतिष्ठा नहीं बल्कि मनुष्य तथा पशुओं में भी हो सकती है, यही बात इस कहानी में बड़े कलापूर्ण ढंग से बताई गई है । इससे भी आगे इस कहानी में मनुष्यता का एक सच्चा एवं उच्च आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है । छलपूर्वक खड्गसिंह द्वारा घोड़ा छिन जाने पर बाबा भारती अपनी हानि का अधिक ध्यान न करके उस घटना को गुप्त रखने के हेतु चिन्तित हो जाते हैं । उनकी एक ही विनय है "कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना ।" इस घटना के प्रकट होने से उनको भय है कि फिर लोग गरीबों पर विश्वास न करेंगे । कितनी उच्चता एवं महानता की बात है । इसी महानता का प्रभाव दुराशय डाकू पर भी पड़ता है और वह सद्वृत्तियों से सम्पन्न होकर घोड़े को वापिस बाँध जाता है । उस समय उसके आँसू गिरते हैं । वह उच्चता का प्रभाव है ।

कहानी में कहानीकार ने उपर्युक्त तथ्य बड़ी ही सफलतापूर्वक चित्रित किया है । उसकी अपनी शैली तथा कहानी की गतिविधि बड़ी ही निराली है । उच्च उद्देश्य की व्यंजना के हेतु कहानी लिखी जाती है । कथावस्तु स्वयं अपनी कल्पित है । पात्रों की संख्या बहुत कम है । कथोपकथन उद्देश्य की स्पष्टता एवं पूर्णता के हेतु ही प्रयोग में आये हैं । चरित्र-चित्रण भी बड़े ही उच्च ढंग का है । बाबा में तो प्रेम तथा मानवता का विचित्र प्रकाश है ही, किन्तु डाकू खड्गसिंह की आत्मा में भी सद्वृत्तियों का निवास है । उसमें भी अन्त में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है । यहाँ इसका चरित्र भी दूध के सदृश श्वेत तथा अमृत के सदृश पवित्र सिद्ध होता है । शैली भी बहुत ही भावपूर्ण एवं आकर्षक है । सभी दृष्टियों से कहानी उच्चकोटि की एक सफल कहानी सिद्ध होती है ।

पत्नी

श्री जैनेन्द्रकुमार द्वारा लिखित प्रस्तुत कहानी 'पत्नी' में भारतीय पत्नी के चरित्र को चित्रित किया गया है। उसमें सहनशीलता है, पति-निष्ठा है तथा अपने भावावेश को दबाने की अपूर्व क्षमता है।

'पत्नी' कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

श्री जैनेन्द्रकुमार इस युग के परम-प्रतिष्ठा-प्राप्त कहानी लेखक हैं। उनकी कहानियाँ नवीन शैली की होती हैं। घटनाओं का बहुधा अभाव होता है किन्तु तथ्य-निरूपण बड़े ही साफल्य के साथ किया जाता है। प्रस्तुत कहानी 'पत्नी' उनको बड़ी ही मनोहर, भावपूर्ण तथा सफल कहानी है। इसमें भारतीय पत्नी की सहनशीलता, पतिपरायणता तथा अपने भावावेश को दबाने की क्षमता का वर्णन किया गया है। पति की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। सुनन्दा अपने पति की प्रतीक्षा में अँगीठी के सहारे बैठी रहती है। उनके आने पर ही उसे खाना बनाना अच्छा लगता है। पति बड़े विलम्ब से आते हैं। न तो उनको अपने खाने की चिन्ता है और न सुनन्दा के खाने की फिक्र। आते भी हैं तो झल्लाते हुए ही। सुनन्दा चुप हो कर सब कुछ सह लेती है। अपने खाने की तनिक भी चिन्ता न करके वह पूरा का पूरा अपना भोजन थाली में परोस कर टेबुल पर रख आती है। विभिन्न विचार उसके हृदय में चलते हैं किन्तु अन्त में इसी विचार पर आकर वह टिकती है कि वह अब उनके गुस्सा होने का कोई भी कारण उपस्थित होने ही न देगी। भारतीय नारी की स्वाभाविक सहिष्णुता का यह बड़ा ही सुन्दर चित्रण है। इस कहानी में घटना का सर्वथा अभाव है किन्तु पर्याप्त आकर्षण है। कहानी का उद्देश्य भारतीय नारी का चित्र उपस्थित करना ही है। लेखक को इसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। कथावस्तु लेखक की अपनी मौलिक है। 'पात्र' कम से कम हैं। पति तथा पत्नी के ही बीच की बात है। उनके पारस्परिक व्यवहार से ही चित्र उपस्थित किया गया है। मित्र लोग तो परिस्थिति को अधिक गम्भीर बना कर सुनन्दा को वास्तविक रूप में प्रकट करने के माध्यम मात्र हैं। पति की बात प्रधान है, सुनन्दा कम बोलती है, यद्यपि विचारती अधिक

है। यह विचार भी पूर्णरूपेण उपयुक्त स्थिति में ही होता है। लेखक की शैली बड़ी सरल तथा आकर्षक है। सुनन्दा के मन ही मन विचार से वह उसकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण कराता है। भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से कहा जा सकता है कि कहानी निस्संदेह अच्छी बन पड़ी है। घटनाओं के अभाव में तथ्य-निरूपण एवं उद्देश्य-पूर्ति का प्रयास श्री जैनेन्द्रकुमार जी की प्रशंसा का कारण प्रतीत होता है।

दो बाँके

प्रस्तुत कहानी श्री भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित है। इसमें लखनऊ के बाँके नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण है।

'दो बाँके' नामक कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

प्रस्तुत कहानी श्री भगवतीचरण वर्मा ने एक परसनल ऐसे की भाँति लिखी है। यद्यपि उनकी अधिकांश कहानियाँ मानव-जीवन की गम्भीरतम उलझनों और परिस्थितियों को लेकर लिखी जाती हैं। किन्तु इसमें इस प्रकार की कोई बात नहीं है। इसमें तो केवल लखनऊ के उन विचित्र व्यक्तियों के क्रिया-कलापों पर एक व्यङ्ग्य कसा गया है। उनका जीवन बिल्कुल दिखावटी है। अपनी प्राचीन ऐंठ को वे इस स्थिति में भी नहीं भुलाना चाहते। 'दो बाँके' कहानी में ठीक यही चित्रण है। लखनऊ से सम्बन्धित एक कथानक की कल्पना कर वहाँ के इस शुष्क एवं आडम्बरी जीवन का इसमें चित्र खींचा गया है। वास्तविकता की दृष्टि से इनमें ऐसी बात नहीं है जैसी औरों पर रौब डालने को कहा करते हैं। जो कुछ है सब बनावटी और दिखावटी। "रस्सी जल गई पर ऐंठ न गई" वाली बात है। लेखक ने इस बात की बड़ी ही सुन्दर शैली में वर्णन किया है। इक्के वाले के द्वारा इन बाँकों की दिखावटी स्थिति पर प्रकाश डलवाकर स्थिति को स्पष्ट किया है। वर्णन में प्रवाह है, चहल-पहल है तथा एक आकर्षण है। यही इसकी विशेषता है।

रोज

प्रस्तुत कहानी के लेखक श्री अज्ञेय जी हैं। कहानी-लेखक के रूप में आपने साहित्य संसार में बड़ा ही सम्मान प्राप्त किया है। सूक्ष्म एवं गम्भीर

तथ्यों की खोज करके उनका स्वस्थ एवं विशद विश्लेषण करना आपकी रचनाओं की विशेषता है। प्रस्तुत कहानी में भी एक परिवार की ठीक इसी प्रकार की त्रुटि का सुन्दर विश्लेषण है।

'रोज' कहानी पर आलोचनात्मक टिप्पणी—

श्री अज्ञेय जी ने प्रस्तुत कहानी को अपने अनुभव के आधार पर बड़े ही कलापूर्ण ढंग से रखा है। उनकी अपनी विशेषता इस कहानी में भी झलक रही है। वे गम्भीर जल में डुबकी लगाकर सूक्ष्म वस्तुओं की खोज कर उनका विश्लेषण करने की कला में बड़े ही प्रवीण हैं। प्रस्तुत कहानी में भी ठीक ऐसी ही बात है। भारतीय कुटुम्ब की एक गहरी त्रुटि का इस कहानी में विश्लेषण किया गया है। जिसके कारण वह श्मशान बना हुआ है, बिल्कुल मुर्दों की बस्ती, जिसके कारण समाज में आज सर्वत्र निराशा, असन्तोष तथा अशान्ति छाई हुई है। बात यह है कि दैनिक जीवन के पारिवारिक टाइम टेबुल में, जहाँ पर एक-मात्र व्यस्तता ही व्यस्तता है, वहाँ उसमें हास्य, विनोद तथा मनोरंजन की भी बड़ी भारी आवश्यकता है। खाना, सोना तथा घर के नियत कार्य करना ही जीवन को पूर्ण नहीं बनाते हैं। मालती के घर की ठीक यही दशा है। वहाँ पर किसी स्वस्थ विनोद तथा बौद्धिक मनोरंजन का स्थान नहीं है। सब काम रोज की ही तरह होते हैं। यहाँ तक कि बच्चे के गिर जाने से उसमें चोट भी रोज की ही भाँति लगती है। किसी भी प्रकार की नवीनता, प्रसन्नता एवं आल्हादकता वहाँ पर नहीं है। जीवन कुछ विचित्र सा बन गया है। मालूम होता है कि घर में कोई शाप अपनी छाया छोड़ गया है। मालती घंटे के बजते ही निहायत नीरस, अनुभूतिहीन तथा अवांछनीय स्वर से कहती है कि तीन बज गये या चार बज गये। सत्य तो यह है कि वह करती क्या है, जीवन की नीरसता से स्वयं ऊब रही है। घंटे और दिन और इसी प्रकार अपने जीवन के महीने गिनती है। डाक्टर साहब का डिस्पेन्सरी का जीवन भी व्यस्तता एवं संलग्नता से परिपूर्ण है। उसमें कोई आभा, चहल-पहल या आनन्द है ही नहीं। इस प्रकार से घर में निर्जीवता-सी आ गई है।

अज्ञेय जी ने इस कहानी में विनोद एवं मनोरंजन का दैनिक जीवन में

महत्त्व बताया है। भारतीय कुटुम्ब में इसकी बड़ी भारी कमी है। लेखक ने अपने अनुभनजन्य विषय को कल्पना के उपयुक्त कथानक द्वारा बड़ी ही सफलता से चित्रित किया है। यह कहानी उद्देश्य-प्रधान एवं घटना-शून्य है। पात्रों में वही बात है, जिसके द्वारा कहानी का तथ्य-निरूपण किया जा सकता है और उद्देश्य-प्रदर्शन में साफल्य की प्राप्ति हो सकती है। मालती का चरित्र विवाह से पूर्व क्या था, यद्यपि स्मृति के माध्यम से प्रकट कराया गया है किन्तु यह पूर्णतः प्रकट है कि आज के इस विवाहित जीवन से सर्वथा भिन्न था। यदि आज निराशा है तो तब जीवन में सजीव आशा थी, यदि आज अवसाद है तो तब एकमात्र स्फूर्ति एवं चेतनता थी। इसका कारण वही विनोद एवं मनोरंजन है।

प्रश्न ३—हिन्दी में कहानी के विकास का इतिहास एक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—कहानी कहने और सुनने की मानवीय प्रवृत्ति आदिकाल से रही होगी। लेकिन उनका प्रारम्भ में क्या रूप रहा होगा यह कहना कठिन है। विद्वानों का कथन है कि बौद्धकालीन जातक ही कहानियों का आदिरूप प्रस्तुत करते हैं। ये कहानियाँ जनता से सम्बन्ध रखती हैं किन्तु कुछ पण्डितों ने थोड़े हेर-फेर के साथ ये कहानियाँ राजकुमारों के लिये लिखीं, ऐसी कहानियाँ हितोपदेश और पञ्चतन्त्र में मिलेंगी। ये प्राचीनतम कहानियाँ आधुनिकतम कहानयों से जिस बात में मिलती हैं, वह है कथा द्वारा सन्देश देने की प्रणाली। आज भी कहानीकार अपनी कहानी के द्वारा समाज को कुछ न कुछ सन्देश अवश्य देता है। किन्तु प्राचीन कहानियाँ चरित्र-चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के वैचित्र्य से शून्य हैं। चरित्र-चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आधुनिक कहानियों की देन है।

हिन्दी में कहानियों का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। यों कहानी के नाम पर सर्वप्रथम कहानी हिन्दी में इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है; किन्तु कहानी शब्द के अतिरिक्त उसमें आधुनिक कहानी के और कुछ तत्त्व नहीं हैं।

इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' द्वारा लिखे 'राजा भोज का

सपना' और 'वीरसिंह वृत्तान्त' भी आधुनिक कहानी-कला के अनुसार कहानी की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते। उपरोक्त कहानियों में केवल कथा का वर्णन तो है, किन्तु चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा कथोपकथन का नितान्त अभाव है।

भारत में आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ अंग्रेजी के प्रभाव से हुआ। अंग्रेजी में छोटी कहानियाँ (Short Stories) लिखी जाती थीं। बंगला भाषा में इन कहानियों से प्रभावित होकर गल्पों का प्रचलन हुआ और इन गल्पों से प्रभावित होकर हिन्दी में कहानियों का आरम्भ हुआ।

हिन्दी में आधुनिक छोटी कहानियों का वास्तविक प्रारम्भ 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन के समय से मानना चाहिये। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) में ही पं० किशोरीलाल गोस्वामी की एक मौलिक कहानी 'इन्दुमती' के नाम से प्रकाशित हुई। फिर तो कहानियों की धूम मच गई। कुछ तो मौलिक लिखी गईं और कुछ बंगला से अनुवादित हुईं। बंगला से हिन्दी में कहानी अनुवादित करने वालों में गिरिजाकुमार घोष उपनाम 'पार्वतीनन्दन' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अनुवाद के अतिरिक्त मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। कुछ विद्वानों की राय है कि ये ही सज्जन हिन्दी की आधुनिक कहानियों के जन्मदाता हैं।

इसी समय 'बंग महिला' के नाम से कोई महिला कहानी लिख रही थीं। इन्होंने भी कई कहानियों का बंगला से अनुवाद किया और कई मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। इनकी 'दुलाई वाली' कहानी बहुत प्रसिद्ध हुई। पं० रामचन्द्र शुक्ल का तो कथन यह है कि 'इन्दुमति' यदि किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यह पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके पश्चात् रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखी 'ग्यारह बर्ष का समय' नामक कहानी का नम्बर आता है।

यों कहानी का प्रारम्भ तो ही हो चुका था। किन्तु कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति अभी इस क्षेत्र में नहीं आया था। 'प्रसाद' के आने से यह कमी भी दूर हो गई और प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा के बल पर हिन्दी कहानी को आशातीत उत्कर्ष प्रदान किया।

संवत् १९३८ में उन्हीं के पत्र 'इन्दु' में उनकी 'ग्राम' नामक मौलिक कहानी निकली, फिर तो उनकी कितनी ही उच्चकोटि की कहानियाँ जल्दी-जल्दी प्रकाशित हुई, जैसे—'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खंडहर', 'चित्रकारी' इत्यादि। प्रसाद जी की कहानियों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि प्रकृति उनकी पार्श्वभूमि है और मानव-हृदय के द्वन्द्व को चित्रित करने में उनकी कहानियाँ अद्वितीय हैं। कहानी का उचित और सुन्दर गठन प्रसाद जी की कहानी की एक और विशेषता है। सुन्दर गठन के अभाव में कहानी प्रायः कुरूप हो जाती है। प्रसाद जी की कहानियों का भाव तो निर्दोष होता ही है, इसके साथ-साथ कौतूहल का तत्त्व भी उनकी कहानी में अधिक व्यस्त रहता है। पाठक सोचता ही रहता है कि अब क्या होगा ? अब क्या होगा ? किन्तु यदि वह पढ़ने से कुछ अनुमान लगाने लगेगा तो वह ठीक नहीं निकलेगा। प्रसाद जी की अधिकाँश कहानियाँ आश्चर्य के साथ समाप्त होती हैं। 'आकाश दीप' में कहानी की नायिका पाठकों की आशा के विरुद्ध जलदस्यु (समुद्री डाकू) को छोड़कर चली जाती है। यद्यपि वह उससे प्रेम करने लगी है। इसी प्रकार 'पुरस्कार' कहानी की नायिका जिस राजकुमार को प्रेम करती है, पाठकों के अनुमान के विरुद्ध वह उसे पकड़वा देती है और फिर पाठकों के अनुमान के विरुद्ध वह राजा से उसी राजकुमार के साथ फाँसी का दण्ड चाहती है और राजकुमार के पास जाकर खड़ी हो जाती है। आकस्मिक समाप्ति के कारण पाठक भौंचक्का रह जाता है और सोचता ही रहता है, यह क्या हुआ ?

यों प्रसाद जी की सभी कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है किन्तु प्रसाद जी को अन्तर्द्वन्द्व सबसे अधिक पसन्द हैं। ये अन्तर्द्वन्द्व उनकी कहानियों, नाटकों, उपन्यासों और कविता में सर्वत्र मिलेंगे।

प्रकृति से मानव-जीवन को पृथक् कर प्रसाद देख नहीं सकते, इसलिये उनके सम्पूर्ण साहित्य में प्रकृति मानवीय कार्य-कलापों के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी रहती है।

इसी समय के लगभग हिन्दी के प्रसिद्ध हास्य लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने लिखना आरम्भ किया। सं० १९४८ में 'इन्दु' पत्रिका में उनकी सबसे पहली कहानी प्रकाशित हुई। जी० पी० श्रीवास्तव का महत्त्व इस बात

में है कि उन्होंने हिन्दी में हास्य-साहित्य लिखकर एक विशेष अभाव की पूर्ति की। आज भी जब हिन्दी का साहित्य इतनी उन्नत दशा में है, हास्य की सामग्री का अपेक्षाकृत अभाव ही है। विरोध तो हास्य के मूल में रहता ही है, किन्तु यह कई प्रकार से उत्पन्न किया जाता है। स्वयं मूर्ख बनकर, किसी को मूर्ख बनाकर, मुंह इत्यादि बनाकर और साहित्यिक व्यंग्यों के द्वारा। परिस्थितिजन्य हास्य उच्चकोटि का नहीं माना जाता। जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य परिस्थितिजन्य ही अधिक है। किन्तु समय को देखते हुए उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक भी इसी समय के आस-पास हिन्दी-साहित्य में आये। कौशिक जी का कहानी-साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व है। प्रेमचन्द को छोड़ कर परिवार को लेकर हिन्दी में शायद ही किसी ने इतनी सुन्दर और प्रभावपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं, जितनी कौशिक जी ने।

इनकी प्रथम कहानी 'रक्षाबन्धन' संवत् १९७० में प्रकाशित हुई। अलौकिक तत्त्वों का इस कहानी में समावेश किया गया संयोग और दैवी घटना के रूप में। संवादों के द्वारा कहानी आगे चलती है। कौशिक जी की कहानियों में मानव-हृदय की ग्रुत्थियों को ही प्रमुखता दी गई है। वातावरण या चरित्र-चित्रण आदि को नहीं। कौशिक जी किसी न किसी उद्देश्य पूर्ति के लिये कहानी लिखते हैं और उद्देश्य भी कोई न कोई पारिवारिक समस्या ही होती है। कौशिक जी कथोपकथनात्मक शैली के प्रथम लेखक हैं। इनकी कहानियाँ 'चित्रशाला', 'मणिमाला', 'गल्प मन्दिर' तथा 'कङ्काल' नामक संग्रहों में संगृहीत हैं।

रक्षा-बन्धन के अतिरिक्त 'ताई', 'स्मृति, 'पतितपावन' तथा 'छोटा भाई' आदि इनकी विशेष लोकप्रिय कहानियाँ हैं।

कौशिक जी हिन्दी कहानी के आरम्भिक लेखकों में हैं, किन्तु इनकी यह विशेषता है कि ये सदैव युग के अनुसार अपने विचारों को बदलते रहे और कहानियों के रूप में व्यक्त करते रहे। कौशिक जी युवकों के कहानी-लेखक थे। रूढ़ियों के तोड़ने और नवीन समाज रचना में उन्होंने सदैव युवकों के स्वर में स्वर मिलाया। यह बात कम महत्त्व की नहीं है। इन विद्रोही तत्वों के कारण कौशिक जी सदैव युवक और अमर बने रहेंगे।

लगभग इसी काल में 'कानों में कंगना' नाम से एक कहनी प्रकाशित हुई, लेखक थे राजा राधिकारमणप्रसादसिंह।

इस काल में कुछ और प्रतिभाशाली व्यक्ति इस क्षेत्र में आये। ज्वालादत्त शर्मा तथा पं० चतुरसेन शास्त्री इनमें प्रमुख हैं।

यदि हिन्दी साहित्य में केवल एक कहानी लिखकर किसी ने सबसे अधिक यशोर्जन किया तो वे हैं पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। 'उसने कहा था' कहानी लिखकर हिन्दी-जगत् में गुलेरी जी अमर हो गये और उच्च कोटि के कहानी-लेखकों में शीर्ष स्थान के अधिकारी हुए। आज जब कहानी साहित्य इतना आगे बढ़ गया है, तब भी 'उसने कहा था' की टक्कर की कहानियाँ उसमें अधिक नहीं हैं। फिर जिस युग में यह कहानी लिखी गई थी, उस युग को और इस कहानी की कला-प्रौढ़ता को देखकर तो सचमुच आश्चर्य होता है। कहानियों के आरम्भिक युग में कहानियों के शीर्षक प्राय: पात्रों के नाम पर मिलेंगे, किन्तु 'उसने कहा था' तो एक पूरा वाक्य है और इतना व्यंजना-प्रधान कि पढ़ते ही पाठक की उत्सुकता जागृत हो जाती है, किसने कहा था? क्या कहा था? इतना सार्थक, आकर्षक और उपयुक्त शीर्षक हिन्दी की अधिक कहानियों का नहीं मिलेगा। कहानी का प्रत्येक शब्द, वाक्य, पैराग्राफ (अनुच्छेद) केवल एक शब्द में बंधा पड़ा है—'उसने कहा था'। कहानी कला की आधुनिकतम कसौटी पर भी यह कहानी बिल्कुल खरी उतरती है। कौतुहल, चरित्र-चित्रण, वातावरण आदि सब इस कहानी में उत्कृष्ट और निर्दोष रूप में मिल जायेंगे। 'उसने कहा था' कहानी साहित्यिक महत्त्व की तो है ही, उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। अपने ढंग की यह पहली कहानी है और आज इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इस कहानी ने अकेले ही हिन्दी कहानी-कला को कहाँ पहुँचा दिया होगा और कहानी के क्षेत्र में इससे कितनी बड़ी क्रान्ति हुई होगी।

कहानी का वर्णन इतना यथार्थ और अनुभूतिपूर्ण लगता है मानो लेखक वर्षों सेना में रहा हो। लेखक की यही सबसे महान् विशेषता है कि जिस वस्तु का वर्णन करे उसका चित्र उतार कर हमारे सामने रखदे। युद्ध का इतना सजीव और स्वाभाविक वर्णन तो फिर हिन्दी की शायद ही किसी कहानी

में मिले। स्थान-स्थान पर अंग्रेजों के प्रति व्यंग्य लेखक के अन्तस्तल में छिपी देश-भक्ति की भावना को व्यक्त करता है। 'उसने कहा था' के विषय में आचार्य शुक्ल का मत उद्धरणीय है—

"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। घटना उनकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है, पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है। केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनायें ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

इसी समय हिन्दी के भाग्य ने अंगड़ाई ली और प्रेमचन्द ने उर्दू से हिन्दी में प्रवेश किया। उर्दू में अपनी धाक जमा कर प्रेमचन्द अब हिन्दी जगत् में दिग्विजय करने निकल पड़े और मृत्युपर्यन्त उन्होंने हिन्दी के कहानी उपन्यास जगत् में एकछत्र राज्य किया। कहानी-कला को आधुनिकतम रूप प्रेमचन्द ने ही दिया। उन्होंने ही उसका श्रृंगार किया, उसे सजाया और संवारा। हिन्दी कहानी-कला जैसे युवति हो चली। कुछ लोग तो प्रेमचन्द के कहानीकार को उनके उपन्यासकार से भी महान् मानते हैं। असल में यह बात है कि हिन्दी में न तो इतना बड़ा उपन्यासकार हुआ और न कहानीकार, इसलिये देसरे लेखकों को प्रेमचन्द से तुलना-योग्य न देख लोग उनके दो विभिन्न रूपों में तुलना करने लग जाते हैं।

प्रेमचंद जी की कहानियों में घटना का स्थान प्रमुख होता है। वे सदैव घटनाओं के माध्यम से ही भावों को व्यक्त करते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "प्रेमचन्द जी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और प्रसाद जी की घटनायें भावों के आश्रित रहती हैं।"

यों प्रेमचंद ने इतनी अधिक कहानियाँ लिखी हैं कि भाव-प्रधान, घटना-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान, वातावरण-प्रधान तथा समस्या-प्रधान कहानियाँ अलग-अलग चाहे जितनी छाँटी जा सकती हैं। अलौकिकता के तत्त्व का समावेश भी प्रेमचन्द जी की कुछ कहानियों में मिलता है किन्तु अधिक नहीं, या यों कहा जाय कि प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ या तो सामाजिक सम-

स्याओं पर आधारित हैं या राजनैतिक, धार्मिक या पारिवारिक समस्याओं पर। उनके जिस विनोदी स्वभाव ने कायाकल्प जैसे उपन्यास की सृष्टि की है उसी ने कुछ अलौकिकता के चमत्कार से युक्त कहानियों की भी, पर कायाकल्प ऐसा उनका अकेला उपन्यास है तो कहानियाँ भी ऐसी अधिक नहीं हैं।

उपन्यासों की भांति कहानियों में भी प्रेमचन्द का यथार्थोन्मुख आदर्शवादी रूप स्पष्ट है। परन्तु प्रसन्नता और गर्व की बात यह है कि उनका आदर्शवादी रूप उनके साहित्य में कुरूपता और अस्वाभाविकता का सृजन नहीं करता। सच तो यह है कि यथार्थ की घोर कालिमामयी पृष्ठ-भूमि पर उन्होंने आदर्श की जो स्वर्ण-रेखायें खींची हैं, वे जहाँ स्वयं अत्यधिक भास्वर हैं वहाँ पृष्ठ-भूमि का कालापन भी और घनीभूत सा लगता है। सारांश यह कि प्रेमचन्द जी का आदर्शवाद, संसार को उसके यथार्थ रूप में रखने में बाधक नहीं होता। वास्तव में कहानी की कथा घोर यथार्थपूर्ण होती है, हाँ इसका परिणाम प्रेमचन्द अवश्य अपने आदर्श के अनुकूल दिखाते हैं। जीवन का ऐसा कोई कोना नही बचा जिस पर प्रेमचन्द ने कहानियाँ न लिखी हों। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सब समस्याओं पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है और उन्हें इसमें महान् सफलता मिली है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य है पाठक के हृदय को आन्दोलित कर देना। इस परिभाषा के अनुसार हिन्दी का कोई भी कहानी लेखक प्रेमचन्द के समक्ष टिकने का साहस नहीं कर सकता।

प्रेमचन्द की 'शांति' कहानी का इतना व्यापक प्रभाव समाज पर पड़ा कि लोगों ने अपनी लड़कियों को अंग्रेज़ी पढ़ाना बन्द कर दिया था। प्रेमचन्द की एक ही कहानी ने समाज के अन्तस्तल में यह धारणा गहरी जमा दी कि अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ सफल गृहिणी बन नहीं सकतीं।

सामाजिक पाखंड, रूढ़ियों और कुरीतियों का भण्डाफोड़ करने और उनका मज़ाक उड़ाने में प्रेमचन्द ने कभी कृपणता नहीं की। 'मोटेराम शास्त्री' नामक कहानी पर तो कहते हैं कि उन पर मुकदमा तक चलाया गया। इस कहानी में प्रेमचन्द ने भूखहड़ताल करने वाले एक कांग्रेसी की पोल खोली थी और यह दिखाया था कि किस प्रकार वह चुपचाप उदर-पूर्ति कर लेता था।

इसी प्रकार राजनैतिक पृष्ठ-भूमि को लेकर लिखी गई कहानियों में विदे-

शियों के प्रति तीव्र घृणा और अपने देश के प्रति उत्कट प्रेम का परिचय मिलता है। राजनीति में महिलाओं के पदार्पण कराने का बहुत कुछ श्रेय प्रेमचन्द के इस प्रकार के साहित्य को है। अपने विचारों की स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिये प्रेमचन्द को कम कष्ट नहीं उठाने पड़े। दरिद्रता तो उनकी चिरसहवर्तिनी रही। लेकिन यह बात तो प्रेमचन्द का दुश्मन भी आज नहीं कह सकता कि प्रेमचन्द ने कभी अपने को चाँदी के टुकड़ों के लिये बेचा था। प्रेमचन्द जी अपनी प्रतिभा के बल पर अर्थ-संचय कर सकते थे, सेठों या अंग्रेजों का प्रचार-साहित्य लिख कर। लेकिन हिन्दी का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि इस मानषी कलाकार की एक भी पंक्ति शोषकों एवं उनके अत्याचारों का कहीं और कभी समर्थन नहीं करती।

गरीबों की दशा का जैसा यथार्थ और मर्मभेदी चित्र 'माघ की रात' में प्रेमचन्द ने खींचा है, अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी 'दो सखियां', 'बड़े घर की बेटी', 'शंखनाद' आदि कहानियाँ पारिवारिक समस्याओं पर सीधा प्रकाश फेंकती हैं।

चरित्र-चित्रण का जहाँ तक सम्बन्ध है 'आत्माराम' और 'बूढ़ी काकी' नामक कहानियाँ अद्वितीय हैं।

मनुष्य तो मनुष्य उन्होंने जानवरों तक को लेकर कहानियाँ लिखीं और ऐसी विलक्षण कि पाठक आश्चर्य अवाक् रह जायें। 'दो बैल' प्रेमचन्द की ऐसी ही कहानी है। प्रेमचन्द के 'दो बैल' बहुत से मनुष्यों से अधिक स्वाभिमानी, बुद्धिमान् और प्रेमालु हैं।

नीचे वर्ग के लोगों की कठिनाई, उनके ऊपर अत्याचारों के तथ्य को उनकी 'घास वाली' कहानी स्पष्ट करती है।

सारांश यह है कि प्रेमचन्द जी हिन्दी-संसार के लिये वरदान के रूप में आये थे। उनकी कहानियाँ पहले तो विभिन्न संग्रहों में निकली थीं पर अब उनके उत्तराधिकारियों ने उनको 'मानसरोवर' नाम के संग्रह में कई भागों में संकलित कर दिया है। ये कहानियाँ तुलसी की रामायण की ही भाँति पाठक को प्रेरणा, बल और उत्साह प्रदान करती हैं। प्रेमचन्द जी वास्तव में शोषितों

के लेखक थे। शायद ही किसी देश में शोषितों का इतना महान् समर्थक किसी साहित्य में हुआ हो। प्रेमचन्द ने किसी पर नहीं लिखा, प्रोफेसर, डाक्टर, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी, लालाजी, मुनीमजी, तैरने वाला, क्लर्क, अफसर, राजा, नवाब, मुखिया, जमींदार, किसान, मजदूर, पंडित, मौलवी कोई भी तो अपने हृदय के रहस्यों को प्रेमचन्द के सामने न छिपा सका। वास्तव में मनुष्य के मन और मस्तिष्क प्रेमचन्द के लिये एक खुली पुस्तक के समान थे। प्रेमचन्द ने जिस व्यक्ति का भी चित्रण किया, इतने अनुभव और अध्ययन के पश्चात् कि कहीं कोई अपूर्णता नहीं दिखाई देती। इतना विस्तृत अनुभव बिरलों को ही प्राप्त होता है।

यों प्रेमचन्द के बाद भी हिन्दी में कहानी लिखना बन्द नहीं हुआ, लेकिन उसने कोई विशेष प्रगति की हो ऐसा नहीं दिखाई देता। प्रेमचन्द का अधिकांश साहित्य गाँव और किसान से सम्बन्ध रखता है। इनकी तो आज के कहानीकारों ने सर्वथा उपेक्षा करदी। बात वास्तब में यह है कि आज के कहानी-कारों के पास वह अनुभव और सूक्ष्म निरीक्षण है ही नहीं, जो प्रेमचन्द के पास था। और आज साहित्य-सृजन के केन्द्र नगर हैं, गाँव में तो जाना, अनुभव प्राप्त करना आज के कहनीकार अनावश्यक समझते हैं। इस लिये आज का कहानी-साहित्य देश के बहुमत का साहित्य नहीं है, उसमें विविधता का अभाव स्वाभाविक है।

आज तो मनोविश्लेषण-प्रधान कहानियों का युग है। चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ भी कम नहीं लिखी जा रहीं। एक नयी विचारधारा जिसे मार्क्सवादी विचारधारा कह सकते हैं, आज के साहित्य में उत्साहपूर्वक अपनाई जा रही है। सच तो यह है कि अगर नामभेद को महत्त्व न दिया जाय तो प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य ही मार्क्सवादी साहित्य है।

मार्क्सवादी विचारों से प्रेरणा पाकर जो कलाकार कहानी लिख रहे हैं, उनमें यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, गिरीश अस्थाना आदि प्रमुख हैं। कहानी के गठन और प्रभाव की दृष्टि से यशपाल इनमें प्रमुख है। यशपाल की कहानियों में पाठक को आन्दोलित

करने की शक्ति है। कुछ लोग तो यशपाल से इतने प्रभावित हैं कि उनके अनुसार तो यशपाल ने प्रेमचन्द के बाद कहानी-कला को आगे बढ़ाया है, यह निर्विवाद सत्य नहीं है। यह निर्विवाद है कि यशपाल एक शक्तिशाली कलाकार है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वालों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि प्रमुख हैं।

सामाजिक पृष्ठभूमि को लेकर मनोवैज्ञानिक और चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ लिखने वालों में, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, श्रीमती ऋषभ चरण, राजेन्द्र-यादव 'पहाड़ी', अमृतलाल नागर, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, किरणचन्द सोनरिक्सा, मन्मथनाथ गुप्त, विष्णुप्रभाकर, सत्येन्द्र, शरत्, ओंकारनाथ श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं।

इसमें तो संदेह नहीं कि आज कहानी साहित्य की प्रगति आशाजनक है। कहानियाँ आज पिछले वर्षों की तुलना में अधिक लिखी जा रही हैं। ज्यों-ज्यों सनाज की जटिलतायें बढ़ती जायेंगी, जीवन में संकुलता आती जायगी, त्यों-यों छोटी कहानियों का क्षेत्र विस्तृत से विस्तृततर होता जायगा। आज छोटी कहानियों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। वे साहित्य का सबसे आकर्षक, मर्मभेदी और उपयोगी अंग समझी जाती हैं।

प्रश्न ४—"यदि उपन्यास पिता है तो कहानी पुत्री; यदि उपन्यास सागर है तो कहानी गागर", क्या आप इस कथन से सहमत हैं? आधुनिक गल्प (छोटी कहानी) की विशेषतायें बताइये और उपन्यास से उसका साम्य एवं अन्तर भी कीजिये।

उत्तर—जहाँ तक तत्त्वों का सम्बन्ध है उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में एक ही प्रकार के तत्त्व हैं किन्तु उन तत्त्वों के अनुपात का अन्तर अर्थात् उसका न्यूनाधिक रूप ही इन विशिष्ट साहित्यांगों को विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित करता है। उदाहरणार्थ, जहाँ कथा प्रधान है या मुख्य है उसे हम उपन्यास कहते हैं, जहाँ कथोपकथन प्रधान हैं उसे हम नाटक कहते हैं और जहाँ चरित्र-चित्रण या कोई समस्या प्रधान है, उसे हम कहानी कहते हैं। हमारे कहने

का यह अभिप्राय नहीं है कि उपन्यास में कथोपकथन का और कहानी में कथा का कोई कम महत्त्व है। अर्थ केवल इतना ही है कि उपरोक्त विभिन्न विशेषतायें अनुपात में जहाँ जिसमें अधिक हों, वह रचना उसी के अनुसार उपन्यास, नाटक या कहानी कहलाती है।

कहानी में निम्नांकित मुख्य तत्त्व माने जाते हैं:—

१. उद्देश्य, २. कथा वस्तु, ३. पात्र, ४. चरित्र-चित्रण, ५. कथोपकथन, ६. देश-काल, ७ शैली।

आधुनिक कहानी का सर्वप्रमुख तत्त्व वास्तव में उद्देश्य है। लेखक किसी न किसी समस्या को लेकर कहानी लिखना चाहता है। वह समस्या कुछ भी हो सकती हैं—छूआछूत, दहेज, अनमेल विवाह, धर्मान्धता तथा अन्य अनेक सामाजिक रूढ़ियाँ। लेखक उद्देश्य को कहानी रूप में व्यक्त करने के लिये कुछ पात्रों की कल्पना करता है और कथोपकथन आदि पात्रों पर आधारित रहते हैं। समस्यामूलक उपन्यास भी लिखे जाते हैं, किन्तु बात यह है कि उपन्यास इतनीं विस्तृत वस्तु है कि उसमें कितनी ही समस्यायें मुख्य समस्या के साथ चली आती हैं। किन्तु कहानी में लेखक को अपना ध्यान एक ही समस्या पर केन्द्रित करना पड़ता है। यदि कहानी में मुख्य समस्या के साथ कोई और समस्या भी उठ आती है और वह इतनी उभर कर आ जाती है कि पाठक उधर विशेष आकर्षित हो जाय तो कहानी में यह एक प्रकार का दोष ही माना जाता है।

इस प्रकार के साम्यों के कारण अब तक कहानी और उपन्यास में केवल आकार का ही अन्तर माना जाता था, किन्तु वास्तव में कहानी एक बिल्कुल भिन्न वस्तु है। कहानी का उठान, उसकी समाप्ति, उसका रूप-वैशिष्ट्य, उसकी सन्देश-प्रणाली उपन्यास से बिल्कुल भिन्न होती है। इसलिये आज कहानी ने अपने-आप को उपन्यास से बिल्कुल पृथक् कर लिया है और एक नवीन साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त कर लिया है।

आज मनुष्य का जीवन इतना व्यस्त है कि न तो उसके पास उपन्यासों के सहस्रों पृष्ठ पढ़ने का समय है और न उसकी विस्तृत, सामाजिक, राज-नैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक व्याख्याओं पर मनन करने का। इसलिये

आज का पाठक तो अपने जीवन में कहानियों से ही प्रेरणा ग्रहण करता है। किसी समस्या को focus में जितनी अच्छी तरह कहानी ला सकती है, उपन्यास नहीं। कहानी जिस समस्या को लेकर चलती है उसको वह पाठक के हृदय में इतनी गहराई तक उतार देती है कि वह अभिभूत हो जाता है और उसके सामने वह समस्या-विशेष अपने नग्नतम रूप में साकार हो जाती है। यों भी कह सकते हैं कि उपन्यास जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करता है और कहानी अंग-प्रत्यंग का अलग-अलग समाज के जोड़ों में जो खराबियाँ हैं, बाहर से अच्छा और ठीक दीखते हुए भी वह जो जीर्ण-शीर्ण हो गया है, उसका समग्र चित्र जो उपन्यास रखता है वह इतना मर्मभेदी नहीं हो सकता जितना कहानी में प्रस्तुत किया अंग-प्रत्यंग और प्रत्येक जोड़ का विस्तृत चित्र।

टेकनीक की दृष्टि से भी उपन्यास और कहानी में यह अन्तर है कि उपन्यास तो घटना-प्रधान होता है और कहानी व्यंजना-प्रधान। कहानी के तथ्यों का वर्णन उपन्यास की भाँति विस्तृत नहीं होता, कथित नहीं होता, अपितु व्यंग्य होता है। कथा के द्वारा उपन्यास पाठक की जिज्ञासा और उत्सुकता को शान्त करता जाता है और न्याय-प्रधान होने के नाते अपनी प्रत्येक पंक्ति के द्वारा कहानी पाठक की जिज्ञासा तथा उत्सुकता को जगाती चली जाती है। उपन्यास को पढ़कर पाठक तृप्त सा हो जाता है और कहानी को पढ़कर बेचैन सा। वास्तव में इसका कारण उपन्यास और कहानी का टेकनीक भेद ही है। एक कथा-प्रधान है, दूसरी सुझाव (Suggestion) प्रधान।

अब उपन्यास और कहानी के एक-एक तत्त्व को लेकर उसमें साम्य और अन्तर देखा जाय।

१ उद्देश्य—वास्तव में यही कहानी की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख विशेषता है जो उसे उपन्यास से भिन्न साहित्यिक कोटि में रख देती है। उपन्यास की भाँति कहानी हल प्रस्तुत नहीं करती; केवल मार्ग-दर्शन करती है। केवल उचित दिशा की ओर इंगित भर करती है। वह वास्तव में सुझाव (Suggestion) प्रधान होती है, उपन्यास की भाँति कथा-प्रधान नहीं। श्री जैनेन्द्र-कुमार जैन के विचार इस विषय में उद्धरणीय हैं—"हमारे अपने सवाल

होते हैं, शंकायें होती हैं, चिन्तायें होती हैं, और हम भी उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। कहानी एक खोज के प्रयत्न का उदाहरण है। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। वह एक उत्तर ही नहीं देती अपितु कहती है कि उत्तर शायद इस दिशा में मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझाव देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के द्वारा इस सूझ को ले लेते हैं।"

उपन्यास का आकार चूंकि बड़ा होता है इसलिये वह अनेक समस्याओं पर लम्बे विश्लेषण तथा उनके हल भी उदरस्थ किये रहता है। उपन्यास-कार कितने ही उद्देश्यों को अपने उपन्यास में स्थान दे सकता है।

कहानी में लेखक का एक निश्चित उद्देश्य रहता है जिसकी ओर कहानी का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य निरन्तर दौड़ता रहता है। अतः निष्कर्ष यही निकला कि उपन्यास कथा-प्रधान और कहानी उद्देश्य प्रधान होती है। यों उपन्यास में उद्देश्य होते हैं, और कहानी में कथा; लेकिन उपन्यास में उद्देश्य गौण रहता है और कहानी में कथा।

२. कथा वस्तु—कथा वस्तु के अभाव में उपन्यास की रचना सम्भव नहीं। यद्यपि पाश्चात्य प्रदेशों में ऐसे प्रयोग हुए हैं कि बिना कथा के भी उपन्यास लिखा जा सके; किन्तु वे असफल रहे हैं और आज तक विश्व के उपन्यास-साहित्य में कथा अपने पूर्ण महत्त्व को ही धारण किए बैठी है। किन्तु कथा के अभाव में भी कहानी की रचना सम्भव है अर्थात् बिना कथा के, बिना घटनाओं के भी कहानी लिखी जा सकती है।

उपन्यास में वस्तु-विस्तार का बहुत अवकाश रहता है, उसमें प्रासंगिक कथायें जोड़ी जा सकती हैं, प्राकृतिक वर्णन किये जा सकते हैं और धार्मिक राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यक समस्याओं के विश्लेषण भी उपन्यास में विस्तार के साथ दिये जा सकते हैं।

कहानी में इतना स्थान और अवकाश नहीं होता। कहानी की कथा का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य बिना विराम किये, बिना शिथिलता दिखाये, अबाध लक्ष्य की ओर दौड़ता है।

उपन्यास में एक मुख्य कथा होती है और प्रासंगिक कथायें तो चाहे

जितनी हो सकती हैं, किन्तु कहानी में प्रासंगिक कथा नहीं होती। क्योंकि यदि कहानी में प्रासंगिक कथा होगी तो वह मुख्य कथा को आक्रान्त कर कहानी के उद्देश्य को ही समाप्त कर देगी।

उपन्यास किसी भी काल की घटना को लेकर चल सकता है। कहानी भी किसी काल की भी घटना को अपना आधार बना सकती है।

उपन्यास की कथा के विकास की भांति कहानी में भी कथा का विकास दिखाया जा सकता है, उदाहरणार्थ—१. प्रारम्भ, २. संघर्ष, ४. चरमसीमा तथा ५. उपसंहार।

उपन्यास चाहे जिस विषय को लेकर लिखा जा सकता है—राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक। उसी प्रकार कहानी भी इनमें से कोई भी विषय लेकर लिखी जा सकती है।

उपन्यास के प्रणयन के मूल में मुख्यत: निम्नाँकित बातें रहती हैं —

१. घटना, २. समस्या, ३. चरित्र। उपन्यास या तो किसी घटना या बहुत सी घटनाओं को लेकर लिखा जायगा या फिर उसका आधार कोई समस्या होगी या किसी विचित्र व्यक्तित्व के लिये उपन्यास लिखा जायेगा। उपरोक्त तीनों बातें कहानी के मूल में भी हैं।

(१) या तो किसी कथानक को लेकर पात्रों की कल्पना की जाये।

(२) किसी समस्या को लेकर पात्र कल्पित किए जाँय।

(३) किसी व्यक्ति-विशेष की विशिष्टताओं के लिए घटनाओं की कल्पना की जाय।

पहले प्रकार की कहानी घटना-प्रधान, दूसरे प्रकार की समस्या-प्रधान और तीसरे प्रकार की चरित्र-चित्रण-प्रधान कही जायगी।

कथावस्तु स्थूल रूप से दो प्रकार की हो सकती है—१.ऐतिहासिक और २. काल्पनिक। दोनों प्रकार की कथावस्तु का उपन्यास और कहानी में उपयोग समान रूप से किया जा सकता है।

जब उपन्यास और कहानी के मूल तत्त्व एक ही हैं, जब दोनों एक ही उद्गम से निकली दो धारायें हैं; तो उनमें समानता होना तो स्वाभाविक है, और उन्हें रूपक में भाई-बहिन भी कह सकते हैं। किन्तु न तो पिता-पुत्री का

औंर न गागर और सागर का रूपक उपन्यास और कहानी के बीच में ठीक बैठता है। पिता-पुत्री और गागर और सागर का अर्थ हुआ, कहानी उपन्यास से निकली है। उपन्यास अधिक प्राचीन वस्तु है। उपन्यास अधिक तथ्यपूर्ण है। उपन्यास महान् है, कहानी उसके सामने कुछ नहीं है; किन्तु वास्तव में इनमें से सभी बात ठीक नहीं हैं; कारण कहानी का अपना अलग व्यक्तित्व है, वह उपन्यास से भी अधिक प्राचीन है, वह उपन्यास से कम तथ्यपूर्ण नहीं है। कभी-कभी एक ही कहानी का समाज पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि सौ उपन्यासों का भी नहीं पड़ता। प्रेमचन्द जी की 'शान्ति' कहानी पढ़कर जाने कितने लोगों ने अपनी पत्नियों को अंग्रेजी पढ़ाना बन्द कर दिया था। कहानी उपन्यास की पूरक नहीं, अपितु बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र साहित्यक विद्या है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ लोग उपन्यास पसन्द करते हैं और कुछ लोग कहानियाँ। कारण यह है कि कहानी का कथावस्तु-विधान अपने आप में पूर्ण होता है और इतना पूर्ण कि न जिसमें विस्तार की आवश्यकता है और न संकोच की। अनन्त शोभा तथा प्रभाव-सम्पन्न कहानी को आज किसी रिश्ते या परिचय की आवश्यकता नहीं है। आज समाज से उसकी घनिष्ठता या परिचय किसी भी अन्य साहित्यक विद्या (अंग) से अधिक है।

३. पात्र—उपन्यासों के पात्रों की संख्या चाहे जितनी रखी जा सकती है, क्योंकि उसमें सभी के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त स्थान रहता है, चाहे जितने भिन्न प्रकार के चरित्र एक ही उपन्यास में रखे जा सकते हैं।

कहानी में पात्रों की संख्या सीमित रहती है। कभी-कभी तो कहानी में एक ही पात्र रहता है और प्रायः दो या तीन। इससे अधिक पात्रों के लिये कहानी में कम अवकाश है; क्योंकि अधिक पात्र होने के कारण कहानी में उसके चरित्र पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ पाता, फलस्वरूप प्रत्येक पात्र इतना विकसित नहीं हो पाता, इतना प्रभावशाली नहीं हो पाता, जितना चाहिये।

उपन्यास में तो मुख्यकथा का एक नायक होता है और प्रासंगिक कथाओं के कई नायक हो सकते हैं।

कहानी में प्रासंगिक कथा का प्रश्न ही नहीं उठता इसलिये नायक के अतिरिक्त और सहायक नायकों का भी प्रश्न नहीं उठता।

उपन्यास में पात्र स्वतन्त्र भी हो सकते हैं।

किन्तु कहानी के पात्रों पर कहानीकार का अंकुश रहता है और वे लक्ष्य की ओर सदैव उन्मुख रहते हैं।

उपन्यास में किसी भी श्रेणी के पात्र लिये जा सकते हैं।

कहानी में भी किसी भी श्रेणी के पात्र लिये जा सकते हैं।

४. चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास भी हो सकते हैं और कहानी भी, किन्तु विविध घटनाओं के द्वारा पात्र के चरित्र-चित्रण का जितना अवकाश उपन्यास में रहता है उतना कहानी में नहीं।

पात्रों का चरित्र-चित्रण उपन्यास और कहानी दोनों में प्रायः दो रूप में किया जाता है। १ परोक्ष रूप से, २. प्रत्यक्ष रूप से।

जहाँ कथोपकथन के द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ रहा हो वह चरित्र-चित्रण की परोक्ष या अभिनयात्मक प्रणाली है और जहाँ स्वयं लेखक ही पात्र के चरित्र के विषय में निर्णयात्मक भाषा का प्रयोग कर रहा हो, वहाँ प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा चरित्र-चित्रण माना जाता है।

चूँकि कहानी में घटनाओं का अधिक आयोजन नहीं किया जा सकता इसलिये प्रायः प्रत्यक्ष प्रणाली से ही चरित्र-चित्रण किया जाता है।

५. कथोपकथन—कहानी और उपन्यास दोनों में जिस तत्त्व के कारण नाटकीयता का आनन्द आने लगता है, वह कथोपकथन का ही तत्त्व है। यों कहानी केवल वर्णनात्मक भी हो सकती है जिसमें कथोपकथन हों ही न, किन्तु कथोपकथन के अभाव में कहानी का आकर्षण, सौन्दर्य, स्वाभाविकता तथा प्रभविष्णुता मारी जाती है। कथोपकथन के द्वारा अधिक बातें संक्षेप में कही जा सकती हैं इसलिये यह कहानी के विशेष काम की वस्तु है। उपन्यास में तो लेखक स्वयं बहुत कुछ विश्लेषण कर सकता है और कह सकता है; किन्तु कहानी में स्थान कम होने के कारण कथोपकथन इस कमी को पूरा कर देता है। चरित्र-चित्रण के लिये तो कथोपकथन सबसे अधिक सुन्दर साधन है।

कहानी के कथोपकथन यदि संक्षिप्त, सशक्त, व्यञ्जनापूर्ण, सार्थक और मार्मिक न होंगे तो कहानी-लेखक अपनी कला में सफल नहीं हो सकता। कथोपकथन में ही कहानी-लेखक की अग्नि-परीक्षा हो जाती है।

उपन्यासकार के लिये तो पर्याप्त स्थान रहता है इसलिये उसके कथोपकथन चाहे जितने विस्तृत हो सकते हैं।

६—देश-काल—देश-काल से परे न तो उपन्यास हो सकता है और न कहानी। समाज साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि साहित्य युग से तटस्थ नहीं रह सकता। साहित्य तो युग की पुकार को और भी स्पष्ट रूप में व्यक्त करता है। इसलिये उपन्यास और कहानी दोनों अपने युग से प्रभावित रहते हैं और उसे अपना आधार बनाते हैं।

लेकिन अतीत पर कहानी और उपन्यास दोनों लिखे जा सकते हैं। लेकिन यह बड़ा कठिन काम है। जिस युग को कहानीकार या उपन्यासकार अपने वर्णन का विषय बनाता है उसका उसे गम्भीर अध्ययन और ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि यदि वे युग के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत न कर सके तो कहानी और उपन्यास एक व्यर्थ की वस्तु ही रहेगी। उदाहरण के लिये बंकिमचन्द्र के ऐतिहासिक उपन्यास, द्विजेन्द्रलालराय के ऐतिहासिक नाटक। इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास और प्रसाद जी का ऐतिहासिक नाटक तथा वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक तथा प्रसाद जी की ऐतिहासिक कहानियाँ ली जा सकती हैं। ये लेखक प्राचीन वातावरण को अपने साहित्य में यथावत् उपस्थित करने में सफल रहे हैं। प्राचीन आचार-विचार, वेशभूषा, प्राचीन समस्यायें आदि का ज्ञान प्राप्त करना साधारण बात नहीं है।

सारांश यह है कि देश-काल का तत्त्व भी उपन्यास और कहानी में समान रूप से महत्त्वपूर्ण है।

अन्तर केवल इतना ही है कि उपन्यास तो किसी युग का विस्तृत चित्र उपस्थित कर सकता है, किन्तु कहानी झांकी मात्र दिखा सकती है।

७. शैली—जब कहानी और उपन्यास के वर्ण्य विषय एक हो सकते हैं तो उन विषयों की अभिव्यक्ति-प्रणालियों में भी दोनों में समानता स्वाभाविक

है। कहानियाँ और उपन्यास शैली की दृष्टि से निम्नांकित भागों में बांटे जा सकते हैं।

१. आत्मचरित प्रणाली—जहाँ स्वयं लेखक एक पात्र होता है और 'मैं' के रूप में घटनाओं का वर्णन करता है। 'मैं' के रूप में लिखी गई कहानियाँ और उपन्यास अधिक मार्मिक लगते हैं क्योंकि वे अनुभूतिमय प्रतीत होते हैं।

२. अन्य चरित्र प्रणाली—जहाँ लेखक तटस्थ होकर एक तीसरे व्यक्ति के नाते सब घटनाओं का वर्णन करता है। उस प्रणाली के द्वारा कथा के सब पात्रों के साथ परोक्ष रूप से वह रहता है। इस प्रणाली को 'वह' की प्रणाली कह सकते हैं।

२. पत्र प्रणाली—कुछ कहानियां और उपन्यास पत्र प्रणाली के द्वारा लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। ऐसे उपन्यास और कहानियों में घटना पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप चलती है, पत्र की स्वाभाविकता की रक्षा के लिये इसमें बहुत सी अप्रासंगिक बातें भी आजाती हैं।

४. डायरी प्रणाली—से भी उपन्यास और कहानी लिखे जाते हैं। किसी व्यक्ति की डायरी के पृष्ठ उद्धृत किये जाते हैं, वे कथा को लेकर चलते हैं, घटनायें विशृङ्खल प्रतीत होती हैं; किन्तु वे एक अव्यक्त अन्तःसूत्र के द्वारा बंधी रहती हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि अनेक समानताओं के रहते हुए भी कहानी एक स्वतन्त्र वस्तु है।

कर्पूरमंजरी

प्रश्न १—'कर्पूरमंजरी' के भारतेन्दु-कृत हिन्दी अनुवाद की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—'कर्पूरमंजरी' राजशेखर के इसी नाम के एक नाटक का अनुवाद होकर भी उसका शब्दानुवाद मात्र नहीं है। भारतेन्दु जी ने अनुवाद में, मूल रचना की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी, उसमें यथासम्भव यत्र-तत्र प्रसंगानुकूल परिवर्तन कर दिये हैं। नाटक की कथावस्तु अथवा घटना-क्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। अनुवाद में ऐसा करना उचित भी न होता। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी मूल ग्रंथ के अनुसार ही है यद्यपि एक स्थान पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होता है। द्वितीय जवनिकान्तर (अंक) में, मूल रचना में, विदूषक के मुख से यह सुनकर कि "आज हिंडोला झूलने की चतुर्थी है, महारानी गौरी की पूजा कर कर्पूरमंजरी को हिंडोले में झुलाएंगी, आप मरकत कुंज नामक प्रासाद में बैठकर कर्पूरमंजरी को झूला झूलते हुए देखें, यही काम बाकी है" राजा कुछ सोच कर कहता है :

"*ता अदिणिउणा वि छलिदा देवी*"

(अत्यन्त चतुर रानी को भी हम लोगों ने धोका दे दिया)

भारतेन्दु जी ने उक्त शब्द *राजा के मुख से* न कहला कर *विदूषक के मुख से* कहलाये हैं :

"*अहा, महारानी बड़ी चतुर हैं तो भी हमने कैसा छकाया !*"

इस प्रकार अनुवाद में राजा चन्द्रपाल का चरित्र, मूल ग्रंथ की अपेक्षा कुछ ऊँचा उठा दिया गया है।

अनुवाद की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि भारतेन्दु जी ने मूल ग्रंथ के प्रत्येक श्लोक को पद्यबद्ध करने के अनुचित मोह से अपनी रक्षा कर ली है। जहां मूल श्लोक में कोई महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है, अथवा

हृदय की किसी तीव्र अनुभूति का आकलन है, वहां तो भारतेन्दु जी ने भी उसका पद्यानुवाद ही प्रस्तुत किया है किन्तु जहां मूल रचना में केवल परंपरा-पालन अथवा साधारण बातों का उल्लेख करने के लिए पद्य का प्रयोग किया गया है, वहां भारतेन्दु जी ने उसका रूपान्तर पद्य के बदले चुस्त और मुहावरेदार गद्य में ही किया है ।

पद्यानुवाद करते समय भी भारतेन्दु जी ने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद की प्रणाली का ही अधिक अनुसरण किया है । कुछ स्थलों पर (उदाहरणार्थ अंक २ में) उन्होंने मूल श्लोक से भाव-साम्य रखने वाली, पद्माकर, देव आदि कवियों की रचनाएं ज्यों की त्यों रख ली हैं तथापि प्रायः उन्होंने स्वयं ही पद्यानुवाद किया है और इस कार्य में उन्हें अद्वितीय सफलता भी मिली है । कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :

दंसेमि तं पि ससिणं बसुहावतिरणं,
थंभेमि तस्स बि रबिस्स रहं णहद्धे ।
आणेमि जक्खसुरसिद्धगणंगणाओ,
तं णत्थि भूमिबलए मह जं ण सद्धं ॥

(अर्थात् मैं चन्द्रमा को भी पृथिवी पर उतार कर दिखा सकता हूँ । सूर्य का भी आकाश-मार्ग में रथ रोक सकता हूँ । यक्ष, सुर और सिद्धगणों की स्त्रियों तक को ला सकता हूँ । भूमंडल पर ऐसा कोई कार्य नहीं जिसको कि मैं न कर सकूँ) ।

—जवनिकान्तर १, श्लोक २५

सूरज बाँधूँ चंदर बाँधूँ बाँधूँ अगिन-पताल ।
सेस समुंदर इंदर बाँधूँ औ बाँधूँ जम-काल ॥
जच्छ रच्छ देवन की कन्या बल से लाऊँ बाँध ।
राजा इन्दर का राज डोलाऊँ तो मैं सच्चा साध ॥

—अनुवाद, अंक १

सह दिबसणिमाइं दीहरा सामदंडा,
सह मणिबलएहिं बाहधारा गलंति ।

सुहअ ! तुअ बिलोए तेअ उब्बेअणीए ,
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा ॥

(अर्थात् हे प्रिय, तुम्हारे वियोग में कर्पूरमंजरी के लिए दिन-रात बड़े लम्बे हो गये हैं और वह लम्बी-लम्बी सांसें छोड़ती है। विरह में दुबले हो जाने से मणिकंकण उसके हाथ से गिर पड़ते हैं। इसी तरह उसकी आंखों से अश्रुधारा बहती रहती है। जैसे-जैसे उसका शरीर दुबला होता जाता है, उसके जीवन की आशा भी घटती जाती है)।

—जवनिकान्तर २, श्लोक ६

विरह-अनल दहकत नित छाती।
दुखद उसास बढ़त दिन राती॥
गिरत आँसु सँग सखि कर चूरी।
तृन सम जियन आस भई भूरी॥

—अनुवाद, अंक २

असोअतरुताडणं रणिदणेउरेणंघिणा,
किदं अ मिअलंछणच्छबिमुहीअ हेलोल्लसं।
सिहासु सुअलासु बि त्थबअमंडणाडंबरं,
ढ्विदं अ गअणंगणं जणखिरिक्खणिज्जं क्खणं॥

(चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त मुख वाली इस कर्पूरमंजरी ने नूपुर बजते हुए अपने चरण से विलासपूर्वक ज्योंही अशोक वृक्ष पर पदाघात किया कि क्षण मात्र में ही सब चोटियों पर गुच्छों के खिलने से चमकता हुआ आकाश सुन्दर हो गया।)

—जवनिकान्तर २, श्लोक ४७

नूपुर बाजत पद कमल परसत तुरत अशोक।
फूल्यौ तजि सब सोक निज प्रगटि कुसुम कल थोक॥

—अनुवाद, अंक २

अनुवाद में ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं है, जहां भारतेन्दु जी द्वारा प्रस्तुत पद्य, मूल श्लोक की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसंगानुकुल ठहरता है।

उदाहरणार्थ मूल नाटक (प्रथम जवनिकान्तर, श्लोक १६) में विदूषक स्वरचित कविता का पाठ इस प्रकार करता है :

फुल्लक्कुरं कलमकूरसमं बहंति,
जे सिंदेबारबिडबा मह बल्लभा दे।
जे गालिअस्स महिसीदहिणो सरिच्छा,
ते किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा॥

(कलभों के ओदन की तरह श्वेतवर्ण के फूल जिन सिन्धुवार वृक्षों पर आते हैं, वे मुझे प्रिय हैं, बिलोए हुए भैंस के दही के समान स्वच्छ विचकिल के फूल मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।)

—जवनिकान्तर १, श्लोक १६

भारतेन्दु जी के विदूषक की कविता इस प्रकार है :

आयो आयो बसंत आयो आयो बसंत।
बन में महुआ टेसू फुलंत॥
नाचत हैं मोर अनेक भांति।
मनु भैंसा का पड़वा फूलफाति॥
बेला फूले बन बीच बीच।
मानो दही जमायो सींच सींच॥
बहि चलत भयो है मंद पौन।
मनु गदहा को छान्यो पैर॥
गेंदा फूले जैसे पकौरि।
लड्डू से फले फल बौरि बौरि॥
खेतन में फूले भात दाल।
घर में फूले हम कुल के पाल॥

निस्संदेह "विदूषक की कृति" के नाते भारतेन्दु जी का पद अधिक उपयुक्त एवं स्वाभाविक है।

इसके विपरीत, अनुवाद में कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो मूल श्लोक से बहुत दूर जा पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों उन स्थलों पर भारतेन्दु जी ने

मूल श्लोक की चिन्ता ही न करके उसी भाव का कोई बना-बनाया पद्य वहां फिट कर दिया है। उदाहरणार्थ मूल रचना में विचक्षणा यह कविता पढ़ती है :

जे लंकागिरिमेहलाहिं खलिदा संभोअखिण्णोरई
प्फारप्फुल्लफणाबलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणं ।
ते एण्हिं मलआणिला विरहिणीनीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे बि बहला तारुण्णपुण्णा बिअ ॥

(मलयाचल की वे हवाएं जो लंका के पर्वत से रुक गयी थीं और सम्भोग के बाद थकी हुई सर्पिणियों के अपने बड़े और फैले हुए फनों से सांस लेने के कारण क्षीण हो गयी थीं, अब फिर शीघ्र ही विरहिणियों के निःश्वास का सम्पर्क पाकर शैशव काल में भी प्रगल्भ और वेगवती हो चली हैं।)

—*जवनिकान्तर १, श्लोक २०।*

इसके स्थान पर अनुवाद में यह छन्द है:—

फूलेंगे पलास बन आगि सी लगाइ कर,
कोकिल कुहूकि कल सबद सुनावैगो।
त्यौंही सखी लोग सबै गावैगो धमार धीर,
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो॥
सावधान होहु रे वियोगिनी सम्हारि तन,
अतन तनक ही मैं तापन तैं तावैगो।
धीरज नसावत बढ़ावत बिरह काम,
कहर मचावत बसंत कब आवैगो॥

—*अनुवाद, अंक १।*

इसी प्रकार मूल नाटक के आरम्भ म निम्नलिखित श्लोक हैं :—

भद्दं भोदु सरस्सईअ कइणो णंदंतु बासाइणो
अण्णाणं वि परं पअट्टदु बरा बाणी छइल्लप्पिआ।
बच्छोमी तह माअही फुरदु णो सा किं च पंचालिआ
रीदीओ बिलिहंतु कब्बकुसला जो ण्हां चओरा बिअ॥

अकलिअपरिरंभबिब्भमाइं अजणिअचुंबणडंबराइं दूरम्
अथडिअथणताडणाइं णिच्चं णमह अणंगरईणमोहणाइं ।
ससिखंडमंडणाणं समोहणासाणं सुरअणपिआणम्
गिरिसगिरिंदसुआणं संघाडो वो सुहं देउ ॥
ईसारोसप्पसादप्पणदिसु बहुसो सग्गगंगाजलेहि
आ मूलं पूरिदाए तुहिणअरअला रुप्पसुत्तीअ रुद्दो ।
जोण्हामुत्ताफलिल्लं णदमउलिणिहित्तग्गहत्थेहिं दोहिं
अग्घं सिग्घं ब देंतो जअइ गिरिसुआपाअपंकेरुहाणं ॥

(अर्थात् सरस्वती देवी की जय हो, व्यास आदि कवि भी अपनी रचनाओं द्वारा समृद्ध होते रहें और भी कालिदास, भवभूति आदि कवियों की विद्वज्जनप्रिय मधुर वाणी सर्वदा चलती रहे । वैदर्भी, मागधी और पांचाली रीतियां हमारे ध्यान में तथा सामने रहें । सहृदय रसिक जन इन तीन रीतियों का उसी तरह विशेष रूप से आनन्द लें जिस तरह ज्योत्स्ना का स्वाद लेकर चकोर पक्षी प्रसन्न होते हैं । दर्शकगण आलिंगन चेष्टा से रहित, चुम्बन के आडम्बर से शून्य और अंग विशेषों के कठिन ताड़न से रहित काम और रति की सुरत क्रीड़ाओं को निरन्तर नमस्कार करें अथवा उनका रसास्वादन करें । चन्द्रकला के भूषित सम्भोग की अभिलाषा रखने वाले देवताओं के प्रिय शंकर और पार्वती का संगम दर्शकों को आनन्द दे । शिवजी के मस्तक पर गंगा को देख कर उत्पन्न पार्वती की ईर्ष्या और क्रोध को शान्त करने के लिये उनके पैरों पर बार-बार पड़ते हुए तथा अपने झुके हुए मस्तक पर रखे हुए दोनों अग्रहस्तनों द्वारा गंगाजल से अत्यन्त पूरित चन्द्रकला रूपी सीप से चन्द्रिका रूपी मोती से युक्त अर्घ्य को शीघ्र-शीघ्र पार्वती के चरणों में देते हुए भगवान् शंकर सर्वश्रेष्ठ हैं ।')

—जवनिकान्तर १ श्लोक १, से ४

इन श्लोकों में 'नान्दी' की समस्त विशेषताएं विद्यमान हैं—सरस्वती देवी की वन्दना है, व्यास आदि महाकवियों की स्तुति है, वैदर्भी, मागधी और पांचाली रीतियों का उल्लेख है, काम और रति की वन्दना के बहाने नाटक के

प्रधान रस—शृंगार—का संकेत है और शंकर-पार्वती के मिलन में नाटक के नायक तथा नायिका—राजा चन्द्रपाल तथा कर्पूरमंजरी—के मिलन की ध्वनि है। भारतेन्दु जी ने इन समस्त महत्वपूर्ण तत्वों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल इतना ही लिखा है :

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

—अंक १

निस्संदेह इस प्रकार के परिवर्तनों से अनुवाद के सौष्ठव को क्षति ही पहुँची है।

प्रथम जवनिकान्तर के श्लोक संख्या ५, ६, ११, से १४, १७, १८, २१ से २४, २६ से ३४; द्वितीय जवनिकान्तर के श्लोक संख्या १ से ७, ४३, ४५; तृतीय जवनिकान्तर के श्लोक संख्या १ से १२, १७ से १९, २२ से २४, और चतुर्थ जवनिकान्तर के श्लोक संख्या १ से २१ अनुवाद में गद्य के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। सामान्यतः इस परिवर्तन से स्वाभाविकता में अभिवृद्धि ही हुई है। मूल नाटक में अनेक साधारण बातें भी श्लोक के रूप में कही गयी हैं, भारतेन्दु जी ने इस अस्वाभाविकता को पहचान कर उससे बचने का स्तुत्य प्रयास किया है। कहीं-कहीं तो भारतेन्दु जी का गद्य मूल नाटक के पद्य से भी बहुत अधिक प्रभावशाली हो गया है। उदाहरणार्थ प्रथम जवनिकान्तर में भैरवानन्द कहता है :

मंतो ण तंतो ण अ किं पि जाणं
झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा ॥

रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ॥

मुत्तिं भणंति हरिबम्हमुहादिदेआ
भाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्टो
मोक्खो समं सुरअकेलिसुरारसेहिं॥

—जवनिकान्तर १, श्लोक २२ से २४

भारतेन्दु जी ने इसका गद्यानुवाद इस प्रकार किया है :

"जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा और खाने को मांस, सोने को स्त्री, मसान का वास, लाख लाख दासी सब कड़े कड़े अंग, सेवा में हाजिर रहें पीए मद्य-भंग, भिच्छा का भोजन और चमड़े का बिछौना, लंका पलंका सातो दीप नवो खंड गौना, ब्रह्मा विष्णु महेश पीर पैगम्बर जोगी जती सती बीर महाबीर हनुमान रावन महिरावन, आकाश पाताल जहां बांधूं तहां रहें, जो जो कहूँ सो सो करें, मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच, दोहाई पशुपतिनाथ की, दोहाई गोरखनाथ की।"

—अंक १

इसके विपरीत, कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहां मूल नाटक के श्लोकों का गद्यानुवाद अपेक्षाकृत शिथिल रहा है। उदाहरणार्थ तृतीय जवनिकान्तर में राजा कर्पूरमंजरी का स्मरण करके कहता है :

दूरे किज्जदु चंपअस्स कलिआ कज्जं हरिद्दाअ किं
उत्ततेण अ कंचणेण गणणा का णाम जच्चेण बि।
लावण्णस्स णबुग्गदेंदुमहुरच्छाअस्स तिस्सा पुरो
पच्चगेहिं बि केसरस्स कुसुमक्केरेहि किं कारणं॥

मरगअमणिगुत्ता हारजट्ठि व्व तारा
भमरकबलिअद्धा माईमालिए व्व।
रहसबलिअकंठी तीअ दिट्टी बरिट्ठा
सबणपहणिबिट्ठा माणसं मे पबिट्ठा॥

—जवनिकान्तर ३, श्लोक १, २

इसका गद्यानुवाद इस प्रकार है :

राजा : (*स्मरण करके*) उसकी मधुर छबि के आगे नया चन्द्रमा, चंपे की कली, हल्दी की गांठ, तपाया सोना और केसर के फूल कुछ नहीं हैं, पन्ने के हार और मालती की माला से शोभित उसका कंठ जी से नहीं भूलता और उसके कर्णावलंबी नेत्र मेरे जी में अब तक खटकते हैं।

—*अंक ३*

कुछ श्लोकों (*उदाहरणार्थ तृतीय जवनिकान्तर श्लोक २२, २४*) का अनुवाद किया ही नहीं गया।

यहां कुछ अन्य परिवर्तनों का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा। प्रस्तावना में भारतेन्दु ने मूल नाटककार के साथ-साथ अपना परिचय भी दिया है :

पारि० : राज्य की शोभा के साथ अंगों की शोभा का और राजाओं में बड़े दानी का अनुवाद किया।

सूत्र० : (विचारकर) यह तो कोई कूटसा मालूम पड़ता है। (प्रकट) हां हां राजशेखर और हरिश्चन्द्र का। —*अंक १*

मूलनाटक में लिखा गया है :

परुसा संविकअबंधा पाउदबंधो वि होई सुउमारो।
पुरुसमाहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअभिमाणं॥

(संस्कृत भाषा में की गयी रचनाएं नीरस होती हैं, प्राकृत की रचनाएं ही मधुर होती हैं। जिस तरह पुरुष कठोर होते हैं, उसी प्रकार संस्कृत रचनाएं कठोर होती हैं और जिस तरह स्त्रियां सुकुमार होती हैं उसी तरह प्राकृत रचनाएं मधुर और सुकुमार होती हैं)।

—*प्रथम जवनिकान्तर, श्लोक ८*

हिन्दी अनुवाद में 'प्राकृत' का स्थान 'भाषा' को दिया गया है :

कठिन संस्कृत अति मधुर भाषा सरस सुनाय।
पुरुष नारि अंतर सरिस इन में बीच लखाय॥

मूलनाटक में वैतालिकों का नाम 'रत्नचंड' और 'कांचनचंड' है, अनुवाद

में उसे अपेक्षाकृत कोमल एवं कर्णप्रिय स्वरूप—'रत्नचंद्र' और 'माणिक्यचंद्र'—दे दिया गया है।

मूल रचना में पारिपार्श्विक सूत्रधार से कहता है: "ता भाव एहि, अणंतरकरणिज्जं संपादेम्ह, जदो महाराअदेईणं भूमिअं घेत्तूण अज्जमारिआ अ जवणिअंतरे वट्टदि" अर्थात् श्रीमान् चलें आगे का काम करें, क्योंकि महाराज और देवी की भूमिका में आपको और *आपकी धर्मपत्नी को* जवनिका के अन्दर तैयार होना है।

अनुवाद में कहा गया है: "तो अब चलो अपने अपने स्वांग सजें। देखो *तुम्हारा बड़ा भाई* देर से राजा की रानी का भेस धर कर परदे की आड़ में खड़ा है।"

इस परिवर्तन से क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि राजशेखर के समय में स्त्रियों का अभिनय स्त्रियां ही किया करती थीं किन्तु भारतेन्दु जी के समय में स्त्रियों का अभिनय भी पुरुषों द्वारा किया जाता था?

प्रश्न २—'सट्टक' के नाते कर्पूरमंजरी एक सफल कृति है—क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर—नाटक के आरम्भ में सूत्रधार पारिपार्श्विक से पूछता है: "क्या खेलने की तैयारी हुई?" पारिपार्श्विक उत्तर देता है: "हां आज सट्टक न खेलना है।" आगे चलकर सूत्रधार कहता है: "सट्टक में यद्यपि विष्कंभक-प्रवेशक नहीं होते तो भी यह नाटकों में अच्छा होता है।" मूल रचना में पारिपार्श्विक कहता है: "जिस प्रबन्ध में नाटिकाओं का पूरा-पूरा अनुकरण हो, केवल प्रवेशक और विष्कंभक न पाये जांय उसे सट्टक कहते हैं।"

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटिका की कथा काल्पनिक होती है; नायक प्रख्यात धीर ललित राजा होता है; प्रधान रस शृंगार होता है; ज्येष्ठ, प्रगल्भ, राजकुलोत्पन्न, गंभीर और मानिनी महारानी होती है; उसी के कारण नायक का नवीन नायिका के साथ समागम होता है; यह नवीन नायिका मुग्धा, दिव्य तथा राजकुलोत्पन्न इत्यादि गुणों से युक्त कोई सुन्दरी

होती है ; अन्त:पुर इत्यादि के सम्बन्ध से देखने तथा सुनने से नायक का उसमें उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता जाता है। नायक महारानी के डर से हिचकिचाता हुआ नूतन नायिका की ओर प्रवृत्त होता है तथा कैशिकी वृत्ति के चार अंगों से उसमें चार अंक होते हैं। सट्टक में विशेष रूप से प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता है, कहीं-कहीं अद्‌भुत रस भी पाया जाता है, अंकों को जवनिका कहते हैं और इसमें गीत, नृत्य तथा विलास आदि की प्रधानता होती है।

'कर्पूरमंजरी' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कृति में इनमें से लगभग सभी विशेषताएं उपस्थित हैं अत: सर्वथा आश्वस्त भाव से यह कहा जा सकता है कि सट्टक के नाते 'कर्पूरमंजरी' एक सफल रचना है।

प्रश्न २---'कर्पूरमंजरी' के कथानक की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

उत्तर---'कर्पूरमंजरी' का कथानक अत्यन्त सरल तथा सुबोध है। प्रस्तावना में पारिपार्श्विक नाटक की मूल घटना---चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी का विवाह---का संकेत कर देता है : "और यह भी जान रक्खो कि इस सट्टक में कुमार चन्द्रपाल कुंतल देश की राजकुमारी को ब्याहेगा।" प्रथम अंक में हम राजा चन्द्रपाल, महारानी विभ्रमलेखा, विदूषक, विचक्षणा तथा कुछ अन्य दरबारियों को रंगमंच पर उपस्थित पाते हैं। राजा और रानी परस्पर वसन्तागमन के लिए बधाई देकर वसंत-वर्णन के बहाने अपने हृदयस्थ प्रणय की अभिव्यक्ति करते हैं। विदूषक और विचक्षणा भी इस अवसर पर स्वरचित कविताओं के रूप में वसन्त-वर्णन करते हैं और अपने को एक दूसरे से अधिक प्रतिभाशाली सिद्ध करने की भावना से उन दोनों के बीच वाग्युद्ध छिड़ जाता है। राजा और रानी के मुख से विचक्षणा की कविता की प्रशंसा सुनकर विदूषक को क्रोध आ जाता है और वह विचक्षणा को बुरा-भला कहता हुआ वहां से चला जाता है। कुछ ही क्षण के उपरान्त वह आकर महाराज को भैरवानंद जी के आने की सूचना देता है। भैरवानंद राजा को अपना कुछ करतब दिखाना चाहता है। चन्द्रपाल, विदूषक की सलाह से, भैरवानंद से यह प्रार्थना करता है कि वह विदर्भनगर की

राजकुमारी को वहां बुलाकर दिखाए। भैरवानंद अपनी योगशक्ति से कर्पूरमंजरी को वहां ला उपस्थित करता है। चंद्रपाल उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। उधर रानी विभ्रमलेखा को यह जान कर अपार हर्ष होता है कि कर्पूरमंजरी उसकी मौसी, शशिप्रभा, की पुत्री है। वह भैरवानंद से प्रार्थना करती है कि कर्पूरमंजरी को कुछ दिन के लिए उसके पास ही छोड़ दिया जाय। भैरवानंद यह स्वीकार कर लेते हैं।

द्वितीय अंक में राजा चन्द्रपाल कर्पूरमंजरी के सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ हमारे सामने आता है। कर्पूरमंजरी की स्मृति मे वह विह्वल है, उसके प्रेम में मतवाला है। विदूषक और विचक्षणा आते हैं। विचक्षणा चन्द्रपाल को कर्पूरमंजरी का एक पत्र देती है। क्रमशः विदूषक तथा विचक्षणा चन्द्रपाल के प्रेम में निमग्न कर्पूरमंजरी की दशा का उल्लेख करते हैं। महारानी विभ्रमलेखा ने कर्पूरमंजरी का शृंगार किस प्रकार किया, इसका विस्तृत वर्णन भी विचक्षणा राजा के सम्मुख करती है। उसके उपरांत राजा और विदूषक आपस में कर्पूरमंजरी के सौन्दर्य का उल्लेख करते हैं। विदूषक महाराज को सूचित करता है कि "हिन्दोलन चतुर्थी के अवसर पर आज महारानी गौरी पूजा के उपरान्त कर्पूरमंजरी को झूला झुलाएंगी अतः महाराज मरकत कुंज में बैठकर कर्पूरमंजरी को झूला झूलते देख सकते हैं।" राजा यह दुर्लभ दृश्य देखने के लिए, विदूषक के साथ कदली वन में चला जाता है और कर्पूरमंजरी को झूलते देखता है। अकस्मात् वह झूले पर से उतर पड़ती है। राजा फिर उसकी स्मृति की धारा में डूबने-उतराने लगता है।

राजा और विदूषक अभी मरकत कुंज में ही बैठे होते हैं कि शिशिरोपचार की सामग्री लेकर विचक्षणा उधर आ निकलती है। विचक्षणा से उन्हें यह समाचार प्राप्त होता है कि महारानी ने कुरवक, तिलक और अशोक वृक्ष लगाये हैं और कर्पूरमंजरी से उनका दोहद करने के लिए कहा है। वह उन्हें यह भी बताती है कि महाराज चाहें तो इस अवसर पर कर्पूरमंजरी के सौन्दर्यामृत का पान कर सकते हैं। तमाल वृक्ष की आड़ में

छिपकर राजा कर्पूरमंजरी को देखता है। वह कुरवकवृक्ष का आलिंगन करती है, तिलक वृक्ष को तिरछी निगाहों से देखती है और अशोक वृक्ष पर पाद-प्रहार करती है। विदूषक और राजा अत्यन्त प्रेमपूर्वक यह सब देखते हैं। संध्या होने पर सब चले जाते हैं।

तृतीय अंक का आरम्भ राजा और विदूषक के वार्तालाप के साथ होता है। कर्पूरमंजरी के प्रेम में निमग्न राजा विदूषक को बताता है कि उसने स्वप्न में देखा कि कर्पूरमंजरी उसकी शैया पर आयी—किन्तु ज्योंही उसने उसका हाथ पकड़ना चाहा, वह हाथ छुड़ाकर भाग गयी और राजा की निद्रा भंग हो गयी। इस अवसर पर विदूषक भी अपने एक स्वप्न का उल्लेख करता है। उसने स्वप्न में देखा कि वह गंगा जी में सो गया और मेघों ने उसे निगल लिया। उसके उपरान्त मेघ में ही छिपा-छिपा वह ताम्रपर्णी नदी से मिले हुए समुद्र में गया। वहां वह मेघ बड़ी-बड़ी बूंदों में बरसने लगा और समुद्र की सीपियों ने उसे पी लिया। वहां वह पचास घुंघची भर का (असली) मोती बनकर सीपियों के गर्भ में रहा। कालांतर में वे सीपियां समुद्र से निकाल कर फोड़ी गयीं और उनमें से मोती निकाल लिये गये। वे मोती एक सेठ ने खरीद लिये और उन्हें छिदवा दिया। उससे उसे वेदना हुई। सेठ ने मोतियों का हार बनवा कर उसे पांचाल देश के राजा के हाथ बेच दिया। राजा ने वह हार अपनी रानी को पहनाया। चांदनी रात में जब राजा ने रानी का आलिंगन किया तब वह स्तनों के नीचे दब जाने के कारण जग गया।

इसके उपरान्त राजा और विदूषक अपेक्षाकृत गम्भीर विषयों—प्रेम, यौवन और सौन्दर्य पर बातचीत करते हैं। इसी समय नेपथ्य से कर्पूरमंजरी और कुरंगिका के पारस्परिक वार्तालाप से पता चलता है कि कर्पूरमंजरी राजा के वियोग में व्याकुल है। एक ओर से राजा और विदूषक आगे बढ़ते हैं, दूसरी ओर से कर्पूरमंजरी और कुरंगिका। राजा और कर्पूरमंजरी एक दूसरे को देख कर स्तब्ध रह जाते हैं। कर्पूरमंजरी को पसीने में भीगा देखकर विदूषक अपने वस्त्र से हवा करने लगता है। समीप रखा दीपक

इस प्रकार बुझ जाता है। अन्धकार में छिपकर सब लोग सुरंग के मार्ग से प्रमदोद्यान में चले जाते हैं। इस अवसर पर राजा कर्पूरमंजरी का आलिंगन भी कर लेता है। उसी समय वैतालिक चन्द्रोदय की सूचना देते हैं। उधर रानी विभ्रमलेखा को कर्पूरमंजरी और चन्द्रपाल के प्रेम-मिलन का समाचार प्राप्त हो जाता है अतः कर्पूरमंजरी सुरंग-मार्ग से अपने रक्षा-गृह में चली जाती है।

रानी विभ्रमलेखा कर्पूरमंजरी पर कड़ा पहरा लगा देती है। उधर, रानी की ओर से सारंगिका महाराज को केलिविमान प्रासाद पर चढ़कर वट-सावित्री महोत्सव देखने का निमन्त्रण दे देती है। राजा, विदूषक के साथ वहां जाता है। वहीं सारंगिका रानी की ओर से राजा के पास यह संदेश लाती है कि उसी दिन सायंकाल राजा का विवाह होगा। राजा कुछ समझ नहीं पाते। सारंगिका उन्हें समझाती है कि रानी ने गौरी की प्रतिमा बनवाकर भैरवानंद से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कराई और स्वयं उनसे दीक्षा ली। रानी ने योगीश्वर भैरवानंद से जब गुरु-दक्षिणा के लिए बड़ा आग्रह किया तो उन्होंने कहा, "यह दक्षिणा महाराज को दो—लाट देश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमंजरी के साथ राजा का विवाह करा दो क्योंकि ज्योतिषियों का कथन है कि घनसारमंजरी चक्रवर्ती राजा की रानी बनेगी। अतः इस प्रकार महाराज चक्रवर्ती हो जायँगे और मुझे भी दक्षिणा मिल जायगी।"

विभ्रमलेखा यह नहीं जानती थी कि कर्पूरमंजरी ही वह घनसारमंजरी है जिसके साथ भैरवानंद चन्द्रपाल का विवाह करा रहे हैं। फलतः राजा और घनसारमंजरी—कर्पूरमंजरी—का विवाह हो जाता है।

'कर्पूरमंजरी' की कथावस्तु के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाटककार ने नाटक के उद्देश्य अथवा 'फल'—चन्द्रपाल और कर्पूमंजरी का विवाह—को एक पल के लिए भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। प्रथम अंक में कर्पूरमंजरी के प्रथम दर्शन के उपरांत राजा बहुत ही तेजी के साथ उसकी ओर खिचता चला जाता है। नाटक के अन्य पात्र—विदूषक, विचक्षणा, भैरवानंद आदि—इस कार्य में राजा को महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान

करते हैं। वे केवल पत्र-वाहक ही नहीं हैं, सक्रिय सहयोगी हैं। अनजाने में स्वयं विभ्रमलेखा भी चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी के प्रेम-सम्बन्धों में सहायता ही पहुँचाती है। उदाहरणार्थ रानी ही भैरवानंद से यह अनुरोध करती है कि वह कुछ समय के लिए कर्पूरमंजरी को वहीं छोड़ दे।

'कर्पूरमंजरी' के कथानक में कोई संघर्ष दिखाई नहीं देता, घटनाएं अभीष्ट लक्ष्य तक निर्विघ्न बढ़ती जाती हैं। अबला विभ्रमलेखा की नारी-सुलभ ईर्ष्या भैरवानंद की योग-शक्ति और उसकी सुनिश्चित योजनाओं के मार्ग में बाधक नहीं हो पाती और इस प्रकार नाटक का कथा-प्रवाह मार्ग में आने वाले साधारण कंकर-पत्थरों को कुचलता आगे ही बढ़ता रहता है—उसी ओर जहां सागर और सरिता का संगम हो जाता है।

प्रश्न ४—'कर्पूरमंजरी' के आधार पर राजा चन्द्रपाल का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—चन्द्रपाल 'कर्पूरमंजरी' नाटक का नायक है। नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार उसे धीरललित नायक माना जा सकता है। धीरललित नायक निश्चिन्त, कलाप्रेमी, सुखी और मृदु स्वभाव वाला होता है। चन्द्रपाल के चरित्र में ये समस्त विशेषताएं देखी जा सकती हैं।

नाटक के आरम्भ में चन्द्रपाल अपनी पत्नी से अनन्य प्रेम करने वाले एक पति के रूप में ही हमारे सामने आता है। नाटक में उसके सर्व-प्रथम शब्द हैं—"प्यारी, तुम्हें वसंत के आने की बधाई है······" किन्तु कर्पूरमंजरी को देखते ही उसका दाम्पत्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है और उसके प्रेम की धारा अत्यन्त द्रुत गति से कर्पूरमंजरी की ओर प्रवाहित होने लगती है: "अहाहा! जैसे रूप का खजाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गये, यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन,—कुछ कहा नहीं जाता······अहा! धन्य है इसका रूप !! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोरा-जोरी निकाले लेती है, इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है, अहा इसके कपड़ों से जो पानी की बूंदें टपकती हैं वह ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं;

काजल आंखों से धुल जाने के कारण नेत्र कैसे सुहावने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं······।" क्रमशः चन्द्रपाल का प्रेम—वासना—दीवानेपन की सीमा तक जा पहुँचता है : "······हा ! वह हरिननयनी मानो चित्त में घूमती है, उसके गुण नहीं भूलते, सेज पर मानो सोई हुई है और मेरे साथ-ही-साथ चलती है, प्रतिशब्द में मानो बोलती है और काव्यों से मानो मूर्तिमान प्रकट होती है······।"

उत्तरोत्तर कर्पूरमंजरी के प्रति चन्द्रपाल की दिलचस्पी बढ़ती जाती है। क्या वह भी उसके विरह का अनुभव कर रही है ? विभ्रमलेखा की भावनाएं उसके प्रति किस प्रकार की हैं ? रनिवास में कर्पूरमंजरी का शृंगार किस प्रकार किया गया ?—आदि प्रश्नों का उत्तर वह विस्तारपूर्वक सुनना चाहता है। वह केले के कुंज में छिपकर कर्पूरमंजरी को झूला झूलते देखने के लिए तैयार हो जाता है ? छिपकर कर्पूरमंजरी द्वारा की जाने वाली दोहद-क्रिया देखता है। सपनों में भी कर्पूरमंजरी को अपने समीप पाता है और इस प्रकार सदैव उसी के स्मरण, चिन्तन तथा उसी के रूप का श्रवण-वर्णन करता रहता है । विदूषक राजा से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछता है: "भला रानी से इतना स्नेह होते हुए भी कर्पूरमंजरी पर इतना प्रेम क्यों करते हो और फिर रानी रूप आदिक में किससे कमती है ?" राजा का उत्तर है : "यह मत कहो, किसी-किसी मनुष्य से ऐसी प्रेम की गांठ बँध जाती है कि उसमें रूप कारण नहीं होता ······।" राजा चन्द्रपाल के शब्दों में प्रेम की परिभाषा यह है: "नव यौवन वाले स्त्री-पुरुषों के परस्पर अनेक मनोरथों से उत्पन्न सहज चित्त के विकार को प्रेम कहते हैं।" स्वयं चन्द्रपाल के जीवन की वास्तविक कसौटी पर खरी न उतरने पर भी राजा की उक्तियों में महत्त्वपूर्ण सत्य निहित है।

चन्द्रपाल के प्रेम में संयम की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। कहीं-कहीं तो उसका आचरण इतना असंयमित हो जाता है कि विदूषक भी इसका अनुभव करने लगता है। उदाहरणार्थ चतुर्थ अंक में कर्पूरमंजरी को देखकर चन्द्रपाल कहता है : "यह कामदेव की मूर्तिमान् शक्ति है, वा शृंगार की साक्षात् लता है, वा सिमटी हुई चन्द्रमा की चांदनी है, वा हीरे की पुतली

है, वा वसंत ऋतु की मूक कला है, जिसको उसने एक बार देखा उसके चित्तरूपी देश में कामदेव का निष्कंटक राज हुआ।"

इस पर विदूषक धीरे से कहता है : "वाह रे जल्दी ! अरे अब तो क्षण भर में गोद ही में आई जाती है। अब क्या बक-बक लगाए हो, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ?"

'कर्पूरमंजरी' का नायक मुख्यत: एक प्रेमी के रूप में ही सामने आता है। उसे न राज्य की कोई चिन्ता है, न धर्म की। सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक प्रश्न, राजनीतिक दांव-पेंच, धार्मिक यम-नियम, इन सबकी ओर से सर्वथा उदासीन होकर वह केवल कर्पूरमंजरी का ही चिन्तन, मनन एवं स्मरण करता है। इस प्रकार चन्द्रपाल का चरित्र सर्वथा एकांगी हो गया है।

प्रश्न ५—'कर्पूरमंजरी' के पात्रों में भैरवानन्द का स्थान निर्धारित करते हुए उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भैरवानंद अलौकिक शक्तिसम्पन्न एक सिद्ध पुरुष है। नाटक में उसका प्रवेश अत्यन्त नाटकीय ढंग से कराया गया है। उसी के शब्दों में उसका विस्तृत परिचय इस प्रकार है : "जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा और खाने को मांस, सोने को स्त्री, मसान का वास, लाख लाख दासी सब कड़े-कड़े अंग, सेवा में हाजिर रहें पीए मद्य भंग, भिच्छा का भोजन और चमड़े का बिछौना, लंका पलंका सातो दीप नवो खंड गौना, ब्रह्मा विष्णु महेश पीर पैगम्बर जोगी जती सती बीर महाबीर हनुमान रावन महिरावन आकाश पताल जहां बांधूँ तहां रहे, जो जो कहूँ सो सो करे······।"

भैरवानंद का यह कथन कुछ अटपटा-सा जान पड़ता है। इसमें अश्लीलता और अनैतिकता की गंध भी स्पष्ट है किन्तु वास्तव में यह उसका कहने का ढंग मात्र है। भैरवानन्द तान्त्रिक सम्प्रदाय का एक सिद्ध पुरुष है—एक ऐसा सिद्ध पुरुष जो न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही श्रेष्ठ है अपितु जिसे कुछ गुह्य शक्तियां भी प्राप्त हैं। वह साधारण जादूगर नहीं है।

भैरवानंद मूलत: एक धार्मिक शिक्षक है, केवल प्रासंगिक रूप से अद्भुत कार्यों का करने वाला है। अपनी इन्हीं अलौकिक शक्तियों के कारण वह सर्वत्र श्रद्धा का पात्र बनता है। नाटक के सभी पात्र उसकी अद्वितीय महत्ता को स्वीकार करते हैं। राजा चन्द्रपाल उसे 'योगीश्वर' कह कर सम्बोधित करता है। विभ्रमलेखा उसे अपना दीक्षा-गुरु बनाती है और गुरु-दक्षिणा के लिए आग्रह करती है।

एक बात और भी है। भैरवानंद की गर्वोक्तियों में मिथ्या दम्भ नहीं है। वह जो कुछ कहता है, कर दिखाता है। विदूषक के यह कहने पर कि "दक्षिण देश में विदर्भ नामक नगर है। वहां मैंने एक लड़की बड़ी सुन्दर देखी थी वही बुलाई जाय" वह तत्काल पूर्णमासी का चांद पृथ्वी पर उतार देता है। इस प्रकार तो मानो भैरवानंद नाटक के कथा-प्रवाह को निश्चित दिशा में प्रवाहित करने के साथ-साथ सम्पूर्ण घटना-चक्र को अपने हाथ में ले लेता है। इसके उपरांत वही होता है जो भैरवानंद चाहता है। उसकी अनुमति पाकर कर्पूरमंजरी विभ्रमलेखा के पास रहती है, उसकी इच्छा के अनुसार चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न एवं पल्लवित होता है, भैरवानंद ही की इच्छा एवं आदेशों के अनुसार चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी का विवाह होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भैरवानंद इस नाटक का एक पात्र मात्र न हो कर इसका नियन्ता—इसका 'सूत्रधार'— है।

प्रश्न ६—कर्पूरमंजरी और विभ्रमलेखा के चरित्र एवं व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

उत्तर—विभ्रमलेखा नाटक के नायक चन्द्रपाल की पत्नी है। नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार महारानी को प्रगल्भ, राजवंश की, गम्भीर और मानिनी होना चाहिए। रानी विभ्रमलेखा में ये सब बातें पायी जाती हैं।

विभ्रमलेखा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक आदर्श पत्नी है। चन्द्रपाल के सम्मुख कहा जाने वाला उसका प्रत्येक वाक्य श्रद्धा, शालीनता एवं विनयशीलता से ओत-प्रोत है। यह सब होने पर भी वह

शिशु-सुलभ सरलतापूर्वक अपने 'महाराज' से यह भी कह सकती है कि "देखिए, कोयल मानो कामदेव की आज्ञा से इस चैत के त्यौहार में पुकार रही है कि तरुणियो झूठा मान छोड़ो, अपने प्यारे को प्यार की चितवन से देखो और दौड़-दौड़ के प्रीतम को गले लगाओ, यह चार दिन की जवानी तो बहती नदी है, फिर यह दिन कहां और यह समय कहां ?"

पतिप्राणा विभ्रमलेखा प्रत्येक व्रत, पर्व, उत्सव के अवसर पर अपने पति की उपस्थिति अनिवार्य मानती है और उसके जीवन का महानतम क्षण तो वह होता है जब वह अपने पति को चक्रवर्ती सम्राट् बनाने के लिए उसका विवाह घनसारमंजरी (कर्पूरमंजरी) के साथ करने के लिए तैयार हो जाती है। विभ्रमलेखा की यह उदारहृदयता उसके चरित्र को वास्तव में अत्यन्त ऊँचा उठा देती है।

विभ्रमलेखा के हृदय में अपने से छोटों के प्रति सहानुभूति का प्राधान्य है, बराबर वालों के प्रति स्नेह एवं सौहार्द का और अपने से बड़ों के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का। विचक्षणा, कुरंगिका, चन्द्रपाल और भैरवानंद के साथ किया जाने वाला उसका वर्ताव इसका प्रमाण है।

'कर्पूरमंजरी' प्रस्तुत नाटक की नायिका है। वह विदर्भनगर की राजकुमारी है। उसका सौन्दर्य अपूर्व है। उसके रूप में तो मानो पूर्णमासी का चन्द्रमा पृथ्वी पर उतर आया है। राजा के शब्दों में "इसका दुबला शरीर काम की परतंचा उतारी हुई कमान है और इसके गोरे-गोरे गालों में कनफूल की परछाहीं ऐसी दिखाती है जैसे चांदी की थाली में भरे हुए मजीठ के रंग में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब···इसकी चितवन में मिठास के साथ स्नेह भी झलकता है। इसके कान में नीले कमल के फूल झूलते हुए ऐसे सुहाते हैं मानो चन्द्रमा में से दोनों ओर से कलंक निकला जाता है······इसकी मधुर छवि के आगे नया चन्द्रमा, चंपे की कली, हल्दी की गांठ, तपाया सोना और केसर के फूल कुछ नहीं हैं"······ और विदूषक के कथनानुसार "वाहरे इसके रूप की छवि, उसकी कमर एक लड़का भी मुट्ठी में पकड़ सकता है, और नेत्र की चंचलता देखकर पुरुष क्या स्त्री भी मोह जाती है।"

भैरवानन्द अपने योग-बल से इस निसर्ग-सुन्दरी को चन्द्रपाल के सम्मुख लाकर उपस्थित करता है। इस अद्वितीय रूप-यौवन को देखते ही राजा उस पर मोहित हो जाता है। उधर, कर्पूरमंजरी पर भी राजा के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ता है। वह आप-ही-आप कहती है : "यह कौन पुरुष है जिसका देह गम्भीर और मधुर छवि का मानो पुंज है।"

प्रथम दर्शन में उत्पन्न हो जाने वाला यह प्रेम अत्यन्त शीघ्रता से पल्लवित होता है। राजा और कर्पूरमंजरी दोनों ही एक दूसरे के प्रेम में मतवाले हो जाते हैं। राजा का पल भर का वियोग भी उसके लिए असह्य हो जाता है। केवड़े के एक पत्ते पर वह अपना हृदय उँडेल कर राजा चन्द्रपाल को भेंट कर देती है :

जिमि कपूर के हंस सों हंसी धोखा खाय।
तिमि हम तुम सो नेह करि रहे हाय पछिताय॥

चन्द्रपाल के वियोग में कर्पूरमंजरी की जो दशा हो गयी है, उसका उल्लेख, विभ्रमलेखा के शब्दों में, इस प्रकार है :

तुम बिन तासु उसास गुरु भए हार के तार।
तन चन्दन तपि जात है बिरह-अनल-संचार॥
तन पीरो दिन-चंद सम, निस दिन रीअत जात।
कबहुँ न ताको मुख-कमल मृदु मुसकनि बिकसात॥

चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी के प्रेम-मार्ग की एक ही मुख्य बाधा है— विभ्रमलेखा। कर्पूरमंजरी इस सत्य से भली प्रकार अवगत एवं भयभीत भी है : "तो हम लोग अब इस सुरंग की राह से महल में जाते हैं, जिसमें रानी महाराज के साथ हमें न देखें।" किन्तु भैरवानन्द के योग-बल के सामने विभ्रमलेखा ठहर नहीं पाती और चन्द्रपाल तथा घनसारमंजरी (*कर्पूरमंजरी*) का विवाह हो जाता है।

नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से कर्पूरमंजरी ही प्रस्तुत नाटक की नायिका है। नाटक के 'फल' का उपभोग, चन्द्रपाल के साथ, कर्पूरमंजरी ही करती है किन्तु इस नाटक में विभ्रमलेखा का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं

प्रभावशाली बन पड़ा है। आरम्भ में वह एक आदर्श एवं पतिप्राणा पत्नी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। अकस्मात् कर्पूरमंजरी को अपने सम्मुख पाकर वह जिस निःस्वार्थ स्नेह की अभिव्यक्ति करती है, वह उसके भव्य भगिनी-स्नेह का प्रमाण है। पुरजन-परिजन के हृदय में विभ्रमलेखा के प्रति जो श्रद्धा है, वह उसकी सदाशयता एवं महत्ता की द्योतिका है। स्वयं चन्द्रपाल भी विभ्रमलेखा के शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक सौन्दर्य का उपासक है। मंगलमूलक परम्पराओं का पालन विभ्रमलेखा पूर्ण आस्था तथा विश्वासपूर्वक करती है। भैरवानंद के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा भाव से उसके शिष्या-रूप पर प्रकाश पड़ता है। उसके जीवन अथवा चरित्र के इन विभिन्न पक्षों में मूलतः एक ही कामना कार्य करती है—अपने पति के हर्ष, सुख एवं मंगल की कामना। कर्पूरमंजरी में यह विशेषता दिखाई नहीं देती। वह तो एक रूप-लुब्धा भोली बालिका के रूप में हमारे सामने आती है और सब प्रकार के संघर्षों से सुरक्षित रह कर चन्द्रपाल की परिणीता पत्नी के रूप में हमारे नेत्रों से ओझल हो जाती है। कर्पूरमंजरी में कली की कोमलता है, सुगन्ध है, प्रिय की प्रतिमा पर चढ़ जाने की उमंग भी है किन्तु उस शक्ति का अभाव है जो सक्रिय प्रयत्न को जन्म देती है। विभ्रमलेखा में वह शक्ति भी है और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

प्रश्न ७—'कपूरमंजरी' में किस रस (अथवा रसों) की प्रधानता है? युक्तियुक्त उत्तर लिखिए।

उत्तर—'कर्पूरमंजरी' एक शृंगार रस-प्रधान रचना है। नाटक का आरंभ ऋतुराज वसन्त के वर्णन से होता है—उसी वसंत ऋतु के वर्णन से जिसमें "पान बहुत नहीं खाया जाता, न सिर में तेल देकर चोटी कसके गूंथी जाती है, वैसे ही चोली भी कसके नहीं बांधी जाती।" इस प्रकार नाटक का आरम्भ ही एक ऐसे वातावरण में होता है जबकि "कोयल पंचम सुर में बोलती है, हवा के झोंके से लता कैसी नाच रही है, तरुण स्त्रियों के जी में कैसा इसका उत्साह छा रहा है और सारी पृथ्वी इस वसंत की वायु से कैसी सुहानी हो

रही है"......"कोयल मानो कामदेव की आज्ञा से इस चैत के त्योहार में पुकार रही है कि तरुणियो झूठा मान छोड़ो, अपने प्यारे को प्यार की चितवन से देखो और दौड़-दौड़ के प्रीतम को गले लगाओ, यह चार दिन की जवानी तो बहती नदी है, फिर यह दिन कहां और यह समय कहां ?"

प्रथम-दर्शन के अवसर पर ही चन्द्रपाल और कर्पूरमंजरी का हृदयस्थ रतिभाव शब्दों के रूप में बह निकलता है :

कर्पूरमंजरी (विचार करके) : यद्यपि यह एक स्त्री के बगल में बैठा है तौ भी मुझे ऐसी गहरी और तीखी दृष्टि से क्यों देखता है ?

राजा (*विदूषक के कान में*) : मित्र ! अभी जो इसने अपने कानों को छूने वाली चंचल चितवन से मुझे देखा तो ऐसा मालूम हुआ कि मानो मुझ पर किसी ने अमृत की पिचकारी चलाई वा कपूर बरसाया वा चांदनी से एक साथ नहला दिया या मोती का बुक्का छिड़क दिया।

इसके उपरान्त तो नाटक के समस्त कलेवर में प्रेमी-प्रेमिका का पारस्परिक स्मरण, चिन्तन आदि ही प्रधान है : "हा ! उस समय वह यद्यपि कुचनितंब भार से तनिक भी न हिली परन्तु त्रिबली के तरंग भय श्वास से चंचल थे और गला तिरछा था; मुखचन्द्र हिलने से बेणी ने कंचुकी का आलिंगन किया था सो छबि तो भुलाए नहीं भूलती।"

चन्द्रपाल के नाम भेजा गया कर्पूरमंजरी का पत्र, कर्पूरमंजरी की विरह-दशा का वर्णन, विभ्रमलेखा द्वारा किये जाने वाले कर्पूरमंजरी के शृंगार का विस्तृत विवरण, विदूषक और चन्द्रपाल का वार्तालाप, झूले का दृश्य, कर्पूरमंजरी के आलिंगन से कुरवक, देखने मात्र से तिलक और पैर की ठोकर से अशोक वृक्ष का विकसित हो जाना, स्वप्न में कर्पूरमंजरी के दर्शन, राजा और विदूषक के बीच होने वाला प्रेम, यौवन और सौन्दर्य-विषयक वार्तालाप, कर्पूरमंजरी और चन्द्रपाल का मिलन एवं प्रथम आलिंगन और अन्त में चन्द्रपाल और कपूर्रमंजरी का विवाह शृंगार रस से ओतप्रोत है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण नाटक में मुख्य रूप से शृंगार रस ही व्याप्त है।

गौण रूप से इस नाटक में अद्‌भुत और हास्य रस भी उपस्थित हैं। अद्‌भुत रस योग-बल पर आधारित भैरवानंद के करतबों में और हास्य रस मुख्यत: विदूषक के कुछ कथनों में पाया जाता है। किन्तु विदूषक के साथ विचक्षणा भी होने के कारण 'कर्पूरमंजरी' के हास्य रस में सहज मनोरंजन एवं प्रमोद की भावना अधिक न रह कर कटुता और वाग्युद्ध का ही आधिक्य हो गया है। कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :—

विदूषक : हत् तेरी की, दाई माई कुटनी लुच्ची मूर्ख ! अब हम ऐसे हो गये कि मजदूरिनें हमें हँसें !

विचक्षणा : तुम्हारी माई कुटनी है तभी तुम ऐसे सपूत हुए, तुमसे तो वे भाट अच्छे हैं जो अभी गीत गा गये हैं, तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है कि कुछ बनाओ और गाओ, यह सेखी और तीन काने।

× × ×

विचक्षणा : हें हें ! एक बारगी इतने लाल पीले हो गए, जो जैसा है उसका गुण तो उसके काव्य ही से प्रगट हो गया। तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है जैसे लंबस्तनी के गले में मोती की माला। बड़े पेट वाली को कामदार कुरती, सिर मुँडी को फूलों की चोटी और कानी को काजल।

विदूषक : और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफ़ेद फ़र्श पर गोबर का चोंथ, सोने की सिकड़ी में लोहे की घंटी और दरियाई की अँगिया में मूँज की बखिया।

× × ×

विदूषक और विचक्षणा के बीच 'मित्रता' हो जाने के उपरांत वातावरण कुछ अधिक मधुर हो जाता है।

विदूषक के 'सपने' में हास्य-मिश्रित उपहास है और नाटक के अन्त में तो विदूषक अपने सर्वथा सहज स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाता है :

विदूषक : हां हां, हम तैयार ही हैं। मित्र, हम गटबन्धन करते हैं, तुम कर्पूरमंजरी का हाथ पकड़ो और कर्पूरमंजरी, तुम महाराज का हाथ

पकड़ो। (झूठमूठ के अशुद्ध मन्त्र पढ़ता है और वैदिकों जैसी चेष्टा करता है)।

तभी तो भैरवानंद विदूषक को सम्बोधित करके कहता है: "तुम निरे वही हो।"

आचार्य-दक्षिणा में सौ गांव पाकर यह 'उपाध्याय' "स्वस्ति, स्वस्ति" कहकर बगल बजा कर नाचने लगता है।

———

सिन्दूर की होली

लेखक—राजेन्द्र शर्मा एम० ए०

सिन्दूर की होली

प्रश्न १–'सिन्दूर की होली' का कथासार वर्णन कीजिये।

उत्तर––श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा लिखित 'सिन्दूर की होली' एक समस्यात्मक नाटक है। अपनी पद्धति के दृष्टिकोण से यह नाटक एक विशिष्ट शैली का नाटक माना जाता है। इसमें तीन अङ्क हैं। नाटक का कथानक उपयुक्त विभाजन के अनुसार इन तीनों अङ्कों में बिखरा पड़ा है। प्रथम अङ्क में नाटककार ने अपने नाटक की पृष्ठ भूमि को, तत्सम्बन्धित पात्रों एवं प्रसंगों के सूक्ष्म एवं भावपूर्ण परिचय के साथ चित्रित किया है। कथानक इस प्रकार है।

प्रथम अंक

डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल का अंग्रेजी ढंग पर सजा हुआ सुन्दर कमरा है। मुरारीलाल जी माहिरअली से बातचीत कर रहे हैं। बातचीत का विषय है, राय साहब भगवन्तसिंह के भतीजे से, मनोजशंकर को विलायत भेजने के व्यय को, वसूल करने की युक्ति एवं विधि। इसी अवधि में 'चन्द्रकला' से तनिक सी देर बात होती है। चन्द्रकला मनोजशंकर की अस्वस्थता से चिन्तित है। मुरारीलाल जी मनोजशंकर को ही उसकी अस्वस्थता का उत्तरदायी बताते हैं। कुछ देर पश्चात् भगवन्तसिंह तथा हरनन्दनसिंह आते हैं। उनको आता देखकर मुरारीलाल जी अन्दर चले जाते हैं। माहिरअली उनसे बातचीत करता है। साढ़े दस हजार रुपये गिनकर माहिर को दे दिये जाते हैं। माहिर-अली की स्थिति स्वयं उस समय ठीक नहीं है। इसी प्रकार पाँच सौ रुपया अपनी जेब में रखकर तथा दस हजार उठाकर चला जाता है।

माहिरअली के चले जाने पर मुरारीलाल जी आते हैं। हरनन्दनसिंह का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् कुछ पारिवारिक बातचीत हो[illegible] रारीलाल जी हरनन्दनसिंह से जोर देकर कहते हैं कि वे उस लड़के को समझा दें तथा

ठीक मार्ग पर ले आवें। इसके बाद हरनन्दनसिंह को थोड़ी सी देर के लिये बाहर भेज दिया जाता है। मुरारीलाल जी भगवन्तसिंह से बातचीत करते हैं। बातचीत में प्रकट हो जाता है कि भगवंतसिंह ने उस युवक लड़के के जीवन को समाप्त कराने का प्रबन्ध कर दिया है। इस पर मुरारीलाल जी बड़े क्रुद्ध होते हैं। आखिर अभी जो दिया है, उसमें चौगुने की माँग डि० सा० के द्वारा इसे दबाने के लिये होती है। तथा भगवन्तसिंह को तुरन्त ही वहाँ से इस हेतु भेजा जाता है कि यदि अभी उसका जीवन समाप्त न हो पाया हो तो वे उसे अब बचा लें; किन्तु ऐसी आशा कम है।

इसके उपरान्त चन्द्रकला तथा मनोरमा का आपस में परम प्रभावपूर्ण वार्तालाप होता है। रजनीकान्त को कई दिन पूर्व अपने यहाँ देखकर वे दोनों ही उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाती हैं। मनोरमा ने उसका बड़ा ही सुन्दर चित्र बनाया है। चन्द्रकला चित्र की प्रशंसा करती है किन्तु अन्त में दुःख के साथ यह भी लक्षित कराती है कि रजनीकान्त सम्भवतः संसार में नहीं है। स्वार्थ एवं धनलिप्सा ने उसकी निर्मम हत्या करा दी है। इस पर मनोरमा को मर्मान्तिक दुःख होता है। मुरारीलाल जी भी इस चित्र को देख कर तथा रजनीकान्त की जीवनसम्बन्धी दुःखान्त घटना पर विचार करके बुरी तरह व्याकुल हो जाते हैं।

इसी बीच में मनोजशंकर माहिरअली के साथ प्रवेश करता है। वेतन के पूरे छः सौ रुपये पाकर उसे डि० सा० के नैतिक पतन की आशंका है, क्योंकि घर का काम भी तो चलाना ही है अतः परीक्षा छोड़ कर चला आता है। मुरारीलाल जी उसकी यह बात सुनकर और भी अवसन्न रह जाते हैं। थोड़ी देर में कई आदमी एक चिड़ाला लेकर आते हैं। उसमें रजनीकान्त की लाश है। डि० सा० चला गया। तथा अन्य सभी उसे देखकर दुःख में डूब जाते हैं। प्रथम अङ्क की यहाँ पर समाप्ति हो जाती है।

द्वितीय अंक

कमरे के बरामदे से बाहर को आकर मनोजशंकर बाँसुरी बजा रहा है सहसा मनोरमा आ जाती है। दोनों में हास्य एवं व्यङ्ग्य के साथ चन्द्रकला के

प्रसंग पर वार्तालाप होता है। मनोरमा को मनोजशंकर अविवाहित रहकर उसके साथ रहने का वचन देता है। विश्वासपूर्ति के हेतु मनोरमा की भुजा को स्पर्श करता है। मनोरमा स्वयं बड़ी विचित्र स्थिति मे है। श्री मुरारीलाल जी अचानक आ निकलते हैं। मनोरमा पीछे चली जाती है। मनोज से मुरारी-लाल की बातचीत होती है। प्रारम्भ में चन्द्रकला की बीमारी पर वार्त्तालाप होता है, इसी बीच में मनोज अपने पिता की आत्म-हत्या के गुप्त रहस्य को जानने का हठ करता है। बात जानने के हेतु दर्शो के स्थान पर हाथ में पिस्तौल तक उठाने की आवश्यकता प्रकट करता है। स्थिति काफी गम्भीर हो जाती है।

अन्दर से तभी तक डा० सा० निकलते हैं और कहते हैं कि चन्द्रकला के हृदय की धड़कन बन्द होने की आशंका है। रोग का अन्य कोई लक्षण स्पष्ट नहीं हो रहा है। उसकी नाड़ी-शक्ति बढ़ाने के हेतु सुई से दवा शरीर में पहुँचाने की आवश्यकता है। मनोज इस पर काफी तर्क करता है तथा डा० सा० से कहता है कि उनको अभी चन्द्रकला के रोग का ठीक ज्ञान नही हो पाया है। उसे रोग शारीरिक न होकर मानसिक है। सुई लगाने से तो और भी नवीन रोग हो जाने की आशंका है। अन्त में मुरारीलाल और डा० सा० को बगल के एक कमरे में बिठाकर वह स्वयं चन्द्रकला की चिकित्सा करने उसके कमरे में जाता है। चन्द्रकला से प्रेम की बात करता है। चन्द्रकला क्षमायाचना करती है। मनोज के कहने पर आपसी विरोध दूर करने के लिये चन्द्रकला नदी किनारे टहलने की तैयारी करने जाती है।

इसी समय पास में दीवाल पर कुछ रेखायें खींचती हुई मनोरमा पर मनोजशंकर की दृष्टि पड़ती है। दोनों में बातचीत प्रारम्भ हो जाती है। 'वैधव्य समाज का कलंक है' उनके वार्त्तालाप का विषय है। काफी देर की वार्ता के बाद मनोरमा मनोज से कहती है कि जिस प्रकार शंकर ने विष पचा लिया था, उसी प्रकार तुम भी 'चन्द्रकला' पर पड़े हुए रजनीकान्त के प्रभाव की बात को पचाकर अब चन्द्रकला का उद्धार करो। मनोज इसमें कोई आपत्ति नहीं करता है। इस बात के पश्चात् चन्द्रकला तथा मनोज दोनों हाथ पकड़े हुए बंगले के बाहर निकल जाते हैं।

इसी बीच में मुरारीलाल जी प्रवेश करते हैं। मनोरमा की सभी बातें उन्होंने सुनी हैं अतः वे उसकी उच्चता से पूर्णतः प्रभावित हैं तथा मनोरमा को सच्चे रूप में देखकर उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं। उनकी कई वर्षों की इच्छा आज पूर्ण हुई है।

माहिर अली तब तक आकर बताता है कि रजनीकान्त के सिर में घाव बड़ा गहरा तथा खतरनाक है, किन्तु शायद बच जाये। यह जानकर मुरारीलाल को प्रसन्नता होती है। माहिर ने बताया कि रायसाहब आपसे पुनः मिलना चाहते हैं। मुरारीलाल तुरन्त ही मना कर देते हैं तथा बताते हैं कि वे रायसाहब का अब मुँह भी नहीं देखना चाहते हैं, इस पर माहिर अली कहता है कि कदाचित् चालीस हजार आ गया है। मुरारीलाल भी इस पर कुछ सोचते हैं और अन्त में रुपया ले लेने में कोई हानि नहीं समझते हैं। रुपया यदि अपने लिये नहीं तो रजनीकान्त के लिये ही सही, माहिर अली को रुपया सीधा करने के हेतु भेजते हैं तथा इस प्रकार का आर्थिक दण्ड, जो गुप्त स्थिति में है, रायसाहब को देते हैं। द्वितीय अङ्क की यहीं पर समाप्ति है।

तृतीय अंक

अँधेरी रात में धुँधले प्रकाश वाली लालटेन के सहारे बांई ओर के कमरे में नीचे की ओर माहिर अली लेटा हुआ है। मनोरमा अन्दर से आकर उसे आवाज देती है। माहिर उसकी आवाज सुनकर उठता है किन्तु बड़ी व्याकुल एवं भयभीत स्थिति में। पूछने पर बताता है कि उसने स्वप्न में दो दीर्घकाय, विकराल व्यक्तियों को आसमान से उतरते हुए देखा है जिससे वह डर रहा है। मनोरमा तुरन्त जान गई कि उसे (रजनीकान्त को) लेने ये दूत उतरे हैं। व्याकुल अवस्था में, माहिर के बार-बार मना करने पर भी आगे खुले स्थान की ओर बढ़ती चली गई। तब तक मनोजशंकर तथा चन्द्रकला वहीं आ जाते हैं। इसी स्वप्न की बात उनसे भी होती है। ये भी रजनीकान्त के इसी निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं। चालीस हजार रुपया आने का समाचार भी उन्हें मिल जाता है।

मुरारीलाल जी के इस कुकृत्य की ये सब मन ही मन बड़ी निन्दा करते

हैं। मनोज माहिर से पूछता है कि इतने दिनों इनके साथ रहने पर तुम्हें अब तक इनसे घृणा नहीं हुई। माहिर उत्तर देता है कि घृणा तो अत्यधिक है, मैं चला भी गया होता, किन्तु अपने हाथ मैं तो १० वर्ष पूर्व ही कटा बैठा हूँ। कहता हूं तो फाँसी का डर है। मनोज बात को समझ जाता है। उससे १० वर्ष पहली बात जानने के लिये अनुरोध करता है। माहिर अस्पताल चलने की बात कहता है तथा रास्ते में बात बताने का वायदा करता है।

इधर चन्द्रकाला तथा मनोरमा का आपस में वार्त्तालाप होता है। चन्द्र-कला रजनीकान्त के प्रति अपने हृदय की सच्ची साध को प्रकट करती है तथा इस दिन से अविवाहित स्थिति में भी अपने मानसिक संकल्प के आधार पर अपने को विधवा बताती है। मनोरमा यदि आठ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी, तो चन्द्रकला अपने को इस २५ वर्ष की आयु में विधवा बताती है। उसे इस समय एक अपूर्व एवं अद्भुत मनोभावों में होकर गुजरना पड़ रहा है। मनोरमा उसे समझाती है, किन्तु चन्द्रकला में आज अपूर्व साहस और शक्ति है। वह अपने मत की पुष्टि में अपने सिर में लगे सिन्दूर को साक्षी बनाती है, जो सायंकाल को अस्पताल में रजनीकान्त के हाथ से उसके सिर में लगाया गया है। इस समय की चन्द्रकला और मनोरमा के बीच की बात बड़ी ही भावपूर्ण तथा प्रभावशाली है।

इतने से ही मुरारीलाल जी आ जाते हैं। चन्द्रकला अपना सिर ढक लेती है। मुरारीलाल जी चन्द्रकाला पर बहुत ही ज्यादा नाराज हैं। चन्द्रकला कोई विशेष उत्तर नहीं देती है और उनको क्रोध की भरपूर अवस्था में देख कर अन्दर चली जाती है। फिर मनोरमा तथा मुरारीलाल जी से रजनीकान्त के सम्बन्ध में बात होती है। कुछ समय बाद मनोजशंकर तथा माहिरअली दोनों आ जाते हैं। मनोज अपने पिता की हत्या का रहस्य माहिर से सत्य रूप में खुलवाता है। फिर रजनीकान्त के कत्ल के लिये पचास हजार रुपये की बात स्पष्ट होती है। मुरारीलाल जी की लज्जा एवं ग्लानि सीमातीत हो उठती है। चन्द्रकला के सिर का सिन्दूर मनोज तथा मुरारीलाल दोनों को स्तम्भित कर देता है। इस सबके हेतु मुरारीलाल ही जिम्मेदार बताये जाते

हैं। माहिरअली के शब्दों में वह कयामत ही की रात थी। यहाँ नाटक की समाप्ति हो जाती है

प्रश्न २—'सिन्दूर की होली' नामक नाटक में से निम्नांकित पात्रों का चरित्राङ्कन कीजिये।

मुरारीलाल, मनोजशंकर, मनोरमा और चन्द्रकला।

मुरारीलाल

उत्तर—'सिन्दूर की होली' नामक नाटक में मुरारीलाल जी की एक प्रमुख पात्र हैं, नाटक के प्रत्येक अङ्क का उनसे निकट सम्बन्ध है। आरम्भ से अन्त तक सर्वत्र हमें नाटक में विभिन्न क्रिया-कलापों के केन्द्र-बिन्दु मुरारीलाल जी ही जचते हैं। अतः हमें नाटक में उनके दर्शन भी विभिन्न रूपों में ही होते हैं। साधारण रूप से हम उनको डिप्टी कलेक्टर, मित्र तथा मित्र के पुत्र के सहायक, रुपये के प्रश्न पर विचार तथा अपनी पुत्री चन्द्रकला के व्यवहार पर दुःखी स्थिति में देखते हैं।

डिप्टी कलेक्टर के रूप में हम देखते हैं कि मुरारीलाल जी मथुरा, मुरादाबाद, फैजाबाद तथा गाजीपुर इत्यादिक कई स्थानों पर इसी पद पर कार्य कर चुके हैं। इनको अपने पद का, इस लम्बी अवधि की दृष्टि से, निस्संदेह अच्छा अनुभव है। योग्यता एवं क्षमता का उनमें अभाव नहीं है। किन्तु समय की चाल और तत्कालीन स्थिति का भी इन पर बड़ा भारी प्रभाव है। अता निर्णय में न्याय के स्थान पर स्वार्थ को उन्होंने प्रधानता दे रखी है। न्याय के सम्बन्ध में उनका कहना है कि न्याय और कानून दोनों भिन्न चीजें हैं। "हस लोग मनुष्य औप उसके अधिकार की रक्षा के लिये कुर्सी पर नहीं बैठते······हम लोगों का तो काम है केवल कानून की रक्षा करना।" सबूत न मिलने पर, किन्तु वास्तविकता जानने पर भी वे अपराधी को दण्ड नहीं दे सकते हैं। उनके शब्दों में सजा उसे मिलती है जो अपराध छिपाना नहीं जानता। अतः अपने लिये रुपया लेकर किसी भी केस को कोई भी रंग दिया जाना उनकी सम्मति में ठीक है। नाटक में दस हजार तथा चालीस हजार की रिश्वतें उनके इस स्वभाव की परिचायक हैं। इस कारण उनका

व्यक्तित्व डिप्टी कलेक्टर की स्थिति में अच्छा नहीं है ।

मुरारीलाल जी के दर्शन एक व्यक्ति के मित्र रूप में भी हमको होते हैं । गाढ़ी मित्रता में चलने वाले प्रेम एवं विश्वास को मुरारीलाल जी ८०००) रु० की लोभ-वृत्ति से निर्वाह करते हैं । अधिक भंग पिला कर ८००० रु० हड़पने की बदनीयती से अपने परम प्रिय मित्र को वे नदी में ठेल देते हैं । अत: यहाँ पर उनका रूप सर्वादा निकृष्ट कोटि का है । इसके पश्चात् वे अपने मित्र के पुत्र को उसकी शिक्षा-दीक्षा में सहायता देते हैं । यह सब व्यय मनोज-शंकर के हृदय में, अपने पिता के प्रति चलने वाले रहस्य की ओर विस्मृति कराने को ही है । मनोज के हेतु भरपूर खर्चा देते हैं । उसे विलायत भेजने के हेतु धन जुटाने का प्रयत्न भी करते हैं । मनोज को कोई कमी नहीं रखते । अपनी कन्या का विवाह भी वे उसके साथ करना चाहते हैं । इस रूप में यदि और बातों पर विचार न किया जाय, तो वे अवश्य पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं ।

रुपये के प्रश्न पर विचारक की स्थिति में, वे रुपये को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं । चाहे रुपया देने वाले की कोई भी दशा क्यों न हो जाय और रुपये का परिणाम कितना ही भयंकर क्यों न हो । मित्र के आठ हजार तथा राय साहब के ५००००) रु० इस मनोवृत्ति के ज्वलन्त प्रमाण हैं ।

अपनी पुत्री चन्द्रकला के व्यवहार से वे बड़े दु:खी हैं । यह दु:ख निरन्तर बढ़ता ही जाता है, अन्त में तो उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय हो जाती है । समाज के मध्यवृत्ति के लोगों का इनमें प्रतिनिधित्व है ।

मनोजशंकर

नाटक के आद्योपान्त सम्पन्नता में मनोजशंकर का स्थान भी बड़ा ही महत्त्वशाली है । वह मुरारीलाल के मित्र का पुत्र है । मुरारीलाल से इसके पिता को दोस्ती के विश्वास में अत्यधिक भाँग पिलाकर नदी में गिरा दिया था और इस प्रकार उनके हाथ अपने मित्र के आठ हजार रुपये लग गये थे । बाहर प्रकट यह किया गया था कि उन्होंने आत्महत्या करली है । मनोज इस मायावी रहस्य को नहीं जानता है किन्तु आत्महत्या का कारण

जानने के लिये वह निश्चय ही निरन्तर चिन्तित एवं प्रयत्नशील है। नाटक में मनोज का चरित्र अधिक निखर नहीं पाया है किन्तु फिर भी इतना तो अवश्य सिद्ध है कि वह हृदय का बड़ा ही सरल एवं शुद्ध है। उसके चरित्र में भावुकता प्रधान है हमारे समक्ष वह नाटक में दो रूपों में प्रकट होता है। एक तो पितृ-भक्त, दूसरे मनोरमा के प्रणय में बँधकर आजीवन अविवाहित रहने की बात कहने के रूप में।

पितृभक्त के रूप में मनोजशंकर पिता के हेतु अपनी वही पवित्र अवस्था प्रदर्शित करता है जो मनोरमा ने अपने जीवनधन पति के प्रति प्रकट की है। दोनों की लगन एवं स्मृति दीर्घकाल एवं बाह्य सुख की उपलब्ध सुविधाओं के आवरण में दबाई नहीं जा सकी है। मुरारीलालाल ने मनोज को सभी प्रकार की सुविधायें दे रखी हैं ताकि वह अपने पिता के सम्बन्ध में अधिक विचार ही न कर सके। किन्तु यह सब कुछ मनोज की पितृ-स्मृति पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकीं। उसे चिन्ता है व्यथा है, मानसिक क्लेश है तथा शारीरिक कष्ट भी है किन्तु सब का कारण केवल उसकी पितृ-भक्ति ही है। माहिरअली से रहस्य को जानकर वह समझ जाता है कि वह आत्म-हत्या करने वाले पिता का पुत्र नहीं है। अतः उसे प्रसन्नता होती है और एक मानसिक बल भी मिलता है। वह उत्साहपूर्वक कहता है "यही बात यदि मुझे पहले मालूम होती, आज से पाँच सात वर्ष पहले···तो मेरा तो जीवन इतना नीरस न होता।" उसका चरित्र यहाँ पर परमोच्च कोटि का सिद्ध होता है।

मनोरमा के सम्पर्क में उसका रूप नाटककार ने और भी श्रेष्ठ अंकित किया है। पहले तो वह मनोरमा की ओर आकृष्ट हुआ है और इच्छा करता है कि मनोरमा के साथ उसका विवाह हो जाय। किन्तु मनोरमा जैसे ही उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान कराती है तो वह जीवन भर विधुर रहकर उसका साथ निभाने को तैयार हो जाता है। प्रणय के साथ प्रणयसूत्र में इस प्रकार बँध जाना निस्सन्देह एक उत्कृष्टता है। वह रूप के पीछे अपने को भुला देने वाला कामी नहीं, वह शरीर के भीतर गुणों की परख करता है। चन्द्रकला की ओर उसे कोई खिचाव नहीं है, चूँकि वह मुरारीलाल की है और उसने अपना मानसिक विवाह रजनीकान्त से कर लिया है। अतः मनोज इसका ओर

तनिक भी आकर्षित नहीं है। चन्द्रकला स्वयं मनोज की ओर संकेत करके कहती है, "इनके बाप की हत्या आपसे हुई और ये उसका बदला लेते रहे मुझ से, बार-बार मुझे ठोकर मार कर" इस प्रकार मनोज का चरित्र इस ओर अत्यन्त उज्ज्वल एवं प्रखर है। नाटककार उपर्युक्त दोनों ही रूपों में मनोज को अपने नाटक में श्रेष्ठ पात्र सिद्ध करने में सफल हुआ है।

मनोरमा

मनोरमा इस नाटक की एक समस्या का प्रतिनिधित्व करने वाली है। वह ८ वर्ष की अबोध अवस्था में विधवा हो गई थी। उसे अपने पति के रूप एवं विवाह के समय तक का भी कोई ध्यान नहीं है। किन्तु भारतीय आदर्शों का उस पर गहरा एवं अटल प्रभाव है वह अपनी इस वैधव्य अवस्था पर दु:खित नहीं है, बल्कि उसे स्मृति न रहने पर भी अपने मृत पति में पूर्ण आस्था एवं भक्ति है। वह भारतीय प्राचीन सिद्धान्तों एवं विश्वासों की परिपोषक है। वह विधवाओं की पवित्रता और साधना को समाज के लिये आवश्यक समझती है। मनोज-शंकर से उसका कहना है "समाज की चेतना के लिये विधवाओं का होना आवश्यक है तुम जीवन का विशेषत: स्त्री के जीवन का दूसरा पहलू भी समझते हो······देखते हो······उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग है और तपस्या है··· यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिये गौरव की चीज है।"

चन्द्रकला की भाँति ही मनोरमा को भी स्वावलम्बन पर बड़ा विश्वास है। अपने हाथों से कमाए हुए धन को ही वह उपभोग के योग्य समझती है। चित्र-कला दूसरों को सिखा कर वह अपने लिये धनोपार्जन करती है। उसके विचार उच्च एवं पवित्र हैं। छल, कपट तथा झूठ से उसके चरित्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की मानसिक पवित्रता ने उसे अपूर्व शक्ति दी है। वह सर्वत्र दूसरी पर अपने पवित्र व्यक्तित्व की गम्भीर छाप डालती है। यह उसकी ही शक्ति है कि एक ओर तो उससे मुरारीलाल जी हार मान बैठते हैं, दूसरी ओर मनोज को उससे प्रभावित होकर अटल अविवाहित जीवन अपनाना पड़ा है। उसका चरित्र आगे चलकर और भी खिल जाता है। मुरारीलाल

लाल उसे सही रूप में समझकर सहसा कह उठते हैं—"तुमने वह कर दिया जिसकी मुझे आशा नहीं थी, तुम देवी हो" इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोरमा का चरित्र इस नाटक में एक चेतना है, जीवन है और सद्गुणों का प्रतिनिधित्व है।

चन्द्रकला

प्रस्तुत नाटक 'सिन्दूर की होली' की सार्थकता एवं सफलता चन्द्रकला के व्यक्तित्व पर ही निर्भर है। अतः उसका महत्व प्रस्तुत नाटक में सर्वाधिक है। चन्द्रकला डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल की पुत्री है। अपनी शिक्षा एवं नवीन विचारों की चेतना में वह रूढ़ियों से विरोध रखती है। बाह्य आडम्बरों को वह वास्तविकता के अस्तित्व के हेतु कदापि आवश्यक नहीं समझती है। बरात आने, शंख बजने तथा श्लोकों के पढ़ने से वह विवाह की सम्पन्नता नहीं समझती, बल्कि विवाह तो आत्मा के सम्बन्ध की चीज है। रजनीकान्त से उसका विवाह इसी कसौटी पर हुआ है। मनोरमा से यहाँ हम चन्द्रकला को स्वतन्त्र विचारों के क्षेत्र में भिन्न पाते हैं। उसके अपने विचार सर्वथा स्वतन्त्र है। अपने पिता से भी उसकी विचार-सम्बन्धी भिन्नता रहती है।

स्वावलम्बन में चन्द्रकला को बड़ा भारी विश्वास है। उसे अपनी शिक्षा पर भरोसा है। वह जानती है कि रोटी-कपड़े के लिये उसे मनुष्य की परतन्त्रता में रहना आवश्यक नहीं है वह अपने पिता से कह बैठती है—"आपने कृपा कर मुझे इतनी शिक्षा दे दी है कि मैं अपना निर्वाह कर सकूँ।"

रजनीकान्त के प्रति उसका प्रेम सर्वथा पूर्ण है। उसने रजनी से सामाजिक विवाह नहीं किया बल्कि मानसिक विवाह, जिसमें अपने हृदय की सच्चाई, शुद्धता तथा निष्कपटता ही प्रमुख है। वह दृढ़-संकल्प वाली है। अपने पिता तथा वंश-मर्यादा की थोथी बात में उसको कोई विश्बास नहीं है, अतः वह स्वतन्त्र रूप से अपने मन की सच्ची प्रेरणा के साथ अस्पताल में जाकर मृत रजनीकान्त के हाथ से अपने अटूट वैधव्य की सच्ची साक्षी माँग सिन्दूर से भरवाती है। यही सिन्दूर की होली है मुरारीलाल जी से वह स्पष्ट कह भी देती है—"अस्पताल में मैं गई थी, जैसा कि आप देख रहे हैं···मेरे सिर पर·· यह सिन्दूर···उस पचास हजार का प्रायश्चित्त है।"

प्रश्न ३—'सिन्दूर की होली' एक समस्या प्रधान नाटक है। इसकी प्रमुखप्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डालिए। नाटककार ने उनका क्या समाधान निश्चित किया है, यह भी वर्णन कीजिए।

उत्तर—'सिन्दूर की होली' के रचयिता श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी-साहित्य के उन कलाकारों में से हैं जिन पर यूरोपीयन साहित्य का विशेष प्रभाव है। मिश्र जी तो अपने अध्ययनकाल में भी पाश्चात्य लेखकों तथा नाटककारों से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित थे। आगे चलकर उन पर बर्नार्ड शा तथा इब्सन का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। अत: वे अपने नाटकों में ठीक उसी पद्धति एवं गतिविधि को लेकर चले हैं। मोटे रूप से, मिश्र जी ने अपने सभी नाटकों में सामयिक समस्याओं को ही चित्रित किया है। वर्तमान जीवन की विविध समस्यायें ही उनके नाटकों का विषय हैं। वे अपना सीधा सम्बंध वर्तमान से रखते हैं। भूत के भ्रमर जाल में तथा भविष्य की मृग-तृष्णा में मिश्र जी पर्यटन नहीं करते, वे तो वहीं घूमते हैं जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है और वह है वर्तमान। अत: वर्त्तमान की सभी व्यापक समस्यायें उनके नाटकों में मिलती हैं।

"सिन्दूर की होली" में मिश्र जी ने कई एक समस्याओं को चित्रित किया है, इसी कारण यह नाटक समस्या-प्रधान नाटक कहा जाता है। नाटक के आरम्भ में, हमारे सामने न्याय की समस्या आती है। डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल जी से स्वाभाविक रूप से हम न्याय की आशा करते हैं; किन्तु रिश्वतखोरी न्याय को पनपने नहीं देती। रिश्वत में बहुत सा रुपया देकर किसी भी बड़े से बड़े अपराध एव पाप को छिपाया जा सकता है। हत्या जैसा पाप भी रिश्वत की सहायता पाकर छिपा दिया जाता है। माहिर अली स्पष्ट शब्दों में कहता है, "गिरफ्तार नहीं हुआ होगा भी नहीं, रुपया होना चाहिये। खून छिपा लेना क्या है?" रिश्वत के कारण न्याय का जो गला घोटा जाता है और जिसे हम अपने जीवन में सर्वत्र देखते हैं, इस नाटक की प्रथम समस्या है।

इसी के समानान्तर दूसरी समस्या है कानून की। आज का कानून भी बड़ा ही विचित्र है, इसमें रिश्वतख़ोरी को तो पर्याप्त गुन्जाइश है, न्याय को

कोई भी स्थान नहीं है। कानून सबूत न मिलने पर सच्चे से सच्चे अपराधी को क्षमा कर सकता है। अत: तभी तो मुरारीलाल जी ने कहा है, "आजकल का कानून ऐसा ही है। इसमें सजा उसको नहीं दी जाती, जो कि अपराध करता है--सजा तो केवल उसको होती है, जो अपराध छिपाना नहीं जानता।" यह सत्य भी है। अत: ऐसी स्थिति में जनसाधारण के नैतिक स्तर के पतन की जिम्मेदारी आज के कानून पर ही है। निस्सन्देह यह समस्या हमारे जीवन की प्रमुख समस्या है। 'सिन्दूर की होली' में इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण है।

वर्तमान शिक्षा ने आज के व्यक्ति को कैसा वाचाल, वंचक तथा निर्व्यवसायी बना दिया है, यह बात भी हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णरूपेण देख रहे हैं। इस नाटक में यह 'वर्तमान शिक्षा' भी एक समस्या के रूप में चर्चित की गई है। शिक्षा ने मनुष्य की सात्विक वृत्तियों को उठाने के स्थान पर गिरा दिया है। स्वाभाविक वाचाल प्रवृत्ति ने शिष्टाचार तथा सदाचार को बुरी तरह बिगाड़ रखा है। मुरारीलाल जी इस तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं, "आजकल की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखाया जाता है।" आगे चलकर भगवंतसिंह भी शिक्षित वर्ग के निकम्मेपन पर एक व्यङ्ग्य कस कर कहते हैं, "दो दर्जे अंग्रेजी पढ़ ली, अब कुएँ से पानी निकालने में भी लाज है।"

इसी प्रकार वैधव्य भी हमारे आज के जीवन की एक प्रबल समस्या है, सर्वत्र भारत में इसका भूत छाया हुआ है। असंख्य नारियाँ इसकी शिकार होकर नारकीय जीवन व्यतीत कर रही हैं। स्थिति बड़ी ही शोचनीय एवं दयनीय है। 'सिन्दूर की होली' में मनोरमा इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। यह केवल अपनी आठ वर्ष की अबोध अवस्था में विधवा हुई थी। उसे पूरा जीवन बड़ी-बड़ी गहन परिस्थितियों में व्यतीत करना पड़ा है। इस समस्या का निदान 'विधवा विवाह" भी उसकी समझ में इस वंचक समाज की स्वार्थमयी प्रवृत्ति ही है। चन्द्रकला भी आगे चल कर एक प्रकार से विधवा ही हो जाती है। मनोरमा को समाज तथा संसार ने विधवा बनाया है, तो चन्द्रकला को उसने स्वयं। इस प्रकार यह समस्या इस नाटक में

पूर्णरूपेण साकार हो उठी है।

सामाजिक जीवन में सर्वत्र असन्तोष और अशान्ति भी आज के जीवन की एक प्रमुख समस्या है। किसी भी घर में आनन्द, प्रसन्नता एवं शान्ति नहीं है। मनुष्य की अपनी मानसिक निर्बलता ही बहुत कुछ इसके हेतु जिम्मेदार है। मुरारीलाल के घर में भी शान्ति नहीं। सभी घर छोड़ कर चल रहे हैं। सब में असन्तोष एवं अशान्ति की भावना ही प्रधान हो रही है। नाटक में इस समस्या को भी पूर्ण विकास एव प्रसार के साथ चित्रित किया गया है।

इस प्रकार की विभिन्न समस्यायें इस नाटक में आई हैं, किन्तु इन समस्याओं की चर्चा एवं चित्रण मात्र ही है, इसमें इनका समाधान नाटककार ने नहीं किया है। समस्या-प्रधान नाटकों में, अधिकांश रूप से समस्याओं का संकेत ही किया जाता है, समाधान नहीं। मिश्र जी ने भी अपने नाटक 'सिन्दूर की होली' में इसी प्रकार इन समस्याओं का संकेतमात्र ही किया है, समाधान नहीं।

प्रश्न ४—'सिन्दूर की होली' नाटक जिन सिद्धान्तों पर टिका हुआ है, उनको समझाइए तथा नाटकार को उनके निर्वाह में कहाँ तक सफलता निली है; यह भी बताइये।

उत्तर—मिश्र जी पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित हैं। उनके नाटकों में बर्नार्ड शा तथा इब्सन की पद्धतियों का पूरा-पूरा प्रभाव पाया जाता है। 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक भी इब्सन के सभी नाटकीय सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। बात यह है कि इब्सन से पूर्व योरुप में शैक्सपीयर का युग था। उस समय के नाटकों में रचना-पद्धति के दृष्टिकोण से बड़ा अन्तर पाया जाता है। इब्सन ने अपनी रचनाओं द्वारा नवीन युग को जन्म दिया और शैक्सपीयर युग के नाटकों में मुख्य रूप से निम्नांकित परिवर्त्तन कर दिये।

१—नाटकों में मध्यम एवं दलित वर्गों की प्रतिष्ठा। इब्सन से पूर्व राजा-महाराजा तथा बड़े-बड़े सामन्त ही स्थान पाते थे। किन्तु इनके स्थान पर

मध्यम तथा दलित वर्ग की प्रतिष्ठा स्थापित कर उनको स्थान दिया।

२—नाटकों में मनोरंजन की सामग्री मात्र ही न जुटाकर समाज का यथार्थ स्वरूप विवेचित किया जाने लगा।

३—बाह्य संघर्ष के स्थान पर आंतरिक संघर्ष को प्राथमिकता दी गई।

४—कथानक पौराणिक एवं इतिहास का न रखकर सामाजिक तथा पारिवारिक रखा जाने लगा।

५—स्वगत कथन को नाटकों से हटाकर किसी अंतरंग पात्र के द्वारा उनकी गोपनीय बात स्पष्ट करायी जाने लगी।

६—संकलनत्रय के निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

७—नाटक में ५, ७ अङ्क न रखकर केवल तीन ही अङ्क रखे जाने लगे।

८—भाषा में पद्य को हटाकर उसकी जगह सर्वत्र गद्य का ही प्रयोग किया जाने लगा। गद्य भी कम से कम साहित्यिक होता है।

इब्सन युग के नाटकीय सिद्धान्त, जो ऊपर बताये गये है, योरुप में थोड़े ही समय में फैल गये और अपना प्रभाव एवं अधिकार साहित्य के इस अंग पर डाल लिया। इस विचारधारा ने, अन्य प्रकार के प्रभावों की भाँति, भारतीय नाटक साहित्य पर भी अपना प्रभाव डाला। मिश्र जी के सभी नाटक इस विचारधारा से पूर्णतः प्रभावित हैं। 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक की रचना भी इन्हीं उपर्युक्त सिद्धान्तों पर अवलम्बित है।

लेखक को अपने नाटक "सिन्दूर की होली" में इन सिद्धान्तों का निर्वाह करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, यह जानने के पूर्व इस नाटक को स्वतन्त्र रूप से उपर्युक्त सिद्धान्तों की कसौटी पर कसना अधिक उपयुक्त रहेगा और तभी लेखक की तत्सम्बन्धित सफलता भी ज्ञात हो सकेगी।

'सिन्दूर की होली' में हम देखते हैं कि सभी पात्र मध्यम वर्ग के हैं। मुरारीलाल, मनोजशंकर, भगवंतसिंह इत्यादि सभी मध्यम वर्ग के पात्र हैं। अतः प्रगट है कि प्रथम सिद्धान्त का इसमें सफल निर्वाह है। इसके आगे नाटक के कथानक में मनोरंजन की ही एकमात्र सामग्री नहीं है, अपितु उसमें कतिपय सामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण है जो दूसरे सिद्धान्त के सफल निर्वाह की सिद्धि करता है।

इस नाटक में आन्तरिक संघर्ष का बड़ा ही मनोहारी एवं प्र ावशाली चित्रण है। बाह्य संघर्ष को तो गौण स्थान दिया गया है। नाटक में प्रत्येक पात्र में आन्तरिक सघर्ष की ही प्रबलता है। वास्तव में इसमे अन्तद्वर्न्द्व की प्रधानता है।

पूरा कथानक पौराणिक एवं ऐतिहासिक न होकर सामाजिक एवं पारिवारिक है, समाज की विभिन्न समस्याओं को उनके नग्नरूप में प्रदर्शित किया गया है। मुरारीलाल के परिवार की दशा का यथार्थ चित्रण है।

'स्वागत कथन' की पद्धति का एकदम बहिष्कार किया गया है। जब कभी कोई गोपनीय बात कहलवाने की होती है तो किसी न किसी निकटतम पात्र को उसका माध्यम बना लिया जाता है। जैसे मुरारीलाल की बात कहलवाने के लिये माहिरअली को तथा चन्द्रकला की बात स्पष्ट कराने के हेतु मनोरमा को प्रयोग मे लाया जाता है।

नाटक मे संकलन त्रय का निर्वाह भी बड़ी सफलता से हुआ है। कथा का विकास आदि से अन्त तक निर्बाध रूप से होता गया है। स्थान मुरारीलाल की कोठी के आसपास का ही है, केवल सिंदूर लगवाने ही चन्द्रकला अस्पताल में गई है। शेष सब कथानक एक ही स्थान से सम्बन्धित है। कहानी भी कुछ ही समय में क्या कुछ ही घण्टों में समाप्त होने वाली है। इस प्रकार समस्त घटना संकलन–त्रय के नियमों के अनुकूल ही है।

नाटक में ५, ७ अङ्क न रखकर केवल तीन ही अङ्क रखे गये हैं। जिसमें कथानक आवश्यक एवं उपयुक्त विभाजन के साथ सुशोभित है।

भाषा भी आद्योपान्त गद्य में ही है और वह भी सरल तथा स्वाभाविक, साहित्यिकता लाने का प्रयास नहीं किया गया है। यही कारण है कि भाषा में कृत्रिमता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत नाटक में, इब्सन के सभी सिद्धान्तों का बड़ा ही सुन्दर निर्वाह है। नाटककार को इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

प्रकाश-स्तम्भ

प्रश्न १—'प्रकाश-स्तम्भ' में निहित कथा-वस्तु की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—'प्रकाश-स्तम्भ' 'प्रेमी' जी का एक ऐतिहासिक नाटक है। ऐतिहासिक नाटककार का कार्य अपेक्षाकृत कठिन एवं कष्ट-साध्य होता है। अतीत के अन्तराल में छिपे सत्यों की सत्यता-असत्यता की परख करके, वह इतिहास के सत्य को साहित्य के सत्य का रूप देता है—एक विशेष देश-काल की कहानी को मूलतः देश-काल की सीमाओं में आबद्ध रख कर भी प्रत्येक देश-काल की वस्तु बनाता है। इस कार्य के लिए उसे उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की छानबीन करके अपनी कथा-वस्तु के लिए आवश्यक सूत्रों का चयन करना पड़ता है और फिर इन सूत्रों को, अपनी कला के माध्यम द्वारा, एक ऐसा सुबोध, सुरुचिपूर्ण एवं सोद्देश्य स्वरूप प्रदान करना होता है जो प्राचीन होकर भी चिर-नवीन होता है।

'प्रकाश-स्तम्भ' बाप्पा रावल के प्रारम्भिक जीवन पर आधारित नाटक है। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने "उदयपुर राज्य का इतिहास" में लिखा है: "वस्तुतः बापा का कुछ भी वास्तविक इतिहास नहीं मिलता और दंत-कथाएं भी विश्वास योग्य नहीं। बापा के इतिहास के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसने मोरियों से चित्तौड़ का किला लेकर अपने राज्य में मिलाया और उसकी सुवर्ण-मुद्रा से प्रकट है कि वह स्वतन्त्र, प्रतापी और एक विशाल राज्य का स्वामी था।" (पहली जिल्द, पृष्ठ ११६)।

ओझा जी ने इसी ग्रन्थ में बापा रावल के जीवन से सम्बद्ध कुछ किंवदन्तियों का भी उल्लेख किया है। उन्हीं में से कुछ ('प्रकाश-स्तम्भ' के कथानक से सम्बद्ध) उद्धरण यहाँ दिए जा रहे हैं:—

"मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में बापा के सम्बन्ध की एक कथा उद्धृत की है, जिसका आशय यह है—बापा ने हारीत ऋषि (हारीत राशि) की सेवा की, हारीत ने प्रसन्न हो बापा को मेवाड़ का राज्य दिया और विमान में बैठ कर चलते समय बापा को बुलाया, परन्तु वह कुछ देर से आया, उस समय विमान थोड़ा ऊँचा उठ गया था। ऋषि ने बापा का हाथ पकड़ा तो बापा का शरीर १० हाथ बढ़ गया। फिर उसके शरीर को अमर करने के लिए हारीत उसको तांबूल देता था, जो मुँह में न गिर कर पैर पर जा गिरा, तब हारीत ने कहा कि जो यह मुँह में गिरता तो तेरा शरीर अमर हो जाता, परन्तु पैर पर गिरा है इसलिए तेरे पैरों के नीचे से मेवाड़ का राज्य न जायगा‥‥‥हारीत ने १२ वर्ष तक राठासण (राष्ट्रश्येना) देवी की आराधना की और बापा ने, जो हारीत की गौएं चराया करता था, १२ वर्ष तक हारीत की सेवा की। जब हारीत स्वर्ग को चलने लगा तब उसने बापा को कुछ देना चाहा और क्रुद्ध होकर राठासण से कहा कि मैंने १२ वर्ष तक तेरी तपस्या की, परन्तु तूने कभी मेरी सुध न ली। इस पर देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि माँग, क्या चाहता है? हारीत ने उत्तर दिया कि इस लड़के ने मेरी बड़ी सेवा की है, इसलिए इसको यहाँ का राज्य देना चाहिये। देवी ने कहा कि महादेव की सेवा के बिना राज्य नहीं मिल सकता। हारीत ने महादेव को प्रसन्न करने के लिए फिर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर शिव ने हारीत को वर देना चाहा। उसने प्रार्थना की कि बापा को मेवाड़ का राज्य दीजिए। फिर महादेव और राठासण ने बापा को वहाँ का राज्य दिया।‥‥"

उक्त किंवदन्तियों पर अपने विचार प्रकट करते हुए ओझा जी ने लिखा है: "प्राचीन इतिहास के अन्धकार में प्रायः ऐसी कथाएँ गढ़ ली जाती हैं, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ भी नहीं दीखता। बापा एकलिंग जी का पूर्ण भक्त था और वहाँ का मठाधिपति तपस्वी हारीत राशि एकलिंग जी का मुख्य पुजारी होने के नाते बापा की उस पर श्रद्धा हो, यह साधारण बात है; इसी के आधार पर ये कथाएँ गढ़ी गयी हैं। इन कथाओं से तो यही पाया जाता है कि बापा के पास राज्य नहीं था और वह अपने गुरु की गौएं

चराया करता था; परन्तु ये कथाएँ सर्वथा कल्पित हैं क्योंकि हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुहिल वंशियों का राज्य गुहिल से ही बराबर चला आता था। नागदा नगर उनकी राजधानी थी और उसी के निकट उनके इष्टदेव एकलिंग जी का मन्दिर था। यदि बापा के गौएँ चराने की कथा में कुछ सत्यता हो तो यही अनुमान हो सकता है कि उसने पुत्र-कामना से या किसी अन्य अभिलाषा से गो-सेवा का व्रत ग्रहण किया हो... । ऐसे ही बापा के चित्तौड़ लेने की कथा के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि उसने अपने गुरु के बतलाए हुए द्रव्य से नहीं, किन्तु अपने बाहुबल से चित्तौड़ का किला मोरियों से लिया हो और गुरु-भक्ति के कारण उसे गुरु के आशीर्वाद का फल माना हो।"—("उदयपुर राज्य का इतिहास" पहली जिल्द, पृष्ठ, ११३–४)।

ओझा जी ने तो बापा का पिता नाग (नागादित्य) को नहीं माना है किन्तु अन्य इतिहासकारों (उदाहरणार्थ कर्नल टॉड) ने नाग को बापा का पिता माना है। उनका विचार है कि जब बापा का पिता नाग ईडर के भीलों के हमले में मारा गया, उस समय बापा की अवस्था तीन वर्ष की थी। जिस बड़नगरा (नागर) जाति की कमलावती ब्राह्मणी ने पहले गुहिल (गुहदत्त) की रक्षा की थी, उसी के वंशजों की शरण में बापा की माता भी अपने पुत्र को लेकर चली गयी। वे लोग उसे पहले माडेर के किले में और कुछ समय पीछे नागदा में ले आये, जहाँ का राजा सोलंकी राजपूत था। बापा वहाँ के जंगलों और झाड़ियों में घूमता तथा गौएँ चराया करता था। एक दिन उसकी भेंट हारीत नामक साधु से हुई, जो एक झाड़ी में स्थापित एकलिंग जी की मूर्ति की पूजा किया करता था। हारीत ने अपने तपोबल से उसका राजवंशी, एवं भविष्य में प्रतापी राजा होना जान कर उसको अपने पास रक्खा। बापा को एकलिंग जी में पूर्ण भक्ति तथा अपने गुरु में बड़ी श्रद्धा थी। गुरु ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसके क्षत्रियोचित संस्कार किये। अपने गुरु से राजा होने का आशीर्वाद पाने के बाद बापा अपने नाना मोरी राजा (मान) के पास चित्तौड़ में जा रहा और अन्त में चित्तौड़ का

राज्य उससे छीन कर मेवाड़ का स्वामी हो गया।

आचार्य स्वामी विश्वनाथ ने अपने "मेवाड़ का इतिहास" में बापा और नागेन्द्र की राजकुमारी के 'विवाह के खेल' का उल्लेख इस प्रकार किया है :

"श्रावण का महीना था। नागेन्द्र का जंगल हरा-भरा हो रहा था। एक दिन नागेन्द्र की राजकुमारी झूला झूलने के लिए सखियों के साथ वहाँ पहुँची, परन्तु रस्सी लेजाना वह भूल गई थी। बाप्पा को गाय चराते देख सखियों ने उसे रस्सी ला देने के लिए कहा। बाप्पा ने सखियों को उत्तर दिया कि राजकुमारी यदि खेल में मुझसे विवाह का खेल खेले तो मैं अभी रस्सी ला दूँ। सभी बालिकाएं अभी अबोध थीं, उन्हें इसका रहस्य ज्ञात नहीं था। वे झूला झूलना चाहती थीं, सभी तैयार हो गयीं। बाप्पा ने राजकुमारी के साथ विवाह का खेल खेला........। धीरे-धीरे बाप्पा १२ वर्ष का हो गया। उसका हृदय, बल और साहस से भरा था, उसके मुखमण्डल पर सूर्यकुल का तेज चमक रहा था। इस अवस्था में अपनी माता के मुख से अपना परिचय सुनकर वह सिंह बालक भड़क उठा। इधर राजकुमारी भी बड़ी हुई। सोलंकी राजा ने उसके विवाह का विचार किया। विवाह का प्रश्न उठते ही सहेलियों ने झूले वाली बात लोगों के कान में डाल दी। अब क्या था, देश-प्रथा के अनुसार अब वह दूसरे से नहीं ब्याही जा सकती थी। नगेन्द्राधिपति यह सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ। बाप्पा के लिए अब वहाँ रहना बड़ा कठिन था। वह शीघ्र नागेन्द्र छोड़ कर अपने मामा के यहाँ चित्तौड़ चला गया। चित्तौड़ पहुंचते ही मामा मानसिंह ने भाँजे बाप्पा का बड़ा स्वागत किया। इधर नागेन्द्रपति ने राजगुरु से बाप्पा का परिचय जान, बालिया और देवा के साथ राजकुमारी को चित्तौड़ भेज दिया। बाप्पा तो सभी बातें जानता ही था, उसे पत्नी रूप से स्वीकार कर लिया।"....इतिहासों में पाया जाता है कि सलीम ने बाप्पा के साथ अपनी पुत्री का सम्बन्ध कर दिया। ७२८ ई० में मानसिंह का मान-मर्दन कर बाप्पा स्वयं चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा। बालिया ने

अपनी अंगुली से रक्त निकाल कर बाप्पा का तिलक किया और देवा ने अक्षत लगाया।"

'प्रकाश-स्तम्भ' के 'संकेत' से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी ने बाप्पा रावल के जीवन से सम्बद्ध यथासम्भव प्रामाणिक बातों का ही समावेश अपने नाटक में करने का प्रयत्न किया है। जहां तक बाप्पा रावल के व्यक्तित्व के साथ जुड़ी दैवी और चामत्कारिक घटनाओं का सम्बन्ध है, 'प्रेमी' जी ने उन्हें अपने नाटक में नहीं आने दिया है और यथासम्भव बाप्पा रावल को मानवेतर बनने से बचाया है। नाटककार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "इस नाटक में प्रतिपादित विचारों में से कुछ पर हमारे देश के विचारक सम्भवतः सहमत न भी हों, किन्तु मेरा इतिहास के अध्ययन ने जो मत बनाया है, उसे मैंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। मैं अपने विचारों को पत्थर की लकीर समझता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मैं तो इन विचारों को वे पत्थर के टुकड़े समझता हूँ जिन्हें मैं देश के विचारकों के मस्तिष्क रूपी सरोवर में फेंककर विचार-तरंगें उठाना चाहता हूँ। हमें जहाँ अपने देश की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना चाहिए, वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिएँ, वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा।"

'प्रकाश-स्तम्भ' का रचयिता अपनी इस कृति में उपर्युक्त कथन का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सका है। 'प्रेमी' जी ने अतीत के परदों के पीछे छिपे इस कथानक के आधार पर आज के युग की कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं—उदाहरणार्थ वर्ग-भेद, राजा-प्रजा सम्बन्ध, राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन आदि पर यथेष्ट प्रकाश डाला है और अतीत में अपनी वर्तमान समस्याओं के कारणों की खोज करते हुए उन्होंने उनमें से अनेक समस्याओं का निदान भी ढूँढ निकाला है।

प्रश्न २—'प्रकाश-स्तम्भ' के कथानक का, संक्षेप में, उल्लेख करते हुए नाटक के वस्तु-संघटन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—'प्रकाश-स्तम्भ' में तीन अंक हैं जिनमें क्रमशः दो, तीन और

दो दृश्य हैं। नाटक का श्रीगणेश दो युवतियों के वार्तालाप से होता है, जो जलाशय से जल लेने के उद्देश्य से सरोवर के तट पर आयी हैं। इनमें से प्रथम युवति अपने सम्मुख एक काला नाग देख कर सहसा डर जाती है। उसके मस्तक से जल-कलश गिर पड़ता है और पहली युवति के धक्के से दूसरी युवति का घड़ा भी भूमि पर आ गिरता है। दोनों युवतियाँ आपस में झगड़ने लगती हैं। इस कोलाहल के कारण नाटक का नायक बाप्पा, जो वहीं एक वृक्ष के नीचे सो रहा था, जाग जाता है और बाप्पा तथा युवतियों के बीच एक व्यंग, विनोद एवं गांभीर्यपूर्ण वार्तालाप होता है। इसी वार्तालाप द्वारा नाटककार प्रथम दृश्य में ही अपने नायक की अनेक स्वभाव-जन्य विशेषताओं को प्रकाश में ले आता है। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है उन राजाओं के प्रति बाप्पा का अदम्य क्रोध, जो जनता के प्रतिनिधि एवं जनता अथवा राष्ट्र के वास्तविक रक्षक नहीं हैं। जान पड़ता है मानो इस प्रकार की राज्य-सत्ता का अन्त करने के लिए ही बाप्पा का जन्म हुआ हो।

युवतियों के प्रस्थान के उपरान्त बाप्पा आम्र की प्रथम शाखा पर बैठकर अलगोजा बजाने लगता है। उसी समय वहाँ नागदा-नरेश की पुत्री पद्मा की सखी चंपा का प्रवेश होता है। चंपा बाप्पा को समझाती है कि बाप्पा के लिए पद्मा आकाश-कुसुम के समान है, अतः उसे पद्मा को पत्नी रूप में प्राप्त करने की आकांक्षा को हृदय से निकाल देना चाहिए। इतना ही नहीं, चंपा तो बाप्पा को राजकन्या, क्षत्रियबाला, यशस्वी भूपाल की लाड़ली पुत्री, पद्मा के सर्वथा अयोग्य ठहराती है। बाप्पा उसे समझाते हैं कि उच्च कुल अथवा जाति जन्म पर नहीं, कर्म पर निर्भर करती है और, जहाँ तक समाज में वैषम्य को परिपुष्ट करने वाली परम्पराओं का सम्बन्ध है, मानवता के सिद्धान्त के विरुद्ध, अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण परम्पराओं का अंत करना मानव का कर्तव्य है।

चंपा के मुख से पद्मा के पिता के बल-पौरुष का बखान सुन कर बाप्पा कहता है : "नागदा का सोलंकी महीपाल भी मनुष्य है और बाप्पा भी। शक्ति

की देवी महाकाली कठोर साधना से सिद्ध होती है। बाप्पा भी साधना कर सकता है। एक पद्मा नहीं, सहस्र-सहस्र, पद्माएं उसे वरमाला पहनाने के लिए लालायित हो सकती हैं।"

इसी समय सशस्त्र सहचरियों सहित राजकुमारी पद्मा वहाँ आ जाती है और वह अपनी सहचरियों को आज्ञा देती है कि वे उस उद्धत युवक—बाप्पा—को बन्दी बनालें। बाप्पा स्त्रियों से युद्ध न करने की इच्छा से, अति क्षिप्रता से पेड़ पर इतना ऊँचा चढ़ जाता है, जहां तलवार से वार नहीं किया जा सकता। पेड़ पर बैठे-बैठे ही वह पद्मा को बताता है कि पद्मा स्वयं बाप्पा की बन्दिनी है—वह उसे याद दिलाता है कि जिस समय वह आठ वर्ष की थी और बाप्पा १२–१३ वर्ष का था, उस समय उसी आम्र वृक्ष की सघन छाया में भगवान् भास्कर को साक्षी कर, अनेक मानव-चक्षुओं के सम्मुख पद्मा और बाप्पा का विवाह हुआ था।

विस्मृति के गाढ़ान्धकार में छिपे इस सत्य का उद्घटन पद्मा के सम्मुख एक अत्यन्त जटिल समस्या उपस्थित कर देता है। राजमहल को छोड़कर वह बाप्पा के साथ कुटी में रह नहीं सकती, क्योंकि इस प्रकार तो राजमहल की मर्यादा भंग होगी और कुटी की कीर्ति को कलंक लगेगा। अतः वह यह इच्छा प्रकट करती है कि बाप्पा ही अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी कुटी को राज-महल के बराबर ऊँचा उठा ले। पद्मा के ये प्रेरणामूलक उद्गार सुन कर बाप्पा उसे बताते हैं कि वह केवल गौएँ चराने और अलगोजा बजाने में ही मस्त नहीं रहे हैं, अपितु रात्रि के अन्धकार में छिप कर, अपने साथियों के साथ शस्त्र-साधना भी करते रहे हैं। पद्मा को यह सुन कर सन्तोष ही होता है। पद्मा की बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह वर्ग अथवा जातिगत विभाजन के सम्बन्ध में प्रचलित दकियानूसी विचारों को कोई मान्यता नहीं देती।

चंपा से पद्मा और बाप्पा को यह समाचार मिलता है कि किसी बड़े भूपाल के यहाँ से एक भूदेव पद्मा की सगाई का प्रस्ताव लाये हैं। बाप्पा पद्मा को परामर्श देता है कि ऐसी दशा में उसे राजमहल में नहीं जाना

चाहिए, किन्तु पद्मा ऐसा कोई कार्य करने के लिए तैयार नहीं होती, जिससे सोलंकी राजवंश की अपकीर्ति हो। अतः वह राजमहल की ओर चल देती है। बाप्पा विस्मय और क्रोध भरे नेत्रों से पद्मा की ओर देखता रह जाता है। एक ब्राह्मण को जलाशय में स्नान करने के उपरान्त अपनी ओर आता देख कर बाप्पा उसके चरण पकड़ लेता है। ब्राह्मण उसे किसी नीच जाति का प्राणी समझ कर उसके इस स्पर्श से अत्यन्त दुखी होता है। बाप्पा उसे समझाता है कि जाति-प्रथा ने हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है। हममें पारस्परिक सद्भाव समाप्त हो गया है। उच्च जाति वालों ने समाज के बड़े अंश को अस्पृश्य और दास की स्थिति में पहुँचा दिया है, अतः सामाजिक और राजनीतिक संकटों से भारतवासियों को सावधान करना एवं उन्हें अपनी रक्षा के हेतु सन्नद्ध करना ब्राह्मणों—भू-देवों—का कर्त्तव्य है।

ब्राह्मण के मुख से यह सुन कर कि वह कुछ ज्योतिष भी जानता है, बाप्पा को जलाशय के तट पर उस युवति द्वारा कही गयी यह बात याद आ जाती है कि उस दिन जब वह सो रहा था तो नागराज ने उसके मस्तक पर छाया कर रखी थी। बाप्पा ब्राह्मण से इस घटना का फल पूछता है। ब्राह्मण बताता है कि ऐसा व्यक्ति या तो राजा होता है या योगी। बाप्पा का हाथ देखकर ब्राह्मण उसे बताता है कि वह प्रतापी राजवंश का अवतंस है। वह उसे यह भी बताता है कि उसका विवाह पहले ही किसी राजकुमारी के साथ हो चुका है और उसका राजा होना भी सुनिश्चित है। बाप्पा ब्राह्मण को बताता है कि उसका कथन सत्य है और उसका विवाह नागदा की राजकुमारी के साथ हो चुका है। यही वह ब्राह्मण है जो नागदा की राजकुमारी की सगाई लेकर आया था। बाप्पा की आज्ञा पाकर उसके साथी ब्राह्मण की हीरे की अंगूठी छीन लेते हैं और उसे बन्दी बना कर अपने साथ ले जाते हैं।

अंक १, दृश्य २—संध्या का समय है। आम्र वृक्ष पर झूला पड़ा है जिस पर राजकुमारी पद्मा अकेली धीमी गति से झूल रही है एवं विषाद-भरी लय में एक गीत गा रही है। चंपा वहाँ आती है। चंपा की बातों से पद्मा को ऐसा भान होता है मानो चंपा स्वयं बाप्पा

से प्रेम करने लगी हो। चंपा पद्मा को तो यही विश्वास दिलाना चाहती है कि बाप्पा पद्मा से प्यार नहीं करता किन्तु राजकुमारी इन बातों पर विश्वास नहीं करती और यह समझकर कि एक-न-एक दिन जो संघर्ष अवश्यम्भावी है, उससे कब तक बचा जा सकता है, विद्रोह करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। चंपा उसे समझाती है कि उसे एक तुच्छ ग्वाले के लिए अथवा क्षणिक वासना के आवेग में सोलंकी राजवंश की कीर्ति को कलंकित नहीं करना चाहिए। चंपा की बात बीच ही में काटकर ब्राह्मण पद्मा को यह बताता है कि बाप्पा साधारण ग्वाला-मात्र नहीं है। उसके जीवन पर रहस्य का आवरण पड़ा हुआ है। वहाँ से कुछ दूर सघन वन में एक भयानक गुहा है जिसमें एकलिंग का मंदिर है। वहाँ हारीत नाम के एक योगी रहते हैं, वे ही बाप्पा के कार्य-कलापों के सूत्र-संचालक हैं। चंपा समझती है कि कदाचित् बाप्पा ने ही उस ब्राह्मण को डरा कर अथवा प्रलोभन देकर राजकुमारी तक यह बात पहुँचाने के लिए भेजा है किन्तु ब्राह्मण उसकी शंका का निवारण करके कहता है कि इस बार वह कालभोज बाप्पा का दूत बनकर उससे राजकुमारी पद्मा के विवाह का प्रस्ताव नागदा नरेश के पास लेकर आया है। ब्राह्मण पद्मा को बताता है कि उसने पद्मा और बाप्पा के विवाह की बात भी उसके पिता को बता दी है। पद्मा समझ जाती है कि अब उसके पिता के हृदय में उसके प्रति क्रोध का कोई ठिकाना न रहेगा।

उसी समय वहाँ नागदा-नरेश हाथ में नंगी तलवार लिये आते हैं और पद्मा से यह पूछते हैं कि उस ब्राह्मण ने जो कुछ कहा, वह सत्य है या नहीं। पद्मा का उत्तर है: "नारी तो एक ही विवाह करती है, चाहे वह खेल में हो।" नागदा-नरेश के क्रोध की सीमा नहीं रहती। वह पद्मा का सिर धड़ से अलग कर देने के लिए तलवार उठाते हैं। अकस्मात् विद्युद् गति से बाप्पा वहाँ आ जाता है और अपनी तलवार से नागदा-नरेश की तलवार यह कहकर रोक लेता है कि पद्मा उसकी पत्नी है और पत्नी की रक्षा करना उसका कर्तव्य है। बाप्पा को वहाँ पाकर नागदा-नरेश पद्मा की ओर से

ध्यान हटा कर बाप्पा पर आक्रमण करता है, किन्तु बाप्पा तलवार के एक ही वार से उसकी तलवार को भूमि पर गिरा देता है और ज़ोर से उसका हाथ पकड़ लेता है। पिता को असहाय अवस्था में देखकर पन्ना उसके हाथ से छुटी हुई तलवार उठा लेती है। इसी समय सशस्त्र युवतियों के दल के साथ चंपा भी वहाँ आ जाती है। बाल्या की भेरी का शब्द सुनकर भीलों का एक दल भी धनुष-बाण साधे हुए वहाँ आ जाता है। नागदा-नरेश को यह दुःख है कि यदि बाप्पा धोखे से असावधान अवस्था में उसे विवश न कर देता तो क्षत्रिय की तलवारें उसके अनर्गल प्रलाप का उत्तर अवश्य देतीं। नागदा-नरेश की यह इच्छा पूरी करने के उद्देश्य से बाप्पा उसका हाथ छोड़ देता है और उसे मुक्त कर देता है।

अंक २, दृश्य १—पारियात्र पर्वत-माला के एक पर्वत में प्रकृति द्वारा बनायी गयी एक गुफा में दो व्यक्ति एकलिंग महादेव की अर्चना में निरत हैं। इनमें से एक पुरुष है और दूसरी स्त्री। पुरुष श्वेत दाढ़ी मूँछ जटाजूटधारी एक योगी है, जिसके तन पर एक कौपीन शोभित है। इसका नाम है हारीत। नारी, जिसका नाम ज्वाला है, सादे वस्त्र पहने है। सुदृढ़ शरीर वाली इस तेजस्विनी की आयु कोई ४५ वर्ष होगी। पूजन के उपरांत मशालचियों को बाहर चले जाने का आदेश देकर हारीत और ज्वाला एक गम्भीर वार्तालाप में निमग्न हो जाते हैं। अनेक धार्मिक एवं राजनीतिक बातों पर प्रकाश डालते हुए हारीत ज्वाला के सम्मुख अपना जीवन-लक्ष्य प्रकट करता है। उसी समय एक तीर हारीत के चरणों में आकर गिरता है और सशस्त्र चंपा और पन्ना वहाँ प्रविष्ट होती हैं। पन्ना हारीत पर यह अभियोग लगाती है कि वह वर्ण और जातियों की मर्यादा को समाप्त करने के कुत्सित उद्देश्य की पूर्ति के लिए वन-पुत्र भील-मीनों को संगठित कर हिंसा और षड्यंत्रों का आश्रय ले रहा है। हारीत उन्हें बताता है कि उसके संबंध में पन्ना तथा चंपा का ज्ञान अपूर्ण और भ्रमपूर्ण है और वह उन्हें अपने वास्तविक विचारों एवं उद्देश्यों का भी तनिक आभास दिलाता है।

उसी समय, एक क्षत्रिय सैनिक के रूप में बाप्पा वहाँ आता है और गुरुदेव को प्रणाम करता है। क्रुद्ध होने के कारण हारीत उसके प्रणाम का कोई उत्तर नहीं देता। हारीत के क्रोध का कारण यह है कि चंपा और पद्मा आदि को उस स्थान के सम्बन्ध में सूचना क्यों दी गई। बाप्पा बताता है कि चंपा और पद्मा आदि को फाँस कर वहाँ ले आने के उद्देश्य से ही उन्हें वहाँ का पता बताया गया। बाप्पा से हारीत तथा ज्वाला को इस सर्वथा नवीन और अप्रत्याशित बात का भी पता चलता है कि उसका विवाह हो चुका है। इसी प्रसंग में पद्मा यह जान जाती है कि ज्वाला बाप्पा की माँ है। चंपा हारीत को बताती है कि बचपन में उन्होंने खेल-खेल में बाप्पा से राजकुमारी पद्मा का विवाह कर दिया था। यह सुनकर हारीत इस सत्य का उद्घाटन करता है कि उसने भी एक ऐसी ही घटना देखकर बाप्पा को अपने स्वप्नों का नायक चुन लिया था। उक्त घटना का उल्लेख करते हुए हारीत कहता है कि एक दिन उसने देखा कि एक तेजस्वी एवं बलिष्ठ बालक एक शिला पर राजसी मुद्रा में बैठा है। एक भील बालक ने उसके मस्तक पर स्वनिर्मित राजमुकुट रखा एवं एक अन्य बालक ने अपने अंगूठे को तीर से छेदा और शिला-सिंहासन पर अवस्थित बालक का अपने रक्त से राजतिलक किया। उन तीनों को अत्यन्त होनहार बालक समझकर उसने बाप्पा, देवा और बाल्या को अपने स्वप्नों का साथी बना लिया। प्रसंगवश यह जान कर कि बाप्पा एक रानी का बेटा है, पद्मा कुछ शान्त तथा स्वस्थ हो जाती है। उसी समय देवा और बाल्या, बंदी वेष में नागदा-नरेश को साथ लेकर वहाँ आते हैं। पिता को उस स्थिति में देखकर पद्मा उस ओर लपकती है किन्तु बाप्पा उसे बीच में ही रोक लेता है। देवा हारीत को सूचना देता है कि नागदा-नरेश अपने कुछ साथियों सहित उन पर आक्रमण करना चाहते थे। अतः आत्म-रक्षा के लिए उन्होंने नागदा-नरेश के कुछ साथियों को मौत के घाट उतार दिया और शेष को बन्दी बना लिया। हारीत की आज्ञा पाकर देवा नागदा-नरेश के बन्धन खोल देता है। नागदा-नरेश 'दस्युराज' कह कर हारीत को सम्बोधित करता है

और उस पर यह आरोप लगाता है कि वह उसी के राज्य में, उसकी नाक के नीचे, योगीश्वर के वंदनीय वेश में, एकलिंग के पावनमंदिर में राजद्रोह के भयानक षड्यंत्र को पोषित कर रहा है। हारीत उसे समझाता है कि उसने अधिकांश भूपालों और सम्राट् कहे जाने वाले दस्युओं की भाँति स्वार्थ-सिद्धि, ऐश्वर्य की आकांक्षा, प्रभुता के गर्व में डूबे रहने या वासनाओं की अबाध तृप्ति के लिए यह तप प्रारम्भ नहीं किया है। ज्वाला भी इसी सत्य की पुष्टि करती है कि विषमता के आधार पर स्थित धारणाओं और भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही योगीश्वर हारीत अलख जगा रहे हैं। नागदा-नरेश इन बातों से कुछ प्रभावित सा जान पड़ता है तभी चंपा उसे यह कहकर फिर हारीत तथा उनके साथियों से विमुख कर देने का प्रयत्न करती है कि भील-मीनों की सहायता से क्षत्रियों का सर्वनाश करना ही उनका उद्देश्य है। चंपा तो यहाँ तक घोषणा करती है कि उसके पिता, जो नागदा-नरेश के मंत्री हैं, शान्त नहीं बैठेंगे और वह अपने स्वामी के शत्रुओं का नाश करने में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। हारीत और ज्वाला चंपा की मिथ्या शंकाएं दूर करने का प्रयत्न करते हैं और उसे विश्वास दिलाते हैं कि वे भारत के प्रत्येक समुदाय में सहयोग और सौहार्द स्थापित करना चाहते हैं।

यह पता लगने पर कि बाप्पा एक राजकुमार है देवा और बाल्या अपने शस्त्र हारीत के चरणों पर समर्पित कर देते हैं और अवकाश माँगते हैं। हारीत उन्हें समझाते हैं कि उनके दल का आविर्भाव भारत पर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नहीं हुआ, अपितु उन स्वार्थी और नासमझियों से संग्राम करने के लिए हुआ है जो भारत की शक्तियों को विभाजित कर उसे दुर्बल बनाने का अपराध करने में रत हैं। अपनी शंका का समाधान हो जाने और गुरु की आज्ञा पाने पर बाल्या और देवा पुनः शस्त्र उठा लेते हैं।

अंक २, दृश्य २—भगवान् एकलिंग की पूजा करते समय ब्राह्मण अकस्मात् चंपा को वहाँ उपस्थित पाता है। चंपा भी एकलिंग की पूजा में

निरत है। दोनों का साक्षात्कार होता है। ब्राह्मण चंपा को बताता है कि वह गुरुदेव की आज्ञा से सिंध-प्रदेश की परिस्थिति का अध्ययन करने चला गया था। उनके वार्तालाप के बीच में ही सैनिक वेष में बाप्पा वहाँ आ जाता है और ये तीनों महानुभाव ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने लगते हैं। भावनाओं के वेग में चंपा यहाँ तक कह डालती है: "बाप्पा, तुम्हारे दुर्दमनीय दुर्धर साहस, पुरुषार्थ और महत्त्वाकांक्षी स्वभाव को देखकर सहसा धारणा बनती है कि निश्चित रूप से तुम किसी पराक्रमी राजपुरुष के पुत्र हो, किन्तु तुम्हारे विचार, जो संभवतः योगीराज हारीत की शिक्षा के परिणाम हैं, क्षत्रियों की परंपरा के सर्वथा विपरीत हैं। तुम पर प्यार भी आता है और क्रोध भी।" और इस प्रकार चंपा अनजाने में ही अपने मन की बात—अपने हृदय में छिपा बाप्पा के प्रति प्रेम—प्रकट कर बैठती है। वह उसे यह भी बता देती है कि केवल उसे पाने की ही आशा से वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध उसके दल में सम्मिलित हुई है। चंपा बाप्पा को बताती है कि पद्मा के हृदय में बाप्पा के प्रति प्रेम नहीं है। वह अपने आपको धोखा दे रही है। जिसे खेल में, स्वप्न में या किसी भूल में पति समझ लिया, नारी के लिए वह उसका पति है, इसी कुसंस्कार के वश पद्मा बाप्पा जैसे परंपराओं के प्रति विद्रोह करने वाले व्यक्ति को प्यार करने का नाटक कर रही है। चंपा एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी बाप्पा का ध्यान आकृष्ट करती है। वह उसे समझाती है कि बाप्पा तथा योगीराज हारीत की संगठन-शक्ति पर विश्वास हो जाने और यह पता लग जाने पर कि बाप्पा राजकुमार है नागदा-नरेश उसके सुदृढ़ स्तम्भ बन गये हैं, और शीघ्रातिशीघ्र बाप्पा के मस्तक पर राजमुकुट देखना चाहते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नागदा-नरेश का हृदय सहसा परिवर्तित हो गया है।

उसी समय वहाँ सहसा पद्मा आ जाती है। चंपा को वहाँ उस समय उपस्थित पाकर उसे ईर्ष्या भी होती है और क्रोध भी आता है। चंपा यह स्पष्ट कर देती है कि उसके हृदय में चाहे जो हो किन्तु वह अपनी सीमाओं

को बचपन से जानती है और अपनी आकांक्षाओं को शृंखलाओं में बाँध कर रख सकती है। बाप्पा भी वस्तु-स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि हम जिस लक्ष्य के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं वास्तव में तो वही बाप्पा की प्रेयसी है, वही पद्मा का प्रेमी है, वही चंपा का आकर्षण-केन्द्र है। वह पद्मा को यह भी समझाता है कि वह बाप्पा को और अधिक अपने निकट लाने अथवा उसके अधिक निकट आने का यत्न न करे अन्यथा ऐसी ज्वाला भड़केगी जिसमें जल कर उनके स्वप्न भस्म हो जायेंगे।

देवा और बाल्या राजपूत सैनिक के वेश में वहाँ आते हैं और बाप्पा से कहते हैं : "चलिए, हम प्रस्तुत हैं।" इसी अवसर पर चंपा तथा पद्मा को यह विदित होता है कि बाप्पा चित्तौड़ के महाराज मानसिंह मौर्य की सेना का एक सेनापति हो गया है। हारीत, ज्वाला, ब्राह्मण आदि भी वहाँ आ जाते हैं। ब्राह्मण हारीत को सिंध की स्थिति से अवगत कराता है। उधर, नागदा नरेश भी आ जाते हैं। सब लोग मिलकर महादेव एकलिंग की पूजा करने लगते हैं।

अंक २, दृश्य ३—बाप्पा, हारीत, ज्वाला और ब्राह्मण एकलिंग के मंदिर में एकत्रित हैं। नागदा-नरेश के वहाँ आ जाने पर हारीत उससे कहता है कि अब कालभोज बाप्पा के मस्तक पर मुकुट रखना आवश्यक हो गया है। नागदा-नरेश समझते हैं कि हारीत यह चाहते हैं कि वह अपना मुकुट उतार कर बाप्पा के मस्तक पर रख दे अतः उसे यह सुनकर आश्चर्य भी होता है और दुःख भी। किसी प्रकार भी बच निकलने का रास्ता न मिलने पर नागदा-नरेश को यही कहना पड़ता है : "तो बाप्पा से कहिए राजा का मस्तक काटकर राजमुकुट अपने मस्तक पर विभूषित करें।" पर्याप्त कुतूहल के उपरान्त हारीत इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं, कि उन्हें बाप्पा के मस्तक के लिए नागदा-नरेश का नहीं, चित्तौड़ाधिपति मानसिंह मौर्य का राजमुकुट चाहिए। हारीत चाहते हैं कि इससे पूर्व कि मानसिंह की मूर्खता और दुर्बलता के परिणामस्वरूप भारत का एक बड़ा भाग पराधीनता के नागपाश में जकड़ जाय, वे इस ज़हरीले सांप की थूथरी

ही कुचल दें और उसके स्थान पर बाप्पा को शासक बना दें। उसी समय अकस्मात् चंपा भी वहाँ आ जाती है। हारीत देश के शत्रुओं को समाप्त करने और देश-द्रोहियों को दंड देने का कार्य-भार चंपा पर भी डालते हैं। वह चाहते हैं कि संगीत के अनन्य प्रेमी मानसिंह को चंपा अपने संगीत से वशीभूत करले और इस प्रकार मानसिंह को आसानी से ही बंदी बना लिया जाय। हारीत का आशीर्वाद पाकर चंपा इस दुष्कर कार्य के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

अंक ३, दृश्य १:—एकलिंग महादेव के मंदिर में एक ओर से हारीत, बाप्पा, ज्वाला, नागदा-नरेश, पद्मा और चंपा आदि आते हैं और दूसरी ओर से देवा और बाल्या चित्तौड़-नरेश मानसिंह मौर्य को बंदी वेश में लेकर आते हैं। हारीत की आज्ञा से मानसिंह के बंधन खोल दिये जाते हैं। बंधन-मुक्त होते ही मानसिंह बाप्पा को कृतघ्नता और विश्वासघात की निन्दा करता है। बाप्पा अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते हैं किंतु साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि वास्तव में अपराधी स्वयं मानसिंह ही हैं क्योंकि जो राजा अपने वैभव-विलास को सुरक्षित रखने के लिए प्रजा के हितों के प्रति विश्वासघात करता है, वह वास्तव में कृतघ्न है। मानसिंह इस बात पर खेद प्रकट करता है कि उसे बाहुबल से नहीं, छल से बन्दी बनाया गया है। इस पर बाप्पा अपना खड्ग मानसिंह के सामने बढ़ा देता है। खड्ग को उठाते ही मानसिंह का हाथ काँपने लगता है। बाप्पा को मनचाहा अवसर मिल जाता है, कहता है: "खड्ग थामने की शक्ति आपके हाथों में होती तो किस लिए खलीफ़ा हाशिम के प्रतिनिधि जुन्नैद से आप संधि-चर्चा करते?" नागदा-नरेश तथा चंपा मानसिंह को बताते हैं कि मौर्यवंश के माथे पर कलंक न लगने देने के उद्देश्य से ही मानसिंह को बंदी बनाया गया है। मानसिंह यह जानना चाहता है कि उसके यश की रक्षा करने की बाप्पा को इतनी चिन्ता क्यों हुई? ज्वाला उसे बताती है कि इसका कारण उन दोनों का पारस्परिक रक्त सम्बंध है। इसी समय यह भेद खुलता है कि ज्वाला मानसिंह की बहिन और बाप्पा उसका भाँजा है। बाप्पा का वास्तविक परिचय पाकर पद्मा को अत्यन्त प्रसन्नता होती है और नागदा-नरेश को बाप्पा के साथ किये गये

दुर्व्यवहार के लिए अत्यन्त पश्चात्ताप होता है। हारीत और ज्वाला मानसिंह पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने अपनी बहिन के साथ ही नहीं, अपनी माँ के साथ भी उचित व्यवहार नहीं किया। उसने अपनी माँ का—भारत माँ का—गला घोटने का दुष्कार्य किया है। मानसिंह वचन देता है कि अब से वह भी भारत की स्वाधीनता के लिए अपना मस्तक देने के लिए प्रस्तुत रहेगा, किन्तु हारीत इस समय उसकी बात पर विश्वास करके धोखा खाने को आत्म-हत्या के समान मानते हैं। उनका, मानसिंह के प्रति, आदेश है : "राजन्, आज से चित्तौड़ का शासक तुम्हारा भाँजा बाप्पा होगा।" मानसिंह स्वेच्छा से अपना राजमुकुट बाप्पा के मस्तक पर रखने के लिए तैयार हो जाता है।

उसी समय ब्राह्मण वहाँ आकर यह समाचार देता है कि चित्तौड़-नरेश ने यद्यपि जुन्नैद के साथ मित्रता की संधि की है, फिर भी उसने चित्तौड़ पर आक्रमण करने की योजना बनायी है। हारीत तत्काल इस अप्रत्याशित आक्रमण के प्रतिरोध के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने में संलग्न हो जाते हैं।

अंक ३, दृश्य २:—मंदिर के पास बैठा बाप्पा अलगोजा बजा रहा है। राजकुमारी पद्मा वहाँ आती है और "चित्तौड़ाधिपति सूर्यवंशावतंस गुहिल-पुत्र कालभोज बाप्पा रावल" कह कर उसे सम्बोधित करती तथा प्रणाम करती है। प्रसंगवश पद्मा बाप्पा को बताती है कि चंपा उसे हृदय से प्यार करती है और उसे प्राप्त करने के लिए बहुत समय से प्रयत्नशीला है। बाप्पा भी यह स्वीकार करता है कि वह उसका सम्मान भी करता है, उसकी चंपा के साथ सहानुभूति भी है और उसे उस पर दया भी आती है।

उसी समय चंपा वहाँ आती है। उसके हाथ में एक थाल है जिसमें दो पुष्प-मालाएँ, सिंदूर, मेंहदी और महावर आदि हैं। बाप्पा अपनी यह आकांक्षा प्रकट करता है कि वह भी चंपा की कला का आनन्द लेना चाहता है। चंपा बताती है कि आज तो बाप्पा के विवाह का दिन है अतः वह अवश्य नाचेगी। यह कह कर वह नाचने के लिए घूँघरू बाँधने के लिए चल देती है। चंपा के चले जाने पर पद्मा बाप्पा का हाथ पकड़ कर कहती है कि उसे छोड़कर यदि बाप्पा ने नयी दुलहन से विवाह करने का यत्न किया तो इसका अर्थ यह

होगा कि वह मृत्यु का अभिलाषी है। बाप्पा उसे बताता है कि उसने अपने जीवन-काल में जो कार्य करने का बीड़ा उठाया था, वह अभी अधूरा है। सिंध के अरबी शासक जुन्नैद को उन्होंने पराजित करके भगा दिया किन्तु क्या इतने भर से उनका संग्राम समाप्त हो गया? एक मुठभेड़ में उन्हें विजय प्राप्त हो चुकी है किन्तु अभी युद्ध जारी है।

हारीत, ज्वाला और नागदा-नरेश के वहाँ आ जाने पर बाप्पा ज्वाला और हारीत के चरण छूता है और हारीत से कहता है कि आज उससे यह अपराध बन पड़ा है कि उसने आज विवाह करने का निश्चय कर लिया है। नागदा-नरेश समझता है कि बाप्पा उसकी पुत्री के साथ विवाह करने के लिए कह रहा है अतः वह इच्छा प्रकट करता है कि विवाह की तैयारी के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए ताकि भली प्रकार उसका आयोजन सम्भव हो सके। बाप्पा उसे बताता है कि इस समय वह उसकी कन्या के साथ विवाह नहीं कर रहा। यह सुन कर ज्वाला के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। तभी देवा और बाल्या हमीदा को लेकर आते हैं। हमीदा एक अरब सेनापति सलीम की पुत्री है। उसका चेहरा नकाब से ढका हुआ है। नागदा-नरेश इस विवाह पर आपत्ति करते हैं। उनका कथन है कि इस विदेशिनी, विजातीया तथा विधर्मिणी को चित्तौड़ की महारानी के रूप में कोई स्वीकार न करेगा। बाप्पा इसका उत्तर यह कह कर देता है कि इसी हठधर्मी और अनुदारता से लड़ने के लिए वह हमीदा को अपनी अर्धांगिनी बनाना चाहता है। हारीत का विचार है कि शत्रुकन्या की असहाय अवस्था का लाभ उठाकर उससे विवाह कर लेना नैतिकता के विरुद्ध है अतः वह बाप्पा को आदेश देते हैं कि वह हमीदा को सुरक्षित उस के पिता के पास भेज दे। हमीदा स्वयं जाने से इन्कार कर देती है और बाप्पा के साथ ही पत्नी के रूप में रहने की इच्छा प्रकट करती है। तब तक नर्तकी के वेश में चंपा वहाँ आजाती है। वह चाहती है कि पद्मा अपने हाथ से इस नयी दुलहन का श्रृंगार करे किंतु पद्मा अपने स्थान से नहीं हटती। चंपा उसे समझाती है कि यदि वह बाप्पा से सच्चा प्रेम करती है तो उसे बाप्पा की प्रसन्नता और देश के हित के लिए यह त्याग करना ही चाहिए। हारीत सहर्ष हमीदा और बाप्पा के विवाह के लिए अपना आशीर्वाद दे देते हैं। नागदा-नरेश के लिए

यह सब असह्य हो जाता है। वह पद्मा से कहता है कि वह उसके साथ लौट चले किन्तु पद्मा का यही निश्चय है कि उसके पति की राह ही उसकी राह है। नागदा-नरेश क्रोध में भर कर वहाँ से चला जाता है। पद्मा थाल उठा कर एक हार बाप्पा को और एक हमीदा को देती है तथा दोनों की मंगलकामना करती है। बाप्पा और हमीदा हारों का परिवर्तन करते हैं। देवा मंदिर में से शंख उठा कर फूँकता है, बाल्या जोर-जोर से घंटे की ध्वनि करता है। पद्मा हमीदा की माँग में सिंदूर भरती है। चंपा नाचती है।

'प्रकाश-स्तम्भ' की कथावस्तु के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटककार ने, अपनी इस कृति के लिए आवश्यक घटनाओं के चुनाव में और वर्णन (Presentation) दोनों में ही अत्यन्त कौशल से काम लिया है। पहले कहा जा चुका है कि 'प्रकाश-स्तम्भ' के रचयिता ने अपने नायक के जीवन से सम्बद्ध दैवी अथवा चामत्कारिक घटनाओं का प्रवेश अपनी रचना में नहीं होने दिया है। उसने तो केवल उन्हीं घटनाओं का सचय किया है जिनसे उसके नायक का 'मानव'-रूप ही अधिक-से-अधिक प्रकाश में आ सके। इसीलिए नाटक के अधिकांश में बाप्पा एक साधारण व्यक्ति अथवा ग्वाले के रूप में प्रदर्शित किया गया है और ज्योतिषियों की भविष्य-वाणियों तथा स्वयं बाप्पा के असाधारण बल-बुद्धि तथा कार्य-कलापों के रहते भी इस सत्य का उद्घाटन कि बाप्पा एक राजकुमार है, केवल उस समय किया गया है जब बाप्पा—मानव बाप्पा—अपनी शक्ति एवं प्रतिभा के ही बल पर अपने लक्ष्य तक पहुँचने के समस्त साधन जुटा चुका है और केवल सहयोगी ही नहीं, विरोधियों के हृदय में भी एक अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान बना चुका है। उपर्युक्त रहस्य का पता चलने पर भी बाप्पा को इससे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है क्योंकि उसे राजकुमार की अपेक्षा मानव-रूप में जीवन-यापन करना ही अधिक प्रिय है।

नाटक में उल्लिखित घटनाओं का क्रम भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया गया है। नाटक के आरम्भ में बाप्पा एक साधारण ग्वाला है जिसकी सम्पत्ति अलगोजा तथा लाठी मात्र है।

क्रमशः उसका व्यक्तित्व उभरता है। चंपा, पद्मा और नागदा-नरेश बाप्पा के व्यक्तित्व को प्रकाश में लाने में पर्याप्त योगदान करते हैं। इसके उपरांत सहयोगियों का दल सामने आता है और नाटक के अंत तक तो प्रथम दृश्य का यह ग्वाला इतना अधिक बल तथा गौरव अर्जित कर लेता है कि हारीत पूर्ण आश्वस्त भाव से यह कह सकता है कि केवल बाप्पा ही ऐसा शासक बनने योग्य व्यक्ति है जिसके एक संकेत पर सहस्र-सहस्र खड्ग हवा में घूमने लगें, जिसकी वाणी में मेघ-गर्जन हो।

नाटककार ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि कुतूहल बनाए रखने का अधिकतम प्रयत्न किया जाय। उदाहरणार्थ, अन्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या, स्वयं बाप्पा को भी यह नहीं बताया जाता कि उसकी जाति क्या है अथवा वह किस वंश का वंशज है। बाप्पा के जीवन पर यह आवरण पड़ा होने पर भी 'प्रेमी' जी अपने नायक को इतना शील-सौन्दर्य, इतना बल-पौरुष प्रदान करने में समर्थ हो सके हैं कि केवल मित्र ही नहीं, विरोधी पक्ष के लोग भी उसकी महत्ता से प्रभावित हो कर उसकी ओर आकृष्ट हो सके। नाटक के शिल्प-विधान की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण बात है।

'प्रकाश-स्तम्भ' में ऐसे भी कुछ स्थल हैं जो देखने में सर्वथा अनावश्यक जान पड़ते हैं किन्तु क्रमशः इन निरुद्देश्य से कार्य-कलापों में उद्देश्य की आभा दिखाई देने लगती है और पाठक अथवा दर्शक नाटककार के इस सूक्ष्म-कौशल की सराहना किये बिना नहीं रह पाता। उदाहरण के लिए नाटक के आरम्भ को ही लिया जा सकता है। यहाँ दोनों युवतियों का वार्तालाप सर्वथा अनावश्यक जान पड़ता है। इतना ही नहीं, बाप्पा और इन युवतियों के बीच होने वाले इस वार्तालाप में तनिक हल्कापन (Shallowness) भी है किन्तु "कलियुग के कन्हैया जी" और "मेरी जसोदा मैया" के बीच होने वाला यह वार्तालाप नाटक में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। युवतियों की, बाप्पा के प्रति, कटूक्तियाँ ही आगे चलकर बाप्पा के चरित्र एवं व्यक्तित्व को अधिक आभामय बनाती हैं और उनके द्वारा उल्लिखित एक घटना—बाप्पा के सोते समय नाग का उस पर छाया

करना—तो बाप्पा के हृदय में गहरा घर कर जाती है और आगे चलकर उसे अभीष्ट पथ पर निर्विघ्न आगे बढ़ने की सविशेष प्रेरणा प्रदान करती है। इसी दृश्य में बाप्पा और ब्राह्मण का वार्तालाप और दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में चंपा तथा ब्राह्मण का वार्तालाप ऐसे ही अन्य उदाहरण हैं।

प्रश्न ३—'मेरा यत्न केवल यह रहा है कि बाप्पा के कार्य और विचार हमारे आज के भारत के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ का काम दें"—'प्रेमी' जी के इस कथन के आधार पर बाप्पा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—बाप्पा प्रस्तुत नाटक का नायक है। उसी के जीवन की घटनाओं के आधार पर इस नाटक की रचना की गयी है। बाप्पा ही वह प्रधान पात्र है जो नाटकीय कथा की श्रृंखला को अग्रसर करता हुआ अंत तक ले जाता है।

बाप्पा सर्वप्रथम एक ग्वाले के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। वह २०-२१ वर्ष का हृष्ट-पुष्ट बलवान् तेजस्वी युवक है। अभी तो उसका यही कार्य है—पशु चराना और अलगोजा बजाना। इस विचित्र युवक के माँ-बाप का कोई ठिकाना नहीं किन्तु ग्वाले के वेश में पशु चराने और अलगोजा बजाने वाले इस आत्माभिमानी युवक के हृदय में एक अदम्य आकांक्षा है। वह उन राजाओं को भूमिसात् कर देना चाहता है जो अपनी प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि, सच्चे हितचिंतक नहीं हैं। यही उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसे अपने उद्देश्य में सफल होने का भी पूर्ण विश्वास है। वह जानता और मानता है कि प्रजा यदि राजा के मस्तक पर मुकुट रख सकती है तो उसे उतनी ही सरलता के साथ उतार भी सकती है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी के सिर पर जल-कलश रखा भी जा सकता है और उतारा भी जा सकता है।

बाप्पा के कुछ अपने विचार हैं, सिद्धान्त हैं। वह समझता है कि उच्च कुल तथा जाति जन्म पर नहीं, कर्म पर निर्भर है। मानव मात्र की जाति एक है। समाज में वैषम्य को परिपुष्ट करने वाली परम्पराएं मानवता के सिद्धान्त के विरुद्ध, अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण हैं और उनका

अंत कर देना मानव का कर्त्तव्य है। स्वयं उसी के शब्दों में--"बाप्पा भगवान् का अवतार, महात्मा अथवा धर्म-प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त करना नहीं चाहता। किसी दैवी शक्ति अथवा अद्भुत आध्यात्मिक ज्ञान या बल का गर्व भी वह नहीं करता। वह तो मनुष्य रह कर सीमित शक्तियों द्वारा मनुष्य के स्वार्थ और दम्भ से युद्ध करना चाहता है। वह नीच और ऊँच के, क्षत्रिय और भील के, राजा और प्रजा के बीच विषमता की खाई को पाट देना चाहता है।"

बाप्पा की यह मानवता उसकी सबलतम शक्ति एवं प्रमुखतम विशेषता है। वह केवल इतना ही जानना और सुनना चाहता है कि वह मानव है; जाति, वर्ण, वर्ग आदि में विभाजित समाज के किसी एक विभाग-विशेष में वह सीमित नहीं होना चाहता। पद्मा को जब यह पता चलता है कि ज्वाला बाप्पा की माँ है तो वह उनसे कहती है–"देवि, क्या तुम सचमुच उस रहस्यमय युवक की मां हो—तब तो तुम मेरा दुविधा दूर कर सकोगी।" बाप्पा तत्काल कह उठता है—"नहीं मां, तुम्हें किसी की दुविधा दूर नहीं करनी होगी। जी चाहे तो कभी मुझे जीवन की कहानी सुना देना—लेकिन संसार को मैं कौन हूँ, तुम कौन हो, इसका उत्तर देना मैं मनुष्यता का अपमान समझता हूँ। बाप्पा संसार का प्यार भी पायगा और आदर भी, लेकिन किसी उच्च वंश में जन्म लेने के कारण नहीं, केवल अपने कर्मों के बल पर।" आगे चल कर जब बाप्पा को यह विदित होता है कि वह राज-वंश का बालक है तो वह इसे अपना दुर्भाग्य मानता है। देवा और बाल्या को संबोधित करके वह कहता है : "मेरा दुर्भाग्य है बंधुओ, कि मैंने ऐसे समाज में जन्म पाया है जो जन्म के आधार पर मनुष्य और मनुष्य में अंतर मानता है। कुछ दिन पहले तक इसी समाज में, जिसमें मैंने जन्म लिया है, मेरी स्थिति भी वही थी जो आज तुम्हारी है, और अपमान के आघात से मेरी आत्मा में विद्रोह जाग उठा था। बचपन से ही मैंने अपमान की टीस का अनुभव किया था और तभी से सोचा था कि समाज के जो अपमानित वर्ग हैं, उन्हें एकत्रित कर मैं विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित करूँगा। मुझे क्या पता था कि एक दिन मैं

स्वयं ऐसे समाज का प्रतिनिधि हो जाऊँगा जिस पर दलित वर्ग विश्वास नहीं कर सकता।" (अंक २, दृश्य १)।

बाप्पा को पूर्ण विश्वास है कि नारी उसके जीवन की परिधि कभी नहीं बन पायगी किंतु एक 'मानव' होने के नाते वह नारी के रूप-यौवन पर आसक्त हुए बिना नहीं रहता। बाप्पा ने १२-१३ वर्ष की अवस्था में ही राजकुमारी पद्मा के साथ 'विवाह का खेल' खेल लिया और वही खेल बाप्पा के लिए "जीवन का लक्ष्य" बन गया। बाप्पा के अलगोजे के स्वरों में पद्मा का राग गूंजने लगा। किंतु बाप्पा और पद्मा के बीच वर्ग-भेद की एक गहरी खाई थी। पद्मा राजकुमारी थी और बाप्पा एक साधारण ग्वाला। बाप्पा ने जिस दिन पद्मा के साथ विवाह का खेल खेला, उसी दिन से उसकी आकांक्षाओं को नवीन पंख प्राप्त हो गये। वह अपनी कुटी को महल के बराबर ऊँचा उठाने में दत्तचित्त हो गया। बाप्पा को अपने इस प्रयत्न में अभूतपूर्व सफलता मिली किन्तु जैसे-जैसे बाप्पा की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाने के कारण, पद्मा और नागदा-नरेश उसकी ओर आकृष्ट होते गये, वैसे-वैसे बाप्पा के हृदय में उनके प्रति घृणा तथा प्रतिहिंसा की भावना जागृत होती गयी। स्वयं बाप्पा के शब्दों में—"पद्मा से मुझे प्रेम है या नहीं यह एक अलग प्रश्न है, जिसका उत्तर देना मैं अनावश्यक समझता हूँ, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि उसे प्राप्त करने का मुझे अधिकार नहीं है। इसे मैं अपना अपमान समझता हूँ और इस अपमान का प्रतिकार करना अपना कर्तव्य मानता हूं।" (१,१) चंपा उससे पूछती है—"यदि वह तुमसे प्रेम न करती हो, तब भी तुम उसे प्राप्त करना चाहोगे?" बाप्पा का उत्तर है: "हां, तब भी, क्योंकि मैं अभिमानी राजपूतों के दंभ और औद्धत्य का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी से प्रतिशोध लेना चाहूंगा।" (१,१) एक स्थान पर तो बाप्पा स्वयं पद्मा से यह कह देता है: "मुझे तुम्हारे रूप-यौवन की भूख नहीं है, पद्मा! मैं तो उच्च जाति, उच्च वंश और सत्ता के अभिमान को एक धक्का लगाना चाहता हूं।" (१,२)। हारीत के सम्मुख भी वह यह स्पष्ट कर देता है कि पद्मा की अहम्मन्यता पर आघात करने की भावना से ही वह बचपन के 'विवाह के खेल' को सत्य में

परिणत करना चाहता था। (२,१)

बाप्पा के हृदय में स्थान पा सकने वाली दूसरी नारी है चंपा। चंपा प्रत्यक्षतः बाप्पा। की प्रत्येक बात का विरोध करती है किंतु उसके अन्तरतम में बाप्पा के प्रति अनन्य अनुराग है। जीवन के अपेक्षाकृत दुर्बल क्षणों में चंपा यह स्वीकार भी कर लेती है कि बाप्पा को प्राप्त करने की आशा से ही वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध उसके दल में सम्मिलित हुई है (२,२)। बाप्पा स्वीकार करता है कि वह चंपा का सम्मान भी करता है, उसकी उससे सहानुभूति भी है और उसे उस पर दया भी आती है (३,२)। किन्तु यह सब होने पर भी बंधन-मुक्त बाप्पा को चंपा अथवा पद्मा सदा के लिए अपने प्रेम-बन्धन में नहीं जकड़ पातीं। इसके विपरीत, समाज की अनुदारता एवं हठधर्मी से लड़ने के लिए, बाप्पा विदेशिनी, विजातीया और विधर्मिणी हमीदा को अपनी अर्धांगिनी बनाने के लिए तैयार हो जाता है।

बाप्पा में अदम्य शौर्य, अपरिमित पुरुषार्थ, असीम आत्म-विश्वास और अनुपम अहंभाव है। उसके शौर्य में अविवेक नहीं है, उसके पुरुषार्थ में बर्बरता नहीं है, उसका आत्म-विश्वास अकर्मण्यता से मुक्त है और उसका अहंभाव मिथ्या दर्प से रहित। वह स्त्रियों पर बल-प्रयोग करना अथवा असावधान शत्रु पर आक्रमण अथवा अधिकार करना शूरवीरता का अपमान मानता है। उसके इन शब्दों में शौर्य, संयम एवं महान् विनयशीलता का अपूर्व संगम है : 'नागदा-नरेश, तलवार चलाने की शक्ति न केवल क्षत्रियों में है, बल्कि मेरे जैसा अवंश, अजाति व्यक्ति भी उसका प्रयोग जानता है। मस्तक पर राजमुकुट धारण करते ही किसी भी व्यक्ति के प्राण लेने का अधिकार उसे प्राप्त हो गया है, यह सोचना मूर्खता है। ऐसे अविवेकी, अत्याचारी, अभिमानी भूपालों को शिक्षा देने के लिए परशुराम ने अवतार लिया था और बाप्पा भी उनके पद-चिह्नों पर अग्रसर होने को प्रस्तुत है।'' (१,२)। नागदा-नरेश को अपने वश में पाकर वह उसे मौत के घाट उतार सकता था किन्तु वह उस कार्य को वीरोचित नहीं मानता।

बाप्पा का अनुपम आत्म-गौरव उसके इन शब्दों में प्रकट हो जाता है :

बाप्पा किसी का दान में दिया हुआ राज-मुकुट स्वीकार नहीं करेगा। उसने बचपन ही में तप्त रक्त से अपने कपाल पर राज-तिलक कराया था और अब यौवन प्राप्त होने पर भी रक्त से ही राज-तिलक कराएगा।" (२,३)।

बाप्पा को अपने भुज-बल पर ही नहीं, अपने हृदय की सुकोमल भावनाओं की सफलता पर भी इतना ही अटूट विश्वास है। चंपा को सम्बोधित करके कहे गये उसके ये शब्द इसका प्रमाण हैं: "चंपा, बाप्पा कवि नहीं है जो कल्पना में भी सत्य के दर्शन करे। बाप्पा की काया रक्त-मांस की बनी है, उसकी रगों में गति है, श्वासों में स्पंदन है, प्राणों में प्रकम्पन है, वह नागदा के सोलंकी नरेश की कन्या को आकाश का चन्द्र नहीं मानता। राजकुमारी की कठोर पसलियों के नीचे कोमल हृदय है। बाप्पा के श्वासों का संगीत उसके हृदय में ममत्व को तरंगित कर सकता है, इसका उसे विश्वास है।" (१, १)।

बाप्पा के हृदय में भावुकता का भी अभाव नहीं। बाप्पा का वास्तविक परिचय प्रकट हो जाने पर देवा उससे पूछता है: "हम जैसे वन-पुत्र क्या सूर्य वंशावतंस कालभोज बाप्पा की निगाह में छोटे नहीं हो गये?" बाप्पा का उत्तर है: "महा समुद्र की भाँति गहन गंभीर रहने वाले तुम्हारे प्राणों की व्यथा को मैं समझता हूँ देवा! तुम कदाचित् समझते हो कि तुम्हारा बचपन का वह साथी खो गया जिसका तुमने अपने अँगूठे के रक्त से राजतिलक किया था। हम-तुम अभावों की गोद में मुसकराने वाले तूफानी बालक थे। क्या अलगोजे की तान में स्वर्ग के सुख को भी भूल जाने वाला बाप्पा आज तुम्हारी नज़र में दूर आकाश के नक्षत्रों में जा बैठा है?···याद रखो मेरे भाई, बाप्पा तो उस राम का वंशज है जिसने निषाद को गले लगाया, जिसने शबरी भीलनी के झूठे बेर खाये, जिसने वानर-सेना संगठित करके लंका को जीता था।" (३, १)।

बाप्पा की अनन्य गुरु-भक्ति उसके इन शब्दों में स्पष्ट है: "राज्य की स्थापना मेरे जीवन की आकांक्षा नहीं है। गुरुदेव ने भविष्य का जो दारुण चित्र मेरे सामने खींचा है, उससे मेरे प्राण कांप उठे हैं। मैंने निश्चय

किया है कि अपने जीवन की आहुति भारत के भीषण भविष्य को बदलने के यत्न में दूँगा। गुरुदेव आज्ञा देंगे तो राजमुकुट अपने मस्तक पर रखूँगा और उनकी आज्ञा होगी तो कौपीन धारण करने में भी सुख मानूँगा।" (३, १)।

बाप्पा एक महत्वाकांक्षी युवक है। उसकी आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं। पद्मा को सम्बोधित करके कहे जाने वाले उसके इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है : "तुमने एक ऐसे गिरि-शिखर पर चढ़ने को मुझे आज्ञा दी थी जिस पर पहुँचना मेरे लिए असंभव-सा ही था। समय अनुकूल हुआ और मैंने उस शिखर पर विजय-पताका फहरा दी, किन्तु अब तो मुझे गिरि-शिखरों पर चढ़ने का चाव हो गया है। मैं और भी ऊँचे शिखर पर आरूढ़ होना चाहता हूँ।" एक महत्त्वपूर्ण बात अवश्य है। बाप्पा की यह प्रगति—उसके बल-वैभव में होने वाली यह वृद्धि—उसके अपने लिए अथवा स्वार्थ-प्रधान न होकर परमार्थ-प्रधान ही है : "भारत का सम्राट् तो क्या, मैं चित्तौड़ का राजा भी नहीं बनना चाहता। बहुत आग्रह करने पर मैंने रावल के विरुद को स्वीकार किया है। साथ ही मैंने घोषित कर दिया है कि वास्तविक राजा तो एकलिंग हैं, मैं तो केवल उनका दीवान हूँ। व्यक्तिगत सुख-वैभव और ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए मैंने अपने मस्तक पर राजमुकुट धारण नहीं किया।" (३, २)।

उपर्युक्त विवेचन से 'प्रकाश-स्तम्भ' के ब्राह्मण का (बाप्पा के सम्बन्ध में कहा गया) यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हो जाता है : "उसे तुच्छ ग्वाला मत कहो। वह बालरवि है जो भारत के आकाश में उन्नत होकर अपनी प्रचंड किरणों से सारे भूपालों को निस्तेज कर देगा।"

प्रश्न ४—उचित उद्धरण देकर सिद्ध कीजिए कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए जो कुछ किया, वही कार्य हारीत ने बाप्पा रावल के लिए किया।

अथवा

"हारीत नाम के एक योगी ही बाप्पा के कार्य-कलापों के सूत्र-

संचालक हैं"—ब्राह्मण की इस उक्ति के आधार पर हारीत का चरित्र-चित्रण कीजिए।

अथवा

"हारीत को 'योगीश्वर' न कहकर 'कर्मयोगी' कहना अधिक उचित है"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

उत्तर—हारीत श्वेत दाढ़ी, मूछ, जटाजूटधारी एक योगी हैं जो महादेव एकलिंग के अनन्य उपासक हैं। वह केवल धर्मप्राण महात्मा अथवा एकान्त समाधिरत योगीमात्र नहीं हैं, वह एक सुलझे हुए विचारक, कुशल राजनीतिज्ञ और सच्चे कर्मयोगी हैं। जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, उनके विश्वस्त अनुचर भी उनके मन की बात नहीं जानते। यहाँ तक कि वे स्वयं ज्वाला के लिए भी—जो वर्षों से उनके साथ है—रहस्यमय ही हैं क्योंकि उनका कथन है कि "राजनीतिज्ञ अपने अंतर का रहस्य अपने स्वजनों और अंतरंग स्नेहियों तक पर पूर्ण रूप से प्रकट नहीं करता। उसकी कल्पनाएँ, स्वप्न एवं योजनाएँ उसके अंतराल में इस प्रकार जलती रहती हैं, जिस प्रकार गुफा में ये दीप जल रहे हैं। गुफा के बाहर इनका प्रकाश नहीं जाता।" (२, १)। इसीलिए तो पद्मा तथा चंपा को अपनी गुफा में पाकर हारीत के क्रोध की सीमा नहीं रहती। इस भयंकर भूल के लिए वह उस बाप्पा को भी दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो उनके स्वप्नों का नायक है।

हारीत एकलिंग के अनन्य उपासक हैं, किन्तु उनकी इस भक्ति ने उन्हें अकर्मण्य नहीं बनाया है। उन्होंने भगवान् शंकर से अपने स्वप्न की पूर्त्ति का वरदान कभी नहीं माँगा। वे तो त्रिशूलधारी त्रिलोचन से केवल कर्म करते रहने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं—जड़ प्रतिमा के समक्ष बैठकर चेतना प्राप्त करते हैं। शिव की उपासना वे इस कारण से करते हैं कि "शिव संपूर्ण भारत का, हिमालय से श्री लंका तक के मानवों का, आर्य एवं द्राविड़ों का सर्वमान्य देव है।" भारत के हित के लिए, भारत को शक्तिमान् बनाने के लिए, अजेय बनाने के लिए, वे राम और रावण दोनों

का युद्ध बंद कराकर दोनों को अभिन्न मित्र बनाना चाहते हैं और उनका विश्वास है कि शिव की उपासना इस कार्य में उनकी अत्यन्त सहायक हो सकती है, क्योंकि शिव की पूजा राम ने भी की है और रावण ने भी।

हारीत धर्म को राजनीतिक शस्त्र बना कर साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा को तृप्त करने की प्रवृत्ति को सर्वथा अनुचित मानते हैं। उनकी धारणा है कि "हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर उठकर धर्म को राजनीति के क्षेत्र से निर्वासित करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी धर्म का पालन-कर्ता हो, राज्य में समान अधिकार और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए, तभी यह देश एकता के सूत्र में बँधकर महान् शक्ति बन सकेगा।"

हारीत की वाणी में, उनके कार्य-कलापों में, युग का प्रतिनिधित्व है। हारीत के कुछ जीवन लक्ष्य हैं, स्वप्न हैं, और उन स्वप्नों के नायक हैं देवा, बाल्या और (विशेषतः) बाप्पा। इन्हीं को केन्द्र-बिन्दु बनाकर हारीत एक ऐसी शक्ति का सृजन और नियंत्रण करता है, जो धर्म, समाज और राजनीति में एक क्रान्ति उत्पन्न कर सके। अन्ध-विश्वासों एवं हानिप्रद रूढ़ियों की प्राचीरें ढहा सके, धर्म को अपने सहज, स्वाभाविक एवं मंगलमय स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सके, धर्म और राजनीति को अलग-अलग कर सके, मानव मानव का पारस्परिक भेद मिटा कर उनमें बन्धु-भाव की स्थापना कर सके और राज-सत्ता के नाम पर होने वाली अराजकता एवं अनाचार का दमन कर सके।

समाज में निम्न समझे जाने वाले वर्गों के प्रति हारीत के हृदय में अपार प्रेम और सहानुभूति है। उनका विचार है कि सम्मान और स्वाधीनता के मूल्य पर नगर के सुख मोल न लेने वाले वन-पुत्रों को—स्वतन्त्रता-प्रिय वीर व्यक्तियों को—जंगलों में फेंककर भारत की शक्ति को ही क्षीण किया जा रहा है। इसीलिए हारीत ने अपना जीवन-लक्ष्य यह निर्धारित किया है कि "हमें भारत के प्रत्येक समुदाय में सहयोग और सौहार्द स्थापित करना है।"

स्वयं हारीत के शब्दों में "इस दल का आविर्भाव भारत पर क्षत्रियों

का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नहीं हुआ, अपितु उन स्वार्थों और नासमझियों से संग्राम करने के लिए हुआ है जो भारत की शक्तियों को विभाजित कर उसे दुर्बल बनाने का अपराध करने में रत हैं।" सर्वथा निःस्वार्थ होने के कारण हारीत और उसके दल के कार्यक्रमों को एक विशेष स्वाभाविक बल प्राप्त है। उसके विचार सुलझे हुए हैं, उसमें समुचित मार्ग निर्धारित करने की क्षमता है और उस मार्ग पर चलने तथा दूसरों को चलाने की अपूर्व क्षमता भी है। उपयुक्त अवसर पाकर वह स्पष्ट शब्दों में नागदा-नरेश से कह देते हैं कि कालभोज बाप्पा के मस्तक पर राजमुकुट रखना आवश्यक हो गया है और उनके इन शब्दों में तो अद्भुत शक्ति है: "कल बाप्पा के मस्तक पर राजमुकुट होना चाहिए।"

अपने देश-काल की समस्याओं के आधार पर हारीत का विचार है कि स्थायी सुख-शान्ति के लिए क्षणिक हिंसा—क्रान्ति अथवा रक्तपात—अनिवार्य है: "कल तो कुछ बूँदें ही गिरेंगी—किन्तु यदि भारत को स्वाधीन रखना है, देश की मान-रक्षा करनी है और आये दिन की रक्त-वर्षा को रोकना है, तो एक बार जी भर कर भगवान् शंकर के गण बनकर हमें समर-क्षेत्र में उतरना होगा।" (२, ३)। राजा नामधारी लुटेरों के प्रति हारीत के हृदय में कोई स्नेह नहीं। वे ऐसे राजाओं के अंत को अराजकता नहीं मानते। इस प्रकार की राज्य सत्ता का सर्वथा उन्मूलन करके वे अपने देश में एक ऐसे शासन की स्थापना करना चाहते हैं: "जिसमें राज्य के प्रत्येक व्यक्ति की आवाज़ हो, सत्ता हो। जो हाथ किसी को राजसत्ता सौंपें, उन्हें उससे वापिस लेने का अधिकार और बल प्राप्त हो।" बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए हारीत आवश्यक समझते हैं कि "ऐसा व्यक्ति शासक बनाया जाय जिसमें विदेशियों से टक्कर लेने की क्षमता हो, जिसके एक संकेत पर सहस्र-सहस्र खड्ग हवा में घूमने लगें, जिसकी वाणी में मेघ का गर्जन हो।"—और, हारीत के **मत से,** ऐसा व्यक्ति *केवल बाप्पा* है।

दूसरों के हृदय में शक्ति, नव-जीवन और उत्साह का मंत्र फूँकने की

विलक्षण शक्ति है हारीत में। चंपा को मानसिंह को बन्दी बनाने में सहायिका बनने के लिए प्रेरित करने में हारीत ने उसी अनुपम शक्ति का परिचय दिया है। उसके शब्दों में जादू का-सा प्रभाव है: "उत्साह, स्फूर्ति और गति का नाम ही शक्ति है। एक छोटी-सी चिनगारी पवन के सहयोग से महानतम बन सकती है।" "भूलती हो चंपा! मूल्य तो उन्हीं मस्तिष्कों का है जिनमें कुछ-न-कुछ विकृति है, जिनके हृदय में आँधी उठती है, जिनके प्राणों में तूफान आन्दोलित होता है।" "देश के हित में, मानवता के हित में विद्रोह करने वाले सदा ही वंदनीय रहेंगे। अन्याय क्षण, दो क्षण, दो-चार शताब्दी सत्ता के बल पर अपने अत्याचार को न्याय भले ही कहला ले, किन्तु समय के प्रवाह में सत्ताएँ इस प्रकार बह जाती हैं, जिस प्रकार बाढ़ में विटप-वृन्द। सत्ताओं के निर्मूल होने पर सत्य अपना रूप प्रकट करता है। हत्या करना कभी मनुष्यता का ऊँचा गुण नहीं है, किन्तु कभी-कभी न्याय-प्राप्ति अथवा न्याय-रक्षा के लिए हत्या का सहारा लेना ही पड़ता है।" (२, ३)।

हारीत को अपने 'व्यक्ति' की कोई चिन्ता नहीं, किसी 'निजी' प्रश्न पर विचार करने का उसे अवकाश ही नहीं। ब्राह्मण के साथ बातचीत करते समय एक बार उसका व्यक्तिगत अभाव उसके नेत्रों के सम्मुख अवश्य झूल जाता है और वह कह उठता है, कि "हमारे जीवन में तो हमारे वियोग में सूख कर काँटा होने वाली कोई रही नहीं।" किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी इस विचारधारा को परिहास की आँधी में उड़ा देता है। हारीत सदा अपने राष्ट्र, अपने देश के लिए ही चिन्तित रहता है। उसका हृदय देश-प्रेम से ओत-प्रोत है। देश—माँ के प्रति उसके हृदय में असीम श्रद्धा है। मानसिंह के प्रति कहे गये इन शब्दों से यह स्पष्ट है: "जिस माँ की गोद में तुम बैठे हो, उसके मैं क्या दर्शन कराऊँ। जिसके स्तनों का दूध तुम आज भी पी रहे हो, उस वत्सला का परिचय मैं क्या दूँ। जिस माँ के मस्तक पर हिमालय का किरीट है और जिसके चरणों को दक्षिण महासागर प्रक्षालित कर रहा है, जिसके कटि-प्रदेश में विन्ध्य

और पारिमात्र पर्वत-मालाओं की किंकणी शोभित है, जो गले में गंगा-यमुना, सिंधु और ब्रह्मपुत्र के हार पहने हुए हैं, उस जननी जन्म-भूमि के दर्शन मैं क्या कराऊँ।" (३,१)।

और इसी जननी की रक्षा एवं प्रतिष्ठा के लिए हारीत बाप्पा को अपने स्वप्नों का नायक बनाता है, वन-पुत्रों की सेना संगठित करता है, देशी राजाओं के पारस्परिक वैर-भाव दूर करके उनमें स्नेह और सद्भाव का नाता जोड़ता है, जन-जन में देश-प्रेम का मंत्र फूँकता है और विदेशी आक्रमणों से यथासम्भव देश की रक्षा करने के उद्देश्य से बाप्पा और हमीदा का गठ-बंधन करा कर ब्राह्मण का यह कथन सत्य सिद्ध कर देता है : "षड्यन्त्र ऐसा कि कालभोज बाप्पा चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति भारत का सम्राट् बने और हारीत बाबा चाणक्य।"

प्रश्न ५ :—नागदा-नरेश का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर:—नागदा का सोलंकी वंशीय राजा सर्वप्रथम हमारे सम्मुख संकीर्ण मनोवृत्ति वाले एक ऐसे पिता के रूप में उपस्थित होता है जो एक अवंशी, अजाति ग्वाले के साथ अपनी पुत्री को विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। ब्राह्मण के मुख से यह सुन कर कि राजकुमारी ने बाप्पा--एक साधारण ग्वाल—के साथ खेल-खेल में विवाह कर लिया है, उसके क्रोध की सीमा नहीं रहती। वह तत्काल, लाल आँखें और नंगी तलवार साथ लिए, यह जानने के लिए पद्मा के पास आ पहुंचता है कि पद्मा उस खेल को कितना महत्त्व देती है। पद्मा के मुख से यह सुन कर कि "नारी तो एक ही विवाह करती है, चाहे वह खेल में हो" उसके हृदय में छिपा क्रोध शब्दों के रूप में प्रकट हो जाता है : "कुल कलंकिनी, सर्पिणी, तूने सोलंकी राज्य-वंश की कीर्ति को काला कर डाला है। जो मस्तक क्षत्रियों की मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर एक ग्वाले को पति-रूप में स्वीकार करने का विचार कर सकता है, उसे धड़ पर लदे रहने का अधिकार नहीं है। मैं उसे अभी भूमि पर लोटता देखना चाहता हूँ।"—और यह कहते-कहते वह वास्तव में पद्मा के प्राण ले लेने को उतारू हो जाता है। यह पता चलने पर कि बाप्पा एक

उच्च कुल का राजकुमार है, वह पद्मा और बाप्पा के विवाह के लिए सहमति दे देता है—इतना ही नहीं; वह तो यह चाहता है कि विवाह से पूर्व उसे इतना समय अवश्य मिलना चाहिए जिससे अधिकतम धूमधाम से वह विवाह सफल करने के लिए समस्त आवश्यक कार्यवाही की जा सके किन्तु बाप्पा के मुख से यह सुनने पर कि वह पद्मा से नहीं, हमीदा के साथ विवाह करना चाहता है, नागदा-नरेश का पितृ-हृदय एक बार फिर क्रोध में भर कर चीत्कार कर उठता है : "यह अधर्मी दस्युओं का दल है, जो भारतीय संस्कृति का नाश करने पर तुला हुआ है।" अपनी पुत्री को भी उन्हीं 'दस्युओं' का साथ देते देख कर वह अपनी लाड़ली बेटी को भी त्याग देता है और यह कह कर उन लोगों का साथ सदा के लिए छोड़ देता है : "नागों की संगति से मेरी पुत्री नागिन बन जायगी और अपने पिता को ही डसेगी, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। अब इस विषाक्त वातावरण में मैं एक क्षण भी साँस नहीं लेना चाहता।"

नागदा-नरेश एक वीर आत्माभिमानी एवं साहसी क्षत्रिय है। हारीत और उसके साथियों से घिरा होने पर भी उसमें इतना साहस है कि उन सबके सामने हारीत को सम्बोधित करके यह कह सके कि "मेरे राज्य में, मेरी नाक के नीचे, योगीश्वर के वंदनीय वेश में, एकलिंग के पावन मन्दिर में राजद्रोह के भयानक षड्यंत्र को तुम पोषित कर रहे हो, दस्युराज!" (२,१)। हारीत के मुख से यह सुन कर कि कालभोज बाप्पा के मस्तक पर राजमुकुट रखना आवश्यक हो गया है, वह अत्यन्त वीरोचित्त उत्तर देता है : "आप तो जानते हैं कि कोई राजा युद्ध में पराजित हुए बिना अपना मुकुट उतारने को प्रस्तुत नहीं होता।" (२,३)। कटुतम सत्य को भी सर्वथा निःशंक होकर कह डालने का साहस नागदा-नरेश में है। मानसिंह से वह स्पष्ट शब्दों में यह कह देता है कि "एक विदेशी शासक के मांडलिक बन जाने से भले ही आपके राजमहल की रक्षा हो जाती, भले ही राजमहल में नर्तकियों के घुंघरुओं की मधुर रुनझुन गुंजित रह सकती, भले ही कहने के लिए आपके मस्तक पर राजमुकुट शोभित रहता, लेकिन मौर्य वंश को सदा के

लिए कलंक का टीका तो लग ही जाता।"

नागदा-नरेश में दूरदर्शिता का भी अभाव नहीं। एक विजातीया, विदेशिनी और विधर्मिणी बालिका के साथ बाप्पा को विवाह करते देखकर वह उसे समझाता है: "ज्वालामुखी से खिलवाड़ मत करो, नये राजा! लोगों की धार्मिक भावनाओं पर ठेस पहुँचाओगे, तो प्रजा के क्रोधानल में तुम्हारी नव-अर्जित राज-सत्ता जल कर भस्म हो जायगी।"

किन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इन गुणों की उपस्थिति में भी, विचारों की संकीर्णता और परम्परागत मान्यताओं के प्रति अन्ध-विश्वास के कारण नागदा-नरेश किसी पक्ष के हृदय में भी स्थायी स्थान नहीं बना पाता।

प्रश्न ६: पद्मा और चम्पा के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

उत्तर: पद्मा नागदा के सोलंकी वंशीय राजा की पुत्री है और चम्पा उसकी अन्तरंग सखी। नाटक में चम्पा, पद्मा से पहले हमारे सम्मुख प्रकट होती है। उसकी प्रथम उक्ति है: "ए अलगोजे वाले! जिसके अनुराग के राग तेरी साँसें छेड़ रही है उसे तुझ से विराग हो गया है। अब उसके दर्शन नहीं होंगे।" चम्पा की इस उक्ति से ही उसके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ—निर्भीकता और स्पष्टवादिता—प्रकाश में आ जाती हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पद्मा के जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं है जो चम्पा में गुप्त हो और यह भी प्रकट हो जाता है कि वह प्रत्येक बात को प्रसंगानुकूल भाषा-शैली में अभिव्यक्त कर सकती है। चम्पा की बाप्पा के प्रति कही गयी ये कटूक्तियाँ प्रस्तुत नाटक के घटना-चक्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं: "विशाल महा सागर भी अपनी उत्ताल अनंत तरंगों के बाहु फैला-फैला कर रह जाता है, किन्तु क्या कभी चन्द्र का स्पर्श भी पा सका है। मानव को अपनी शक्ति की सीमा को समझना चाहिए।" "प्रीति सदा समकक्ष व्यक्तियों में होती है। पद्मा राजकन्या है, क्षत्रिय बाला है, यशस्वी भूपाल की लाड़ली पुत्री है और तुम—तुम क्या हो? एक ग्वाले, वन-पुत्र भील-मीना तुम्हारे सखा हैं और तुम्हारी परिपुष्ट काया ही तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पत्ति है।"

पद्मा सर्वप्रथम एक वीर बाला के रूप में उपस्थित होती है जिसके हाथ में नंगी तलवार है, जो सशस्त्र सखियों के साथ है और जिसका सर्वप्रथम आदेश यह है : "बना लो बंदी इस उद्धत युवक को।" पद्मा अपने वंश, अपनी जाति, अपनी सामाजिक स्थिति और अपने रूप-यौवन पर कितना अधिक गर्व करती है, यह 'उद्धत' शब्द से स्पष्ट है। पद्मा को अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। वह जानती है कि वह बाप्पा जैसे 'धूर्त्त युवक' को दंड देने में पूर्णतः समर्थ है। यह क्षत्रिय बाला संकट में अपने सम्मान की रक्षा करना भी जानती है।

बाप्पा के मुख से 'विवाह के खेल' का उल्लेख सुनकर पद्मा की शक्ति खील-खील हो जाती है—विस्मृति के अन्धकार में छिपा एक कटु सत्य अपने भीषणतम रूप में उसके सम्मुख आ उपस्थित होता है। आज ही वह इसका वास्तविक कारण समझ पाती है कि वह नित्य ही बाप्पा के स्वरों को सुनने के लिए जल-विहार के बहाने सहेलियों सहित क्यों आती रही है? कितनी ही बार उसका हृदय वीणा से खिंचे मृग की भांति बाप्पा की ओर क्यों खिंचता रहा है? आज ही पद्मा को यह भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि उस के पैरों में लोक-लाज, कुल की परम्परा, जाति और पद की सीमाएँ बेड़ियों की तरह पड़ी हुई हैं। बाप्पा और अपने बीच कुटी और राजमहल का अन्तर देख कर उसका दिल हाहाकार कर उठता है। उसके अन्तस् में एक प्रश्न उठता है कि क्या उसका प्रेमी उसके लिए अपनी कुटी को राजमहल के बराबर नहीं उठा सकता? उसके अन्तरतम से यह उत्तर मिलता है कि निश्चय ही यदि राजकुमारी से प्रेम करने की क्षमता एक ग्वाले में है तो कुटी को राजमहल बनाने की क्षमता भी उसमें होनी चाहिए। एक बात और भी है। यद्यपि पद्मा अपने प्रेमी के लिए राजमहल छोड़कर धूल में, मरघट की ज्वाला में भी आसन जमाने को प्रस्तुत है किन्तु वह चाहती है कि उसका प्रियतम धूल से ऊपर उठे, प्रचंड मार्तण्ड की भांति प्रकाशित हो। पद्मा बोझ बनकर अपने प्रेमी को पाताल में नहीं ले जाना चाहती। वह उसके पंखों का बल बनना चाहती है। पद्मा बाप्पा की जीवन-संगिनी बनने को तैयार है किन्तु एक

शर्त पर : "मैं क्षत्रिय-बाला हूं, वैरागियों सा त्याग मुझे तो नहीं आ सकता। मुझे तो उन बलशाली भुजाओं का पाश मान्य होगा जो पर्वतों का मस्तक चूर करने की साध में व्याकुल हों। इससे अधिक मैं क्या कहूँ ? भारत की सुविस्तृत वीरभोग्या भूमि पर तुम्हें अपने बाहुबल से अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना होगा, तभी उस दिन का खेल यथार्थ में परिणत होगा।" (१,१)।

पद्मा में एक ओर प्रेम का आकर्षण है और दूसरी ओर वंश-परम्परा का मोह। प्रेम यदि उसे यह कहने के लिए बाध्य करता है कि "एक-न-एक दिन जो संघर्ष अवश्यंभावी है, उससे कब तक बचा जा सकता है। मैं विद्रोह करने के लिए प्रस्तुत हूं।" तो दूसरी ओर अपने वंश के प्रति कर्त्तव्य उससे यह कहलवाता है कि "क्षत्रिय-बालाओं के विवाह तलवारों की छाया में होते आये हैं, अतः पद्मा भी उसी परम्परा का पालन करना पसंद करती है। भू-देव! अपने नये स्वामी से निवेदन कर दीजिए कि वीर-भोग्या वसुंधरा की भाँति नारी भी वीर-भोग्या है।" प्रेममयी पद्मा यदि निःशंक होकर अपने पिता के सम्मुख यह कह देती है कि "नारी तो एक ही विवाह करती है, चाहे वह खेल में हो" तो, दूसरी ओर, स्नेहमयी पद्मा अपने पिता की रक्षा करने के लिए अपने प्रेमी के विरुद्ध तलवार उठा लेती है—उसके पाखंड को समाप्त करने के लिए महाकाली बनने के लिए तैयार हो जाती है। यह विरोधाभास पद्मा के चरित्र की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है और नाटक के अन्त तक उसके साथ रहती है। अन्तिम दृश्य में पिता और पति, दोनों में से किसी एक का चुनाव अनिवार्य हो जाने पर वह पति के साथ रहना—उस पति के साथ रहना पसन्द करती है जिसने उसकी उपस्थिति में ही एक विदेशिनी, विजातीया और विधर्मिणी के साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया है। इस अवसर पर वह स्पष्ट शब्दों में कह देती है : "नहीं, पिताजी, मैं नहीं जा सकूंगी। आपका घर अब मेरा घर नहीं है। मेरा विवाह हो चुका है और मेरे पति की राह ही मेरी राह है।"

नारी की स्वभावगत दुर्बलता—ईर्ष्या—से पद्मा भी मुक्त नहीं। वह

स्वयं बाप्पा के साथ रह सके, चाहे नहीं, किंतु उसे यह सह्य नहीं है कि बाप्पा किसी अन्य नारी के प्रति आकृष्ट हो अथवा कोई अन्य नारी उसका सामीप्य प्राप्त कर सके। इस बात का आभास पाते ही कि चम्पा को भी इसकी चाह है कि वह उसके साथ भी विवाह का खेल खेले, पद्मा के हृदय में क्रोध और ईर्ष्या की ज्वाला दहकने लगती है; बाप्पा के मुख से चम्पा की प्रशंसा सुन कर पद्मा अपने आक्रोश और ईर्ष्या की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करती है : "क्या कहने हैं इस दिव्य दृष्टि के जो प्रत्येक नारी के मुख-चन्द्र की आभा से अभिभूत होती रहती है, जिसके हृदयाकाश में नित्य नये चन्द्र का उदय होता है!" यह सूचना पाकर कि बाप्पा किसी और 'दुलहन' के साथ विवाह करना चाहता है, पद्मा का मानसिक सन्तुलन छिन्न-भिन्न हो जाता है। बाप्पा का हाथ पकड़ कर कहती है : "इधर देखो मेरी तरफ़! क्या तुम मेरी मृत्यु के अभिलाषी हो! तुम मुझे छोड़कर नई दुलहन से विवाह कर रहे हो। यही तुम्हारी मानवता है! मैं तुम्हारे लिए पिता से लड़ी, अपने समाज से लड़ी, तुम्हारे स्वप्नों को सत्य करने में पूर्ण सहयोग दिया और अब..."

पद्मा की यह ईर्ष्या—संकीर्णता अथवा अनुदारता—स्वाभाविक होकर भी उसके चरित्र की एक बड़ी दुर्बलता ही है। पद्मा और चम्पा के स्वभाव की मुख्य भिन्नता भी यही है। चम्पा भी बाप्पा से प्यार करती है, कदाचित् उसका प्रेम बाप्पा के प्रति पद्मा के प्रेम की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर, निःस्वार्थ और उच्च कोटि का है, किन्तु स्वयं उसके शब्दों में "मेरे हृदय में चाहे कुछ हो, मैं अपनी सीमाओं को बचपन से जानती हूँ और अपनी आकांक्षाओं को शृंखलाओं में बाँध कर रख सकती हूँ।" उसके प्यार में स्वार्थ की अपेक्षा त्याग की भावना ही अधिक है। बाप्पा के शब्दों में चम्पा ने "जीवन में केवल देना जाना है, प्राप्ति जिसके भाग्य में नहीं है।" शैशव की भोली घड़ियों में स्वयं चंपा राजकुमारी पद्मा और बाप्पा के 'विवाह के खेल' में सक्रिय भाग लेती है, धीरे-धीरे उसके हृदय में यह 'दुःख' पैदा होता है कि 'चंपा के पास भ्रमर नहीं आते'; चंपा का हृदय-पंछी बाप्पा की ओर

बढ़ता है–उसे प्राप्त करने के लिए वह *अपनी प्रकृति के विरुद्ध* बाप्पा के दल में सम्मिलित होती है किन्तु यहां भी विकटतम परीक्षाएँ उसकी बाट जोह रही होती हैं। उसे कला के माध्यम द्वारा 'विषधर के फन पर पाँव रखना' पड़ता है। *पुरस्कार* की चर्चा चलाने पर उसे यह उत्तर मिलता है : "बेटी, शुभ उद्देश्य से कर्म करना ही कर्म का पुरस्कार है, सफलता भी नहीं।" वह 'कर्म' करती है। संयोग वश 'पुरस्कार' का अवसर भी आ जाता है—बाप्पा उसके सम्मुख अपनी 'साध' प्रकट करता है : "मुझे तो जितनी कलाएं आती थीं उन्हें मैं प्रदर्शित कर चुका हूँ, अब तो तुम्हारी कला देखना चाहता हूं। मेरी यह साध पूरी नहीं करोगी, चम्पा !" चम्पा को मुँह-माँगा अवसर प्राप्त हो जाता है, उसके सोये अरमान सहसा जाग जाते हैं, उसका संकोच अटूट निश्चय में परिवर्तित हो जाता है। उसके अन्तरतम में छिपा मधुरतम भाव प्रकट हो जाता है : "तुम्हारी आज्ञा की प्रतीक्षा है, देव ! जो मुझ में सर्वश्रेष्ठ है, वह अपने सर्वश्रेष्ठ को दिखाने या देने में संकोच क्या ?" किन्तु 'प्राप्ति' का यह चिर-अभीष्ट अवसर ही चम्पा के त्याग का प्रधानतम अवसर भी है। चम्पा नाचने के लिए तैयार हो आती है। आज बाप्पा के विवाह का दिन है। चम्पा ने अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया है, किन्तु पद्मा अभी तक उस परीक्षा के लिए अपने को तैयार नहीं कर पायी है। अपने और पद्मा के चरित्र के इस मूलभूत अन्तर पर प्रकाश डालकर चम्पा पद्मा को भी उस अग्नि-परीक्षा के लिए कटिबद्ध करने का प्रयत्न करती है। पद्मा से कहती है : "कालभोज बाप्पा के अँगोछे का छोर एक दिन चम्पा ने तुम्हारी चूनरी के छोर से बाँध दिया था। तुममें *साहस हो तो* आज की दुलहन की चूनरी का छोर चित्तौड़ाधिपति के उत्तरीय के छोर से बाँध देना।" पद्मा इस संकेत से लाभ नहीं उठा पाती। चम्पा को स्पष्ट शब्दों में उससे कहना पड़ता है : "तुम प्रसन्न नहीं हो इस विवाह से ? तो मैं कहूँगी तुम अपने बाप्पा को प्यार नहीं करती। करती होती तो उसकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता को निमग्न कर देतीं। तुम नहीं जानतीं, बाप्पा को वह प्रकाश-स्तम्भ बनना है जिसके प्रकाश में भावी भारत के नाविक अपनी नौका का संचालन करेंगे।

हमें उसे अपने क्षुद्र स्वार्थ और वासना की सीमा में ढककर नहीं रखना है।"

चम्पा यहाँ अपने मान्यतम रूप में है। उसकी यह भव्यता पद्मा पर भी आलोक की वर्षा करती है, उसके सम्मुख भी आदर्श का पथ प्रशस्त करती है। चम्पा की आभा से प्रकाशमान पद्मा मंत्र-मुग्ध-सी होकर थाल में से एक हार बाप्पा को और दूसरा हमीदा को देकर हमीदा से कहती है : "लजाओ नहीं, पहना दो वरमाला। (बाप्पा से) तुम भी पहना दो अपनी जीवन-संगिनी को माला। मैं भी तुम दोनों के मंगल की कामना करती हूँ।"

प्रश्न ७ :—ज्वाला के चरित्र की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए 'प्रकाश-स्तम्भ' में उसका स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तरः—ज्वाला बाप्पा की माँ है। अरबों के आक्रमण के कारण जब राज्य-लक्ष्मी बाप्पा के पिता से रूठ गयी और उन्हें वीरगति प्राप्त हुई तब ज्वाला के सम्मुख अपने जीवन का भयंकरतम प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय यदि वह जौहर की ज्वाला में जल कर भस्म हो पाती तो उसे अपना सौभाग्य ही मानती किन्तु दुर्भाग्य से उस समय वह राजधानी में नहीं थी। इतना ही नहीं, उस समय वह गर्भवती थी और भवानी के दर्शनार्थ चित्तौड़ आ रही थी।

पति की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त ज्वाला ने अपने भावी पुत्र को ही अपनी कल्पनाओं का आधार बनाया। "भयानक जंगल में सिंहनी एकाकी सिंह के बच्चे को पालती रही।" स्वाभिमानिनी माँ ने भगवान् राम के अंश गुहिल पुत्र-वंशज बाप्पा को किसी के टुकड़ों पर पालना पसन्द नहीं किया। स्वयं उसी के शब्दों में "मेरे शरीर में बल था, दया का दान लेने की अपेक्षा अपने श्रम के उपहार पर अपने बालक को पालना मैंने अधिक पसन्द किया। आज बाप्पा की आत्मा किसी के उपकार के भार से दबी हुई नहीं है। उस के प्राणों में किंचित् मात्र हीन भावना नहीं है। वह बचपन से मस्तक उन्नत रख कर चल सकता था।" ज्वाला के इन शब्दों में उसके मातृत्व की गरिमा स्पष्ट है। ज्वाला के चरित्र की यह महानता, यह अनुपम विशेषता, बाप्पा के चरित्र-निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेती है।

ज्वाला बाप्पा को यह पता नहीं होने देती कि वह राजपुत्र है क्योंकि वह जानती थी कि यदि बचपन में ही यह जान लेता कि वह राजपुत्र है "तो इन देवा और बाल्या से वह इस प्रकार घुल-मिल न पाता। उसके हृदय में अपनी वर्तमान स्थिति पर घोर असंतोष होता और उसके वंश के अनुकूल स्थिति बनाने के साधन वह जुटा पाता नहीं। इसकी भावनाएँ सतत पीड़ित रहतीं और उसका जीवन भार बन जाता। बंद ज्वालामुखी की भाँति उसके प्राण भीतर-ही-भीतर सुलगते।" ज्वाला की इस उक्ति से स्पष्ट है कि उसने कितनी दूरदर्शितापूर्वक अपने पुत्र का लालन-पालन, सर्वथा विषम परिस्थितियों का सामना करके, किया। तभी तो इस आदर्श माँ को अपने पुत्र के बल-पौरुष पर अपूर्व गर्व है। बाप्पा का खड्ग उठाते समय मानसिंह का हाथ काँपने लगता है तो ज्वाला अत्यन्त गर्वपूर्वक कहती है : "यह कालभोज बाप्पा का दुधारा है; शिव के पिनाक, परशुराम के परशु और अर्जुन के गांडीव की भाँति उसके खड्ग का नाम भी अमर रहेगा।"

बहुत समय तक ज्वाला की यही धारणा बनी रही कि वास्तव में भगवान् राम के वंशज संसार के सभी मानवों से श्रेष्ठ हैं किन्तु कुछ काल पश्चात् हारीत बाबा ने उसे मानव मात्र को समान रूप में देखने की दृष्टि दी, तब उसका दंभ दूर हुआ। हारीत ने उसे समझाया कि "बाप्पा देश का पुत्र है, देश ही उसकी माँ है, देश ही उसका पिता।" ज्वाला ने हारीत का यह कथन गुरु मंत्र की भाँति धारण कर लिया और उसने घोषणा कर दी कि "बाप्पा क्षत्रियों और भीलों में भयानक युद्ध का सूत्रपात करने वाला नहीं बनेगा। हमें भारत के प्रत्येक समुदाय में सहयोग और सौहार्द स्थापित करना है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पहले बाप्पा गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करेगा, यह उसकी माँ की आज्ञा है।" ज्वाला की यह आज्ञा बाप्पा के लिए अनुपम प्रेरणा—उसकी सफलता का मुख्य कारण—सिद्ध होती है।

हारीत के प्रति ज्वाला के हृदय में अपार श्रद्धा है। अनेक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में वह हारीत के विचार पूर्णतः भक्ति-भाव-पूर्वक सुनती है, उन पर मनन करती है और यथासम्भव

उन्हें अपने जीवन में ढालती भी हैं। वह स्वयं हारीत की विचारधारा से प्रभावित है और दूसरों को भी यह विश्वास दिला देना चाहती है कि योगीश्वर हारीत-"विषमता के आधार पर स्थित धारणाओं और भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही तो अलख जगा रहे हैं" और हारीत "दस्युराज नहीं हैं, बल्कि वास्तव में योगिराज हैं, किसी मंगलमय सदुद्देश्य से इन्हें यह संगठन करना पड़ा है।"

ज्वाला एक वीरांगना है—क्षत्राणी है; निर्भयता और स्पष्टवादिता उसके स्वाभाविक गुण हैं। युद्ध उसके लिए भय अथवा आतंक की वस्तु नहीं, कर्त्तव्य का तकाज़ा है। नागदा-नरेश के यह कहने पर कि "आप तो जानते हैं कि कोई राजा युद्ध में पराजित हुए बिना अपना मुकुट उतारने को प्रस्तुत नहीं होगा" ज्वाला अत्यन्त स्वाभाविक रूप से—और आश्वस्त भाव से—कहती है: "तो युद्ध तो होगा ही।" स्पष्टवादिता इस तेजस्विनी नारी की प्रमुख विशेषता है। हारीत नागदा-नरेश को समझाता है कि शासक और देश ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं। जब शासक देश-द्रोह करे तो राज-द्रोह जनता का कर्त्तव्य हो जाता है। नागदा-नरेश यह बात समझ नहीं पाता। इस पर ज्वाला कहती है: "यदि यही समझ पाते तो अपनी सेना का उपयोग देश की हित-चिंता में रत रहने वालों के विरुद्ध क्यों करते? क्षत्रियत्व के या राजवंश के मिथ्या अभिमान में बेचारे भाड़े के सैनिकों के प्राण क्यों लुटाते।" अन्यत्र वह नागदा-नरेश से कहती है: "जान पड़ता है कि आप इस दल में क्षत्रिय-वृत्ति से नहीं वैश्य-वृत्ति से सम्मिलित हुए हैं।" (२.२)। स्वयं अपने भाई से वह सर्वथा स्पष्ट शब्दों में कह देती है: "तुम अपने उत्तरदायित्व को समझते ही नहीं, दुःख तो इसी बात का है। विदेशी आक्रमणकारी ने जब तुम्हारे बहनोई के राज्य पर आक्रमण किया, तब उनकी विपत्ति को अपनी समझ कर तुम सहायता के लिए दौड़े क्यों नहीं? तुम अपनी जान की खैर मनाते हुए चित्तौड़ में दुबके बैठे क्यों रहे? ऐसे भाई की सूरत देखने से भी मुझे घृणा हो गयी।" "किसी भी भारतीय राजा के लिए यह घोर लज्जा की बात है, फिर तुम्हारे नाम के साथ तो मौर्य शब्द लगा हुआ है—चंद्रगुप्त भी

मौर्य था न ?" इस पर मानसिंह कहता है—"और उसने भी विदेशी से संधि की थी।" ज्वाला का उत्तर है : "संधि की थी किन्तु किस प्रकार की ? शत्रु के गर्व को रणभूमि में चूर कर, भारतीय पौरुष का पूर्ण परिचय देकर, भारत पर आक्रमण करने की उसकी हिम्मत की कमर तोड़कर, शत्रु के अनुनय करने पर वह संधि की गयी थी जिसमें भारत विजेता था और यवन राजा सेल्यूकस विजित, पराजित।"

....किन्तु साहस और निर्भयता की प्रतिमा इस वीरांगना क्षत्राणी के कलेजे में अत्यन्त कोमल, अनुभूतिशील हृदय छिपा है। बाप्पा के मुख से यह सुनकर कि वह पद्मा से नहीं, किसी अन्य कन्या से विवाह करना चाहता है, ज्वाला का यह कोमल हृदय चीत्कार कर उठता है : "यह तुम क्या कर रहे हो बेटा ! (पद्मा के मस्तक पर हाथ रखकर) इस फूल-सी बच्ची के हृदय पर वज्र-प्रहार करोगे ?" और एक अवसर पर तो, विषमतम परिस्थितियों की विभीषिका में भी मुस्कराने वाली इस रहस्य-प्रतिमा के नेत्रों में भी आँसू छलक आते हैं। बाप्पा के मुख से प्रथम बार यह सुन कर कि उसका विवाह हो गया है, ज्वाला के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती, वह इतना ही कह पाती है: "क्या कहा तेरा विवाह हो गया और तेरी माँ को भी पता नहीं।" और उसकी आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। उस समय कदाचित् वह भूल जाती है कि उसका नाम ज्वाला है, उसकी आँखों से पानी नहीं झरना चाहिए।

प्रश्न ८— "हमें जहां अपने देश की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना चाहिए, वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिए, वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा"—"प्रेमी जी के इस कथन के आधार पर यह सिद्ध कीजिए कि वे इस रचना ('प्रकाश-स्तम्भ') में अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में कहाँ तक सफल हुए हैं ?

उत्तर— प्रत्येक रचना का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। साहित्यकार अपनी कृतियों में जीवन की व्याख्या करता है। उसकी रचनाओं से हमें पता चलता है कि संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है, वह उसका क्या

अर्थ समझता है और वह धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शों को कितना और किस प्रकार महत्त्व देता है। साहित्यिक अपनी रचना द्वारा अपने युग की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं, आवश्यकताओं, प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं का अंकन करता है और कभी-कभी उन समस्याओं के उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न करता है। संक्षेप में जीवन का जो कुछ अर्थ उसकी समझ में आता है, वही अर्थ अपनी कृति द्वारा लोगों को समझा देना ही उसका उद्देश्य होता है।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का विश्वास है कि "हमें जहां अपने देश की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना चाहिए, वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिएँ, वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा।" (संकेत 'प्रकाश-स्तम्भ') अतः उन्होंने 'प्रकाश-स्तम्भ' में अपने युग की वर्तमान समस्याओं के कारण एवं निदान अतीत में खोजने का प्रयत्न किया है। यहां हम ऐसी ही कुछ समस्याओं का उल्लेख करके यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि 'प्रेमी' जी अपने इस प्रयत्न में कहां तक सफल हुए हैं।

आज के युग का नारा है परम्पराएं तोड़ो, रूढ़ियाँ प्रगति के पथ की बाधा हैं, अंध–विश्वास हमें पतन की ओर ले जा रहे हैं, दकियानूसी विचार–धाराएं मानव को मानव से दूर कर रही हैं। नवीन अथवा प्राचीन परम्परा अथवा परिवर्तन ?—आज के युग की एक महत्वपूर्ण समस्या है। वस्तुतः स्थिति क्या है ? क्या समस्त परंपराएं बुरी हैं ? क्या समस्त परिवर्तन अनुचित हैं ? बाप्पा के शब्दों में इन प्रश्नों का उत्तर है कि "समाज में वैषम्य को परिपुष्ट करने वाली परंपराएं अति प्राचीन हैं प्रथम तो यह धारणा ही भ्रम-मात्र है और यदि प्राचीन हों भी तो मानवता के सिद्धान्त के विरुद्ध अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण परम्पराओं का अंत करना मानव का कर्त्तव्य है।" अतः आज का मानव निर्भय होकर, बाप्पा के साथ स्वर मिला कर, यह घोषणा कर सकता है कि "जो वस्तुएं, जो परम्पराएं, जो विश्वास मनुष्य मनुष्य में वैषम्य स्थापित करें, उनका मैं परम शत्रु हूं।"

वर्ण व्यवस्था और जात-पांत ने भारतीय—विशेषतः हिन्दू—समाज में इतना गहरा घर कर लिया है कि उसे उखाड़ फेंकना एक टेढ़ी खीर हो गया है। "वर्ण-व्यवस्था किसी समय भारतीय समाज के लिए सुविधाजनक रही होगी, ऐसा मैं मानने को तैयार हूँ। यह भी मान लेता हूं कि श्रम-विभाजन और धन्धों की आर्थिक व्यवस्था के लिए वर्णों का प्रारम्भ हुआ, किन्तु अब तो वर्ण-व्यवस्था परशोषण को न्याययुक्त ठहराने का साधन बनी हुई है"—हारीत। "जाति-प्रथा ने हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है। हममें पारस्परिक भ्रातृ-भाव समाप्त हो गया है। उच्च जाति वालों ने समाज के बड़े अंग को अस्पृश्य और दास की स्थिति में पहुँचा दिया है"—बाप्पा। किन्तु "याद रखो, पवित्रता, सच्चरित्रता और वीरता किसी जाति या वर्ण विशेष की धरोहर नहीं है"—बाप्पा। इतना ही नहीं "कोई भी व्यक्ति प्रकृति से बुरा नहीं है। उचित प्रेरणा और दिशा-दर्शन प्राप्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति में वीरता, शील, स्नेह, परोपकार, साहस, धैर्य और देश-प्रेम जैसे सद्गुणों का विकास हो सकता है।"—हारीत। वर्ण तथा वर्ग-गत विषमताओं का अन्त होने पर ही मानव अपने सहज रूप में आ सकेगा—तभी तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" का स्वप्न सत्य होगा और उसी समय मानव—अपनी स्वाभाविक प्रतिभा, शक्ति एवं सामर्थ्य से युक्त मानव—पूर्ण आत्म-विश्वास-पूर्वक यह कह सकेगा कि—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार!

—महादेवी वर्मा

'और, 'प्रकाश-स्तम्भ' के नायक बाप्पा के शब्दों में, आज का मानव "भगवान् का अवतार, महात्मा अथवा धर्म-प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त करना नहीं चाहता। किसी दैवी शक्ति अथवा अद्भुत आध्यात्मिक ज्ञान या बल का गर्व भी वह नहीं करता। वह तो मनुष्य रह कर सीमित शक्तियों

द्वारा मनुष्य के स्वार्थ और दंभ से युद्ध करना चाहता है। वह नीच और ऊंच के, क्षत्रिय और भील के, राजा और प्रजा के बीच विषमता की खाई को पाट देना चाहता है।"

वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप आज विश्व अपेक्षाकृत छोटा हो गया है—दूर-दूर के देश एक दूसरे के समीप आ गये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भाँति-भाँति के आचार-विचार, वेश-भूषा तथा खान-पान विश्व के एक भाग से दूसरे भाग में पहुंच कर वहाँ की स्थानीय संस्कृति को चुनौती दे रहे हैं। क्या इस चुनौती का उत्तर प्रत्याक्रमण द्वारा दिया जाय? क्या अपनी चिरप्रचलित प्रथाओं की छाती पर इन नवीन धारणाओं का भवन निर्मित हो जाने दिया जाय? नहीं, "रणभूमि की जय अथवा पराजय किसी संस्कृति का अन्त नहीं कर सकती। कुछ काल के लिए हम किसी समुदाय या समाज को पराधीनता के बंधनों में भले ही बाँध लें, किन्तु किसी दिन बंधनों से जकड़ा हुआ समाज बंद ज्वालामुखी की भाँति असंतोष के आवेग से फट पड़ता है और अपने-आपको श्रेष्ठ, प्रभु और सर्वशक्तिमान् समझने वालों की सत्ता विद्रोह की ज्वाला में जल कर भस्म हो जाती है।"—हारीत। प्रश्न किया जा सकता है कि फिर इस संघर्ष को समाप्त करने का उपाय क्या है? उत्तर है: "उपाय है विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय। यह आर्य है, यह द्राविड़ है और यह यवन, इस प्रकार सोचने की मनोवृत्ति हमें त्यागनी होगी। हमें किसी पर अपना धर्म, अपने व्यवहार, अपनी परम्पराएँ लादने की अभिलाषा छोड़नी होगी, हमें एक-दूसरे से सामाजिक संपर्क बढ़ाने होंगे, हमें विजयी और विजित की भावना को नष्ट कर समान बंधु बन कर रहना होगा।"—हारीत।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख आवश्यक है। धर्म के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक सूत्र में नहीं पिरोया जा सकता। इसका कारण यह है कि भारतवासियों का कोई एक धर्म नहीं है। "आर्यों का मूल वैदिक धर्म अपना स्वरूप खो बैठा है। अनेक मत-मतांतरों ने जन्म

धर्म को जीवित रखना चाहते हैं और उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज-सत्ता पर अपना अधिकार चाहते हैं और अधिकार पाने पर अन्य धर्मावलंबियों पर अत्याचार करते हैं।"—हारीत। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं। "धर्म के नाम पर मगध के जैन धर्मावलंबी राजा शालिशुक मौर्य ने, अहिंसा के पुजारी शालिशुक ने जैन साम्राज्य के नाम पर अपने साम्राज्य को लहूलुहान किया। गुर्जर-प्रदेश में उसने अन्य मातावलंबियों को बलात् जैन धर्म ग्रहण करने को विवश किया जिससे सम्पूर्ण प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। उसी का परिणाम था कि जब दिमित ने भारत पर आक्रमण किया तो जनता किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो बहुत समय तक निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट रही। कुछ धर्मान्धों ने विदेशी दिमित को 'धर्ममीत' कह कर पुकारा। शताब्दियों से भारत में ये घटनाएं दोहराई जा रही हैं। मगध के अशोक और उसके पश्चात् के सम्राट् बौद्ध या जैन हुए और अंतिम सम्राट् विशेष रूप से ब्राह्मण-विरोधी हुए, तब ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने स्वामी का वध कर स्वयं राजसत्ता हथिया ली। चक्र यहीं नहीं रुका। बौद्ध संघाराम षड्यंत्र के केन्द्र बने और ब्राह्मण-राज्य को समाप्त करने के लिए विदेशी मिलिंद को पुष्यमित्र पर आक्रमण करने के लिए बौद्धों ने उकसाया। फिर प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पुष्यमित्र नाममात्र के अन्तिम मौर्य सम्राटों की भाँति दुर्बल नहीं था। वह यज्ञ में पशु काटता था और युद्ध-भूमि में महाकाल के समान संहार करता था। गंगा के कांठे में लड़ते हुए मिलिंद को प्राणों से हाथ धोना पड़ा। इसके पश्चात् ब्राह्मण पुष्यमित्र की बौद्धों के प्रति प्रतिहिंसा प्रज्वलित हुई।...धर्मों के नाम पर ऐसे कितने अनर्थ संसार में हुए हैं और होंगे जिन की कल्पना आर्य ऋषियों, बुद्ध, महावीर और मुहम्मद ने न की होगी।"—हारीत।

अतः आवश्यक यह है कि साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा की तृप्ति के लिए धर्म को राजनीतिक शस्त्र न बनने दिया जाय—धर्म को राजनीति से अलग रखा जाय। "प्रत्येक व्यक्ति को; चाहे वह किसी धर्म का पालनकर्त्ता हो, राज्य में समान अधिकार और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए तभी देश एकता के सूत्र में बँध कर महान् शक्ति बन सकेगा।"—हारीत।

एक समय था जब राजा को 'परमेश्वर का प्रतिनिधि' माना जाता था—उसकी राज-सत्ता को चुनौती देने का अधिकार किसी को न था। धीरे-धीरे सभी देशों में प्रजातन्त्र की भावना का उदय हुआ और राजा तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का जन्म हुआ। इन प्रणालियों के एक छोर पर तानाशाही है और दूसरे छोर पर 'जनता का राज'। 'प्रकाश-स्तम्भ' में राजा तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों पर विविध दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया है: "लुटेरे का ही दूसरा नाम राजा है। जो दूसरों के श्रम से अर्जित धन-सम्पत्ति से अपना कोष भरता है, वह राजा है···राजा के राजकर्मचारी और सैनिक आदि होते हैं जो वेतन लेकर व्यवस्थित ढंग से अपने पड़ोसियों को लूट-लूट कर उसका भण्डार भरते हैं।"—बाप्पा। "राजा लूटता नहीं, लोक-कल्याण के लिए और न्याय-व्यवस्था के लिए लोग स्वयं ही स्वेच्छा से उसे धन देते हैं"—ब्राह्मण। "राजा न्याय-व्यवस्था के नाम पर लोगों को उल्लू बनाता है। शस्त्रों की चमक दिखा कर सबको चुपचाप लुटते रहने को बाध्य करता है और इस बाध्यता को राजभक्ति के नाम से पुकारा जाता है। तुम्हारे (ब्राह्मण) जैसे विद्वानों के मस्तिष्कों को मोल लेकर वह अपनी प्रशस्ति लिखाता है।"—बाप्पा। "राजा के मस्तक पर सत्ता, प्रभुता और वैभव का प्रतीक जो राजमुकुट विभूषित होता है, वह वास्तव में प्रजा द्वारा दी हुई पवित्र धरोहर है। जो राजा अपने वैभव-विलास को सुरक्षित रखने के लिए प्रजा के हितों के प्रति विश्वासघात करता है, वह वास्तव में कृतघ्न है"—बाप्पा। अतः "जो राजा के शीश पर राजमुकुट रखता है, वह उसे राजा के मस्तक से उतार भी सकता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि "शासक और देश ये दो पृथक वस्तुएं हैं। जब शासक देश-द्रोह करे तो राज-द्रोह जनता का कर्त्तव्य हो जाता है"—हारीत। अतः "हम भारत के वर्तमान राजाओं एवं अन्य प्रकार के सत्ताधारियों और शासकों को बता देना चाहते हैं कि उनके व्यक्तिगत वैभव-विलास से देश की स्वाधीनता और सर्व-साधारण के सुख और हितों का मूल्य अधिक है। राजा अथवा अन्य प्रकार का शासक जनता

की इच्छा का प्रतीक मात्र है। लोक-रंजन में प्रमाद करने वाले प्रतिज्ञा-दुर्बल मुकुटधारी को लोक सहन नहीं करेगा।"—हारीत।

'प्रकाश-स्तम्भ' में अहिंसा-पथ का भी उल्लेख है। ब्राह्मण हारीत से पूछता है: "क्या कोई ऐसा मार्ग नहीं है कि रक्त बहाए बिना ही देश और जातियां अपने स्वत्वों, अधिकारों और स्वाधीनता की रक्षा कर सकें?" हारीत का उत्तर है: "है क्यों नहीं, किन्तु उस पथ पर चलने के लिए अनंत आत्मबल और अटूट नैतिकता की आवश्यकता पड़ती है। अन्यायी, अत्याचारी की सत्ता को स्वीकार न करते हुए प्राणों की बलि देते रहकर भी हम उसे समाप्त कर सकते हैं।"

यहीं एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—क्या विदेशी आक्रमणकारी के साथ मित्रता-सन्धि की जा सकती है? हारीत के शब्दों में इसका उत्तर है: "भारत में राज्य विस्तार की इच्छा रखने वाले विदेशी आक्रमणकारी से मित्रता का अर्थ है अपने देश से शत्रुता। ...जिस विदेशी शासक का भारत की चप्पा भर भूमि पर भी अधिकार है; अथवा जिसके मन में भारत में अपने राज्य का विस्तार करने का स्वप्न पलता है, उससे मित्रता करना अपने देश के प्रति, जन्मभूमि के प्रति अपनी मां के प्रति विश्वासघात है।"—हारीत। हां, "यदि विदेशी और विधर्मी भारत को अपनी माँ मान लें तो भारत की मिट्टी उसे भारतीय बना लेगी। कितने शक और हूण हम क्षत्रियों में समा गये। यदि विदेशियों को आत्मसात् करने की शक्ति भारतीय खो देंगे तो किसी दिन इस देश में ऐसे व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में बसे दिखाई देंगे जिनका प्रेम भारत से नहीं, भारत के बाहर के देशों से होगा।"—पद्मा।

इतिहास के पृष्ठों का अध्ययन करते समय हमें आज अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना होगा। हमें सोचना होगा कि पुरु सिकन्दर से क्यों हारा? शिवि, अग्रश्रेणी, मालव, क्षुद्रक, अम्बष्ठ और मुचिकर्ण आदि गण-राज्यों एवं वीर जातियों को यूनानियों से क्यों पराजय प्राप्त हुई? दिमित (दिमित्रिअस) और मिलिंद (मिनांदर) को पाटलीपुत्र और सौराष्ट्र तक विजय-पताका फहराने का साहस कैसे हुआ? शक और हूण भारत की राजधानी पर बर्बरता का नग्न-नृत्य करने में सफल कैसे हो सके? इतने विशाल,

समृद्ध, शक्तिशाली, ज्ञान-विज्ञान में अद्वितीय देश पर दूर देश से आये लोग आक्रमण करने का साहस ही क्यों कर सके ? ज्वाला के शब्दों में इन सब बातों का कारण "हमारे देश में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व, इन राज्यों में सहानुभूति का अभाव, प्रतिस्पर्धा की विद्यमानता एवं सीमावर्ती राज्यों द्वारा सहायता न देना है। देश के प्रहरी देश की रक्षा के लिए बलि देते रहे किन्तु कोई उनकी रक्षा के लिए नहीं दौड़ा।"

दूसरे शब्दों में इसका—और हमारी अन्य सभी विकट समस्याओं का—मूल कारण यह है कि हममें राष्ट्रीयता का अभाव है। "हमने देश के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। हम अनुभव नहीं करते कि देश हमारी माँ है, हम उसकी गोद में खेले हैं, उसके अन्न-जल से हमारा शरीर बना है। जिस प्रकार हमारी जननी के शरीर का प्रत्येक अवयव अविभाज्य है, उसी प्रकार हमारे देश का भी। हम उसकी सूची के अग्रभाग जितनी भूमि पर भी किसी विदेशी को प्रभुत्व स्थापित नहीं करने देंगे। यही भावना हमें भारत के प्रत्येक धड़कने वाले हृदय में भर देनी है। देश को माँ समझने की भावना ही वह आधार है जिसका अवलंब लेकर भारत के सम्पूर्ण मानव-समाज को संगठन में बाँधा जा सकता है।" "जिस माँ के मस्तक पर हिमालय का किरीट है और जिसके चरणों को दक्षिण महासागर प्रक्षालित कर रहा है, जिसके कटि-प्रदेश में विन्ध्य और पारियात्र पर्वत-मालाओं की किंकिणी शोभित है, जो गले में गंगा-यमुना, सिन्धु और ब्रह्म-पुत्र के हार पहने हुए है, उस जननी जन्मभूमि" की स्वाधीनता तथा उसके सुख-वैभव का यही एक-मात्र उपाय है और 'प्रकाश-स्तम्भ' का मूल—संदेश भी यही है।

———